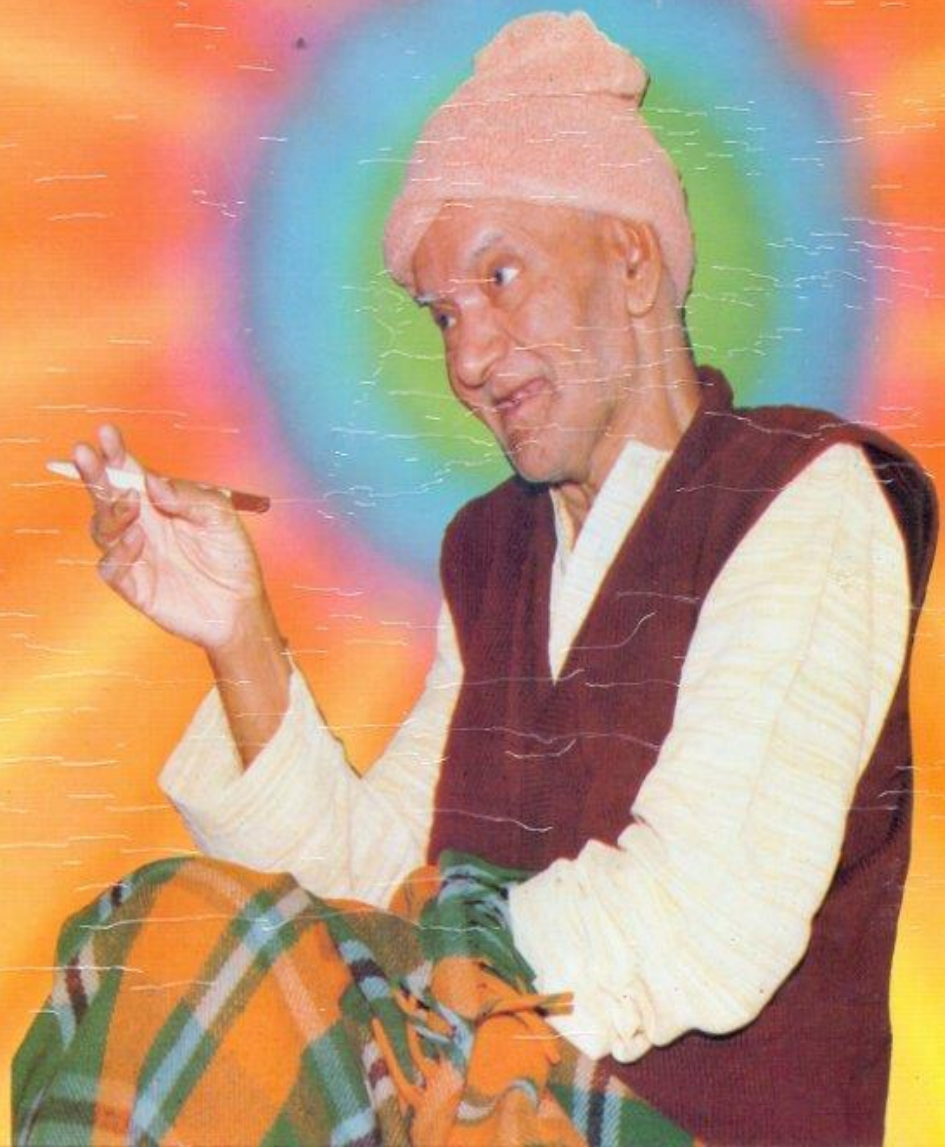
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय

धर्म तत्त्व का दर्शन और मर्म



www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय

धर्मतत्त्व का दर्शन व मर्म



सम्पादक
ब्रह्मवर्चस

प्रकाशक :

अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

प्रकाशक
अखण्ड ज्योति संस्थान
मथुरा-२८१ ००३

© सर्वाधिकार सुरक्षित

द्वितीय संस्करण १९९८

www.awgp.org
www.vicharkrantibooks.org



मूल्य १२५)

मुद्रक
जनजागरण प्रेस, मथुरा

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

समर्पणम्

ॐ वन्दे भगवतीं देवीं श्रीरामञ्च जगद्गुरुम् ।
पादपद्मे तयोः श्रित्वा प्रणमामि मुहुर्मुहुः ।।

मातृवत् लालयित्री च पितृवत् मार्गदर्शिका ।
नमोऽस्तु गुरुसत्तायै श्रद्धा-प्रज्ञा युता च या ।।

भगवत्याः जगन्मातुः, श्रीरामस्य जगद्गुरोः ।
पादुकायुगले वन्दे, श्रद्धाप्रज्ञास्वरूपयोः ।।

नमोऽस्तु गुरवे तस्मै गायत्रीरूपिणे सदा ।
यस्य वागमृतं हन्ति विषं संसारसंज्ञकम् ।।

www.awgp.org
www.vicharkrantibooks.org

असम्भवं सम्भवकर्तुमुद्यतं प्रचण्डझञ्झावृतिरोधसक्षमम् ।
युगस्य निर्माणकृते समुद्यतं परं महाकालममुं नमाम्यहम् ।।

त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

भूमिका

धर्म शब्द सम्प्रदाय से भिन्न, बड़ी व्यापक परिभाषा लिए हुए है। जहाँ सम्प्रदाय उपासना विधि, कर्मकाण्डों और रीति-रिवाजों का समुच्चय है वहाँ धर्म एक प्रकार से जीवन जीने की शैली का ही दूसरा नाम है। सम्प्रदायपरक मान्यताएँ देश, काल, क्षेत्र, परिस्थिति के अनुसार बदलती रह सकती हैं, परंतु धर्म शाश्वत-सनातन होता है। धर्म के तीन भाग बताए जाते हैं, जिन्हें परस्पर संबद्ध करने पर ही वह समग्र बनता है- ये हैं तत्वदर्शन-ज्ञानमीमांसा, नीतिशास्त्र एवं अध्यात्म। धर्मधारणा हरेक के लिए अनिवार्य है एवं उपयोगी भी। धर्म का अवलम्बन निज की सुरक्षा ही नहीं, समाज की अखण्डता के लिए भी जरूरी है।

परमपूज्य गुरुदेव ने धर्म की परिभाषा व्यक्ति की संवेदना को परिष्कृत करने वाली विधा के रूप में की है। धर्म एक परिष्कृत दृष्टिकोण का नाम है। धर्म को मार्क्स ने जो अफीम की गोली नाम देकर उसे अनुपयोगी बताया था, वह सभी धारणाएँ अब साम्यवाद का किला ढहने के साथ विस्मार हो गयी हैं, परंतु पूज्य गुरुदेव उसे १९४० से प्रारम्भ से ही विज्ञानसम्मत एक विधा के रूप में प्रमाणित करते आए हैं। तर्कों, तथ्यों, प्रमाणों द्वारा उनने यह सिद्ध किया है कि धर्म न केवल तर्कसम्मत है, युगानुकूल भी एवं इसके सभी पक्षों को तथ्यों व प्रमाणों की कसौटी पर भी कसा जा सकता है। उसके लिए उनने समाज में परिष्कृत धर्मतन्त्र के विकसित होने, उससे लोकशिक्षण कर सकने योग्य बनाए जाने की बात कही है एवं विराट गायत्री परिवार के रूप में राष्ट्र को जाग्रत-जीवन्त बनाए रखने वाला पुरोहित समुदाय खड़ा करके भी दिखा दिया है।

''धारणात् धर्म इत्याहु धर्मो धारयति प्रजाः।'' जिस समाज में धर्म-धारणा जिन्दा रहती है वह समाज, वहाँ की प्रजा सदैव सुरक्षित बने रहते हैं, यह पूज्यवर ने वाङ्मय के इस खण्ड में प्रतिपादित किया है। दुर्भाग्य से धर्म को पलायनवादी-प्रतिगामी बनाकर मध्यकाल, जिसे अंधकार युग कहा जाता है, में अंधविश्वासों, मूढ़मान्यताओं से ग्रसित कर पंगु बना दिया गया। धर्म के साथ जब भी दुराग्रही मान्यताएँ व अंधविश्वास, रूढ़िवादिता जुड़ जाते हैं वह निरुपयोगी-निरर्थक ही नहीं, समाज के लिए भी घातक बन जाता है। बलिपरम्परा, कर्मकाण्डी-कट्टरता एवं धर्म के नाम पर शोषण-उत्पीड़न इसी कारण पनपा एवं हम घुटन भरे एक समयविशेष से गुजर कर अब सांस्कृतिक आजादी की हवा में साँस ले रहे हैं। अभी भी वह कार्य बाकी है जिसकी व्याख्या विस्तार से वाङ्मय के इस खण्ड में है, वह है धर्म को विज्ञानसम्मत बनाकर उसे सदाशयता, परमार्थपरायणता, संवेदनशीलता का स्वरूप देना ताकि हर कोई उसे अंगीकार कर सके। यह परिष्कृति और कोई नहीं, आज का प्रबुद्ध वर्ग ही धर्मतंत्र अपने हाथ में लेकर कर सकेगा।

धर्म के दस लक्षण एवं पंचशील बताए गए हैं। चिरपुरातन दृष्टि से वे अनेक रूपों में परिभाषित हैं, किन्तु पूज्य गुरुदेव ने आप्तजनों की सहमति के अनुसार सत्य, विवेक, संयम, कर्त्तव्यपरायणता, अनुशासन, व्रतधारण, स्नेह-सौजन्य, पराक्रम, सहकार एवं परमार्थ के रूप में उनकी व्याख्या की है। इन गुणों की अवधारणा, जीवन में इनको उतारा जाना ही धर्म-धारणा है। धर्म की परिभाषा **''यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः''** के रूप में की गयी है। यह परिपूर्ण परिभाषा मानवधर्म के रूप में मात्र भारतीय संस्कृति में देखी जा सकती है। धर्म के अन्तर्गत वे सारे सिद्धान्त एवं उपयोगी आधार आ जाते हैं जो मनुष्य के सर्वांगीण विकास, आध्यात्मिक प्रगति में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। मानवी प्रगति का राजमार्ग इतना करने पर ही सबके लिए खुल सकेगा।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

धर्म का मर्म है- नीतिमत्ता-शालीनता। यह प्रयोजन उच्चस्तरीय आस्थाओं के सहारे ही सध सकता है। आस्थाओं का मूलभूत परिष्कार धर्मतंत्र के प्रगतिशील बन पाने पर ही सम्भव है। यही समय की माँग युगधर्म के रूप में इस वाङ्मय में रखी गयी है। एक और महत्त्वपूर्ण सामयिक चर्चा जो इस खण्ड में है, वह है धर्मतंत्र व राजतंत्र का सहगान। क्या ये दोनों एक साथ चल सकते हैं। यदि हाँ तो कैसे? धर्म राजतंत्र को दिशा प्रदान कर उसकी स्वेच्छाचारिता पर अंकुश रख सकता है। इसी कारण धर्म को राजतंत्र की तुलना में अधिक महत्ता दी गयी है। अपराधियों-आक्रान्ताओं से निपटना धर्म-मान्यताओं के सहारे भली-भाँति सम्भव है। यदि सामाजिक अपराध, जिनके लिए राजतंत्र की बड़ी शक्ति खर्च होती है, धर्म द्वारा प्रदत्त अंत:प्रेरणा से रुक जाते हैं तो समझना चाहिए कि शासन की दौड़-धूप रोक कर उसे रचनात्मक प्रयोजनों में लगा दिया गया।

एक युग-सृजेता एवं क्रांतिकारी चिन्तन वाङ्मय के इस खण्ड से परिलक्षित होता है एवं वह आज की सभी समस्याओं का समाधान भी है। यदि पाठकगण वाङ्मय के इस खण्ड में दिये गए प्रतिपादनों को हृदयंगम करें तो वे पायेंगे कि विश्व-वसुधा आने वाले दिनों में मानवधर्म की धुरी पर कैसे एक सूत्र में आबद्ध होने जा रही है। एकता, समता, ममता, शुचिता का समग्र स्वरूप आने वाले नवयुग में किस प्रकार एक विराट कुटुम्ब का निर्माण करेगा, जिसमें विद्वेष नहीं सहकार हो, सर्वधर्म समभाव ही प्रधान होगा; यही उस पूरे खण्ड की पृष्ठभूमि है। पढ़ें एवं जानें, कर्त्तव्यपरायणता का पाठ सिखाने वाले संवेदनशील बनाने वाले धर्म के तत्त्वदर्शन व मर्म को।

-ब्रह्मवर्चस

www.awgp.org
www.vicharkrantibooks.org

विराट गायत्री परिवार एवं उसके संस्थापक-संरक्षक एक संक्षिप्त परिचय

इतिहास में कभी-कभी ऐसा होता है कि अवतारी सत्ता एक साथ बहुआयामी रूपों में प्रकट होती है एवं करोड़ों ही नहीं, पूरी वसुधा के उद्धार-चेतनात्मक धरातल पर सबके मनों का नये सिरे से निर्माण करने आती है। परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य को एक ऐसी ही सत्ता के रूप में देखा जा सकता है जो युगों-युगों में गुरु एवं अवतारी सत्ता दोनों ही रूपों में हम सबके बीच प्रकट हुई, अस्सी वर्ष का जीवन जीकर एक विराट् ज्योति प्रज्ज्वलित कर उस सूक्ष्म ऋषि चेतना के साथ एकाकार हो गयी जो आज युग परिवर्तन को सन्निकट लाने को प्रतिबद्ध है। परमवंदनीया माताजी शक्ति का रूप थीं जो कभी महाकाली, कभी माँ जानकी, कभी माँ शारदा एवं कभी माँ भगवती के रूप में शिव की कल्याणकारी सत्ता का साथ देने आती रही हैं। उनने भी सूक्ष्म में विलीन हो स्वयं को अपने आराध्य के साथ एकाकार कर ज्योतिपुरुष का एक अंग स्वयं को बना लिया। आज दोनों सशरीर हमारे बीच नहीं हैं किन्तु, नूतन सृष्टि कैसे ढाली गयी, कैसे मानव गढ़ने का साँचा बनाया गया, इसे शान्तिकुंज, ब्रह्मवर्चस, गायत्री तपोभूमि, अखण्ड ज्योति संस्थान एवं युगतीर्थ आँवलखेड़ा जैसी स्थापनाओं तथा संकल्पित सृजन सेनानीगणों के वीरभद्रों की करोड़ों से अधिक की संख्या के रूप में देखा जा सकता है।

परमपूज्य गुरुदेव का वास्तविक मूल्यांकन तो कुछ वर्षों बाद इतिहासविद, मिथक लिखने वाले करेंगे किन्तु, यदि उनको आज भी साक्षात कोई देखना या उनसे साक्षात्कार करना चाहता हो तो उन्हें उनके द्वारा अपने हाथ से लिखे गये उस विराट परिमाण में साहित्य के रूप में युग संजीवनी के रूप में देखा सकता है जो वे अपने वजन से अधिक भार के बराबर लिख गये। इस साहित्य में संवेदना का स्पर्श इस बारीकी से हुआ है कि लगता है लेखनी को उसी की स्याही में डुबोकर लिखा गया हो। हर शब्द ऐसा जो हृदय को छूता, मन को व विचारों को बदलता चला जाता है। लाखों-करोड़ों के मनों के अन्तःस्तल को छूकर उसने उनका कायाकल्प कर दिया। रूसो के प्रजातंत्र की, कार्लमार्क्स के साम्यवाद की क्रान्ति भी इसके समक्ष बौनी पड़ जाती है। उनके मात्र इस युग वाले स्वरूप को लिखने तक में लगता है कि एक विश्वकोश तैयार हो सकता है, फिर उस बहुआयामी रूप को जिसमें वे संगठनकर्ता, साधक, करोड़ों के अभिभावक, गायत्री महाविद्या के उद्धारक, संस्कार परम्परा का पुनर्जीवन करने वाले, ममत्व लुटाने वाले एक पिता, नारी जाति के प्रति अनन्य करुणा बिखेरकर उनके ही उद्धार के लिए धरातल पर चलने वाला नारी जागरण अभियान चलाते देखे जाते हैं, अपनी वाणी के उद्बोधन से एक विराट् गायत्री परिवार एकाकी अपने बलबूते खड़े करते दिखाई देते हैं तो समझ में नहीं आता, क्या-क्या लिखा जाये, कैसे छन्दबद्ध किया जाय, उस महापुरुष के जीवनचरित को।

आश्विन कृष्ण त्रयोदशी विक्रमी संवत् १९६७ (२० सितम्बर, १९११) को स्थूल शरीर से आँवलखेड़ा ग्राम जनपद आगरा जो जलेसर मार्ग पर आगरा से पन्द्रह मील की दूरी पर स्थित है, में जन्मे श्रीराम शर्मा जी का बाल्यकाल-कैशोर्य काल ग्रामीण परिसर में ही बीता। वे जन्मे तो थे एक जमींदार घराने में, जहाँ उनके पिता श्री पं. रूपकिशोर जी शर्मा आस-पास के, दूर-दराज के राजघरानों के राजपुरोहित, उद्भट विद्वान, भागवत कथाकार थे किन्तु, उनका अंतःकरण मानव मात्र की पीड़ा से सतत विचलित रहता था। साधना के प्रति उनका झुकाव बचपन में ही दिखाई देने लगा। जब वे अपने सहपाठियों को, छोटे बच्चों को अमराइयों में बिठाकर स्कूली शिक्षा के साथ-साथ सुसंस्कारिता अपनाने वाली आत्मविद्या का शिक्षण दिया करते थे, छटपटाहट के कारण हिमालय की ओर भाग निकलने व पकड़े जाने पर उनने संबंधियों को बताया कि हिमालय ही उनका घर है एवं वहीं वे जा रहे थे। किसे मालूम था कि हिमालय की ऋषि चेतनाओं का समुच्चय बनकर आयी यह सत्ता वस्तुतः अगले दिनों अपना घर वहीं बनाएगी। जाति-पाँति का कोई भेद नहीं। जातिगत मूढ़ता भरी मान्यता से ग्रसित तत्कालीन भारत के ग्रामीण परिसर में एक अछूत वृद्ध महिला

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

की जिसे कुष्ठ रोग हो गया था, उसी के टोले में जाकर सेवा कर उनने घरवालों का विरोध तो मोल ले लिया पर अपना व्रत नहीं छोड़ा। उस महिला ने स्वस्थ होने पर उन्हें ढेरों आशीर्वाद दिये। एक अछूत कहलाने वाली जाति का व्यक्ति जो उनके आलीशान घर में घोड़ों की मालिश करने आता था, एक बार कह उठा कि मेरे घर कथा कौन कराने आएगा, मेरा ऐसा सौभाग्य कहाँ। नवनीत जैसे हृदय वाले पूज्यवर उसके घर जा पहुँचे एवं कथा पूरे विधान से कर पूजा की, उसको स्वच्छता का पाठ सिखाया, जबकि सारा गाँव उनके विरोध में बोल रहा था।

किशोरावस्था में ही समाज सुधार की रचनात्मक प्रवृत्तियाँ उनने चलाना आरम्भ कर दी थीं। औपचारिक शिक्षा स्वल्प ही पायी थी किंतु, उन्हें इसके बाद आवश्यकता भी नहीं थी क्योंकि जो जन्मजात प्रतिभासम्पन्न हो वह औपचारिक पाठ्यक्रम तक सीमित कैसे रह सकता है। हाट-बाजारों में जाकर स्वास्थ्य-शिक्षा प्रधान परिपत्र बाँटना, पशुधन को कैसे सुरक्षित रखें तथा स्वावलम्बी कैसे बनें, इसके छोटे-छोटे पैम्फलेट्स लिखने, हाथ की प्रेस से छपवाने के लिए उन्हें किसी शिक्षा की आवश्यकता नहीं थी। वे चाहते थे, जनमानस आत्मावलम्बी बने, राष्ट्र के प्रति स्वाभिमान उसका जागे, इसलिए गाँव में जन्मे इस लाल ने नारी शक्ति व बेरोजगार युवाओं के लिए गाँव में ही एक बुनताघर स्थापित किया व उसके द्वारा हाथ से कैसे कपड़ा बुना जाय अपने पैरों पर कैसे खड़ा हुआ जाय यह सिखाया।

पंद्रह वर्ष की आयु में वसंत पंचमी की वेला में सन् १९२६ में उनके घर की पूजास्थली में, जो उनकी नियमित उपासना का तब से आगार थी, जबसे महामना पं. मदनमोहन मालवीय जी ने उन्हें काशी में गायत्री मंत्र की दीक्षा दी थी, उनकी गुरुसत्ता का आगमन हुआ अदृश्य छायाधारी सूक्ष्म रूप में। उनने प्रज्ज्वलित दीपक की लौ में से स्वयं को प्रकट कर उन्हें उनके द्वारा विगत कई जन्मों में सम्पन्न क्रिया-कलापों का दिग्दर्शन कराया तथा उन्हें बताया कि वे दुर्गम हिमालय से आये हैं एवं उनसे अनेकानेक ऐसे क्रियाकलाप कराना चाहते हैं, जो अवतारी स्तर की ऋषिसत्ताएँ उनसे अपेक्षा रखती हैं। चार बार कुछ दिन से लेकर एक साल तक की अवधि तक हिमालय आकर रहने, कठोर तप करने का भी उनने संदेश दिया एवं उन्हें तीन संदेश दिए- १. गायत्री महाशक्ति के चौबीस-चौबीस लक्ष्य के चौबीस महापुरश्चरण जिन्हें आहार के कठोर तप के साथ पूरा करना था। २. अखण्ड घृतदीप की स्थापना एवं जन-जन तक इसके प्रकाश को फैलाने के लिए समय आने पर ज्ञानयज्ञ अभियान चलाना, जो बाद में अखण्ड ज्योति पत्रिका के १९३८ में प्रथम प्रकाशन से लेकर विचार-क्रान्ति अभियान के विश्वव्यापी होने के रूप में प्रकटा तथा ३. चौबीस महापुरश्चरणों के दौरान युगधर्म का निर्वाह करते हुए राष्ट्र के निमित्त भी स्वयं को खपाना, हिमालय यात्रा भी करना तथा उनके संपर्क से आगे का मार्गदर्शन लेना।

यह कहा जा सकता है कि युग निर्माण मिशन, गायत्री परिवार, प्रज्ञा अभियान, पूज्य गुरुदेव जो सभी एक-दूसरे के पर्याय हैं, की जीवन यात्रा का यह एक महत्त्वपूर्ण मोड़ था, जिसमें भावी रीति-नीति का निर्धारण कर दिया। पूज्य गुरुदेव अपनी पुस्तक 'हमारी वसीयत और विरासत' में लिखते हैं कि- ''प्रथम मिलन के दिन समर्पण सम्पन्न हुआ। दो बातें गुरुसत्ता द्वारा विशेष रूप से कही गईं- संसारी लोग क्या करते हैं और क्या कहते हैं, उसकी ओर से मुँह मोड़कर निर्धारित लक्ष्य की ओर एकाकी साहस के बलबूते चलते रहना एवं दूसरा यह कि अपने को अधिक पवित्र और प्रखर बनाने की तपश्चर्या में जुट जाना- जौ की रोटी व छाछ पर निर्वाह कर आत्मानुशासन सीखना। इसी से वह सामर्थ्य विकसित होगी जो विशुद्धतः परमार्थ प्रयोजनों में नियोजित होगी। वसंत पर्व का यह दिन गुरु अनुशासन का अवधारण ही हमारे लिए नया जन्म बन गया। सद्गुरु की प्राप्ति हमारे जीवन का अनन्य एवं परम सौभाग्य रहा।''

राष्ट्र के परावलम्बी होने की पीड़ा भी उन्हें उतनी ही सताती थी जितनी कि गुरुसत्ता के आदेशानुसार तपकर सिद्धियों के उपार्जन की ललक उनके मन में थी। उनके इस असमंजस को गुरुसत्ता ने ताड़कर परावाणी से उनका मार्गदर्शन किया कि युगधर्म की महत्ता व समय की पुकार देख-सुनकर तुम्हें अन्य आवश्यक कार्यों को छोड़कर अग्निकाण्ड में पानी लेकर दौड़ पड़ने की तरह आवश्यक कार्य भी करने पड़ सकते हैं। इसमें स्वतंत्रता संग्राम सेनानी के नाते संघर्ष करने का भी संकेत था। १९२७ से १९३३ तक का समय उनका एक सक्रिय स्वयं सेवक-स्वतंत्रता सेनानी के रूप में बीता, जिसमें घरवालों के विरोध के बावजूद

पैदल लम्बा रास्ता पार कर वे आगरा के उस शिविर में पहुँचे, जहाँ शिक्षण दिया जा रहा था, अनेकानेक मित्रों-सखाओं-मार्गदर्शकों के साथ भूमिगत हो कार्य करते रहे तथा समय आने पर जेल भी गये। छह-छह माह की उन्हें कई बार जेल हुई। जेल में भी वे जेल के निरक्षर साथियों को शिक्षण देकर व स्वयं अँग्रेजी सीखकर लौटे। आसमसोल जेल में वे श्री जवाहरलाल नेहरू की माता श्रीमती स्वरूपरानी नेहरू, श्री रफी अहमद किदवई, महामना मदनमोहन मालवीय जी, देवदास गाँधी जैसी हस्तियों के साथ रहे व वहाँ से एक मूलमंत्र सीखा जो मालवीय जी ने दिया था कि जन-जन की साझेदारी बढ़ाने के लिए हर व्यक्ति के अंशदान से, मुट्ठी फण्ड से रचनात्मक प्रवृत्तियाँ चलाना। यही मंत्र आगे चलकर एक घण्टा समयदान, बीस पैसा नित्य या एक दिन की आय एक माह में तथा एक मुट्ठी अन्न रोज डालने के माध्यम से धर्मघट की स्थापना का स्वरूप लेकर लाखों-करोड़ों की भागीदारी वाला गायत्री परिवार बनाता चला गया, जिसका आधार था प्रत्येक व्यक्ति की यज्ञीय भावना का उसमें समावेश।

स्वतंत्रता की लड़ाई के दौरान कुछ उग्र दौर भी आये, जिनमें शहीद भगतसिंह को फाँसी दिये जाने पर फैले जनआक्रोश के समय श्री अरविन्द के किशोर काल की क्रान्तिकारी स्थिति की तरह उनने भी वे कार्य किये, जिनसे आक्रान्ता शासकों के प्रति असहयोग जाहिर होता था। नमक आन्दोलन के दौरान वे आततायी शासकों के समक्ष झुके नहीं, वे मारते रहे परन्तु, समाधि स्थिति को प्राप्त राष्ट्र देवता के पुजारी को बेहोश होना स्वीकृत था पर आन्दोलन से पीठ दिखाकर भागना नहीं। बाद में फिरंगी सिपाहियों के जाने पर लोग उठाकर घर लेकर आये। जरारा आन्दोलन के दौरान उनने झण्डा छोड़ा नहीं जबकि, फिरंगी उन्हें पीटते रहे, झण्डा झीनने का प्रयास करते रहे। उनने मुँह से झण्डा पकड़ लिया, गिर पड़े, बेहोश हो गये पर झण्डे का टुकड़ा चिकित्सकों द्वारा दाँतों में भींचे गये टुकड़े के रूप में जब निकाला गया तब सब उनकी सहनशक्ति देखकर आश्चर्यचकित रह गये। उन्हें तब से ही आजादी के मतवाले उन्मत्त श्रीराम मस्त नाम मिला। अभी भी आगरा में उनके साथ रहे या उनसे कुछ सीख लिए अगणित व्यक्ति उन्हें मस्तजी नाम से ही जानते हैं। लगानबन्दी के आँकड़े एकत्र करने के लिए उनने पूरे आगरा जिले का दौरा किया व उनके द्वारा प्रस्तुत वे आँकड़े तत्कालीन संयुक्त प्रान्त के मुख्यमंत्री श्रीगोविन्द वल्लभ पंत द्वारा गाँधीजी के समक्ष पेश किये गये। बापू ने अपनी प्रशस्ति के साथ वे प्रामाणिक आँकड़े ब्रिटिश पार्लियामेण्ट भेजे, इसी आधार पर पूरे संयुक्त प्रान्त के लगान माफी के आदेश प्रसारित हुए। कभी जिनने अपनी इस लड़ाई के बदले कुछ न चाहा उन्हें सरकार ने अपना प्रतिनिधि भेजकर पचास वर्ष बाद ताम्रपत्र देकर शांतिकुंज में सम्मानित किया। उसी सम्मान व स्वाभिमान के साथ सारी सुविधाएँ व पेंशन उनने प्रधानमंत्री राहत फण्ड के नाम समर्पित कर दीं। वैरागी जीवन का सच्चे राष्ट्र संत होने का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है?

१९३५ के बाद उनके जीवन का नया दौर शुरू हुआ, जब गुरुसत्ता की प्रेरणा से वे श्री अरविन्द से मिलने पाण्डिचेरी, गुरुदेव ऋषिवर रवीन्द्रनाथ टैगोर से मिलने शांति निकेतन तथा बापू से मिलने साबरमती आश्रम, अहमदाबाद गये। सांस्कृतिक, आध्यात्मिक मोर्चे पर राष्ट्र को कैसे परतंत्रता की बेड़ियों से मुक्त किया जाय, यह निर्देश लेकर अपना अनुष्ठान यथावत् चलाते हुए उनने पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया, जब आगरा में 'सैनिक' समाचार पत्र के कार्यवाहक संपादक के रूप में श्रीकृष्णदत्तपालीवाल जी ने उन्हें अपना सहायक बनाया। बाबू गुलाब राय व पालीवाल जी से सीख लेते हुए सतत स्वाध्यायरत रहकर उनने अखण्ड ज्योति नामक पत्रिका का पहला अंक १९३८ की वसंत पंचमी पर प्रकाशित किया। प्रयास पहला था, जानकारियाँ कम थीं अतः पुनः सारी तैयारी के साथ विधिवत् १९४० की जनवरी से उनने परिजनों के नाम पाती के साथ अपने हाथ से बने कागज पर पैर से चलने वाली मशीन से छापकर 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका का शुभारंभ किया जो पहले तो दो सौ पचास पत्रिका के रूप में निकली, किन्तु क्रमशः उनके अध्यवसाय घर- घर पहुँचाने, मित्रों तक पहुँचाने वाले उनके हृदयस्पर्शी पत्रों द्वारा बढ़ती-बढ़ती नवयुग के मत्स्यावतार की तरह आज दस लाख से भी अधिक संख्या में विभिन्न भाषाओं में छपती व एक करोड़ से अधिक व्यक्तियों द्वारा पढ़ी जाती है।

पत्रिका के साथ-साथ 'मैं क्या हूँ' जैसी पुस्तकों का लेखन आरम्भ हुआ। स्थान बदला, आगरा से मथुरा आ गये, दो-तीन घर बदलकर घीयामण्डी में जहाँ आज अखण्ड ज्योति संस्थान है, आ बसे। पुस्तकों

का प्रकाशन व कठोर तपश्चर्या, ममत्व विस्तार तथा पत्रों द्वारा जन-जन के अन्तःस्तल को छूने की प्रक्रिया चालू रही। साथ देने आ गयीं परमवंदनीया माताजी भगवती देवी शर्मा, जिन्हें भविष्य में अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका अपने आराध्य इष्ट गुरु के लिए निभानी थी। उनके मर्मस्पर्शी पत्रों ने, भाव भरे आतिथ्य, हर किसी को जो दुःखी था- पीड़ित था, दिये गये ममत्व भरे परामर्श ने गायत्री परिवार का आधार खड़ा किया, इसमें कोई सन्देह नहीं। यदि विचारक्रांति में साहित्य ने मनोभूमि बनायी तो भावात्मक क्रान्ति में ऋषियुगल के असीम स्नेह ने ब्राह्मणत्व भरे जीवन ने शेष बची भूमिका निभायी।

'अखण्ड ज्योति' पत्रिका लोगों के मनों को प्रभावित करती रही, इसमें प्रकाशित 'गायत्री चर्चा' स्तम्भ से लोगों को गायत्री व यज्ञमय जीवन जीने का संदेश मिलता रहा, साथ ही एक आना से लेकर छह आना सीरज की अनेकानेक लोकोपयोगी पुस्तकें छपती चली गयीं। इस बीच हिमालय के बुलावे भी आये, अनुष्ठान भी चलता रहा जो पूरे विधि-विधान के साथ १९५३ में गायत्री तपोभूमि की स्थापना; १०८ कुण्डी यज्ञ व उनके द्वारा दी गयी प्रथम दीक्षा के साथ समाप्त हुआ। गायत्री तपोभूमि की स्थापना के निमित्त धन की आवश्यकता पड़ी तो परमवंदनीया माताजी ने जिनने हर कदम पर अपने आराध्य का साथ निभाया, अपने सारे जेवर बेच दिये, पूज्यवर ने जमींदारी के बाण्ड बेच दिये एवं जमीन लेकर अस्थायी स्थापना कर दी गयी। धीरे-धीरे उदारचेताओं के माध्यम से गायत्री तपोभूमि एक साधना पीठ बन गयी। २४०० तीर्थों के जल व रज की स्थापना वहाँ की गयी, २४०० करोड़ गायत्री मंत्र लेखन वहाँ स्थापित हुआ, अखण्ड अग्नि हिमालय के एक अति पवित्र स्थान से लाकर स्थापित की गयी जो अभी तक वहाँ यज्ञशाला में जल रही है। १९४१ से १९७१ तक का समय परमपूज्य गुरुदेव का गायत्री तपोभूमि, अखण्ड ज्योति संस्थान में सक्रिय रहने का समय है। १९५६ में नरमेध यज्ञ, १९५७ में सहस्रकुण्डी यज्ञ करके लाखों गायत्री साधकों को एकत्र कर उनने गायत्री परिवार का बीजारोपण कर दिया। कार्तिक पूर्णिमा १९५८ में आयोजित इस कार्यक्रम में दस लाख व्यक्तियों ने भाग लिया, इन्हीं के माध्यम से देशभर में प्रगतिशील गायत्री परिवार की दस हजार से अधिक शाखाएँ स्थापित हो गयीं। संगठन का अधिकाधिक कार्यभार पूज्यवर परमवंदनीया माताजी पर सौंपते चले गये एवम् १९५९ में पत्रिका का संपादन उन्हें देकर पौने दो वर्ष के लिए हिमालय चले गये, जहाँ उन्हें गुरुसत्ता से मार्गदर्शन लेना था, तपोवन नंदनवन में ऋषियों से साक्षात्कार करना था तथा गंगोत्री में रहकर आर्ष ग्रन्थों का भाष्य करना था। तब तक वे गायत्री महाविद्या पर विश्वकोश स्तर की रचना गायत्री महाविज्ञान के तीन खण्ड लिख चुके थे, जिसके अब तक प्रायः पैंतीस संस्करण छप चुके हैं। हिमालय से लौटते ही उनने महत्वपूर्ण निधि के रूप में वेद, उपनिषद्, स्मृति, आरण्यक, ब्राह्मण, योगवाशिष्ठ, मंत्र महाविज्ञान, तंत्र महाविज्ञान जैसे ग्रन्थों को प्रकाशित कर देव संस्कृति की मूलथाती को पुनर्जीवन दिया। परमवंदनीया माताजी ने उन्हीं वेदों को पूज्यवर की इच्छानुसार १९९१-९२ में विज्ञानसम्मत आधार देकर पुनर्मुद्रित कराया एवं वे आज घर-घर में स्थापित हैं।

युग निर्माण योजना व 'युग निर्माण सत्संकल्प' के रूप में मिशन का घोषणा पत्र १९६३ में प्रकाशित हुआ। तपोभूमि एक विश्वविद्यालय का रूप लेती चली गयी तथा अखण्ड ज्योति संस्थान एक तप-पूत की निवास स्थली बन गया, जहाँ रहकर उनने अपनी शेष तप साधना पूरी की थी, जहाँ से गायत्री परिवार का बीज डाला गया था। तपोभूमि में विभिन्न शिविरों का आयोजन किया जाता रहा, पूज्यवर स्वयं छोटे-बड़े जन सम्मेलनों के द्वारा विचार क्रान्ति की पृष्ठभूमि बनाते रहे, पूरे देश में १९७०-७१ में पाँच १००८ कुण्डी यज्ञ आयोजित हुए। स्थायी रूप से विदाई लेते हुए एक विराट सम्मेलन (जून १९७१) में परिजनों को विशेष कार्य-भार सौंप परमवंदनीया माताजी को शांतिकुंज, हरिद्वार में अखण्ड दीप के समक्ष तप हेतु छोड़कर स्वयं हिमालय चले गये। एक वर्ष बाद वे गुरुसत्ता का संदेश लेकर लौटे एवं अपनी आगामी बीस वर्ष की क्रिया-पद्धति बतायी। ऋषि परम्परा का बीजारोपण, प्राण प्रत्यावर्तन, संजीवनी व कल्प साधना सत्रों का मार्गदर्शन जैसे कार्य उनने शांतिकुंज में सम्पन्न किये।

सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थापना अपनी हिमालय की इस यात्रा से लौटने के बाद ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान की थी, जहाँ विज्ञान और अध्यात्म के समन्वयात्मक प्रतिपादनों पर शोध कर एक नये धर्म वैज्ञानिक धर्म के मूलभूत आधार रखे जाने थे। इस सम्बन्ध में पूज्यवर ने विराट परिमाण में साहित्य लिखा, अदृश्य जगत के

अनुसंधान से लेकर मानव की प्रसुप्त क्षमता के जागरण तक, साधना से सिद्धि एवं दर्शन-विज्ञान के तर्क, तथ्य, प्रमाण के आधार पर प्रस्तुतीकरण तक। इसके लिए एक विराट ग्रन्थागार बना व एक सुसज्जित प्रयोगशाला। वनौषधि उद्यान भी लगाया गया तथा जड़ी-बूटी, यज्ञ विज्ञान तथा मंत्र शक्ति पर प्रयोग हेतु साधकों पर परीक्षण प्रचुर परिमाण में किये गये। निष्कर्षों ने प्रमाणित किया कि ध्यान साधना, मंत्र चिकित्सा व यज्ञोपैथी एक विज्ञानसम्मत विधा है। गायत्री नगर क्रमशः एक तीर्थ, संजीवनी विद्या के प्रशिक्षण का, एकेडमी का रूप लेता चला गया एवं जहाँ ९-९ दिन के साधना प्रधान, एक-एक माह के कार्यकर्त्ता निर्माण हेतु युगशिल्पी सत्र सम्पन्न होने लगे।

कार्यक्षेत्र में विस्तार हुआ। स्थान-स्थान पर शक्तिपीठें विनिर्मित हुईं, जिनके निर्धारित क्रियाकलाप थे- सुसंस्कारिता व आस्तिकता संवर्धन एवं जन-जाग्रति के केन्द्र बनना। ऐसे केन्द्र जो १९८० में बनना आरंभ हुए थे, प्रज्ञासंस्थान, शक्तिपीठ, प्रज्ञामण्डल, स्वाध्याय-मण्डल के रूप में पूरे देश व विश्व में फैलते चले गये। ७६ देशों में गायत्री परिवार की शाखाएँ फैल गयीं, ४६०० से अधिक भारत में निज के भवन वाले संस्थान विनिर्मित हो गये, वातावरण गायत्रीमय होता चला गया।

परमपूज्य गुरुदेव ने सूक्ष्मीकरण में प्रवेश कर १९८५ में ही पाँच वर्ष के अंदर अपने सारे क्रिया-कलापों को समेटने की घोषणा कर दी। इस बीच कठोर तपसाधना कर मिलना-जुलना कम कर दिया तथा क्रमशः क्रिया-कलाप परमवंदनीया माताजी को सौंप दिये। राष्ट्रीय एकता सम्मेलनों, विराट दीप यज्ञों के रूप में नूतन विधा को जन-जन को सौंप कर राष्ट्र देवता की कुण्डलिनी जगाने हेतु उनने अपने स्थूल शरीर छोड़ने व सूक्ष्म में समाने की, विराट से विराटतम होने की घोषणा कर गायत्री जयन्ती २ जून, १९९० को महाप्रयाण किया। सारी शक्ति वे परमवंदनीया माताजी के दे गये व अपने व माताजी के बाद संघशक्ति की प्रतीक लाल मशाल को ही इष्ट-आराध्य मानने का आदेश देकर ब्रह्मबीज से विकसित ब्रह्मकमल की सुवास को देवसंस्कृति दिग्विजय अभियान के रूप में आरंभ करने का माताजी को निर्देश दे गये।

एक विराट श्रद्धांजलि समारोह व शपथ समारोह जो हरिद्वार में सम्पन्न हुए, में लाखों व्यक्तियों ने अपना समय समाज के नवनिर्माण, मनुष्य में देवत्व के उदय व धरती पर स्वर्ग लाने का गुरुसत्ता का नारा साकार करने के निमित्त देने की घोषणा की। परमवंदनीया माताजी द्वारा भारतीय-संस्कृति को विश्वव्यापी बनाने, गायत्री रूपी संजीवनी घर-घर पहुँचाने के लिए पूज्यवर द्वारा आरम्भ किये गये युग संधि महापुरश्चरण की प्रथम व द्वितीय पूर्णाहुति तक विराट अश्वमेध महायज्ञों की घोषणा की गयी। वातावरण के परिशोधन, सूक्ष्मजगत के नवनिर्माण एवं सांस्कृतिक व वैचारिक क्रान्ति ने सारी विश्ववसुधा को गायत्री व यज्ञमय, वासंती उल्लास से भर दिया। स्वयं परमवंदनीया माताजी ने अपनी पूर्व घोषणानुसार चार वर्ष तक परिजनों का मार्गदर्शन कर सोलह यज्ञों का संचालन स्थूल शरीर से किया व फिर भाद्रपद पूर्णिमा १९ सितम्बर, १९९४ महालय श्राद्धारंभ वाली पुण्य वेला में अपने आराध्य के साथ एकाकार हो गयीं। उनके महाप्रयाण के बाद, दोनों ही सत्ताओं के सूक्ष्म में एकाकार होने के बाद मिशन की गतिविधियाँ कई गुना बढ़ती चली गयीं एवं जयपुर के प्रथम अश्वमेध यज्ञ (नवम्बर ९२) से छब्बीसवें अश्वमेध यज्ञ शिकागो (यू. एस ए. जुलाई ९५) तक प्रज्ञावतार का प्रत्यक्ष रूप सबको दीखने लगा है।

गुरुसत्ता के आदेशानुसार सतयुग के आगमन तक १०८ महायज्ञ देवसंस्कृति को विश्वव्यापी बनाने हेतु सम्पन्न होने हैं। युग संधि महापुरश्चरण की अंतिम पूर्णाहुति उसी के बाद होगी। प्रथम पूर्णाहुति नवम्बर १९९५ में कार्त्तिक पूर्णिमा के अवसर पर युगपुरुष पूज्यवर की जन्मभूमि आँवलखेड़ा में मनायी गई। उनके द्वारा लिखे गये समग्र साहित्य के वाङ्मय का जो एक सौ आठ खण्डों में फैला है, विमोचन भी यहीं सम्पन्न हुआ। विनम्रता एवं ब्राह्मणत्व की कसौटी पर खरे उतरने वाले वरिष्ठ प्रज्ञापुत्र ही उनके उत्तराधिकारी कहे जाएँगे, यह गुरुसत्ता का उद्घोष था एवं इस क्षेत्र में बढ़-चढ़कर आदर्शवादी प्रतिस्पर्धा करने वाले अनेकानेक परिजन अब उनके स्वप्नों को साकार करने आगे आ रहे हैं। 'हम बदलेंगे-युग बदलेगा' का उद्घोष दिग-दिगन्त तक फैल रहा है एवं इक्कीसवीं सदी उज्ज्वल भविष्य, सतयुग की वापसी का स्वप्न साकार होता चला जा रहा है, यह स्पष्ट दिखाई दे रहा है। ❑❑❑

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
धर्म अफीम की गोली नहीं है	१.१
धर्म-धारणा हर दृष्टि से उपयोगी	१.१
धर्म की सत्ता और उसकी महान महत्ता	१.२
धर्म का सही स्वरूप समझें	१.४
धर्म और उसका वास्तविक स्वरूप	१.६
धर्म का मर्म है- नीतिमत्ता	१.८
धर्म साध्य है तो विज्ञान साधन	१.१०
धर्मो विश्वस्य जगत: प्रतिष्ठा	१.११
धर्म- एक शास्त्रीय दृष्टिकोण	१.१२
निराली-अनुपम है, धर्म की भाषा	१.१४
धर्म का व्यावहारिक स्वरूप	१.१५
धर्म उपयोगी भी है और आवश्यक भी	१.१६
धर्म के बिना हमारा काम नहीं चलेगा	१.१८
धर्म का पालन करने से ही कल्याण है	१.१९
धर्म-रक्षा से आत्म-रक्षा	१.२०
धर्म का अन्ध-विश्वासों से क्या सम्बन्ध	१२२
धर्म श्रद्धा आवश्यक है, पर विवेक के साथ	१.२४
धर्म-धारणा का शाश्वत, अपरिवर्तनशील स्वरूप	१.२६
धर्म और तत्त्व-दर्शन की पृष्ठभूमि	१.२७
समग्र सुख-शान्ति धर्म-धारणा से ही सम्भव होगी	१.२९
अर्थ को नहीं, धर्म को प्रधानता मिले	१.३०
धर्म प्रधान 'अर्थ' ही कल्याणकारी है	१.३३
धर्म की स्थापना ही नहीं, अधर्म की अवहेलना भी	१.३५
धर्म को विकृतियों के दलदल से उबारा जाय	१.३५
आस्थाओं का परिशोधन धर्म-धारणा से	१.३८
धर्मतन्त्र-एक सर्व-समर्थ सत्ता	१.३९
धर्म क्यों उपयोगी और आवश्यक है?	१.४२
धर्मों का मूल प्रयोजन प्रकाश में आये	१.४३
धर्म-निष्ठा का पयार्य चरित्र-निष्ठा	१.४५
धर्म का सच्चा स्वरूप	१.४६
धर्म की रक्षा करो	१.४८
धर्म-धारणा की उपेक्षा उसकी विकृतियों के कारण	१.५०
पंगु धर्म को सहारा दीजिए	१.५१
धर्म का स्वरूप कैसा हो?	१.५५
धर्म सम्बन्धी तीन प्रश्न	१.५७
धर्म-धारणा को आचरण में उतारा जाय	१.५९
शास्त्र और धर्म की विवेचना	१.६०
धर्म क्यों उपयोगी? क्यों अनुपयोगी?	१.६१
अहिंसा के नूतन आयाम	१.६२
धार्मिक सिद्धान्तों पर विश्वास क्यों करें?	१.६४
धर्म का तिरस्कार मत करो	१.६५
धर्म की उपेक्षा, अवमानना क्यों?	१.६६
धर्म का तत्व-दर्शन हर दृष्टि से श्रेयस्कर	१.६८
धर्म का अन्त:करण और आवरण	१.६९
धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम्	१.७१
संवेदना को परिष्कृत करने वाली विधा है- 'धर्म'	१.७२
धर्म-क्षेत्र की गरिमा बनाये रहने वाले महामानव	१.७४
धर्म का स्वरूप और आधार	१.७६
धर्म परिवर्तनशील है या अपरिवर्तनशील	१.७८
धर्म का तत्त्व-ज्ञान	१.७९
धर्म अफीम की गोली नहीं है	१.८०
धर्म एक परिष्कृत दृष्टिकोण	१.८३
धर्म-धारणा के लक्षण	१.८४
विलासी मनुष्य धर्मात्मा नहीं हो सकता	१.९८
धर्म-धारणा का लक्ष्य	१.९९
धर्म-दर्शन के चार मूलभूत सिद्धान्त	१.१०१
धर्मतन्त्र की क्षमता प्रगति-प्रयासों में लगे	१.१०४
धर्मतन्त्र अपनी क्षमता प्रत्यक्ष कर दिखाये	१.१०५
क्या धर्मतन्त्र जन-मानस का मार्ग-दर्शन करने में सक्षम है?	१.१०७
परिष्कृत धर्मतन्त्र ही अतीत का गौरव लौटाएगा	१.१०९
धर्म और ईश्वर भी प्रगति पर	१.१११
धर्म और ईश्वरनिष्ठा की महान आवश्यकता	१.११३
धर्म हमें अन्तिम सत्य तक ले पहुँचता है	१.११४
सत्य का दर्शन	१.११५
धर्म से स्वर्ग प्राप्ति	१.११६

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

विषय	पृष्ठ
युग-धर्म के निर्वाह में ही समझदारी	१.११७
धर्मतन्त्र का आदर्शवादी प्रतिभाओं को युग-आमन्त्रण	१.११९
आदर्शवादी प्रतिभाओं की प्रतीक्षा	१.१२०
यह स्वर्णिम अवसर फिर आयेगा नहीं	१.१२१
ज्ञान ही नहीं, मनुष्य को धर्म भी चाहिए	२.१
केवल शुष्क ज्ञान ही नहीं, धर्म भी आवश्यक है	२.१
धर्म अर्थात् सदाशयता	२.३
धर्म बनाम समाजवाद	२.३
नीति-अनीति का भेद और सफलता	२.५
पाप और पुण्य का रहस्य	२.६
नैतिकता की खरी कसौटी	२.९
प्रेय के साथ श्रेय भी जुड़ा है	२.१०
कल्याण का मार्ग	२.११
बहुमत की अपेक्षा धर्म श्रेष्ठ है	२.१२
शास्त्रवाद और बुद्धिवाद का समन्वय	२.१४
धर्म-धारणा का लक्ष्य और उद्देश्य	२.१५
युग-धर्म के दस लक्षण	२.१६
धर्म युद्ध-महान तप	२.१९
धर्म तर्कसंगत होता है	२.२०
धर्म को दिमागी बीमारी बताने वाली भ्रान्त मनोवृत्ति	२.२१
धर्म के नाम पर मानवता का पतन	२.२४
राजनैतिक क्षेत्रों में धर्म का नितान्त अभाव	२.२४
धर्म एक स्वरूप-सम्प्रदाय अनेक	२.२६
धर्म को सम्प्रदायवाद के कुचक्र से उबारा जाय	२.२९
नीर-क्षीर की विवेक-बुद्धि अपनायें	२.३१
जितना उचित है उतना अंगीकार करें	२.३२
धर्म को व्यावहारिक-युगानुकूल बनाया जाय	२.३३
सर्वधर्म समन्वय क्यों और कैसे?	२.३४
सब धर्मों में मौलिक एकता	२.३५
सबधर्मों का एक ही मर्म-उच्च आदर्शों का परिपालन	२.३७
एकता और समता	२.३९
विश्व-वसुधा एकत्व के सूत्र में बँधे	२.४०
विश्व-शांति का एकमेव आधार-अपनत्व का विस्तार	२.४२
हम पुरखों से हर क्षेत्र में पिछड़े ही नहीं रहें	२.४३

विषय	पृष्ठ
विस्तार को नहीं, स्तर को महत्व दिया जाय	२.४४
शक्ति-संचय के पथ पर	२.४६
अंधी दौड़ धर्म की ओर मुड़े	२.४७
तर्क एवं श्रद्धा का समन्वित रूप-धर्म	२.४७
परम्पराओं में घुसी हुई अवांछनीयता	२.४९
बिना सद्ज्ञान के अधूरा है भौतिक ज्ञान	२.५१
विज्ञान की अपूर्णताएँ और उनका विकल्प	२.५३
विज्ञान का अधूरापन दूर किया जाय	२.५५
समझदारी विभाजन में नहीं, एकीकरण में	२.५७
दर्शन बदलता है युग की परिस्थितियों को	२.५९
वेदान्त पलायनवादी दर्शन नहीं है	२.६१
समस्त विचारधाराओं का सार-वेदान्त	२.६२
उच्चतम ज्ञान का उद्गम स्रोत वेदान्त	२.६३
सम दर्शन और व्यवहार-कौशल	२.६५
दर्शन को भ्रष्ट न किया जाय	२.६६
आदेश बनाम विवेक	२.६८
धर्म और दर्शन को अलग-अलग रखिए	२.६९
जीवन-दर्शन के तीन स्वर्णिम सूत्र	२.७०
यह अकथ कथा है, कहता कही न जाई'	२.७१
प्रतिपादन और उसका प्रभाव	२.७३
तस्य वाचक: प्रणव:	२.७४
सत्कार्यों के लिए साधन-सहयोग	२.७७
पुरातन गरिमा को भुलाएँ नहीं	२.७९
मानवी गरिमा की दो मूलभूत कसौटियाँ	२.८०
हम माया-मूढ़ होकर भ्रम-जंजाल में भटक रहे हैं	२.८१
समय और चेतना से उठकर आत्म-चेतना के दर्शन	२.८४
भ्रम-जंजाल में उलझे हुए हम सब	२.८६
क्या सत्य, क्या असत्य?	२.८७
सत्य-असत्य की विवेचना	२.८९
सत्य की स्वीकृति	२.९१
सत्य के प्रकाश को हृदयंगम करें	२.९८
सत्य में हजार हाथियों का बल	२.९३
गरिमा सत्य-वचन की नहीं सत्य-निष्ठा की है	२.९५
सत्य हमारे आचरण में उतरे	२.९५
सत्य को विवेक की कसौटी पर कसा जाय	२.९६
अन्तत: सत्य ही जीतता है	२.९८
सत्य और अहिंसा के परिपालन की सीमा	२.९९
सुखद और सरल तो सत्य ही है	२.१००

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

विषय	पृष्ठ
आस्था कीं ज्योति बुझने न पाये	२.१०१
मानवी तत्त्वदर्शन का शिलान्यास हो	२.१०३
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते	२.१०५
आत्मकल्याण की समग्र साधना और उसका स्वरूप	२.१०६
वैराग्य और जीवन-लक्ष्य	२.१०९
बुद्धि क्षेत्र से परे अपरोक्षानुभूति	२.११०
अमृत और उसकी प्राप्ति	२.११२
धर्म-धारणा द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार	२.११३
स्वर्ग की प्राप्ति और बन्धन-मुक्ति	२.११४
भौतिक ही नहीं, आत्मिक उन्नति का भी ध्यान रहे	२.११५
समग्रता धर्मतन्त्र और राजतन्त्र के समन्वय से	२.११६
धर्मतन्त्र को वर्तमान विकृतियों से उबारा जाय	२.११७
संसार की सर्वोपरि शक्ति-धर्म	२.११८
दरिद्रता बनाम मानसिक पिछड़ापन	२.११८
सत्प्रवृत्तियों की स्थापना	२.११९
धर्मतन्त्र की शक्ति पंगु न बने	२.१२०
राष्ट्रीय चरित्र-निर्माण का दायित्व जनता पर	२.१२१
समग्र प्रगति धर्म-धारणा से ही सम्भव है	२.१२१
क्या धर्म? क्या अधर्म?	३.१
सच्चिदानन्द की आराधना	३.१
पाप-पुण्य का भेद	३.२
मध्यम मार्ग	३.४
धर्म का मर्म	३.८
धर्म और प्रथाएँ	३.११
धर्म-संकट	३.१३
बहुत के लिए थोड़े का त्याग	३.१५
धर्म के दस लक्षण	४.१
सत्य को तथ्य की स्थिति तक पहुँचाया जाये	४.१
विवेक का अनुशासन मानें	४.२
संयम बरतें सुखी रहें	४.४
कर्त्तव्यपालन का पुण्य-परमार्थ	४.५
अनुशासन और संगठन	४.६
आदर्श निर्वाह-व्रतशीलता से	४.८
स्नेह-सौजन्य की मोदभरी प्रक्रिया	४.९
पराक्रम करें, पुरुषार्थ अपनायें	४.११
सहकारिता के अधिकाधिक विस्तार की आवश्यकता	४.१२
परमार्थ की उदारता	४.१३

विषय	पृष्ठ
अध्यात्म जगत के पंचशील	४.१५
सम्पर्क क्षेत्र की देशभक्ति	४.१५
मानवी गरिमा के प्रति आस्था	४.१७
मौलिक अधिकारों की माँग उभरे	४.१८
न्यायनिष्ठा को क्षति न पहुँचे	४.१९
आत्मोत्कर्ष के लिए ईश्वर आस्था	४.२१
सभ्यता, सज्जनता और सुसंस्कारिता का अभिवर्द्धन	५.१
समानता नहीं, आदर्शवादिता को सम्मान मिले	५.१
समृद्धि भी अनिवार्य, पर उपार्जन नीतियुक्त हो	५.२
नीति-सदाचार की घटनाओं को भी प्रकाश में लाया जाय	५.४
लोकरंजन को सत्प्रवृत्ति-सम्वर्द्धन में नियोजित किया जाय	५.६
अवांछनीयताएँ किसी भी स्थिति में हावी न होने पायें	५.१२
नीति-निष्ठा की स्थापना अवांछनीयता उन्मूलन से ही सम्भव	५.१६
प्रामाणिकता की जीवन के हर क्षेत्र में अनिवार्यता	५.१८
विदेशी वस्तुओं का उपभोग हमारी मानसिक पराधीनता है	५.२१
धर्मतन्त्र से लोक शिक्षण की प्रक्रिया	६.१
धर्म का मन्दिर-आस्था की ज्योति	६.१
धार्मिक वातावरण की आवश्यकता समझें	६.२
विनाश से बचने के लिये धर्म-चेतना जगायें	६.३
धर्म-दर्शन कैसे आचरण में उतरे?	६.६
धर्म्माविरोधी यो धर्म्मः स धर्म्मः सत्यविक्रमः	६.७
धर्माचरण का मर्म	६.८
राज्यकर की तरह धर्मकर भी	६.१०
जराजीर्ण धर्म कलेवर का कायाकल्प हो	६.१२
धर्म ही रक्षा करेगा और कोई नहीं	६.१४
सुखी जीवन का एकमात्र आधार-धर्म	६.१५
अधर्म और पापाचार से बचिए	६.१६
परिष्कृत धर्मतन्त्र ही समाज को सशक्त बना सकता है	६.१७
धर्म की सच्ची भावना का प्रवर्तन हो	६.१९
उत्पातों की जड़ काटिए	६.२१
भ्रान्तियाँ ही सम्प्रदायगत विद्वेषों का मूल कारण	६.२२

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

विषय	पृष्ठ
धर्म और सम्प्रदाय अलग-अलग हैं	६.२३
धर्म बनाम साम्प्रदायिकता	६.२४
धर्म और सम्प्रदायों का अन्तर	६.२५
धर्म, सम्प्रदाय का कारागर न बने	६.२६
हम धर्मनिष्ठ हैं सम्प्रदायवादी नहीं	६.२७
मान्यताओं का निष्पक्ष निर्णय किया जाये	६.२९
पूर्वाग्रही मान्यताओं से चिपके न रहें	६.३०
परिवर्तन के लिये तैयार रहें	६.३१
साम्प्रदायिकता के विष-बीज को कुचल डालें	६.३३
भारत में धर्म-परिवर्तन अभियान का कुचक्र	६.३४
धर्म-आदर्शवादिता और एकता का प्रतीक बने	६.३६
साम्यवादी चर्च	६.३७
धर्मों के बीच सद्भाव और सहयोग का वातावरण बने	६.३८
साम्प्रदायिक अनेकता से धार्मिक एकता की ओर	६.४०
अनावश्यक सत्य भी क्यों बोलें?	६.४२
सत्य बनाम तथ्य	६.४४
नैतिकी एवं पारिस्थितिकी परस्पर अन्योन्याश्रित	६.४५
पारस्परिक सहकार ही सुव्यवस्था का आधार	६.४८
सहयोग-सहकार पर निर्भर जीवन व्यापार	६.४९
सहयोग-सहकार से ही सम्भव है अभ्युदय	६.५१
स्वर्गीय वातावरण सृजनात्मक प्रयत्नों से बनेगा	६.५२
देश, धर्म, समाज और संस्कृति के लिए कुछ करें	६.५३
ईसाई धर्म की जड़ें गहरी कैसे जमीं ?	६.५४
धर्म की विडम्बना नहीं सच्ची सेवा करें	६.५६
सेवा से ऊब क्यों? उससे अरुचि किसलिये?	६.५८
सेवा-साधना निज की प्रगति के लिए भी अनिवार्य	६.५८
लोकसेवा के निमित्त संघबद्ध प्रयास	६.५९
हिन्दू गौरव को जगाने हेतु धर्म-धारणा के विस्तार की आवश्यकता	६.६०
लोक-शिक्षण के लिये धार्मिकता का सहारा लिया जाय	६.६२
प्रयोजन अति महान-आरम्भ अति सरल	६.६४
वर्तमान की विपन्नता का तात्विक पर्यवेक्षण	६.६६
विभीषिका से जूझने कौन आगे आये? दो हाथों से ताली बजेगी	६.६८
दो पहियों से गाड़ी चलेगी	६.७०
धर्मतन्त्र की उपेक्षित, किन्तु मूर्धन्य शक्ति-सामर्थ्य	६.७२
मुहीम-युग मनीषा को सँभालनी होगी	६.७४
जन-जागरण के लिये मनीषा का नेतृत्व	६.७७
प्रबुद्धजनों को समय की पुकार	६.७९
मनीषा सामयिक समाधान खोजें	६.८१
महत्व लोक-मानस के परिष्कार का भी समझें	६.८२
वाणी को मुखर करें	६.८३
तथ्य, तर्क और प्रमाणों से भरे-पूरे युग-साहित्य का सृजन	६.८६
लोकरंजन के साथ लोकमंगल का समन्वय	६.८७
जाग्रत आत्माओं की समयदान-अंशदान श्रद्धांजलि	६.८९
नैतिक, बौद्धिक और सामाजिक क्षेत्र की समग्र क्रान्ति	६.९१
युग मनीषा कहाँ पायें, कहाँ खोजें, कहाँ पुकारें	६.९४
विशिष्ट प्रयोजन के लिये, विशिष्ट आत्माओं की विशिष्ट खोज	६.९६
जन-शक्ति ध्वंस में नहीं सृजन में लगे	६.१००
सृजन प्रयासों में धर्मतन्त्र का शासन के साथ सहकार	६.१०२
नव-सृजन का पूर्वार्द्ध जो हो चुका	६.१०४
युग-परिवर्तन प्रक्रिया का उत्तरार्द्ध जो क्रियान्वित होना है	६.१०६
हमीं एक कदम और आगे बढ़ें	६.१०८
हमारी नसों में उष्णता उत्पन्न होकर रहेगी	६.१११
यह सुयोग्य व्यर्थ न जाने पाये	६.११४
अवसर प्रमाद बरतने का है नहीं	६.११५
यह समय चूकने का है नहीं	६.११७
अवसर को पहचानने की सूझ-बूझ	६.११८
युग-परिवर्तन के छोटे किन्तु महान शस्त्रागार	६.११९
धर्म-मंच और शिक्षण का समन्वय	६.१२१
युग संधि के ऊषाकाल में शान्तिकुंज के चार संकल्प	६.१२४
विश्व निर्माण में भारतवर्ष की भूमिका	६.१२६



Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

धर्म अफीम की गोली नहीं है

धर्म–धारणा हर दृष्टि से उपयोगी

धर्म को प्रतिगामी एवं अन्धविश्वासी कहना आज का फैशन है । तथाकथित बुद्धिवादी प्रगतिशीलता के जोश में धर्म को अफीम की गोली कहते और उसे प्रगति का अवरोध ठहराते पाये जाते हैं, पर यह बचकानी प्रवृत्ति मात्र है । गम्भीर चिन्तन से इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि मनुष्य के अन्तराल में आदर्शवादी आस्था बनाये रहना और नीति-मर्यादा का पालन करना धर्मधारणा के सहारे ही सम्भव हो सकता है । भौतिक लाभों को प्रधानता देकर चलने और सदाचरण के अनुबन्धों को तोड़ देने से उपलब्ध सम्पदाएँ दुष्प्रवृत्तियों को ही बढ़ायेंगी और अन्ततः विनाश का कारण बनेंगी । वैभव पर धर्म का अंकुश रहने से ही शान्ति और व्यवस्था बनाये रह सकना सम्भव होगा ।

भूतकाल के और आधुनिक काल के दूरदर्शी दार्शनिक इस सम्बन्ध में एकमत हैं कि धार्मिकता की भावना को नष्ट न होने दिया जाय और उसे जीवन्त रखने से ही व्यक्ति और समाज की सुव्यवस्था बनी रह सकेगी ।

मूर्धन्य विचारकों से लेकर सामान्य बुद्धि को भी यह समझने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि सदाचरण और नीति-नियमन का प्रयोजन मात्र शासकीय नियन्त्रण में नहीं हो सकता । उसकी स्थापना अन्तःकरण के अन्तराल में उच्चस्तरीय आस्थाओं के रूप में होनी चाहिए । धर्म का वस्तुतः यही प्रयोजन है । परम्पराएँ तो सामयिक रीति-रिवाज भर हैं । उनमें विकृति आने पर सुधारने की छूट है, पर इतने भर से समूचे धर्म विज्ञान को अनुपयुक्त नहीं ठहराया जा सकता ।

कार्ल जुंग का कहना है कि धर्म की सहायता से ही जीवन के अन्धकार को मिटाया जा सकता है । विकास का वास्तविक लक्ष्य धर्म–धारणा से ही सम्भव हो सकता है ।

प्रसिद्ध मनोचिकित्सक डा० क्लोसनर ने अपने अनेकों रोगियों को धर्माचरण की प्रेरणा दी । अनेकों प्रयोगों के उपरान्त घोषणा की कि "धर्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि से शरीर एवं मन को स्वस्थ बनाने का सशक्त माध्यम है । संयम, नीति-मर्यादाओं के पालन एवं उच्चस्तरीय आदर्शों के अपनाने से मन स्वस्थ एवं प्रसन्न रहता है । फलस्वरूप उसका प्रभाव आरोग्य के रूप में दिखाई पड़ता है ।" डा० क्लोसनर आगे कहते हैं कि चिकित्सा के क्षेत्र में उनकी सफलता का प्रधान कारण धार्मिक भावना ही है ।

शारीरिक, मानसिक विकास ही नहीं जीवन लक्ष्य की प्राप्ति धर्म–धारणा से ही सम्भव है । पूर्णता लक्ष्य है । उस ओर बढ़ना, पूर्ण से सम्बन्ध जोड़ सकना धर्म अवलम्बन द्वारा ही सम्भव है । पूर्णता प्राप्ति की सहज प्रवृत्ति मानव अन्तःकरण में विद्यमान है । इसके लिए वह प्रयत्न भी करता है, पर धार्मिक आधारों के अभाव में सफल नहीं हो पाता । इस लक्ष्य की प्राप्ति धर्म–धारणा द्वारा ही सम्भव है । धर्म को मनुष्य के जीवन से अलग किया ही नहीं जा सकता ।

धर्म जब जीवन में घुल-मिल जाता है–दैनन्दिन जीवन की अनुभूति में उतरता है, तो विषमता एवं अपने-पराये का भेदभाव समाप्त हो जाता है । सर्वत्र अपनी ही सत्ता दिखायी पड़ती है । सम्प्रदाय एवं मजहब की दीवारें आपो-आप समाप्त हो जाती हैं और साधक, मुस्लिम धर्म के प्रसिद्ध सन्त 'इब्नानअली' की तरह कह उठता है, "मेरा हृदय इतना विशाल है कि इसमें मुसलमानों का काबा और कुरान भी है, ईसाइयों का गिरजा और बाइबिल है तथा हिन्दुओं का मन्दिर एवं गीता है । मेरा धर्म और मजहब तो मात्र एक है–प्रेम ।" रामकृष्ण परमहंस ने भी धर्म को साम्प्रदायिकता से अलग हटकर 'प्रेम' के रूप में स्वीकार किया था ।

परम लक्ष्य ही नहीं व्यावहारिक समस्याओं के समाधान एवं सामाजिक सुव्यवस्था की दृष्टि से भी धर्मावलम्बन आवश्यक है । उसके बिना कर्त्तव्यों का बोध एवं उनका परिपालन सम्भव नहीं है । 'वाल्टेयर' लिखते हैं कि "मनुष्य के लिए धर्म उतना ही आवश्यक है, जितना कि श्वास लेना । यदि धर्म नहीं है तो उसका आविष्कार करना होगा ।"

वर्तमान समस्याओं पर दृष्टिपात करने पर पता चलता है कि इनकी अभिवृद्धि में धर्म-भावना का अभाव ही प्रधान कारण है । ईश्वर का यदि भय रहा होता तो मनुष्य गिरावट का शिकार कभी नहीं होता । कर्मफल नीति-मर्यादाओं के प्रति आस्था रही होती तो इतनी अव्यवस्था नहीं दिखायी पड़ती । अनीति, अनाचार, दुराचार, अनास्था की फलश्रुति है । यदि मानव समाज का उत्थान करना है, पतन से बचाना, श्रेष्ठ एवं सद्गुणी बनाना है, तो धर्म का अवलम्बन लेना ही होगा । व्यक्तिगत मोक्ष, स्वर्ग-मुक्ति की कामना न भी हो, तो भी सामाजिक सुव्यवस्था एवं उन्नति की दृष्टि से भी धर्म का आश्रय लेना ही उतना आवश्यक है । नीति-सदाचार चरित्रनिष्ठा के अभाव में न तो व्यक्तिगत उन्नति सम्भव है और न ही सामाजिक प्रगति । संसार में जितने भी राष्ट्र आगे बढ़े एवं समुन्नत हुए हैं, धार्मिक प्रवृत्तियाँ, नीति, सदाचार जैसी वृत्तियाँ ही प्रमुख कारण रही हैं । इसके बिना तो भौतिक उपलब्धियाँ भी मनुष्य जाति के लिए लाभप्रद नहीं हो सकतीं ।

'एल्डुअस हक्सले' का कहना है कि भौतिक प्रगति अथवा विज्ञान की उपलब्धियों का लाभ मनुष्य

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

तभी उठा सकेगा, जब उसके जीवन में धर्म का तत्त्व जगमगाने लगे । यह न हो तो प्रगति अभिशाप बनकर उल्टा प्रहार करती है । पाश्चात्य राष्ट्र इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। प्रगति के क्षेत्र में अमेरिका अग्रणी है, पर अपराध जितने वहाँ होते हैं, उतने अन्य देशों में नहीं। परिवार एवं समाज विशृंखलित होते जा रहे हैं। भावनात्मक रिश्ते टूटते जा रहे हैं । जन-जीवन क्षुब्ध एवं अविश्वासों से भरा है । मनोरोगों की बहुलता है । यह मानसिक अशान्ति एवं असन्तोष का ही परिणाम है। क्योंकि सेवा, परमार्थ जैसी प्रवृत्तियों को अपनाने से जो आत्मिक सन्तोष मिल सकता था, वह उन्हें न मिल सका ।

नैतिक मर्यादाओं का अंकुश न होने से विज्ञान भी उच्छृंखल बनता जा रहा है । उसकी उपलब्धियाँ विकास की ओर कम, विनाश की ओर अधिक बढ़ रही हैं । मानव जाति अणु एवं परमाणु आयुधों के ढेर पर बैठी है, जिसमें कभी भी विस्फोट हो सकता है । तृतीय विश्वयुद्ध की विभीषिका सामने है । उसकी कल्पना मात्र से रोंगटे खड़े हो जाते हैं । भावी संकटों को देखते हुए प्रसिद्ध विचारक बट्रैण्ड रसेल का कहना है कि ''यदि अणु युद्ध हुआ तो सारे संसार में चार या पाँच व्यक्तियों से अधिक नहीं बच सकेंगे । इस विभीषिका से धर्म-धारणा ही मनुष्य का उद्धार कर सकती है ।''

बढ़ते मनोरोगों का कारण धर्म-भावना का अभाव है । एक आँकड़े के अनुसार, विश्व के १० प्रतिशत व्यक्ति किसी न किसी मनोविकार-मनोरोगों से ग्रसित हैं । चिन्ता, भय, अविश्वास, चिड़चिड़ापन, स्मृति, भ्रम, सन्देह, तनाव, थकान, अस्त-व्यस्तता, अवसाद, अनिद्रा जैसे मानसिक रोग दिन-प्रतिदिन बढ़ते जा रहे हैं, जो समाज की सुव्यवस्था, आपसी स्नेह-सौहार्द्र की भावना को समाप्त करते जा रहे हैं । इनका उपचार धर्म अर्थात् नीतिमत्ता को अपनाने के अतिरिक्त और किसी प्रकार हो नहीं सकता ।

एक विचारक ने कहा है कि ''विश्व संकट का समाधान धार्मिकता के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता । धर्म-धारणा से ही व्यक्तिगत जीवन में प्रसन्नता के स्रोत फूटेंगे तथा सामाजिक जीवन में हरियाली का प्रादुर्भाव होगा । वस्तुतः धर्म ही वह आधार है, जो मनुष्य को पशु से अलग करता तथा सही अर्थों में मनुष्य बनाता है ।''

धर्म की सत्ता और उसकी महान् महत्ता

'धृ' धातु में 'मन' कृदन्त लगाकर 'धर्म' शब्द बना है । इसका अर्थ होता है- धारण किये जाने वाला, आचरण करने योग्य । ''**धार्यते जनैरिति धर्मः**'' मनुष्यों द्वारा जिसे धारण किया जाता है, अर्थात् मनुष्य मात्र जिसे अपने आचरण में लाए, वह ही धर्म कहलाता है । धर्म को धारण करने वाला, धर्म का अपने जीवन में आचरण करने वाला, धर्म के आधार पर अपने जीवन को जीने वाला व्यक्ति धार्मिक कहलाता है । इस दृष्टि से 'धर्म' वह होगा जिसका आचरण करने से, जिसको धारण करने से मनुष्य जीवन सुव्यवस्थित रूप से चलता रहे व जिसके अनुसार चलने से मनुष्य अपने निर्दिष्ट लक्ष्यानुसार जीवन निर्वाह करता हुआ अपने मनुष्य जीवन को सार्थक बनावे ।

भगवान् ने जब मनुष्य को बनाया तो उसकी मनुष्य मात्र से यह अपेक्षा थी कि वह अपना स्वयं का ऐसा मर्यादापूर्ण आदर्श जीवन बनाये जिससे स्वयं उसका जीवन तो सफल हो ही साथ ही जिस परिवार, जिस समाज व जिस युग में वह है उस परिवार, समाज व युग को भी अपने कृत्यों, अपने आचरणों से सुव्यवस्थित बनाए रख सके । इस दृष्टि से धर्म का लक्ष्य मनुष्य में शिवत्व का विकास करना है । स्वामी विवेकानन्द ने 'राजयोग की टीका' नामक पुस्तक में बताया कि धर्म का लक्ष्य मनुष्य में देवत्व या ईश्वरत्व की उपलब्धि ही है । धरती का हर मनुष्य इस तरह का आचरण करे कि उसका जीवन सुव्यवस्थित, सुनियोजित बना रहे, वह अपने कर्तव्य पथ पर चलता रहे, धर्म के विपरीत आचरण, व्यवहार न करे तो वह देवत्व तक पहुँच सकता है ।

मनुष्य का विकास एवं अभ्युदय तो धर्म का 'व्यष्टि-परक' तत्त्व है । धर्म का समष्टिपरक स्वरूप भी निर्धारित है । यदि हर मनुष्य धर्म द्वारा निर्धारित रीति से आचरण करे, अस्तेय, अपरिग्रह, अहिंसा जैसे सद्गुणों को अपने जीवन से अंगीकृत कर ले तो मनुष्य का यह 'व्यष्टिपरक' गुण ही 'समष्टिपरक' हो जाता है । जब सब मनुष्य धर्मानुकूल आचरण करने लगेंगे तो फिर कहीं कोई धर्म विपरीत आचरण न होने से 'यही धर्म' समष्टिपरक बन जावेगा । इसीलिए तो हमारे ऋषि-मुनियों की यह मान्यता रही है कि यदि व्यक्ति सुधर जाय तो समाज भी बदल जाये । व्यक्ति से ही समाज बनता है, व्यष्टि से ही समष्टि बनती है, अतः यदि हर व्यक्ति अपने आपको धर्मनिष्ठ बना ले तो पूरा समाज व युग भी धर्मनिष्ठ बन ही जावेगा । यही धर्म का लक्ष्य भी है-व्यष्टि रूप में मनुष्य देवतुल्य बने व समष्टि रूप में यह धरती ही स्वर्ग बने ।

इस दृष्टि से शायद स्वयं धर्म को भी लोक या प्रजा की रक्षा करने वाला माना गया है । **धियते लोको ऽनेन, धरति लोकं वा** जो लोक अथवा प्रजा को धारण करता है अर्थात् लोक या प्रजा की स्थिति की रक्षा करने वाला तत्त्व है, वह धर्म है । धर्म के इस तरह दो रूप हैं । प्रथम यह कि धर्म मनुष्य को धारण करने, आचरण करने, व्यवहार में लाने का तत्त्व है, यह धर्म का 'मानवाधार' का रूप है । धर्म का दूसरा रूप है, 'सामाजिक' । अपने दूसरे रूप में धर्म सामाजिक स्थिति का आधार बनता है । व्यष्टि रूप में यदि धर्म को मानव मात्र ने अंगीकृत किया व अपना व्यक्तिगत जीवन धर्मानुरूप बनाया तो समष्टि रूप में यही धर्माचरण ऐसी सामाजिक स्थिति का निर्माण करता

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

है कि जिससे मनुष्य का सामाजिक, सांस्कृतिक स्वरूप व्यवस्थित बना रहता है व पूरा समाज ही ऐसा बन जाता है जहाँ 'एक के लिए सब व सबके लिए एक' का भाव व्याप्त रहता है । धर्म के इसी स्वरूप को राजनैतिक व आर्थिक क्षेत्र में समता, समानता, समाजवाद के नाम से सुना जाता है । किसी समय विशेष व समाज-विशेष में धर्म की मान्यताएँ-मर्यादाएँ, नैतिक मूल्य निर्धारित हो जाने पर यदि समाज के सभी घटक 'धर्म' का पालन करने लगेंगे, तो फिर 'धर्म' पूरे समाज की रक्षा भी करेगा ही, क्योंकि समाज के किसी एक अंग पर विपत्ति आ पड़ने पर दूसरे घटक इसकी विपत्ति को दूर करना अपना धर्म ही मानते हैं । इसी तरह समाज के कमजोर वर्ग को समुन्नत करने, विकसित करने के लिए विकसित वर्ग के प्रयास 'धर्म कर्त्तव्य' मानकर ही किए जाते हैं । समाज या राष्ट्र पर या इसके किसी वर्ग पर कोई प्राकृतिक प्रकोप आ जाने पर दूसरे वर्ग के लोग अपनी धार्मिक भावना के वशीभूत होकर ही तो कर्त्तव्य प्रेरित होते हैं कि अपने समाज के अन्य भाइयों के कष्ट निवारणार्थ कुछ त्याग करें । इसी दृष्टि से धर्म का यह स्वरूप सर्वमान्य है कि धर्म प्रजा की व समाज की रक्षा करता है ।

धर्म के इन दो तत्त्वों-मानवाचरण एवं समाजरक्षण को दृष्टि में रखते हुए ही धर्म की धारणा निश्चित रहती है । धारणा से अर्थ वह व्यवहार-जीवनपद्धति, मर्यादा, आचारसंहिता है जो धर्म स्वरूप मानी जावे तथा तद्नुरूप ही उसका आचरण मनुष्य मात्र करे । इस दृष्टि से धर्म के प्रति समाज की जो 'धारणा' निश्चित हो, वह ऐसी हो जो व्यक्तित्व परिष्कार, व्यक्तिकल्याण के साथ ही सामाजिक परिप्रेक्ष्य में भी अनुकूल हो । यहाँ धर्म का अर्थ अपने जीवन-निर्वाह के उद्देश्य से किया जाने वाला किसी प्रकार का श्रम 'धर्म' नहीं माना जा सकता । दस्यु जीवन बिताने वाले वाल्मीकि अपने परिवार के सदस्यों का पालन करने के लिए लूटपाट करने को ही 'धर्म' समझते थे एक बार उन्होंने धन के लालच में सप्तऋषियों को पकड़ लिया । सप्तऋषियों ने पूछा, "भाई असहाय लोगों को इस तरह मारना, लूटना तो पाप है, तुम यह सब क्यों करते हो?" इस पर वाल्मीकि ने उत्तर दिया, "यह तो मेरी जीविका है । अपने वृद्ध माता-पिता, पत्नी व सन्तान का पालन-पोषण करना है, मैं इनके प्रति अपने कर्त्तव्य-निर्वाह हेतु ही इस कार्य को करता हूँ; यह तो मेरा धर्म है, जो मुझे करना ही पड़ता है । भला अपने पर आश्रित लोगों का पालन-पोषण करना क्या पाप है ?" इस पर सप्तऋषियों ने समझाया, "अपने स्वार्थसिद्धि के लिए दूसरों के हितों का हनन करना, अपना पेट भरने के लिए दूसरों को भूखों मारना, तड़पाना, अपनी पारिवारिक सुख-समृद्धि के लिए दूसरे परिवारों को कष्ट व असुविधा में डालना, बिना श्रम किये दूसरों का श्रमार्जित धन छीनकर उसका उपभोग करना धर्म नहीं माना जा सकता।"

वाल्मीकि को बात समझ में आई, वे सोचने लगे यह तो ठीक है कि वे मनुष्यों को मारकर, उनकी सम्पत्ति को छीनकर अपने आश्रितों का पेट भर रहे हैं, परन्तु इससे दूसरों का उत्पीड़न होता है । कोई भी ऐसा कार्य जिससे दूसरों को पीड़ा हो, दूसरे के प्रति अन्याय हो, धर्म नहीं माना जा सकता । इस प्रकार की अनुभूति ने वाल्मीकि को दस्यु से महर्षि बना दिया । 'धर्म' का तत्त्व जब उनके जीवन में प्रविष्ट हुआ तो स्वयं उनका व्यक्तिगत परिष्कार तो हुआ ही समाज की भी रक्षा हुई कि जो वाल्मीकि दस्यु के रूप में समाज का उत्पीड़न करते थे, वे ही 'धर्म' का साक्षात्कार कर धर्म को अंगीकृत कर करोड़ों मनुष्यों के मार्गदर्शक बन गए ।

धर्म के विषय में ऐसी ही भ्रान्त धारणा अर्जुन को भी थी । अर्जुन ने तो यहाँ तक कह दिया था कि यदि वह युद्ध में अपने मामा, चाचा, श्वसुर, गुरु, गुरुभाई को मारेगा तो उसका आचरण धर्म विपरीत हो जायेगा । अर्जुन की धर्म के प्रति यह धारणा उसके मोह का परिणाम था, परन्तु श्रीकृष्ण ने उसके धर्म के प्रति इस धारणा को अनुपयुक्त बताते हुए धर्म का सही स्वरूप बताया तथा उस समय की परिस्थिति में युद्ध करने को ही 'धर्म' निरूपित किया । हर मनुष्य अर्जुन की तरह ही सत् और असत् वृत्तियों में से किसी एक का वरण करने के लिए प्राय: किंकर्त्तव्यविमूढ़ ही रहता है, मनुष्य की असद्वृत्तियाँ बलवती होती हैं, वे मनुष्य को असत्कार्य करने के लिए लालायित व आकृष्ट करती रहती हैं, परन्तु भगवान् कृष्ण रूपी विवेक से हम सत्-असत्, उचित-अनुचित का निर्धारण कर, धर्म-तत्त्व का निर्धारण कर धर्म-मान्य सद्वृत्ति को ही स्वीकार करते हैं । भगवान् कृष्ण का **'यदा यदा हि धर्मस्य'** का वचन भी यही संकेत देता है कि अर्जुन की तरह जब मनुष्य सत्-असत् का निर्णय नहीं कर पाता, मोहवश अधर्म को ही 'धर्म' मान बैठता है, भ्रमवश अनुचित को ही उचित समझने लगता है तो फिर उसका यह कार्य 'धर्म' की परिधि में नहीं रहता, उसका कार्य न तो उसके अभ्युदय-कल्याण में ही सहायक होता और न उसके कार्यों से, उसके चिन्तन से सामाजिक व्यवस्था ही सुरक्षित रहती है, अर्थात् उस समय 'धर्म' के प्रति मनुष्य की धारणा-विचारणा गलत हो जाने से धर्म से होने वाले लाभ नहीं होते व इस तरह धर्म के प्रति विषाक्त धारणा बनाकर जो आचरण किया जाता है, वह भी 'श्रेय' न होकर 'प्रेय' ही अधिक रहता है । अत: धर्म की यह एक प्रकार से क्षति ही हुई । ऐसे में श्रीकृष्ण ने अपने अवतार लेने की घोषणा कर धर्म संस्थापनार्थ के रूप में यही बात कही है कि जब-जब ऐसी स्थिति होती है, तब-तब मनुष्य यदि अपने विवेक का उपयोग करे, अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा का उपयोग कर उचित-अनुचित का निर्धारण करे, तो धर्म की तथा धर्म को ध्येय मानकर किए जाने वाले आचरण की उपयोगिता व्यक्ति-परिष्कार व समाज-व्यवस्था की बनी रहेगी ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

धर्म, मानव-समाज और संस्कृति का मूलाधार है । इसी आधार-भूत तत्त्व के अनुसार संसार का 'शुभ' व 'कल्याण' टिका हुआ है । विश्व का कल्याण व मानव मात्र का 'शुभ' 'धर्म वेष्ठित आचरणों' में ही निहित है । अपने इस सार्वभौम स्वरूप के कारण पूरे विश्व का धर्म तो एक ही है, जिसे विश्वधर्म, मानवधर्म कुछ भी संज्ञा दी जा सकती है । सामान्यतया धर्म के इस सार्वभौम स्वरूप की असीमता को न समझ, मनुष्यों ने 'धर्म' को अनेकों सम्प्रदायों, जातियों, वर्गों द्वारा पालन की जाने वाली उपासना-पद्धति, पूजा-पद्धति, कर्म-काण्डों के प्रकार आदि की विविधता के कारण इन सम्प्रदायों को ही धर्म मान लिया है । वास्तव में 'धर्म' तो एक ही है । 'धर्म' के लक्ष्यों तक पहुँचने के लिए जो अलग-अलग पद्धतियाँ प्रचलित हैं, वे धर्म नहीं वरन् सम्प्रदाय हैं । धर्म मानो महासागर है और सम्प्रदाय नदियाँ हैं, जो विभिन्न स्थानों और दिशाओं से आकर इस महासागर में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से विलीन हो जाती हैं । यदि इन नदियों को ही भ्रमवश कोई सागर समझ ले व अपने सागर होने की महत्ता का ही ढिंढोरा पीटने लगे तो पीटने पर नदी सागर तो बन नहीं सकती । धर्म का तो एक ही लक्ष्य है 'सत्य', 'शिव' 'सुन्दर' अर्थात् ऐसे आचरण जो सत्य हों, शुभ हों, कल्याणकारक हों तथा सुन्दर हों । धर्म के इस लक्ष्य की उपलब्धि के लिए विभिन्न मार्ग-पूजा, उपासना, अनुष्ठान आदि की व्यवस्था विभिन्न सम्प्रदायों में प्रचलित रहती है । इनमें से किसी सम्प्रदाय में कोई पद्धति विशेष अधिक प्रभावशाली प्रतीत होती है, किसी में कम । इसी से हम इन पद्धतियों के प्रभावी होने न होने को यह मान लेते हैं मानो अमुक धर्म अमुक से श्रेष्ठ अथवा निम्नतर है । वास्तव में धर्म तो अपने स्थान पर स्थिर, अटल, शाश्वत् है, उस तक पहुँचने के मार्ग अपेक्षाकृत सुविधाजनक अथवा कष्टप्रद हो सकते हैं, परन्तु उनके कारण 'धर्म' प्रभावित नहीं होता ।

धर्म के प्रति एक भ्रान्ति इसके अँग्रेजी के अनुवाद ने उत्पन्न कर दी, अँग्रेजी में धर्म को 'रिलीजन' कहा गया, वास्तव में रिलीजन शब्द से जो ध्वनि निकलती है उससे संकीर्णता का आभास होता है । 'धर्म' जब से 'रिलीजन' माना जाने लगा तो इसका अर्थ यही लगाया जाने लगा कि यह एक विशेष प्रकार की पूजा-आराधना पद्धति में आस्था-विश्वास रखने वाला तथा एक विशेष प्रकार के मार्ग पर यन्त्रवत् चलने वाला तथा सम्प्रदाय विशेष है । विद्वान बैबूर ने अपनी पुस्तक 'हिन्दुइजम एट ए ग्लान्स' में लिखा है, ''रिलीजन शब्द का अर्थ एक विश्वास और पूजा विधि है । किसी समुदाय विशेष के सिद्धान्तों में विश्वास करना तथा उस सम्प्रदाय द्वारा निर्दिष्ट कुछ विशेष पूजा-अनुष्ठान आदि का पालन करना ही पश्चिम की दृष्टि में धार्मिक कहे जाने वाले व्यक्ति के लिए पर्याप्त है ।'' रिलीजन शब्द से एक ऐसे संकुचित व अपूर्ण भाव का बोध होता है कि उससे 'धर्म' तत्त्व समाहित नहीं होता । धर्म का अनिवार्य तत्त्व उसकी उदारता, महानता, सार्वभौम सत्ता में निहित है, जबकि 'रिलीजन' में इस तरह के भाव प्रकट नहीं होते ।

धर्म एक अपरिवर्तनशील शाश्वत् सत्ता है । धर्म सार्वभौम शक्ति है जिसका लक्ष्य ही, ''**सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया**'' है । धर्म एक ऐसी सत्ता है, जिसकी शक्ति व सीमाएँ असीम हैं । वह राजसत्ता से कई गुना अधिक व्यापक व शक्तिमान है । अपने छोटे से भौगोलिक क्षेत्र में निश्चित परिधि में ही राजसत्ता काम करती है, परन्तु धर्मसत्ता का कार्य-क्षेत्र समूचा विश्व है व इसकी शक्ति अपरिमेय है । विश्व का हर मानव इस धर्मसत्ता की प्रजा है व हर मानव स्वयं ही शासक भी है । धर्मसत्ता का कार्य-क्षेत्र न केवल मानव मात्र के स्थूल शरीर तक ही है वरन् उसके मन, चिन्तन, स्वभाव, गुण व उसकी आत्मा तक विस्तृत है । यदि हर मनुष्य इस सत्ता के अधीन अपने को सम्बद्ध कर ले, इस सत्ता के अनुशासन में रह अपना गुण, कर्म, स्वभाव बना ले तो वह स्वयं सत्तामय हो जाय ।

धर्म का सही स्वरूप समझें

विघटन एवं विनाश के कगार पर खड़ी मानव जाति को आज धर्म की, धर्माचरण की अत्यधिक आवश्यकता है। एकमात्र यही वह शाश्वत् सत्ता है जो संसार का कल्याण करने में सक्षम है, पर यह धर्म इस महान् लक्ष्य की आपूर्ति तभी कर सकता है, जब वह साम्प्रदायिकता की संकीर्ण परिधि से बाहर निकले और स्वस्थ तथा समग्र रूप में प्रस्तुत हो । इसके लिए धर्म के सही स्वरूप को समझना आवश्यक है ।

'धर्म' शब्द अपने स्वरूप और लक्ष्य को स्वयं स्पष्ट करता है । धर्म से तात्पर्य है, वह वस्तु जो समस्त विश्व को धारण कर रही है, अर्थात् धर्म समस्त संसार का मूल आधार और समाज की एकता को मूर्तिमान करने वाला एक सशक्त माध्यम है । इसके सही स्वरूप को जनसामान्य की दृष्टि में और भी बोधगम्य बनाने के लिए महाभारत तथा श्रीमद्भागवत पुराण में धर्म की पत्नियों की संख्या बतायी गयी है । यह आलंकारिक वर्णन है जो धर्म के स्वरूप को स्पष्ट करता है । महाभारत के अनुसार कीर्ति, लक्ष्मी, धृति, मेधा, पुष्टि, श्रद्धा, क्रिया, बुद्धि, लज्जा तथा मति धर्म की पत्नियों के नाम हैं । इस आलंकारिक वर्णन के पीछे शास्त्रकार का भाव यह है कि इनके बिना धर्म अपूर्ण है । इन्हें इसकी वे शाश्वत् विशेषताएँ कही जा सकती हैं जो प्राण के रूप में सभी धर्मों में शब्दान्तर से किसी न किसी रूप में विद्यमान हैं । ये धर्म की अपरिवर्तनीय विशेषताएँ हैं । इसके अभाव में धर्म को मात्र कर्मकाण्डों का कलेवर का समुच्चय समझ लिया जाता है ।

बौद्ध भिक्षु यू० थित्तिल ने धर्म की व्याख्या करते हुए कहा है कि यह एक शाश्वत् सत्ता तथा विश्व का प्राण है । इसे समस्त संसार को परिचालित करने वाला सिद्धान्तों का ऐसा समुच्चय समझा जा सकता है, जिसमें प्राणिमात्र

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

का कल्याण सन्निहित है । वे अपनी पुस्तक 'दी पाथ ऑफ बुद्धा' में लिखते हैं कि सूर्य, चन्द्र, पुष्प, पवन, पर्वत, सरिता, पावक, अन्न आदि सभी अपना-अपना धर्म निभा रहे हैं । इसीलिए जीवन चल रहा है तथा जगत स्थिर है। जिस दिन सूर्य अपना कार्य न करेगा, अग्नि अपना दाहक धर्म खो देगी, उस दिन विश्व का अस्तित्त्व समाप्त हो जायेगा । मनुष्य जीवन में धर्म का अवतरण भी इसी प्रकार होना चाहिए, जो समस्त विश्व को अपने भीतर समाहित कर ले ।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार धर्म का अर्थ है, आत्मा को आत्मा के रूप में उपलब्ध करना, हृदय के अंतर्तम प्रदेश में प्रविष्ट का ईश्वर का, सत्य का संस्पर्श प्राप्त करना, तत्त्व की प्रतीति करना, उपलब्धि करना कि मैं आत्मा स्वरूप हूँ और अनन्त परमात्मा एवं उसके अनेक अच्छे अवतारों से मेरा युग-युग का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। गिरजा, मन्दिर, मस्जिद, मत-मतान्तर विविध अनुष्ठान आदि तो पौधे की रक्षा के लिए लगाये गये घेरे के समान हैं । यदि आगे बढ़ना है, आत्मिक प्रगति करनी है तो अन्त में इस घेरे को हटाना ही पड़ेगा । धर्म न तो सिद्धान्तों की थोथी बकवास है, न मत-मतान्तरों का प्रतिपादन और खण्डन है और न ही बौद्धिक सहमति है । इसी प्रकार धर्म न तो शब्द होता है, न नाम और सम्प्रदाय, वरन् इसका अर्थ होता है आध्यात्मिक अनुभूति । जिन्हें अनुभव हुआ, वे ही इसे समझ सकते हैं । जिन्होंने धर्म लाभ कर लिया है, वे ही मनुष्य जाति के श्रेष्ठ आचार्य हो सकते हैं, वे ही ज्योति की शक्ति हैं । धर्म के नाम पर होने वाले सभी प्रकार के झगड़े-झंझटों से केवल यही प्रकट होता है कि आध्यात्मिकता का मर्म समझ में आया नहीं है.।

मनीषियों ने धर्म के दो भाग बताये हैं, पहला कलेवर, दूसरा प्राण । कलेवर समय-समय पर आवश्यकता के अनुरूप बदलता रहता है, पर प्राण की सत्ता सदा एक जैसी रहती है । प्राण धर्म के वे शाश्वत् सिद्धान्त हैं, जिन पर देश, काल की परिस्थितियों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता । वे सदा एक जैसे बने रहते हैं । धर्म का अस्तित्व इस प्राणसत्ता पर ही टिका हुआ है, जबकि कलेवर परिवर्तनशील है और समय-समय पर उसमें सुधार एवं परिवर्तन की आवश्यकता पड़ती है । कहना न होगा कि प्रत्येक धर्म का साम्प्रदायिक कलेवर उनके विकास के अनुसार विविध रूपों में दृष्टिगोचर होता है । हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, पारसी, बौद्ध, सिक्ख, ताओ, शिन्तो आदि विभिन्न परिस्थितियों में जन्मे और विकसित हुए हैं। प्रत्येक की अपनी महत्ता और उपयोगिता है, पर कब ? जबकि वे धर्म के शाश्वत् सिद्धान्तों का प्रतिपादन करें तथा मनुष्य जीवन के प्रमुख लक्ष्य की ओर उन्मुख रहें । लक्ष्य और सिद्धान्तों को भुला देने से तो वे परस्पर मतभेदों को ही जन्म देते हैं । अत: किसी भी धर्म की महत्ता एवं सार्थकता इसी बात में सन्निहित है कि वह मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठापना में कितना अधिक सहयोग देता है । वह मनुष्य जाति को कितना अधिक एक-दूसरे के नजदीक लाता तथा आपसी स्नेह-सौहार्द्र विकसित करता है ।

इसे दुर्भाग्य ही कहा जाना चाहिए कि आज समाज में बहुतायत उन व्यक्तियों की है जो धर्म के वास्तविक स्वरूप और लक्ष्य से अपरिचित हैं । वे प्राय: सम्प्रदाय रूपी कलेवरों को ही धर्म का यथार्थ स्वरूप समझते हैं । फलत: वे जिन क्रियाकृत्यों को ग्रहण करते हैं उन्हीं तक सीमित रह जाते हैं और रूढ़िग्रस्त होकर धर्म के लक्ष्य से भटक जाते हैं । कभी-कभी धर्म-सम्प्रदायों को लेकर जो मतभेद होते हैं, अर्थात् संघर्ष उठते हैं, यदि उनकी मीमांसा विवेकपूर्ण ढंग से की जाय तो स्पष्ट होगा कि वे झगड़े रूढ़िग्रस्तता एवं अदूरदर्शिता के कारण ही होते हैं । धर्म का प्राण विवेक है जो मनुष्य की अदूरदर्शिता को दूर करना और उसे गगन की तरह अनन्त तथा उदार बनाना चाहता है, पर यह तभी सम्भव है, जब धर्म के प्राणतत्त्व का अवलम्बन लिया जाय तथा साम्प्रदायिकता की संकीर्णता से निकला जाय ।

सभी मत और सम्प्रदाय मनुष्य के अपने हैं और सभी भव्य हैं । वे सभी मनुष्यों को धर्मोन्मुख करने में जब तक सहायक हैं, तभी तक उनकी सार्थकता है । इनकी उपयोगिता को कुछ सीमा तक स्वीकार करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा है कि किसी सम्प्रदाय की छाया में पैदा होना अच्छा तो है, पर उसकी सीमाओं में ही आबद्ध रह जाना, मर जाना बहुत बुरा है । हमें या तो सम्प्रदाय को इतना विस्तृत बनाना होगा कि उसकी परिधि में समस्त संसार आ जाय । यदि ऐसा सम्भव नहीं होता तो स्वयं को साम्प्रदायिकता की संकीर्ण सीमा से बाहर निकालना होगा। मानव जाति का कल्याण धर्म के प्राणतत्त्व के अवलम्बन से ही सम्भव है ।

महात्मा गाँधी का कहना है कि धर्म कुछ संकुचित सम्प्रदाय का पर्याय भर नहीं है । विशाल, व्यापक धर्म है। ईश्वरत्त्व के विषय में हमारी अचल श्रद्धा, पुनर्जीवन में आस्था, सत्य और अहिंसा में सम्पूर्ण निष्ठा । इसमें असहिष्णुता को अवकाश नहीं है । मूल धर्म वह उच्चस्तरीय सत्ता है जो मनुष्य के स्वभाव तक में परिवर्तन कर देता है । जो हमें अन्तर के सत्य से अटूट रूप से बाँध देता है और जो निरन्तर अधिक शुद्ध और पवित्र बनाता रहता है । वह मनुष्य की प्रकृति का स्थायी तत्त्व है, जो अपनी सम्पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए कोई भी कीमत चुकाने को तैयार रहता है और उसे तब तक बेचैन बनाये रखता है, जब तक उसे अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं हो जाता । अपने स्रष्टा का ज्ञान नहीं हो जाता तथा रचयिता के और अपने बीच का सच्चा सम्बन्ध समझ में नहीं आ जाता । जो व्यवहार में काम आये और अहिंसा की कसौटी पर खरा उतरे वही धर्म है ।

पाश्चात्य मनीषी बाल्टेयर ने 'थीस्ट' नामक अपने एक निबन्ध में धर्म के स्वरूप पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

वे लिखते हैं कि ''धर्मपरायणता का अर्थ है, एक ईश्वरीय सत्ता में विश्वास । ऐसा विश्वास जो मनुष्य ही नहीं हर प्राणी के प्रति प्रेम और आत्मीयता की भावना उभारता हो, संसार को एकता के सूत्र में आबद्ध करता हो । सच्चा धार्मिक रूढ़िगत धार्मिक व्यापारों से अपने को मुक्त रखता है । वह एक ऐसी अव्यक्त भाषा बोलता है, जिसे संसार का हर व्यक्ति समझ सकता है । यह वाणी उसके अन्त: करण से भाव-सम्वेदनाओं के रूप में प्रस्फुटित होती है । विश्व उसका परिवार और प्रत्येक मनुष्य उसका अपना बन्धु होता है । सबका कल्याण करना ही उसकी पूजा बन जाती है । धर्म का जीवन में सही अर्थों में अवतरण, ऐसी ही अनुभूति कराता है ।''

प्रकृति के सिद्धान्तों की एकरूपता का प्रतिपादन सभी वैज्ञानिक करते हैं, चाहे वे पूरब के हों अथवा पश्चिम के । सिद्धान्तों में मतभेद होने से तो विज्ञान की प्रामाणिकता संदिग्ध हो जायेगी । एकता, समता, शुचिता, सहकारिता, सहिष्णुता धर्म का लक्ष्य है । इस एकत्व का प्रतिपादन एवं परिपालन प्रत्येक धर्म-सम्प्रदाय को न केवल सैद्धान्तिक रूप से वरन् व्यवहार द्वारा भी प्रस्तुत करना होगा । धर्म की महान् गरिमा इसी तथ्य पर अवलम्बित है। धर्म का सही स्वरूप समझने और शाश्वत् सिद्धान्तों को व्यावहारिक जीवन में उतारने पर ही मनुष्य जाति का भविष्य सुरक्षित रह सकेगा । उज्ज्वल भविष्य की आधारशिला इन्हीं तथ्यों पर अवलम्बित है ।

धर्म और उसका वास्तविक अर्थ

प्रसिद्ध विचारक जी० टी० डब्लू पैट्रिक अपनी पुस्तक 'इन्ट्रोडक्शन टू फिलॉसफी में लिखते हैं कि ''अधिकांश व्यक्ति धर्म का नाम लेते ही मन्दिरों, मस्जिदों, गुरुद्वारों, गिरजाघरों, प्रार्थनाओं, शास्त्रों आदि का स्मरण करने लगते हैं तथा धार्मिक क्रिया-कृत्यों को ही धर्म का स्वरूप मान लेते हैं, जबकि वे धर्म नहीं, मात्र कलेवर हैं, धर्म आस्था की अभिव्यक्ति के माध्यम भर हैं, पर कितने ही व्यक्ति ऐसे भी हो सकते हैं, जिनका विश्वास इन चीजों-बहिरंग उपादानों पर न हो, जबकि वे पूर्णत: धार्मिक हो सकते हैं । उनका आचरण धर्म को, उसमें सन्निहित आदर्शों को स्वयं व्यक्त करता हो ।''

एक मनीषी ने धर्म को कर्त्तव्यपरायणता के रूप में परिभाषित किया है, ''ऐसी कर्त्तव्यपरायणता जो मनुष्य को व्यक्तिगत संकीर्ण दायरे से निकालती तथा समष्टि की ओर चलने, उससे बँधने की प्रेरणा देती हो ।'' सचमुच ही गम्भीरता एवं सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि धर्म के मूल में यही प्रेरणाएँ परोक्ष रूप से उद्‌भासित होती हैं । आचरण की श्रेष्ठता, विचारों की उत्कृष्टता तथा भावनाओं की पवित्रता ही धर्म का व्यावहारिक लक्ष्य है । यही अपनी चरमसीमा पर पहुँच कर उन अलौकिक अनुभूतियों का मार्ग प्रशस्त करता है, जिसे ईश्वरानुभूति के रूप में निरूपित किया गया है । पुरातन ऋषियों ने धर्म का सृजन इस महान् लक्ष्य के लिए किया था तथा उसे शास्त्र-पुराण, देवालय आदि का जामा पहनाया था । मानवीय व्यक्तित्त्व के परिशोधन एवं सद्‌गुणों के अभिवर्द्धन के लिए यह मनोवैज्ञानिक शैली उसकी मानसिक संरचना को ध्यान में रखकर ही अपनाई गई थी । जो प्रकारांतर से अपने प्रयोजन में विशेष रूप से सफल रही ।

मानव बुद्धि का दुरुपयोग तो हर क्षेत्र में हुआ है । फिर भला धर्म ही उससे अछूता क्यों बचे ? समाज के विकास का इतिहास बतलाता है कि समाज एवं उससे सम्बद्ध सामाजिक आचार-संहिताओं, रीति-रिवाजों, परम्पराओं का निर्माण व्यक्ति के सर्वांगीण विकास को ध्यान में रखकर किया गया था, किन्तु कालान्तर में उन्होंने रूढ़ियों एवं मूढ़-मान्यताओं का स्वरूप ग्रहण कर लिया, फलस्वरूप उनकी उपयोगिता, उपादेयता जाती रही और उल्टे अनेकानेक विकृतियों ने अड्डा जमा लिया । निहित स्वार्थियों ने उनकी आड़ में अपनी कुचाल चलनी आरम्भ कर दी ।

राज्यों के निर्माण का इतिहास बताता है कि राज्य संस्था को मनुष्य के व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन को सुखी एवं समृद्ध बनाने के लिए ही विनिर्मित किया गया था । यह सच है कि इस तन्त्र ने सामाजिक सुरक्षा एवं सुव्यवस्था को कायम रखने में प्रशंसनीय भूमिका निभाई है, पर उतना ही सच यह भी है कि शासन की निरंकुश तानाशाही सत्ता ने कितनी ही बार उच्छृंखल होकर समाज पर भयंकर कहर ढहाया है । विश्व के शासन तन्त्र का इतिहास पढ़ने पर निर्मम, अत्याचारी शासकों के ऐसे ढेरों उदाहरण मिल जायेंगे, जिन्होंने अपने वर्चस्व के लिए भयंकर रक्तपात किया । इतने पर भी राज्य एवं शासनतन्त्र की उपयोगिता एवं महत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता । तन्त्र के दुरुपयोग को ही तथ्य मानकर यदि शासनतन्त्र की गरिमा एवं आवश्यकता को अस्वीकार कर दिया जाय तो भारी संकटों का सामना करना पड़ सकता है । इससे तो समाज में अव्यवस्था, असुरक्षा एवं अराजकता की ही अभिवृद्धि होगी । फलस्वरूप पतन का मार्ग ही प्रशस्त होगा ।

विज्ञान ने मानव जाति की प्रगति में असामान्य योगदान दिया है, यह एक ऐसी सच्चाई है, जिससे कोई भी विज्ञ इन्कार नहीं कर सकता, पर उतना ही सच यह भी है कि मानब बुद्धि ने विज्ञान का दुरुपयोग भी कोई कम नहीं किया है । अस्त्र-शस्त्रों, परमाणु बमों के निर्माण एवं परीक्षणों से उत्पन्न विभीषिकाओं से मनुष्य जाति के घुट-घुटकर मरने जैसी विस्फोटक स्थिति पैदा होती जा रही है । सभ्यता का नामोनिशान मिटा देने में आविष्कृत, ध्वंसकारी यन्त्र सक्षम हैं । यह एक ऐसा पक्ष है, जो

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

विज्ञान के दुरुपयोग की ही कहानी नंगे रूप में प्रस्तुत करता है । इसके बावजूद भी वैज्ञानिक विधा की महत्ता एवं उपयोगिता कम नहीं हो जाती । दुरुपयोग का दोष उस दुर्बुद्धि पर जाता है जो उन कुचक्रों में अपनी सामर्थ्य को नियोजित कर रही है ।

मनुष्य जीवन एवं समाज का इतिहास प्रत्येक वस्तु के दुरुपयोग की कहानी कहता है । धर्मक्षेत्र भी इसका अपवाद नहीं है । निहित स्वार्थियों की घुसपैठ से कोई क्षेत्र खाली नहीं है । इस क्षेत्र में समय-समय पर ऐसे व्यक्तियों की घुसपैठ हुई जिन्होंने धर्म का दुरुपयोग अपने स्वार्थों के लिए किया । साम्प्रदायिकता का विष ऐसे ही व्यक्तियों द्वारा फैलाया जाता है । सामान्य व्यक्ति प्राय: धर्म के शाश्वत् स्वरूप एवं लक्ष्य से दिग्भ्रान्त होकर विकृतियों के प्रवाह में ही बह जाता है । जहाँ कहीं भी साम्प्रदायिकता पनपती है, उसको पोषण ऐसे ही भटके हुए भावुक अन्धानुयायियों द्वारा मिलता है । इस स्थिति को देखकर ही धर्म के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ बुद्धिजीवी, भौतिकतावादी दर्शन के समर्थक प्राय: धर्म का नाम लेते ही नाक-भौं सिकोड़ते और उसे निरुपयोगी ठहराने के लिए कुछ उठा नहीं रखते । यह बात उसी तरह है जैसे कि शासनतन्त्र, विज्ञान आदि के दुरुपयोग को देखकर कोई यह कहने लगे कि ये सब समाज के लिए अहितकर तथा बेकार हैं । निस्सन्देह ऐसे चिन्तन को दूरदर्शितापूर्ण नहीं कहा जा सकता । धर्मक्षेत्र की विकृतियों को देखकर कभी यदि मार्क्स जैसे विचारक का यह उद्‌गार फूट पड़ा हो कि "धर्म एक अफीम की गोली है, जिसके नशे में जनता को सुला दिया जाता है।" तो आश्चर्य किस बात का ? निस्सन्देह यह कहना होगा कि मार्क्स के युग में, उनके सम्पर्क के वातावरण में धर्म का विकृत स्वरूप ही प्रचलित था ।

जिन्होंने धर्म के सही स्वरूप एवं लक्ष्य को समझा, उन्होंने एकमत से कहा कि धर्म मानवीय विकास के लिए एक अनिवार्यता है । धर्मतत्त्व का गहराई से अध्ययन करने वाले स्वतन्त्र विचारक बर्नार्ड शॉ को एक बार तो कहना ही पड़ा था कि-"यदि हम वास्तव में कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य करना चाहते हैं, तो हमारा कोई धर्म होना चाहिए । यदि हमारी सभ्यता को वर्तमान भयंकर स्थिति में निकालने के लिए कुछ किया जाना है, तो यह ऐसे व्यक्तियों द्वारा किया जा सकता है जिनका कोई धर्म है । जिन लोगों का कोई धर्म नहीं होता तो वे कायर एवं असभ्य होते हैं ।"

'एन इन्ट्रोडक्शन टू दी फिलॉसफी ऑफ रिलीजन' में राबर्ट लीट पैटरसन लिखते हैं कि-"धार्मिक होने का अर्थ है-सद्‌विचारों एवं सद्‌भावनाओं का पुंज होना और जो इन विशेषताओं से सुसम्पन्न है, वह सच्चे अर्थों में धार्मिक है ।"

सुप्रसिद्ध दार्शनिक काण्ट का कथन है कि-"हम धर्म से दूर नहीं जा सकते, क्योंकि उसके बिना जीवन में समग्रता एवं परिपूर्णता नहीं आ सकती । यदि धर्म अपने विकसित रूप में जीवन में व्यक्त होने लगे, तो मनुष्य अमरता को प्राप्त कर सकता है और वह वैयक्तिक तथा सामाजिक प्रगति का सूत्रधार बन सकता है ।"

धर्म की इस गरिमा एवं उपादेयता को स्पष्ट करते हुए बहुत समय पूर्व उपनिषद्‌कारों ने कहा था-

'धर्मात् अर्थश्च कामश्च:, सधर्मकिन्न सेव्यते ।'

-तैत्तिरीय

अर्थात्-धर्म से सम्पत्ति तथा कामनाओं की प्राप्ति होती है फिर उसकी अभ्यर्थना क्यों नहीं की जाती ?

धर्मानुभूति को कार्लमार्क्स की भाँति भावुकता का ज्वार मात्र समझना, धर्म के साथ अन्याय करना है । धर्म की अनुभूति का आधार मात्र भावना नहीं, वह प्रज्ञा है, जिसमें भावना एवं विवेक दोनों का ही अद्‌भुत सम्मिश्रण है । प्रज्ञा भावुकता नहीं है । अस्तु, धर्म को बेसुध-भावातिरेक मानने की भूल किसी भी हालत में नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यदि हम धर्म को इस तरह वैयक्तिक भावुकता मान लेंगे तो प्रकारान्तर से उसकी सार्वजनीनता एवं सार्वलौकिकता पर अनजाने ही प्रहार उसी प्रकार करेंगे, जिस तरह धर्मतत्त्व से अपरिचित तथाकथित भौतिकवादी करते हैं ।

उपरोक्त तथ्यों से धर्म का यथार्थ स्वरूप स्पष्ट हो जाता है । पर इसे विश्वमानस का दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि उसने धर्म के सदा अविकसित स्वरूप को ही देखा और उसके अनुसरण से जन्मी विकृतियों को धर्म की विकृति मान लिया, जबकि धर्म का सही मूल्यांकन उत्कृष्ट तथा परिष्कृत धर्मानुयायियों के आचरण के प्रकाश में ही किया जाना चाहिए । क्योंकि धर्म की विराट परिभाषा के अन्तर्गत धर्म को एक ऐसे विश्वास या आस्था के रूप में स्वीकार किया जाता है जो व्यक्ति के आचरण में, उसकी क्रियाओं में प्रतिफलित होती है ।

अपने विराट स्वरूप में धर्म उतना ही व्यापक है जितना कि यह विश्व । जीवन का, कोई भी पक्ष ऐसा नहीं बचता जो धर्म के अन्तर्गत न आता हो । ऐसी कोई भी विद्या नहीं है, जहाँ धार्मिकता, कर्त्तव्यपरायणता, उच्चस्तरीय आदर्शवादिता की आवश्यकता न हो । चाहे वह राजतन्त्र हो, अर्थतन्त्र हो अथवा समाजतन्त्र। नीतिमत्ता, कर्त्तव्यपरायणता, अनुशासन, सहकार के बिना व्यक्तिगत, पारिवारिक अथवा सामाजिक किसी भी जीवन की आधारशिला सुदृढ़ बनी नहीं रह सकती । यों तो इन सामाजिक गुणों की महत्ता का प्रतिपादन समाजशास्त्री भी करते हैं, राजनेता भी करते हैं । तद्‌नुरूप आस्था उत्पन्न करने के लिए उनके विभिन्न प्रकार के प्रयास भी चलते हैं, पर उन प्रयासों में यत्किंचित सफलता ही मिल पाती है । असफलता का कारण स्पष्ट है । अन्त: के मर्मस्तल को छूने के लिए सद्‌भाव-सम्पन्न व्यक्तियों का अभाव अभीष्ट तरह की सफलता प्राप्ति में सबसे बड़ा बाधक बनता है । अस्तु सिद्धान्तों एवं कार्यक्रमों की दृष्टि से समाजसुधारकों एवं राजनेताओं के प्रयास समग्र होते हुए भी आन्तरिक

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

महानता न होने से वह प्रभाव नहीं उत्पन्न कर पाते, जिनसे व्यक्ति स्वयं बदलता चला जाये और नीति के मार्ग पर स्वेच्छा से आरूढ़ हो जाय ।

कहना न होगा कि धर्म यही भावभरी भूमिका सम्पन्न करता है । उच्चस्तरीय आदर्शों एवं सिद्धान्तों के प्रति न केवल आस्था उत्पन्न करना, वरन् उनको व्यावहारिक जीवन में समाविष्ट करने के लिए विवश करना धर्म का प्रमुख लक्ष्य है । धर्म के विविध मनोवैज्ञानिक प्रयोग इसी प्रयोजन की पूर्ति के लिए किए जाते हैं । मनुष्य का आचरण पवित्रता और चिन्तन उत्कृष्टता से अनुप्राणित हो जाय, धर्म का चरम लक्ष्य यही है । मनुष्य के भीतर से ऐसी ही प्रेरणाओं को उभारने के लिए धर्म आदिकाल से सचेष्ट रहा है ।

अन्य क्षेत्रों की भाँति इस क्षेत्र में घुस आई विकृतियों, अन्धविश्वासों को निष्कासित किया जा सके तथा धर्म का तात्त्विक स्वरूप जनसामान्य के समक्ष रखा जा सके तो वह आज भी व्यक्ति, परिवार एवं समाज का समग्र नवनिर्माण करने में पूर्णतया सक्षम है । इसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि धर्म को साम्प्रदायिकता की संकीर्ण परिधि से बाहर निकला जाय, उसका सार्वभौम स्वरूप प्रस्तुत किया जाय ।

धर्म का मर्म है--नीतिमत्ता

विज्ञान ने इस मान्यता को इतना उलझा दिया है कि आज संसार में सर्वत्र जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विशृंखलता व्याप्त हो गई है । विराट दृष्टि से विचार करने पर मनुष्य जीवन का लक्ष्य कुछ और दिखाई देता है, पर तत्काल लाभ की दृष्टि से कुछ और । विज्ञान ने इस स्थिति में पर्यवेक्षक बनकर मनुष्य को अनजान वन में भटका दिया है, विचार करके भी मनुष्य उससे लौटकर अपने यथार्थ लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो पा रहा ।

अच्छा करना तभी सम्भव हो सकता है, जब उसके मूल में अच्छा चिन्तन भी उत्कृष्टता की प्रेरणा भरता रहे । करना मूल्यवान है, पर सोचना अव्यक्त होते हुए भी क्रियाकलाप के समतुल्य ही महत्त्वपूर्ण है । लोगों को श्रेष्ठ काम करने के लिए कहा जाय, पर साथ ही उन्हें यह भी सुझाया जाय कि कर्म का बाह्य स्वरूप ही सब कुछ नहीं है, उसकी आत्मा तो उद्देश्यों में निवास करती है ।

अन्तर्राष्ट्रीय मसीही धर्म सम्मेलन में उद्‌बोधन करते हुए संसार के ईसाई जगद्‌गुरु-आर्कविशप कार्डिनल ग्रेशियस ने कहा था-''मसीही धर्म समेत समस्त धर्मावलम्बियों को अपने सहयोग का क्षेत्र अधिकाधिक व्यापक बनाना चाहिए । यह सहयोग पारस्परिक सद्‌भाव, सहानुभूति और विश्वास पर आधारित होना चाहिए । धर्म की मूल धारणा और ईश्वरप्रदत्त न्याय की समूची परम्परा की रक्षा, उसका विकास और उसे समृद्ध बनाने जैसे महान् कार्यों में विभिन्न धर्म मिल-जुलकर काम कर सकते हैं।''

अनास्था का संकट सभी धर्मों के सामने समान रूप से है । उद्योग, विज्ञान और विकृत तर्कवाद ने जो अनास्था उत्पन्न की है, उससे प्रभावित हुए बिना कोई धर्म रहा नहीं है । संचित कुसंस्कारों को, पशु-प्रवृत्तियों को इस अनावस्था ने और भी भड़काया है, फलतः समूची मनुष्य जाति स्वार्थान्धता और दुष्टता की काली छाया से ग्रसित होती चली जा रही है ।

धर्म का तात्पर्य है, शालीनता एवं नीतिमत्ता । यह प्रयोजन उच्चस्तरीय आस्थाओं के सहारे ही सधता है । दैनिक जीवन के प्रत्येक क्रिया-कृत्य के साथ सज्जनता और उदारता के तत्त्वों को सँजो देने की विचारपद्धति का नाम अध्यात्म है । आध्यात्मिकता का चक्र आस्तिकता की धुरी के इर्द-गिर्द घूमता है, इन सबका परस्पर सम्बन्ध और तारतम्य है । एक कड़ी तोड देने से यह समूची जंजीर ही बिखर जाती है । वैयक्तिक जीवन में जिसे नीतिमत्ता कहते हैं, वही सामूहिक रूप में विकसित होने के उपरान्त सामाजिक सुव्यवस्था बन जाती है । प्रगति और समृद्धि की, सुख और शान्ति की आधारशिला इसी पृष्ठभूमि पर रखी जाती है ।

नीति क्या है ? इसका उत्तर उतना सरल नहीं है जितना कि समझा जाता है । उसका स्वरूप कई विचारक कई तरह प्रस्तुत करते हैं । नीतिशास्त्री सिज्विक ने अपने 'ग्रन्थ मैथड ऑफ एथिक्स' में लिखा है, ''सत्य बोलना खण्ड नहीं हो सकते, उसे जातियों, धर्मों, देशों और सम्प्रदायों में विभक्त नहीं किया जा सकता । यदि संस्कृति को वर्ग हित के साथ जोड़ दिया जाय तो वह मात्र विजेताओं और शक्तिमन्तों की ही इच्छा पूरी करेगी । अन्य लोग तो उससे पिसते और पददलित ही होते रहेंगे । ऐसी संस्कृति को विकृति ही कहा जायेगा, भले ही उसे लबादा कितना ही आकर्षक क्यों न पहनाया गया हो?''

संस्कृति एक है, उसे खण्डों में विभक्त नहीं किया जाना चाहिए, अन्यथा यह टुकड़े आपस में टकराने लगेंगे और जादवी वंश विनाश का अप्रिय प्रसंग उपस्थित करेंगे । जर्मन संस्कृति, अरब संस्कृति, रोम संस्कृति आदि के पक्षधरों ने अपने अत्युत्साह को उस चौराहे पर इस तरह नंगा ला खड़ा किया, जहाँ विश्व संस्कृति की आत्मा को अपनी लज्जा बचानी कठिन पड़ गई । सर्वहारा को निवोदित संस्कृति सामान्य जन-जीवन को मानवोचित न्याय प्राप्त कर सकने का अवसर दे सकेंगी, इसमें सन्देहों की भरमार होती चली जा रही है । माओ की लाल किताब में वह आह्वान छपा है जिसमें कहा गया है कि हिमालय की चोटी पर खड़ा माओ एशिया को अपने पास बुला रहा है । उस आमन्त्रण को जिन्हें स्वीकार करना है, सोचते हैं निकट बुलाने के उपरान्त आखिर हमारा क्या किया जायगा ?

विचारों का एकाकी प्रवाह सदा उपयोगी ही नहीं होता, उसमें बहुधा एकपक्षीय विचारणा का बाहुल्य जुड़ जाने से यथार्थता की मात्रा घटने लगती है । अपनी मान्यता और आकांक्षा के पक्ष में मस्तिष्क काम करता चला जाता

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

है और प्रतिपक्षी तर्कों एवं तथ्यों का ध्यान ही नहीं रहता । किसी निर्णय पर पहुँचने के लिए पक्ष और विपक्ष के सभी तर्कों को सामने रखा जाना चाहिए । न्यायाधीश को वस्तुस्थिति समझने के लिए वादी और प्रतिवादी दोनों पक्षों के प्रमाण, साक्षी एवं तर्क सुनने पड़ते हैं । न्यायाधीशों ने ऐसे प्रसंगों पर क्या-क्या निष्कर्ष निकाले हैं, इसका ध्यान रखना पड़ता है, तब कहीं उचित निर्णय करने की स्थिति बनती है । यदि एक ही पक्ष की बात सुनी जाये, दूसरा पक्ष कुछ बताये ही नहीं तो स्वभावतः एकांगी निर्णय करने की स्थिति खड़ी हो जायेंगी । इसमें न्याय के स्थान पर अन्याय का पक्षपात जैसी दुर्घटना घटित हो जायगी । इसमें न्यायाधीश की नीयत का नहीं उस एकांगी परिस्थिति का दोष है, जिसमें मन्थन के लिए, काट-छाँट के लिए अवसर ही नहीं मिला और न करने योग्य निर्णय कर लिया गया । यही दुर्घटना तब घटित होती है, जब एकांगी, एकपक्षीय विचारों की घुड़दौड़ मस्तिष्क में चलती रहती है और ऐसे निष्कर्ष निकाल लिए जाते हैं, जो अनुपयुक्त होने के कारण असफल एवं उपहासास्पद सिद्ध होते हैं ।

यदि मन पक्षपाती पूर्वाग्रहों से भरा हो तो फिर आप्त-वचन और शास्त्र भी सही मार्गदर्शन कर सकने में असमर्थ रहेंगे । उनकी व्याख्याएँ इस प्रकार तोड़-मरोड़कर की जाने लगेंगी कि तर्क की दृष्टि से उस प्रतिपादन को चमत्कारी माना जायगा, फिर भी शास्त्रकारों और आप्त-पुरुषों के मूल मन्तव्य की वास्तविकता के साथ उसकी पटरी बिठाना अति कठिन हो जायेगा ।

गीता के अनेकों भाष्य हुए हैं । इन भाष्यकारों ने जो भाष्य किये हैं, उनमें उनका अपनी मान्यताओं को सिद्ध करने का आग्रह ही प्रधान रूप से काम करता है । जान-बूझकर अथवा अनजाने ही वे मूल ग्रन्थकार के वास्तविक उद्देश्य के विपरीत बहुत दूर तक निकल गये हैं । यदि ऐसा न होता तो इतने तरह के परस्पर विरोधी भाष्य एक ही ग्रन्थ के क्योंकर लिखे जा सकते ? इनमें से कुछ ही टीकाकार सही हो सकते हैं । कर्त्ता का यह उद्देश्य तो रहा नहीं होगा कि वह ऐसी वस्तु रच दे, जिसका तात्पर्य निकालने वाले इस प्रकार के परस्पर विरोधी जंजाल में फँसकर स्वयं भ्रमित हों और दूसरों को भ्रमित करें । रामायण की अनेक चौपाइयों के ऐसे विचित्र अर्थ सुनने में आते हैं, जिन्हें यदि मूल रचनाकारों के सामने रखा जाय तो स्वयं आश्चर्यचकित होकर रह जायेंगे कि जो बातें कल्पना में भी नहीं थीं, वे उनके गले किस प्रकार मढ़ दी गईं ।

संसार के मूर्धन्य साहित्यकारों ने अपनी कृतियों में भारतीय शास्त्रों और मनीषियों के अनेकों उद्धरण दिये हैं, ध्यान से देखने पर प्रतीत होता है कि उद्धरणों की शब्द-रचना यथावत् है, किन्तु उन्हें इस प्रकार के प्रयोजनों में प्रयुक्त किया गया है जैसा कि उन कथनों का मूल उद्देश्य नहीं था । डी० एच० लारेन्स ने अपनी अन्तःस्थिति का विश्लेषण करते हुए कहा है-"मेरे भीतर एक नहीं, कई देवता निवास करते हैं।" यहाँ उन्होंने देवताओं को जिस रूप में प्रस्तुत किया है, वह देववाद के मूल प्रतिपादनों के अनुरूप नहीं है । हेनरी मिलर की पुस्तकों में रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द के उद्धरणों की भरमार है, पर वे मूलतः उन मन्तव्यों के लिए नहीं कहे गये थे जैसा कि मिलर ने सिद्ध किया है । स्टेनबेक ने अपनी पुस्तक 'केनेरी को' में संस्कृत कवि विल्हण की कई रचनाओं का उल्लेख किया है । कालिन विल्सन ने मानवीय पृथकतावाद के समर्थन में भारत में प्रचलित धर्म दृष्टान्तों का अनेकों प्रसंगों में सहारा लिया है । एल्डुअस हक्सले ने प्राचीनता और आधुनिकता के विग्रह में भगवान् बुद्ध को आधुनिकता का समर्थक सिद्ध किया है ।

एरिक फ्राम ने अपनी पुस्तक 'आर्ट ऑफ लिविंग' में योरोप में उत्पन्न हुए अनेकों संघर्षों की जड़ अरस्तू के तर्क शास्त्र को बताया है, जिसने जन-मानस में यह बात बिठाई कि संसार में देव और असुर दो ही शक्तियाँ हैं और दोनों परस्पर विरोधी हैं । यह (ए. एण्ड नॉन ए) का सिद्धान्त मुद्दतों तक लोगों के दिमागों में गूँजता रहा है और वे यह सोचते रहे कि बुराई पर आक्रमण करके उसे मिटाया जाना चाहिए । अब इसका निर्णय कौन करे कि बुराई किस पक्ष की है ? अपनी या पराई ? इस निष्कर्ष में फैसला अपने ही पक्ष को सही मानने की ओर झुकता है । हम जो सोचते और करते हैं वही ठीक है । गलती तो अन्य लोग ही कर सकते हैं, वह हमसे क्यों होगी ? इसी पूर्वाग्रह से हर व्यक्ति और वर्ग घिरा रहता है । फलतः उसे सामने वाले में ही बुराई दीखती है और उसे मिटाने के लिए तलवार पर धार रखता है । इसी मान्यता ने कलह, विद्वेष और आक्रमणों को जन्म दिया है ।

उच्चस्तरीय आस्थाओं के प्रति व्यक्ति को निष्ठावान् बनाना अध्यात्मवादी तत्त्वदर्शन का काम है । धर्म और दर्शन का लक्ष्य यही है । संस्कृति की उपयोगिता इसी में है कि वह मानवीय चिन्तन का स्तर ऊँचा उठाये । उसे आत्मगौरव की अनुभूति कराने के साथ-साथ सज्जनता को व्यवहार में उतारने का साहस भी प्रदान करे ।

आज विज्ञान को अनास्था का सेनापति बनाकर खड़ा कर दिया गया है और उसे विशृंखलित जीवन के सैनिकों की भर्ती करने की छूट दे दी गई है । फलस्वरूप सदाचरण जैसी मानवीय गरिमा आज औंधे मुँह पड़ी सिसक रही है । दूसरी ओर अवांछनीयता, उच्छृंखलता का दानव सर्वत्र कबड्डी खेलता घूम रहा है ।

अहंकार और व्यामोह का समन्वित रूप बनता है-दुराग्रह । इसमें आवेश और हठ दोनों ही जुड़े रहते हैं । फलतः चिन्तन तन्त्र के लिए यह कठिन पड़ता है कि वह सत्य और तथ्य को ठीक तरह समझ सके और उचित-अनुचित का भेद कर सके । अभ्यस्त मान्यताओं के प्रति एक प्रकार की कट्टरता जुड़ जाती है । इसे अच्छी तरह से सिद्ध करने के लिए परम्पराओं के निर्वाह की

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

दुहाई दी जाती है । उसका समर्थन धर्मशास्त्र, आप्तवचन, देशभक्ति आदि के नाम पर किया जाता है और कई बार तो उसे ईश्वर का आदेश तक घोषित कर दिया जाता है ।

अपना धर्म श्रेष्ठ दूसरे का निकृष्ट, अपनी जाति ऊँची दूसरे की नीची, अपनी मान्यता सच दूसरे की झूठ ऐसा दुराग्रह यदि आरम्भ से ही हो तो फिर सत्य-असत्य का निर्णय हो ही नहीं सकता । न्याय और औचित्य की रक्षा के लिए आवश्यक है कि तथ्यों को ढूँढ़ने के लिए खुला मस्तिष्क रखा जाय और अपने-पराये का, नये-पुराने का भेदभाव न रखकर विवेक और तर्क का सहारा लेने की नीति अपनाई जाय । सत्य को प्राप्त करने का लक्ष्य इस नीति को अपनाने से पूरा हो सकता है । पक्षपात और दुराग्रह तो सत्य को समझने से इन्कार करना है । ऐसे हठी लोग प्राय: सत्य और सत्य शोधकों को सताने तक में नहीं चूकते ।

टेलिस्कोप के आविष्कारक गैलीलियो ने जब पृथ्वी को गतिशील बताने का सर्वप्रथम साहस किया, तो पुरातन पंथी धर्मगुरुओं ने इसे धर्मविरुद्ध ठहराया । उसे तरह-तरह से सताया गया और जेल में बन्द करके सड़ाया गया। सबसे पहले जब पैरिस में रेलगाड़ी चली तो उस प्रचलन का पुरातनपंथियों ने घोर विरोध किया और कहा जो काम हमारे महान् पूर्वज नहीं कर सके, उन्हें करना अपने पूर्व पुरुषों के गौरव पर बट्टा लगाना है । रेलगाड़ी के चलाने वाले जोसफ केग्नार को उस जुर्म में जेल में डाला गया कि वह ईश्वर के नियमों के विरुद्ध काम करता है । इटली में शरीरशास्त्र की शिक्षा किसी समय अपराध थी । आपरेशन करना पाप समझा जाता था और कोई चिकित्सक छोटा-मोटा आपरेशन भी करता पाया जाता, तो उसे मृत्युदण्ड सुनाया जाता था ।

कारीगर रैगर बेकन ने सर्वप्रथम दो कोनों को जोड़कर सूक्ष्मदर्शी यन्त्र बनाया था । इस आविष्कार की निन्दा की गई । उस कारीगर को इस खतरनाक काम को करने के अभियोग में दस वर्ष की कैद सुनाई गई । बेचारा जेल में ही तड़फ-तड़फ कर मर गया ।

रसायनशास्त्र के कुछ नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने के अपराध में स्वन्ति अरहीनियस को प्राध्यापक के पद से पदच्युत करके एक छोटा अध्यापक बनाया गया और उसे सनकी ठहराकर अपमानित किया गया । विधि का विधान ही समझिये कि वही सिद्धान्त आगे चलकर विज्ञान जगत में सर्वमान्य हुए और स्वन्ति को उन्हीं पर नोबुल पुरस्कार मिला ।

डॉ० हार्ले ने जब सर्वप्रथम यह कहा कि रक्त नसों में भरा नहीं रहता वरन् चलता रहता है, तो समकालीन चिकित्सकों ने उसे खुलेआम बेवकूफ कहा । ब्रूनो ने जब अन्य ग्रहों पर भी जीवन होने की सम्भावना बताई, तो लोग इतने क्रुद्ध हुए कि उसे जीवित ही जला दिया ।

दुराग्रह के अत्याचारों का इतिहास बहुत लम्बा और बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण है । पिछले दिनों यह हठवादिता बहुत चलती रही है । धर्म परम्परा, देशभक्ति, ईश्वर का आदेश न जाने क्या-क्या नाम इस हठवादिता को दिये जाते हैं और सत्य एवं धर्म की आत्मा का हनन होता रहा है । मानवीय विवेक में निष्पक्ष सत्यशोधक की दृष्टि को ही प्रश्रय मिलना चाहिए । यह तभी सम्भव है जब धर्म आगे-आगे चले और विज्ञान तथ्यानुयायी बने ।

धर्म साध्य है तो विज्ञान साधन

धर्म के विकास का इतिहास मनुष्य की चेतना के साथ कदम से कदम मिलाकर चलता आया है । भय और लोभ की व्यक्तिवादी आकांक्षाओं से आगे बढ़कर मनुष्य अधिक समाज पर निर्भर होते चलने की स्थिति में यह समझने के लिए बाध्य हुआ कि समूहगत हलचलें मनुष्य को अत्यधिक प्रभावित करती हैं । सर्वविदित है कि विज्ञान ने न केवल मानव मात्र की आवश्यकताओं की आपूर्ति में महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी भूमिका निभाई है, वरन् उसने मनुष्य के आचार-विचार, संस्कार, धारणा और चिन्तन पद्धति को भी प्रभावित, परिवर्तित करके छोड़ा है । विज्ञान के क्षेत्र में अध्ययन और अनुसंधानों की महत्ता, उपयोगिता इस कदर बढ़ी है कि उसके आगे धर्म, दर्शन, साहित्य, संगीत, कला आदि के विषय महत्त्वहीन होते चले गये हैं । कभी जो गरिमा धर्म और अध्यात्म को प्राप्त थी, आज विज्ञान ने वह स्थान ग्रहण कर लिया है । तर्क, तथ्य, प्रमाण आदि के अभाव में धर्म की बात को अब संदिग्ध और सन्देहास्पद ढंग से देखा जाता है और प्रतिपादन भी उसी के अनुरूप किये जाने लगे हैं ।

'ऐन एनालिटिकल फिलॉसफी ऑफ रिलीजन' के लेखक विलियम जुरडीग ने धर्म के विकृत एवं विस्मयकारक स्वरूप को देखते हुए कहा है कि आज के युग में धर्मानुसरण करना सांस्कृतिक पिछड़ेपन का प्रतीक माना जाने लगा है । कार्लमार्क्स और सिगमंड फ्रायड के दर्शन के कारण धर्म को अवज्ञा और अपमानजनक स्थिति का सामना करना पड़ा है । इनकी दृष्टि में धर्म का मनुष्य के जीवन में वही स्थान है, जो सर्प के जीवन में केंचुए का । जिस प्रकार एक सीमा तक पहुँचने के बाद सर्प केंचुए को खाना बन्द कर देता है, ठीक उसी प्रकार मनुष्य भी बौद्धिक विकास की चरम सीमा पर पहुँचकर धर्म को तिलांजलि दे बैठता है, लेकिन अब इस तरह के धर्म विरोधी प्रतिपादन महत्त्वहीन होते जा रहे हैं । लोगों की धर्मपरायण प्रवृत्तियाँ दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही हैं ।

'ऐप्रोचेज टु दि फिलॉसफी ऑफ रिलिजन' नामक पुस्तक में बोन्स्टीन ने जिनकी गणना आशावादी एवं आस्थावान दार्शनिकों में की जाती है, कहा है कि वर्तमान में धर्म के प्रति अनास्थावादी दृष्टिकोण की उत्पत्ति अस्थाई है और धर्म का पुनरुत्थान निकट भविष्य में होना सुनिश्चित है । उनका विश्वास है कि ईश्वर स्वयं मानव शरीर धारण करके अधर्म का नाश और धर्म का पुनरुत्थान

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

करेगा । गीता की 'यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत' मान्यता से वें पूर्णतः सहमत हैं । बोन्स्टीन ने इस तथ्य की पुष्टि परिगणनात्मक ढंग से की है और पाश्चात्य जगत की निराश एवं अनास्थावादी जनता के अन्तरंग में यह विश्वास जगाया है कि धार्मिक प्रवृत्तियों के विकास की जीवन में नितान्त आवश्यकता है, जिनके अभाव से जीवन नीरस और निष्क्रिय बनता चला जाता है ।

न्यूयार्क के प्रो० ल्यूवा ने 'गॉड एण्ड मैन' नामक अपनी पुस्तक में विज्ञान को एक साधन भर बताया है, जबकि धर्म मानव जीवन का साध्य हैं और उसी के धारण करने से जीवन सब प्रकार सुखी, समुन्नत बनता है । उनने फ्रायड की धर्मविषयक मान्यताओं का खण्डन करते हुए बताया है कि धर्म, भ्रम में डालने वाला अथवा मनोरोग नहीं वरन् मनुष्य के जीवन को श्रेष्ठता की दिशा में मोड़ने वाली एक अलौकिक एवं अद्‌भुत शक्ति है । उन्होंने धार्मिक समस्याओं और परिस्थितियों को समझने के लिए मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय तत्त्वों का जानना भी जरूरी बताया है, जिसके आधार पर यह पता लग सकता है कि मानव जीवन में धर्म आरोपित है अथवा संस्कारगत । वस्तुतः धर्म कोई आरोपण अथवा ऊपर से थोपने जैसी चीज नहीं, अपितु व्यक्ति के अन्तःकरण से उत्पन्न होने वाली एक सद्‌प्रेरणा है, जो उसे सन्मार्ग पर चलने के लिए सदैव अभिप्रेरित करती रहती है । मानव स्वभाव जिज्ञासु, मेधावी और समझदार होने के कारण प्रकृति तथा संसार के सम्बन्ध में एक दृष्टिकोण विनिर्मित करने की आवश्यकता सदैव अनुभव करता आया है, ताकि वह विश्व को सुनिकसित और सुनियोजित करने वाली शक्ति का सदुपयोग करके सत्प्रयोजनों में नियोजित कर सके । एक सामाजिक प्राणी होने के नाते वह एक नैतिक विधान और आचार-संहिता की आवश्यकता अनुभव करता है । धर्म-धारणा से उक्त दोनों उद्देश्यों की आपूर्ति बिना किसी कठिनाई के पूरी होती रहती है ।

प्रख्यात मनोवेत्ता युंग ने धर्म-धारणा को उदात्त और सहानुभूतिपूर्ण बताया है और मनुष्य के लिए कल्याणकारी भी । उनके अनुसार फ्रायड ने धर्म के बारे में जो परिकल्पना की है, वह इम्पीरियोजैनिक की अपेक्षा मेथोजैनिक अधिक है। यानि आत्मिकी के अनुभव का आधार न होकर मात्र बौद्धिक विश्लेषण भर ही कही जायेगी ।

जर्मनी के मैक्समूलर ने भी फ्रायड की धर्मविषयक मान्यताओं का खण्डन करते हुए बताया है कि धर्म तो विकास को हमेशा से परिपुष्ट करता आया है । उनके मतानुसार प्रगति मार्ग पर अग्रसर होने को विकास कहते हैं । धर्म सदा से प्रगतिशील जीवन जीने की रीति-नीति पर जोर देता चला आया है । उसने विकास की कई मंजिलें पार कर ली हैं, मानव जीवन की प्रगति के इतिहास में धर्म का स्थान सर्वोपरि रहा है । मनुष्य का सही इतिहास तो धर्म का इतिहास ही है । इसलिए धर्म को विकासहीन जड़ तत्त्व मान बैठना नासमझी ही कही जायेगी । मनुष्य की धर्म विषयक मान्यताएँ लगभग एक जैसी ही रही हैं और भविष्य में भी रहेंगी । प्रारम्भिक काल में जादू-टोने पर विश्वास करने वाले 'फेटिसिज्म' अर्थात् भाग्यवाद लेकर बहुदैववाद और एकेश्वरवाद तक के धार्मिक इतिहास पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि धर्मविषयक धारणाएँ सदैव बदलती रही हैं । लोकमानस के अनुरूप धर्म के विकास का यह उपयुक्त समय है, जिसमें हर वर्ग के लोगों को अपने देवी-देवता को पृथक् रूप से पूजने का अधिकार प्राप्त है । इस तरह की धार्मिक परम्परा को पाश्चात्य जगत में 'हीनोथेइज्म' के नाम से जाना जाता है।

पाश्चात्य दार्शनिक ह्वाइटहेड ने अपनी पुस्तक 'साइन्स एण्ड द मॉडर्न वर्ल्ड' में लिखा है कि जब तक धर्म अपनी प्राचीनकाल की खोई गरिमा को पुनः प्राप्त नहीं कर लेता है, तब तक उसको सार्वभौमिक स्तर प्राप्त नहीं हो सकता। सुप्रसिद्ध कवि टैनीसन ने भी अपनी रचना में यही प्रतिपादित किया है कि विज्ञान और तकनीकी प्रगति का एकमात्र उद्देश्य नैतिक एवं धार्मिक मूल्यों का अवमूल्यन करना नहीं वरन् उन्हें सुविकसित करने का ही होना चाहिए।

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा

धर्म की शक्ति महान् है । इससे भी अधिक महान् वे लोग हैं, जो वास्तविक धर्म को समझ कर तदनुसार व्यवहार करते हैं । धर्म का वास्तविक अर्थ होता है 'कर्त्तव्यपरायणता' । व्यक्ति का स्वयं के प्रति, परिवार के प्रति, देश व समाज के प्रति यहाँ तक कि मानवमात्र या प्राणिमात्र के प्रति क्या कर्त्तव्य हैं? उन्हें पूरा करना क्यों आवश्यक है ? इसकी व्याख्या-विवेचना करने वाले को एक शब्द में धर्म के नाम से कहा जाता है । शास्त्रों में इसी धर्म की महत्ता यत्र-तत्र सदैव प्रतिपादित की गयी है-

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ।।

—मनु०

धर्म हीं एकमात्र मित्र है, जो मरने पर भी साथ जाता है और सब तो शरीर के साथ ही नष्ट हो जाता है ।

धर्म कामदुधाः धेनूः सन्तोषो नन्दनं वनम् ।
विद्या मोक्षकरी प्रोक्ता तृष्णा वैतरणी नदी ।।

धर्म ही कामधेनु के समान सम्पूर्ण अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाला है, सन्तोष ही स्वर्ग का नन्दन वन है, विद्या (ज्ञान) ही मोक्ष की जननी है और तृष्णा वैतरणी नदी के समान नरक में ले जाने वाली है ।

धर्मादर्थः प्रभवति धर्मात् प्रभवते सुखम् ।
धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत् ।

धर्म से अर्थ उत्पन्न (प्राप्त) होता है, धर्म से सुख प्राप्त होता है, धर्म से ही सब कुछ प्राप्त होता है, धर्म ही इस संसार का सार तत्त्व है ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

होता है, धर्म से ही सब कुछ प्राप्त होता है, धर्म ही इस संसार का सार तत्त्व है ।

रामायण में प्रसंग आता है कि नरलीला करते हुए जब भगवान् राम को अपनी सुरक्षा के विषय में सन्देह होता है, तब उन्हें धर्म द्वारा ही रक्षा होने की बात बताई जाती है–

यं पालयसि धर्मं त्वं प्रीत्या च नियमेन च ।
स वै राघवशार्दूल धर्मस्त्वामभिरक्षतु ।।

–वाल्मीकीय रामायण–अयोध्या

हे राघव ! (राम) तुम्हारी सुरक्षा के लिए मैं क्या करूँ ? निश्चित रूप से केवल धर्म ही तुम्हारी रक्षा करेगा। तुम जिस धर्म का धैर्य और नियम के साथ पालन करते आये हो, वही धर्म तुम्हारी रक्षा करेगा ।

वास्तव में इस समस्त विश्व की प्रतिष्ठा स्थिति धर्म से ही है–

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति ।
धर्मेण पापमपनुदन्ति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्
तस्मादद्धर्मं परमं वदन्ति ।।

–नारायणोपनिषद्

धर्म ही सम्पूर्ण विश्व को प्रतिष्ठित एवं स्थिर करने वाला है । धर्मिष्ठ (धार्मिक) के पास ही प्रजाजन जाते हैं। धर्म से ही पाप दूर होता है, धर्म से सबकी प्रतिष्ठा(स्थिरता या सत्ता) है, इसी कारण धर्म को सबसे बड़ा (श्रेष्ठ) कहा गया है ।

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठ समक्षितौ ।
विमुखा बान्धवाः यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ।।
तस्माद्धर्मं सहायार्थं, संचिनुयाच्छनैः ।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ।।

मनुष्य के मर जाने पर, घर-परिवार के लोग लकड़ी और मिट्टी के ढेले के समान फेंक कर चले आते हैं, धर्म ही केवल उसके साथ जाता है, धर्म की सहायता से निश्चित रूप से मनुष्य अपने दुस्तर अन्धकार (अज्ञानान्धकार) को पार कर लेता है; अतः अपनी सहायतार्थ मनुष्य को धीरे-धीरे धर्म संचय करना अत्यावश्यक है ।

धर्म की इस महिमा को देखते हुए जीवन में इसकी अनिवार्यता स्वतः सिद्ध हो जाती है । हमें धर्म के वास्तविक रूप को समझने का प्रयास करना चाहिए और तदनुसार अपने आचार-व्यवहार में उसका समावेश करना चाहिए । कर्म को पूजा समझकर, उसे पूरा करने वाले व्यक्ति का प्रत्येक क्रिया-कलाप धर्मसम्मत ही माना जायेगा। इस प्रकार की 'कर्त्तव्यपरायणता' से युक्त व्यक्ति ही समाज में सम्माननीय और अभिनन्दनीय बनते हैं । उन्हीं की यशगाथा संसार में प्रसिद्ध होती है ।

धर्म–एक शास्त्रीय दृष्टिकोण

'सच्चिदानन्द' परमपिता परमात्मा के अनेक सम्बोधनों में से एक सम्बोधन है। 'सच्चिदानन्द' शब्द सत्+चित्+आनन्द, इन तीन शब्दों की परस्पर संधि होने से बना है । ये तीनों शब्द परमात्मा के तीन गुणों के प्रतीक हैं, सत् उसे कहते हैं जो आदिकाल से लेकर अनन्तकाल तक विद्यमान रहता है । कभी नष्ट नहीं होता। यथा–हम जल को ही लें । पानी आदिकाल से लेकर आज तक उपलब्ध है और अनन्तकाल तक उपलब्ध रहने की सम्भावना है । यद्यपि पानी का ठोस रूप बर्फ और वायु रूप भाप होता है, जो रूप परिवर्तन का द्योतक है। इन्हीं तीनों रूपों में पानी आदि से लेकर अब तक विद्यमान है । आदि से लेकर अद्यतन चली आ रही प्रवाहमय धारा को ही सनातन कहते हैं ।

जगत में विद्यमान प्रत्येक वस्तु की एक विशेषता होती है । उसका अपना स्वभाव होता है । उसका अपना गुण होता है। वस्तु की इसी विशेषता, स्वभाव या गुण को ही धर्म कहते हैं । उदाहरणार्थः–पानी का गुण या स्वभाव शीतलता प्रदान करना या सृष्टि के प्राणिमात्र की प्यास बुझाना है । इसी प्रकार अग्नि का गुण ताप और प्रकाश प्रदान करना है । सरिता का स्वभाव सतत् प्रवाहित रहना है । पक्षियों का स्वभाव सतत् चहकते, फुदकते, उड़ते हुए आनन्दित होते रहना है । पशुओं का भी स्वभाव चौकड़ी भरते हुए मस्ती भरे जीवन का आनन्द उठाना है । केवल मनुष्य के सम्पर्क में आने वाले पशु-पक्षी ही, जो मनुष्य की अधीनता का जीवन जीते हैं, उन्हें पराधीनता के कारण आनन्दमय जीवन से वंचित रह जाना पड़ता है और दुःखी जीवन जीने के लिये विवश होना पड़ता है । इसी प्रकार मनुष्य का एकमात्र धर्म 'आनन्द' ही है । वह सदा आनन्द प्राप्ति की दिशा में ही उन्मुख रहता है । यह बात दूसरी है कि परिस्थिति की पराधीनता के कारण उसे आनन्द-रहित जीवन जीने के लिए विवश होना पड़ता है, परन्तु सतत् उसकी चिन्तन की धारा दुःख से त्राण पाकर आनन्द प्राप्ति की ओर ही प्रवाहित रहती है । मनुष्य समाज के तत्त्वान्वेषी ऋषि, मुनि, सन्त, महात्मा, विचारक, चिन्तक आदि जितने भी महापुरुष हो गये हैं तथा जिन्होंने धर्मशास्त्रों का प्रणयन किया है, उन सभी ने एक स्वर से दुःख से त्राण पाने का उपाय और सुख प्राप्ति का मार्ग ही बताया है । सुख प्राप्ति के मार्ग को ही 'धर्म' कहा गया है। व्यक्तिगत सुख के मार्ग को 'व्यक्ति का धर्म', परिवार को सुखी बनाने वाले मार्ग को 'कुटुम्ब धर्म,' जिससे समाज को सुख मिले उसे 'सामाजिक धर्म,' जिससे राष्ट्र खुशहाल हो उसे 'राष्ट्र धर्म', जिससे विश्व सुखी हो, उसे 'सार्वभौम धर्म' और जिससे प्राणिमात्र सुख की अनुभूति करें, ऐसे धर्म को 'सनातन धर्म', कहा गया है ।

यों तो धर्म संस्कृत भाषा का एक शब्द है जिसकी शाब्दिक उत्पत्ति 'धृञ्'='धारणे' धातु से हुई है । महर्षि व्यास जी ने धर्म की परिभाषा इस प्रकार की है:

"धारणाद्धर्मधर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः ।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं सधर्मइतिनिश्चयः ।।"

महा० क. प.६९-५८

अर्थात्– धारण करने से इसका नाम धर्म है । धर्म ही प्रजा को धारण करता है । वही निश्चय ही धर्म है । महामुनि कणाद ने कहा है:–

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

"यतोऽभ्युदय निश्रेयससिद्धि स धर्मः ।"

अर्थात्- जिससे इस लोक और परलोक दोनों स्थानों पर सुख मिले, वही धर्म है ।

आधार उसे कहते हैं, जिसके सहारे कुछ स्थिर रह सके, कुछ टिक सके । हम चारों ओर जो गगनचुम्बी इमारत देखते हैं, उनके आधार पर नींव के पत्थर होते हैं । इसी पर वे स्थिर हैं । इसी पर वे टिके हुए हैं । प्रत्येक पदार्थ किसी न किसी आधार पर ही अवस्थित है । यहाँ तक कि ग्रह, नक्षत्र, तारे जो अन्तरिक्ष में, शून्य में अवस्थित प्रतीत होते हैं, वे भी एक-दूसरे की आकर्षण शक्ति को आधार बनाये हुये हैं । आधार रहित कुछ भी नहीं है । बिना आधार के सनातन धर्म भी नहीं है । सनातन धर्म का अपना एक मजबूत आधार है, जिसके ऊपर उसकी भित्ति हजारों वर्षों से मजबूती से खड़ी हुई है ।

वह आधार क्या है ? वह आधार है:- "**सर्वभूत हितेरताः** ।" इसे दूसरे शब्दों में ऐसा भी कह सकते हैं कि सृष्टि के सम्पूर्ण जड़-चेतन में अपनी आत्मा का दर्शन करना । अपने समान ही सबको मानना । जैसा कि यजुर्वेद में कहा गया है:-

"**यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।**
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति ।।"

-यजुर्वेद ४० मन्त्र ६

इसी बात को एक अन्य ऋषि ने इस प्रकार कहा है-

"**नतत्परस्यसंदध्यात्प्रतिकूलंयदाऽऽत्मनः ।**
एषसंक्षेपतोधर्मः कामादन्यःप्रवर्तते ।"

अर्थ:- जो कार्य अपने विरुद्ध जँचता हो, दुःखद मालूम होता हो, उसे दूसरों के साथ भी मत करो । संक्षेप में यही धर्म है ।

श्रीमद्भागवतकार ने भी ईश्वर की प्रसन्नता के लिये कहा है कि हृदय में सब भूतों के प्रति दया होना तथा यदृच्छं लाभ से सन्तुष्ट रहना ।

"दमया सर्वभूतेषु सन्तुष्टया येन केन वा ।"

भगवान् कृष्ण कहते हैं-

"**अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयाऽनघे ।**
नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिनः ।।"

अर्थ:-जो दूसरे प्राणियों को कष्ट देता है, वह सब प्रकार की सामग्रियों से विधिपूर्वक मेरा अत्यन्त पूजन-भजन भी करे, तो भी मैं उन पर सन्तुष्ट नहीं होता ।

मनु स्मृति में मनु महाराज ने कहा है:-

"**धर्म शनैं संचिनुयाद्वल्मीकमिव पुत्तिकाः ।**
परलोकसहायार्थं सर्व भूतान्यपीडयन् ।"

अर्थ:-जैसे दीमक बाम्बी को बनाती है वैसे सब प्राणियों को कष्ट न देकर परलोक के लिये धर्म संग्रह करें ।

महर्षि व्यास ने कहा है-

"**श्रूयतां धर्म सर्वस्व, श्रुत्वाचैवधार्यताम् ।**
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।"

अर्थ:-धर्म का सार सुनो । सुनो और धारण करो । अपने को जो अच्छा न लगे, वह दूसरों के साथ व्यवहार न करो ।

'सर्वभूत दया' ही हमारे सनातन धर्म का आधार है । सब प्राणियों को आत्मवत् मानना ही धर्म का उच्चतम आदर्श है, आधार है । इन्हीं सब कारणों से ही हमारे यहाँ धर्मपालन का निर्देश पग-पग पर दिया गया है, जिससे हम अपने आधार को, अपने आदर्श को कभी भी न भूल सकें । जैसा कहा गया है कि-

"**नामुत्र सहायार्थं पिता माता च तिष्ठति ।**
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलम् ।।"

अर्थ:-परलोक में न माता, न पिता, न पुत्र, न स्त्री और न सम्बन्धी सहायक होते हैं । केवल धर्म ही सहायक होता है ।

"**चला लक्ष्मीश्चलाः प्राणाश्चले जीवितयौवने ।**
चला चलेति संसारे, धर्म एकोहिनिश्चलः ।।"

अर्थ:- लक्ष्मी चलायमान है और जीवन चलायमान है । इस चराचर जगत में केवल धर्म ही अचल है । सनातन धर्म कोई मजहब या सम्प्रदाय नहीं है जो परस्पर शत्रुता के बीज बो देवे । इस धर्म का आधार अत्यन्त मजबूत है जो हमें 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का पाठ पढ़ाता है । यही वह धर्म है जो वसुधैव कुटुम्बकम् की ऊँची शिक्षा देता है । यही वह धर्म है, जो आत्मानन्द और परमानन्द की प्राप्ति कराता है । यही वह धर्म है जो विश्वजनीन है । इसी धर्म से विश्व मानव कल्याण को प्राप्त होगा । धर्म का यह एक पक्ष हुआ । दूसरा पक्ष है, अवांछनीयता, अनाचार, असुरता को निरस्त करना ।

ये वा सहस्त्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ।

-अ० वे० १८।२।१७

जो संग्रामों में लड़ने वाले हैं, जो शूरवीरता से शरीर को त्यागने वाले हैं और जिन्होंने सहस्रों दक्षिणाएँ दी हैं, तू उनको भी प्राप्त हो ।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्ययत्क्षत्रियस्य न विद्यते ।।

-गीता २।३१

स्व धर्म को समझकर भी तुझे हिचकिचाना उचित नहीं है, क्योंकि धर्म युद्ध की अपेक्षा क्षत्रिय के लिए और कुछ अधिक श्रेयस्कर नहीं हो सकता ।

यदृच्छया चोपपन्न स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ।।

-गीता २।३२

हे पार्थ ! यों अपने आप प्राप्त हुआ और मानो स्वर्ग का द्वारा ही खुल गया हो, ऐसा युद्ध तो भाग्यशाली क्षत्रियों को ही मिलता है ।

यस्तु प्राणान् परित्यज्य प्रविशेदुद्यतायुधः ।
संग्राममग्निप्रतिमं पतंग इव निर्भयः ।।
स्वर्गमाविशते ज्ञात्वा योधस्य गति निश्चयम् ।।

-महाभारत

जो अपने प्राणों की चिन्ता छोड़कर पतंग की भाँति निर्भय हो हाथ में हथियार उठाये अग्नि के समान विनाशकारी संग्राम में प्रवेश कर जाता है और योद्धा को मिलने वाली निश्चित गति को जानकर उत्साहपूर्वक जूझता है, वह स्वर्ग लोक में जाता है ।

सलिलादुत्थितोवह्निर्येनव्याप्तंचराचरम् ।
दधीचस्यास्थितो वज्रंकृतंदानवसूदनम् ।।

-महाभारत

पानी से आग पैदा हुई जो सारे जगत को व्याप्त कर रही है । दधीच की हड्डी से सारे दानवों का नाशक वज्र बनाया गया ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

भगवान् के सभी अवतार धर्म स्थापना और अधर्म का नाश करने के लिए हुए । दुर्गा का अवतार तो विशेषतया असुरता से जूझने के लिए ही हुआ ।

इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति ।
तदा तदावतीर्याहं करिष्याम्यारिसंक्षयम् ।।

-सप्तशती

जब-जब दानव प्रकृति वाले जोर पकड़ कर सृष्टिकार्य (सामाजिक प्रगति) में रोड़ा अटकायेंगे, तभी मैं प्रकट होकर उनका नाश करूँगी ।

भारतीय धर्म और संस्कृति की जननी गायत्री है । उसे ब्रह्मवर्चस भी कहते हैं । उसमें ब्रह्मज्ञान और ब्रह्म तेज दोनों का समावेश है । उन दोनों ही तत्त्वों की उपासना करने वाला ब्रह्मतेज सम्पन्न हो जाता है । इस तथ्य को शतपथ ब्राह्मण में इस प्रकार कहा गया है-

तेजो वै ब्रह्मवर्चसं गायत्री। तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्वी भवति।।

-शतपथ

"गायत्री ही तेज और ब्रह्मवर्चस स्वरूप है । उसका सदैव अनुष्ठान करने से तेजस्वी और ब्रह्मवर्चस्वी बनता है ।"

सत्प्रवृत्तियों का प्रसार एवं प्रतिष्ठापना एवं दुष्प्रवृत्तियों का निष्कासन, विनाश ही धर्म का मूल उद्देश्य है । इस तथ्य को जो समाज जितना हृदयंगम कर तदनुरूप जीवन शैली में इनका समावेश करेगा, वह उतना ही सशक्त, समुन्नत एवं शालीन बनेगा । यदि वह इस परिवर्तन के लिए तैयार नहीं होता तो उसे भी विज्ञान की टेढ़ी आँख का कोपभाजन बनने के लिए तैयार रहना पड़ेगा । आधारविहीन धर्म थोड़ी देर ठहर सकता है, विज्ञान की कठोर तर्कशक्ति के आगे उसका यथार्थ स्वरूप ही टिक पायेगा ।

धर्म एक महान् तथ्य और जीवन चेतना का यथार्थ विज्ञान है । उसके बाह्याभ्यान्तर दोनों ही स्वरूप व्यक्ति और समाज दोनों के लिए कल्याणकारी होते हैं । ऐसे महान् तत्त्व को दिमागी फितूर नहीं अपितु श्रद्धा के रूप में देखा, परखा और धारण किया जाना चाहिए ।

निराली-अनुपम है, धर्म की भाषा

धर्म की अपनी भाषा है, जिसकी तुलना सामान्य बोलचाल के शब्दों से कदापि नहीं की जा सकती । धर्म को भाव-सम्वेदनाओं का उद्गम स्रोत कहा जाता है । वह उपदेश नहीं उपचार है, जिसके सहारे दिव्य-चक्षुओं पर चढ़ी हुई धूल को दूर किया जा सकता है । भाव-तरंगों को सुविकसित कर लेने पर ही धर्म की अनुभूतियों का आनन्द ले सकना सम्भव है ।

'लैंग्वेज ट्रुथ एण्ड लॉजिक' नामक कृति में सुप्रसिद्ध मनीषी ए० जे० एअर ने 'सत्यापन सिद्धान्त' का प्रतिपादन करके समूची मानव जाति के अन्तराल में यह मान्यता बिठाने का प्रयत्न किया है कि धर्म की भाषा निरर्थक नहीं वरन् अर्थपूर्ण और महत्त्वपूर्ण है । गणित के वाक्यों के साथ इसकी संगति नहीं बैठती । वे तो प्रायः विश्लेषणात्मक स्तर के ही हुआ करते हैं । दो और दो मिलकर चार होते हैं । धार्मिक वाक्यों के निर्माण में इस तरह की कोई नियमावली लागू नहीं होती । ईश्वर सत्य है, प्रेम है, आदि वाक्यों की व्याख्या-विवेचना गणितीय नियमों को आधार मानकर नहीं की जा सकती । परमात्मसत्ता में आस्था और उसके आदर्शों के अनुरूप अपने को ढालने की भावनाएँ ही इस भाषा को सुन-समझ सकती हैं ।

कुछ लोगों का कथन है कि नैतिकतापूर्ण वाक्यों को ही धार्मिकता की परिधि में सम्मिलित किया जा सकता है, पर यह भी एक प्रकार की भ्रान्तिमूलक मान्यता ही समझी जावेगी । धार्मिक वाक्य नैतिक वाक्यों से सर्वथा भिन्न स्तर के होते हैं । नैतिकता का स्वरूप तो योजना बनाने वाला जैसा होता है । 'चोरी नहीं करनी चाहिए ' वाले वाक्य को पढ़कर व्यवहार के किसी नियम विशेष का बोध भर होता है । दूसरे शब्दों में इसे धार्मिक प्रवृत्ति को उत्पन्न करने वाला उत्प्रेरक भी कहा जा सकता है । दार्शनिक पॉल स्मिथ ने 'रिलीजियस नौलेज' नामक पुस्तक में इस तथ्य की पुष्टि करते हुए बताया है कि धार्मिक अनुभूतियाँ सामान्य स्तर की नहीं वरन् एक प्रकार की स्वजनित प्रक्रिया हैं, जो व्यक्ति की मनोवृत्तियों को आदर्शवादी उत्कृष्टता की ओर मोड़ने और सन्मार्ग पर प्रेरित करने में महती भूमिका निभाती हैं ।

धार्मिक भाषा का अपना पृथक् अस्तित्व है । इसके प्रयोग की विधि-व्यवस्था वैज्ञानिक प्रयोग-परीक्षणों से बिल्कुल भिन्न है । उदाहरण के लिए, ईसामसीह ईश्वर के पुत्र और राम दशरथ के पुत्र हैं । दोनों वाक्यों में 'पुत्र' शब्द का प्रयोग तो हुआ है, पर विवेक दृष्टि से देखा जाय तो प्रतीत होता है कि पहले वाक्य में 'पुत्र' का अर्थ असामान्य है तो दूसरे में लौकिक या सामान्य । इसी तरह जब हम कहते हैं 'कि ईश्वर का निर्देश है' तो हमारे कहने का अभिप्राय यह नहीं कि ईश्वर हमारे जैसा हाड़-माँस का कोई जीव है जो बोलने की शक्ति रखता और निर्देश देता है । 'ऐन एनालिटिकल फिलॉसफी ऑफ रिलीजन' में डब्लू० एफ० गुरजीएफ ने धार्मिक भाषा की अभिवृत्ति को एक ऐसी स्ववृत्ति बताया है, जो मनुष्य के सर्वांगीण व्यक्तित्व के विकास में सहायक होती और सामान्य से असामान्य अवस्था में जा पहुँचाती है । इसी को संप्रत्यात्मक अभिवृत्ति (कॉन विक्शनल ऐटिच्यूट) के नाम से जाना जाता है ।

अब प्रश्न उठता है कि धार्मिक भाषा को कैसे सुना-समझा जाय ? तामस एक्वीनस ने अपने ग्रन्थ 'सुम्नाथियो-लॉजिका' में बताया है कि धर्म की लिपि एवं शैली प्रतीकात्मक एवं साम्यानुमानिक हुआ करती है । उनके मतानुसार जब हम किसी भी शब्द को पूर्ण परमेश्वर तथा अपूर्ण मनुष्य दोनों के लिए प्रयुक्त करते हैं, तो उस शब्द

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

का अर्थ दोनों ही अवस्थाओं में एक जैसा नहीं हो सकता । ईश्वर अच्छा है और वह मनुष्य एक अच्छा व्यक्ति है । दोनों वाक्यों में 'अच्छा' शब्द का प्रयोग तो अवश्य हुआ है, पर विविधता और भिन्नता जमीन-आसमान जितनी स्पष्ट परिलक्षित होती है । ईश्वर की अच्छाई और मनुष्य की अच्छाई में सामान्य नहीं असामान्य भिन्नता होती है । परमात्मतत्त्व गुणातीत है, इसलिए उसके गुणों को वर्णन करने के लिए 'ऐनालॉजिकल' यानि साम्यानुमानिक पद्धति का प्रयोग करना ही अधिक प्रासंगिक एवं प्रामाणिक होगा ।

वस्तुत: धार्मिक भाषा का स्वरूप प्रतीकात्मक होने की विवेचना ही अधिक विवेकसंगत सिद्ध होती है । पॉल टीलिख ने 'डाइनेमिक्स ऑफ फेथ' पुस्तक में अपने अभिमत प्रकट करते हुए बताया है कि प्रतीक एक प्रकार का चिह्न है जो अपने से परे किसी वस्तु, व्यक्ति तथा सत्ता की ओर संकेत करता और उनके अस्तित्त्व का प्रमाण परिचय देता है, लेकिन अपनी स्वयं की सत्ता को वह प्रकट नहीं होने देता । ध्यान रहे कि प्रतीक कोई सामान्य चीज नहीं है । यह अपरिवर्तनीय और वास्तविक है । वस्तु या व्यक्ति की सच्चाई को ही दर्शाता है । सफेद झंडा को मात्र साधारण-सा कपड़ा ही नहीं समझ बैठना चाहिए, वह तो शान्ति का प्रतीक है । इसमें शब्द रूपी आकृति से भावना रूपी प्रकृति की महत्ता और उपयोगिता अधिक होती है । प्रतीक प्रतीक्य के रूप में व्यक्ति की भावनाओं में समाविष्ट होकर अपनी सत्ता को प्रकट करता है । चिह्न का काम तो केवल संकेत भर करने का होता है, लेकिन प्रतीक सत्ता के प्रतिनिधित्व सँभालने की जिम्मेदारी का निर्वाह भली प्रकार करता है । वस्तुत: इस प्रतीकात्मक प्रकटीकरण की प्रक्रिया को जितनी सरलता से धार्मिक भाषा में किया जा सकता है कदाचित ही किसी अन्य प्रकार की शैली में सम्भव हो सके ।

ऐसे भी लोग हैं, जिन्होंने धार्मिक भाषा में विरोधाभास उत्पन्न होने का भ्रम फैलाया है, पर वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं है । विरोधाभास को विरोध नहीं कहा जा सकता । ईश्वर सर्वव्यापी है और कहीं भी नहीं' । 'ब्रह्माण्ड से भी बड़ा और अणु से भी छोटा ' आदि कुछ उक्तियाँ ऐसी हैं, जिन्हें धर्म की भाषा में विरोधाभास के नाम से पुकारा जाता है । ' फिलॉसफीकल फ्रैगमेंट्स' नामक पुस्तक में सी० किर्केगार्ड ने इसे विचारशील लोगों की जिज्ञासा का मूल स्रोत बताया है, जिसके अभाव में उपयुक्त एवं औचित्यपूर्ण धार्मिक अनुभूतियाँ हो ही नहीं सकतीं ।

भारतीय दार्शनिकों में डॉ० राधाकृष्णन् का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है । 'कंटेम्परेरी इन्डियन फिलॉसफी' में उन्होंने लिखा है कि परमसत्ता असीम और अखण्ड है, जिसके बारे में शाब्दिक कथन कदापि सम्भव नहीं हो सकता । शब्दों की अभिव्यक्ति तो केवल देश, काल और परिस्थितियों की घटनाओं तक ही सीमित है । परमसत्ता को एकमात्र प्रतीकात्मक शैली में ही अनुभव किया जा सकता है । उसी प्रकार धर्म भी अनादि और अनंत है, तदनुरूप ही उसकी भाषा का निर्माण हुआ है । भले ही इसका कोई स्वतन्त्र शब्दकोष नहीं बन पाया हो, फिर भी इसकी गरिमा को विस्मृत नहीं किया जा सकता । अधार्मिक प्रवृत्ति के लोग भले ही इसके प्रति अनदेखा-अनुसना रुख अपनाकर बैठते और इसकी भ्रांत, निरर्थक अथवा पहेली जैसी भ्रामक कल्पना करते रहें, पर हर धर्मपरायण व्यक्ति को इसकी अभिव्यक्ति एवं अभिव्यंजनाओं को समझकर अपने चिन्तन और चरित्र को ढालना चाहिए । ईशोपनिषद् में ठीक ही लिखा है कि यह गतिवान है और अगतिवान भी, दूर भी है और निकट भी, सबमें समाहित है और सबसे बाहर भी । धर्म के इस गुह्य रहस्य को समझकर ही लोग सुख-शान्ति का अनुभव करते हैं और जीवन-लक्ष्य की प्राप्ति भी, । वस्तुत: धार्मिक भाषा एक ऐसी सुनहरी चाबी है, जो अज्ञेय मंदिर के स्वर्ण द्वार को खोलती और परमानन्द की अनुभूति कराती है ।

मौलाना रूप ने अपनी विश्व प्रसिद्ध पुस्तक 'मसनवी' में कहा है कि लफंगों में मत फँस, मानी की तरफ जा अर्थात् भाषा की शब्दावली के भ्रम में न पड़कर व्यक्ति के मनोभावों को समझना ही विवेकशीलता का परिचायक है । चिकित्सा की अनेकानेक प्रणालियों को अपनाकर उपचार का उपक्रम बिठाने वाले चिकित्सक अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् शब्दावली अथवा भाषा का प्रयोग करके ही रोगी को परामर्श देते हैं । चिकित्सा पद्धतियों की विविधता होते हुए भी उपचार उपक्रम एक ही है । ठीक उसी प्रकार धर्म की भाषा का भाव भी एक ही है । मौलवी, पंडित, पादरी अलग-अलग दिखते हुए भी एक ही हैं । एक सूफी संत ने ठीक ही कहा है "अपने सीने में उससे जायद, जो बात वाइज किताब में है ।" अर्थात् तू किताबों के शब्दों और रस्मों से खुदा को नहीं पा सकता, अपने दिल की किताब को पढ़, क्योंकि इससे बढ़कर कोई किताब नहीं है । अत: व्याकरण के जानने वालों को चाहिए कि वे शब्दों के दृश्य कलेवर पर अधिक ध्यान न देकर उसके मूल भाव को समझ कर ही आचरण करें । यही धर्म है और यही उसकी भाषा का सच्चा स्वरूप ।

धर्म का व्यावहारिक स्वरूप

अमेरिका का एक व्यक्ति आरम्भ में तो गरीब था, पर पीछे वह उद्यमपूर्वक व्यवसाय करके धनवान बना । पैसा तो उसके पास बहुत हो गया, पर यह नहीं समझ सका कि इसका सही उपयोग क्या करना चाहिए ? चाटुकार दिन भर पीछे लगे रहते और तरह-तरह के षड्यन्त्र रचकर उसे ठगते रहते । पीछे उसे पछताना पड़ता । पैसे को तिजोरियों में रखा, तो वहाँ चोरों ने ऐसी तरकीबें निकालीं जिससे सुरक्षा का उद्देश्य पूरा न हुआ । अपनी नासमझी और चोरों की चालाकी पर उसे बहुत खीज आती । खीज कई बार तो इतनी अधिक बढ़ जाती कि सारा कारोबार समेटकर

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

कहीं एकान्त में चले जाना या आत्म-हत्या करने को मन करता ।

इस बीच उसके एक मित्र ने उसे अच्छी किताबें दीं, जिनमें धर्म और विवेक के समन्वय से सूझ-बूझकर कदम उठाने और औचित्य का पग-पग पर सहारा लेने की सलाह दी गई थी । इस सलाह को उसने अपनाया, सभी चाटुकार छूट गये और चोरों को घात लगाने का अवसर ही नहीं रहा । साथ ही कारोबार पहले की अपेक्षा कहीं अधिक बढ़ गया । वह अनुभव करता था कि मेरे जीवन का कायाकल्प 'धर्म विज्ञान' ने कर दिया । यह रास्ता दूसरों को भी मिले, तो उनका भी भला हो सकता है ।

पहले वह धर्म को भी अन्ध-विश्वास मानता था और सोचता था कि यह भी भोले लोगों को बहकाने का एक तरीका है । पीछे जब उसने धर्म का तत्त्वज्ञान गम्भीरता से पढ़ा तो उसे पता चला कि वह पूर्णतया समझदारी और सचाई पर अवलम्बित है । उसने इस विषय पर जितनी किताबें मिल सकीं ढूँढ़-ढूँढ़कर पढ़ डालीं। विचारशील विद्वानों के साथ जितना सम्पर्क साध सका, उसका एक भी अवसर उसने नहीं गँवाया । उसकी सभी बाहरी समस्याओं और भीतरी उलझनों का समाधान हो गया ।

पर उसने देखा कि इस तरह के विचारशील साहित्य का सृजन ही नहीं हुआ है, जो धर्म के व्यवहारवादी पक्ष को सर्वसाधारणों के लिए प्रस्तुत कर सके और बिना धर्म के जो हानियाँ उठानी पड़ती हैं उनसे बचा सके। उसे यह विषय इतना प्रिय लगा कि उसे व्यवसाय, व्यवहार और आरोग्य से भी अधिक महत्त्वपूर्ण होने पर भी उस विषय पर नहीं के बराबर साहित्य छपा है ।

इस कमी की पूर्ति के लिए रोपरमार्टन नामक इस व्यक्ति ने अपनी समस्त पूँजी से 'फाउण्डेशन ऑफ रिलीजन एण्ड फिलासॉफी' नामक संस्था का निर्माण किया । इसका उद्देश्य एक ही है कि 'धर्म का व्यावहारिक जीवन में स्थान' विषय पर साहित्य का लेखन और प्रकाशन किया जाय ताकि सर्वसाधारण को यथार्थता से अवगत होने का अवसर मिले। धर्म को कोई रहस्यवाद समझता है तो कोई पाखण्ड, किसी की दृष्टि से मूर्खों का धूर्तों द्वारा मूर्ख बनाने की कला का नाम धर्म है ।

ईश्वर से मिलन, दर्शन, मुक्ति, मोक्ष, स्वर्ग, नरक की चर्चा धर्म के नाम पर आये दिन होती रहती है । यह सभी विषय ऐसे हैं जिनके प्रत्यक्ष प्रमाण कुछ भी न होने के कारण वे विशुद्ध रूप से मनुष्य की श्रद्धा के ऊपर अवलम्बित हैं । यदि श्रद्धा हो तो यह सभी विषय किसी को सन्तोष दे सकते हैं और प्रिय लग सकते हैं । यदि अश्रद्धा हो तो इन प्रसंगों में से एक भी ऐसा नहीं है, जिसे तात्कालिक जीवन में उनका कोई प्रत्यक्ष प्रभाव देखा एवं प्रमाण पाया जा सके ।

श्री मार्टन चाहते हैं कि उनकी पूँजी में जो भी प्रकाशन हो, वह ऐसा हो जिसमें व्यावहारिक जीवन में आये दिन प्रस्तुत होने वाली कठिनाइयों और समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया जा सके । प्रगतिशील जीवन के लिए जिन सिद्धान्तों एवं नीति-व्यवहारों की आवश्यकता है, उन सबका समावेश धर्म के अन्तर्गत रहे और वे सभी प्रतिपादन ऐसे हों जो बुद्धिजीवियों को मान्य हों ।

यह प्रसंग बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है । यदि उसे ठीक ढंग से प्रस्तुत किया जा सका तो न तो धर्म अन्ध-विश्वास रहेगा और न कलह का कारण । ऐसी स्थिति में धर्म सर्वप्रिय भी होगा और सर्वमान्य भी ।

धर्म उपयोगी भी है और आवश्यक भी

धर्म को जीवन का अनिवार्य अंग मानते हुए टालस्टाय ने अपनी पुस्तक "धर्म क्या है" में लिखा है कि "जो लोग धर्म को बहिष्कृत करके केवल विज्ञान को ही अपने जीवन का पथ-प्रदर्शक बनाना चाहते हैं, वह बहुत बड़ी भूल करते हैं । भौतिक विज्ञान केवल उन बातों की ही मीमांसा करता है, जो वर्तमान काल में उपस्थित हैं, वह जीवन की अगणित आने वाली समस्याओं के समाधान की योग्यता नहीं रखता, क्योंकि वैज्ञानिक स्वयं इन प्रश्नों को अपनी सीमा के बाहर समझते हैं ।"

धर्म जीवन का प्राण है । प्राण वायु के समान ही इसके बिना एक क्षण भी रह सकना सम्भव नहीं है । धर्म उतना ही व्यापक है, जितना कि यह सृष्टि । जीवन का कोई भी पक्ष ऐसा नहीं जो इसके अन्दर न आता हो । धर्म का सम्बन्ध मानव जीवन के साथ आदिकाल से है । किसी न किसी रूप में वह मानव जीवन के साथ सदा जुड़ा रहा है । टालस्टाय अपनी उपरोक्त पुस्तक में लिखते हैं कि कभी कोई समय या देश ऐसा नहीं रहा जब या जहाँ मनुष्य बिना धर्म के रह सका हो । यह कैसी अविवेक पूर्ण बात है कि आज का तथाकथित बुद्धिजीवी यह कहता है कि हम बिना धर्म के रह सकते हैं तथा हमको रहना चाहिए ।

इस प्रकार के कथन के बाद भी धर्म वर्तमान में भी आदिकाल के समान बना हुआ है । वह मानव जाति का संचालक और हृदय है । जिस प्रकार हृदय के बिना जीवन असम्भव है, उसी प्रकार बिना धर्म के मनुष्य का काम नहीं चल सकता । समय-समय पर परिस्थितियों के अनुरूप धर्म के स्वरूप में अन्तर भले ही आता रहा हो, किन्तु धर्म के सिद्धान्त सनातन रूप में मनुष्य के साथ सदा जुड़े चले आ रहे हैं ।

धर्म की व्यापकता एवं महानता के आधार पर ही उसकी महिमा का गुणगान किया गया है । शास्त्रकार एवं आप्तवचन धर्म को जीवन की सर्वोपरि एवं अनिवार्य आवश्यकता बताते हैं । समस्या तब उत्पन्न होती है, जब धर्म को पूर्व प्रचलित क्रिया-कृत्यों, पूजा-उपचारों अथवा साम्प्रदायिक सीमाओं में कैद करने का प्रयास किया जाता है । यह प्रयास अविवेकपूर्ण है तथा उपहासास्पद भी । सम्पूर्ण हवा को, प्रकाश को एक निश्चित कमरे में केन्द्रीभूत करने का प्रयास किया जाय तो यह असम्भव ही होगा ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

वर्तमान समय में धर्म से बौद्धिक वर्ग के नाक-भौं सिकोड़ने के दो कारण हैं- (१) धर्मतन्त्र की विकृतियाँ, (२) अन्धानुकरण की प्रवृत्ति । निस्सन्देह धर्म के नाम पर फैले पाखण्ड ने जनसामान्य को सदियों से दिग्भ्रान्त किया है । श्रद्धा के नाम पर तथाकथित धर्माचार्यों ने जन-भावना का दोहन किया है । विश्वास के स्थान पर अन्ध-विश्वास पनपा है । कभी तो साम्प्रदायिक भावना को लेकर उपद्रव होते देखे जाते हैं । हिंसात्मक गतिविधियाँ तक अपनायी जाती हैं ।

इतिहास साक्षी है कि धर्मोन्माद से ग्रस्त व्यक्तियों ने किस प्रकार अपने से भिन्न विचार वालों पर अत्याचार किये और रक्त की नदियाँ बहाईं । इस प्रकार की विकृतियों को देखकर एक बुद्धिजीवी का घृणा करना स्वाभाविक है । मानवीय मस्तिष्क की बनावट की विशेषता के साथ एक दुर्बलता यह जुड़ी है कि वह काले पक्ष पर अधिक ध्यान देती तथा उसे ही तथ्य मान लेती है ।

विकृति को ही धर्म का स्वरूप मान लिया जाय तो यह भारी भूल होगी । यह घृणा उसी प्रकार है जैसे कोई भूखे व्यक्ति को अभक्ष्य खाते देखकर यह कहे कि भोजन करने से इतने उपद्रव होते हैं इसलिए मनुष्य को भोजन त्याग देना चाहिए । विकृतियाँ अपवाद हैं, तथ्य नहीं । यह अपवाद तो प्रत्येक क्षेत्र में देखा जा सकता है । वस्तुतः होना यह चाहिए कि देखने वाला उस अभक्ष्य भोजन को रोके । उसकी हानियों को बताये । बन पड़े तो रोटी की व्यवस्था बनाये, अन्यथा रोटी खाने की सलाह दे । धर्मतन्त्र की विकृतियों को देखकर उलाहना तो सभी देते रहते हैं, किन्तु समाधान देने अथवा धर्म के सही स्वरूप को प्रस्तुत करने का प्रयास नहीं करते हैं । उल्टे धर्म की सनातन गरिमा पर दोषारोपण करने एवं उनकी अनुपयोगिता सिद्ध करने का दुस्साहस करते देखे जाते हैं ।

धर्म क्षेत्र की विकृतियों का कारण अधर्म है, न कि धर्म । अज्ञानवश विकृतियों के कलेवर को ही कुछ लोग धर्म समझ बैठते हैं तथा यह मान लेते हैं कि धर्म मनुष्य के लिए उपयोगी नहीं हो सकता । चिरकाल से चली आ रही परम्पराओं को, औचित्य एवं अनौचित्य पर विचार किये बिना अपनाया जाना भी बौद्धिक वर्ग की घृणा का एक कारण रहा है । पूजा-पाठ के क्रिया-कृत्यों में सब धार्मिक सिद्धान्तों, शिक्षाओं एवं प्रेरणाओं की उपेक्षा कर दी जाती है तथा उन क्रिया-कृत्यों को ही सर्वांगपूर्ण होने की मान्यता दी जाती है, तो विचारशीलों द्वारा सन्देह करना स्वाभाविक ही है, किन्तु इतने मात्र से धर्म की अनुपयोगिता सिद्ध नहीं हो जाती है । स्वरूप का सही प्रस्तुतीकरण न होने का दोष प्रस्तुतकर्त्ता का है न कि तथ्य का ।

कभी-कभी कुछ स्वार्थी व्यक्ति अपने संकीर्ण स्वार्थों की पूर्ति के लिए भी इस प्रकार के कृत्यों को सर्वांगपूर्ण बताते हुए उन्हें प्रोत्साहन देते हैं । साम्प्रदायिकता की भावना को जन्म देने तथा फैलाने में भी इन्हीं दूषित मनोभूमि के व्यक्तियों का हाथ होता है । भोले एवं अज्ञानी प्रकृति के लोगों के समक्ष जब अधर्म को धर्म का जामा पहनाकर प्रस्तुत किया जाता है, तो वे अधर्म को ही धर्म समझ लेते हैं । विश्व में जितने भी साम्प्रदायिक दंगे हुए हैं, उनका अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि इन सभी घटनाओं का मुख्य कारण अज्ञान था । तथाकथित धार्मिकों ने भोली जनता के अज्ञान का लाभ उठाकर जन श्रद्धा का भावनात्मक शोषण किया । उन्हें हिंसा तक करने के लिए प्रोत्साहित किया तथा कहा कि धर्म की यही माँग है । वस्तुतः यह उनकी निजी कुसंस्कारिता के प्रकटीकरण का ही एक तरीका था ।

हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई, बौद्धों के बीच जो परस्पर मतभेद एवं द्वेष दिखायी पड़ता है, उसका कारण धार्मिक सिद्धान्त नहीं वरन् उनकी असम्बद्ध मान्यताएँ हैं । स्वरूप की विभिन्नताओं की बात जाति, वर्ग, परिस्थितियों के अनुरूप तो समझ में आती है, किन्तु जब सिद्धान्त की अनेकता एवं विभिन्नता की बात कही जाती है तो इसे विवेक स्वीकार नहीं करता । संसार के सभी धर्म एकमत से स्वीकार करते हैं कि परमात्मा एक है । उसकी उपासना की पद्धतियाँ भिन्न-भिन्न हो सकती हैं, किन्तु जब ईश्वर, अल्लाह, गॉड में विभेद-विग्रह खड़ा किया जाता है तो कहना पड़ता है कि गलती सिद्धान्तों की नहीं, धर्म की नहीं, वरन् उस अविवेकपूर्ण साम्प्रदायिकता की है जिसने अपनी सीमा में उस विराट् चेतना सत्ता को सिकोड़ने एवं बाँधने की धृष्टता की है ।

धर्म क्षेत्र की विकृति का कारण अज्ञान है। विवेकरहित श्रद्धा ही अन्धश्रद्धा का कारण बनती तथा अधर्म को भी धर्म मान बैठती है, अन्यथा धर्म इतना सशक्त एवं महान् है कि मनुष्य की प्रत्येक समस्या का समाधान प्रस्तुत कर सके, उसके स्वस्थ स्वरूप को जन-सामान्य के समक्ष रखा जा सके, सिद्धान्तों को समझाया जा सके, तो वह जनसामान्य का सर्वांगीण विकास कर सकने में पूर्णतया समर्थ है । आवश्यकता धर्म को अनुपयोगी या अमान्य ठहराने की नहीं, वरन् यह है कि उसका नीति परक उदात्त स्वरूप सर्वसाधारण के सम्मुख प्रस्तुत किया जाय और यह बताया जाय कि उसके साथ किसी प्रकार जुड़ गयी अन्धपरम्पराएँ एवं विकृतियाँ धर्म का अंग नहीं हैं । धार्मिकता की यथार्थता और उसकी दूरगामी प्रतिक्रिया से परिचित न होने के कारण ही लोग उसे अपनाने में उपेक्षा दिखाते हैं । यदि धर्म-धारणा को व्यावहारिक जीवन में समाविष्ट करके उत्कृष्ट गतिविधियाँ अपनाने वाले सच्चे धार्मिक व्यक्ति अपना उदाहरण प्रस्तुत कर सकें तो जन-साधारण को यह विश्वास करने में तनिक भी कठिनाई न होगी कि धार्मिकता, प्रतिगामिता नहीं, वरन् सच्चे अर्थों में प्रगतिशीलता है । ऐसी प्रगतिशीलता जिस पर व्यक्ति और समाज का कल्याण सुनिश्चित रूप से आधारित है ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

धर्म के बिना हमारा काम नहीं चलेगा

महाभारत में कहा है- ''धर्म ही सत्पुरुषों का हित है, धर्म ही सत्पुरुषों का आश्रय है और चराचर तीनों लोक धर्म से ही चलते हैं ।''

हिन्दू धर्म-शास्त्रों में धर्म का बड़ा महत्त्व है, धर्महीन मनुष्यों को शास्त्रकारों ने पशु बतलाया है । 'धर्म' शब्द का अर्थ, धारण करना या पालन करना होता है । जो संसार के समस्त जीवों के कल्याण का हेतु हो, उसे ही धर्म समझना चाहिए, इसी बात को लक्ष्य में रखते हुए निर्मलात्मा त्रिकालज्ञ ऋषियों ने धर्म की व्यवस्था की है ।

धर्म चार प्रकार के माने गये हैं-वर्ण धर्म, आश्रम धर्म, सामान्य धर्म, साधन धर्म । ब्राह्मणादि वर्णों के पालन करने योग्य भिन्न-भिन्न धर्म, वर्ण धर्म और ब्रह्मचर्यादि आश्रमों का पालन करने योग्य धर्म 'आश्रम धर्म' कहलाते हैं । 'सामान्य धर्म' उसे कहते हैं, जिसका मनुष्य मात्र पालन कर सकते हैं, उसी का नाम 'मानव धर्म' है । आत्मज्ञान के प्रतिबन्धक प्रत्ययों की निवृत्ति के लिए जो निष्काम कर्मों का अनुष्ठान होता है, वह 'साधन धर्म' कहलाता है । इन चारों धर्मों के यथायोग्य आचरण से ही हिन्दू धर्म-शास्त्रों के अनुसार मनुष्य पूर्णता को प्राप्त कर सकता है । इनमें से सामान्य धर्म विशेष महत्त्व रखता है, क्योंकि उसका पालन हर समय और सभी कर सकते हैं, परन्तु वर्णाश्रम धर्म का पालन अपने-अपने स्थान और समय पर ही किया जा सकता है । ब्राह्मण शूद्र का या शूद्र ब्राह्मण का धर्म स्वीकार नहीं कर सकता, इसी प्रकार गृहस्थ संन्यासी का या संन्यासी गृहस्थ का धर्म नहीं पालन कर सकता, परन्तु सामान्य धर्म के पालन का अधिकार प्रत्येक नर-नारी को है, चाहे वह किसी भी वर्ण या आश्रम का हो । इसका तात्पर्य यह नहीं कि सामान्य धर्म के पालन करने वाले को वर्णाश्रम धर्म की आवश्यकता ही नहीं है। आवश्यकता सबकी है । अतएव किसी का भी त्याग न कर सबका समुच्चय करके यथाविधि योग्यतानुसार प्रत्येक धर्म का पालन करना चाहिए।

शास्त्रकारों में से किसी ने सामान्य धर्म के लक्षण आठ, किसी ने दस, किसी ने बारह, किसी ने पन्द्रह, सोलह या इससे भी अधिक बतलाये हैं । श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध में इस धर्म के तीस लक्षण बतलाये हैं और वे बड़े ही महत्त्व के हैं । भगवान् मनु के बतलाये धर्म के दस लक्षण हैं-धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध ।

सत्य बात तो यह है कि यही मनुष्य जाति का स्वाभाविक धर्म है । मनुष्य में मनुष्यत्व का विकास इन्हीं लक्षणों के आचरण से हो सकता है ।

धर्म और ईश्वर का विरोध करने वाले लोग कहते हैं कि धर्म को मानने की क्या आवश्यकता है ? धर्म को मानने वाले लोग धर्म का यही तो लाभ बताते हैं कि उससे हमारे अन्दर सत्य, न्याय, दया, तप, त्याग और उपकार आदि चरित्र सम्बन्धी सद्गुण उत्पन्न होते हैं । हम इन चरित्र सम्बन्धी सद्गुणों को अपने भीतर धर्म के बिना भी उत्पन्न कर सकते हैं । अनेक नास्तिक लोगों में ये सद्गुण प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं । हम अपने व्यवहार में इन सद्गुणों को चरितार्थ करते रहेंगे । हमें धर्म को मानकर आत्मा-परमात्मा, लोक-परलोक और कर्मफल आदि के जंजाल में पड़ने की क्या आवश्यकता है ?

धर्म विरोधियों का यह कथन ऊपर से सुनने में रोचक प्रतीत होता है । गहराई में विचार करने पर पता लगता है कि धर्म को माने बिना, आत्मा-परमात्मा की सत्ता और लोक-परलोक तथा कर्मफल के सिद्धान्त को माने बिना चरित्र सम्बन्धी सद्गुण खड़े नहीं रह सकते । हमारी नैतिकता आत्मा-परमात्मा, लोक-परलोक तथा कर्मफल के सिद्धान्त पर टिकी हुई है ।

यदि हम नास्तिक लोगों की बात मानकर भौतिकवादी बन जायें और मानने लगें कि आत्मा नाम की कोई सत्ता नहीं है । जिसे हम आत्मा कहते हैं, वह तो जड़ पदार्थों के संयोग का परिणाम है तो हमारी नैतिकता ठहर न सकेगी ।

जब हमारा केवल यही जन्म है और इसी में हम जो कर लें और जो सुख भोगना चाहें जो भोग लें तो हममें बुरे कर्मों से बचने की प्रवृत्ति न होगी । तब हमारे अन्दर यह प्रवृत्ति जाग उठेगी कि यह थोड़ा-सा जो समय हमारे पास है, जिसमें हम जो सुख भोगना चाहें भोग सकते हैं । इसलिए जैसे भी हो सके हमें अपने जीवन को सुखी बनाकर रखना चाहिए । इस प्रवृत्ति के वशीभूत होकर हम अपने जीवन को सुखी बनाने के लिए बुरे कर्म करने से भी नहीं चूकेंगे । बुरे कर्मों का दण्ड देने वाला परमात्मा तो कोई है नहीं, जिसका हमें भय रहे । अगला जन्म भी कोई नहीं, जिसमें हमें अपने बुरे कर्मों का फल भोगना पड़े तो हमें बुरे कर्मों से बचकर सच्चरित्र बनने की प्रेरणा क्यों होगी ?

आत्मा-परमात्मा की सत्ता, पुनर्जन्म और कर्मफल सिद्धान्त को न मानकर केवल यही एक जन्म मानने की अवस्था में तो हमारा उद्देश्य केवल अपने इस वर्तमान जीवन को सुखी बनाना रह जायगा । तब हमें अपने जीवन को सुखी बनाने के लिए झूठ, फरेब, धोखाधड़ी और अन्याय, अत्याचार का भी सहारा लेना पड़े तो ले लेना चाहिए, इस प्रकार के दुराचरणों से हमें क्यों रुकना चाहिए ? भौतिकवादी नास्तिकों के पास इस प्रकार के प्रश्नों का कोई समाधान नहीं है ।

फ़िर एक बात और यहाँ विचारणीय है, वह यह कि आत्मा और परमात्मा को न मानने की अवस्था में अच्छे और बुरे का भेद कैसे किया जायेगा ? हमारे किसी कर्म को अच्छा या बुरा कहकर उसकी अच्छाई या बुराई का निर्णय करने वाला कोई परमात्मा या आत्मा तो है नहीं, भौतिकवादी नास्तिकों के मत में परमात्मा की सत्ता तो

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

बिल्कुल नहीं है, आत्मा की भी वास्तविक सत्ता नहीं । उनकी दृष्टि में आत्मा भी जड़ है । जिस आत्मा की कोई पृथक् सत्ता नहीं है, जो हमारे शरीर के प्राकृतिक जड़ पदार्थों का ही एक गुण मात्र है और जड़ है, वह आत्मा हमारे कर्मों की अच्छाई-बुराई का निर्णय किस प्रकार करेगा ? इस प्रकार हमारे कर्मों की अच्छाई-बुराई का निर्णय करने वाली कोई सत्ता न होने से हमारे कोई भी कर्म अच्छे या बुरे नहीं रहेंगे । हमारे सभी कर्म एक जैसे ही हो जायेंगे । हम जैसा चाहें कर लें । हम किसी के किसी भी कर्म को दुराचरण या अनैतिक और सदाचरण या नैतिक न कह सकेंगे ।

धर्म ही मनुष्य का आधार है, धर्म ही जीवन है और धर्म ही मरने पर साथ जाता है । मनु महाराज कहते हैं–पिता, माता, पुत्र, स्त्री और जाति वाले ये परलोक में सहायता नहीं करते, केवल एक धर्म ही सहायक होता है। प्राणी अकेला ही उत्पन्न होता है, अकेला ही मरता है और अकेला ही पुण्य-पाप का भोग करता है, भाई-बन्धु तो मरे शरीर को काठ और मिट्टी के ढेले की तरह पृथ्वी पर छोड़कर वापस लौट आते हैं, केवल धर्म ही प्राणी के पीछे-पीछे जाता है । अतएव परलोक की सहायता के लिए प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा धर्म संचय करें, क्योंकि मनुष्य धर्म की सहायता से कठिन नरकादि से तर जाता है ।

जिस दिन संसार से धर्म को सर्वथा मिटा दिया जायगा, जिस दिन लोग आत्मा-परमात्मा, लोक-परलोक को मानना सर्वथा छोड़ देंगे, जिस दिन कर्मफल सिद्धान्त में लोगों की आस्था न रहेगी, जिस दिन परमात्मा की भक्ति द्वारा परमात्मा के गुणों को अपने भीतर धारण करने वाले धर्मात्मा लोग सर्वथा उत्पन्न होने बन्द हो जायेंगे; उस दिन संसार से सच्चरित्रता उठ जायेगी । आज लोगों में जो सच्चरित्रता दिखाई देती है उसका मूल कारण धर्म ही है ।

नास्तिक लोगों में जो कुछ सच्चरित्रता दिखाई पड़ती है, उसका मूल स्रोत भी धर्म ही है । धर्म द्वारा सिखाये गये परम्परा से चले आ रहे सच्चरित्रता के तत्त्वों को नास्तिक लोगों ने स्वीकार किया है । इसी आधार पर उनका समुदाय, सम्प्रदाय जीवित रह सकने में समर्थ हो रहा है। वस्तुतः धर्म तत्त्व इतना सार्वभौम, सर्वकालीन और शाश्वत् है कि उसे छोड़ देने से नास्तिक, आस्तिक किसी का भी काम नहीं चल सकता ।

धर्म का पालन करने से ही कल्याण है

यतोऽभ्युदय निश्श्रेयस्सिद्धि स धर्मः

अर्थात्– ''धर्म वह है, जिसमें इस लोक में अभ्युदय हो और अन्त में मोक्ष की प्राप्ति हो ।''

इस न्याय के अनुसार जिसने धर्म का पालन किया, वही अपने जीवन को सार्थक बना सका । मनुष्य, पक्षी, पशु आदि सभी अपने-अपने स्वाभाविक धर्म का निर्वाह करते हैं । धर्म ही इस लोक और परलोक का निर्माता है । वही एक ऐसा सुगम मार्ग है, जो जीवन नैया को पार लगाने में सहायक होता है ।

धर्म उस सर्वव्यापक परमात्मा का श्रेष्ठ विधान है । वही सम्पूर्ण जगत को धारण करने वाला है । उसी के सहारे पृथ्वी और आकाश टिके हुए हैं । समुद्र अपनी मर्यादा का उल्लघंन नहीं करता, यह उसका धर्म है । जलवृष्टि करना मेघ का धर्म है । दग्ध करना अग्नि का धर्म है । इसी प्रकार सब अपने-अपने धर्म पर अटल है।

एक बार एक राजा ने अपराधी के तर्क का उत्तर देते हुए कहा–''सर्प का धर्म काटना है, वह मनुष्य को काट खाये तो उसका कुछ अपराध नहीं है । अपराध उस मनुष्य का है, जिसने सर्प के बिल में हाथ डालकर अपने स्वभाव के विरुद्ध कार्य किया ।''

ईश्वर जैसे अनादि और सनातन है, वैसे ही धर्म भी सनातन है । जिसने धर्म के विरुद्ध कार्य किया, वही नष्ट हो गया । रावण, कंस, दुर्योधन आदि अनेक महाबलवानों का उदाहरण दिया जा सकता है, जो धर्म के विपरीत चलकर नष्ट हो गये । उनके कुलों में कोई रोने वाला भी उस समय तो शेष नहीं बचा ।

विभिन्न मतमतान्तरों को धर्म कह दिया गया है । विभिन्न सम्प्रदायों को धर्म कहा गया है । परन्तु न तो मत-मतान्तर धर्म हैं और न सम्प्रदाय ही । वे तो धर्म की ओर ले जाने वाले मार्ग हैं । उनमें से किसी मार्ग को अपना लीजिये, वह आपको एक लक्ष्य की ओर ले जायेगा । उन मार्गों में जो शुभ कर्म हैं, उन्हीं का समूह धर्म है । उसमें जो विभिन्न आडम्बर आदि हैं, वे यथार्थ न होने से त्याज्य हैं । अतः धर्म श्रेष्ठ कर्मों का ही रूपान्तर है ।

मनुष्य यह मान ले कि आत्मा सबकी एक ही है, तो उसकी समझ में यह बात आ जायेगी कि दूसरे को दुःख हुआ तो अपने को ही हुआ । यदि आपने किसी को सुख पहुँचाया तो प्रकारान्तर से अपने को ही पहुँचाया । अर्थात् दूसरे का दुःख-क्लेश अपना ही मानना चाहिए ।

सभी प्राणी अपने-अपने कर्म का फल भोगते हैं । यदि कोई समझे कि आज ही किसी का हाथ काट कर उसका परिणाम देखे कि आज ही मेरा भी हाथ कटता है या नहीं, तो तुरन्त वैसी कोई बात नहीं होगी, परन्तु उसके दुष्कर्म का फल कालान्तर में मिलता अवश्य है । बहुत-सों को तो तत्काल भी मिल जाता है । यह आवश्यक नहीं कि फल उसी प्रकार हाथ कटने से मिले, बल्कि वह किसी भी प्रकार से सही भुगतना अवश्य पड़ता है ।

एक बार की बात है–एक बच्चे को किसी कुत्ते ने काट खाया, लोगों की समझ में कुत्ता पागल नहीं था, अतः बच्चे का साधारण उपचार हुआ और वह ठीक हो गया, परन्तु पाँच-सात वर्ष बाद अकस्मात् उसके शरीर में भीषण दर्द हुआ । डाक्टरों ने बहुत सोच-विचार के पश्चात् निर्णय किया कि इसे कभी पागल कुत्ते ने काटा है, उसी का विष इस समय उभर आया है ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

अब सोचिये कि कब का विष कब उभरा । इसी प्रकार हमारा कब का बुरा कर्म न जाने कब उभर आवे। इसलिये दूसरों के अनिष्ट-चिन्तन से बचना चाहिए। उसका परिणाम अपने लिये ही अहितकर होता है ।

हम सब एक परमात्मा द्वारा उत्पन्न पुत्र हैं, इसलिये परस्पर भाई-भाई हैं, तो एक भाई अपने दूसरे भाई को दु:ख क्यों देना चाहेगा ?

ईश्वर सब का रक्षक है । एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को दु:ख देना चाहे तो, वह दु:खी और निर्बल की सहायता करेगा । भगवान् अत्याचारी का साथ कभी नहीं देते । वे उसी पलड़े पर बैठते हैं जो हल्का हो, परन्तु धर्म उसके साथ होना चाहिए । अधर्मी मनुष्य के वे साथी नहीं हैं । जिसे उसकी आवश्यकता नहीं, उसके पास वे कभी नहीं जाते । सन्तों ने 'निर्बल' के बलराम कहकर इस बात की पुष्टि की है ।

सभी तत्त्वज्ञानी जानते हैं कि परमात्मा सबकी उत्पत्ति, पालन और विनाश भी करते हैं । वही इस जीव को अपनी माया में भ्रमाते और वही उससे निकाल लेते हैं । आप कहेंगे कि जब परमात्मा को ही हमारी चिन्ता है, तो हम क्यों अपनी चिन्ता करें ? आपका यह तर्क ठीक तो है, परन्तु आपने कभी यह सोचा है कि आपके गमनागमन के लिये सुन्दर मार्ग तो बना है, परन्तु उस पर चलना आपको ही पड़ेगा । अपने पाँवों को कष्ट दिये बिना आपका कहीं भी आना-जाना सम्भव नहीं है ।

इससे यह सिद्ध हुआ कि कर्म किये बिना सब निरर्थक है । कर्म ही धर्म है । उसी का पालन करने से सुख-शान्ति मिलेगी । हम जो कुछ करें, उसमें अपना ही लाभ न देखें । आपके कर्म से दूसरों की हानि न हो । लाभ हो तो बहुत ही अच्छा है । लाभ न हो तो हानि भी तो नहीं होनी चाहिए ।

इसे दूसरे प्रकार से समझिये-आपसे किसी को हानि हुई है, उसके मन में द्वेषाग्नि उत्पन्न हो जायगी और जब कभी अवसर मिलेगा, वह आपको भी हानि पहुँचाने का यत्न करेगा । आप चाहें कि आप जिससे द्वेष करते हैं, वह आपसे प्रेम करे, तो यह कभी सम्भव नहीं है । प्रेम के बदले में प्रेम पाया जा सकता है, द्वेष के बदले प्रेम कैसे मिलेगा ?

ऐसे महापुरुष भी हैं, जो द्वेष के बदले में प्रेम प्रदान करते हैं, परन्तु उनकी गणना साधारण मनुष्यों में नहीं की जा सकती । वे तो पहुँचे हुए पुरुष होंगे, जिन्होंने राग-द्वेष को त्याग दिया है । वे प्राणी मात्र के प्रति प्रेम और दया का भाव रखते हैं । उन्हें अपने द्वेष रखने वाले के प्रति शत्रुता नहीं होती और स्नेह करने वाले से प्रेम नहीं होता । उनका धर्म विश्व का कल्याण करने वाला है ।

एक बात और है-आप किसी शत्रु से प्रेम करते हैं, तो वह शत्रु आपसे द्वेष कब तक करता रहेगा ? उसे एक दिन अवश्य झुकना पड़ेगा आपके सामने । वह विवश हो जायगा, अपना शत्रु-भाव त्यागने के लिये । इसमें दोनों का हित भी है, तो क्यों हम ऐसे मार्ग पर चलें जो हमारे लिये अहितकर है ? हम क्यों न उसका और अपना दोनों का कल्याण सोचें ? यदि हम ऐसा आचरण करने लगें तो कोई झंझट ही सामने न आवे, फिर कोई विवाद जीवन के क्षेत्र में बाधक न बने ।

मनुष्य के समान ही पशु-पक्षी आदि को पीड़ित करना भी अधर्म है । जब हमें कोई शक्तिशाली व्यक्ति पीड़ित करे तो हमें स्वयं तो कष्ट होता ही है साथ ही हमारा मन उस पीड़क को कोसता भी है, उसी प्रकार आप जिस निर्बल को सतायेंगे तो वह भी आपको शाप देगा । आपके द्वारा किये गये अन्याय की प्रतिक्रियास्वरूप उसका प्रतिफल भी आपको ही भोगना पड़ेगा ।

आज अत्याचारी अपने अन्याय पर भले ही मुस्करा ले, परन्तु जब अन्त समय आयेगा तो अट्टहास करती हुई मृत्यु अपना भयंकर पंजा तेजी से जकड़ने का यत्न करेगी, उस समय अपने कुकृत्यों पर पश्चात्ताप करने के सिवाय और कुछ भी न बन पड़ेगा ।

परमात्मा द्वारा रची गई सृष्टि में सभी जड़-चेतन प्राणी अपनी-अपनी सामर्थ्यानुसार एक-दूसरे का उपचार करते हैं । वे एक-दूसरे का विनाश नहीं, उत्कर्ष चाहते हैं । जब पशु-पक्षियों तक में उपकार की भावना भरी है, तो हम मनुष्य होकर भी दूसरों का उपकार क्यों न करें ?

हमें परोपकारी बनना चाहिए । दूसरों को कष्ट में पड़ा देखकर उनके साथ सहानुभूति का व्यवहार करें, तो इसमें परमात्मा भी प्रसन्न होते हैं । पड़ोसियों से सद्व्यवहार करना भी हमारे धर्म में सम्मिलित है । इसलिये हमें ऐसी चेष्टा करनी चाहिए, जिससे हमारे द्वारा किसी को कोई कष्ट न होने पावे । हमारे ऋषियों ने मानव धर्म की जो व्याख्या की है, उसका सार यही है कि मनुष्य यदि ईश्वर को मानता है और उसका धर्म में विश्वास है तो उसे सदाचारी, सत्यनिष्ठ और सत्यवक्ता होना चाहिए । दया, प्रेम, क्षमा आदि गुण जिस मनुष्य में हैं, वह सभी का प्रीति-भाजन बन सकता है । अत: अपना कल्याण चाहते हो तो धर्म-मार्ग का अवलम्बन करो । इसी में सब प्राणियों का परम हित है ।

धर्म-रक्षा से आत्म-रक्षा

धर्म एक ऐसा मापदण्ड है जो किसी भी वस्तु के मूलतत्त्व का बोध करता है, जिसके कारण वह वस्तु है । छान्दोग्य उपनिषद् में धर्म की तीन शाखाओं का उल्लेख किया गया है । 'त्रयो धर्मस्कन्धा' जिसमें गृहस्थ, तपस्वी, ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों की विवेचना की गई है । भगवद्गीता तथा मनुस्मृति आदि में धर्म का अभिप्राय जीवन की विभिन्न स्थितियों में अपने-अपने कर्त्तव्य पालन से है ।

धारण करने वाला होने से उसे धर्म कहा गया क्योंकि यह प्रजा को धारण करता है । अर्थात् उसे पुष्ट करता है, समर्थ बनाता है । जो धारण करने में समर्थ है, वही धर्म है ।

संक्षेप में धर्म वह कर्त्तव्य विधान है, जिसके द्वारा जीवन का आन्तरिक एवं बाह्य सभी प्रकार का विश्वास

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

सध सके । शास्त्रीय भाषा में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि प्रयोजनों की प्राप्ति जिस मार्ग पर चलने से हो सके वही धर्म है। धर्म जीवन की साधना का व्यवस्थित विधान है । सभी भाँति उन्नत, विकसित, कल्याणकारी, आनन्दयुक्त जीवन जीने का अर्थशास्त्र है-धर्म। इसीलिये डा० राधाकृष्णन् के शब्दों में, "धर्म की शक्ति ही शक्ति है। धर्म की दृष्टि ही जीवन की दृष्टि है ।" जीवन और धर्म की अनन्यता आवश्यक है, अनिवार्य है । इसलिए बापू ने कहा था-"धर्म जिन्दगी की हर श्वास के साथ अमल में लाने की चीज है ।" क्योंकि धर्म के रूप में ही उन सिद्धान्तों का निर्माण हुआ है, जिनका हमारे दैनिक जीवन में तथा समाज के सम्बन्धों में पालन करना आवश्यक है । स्वामी रामतीर्थ ने धर्म को मनुष्य के चरित्र में अटल बल प्रदान करने वाला बताया है ।

नि:सन्देह धर्म-व्यवस्था मानव-जीवन को सभी भाँति समुन्नत, प्रकाशमान बनाने की पद्धति है । डॉ० राधाकृष्णन् ने कहा है-"धर्म वह आध्यात्मिक अग्नि है जो प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर जलती है, ज्वाला को प्रज्वलित करने में सहायता करती है ।" इसलिये धर्म ही संसार में सबसे श्रेष्ठ है ।

"धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम्।"

धर्म ही संसार में सर्वश्रेष्ठ है । धर्म में ही सत्य की प्रतिष्ठा है । इस तरह धर्म ही मनुष्यता प्रदान करने वाला है । शास्त्रकार ने लिखा है-

आहार निद्रा भय मैथुनानि सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषामधिकोविशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।।

खाने, सोने, डरने, मैथुन के बारे में पशु और मनुष्य परस्पर समान हैं । केवल धर्म ही मनुष्यों में विशेष है । यदि वह भी न रहे तो फिर मनुष्य पशु के समान ही है । धर्म ही मानव-जीवन को संस्कारित कर उसे उत्कृष्ट बनाता है ।

धर्म की धारणा में ये सब अनुष्ठान-गतिविधियाँ आती हैं, जो मनुष्य के जीवन को गढ़ती हैं, उसे बनाती हैं । समाज में प्रत्येक व्यक्ति की इच्छाएँ, आकांक्षाएँ, भिन्न-भिन्न होती हैं । परस्पर विरोधी आवश्यकतायें भी होती हैं, लेकिन धर्म इन सब को नियन्त्रित कर उन्हें जीवन की सही दिशा में प्रेरित करता है । धर्म का नियम जीवन में आध्यात्मिक सत्य की प्रतिष्ठापना करना है, लेकिन संसार से विरक्त कर के नहीं, अपितु जीवन के सम्पूर्ण व्यवसाय, कार्यक्रम को आध्यात्मिक विश्वासों के द्वारा नियन्त्रित कर के आनन्द व्यवसाय, काम आदि सभी की प्राप्ति इस विश्वास के द्वारा कराता है, इन्हें उपेक्षित नहीं बनाता । धर्म जीवन की शाश्वतता को आधार मानकर चलता है । जीवन में इहलौकिक (सांसारिक) अथवा पारलौकिक भेद कोई भेद नहीं है । धर्म, भक्ति और मुक्ति को अलग-अलग नहीं मानता, धर्म दैनिक जीवन के सामान्य व्यवसाय को भी सच्चे अर्थों में भगवान् की सेवा बना देता है । वह काम, अर्थ, मोक्ष का संगम भी है । धर्म सामान्य कृत्यों को भी अपनी विशेषता से मुनियों की साधना की तरह ही प्रभावशाली बना देता है ।

धर्म तपस्या को ही सर्वोपरि नहीं मानता, न शारीरिक सुखों के निष्प्रयोजन परित्याग को महत्त्व देता है । वह जीवन को आनन्दमय देखना चाहता है । आनन्द इन्द्रिय ग्राह्य भी हो सकता है और आत्मिक भी । इस तरह का कोई भी आनन्द धर्म की मर्यादा में निन्दनीय नहीं है । इसी तरह धन-सम्पत्ति आदि भी अपने आप में कोई पाप नहीं है । धर्म इसके लिये रोक नहीं लगाता, लेकिन धन संग्रह करने के उपायों से किसी दूसरे का अहित होता हो तो वह धर्म की दृष्टि में निन्दनीय है । धर्म इस तरह के प्रयत्नों को बुरा बताकर उन पर रोक लगाता है और सही मार्ग बताता है । इसी तरह उत्तम सन्तान लाभ के लिए विवाह करना, धर्म द्वारा अच्छा माना गया है । किसी भी रूप में धर्मपरायणता, सुखभोग, सम्पत्ति, विवाह आदि जीवन की पूर्णता के अवरोधक नहीं हैं, जब वे आत्म-कल्याण और समाज हित के लिये किये जाते हों, लेकिन जब इनका प्रयोजन जीवन की समृद्धि, विकास से दूर हटकर अपने आप में केन्द्रित हो जाता है, तभी ये अच्छे नहीं माने जाते । धर्म आचार का शास्त्र ऐसी अनुमति नहीं देता ।

धर्म सम्पूर्ण जीवन का, हमारे समस्त क्रिया-कलापों का नियंत्रण करता है, आध्यात्मिक मान्यता और विश्वासों के द्वारा । वह आध्यात्मिक मान्यता है-मनुष्य का आत्मिक गौरव । प्रत्येक प्राणी परमात्मा का चैतन्य अंश है । इसीलिये धर्म कहता है-"सब प्राणियों के हृदय में परमात्मा अंश रूप से विराजमान है ।" धर्मशास्त्र के प्रणेता ऋषि ने कहा है-

भगवान् वासुदेवो हि सर्वभूतेष्ववस्थितः ।
एजज्ज्ञानं हि सर्वस्य मूलं धर्मस्य शाश्वतम् ।।

"शाश्वत् धर्म का ही मूल है कि भगवान् वासुदेव ही सर्वभूतों में निवास करते हैं ।"

श्रूयतां धर्म सर्वस्व श्रुत्वा चैवधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।।

"समझ लो धर्म का सार यही है और फिर इसी के अनुसार आचरण करो । दूसरों के प्रति वैसा व्यवहार मत करो जैसा तुम अपने लिये नहीं चाहते ।"

महाभारत में कहा है-

सर्वेषांयःसुहृन्नित्यंसर्वेषांचहितेरतः ।
कर्मणामनसावाचासधर्मंवेदजाजले ।।

-शान्तिपर्व २६१।९

"हमें दूसरों को अपने जैसा ही समझना चाहिए जो अपने मन, वचन, कर्म से निरन्तर दूसरों के कल्याण में लगे रहते हैं, जो सदा दूसरों का मित्र रहता है । हे जाजलि, वह धर्म को ठीक-ठीक समझता है ।"

दूसरे शब्दों में धर्म व्यक्तिगत जीवन के उत्कर्ष के साथ-साथ सामाजिक जीवन की भी विधि-व्यवस्था का इस प्रकार निर्णय करता है कि सभी को जीने, विकसित होने का समानाधिकार मिले। धर्म एक आधार-शास्त्र और पथ-प्रदर्शक है, जिसके द्वारा वैयक्तिक और सामाजिक

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

जीवन में सुख-शान्ति, आनन्द-प्रगति की साधना निर्बाध रूप से की जा सके बिना किसी को हानि पहुँचाये ।

धर्म और मानव जीवन का अनन्य सम्बन्ध है, क्योंकि धर्म ही उन क्रिया, अनुष्ठान, आचार-पद्धति का भण्डार है, जिसके द्वारा मनुष्य को मनुष्य बनाया जा सकता है । इसलिये किसी भी कारण धर्म को नहीं छोड़ना चाहिए। धर्म के लिये मर जाना अच्छा है । गीता कहती है- 'स्वधर्म में निधन श्रेयः ।' महर्षि व्यास कहते हैं-

धर्मएवहतोहन्तिधर्मोरक्षतिरक्षितः।
तस्माद्धर्मंनत्यजामिमानोधर्मोहतोऽवधीत् ॥

"मारा हुआ धर्म ही हमेशा मारता है, हम से रक्षा किया हुआ धर्म ही हमारी रक्षा करता है, इसलिये धर्म का हनन नहीं करना चाहिए, जिससे तिरस्कृत धर्म हमारा विनाश करे ।"

सचमुच अपने धर्म की उपेक्षा करने पर मनुष्य नष्ट हो जाता है । महात्मा गाँधी ने कहा है-"जहाँ धर्म नहीं वहाँ विद्या, लक्ष्मी, स्वास्थ्य आदि का अभाव होता है । रहित स्थिति में बिल्कुल शून्यता होती है ।"

धर्म का अन्धविश्वासों से क्या सम्बन्ध ?

धर्म जीवन की एक परम आवश्यकता है, जीवन सार्थकता की परम साधना है । इहलोक में उन्नति और परलोक में भी कल्याण सधे वह धर्म है । इस व्याख्या या परिभाषा के अनुसार धर्म प्रथा-परम्पराओं में नहीं है, वह उन गुणों के धारण करने में है, जो आत्मिक और पारलौकिक जीवन में कल्याणकर सिद्ध हों । इस स्तर का धर्म जीवन जीने की कला कहा जा सकता है और उसे मनुष्य के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक समझा जा सकता है । जितना सम्मानास्पद और आवश्यक यह वास्तविक धर्म है उतना ही घृणित और हेय है- धार्मिक अविश्वास । अन्न जब भोजन बनकर थाली में आता है, तब वह आदरणीय होता है और उपयोगी भी, पर जब वही पेट में पहुँचने के बाद सड़े हुए मल के रूप में बाहर निकलता है तो घृणित, दुर्गन्धयुक्त और अस्पर्श्य बन जाता है। धर्म के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है । उसे मनुष्य जाति का प्राण कहना चाहिए पर जब वह अज्ञान के आचरण में लपेटा हुआ और धर्म व्यवसायियों द्वारा विकृत किया हुआ होता है तो उसे अन्धविश्वास कहा जाता है ।

इस धार्मिक अन्धविश्वासों ने लोगों का जितना अहित किया है, उतना धर्म ने भी कभी नहीं किया । उदाहरण के लिए प्राचीन-काल में धर्म के नाम पर प्रचलित अन्ध-परम्पराओं ने नर-बलि की प्रथा प्रचलित की और उस मूढ़ता की बलिवेदी पर असंख्यों मनुष्यों का रक्त बहा तथा क्रन्दन से आकाश गूँजा, फिर भी निष्ठुर धर्मभीरुता नहीं पिघली और वह अनर्थ हजारों वर्षों तक चलता रहा । उस धर्मानुष्ठान को करने वाले अपने को धर्मात्मा कहते रहे और आश्चर्य की बात तो यह कि जनता भी उनके कार्यों में आँख मूँदकर सहयोग देती रही । कौन विचारशील व्यक्ति इन प्रथा-परम्पराओं को, जिनमें निष्ठुरता ही भरी हुई है-धर्म कहेगा ? हालांकि सभ्यता के साथ-साथ नर-बलि घटती चली गई । अब उसके विरुद्ध कानून भी बन गये हैं और सभ्य समाज में उसके विरुद्ध वातावरण भी है, विचारशील लोग उसे घृणा की दृष्टि से देखते हैं, पर उसी का छोटा रूप पशु-बलि के रूप में अभी भी विद्यमान है और समझदार कहे जाने वाले विभिन्न धर्मों के तथाकथित धर्मपरायण लोग भी उसे निष्ठुरतापूर्वक अपनाये हुए हैं । उस कुकृत्य को करते हुए उन्हें न लज्जा आती है, न संकोच का ही अनुभव होता है।

इस तरह की निष्ठुर क्रूरता के कितने ही अवशेष यत्र-तत्र विद्यमान मिलते हैं, जो धार्मिक अन्धविश्वासों की क्रूर कथा कहते हैं । उदाहरण के लिए, मैक्सिको के नेशनल म्यूजियम में एक सात फीट ऊँचा गोलाकार पत्थर रखा हुआ है । इसे संसार का सबसे अधिक खूनी पत्थर कहा जाता है । यह पाषाण प्राचीन अजटेक्स राज्य के आदिवासियों की परम्परागत बलिवेदी रहा है, अजटेक्स निवासी धार्मिक मान्यताओं वाले भोले-भाले लोग थे । उनका विश्वास था कि मानव बलि चढ़ाने से देवता प्रसन्न होते हैं और संसार की भलाई करते हैं । यदि उन्हें यह उपहार न दिया जाए तो रुष्ट होकर दैवी प्रकोप उपस्थित करते हैं । इस विश्वास के आधार पर समय-समय पर वे अपने ही लोगों को पकड़कर बलि पर चढ़ा देते थे । कोई पूजागृह बनता था या राज्याभिषेक होता था तब तो बलि की मात्रा प्रतिष्ठा का प्रश्न बन जाती है । पिछली संख्याओं से अधिक संख्या बढ़ाना ही उत्साह का प्रतीक माना जाता था । बलि की प्रथा भी बड़ी वीभत्स थी । सिर काटने की अपेक्षाकृत कम कष्टकर पद्धति वे नहीं अपनाते थे, वरन् छाती चीर कर हृदय निकालना और उस कलेजे को देवता के सम्मुख प्रस्तुत करना यही अधिक कष्टकारक तरीका वे अपनी धर्म-भावना को चरितार्थ करने का उत्तम प्रमाण मानते थे । टियोकाली (स्पेन) के समीप ही एक वन्य प्रदेश में अजटेक्स जाति का एक देवालय था । स्पेन निवासियों ने इस क्षेत्र की खोज की तो मायन योलोक के इर्द-गिर्द १ लाख ३६ हजार नरमुण्ड इधर-उधर बिखरे हुये पाये गये। यह बलिदान किये गए निरीह मनुष्यों की खोपड़ियाँ थीं और उन्हें इस विपत्ति में फँसा देने वाला एकमात्र कारण था अन्धविश्वास, जिसे वहाँ के निवासी एक गहरी धर्म श्रद्धा के रूप में अपनाते थे ।

अमेरिका में युद्ध-देव के मन्दिर का विवरण ढेरों पत्रिकाओं में अनेकों बार प्रकाशित किया जा चुका है और इसके सम्बन्ध में अनेक पुस्तकें भी लिखी गई हैं । यह मन्दिर कोलम्बस के अमेरिका पहुँचने के दो सौ वर्ष पूर्व बनाया गया था । इसके लिए कई वर्षों से लोगों को पकड़-

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

पकड़कर इकट्ठा किया जाता था और उनकी बलि दी जाती थी । यह नर-बलि सामूहिक रूप से दी जाती थी । सामूहिक बलि के समय एक उत्सव का आयोजन किया जाता था । इकट्ठे किये गये लोगों की संख्या प्रतिष्ठापना के समय हजारों की संख्या में पहुँच गई थी । देव प्रतिष्ठा के समय उन बलि-मानवों का झुंड जुलूस के रूप में निकाला गया । उनका जुलूस दो मील लम्बा था । यह धीरे-धीरे आगे बढ़ता था । कई पुजारी इन बलि मानवों का हृदय चीरने के लिए नियुक्त थे, जो थोड़ी-थोड़ी देर बाद यह पुण्य कार्य सम्पन्न करते थे । इस प्रकार अहिर्निश चार दिन में कितने ही वधकर्त्ताओं द्वारा यह अनुष्ठान पूरा हो पाया और बहता हुआ रक्त उस पवित्र मन्दिर के पत्थर पीसने के काम में लाया गया ।

प्रशान्त महासागर के फातुहिवा द्वीप में मिले खण्डहरों और वहाँ से प्राप्त अवशेषों के आधार पर यह निष्कर्ष निकले हैं कि उस द्वीप में पहले कभी साधन सम्पन्न वैभवशाली लोगों का समुदाय रहता था । ये लोग लुप्त कैसे हो गए ? इस तथ्य के अनुसन्धान की भी एक रोमांचक गाथा है । फ्रांस के पुरातत्त्वविज्ञानी डॉ० फ्रान्सिस ने इस लुप्त जाति के लोगों के इतिहास की कड़ियाँ मिलाई हैं । उन्हें जब इस जाति के सम्बन्ध में पता चला तो खोज करते हुए उन्हें यह भी ज्ञात हुआ कि इस द्वीप में रहने वाले लोगों द्वारा बड़ी मात्रा में स्वर्ण संग्रह किया गया था, जो इसी द्वीप में खण्डहरों में कहीं जमा है । डॉ० फ्रान्सिस वहाँ पहुँच गए और उन्होंने जो कुछ खोज निकाला वह अद्‌भुत था । द्वीप में मिले खण्डहर, तहखाने, बुर्जियाँ अपने निर्माताओं और स्वामियों के समुन्नत होने का प्रमाण दे रहे थे ।

यहाँ प्राकृतिक साधन भी जीवन निर्वाह के लिए पर्याप्त थे । इतना सब होने पर भी यहाँ पता नहीं चल रहा था कि वह जाति लुप्त कैसे हो गई ? इस प्रश्न का समाधान डॉ० फ्रान्सिस को और अधिक खोजने के लिए प्रोत्साहित कर रहा था । उस द्वीप के पाड नामक एक वनवासी व्यक्ति को लेकर फ्रांसिस उस सघन वन में गए । उपलब्ध प्राचीन सभ्यता के चिह्न और अवशेषों ने उन्हें इस निष्कर्ष पर तो पहुँचाया कि यहाँ कोई साधनसम्पन्न और बुद्धिमान लोग रह रहे हैं, पर वे समाप्त कैसे हो गए ? यही प्रश्न समझने वाला था । इतिहास का यह पृष्ठ बहुत परिश्रम के बाद ही खुला ।

फ्रान्सिस ने उस प्रदेश में भ्रमण करते हुए उस क्षेत्र में नरबलि की प्रचलित प्रथा के ढेरों प्रमाण पाये जो सर्वत्र बिखरे पड़े थे । वट वृक्षों जैसी जटाओं वाले पेड़ों पर नर-मुंड इस तरह फँसे पड़े थे, मानो वे उन्हीं में फैले हों । अस्थि कंकाल जहाँ-तहाँ छितरे पड़े थे । ऐसे पत्थर पाये गए जिनमें मनुष्य का सिर फँसाकर उन्हें कुल्हाड़ी से काटा जाता था । वीभत्सता की कथा कहने वाले ये प्रमाण इतने अधिक थे कि एक शब्द में उसे किसी समय का नर-बलि क्षेत्र कहना भी अत्युक्ति न होगा । गहन पर्यवेक्षण और अनुसंधान करने के बाद फ्रान्सिस इस नतीजे पर पहुँचे कि यहाँ कोई प्रगतिशील जाति रही है । यदि ऐसा न रहा होता तो वास्तुकला के गहन ज्ञान से सम्बन्धित मजबूत भवन बनाना और उसके साधन जुटाना सम्भव ही नहीं होता । जो उपकरण वहाँ मिले, वे भी बौद्धिक प्रगति और समृद्धि की साक्षी देते थे, पर लगता है कि धार्मिक अन्धविश्वास यह मान्यता उनके मन में जम गई थी ।

अन्धविश्वास से प्रेरित इसी श्रद्धा ने उन लोगों को मनुष्यघाती बना दिया और उनमें से जिसके चंगुल में जो फँस जाता, वह उसे पकड़ कर बलि चढ़ा देता और अपनी समृद्धि तथा उन्नति की आशा करता । सम्भव है इसमें प्रतिशोध की भावना भी जमी हो और उनमें देव अनुग्रह की लालसा के साथ नर-बलि की मात्रा को अति की सीमा में पहुँचा दिया हो । हो सकता है पुरोहितों ने इस प्रक्रिया को प्रचलित किया हो और वे सब इस नर-बलि की प्रथा में निमग्न होकर अपना अस्तित्व ही खो बैठे हों । फ्रान्सिस ने इस शोध में अपने साथ रहे आदिवासी पाड से सुनी प्रचलित दन्त-कथाओं के आधार पर बताया कि इस लुप्त जाति के लोग समय-समय पर बड़े-बड़े धार्मिक समारोह आयोजित करते थे । इन समारोहों में दूर-दूर से लोग सम्मिलित होने के लिए आते और इकट्ठे होते थे । मशालें जलाई जाती थीं, नगाड़े बजते थे, उन्हीं अवसरों पर शंख और सींगों से बनी तुरही का प्रयोग होता था । इसके बाद चलता था मद्यपान और नर-बलि का वीभत्स दौर । रक्त की धाराएँ बह जातीं, घायलों और मृतकों को देव कृपा का पात्र समझा जाता था और ये धर्मानुष्ठान इतने बढ़े कि यह समुन्नत जाति इसी जंजाल में फँसकर अपना अस्तित्व गँवा बैठी । उनके चिह्न अवशेष मात्र बाकी रह गये ।

अफ्रीका में भी धार्मिक अन्धविश्वासों के कारण हुए नरसंहार की अगणित घटनाओं के प्रमाण मिले हैं । वहाँ की धर्मपुरोहित महिलाएँ डाकिन देवियों को प्रसन्न करने के नाम पर भूतकाल में अगणित मनुष्यों के प्राणहरण करती रही हैं । कभी-कभी तो इन दिनों वहाँ इस तरह की घटनाएँ प्रकाश में आती रहती हैं । कुछ दिन पूर्व तंगानिका (अफ्रीका) की राजधानी दारेसलाम के उच्च न्यायालय में तीन डायनों के विरुद्ध अभियोग चला । उससे वहाँ प्रचलित इस अघोर विद्या के सम्बन्ध में कई नई बातें प्रकाश में आईं। जिन तीन डायनों के विरुद्ध अदालत में मुकदमा चला उनके नाम थे-नेआमसेनी, जामाल्टा और जापिवू ।

ये तीनों महिलाएँ मुकदमे की कार्यवाई के दौरान रंग-बिरंगी जादुई चादरें, जिसे वहाँ की भाषा में कांगा कहते हैं, ओढ़े बैठी रहीं । उनका विश्वास था कि उसे पहन लेने पर उनका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता । पुलिस अधिकारी ने उन पर नृशंस हत्याओं के अभियोग लगाए । जब उनके विरुद्ध लगाये गये आरोप अदालत में पढ़कर सुनाये तो वे सुनकर मुस्करा भर दीं, मानो उन्हें कोई प्रशंसनीय काम करने का श्रेय दिया जा रहा हो । अदालत ने इन तीनों डायनों को चौदह वर्ष की सजा दी ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

न्यायाधीश ने अपने फैसले में लिखा कि इस क्षेत्र में फैला हुआ अन्धविश्वास एक प्रकार से डाकिनी आतंक का पृष्ठ- पोषण ही कर रहा है । जिस लड़की की बलि दी गई थी, उसके पिता तक ने डाकिनी के विरुद्ध गवाही नहीं दी। उसे डर था कि इससे कुपित होकर डाकिनी उसे या उसके परिवार के अन्य लोगों को क्षति पहुँचायेगी । लोग इन नृशंस स्त्रियों के कुकृत्यों की चर्चा तक करने से डरते हैं । ऐसी दशा में सबूत के अभाव में उन्हें प्राणदण्ड जैसी सजा कैसे दी जाए ? जबकि ये आये दिन इसी प्रकार की हत्याएँ और क्रूर कर्म करते रहने की अपराधी हैं ।

नर-बलि या पशुबलि तो उन अन्धविश्वासों का एक छोटा-सा हिस्सा मात्र है, जो धर्म की आड़ में पलते और बढ़ते रहते हैं । अपने देश में भी मध्यकाल में नर-बलि का धुआँधार प्रचलन था । आजकल भी समाचार-पत्रों में आये दिन देवी को प्रसन्न रखने के लिए इस तरह की घटनाओं के समाचार छपते रहते हैं । इसके अतिरिक्त टोना-टोटका, जन्तर-मन्तर आदि के नाम पर कितने लोग छले जाते हैं ? इसकी न तो गणना की जा सकती है और न ही हिसाब लगाया जा सकता है । विचार किया जाना चाहिए कि जो धर्म व्यक्तिगत जीवन को सुखी, समुन्नत बनाता है, आत्मिक उत्कर्ष का आधार तैयार करता है तथा सामाजिक सुव्यवस्था कायम करता है, वह इन हत्याओं, जघन्य कृत्यों की प्रेरणा किस प्रकार देता है । निश्चित ही उसका धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है । धर्म को जीवित रहना चाहिए और उसका समर्थन-पोषण करना चाहिए, पर धर्म के नाम पर प्रचलित इन अन्धविश्वासों का जितनी जल्दी हो सके उन्मूलन ही करना चाहिए, जिसने सदा से मनुष्य को कलंकित किया है और उसे पतन के गर्त में गिराया है ।

धर्म श्रद्धा आवश्यक है, पर विवेक के साथ

बाजार से कोई वस्तु खरीदते समय खरीददार उसे खूब उलट-पुलटकर, ठोक-बजाकर सन्तुष्ट होने के बाद खरीदता है । विवाह सम्बन्ध स्थिर किये जाते समय लड़के के माता-पिता लड़की का कुल-गोत्र देखने से लगाकर उसका रंग-रूप, गृह प्रबन्ध-कौशल, शिक्षा-दीक्षा और आधुनिकता तक को देखते हैं । लड़की के माता-पिता भी लड़के के गुण, खानदान व योग्यता को आँके बिना नहीं रहते । जीवन के हर व्यवहार में किसी वस्तु को उसके गुणों के आधार पर ही स्वीकार किया जाता है । पहले उसकी परीक्षा ली जाती है ।

सामान्य जीवन व्यवहार के क्षेत्र में भी जब किसी व्यक्ति, वस्तु या सम्बन्धों को स्वीकार करने के लिये उसके गुणों को देख परखकर देखा जाता है, किन्तु देखने में यह आता है कि जीवन को सफल व सार्थक बनाने वाले पथ-धर्म को अधिकांश व्यक्ति यों ही अपना लिया करते हैं। उसको वे प्राय: किसी कसौटी पर नहीं कसते । उसकी परीक्षा नहीं लेते-उसके गुणों की ओर ध्यान नहीं देते । निर्जीव परम्परा की चिह्न-पूजा की तरह धर्मश्रद्धा का भी उपयोग हो रहा है । यदि उसे देखने-परखने का प्रयास किया जाता रहे तो उसके उपयोगी तत्त्वों को पुनर्जीवन और अनुपयोगी बाह्याचारों का परित्याग, परिष्कार भी सम्भव हो सके ।

आज धर्मश्रद्धा धर्मजीवियों और धर्म व्यवसायियों द्वारा लूटी भर जा रही है । धर्मसत्ता सामाजिक पुनरुत्थान का नहीं, बन्धन का कारण इसीलिए बनती जा रही है कि लोगों ने धर्म को देख-परख कर स्वीकारना छोड़ दिया है ।

धार्मिक हो जाना ही पर्याप्त नहीं है, धर्म के साथ श्रद्धा भावना जोड़ लेना ही पर्याप्त नहीं है । उसके साथ ही यह देखना भी परमावश्यक है कि वह धर्म, देश, समाज और विश्व के मंगल का पथ और उसमें हमारी उपयुक्त भूमिका प्रस्तुत करता है या नहीं । उसकी उपयोगिता का ह्रास उसे विकृत करके तो स्वार्थीजनों ने नहीं कर दिया ?

किसी भी धर्म की सभी बातों को इसलिए नहीं मान लिया जा सकता कि वह सबसे पुराना है । यह धर्म की कोई उपयुक्त और युक्तियुक्त कसौटी नहीं है । पुराना होना प्रामाणिकता और पात्रता की कसौटी नहीं हो सकता । जो पुराना है वह सच्चा है, ऐसा मान लेना उचित नहीं । कई पुराने भवनों को गिरा देना पड़ता है, क्योंकि अब वे आश्रय देने के स्थान पर कभी भी ढहकर प्राणों का भी संकट भी उपस्थित कर सकते हैं । पुराने वस्त्रों को इसी तरह त्याग देना पड़ता है । क्योंकि वे अब शरीर की आतपशीत से रक्षा करने में समर्थ नहीं हैं । नयी से नयी बात को यदि धर्म के सिद्धान्तों में इसलिये स्थान नहीं दिया जाय कि वह पुरानी नहीं है, तो उस दकियानूसीपन को धर्म की कसौटी कैसे कहा जा सकता है? नये से नया प्रवर्तन यदि तर्क की कसौटी पर खरा उतरता है तो उसके लिये धर्म के द्वार खुले होने चाहिए । यदि उसके लिये धर्म प्रासाद के द्वार नहीं खुलते तो वह कसौटी पर खरा नहीं उतरता । वह समय के साथ बदलना चाहता है ।

किसी भी धर्म की सब बातों को इसलिये मान लेना भी कि वह सबसे नया है, यह भी कोई सही कसौटी नहीं होती । हो सकता है काल की परीक्षा में वह खरा न उतरे । हो सकता है, उसमें पुरातन उपयोगी और आवश्यक तत्त्वों को सम्मिलित ही नहीं किया गया हो ।

यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि मनुष्य का कोई धर्म हो सकता है तो वह मानव-धर्म है । हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई, जैन, बौद्ध, पारसी आदि धर्मों में वही मानव धर्म आंशिक रूपों में विद्यमान है । उनमें निहित शाश्वत् मानवीय सिद्धान्त ही सनातन है । उनके स्वरूप का भी पूर्ण चिन्तन नहीं हो सकता । वह तो समय के साथ परिवर्तन की अपेक्षा करता है ।

धर्म की कसौटी की उपरोक्त दो बातें स्वामी रामतीर्थ ने बतायी हैं । स्वामीजी का यहाँ धर्म से अभिप्राय मानव धर्म ही है ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

धर्म की जो साधारण व्याख्या की गयी है, वह व्याख्या है-''**धारणस्य धर्म विज्ञाति**'' । धारणा से धर्म है । यानि जिस चीज के कारण जिस शक्ति के कारण, जिस व्यवस्था के कारण मानवता टिके वह धर्म है, मानव का ।

आज धर्म शब्द के कई जगह अर्थ के अनर्थ भी हो गये हैं । बहुत बार तो धर्म के अन्तर्गत वे चीजें भी लागू कर दी गयी हैं, जो धर्म के अन्तर्गत नहीं आतीं । धर्म एक व्यापक शब्द होते हुए भी जो उसकी छोटी-छोटी चीजें हैं, छोटे-छोटे अंग हैं, उन्हीं को लोग धर्म समझने लगे हैं । मन्दिर, मस्जिद या गिरजाघर में जाना धर्म का एक अंग है, पर यही धर्म है, ऐसी बात नहीं । '

धर्म को कसौटी पर कसने का उद्देश्य यही है कि धर्म की आत्मा, उसके शाश्वत् सिद्धान्त और उसके कलेवर व्यावहारिक स्वरूप का सच्चा सम्मिलन हो सके । किसी एक पक्ष को उपेक्षित नहीं रहने दिया जाय । ऐसा होने पर ही हम धर्मश्रद्धा का सच्चा लाभ उठा सकेंगे और उसको सार्थक भी कर सकेंगे ।

स्वामी रामतीर्थ ने कहा है-''किसी धर्म को इस आधार पर मत मान लो कि मानव समाज का बहुत बड़ा वर्ग उसमें विश्वास करता दिखता है; क्योंकि मानव समाज का बहुत बड़ा हिस्सा तो दरअसल शैतान के सिद्धान्त में विश्वास रखता है, अज्ञान के धर्म में विश्वास करता है । एक जमाना था जब मानव समाज का बहुत बड़ा हिस्सा गुलामी में विश्वास करता था, मगर यह तो इसका प्रमाण नहीं कि गुलामी की प्रथा उचित थी ।''

वेदान्त के प्रकाण्ड पण्डित और धर्म के ज्ञाता स्वामीजी का यह कथन इस बात की ओर संकेत है कि प्रचलित धर्म के व्यावहारिक स्वरूप में समय-समय पर जो सुधार होने चाहिए, वे तभी सम्भव हो सकेंगे जबकि व्यक्ति भीड़ के साथ चलने की वृत्ति छोड़ कर विवेक को महत्त्व दें । बहुसंख्यक व्यक्ति तो उसी पथ पर चलते हैं जो प्रचलित हैं, किन्तु समय के साथ उसमें परिवर्तन तो विवेकीजन ही कर सकते हैं । अत: धर्म की उन सब बातों को इसलिये ही स्वीकार नहीं कर लिया जाय कि उसे बहुसंख्यक लोग मानते हैं ।

ठीक इसके विपरीत इसलिये भी नहीं मान लिया जा सकता कि थोड़े से लोग उसे मानते हैं । कई बार वे मुट्ठी भर अल्पसंख्यक जिन्होंने कोई धर्म स्वीकार कर लिया है, अज्ञानग्रस्त और गुमराह आदमी होते हैं ।

किसी धर्म को इसलिये भी नहीं मान लिया जाय कि उसे किसी राजा या सम्राट् ने चलाया है । राजा या सम्राट् होने का अर्थ यह नहीं होता कि वे अध्यात्मवेत्ता भी हैं । राजा और सम्राट् आध्यात्मिक दृष्टि से कंगाल भी हो सकते हैं जैसा कि बहुधा होते थे । उन्हें धर्म व अध्यात्म का क-ख-ग भी नहीं आता ।

किसी धर्म को किसी महान् त्यागी, तपस्वी ने चलाया है, इसलिये यह आवश्यक नहीं कि वह धर्म समग्र पूर्ण हो । देखने में आता है कि सर्वस्व त्यागी-तपस्वी भी कठमुल्ला हो सकते हैं । त्यागी और तपस्वी होना ही धर्म स्थापना का उपयुक्त पात्रत्व नहीं होता । ऐसे कठमुल्लाओं द्वारा चलाया गया धर्म, धर्म न होकर अधर्म के पथ का पोषक भी हो सकता है ।

अत्यधिक उच्च चरित्र वाले व्यक्ति ने कोई धर्म चलाया है, इसलिए उसे मान लेना चाहिए । यह भी धर्म की कोई युक्ति-युक्त कसौटी नहीं हो सकती । बहुत शानदार चरित्र वाले व्यक्ति भी कई बार सत्य का सही निरूपण करने में असमर्थ रहे हैं । किसी की पाचन-शक्ति तेज है, तो इसका अर्थ यह नहीं कि उसे पाचनक्रिया का पूरा-पूरा ज्ञान होगा। हो सकता है उसे पाचन-क्रिया का क-ख-ग भी ज्ञान नहीं हो । ऐसा भी तो होता कि कई सुन्दरतम् कलाकृतियाँ ऐसे लोगों ने रची हैं जो स्वयं अत्यन्त कुरूप हैं । कुरूप व्यक्ति भी सुन्दर सत्यों का प्रचार कर सकते हैं । सुकरात ऐसे ही व्यक्ति थे । सुन्दर व्यक्ति सुन्दरता का ही सृजन करे, चरित्रवान् व्यक्ति चरित्रवान् बनने का ही पथ-प्रदर्शन करे यह आवश्यक नहीं । अत: उच्च चरित्र के व्यक्ति द्वारा स्थापित धर्म की सभी बातें मान लेने योग्य हैं । यह भी धर्म की कसौटी नहीं बनती ।

किसी बहुत प्रसिद्ध व्यक्ति द्वारा चलाया गया धर्म आँख मूँदकर मान लिया जाना भी कोई अच्छी बात नहीं है । प्रसिद्धी के साथ सत्य का जुड़ा होना भी आवश्यक नहीं है। सर आइजक न्यूटन बहुत प्रसिद्ध आदमी था फिर भी प्रकाश के उत्सर्जन का उसका सिद्धान्त गलत हो गया है ।

धर्म के नाम पर प्रचलित सब चीजें धर्म ही हों, यह आवश्यक नहीं है । हो सकता है कि धर्म के नाम पर जो कुछ प्रथा-परम्पराएँ, पूजा-उपासना पद्धतियाँ, साधनाएँ व सिद्धान्त प्रचलित हैं वे धर्म से दूर का भी रिश्ता न रखती हों, पर वे प्रचलन में आ गई हैं इसलिये धर्म बन गयी हैं। ऐसी स्थिति में तो धर्म की कोई उपयोगिता ही नहीं रह जायगी ।

धर्म में किसी भी चीज को उसकी विशेषता के आधार पर, गुण के आधार पर, उपयोगिता के आधार पर ही स्वीकार किया जाना चाहिए । स्वयं उसकी परीक्षा करके देखनी चाहिए । ठोक-बजाकर देखा जाना चाहिए, तब कहीं उसे स्वीकार किया जाना चाहिए । स्व-विवेक की कसौटी पर कसे बिना यह मानकर कि इसे मानव समाज का बहुत बड़ा हिस्सा मानता है, इसे किसी त्यागी-तपस्वी ने चलाया है, यह बहुत लम्बे काल से प्रचलित है, अथवा किसी प्रसिद्ध आदमी ने चलाया है, धर्म की किसी बात को मान लेना, अन्धेरे में लाठी चलाने जैसा ही काम है । इसमें न व्यक्ति का हित है न समाज का ।

धर्म के नाम पर आजकल कुछ ऐसी ही बातों पर विशेष बल दिया जा रहा है, उन्हें माना जा रहा है जो धर्म का अंग होते हुए भी समग्र घड़ी नहीं है । केवल उन्हें ही धर्म मानकर चला जाता रहे तो उससे कुछ अधिकांश लाभ होने वाला नहीं है । सामान्य जीवन व्यवहार में बरती जाने वाली सावधानी धर्म के सम्बन्ध में भी रखी जानी

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

आवश्यक है । धर्म श्रद्धा होनी चाहिए, पर उसके साथ विवेक भी जुड़ा रहना चाहिए । उसकी सभी बातों को कसौटी पर कसकर ही स्वीकार करना चाहिए । यदि ऐसा होता रहा तो धर्म का हम पूरा-पूरा लाभ उठा सकेंगे । समाज में स्वर्ग का सा वातावरण तभी उपजेगा ।

धर्म-धारणा का शाश्वत, अपरिवर्तनशील स्वरूप

संसार में धर्म-सम्प्रदाय अनेक हैं । यों मूल धर्म एक ही है, जिसे न्याय, विवेक, संयम, स्नेह आदि सदाशयताओं का सम्मिश्रण कहा जा सकता है । विभिन्न धर्मों के मूलभूत सिद्धान्तों में भी इनका प्रतिपादन है फिर बहुत सम्प्रदाय, धर्मों की आवश्यकता क्यों पड़ी ? यदि पड़ी तो क्या वह उचित थी और यदि उचित थी तो क्या वह औचित्य सदा सर्वदा बना भी रहेगा ?

पुरातत्ववेत्ताओं का कथन है कि आदिमकाल के मनुष्य में जब बुद्धि का विकास हुआ तो उसने अन्य प्राणियों की तरह यह नहीं माना कि जो कुछ चल रहा है, सो ठीक है । वही नियति है । उसी का अनुसरण करते हुए समय काटना है । वरन् उसे प्रकृति की विचित्रताओं को देखते हुए यह सोचना पड़ा कि व्यक्ति विशेष की परिस्थितियों में अन्तर होने का कोई अदृश्य कारण होना चाहिए । समय-समय पर बदलती हुई परिस्थितियों ने भी यह सोचने को बाधित किया कि कोई शक्ति ऐसी है, जो समस्वरता का उल्लंघन करके उथल-पुथल उत्पन्न करती रहती है । ऐसी परिस्थितियों का आवागमन होता रहता है, जो न तो स्वयं किसी निश्चित नियम पर चलती हैं और न सब मनुष्यों के, प्राणियों के साथ एक जैसा व्यवहार करती हैं । उन दिनों यह सोचने का अवकाश नहीं था कि प्रकृति की संरचना ही गतिशील है । वह न स्वयं स्थिर रहती है और न किसी को स्थिर रहने देती है । प्रकृति और परमेश्वर का भेद भी उन दिनों उभर कर ऊपर नहीं आया था ।

बौद्धिक विकास के प्रथम चरण में परिस्थितियों पर दृष्टिपात करते हुए मनुष्य ने सोचा कि विभिन्न परिस्थितियों को सँभालने या बिगाड़ने वाली कोई अनेकानेक सत्ता है । जैसे अपने-अपने क्षेत्र में शासक राज्य करते हैं अथवा सेना के सेनाध्यक्ष, विभागों के अधिकारी अपने सीमा क्षेत्र में इच्छानुसार योजनाएँ बनाते-बिगाड़ते रहते हैं, उसी प्रकार ऐसा ही अदृश्य क्षेत्र में, सूक्ष्म जगत में भी चलता है । कोई विचारवान शक्तियाँ संसार में इच्छानुसार परिस्थितियाँ उत्पन्न करती हैं । उनके भी प्रिय पात्र कुछ उपेक्षित और कुछ प्रतिकूल होते हैं । इसी आधार पर किसी को किसी अवसर पर लाभ मिलता है तो किसी को किसी प्रयोजन में हानि उठानी पड़ती है ।

यह अनुमान बढ़ता भी गया और परिपक्व भी होता गया । देववाद की यही उत्पत्ति है । उनका कोप हटाने और अनुग्रह हथियाने के लिए समझा गया कि उन्हें अपने पक्ष में लिया जाय । उनमें से कुछ का पल्ला पकड़ा जाय । मनौतियाँ मनाने और उसके लिए सहमत करने के लिए पूजा-उपचार के द्वारा अनुकम्पा प्राप्त करने की बात सूझी और उस सन्दर्भ में विचार करते-करते एक समूचा ताना-बाना बुन गया । उसमें पूजा प्रमुख थी । न्याय की दलील देने जैसी कोई गुंजाइश नहीं समझी गई । क्योंकि तब "समरथ को नहिं दोष गुसाईं" की मान्यता ने अपना स्थान सृष्टि व्यवस्था के रूप में बना लिया था । जब राजा ईश्वर के प्रतिनिधि बन गये और उनके निर्णय पत्थर की लकीर बन गये तो देवताओं के सम्बन्ध में ऐसी मान्यता बनाने में क्या अड़चन थी । मनुष्यों में सिद्ध पुरुष और देवताओं में पितर, यक्ष आदि की अनेकानेक श्रेणियाँ विकसित कर लेना मनुष्य की उर्वर बुद्धि के लिए क्या कठिन था ? मनुष्य का चित् जादू का पिटारा है । कल्पना की वैसी ही उड़ानें उड़ना उसके बायें हाथ का खेल है । अपने सम्बन्ध में ही नहीं, देवताओं की आकृति-प्रकृति, इच्छा, अनुकम्पा तथा प्रतिकूलता की विवेचना करने वाला एक समूचा शास्त्र विनिर्मित कर लेना, उसके बुद्धि-कौशल का ही चमत्कार है ।

मान्यताएँ आरम्भिक स्थिति में संदिग्ध होती हैं उनकी यथार्थता के सम्बन्ध में संकल्प, विकल्प और सम्भव, असम्भव की बात भी उठती रहती है । पक्ष-प्रतिपक्ष का विरोध-समर्थन भी चलता रहता है । किन्तु मान्यताएँ जितनी पुरानी होती हैं, प्रथा-परम्पराएँ बन जाती हैं और उन्हें अपनाये रहने वाले के लिए सत्य स्तर की बन जाती हैं ।

आगे चलकर इस सन्दर्भ में यह निर्धारण होता चला गया कि चिन्तन, चरित्र, व्यवहार, प्रथा-प्रचलन के सन्दर्भ में किस देवता को क्या पसन्द है और क्या नापसन्द । अपने भक्तों को कुछ भी करने की छूट मिली और साथ ही यह आश्वासन उपलब्ध हुआ कि विपक्षी के प्रति चाहे जैसा दुर्व्यवहार किया जाय, अपने द्वारा समर्पित देवता उसकी हिमायत करेगा । मनौतियाँ मनाने में दोनों ही तथ्य सम्मिलित हुए । अपने प्रति अभीष्ट मनोकामनाओं की पूर्ति और जिसके साथ अपना द्वेष है उनके प्रति कुछ भी करने की मनमाने उत्पीड़न की छूट । कहीं-कहीं तो ऐसा भी सोचा गया कि देवता के नाम पर कुछ भी कर गुजरने से मनुष्य पाप का भागी नहीं बनता या उसे लोक-परलोक में किसी प्रकार का दण्ड नहीं मिलता । तथाकथित धर्मशास्त्रों की विविधता में यही सब भरा पड़ा है ।

आदिमकाल की देवमान्यता और उसके साथ जुड़ी हुई धर्म-परम्परा इसी प्रकार के प्रतिपादनों से भरी पड़ी है । अपने-अपने देवता, अपने-अपने ग्रन्थ, अपने-अपने पूजा-पाठ के साथ-साथ अपने-पराये का भाव भी बढ़ा । इसमें नीति-अनीति को बाधक नहीं माना गया । जो जिस सम्प्रदाय का, देवता का अनुयायी है, वह अपना और जिसकी मान्यताएँ भिन्न हैं, वह पराया । आमतौर से यही माना जाने लगा ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

मानवी विवेक को इसके आगे की अगली सीढ़ी आती है । उसमें मनुष्य मात्र की एकता और समता का बोध हुआ । न्याय सबके लिए मौलिक अधिकारों से सम्मिलित हुआ । सद्भावना, सहकारिता और उदारता जैसे सद्गुणों के सम्बन्ध में कहा गया कि वे सर्वत्र समान रूप से व्यवहृत होने चाहिए । किसी वर्ग या व्यक्ति का शोषण, उत्पीड़न नहीं होना चाहिए । मिल-जुलकर रहने और मिल-बाँटकर खाने की नीति अपनाई जानी चाहिए । यह विवेकशीलता के नवयुग का प्रतिपादन है ।

आदिमकालीन तथा मध्यकालीन मान्यताओं, प्रचलनों और मनौतियों का जब यथार्थता की कसौटी पर विश्लेषण हुआ तो समझा गया कि बहुत समय अन्ध-विश्वासों और मूढ़-मान्यताओं में निकल गया । धर्म सदाचरण एवं सज्जनता के साथ जुड़ा होना चाहिए और ईश्वर की दृष्टि में सज्जनता तथा सद्भावना का मूल्य होना चाहिए । इसी आधार पर उसकी प्रसन्नता-अप्रसन्नता भी होनी चाहिए ।

इस विवेक की कसौटी पर खरी सिद्ध होने वाली मान्यताओं को धर्म-धारणा कहा जाना चाहिए और जहाँ उपहार या मनुहार के बल पर दैवी अनुग्रह की धारणा है, उसे अमान्य ठहराया जाना चाहिए । इसलिए विवेक का नवयुग के सम्बन्ध में उद्घोष है कि पक्षपात एवं आक्रोश पर आधारित सम्प्रदायों का समापन एवं न्याय पर विवेक का उद्भव होने का ठीक यही समय है ।

धर्म और तत्त्व-दर्शन की पृष्ठभूमि

अध्यात्म दर्शन पढ़ने, समझने या समझाने की दृष्टि से कथा-प्रवचन या वाचन, सत्संग जैसे स्वरूप में प्रतिपादित होता रहता है, पर वह सड़क की ओर अंगुलि निर्देशन जैसा है । इतने भर से काम नहीं बनता । रास्ता तो चलने से पार होता है । चलने और पार होने का तात्पर्य है, अपनी अन्तः-भूमिका में उन मान्यताओं का गहरा प्रवेश, जो मनुष्य को सच्चे अर्थों में मनुष्य बनाने के लिए गढ़ी गई हैं ।

इसी को धर्म कहते हैं और यही अध्यात्म है कि मनुष्य अपने सम्बन्ध में उच्चस्तरीय मान्यता रखे और अपने हर क्रिया-कलाप में कर्मयोग का समावेश रखे । यह सामान्य मनुष्यों की तुलना में सर्वथा भिन्न होता है । अतएव अपने और लोगों के बीच एक ऐसी खाई रहने लगती है, जिसमें एक दूसरे को मतिभ्रम से ग्रस्त मानने लगते हैं ।

लोगों के सोचने का ढंग यह है कि अधिक कमाया, अधिक खाया और शरीर को बड़प्पन के साज-सामान से लदा हुआ रखा जाय । वे इसी में जीवन की सफलता मानते हैं, किन्तु अध्यात्मवादी का दृष्टिकोण होता है कि वह ईश्वर का उत्कृष्टता सम्पन्न अंश है । उसे वह सोचना और करना चाहिए जो उसके गौरव को बढ़ाये और स्रष्टा की कृति को यशस्वी बनाये । उसे सज्जा या प्रशंसा की नहीं, चिन्ता इस बात की होती है कि व्यक्तित्व आदर्श एवं अनुकरणीय बन पड़ा या नहीं । इन मान्यताओं के बीच मतभेद तो रहेगा ही उपहास, बहिष्कार व्यंग्य और तिरस्कार भी सम्भव है । यह मतभेद जितना स्पष्ट और सशक्त हो, समझना चाहिए कि अपनी आध्यात्मिकता उतनी ही सशक्त है । जहाँ दुनियादारों के साथ साझेदारी करते हुए इच्छा अपनी और क्रिया उनकी चल रही हो । समझना चाहिए कि विडम्बना ही प्रमुख है । कथन और श्रवण वाला पोल खोखला अध्यात्म ही हाथ लगा है । यथार्थता में दृढ़ता जुड़ी होती है ।

गीताकार ने सच ही कहा है कि दुनिया जब सोती है, तब ज्ञानी जागता है और जब ज्ञानी सोता है, तब दुनिया जागती है । इस कथन का तात्पर्य यह है कि अध्यात्मवेत्ता की मान्यता एवं गतिविधियाँ इस प्रकार की होती हैं, जो लोगों को नहीं सुहातीं । दोनों के बीच सैद्धान्तिक तालमेल नहीं बैठता, मात्र शिष्टाचार भर का निर्वाह होता है ।

ह्यूम फासेट ने 'दि फ्लेम एण्ड दि लाइट' पुस्तक में बुद्ध धर्म और हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों की विवेचना करते हुए लिखा है कि तथ्यतः दोनों एक हैं। बुद्ध धर्मानुयायियों को आदर्श निर्वाह में कट्टर होना होता है और सच्चे हिन्दू धर्मानुयायियों को भी अपने आचरण में उन्हीं सिद्धान्तों का समावेश करना होता है । 'पवित्र बुद्धि' दोनों का समान लक्ष्य है । पवित्र बुद्धि अर्थात् ऐसी आदर्शवादी प्रेरणा जो व्यवहार में उतरे बिना चैन न ले । बुद्धि की पवित्रता से ही गौतम भगवान् कहलाये और उसी को अपनाने वाले 'स्थितिप्रज्ञ' आत्मवादी योगी कहलाते हैं ।

थियोसोफिकल सोसाइटी ने इसी को ब्रह्म-विद्या या ब्रह्म-दर्शन कहा है । एन० श्रीराम ने अपने ग्रन्थ 'लाइफ द डीपर आस्पेक्ट' में बताया है कि गीता का ब्रह्मज्ञान जब कथन-श्रवण तक सीमित न रहकर चिन्तन और चरित्र बनकर प्रकट होने लगे, साथ ही अपनी मान्यता पर अटूट आस्था भी रहे तो समझना चाहिए कि गीता की प्रेरणाएँ जीवन में सम्मिलित हो गईं और ब्रह्म-विद्या के क्षेत्र में गहरा प्रवेश हो गया ।

तत्त्वज्ञान का अर्थ है-भगवान् के सम्बन्ध में अपनी मान्यता का स्पष्ट होना और प्राणिमात्र में उसकी ज्योति का दर्शन होना । तब भौतिक उपलब्धियों पर प्रसन्नता या अप्रसन्नता निर्भर नहीं रहती । सीमित साधनों से भी काम चल जाता है और जो न्याय तथा परिश्रम का कमाया है, उतने में ही परिपूर्ण सन्तोष रहता है । उच्च जीवन के लिए सादा जीवन अपनाना पड़ता है, जब यह सिद्धान्त कार्यान्वित होने लगे तो समझना चाहिए कि अध्यात्म तत्त्वज्ञान जीवनचर्या के साथ एकीभूत हो गया ।

भौतिक विज्ञानी एडविन सोडिगर ने अपनी पुस्तक 'ह्वाट इज लाइफ' में लिखा है-धर्म-धारणा का अर्थ है, ईश्वर की व्यापकता, न्यायपरायणता को अंगीकार करना, साथ ही अपने चिन्तन और चरित्र को क्रमशः

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

अधिकाधिक निखारते जाना । सब की सत्ता को अपने में और अपने व्यक्तित्व को सबमें संव्याप्त देखना । इस मनोभूमि को अपनाने वाला संकीर्ण स्वार्थपरता में सीमाबद्ध नहीं रह सकता । उसे व्यापक विश्व में अपनी आत्मीयता को विकसित करना होता है ।

सर राधाकृष्णन् ने अपने एक लेख फिलॉसफी ऑफ उपनिषद् में तत्त्वदर्शन की दिशाधारा को और भी अधिक स्पष्ट किया है । वे लिखते हैं–बौद्धिक तर्क क्षमता ऐसी है जिसके सहारे हम अनैतिक और अवास्तविक बातों को भी प्रामाणिक जैसे ढंग से प्रस्तुत कर सकते हैं । तर्कों के आधार पर असत्य को भी सिद्ध किया जा सकता है । जिस प्रकार मोटा पहलवान साधारण स्वास्थ्य वाले को दबोच लेता है, उसी प्रकार मस्तिष्कीय बलिष्ठता के सहारे अनुपयुक्त को भी उपयुक्त सिद्ध किया जा सकता है । इसलिए बुद्धि को तत्त्वज्ञान में मान्यता नहीं दी गई है । इस क्षेत्र में अनुभूति और संवेदना ही प्रामाणिक मानी जाती है और यह दोनों उस अन्तःकरण में उत्पन्न होती हैं, जिसे संयम और साधना द्वारा परिष्कृत किया गया हो, आत्मा की वाणी इसी को कहते हैं । यह देश और धर्म की सीमाओं का उल्लंघन करके सर्वत्र एक जैसी ही उद्भाषित होती है । इसमें बुद्धि की अवज्ञा नहीं की जा रही है, वरन् यह कहा जा रहा है कि श्रद्धा और सदाशयता का पुट लगा-लगाकर पवित्रतम बनाया जाय ।

अन्तदृष्टि या विवेकशील प्रज्ञा ही हमें हमारे वास्तविक स्वरूप को बताती है और उन कर्त्तव्यों का बोध कराती है जिनमें कोई सम्प्रदाय या दर्शन अवरोध उत्पन्न नहीं करता । आत्मा एक है । वही सर्वत्र बिखरी पड़ी है । उसमें सर्वत्र एक जैसी भाव संवेदना है । आत्मीयता और करुणा के आधार पर ही वह कोई निर्णय करती है, तो उसमें पक्षपात या अनुपयुक्तता जैसी कहीं कोई गुंजाइश नहीं रहती है । सत्य और धर्म दोनों एक ही हैं, इसलिए उनमें मतभेद की कहीं कोई गुंजाइश नहीं है ।

'लाइफस् डीपर आस्पेक्टस्' के लेखक ने गीता को किसी सम्प्रदाय विशेष का ग्रन्थ नहीं माना और कहा जाता है कि तत्त्वदर्शन का जैसा स्पष्ट विवेचन इस पुस्तक में है, वैसा अन्यत्र कहीं भी देखने को नहीं मिलता । स्थितिप्रज्ञ को इसीलिए योगी माना गया है कि उसकी प्रज्ञा समस्त पक्षपातों, रुझानों और प्रचलनों से ऊँची उठी हुई होती है, जो सत्य है, जो सबके लिए हितकर और श्रेयस्कर है, उसी को वह स्वीकार करती है । इसे स्वीकार करने में कर्म भी सम्मिलित है । प्रज्ञा किसी तथ्य को स्वीकार करने के उपरान्त चुप नहीं बैठती, वरन् अन्तःकरण की वाणी को कार्यान्वित किये बिना चैन से नहीं बैठने देती ।

'मैं और तू' का भेद मिटते जाना ही ईश्वर दर्शन की प्रत्यक्ष अनुभूति है । वह भक्त और भगवान् के बीच कोई अन्तर नहीं पहुँचने देती । इतना ही नहीं उसके कारण मनुष्य और मनुष्य के बीच भी ऐसी कोई खाई नहीं रहती, जिसकी आड़ में विद्वेष जमा रह सके और सेवा-भावना से हाथ सिकोड़ना पड़े ।

'ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी' के रिलीजियस एक्सपीरियन्स रिसर्च यूनिट द्वारा सार्वभौम, धर्म एवं दर्शन की सम्भावनाओं पर लम्बे समय तक विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया है । उस विचार मंथन का यह निष्कर्ष निकाला है कि धर्म आदि में एक था, अन्त में उसके साथ जो भ्रम जंजाल जुड़ गया है, वह साफ होते ही एकता का माहौल बनेगा । यूनिट द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ 'दि स्प्रिचुऑल नेचर ऑफ मैन' में उपलब्ध अगणित तथ्य ऐसे प्रस्तुत किये हैं जिनसे विदित होता है कि मनुष्य आरम्भ में भी सभ्य स्वभाव का था । उसने क्रमशः प्रगति की है और उसकी सभ्यता धीरे-धीरे निखरती ही आई है । वह निखार ऐसा है जिससे धार्मिक मतभेद घटते हैं, बढ़ते नहीं ।

तत्त्वज्ञानी का हृदय बालकों जैसा निश्छल होना चाहिए । धार्मिक की उदारता ऐसी मधुर होनी चाहिए जो दूसरों का हृदय जीत सके । ज्ञानी की तपश्चर्या इसमें है कि स्वयं कष्ट उठाकर भी सच्चाई का ही पक्ष ले । अनीति से लड़ने में लगने वाली चोटों की परवाह न करे और चिकित्सक की तरह विकृतियों से जूझते हुए सर्वतोमुखी स्थापना के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहे ।

समग्र सुख-शान्ति धर्म-धारणा से ही सम्भव होगी

जीवन उतना जटिल नहीं है जितना कि वह बन गया है या बना दिया गया है । हँसी-खुशी की सम्भावनाओं से वह भरा-पूरा है । शरीर और मन की संरचना इस प्रकार हुई है कि वह बाहर के तनिक से साधनों की सुविधा प्राप्त हो जाने पर सहज ही स्वस्थ और सुखी रह सकता है । अति स्वल्प साधनों से अन्य जीवधारी अपना सन्तोषपूर्ण व्यवस्थाक्रम चलाते रहते हैं, न उन्हें रुग्णता सताती है और न खिन्नता । यदि उन्हें सताया न जाय तो शरीर यात्रा की प्रचुर परिमाण में उपलब्ध साधन-सामग्री से ही अपना काम चला लेते हैं और हँसी-खुशी के दिन काटते हैं ।

मनुष्य को यह सुविधा और भी अधिक मात्रा में उपलब्ध है । उसका अस्तित्व एवं व्यक्तित्व इतना समर्थ है कि न केवल शारीरिक सुविधा की सामग्री वरन् मानसिक प्रसन्नता की परिस्थिति भी स्वल्प प्रयत्न से प्रचुर मात्रा में प्राप्त कर सकता है । इतने पर भी यह देखा यह जाता है कि मनुष्य खिन्नता और अतृप्ति से ही घिरा रहता है । आधियों और व्याधियों की घटाएँ उस पर छाई रहती हैं ।

सौभाग्य जैसे समस्त साधन प्राप्त होने पर भी दुर्भाग्य की जलन में झुलसते रहने के पीछे एक ही कारण ढूँढ़ा जा सकता है कि सहज सरल रीति-नीति को छोड़कर हम जाल-जंजाल भरी विद्रूप विडम्बनाओं में उलझ गये और

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

अपना मार्ग स्वयं कंटकाकीर्ण बना लिया । सहज स्वाभाविकता का नाम है धर्म और इसके विपरीत आचरण को अधर्म कहते हैं । वैयक्तिक और सामाजिक कर्त्तव्यों को जो सही तरह समझता है और सही तरह पालन करता है, उसे स्वल्प साधनों में भी तुष्ट, पुष्ट और प्रगतिशील देखा जा सकेगा । धर्म की धारणा निश्चित रूप से सुख-शान्ति के प्रतिफल प्रदान करती है ।

ऐलिस ने कहा है-मनुष्य के मन और शरीर को आधि-व्याधियों ने इसलिए घेरा है कि उसे धर्म का समुचित संरक्षण नहीं मिला । यदि आहार, निद्रा की तरह धर्म को भी जीवन की अनिवार्य आवश्यकता माना गया होता तो हम शोक-सन्तापों की विविध-विधि व्यथाएँ सहने से सहज ही बच सकते थे ।

सन्त आगस्टान ने मानव की मानव के प्रति कर्त्तव्य घोषणा को धर्म माना है । सेन्टपाल का कथन है, पतन के गर्त से उत्थान के शिखर पर चढ़ने की सीढ़ी को धर्म कहना उपयुक्त होगा ।

हेग्रोज ने धर्म को दो धाराओं में विभक्त किया है, एक आस्थामूलक, दूसरी व्यवहारपरक । आस्था की स्थापना 'अध्यात्म के आधार पर होती है और आचरण व्यवहार का समीकरण धर्माचरण पक्ष द्वारा किया जाता है ।' दोनों के समन्वय को धर्म कह सकते हैं । ईश्वरवाद के सहारे ही धर्म सिद्धान्तों की व्याख्या और पुष्टि की जा सकती है ।

विलियम ब्लेक ने-धर्म को आत्मा का कवित्व कहा है । वे कहते हैं पुराणों के अलंकार में परियों की गाथाएँ और जादुई किम्बदन्तियाँ भरी पड़ी हैं । इन सबका सार निष्कर्ष यह है कि आत्मा की भाव सरिता यदि उत्कृष्टता की दिशा में बह निकले तो उसका प्रतिफल व्यक्ति और समाज के लिए उतना ही सरस और आकर्षक हो सकता है जैसा कि देवताओं का सौन्दर्य-वैभव और कर्त्तव्य ।

ल्यूवा ने धर्म को एक सनातन राजमार्ग बताया है, जिस पर धीरे-धीरे चलते हुए मनुष्य जाति विकास के वर्तमान स्तर तक पहुँचने में समर्थ हुई है और भविष्य में अधिक कुछ पाने की आशा कर सकती है ।

प्लान्टिस ने कहा-धर्म की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि वह मनुष्य के मरणोत्तर जीवन का विश्वास कराती है और दुष्कर्म एवं सत्कर्म के बीच का अन्तर बताते हुए उसके दुष्परिणाम, सत्परिणाम का निश्चय कराती है । यदि यह मान्यता मनुष्य समाज में से निकल जाय, वह अपने को नाशवान और मर्यादाओं से स्वतन्त्र मान बैठे, तो फिर यहाँ हर किसी का व्यवहार पैशाचिक स्तर का हो उठेगा। धर्म का अस्तित्व और मनुष्य जाति का अस्तित्व दोनों एक-दूसरे के साथ अत्यन्त सघनता के साथ जुड़े हुए हैं ।

फ्रेजर धर्म को ईश्वरीय आदेश और आत्म-तृप्ति का आधार मानते थे । कॉमटे की मान्यता थी कि अन्तरात्मा के मृदुल रस को बाह्य संसार के साथ समन्वित करके कैसे बहुमुखी सरसता उत्पन्न की जा सकती है? इस आवश्यकता की पूर्ति कर सकने वाली कला का नाम ही धर्म है ।

सन्त डाइनाइसिअस का निरूपण यह था कि अदृश्य जगत और दृश्य जगत के परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाली धाराओं को एकात्म बना देने वाले महासमुद्र का नाम धर्म है । उसके आधार पर ही विरोध को सहयोग में एवं पृथकता को एकता में बदला जा सकता है ।

मैक्समूलर ने अपनी 'एन इन्ट्रोडक्शन टू दी साइन्स ऑफ रिलीजन' पुस्तक में धर्म की विवेचना करते हुए लिखा है-धर्म अन्तरात्मा की पुकार है जो तर्क और जानकारियों से प्रभावित तो करती है, पर उससे प्रभावित नहीं होती । उसका आधार अतीन्द्रिय है । दिव्य चेतना ही हमें धर्मनिष्ठा अपनाने के लिए प्रेरित करती है ।

विलियम जेम्स ने लिखा है-धर्म एक दूरगामी चिन्तन है, जिससे व्यक्ति की सामयिक परिस्थितियों की अपेक्षा समष्टि की सर्वांगीण और सर्वकालीन आवश्यकताओं का ध्यान रखा जाता है ।

अलवर्ट का कथन है-धर्म हमारे भौतिक जीवन को सुखी बनाने में सहायक हो सकता है, पर भौतिक सुखों के लिए धर्म का उपयोग करना न तो उचित होगा और न सम्भव । धर्म एक आध्यात्मिक भूख है, जिसे तृप्त करने के लिए भौतिक कष्ट भी सहने पड़ सकते हैं ।

पास्कल ने कहा है-हृदय के विवेक से धर्म का उदय होता है । उसे मात्र तर्कों की वैसाखी लगाकर खड़ा नहीं किया जा सकता ।

काण्ट ने धर्म की परिभाषा करते हुए उसे ऐसी मानवी कर्त्तव्यनिष्ठा बताया है, जो मस्तिष्क तक सीमित न रहकर अन्तःकरण में, निष्ठा में घनीभूत हो गई हो ।

तत्त्वदर्शियों के उपरोक्त अभिवचनों में धर्म शब्द के अन्तर्गत जिस आधार की चर्चा की है, उसे उत्कृष्टतावादी चिन्तन और आदर्शवादी कर्तृत्व के अन्तर्गत ही गिना-समझा जाना चाहिए । कर्त्तव्यपरायणता का ही दूसरा नाम धर्म है । शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक, सामाजिक और सार्वभौमिक जिम्मेदारियों से मनुष्य की उच्छृंखलता को मर्यादित किया गया है । उसे अपने स्तर के अनुरूप सृष्टि सन्तुलन के प्रति अपनी जिम्मेदारियाँ भी निबाहनी होती हैं । धर्म का प्रयोजन इसी मानवोचित शालीनता और कर्त्तव्यनिष्ठा को अक्षुण्य बनाये रखना है । संस्कृति और सम्प्रदायों में क्षेत्रीय और सामयिक परिस्थितियों के अनुसार आचार-व्यवहार की व्यवस्था रहती है । इसलिए परिस्थिति के अनुसार बार-बार सुधार-परिवर्तन करना पड़ता है, पर धर्म के बारे में ऐसी बात नहीं है, वह शाश्वत् और सनातन है । उसका स्वरूप सदाचार, मर्यादा और लोकहित के रूप में चिरअतीत से ही निर्धारित किया जा चुका है, उसमें परिवर्तन की आवश्यकता कभी भी किसी को भी नहीं पड़ सकती ।

सुख-शान्ति के लिए अधिक सुविधाजनक साधनों की खोज में विज्ञान और शासन के प्रयास जुटे रहते हैं, पर यह भुला नहीं दिया जाना चाहिए मनुष्य एक चेतनात्मक परिपूर्ण सत्ता है । आनन्द का उद्गम उसके भीतर है । वही अन्तर्ज्योति जब बाह्यजगत पर प्रतिबिम्बित होती है तो सौन्दर्य सन्तोष एवं रसानुभूति का अनुभव होता है । विचारणा का स्तर ऊँचा उठाये बिना विपुल साधन-सम्पत्ति होने पर भी न आनन्द मिल सकेगा, न उल्लास, न सन्तोष । विचारणा को उत्कृष्टता के स्तर तक उठाने और सुदृढ़ बनाने में धर्म का तत्त्वज्ञान ही समर्थ हो सकता है ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

भौतिक विज्ञान इस प्रयोजन की पूर्ति में बहुत अधिक सहायता नहीं कर सकता ।

'मार्डन मैन इन सर्च ऑफ रिलीजन' ग्रन्थ में यह प्रतिपादन किया गया है कि विज्ञान में भी किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने के लिए विशिष्ट यन्त्र ही उपयोगी होते हैं । न तो सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा दूरस्थ तारा दिखाई देता है और न ही सर्जन की छुरी से कालेरिया के अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु देखे जा सकते हैं । इसी प्रकार बुद्धि के द्वारा आध्यात्मिक सत्यों का परीक्षण नहीं किया जा सकता, भले ही वह कितनी ही तीक्ष्ण क्यों न हो ।

विज्ञान द्वारा सुविधा-साधनों की वृद्धि की दिशा में किये गये प्रयासों से समुचित लाभ तभी उठाया जा सकेगा, जब भावना एवं दृष्टिकोण को ऊँचा उठा सकने में समर्थ धर्मतत्त्व को समझने के लिए भी समानान्तर प्रयास किया जाय ।

'ईवोलूशन इन साइन्स एण्ड रिलीजन' के लेखक का कथन है-विज्ञान ने शक्ति को पदार्थ के रूप में और पदार्थ को शक्ति के रूप में परिवर्तित करके यह सिद्ध कर दिया है कि सूक्ष्म को स्थूल में और स्थूल को सूक्ष्म में बदला जा सकता है ।

दर्शन भी यह सिद्ध करता रहा है कि विचार को घटना के रूप में विकसित किया जा सकता है और घटनाएँ विचारों का निर्माण कर सकने में समर्थ हैं ।

पदार्थ से सुख मिलता है, यह सिद्धान्त भी अपने स्थान पर ठीक है, पर गलत यह भी नहीं कि उत्कृष्ट चिन्तन उपलब्ध साधनों की मात्रा अधिक न होने पर भी हस्तगत है, उससे इतना आनन्द उठाया जा सकता है जो परिपूर्ण सन्तोष प्रदान कर सके ।

सामाजिक सुव्यवस्था के लिए धर्म-धारणा से बढ़कर और कोई साधन नहीं हो सकता । बलपूर्वक अवांछनीयता पर नियन्त्रण करने में शासन की अधिकांश क्षमता नष्ट होती रहती है फिर भी कुछ हमें लाभदायक समाधान नहीं मिलता। यदि धर्म-धारणा को प्रखर और समुन्नत बना सकने योग्य वातावरण उत्पन्न किया जा सके, उचित साधन जुटाये जा सकें तो निसन्देह सामाजिक सुव्यवस्था और राष्ट्रीय समर्पण का प्रयोजन सहज ही पूरा हो सकता है । सार्वभौम और सर्वकालीन सुख-शान्ति की स्थापना धर्म-धारणा को सुदृढ़ और समुन्नत बनाकर ही की जा सकती है।

अर्थ को नहीं, धर्म को प्रधानता मिले

निस्सन्देह धन मनुष्य जीवन की एक आवश्यक वस्तु है, पर इतनी नहीं कि उसे प्रथम स्थान दिया जा सके । प्रथम स्थान धर्म का है । अर्थ का इसके बाद नम्बर आता है । धर्म से रहित अर्थ व्यर्थ ही नहीं, हानिकारक भी है । इसके विपरीत अर्थरहित धर्मात्मा भी तेजस्वी जीवन व्यतीत कर सकता है ।

अधर्मी व्यक्ति धन के लालच में बुरे से बुरे कार्य कर सकता है । उसने जो कमाया है, उसे बुरे से बुरे कार्यों में खर्च कर सकता है । कमाई का स्रोत और खर्च का औचित्य अशुद्ध हो जाने पर धन अपने स्वामी का नाश करने वाला बन जाता है । ऐसी दशा में उसका न होना ही श्रेयस्कर माना जा सकता है ।

धर्म अकेला ही सुदृढ़ रह सकता है । जिनमें धर्म बुद्धि है, वह इतना पुरुषार्थी तो होगा ही कि अपने गुजारे लायक कमा सके । अधिक संचय न हो सके तो वह थोड़े में भी मितव्ययता और सन्तोषपूर्वक काम चला सकता है । प्राचीनकाल में ऋषियों का जीवन इसी प्रकार का था । उन्होंने स्वेच्छा से निर्धनता अपनाकर यह बात प्रमाणित की थी कि स्वल्प साधनों में भी मनुष्य का व्यक्तित्व सुविकसित रह सकता है । उसकी किसी भी प्रगति में बाधा नहीं पड़ सकती । संसार के अधिकांश महापुरुष गरीबी में ही पैदा हुए, बढ़े और पले तथा अन्त तक उसी स्थिति में ही बने भी रहे, पर इससे उनकी महानता एवं सुख-शान्ति में रत्ती भर भी कमी नहीं आई ।

भारत के महान् सन्त और सत्पुरुष तो प्राय: इसी श्रेणी के हुए हैं । अन्य धर्मों के प्रवर्त्तक भी ऐसे ही थे । जो सम्पन्न थे, उन्होंने सम्पन्नता छोड़कर गरीबी को अपनाया, क्योंकि वे जानते थे कि अर्थ का बाहुल्य नहीं, सद्गुणों का विकास ही मानव जीवन की प्राथमिक आवश्यकता है । धन के झंझटों में अत्यधिक व्यस्त रहने वाले के लिए आत्मिक प्रगति की ओर समुचित ध्यान दे सकना सम्भव नहीं रहता, इसीलिए सत्पुरुषों को अपनी आजीविका छोटी ही रखनी पड़ती है और स्वल्प साधनों से ही काम चलाना पड़ता है । बुद्ध, गाँधी, नानक, रामतीर्थ, विवेकानन्द, दयानन्द, रैदास, कबीर आदि निर्धनता के वातावरण में ही पले और बढ़े थे । विश्वामित्र, बुद्ध, महावीर, मीरा आदि राजघरानों में जन्मे अवश्य पर उन्होंने उसका परित्याग कर गरीबी का जीवन स्वेच्छापूर्वक अपना लिया । ईसा और मुहम्मद गरीब घरों में जन्मे थे । संसार के सभी सन्तों और दार्शनिकों का जीवन गरीबी में बीता ।

यहाँ गरीबी को आवश्यक नहीं बताया जा रहा है और न यह कहा जा रहा है कि मनुष्य को धन की आवश्यकता नहीं और उसे नहीं कमाना चाहिए, वरन् यह बताया जा रहा है, कि धन के बिना भी श्रेष्ठ व्यक्तित्व बिना किसी कठिनाई के अपने जीवन विकास की समस्या हल कर सकते हैं । इसके विपरीत प्रचुर धन होते हुए भी धर्म बुद्धि के अभाव में व्यक्तित्व के सुविकसित न होने पर मनुष्य विक्षुब्ध ही रहेगा । धन वृद्धि के साथ-साथ बढ़ने वाली अगणित समस्याएँ सन्तुलित मन से ही सुलझती हैं, उसका अभाव हो तो मनुष्य की अशान्ति और परेशानी ही बढ़ेगी ।

कमाई के सम्बन्ध में धर्म नीति न हो तो चोरी, बेईमानी, रिश्वत, छल, जुआ आदि अनैतिक साधन अपनाकर बिना मेहनत का पैसा इकट्ठा करेगा । इससे जिन लोगों से ऐसा

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

धन लिया गया होगा, वे कराह रहे होंगे और उसे शाप दे रहे होंगे । जिस पैसे को कमाने में कम परिश्रम लगता है, वह खर्च भी अपव्यय से ही होता है । मुफ्त के माल को उड़ाने में दिल बेरहम रहने की कहावत गलत नहीं है । अनीति से उपार्जित धन आमतौर से नशाखोरी, व्यभिचार, सट्टेबाजी, शेखीखोरी जैसे कुमार्ग में व्यय होता है । चोरी, ठगी, बीमारी, राजदण्ड, गुण्डागर्दी आदि माध्यमों में वह चला भी जाता है । बुरे पैसे के सहारे आमतौर से कोई फलता-फूलता नहीं देखा गया ।

व्यक्ति का विकास न हुआ हो, धर्म बुद्धि जाग्रत न हुई हो, तो परिश्रम से कमाये पैसे को भी उचित कार्य में खर्च नहीं किया जा सकता । ऐसे अनेक लोग हैं, जिनकी तनख्वाहें औसत भारतीयों की आमदनी से कहीं अधिक हैं, पर वे उसमें से बहुत-सा पैसा चाय, सिगरेट, शराब, पान, सिनेमा, यारबाजी, शेखीखोरी जैसे अनुपयुक्त कार्यों में खर्च कर डालते हैं और अच्छी आमदनी होते हुए भी अभावग्रस्त बने रहते हैं । शहरी धनिक वर्ग में ऐसे अगणित उदाहरण चाहे जब देखे जा सकते हैं ।

धन आवश्यक है, उसकी आवश्यकता से इन्कार नहीं किया जा सकता है । अनेकों सुख-साधन तथा प्रगति के उपकरण धन के द्वारा प्राप्त होते हैं, पर इसके साथ ही एक बड़ी शर्त जुड़ी हुई है, कि धन से भी पहले मनुष्य में सदाचरण की विवेक-बुद्धि जाग्रत होनी चाहिए, जिससे वह कमाई का सदुपयोग कर सके । पानी लेने से पहले उसे भरने का पात्र ढूँढ़ना पड़ता है । यदि पात्र न हो तो पानी को किस प्रकार लिया या रखा जा सकेगा ? इसी प्रकार मनुष्य की पात्रता को सुदृढ़ बनाया जाना धन उपार्जन से भी कार्य होना चाहिए । धन को प्राथमिकता मिल जाने से आजीविका तो बढ़ सकती है, पर इस बात का कोई ठिकाना नहीं कि उसका दुरुपयोग होने पर उल्टी विपत्ति तो न बढ़ जायगी

हमारे देश में आर्थिक प्रगति पर बहुत जोर दिया जा रहा है । राष्ट्र के कर्णधारों का पूरा ध्यान आर्थिक प्रगति में लगा हुआ है । जितनी भी योजनाएँ बनी हैं, वे सब आर्थिक उन्नति की दृष्टि से हैं । आर्थिक विकास अच्छी बात है, उसकी आवश्यकता भी है, उस प्रकार का एकांगी प्रयत्न कुछ विशेष उपयोगी सिद्ध न हो सकेगा । नैतिकता के अभाव में बढ़ा हुआ धन निरर्थक ही नहीं चला जायगा वरन् अनेक समस्याएँ भी उत्पन्न करेगा । पिछले दिनों अमीरों ने जो धन लगाया, उसका अधिकांश भाग 'काला धन' के रूप में जब्त कर लिया गया । कहते हैं कि २० अरब रुपया इस प्रकार गुप्त पड़ा हुआ है । देहातों में जहाँ अन्न की कीमत बढ़ने तथा दूसरे कारणों से धन बढ़ा, वहाँ विवाह-शादी, मृत्युभोज, मुकदमेबाजी, फौजदारी आदि व्यर्थ कार्यों में वह नष्ट हो रहा है । राष्ट्रीय उन्नति के जिन कार्यों में यह बढ़ी हुई कमाई लगानी चाहिए थी, उसमें न गरीब लगा रहे हैं न अमीर । सच बात तो यह है कि गरीबी के कारण जो चरित्रगत दोष-दुर्गुण दबे पड़े थे, वह थोड़ा धन बढ़ते ही बुरी तरह उभर आए हैं और प्रत्येक क्षेत्र में अधिक भ्रष्टता दिखाई पड़ने लगी है ।

धन बढ़ने दिया जाय, उसके लिए प्रयत्न भी किये जायें, पर इससे भी पहली आवश्यकता है कि राष्ट्र का नैतिक स्तर ऊँचा उठाने के लिए आर्थिक प्रगति से भी अधिक प्रबल प्रयत्न किये जायें । महात्मा गाँधी यही कर रहे थे । स्वराज्य उनका लक्ष्य नहीं माध्यम था । इसी आन्दोलन के जरिये वे भारतीय नागरिकों में मनुष्योचित आकांक्षाएँ एवं प्रवृत्तियाँ जाग्रत कर रहे थे । स्वराज्य मिलने के बाद अब वह कार्य समाप्त नहीं हो जाना चाहिए, वरन् अपने भाग्य निर्माण की जो सुविधा मिली है, उसका लाभ लेकर हमें जनमानस को परिष्कृत करने एवं राष्ट्रीय चरित्र को ऊँचा उठाने के लिए शक्ति भर प्रयत्न करना चाहिए । इसके बिना आर्थिक प्रगति की चेष्टाएँ सफल होते हुए भी एक सार्वजनिक संकट के रूप में ही प्रतिफलित होंगी ।

आर्थिक समृद्धि भी तभी हितकर होती है, जब वह आन्तरिक समृद्धि के साथ-साथ हो । आस्थाओं की समृद्धि, उत्कृष्टता आर्थिक वैभव से अधिक ही महत्त्वपूर्ण है । आर्थिक एवं भौतिक समृद्धि स्वयं में किसी निश्चित प्रवृत्ति की प्रेरणा में समर्थ नहीं । उनके सत् और असत्, शुभ और अशुभ दोनों तरह के उपयोग सम्भव हैं । कैसा उपयोग किया जाएगा, यह इस पर निर्भर करता है कि अमुक समाज और व्यक्ति के जीवन में किस प्रकार के तत्त्वों की प्रधानता है-आसुरी अथवा दैवी ? उपयोगमूलक अथवा समतामूलक ?

कहा जाता है कि आसुरी और दैवी तत्त्वों के शैतान और भगवान् के, तम और सत् के सम्मिश्रण से मनुष्य की रचना हुई है । उसमें श्रेष्ठता भी पर्याप्त है, पर निकृष्टता भी कम नहीं । जब श्रेष्ठता का उभार आता है तो व्यक्ति सन्त, सज्जन, महामानव भू-सुर एवं नारायण जैसे दीखता है, पर जब निकृष्टता उफनती है, तो उसकी दुष्प्रवृत्तियाँ इतनी भयानक हो उठती हैं कि पशु और पिशाच भी उससे बहुत पीछे रह जाते हैं । इन उफानों का सन्तुलन एवं नियन्त्रण बनाए रखने के लिए अन्तःकरण में जिस निष्ठा-अंकुश की आवश्यकता पड़ती है उसी नियामक तत्त्वदर्शन को, आस्था शिलारोपण को, दृष्टिकोण को धर्म कहा जा सकता है । आन्तरिक आस्था के अतिरिक्त मनुष्य जैसे अद्भुत बुद्धि एवं विलक्षण सूझ-बूझ वाले प्राणी को और किसी तरह कुमार्ग से बचाने और सन्मार्ग पर प्रेरित करने के लिए अन्य कोई आधार हो ही नहीं सकता । कानून दण्ड, लोक-निन्दा आदि से बच निकलने के लिए उसके पास इतनी पगडण्डियाँ मौजूद हैं तथा निकलती रहती हैं कि अनीति से रोका जा सकना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है । असुरता के उफान को रोकने और देवत्व की अभिलाषा को प्रोत्साहित करने के लिए जिस सर्वतोमुखी भावनात्मक निष्ठा को, धर्म-धारणा को तत्त्वदर्शी और महामनीषियों ने गढ़ा है, निस्सन्देह उन्होंने विश्व मानव की महान् सेवा की है ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

विश्व-व्यवस्था का संचालन ठीक तरह चलता रहे और व्यक्ति अपनी नैतिक मर्यादाओं का उल्लंघन न करने पावे, इस प्रयोजन के लिए विनिर्मित की गई धर्म की मूल मान्यताएँ निस्सन्देह हमारे लिए नितान्त उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण हैं । धर्म की दार्शनिक व्याख्या में नैतिक एवं सामाजिक उत्कृष्टता की भावनाओं और प्रवृत्तियों का ही समावेश है और उन्हें कोई सम्प्रदाय झुठला नहीं सका है । मतमतान्तर के अन्तर्गत आने वाले क्रिया-कृत्यों अथवा रीति-रिवाजों में कितना ही अन्तर क्यों न हो, नैतिक मूल्यों के बारे में प्राय: सर्वत्र एकता पाई जाती है । सत्य, प्रेम, न्याय, संयम, दया, उदारता, सहिष्णुता, सज्जनता, निर्मलता जैसे सद्गुणों को धर्म की आत्मा कह सकते हैं । सम्प्रदाय व्यवस्थाओं को तो उनका वस्त्र-परिधान मात्र कहा जा सकता है । इन आचरणों पर अधिक ध्यान न दिया जाय, विशेषतया उन सन्दर्भों को नजरअन्दाज कर दिया जाय तो अनैतिकता के अतिरिक्त केवल बाह्य मान्यताओं के कारण दूसरों के प्रति कठोर, असहिष्णु बनाना सिखाते हैं । उसी प्रकार अदृश्य शक्तियाँ, देवी-देवताओं की मनौती-चुनौती को भी व्यक्तिगत रुचि की बात मान लिया जाय और उस पर सैद्धान्तिक रूप से कुछ झंझट न खड़ा किया जाय तो साम्प्रदायिकता के विषैले, विकृत अंश से बचा जा सकता है और उसके उपयोगी अंश से लाभान्वित हुआ जा सकता है ।

आज की परिस्थितियों में धर्म तत्त्व की मूल भावनाओं के अभिवर्द्धन और परिपोषण की जितनी अधिक आवश्यकता है, उतनी पहले कभी नहीं रही । बौद्धिक, आर्थिक और वैज्ञानिक विकास के कारण जिन सुविधा-साधनों की वृद्धि हुई है, उन्होंने मनुष्य को अधिक लालची, अधिक विलासी और साथ ही अधिक धूर्त बना दिया है । फलस्वरूप कम काम करना, अधिक लाभ उठाने और नीति-अनीति का विचार किये बिना, जैसे भी स्वार्थ सिद्ध होता है, पूरा कर लेने की हविश बेतरह जाग पड़ी है । धर्म का अंकुश न रहने से यह दुष्प्रवृत्तियाँ इतनी अधिक पनपीं कि उन्हें अब एक परम्परा एवं सहज स्वाभाविकता माना जाने लगा है । किसी को दूसरों की इन दुष्प्रवृत्तियों से हानि पहुँचे तो वह जरूर चें-चें करेगा अन्यथा समाज में इस सन्दर्भ में बढ़ रही अवांछनीय हलचलों से किसी को शिकायत नहीं है । अनैतिकता का सामाजिक विरोध इसलिए समाप्त हो गया, क्योंकि इसको सर्वजनीन स्वाभाविक रीति-नीति मान लिया गया। अपराधों के प्रति शासकीय नियन्त्रण एक तो वैसे ही प्रजातन्त्र में बहुत ढीला होता है, अपराधियों को दण्ड-प्रतिरोध के भय से भी मुक्ति मिल गई है । जेल आदि को सुधारगृह बनाकर अपराधियों को और भी अधिक सुविधा देने के प्रयास चलते रहते हैं । अतएव वे एक बार जेल हो जाने के बाद तो उस भय से भी निवृत्त हो जाते हैं और सुख-सुविधा भरी ससुराल मानने लगते हैं । ऐसी दशा में जबकि सामाजिक और शासकीय प्रतिबन्ध बुरी तरह ढीले हों तो बढ़ती हुई अवांछनीयता को कौन रोके? दुष्प्रवृत्तियों से नष्ट होने वाली मानवीय प्रतिष्ठा एवं सम्पदा को विनाशकारी मार्ग से बचाकर प्रगति की रचनात्मक दिशा में कौन नियोजित करे? यदि इस दिशा में कुछ न किया जा सका तो दुष्प्रवृत्तियाँ व्यक्ति, समाज, शासन और अन्तर्राष्ट्रीय घटनाक्रमों को जिस प्रकार प्रभावित कर रही हैं, उसका परिणाम सर्वनाश ही हो सकता है । कूटनीतिक धूर्तता और संहारक अस्त्रों की घुड़दौड़ एक दिन मनुष्य जाति को सामूहिक आत्म-हत्या के लिए विवश कर सकती है ।

अन्धकारमय भविष्य की इन आशंकाभरी सम्भावनाओं के बीच एक ही प्रकाश की किरण शेष रह जाती है कि धर्म-बुद्धि को, धर्मवृत्ति को फिर से सजग और समर्थ बनाया जाय । जनमानस में उन मूल्यों के प्रति निष्ठा उत्पन्न की जाय जो मानवीय गरिमा एवं श्रेष्ठता के मूलभूत आधार हैं । जनआकांक्षाओं में सुख-साधनों की सत्ता, अधिकार की, आतङ्क और अहंकार की, जिस उद्धतता ने अधिकार जमा लिया है उसका परिमार्जन करके यदि आत्मगौरव के लिए आदर्श चरित्र की आवश्यकता का भाव जगाया जाय तो ही दिशा परिवर्तन की आशा की जा सकती है और उस परिवर्तन से ही अन्धकार से प्रकाश की ओर मुड़ चलने की सम्भावना सोची जा सकती है । यह परिवर्तन ही सर्वग्राही विनाश के पथ पर दौड़ती चली जा रही दुनिया को बचा सकने में समर्थ हो सकता है । कहना न होगा कि धर्मश्रद्धा के पुनरुत्थान के बिना यह प्रयोजन पूरा हो सकने की और कोई उचित राह दिखाई नहीं पड़ती । दूसरी राह उस अधिनायकवाद की है, जिसने व्यक्तिगत स्वाधीनता का अन्त करके मनुष्य को सोचने से दूर, मात्र कार्य-कर्त्री लौह मशीन के रूप में प्रस्तुत कर दिया है । यह स्थिति तो आज की विडम्बना भरी दुर्दशा से अधिक भयावह सिद्ध होगी । अधिनायकवादी सर्वतोमुखी पराधीनता तो है, जिसमें एक बार फँस जाने पर त्राण पाना आशक्य नहीं तो दुस्तर अवश्य हो जाता है, जिसे भावनाशील लोगों में से कोई भी पसन्द न करेगा ।

मानवीय अन्त:करणों में कुमार्गगामिता और उसकी प्रतिक्रिया विद्वेष से ऐसी आग जला करती है, जिसमें वैयक्तिक जीवन का आनन्द-उल्लास एक प्रकार से नष्ट ही होता चला जा रहा है । साधन सम्पन्न होते हुए सुख-शान्ति की झलक किसी के जीवन में नहीं है । सर्वत्र अशान्ति, उद्वेग और असन्तोष की ही आग सुलगती और धुयें जैसी घुटन पैदा करती दिखाई देती है । सामाजिक जीवन में अपराध, अनाचार, छल, असहयोग एवं अविश्वास की बाढ़-सी आ रही है और फलस्वरूप पग-पग पर विग्रह और राग-द्वेष के ज्वालामुखी फूट रहे हैं । न व्यक्ति को सुख है, न समाज को शान्ति । नारकीय विद्रूपता इस संसार को अपंग और कुरूप बनाने पर तुली हुई है । इन परिस्थितियों में एक ही रास्ता शेष रह जाता है कि धर्म भावनाओं को मानवीय अन्त:करणों में गहन श्रद्धा के रूप में पुन: प्रतिष्ठित किया जाय और प्राचीनकाल जैसी धर्मपरायणता को वापिस लाने के लिए भगीरथ प्रयत्न किया जाय ।

शास्त्रकार ने कहा है-

'न जातु काम कामानां उपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्धते ।।'

अर्थात्- 'उपभोग से कामनाएँ शान्त नहीं होतीं अपितु जैसे यज्ञाग्नि में हविष्य डालने से वह और बढ़ती है, वैसे ही कामनाएँ उपभोग से और धधकती हैं ।'

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

भर्तृहरि ने इसी स्थिति का वर्णन 'वैराग्यशतक' में करते हुए लिखा है:-

"भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता,
स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः ।
कालो न यातो वयमेव याता ।।
स्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः

अर्थात्-उपभोग तो पूरे हुए नहीं, हम ही चुक चले । तपस्या तो समाप्त ही नहीं हुई, हम ही समाप्त हो चले । तृष्णा बूढ़ी नहीं हुई, हम ही बूढ़े हो चले और समय नहीं बीता, हम ही चल दिए ।

वस्तुओं की उपयोगिता तो समझें और सीखें, यह आवश्यक है । वस्तुओं, भौतिक साधन-सुविधाओं का सुन्दर, सन्तुलित एवं सर्वोत्तम उपयोग क्या होगा तथा कैसे हो सकेगा? यह जानकारी अत्यावश्यक है । यह भी धार्मिकता का ही एक अंग है । कुशलता के साथ वस्तुओं का अधिकतम उपयोग आना जितना जरूरी है, उतना ही जरूरी है उपभोग की कामना को नियन्त्रित तथा मर्यादित रखना, क्योंकि उपभोग की अनियंत्रित कामना का कोई ओर-छोर ही नहीं । वह कभी भी शान्त नहीं हो सकती । उपयोग की अधिकतम सीमा निश्चित होती है, किन्तु उपभोग की कोई सीमा नहीं । उसकी लालसा-लिप्सा बढ़ती ही जाती है और वह अपने धारण करने वाले को भी लीलकर हजम करने के बाद भी अतृप्त ही रही आती है ।

इसलिए उपभोग को नियन्त्रित करना आवश्यक है । उन्हें अमर्यादित रहने देने पर, अधिकाधिक उपभोग की भूख बढ़ने देने पर व्यक्ति और समाज का ही अन्त निकट आ जाएगा, उपभोगों का नहीं । आवश्यकता उपयोग सीखने और उपभोग रोकने की है । ऐसा शिक्षण व्यवस्था, नियम एवं प्रेरणा ही धर्म का कार्य है ।

उपभोग प्रधान समाज में धन और भौतिक सुविधाओं का अर्जन-संचय ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ मान लिया जाता है और उसके लिए अपनाए गए साधनों को गौण एवं नगण्य । ऐसी स्थिति में चरित्र को कोई महत्त्व नहीं दिए जाने से उसका ह्रास होने लगना स्वभाविक है । चरित्र की कमी होने पर धन मारक और पीड़क ही सिद्ध होता है ।

धर्म प्रधान 'अर्थ' ही कल्याणकारी है

व्यक्तिगत जीवन और समाज को ऊँचा कैसे उठाया जाय ? उनमें शान्ति, सुव्यवस्था शालीनता और सदाचार कैसे कायम किया जाय ? इसके लिए भारतीय मनीषियों ने पुरुषार्थ चतुष्टय का एक सुगम उपाय बताते हुए उसे व्यक्तिगत जीवन में अपनाये जाने पर विशेष बल दिया था, पर दुर्भाग्य यह है कि वह वार्त्तालापों के मध्य होने वाली दार्शनिक चर्चा मात्र बनकर रह गया है ।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष यह जीवन के चार महत्त्वपूर्ण पहलू हैं । धर्म अर्थात् नीतिमत्ता । अर्थ अर्थात् सम्पदा । काम अर्थात् कर्त्तव्यपरायणता और मोक्ष अर्थात् विदेह जैसी स्थिति, आन्तरिक उत्फुल्लता, आनन्द का अवतरण । जीवन के प्रस्तुत अध्यायों में से आरम्भिक तीन को सम्पन्न कर लेने मात्र से अन्तिम का सम्पादन स्वतः ही हो जाता है । इन तीनों में से भी प्रथम दो विशेष महत्व के बताये गये हैं, पर आजकल तो सर्वत्र 'अर्थ' को ही प्रधानता मिली हुई है और इसी के गिर्द जीवन घूमता रहता है । शेष तीन की उपेक्षा हो जाने के कारण ही न तो जीवन में और न समाज में ही शान्ति और सुव्यवस्था दिखाई पड़ती है जो दिखाई पड़नी चाहिए थी । सम्प्रति व्यक्ति यदि धनकुबेर बन भी गया, तो उसे ही चैन कहाँ है ? उसकी अशान्ति इस बात की है कि सम्पदा कहीं कोई चुरा न ले जाय, जबकि दरिद्रों को यह चिन्ता सताती रहती है, कि कुछ पैसे जुड़ जाएँ तो अमीरों जैसे ठाट अपनाया और मौज-मस्ती की जाय । सम्पत्ति आज हर एक को बेचैन किये हुए है । आखिर इसका कारण क्या है ? इन दिनों अर्थ और जीवन क्यों एक-दूसरे के पर्याय बने हुए हैं ? जबकि पूर्वकाल में अर्थ को अनर्थमूलक माना और उसके सीमित उपयोग पर जोर दिया जाता था ।

गहन विचार मंथन से यही ज्ञात होता है कि इस लम्बे अन्तराल में मनुष्य का उत्कर्ष के बजाय उपकर्ष ही हुआ है । परमार्थपरायण बनने की तुलना में वह अधिकाधिक स्वार्थी बना है । स्वार्थ जब जहाँ भी पैदा होता, वह निजी सुख-सुविधा की माँग करता है । सुविधाएँ अनुचित संचय और दूसरों के अधिकारों के अपहरण के बिना सम्भव नहीं । यह दोनों बातें ऐसी हैं, जो प्रच्छन्न रूप से वैभव से सम्बन्धित हैं । संचय की आम प्रवृत्ति धन के प्रति होती है । यही हर प्रकार के संग्रह की मूल है । दौलत यदि नहीं हुई, तो दूसरे प्रकार का संचय भी असम्भव स्तर का बना रहता है, इसलिए लोग सम्पदा को ही इकट्ठा करना ज्यादा पसंद करते हैं, क्योंकि इसके माध्यम से बाद में कोई भी अन्य सुविधा आसानी से खरीदी जा सकती है । इसी तरह अपहरण की बात जहाँ आती है, वहाँ भी अर्थलोलुपता की विकृत भावना ही दिखाई पड़ती है । लोग पद का, धन का, जमीन का, मकान, दुकान सामान का अपहरण करते देखे जाते हैं, क्योंकि वे सब सम्पदा के स्रोत हैं, किन्तु इन दिनों एक नये प्रकार का अपहरण बड़े पैमाने पर घटित होता देखा जा रहा है । यह है-आदमी का । व्यक्ति अपहरण के अधिकांश मामलों में अर्थ का घटना से सीधा सम्बन्ध होता है और धन के साथ ही अपहृत व्यक्ति छूट भी जाता है । कुछ ही प्रकरण उनमें ऐसे होते हैं, जिनमें घटना का सम्बन्ध सीधे रुपये-पैसे से न होकर अपहर्त्ता के किसी स्वार्थ से होता है, पर ऐसे मामले उँगलियों में गिनने जितने होते हैं । अधिकांश में इसका उद्देश्य फिरौती की रकम प्राप्त करना है । स्पष्ट है जैसे-जैसे मनुष्य में स्वार्थपरता बढ़ी, वैसे ही वैसे उसमें धन के प्रति आकर्षण

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

भी बढ़ा है और तदनुरूप अर्थोपार्जन के नये-नये अवैध धंधे भी अस्तित्व में आये हैं । इसलिए पहले जो लक्ष्मी धन की पर्याय मानी जाती थी, कल्याणकारक समझी जाती थी, अब वही परेशानी का कारण बनी हुई है । भला लक्ष्मी के आगमन से किसी को कठिनाई क्यों कर होनी चाहिए ? जो स्वयं मंगलकारक है, उनसे अमंगल की सम्भावना कैसे हो सकती है ? ऐसा वस्तुतः लक्ष्मी सम्बन्धी तत्त्वदर्शन भली-भाँति नहीं समझ पाने के कारण ही है । लक्ष्मी का तात्पर्य मंगल और कल्याण साधन की देवी से है । शब्दकोशों में इसीलिए लक्ष्मी को उद्योगी पुरुषों के द्वारा प्राप्य या पुरुषार्थियों को अपनाने वाली बताया गया है । स्वयं पाणिनि ने भी कुछ ऐसा ही अर्थ करते हुए-'**लक्षयति पश्यति उद्योगिनं इति लक्ष्मी**' कहा है । इन अर्थों से स्पष्ट है कि जहाँ पुरुषार्थ और पराक्रम होंगे, वहाँ लक्ष्मी भी होगी । पुरुषार्थ और पराक्रम नीतिवाचक शब्द हैं, अनीतिबोधक नहीं । आज चूँकि पग-पग पर अनीति अपनायी जा रही है, इसलिए धनोपार्जन जैसा सरल मार्ग भी सर्वथा नैतिक नहीं रह सका या यों कहा जाय कि बिल्कुल अनैतिक बना हुआ है, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी । जहाँ पुरुषार्थ की जगह बेईमानी हो, भला वहाँ लक्ष्मी कैसे विराज सकती है ? वह तो नीतिवानों की सहचरी है । इसलिए आज के अधिकांश लोग धन कमाने में सफल हो तो जाते हैं, पर लक्ष्मी तत्त्व के अभाव में सदा अशान्त और असन्तुष्ट बने रहते हैं ।

आर्ष वाङ्मय में असुर शब्द उन लोगों के लिए प्रयुक्त हुआ है, जो न स्वयं चैन से रहते, न दूसरों को रहने देते हैं । इस बिंदु पर वर्तमान धनाध्यक्षों की मनोदशा भी ठीक उन जैसी ही दिखाई पड़ती है । यह बात और है कि वे वैसे अवांछनीय आचरण में निरत नहीं रहते, पर मानसिक अस्थिरता उन्हें बेचैन तो बनाये ही रहती है । ऋग्वेद में ऐसे ही कितने ही मंत्र हैं, जिनसे विदित होता है कि असुरों की सम्पदा देवताओं की तुलना में कहीं अधिक थी । इनकी रक्षा में ही निमग्न रहने के कारण वे राक्षस हो गये, जबकि देवता वे कहलाये, जो अपरिग्रहपूर्वक रहते और अभावग्रस्तों को दान करके खाते थे, अतएव वे लक्ष्मीवान बने रहे ।

प्राचीन समय में वस्तुतः सम्पदा की अपेक्षा श्री की प्रतिष्ठा थी । यही कारण है कि तब समाज में हर प्रकार से शान्ति बनी हुई थी । जहाँ 'श्री' रहेगी, वहाँ समृद्धि और संतोष होना स्वाभाविक है । वर्तमान में सम्पत्ति सर्वोपरि है । लक्ष्मी की स्थापना की बात तो बाद में सोची जाती है । जहाँ वैभव आगे और 'श्री' पीछे हो, वहाँ लक्ष्मी का कोई महत्त्व रह नहीं जाता । ऐसी स्थिति में नियंत्रणकारी अंकुश लक्ष्मी के पास न रहकर धनवान के हाथ आ जाता है । जब मंगल चाहने वाली देवी का दौलत पर नियमन ही नहीं रहा, तो उसके दुरुपयोग की बात कैसे सोची जा सकती है ? जहाँ दुरुपयोग होगा, वहाँ दुर्गति भी पैदा होगी । इससे व्यक्ति में असन्तोष और समाज में अराजकता उत्पन्न होना सुनिश्चित है । यही आज की स्थिति है ।

प्रस्तुत दशा से बचने के लिए ही हर भारतीयों के घर में प्रतिवर्ष कार्तिक अमावस्या के दिन लक्ष्मी की पूजा की जाती है । यह पूजन जहाँ आडम्बरयुक्त उपचार बनकर रहा, वहाँ की स्थिति में सुधार की रत्ती भर भी गुंजाइश नहीं रहती, किंतु जहाँ लक्ष्मी के तत्त्वदर्शन को हृदयंगम करते हुए उसे व्यावहारिक जीवन में अपनाने का प्रयास किया जाता है, वहाँ 'श्री' वृद्धि प्रत्यक्ष देखी जा सकती है। प्रतिवर्ष लक्ष्मी उपासना का विधान इसलिए भी है कि जिस आदर्श को जीवन का अभिन्न अंग बनाये रखने का संकल्प लिया गया था, वह कहीं विस्मृत न हो जाय और जिन्दगी आदर्शहीन-श्रीहीन होकर न रह जाय, इस निमित्त भी लक्ष्मी की आराधना की जाती है, किंतु इन दिनों तो इस पूजा का अर्थ देवी की उपासना से मालामाल हो जाना लगाया जाता है । यही सबसे बड़ी विडंबना है । यदि ऐसी बात रही होती, तो लक्ष्मीनारायण मंदिर के पुजारी अब तक विपुल वैभव के स्वामी बन गये होते, पर वर्षों की पूजा के बाद भी उनके जीवन में ऐसा कुछ घटित होते कहाँ देखा जाता है ? इससे स्पष्ट है कि लक्ष्मी अर्थतंत्र के श्रेष्ठतम सदुपयोग और सुनियोजन की देवी है । गाँवों में कन्या को प्रायः 'लक्ष्मी' कहा जाता है । यहाँ का भाव उसकी उपस्थिति से पिता के धनपति बनने जैसा नहीं, वरन् इतना है कि वह अपने व्यवस्था-कौशल से घर को एक सुखद-सुन्दर वातावरण प्रदान करती है । सही अर्थों में देवी लक्ष्मी की भूमिका भी इतनी ही है ।

इस प्रकार अर्थ-अनर्थ के बीच का भेद समझने और लक्ष्मी सम्बन्धी तत्त्वदर्शन के अपना लेने के उपरान्त कोई कारण नहीं कि शेष तीन पुरुषार्थ साथ-साथ सम्पादित न होते चलें । जहाँ अर्थतंत्र की नियामक 'श्री' रहेगी, वहाँ धर्म तत्त्व भी रहेगा और कर्त्तव्यपरायणता भी निभती चलेगी । इन तीनों के समन्वय से जीते जी मोक्ष जैसा आनन्द न मिले यह हो नहीं सकता । इस तरह जिस समाज में उक्त चारों पुरुषार्थों का संतुलन समीकरण बना रहेगा, वहाँ की धरती पर देवता निवास करेंगे और वह धरती स्वर्ग जैसी सुखद एवं सुन्दर होगी, इसमें दो मत नहीं ।

धर्म की स्थापना ही नहीं, अधर्म की अवहेलना भी

असुरता को निरस्त करना और देवत्व का अभिवर्द्धन, यह उभयपक्षीय कर्त्तव्य कर्म प्रत्येक मनुष्य को निवाहने होते हैं । आहार का ग्रहण और मल का विसर्जन दोनों ही क्रिया-कलाप जीवनयापन के अविच्छिन्न अंग हैं । भगवान् को उद्देश्य लेकर अवतरित होना पड़ता है- (१) धर्म की स्थापना, (२)अधर्म का विनाश । दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है । माली को पौधों में खाद-पानी लगाना पड़ता है

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

साथ ही बेढंगी टहनियों की काट-छाँट तथा समीपवर्ती खर-पतवार उखाड़ने पर भी सतर्कतापूर्वक ध्यान रखना पड़ता है । आत्मोन्नति के लिए जहाँ स्वाध्याय, सत्संग, धर्मानुष्ठान आदि करने पड़ते हैं, वहाँ कुसंस्कारों और दुष्प्रवृत्तियों के निराकरण के लिए आत्मशोधन की प्रताड़ना तपश्चर्या भी अपनानी होती है । प्रगति और परिष्कार के लिए सृजन और उन्मूलन की उभयपक्षीय प्रक्रिया अपनानी होती है । धर्माचरण की तरह ही अधर्म के प्रति प्रचंड आक्रोश प्रकट करने पर ही समग्र धर्म की रक्षा हो सकती है । अनीति के प्रति आक्रोश जाग्रत रखने को शास्त्रों में 'मन्यु' कहा गया है और उस प्रखरता को धर्म का अविच्छिन्न अंग माना गया है । अतिवादी, उदारपक्षी, एकांगी धार्मिकता का ही दुष्परिणाम था जो हजार वर्ष की लम्बी राजनैतिक गुलामी के रूप में अपने देश को अभिशाप की तरह भुगतना पड़ा ।

सज्जनता का परिपोषण जितना आवश्यक है उतना ही दुष्टता का उन्मूलन भी परम पवित्र मानवीय कर्त्तव्य है । यदि वह सनातन सत्य ठीक तरह समझा जा सके तो प्राचीनकाल की तरह आज भी हर व्यक्ति को न्याय के औचित्य का पोषण और अन्याय के औचित्य का निराकरण हो सकता है । शास्त्र कहता है-

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह ।
तँल्लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना ।।

-यजु० २०।२५

जहाँ ब्रह्मशक्ति और क्षात्रशक्ति साथ-साथ रहती हैं, जहाँ पञ्चमहायज्ञों का अनुष्ठान कायम रहता है, वही देश पुण्य देश रहता है ।

नाब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्धते ।
ब्रह्म क्षत्रं च संपृक्तमिह चामुत्र वर्धते ।।

-मनु०९।३२२

न बिना ब्रह्म-शक्ति के क्षात्र-शक्ति बढ़ सकती है और न बिना क्षात्र-शक्ति के ब्रह्म-शक्ति बढ़ सकती है, प्रत्युत दोनों के मेल से ही लोक-परलोक की उन्नति होती है ।

ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेकं सन्न व्यभवत् । तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणिन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो: यमो मृत्युरीशान इति ।

-वृ० उ० ४/११

सृष्टि के पूर्व-जगत के जगत स्वरूप में व्याहृत होने के पहले केवल एक ब्रह्म ही था । उस समय एक था, परन्तु ब्राह्मण जात्याभिमानी एक ब्रह्म से सृष्टि स्थिति आदि विश्व से समस्त कार्यों का निर्वाह नहीं हो सकता। एक ब्रह्मा सृष्टि, स्थिति आदि निखिल जगत कार्यों को सम्पादन करने में पर्याप्त समर्थ नहीं है । इसी कारण कर्म करने की इच्छा से परमात्मा प्रशस्त रूप में क्षत्रिय-भाव से युक्त हुए । इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु और ईशान रूप में व्यक्त हुए । इन्द्रादि देवगण क्षत्रिय जाति के देवता हैं ।

ब्रह्मणैः छत्रबंधुर हि द्वारपालो नियोजितः ।

-भागवत

ब्राह्मण कर्म वालों ने क्षत्रिय कर्म वाले भाइयों की समाज का चौकीदार नियुक्त किया ।

शम प्रधानेषु तपोधनेषु
गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेज

-कालिदास

"शम प्रधान तपस्वियों में (शत्रुओं को) जलाने वाला तेज छिपा हुआ है ।"

वीरता ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों के लिए समान रूप से आवश्यक है । ब्राह्मण उसका साहसिकता का परिचय सत्प्रवृत्तियों के संवर्द्धन में तन्मय रहकर देता है । क्षत्रिय अपनी शूरता को दुष्टता से जूझने में लगाता है । दोनों का कार्य समान रूप से आवश्यक है । अस्तु दोनों को ही श्रेयाधिकारी कहा गया है ।

वेदाध्ययन, शूराश्च, शूराश्चाध्यापनेरताः
गुरु सुश्रूषया, शूरा मातृपितृ परायणा
आरण्य गृह वासे च शूरा कर्तव्यपालने ।

जो वेदाध्ययन में, अध्यापन में, गुरु सेवा में, माता पिता की सेवा में, कर्त्तव्यपरायणता में शूर है वह चाहे वनवासी बने अथवा घर में रहे समान रूप से प्रशंसनीय है।

प्राचीनकाल में युद्ध धर्म युद्ध के रूप में ही होते थे । नीति और न्याय की रक्षा के लिए असुरता के विरुद्ध लोहा लिया जाता था । अनीतिपूर्वक स्वार्थ सिद्धि करने के लिए आक्रमण करने की देव परम्परा कभी रही ही नहीं । जब भी लड़ना पड़ता तब दुष्टता को निरस्त करना ही उसका लक्ष्य रहा । अस्तु भारतीय युद्धों का इतिहास 'धर्म युद्ध' के रूप में ही देखा जा सकता है । जिस प्रकार ब्राह्मण तपश्चर्या और लोकसेवा में अपने को तिल-तिल गलाते-घुलाते थे, उसी प्रकार क्षत्रिय भी असुरता से जूझने में अपने प्राणों की परवाह न करते थे और जान हथेली पर रखकर अन्याय से जूझते और उसे मिटाकर ही चैन लेते थे । क्षत्रिय धर्म और उनके धर्म युद्ध की शास्त्रों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है और कायरतावश उससे जी चुराने वालों को निन्दनीय ठहराया है ।

धर्म को विकृतियों के दल-दल से उबारा जाय

पुरातनकाल में धर्म ही मानवीय उत्कर्ष और अनुशासन का एकमात्र आधार था । समयानुसार वह राजतन्त्र और धर्मतन्त्र में बँटा तो भी अपनी उत्कृष्टता के कारण मानव अन्तराल पर उसका प्रभाव अक्षुण्ण ही बना रहा । शासन का क्षेत्र पदार्थ एवं व्यवहार है ।· धर्म का चरित्र एवं चिन्तन । धर्म व्यक्तित्व का गठन करता है । शासन साधनों के उत्पादन वितरण से लेकर सुरक्षा, व्यवस्था जैसे भौतिक प्रयोजनों की पूर्ति करता है । यों साधनों की कमी या अव्यवस्था से भी कम कष्ट नहीं होता, इसलिए उसकी साज-सँभाल रखने की जिम्मेदारी उठाने

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

वाले शासन का भी महत्त्व एवं वर्चस्व है । अर्थ और दण्ड की शक्ति उसके हाथ में रहने से आकर्षण एवं भय के आधार पर उसका लोहा भी माना जाता है । इतने पर भी धर्म की गरिमा, उपयोगिता एवं स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता । मानवीय अन्त:करण में उच्चस्तरीय आस्था जमाने, विचारणा में सदाशयता को रखने तथा क्रिया-प्रक्रिया को नीतिनिष्ठ बनाने की शक्ति धर्म की ही है । भावना और विचारणा का महत्त्व सर्वोच्च है । वही व्यक्ति की मौलिक सम्पदा एवं क्षमता है । उत्थान-पतन की दूरगामी भूमिका का सूत्र-संचालन यहीं से होता है । मनुष्यों का समूह ही समाज है । लोगों का स्तर जैसा होता है, उसी के अनुरूप समाज की गतिविधियाँ चलती हैं । जैसी गतिविधियाँ होती हैं, वैसी ही परिस्थितियाँ बनती हैं । शासन तो परिस्थितियों का नियन्त्रण भर करता है । उनका उत्पादन तो अन्त:करण एवं बुद्धि-संस्थान से होता है । अस्तु, भावना क्षेत्र को दिशा देने वाले धर्म की गरिमा सदा ऊँची रहेगी । उसे शासन से भी अधिक महत्त्व मिलेगा । दर्शन की गरिमा वैभव से किसी भी प्रकार कम नहीं है ।

शासन का महत्त्व सभी समझते हैं । कोई भी अराजकता नहीं चाहता, यहाँ तक कि दुष्ट-दुराचारी भी नहीं, क्योंकि अभी तो उन्हें न्याय-व्यवस्था के अन्तर्गत अपनी जान बचाने और अनीति को छद्म रूप से चलाने का जो अवसर मिला हुआ है, वह भी अराजकता की स्थिति में न रहेगा । दो का जवाब बीस, बीस कमजोर मिलकर भी दो बलिष्ठों की धज्जियाँ उड़ा सकते हैं। जिस प्रकार अराजकता सहन नहीं की जा सकती, अधार्मिकता भी उतनी ही भयावह सिद्ध होती है । नीति-मर्यादा का परित्याग कर देने के बाद मनुष्य हिंस्र पशुओं से भी अधिक आततायी हो जाता है, हिंस्र जन्तु पेट भर जाने पर आक्रमण नहीं करते पर मनुष्य तो दर्प के लिए भी असंख्यों को मटियामेट करता रहता है । मध्यकालीन सामन्तवाद का प्रत्येक रक्त-रंजित पृष्ठ इसी की साक्षी देता है । आज भी आस्थाहीन व्यक्तियों हिटलर, चंगेजखाँ, नादिरशाह, रावण, दुर्योधन, जरासंध ने न जाने कितने कहर ढाये हैं । आततायी और आतंकवादी प्राय: आस्थाहीन ही होते हैं । अराजकता और अधार्मिकता में से कौन अधिक भयावह है? यह कहना कठिन है ।

शासन के पास साधन कितने ही अधिक हों उसकी सफलता भी सदा ईमानदार कर्मचारियों एवं नीति-निष्ठ प्रजाजनों पर टिकी हुई है । यदि कर्मचारी भ्रष्ट हों तो असीम साधनों के रहते हुए भी पतन-पराभव का मुँह देखना पड़ेगा । इसी प्रकार प्रजाजन यदि दुष्टता पर उतारू हो चलें तो फिर उन्हें नियन्त्रित करने में पुलिस की शक्ति क्या काम करेगी ? फिर वे लोग भी तो भ्रष्ट जनता में से ही निकल कर आये होंगे । उनका अन्तरंग नीति-भ्रष्ट के साथ साझीदारी कर ले तो फिर न्याय-नियन्त्रण की, विकास-उत्थान की योजना एक कोने में रखी रह जायेगी । शासकों को श्रेय देने वाली सफलताएँ शास्त्रों पर वैभव-विस्तार पर टिकी हुई नहीं हैं वरन् नीतिनिष्ठ कर्त्तव्यपरायण प्रजाजनों पर निर्भर हैं । कहना न होगा कि यह समूचा भावना क्षेत्र धर्म-धारणा के अन्तर्गत आता है । शासन लोभ या भय के आधार पर किसी को उत्कृष्ट व्यक्तित्व से सम्पन्न नहीं बना सकता । उसकी पहुँच वैभव क्षेत्र से आगे बढ़ मात्र बौद्धिक क्षेत्र तक समाप्त हो जाती है। सरकारी प्रचार प्रोपेगण्डा के आधार पर प्रस्तुत समाचारें तक पर जब विश्वास नहीं किया जाता, तो उनके द्वारा चिन्तन की उत्कृष्टता और व्यवहार की आदर्शवादिता को लोकभावना में इतनी गहराई तक उतार देना किस प्रकार सम्भव होगा, जहाँ किसी भी भय-प्रलोभन से मानवीय आदर्शवादिता को न गँवाने की व्रतशीलता अडिग चट्टान की तरह खड़ी रहे।

"धर्म-धारणा जहाँ भी बलवती होगी, वहाँ नैष्ठिक नागरिकता, अनुशासित सामाजिकता, चारित्रिक संयम-शीलता, व्यावहारिक सज्जनता के वे सभी चिह्न प्रकट होंगे, जिन्हें मानवीय गरिमा के रूप में सुना-समझा जाता रहा है । श्रेष्ठताओं का समुच्चय ही धर्म है, इसी की उपयोगिता जब जन-जन ने देखी-परखी थी, तब उसे सर्वोच्च सम्मान प्रदान किया गया था । हर किसी को इस आप्तवचन पर दृढ़ विश्वास था कि धर्म की रक्षा करने से ही अपनी रक्षा होती है और मारने वाले को उलट कर मार डालता है ।" इसी तथ्य और सत्य पर अटूट विश्वास होने का कारण इस देश के नागरिक देवोपम कहे जाते थे । उनकी गणना तेतीस कोटि देवताओं में भी की जाती थी और जिस पर वे निवास करते थे, वह धरती स्वर्गादपि गरीयसी गिनी जाती थी । कारण स्पष्ट है, उच्चस्तरीय दृष्टिकोण अपनाकर आदर्शवादी जीवन जीने वालों की गतिविधियाँ ऐसी ही हो सकती हैं जो अपने लिए तथा अन्यान्य सभी के लिए समुचित मन:स्थिति एवं परिस्थिति का चिरस्थाई निर्धारण कर सकें । ऐसा उत्कृष्ट वातावरण बनाना और व्यक्तित्व में प्रतिभा प्रखरता भर देना उसी तत्त्वदर्शन एवं अनुशासन का कार्य है जिसे 'धर्म' कहते हैं ।

सद्भाव संवेदन, संस्कारवान चिन्तन, व्यक्तित्व उन्नयन, समग्र प्रगति, अर्थ सन्तुलन जैसे व्यक्ति और समाज से सम्बन्धित अनेकानेक क्षेत्रों पर धर्म-धारणा का असाधारण प्रभाव देखा जा सकता है । उसके कारण इन सभी क्षेत्रों के समुन्नत बनने की सम्भावना सुनिश्चित बनती है । अधर्म को, अनौचित्य को अपनाने का परिणाम मात्र असन्तोष, विग्रह और विनाश का ही वातावरण बनाता है । धर्मतत्त्व का एकमात्र स्वरूप सद्भावना, सज्जनता, सहकारिता, संयमशीलता, उदारता जैसे शालीनता समर्थक सरंजाम जुटाता है ।

धर्म की इस गरिमा से मनुष्य जाति चिरकाल से परिचित, अभ्यस्त रही है । फलत: इस गये-गुजरे जमाने में जबकि धर्म मात्र विडम्बनाओं का अजायबघर बनकर रह गया है, उस प्राचीन गरिमा के प्रति अभी भी अजस्र श्रद्धा जमी हुई है । लोग उसके लिए बहुत कुछ अनुदान प्रस्तुत

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

करते रहते हैं । महामानवों की समाधियों पर मेले जुड़ते और फूल बरसते हैं, धर्म की मूल धारणा अस्त-व्यस्त हो जाने के उपरान्त भी उसके मजार पर जितनी श्रद्धा बरसती है, उसे देखकर अनुमान लगाया जा सकता है कि जब वह जीवन्त रहा होगा तो कितनी बड़ी गौरव-गरिमा का केन्द्र रहा होगा ।

भारत को ही लें । यहाँ देवताओं का, तीर्थयात्रा का, कर्मकाण्डों का, सोमवती अमावस्या से लेकर कुम्भ जैसे छोटे-बड़े पर्वों पर खर्चा जोड़ा जाय तो वह सरकार द्वारा वसूल किये जाने वाले राजस्व से कहीं अधिक बैठता है । जिनका धर्म ही आजीविका व्यवसाय है, ऐसे साधु बाबाओं की संख्या तक करीबन ६० लाख है । जो इस उद्योग पर पूर्णतया निर्भर नहीं हैं, आंशिक समय गँवाते और उपार्जन करते हैं, उन पण्डा-पुरोहितों की संख्या भी ४० लाख तो माननी ही पड़ेगी । इन एक करोड़ धर्मजीवियों का ठाट-बाट और आडम्बरों से भरापूरा व्यय-भार भावुक धर्म-प्रेमियों को ही उठाना पड़ता है । यह राशि इतनी बनती है जितनी कि शिक्षा और चिकित्सा के लिए निर्धारित कुल बजट की । दैनिक जीवन में धर्मकृत्यों के लिए ढेरों समय लगाते हैं और हाथ खोल कर पैसा खर्च करते हैं । मनोयोग, श्रम, समय एवं धन के रूप में जितनी मानवीय शक्ति धर्म के निमित्त लगती है, उसे उपार्जन, निर्वाह के बाद तीसरे नम्बर की सम्पदा कह सकते हैं ।

इतनी बड़ी मानवीय शक्ति यदि सृजनात्मक प्रयोजनों में लगा सके तो उतने भर से व्यक्ति और समाज का कायाकल्प हो सकता है । जो क्षेत्र शासन की पकड़ से बाहर है, जिन्हें सँभालना निश्चित रूप से धर्म तन्त्र के कंधे पर है, उन चिन्तन और चरित्र को उभारने वाले प्रयोजनों में यह शक्ति लग सके तो उसकी परिणति उससे भी अधिक श्रेयस्कर हो सकती है, जितनी कि शासन द्वारा विभिन्न प्रकार के कल्याणकारी योजनाएँ हाथ में लेने से सम्भव होती है । बलिष्ठता, सम्पदा और बुद्धिमता को मानवीय शक्ति माना जाता है, किन्तु यदि थोड़ी गहराई में उतरकर देखा जाय तो प्रतीत होगा कि अन्तराल की गहन परतों में विद्यमान आस्थाएँ ही उसकी वास्तविक सामर्थ्य हैं । उत्थान और पतन के लिए पूरी तरह वही जिम्मेदार है । व्यक्ति की महानता और राष्ट्र की सर्वतोमुखी समर्थता उसी के आधार पर विकसित होती है । यहाँ एक तथ्य और भी समझ लेना चाहिए कि इस शक्ति स्रोत को उभारने और दिशा देने का कार्य मात्र धर्म ही करता रहा है । भविष्य में भी वही करेगा । यहाँ धर्म तत्त्व से तात्पर्य आस्थाओं को उत्कृष्टता के साथ जोड़े रहने वाली उच्चस्तरीय अन्तःप्रेरणा से है । आज के सम्प्रदायवाद को तो उसकी छाया या विकृति ही कह सकते हैं ।

शासन की विकृतियों को सुधारने के लिए जन-आन्दोलन उभरते रहते हैं । अर्थ सन्तुलन के लिए भी वैयक्तिक और सामूहिक पुरुषार्थ तत्पर देखा जाता है । निर्वाह, विनोद, सुविधा साधन, शिक्षा-चिकित्सा जैसे प्रसंगों में उत्साह और प्रयत्न संलग्न देखा जाता है । इसे दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि धर्म तत्त्व जैसे मानवीय गरिमा के मेरुदण्ड को इस बुरी तरह उपेक्षित एवं विकृत स्थिति में रहने दिया जा रहा है, जिसमें वह जन-साधारण में भ्रान्तियाँ उत्पन्न करने और निहित स्वार्थों का निमित्त भर रहने के अतिरिक्त और कुछ कर ही न सके ।

अराजकता सहन नहीं की जा सकती । दुर्भिक्ष, महामारी, दुर्घटना जैसी आपत्तियों से जूझने के लिए पुरुषार्थ उभरता है । फिर क्या कारण है कि धर्मरूपी अमृत को विष की भूमिका बनने के निमित्त विकृतियों के गर्त में गिराया या गिरा रहने दिया जाय । भावना की सर्वोच्च क्षमता को प्रभावित, परिष्कृत कर सकने वाले धर्म तत्त्व को मानवीय उत्सर्ग की भूमिका निभाने से विमुख रहकर विनाशकारी विडम्बनाएँ रचने में प्रयुक्त होने दिया जाय तो इसे अत्यन्त कष्टकारक, दुर्विपाक ही कहा जायेगा ।

आवश्यकता इस बात की है कि स्थिति का पुनर्निरीक्षण किया जाय । भ्रान्तियों का कुहासा हटाया जाय और धर्म के मूल स्वरूप की उपयोगिता और उसके नाम पर चल रही प्रतिगामिताजन्य विभीषिका से सर्वसाधारण को अवगत कराया जाय । धर्म और सम्प्रदाय के बीच क्या सम्बन्ध और अन्तर है ? इसे समझने का अवसर मिलना चाहिए । आज तो गुड़-गोबर एक हो रहा है, असली के स्थान पर नकली की पूजा-प्रतिष्ठा है ।

सम्प्रदायों के नाम पर लोग झगड़ते हैं, परम्पराओं के समर्थन में औचित्य और न्याय दोनों को पददलित किया जाता है । स्थिति इतनी गम्भीर है कि कुरीतियों और मूढ़ मान्यताओं का विरोध करने वाले तक उन्हीं अन्ध-परम्पराओं से चिपके देखे जाते हैं । विवेक कितना दुर्बल और प्रचलन कितना समर्थ है, इस दुर्भाग्य भरी स्थिति को देखकर हतप्रभ रह जाना पड़ता है ।

समय की माँग है कि नीर-क्षीर विवेक का सरंजाम जुटाया जाय । यथार्थता और विडम्बना के अन्तर को समझने का अवसर सर्वसाधारण को दिया जाय । यह गुड़-गोबर किस कारण हुआ ? धर्म की आत्मा अपने स्थान से क्यों पदच्युत हुई और उसके स्थान पर अवांछनीयता कैसे जा विराजी ? लोगों ने धर्म श्रद्धा के आवेश में अधार्मिकता को कैसे गले बाँध लिया ? इस इतिहास की शृंखला को समझना ही पड़ेगा, भले ही वह कितना ही कष्टकर, अप्रिय एवं अरुचिकर क्यों न हो ।

मवाद को निकालने के लिए जहाँ नस्तर लगाने की आवश्यकता है, वहाँ घाव को भरने के लिए तत्काल मरहम पट्टी की व्यवस्था भी बननी है, अन्यथा खुला घाव प्रकारान्तर से भरे हुए मवाद की तरह ही नई व्यवस्था खड़ी कर देगा । धर्म के नाम पर प्रचलित अवांछनीयताएँ हटें पर साथ ही तत्काल उसका स्थान भरने के लिए धर्म के वास्तविक स्वरूप में न केवल जनमानस को प्रवेश कराया जाय, वरन् उसे अभिनव परम्परा के रूप में अपनाये जाने के लिए प्रयत्न भी किया जाए ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

आस्थाओं का परिशोधन धर्म-धारणा से

आधुनिक मनोविज्ञान ने परम्परागत अध्यात्म के इस अनुभव की पुष्टि कर दी है कि मानवीय-चेतना विविध स्तरों पर एक साथ क्रियाशील रहती है । उन सभी स्तरों पर सक्रिय जीवन अपने आप में अखण्ड है । जीवन को विभाजित रूप में नहीं देखा-समझा जा सकता । चेतना किस क्षेत्र में सक्रिय होगी, यह इस पर निर्भर है कि उस क्षेत्र की किन प्रवृत्तियों के प्रति उसकी आस्था है । अत: स्पष्ट होता है कि चेतना की क्रियाशीलता का स्वरूप मुख्यत: आस्था से निर्धारित, निर्देशित होता है । यह बात जितनी अन्य क्षेत्रों के लिए लागू होती है, उतनी ही धर्मतन्त्र के लिए भी । धर्मतन्त्र भी उसी स्थिति में कल्याणकारी, उपयोगी और श्रेयप्रद होता है, जब उसके साथ प्रतिपादित जीवनमूल्यों में गहन आस्था हो । जब आस्था उन जीवनमूल्यों में न होकर स्वयं को धार्मिक कहलाने-दिखलाने और लोकश्रद्धा को ठगने-फुसलाने में हो जाती है, तो वही धर्मतन्त्र हानिकर, विकृत, पतनकारक भी बन सकता है ।

आस्था ही पाषाण-प्रतिमा में परमेश्वर के दर्शन सम्भव बनाती है । आस्था के अभाव में धर्मतन्त्र के विशाल कर्मकाण्डों का अनुशीलन भी निष्फल ही रहता है ।

भिन्न-भिन्न मानसिक संस्कार के लोगों में किसी विषय के प्रति आस्था का स्वरूप एवं स्तर भिन्न होता है । जिन व्यक्तियों को शरीरबल पर आस्था है, वे उसके दुरुपयोग को देखकर भी अपनी आस्था नहीं गँवाते । क्योंकि उनकी दृष्टि में दुरुपयोग से शरीर बल का महत्त्व तो प्रकट होता ही है । यदि किसी व्यक्ति की कवित्व शक्ति पर आस्था है, तो किसी कवि की मद्यपी या अपव्ययी प्रवृत्ति से उसकी आस्था कवित्व शक्ति के प्रति नहीं घटेगी ।

इस दृष्टि से विचार करें तो आज भी धर्मतन्त्र के प्रति जन-साधारण में जो उल्लास, उत्साह, उमड़ता दीखता है, उससे प्रबुद्धजनों के विचलित होने का कोई कारण नहीं । धर्मतन्त्र के प्रति उमड़ती लोकश्रद्धा इस तथ्य का संकेत है कि उसके द्वारा मानवीय अन्त:करण के परिष्कार एवं समाज के कल्याण की सम्भावना के प्रति भारतीय जनमानस में गहन आस्था है । यह अलग बात है कि आस्था के निरन्तर दोहन किये जाने एवं बदले में जन-मानस को समुचित मार्ग-दर्शन न दिये जाने से अब यह आस्था छीज चली है ।

आस्था अकारण ही नहीं जमती और न अकारण ही उखड़ती है । धर्मतन्त्र के प्रति जन-जनव्यापी आस्था का आधार मनीषी, पूर्वजों द्वारा लम्बे समय तक किये जाते रहे वे प्रयत्न उपचार हैं, जिनके द्वारा यह धर्मतन्त्र देव-मानवों के भव्य उत्पादन में समर्थता और चारों ओर सुख-शान्ति भरे वातावरण की पृष्ठभूमि बनाता था । इसी प्रकार आज यदि वह आस्था कुछ घट रही है तो इसका पिछली कुछ शताब्दियों से धर्मतन्त्र के प्रतिभाशालियों द्वारा उपेक्षा और उस पर प्रतिगामी तत्त्वों का एकाधिपत्य है । इसके कारण ही उसमें विकृतियों की भरमार हो चली । जहाँ-तहाँ धर्माध्यक्षों का रूप बनाकर अपने स्वार्थों को पूरा करने की तिकड़म चल पड़ी । समाज के श्रम, धन और सम्मान का शोषण होने लगा । प्रतिगामी लोगों ने धर्मतन्त्र के माध्यम से जन-साधारण को दीं-कल्पनालोक की निरर्थक उड़ानें, मूढ़-मान्यताएँ, अन्धविश्वास, भाग्यवाद, देववाद, पलायनवाद की हानिकर धारणाएँ । जिस आदर्शवादी दृष्टिकोण का परिष्कार धर्मतन्त्र की स्थापना का उद्देश्य था, वह तो विस्मृत-विलुप्त ही होता चला गया । फैलता गया वह विकृत दृष्टिकोण, जिसके अनुसार नदी स्नान, देव-दर्शन जैसे छुट-पुट कर्मकाण्डों से पाप के दण्ड भुगतने से छुटकारा मिल जाता है या अमुक पूजा विधान से स्वर्ग-मुक्ति की, देव अनुग्रह से मनोकामना पूर्ति की सिद्धि मिल सकती है । अनैतिकता से अकर्मण्यता को बढ़ावा देने वाली ये मान्यताएँ धर्मतन्त्र पर लम्बे समय से छाई हैं और उस मृग-मरीचिका में भटक रही जनता श्रान्त-क्लान्त हो चली है । इसलिए अब विचारशील वर्ग में धर्मतन्त्र के प्रति आस्था वैसी अविचल नहीं रही । वे धर्मतन्त्र की उपयोगिता को संशय के दृष्टिकोण से देखने लगे हैं, किन्तु यह तो निषेधात्मक दृष्टि है ।

विचारणीय यह है कि भारत के लोक-मानस में मानवतावादी, सद्भावना एवं सत्प्रवृत्तियों की स्थापना किस पृष्ठभूमि पर हो सकती है? उपयोगी गतिविधियाँ अपनाने के लिए जन-सामान्य को सहमत करने की सर्वाधिक सुगम प्रक्रिया क्या होगी ?

अशिक्षित, देहाती भारत की कठिनाई यह है कि उसकी पूर्व जानकारी प्रधानतया धार्मिक स्रोतों से सम्बन्धित है । वे ही विचार, वे ही मान्यताएँ उस तक सहजता से सम्प्रेषित हो सकती हैं, जो धर्म के कलेवर से जुड़ी हों । उसी सिलसिले को आगे बढ़ाकर ठीक से समझाई जा सकती है । धर्म भारतीय जनता का प्रिय विषय है । धार्मिक कलेवर का उपयोग विवेकपूर्ण विचारों के शिक्षण के लिए करने से गहराई तक सरलता से जम सकते हैं । धार्मिक आयोजनों में जो भावनात्मक वातावरण बनता है, उस उष्मा का उपयोग श्रेष्ठ मान्यताओं, उत्कृष्ट धारणाओं के प्रस्थापन के लिए किया जा सकता है । आज भी जनता के धन, समय और मनोयोग का बहुत बड़ा अंश धर्मतन्त्र के लिए स्वेच्छा से समर्पित होता रहता है । अन्त: उस शक्ति का सदुपयोग करना एक महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक कर्त्तव्य-कर्म है । धर्म-कलेवर में नये प्राण फूँकना भारत में एक राष्ट्रीय कर्त्तव्य है ।

धर्मतन्त्र द्वारा ही लोकमानस का परिष्कार-परिमार्जन सम्भव है । प्राणी भी पदार्थों की ही तरह प्रकृतित: अनगढ़

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

ही होते हैं । जिस प्रकार पदार्थों को पकाना, गलाना, ढालना, खरादना आवश्यक होता है, तभी वे सुन्दर, सुडौल और उपयोगी बन पाते हैं । उसी प्रकार प्राणियों को भी प्रशिक्षित, परिष्कृत करना होता है । जिस प्रकार पेड़-पौधों की कटाई-छटाई, गुड़ाई-निराई, सिंचाई आदि करने पर ही सुन्दर, आकर्षक उद्यान तैयार होता है, उसी प्रकार प्राणियों की प्रवृत्तियों को भी परिष्कृत-विकसित कर उन्हें अधिक उपयोगी अधिक सुन्दर बनाया जाता है । परिष्कृत मनुष्य ही सुसंस्कृत कहलाता है ।

मनुष्य को सुसंस्कृत बनाने की प्रक्रिया द्विपक्षीय है उसका दर्शन पक्ष अध्यात्म कहलाता है और व्यवहार पक्ष का नाम धर्म है । धर्मतन्त्र का काय-कलेवर संस्कृति के व्यावहारिक प्रशिक्षण के लिए ही खड़ा किया गया है। एक लम्बी अवधि से इस धर्मतन्त्र का भीषण दुरुपयोग होता रहा है और वह मनुष्य के लिए हानिकारक विकृतियों का पोषण केन्द्र बनता रहा है । इस पर भी धर्म-तन्त्र के प्रति लोक-आस्था शेष है । आस्था की इस ज्योति को स्वास्थ्य, प्राण वायु से प्रखर-प्रदीप्त बनाया जाना चाहिए । यह दायित्व उन लोगों का है, जो लोक-मानस के परिष्कार एवं प्रशिक्षण का महत्त्व समझते हैं और राष्ट्रीय सन्दर्भ में उसके उपयुक्त माध्यम के रूप में धर्मतन्त्र की उपादेयता भी समझते हैं । धर्मतन्त्र रूपी मन्दिर में जल रही जनआस्था की ज्योति को बुझा देने से मिलेगा कुछ नहीं, घाटा ही घाटा होगा । धर्म भावना का अभ्यासी मानस इससे विभ्रान्त दिगमूढ़ हो जायेगा । अत: आवश्यकता इसी की है । आस्था की उस ज्योति को प्राण वायु पर्याप्त रूप में पहुँचाई जाय । भावनाशील अन्त:करण, उत्कृष्ट एवं श्रेष्ठ आचरण वाले जीवन्त देवमानव एवं प्रबुद्धजन इस क्षेत्र में आगे आयें और धर्मतन्त्र को परिमार्जित-परिशोधित नवनिर्धारित कर आस्था की ज्योति को जाग्रत रखें । आस्था ही मानवीय अन्त:करण को आनन्दित, पुलकित, प्रफुल्लित रख सकती है और प्रगति पथ पर बढ़ते रहने का पाथेय जुटाती रह सकती है ।

धर्मतन्त्र—एक सर्वसमर्थ सत्ता

समझा यह जाता रहा है कि धर्म कुछेक भावुक भक्तजनों, पुरातनपंथियों, पूर्वाग्रहग्रस्तों की रंग-बिरंगी कल्पना उड़ानों का समुच्चय है । व्यक्तिवादी संकीर्णता का, परावलम्बन, पलायनवाद का दर्शन ही प्रकारान्तर से धर्म धारणा का प्रतिपादन और कार्यक्षेत्र है । उसके प्रभाव चक्र में फँसकर व्यक्ति यथार्थता का पर्यवेक्षण करने में असमर्थ हो जाता है । फलत: भ्रम-जंजालों में उलझता-उलझाता ऐसी रीति-नीति अपनाता है, जो सार्वजनिक हितसाधन की दृष्टि से निरर्थक जैसी बनकर बैठ जाती है । आमतौर से विज्ञसमाज की मान्यताएँ धर्म के संवर्धन में इसी से मिलती-जुलती पाई जाती हैं और वे उसे कूड़ा-करकट समझकर उपेक्षा से मुँह मोड़ लेते हैं । अच्छा होता वे उसे सुधारने का प्रयास करते और अवांछनीय, आधिपत्य एवं प्रवचन को निरस्त करके सुधारक का स्थान ग्रहण करते, पर ऐसा हुआ नहीं, होता भी नहीं, कारण यह है कि धर्मतन्त्र की शक्ति एवं उपयोगिता के सम्बन्ध में गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं किया गया और उसे कूड़ा-करकट समझ कर मनीषा और प्रतिभा द्वारा मुँह मोड़ लिया गया । यदि उस क्षेत्र की क्षमता, व्यापकता और उपयोगिता को समझा गया होता तो ऐसी सड़न और दुर्गति न होने देने के लिए विज्ञजनों ने निश्चय ही कुछ गम्भीर सोचा और ठोस कदम उठाया होता ।

प्राचीनकाल में हर क्षेत्र का विस्तार, कार्यक्षेत्र एवं प्रयोगतन्त्र सीमित था । धर्म शब्द के अन्तर्गत ही उन सभी संदर्भों का समावेश होता था जो मानवीय चेतना को परिष्कृत-प्रगतिशील बनाये रहने के लिए आवश्यक थे । अब वैसी बात नहीं रही । जब विचारणा और व्यवस्था के सभी क्षेत्रों में विस्तार हुआ है, तो धर्म के क्षेत्र विस्तार को भी पृथक्-पृथक् धाराओं में बहते हुए और अन्त में एक सरोवर के रूप में जा मिलते हुए देखा जा सकता है। चेतना को, चिन्तन को प्रभावित करने वाले मन्त्रों में साहित्य, संगीत, कला की क्षमता सर्वविदित है । दर्शन से व्यक्ति और समाज के चिन्तन को दिशा मिलती है। भाव-संवेदनाओं और आस्था-मान्यताओं को किसी बिन्दु पर एकत्रित करना उसी का काम है । उत्कृष्टतावादी दर्शन को अध्यात्म कहते हैं । धर्मतत्त्व का बौद्धिक पक्ष यही है।

दूसरा पक्ष कर्म है । इसमें प्रचलन परम्परा का समावेश है । कर्मकाण्डों से लेकर रीति-रिवाजों तक की श्रद्धा इसी में केन्द्रीभूत है । इसी व्यवहार पक्ष को इन दिनों धर्म माना जाता है । वह विभिन्न समयों पर विभिन्न परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुरूप जहाँ-जहाँ, जिस-जिस रूप में पनपा उस विधि-व्यवस्था को सम्प्रदायों का रूप मिलता चला गया है । कहना न होगा कि मनुष्य की क्षुद्रता जहाँ भी अवसर पाती है, वहीं घुस-पैठ किये बिना नहीं चूकती । धर्मधारणा का, सम्प्रदायों का दुराग्रही रूप बना और अध्यात्मस्वरूप चेतना के सुनियोजित आस्था विज्ञान के आधार पर लोकमानस को उत्कृष्टता का पक्षधर बनाने वाला न रहकर देवाश्रित बनाने जैसी विडम्बना में उलझ गया । पर्यवेक्षण से प्रतीत होता है कि धर्म की मूल सत्ता विशुद्ध वैज्ञानिक है, उसमें लोकचिन्तन की शालीनता को सहकारिता के प्रति निष्ठावान बनाना है । पूजा, उपासना, शास्त्र, कथा-सत्संग, दान-पुण्य, तीर्थ-भजन आदि क्रिया-कृत्यों के पीछे मूलभूत उद्देश्य एक ही है कि मानवीय चिन्तन, पतनोन्मुख प्रवृत्तियों से विरत होकर पवित्रता और प्रखरता अपनाये, संयमी और उदारचेता बने। चरित्रनिष्ठा और समाजनिष्ठा के सभी महत्त्वपूर्ण तथ्य उसमें कूट-कूटकर भरे गये हैं । चिथड़ों में लिपटा हुआ हीरा भी ग्राह्य है । प्रस्तुत विकृतियों के ढकोसले को उघाड़कर यदि अन्तराल तक पहुँचने और वस्तुस्थिति का पता लगाने का प्रयत्न किया जाय तो पता चलेगा कि धर्म मानवीय उत्कृष्टता का जीवन प्राण है ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

मनुष्य की काय संरचना, पशु वर्ग के अन्य जीवधारियों से भिन्न नहीं है । विकासवादियों के अनुसार वह वानर वंश का है । यदि वैसा है तो मानना पड़ेगा कि पूर्वजों ने एक पेड़ से दूसरे पर उछल जाने की क्षमता भी क्रमशः गँवा दी और लम्बी सुशोभित पूँछ से भी हाथ धो बैठा । इस प्रकार पूर्वजों की तुलना में उत्तराधिकारी घाटे की दिशा में ही चले हैं पर वस्तुतः वैसा है नहीं । निश्चित रूप से हम आगे बढ़े हैं । इस अभिवृद्धि में उसका बौद्धिक पक्ष ही प्रमुख भूमिका निभाता रहा है । आचार संहिता समाज में संगठन, शिक्षा, परिवार, विज्ञान, अर्थ तन्त्र, शासन, चिकित्सा आदि अगणित उपयोगी अवलम्बनों के सहारे ही मनुष्य समर्थ, सुसम्पन्न एवं सुसंस्कृत बन सका है । प्रकृति पर उसके आधार की चर्चा गर्वपूर्वक की जाती है ।

वैज्ञानिक आविष्कारों ने उल्लेखनीय भूमिका निभाई है । यह सारा चमत्कार मानवीय चेतना के प्रगतिशील दिशाधारा में बहने का सत्परिणाम है । तात्पर्य एक ही है, मानवीयसत्ता में प्रमुखता उसके चेतना पक्ष की है । शरीर तो औजार, उपकरण, वाहन मात्र माना जाता है । शरीर की सुडौलता, सार्थकता, सक्रियता का भी आधारभूत कारण चिन्तन-चेतना ही है । यदि वे गड़बड़ाने लगे तो भली-चंगी काया को रुग्ण, अदक्ष, कुरूप बनने और अकाल मृत्यु का ग्रास बनने में देर न लगे । हर दृष्टि से चेतना की ही गरिमा, वरिष्ठता सिद्ध होती है । इसी दशा में जो विज्ञान-दर्शन, निर्धारण-प्रवाह उसे सुनियोजित दिशाधारा प्रदान करता है, उस धर्मतत्त्व की महिमा उपयोगिता इतनी उँची ठहरती है कि उसे एक शब्द में मनुष्य का भाग्य विधाता कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है। यदि उसका अस्तित्व उबरकर आगे न आया होता तो शारीरिक संगठन एवं मानसिक संरचना की दृष्टि से अनेक प्राणियों की तुलना में ओछा पड़ने वाला आदमी इतना ऊँचा न उठा सका होता जितना कि इन दिनों जा पहुँचा है।

साधन-सामग्री का अपना महत्त्व है, पर वह शरीर के लिए सुविधाएँ उसी को चाहिए । पंचतत्त्वों का बना शरीर पदार्थों पर ही निर्वाह करता है । पदार्थों में ही मोद मनाता है । उसकी सत्ता एवं प्रकृति अपने सजातीय को चाहती-समेटती है तो यह स्वाभाविक है । वैज्ञानिक उपलब्धियाँ अर्थतन्त्र के आधार पर मिलने वाली सुविधाएँ और शासन द्वारा की जाने वाली व्यवस्थाएँ मिल-जुलकर काय-कलेवर का, सामुदायिक विकास का आधार खड़ा करती हैं । यह आवश्यक तो है, पर पर्याप्त नहीं । अन्तःचेतना का स्तर गया-गुजरा हो । उसमें आदर्शों का, मर्यादाओं का समावेश न हो तो पशु जगत की तरह हर समर्थता अपने से छोटों के लिए संकट ही उत्पन्न करती चली जायगी । पशुओं में प्रकृति ने मर्यादा अनुशासन की चेतना रखी है इसलिए वे विनाश भी सीमित ही कर पाते हैं । यों समर्थ, स्वच्छन्द मनुष्य की उच्छृंखलता तो सर्वनाश ही करके रख सकती है । उद्दण्ड मनुष्य अपना और दूसरों का अहित ही अहित करेगा । पशुता पैशाचिकता की दुष्प्रवृत्तियों से विरत करने और उसे पवित्रता, प्रखरता प्रदान करते हुए सर्वजनीन विकास में सहभागी बनने की प्रेरणा धर्म तत्त्व के अतिरिक्त और कहीं से नहीं मिल सकती ।

साधनों के उत्पादन में विज्ञान, अर्थतन्त्र, शासन की समन्वित भूमिका ने मनुष्य को साधन सम्पन्न बनाया है । उपभोग में विग्रह खड़ा न हो-समृद्धि का सही उपयोग हो । यह उत्तरदायित्व शासन वहन करता है । इतने पर भी मूल प्रश्न जहाँ का तहाँ बना रहता है कि यदि चेतना का स्तर गया-गुजरा रहा तो फिर जो कुछ हाथ में होगा, उसे दुर्व्यसनों में, दुष्प्रयोजनों में ही नियोजित किया जा सकेगा । फलतः परिणाम ऐसे भयंकर होंगे जो दरिद्रता की तुलना में कहीं अधिक कष्टकारक सिद्ध होंगे ।

इन पंक्तियों में यह कहा जा रहा है कि मानवीय चिन्तन के साथ उत्कृष्टता का जुड़ा रहना ही साधनों को सार्थक बना सकता है । चिन्तन ऊँचा हो तो ऋषियों की तरह स्वल्प-साधनों में भी बादशाही से बढ़कर सुखी-समुन्नत एवं शानदार जीवन जिया जा सकता है । इसके विपरीत यदि आन्तरिक निष्कृष्टता का बोलबाला हो तो समझना चाहिए, वैभव का वैसा ही दुष्परिणाम होगा जैसा कि रावण, कंस, हिरण्यकश्यपु, जरासिन्ध, वृत्तासुर आदि को अपने समुदाय समेत भुगतना पड़ा था । महत्ता सम्पदा को, समर्थता को तो मिलनी चाहिए, पर यह नहीं भुला दिया जाना चाहिए कि दूरदर्शी, विवेकशीलता मेधा-प्रज्ञा के अनुभव से वह सारी विभूतियाँ बन्दर के हाथ पड़ने वाली तलवार का काम करेंगी और उस पुरुषार्थ-सौभाग्य का परिणाम हितकर न बनकर विनाशकारी ही सिद्ध होगा । तथ्य को समझा जा सके तो चिन्तन की उत्कृष्टता ही सर्वोपरि ठहरती है । उसे विकसित करने के एकमात्र अवलम्बन धर्मतन्त्र को इस विश्व-व्यवस्था में सर्वोपरि स्थान सम्मान मिलता है ।

फिर उसकी उपेक्षा क्यों हुई ? उत्तर एक ही है कि उनका स्वरूप, प्रभाव एवं विनियोग ठीक प्रकार समझा नहीं गया । यदि वैसा होता तो शासन-सत्ता को, अर्थ-व्यवस्था को, वैज्ञानिक उपलब्धियों को महत्त्व देने वाले यह भी सोचते कि यदि चेतना को परिष्कृत कर सकने में एकमात्र समर्थ सत्ता धर्म को पिछड़ी स्थिति में छोड़ दिया गया तो फिर अन्यान्य सभी उपलब्धियाँ निरर्थक बनकर ही नहीं रह जायेंगी, वरन् उनका दुरुपयोग होने पर वे विघातक तक भी सिद्ध होंगी ।

बुद्धितन्त्र को बहुत महत्त्व दिया जाता है । शिक्षा के स्कूली अभ्यासी परामर्श प्रधान अनुभव सम्बन्धित कितने अवलम्बन अपनाये जाते हैं और समझा जाता है कि जो जितना बुद्धिमान होगा वह उतना ही उपयोगी सिद्ध होगा, उतना ही समर्थ-सम्पन्न होगा । यह मान्यता भी आंशिक रूप से ही सत्य है । बुद्धि के सहारे वैभव कमाया जाता है, उसमें सन्देह नहीं, पर उस वैभव का श्रेष्ठतम सदुपयोग

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

करके उसका वास्तविक परिपूर्ण एवं श्रेयस्कर लाभ कैसे उठाया जा सकता है ? इसका निर्धारण उस प्रज्ञा के बिना सम्भव नहीं जो धर्म-धारणा के सहारे ही उत्पन्न एवं परिपक्व की जाती है ।

यह धर्मतन्त्र की दार्शनिक गरिमा हुई । उसका एक दूसरा पक्ष भी है-धर्मतन्त्र के प्रस्तुत स्वरूप का जनता पर प्रभाव और साधनों का बाहुल्य । यह दोनों ही शक्ति स्रोत ऐसे हैं, जिनके सहारे व्यक्ति और समाज की परिस्थितियों को जमीन से आसमान तक उछाला जा सकता है । नरक से विरत करके स्वर्ग के साथ जोड़ा जा सकता है ।

आज धर्म के प्रति उपेक्षा अवमानना का दौर है । फिर भी उसके जीर्ण-शीर्ण कलेवर को यथावत् बनाये रहने में कितनी धन-शक्ति और जन-शक्ति नियोजित होती है, इसे देखकर आश्चर्य होता है । तीर्थस्थानों के दर्शन, पर्वस्नान, चित्र-विचित्र कर्मकाण्ड, पण्डा-पुरोहितों को मिलने वाला दान, साठ लाख साधु-बाबाओं का महँगा निर्वाह, मन्दिरों मठों की प्रचुर आजीविका, धर्म-संस्थानों के भव्य-भवन, उत्सव, समारोह, कुम्भ पर्व, क्षेत्रीय धर्म स्थानों के मेले आदि में निरन्तर लगने वाली जनशक्ति और धन-शक्ति का यदि लेखा-जोखा तैयार किया जाय तो प्रतीत होगा कि देश में शिक्षा और चिकित्सा पर होने वाले खर्च की तुलना में वह कहीं अधिक है । इसी प्रकार शादियों में होने वाले, मृतक भोज में लगने वाले धन का विवरण बने तो पता चले कि औसत भारतीय की एक तिहाई आमदनी इन्हीं प्रचलन परम्पराओं में खप जाती है, जिन्हें प्रकारान्तर से धर्म प्रथा का अंग ही कहा जा सकता है । यह तो प्रत्यक्ष एवं सामूहिक रूप से धर्म-प्रयोजनों के लिए नियोजित होने वाली श्रम, सम्पदा की चर्चा हुई । व्यक्तिगत रूप से कितने लोग कितना जप, तप पूजा-पाठ, व्रत-दान आदि इस निमित्त करते रहते हैं । उस सबका भौतिक आकलन किया जा सके तो प्रतीत होगा कि राजतन्त्र में नियोजित शक्ति तो दबाव देकर वसूल की जाती है, किन्तु धर्मतन्त्र के लिए वह स्वेच्छा श्रद्धा के आधार पर समर्पित किया जाता रहता है । विचारणीय है कि जड़ कलेवर के लिए इतना हो सकता है तो जीवन्त धर्म के लिए कितना कुछ जनसहयोग अर्जित हो सकता है और उसके सुनियोजिन से उज्ज्वल भविष्य की संरचना से कितना बड़ा योगदान सम्भव हो सकता है ।

भारत की ७० प्रतिशत से अधिक जनसंख्या निरक्षर है और लगभग ८० प्रतिशत जनता गाँवों में रहती है । असली भारत यही है । छोटे-छोटे देहातों में शिक्षा का अभाव, यातायात के आधुनिक साधनों से रहित आबादी, पिछड़ेपन का वातावरण, इस प्रकार की विषम परिस्थितियों में राजनीति, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र जैसे आधारों पर दी गई शिक्षा भारतीय जन-मानस को प्रभावित कर सकने में सक्षम नहीं, ८० प्रतिशत जनता तो उसे हृदयंगम ही नहीं कर सकेगी । भारतीय जनता की आस्था धर्म प्रधान है । उसकी चिन्तन शक्ति धार्मिकता के साथ गुँथी हुई है । अस्तु उसे उसकी परम्परागत मनोभूमि-धर्मरुचि के सहारे ही प्रभावित किया जा सकता है ।

लोकमानस को प्रभावित करने और उसे किसी दिशा में नियोजित करने में दो शक्तियाँ प्रमुख हैं । एक राजसत्ता या शासनसत्ता और दूसरी धर्मसत्ता । शासनसत्ता के पास धन-शक्ति एवं दण्ड-व्यवस्था रहती है, राजसत्ता इनके द्वारा लोगों को प्रभावित एवं नियन्त्रित कर अपने साधनों से मनचाही दिशा में चलने को विवश कर सकती है । कानून, पुलिस, कचहरी, जेल आदि के भय से लोगों को सही दिशा में चलाने का प्रयास किया जाता है । धन का आकर्षण और दण्ड का भय, इन दो माध्यमों ने शासन के हाथों में वह शक्ति समाहित कर दी है, जिसके उपयोग से वह जनप्रवृत्तियों को जिधर चाहे उधर मोड़ सकता है । दुष्प्रवृत्तियों को रोकने हेतु शासन के साथ जन-बल, धन-बल, शस्त्र-बल सभी कुछ होता है ।

हिटलर ने अपने समय में देश के नागरिकों के चिन्तन प्रवाह को मोड़ने में महत्त्वपूर्ण सफलता प्राप्त की थी । उसने विश्व-विजय का स्वप्न साकार करने के लिए जर्मन पीढ़ियों में जातीय श्रेष्ठता और विश्व शासन की विशेष योग्यता की मान्यता प्रत्येक जर्मन नागरिक के मन में भरने का निश्चय किया और तदनुसार शासनसत्ता के समस्त साधनों को झोंक दिया । विशेष प्रकार की शिक्षापद्धति विनिर्मित की गई थी । उसे पूरे जर्मनी में आनन-फानन में लागू किया गया, उसको इसमें सफलता भी मिली ।

भारत में भी यह प्रयोग हुआ था । अँग्रेजों के शासन काल में उन्हें क्लर्कों, बाबुओं की आवश्यकता हुई । लार्ड मैकाले ने शिक्षापद्धति का आधार इसी आवश्यकता की पूर्ति करने लायक व्यक्ति उत्पन्न करना बनाया । उसने शिक्षा का ढाँचा इसी प्रकार तैयार किया । कॉलेजों से निकलने वाले अधिकांश छात्र तदनुरूप बनते-ढलते चलते गये । लगभग वही शिक्षापद्धति अपने देश में अभी चल रही है । बालक के व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास का प्रयोजन शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य उससे पूरा नहीं हो रहा है । यह राजसत्ता की शक्ति के उपयोग की बात है । शासनसत्ता अपने में एक महत्त्वपूर्ण शक्ति है । उसके साधनों का उपयोग यदि सही दिशा में किया जा सके तो उससे व्यक्ति और समाज की परिस्थितियों में अभीष्ट परिवर्तन लाया जा सकता है ।

जनमानस को प्रभावित करने वाली दूसरी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शक्ति धर्मसत्ता की है । इन दिनों धर्म शब्द को सुनकर बुद्धिजीवी वर्ग नाक-भौं सिकोड़ने लगता है । उसे अन्ध-विश्वासी, मूढ़मान्यताओं एवं ठग विद्या का जाल-जंजाल भर मानता है । बुद्धिजीवी वर्ग की इस मान्यता को इस समय अनुचित एवं अनुपयुक्त भी नहीं कहा जा सकता । धर्म-कर्म में निरत पण्डा-पुजारियों के आचरण एवं क्रिया-कलापों को देखकर ऐसी धारणा बन जाना असंगत नहीं । धर्म क्षेत्र में आज जितनी विकृति समाविष्ट है उतनी सम्भवतः अन्य किसी क्षेत्र में नहीं होगी । धर्म क्षेत्र

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

में संव्याप्त विकृतियों के प्रति ही प्रबुद्ध वर्ग का तिरस्कार एवं आक्रोश हो सकता है, अन्यथा धर्म की मूल सत्ता से इन्कार कर सकना, उसे अनुपयोगी एवं अनावश्यक ठहरा सकना किसी के लिए भी सम्भव नहीं । 'धर्म' मानवीय अन्तराल की स्वाभाविक प्रकृति है, उसे अलग कर देने से तो मानवता ही नष्ट हो जायेगी । मानवीय अन्त:करण यदि आगे है तो धर्म उसकी गर्मी । अग्नि और उष्मा को पृथक् किया भी कैसे जा सकता है ?

धर्म मनुष्य के अन्त:करण को प्रभावित करता एवं अनुशासित रखता है । व्यक्ति में उत्कृष्टता अपनाने एवं आदर्शों को कार्यान्वित करने की उमंग भरता है। धर्म का शासन मानव के गहन अन्तराल पर जाकर प्रतिष्ठित होता है, जबकि राजसत्ता में मनुष्य के बाह्य जीवन को प्रभावित, आकर्षित एवं नियन्त्रित कर सकने की क्षमता है । धर्म व्यक्ति में उदात्त भावनाएँ, उदार दृष्टिकोण एवं उमंगें भरता है, जबकि राजतन्त्र की कठोरता आतंक प्रस्तुत कर सकती है।

शासन तन्त्र के पास भौतिक उत्तरदायित्व भी कम नहीं, घरेलू राष्ट्रीय एवं विदेशी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं की कमी नहीं । शिक्षा के क्षेत्र में लगे हुए कर्मचारी तो निर्धारित पाठ्यक्रम ही पूरा कराते रहते हैं । उनके द्वारा भावनात्मक नवनिर्माण में योगदान नहीं के बराबर है । आस्थाओं के परिष्कार, भावनाओं को उदात्त एवं उत्कृष्ट बनाने का महान् कार्य धर्मसत्ता के माध्यम से ही भली प्रकार सम्पन्न हो सकता है । लोक-मानस के मर्मस्थल को स्पर्श करने एवं उनका परिष्कार करने के लिए धर्मतन्त्र का ही उपयोग करना होगा । इसी के माध्यम से जनभावनाओं को उभारा-मोड़ा, सुधारा और उठाया जा सकता है । समाज की काया-पलट कर रख देने वाले महामानव धर्म क्षेत्र के उद्यान में ही उपजे हैं । प्राचीनकाल के अवतार, देवदूत, ऋषि-मनीषी, सन्त, ब्राह्मण मानव जाति का मस्तक ऊँचा करते रहे हैं और उन्होंने जनसमुदाय को सर्वतोमुखी प्रगति के पथ पर अग्रसर करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है । पूरे विश्व के महामानवों का गौरवमय इतिहास धर्म क्षेत्र का अनुदान है । राजसत्ता व्यक्ति के मस्तिष्क को प्रभावित कर सकती है-हृदय को नहीं छू सकती । यह प्रयोजन धर्मतन्त्र ही पूरा कर सकता है ।

आज की परिस्थितियों में सुसंस्कारिता का वातावरण विनिर्मित करने के लिए सर्वसुलभ, सम्भव एवं व्यावहारिक उपाय यह है कि प्राचीन धार्मिक संस्कारों, पर्व-त्योहारों को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में मनाने की सत्परम्पराओं की प्रतिष्ठा हो, घर-घर में बच्चों के जन्मदिन मनाये जायें, संस्कार आयोजन सम्पन्न किये जायें और इस माध्यम से समूचे परिवार को यह सिखाया जाय कि बालकों के भविष्य को यदि सचमुच ही उज्ज्वल बनाना हो तो उन्हें सुसंस्कारिता की खुराक देनी आवश्यक है । यह उपलब्धि शालीनता भरे वातावरण में ही हो सकती है । इसके लिए न केवल माता-पिता वरन् परिवार के सभी सदस्यों को अपना कर्त्तव्य पालन करना होता है । यह कैसे करना चाहिए ? किसको क्या करना चाहिए ? इसकी सैद्धान्तिक-शिक्षा इन संस्कारों के आयोजनों के सहारे उस घर के प्रत्येक व्यक्ति को दी जा सकती है ।

संस्कारों में पुंसवन, यज्ञोपवीत, विवाह वानप्रस्थ, जन्मदिन, विवाहदिन, पूर्वजों का श्राद्ध पर्व ऐसे आयोजन हैं जो परिवार के लोग ही मिल-जुलकर मना सकते हैं । सुविधानुसार मित्रों, पड़ोसियों को भी आमन्त्रित किया जा सकता है । इन अवसरों पर भावनाएँ उमड़ती हैं और आत्म-निर्माण एवं परिवार-निर्माण के अनेकों सूत्र लोगों के गले आसानी से उतर जाते हैं । अनेकों व्यक्ति दुष्प्रवृत्तियाँ त्यागते और सत्प्रवृत्तियाँ अपनाते हैं ।

समाज-निर्माण के लिए सामूहिक प्रशिक्षण पर्व और त्योहारों के माध्यम से बहुत ही सरलता एवं प्रखरता के साथ सम्पन्न हो जाता है । सभी जानते हैं कि दीपावली आर्थिक सन्तुलन का, वसन्त पंचमी विद्या बुद्धि का, शिवरात्रि श्रेय साधना का, होली सामूहिक स्वच्छता, श्रमदान का, गायत्री जयन्ती भागीरथी तप-साधना का, गुरु पूर्णिमा अनुशासन का, श्रावणी सुरक्षा तथा संगठन का, विजयादशमी शक्तिसंवर्धन का पर्व है । रामनवमी-मर्यादा पालन की प्रेरणा पाने और कृष्ण जन्माष्टमी गीतोक्त कर्मयोग को आचरण में उतारने के पर्व हैं । रामायण कथा, भागवत कथा, सत्यनारायण कथा आदि के माध्यम से भी समय-समय पर स्थान-स्थान पर लोक-शिक्षण के क्रम चलाये जाते हैं और उनका प्रभाव भी पड़ता है ।

अपने देश के विभिन्न भागों में विभिन्न पर्वों का महत्त्व अलग-अलग ढंग से है । जहाँ जिसका प्रचलन अधिक है, वहाँ उसे उभार कर भावनात्मक परिष्कार का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित हो सकता है । देश की छोटे-छोटे देहातों में बिखरी हुई जनता का भावनात्मक नव-निर्माण धर्मतन्त्र के द्वारा ही सम्भव है । भारत का इतिहास साक्षी है कि यहाँ सुधार आन्दोलनों को सफल बनाने में धर्मतन्त्र ही कारगर सिद्ध हुआ है । गाँधी, दयानन्द, विवेकानन्द, चैतन्य, नानक, कबीर आदि के क्रान्तिकारी कार्य धर्मतन्त्र से ही हुए हैं । चाणक्य, बुद्ध, महावीर, शंकराचार्य, समर्थ रामदास, सन्त ज्ञानेश्वर, नामदेव आदि ने जन-मानस को क्रान्तिकारी मोड़ दिये हैं । उन सबने धर्मतन्त्र के साथ जुड़ी लोकश्रद्धा को सामयिक सुधारों के लिए प्रयुक्त करने का सफल प्रयत्न किया है । आज भी नैतिक, बौद्धिक एवं सामाजिक परिवर्तन के लिए जिस विचार क्रान्ति की आवश्यकता है, वह धर्मतन्त्र के सहारे ही सम्भव होगी ?

धर्म क्यों उपयोगी और आवश्यक है ?

यह ठीक है कि धर्म की दुहाई देते हुए कितने ही लोग पूरी तरह या आंशिक रूप से अधर्म का आचरण करते देखे जाते हैं, पर इतने से ही धर्म की उपयोगिता या आवश्यकता समाप्त नहीं हो जाती । सोचा यह जाना चाहिए कि धर्म-धारणा का दबाव रहते भी जब उसकी मर्यादाओं का उल्लंघन करने से नहीं चूकते, तो जब उस अनुशासन की पूरी तरह समाप्ति हो जायगी, तब स्थिति कितनी भयंकर होगी ।

यह भी ठीक है कि धर्मों की मान्यता रखने वालों ने इसी आधार पर एक-दूसरे के लिए सिर काटे हैं और

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

अपने को सही तथा दूसरों को गलत बताने में दुराग्रह का काम लिया है । इतने पर भी यह नहीं कहना चाहिए कि मनुष्यों में पाई जाने वाली दुष्प्रवृत्तियाँ धर्म के अनुबन्ध हटाते ही समाप्त हो जायेंगी और फिर लड़ने-झगड़ने का कोई कारण शेष न रहेगा ।

कुत्ते आपस में क्यों लड़ते हैं ? बड़ी मछली छोटी को क्यों निगल जाती है ? हिंस्र पशु आये दिन दुर्बलों पर क्यों आक्रमण करते हैं ? सर्प और बिच्छुओं को अकारण सताते क्यों देखा जाता है ? व्याघ्र अपने क्षेत्र में क्यों दूसरे सजातीयों को सहन नहीं करते ? इस विग्रह का कारण धर्म नहीं वरन् स्वार्थ और अहंकार है । लड़ता और लड़ाता वही है । यदि धर्म का आवरण हटा दिया जाय तो भी यह आक्रामक प्रवृत्ति बनी ही रहेगी और इस कारण न सही अन्य किसी आधार पर अपनी अहंता की पूर्ति के लिए आक्रामक ही बनी रहेगी । स्वार्थ ही कलह को जन्म देते हैं । उन्हीं के टकराव से रक्तपात होते हैं । इसके लिए धर्म क्षेत्र की अहंता भी एक कारण हो सकती है, पर यह नहीं माना जाना चाहिए कि विद्वेष और रक्तपात की जड़ धर्म-धारणा में सन्निहित है ।

यदि ऐसा होता तो एक ही धर्म वाले आपस में न लड़ते । प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्धों में परस्पर रक्तपात करने वाले दोनों ही पक्ष ईसाई धर्म की मान्यता वाले थे । उनमें एकता रहनी चाहिए थी, पर जब लड़ना ही ठहरा तो धर्म की एकता से कुछ काम बना नहीं और रक्तपात से धरती रंग गई ।

भारत में चिरकाल से हिन्दू धर्मानुयायी रहते आये हैं । कौरव और पाण्डव दोनों ही पक्ष आस्तिक एवं एक ही धर्म की मान्यता वाले थे । सामन्तों के बीच मध्यकाल के अन्धकार युग में आये दिन लड़ाइयाँ होती रही हैं । पुरातन काल में कम युद्ध नहीं हुए । हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि की एकता होते हुए भी उन धर्मों के अनुयायी परस्पर लड़े बिना रहे नहीं, जबकि धार्मिक भिन्नता रहते भी एकता और एकात्मता के उदाहरण कम नहीं हैं ।

धर्म का वास्तविक उद्देश्य नीति, धर्म, सदाचार और उदार व्यवहार के लिए मनुष्य को प्रशिक्षित करना है । इस दृष्टि से उन सभी के बीच मौलिक एकता विद्यमान है । प्रथा-प्रचलन को धर्म का प्राण नहीं, आच्छादन-आवरण माना गया है । उनकी भिन्नता रहने पर भी परस्पर एकता एवं सद्भावना में अड़चन पड़ने जैसा कोई कारण नहीं । जब अलग-अलग प्रकार के भोजन, वस्त्र एवं विनोद उपक्रमों में अलग पसन्दगी होने पर भी बिना टकराए मिल-जुलकर निर्वाह कर सकते हैं तो कोई कारण नहीं कि धर्मों की भिन्नता में टकराए बिना काम न चल सके ।

मर्यादाओं को तोड़ने में क्या देर लगने वाली है? उच्छृंखलता की गणना पशु-प्रवृतियों में होती है । उसे शालीनता के अनुबन्ध पालने में अनख लगता है । स्वेच्छाचार सभी कृमि-कीटक बरतते हैं । नीति और सदाचार के बन्धन पालने के लिए व्यवहारगत सभ्यता और चरित्रगत सुसंस्कारिता का अनुशासन चिरकाल के प्रयत्नों से ही बन पड़ता है । सभ्यता और सुसंस्कारिता का समन्वय ही धर्म है । इसे अपनाने से मनुष्य संयम सीखता, मर्यादा-पालन का अभ्यास करता है । उदार बनने और संयम अपनाने के लिए भी उसमें दबाव डाला गया है । इन तथ्यों के समन्वय से धर्म पूर्णतया न सही आंशिक रूप में व्यक्ति और समाज को नीतिवान बनाने की ही भूमिका निभाता रहा है ।

माना कि जितना प्रतिफल धर्म-धारणा का होना चाहिए था, उतना नहीं हुआ और उस आचरण के पीछे अवांछनीयता को भी प्रश्रय मिलता रहा है । इतने पर वह समग्र विधा ऐसी नहीं है, जिसे अस्वीकार कर दिया जाय और सर्वसाधारण को अधर्मी बनने के लिए प्रोत्साहित किया जाय ।

धर्मों का मूल प्रयोजन प्रकाश में आये

धर्मों का प्रचलन और प्रादुर्भाव आदर्शवादी श्रद्धा सद्भावना के बीजारोपण, अभिवर्द्धन के निमित्त हुआ है । उनके निर्माताओं ने अपने-अपने समय और क्षेत्र की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए ऐसा दर्शन एवं प्रचलन खड़ा किया, जो व्यक्ति एवं समाज को नैतिक दृष्टि से अधिक समुन्नत बनाने में समर्थ हो सके । पुराने प्रचलन में कालविपर्यय से जीर्णता के साथ-साथ अवांछनीयता, रूढ़िवादिता भी घुसने लगती है । जब उसका अनुपात बढ़ता है, तो सुधार-परिवर्तन के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रहता । पुराने धर्मों का स्थान ग्रहण करने वाले नये धर्मों का प्रचलन इसी आधार पर हुआ है । जब वे सुधारवादी संस्थापन भी कालान्तर में रूढ़िग्रस्त हो जाते हैं तो उन्हें भी नये ढाँचे में ढालने, बदलने की आवश्यकता पड़ती है ।

संसार के प्रचलित धर्मों में ईसाई, इस्लाम, बौद्ध, हिन्दू धर्म आदि के अनुयाइयों की संख्या अधिक है । छोटी-छोटी संख्या में अपने-अपने क्षेत्रों में अन्यान्य धर्म भी प्रचलित हैं । इनमें से कई धर्मों की परम्पराएँ बड़ी शानदार हैं । इस सन्दर्भ में बुद्ध धर्म की चर्चा अधिक उत्साह के साथ की जाती है । आरंम्भ में वह बहुत छोटा था पर देखते-देखते कुछ ही समय में बहुत प्रभावी एवं व्यापक बन गया ।

कई धर्म मात्र पूजा, पाठ, जप, ध्यान, व्रत उपवास आदि कर्मकाण्डों पर अधिक जोर देते रहे हैं और जिस आधार पर ईश्वर की कृपा तथा सांसारिक ऋद्धि-सिद्धि मिलने की बात तक सीमित रहे हैं, किन्तु जिनमें विचारशीलता रही है उन्होंने सदाचार सद्व्यवहार पर जोर दिया है और साधनों को लोक मंगल में लगाने पर विशेष जोर दिया है । समझदार वर्ग में उनको अपेक्षाकृत अधिक सराहा और अपनाया गया है । ऐसे धर्मों में कइयों की गणना विशेष रूप में होती है । इस पंक्ति में बौद्ध धर्म की

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

चर्चा प्रधान रूप में की गई है । अब भले ही उसके जीवित आदर्श वृहत्तर भारत एवं एशिया के नक्शे में कहीं-कहीं ही विद्यमान हों, लेकिन यह एक तथ्य है कि इसका मूलभूत आधार एवं तत्व दर्शन कितना मजबूत श्रेष्ठता से युक्त था । समय के अनुरूप जिन प्रचलनों की आवश्यकता थी, अवतार परम्परा ने वही व्यवस्था की और धर्म चक्र प्रवर्तन की गतिविधियाँ विश्व भर में चल पड़ीं ।

अस्पृश्यता, बाह्य आडम्बर, कर्मकाण्ड आदि समस्याओं के निवारणार्थ आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व महात्मा बुद्ध ने इस सामाजिक क्रान्ति का उद्घोष किया था । अपनी छः वर्ष की कठिन तपस्या के उपरान्त उन्होंने सर्वप्रथम बनारस के समीप सारनाथ नामक स्थान में उपदेश ज्ञापन किया था । फलस्वरूप यहाँ पर उनके पाँच शिष्यों की एक मंडली तैयार हुई । यहीं से बौद्ध धर्म अभियान की नींव स्थापित हुई ।

आगे चलकर अस्सी परिव्रजा करने वाले बौद्ध भिक्षुओं का प्रादुर्भाव हुआ, जिनका मूल उद्देश्य धर्म प्रचार था । इन्हें अस्सी महाश्रावक के नाम से पुकारा जाता था ।

महात्मा बुद्ध की ८० वर्ष की आयु में उनके महानिर्वाण के समय तक मगध के महाराज बिम्बसार व अजातशत्रु तथा कपिलवस्तु के महाराज शुद्धोधन और बुद्ध के राजकुमार राहुल ने भी बौद्ध धर्म अंगीकृत कर लिया था । हृदय विदारक कलिंग युद्ध के पश्चात् सम्राट् अशोक ने भी बौद्ध धर्म अपना लिया । साथ ही उसने बौद्ध धर्म के प्रचार में अपना धन व जनशक्ति को भी समर्पित कर दिया ।

प्रथम शताब्दी में कनिष्क का आर्विभाव हुआ, जो बौद्ध धर्म के प्रचार के क्षेत्र में द्वितीय अशोक माना गया । विदेशी होते हुए भी उसने अपना समस्त जीवन बौद्ध धर्म के प्रचार में समर्पित कर दिया ।

पाँचवीं शताब्दी से १२ वीं शताब्दी के बीच बौद्ध धर्म का समस्त एशिया तथा अन्यान्य देशों में भी व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ । कई देशों में तो यह मूल धर्म के रूप में स्वीकार किया गया ।

नालन्दा तक्षशिला विश्वविद्यालयों में धर्म प्रचारकों को प्रशिक्षित करके उन्हें देश-देशान्तरों में भेजकर बौद्धिक क्रान्ति का शंख बजाया गया । यह प्रयास धर्म चक्र प्रवर्तन नाम से प्रख्यात हुआ ।

छठी शताब्दी में जापान का राजकुमार शोटोक् बुद्ध दर्शन से प्रभावित हुआ । उसने शासन की बागडोर सम्भालते ही स्वेच्छापूर्वक ऐसे सुधार कर दिये जिनके लिए जनता के आन्दोलनों को सफलता मिल नहीं पा रही थी । उसने वंश वर्चस्व समाप्त कर दिया । बिखरी जातियों को मिलाकर एक किया और शासन व्यवस्था ऐसी बनाई, जिसमें उपलब्ध राजस्व का अधिकांश भाग जन-कल्याण के कामों में लगे । शासक समुदाय व सेना की संख्या कम की गई और उस निमित्त खर्च होने वाली राशि में भारी कटौती हो गई ।

ईरान के ऐफीयोण्ड शासकों पर जरथुस्त का प्रभाव पड़ा तो उन्होंने संत जीवन की दिशा में कदम बढ़ाये और ऐसे सुधार किये जिससे न केवल शासक वर्ग को विनम्र, सदाचारी बनना पड़ा, वरन् प्रजाजनों में भी सद्भावना का अनुपात कहीं अधिक बढ़ गया । अपराधों की संख्या नाम मात्र को रह गई । उसे देश के एक सम्राट् डेरियस ने जगह-जगह ऐसे शिलालेख लगवाये जिनमें नैतिक शिक्षाओं की भरमार थी । इस प्रकार का लोक-शिक्षण इन दिनों के लोक-चिन्तन को बदलने में बहुत सहायक हुआ। उपलब्ध साधनों में यही श्रेष्ठतम भी था । इन सबके ध्वंसावशेष अभी भी विद्यमान हैं ।

क्रिश्चियन शासक कॉस्टेन्टाइन ने धार्मिक चिह्न पूजा तक सीमित न रहकर जनता को धर्म प्रिय बनाने का योजनाबद्ध आन्दोलन चलाया । उसका ढाँचा खड़ा किया और निर्धारण को कार्यान्वित करने के लिए विपुल धन जुटाया, इसमें चर्चों ने भी योगदान दिया । फलतः क्रिश्चियन शान्ति आन्दोलन का इन दिनों तूफानी प्रवाह चल पड़ा । इसके दूरगामी परिणाम हुए । कुलीनों ने अपने परम्परागत विशेष अधिकार छोड़ दिये, आये दिन लड़ते रहने वाले छोटे-छोटे देशों ने मिल-जुलकर मैत्री संघ बनाये । झंझटों को मिटाने के लिए पंचायती न्यायालय बढ़े । इतना ही नहीं पिछड़े हुए असभ्य समुदाय के क्षेत्रों में प्रवेश करके उन्हें सभ्य बनाने के ऐसे प्रयास चल पड़े, जिससे आये दिन खड़े होने वाले उपद्रवों और संकटों का शान्तिपूर्व ढंग से निराकरण हो गया । एक नई सुसंस्कृत पीढ़ी सामने आई ।

ताओ धर्म किसी समय उत्तरी एशिया के सुविस्तृत क्षेत्र में प्रचलित था । उसने (चू/वे) अर्थात् बुरे कर्मों के परित्याग पर बहुत जोर दिया । फलतः युद्धों और अपराधों का सिलसिला बहुत हद तक रुका और लोग इस प्रकार सोचने के लिए आगे बढ़े जिससे सुख-शान्ति का वातावरण बने और मिल-जुलकर प्रगति करने की प्रवृत्ति पनपे ।

ताओ धर्म के प्रसिद्ध प्रचारक लाओ त्जू एवं चुआ नंगजू के प्रतिपादन चीन में चौथी से छठी सदी तक जन-साधारण को प्रभावित करते रहे । उस विचारधारा पर बुद्ध दर्शन की गहरी छाप है जिसमें बुरे कर्मों से बचने और पारस्परिक सद्भाव सद्व्यवहार करने की शिक्षा है । जब तक ताओ मत अपनी दार्शनिक प्रखरता बनाये रहा, तब उसने जन-जीवन को सुखी-समुन्नत और सभ्य बनाने की महत्वपूर्णभूमिका निभाई ।

शीन्टो जापान का एक अति प्राचीनतम राष्ट्रीय धर्म है । विशेषतया इस शब्द का प्रयोग बौद्ध धर्म से पृथक् अपने राष्ट्रीय धर्म को पहचानने के उद्देश्य से छठी सदी में किया गया था । जापान का सामाजिक जन-जीवन इस धर्म से आमूलचूल प्रभावित हुआ । शीन्टो का मूलाधार ईश्वरी सत्ता के प्रति अटूट विश्वास था । जीवन के प्रति इनका मुख्य दर्शन जागरूकता, स्वच्छ हृदय, शालीन व्यवहार एवं

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

ईमानदारी के ऊपर आधारित था । इसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को ईश्वर का पुत्र स्वीकृत किया था, अतः प्रत्येक व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करना उनका मूल कर्त्तव्य घोषित किया गया था ।

द्वितीय विश्वयुद्ध आते-आते शिन्टो धर्म राजनीति का भी एक महत्त्वपूर्ण अंग बन गया था । शासक वर्ग का प्रमुख कर्त्तव्य धार्मिक चेतना जाग्रत करना तथा राजनैतिक प्रक्रियाओं का विकास करना था । १९४५ तक जापान में २१८ मण्डल एवं १,१०,००० स्थानीय मन्दिर थे ।

ईसाई तथा इस्लाम धर्म ने भी अपने ढंग से व्यक्ति की कर्त्तव्यपरायण, न्यायनिष्ठ एवं उदार बनाने का शिक्षण दिया तथा मान्यताओं एवं कर्मकाण्डों का ऐसा ढाँचा बनाया, जिसके आधार पर मनुष्य की सदाशयता बढ़ सके ।

आज जबकि हर क्षेत्र में विकृतियों की भरमार है, तब धर्म सम्प्रदाय भी उसकी छूत से कैसे बच सकते हैं ? निहित स्वार्थों की घुसपैठ हुई तो अलगाव और अहमन्यता, असहिष्णुता की दुष्प्रवृत्तियाँ भी उनमें घुस पड़ीं और विचारशील वर्ग में धर्म को सम्प्रदायवाद कहा और अनुपयोगी ठहराया जाने लगा । आज ऐसी ही विडम्बना हर क्षेत्र में बढ़ रही है । धर्म कलह और अन्धविश्वास के केन्द्र समझे जा रहे हैं ।

बुद्धिजीवी वर्ग के क्रमशः नास्तिक बनते चले जाने में धर्म क्षेत्र में घुस पड़ी दुष्प्रवृत्तियों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका है । विकृतियों के दलदल से सम्प्रदायवाद की संकीर्णता से निकलकर जब तक परिशोधित धर्म विकसित नहीं होता, दान-पुण्य के नाम पर धर्म की आड़ में बहुसंख्य जनता का शोषण होता ही रहेगा । इसके लिये जितनी चेतना के जागरण की आवश्यकता है, उतनी ही धर्माचार्यों, मठाधीशों के चिन्तन को उदारवादी बनाने हेतु साहस जुटाने की भी है । यह कार्य संगठित जन-शक्ति निश्चित रूप से कर सकती है । यदि यह सम्भव हो सका तो आज दृश्यमान विग्रह-उद्धत स्वेच्छाचार कहीं दिखाई नहीं पड़ेगा, तभी राष्ट्र या विश्व धर्म-सहिष्णु, धर्म-निरपेक्ष कहा जा सकेगा । आज की आवश्यकतानुसार यह उत्तरदायित्व मनीषी वर्ग का है ।

समय की माँग है कि धर्मों का सार तत्त्व लेकर एक मानव धर्म बने । उसका प्रयोजन दार्शनिक विवादों में फँसना नहीं, वरन् यह होना चाहिए कि मनुष्य को कर्त्तव्यपरायण एवं समाजनिष्ठ बनाने की प्रेरणा प्रदान कर सके । ऐसा धर्म ही नवसृजन की दिशा में मनुष्य को आगे बढ़ा सकने में समर्थ हो सकता है ।

धर्म-निष्ठा का पर्याय चरित्रनिष्ठा

मनुष्य के समस्त क्रिया-कलापों, प्रयासों एवं उपक्रमों की पृष्ठभूमि में सुख-शान्ति का उद्देश्य निहित होता है । बल्कि यह कहना ही उपयुक्त होगा कि मानव-जीवन का अभीष्ट ही सुख प्राप्त करना है । वह जो कुछ भी कर रहा है, वह किसी न किसी रूप में इसी सुख को उपलब्ध करने के लिए कर रहा है । देखने में तो यहाँ तक आता है कि वह अनेक खतरे भी सुखोपभोग के लिए मोल लेता है ।

सुख-शान्ति को प्राप्त करने की अभिलाषा उसकी एक विशिष्ट आकांक्षा कही जा सकती है । सुख-शान्ति की आवश्यकता के बीज उसके हृदय में स्वयंभू पाये जाते हैं । हृदय की उर्वरक भूमि में ही सुख-शान्ति की बेल पल्लवित एवं पुष्पित होती रहती है, इसे आत्मा की सहज स्वाभाविक जिज्ञासा भी कहा जा सकता है, क्योंकि आत्मा का उन्नयन सुख-शान्ति की अवस्था में ही सम्भव हो पाता है । आत्मा का परमात्मोन्मुख होना, अंश का अंशी से तादात्म्य होना भी इसी सुख-शान्ति की स्थिति में सहज होता है ।

मानव-जीवन में व्यवस्था, सन्तुलन एवं संयम स्थापित करने के लिए भी सुख-शान्ति की महती आवश्यकता है, इनके अभाव में उसकी शक्तियाँ अस्त-व्यस्त रहकर क्षीण होती रहती हैं । शक्ति हीनता अपने आप में अभिशाप है । मानव-जीवन का परम लक्ष्य है, ईशोपलब्धि । जिस हेतु ईश्वर ने सर्वोत्कृष्ट स्वरूप प्रदान किया, उसमें मानव तब तक सफल नहीं हो पाता, जब तक कि वह संसार के बन्धनों, मायाजालों, दुःख द्वन्द्वों तथा शोक-सन्तापों की बेड़ियों से उन्मुक्त नहीं हो पाता ।

जीवन में अपेक्षित उत्कर्ष अथवा आध्यात्मिक उत्थान के लिए मानसिक स्थैर्य, मस्तिष्कीय सन्तुलन एवं आत्माह्लाद की परम आवश्यकता होती है । अशान्ति की अवस्था में यह कदापि सम्भव नहीं हो पाती । मानसिक संघर्ष एवं मोह-माया में फँसा हुआ तथा संत्रस्त व्यक्ति, कामनाओं एवं वासनाओं से उन्मुक्त हुए बिना, लौकिक एवं पारलौकिक अभ्युदय किसी भी मूल्य पर नहीं कर सकता। किसी भी प्रकार के विकास हेतु शान्तिपूर्ण मनःस्थिति अनिवार्य रूप से अपेक्षित है । ऐसा कोई संयोग नहीं है जिसका अन्त में वियोग न होता हो, ऐसा कोई सुख भोग नहीं है, जिसके पीछे दुःख-रोग सम्बद्ध न हो । संसार में पर्याप्त रूप से भटकने के उपरान्त यही निष्कर्ष निकलता है कि विषय, भोग-वासना, तृष्णा, लोभ-मोह की परिणति स्थायी सुख-शान्ति से निरन्तर दूर करना ही है ।

सुख-शान्ति का स्थिर निवास तो केवल उस एक परमात्मा में है, जो कण-कण में संव्याप्त है, मनुष्य में ईश्वर अंश अविनाशी आत्म-तत्त्व के रूप में अवस्थित है और सचराचर सृष्टि को अपनी विराट् सत्ता द्वारा दीप्त करता है । दीप्त केवल परमात्मा है, उससे समस्त जगत ज्योतित हो रहा है ।

मनुष्य के समस्त अतीत एवं वर्तमान के शोक-संतापों, माया-मोह, वासनाओं एवं तृष्णाओं की परिसमाप्ति उस समय होती है, जब वह परमात्मा से तादात्म्य स्थापित करने में सफल हो जाता है ।

धर्माचरण वस्तुतः वह उपाय है, वह सुमार्ग है जिसके माध्यम से अक्षय सुख-शान्ति प्रदायिनी, ब्राह्मी स्थिति सहज

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

ही प्राप्त की जा सकती है । देशकाल एवं परिस्थिति के अनुरूप धर्माचरण करने वाला साधक नि:सन्देह इस स्थिति को प्राप्त करने में अन्ततोगत्वा सफल हो जाता है । वस्तुत: धर्म ब्रह्म का सक्रिय स्वरूप है, जो धर्म ज्ञानी है, वह ब्रह्म ज्ञानी है । धर्म ज्ञान के द्वारा ब्रह्म ज्ञान सहज सुलभ हो जाता है ।

ब्राह्मी पद को प्राप्त करने के लिए प्राचीन ऋषि मनीषियों के अनुसार, मात्र धर्म-धारण एवं धर्माचरण में निष्ठा आवश्यक थी और वे उसमें सफल हुए थे । धर्म निरत रहकर एवं विकार विरत होकर उन्होंने अपने आपको कर्मगति से अप्रभावित एवं दु:ख से परे बना लिया था । चन्दन विषधरों से परिवेष्ठित रहते हुए भी उनसे अप्रभावित रहता है । चन्दन सदृश्य जीवन-दर्शन जिस ब्रह्मवेता का होगा, वह सर्वत्र सुगन्ध एवं सुवास बिखेर कर स्वयं तो तर ही जाएगा, दूसरों को भी तार सकता है ।

धर्म के सम्बन्ध में यह मान्यता फैली हुई है कि धर्म दु:साध्य एवं दुर्बोध है । वस्तुत: यह धारणा भ्रममूलक है । धर्म सदृश्य ऋजु एवं सरल, सुखदायक तथा निरापद मार्ग इस संसार में और कुछ नहीं । वस्तुत: दुर्बल मन:स्थिति के लोग मानसिक दौर्बल्य के कारण ही उसे असाध्य एवं कष्टकारक समझते हैं । जितनी जिज्ञासा एवं आसक्ति उनकी विषय-वासनाओं की ओर है, यदि उतनी धर्म की ओर हो जाय, तो समस्त समस्याओं का समाधान उनके हाथ लग जाये ।

धर्म के दो स्वरूप हैं-एक आन्तरिक, दूसरा बाह्य । एक को हम भावनात्मक कह सकते हैं तो दूसरे को क्रियात्मक । सदाचार धर्म का बाह्य स्वरूप है और सद्भाव उसका आन्तरिक स्वरूप । सज्जनता, सरलता, सादगी, सहानुभूति, संवेदना दया, करुणा, न्याय, औचित्य, विवेक आदि वे दिव्य अनुभूतियाँ हैं जिन्हें धर्म का भावनात्मक अथवा आभ्यांतरिक स्वरूप कहा जा सकता है । साथ ही श्रम, संयम, न्याय, सत्साहस आदि धर्म का क्रियात्मक अथवा बाह्य स्वरूप है । भावना यदि उपासना है तो क्रिया साधना । सद्भाव और सत्कर्म को जब तक धनऋण विद्युत के समान सम्बद्ध नहीं करेंगे, तब तक प्रकाश सम्भव नहीं । ज्ञान, कर्म के अभाव में अपूर्ण है और कर्म ज्ञान के अभाव में अधूरा । एतदर्थ इन दोनों में समन्वय से ही धर्माचरण में पूर्णता आती है । किसी व्यक्ति की दीन-हीन, असहाय स्थिति को देखकर यदि हमारे मन में सहानुभूति एवं संवेदना के भाव तो उत्पन्न होते हैं, किन्तु उसकी सेवा एवं सहायता के पर्याप्त उपक्रम एवं उपचार नहीं किये गये तो धर्म का अपूर्ण आचरण माना जाएगा । इसी प्रकार यदि कोई असद्भावना, अहंकार प्रदर्शन एवं नामवरी के लिए किसी की सेवा, सहायता करता है किन्तु दु:खित पीड़ित जन के प्रति सच्ची सहानुभूति नहीं रहती तो इस कार्य को भी धर्म का छद्म आचरण ही कहा जाएगा । वस्तुत: पूर्ण धर्म का आचरण भावना एवं क्रिया के समन्वय से ही सम्भव है ।धार्मिक जन यदि वास्तव में धर्म लाभ प्राप्त करने की इच्छा करते हैं तो पूर्ण धर्म का आचरण परमावश्यक है ।

धर्माचरण सम्पूर्ण मानवता के लिए मांगलिक निष्कर्ष है । मनुष्य अपने हृदय की निर्मल भावनाओं को यदि परिष्कृत और प्रसारित कर लेता है तो सुख-शान्ति उसकी सहचरी के रूप में अपने आप चली आती है । धर्म का सम्बन्ध मनुष्य के आस्था ईमान से है । ईमान यद्यपि धर्म का ही पर्याय है । ईमानदारी इन्सान को ईश्वर के समीप पहुँचा देती है और बेईमानी नरक का द्वार खोलती है । सुख का, परिस्थितियों का निर्माण ईमान एवं धर्म के प्रति आस्था एवं निष्ठा द्वारा ही किया जा सकता है । धर्म की आत्मा मानव निष्ठा एवं आस्था पर टिकी हुई होती है । इसलिए सद्भाव एवं सत्कर्म के प्रति निष्ठा, श्रद्धा एवं आस्था ही मानव-जीवन के लक्ष्य अक्षय सुख-शान्ति तक पहुँचाने में सहायक सिद्ध हो सकती है ।

धर्म का सच्चा स्वरूप

धर्म वह वस्तु है जिसकी रक्षा करने से हमारी रक्षा होती है । **'धर्मे रक्षति रक्षितः'** का सिद्धान्त ही सत्य है । मनुष्य बड़ा स्वार्थी जीव है, उसने हर दिशा में पहले यह देखा है कि इस कार्य को करने से मेरा कितना हित होगा, तत्पश्चात् उस कार्य को आरम्भ किया है । गाय, भैंस, घोड़े, बकरी आदि की वह रक्षा करता है, क्योंकि बदले में वह भी मनुष्य की सम्पत्ति तथा तन्दुरुस्ती की रक्षा करते हैं ? बढ़ाते हैं । सियार, भेड़िया, हिरन, लोमड़ी, चीता, कछुआ आदि को आमतौर से नहीं पाला जाता, क्योंकि इनकी रक्षा करने से मनुष्य की रक्षा नहीं होती । यही बात हर दिशा में है, व्यापार, विवाह, मित्रता, कुटुम्ब, पालन, विद्या-व्यायाम आदि को इसलिए उचित ठहराया गया है कि इनके द्वारा मनुष्य का हित साधन होता है, रक्षा होती है, सुख मिलता है । जिस कार्य से किसी अच्छे प्रतिफल की आशा नहीं होती, उसमें कोई दिलचस्पी नहीं लेता ।

धर्म को मनुष्य ने बहुत बड़ी वस्तु माना है । छोटे-मोटे सुखों का त्यागकर और कष्टों को अपना कर भी वह धर्म के लिए प्रयत्नशील रहता है, क्योंकि लाखों वर्षों का अनुभव यह सिखाता है कि धर्म की रक्षा करने से अपनी रक्षा होती है । रक्षक, पहरेदार, चौकीदार, सैनिक आदि रक्षा करने वाले व्यक्तियों को पैसा खर्च करके भी अपने पास रखा करते हैं, क्योंकि यह बात अनुभव में आ चुकी है कि इनके द्वारा आने वाली आपत्तियों और हानियों से बचाव होता है । यदि यह बात न होती तो कोई भी पहरेदारों को न रखता । इसी प्रकार धर्म को भली-भाँति परख लिया गया है कि वह हमारी रक्षा करता है, इसीलिए लोग धर्म की रक्षा करना उचित समझते हैं। यदि उसमें यह गुण न होता तो कोई उसे स्वीकार न करता ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

गौपालन, तुलसी-स्थापना, गंगास्नान, तीर्थयात्रा, एकादशी व्रत, ब्रह्मचर्य आदि कार्यों को धर्म माना गया है । इस मान्यता से पहले परीक्षा कर ली गई है कि यह कार्य लाभदायक है । गाय पालन से दूध, गोबर और बछड़े मिलते हैं । तुलसी अनेक रोगों को दूर करने वाली एक अमोघ औषधि है । गंगा के जल में ऐसे रासायनिक तत्त्व पाये जाते हैं जो स्वास्थ्य सुधार के लिए उपयोगी हैं । तीर्थ यात्रा में देशाटन के अनुभव, सत्पुरुषों का सत्संग और वायु परिवर्तन होता है । एकादशी व्रत रखने पन्द्रह दिन का कब्ज पच जाता है । ब्रह्मचर्य से शरीर बलवान रहता है । इन प्रत्यक्ष लाभों की आकर्षण शक्ति ने ही मनुष्य को धर्म के साथ बाँध रखा है, अन्यथा यह स्वार्थी जीव कब का धर्म को धता बता चुका होता ।

जहाँ श्रेष्ठता होती है, वहाँ कुछ बुराइयाँ भी घुस जाती हैं । धर्म पालन को लोग बहुत ही महत्त्वपूर्ण समझते हैं और उसके लिए त्याग भी करते हैं यह देखकर स्वार्थ-परता जो कि हर एक क्षेत्र में पाई जाती है- जाग्रत हुई और अनुचित रूप से व्यक्तिगत लाभ उठाने के आडम्बर रचे गये । धर्मगुरुओं में जहाँ अधिकांश श्रेष्ठ पुरुष थे और रक्षा करने वाले धर्म का उपदेश दिया करते थे, वहाँ कुछ ऐसे ओछी मनोवृत्ति के लोग भी गुरुओं में मिल गये जिन्होंने व्यक्तिगत लाभ की प्रेरणा से नकली बातों को धर्म में जोड़ दिया । कालान्तर में वह असली और नकली बातें एक-दूसरे के साथ मिलकर ऐसी शक्ल में आ गईं, आज यह पहचानने में कठिनाई होती है कि हमारे सामने धर्म का जो स्वरूप उपस्थित है उसमें कितनी बातें असली और कितनी नकली हैं ?

इस असली-नकली के सम्मिश्रण के कारण परिस्थिति ऐसी बन गई है कि धर्म के नाम पर जो कार्य किये जाते हैं, उनमें से बहुत से पुण्य और बहुत से पाप होते हैं । आज नकली की मात्रा असली से अधिक हो गई है, इसलिए धर्म के नाम पर जो कुछ किया जाता है, उसमें पुण्य का भाग कम और पाप का अधिक होता है । धर्म के निमित्त जो कुछ जमा करते हैं, वह फूटे पैंदे के घड़े में होकर नीचे बह जाता है । फलतः अपनी सम्पूर्ण शक्ति का पाँचवाँ हिस्सा धर्म के लिए खर्च करते हुए भी कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, लाभ के बदले उल्टी हानि दिखाई पड़ती है ।

धर्म के नाम पर पलने वाले व्यक्ति और धर्म के नाम पर चलने वाले संस्थानों के कार्यों पर जब हम गम्भीर दृष्टिपात करते हैं तो उनके द्वारा उन्नति की बजाय अवनति के तत्त्व अधिक दिखाई पड़ते हैं । धर्म जिनकी घर-गृहस्थी का पूरा-पूरा खर्च चलाता है, उनसे यह भी आशा करता है कि बदले में वे लोकहित की साधना करें । जनता जिन लोगों का पेट पालती है, जिनके जीवन की रक्षा करती है उन्हें भी उचित है कि बदले में जनता की रक्षा का कार्य करें, यही तो धर्म है । नौकरी और दान में यह अन्तर है कि नौकर तो जितने पैसे लेता है, उतना ही काम करके छुट्टी पा जाता है, परन्तु दान लेने वालों की जिम्मेदारी अनेक गुनी है, क्योंकि उसने पैसे के अतिरिक्त श्रद्धा को भी प्राप्त किया है, इसलिये उसे नौकरी की अपेक्षा कई गुना अधिक काम करके धर्म की मर्यादा की रक्षा करनी है । इसी प्रकार धर्म के नाम पर चलने वाली संस्थाओं का कर्त्तव्य है कि यजमानों के हित साधने के लिए प्राप्त पैसे की अपेक्षा अनेक गुना काम करके दिखावें, परन्तु हम देखते हैं कि धर्म के नाम पर पलने वाले व्यक्ति और संस्थान दोनों ही इस कसौटी पर कसे जाने के उपरान्त खरे नहीं उतरते । नकली कामों का फल भी नकली ही होगा ।

इस युग की शिकायत है कि "हमारी पंचमांश शक्ति को धर्म खा जाता है, परन्तु बदले में झूठी कल्पनाओं के अतिरिक्त कुछ नहीं देता ।" इस शिकायत के उत्तर में हमारा कथन है कि आप जिसको अपनी शक्तियाँ सौंप रहे हैं वह धर्म नहीं है । क्योंकि धर्म एक प्रकार की उर्वरा भूमि है जिसमें बोया हुआ बीज कई गुना होकर लौटता है । धर्म में नकद होने की विशेषता है । इस हाथ लेकर उस हाथ देने का उसमें स्वाभाविक गुण है । जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी अवश्यमेव रक्षा करता है । यदि किसी प्रकार का प्रत्युकार प्राप्त न हो तो समझना चाहिए यह नकली चीज है, जिसमें न तो गर्मी हो, न चमक वह अग्नि नहीं कही जा सकती है । इसी प्रकार रक्षा करने पर भी जो न तो सुख में वृद्धि करता है और न आपत्तियों से रक्षा करता है, वह धर्म नहीं है । यदि हम लोग वास्तविक धर्म की उपासना करते होते तो आज पतित, पराधीन, क्षुधार्त, बीमार, बेकार और तरह-तरह से दीन-हीन न होते । धर्म के साधक की यह दुर्गति तीन काल में भी नहीं होती । बहुत कुछ खोने के पश्चात् बहुत कुछ ठोकरें खाने के पश्चात् अब हमें होश में आना होगा और उस वास्तविक धर्म को ढूँढ़ना होगा जिसकी शरण में जाने से मनुष्य की सब प्रकार की आधि-व्याधि मिट जाती है, सब प्रकार के क्लेश-कष्टों से छुटकारा मिल जाता है ।

धर्म और अधर्म की व्याख्या करते हुए पंचाध्यायी में एक बहुत महत्त्वपूर्ण श्लोक कहा गया है-

'शक्तिः पुण्यं पुण्य फलं सम्पच्च सम्पदः सुखम् ।
अतोहि चयनं शक्तेर्यतो धर्म सुखावहः ।।

शक्ति पुण्य है, पुण्य का फल वैभव है और वैभव से सुख प्राप्त होता है । इसलिए निश्चय से शक्ति का संचय सुखकारक धर्म माना गया है ।

उपरोक्त श्लोक में सच्चे धर्म का असली मर्म खोलकर रख दिया गया है । जिससे अपनी-अपने समाज की शक्ति बढ़ती है, वह धर्म है । विद्या, स्वास्थ्य, धन, प्रतिष्ठा, पवित्रता, संगठन, सच्चरित्रता यह सात महाबल माने गये हैं, जिन कार्यों से इन सात मार्गों में अपनी या अपने समाज की उन्नति होती हो, धर्म-साधना के निमित्त उन्हीं कार्यों को करना-अपनाना चाहिए । स्वयं इन सातों बलों को अपने पास एकत्रित करना धर्म-कर्त्तव्य समझ कर सदैव प्रयत्न करते रहना चाहिए और महासम्पत्तियाँ दूसरों को भी प्राप्त

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

हों, इसके लिए परोपकार भावना के साथ उद्योग करना चाहिए । ऐसी सभा-संस्थाओं का स्थापन, संचालन और सहयोग करना चाहिए जो स्वास्थ्य की उन्नति करती हों, जिनके द्वारा ज्ञान की वृद्धि होती हो, आर्थिक दशा सुधरती हो, गन्दगी, मलीनता, कुरुचि हटती हो, मेल, ऐक्य, भ्रातृभाव बढ़ता हो तथा सद्गुणों में सदाचार में, न्याय में उन्नति होती हो । बलों की वृद्धि करना ही धर्म-साधना का प्रधान कार्य है । रक्षा करने का एकमात्र हथियार 'घात' है । धर्म का गुण रक्षा करना माना गया है । इसलिए वे ही कार्य धर्म ठहराये जा सकते हैं जिनके द्वारा हमारा व्यक्तिगत और सामूहिक बल बढ़ता हो, उन्नति होती हो, सुख बढ़ता हो और आत्म-रक्षा की क्षमता प्राप्त होती हो ।

जो व्यक्ति उपरोक्त प्रकार के कामों में जितने परिश्रम और लगन के साथ जुटे हुए हों, उन्हें उतना ही बड़ा धर्मात्मा मानना चाहिए । इसी तरह के व्यक्तियों को और कार्यों को बढ़ाने के लिए अपना प्रभाव, समय और पैसा लगाना चाहिए । वास्तविक धर्म यही है । इसी मर्यादा में वे लोग भी आ जाते हैं जो किसी विपत्ति में फँस गये हैं, अपाहिज, असमर्थ, बालक, वृद्ध आदि ऐसे लोग जो अपनी शक्ति से अपना जीवनयापन स्वयं नहीं कर सकते तथा ऐसे लोग जो आकस्मिक विपत्ति में पड़ गये हैं, जैसे- बाढ़, अकाल, अग्निकाण्ड, चोट, दुर्घटना, रोग, अन्याय आदि के सताये हुए । इन असमर्थों और पीड़ितों की सहायता करना भी मनुष्य का कर्त्तव्य है, ऐसे कर्त्तव्यपालन को दयाधर्म कहते हैं ।

यह ध्यान रखना चाहिए कि अपनी उदारता से कहीं निठल्ले, बदमाश और ढोंगियों को सहायता न मिलती हो ऐसे लोगों की सहायता करना उनके निठल्लेपन, बदमाशी और ढोंग को और अधिक प्रोत्साहन देना है, जो कि एक प्रकार का पाप ही है । ऐसी सहायता देने वाले को उल्टा पाप लगता है । भिक्षा एवं दान के ऊपर जीवन-निर्वाह करने का अधिकार अपाहिजों और लोक-सेवी व्यक्तियों को है, पीड़ितों को उतनी मात्रा में सहायता लेने का हक है जिससे वे फिर अपने पाँवों पर खड़े हो जावें । इसके अतिरिक्त और किसी को भी न भिक्षा लेनी चाहिए और न देनी चाहिए । ईश्वर भजन व्यक्तिगत आवश्यकता है, जैसे भोजन करना, पानी पीना, स्नान करना आदि । कोई आदमी इसलिए भिक्षा नहीं माँगता है कि मैं भोजन करता हूँ, पानी पीता हूँ, स्नान करता हूँ, शौच जाता हूँ, यह तो हर आदमी के दैनिक कर्त्तव्य हैं, जिन्हें करने के लिए किसी पर एहसान जताने की या धर्मात्मा बनने की जरूरत नहीं पड़ती । कोई व्यक्ति अधिक समय तक भजन करता है, अधिक ईश्वरभक्त है तो यह इसकी व्यक्तिगत महत्ता है, उसका अपना निजी लाभ है । निजी लाभ को स्वर्ग मुक्ति को कमाने में लगे हुए व्यक्ति दान या भिक्षा की आशा क्यों करें ?

हमें सच्चे धर्म को पहचानने की और उसी की रक्षा करने की आवश्यकता है, जिससे हमारी भी रक्षा हो । अज्ञान और आडम्बर के पर्दे को हटाकर हमें भगवान् सत्य के दर्शन करने चाहिए । सत्य का अवलम्बन करने में ही धर्म है और धर्म के ऊपर ही हमारी वैयक्तिक एवं सामूहिक उन्नति तथा रक्षा निर्भर है । अपनी पंचमांश शक्ति का जिस दिन हम सच्चे धर्म के लिए उपयोग करने लगेंगे उसी दिन से हमारे सौभाग्य सूर्य का उदय होना आरम्भ हो जायगा ।

धर्म की रक्षा करो

नवीन सभ्यता की यह आवाज है कि हमें अपनी उन्नति करने के लिए आर्थिक और बौद्धिक उन्नति करनी चाहिए, संगठन करना चाहिए । धर्म मार्ग की कड़ी आलोचना करते हुए कहा जाता है कि यह तो अफीम की गोली है, जिसे खाकर मनुष्य अपनी बुद्धि खो बैठता है । यह तो पंडे-पुजारियों का पेशा है, जो लोगों को बहकाकर अपना उल्लू सीधा करते हैं ।

उपरोक्त विचार किसी एक मनुष्य के नहीं हैं, वरन् एक तीव्र विचारधारा है, जो दिन-दिन प्रबल होती जा रही है । युग का प्रवाह या नास्तिकों का प्रलाप कहकर इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती । हमें विचार करना है कि इन बातों में कितना तथ्य है? मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जब हम बारीकी के साथ इस सम्बन्ध में विचार करने बैठते हैं, तो प्रतीत होता है कि इस युग की धार्मिक बगावत वस्तुतः धर्म तत्त्व के विरुद्ध नहीं, वरन् उसके साथ मिल-जुल गये पाखण्ड के विरुद्ध है । हिन्दू जाति धर्मप्राण रही है और उसमें उदारता की मात्रा का समावेश अत्यधिक रहा है, इसलिये हिन्दू धर्म के अन्दर अनेक पंथ, उपपंथ बढ़ते रहे और सब प्रकार हितकर-अहितकर रीति-रिवाजें पनपती रहीं । देवदासी प्रथा (लड़कियों को नाचने के लिए मन्दिरों को दान करना) सखी सम्प्रदाय (भक्ति के नाम पर पुरुषों का स्त्री रूप बनाना) जीव बलि प्रथा (पशु-पक्षी तथा मनुष्यों तक की बलि देना) तान्त्रिकों के विकृत भैरवी चक्र (मद्य, माँस, मैथुन, धन संग्रह आदि में ही लिप्त रहना) जैसे कार्य जब धर्म का आवरण ओढ़कर फलें-फूलें तो स्वाभाविक है कि उनकी गन्दगी उस तालाब को ही गन्दा कर दे, जिनमें से उनका उद्भव होता है। शताब्दियों का यह घपला अब धर्म के शुद्ध स्वरूप में मिलकर कुछ ऐसी विकृत दशा में सर्व-साधारण के सामने आता है कि स्थूल दृष्टि डालते ही उससे घृणा होने लगती है। मन्दिर-मठों में होने वाले दुराचार, साधुओं का वेश धारण किये हुए असंख्य हरामखोर, बदमाश, धर्म-पुण्य के नाम पर स्वार्थ-साधन के लिए अज्ञान जनता से हड़पी जाने वाली धन राशि, ज्योतिष, भविष्य कथन आदि के नाम पर होने वाला भ्रम प्रचार, साम्प्रदायिक कलह, दंभियों के संगठित षड्यन्त्र, जब नग्न रूप में जनता के सामने आते हैं, तो उनके अप्रबुद्ध मस्तिष्कों में धर्म का यही चित्र अंकित हो जाता है और यह बिलकुल स्वाभाविक है कि हर

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

विचारशील एवं सहृदय व्यक्ति उनसे घोर घृणा करे । धर्म के विरुद्ध उठी हुई इस युग की प्रचण्ड बगावत के आदि कारण वे पाखण्ड हैं, जिन्होंने धर्म के पवित्र गंगाजल को गंदली कीचड़ का रूप दे दिया है । पेट में बगावत खड़ी होती है, दस्त लगते हैं तो दूषित भाग के साथ श्रेष्ठ तत्त्व भी बाहर फेंक दिये जाते हैं, सूखे के साथ गीला भी जल जाता है, गेहूँ के साथ घुन भी पिस जाता है । दुनिया के तीन चौथाई से अधिक मनुष्यों के मस्तिष्क पर अधिकार जमाये हुए धर्म विरोधी भावनाओं का यथार्थ कारण यही है ।

धर्म के शुद्ध स्वरूप में बगावत के लिए रत्ती भर भी स्थान नहीं है । विरोध उसमें हो नहीं सकता । मनुष्य जाति की सामाजिक व्यवस्था को ठीक बनाये रहने वाली शृंखला केवल धर्म ही हो सकता है । धार्मिक भावनाएँ मनुष्य के हृदय में स्वार्थ का त्याग और परोपकार वृत्ति का बीजारोपण करती हैं । संसार के समस्त कलह और दु:ख-द्वन्द्वों का कारण स्वार्थ की अनुचित साधना है । धर्म से विमुख होकर मनुष्य स्वार्थ-सिद्धि को ही अपना इष्ट बना रहे हैं । संसार में वस्तुएँ एक नियत मात्रा में हैं, वे उतनी रहती हैं, जितनी से प्राणियों का उचित पालन-पोषण हो सके । यदि सभी अपने-अपने भाग का उपभोग करें, तो विश्व की शान्ति स्थापित रहेगी, समाज की सारी व्यवस्था बड़ी सुविधापूर्वक चलती रहेगी । किन्तु मनुष्य स्वभाव में अक्सर पशुता का उदय होता है, वह अपने लिये बहुत चाहता है और दूसरों को कुछ नहीं देना चाहता । दूसरों को कष्टकारक स्थिति में धकेलकर अपने लिये अधिक सुख-सुविधाएँ एकत्रित करता है, फलस्वरूप दूसरे लोग अभाव से दु:खी रहते हैं और जब उनमें प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, तो प्रतिशोध लेने के लिए तत्पर हो जाते हैं, तदनुसार कलह का सूत्रपात होता है । हम समाज के अधिकांश भाग को दु:खी पाते हैं और उसमें कलह के बड़े नृशंस दृश्य देखते हैं । सारा संसार इन हाहाकारों से पीड़ित हो रहा है । सच्चे धर्म से विमुख होने का यही तो निश्चित परिणाम है ।

धर्म की विशद् विवेचना का तत्त्वज्ञान यह है कि "मनुष्य अपनी सुविधाओं का दूसरों के सुख के लिये खुशी-खुशी परित्याग करे ।" यह भावनाएँ जितनी-जितनी अधिक दृढ़ होती जाती हैं, उतना ही मनुष्य उदार होता जाता है, अपने सुख की अपेक्षा दूसरों की सुविधा का उसे विशेष ध्यान रहता है । आनन्द एक कल्पित चीज है, उसका आरोपण जिस वस्तु में कर लिया जाय, उसी में वह प्राप्त होने लगता है । स्वार्थ साधन में आनन्द आता है, पर जब उसका आरोपण परमार्थ में कर लिया, तो परमार्थ में भी स्वार्थ के समान ही आनन्द आने लगता है । वह आनन्द नामक पदार्थ जिसकी प्राप्ति के लिए स्वार्थ-साधन किया गया था, जब धार्मिक भावनाओं के कारण परमार्थ में भी प्राप्त होने लगता है , तो वह समस्या भी हल होने लगती है, जिसके कारण संसार नरक बना हुआ है । इतिहास में ऐसे उदाहरण हैं कि कुछ शासकों की स्वार्थ भावनाएँ राज्य के लिये अपने सगे भाइयों तक हत्याएँ कराती हैं । इसके विपरीत जब राम और भरत दोनों ही त्याग की भावनाओं से परिपूर्ण होते हैं, तो वह राज्य तुच्छ वस्तु बन जाता है, दोनों के जीवन में आनन्द का अविरल स्रोत फूट निकलता है । एक भाई राज्य को दूसरे भाई को खुशी-खुशी देना चाहता है, दूसरा उसे उसी के लिये अर्पण करता है । कैसा स्वर्गीय दृश्य है? जिन पति-पत्नियों में, मित्र-मित्रों में इस प्रकार की भावनाओं के कुछ अंश दिख पड़ते हैं, वहाँ कितनी पवित्र प्रेम की धारा बह निकलती है । शान्ति और सुव्यवस्था का मेरुदण्ड यही विचारधारा है, जिसे धार्मिक भावना के नाम से पुकारा जाता है ।

नवीन सभ्यता धार्मिक आडम्बरों की बगावत करते हुए उसके सत्य तत्त्व का भी बहिष्कार कर देती है, उसका मुँह त्याग की अपेक्षा स्वार्थ की ओर मुड़ जाता है । तदनुसार कलह की दारुण विभीषकाएँ सामने आ खड़ी होती हैं । जहाँ स्वार्थ की प्रधानता है, वहाँ आर्थिक उन्नति, बौद्धिक विकास और संगठन कुछ भी काम नहीं दे सकते । जरा आज की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर दृष्टिपात कीजिए । राष्ट्रसंघ जैसा महान् संगठन बेचारा एक झोंके में उड़ गया । धन-धान्य से सम्पन्न, राजाओं जैसा जीवन बिताने वाले व्यक्ति आज भूखे मर रहे हैं और गुफाओं में छिपकर अपनी प्राण रक्षा कर रहे हैं, विज्ञान के आश्चर्यजनक आविष्कार करने वाली बुद्धि आज मृत्यु किरणों और जहरीली गैसों का आविष्कार कर रही है । स्वार्थ की जितनी अधिकता होती जायेगी, संसार में उतने ही नारकीय दृश्य उपस्थित होते जायेंगे । जिस दिन धर्म की भावनाओं का बिल्कुल लोप हो जायेगा, स्वार्थ का पूर्णत: साम्राज्य हो जायगा, उस दिन सर्पिणी की तरह माताएँ अपने बच्चों का माँस पकाकर खाने लगेंगी, बहिनें पशुओं की तरह लज्जा और रिश्ता छोड़कर इन्द्रिय परायण हो जायेंगी, मनुष्य शूकरों की तरह अखाद्य खाने लगेंगे और कुत्तों की तरह एक दूसरे की बोटी नोंच-नोंच डालेंगे।

हे नवीन सभ्यता के अभिमानियो ! अपने तर्कों पर पुन: विचार करो, वस्तुस्थिति को पुन: सोचो, अपने कार्यक्रम का पुन: संशोधन करो । यह मार्ग कल्याण का नहीं है, जिस पर तुम प्रवृत्त हो रहे हो । आर्थिक उन्नति, बौद्धिक विकास, संघटन तीनों ही बड़ी सुन्दर वस्तुएँ हैं परन्तु इनके मूल में धर्म होना चाहिए अन्यथा यह उन्नति विकास की तीक्ष्ण तलवारें ही सिद्ध होंगी । धार्मिक रीति-रिवाजें वास्तविक धर्म नहीं हैं । यह तो इसके बाह्य चिह्न हैं, जो समय-समय पर बदलते रहे हैं और बदलते रहेंगे । इनमें जो विकृतियाँ आ गई हों, जो अंग सड़ गये हों, उनमें परिवर्तन कर लो । क्योंकि परिवर्तन ही जीवन है । परन्तु थोड़े से विकार के कारण सत्य तत्त्व की ही अवहेलना मत करो । खटमलों के डर से चारपाई का ही परित्याग कर देना बुद्धिमानी नहीं है ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

कई बार यह भी सुनने में आता है कि सामाजिक व्यवस्था अच्छे राजप्रबन्ध से रोकी जा सकती है । उन्हें जानना चाहिए कि व्यवस्था केवल दण्ड से कायम नहीं रह सकती । हर आदमी के पीछे एक-एक दरोगा लगा दिया जाय तो भी उससे पूरी तरह कानून का पालन नहीं कराया जा सकता । वह कुछ न कुछ तरकीब निकाल ही लेगा, फिर वे दरोगा भी तो उसी समाज में से होंगे । इसलिये धर्म का परिपालन ही एक ऐसी वस्तु हो सकती है, जिसके द्वारा समाज की शान्ति और व्यवस्था कायम रहे एवं सब लोग प्रेम-भाव और सुखशान्ति के साथ रहें, बुद्धिमान विचारको ! दुःखों में सुख का आविर्भाव करने वाले इस महान् तत्त्व को नष्ट मत करो इससे बगावत मत करो । शास्त्र कहता है **'धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः'** धर्म की रक्षा करने से तुम्हारी रक्षा होगी और धर्म के नष्ट होने से तुम भी नष्ट हो जाओगे ।

धर्म-धारणा की उपेक्षा उसकी विकृतियों के कारण

मोटी दृष्टि से देखने पर धर्म कोई ऐसी मान्यता प्रतीत होती है, जो देवी-देवताओं को रिझाने या परलोक में स्वर्ग-मुक्ति आदि की उपलब्धियाँ प्राप्त करने से सम्बन्धित है । किसी को धर्मिक, धर्मप्रेमी कहा जाता हो तो समझा जायगा कि यह व्यक्ति पूजा-पाठों, कथा-पुराण जैसे क्रिया-कलापों में निमग्न रहता होगा और सामान्य उत्तरदायित्वों के प्रति उपेक्षा दिखाता होगा । धर्म चर्चा का प्रसंग जहाँ चल रहा हो, समझना चाहिए वहाँ परलोक का या कथा-पुराणों का ऊहापोह हो रहा होगा ।

साधारण मनुष्य की समझ में प्रस्तुत धार्मिकता की उपयोगिता नहीं आती । वह उससे नाक-भौं सिकोड़ता है । कारण कि उसे इन तथाकथित धर्मप्रेमियों के चिन्तन-चरित्र एवं व्यक्तित्व में ऐसी कोई बात दृष्टिगोचर नहीं होती, जिसके आधार पर उनकी किसी भौतिक या आत्मिक प्रगति का पता चलता हो और न उनकी गतिविधियाँ यही सिद्ध करती हैं कि उस चिन्तन को अपनाये रहकर वे भविष्य में अपना या अपने सम्बद्ध व्यक्तियों का कोई भला कर सकेंगे ।

धर्म के प्रति अवज्ञा बरते जाने का एक कारण यह भी है कि बहुत समय से धर्म शब्द सम्प्रदायवाद के मतमतान्तरवाद के लिए प्रयुक्त होता रहा है । प्रथा-परम्पराओं को सम्प्रदाय कहते हैं । इनमें कुछ उचित होती हैं, कुछ अनुचित, कुछ उपयोगी, कुछ अनुपयोगी । समय में बदलाव के साथ-साथ कितने ही प्रचलन अनावश्यक हो जाते हैं । सामान्य विवेक-बुद्धि के अनुसार उन्हें सुधारा और बदला जाना चाहिए । टूट-फूट की मरम्मत होती रहती है । उसी प्रकार एक समय की उपयुक्तता दूसरे समय अनुपयुक्त हो जाती है । विवेकशील उनमें सामयिक सुधार-परिवर्तन करते रहते हैं, किन्तु कट्टरवादी धार्मिकता पिछले प्रचलनों को ही पूर्वजों की धरोहर और धर्म-मर्यादा मानकर अपनाये रहने के लिए हठ करती है । इस हठवाद से औचित्य का विरोध और अनुचित का समर्थन भी भरा रहता है । ऐसी दशा में विवेक की दृष्टि में धार्मिकता अहितकर सिद्ध होती है और उसके प्रति बुद्धिवादी समाज में उपेक्षा एवं अवज्ञा की वृत्ति पाई जाती है ।

धर्म के नाम पर मात्र अपने को ही सही और अन्य सबों को गलत मानने की अहमन्यता पनपती है । हमारे धर्म में सभी दीक्षित हो जायें, यह अत्युत्साह कभी-कभी धर्मोन्माद के रूप में परिणत होता देखा गया है । धर्म-परिवर्तन करने के लिए 'कत्लेआम' हुए हैं और रक्त की नदियाँ बही हैं । प्रलोभन देकर बहका-फुसलाकर, दबाव देकर धर्म-परिवर्तन की घटनाएँ आये दिन सुनने में आती रहती हैं । सामान्य बुद्धि सोचती है कि जब धर्म के प्रति अत्युत्साह बरतने वालों का यह हाल है तो फिर उसे अपनाने में सर्वसाधारण का क्या हित-साधन हो सकता है ? धर्मोपदेशकों ने, धर्मध्वजियों ने जिस प्रकार भ्रान्तियाँ फैलाने और भोले लोगों को ठगने का धन्धा अपना रखा है, उससे भी धर्म का गौरव किसी विचारशील व्यक्ति की दृष्टि से बढ़ता नहीं है और न उस ओर किसी प्रकार का आकर्षण पैदा होता है । यही कारण है कि मरने के उपरान्त किसी सुखद लोक की कल्पना से कुछ वयोवृद्ध लोग धर्म की चर्चा करते देखे गये हैं । कार्य व्यस्त लोग कहते हैं, इन बातों के लिए हमें फुरसत कहाँ ? इसका अर्थ यह हुआ कि निठल्ले लोगों के लिए धर्मप्रसंग उपयुक्त हो सकता है ।

संक्षेप में आज यही है, धर्म के सम्बन्ध में जन-साधारण की मान्यता । जिसकी उपयोगिता समझ में न आने से सहज ही उस ओर अरुचि होती है, जो समें बहुत रस लेते हैं वे या तो धर्म व्यवसाई माने जाते या फिर उन्हें भूला-भटका माना जाता है ।

धर्म जिसे मानव-जीवन का प्राण कहा जाता है उसकी ऐसी दुर्गति क्यों हुई ? शास्त्र का प्रतिपादन रहा है कि "जो धर्म की रक्षा करता है, उसकी रक्षा होती है और जो धर्म को मारता है वह बेमौत मरता है ।" ऐसा महत्त्वपूर्ण आधार उपेक्षित इसलिए हो गया कि उसका वास्तविक स्वरूप एक प्रकार से ओझल ही हो गया और उस स्थान को धर्म विडम्बना ने हथिया लिया । मूलतः धार्मिकता, कर्त्तव्य-परायणता, जो वैयक्तिक और सामाजिक उत्तरदायित्वों को मानवीय आदर्शवादिता के आधार पर पूरा करने की प्रेरणा देती है, ऐसी कर्त्तव्य परायणता जिसके प्रकाश में मनुष्य का चिन्तन और चरित्र दिन-दिन परिष्कृत होता चलता है ।

धार्मिकता को दूसरे शब्दों में शालीनता कहा जा सकता है । इसे अपनाने पर व्यक्तित्व का हर पक्ष उदात्त

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

बनता है । अपनी और पराई अवांछनीयता पर अंकुश लगाने से जिससे शौर्य-उदारता हो और जिसकी प्रेरणा से मनुष्य सत्प्रवृत्तियाँ अपनाने के लिए प्राण-पण से प्रयत्न करता हो, वह धार्मिकता सर्वत्र सराही गई है । सदा-सर्वदा उसकी उपयोगिता समझी गई है । उसे व्यक्ति और समाज के लिए हर दृष्टि से हितकर माना गया है । उसी के सहारे प्रगति एवं सुख-शान्ति के चिरस्थायी आधार खड़े होते हैं । जब धर्म की अपेक्षा होने लगती है तो व्यक्ति पतन के गर्त में गिरता है और समाज का ढाँचा चरमराने लगता है । वह असन्तुलन देर तक बना रहे तो महाविनाश की घड़ी इस या उस मार्ग से सामने आ खड़ी होती है । ऐसे विषम समय जब कभी आते हैं तो स्रष्टा की सन्तुलनशक्ति अवतरण करती है । ऐसा प्रवाह उत्पन्न करती है, जिससे असन्तुलन को सन्तुलन में बदला जा सके। अधर्म के नाश और धर्म की स्थापना के लिए अवतार लेते रहने की ईश्वरीय प्रतिज्ञा के पीछे यह कारण है कि अधार्मिकता बढ़ने से कहीं संसार के सामने सर्वनाश का संकट न आ खड़ा हो ।

धर्म के प्रति दृढ़ रहने के लिए शास्त्रों ने अत्यधिक बल दिया है । आप्तवचनों में जन-साधारण से यही अनुरोध किया जाता है कि जीवन को धर्म-निष्ठा के साथ पूरी तरह जुड़ा रखा जाय । धर्मकृत्यों और धर्मानुष्ठानों का उद्देश्य एक ही है कि उस क्रिया-कलाप को अपनाये रहने से मनुष्य की धर्मप्रवृत्ति जागरूक बनी रहे । उस प्रेरणा से व्यक्ति सत्कर्मपरायण बने, सन्मार्ग पर चले और अपने तथा दूसरों के लिए हर दृष्टि से उपयोगी सिद्ध हो । धर्मधारणा के प्रति आकर्षण एवं उत्साह उत्पन्न करने से पूर्व आवश्यक है कि सर्वसाधारण को उसका वास्तविक स्वरूप एवं परिणाम समझाया जाय । यदि धर्म का तथ्य ठीक प्रकार समझा जा सके तो उसे उतना ही उपयोगी समझा जा सकेगा जितना कि विज्ञान को समझा जाता है । मनुष्य की भौतिक आवश्यकताएँ विज्ञान के सहारे पूरी होती हैं और भावनात्मक, आन्तरिक समस्याओं का समाधान धर्म तत्त्व की सहायता से होता है । शरीर की तरह ही यदि आत्मा का भी महत्त्व समझा जा सके, शरीर पोषण की तरह यदि आत्मा की आवश्यकता पूरी करने को भी महत्व दिया जा सके, तो धर्म का स्वरूप जानने की ही नहीं, उसे अपनाने की फलश्रुतियाँ भी समझी जा सकेंगी । ऐसी दशा में आज जो धर्म के प्रति अश्रद्धा है वह उलटेगी और सर्वत्र धर्म-परायणता पर बल दिया जाने लगेगा ।

पंगु धर्म को सहारा दीजिए

इस युग में 'धर्म' पंगु है । इसे सहारा देकर खड़ा कर दिया जाय तो खड़ा रहता है अन्यथा सहारे के अभाव में लड़खड़ा कर गिर पड़ता है । कमजोर पैरों वाला मनुष्य जिस प्रकार खड़े होने, चलने-फिरने के लिए किसी का सहारा ढूँढ़ता रहता है, वही स्थिति आज धर्म की है । सहारा न मिले तो वह आगे चलना तो दूर अपने स्थान पर भी सीधा खड़ा नहीं रह पाता ।

पूर्वकाल में युग प्रभाव से हर मनुष्य के हृदय में धार्मिक प्रवृत्ति, प्रेरणा, आस्था और श्रद्धा, पर्याप्त मात्रा में रहती थी । इसलिये वह अपने जीवनलक्ष्य को पूर्ण करने के लिये आवश्यक सत्कर्मों को स्वयं करता था । सद्भावनाओं और सत्प्रवृत्तियों का स्रोत उसके अन्तःकरण में से स्वयं फूटता रहता था । फलस्वरूप कर्त्तव्य मार्ग पर उसकी जीवनयात्रा स्वाभाविक रीति से चलती रहती थी । सभी धर्मात्मा होते थे, सभी अपने कर्त्तव्य-धर्म को पहचानते थे, सभी को सुरदुर्लभ मानव शरीर की महानता का ज्ञान था, सभी अपने जीवन को सफल बनाने के लिये सत्कर्मों की स्वयं चिन्ता करते थे । उस पूर्वकाल में यह संसार स्वर्गभूमि बना हुआ था । सभी प्राणी आनन्द की क्रीड़ा करते हुए नर तन को अपूर्व सौभाग्य मानते थे । सभी कंठों से एक स्वर में निकलता था-"**जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी**" मनुष्यों का मनःक्षेत्र पारस्परिक सहयोग और सद्भाव से, प्रेम और सेवा की तरंगों से 'सदा सर्वदा' तरंगित रहता था । फलस्वरूप भौतिक जगत में भी सुख-साधन की वस्तुएँ इतनी अधिक मात्रा में उपस्थित रहती थीं कि कहीं वस्तु का घाटा ही न दीखता था । अभावग्रस्त, चिन्तन, दुःखी, पीड़ित सताये हुए मनुष्य तो कहीं दीख ही न पड़ते थे ।

आज स्थिति बिल्कुल विपरीत है । संसार में उपभोग और आवश्यकता की वस्तुएँ प्रचुर मात्रा में भरी पड़ी हैं, पर थोड़े से आदमी उस पर कब्जा करके बैठ जाते हैं । फलस्वरूप शेष सारी जनता अभावग्रस्त, दरिद्र रह जाती है । कोई व्यक्ति जीवन-यापन के जितनी वस्तुओं से सन्तुष्ट नहीं रहना चाहता । हर किसी को अधिक, बहुत अधिक असीम वस्तुओं के संग्रह और उपभोग की तृष्णा व्याकुल किए हुए है, गरीब से लेकर अमीर तक, मजदूर से लेकर मालिक तक, शिष्य से लेकर गुरु तक, सभी अपने कर्त्तव्य पालन में अधिक से अधिक कंजूसी करना चाहते हैं और अधिकार के लिए बड़ी-बड़ी माँगें उपस्थित कर रहे हैं । कोई किसी को अपनी सच्ची आत्मीयता, सेवा, स्नेह भावना नहीं देना चाहता, अपनी वस्तुओं या अधिकारों का त्याग दूसरों के लिये नहीं करना चाहता वरन् दूसरों से अधिक से अधिक लाभ किस प्रकार उठाया जा सकता है, इसी की फिराक में रहता है । इस घुडदौड़ में वह उचित-अनुचित में, पाप-पुण्य में, नीति-अनीति में कोई अन्तर नहीं करना चाहता । जैसे भी बने अपना काम बनाने की उसे चिन्ता है ।

इस परिस्थिति में मनुष्य के सामने दो ही समस्याएँ उपस्थित रहती हैं (१) अधिक शौक-मौज, भोग-विलास, सम्पत्ति संग्रह, स्वामित्व, रौब-दौब, सत्ता, अधिकार, पद, बड़प्पन के सुख-साधनों को किस प्रकार संग्रह किया जाय ? (२) इस व्यापक स्वार्थ-परता की घुडदौड़ में जन-समाज में जो परस्पर संघर्ष मचा रहता

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

है–शोषित आत्मरक्षा के लिए, शोषक आक्रमण के लिए जो उपद्रव करते हैं उनमें अपनी विजय कैसे हो ? स्वार्थपरता की असीम तृष्णा में वस्तु प्राप्ति की कोई मर्यादा नहीं, इसलिए वह कभी तृप्त नहीं होती । अतएव उस दृष्टिकोण के व्यक्ति अपने को सदा दरिद्र, अभावग्रस्त, दु:खी अनुभव करते रहते हैं । नीति का मार्ग छोड़कर जब लोग अनीति की सहायता से अपना स्वार्थ पूरा करना चाहते हैं, तो निश्चित रूप से विरोध, द्वेष, संघर्ष और कलह उत्पन्न होता है । यह कलह अनेक रूप धारण करके सामने आता है और उससे शान्ति एवं सुरक्षा का वातावरण नष्ट हो जाता है। आज यही स्थिति है। इससे हर कोई परेशान है । आत्मरक्षा या आक्रमण को, विलास और संग्रह के ताने-बाने बुनने में से किसी के पास विचार एवं समय शेष नहीं रहता । दिन-रात के २४ घण्टे प्राय: इसी गोरखधंधे में आज साधारण जनता व्यतीत करती है।

फिर धर्म-कर्त्तव्यों के लिए समय कहाँ से मिले ? धार्मिक भावनाओं का प्रवेश मन में किस प्रकार हो ? आत्म-चिन्तन की प्रेरणा कहाँ से आये ? सभी ओर घोर स्वार्थपरता में डूबे, हुए, भौतिक समस्याओं में उलझे हुए मनुष्य दिखते है तो कोई व्यक्ति एकाकी, अपने लिए अलग रास्ता बनाने की इच्छा भी नहीं करता । सब उसी ढाँचे में ढलते चले जाते हैं । देखा-देखी से उत्साह प्राप्त करने अनुकरण करने में प्रसन्न होने की मानसिक कमजोरी के कारण लोग उसी दिशा में बहते चले जाते हैं जिसमें अन्य सब लोग बहते हैं । इस प्रक्रिया के कारण आज जन- मानस का प्रवाह एक बुरे मार्ग पर चल रहा है । धर्म और परमार्थ के वास्तविक आदर्शों की ओर सच्चे मन से चलने वाले कोई बिरले ही मिलते हैं । जहाँ इस प्रकार का कुछ दिखता भी है वहाँ अधिकांश में गुरुडम, व्यक्ति पूजा-सम्प्रदायवाद अथवा अन्य प्रकार के छल-प्रपंचों से परिपूर्ण पाखण्ड ही देखा जाता है ।

इन परिस्थितियों में धर्म का पंगु हो जाना स्वाभाविक ही है । मनुष्य में पाशविकता की अधिक और देवत्व की स्वल्प मात्रा होती है । पतनकारी-अधोमुखी प्रवृत्तियाँ बड़ी सरल एवं गतिशील होती हैं । एक बाल्टी पानी फैला दिया जाय तो वह बिना किसी प्रयत्न के नीचे की ओर ढलवाँ भूमि में अपना रास्ता आसानी से बनाता हुआ बह निकलेगा । किन्तु यदि उसी पानी को ऊपर की दिशा में चढ़ाना हो तो अनेक साधन-सामिग्री, मशीन, मजदूरी, आदि की व्यवस्था करनी पड़ेगी । सन्मार्ग की ओर मनोभावनाओं को मोड़ने के लिए भी बहुत प्रयत्न करने पड़ते हैं, तब कहीं थोड़ी प्रगति होती है । यदि पानी को ऊपर खींचने के साधन न हों तो वह जहाँ का तहाँ पड़ा रहेगा ऊपर न चढ़ सकेगा । जिस प्रकार पानी पंगु है, उसी प्रकार धर्म भी पंगु है । बिना सहारा पाये न तो पानी ऊपर चढ़ता है और न धर्म का अभ्युदय होता है । उन दोनों ही कामों के लिये सहारे की, सहारा देने वाली की जरूरत पड़ती है ।

जब-जब धर्म को सहारा देने वाले मिल जाते हैं तब वह खड़ा हो जाता है । जब उसे कोई सहारा नहीं देता तो वह लुंज-पुंज होकर एक कोने में बैठ जाता है । अन्धे का सहारा उसकी लकड़ी न हो तो अन्धे को रास्ता पार करना मुश्किल हो जाय । युग प्रभाव से आज धर्म की भी यही स्थिति है । कुछ धर्मप्रेमी लोग दूसरों को सत्कर्म, पूजा-उपासना, सामूहिक सेवा आदि करने के लिये स्वयं कटिबद्ध होते हैं और दूसरों के पीछे पड़कर उनसे इच्छा-अनिच्छा के साथ आग्रह, अनुरोध, मित्रता, खुशामद, नाराजी, प्रार्थना, शिक्षा आदि के आधार पर कुछ कराते रहते हैं तो काम कुछ होता दिखता है, पर जब वह प्रेरणा देने वाले कुछ ढीले पड़ते हैं तभी वे किसी प्रकार तैयार किये व्यक्ति कंधा डाल देते हैं । उनका उत्साह ठण्डा पड़ जाता है । एक बार छोड़े हुए कार्य को पुन: आरम्भ करने में उन्हें कुछ हेटी, झिझक, संकोच की सी स्थिति मालूम पड़ती है । इसलिये वे दुबारा कहने-सुनने पर पहले से भी अधिक शिथिल बन जाते हैं ।

गायत्री उपासना का जो व्यापक कार्यक्रम देश भर में चलाया जा रहा है, यह बात केवल उसी के सम्बन्ध में नहीं है, वरन् यह एक व्यापक समस्या है । सभी सत्कार्यों में इन दिनों सर्वत्र यही एक बात भिन्न-भिन्न प्रकारों से चरितार्थ होती है । सभा व्याख्यानों में, सत्संगों में, किन्हीं विशाल आयोजनों में प्रभावित होकर कई व्यक्ति कुछ शुभ काम करने के लिए प्रवृत्त होते हैं । कुछ दिनों उनका वह क्रम चलता भी है, पर थोड़े ही दिनों में शिथिलता आने लगती है और उनके से अनेकों का उत्साह समाप्त हो जाता है । आज की परिस्थिति को देखते हुए संसार में से अशान्ति और अभाव को हटाकर सुख-शान्ति की स्थापना के लिए धार्मिक उपासनाओं तथा व्यावहारिक जीवन में धार्मिक प्रवृत्तियों का बढ़ाया जाना अतीव आवश्यक है, पर मार्ग में एक भारी कठिनाई यह है कि कार्य आसानी से होने वाला नहीं है । लेखनी और वाणी से, पुस्तकों और प्रवचनों से निस्सन्देह इस दिशा में बड़ी सहायता मिलती है, पर वह सहायता 'जमीन तैयार करने' जितनी ही है । दृढ़ स्थायी और ठोस कार्य जब कभी होंगे तो उसके मूल में धर्म को अपने कंधे का सहारा देने, अन्धे की लकड़ी का उदाहरण बनने के लिए कुछ व्रतधारी कर्मठ धर्मात्मा लोग कटिबद्ध मिलेंगे । इस युग में धर्म पंगु है । उसे सहारा न मिलेगा तो खड़ा न रह सकेगा । कुछ प्रयत्न किये भी जाएँ तो वे कुछ समय में उत्साह मंद होने पर स्वयमेव समाप्त हो जायेंगे । यदि प्रेरणा देने वाले नैष्ठिक कार्यकर्त्ताओं की शक्ति उसके पीछे होगी तो ही वह सत्कार्य खड़ा रहेगा, आगे बढ़ेगा ।

प्राचीनकाल में सभी के मन से धर्मप्रेरणा पर्याप्त मात्रा में थी । इससे किसी सहायता की, शिक्षा की जरूरत बहुत कम पड़ती थी, इसलिए धर्म प्रचार कार्य की विशेष आवश्यकता न होने के कारण अनेकों अध्यात्म-प्रेमी व्यक्ति योगाभ्यास आदि एकान्त साधनाओं में लग जाते थे,

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

पर जब कभी परिस्थिति बदली या बिगड़ी है तब-तब सच्चे अध्यात्म-प्रेमी सत्पुरुषों ने धर्म को अपने कंधे का सहारा दिया है और उसे लड़खड़ा कर गिर पड़ने से बचाया है । देवर्षि नारद ने तो अपने जीवन की एकमात्र साधन परिव्रजा करते हुए निरन्तर धर्म प्रचार करते रहना ही बनाया था । शंकराचार्य, दयानन्द, नानक, कबीर, मीरा, बुद्ध, महावीर, गाँधी, विनोबा आदि के अगणित उदाहरण ऐसे हैं जिनमें एकान्त सेवी, केवल अपना ही भला करने वाली, साधनाओं को घटा करके अपना अधिकांश समय धर्म प्रचार में लगाया । उनका यह कार्य एकान्त सेवा साधना की अपेक्षा करोड़ों गुना अधिक महत्त्वपूर्ण था, क्योंकि एकाकी साधना से उनका खुद को ही सिद्धि, स्वर्ग, मुक्ति आदि मिलती, पर इस प्रचार कार्य ने तो असंख्य प्राणियों को सन्मार्ग से लगाकर सम्पूर्ण विश्व में सुख-शान्ति में स्थापना में भारी योग दिया । सत्पुरुष निष्ठुर एवं स्वार्थी नहीं दयालु और परोपकारी होते हैं, वे निजी लाभों की स्वर्ग-मुक्ति की भी परवाह न करके अनेकों दुःखी आत्माओं को सुखी बनाने के लिए करुण भाव से जन-सेवा के सर्वश्रेष्ठ मार्ग धर्म प्रचार को अपना लेते हैं ।

मनुष्य की ही नहीं संसार के समस्त प्राणियों की सुरक्षा, समृद्धि और सुख-शान्ति इस बात पर निर्भर है कि मनुष्यों के अन्तःकरणों में निवास करने वाली सद्भावना, सात्विकता, उदारता और संयमशीलता कायम रहे । यह तत्त्व जितना ही घटेगा उतना ही दुनिया दुःख पायेगी, इसमें जितनी अभिवृद्धि होगी उतने ही सुख-शान्ति के साधन जुट जावेंगे । विश्व के इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मनःक्षेत्र को सुव्यवस्थित रखने के लिए प्राचीनकाल में सहस्रों साधु-ब्राह्मण अपना पूरा समय, पूरा जीवन खपाये रहते थे, तब वह कार्य पूरा हो पाता था । आज उस मैदान को छोड़कर सभी कोई भाग गये हैं । यों तथाकथित साधु-सन्तों, पण्डे-पुजारियों की संख्या ५६ लाख से अधिक है, पर इनमें सम्भवतः ५६ भी मुश्किल से ऐसे निकलेंगे जो मुफ्तखोरी, आलस्य, मटरगश्ती या मुक्ति का जो विचित्र रूप उन्होंने मान रखा है, उस खुदगर्जी को छोड़कर विश्व में सतोगुण स्थिर रखने के लिए कुछ विचार या कार्य करते हों । अन्य साधारण परिस्थितियों के लोग राजनीति की ओर दौड़ते हैं । हर कोई एम० एल० ए०, एम० पी०, मिनिस्टर या कम से कम नेता बनने की फिराक में है ।

निश्चय ही राजनीति एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है । उसके द्वारा भौतिक विधि-व्यवस्था में बहुत योग मिलता है, पर यह भी निश्चिय ही है कि मनुष्यों का मनःक्षेत्र यदि अधार्मिक, अनैतिक, पथभ्रष्ट हो रहा हो तो राजनीति की सारी शक्ति लगकर भी लोगों को असामाजिक, अवांछनीय विचारों और कार्यों को रोक नहीं सकती । भ्रष्टाचारी जनता और भ्रष्टाचारी शासनतन्त्र, दोनों की जोड़ी एक अन्धा एक कोढ़ी एक की उक्ति चरितार्थ करेंगी । ऊपर से किये हुए बड़े-बड़े पुरुषार्थ इन छिद्रों में होकर बह जावेंगे। आज यही हो रहा है । करोड़ों रुपयों की कई योजनाएँ अपना वास्तविक शुभ परिणाम उपस्थित करने के स्थान पर चन्द लोगों की जेबें गरम करने मात्र का निमित्त बनकर असफल होती देखी जाती हैं । भ्रष्टाचार ऐसा ही असुर है जो भारी प्रयत्नों को भी क्षणमात्र में उदरस्थ कर जाता है । राजनीतिक प्रयत्न होने ही चाहिए, पर साथ ही सर्वसाधारण जनता तथा शासनतन्त्र को ईमानदार और सन्मार्गगामी रखने के एकमात्र साधन उनके धार्मिक विश्वासों को उचित दिशा में प्रवाहित करते रहने के लिए अन्तरात्मा में निवास करने वाले उच्च आदर्शों, श्रद्धापूर्ण सिद्धान्तों एवं सद्भावनाओं को भी सुरक्षित रखना और बढ़ाया जाना आवश्यक है, अन्यथा भ्रष्ट जन-समाज द्वारा जो अवांछनीय प्रवृत्तियाँ बढ़ेंगी उन्हें राजदंड की सीमित शक्ति द्वारा रोक सकना किसी भी प्रकार सम्भव न हो सकेगा ।

आज समय की, विवेक की, दूरदर्शिता की एक ही पुकार है कि "जनता का धार्मिक-नैतिक नेतृत्व करने के लिए कुछ हस्तियाँ निकल कर सामने आवें । नारद, बुद्ध, महावीर, दयानन्द, शंकराचार्य, गाँधी, नानक, मीरा आदि की तरह ऋषि परम्पराओं को अपनाते हुए गिरती हुई धर्म भावनाओं को नष्ट होने से बचावें ।" नैतिक पतन एक भारी खतरा है, राजनैतिक पराधीनता से भी बड़ा खतरा है । इस खतरे से लड़ने के लिए शूरवीर योद्धाओं तथा आत्मज्ञानियों की जरूरत है । राजनीति के समान सत्ता, यश तथा अन्यान्य उचित, अनुचित लाभ प्राप्त करने का इस क्षेत्र का नेतृत्व करने वाले के लिए अवसर नहीं है, पर जो अवसर है वह इतना महान् है कि-किसी राष्ट्र या जाति का जीवन-मरण उसी पर निर्भर है ।

धार्मिक नेतृत्व कर सकने वाले सुयोग्य व्यक्तियों की आज भारी आवश्यकता है । इतनी भारी जितनी संसार के इतिहास में पहले कभी नहीं हुई । इस क्षेत्र में आज सुयोग्य और सच्चे व्यक्तियों की आवश्यकता के लिए कुहराम मचा हुआ है, पर अभाव के कारण हाहाकार हो रहा है, पर नेता बनने को कोई तैयार नहीं होता । गायत्री तपोभूमि में एक छोटा-सा विनम्र प्रयत्न 'सांस्कृतिक विद्यालय' के रूप में धार्मिक नेता तैयार करने के लिए चल रहा है । इस दिशा में काम करने के इच्छुकों को समुचित शिक्षा-दीक्षा देने के साथ ही उनके भोजन, वस्त्र, निर्वाह आदि का भी यथासम्भव प्रबन्ध है, पर उपयुक्त व्यक्ति उस कार्य के लिए भी अग्रसर नहीं होते तो निराशा होती है । यों कई लोग यहाँ कौतूहलवश या अन्य कारणों से सीखने आते-जाते रहते हैं, क्रम किसी प्रकार चलता रहता है । बीस छात्र तो प्रायः सदा ही बने रहते हैं, पर जिस धातु की तलवारें बना करती हैं, वह धातु न मिलने से काम की चीज नहीं बन पाती । भावनाशील, अटूट श्रद्धावान, लोकहित के लिए मर-खप जाने की साध रखने वाले, घनघोर परिश्रमी एवं प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियों को धार्मिक नेतृत्व के लिए दशों दिशाएँ पुकार रही हैं । साधु-ब्राह्मण जिनका यह कर्त्तव्य एवं व्यवसाय था उनकी प्रवृत्तियों को, मनोदिशा को

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

देखकर घोर निराशा होती है । भिक्षा रूप को अपना अधिकार मानने वाले और समाज सेवा की बात सुनते ही लड़ने को तैयार होने वाले, यह लोग अन्ध-श्रद्धालु लोगों को मूँड़कर अपना उल्लू सीधा भले ही करते रहें, इससे अधिक आशा इन लोगों से करना व्यर्थ है ।

ऐसी दशा में अपने साधारण गृहस्थ जीवन में से थोड़ा-थोड़ा समय निकाल सकने वाले परमार्थ प्रेमी व्यक्ति अखण्ड ज्योति और गायत्री परिवार में से ढूँढ़े जा रहे हैं । उन्हें व्रतधारी धर्म-सेवी के रूप में नियमित रूप से धर्म सेवा के लिए तत्पर किया जा रहा है । उनके शिक्षण शिविर उनके क्षेत्रों में करके धर्म सेवा की क्षमता, प्रवृत्ति एवं व्यवस्था समझाई जाय ऐसा सोचा जा रहा है । इस प्रकार के अनेकों लोग अपने-अपने क्षेत्र में थोड़ा-थोड़ा काम करके भी सब मिलकर बहुत बड़ा काम कर सकेंगे । साथ ही सांस्कृतिक पुनरुत्थान के लिए नैतिकता प्रधान-धार्मिकता उत्पन्न करने के लिए ऐसे व्यक्तियों की भी बड़ी आवश्यकता है, जो अपना पूरा समय और पूरा जीवन धर्म की हारती हुई बाजी को जिताने में लगा सकें ।

कई संस्थाएँ लेखनी और वाणी के आधार पर अपने कार्यक्रम बनाती हैं । पुस्तक, अखबार आदि छापना और भाषण-व्याख्यान देना उनका प्रधान कार्य होता है । यह दोनों बातें भी आवश्यक हैं, पर पंगु धर्म को कंधे का सहारा देकर खड़ा कर सकने के लिये कटिबद्ध कार्यकर्त्ताओं के बिना कोई ठोस काम नहीं हो सकता । जन-साधारण का मनःक्षेत्र आज उतना सबल नहीं है कि लेख पढ़ लेने पर, व्याख्यान सुन लेने के बाद भी वह बहुत समय तक उस प्रेरणा को धारण किये रहे । इसके लिये तो वैसे लोगों की आवश्यकता है जो कोंच-कोंच कर लोगों को एक निश्चित दिशा में चलने की प्रेरणा देते रहें और उनसे वह कार्य बलपूर्वक, अनुरोधपूर्वक किसी भी प्रकार करा सकें । इस सम्बन्ध में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की घर-घर जाकर, बुला-बुलाकर लाना और बार-बार उनके यहाँ मिलने, पहुँच कर अपनी विचारधारा से प्रभावित करने की कार्यशैली बहुत ही उपयोगी है । इस शैली को अपनाकर ही कांग्रेस बढ़ी । कम्युनिस्टों ने, ईसाइयों ने तथा अन्यान्य सजीव संस्थाओं ने यही गतिविधि अपनाई है । गायत्री परिवार को भी यदि अपने आदर्शों और कार्यक्रमों में श्रद्धा है, तो उसे भी यही शैली अपनानी पड़ेगी ।

धार्मिकता, नैतिकता, संस्कृति की सुरक्षा और अभिवृद्धि का कार्य बढ़ सकता है पौधा फल-फूल सकता है, पर उसके लिये श्रद्धा और श्रम का खाद, पानी आवश्यक है । कुछ लोग अच्छे सिद्धांतों को स्वयं अपना लेते हैं, यह प्रशंसनीय है, पर जब तक कुछ लोग ऐसे न निकलें कि अपनी पूजा-उपासना के समान ही दूसरों को प्रेरणा देने का महत्त्व समझें, तब तक सामूहिक क्षेत्र में कुछ महत्त्वपूर्ण प्रगति नहीं हो सकती । लोगों का मन बहुत दुर्बल होता है । जब तक कोई कोंचते रहने वाला, पीछे पड़ते रहने वाला होता है, तब तक उसके लिहाज से श्रद्धा या अश्रद्धापूर्वक कुछ धर्म कार्य करते हैं । जैसे ही वह पीछे पड़ने वाली प्रेरणा ठंडी हुई कि साधारण लोगों के सहयोग से चलने वाले संगठन का ढाँचा बिखर जाता है और वह कार्यक्रम समाप्त हो जाता है । धर्म पंगु है । सहारे की लकड़ी जैसे ही हटी कि वह लड़खड़ाकर गिर पड़ता है ।

गायत्री परिवार द्वारा इन दिनों ब्रह्मास्त्र अनुष्ठान की उपासनात्मक तथा अधिकाधिक सहयोग बढ़ाने की संगठनात्मक प्रवृत्तियाँ चल रही हैं । आगे चलकर जब यह धर्मतन्त्र कुछ मजबूत हो जायगा, भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान का व्यापक कार्यक्रम हाथ में लिया जायगा और यह प्रयत्न किया जायगा कि जन-मानस में से स्वार्थपरता, अनैतिकता, अधार्मिकता हटे । लोग उच्च आदर्शों के अनुसार विचार और कार्य करें । जन-साधारण का आन्तरिक एवं बाह्य जीवन इस प्रकार ढले कि उसके फलस्वरूप सर्वत्र प्रेम, सहयोग, सद्भाव, सदाचार, शान्ति और समृद्धि का वातावरण बने । हम राजनीति तथा सामाजिक क्षेत्र की उपयोगिता समझते हैं, उन क्षेत्रों के कार्यों और कार्यकर्त्ताओं का हार्दिक अभिनन्दन करते हैं, पर अपना कार्यक्षेत्र "मनुष्य के आन्तरिक आसुरी दुर्गुणों को हटाने और उसके स्थान पर दैवी सद्गुणों की स्थापना" तक सीमित रखना चाहते हैं । वस्तुतः संस्कृति की यही मर्यादा भी है । इस मर्यादा को छोटा नहीं समझना चाहिए । वस्तुतः यह एक ठोस तथ्य है, जिससे राजनीति की समस्याओं तथा समाज सुधार की आवश्यकताओं की पूर्ति सहज में हो ही सकती है ।

यह ठीक है कि राजनीति तथा सामाजिक, सार्वजनिक क्षेत्रों में सार्वजनिक कार्य करने से कार्यकर्त्ता को यश, सत्ता तथा अन्यान्य भौतिक लाभों की अधिक गुंजाइश रहती है। ऐसे ही कारणों से प्रेरित होकर बहुधा लोग उन क्षेत्रों में नेतृत्व प्राप्त की आपाधापी भी बहुत करते हैं । पद प्राप्त करने के लिए उचित-अनुचित संघर्ष भी करते हैं । धार्मिक क्षेत्र में समय लगाने श्रम करने से वैसे भौतिक लाभों की गुंजाइश नहीं रहती और अपने आपको तप-त्याग का उदाहरण भी बनना पड़ता है । इससे उथले लोग इधर कुछ आकर्षण न देखकर दूर ही रहते हैं, पर वस्तुतः यह क्षेत्र अन्य सभी क्षेत्रों से अधिक आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण है । इसलिये विचारशील व्यक्ति आकर्षणविहीन होते हुए भी इस मार्ग को अपनाते हैं और अपनी वास्तविक महानता से प्रेरित होकर बहुत कुछ त्याग और प्रयत्न भी करते हैं । यदि ऐसे व्यक्तियों का सर्वथा अभाव होता तो पृथ्वी टिकी न रहती । वह धर्म के स्तम्भों पर ही टिकी हुई है ।

गायत्री परिवार की सदस्यता में केवल कुछ मिनट प्रतिदिन उपासना करने की एक बहुत ही छोटी शर्त है । इस संस्था में धन का चन्दा नहीं रखा गया है । धन की

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

कोई प्रधानता इसमें नहीं है । यहाँ समय की, धर्म की, सहयोग की, श्रद्धा की प्रतिष्ठा है । प्रतिदिन कुछ मिनट स्वयं जप करके सदस्यता की साधारण शर्त पूरी कर देने वालों में से अब ऐसे कर्मठ व्रतधारी व्यक्ति भी निकलने चाहिए, जो श्रद्धा पूर्ण सहयोग के साथ कुछ समय देने को भी तैयार हों । धर्म सेवा के लिये समय देने का व्रत लेने वाले ही व्रतधारी माने जायेंगे । अब गायत्री परिवार को अपने में से अधिकाधिक व्रतधारी कर्मनिष्ठ तैयार करने हैं, जिनके कंधे का सहारा लेकर बेचारा पंगु धर्म खड़ा हो सके, आगे चल सके, प्रगति कर सके । दूसरों को सन्मार्ग पर चलने के लिये कोंचते रहने वाले यह व्रतधारी ही वस्तुतः इस संस्था के प्राण होंगे । उनका समय और श्रम-दान ही कुछ आशाजनक परिणाम उपस्थित कर सकने में समर्थ हो सकता है ।

गृहस्थ की जिम्मेदारियों में व्यस्त व्यक्ति थोड़ा समय एक दो घण्टा रोज छुट्टी का दिन इन कार्यों के लिये दे सकते हैं । जिनके ऊपर कमाने की जिम्मेदारी नहीं है, वे अपने क्षेत्र में अधिकाधिक या पूरा समय देने के लिये तत्पर होने का प्रयत्न करें । तपोभूमि के माध्यम से देश भर में प्रचारात्मक और संगठनात्मक कार्य करने की योग्यता और स्थिति के व्यक्ति मथुरा रह सकते हैं । जिन्हें वेतन की आवश्यकता न पड़े, केवल शरीर निर्वाह तक ही जिनकी आवश्यकता सीमित हों, पूर्ण त्याग केवल उन्हीं व्यक्तियों को करना चाहिए । इस प्रकार अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार हममें से हर एक को धर्म सेवा के लिए समय एवं श्रम का दान करना चाहिए ।

राष्ट्रनिर्माण के लिये, सांस्कृतिक पुनरुत्थान के लिये, अपने अतीत गौरव को वापिस लाने के लिये हमें कुछ काम करना पड़ेगा । समय और श्रम देना पड़ेगा । आज का भगवान् नर नारायण, चन्दन-पुष्प, धूप दीप से सन्तुष्ट होने वाला नहीं है । उसे भक्त का प्रयत्न, पुरुषार्थ, समय और सहयोग चाहिए । आँसू बहाने वाले भक्त की नहीं, उसे पसीना बहाने वाले भक्त की आवश्यकता है । तीर्थ यात्रा करने वाले से नहीं धर्म-प्रेरणा के लिये लगाई जाने वाली धर्मफेरी से वह सन्तुष्ट होगा । आइए, हम अपने प्रभु की, राष्ट्र की, धर्म की, आज की इच्छा और आवश्यकता को समझें और उसके अनुसार कुछ करने को कटिबद्ध हों।

गायत्री माता हर वक्त कुछ न कुछ भौतिक लाभ माँगते रहने वाले भिखारियों को नहीं अपनी आज्ञा में चलने वालों, अपने आदर्शों के लिए मर मिटने की साध रखने वालों को प्यार करती है और उन्हें ही वह आशीर्वाद, वरदान एवं वात्सल्य प्रदान करती है जिसे पाकर जीवात्मा धन्य हो जाती है । हमें अपनी इच्छा पर नहीं माता की इच्छा पर चलना है । उनकी इच्छा इस समय अधिक जप, अधिक ध्यान कराने की नहीं धर्म क्षेत्र को सुविस्तृत करने में सहयोग लेने करने की है । आइए, वही सब कुछ करने में हम लोग संलग्न हों ।

धर्म का स्वरूप कैसा हो ?

मानवीय जीवन की प्रगति यात्रा का क्रम क्या हो ? कैसे इसे द्रुत बनाया जाय ? यह प्रारम्भ से ही मनीषियों के चिन्तन का केन्द्र रहा है । मानव की काया, प्राण व मन को सुगठित बनाते हुए अतिमानस तक की विकास यात्रा सम्पन्न करने के साथ सामाजिक परिप्रेक्ष्य में व्यावहारिक जीवन श्रेष्ठ, समुन्नत व आदर्श कैसे बनाया जाय ? इस पर सैद्धान्तिक विवेचन एवं व्यावहारिक मार्गदर्शन प्रदान कर व्यष्टिगत एवं समष्टिगत जीवन के सभी पक्षों को ध्यान में रखते हुए सर्वतोमुखी विकास की जो प्रणाली आविष्कृत हुई, महापुरुषों ने उसका नाम 'धर्म' दिया ।

यद्यपि मानवीय ज्ञान की समस्त विधाएँ मनुष्य के विकास के लक्ष्य को लेकर ही विकसित हुई हैं, किन्तु इनमें से प्रत्येक का गहनता से अवलोकन करने पर स्पष्ट होता है कि ये सभी एकांगी हैं । सर्वांगीणता एवं सार्वभौमिकता की दृष्टि से विकसित जीवन के लिए आवश्यक सूत्रों को हृदयंगम कराना धर्म की अपनी विशिष्टता है । इन सूत्रों को हृदयंगम कर जीवन लक्ष्य की ओर पहुँचने का विवेकपूर्ण सचेतन प्रयास करना ही यथार्थ अर्थों में धार्मिक होना है । प्रख्यात चिन्तक स्वामी पवित्रानन्द अपनी कृति 'मॉडर्न मेन इन सर्च ऑफ रिलीजन' में इसको और अधिक स्पष्ट करते हुए बताते हैं- धर्म का तात्पर्य है "वर्तमान एक जीवन में ही अनेक जीवनों को निचोड़ लेना ।" यही कारण है कि सच्चे धार्मिक व्यक्ति का जीवन के प्रति दृष्टिकोण उसके आदर्शों के प्रति सहानुभूति रखने वाले लोगों के अतिरिक्त अन्य सभी के लिए अबोधगम्य रहता है ।

सर्वांगीण विकास के इन सूत्रों का अन्वेषण तथा कालक्रम परिस्थितियों परिवेश की दृष्टि से संशोधन समय-समय पर विभिन्न महापुरुषों ने किया है । इन अन्वेषकों तथा संशोधनकर्त्ताओं के निर्धारण के आधार पर सार्वभौमिक विकास की एक ही प्रणाली धर्म ने परिस्थितियों एवं परिवेश के अनुरूप विभिन्न स्वरूप पाए । इसी तथ्य पर गहन चिन्तन के उपरान्त अपने प्रतिपादन निष्कर्ष में उल्लेख करते हुए बर्नार्डशॉ ने श्रुति के कथन को दुहराया कि "धर्म एक है उसके स्वरूप अवश्य भिन्न हैं ।"

कालक्रम की दृष्टि से हिन्दू धर्म को इतिहासविज्ञ सर्वाधिक प्राचीन मानते हैं । धर्म के साथ हिन्दू जोड़ने का तात्पर्य केवल इतना है कि सूत्रों के अन्वेषक हिन्दवासी थे । इसके पश्चात् परिस्थितियों एवं परिवेश के अनुसार संशोधन व अन्वेषण हुए तथा पारसियों में पारसी धर्म का उदय हुआ । प्रो० ए० वी० डब्लू० जैक्सन अपनी कृति 'परसिया पास्ट एण्ड प्रेजेण्ट' में पारसी धर्म के अधिष्ठाता जरथुस्त्र को एक ऐतिहासिक व्यक्ति की मान्यता प्रदान करते हैं । कुछ इतिहासकार पौरष्य व दुग्धोवा की इन सन्तान का काल ईसा से ६००० ई० पूर्व तथा कुछ ईसा से

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

१२००० ई० पूर्व मानते हैं । इनके पश्चात् मूसा, ईसा, मुहम्मद आदि महापुरुषों के द्वारा यहूदी, ईसाई एवं इस्लाम धर्मों का उदय हुआ । इसी तरह चीन में ईसा से ६०४ वर्ष पूर्व लाओत्से के द्वारा ताओ धर्म व लगभग ४२५ वर्ष पूर्व कन्फ्यूशियस द्वारा कन्फ्यूशियस धर्म प्रकाश में आए । जापान में शिन्तो धर्म तथा भारत में बौद्ध धर्म व जैन धर्म का उदय इसी संशोधन व अन्वेषण की परम्परा में हुआ ।

यद्यपि ये सभी धर्म सार्वभौमिकता के एक ही शाश्वत् सिद्धान्त व लक्ष्य का बोध कराने वाले हैं, किन्तु प्रत्येक में मत-मतान्तरों तथा व्याख्यानों की बहुलता के अम्बार में शाश्वतता छुप-सी गई है । सर्वसामान्य को यह प्रतीत होने लगा है कि यह विभिन्नता धर्म के स्वरूपों की न होकर स्वयं धर्म की है ।

प्रत्येक स्वरूप में उल्लिखित सिद्धान्तों का गहन अध्ययन व गवेषणात्मक विवेचन वस्तुस्थिति को प्रकट करता है । सिद्धान्तों की दृष्टि से पारसी, यहूदी, ईसाई धर्म एक हैं । पारसियों का आहुरमज्द ही यहूदियों का यहोवा, ईसाइयों का स्वर्गस्थ पिता तथा मुसलमानों का अल्लाह है । ईश्वर व जीव के पारस्परिक सम्बन्ध स्नेहमय हैं । इसी तरह बुद्ध धर्म, जैन धर्म, कन्फ्यूशियस धर्म, ताओ धर्म, शिन्तो धर्म सभी स्वर्णिम नियमों की बात करते हैं । इन धर्मों को प्रकारान्तर से नीति का विशद् विवेचन कहा जा सकता है । बौद्ध एवं जैन विवेचन की कुछ दार्शनिक मीमांसाओं में विभेद होने पर भी दोनों ही आदर्शोन्मुखी जीवन जीने की नीतियों का प्रायः एक जैसा प्रतिपादन करते हैं । यही स्थिति कन्फ्यूशियस धर्म में है । इसमें उल्लिखित स्वर्णिम नियम भी उपरोक्त जैसे ही हैं । इन नियमों के पाँच प्रकारों में 'जैन' का तात्पर्य है, 'अच्छाई' मनुष्य-मनुष्य में प्रेम सम्बन्ध । 'चुन-त्स' का भाव है-सच्ची व श्रेष्ठ मनुष्यता । 'लि' का मतलब है-औचित्य उत्तम व्यवहार इसका एक अर्थ जीवन की नियम व्यवस्था से भी है । 'ते' का अर्थ है शक्ति, किन्तु कन्फ्यूशियस के मन्तव्य से शक्ति का प्राण शारीरिक भौतिक स्तर पर नहीं नैतिक स्तर पर होता है । पाँचवें नियम 'वेन' का अर्थ है, शान्ति की कलाएँ । इसी तरह 'ताओ' धर्म में ताओ का अर्थ है, मार्ग । इसे लाओत्से परम कारण मानते हुए इसकी प्राप्ति हेतु नैतिक व उन्नत जीवन जीने का मार्ग निर्देशित करते हैं । जापान के शिन्तो धर्म का मर्म समझाते हुए टोकियो विश्वविद्यालय के तत्कालीन प्राध्यापक डा० मिशिजी इशीकावा अपने विचारपूर्ण निबन्ध 'इन्ट्रोडक्शन टू शिन्तोथियोलॉजी' में कहते हैं- कि 'शिन्तो' का तात्पर्य है, ईश्वरीय मार्ग । इसमें ईश्वर के केनकार्ड अर्थात् सगुण व यूकार्ड अर्थात् निर्गुण दोनों ही पक्ष स्वीकारने के साथ जीवन को उन्नत व विकसित बनाने हेतु नीति-नियमों का सुनियोजित विवेचन है ।

विश्व के सभी महत्त्वपूर्ण धार्मिक स्वरूपों पर किया गया चिन्तन इनकी एकात्मता पर सोचने के लिए हमें बाध्य करता है । इनका यह अनितीय भाव भारतीय वाङ्मय के वेद अर्थात् ज्ञान के शीर्षस्थ भाग अर्थात् वेदान्त में स्पष्ट भाषित होता है । यह अपने प्रथम सिद्धान्त 'नाम-रूपमिथ्या' में सारे द्वन्द्वों का निराकरण करता है । इसका तात्पर्य है कि 'नाम-रूप' का मोह ही सारे झगड़ों की जड़ है, वास्तविकता भी यही है । अर्नाल्ड टायनवी 'एन हिस्टोरियन अप्रोच टू रिलीजन' में कहते हैं, 'धर्म' के नाम पर हुए प्रायः सभी झगड़े सिद्धान्तों के लिए नहीं वरन् स्वरूपों के लिए हुए हैं ।"

स्वरूपों को कुछ अधिक महत्त्व देने के कारण ही जहाँ यह कहा जाता है कि जो ईसा को नहीं मानता, वह ईसाई नहीं, मूसा, मुहम्मद, बुद्ध, महावीर, लाओत्से, कन्फ्यूशियस आदि को न मानने वाला क्रमशः यहूदी, मुसलमान, बौद्ध, जैन, ताओवादी, कन्फ्यूशियस मतावलम्बी नहीं । वही राम, कृष्ण को न मानने वाले सगुण या निर्गुण को स्वीकारने अथवा अस्वीकार करने वाले सभी सहजता से इस सनातन भाव को ग्रहण कर सकते हैं । स्वामी अभेदानन्द अपने एक वक्तव्य में कहते हैं कि यहाँ आस्तिक व नास्तिक के मध्य भी कोई तकरार नहीं, क्योंकि इसके सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक हैं जो सभी को सहज स्वीकार्य हैं ।

नाम, रूप का आवरण हटा देने पर विश्व के सभी धर्म यहाँ अपना एकत्व प्राप्त कर लेते हैं । नैतिक नियमों का प्राधान्य मानने वाले बौद्ध, जैन, कन्फ्यूशियस वेदान्त में वर्णित साधन चतुष्टय व षट्सम्पत्ति (शम, दम उपरति, तितीक्षा, भुभुक्षत्व, नित्या-नित्य विवेक)में एकत्व प्राप्त करते हैं । जबकि पारसी, यहूदी, ईसाई, इस्लाम इसके द्वैत भाव से एकीकृत होते हैं, किन्तु ईसा के 'आय एण्ड माय ओन सेल्फ' तथा सूफियों के 'अनहलहक्' के स्वर निनाद के साथ इनका एकत्व विशष्टाद्वैत से होता है । यही स्थिति शिन्तो के सगुण-निर्गुण के साथ है, जबकि ताओ पूर्णतया अद्वैत सिद्धान्त के ब्रह्म के सदृश ही हैं । इसे ताओ-ते-किंग नामक कृति में निराकार, मन-वाणी से परे बताया गया है । यही नहीं सभी धर्म स्वरूपों का मोह छोड़ने के साथ जहाँ परमोच्च भाव में प्रतिष्ठित होते हैं, वहीं वे अद्वैत तत्त्व में समाहित हो जाते हैं ।

फ्रांस के प्रसिद्ध पत्रकार तथा विचारक जीन हर्बर्ट अपनी कृति 'डायवर्सिटी इन यूनिटी' में उपरोक्त तथ्य से सहमति व्यक्त करते हुए कहते हैं कि सिद्धान्तों एवं शाश्वत् मूल्यों की अपेक्षा अपने मतों एवं मतवादों तथा तत्सम्बन्धी वर्गीकरण के नाना विभेदों में अपना सारा चिन्तन केन्द्रित करने के कारण ही हमें एकत्व में अनेकत्व भासित होने लगा है । इसी को वास्तविकता समझ बैठने के कारण ही शाश्वत मूल्यों से विमुखता तथा प्रेम के स्थान पर द्वेष ही हमारे पल्ले पड़ रहा है ।

आवश्यकता एकत्व बोध की है । इसी को प्रतिपादित करते हुए सुविख्यात विचारक डॉ० भगवानदास अपनी रचना-'द इसेन्शियल यूनिटी ऑफ आल रिलीजन्स' में कहते हैं कि द वन टू गॉड, विश्वात्मा, ओवरसोल, एनिमा मुण्डी, द टोटल माइण्ड, द यूनिवर्सल सेल्फ ऑफ ऑल आदि नामों की अक्षराभिव्यंजना से भ्रमित न होकर धर्म के उस शाश्वत् स्वरूप का अनुकरण, अनुसरण करना चाहिए, जो एक है, किन्तु अनेक स्वरूपों में प्रतिभासित हो रहा है । इसी तथ्य को स्वामी विश्वानन्द सत्य स्वीकारते हुए अपनी कृति 'यूनिटी ऑफ रिलीजन्स' में कहते हैं कि प्रत्येक धर्म के मुख्यतया तीन पक्ष हैं-दर्शन, आधारभूत सिद्धान्त व

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

नीति । तीनों ही दृष्टिकोणों से परखने पर स्पष्टतया धर्म एक है, उसके स्वरूप में भले ही विविधता गोचर हो ।

वेदान्त इन भासित होने वाले स्वरूपों की मणिमुक्तकों को अपनी माला में यथोचित स्थान देता हुआ गीता के कथन की "**भवि सर्वमिदं प्रोक्तं सूत्रे मणि गणां इवा**" को प्रमाणित करता हुआ स्पष्ट करता है कि धर्म के विभिन्न स्वरूप मणियों के सदृश्य हैं, जबकि धर्म की शाश्वतता सूत्र की तरह एक है । यही सूत्र इन सभी का आधार है । इसके नष्ट होने से सभी का अस्तित्व नष्ट होने की सम्भावना है । आवश्यकता इस सूत्र को समझने व तदनुरूप आचरण की महत्ता प्रतिपादित करने की है ।

वेदान्त के द्वारा इस परमोच्च भाव की व्याख्या के कारण ही प्रो० मैक्समूलर 'सिक्स सिस्टम्स ऑफ इण्डियन फिलॉसफी' नामक कृति में उस वास्तविकता के नाम से बताते हैं जो मानव मन द्वारा प्राप्य है । जर्मन दार्शनिक शोपेनहावर इसे जीवन व मृत्यु का सहचर व शान्ति प्रदाता मानते हैं । प्रो० ई० डब्लू हापकिन्स इसे थेल्स, पैरमिनिडीज की विचारणा का आधार बताते हुए मानव मात्र के लिए कल्याणकारी मानते हैं । कील विश्वविद्यालय के तत्कालीन प्राध्यापक दर्शनशास्त्री पालडायन ने इसकी कल्याणकारिता तथा सार्वभौमिकता के ही कारण इस पर ग्रन्थों की रचना (वेदान्त दर्शन का भाष्य आदि) भी की ।

विविध स्वरूपों के व्यामोह में न उलझकर शाश्वत् मूल्यों के परिपालन को आधार मानकर ही जीवन लक्ष्य की प्राप्ति सम्भव है । स्वामी विवेकानन्द एक स्थान पर कहते हैं कि "स्वरूपों के व्यामोह ने ही समय-समय पर मनुष्य को पशु के स्तर पर उतारा है, जबकि एकत्व के बोध ने महापुरुष उपजाकर मानवता को सुशोभित किया है ।" इस भाव को हृदयंगम कर तदनुरूप व्यवहार करने से मानव जाति सही अर्थों में धर्मपरायण हो सकती है । मानवता अपना खोया सौन्दर्य पुनः पाकर उज्ज्वल भविष्य की आधारशिला रख सकती है । यह मात्र यूटोपिया नहीं, एक सुनिश्चित सम्भावना भी है ।

धर्म सम्बन्धी तीन प्रश्न

परलोक सुधार के लिए मनुष्य नाना प्रकार के जप, तप, ध्यान, व्रत, उपवास, दान, कथा, तीर्थ आदि का अवलम्बन करते हैं । भविष्य की चिन्ता करना मनुष्य का स्वभाव है, कल की आशा के आधार पर वह आज के कार्यों का आरम्भ करता है, मृत्यु के उपरान्त जिस लोक में जाना है, उस परलोक को अच्छा बनाने के लिए प्रयत्न करना स्वाभाविक ही है । फसल की आशा में किसान अपना बीज खेत में बिखेर देता है और छह महीने तक खेतों में कठोर परिश्रम करता रहता है, इसी प्रकार मनुष्य परलोक में सुख प्राप्त करने की इच्छा से अपना बहुत-सा समय और धन लगाता है, कठोर साधनाएँ करता है और तरह-तरह के नियमों का पालन करता हुआ विविध कर्मकाण्डों में लगा रहता है । छोटे से छोटा कार्य भी त्याग और परिश्रम के बिना पूरा नहीं होता, फिर परलोक सुख तो बिना तपस्या के प्राप्त हो ही कैसे सकता है ? निस्सन्देह किसी वस्तु की प्राप्ति का मार्ग प्रयत्न ही है, प्रयत्न से ही परलोक में भी सुख प्राप्त हो सकता है ।

भारतवर्ष एक आध्यात्मिक देश है, इसकी विचारधारा में इहलोक की अपेक्षा परलोक को अधिक महत्त्व प्राप्त है । असहाय, अशिक्षित, अभावग्रस्त, दीन-हीन व्यक्ति भी अपने विश्वासों के आधार पर कुछ न कुछ परलोक साधना करते रहते हैं । सामूहिक रूप से हिसाब लगाया जाय तो भारतवासियों की एक पंचमांश शक्ति धर्म-साधना के लिए व्यय होती है । गणितज्ञों ने हिन्दू जाति की धार्मिक अवस्था पर गहरी खोज की है और हिसाब लगाकर बताया है कि संध्या, पूजा, जप, कीर्तन, तीर्थयात्रा, कर्मकाण्ड, संस्कार, मन्दिर दर्शन, कथा-श्रवण, शास्त्रपठन, धार्मिक शिक्षा के निमित्त सर्वसाधारण का जो बहुत-सा समय खर्च होता है और साधु, सन्त, पुरोहित, पुजारी, उपदेशक, धर्म-संस्थाओं तथा धर्म-स्थानों के कर्मचारी आदि का जो पूरा समय खर्च होता है, इस सारे समय को जोड़कर इसका औसत फैलाया जाय तो हर एक छोटे-बड़े हिन्दू के हिस्से में पौने तीन घंटे प्रतिदिन का समय आता है । निद्रावस्था को छोड़कर शेष समय का यह करीब पाँचवाँ भाग है । इसी प्रकार उपरोक्त कार्यों एवं व्यक्तियों के ऊपर करीब २ अरब ९६ करोड़ रुपया प्रतिवर्ष व्यय होता है । इसकी औसत हर हिन्दू के ऊपर १।। पैसा प्रतिदिन पड़ती है । देश की औसत आमदनी दो आना रोज है । इस तरह सारी आमदनी का एक पाँचवाँ भाग धर्म के लिए खर्च किया जाता है । एक शब्द में यों कह सकते हैं कि हम लोग अपनी सम्पूर्ण शक्ति का पाँचवाँ भाग धर्म के निमित्त इस समय भी लगाते हैं ।

पंचमांश शक्ति बहुत बड़ी शक्ति है । इतनी शक्ति जर्मनी और रूस जैसे युद्धग्रस्त देशों को युद्ध में भी खर्च नहीं करनी पड़ रही है, परन्तु हम लोग स्वेच्छा से खुशी-खुशी धर्म के निमित्त इतना बड़ा त्याग 'परलोक सुधार' के लिए करते हैं । यह ठीक भी है धर्म के लिए, परमार्थ के लिए, परलोक सुख के लिए इतना त्याग करना उचित ही है, हो सके तो इससे अधिक त्याग भी करना चाहिए ।

परन्तु इतना बड़ा व्यापार जिसमें पंचमांश शक्ति व्यय होती है, करने के साथ-साथ हमें यह भी विचार करना होगा कि जिस कार्य के लिए यह शक्ति खर्च की जा रही है, वह पूरा हो रहा है या नहीं ? राज एक दीवार को चिनता है साथ-साथ वह इस बात की परीक्षा भी करता जाता है कि दीवार कहीं टेढ़ी-मेढ़ी तो नहीं हो रही है । व्यापारी लोग चिट्ठे बनाकर हिसाब देखते रहते हैं कि व्यापार में लगाई गई पूँजी सुरक्षित है या नहीं, उससे उचित लाभ मिल रहा है या नहीं ? यदि व्यापारी को लाभ नजर नहीं आता बल्कि पूँजी डूबती दिखाई देती है, तो वह तुरन्त ही सावधान हो जाता है और अपनी गतिविधि बदल

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

देता है । हम लोग तो धर्म के कष्टसाध्य मार्ग पर चलने का साहस करते हैं, उस व्यापारी की बराबर तो बुद्धिमान अवश्य ही होने चाहिए । किन्तु कितने दु:ख की बात है कि हम पूँजी तो बराबर लगाते जाते हैं, परन्तु यह विचार नहीं करते कि यह डूब रही है या इसका कुछ फल भी प्राप्त हो रहा है ।

हर काम में सफलता-असफलता की कसौटियाँ हैं जिनके द्वारा यह जाना जाता है कि लाभ हो रहा है या घाटा पड़ रहा है । परलोक सुधार की भी एक कसौटी है, वह यह कि "यह लोक सुधर रहा है या नहीं ?" जिन कामों से यह लोक सुखमय बनता है निस्सन्देह उनसे परलोक भी सुधरेगा । जिन व्यक्तियों का यह जीवन अशान्ति, बेचैनी, अभाव की नरक यातनाओं में बीत रहा है, उसके लिए परलोक में स्वर्ग सुख की आशा करना बेकार है । जीवन एक वृक्ष है, जिसका फल परलोक कह सकते हैं । आम के वृक्ष पर आम ही लगेंगे, इसी प्रकार परलोक में वे ही आनन्द भोगेंगे जिनका यह लोक आनन्दमय है । सुख, शान्ति, सन्तोष, प्रसन्नता और उल्लास के जो संस्कार मनुष्य इस जीवन में इकट्ठे करता है वे ही परलोक में प्रस्फुटित होकर स्वर्ग सुख का आनन्द अनुभव कराते हैं । दिन भर मनुष्य जैसे काम करता है, रात को वैसे ही स्वप्न देखता है । जिसका जीवन आनन्द से बीता है, उसे स्वर्ग का आनन्द मिलेगा । जिसके अन्त:करण में अभाव, चिन्ता, तृष्णा, क्रोध की आग सुलगती रही है, जो तिरस्कार, अपमान, दीनता, दरिद्रता और दासता की चक्की में जीवन भर पिसता रहा है उसको इस लोक में भी नरक है और परलोक में भी वही मिलेगा । जिसके घर खीर है, उसे ही बाहर भी खीर खाने को मिलेगी । जिसके घर में अन्न के लाले हैं, उसे बाहर भी उपवास करने पड़ेंगे । जो इस जीवन में नरक भोग रहा है, उसका परलोक में स्वर्ग की आशा करना शेखचिल्ली के झूठे सपने देखने के समान है ।

धर्म कार्यों में अपनी पंचमांश शक्ति को व्यय करने के साथ-साथ हमें यह भी देखना होगा कि इस महान् त्याग का हमारे लौकिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है ? किस सीमा तक हमारी शारीरिक, मानसिक और सामाजिक शक्तियाँ विकसित होती हैं ? हमारे आनन्द और सुख-सन्तोष में कितनी वृद्धि होती है ? इन कसौटियों पर कसकर ही यह परीक्षा की जा सकती है कि हमारी परलोक साधना सच्ची है या झूठी है । जिस बाग के पौधे सूख-सूख कर मुरझाये जा रहे हैं, उससे फलों की भारी फसल प्राप्त होने की आशा कोई मूर्ख ही कर सकता है । इसी प्रकार जिन लोगों की शारीरिक, मानसिक और सामाजिक दशा छिन्न-भिन्न हो रही है उनके लिए कोई पागल ही ऐसी आशा करेगा कि इनके लिए इन्द्र का सिंहासन खाली पड़ा होगा । धर्म कोई अंधा कुआँ नहीं है, जिसमें चाहे जितना डालते जाओ पर कुछ फल ही दृष्टिगोचर न हो । धर्म प्रयत्न को ऐसा फिक्स डिपोजिट या सेवेंग सार्टीफिकेट समझा जाता है, जिसका भुगतान मृत्यु के उपरान्त होगा, परन्तु यह ठीक नहीं । असल में धर्म प्रयत्न एक व्यापार है जिसमें उसी दिन से लाभ होना आरम्भ हो जाता है । धर्म एक खेती है, जिसके दिन-दिन बढ़ते हुए हरे-भरे पौधों को हर कोई नित्य आँखों से देखता रह सकता है । सच्चा धर्म नकद धर्म है, उसमें "इस हाथ दे उस हाथ ले" की कहावत अक्षरश: चरितार्थ होती है । जो बन्दूक एक मील तक गोली फेंक सकती है, वह दस गज के निशाने को क्यों न मारेगी ? जिस बत्ती से पाँच सौ कदम तक प्रकाश होता है उससे बीस कदम पर प्रकाश क्यों न होगा ? जो धर्म-साधना परलोक तक में सुख दे सकती है वह इस लोक में सन्तोषजनक परिस्थिति उत्पन्न क्यों न करेगी ? वह करेगी और अवश्य करेगी । यदि न करे तो समझना चाहिए यहाँ असत्य है, पाखंड है, भ्रम है, अज्ञान है । सत्य ऐसा सुगन्धित पुष्प है, जिसकी गन्ध दूर-दूर तक फैलती है, पर पास में तो और भी अधिक रहती है । धर्म से परलोक सुधरता है, पर यह लोक तो निश्चय ही सुधरता है । यदि न सुधरे तो उस कार्यप्रणाली को चाहे कुछ भी क्यों न कहा जाय पर उसे धर्म तो निश्चय ही नहीं कहा जा सकता ।

हम देखते हैं कि पंचमांश शक्ति का व्यय करते हुए भी हम लोग सब प्रकार दीन-हीन हो रहे हैं, लाखों की संख्या में हम भूख से तड़प-तड़प कर मरते हैं, बीमारियाँ हमें चबैने की तरह चबाये जा रही हैं, गरीबी में हम संसार भर से बढ़े-चढ़े हैं, शिक्षा दस प्रतिशत भी नहीं, वैयक्तिक जीवनों में कलह और क्लेश की प्रधानता है, भ्रम और अज्ञान के भूत हमारे कंठ से चिपक गये हैं । चाहे वैयक्तिक दृष्टि से विचार कीजिए, चाहे सामूहिक दृष्टि से, चाहे एक औसत हिन्दू को देखिए या सारी हिन्दू जाति पर दृष्टिपात कीजिए, उसका लौकिक जीवन बहुत ही पिछड़ा हुआ, दु:खी और दीन-हीन दिखाई देगा । क्या इन्हें स्वर्ग प्राप्त होगा ? मुक्ति मिलेगी ? ईश्वर के दर्शन होंगे ? इससे बड़ा आश्चर्य और क्या होगा कि रोटी के प्रश्न को न सुलझा सकने वाले लोग कुबेर की समता प्राप्त करने का स्वप्न देखें ? सामाजिक और राजनीतिक दासताओं से भी जो छुटकारा न पा सके वे मुक्तिपद पाने की कल्पना में मस्त रहें ? यह कल्पनाएँ जिस कार्य प्रणाली के आधार पर कर रहे हैं, वह ऐसी है कि उसके द्वारा हमारी गरीबी-बेकारी, अशिक्षा, बीमारी, अल्पायु, दुर्बलता, कलह, क्लेश, कटुता, कायरता तक न हट सकी, फिर कैसे आशा की जाय कि इन धार्मिक क्रिया-पद्धतियों द्वारा हमारा परलोक सुधर जायगा ?

हमें बुद्धिवान व्यापारी की तरह विचार करना होगा कि जिस धर्म के नाम पर हम अपनी शक्ति का, समय और धन का पाँचवाँ हिस्सा खर्च कर रहे हैं वह वास्तव में धर्म है भी या नहीं ? शास्त्र कहते हैं कि "**धर्मो रक्षति रक्षित:**" जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है । हम पंचमांश शक्ति द्वारा धर्म की रक्षा कर रहे हैं। इतनी

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

बड़ी शक्ति इस धरती माता पर किसी भी देश या जाति द्वारा धर्म के लिए खर्च नहीं की जा रही है । दो आना प्रतिदिन की औसत आमदनी के जमाने में भी हम लोग जितना त्याग करते हैं, उतना कोई सम्पन्न देश भी नहीं कर पाता । इतना होते हुए भी संसार की अन्य जातियाँ इस पृथ्वी पर भी स्वर्ग भोग रही हैं और हम लोगों के सामने जिस पर भगवान् के दस अवतार हुए उस परम पवित्र, रत्नगर्भा, शस्य-श्यामला भूमि में भी नरक उपस्थित है । हम धर्म के लिये बहुत कुछ कर रहे हैं, नाम जप, अखण्ड कीर्तन, संकीर्तन, यज्ञ, हवन, कथा, वार्त्ता, व्रत, उपवास, पूजापत्री, दान-दक्षिणा, साधु-सेवा, ब्रह्मभोज, श्राद्ध, तर्पण, तिलक-छाप, कंठी जनेऊ, गौ ग्रास, तीर्थ यात्रा, प्रार्थना, प्रदक्षणा सभी कुछ तो जारी है, फिर भी धर्म हमारे लिए कुछ नहीं करता । छप्पन लाख पेशेवर और उससे दूने-चौगुने अर्ध पेशेवर व्यक्ति धर्म के नाम पर अपना जीवन लगाये हुए हैं, परन्तु धर्म बदले में कुछ नहीं देता । ईश्वर के रहने के लिए आलीशान, राजमहलों को मात देने वाले मन्दिर बनवाये गये हैं, भोग के लिए लाखों रुपया प्रतिदिन के भोग लगाये जाते हैं, टहल-चाकरी की राजा-महाराजाओं से भी बढ़िया व्यवस्था है, इस पर भी ईश्वर हमारी ओर कुछ ध्यान नहीं देता, उल्टी अनेकानेक आधि-व्याधियों का प्रकोप बढ़ता जाता है । यह समस्या ऐसी कठोर और कर्कश है कि बलात् हमारा ध्यान अपनी ओर खींचती है और इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने की चुनौती देती है कि हम बुद्धिमान् व्यापारी की तरह सोचें कि जिस उद्देश्य के लिए अपनी शक्ति का सर्वोत्तम अंश खर्च किया जा रहा है वह पूरा होता है, या नहीं ? जिस व्यापार में पूँजी लगाई जा रही है उसमें सफलता मिलती है या नहीं ?

अखण्ड ज्योति अपने पाठकों से विशेष बलपूर्वक कहती है कि वे इस प्रश्न पर गम्भीरता के साथ विचार करें । धर्म जीवन का मेरुदण्ड है, खासतौर से हिन्दू जाति का तो वह प्राण ही है । यदि धर्म के स्थान पर हम अधर्म की पूजा कर रहे हैं तो समझना चाहिए कि अपनी रक्तवाहिनी धमनियों का मुँह खोलकर शरीर का सारा रक्त निष्प्रयोजन और अनुचित स्थान पर बहाये दे रहे हैं । यह स्थिति घातक है, खासतौर से आज की दीन-हीन दशा में तो और भी अधिक प्राणघातक है । यदि हमारी वैयक्तिक और सामूहिक शक्तियों का व्यय अनुचित एवं अनावश्यक मार्ग में हो रहा है, तो हममें से हर एक का कर्त्तव्य है कि उपेक्षा एवं अधूरे मन के साथ नहीं, वरन् पूरी-पूरी जिम्मेदारी, गम्भीरता और विवेकशीलता के साथ यह विचार करें कि क्या धर्म का यही वास्तविक रूप है जिसके लिए हिन्दू जाति आज अपना पंचमांश शक्ति व्यय कर रही है ? यदि यह नहीं है तो धर्म का वह सच्चा स्वरूप क्या है ? जिसको अपनाने से तुरन्त ही धर्मसेवी शारीरिक, मानसिक और सामाजिक उन्नति दृष्टिगोचर हो? जिससे यह लोक सुधरेगा, वही धर्म परलोक को भी सुधारेगा । ऐसे सच्चे धर्म का सर्वसाधारण को परिचय और विश्वास कैसे कराया जा सकता है? यह प्रश्न विचारणीय है, इसलिए विवेकपूर्वक इन पर विचार करने का पाठकों से हमारा सादर अनुरोध है।

धर्म-धारणा को आचरण में उतारा जाय

नीति का वचन है-शास्त्र पढ़कर भी लोग मूर्ख होते हैं । शास्त्रज्ञ तो वह है जो उनके निर्देशों का पालन करता है । औषधि के गुणानुवाद गाने से रोग निवृत्त नहीं होता । इसके लिए तो उसे सेवन करने से ही काम चलेगा ।

स्वाध्याय और सत्संग का महत्त्व इसलिए माना गया है कि पढ़े हुए आप्तवचन और सुने हुए सदुपदेशों को हृदयंगम करके मनुष्य अपनी त्रुटियों को सुधारे तथा सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा प्राप्त करे । मूल प्रयोजन किसी पुस्तक के पन्ने उलटना अथवा किसी के मुख से निकले वचनों का सुनना नहीं है, यह तो पुण्यफल प्राप्त करने का साधन है, साध्य नहीं । शास्त्रों का पाठ पुण्य भी हो सकता है, पर वैसा होगा तभी जब उसको, उसके उपयुक्त अंश को जीवनक्रम में उतारा जाय । यदि ऐसा कुछ नहीं हुआ केवल अक्षरों को ही पढ़ लिया गया तो वह एक उपयोगी समय-क्षेप भर है । शहद की बहुविधि चर्चा सुनने का तभी लाभ हो सकता है, जब उसे उपलब्ध और सेवन किया जाय । यदि मधु के गुण बताने वाली पुस्तक को पढ़ भर लिया गया है तो भला मधु सेवन से मिलने वाला लाभ कैसे प्राप्त होगा? किसी धर्म शास्त्र के पाठ का कितना ही अधिक महत्त्व क्यों न बताया जाता रहा हो, वह सही तभी सिद्ध होगा, जब उसकी प्रेरणा जीवनक्रम को उत्कृष्टता की दिशा में अधिक तत्परतापूर्वक अग्रसर होने की प्रेरणा दे सके ।

यही बात किसी सन्त या महापुरुष के दर्शन करने व उसके प्रवचन करने पर लागू होती है । कोई कितना ही बड़ा योगी या सन्त क्यों न हो उसके दर्शनमात्र से किसी को कुछ भी लाभ प्राप्त नहीं हो सकता और न कान के पर्दे से टकराकर हवा में उड़ जाने वाले प्रवचन कोई पुण्यफल प्रस्तुत कर सकते हैं । दर्शन अथवा श्रवण को अपने आप में पूर्ण मान बैठना भारी भूल है । वे जीवनोत्कर्ष की दिशा में प्रेरणा देने वाले हो सकते हैं और यदि व्यक्तित्व का अनुकरण अथवा सत्परामर्श का अनुसरण हो सकता हो तो ही वह माहात्म्य वर्णन सही सिद्ध होगा जिसमें सन्त दर्शन अथवा कथन-श्रवण का पुण्यफल बताया गया है । सत्संग का प्रयोजन यह है कि श्रेष्ठ लोगों ने अपना व्यक्तित्व ढालने में और कर्तृत्व प्रखर करने में क्यों और कैसे प्रयास किये हैं ? उन्हें निकटवर्ती अध्ययन-अन्वेषण द्वारा हृदयंगम करने का प्रयास करें । जिन्होंने गहराई में उतर कर समुद्र में प्रवेश किया है, उन्हीं ने मोती पाये हैं जो किनारे पर

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

बैठकर समुद्र का दर्शन करते हैं, उन्हें समुद्र की संगति का उथला सन्तोष भले ही हो जाय कुछ कहने लायक उपलब्धि उनके हाथ लगने वाली नहीं है ।

धर्म की सार्थकता धारणा अथवा निष्ठा में है । जो क्रिया-कृत्य हमें सन्मार्ग पर बढ़ चलने की प्रेरणा दे सकें, उन्हीं को सार्थक कहा जायगा । धार्मिक कर्मकाण्डों का एकमात्र तात्पर्य यह है कि उन्हें पूरा करने के साथ जो उच्च भावनाएँ उस प्रयोजन के साथ जुड़ी रहती हैं, उन्हें विशेष मनोयोगपूर्वक समझा जाय और उन्हें निष्ठापूर्वक जीवन की गतिविधियों में समाविष्ट किया जाय । समस्त कर्म-काण्डों का विधान इसी एक उद्देश्य के लिए हुआ है । तथ्य की गहराई में प्रवेश न करके यदि उथली समझ से यह मान बैठा जाय कि वह क्रिया-कृत्य ही पुण्य फल की प्राप्ति करा सकता है, तो यह भयंकर भूल ही होगी । भोजन बनाने का क्रिया-कृत्य कितना ही व्यवस्थित क्यों न हो उसका लाभ तभी है, जब बनायी हुई रसोई को खाया भी जाय । व्यंजनों की प्रदर्शनी देखकर अथवा छूकर भूख नहीं बुझाई जा सकती और न धर्म-कृत्यों की विधि-व्यवस्था जुटाने मात्र से आत्मिक प्रगति अथवा आत्म-शान्ति का लक्ष्य पूरा होता है । मुख्य लाभ तो आचरण का है । उसी की प्रेरणा देने के लिए सत्संग-स्वाध्याय, संत-दर्शन, कथा-प्रवचन एवं विविध विधि धर्म-कृत्यों का प्राविधान किया गया है ।

शास्त्र और धर्म की विवेचना

वह समय चला गया जब 'शास्त्र' शब्द से जो ग्रन्थ सम्बोधित किये जाते थे, उन्हें किसी अलौकिक या ईश्वरीय शक्ति की देन कहकर उनके प्रति समाज में लोकोत्तर श्रद्धा का आविर्भाव किया जा सकता था । साधारणतः आज संसार में जितने शास्त्र ग्रन्थ हैं, उन्हें किसी न किसी 'मानव बुद्धि' से ही उत्पन्न हुआ समझा जाता है । एक शास्त्र का ही एक वाक्य है कि "शास्त्र को पुरुष उत्पन्न करते हैं, पुरुष को शास्त्र नहीं ।" कुछ लोग शास्त्रों के सम्बन्ध में कहते हैं कि वहाँ बुद्धि की गति नहीं है, किन्तु वे यह भूलते हैं कि यहाँ बुद्धि की गति है, वहाँ नहीं है, इस बात का निर्णय भी बुद्धि द्वारा ही किया जाता है । बुद्धि की कोई निश्चित सीमा नहीं है । यदि कहा जाय कि शास्त्रकार ऋषियों की बुद्धि हमारी बुद्धि से अच्छी थी तो इसका निर्णय भी हमारी अपनी बुद्धि ही करती है, विचार का खण्डन भी विचार ही करता है । कहा गया है कि कोई अपनी छाया और बुद्धि को नहीं नाप सकता इसलिये किसी के सम्बन्ध में निर्णय करने के लिए बुद्धि ही सर्वोपरि साधन है ।

गीता में कहा गया है कि कार्य-अकार्य का निर्णय करने के लिए शास्त्र प्रमाण हैं, किन्तु प्रश्न यह है कि किस शास्त्र द्वारा निर्णय किया जाय, किससे नहीं ? प्रत्येक मत और विचारधारा के लिए अलग-अलग शास्त्र हैं । यहूदियों के लिए बाइबिल का पूर्वार्द्ध 'ओल्डटेस्टामेन्ट' अपौरुषेय है तो ईसाइयों के लिए उसका उत्तरार्द्ध 'न्यूटेस्टामेन्ट' ब्रह्मवाक्य है । जैनियों के लिए जैनागम-सुत्त, बौद्धों के लिए 'त्रिपटिक' और इसी प्रकार हिन्दू आदि अन्य धर्मावलम्बियों के लिए अपने धर्म-ग्रन्थ सर्वश्रेष्ठ हैं । हिन्दुओं में भी फिर अनेक मत-मतान्तर हैं । कोई वैदिक धर्मावलम्बी है, तो कोई सनातनी । फिर वेदानुयायिओं में भी बड़े मतभेद हैं । कोई ऋग्वेदी है, कोई अथर्ववेदी, तो कोई सामवेदी है, तो कोई यजुर्वेदी । यहाँ तक कि अन्य तीन अथर्ववेद को बहुत अपवित्र मानते हैं और उसे वेदों की पंक्ति में से ही उठा दिया गया है तथा 'त्रिवेदी' ही भारत में मान्य रह गई । ऋक् और यजुर्वेद के अनुयायी सामवेद को भी अपवित्र मानते हैं, जबकि गीता में उसकी श्रेष्ठता दिखाने के लिए कहा गया है कि "वेदों में सामवेद में ही हूँ ।" कहने का तात्पर्य यह कि विभिन्न शास्त्रों के मत और विचारधारा इतनी परस्पर विरोधी हैं कि कौन मान्य है, कौन अमान्य इसका निर्णय बुद्धि द्वारा ही किया जा सकता है । इसीलिए विभिन्न शास्त्रों में मतविशेष प्रतिपादित करते समय स्थान-स्थान पर 'बुद्धि' को भी महत्त्व दिया गया है । गीता का द्वितीय अध्याय तो एकमात्र बुद्धि की महिमा से ही भरा हुआ है । अन्य स्थानों पर भी गीता में 'बुद्धि' शब्द का प्रयोग केवल 'आत्मा' और 'अहं' शब्दों को छोड़कर सबसे अधिक स्थानों पर किया गया है । गायत्री मन्त्र में भी भगवान् से शास्त्र नहीं माँगा गया है । वहाँ भी 'भगवान् मुझे सद्बुद्धि दें' ऐसी प्रार्थना की गई है । क्योंकि सद्बुद्धि मिलने पर अनेक शास्त्रों का निर्माण किया जा सकता है ।

'शास्त्र' के अन्धानुयाइयों की ओर से कहा जाता है कि शास्त्रों में जो परस्पर विरोध है, उसका निराकरण शास्त्रों की ही पद्धति से करके 'शास्त्रीय' सिद्धान्त का निर्णय करना चाहिए, किन्तु यह निर्णय भी तो मानव बुद्धि द्वारा ही किया जायेगा । महाभारत में एक स्थान पर कहा गया है–

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयोविभिन्नाः
नैकोऋषिर्यस्यमतं प्रमाणम् ।
धर्मस्यतत्त्वंनिहितं गुहायां
महाजनोयेनगतः स पन्थाः ।

अर्थात् तर्क की कोई सीमा नहीं है, श्रुतियाँ (चिरकालीन परम्परा से सुनी हुई बात) अनेक प्रकार की और परस्पर विरोधी हैं, अतएव किसी भी ऋषि का वचन प्रमाण नहीं माना जा सकता । धर्म का तत्त्व तो मनुष्य के हृदय में (जहाँ से उसे बुद्धि की प्रेरणा मिलती है) छिपा हुआ है । 'महाजन' (पूरे समाज का बहुमत) जिस मार्ग पर चले वही सच्चा मार्ग है । यहाँ महाजन का अर्थ महापुरुष इसलिए नहीं किया जा सकता कि ऊपर कहा गया है कि किसी भी ऋषि का वाक्य प्रमाण नहीं । क्या ऋषि भी महापुरुष नहीं होते ? इसीलिये यहाँ महाजन का अर्थ समाज का बहुमत या 'जनता' कहा गया है, जो आज की गुजराती भाषा में प्रयोग किया जाता है ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

सारांश यह है कि कोई ग्रन्थ कितना ही पूजनीय हो और उसकी कितनी भी प्रतिष्ठा बताई गई हो, जब उसमें विचार विरोध उत्पन्न होता है तो अन्त में निर्णय के लिए बुद्धि की ही शरण लेनी पड़ती है । 'बुद्धि' 'शास्त्र' से ऊपर है । क्योंकि 'बुद्धि' शास्त्र का निर्माण करती है, 'शास्त्र' बुद्धि का निर्माण नहीं करता। बुद्धिहीन के लिए 'शास्त्र' का मूल्य उतना ही है, जितना अन्धे के लिए दर्पण का । क्योंकि जिस प्रकार अन्धा दर्पण में अपना मुँह नहीं देख सकता उसी प्रकार बुद्धिहीन विवेक विचार से 'शास्त्र' को पढ़ और जाँच नहीं सकता ।

जब बिना बुद्धि की कसौटी पर खरा उतरे कोई 'शास्त्र' प्रमाण नहीं हो सकता तो 'शास्त्रों' में प्रतिपादित-धर्म का भी बुद्धि की कसौटी पर खरा उतरना आवश्यक है । **'महाजनो येन गतः स पन्थाः**, के अनुसार आज के मानव समाज का यह निश्चित मत है कि जिससे समाज का कल्याण हो, मानवता का विकास हो, अच्छे ज्ञान और विज्ञान की उन्नति हो तथा संसार के समस्त जन-समुदाय को सुख मिले, वही धर्म है ।

ऋषियों और शास्त्रकारों ने अपने-अपने समय और परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न शास्त्रों में 'धर्म' का प्रतिपादन किया है । उन्होंने अपनी बुद्धि के अनुसार अनेक तत्त्व की बातों का चयन अपने ग्रन्थों में किया है । उनमें से आज के समय और परिस्थितियों के अनुकूल पात्र के अनुसार सामग्री निकालना और आवश्यकता के अनुसार उन्हें बदलना मनुष्य की बुद्धि का काम है ।

परिस्थितियों और उपयोग के अनुसार ग्रहण किये जाने के कारण धर्म कोई एकान्तिक अत्यान्तिक, अटल, अचल और अपरिवर्तनीय वस्तु नहीं है । ऊपर धर्म की 'लोकोपचारी' आदि जो परिभाषाएँ बताई गई हैं उनके अनुसार हम देखते हैं कि समाज के प्रत्येक सदस्य का धर्म एक नहीं हो सकता । फौजी सिपाही का धर्म एक होगा तो किसान का दूसरा, अध्यापक का तीसरा और दुकानदार का चौथा होगा । एक ही आदमी का धर्म अच्छे दिनों में एक होगा तो बुरे दिनों में दूसरा । किस अवस्था में, किस व्यक्ति का क्या धर्म है ? इसका निर्णय अच्छी बुद्धि द्वारा ही ठीक-ठीक किया जा सकता है । एक कथा है कि जब ऋषि लोग इस लोक से जाने लगे तो मनुष्यों ने उनसे पूछा कि अब हम लोगों को कठिनाई के समय सच्चा मार्ग कौन दिखायेगा? तब ऋषियों ने उनको तर्क दिया और कहा कि भविष्य में यही तुम्हारा ऋषि होगा । इस कथा का यही तात्पर्य है कि युग और परिस्थिति के अनुसार अपनी बुद्धि द्वारा अपना कर्त्तव्य निश्चित करो । अंधविश्वास के साथ पुरानी परम्परा की लकीर पीटना छोड़ दो ।

उपरोक्त व्याख्या के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मानव-कल्याण के लिए समय-समय पर कवियों और आप्तपुरुषों ने जो सद्वाक्य संग्रहीत किये हैं, वे शास्त्र हैं, किन्तु प्रत्येक स्थिति में उन पर अमल करते समय हमें बुद्धि को ही प्रधानता देनी चाहिए । क्योंकि-

'यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा, शास्त्रं तस्य करोति किं ?'

धर्म क्यों उपयोगी ? क्यों अनुपयोगी ?

वारेन एस० स्मिथ नामक इंग्लैण्ड के एक विद्वान ने बर्नार्डशॉ के भाषणों को 'रिलीजियस स्पीचेज ऑफ बर्नार्डशॉ' पुस्तक में संकलित किया है । इस पुस्तक में बर्नार्डशॉ के धर्म सम्बन्धित विचारों का उल्लेख किया गया है । एक भाषण में उन्होंने कहा था कि "यदि वास्तव में हम कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य करना चाहते हैं तो हमारा कोई धर्म होना चाहिए । यदि हमारी सभ्यता को वर्तमान भयंकर स्थिति से निकालने के लिए कुछ किया जाना है तो यह ऐसे व्यक्तियों द्वारा किया जाना है जिनका कोई धर्म है।" उन्होंने यहाँ तक कहा कि "जिन व्यक्तियों का कोई धर्म नहीं होता वे कायर एवं असभ्य होते हैं ।"

बर्नार्डशॉ के इन विचारों में धर्म की महत्ता एवं इस क्षेत्र की व्यापकता का प्रतिपादन स्पष्ट परिलक्षित होता है । धर्म का अर्थ होता है, 'कर्त्तव्य' जिसको परम्परागत मान्यताओं, निर्धारित पूजा-उपचारों तक सीमित नहीं किया जा सकता । कर्त्तव्यों में आदर्शों एवं सिद्धान्तों का उच्चस्तरीय पुट होता है, जिसे देशकाल की संकुचित सीमा में बद्ध नहीं किया जा सकता । सामयिक आवश्यकता के अनुरूप उसका स्वरूप गढ़ा तो जा सकता है, पर वह स्वरूप शाश्वत् नहीं बन सकता है, जो प्रत्येक काल एवं परिस्थितियों में उपयोगी हो । धर्म के मूल में यदि कोई तत्त्व शाश्वत् बन सकता है तो वह है-"श्रेष्ठ आदर्शों एवं सिद्धान्तों के प्रति गहन आस्था, सुदृढ़ विश्वास । जो वस्तुओं, व्यक्तियों अथवा परिस्थितियों से नहीं जुड़ा होता।" पूजा, उपचार, देवी-देवता के माध्यम से ही इन्हीं तत्त्वों को उभारा-विकसित किया जाता है । जार्ज बर्नार्डशॉ ने धर्म को परोक्ष रूप से उच्चस्तरीय सिद्धान्तों एवं आदर्शों के रूप में ही स्वीकार किया एवं माना है कि धर्म अर्थात् आदर्शों एवं सिद्धान्तों के अभाव में कोई भी महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं किया जा सकता तथा महान् कार्यों में सफल होने के लिए धर्म का अवलम्बन लेना आवश्यक है ।

धर्म के इस प्राण प्रतिपादन की उपेक्षा करने से वह मात्र परम्पराओं, कर्मकाण्डों, तथाकथित पूजा-उपचारों का साम्प्रदायिक जाल-जंजाल बनकर रह जाता है। मान्यताओं के दुराग्रह से कर्त्तव्यों की उपेक्षा होने लगती है । अन्धविश्वासों को पनपने एवं विकृतियों को घुसने का अवसर मिल जाता है । पिछले दिनों यही हुआ । धर्म के तत्त्व-ज्ञान-श्रेष्ठ आदर्शों एवं सिद्धान्तों की अवमानना हुई । फलस्वरूप धर्म साम्प्रदायिक विकृतियों से भर गया । इन विकृतियों ने नास्तिकता के प्रसार में भी योगदान दिया है । धर्म के महान् लक्ष्य, स्वरूप एवं तत्त्व-दर्शन के स्पष्ट होने के कारण ही उसकी विकृतियों को देखकर कार्लमार्क्स

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

जैसे विचारक कह उठे-''धर्म सताये हुए प्राणियों का रुदन है । निर्दयी व्यक्तियों का हथियार है । गरीबों की अफीम है । इसमें विश्वास पिछड़ी सभ्यता का परिचायक है । मायावी एवं काल्पनिक सुख देने वाले ऐसे धर्म की अवहेलना करना प्रगति का चिन्ह है ।''

कार्लमार्क्स के इन विचारों में धर्म की विकृतियों के प्रति आक्रोश स्पष्ट झलकता दिखाई देता है । इस कथन में धर्म के उस स्वरूप की अवमानना, निन्दा की गई है जो व्यक्ति एवं समाज को दिग्भ्रान्त करता हो, परावलम्बी बनाता एवं भ्रम-जंजालों में उलझाता हो, स्पष्ट है कि विकृतियाँ धर्म का स्वरूप नहीं अपवाद हैं, जिनकी निन्दा हुई और सदा होनी भी चाहिए । किन्तु भूल यह हुई कि इन अपवादों को ही धर्म का स्वरूप मान लिया गया तथा यह कहा गया कि धर्म मनुष्य के लिए अनुपयोगी है । किसी भी वस्तु को तब तक अनुपयोगी नहीं ठहराया जा सकता, जब तक कि उसके विषय में पूरी जानकारी न हो, तर्क, तथ्यों एवं प्रमाणों की कसौटी पर कस न लिया गया हो ।

धर्म का क्षेत्र उतना ही विस्तृत है जितना कि यह ब्रह्माण्ड । व्यक्ति, समाज की सामयिक आवश्यकताओं के अनुरूप समाज का नेतृत्व करने वाले मनीषी कर्त्तव्यों, नियमों की आचारसंहिता गढ़ते-बनाते हैं । नियमों, उपनियमों से बना यह स्वरूप समाज की सामयिक आवश्यकता की पूर्ति करता है । इस दृष्टि से इस स्वरूप की भी अपनी महत्ता है । किन्तु यह सर्वकालीन, सार्वभौम नहीं हो सकता । आवश्यकता पड़ने, परिस्थितियों के बदलने पर उसे परिवर्तित भी किया जा सकता है ।

समाज के कल्याण में लगे समाजसेवी, देश की सीमाओं पर डटे प्रहरी, समाज की साधन-सुविधा के अभिवर्धन के प्रयत्नों में निरत वैज्ञानिक भी धार्मिक ही कहे जायेंगे । भले ही इनका विश्वास किसी सम्प्रदाय, देवी-देवता में न हो । अपने कर्त्तव्यों के प्रति अटूट आस्था एवं तदनुरूप प्रयत्नशीलता उनके धार्मिक होने का परिचायक है । समाज को श्रेष्ठ चिन्तन देने वाले विचारक भावनाओं को उद्वेलित-विस्तृत करने वाले कवि, संगीतज्ञ, कलाकार क्या धार्मिक नहीं कहे जा सकते ?

पाश्चात्य जगत के प्रसिद्ध विचारक 'जॉन के अर्ड' अपनी पुस्तक 'एन इन्ट्रोडक्सन टू दि फिलॉसफी ऑफ रिलीजन' में लिखते हैं-''यह आवश्यक नहीं कि धर्म के सिद्धान्तों को रूढ़िवादी अर्थों में लिया जाय । क्योंकि कितने ही व्यक्ति ऐसे हो सकते हैं जो इसमें विश्वास न करते हों, किन्तु धर्म की जो विशेषताएँ एक धार्मिक व्यक्ति के अन्दर होनी चाहिए, वे उनके अन्दर विद्यमान होती हैं । उनकी विचारणा एवं क्रिया-कलापों में उच्चस्तरीय आदर्शों एवं सिद्धान्तों का समावेश होता है ।'' इस कथन में धर्म के व्यापक स्वरूप का ही प्रतिपादन है ।

धर्म की महत्ता एवं उपयोगिता आज के बुद्धिवादी युग में तभी स्वीकार की जा सकती है , जबकि उसके स्वस्थ स्वरूप, लक्ष्य एवं निहित तत्त्वदर्शन को जन-सामान्य के समक्ष रखा जाय । धर्म सम्प्रदाय के सिद्धान्तों में जब तक मतभेद बना रहेगा, तब तक वह अपनी गरिमा नहीं प्राप्त कर सकता ।

धर्म के तत्त्व-दर्शन में एकरूपता होना अनिवार्य है । अनुपयोगी, अविवेकपूर्ण सिद्धान्तों, मान्यताओं के प्रति दुराग्रह का मोह छोड़कर स्वस्थ रीति-नीति अपनानी होगी । सिद्धान्तों में सार्वभौमिकता होने से ही विचारशील वर्ग उसे स्वीकार कर सकेगा । ऐसी स्थिति में धर्मक्षेत्र में भी वैज्ञानिक अन्वेषण की ही विधि अपनानी होगी । वैज्ञानिक चाहे एशिया के हों अथवा यूरोप के उनकी मान्यताओं, नियमों में एकरूपता है । विचारों, सिद्धान्तों में समता है । परस्पर सहयोग की भावना भी इसी कारण है । जबकि हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, पारसी सभी के बीच परस्पर मतभेद हैं । विज्ञान की तरह धर्म के सिद्धान्तों में एकरूपता नहीं दिखाई पड़ती । परस्पर के मतभेदों के कारण ही आज का बुद्धिजीवी धर्म से दूर भागता, अवहेलना करता है तथा कहता है कि धर्म अपने सजातियों को नहीं जोड़ सका तो अन्यों को क्या दे सकेगा । यह लांछन अकारण नहीं है । मतभेदों पर विचार करने पर पता चलता है कि इसका प्रमुख कारण है, अपनी मान्यताओं के प्रति दुराग्रह-धर्म के कलेवर के प्रति अनावश्यक मोह ।

धर्म को प्रत्येक क्षेत्र में उपयोगी सिद्ध करने, कल्याणकारी बनाने के लिए उसके लक्ष्य, तत्त्वदर्शन एवं सृजनात्मक स्वरूप को जन-सामान्य के समक्ष रखना होगा । भ्रान्त धारणाओं को अलग कर स्वस्थ, पवित्र एवं परिष्कृत स्वरूप को प्रस्तुत करना होगा । उसके साथ विवेक का एक और पंख लगना होगा । विचारशीलता ने विज्ञान को सत्यान्वेषी बनाया है, फलतः अनुपयोगी, असत्य मान्यताओं के झाड़-झंखाड़ कटते चले गये । स्वस्थ तथ्यों को पौधों के समान भली-भाँति फलने-फूलने का अवसर मिला । वर्तमान वैज्ञानिक उपलब्धियाँ उन्हीं विवेकसम्मत विचारों की परिणति हैं ।

अहिंसा के नूतन आयाम

अहिंसा को धर्म-धारणा में प्रमुख स्थान दिया गया है । किसी प्राणी को कष्ट न पहुँचाना साधारणतया अहिंसा का प्रकट अर्थ समझा जाता है, पर बात इतने भर से नहीं बनती । अहिंसा शब्द निषेधात्मक है । उसका विधेयात्मक पक्ष प्रेम, दया, करुणा, सेवा, सहिष्णुता के रूप में उदित होता है । इस हेतु कुछ करना पड़ता है, करने से ही पुण्य बन पड़ता है । न करने पर भावना मात्र से एक कल्पना ही मन पर छायी रह जाती है । उसे यदि चरितार्थ होने का अवसर न मिले तो भाव-संवेदना में औचित्य का समावेश रहते हुए भी उसका कोई प्रत्यक्ष प्रतिफल प्रस्तुत न हो सकेगा ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

स्थूल अहिंसा का पालन तो पेड़, पर्वत भी करते हैं, वे किसी को कष्ट नहीं पहुँचाते । यह उनकी जड़ताजन्य विवशता है । ऐसी दशा में उन्हें अहिंसक होने का श्रेय नहीं मिल सकता । प्रकृति के सभी पदार्थ ऐसे हैं, जो अपनी जगह पर स्थिर रहते अपने निर्धारित चक्र पर भ्रमण भर करते रहते हैं । उनमें वह भावना नहीं रहती जो सचेतन में पाई जाती है । ऐसी दशा में वे जान-बूझकर हिंसा नहीं करते । उनसे टकराकर कोई अपना पैर तोड़ ले तो उनकी मर्जी ।

कृमि-कीटकों पर भी अहिंसा का आदेश लागू नहीं होता । उनमें से अधिकांश माँसाहारी प्रकृति के होते हैं । अपने से छोटों को मारते खाते रहते हैं । इनकी प्रकृति को नहीं बदला जा सकता और न उनमें यह भाव जगाया जा सकता है कि अपने लाभ के लिए दूसरों को हानि न पहुँचाएँ । लाभ-हानि तक का उन्हें विचार नहीं होता और न उन्हें यह सूझ पड़ता है कि उनकी किस क्रिया से किसी को क्या कष्ट होगा ? छिपकली, मकड़ी आदि घरेलू कीड़े अपने से छोटों को मारते खाते रहते हैं । बड़ी मछली भी छोटी को खाती देखी गई है । बिल्ली, व्याघ्र, मगरमच्छ, सर्प, बाज जैसे प्राणी भी माँसाहारी होते हैं । भूख लगने पर अपनी प्रकृति के अनुरूप वे शिकार पकड़ते, उदरस्थ करते रहते हैं । उन तक अहिंसा का संदेश पहुँचना या पहुँचाया जाना कठिन है ।

मनुष्य भावनाशील है, विवेकवान भी । उसे उचित-अनुचित का बोध आरम्भ से ही मिला है । सहकारी प्राणी होने के नाते उसके लिए नीति-नियम भी यही है कि दूसरों के साथ वैसा व्यवहार करे जैसा दूसरों से अपने लिए चाहता है । क्रिया की प्रतिक्रिया होती है । सज्जनता बरतने वाले बदले में वैसा ही व्यवहार अन्यों द्वारा अपने साथ होते देखते हैं । दुष्टता की प्रतिक्रिया भी आक्रोश-प्रतिशोध में होती है । इसलिए अपने को त्रास न सहना पड़े इसका एक ही सही तरीका है कि दूसरों के साथ दुर्व्यवहार न किया जाय, अन्यथा प्रतिक्रिया एक नहीं तो दूसरे तरीके से होगी और अपना किया कृत्य शब्दवेधी बाण की तरह उसी तरकस में लौट आयेगा, जहाँ से निकाल कर के उसे फेंका गया था । दूरदर्शी विवेकशीलता का यही तकाजा है कि दूसरों के साथ सद्व्यवहार करने में ही अपना लाभ समझा जाय और वैसा ही आचरण करने के लिए मानस बनाया जाय । अहिंसा इस दृष्टि से आत्मरक्षा की ढाल सिद्ध होती है । दूसरों के प्रति उदार रहकर प्रकारान्तर से अन्यों को अपने साथ सद्व्यवहार करने के लिए आमन्त्रित किया जाता है । हिंसा पर उतारू होकर उसकी प्रतिक्रिया से बचा नहीं जा सकता । जिसे सताया गया है, वह दुर्बल एवं प्रतिशोध में असमर्थ हो सकता है । किन्तु दूसरी शक्तियाँ तो संसार में मौजूद हैं, वे उस अनाचार का बदला लिए बिना नहीं छोड़ेंगी । इसलिए जिन्हें चैन से रहना अभीष्ट है, उन्हें दूसरों को भी चैन से रहने देना चाहिए ।

अहिंसा का सृजनात्मक पक्ष है-आत्मीयता । अपनों के साथ दया, करुणा का सद्भाव और ममता का व्यवहार ही बन पड़ता है । माता-पिता अपने बच्चों के प्रति अनवरत स्नेह लुटाते हैं और उनके साथ सेवा-सहायता का व्यवहार सहज स्वाभाविक करते रहते हैं । यह सब उनसे स्वाभाविक रूप से बन पड़ता है । एहसान जताने, पुण्य करने जैसा कोई भाव उनके मन में नहीं उठता । यही भावना संकीर्णता की परिधि से आगे निकलकर जब विराट के साथ सम्बन्ध जोड़ती है, तो सभी अपने बन जाते हैं । जो अपना है, वह स्नेह, सद्भाव, सहृदयता का पात्र बन ही जाता है । आत्मीयता का ही एक पक्ष दया और करुणा है । यह भी विकसित मानस में सहज स्वभाव चल पड़ता है । सहायता का बदला सहायता के रूप में मिलते देखकर, प्रेम का प्रत्युत्तर प्रेम में पाकर प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहता । इस प्रकार अहिंसा का प्रतिफल हाथों-हाथ मिलता है । यह नकद धर्म है, जिसके आधार पर "जिओ और जीने दो, बढ़ो और बढ़ने दो" का सिद्धान्त सहज ही चरितार्थ होता चला जाता है ।

अहिंसा में विक्षेप उचित कष्ट से नहीं होता । इसलिए अहिंसा में कष्ट नहीं औचित्य मुख्य है । डॉक्टर अस्पतालों में ढेरों रोगियों की शल्य क्रिया करता रहता है । कितनों को ही सुई चुभोता है । मोटी दृष्टि से यह हिंसा हुई पर वस्तुतः ऐसा है नहीं। उद्देश्य रोगी के प्रति दया भाव होने के कारण ऊँचा ही रहा । ऐसी दशा में तात्कालिक पीड़ा का कोई महत्त्व नहीं रहा । देखा यही गया है कि रोगी का हित किसमें है। हितकामना को देखते हुए कष्ट पहुँचाने की भी गुंजाइश है । न्यायाधीश अभियुक्त को फाँसी की सजा देता है। इससे समाज व्यवस्था का संरक्षण होता है। यदि उस अपराधी को क्षमा कर दिया होता तो खुलकर न जाने कितनों की हत्या करता, कितनी अव्यवस्था फैलाता । इस तथ्य को ध्यान में रखकर यदि न्यायाधीश ने मृत्युदण्ड दिया और अपराधी को कष्ट हुआ तो इसके लिए क्या किया जा सकता है । अहिंसा को रूढ़ि मानकर न्याय और विवेक को झुठलाया तो नहीं जा सकता ।

अहिंसा में विवेक को भी जुड़ा रखना पड़ता है । आत्मरक्षा के लिए हिंसा भी अपनाई जा सकती है । घर पर डाकू आक्रमण करें तो उनका सामना करना ही पड़ेगा, भले ही उनमें से कोई आक्रान्ता मारा ही क्यों न जाय ? घर में पलने वाले साँप-बिच्छुओं पर कब तक दया करते रहा जायगा । चूल्हे की आग जलाते समय, यात्रा में चलते समय, धूप में कपड़े सुखाते समय कुछ जीव मर सकते हैं । इनकी रक्षा किया जा सकना असम्भव है ।

हिंसा वहाँ से आरम्भ होती है, जहाँ दूसरों को पराया समझकर अपनी संकीर्ण स्वार्थ की सिद्धि के लिए अनीतिपूर्वक दूसरों को कष्ट पहुँचाया जाय, जिससे निर्दोषों को उत्पीड़न सहना पड़े जिसके साथ अनीति का आधार जुड़ा हुआ हो ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

हिंसा शारीरिक आघात तक सीमित नहीं है, उसका मानसिक आघात भी एक पक्ष है । अपमान, तिरस्कार, दुर्व्यवहार भी हिंसा का ही एक रूप है, जिससे मन को, सम्मान को आघात लगे उसे भी हिंसा ही कहा जायगा। किसी को गलत परामर्श देकर कुमार्ग पर चलने के लिए सहमत कर लेने से तत्काल न सही परिणाम सामने आने पर तो कष्ट उठाना ही पड़ता है । इस प्रकार का जिसने कुचक्र रचा, उसे भी हिंसक ही कहा जायगा ।

हिंसा का तात्पर्य है, अन्यायपूर्वक उत्पीड़न । मात्र शारीरिक या मानसिक कष्ट पहुँचाना हिंसा नहीं है । कुकर्मियों और कुमार्गगामियों को जब समझाने-बुझाने से सही राह पर लाना सम्भव नहीं रहता, जब दुरात्माओं का अहंकार, दुराग्रह और आतंक चिरसीमा तक पहुँच जाता है, तो वे दया-क्षमा को कर्त्ता की दुर्बलता मानते हैं और इस प्रकार के सौम्य व्यवहार को अपनी जीत मानकर अनीति पर और भी अधिक वेग के साथ उतरते हैं । ऐसी दशा में प्रताड़ना के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं रह जाता । शठता को शठता की भाषा समझ में आती है। उन्हें सुधारने के लिए जो विवेकपूर्ण हिंसा प्रयुक्त की जाती है उसे अहिंसा ही कहना चाहिए ।

धार्मिक सिद्धान्तों पर विश्वास क्यों करें ?

प्रत्येक छोटी-सी वस्तु के पृष्ठ भाग में एक वृहत् भण्डार है । बूँद के पीछे समुद्र, बीज के पीछे पेड़, पैसे के पीछे टकसाल । यदि एक बूँद के पीछे एक महासागर लहरा रहा है, बीज में एक विशाल वृक्ष हिलोरे ले रहा है, पैसे के पीछे खनखनाती हुई टकसाल है तो क्या हमारे 'ज्ञान' के पीछे कुछ नहीं ? जो दिव्य-ज्योति कभी-कभी अन्तःकरण में देदीप्यमान हो उठती है, क्या उसका सूर्य नहीं है ? जो महान् प्रेरणाएँ हृदय में उदित होती हैं, क्या उनका महान् भण्डार कोई नहीं है ? मनोजगत में जो अमृत का स्रोत प्रवाहित हो रहा है, क्या उसका अक्षय समुद्र कोई नहीं ? वास्तव में बात ऐसी नहीं है । ज्ञान की छोटी-सी किरण के पीछे भी एक विशाल कल्पतरु, असीम भण्डार, अक्षय समुद्र है । ज्ञान लावारिस, अनाथ नहीं है । बस, इसी को मैं ईश्वरीय ज्ञान कहता हूँ । प्रत्येक आत्मा एक नन्हीं-सी किरण है, जो निरन्तर इस ज्ञान-सूर्य की ओर संकेत किया करती है ।

आर्य संस्कृति का मूल आधार—

एक आत्मा ही सत्य है तथा जगत में जो नाना प्रकार की विभिन्नता है, वह उस एक ही विशाल आत्मा के अनेक कल्पित नाम एवं रूपों का बनाव है, अतः सबकी एकता सच्ची तथा अनेकता झूठी है, मिथ्या है ? यह हिन्दू धर्म की आधारशिला है । इसी के आधार पर जो देशकाल, परिस्थिति के अनुसार समय-समय पर मनुष्यों के पृथक्-पृथक् व्यवहारों की व्यवस्थाएँ होती हैं, वह आर्य संस्कृति के कर्मकाण्ड हैं । अनेकों में एक और एक में अनेक का सिद्धान्त आर्य संस्कृति की जीवात्मा है और इस मत के अनुसार कार्य में संलग्न होना उसका शरीर है । शरीर समय-समय पर बदलता रहता है, किन्तु जीवात्मा एक बनी रहती है ।

जिन लोगों की बुद्धि का विकास अधिक होता है, वे ही उक्त ज्ञान की ऊँची चोटी पर चढ़ने हैं । हम देखते हैं कि प्रत्येक युग में, शान्ति के आकांक्षी बुद्धिमान पुरुषों ने नाना प्रकार के मजहब चलाये । ये सब शान्ति प्राप्त करने और ईश्वरीय ज्योति को समझने के विविध रूप थे । अपने-अपने स्थान पर ये नाना प्रकार के मत, सम्प्रदाय, ग्रन्थ उपयुक्त थे और समयानुसार सभी की आवश्यकता भी थी । जिस देश में जिस जनता की जैसी योग्यता, मानसिक विकास या वृद्धि हुई उसमें वैसे ही धर्म चल पड़े और बुद्धि के विकास के साथ-साथ अनेक व्यवस्थाएँ बनती गईं किन्तु सबके भीतर 'एक आत्मा ही सत्य है' की ही निरन्तर ध्वनि आती रही । ये व्यवस्थाएँ, विभिन्न मत बनते रहे । आदिकाल से इस प्रकार उस ज्ञान सूर्य को समझने वाला मनुष्य मूर्ख नहीं था । उसे धर्म की छाया में चिर अभिलाषित शान्ति मिली, बुद्धि को एक आश्रय प्राप्त हुआ, मन के पुर्जों में तेल लगा । मध्यकाल में तो इन धर्मों की संख्या काफी बढ़ गई किन्तु क्रमशः बुद्धि के विकास से मनुष्य फिर धर्म के प्राण ईश्वर की एकता पर एकत्रित होने लगे । शिक्षा प्रचार से आजकल के व्यक्ति सम्प्रदायों के बन्धन में नहीं बँधना चाहते । वे तो आर्य संस्कृति के सच्चे स्वरूप से ही परिचित होना चाहते हैं ।

दर्शनशास्त्र, नाना पंथ, मजहब, धर्म आदि झूठ नहीं हैं । उनमें एक महान् सन्देश छिपा है । यह सन्देश सत्यं शिवं सुन्दरं का सन्देशवाहक है । ये सभी शास्त्र एकता के सिद्धान्त के पोषक हैं । मनोविज्ञान इसे वीर की पूजा (Hero-worship) के अन्तर्गत लेता है । वह कहता है कि प्रारम्भिक काल से हो व्यक्ति एक अज्ञात शक्ति से भयभीत होते रहे, उसकी पूजा-पाठ में निरत रहे, बलिदान देते रहे और शान्ति प्राप्ति करते रहे । धर्म इसी पूजा का प्रक्षालित स्वरूप है । श्री गीताजी भी किसी दर्शन का तिरस्कार नहीं करती क्योंकि जहाँ एकता का प्रतिपादन है, वहाँ कोई अलग नहीं रह जाता । चार्वाक, जैन, बौद्ध, मीमांसा, न्याय, वैशेषिक, योग, सांख्य आदि सभी दर्शन मनुष्यों को अज्ञान की दलदल से निकाल कर एकता की ओर लाने में सहायक हैं ।

अविचार के दलदल से निकलिए

नास्तिकता जीवन का दिवाला निकाल देती है । नास्तिक उस अन्धे की तरह है, जो बिना लकड़ी लिए संसार के चारों ओर भटक रहा हो और व्यर्थ में शान्ति का उपक्रम कर रहा हो । जिसका अन्तःकरण मल-विक्षेप और अन्धकार के आवरण से आच्छादित रहता है, वह

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

कुतर्क के जंजाल में पड़कर आवागमन के मोहक-चक्र में घूमता रहता है । नाना प्रकार के दु:ख, विकार और भ्रम उसे विक्षुब्ध किए रहते हैं । अन्तत: वह पाप योनि को प्राप्त होता है ।

अत: अज्ञान निद्रा से चेत जाइये । आपके जीवन का चरम लक्ष्य अत्यधिक आनन्द की प्राप्ति है और अत्यधिक आनन्द का स्रोत केवल धर्म ही है । धर्म की शान्ति अक्षय शान्ति है । सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्मा की छाया ही निरन्तर रहने वाली छाया है । धर्म के मार्ग का अनुसरण कीजिए, इस लोक और परलोक में कल्याण करने वाली महापुरुषों द्वारा दी हुई आत्म-विद्या में निमज्जन कीजिए । परमात्मा के तत्त्व को यथार्थ रूप से जानने वाला पुरुष ही यथार्थ मानव है । आइये, हम यथार्थ मानव बनें ।

धर्म का तिरस्कार मत करो

नवीन सभ्यता की पुकार है कि "धर्म अफीम की गोली है ।" इसका परिणाम यह होता है कि लोग कल्पना जगत में विचरण करने लगते हैं और स्वर्ग-मुक्ति या ऐसे ही किसी अन्य ख्याली पुलाव के मजे चखते रहते हैं । कठोर कर्त्तव्य से बचने के लिए लोग वैराग्य का आसरा पकड़ते हैं और अकर्मण्यता के फलस्वरूप जो कष्ट मिलने चाहिए, उनको आसानी से सहने के लिए धर्म की गोली का नशा कर लेते हैं । जिन्हें अवसर मिलता है, वे धर्म के नाम पर बुरे-बुरे कर्म करने में नहीं चूकते । जिन्हें अवसर नहीं मिलता, वे मन को समझाने के लिए धर्म का आवरण ओढ़ते हैं । इस प्रकार धर्म वास्तव में आलसी और बदमाशों का ही पेशा रह जाता है ।"

इस कडुए सत्य को सुनने में हमारे कान दु:खते हैं । धर्म की निन्दा करना नास्तिकता है, पर जब नास्तिकता में सच्चाई प्रतीत हो, तो उसकी ओर से आँखें बन्द नहीं की जा सकतीं । आज हमें धर्म के दो ही स्वरूप देखने को मिलते हैं, आलस्य या बदमाशी । हजारों-लाखों भिखमंगे पीले कपड़ों को लज्जित करते हुए कुत्तों की तरह रोटी के टुकड़े माँगते फिरते हैं । जिस प्रकार अपाहिज या अशक्त प्राणी अपनी प्राण रक्षा के लिए समर्थों से दया की याचना करते हैं, वैसे ही यह लोग अपने पेट को दिखाते हुए दाँत रिरियाकर भक्ष-अभक्ष की याचना करते हुए दिन भर दौड़ते रहते हैं । दूसरे वे लोग हैं जिनके हाथ में कुछ सत्ता आ गई है । किसी समाज में उन्हें आदर प्राप्त हो गया है, धर्मगुरु, पण्डे, पुरोहित, पुजारी, महन्त या सन्त का स्थान प्राप्त हो गया है, उनके कार्य उन भिखमंगों से अधिक भयंकर होते हैं । चेले-चेलियों का धनहरण करने के साथ उनकी बुद्धि का भी यह हनन करते हैं । अपनी ही तरह आलस्य, प्रमाद या ख्याली दुनिया में उलझाकर उन्हें निकम्मा बना देते हैं । साथ ही धर्म की पवित्र वेदियों की आड़ में मुद्रा मैथुन की नग्न उपासना होती रहती है ।

लोग धर्म की प्रशंसा तो करते हैं, पर उससे बिच्छू की तरह बचते हैं । साधारण श्रेणी का गृहस्थ यह कदापि पसन्द नहीं करेगा कि उसके लड़के-लड़की किसी साधु या पुरोहित के संसर्ग में आवें, क्योंकि वह जानता है कि इसका निश्चित परिणाम होगा बरबादी । धर्म के महाप्रसाद के रूप में किसी को दो ही वस्तुएँ मिल सकती हैं, अकर्मण्यता या दंभ । यह दोनों गुण एक समाज जीवी व्यक्ति पसन्द नहीं कर सकता, क्योंकि इनके सहारे वह किसी प्रकार सन्तोषजनक उन्नति नहीं कर सकता और न औसत दर्जे का जीवन ही बिता सकता है ।

तब क्या धर्म सचमुच ही 'अफीम की गोली है ?' विचारपूर्वक अन्वेषण से पता चलता है कि वह वस्तु धर्म नहीं हो सकती, जिसकी बेल पर ऐसे विषैले फल आते हों । धर्म का उद्देश्य मनुष्य को सर्वतोमुखी उन्नति के मार्ग पर अग्रसर करके अन्तत: चरम लक्ष्य, शाश्वत् सुख, परमानन्द की प्राप्ति करा देना है । धार्मिक व्यक्ति का शरीर और मन स्वस्थ रहना चाहिए, उसके मुख और वाणी में से अमृत का झरना बहना चाहिए, जिसको पान करने से तृप्त प्राणियों को शीतलता का भान हो । धार्मिक व्यक्ति ऐसा प्रकाश-स्तम्भ होना चाहिए, जिसकी पुण्यरश्मियों से प्रकाश का आविर्भाव हो और उस प्रकाश की प्रेरणा में प्राणिमात्र को सुख का मार्ग प्राप्त हो ।

इन लक्षणों से तुलना करने पर आज का धर्म कसौटी पर पूरा नहीं उतरता । इससे प्रतीत होता है कि यह वस्तु धर्म नहीं है । करोड़ों कंठों से सूर्य को 'कौआ' सिद्ध किया जाय तो भी सूर्य की वास्तविकता में कुछ अन्तर न आवेगा, किन्तु धर्म की स्थिति आज ऐसी नहीं है । नवीन सभ्यता के आक्षेप चाहें अयुक्तिपूर्ण हों, दुर्बुद्धि के कारण कहे गये हों तो भी उन्हें असत्य नहीं कहा जा सकता । क्योंकि इन आक्षेपों की जीती-जागती और चलती-फिरती प्रतिमाएँ हम लाखों की तादाद में आँखों के सामने घूमती-फिरती देखते हैं । इनमें धर्म या आध्यात्मिकता का एक भी गुण दिखाई नहीं पड़ता, इन धर्म-ध्वजियों की अपेक्षा एक सैनिक आत्मा की अमरता के बारे में अधिक जानता है । वह गीता को नहीं रटता पर गरजती हुई तोपों के बीच निर्भय होकर घूमता है । वह वैराग्य की आड़ में व्यभिचार के अड्डे कायम नहीं करता, वरन् अपने प्रिय परिवार, प्राणप्रिया स्त्री और प्यारे बालकों का मोह छोड़कर समरांगण में मृत्यु के साथ अठखेलियाँ करने के लिए हँसता हुआ जाता है, देश की पुकार पर एक गृहस्थ कर्मवीर अपना सर्वस्व निछावर कर देता है, किन्तु एक धर्मजीवी अपने पर तनिक भी आँच न आने देने के लिए दर्शनशास्त्र के पन्नों की आड़ में छिपता है। संसार के असंख्य गृही नवयुवक देश के उद्धार के लिए अपनी जान पर खेले हैं, पर भारत के कितने गँजेड़ी, भिखमंगे जो धर्म के नाम पर पलते हैं-धर्म के लिये कष्ट सहने को आगे आये?

इन कसौटियों पर कसने से पता चलता है कि हम धर्म के नाम पर 'अज्ञान' की पूजा करने लगे हैं और अज्ञान को धर्म समझने लगे हैं । शिकारियों से बचने के लिए जिस

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

प्रकार शुतरमुर्ग बालू में अपना मुँह गाढ़ देता है और कुछ क्षण के लिए अपने को सुखी पाता है, उसी प्रकार कर्त्तव्य की अवहेलना करने वाले बेशक धर्म को अफीम की गोली के रूप में सेवन करते हैं, परन्तु ये आक्षेप करने वालो! यह वस्तु धर्म नहीं है, इसका नाम है, अज्ञान । गौ के स्थान पर गधा आ बैठे और उसकी तुम पूर्ण सुश्रूषा करके भी जब दूध न पा सको तो गौ को गालियाँ मत दो । आँख खोलकर देखो कि उसके स्थान पर और कोई तो नहीं आ बैठा है । धर्म के सिंह की खाल ओढ़कर आज अज्ञान का शृंगाल घूम रहा है । आँख खोलकर सत्य-असत्य की पहचान करो, सिंह को अकर्मण्य मत बताओ।

धर्म आत्मा का दिव्य गुण है । वह जिस पुण्य पुरुष के अन्तःकरण में प्रवेश करता है, उसे प्रकाश का पुंज बना देता है । वह भिखमंगा नहीं वरन् दानी होता है । विश्व उसके ऋण से ही दबा होता है, भला उसका बदला चुकाने की सामर्थ्य किसमें होगी ? उसके निकट जाने पर कोई बर्बाद नहीं होता, वरन् अपने कार्य के योग्य उचित शक्ति प्राप्त करता है । प्राचीन समय में राजकुमारों की शिक्षा ऋषियों के आश्रमों में होती थी । इससे वे लड़के न तो अकर्मण्य बन जाते थे और न गाँजा पीना सीख आते थे । सच्चा धार्मिक, जान बचाने के लिए धर्म पुस्तकों की आड़ नहीं ढूँढ़ता वरन् वह दूसरों के लिए दधीच की तरह अपनी हड्डियाँ दे देता है और नारद की तरह दिन-रात धर्म प्रचार की रट लगाता हुआ घूमता है । व्यास की तरह अपनी आयु सद्ग्रन्थों की रचना में लगा देता है । द्रोणाचार्य की तरह शास्त्र-विद्या का प्रचार करता है । पाणिनि की तरह व्याकरण बनाता है । परशुराम की तरह दुष्टों को दण्ड देता है और बुद्ध की तरह प्रेम-धर्म का उपदेश देता है । वह समय और देश की आवश्यकताओं की ओर देखता है और अपनी शक्तियों को उसी में लगा देता है ।

धार्मिक पुरुष अन्यायपूर्वक धन नहीं कमावेगा, आधा पेट रोटी खाकर भी रहेगा, किन्तु अधर्म के धन की इच्छा न करेगा । वह आलसी और प्रमादी भी नहीं होगा । समय का सदुपयोग करके अपनी शारीरिक, मानसिक और आर्थिक दशा सुधारेगा । वैराग्य का आसरा लेकर परिवार के प्रति अपने कर्त्तव्य पालन से बचना नहीं चाहेगा, वरन् उन्हें ईश्वर की पूजनीय प्रतिमा समझकर ठीक प्रकार अपने धर्म का पालन करेगा । उसे आलस्य में पड़े-पड़े स्वर्ग के स्वप्न देखने पसन्द नहीं होते, वरन् अपना एक कर्त्तव्य पूरा करके, एक मोर्चा फतह करने वाले सेनापति की तरह सच्ची प्रसन्नता प्राप्त होती है । अकर्मण्यता और धर्म एक साथ नहीं रह सकते । कर्त्तव्यशील ही धार्मिक है और ऐसा धार्मिक पुरुष कदापि दीन-दरिद्र नहीं बन सकता ।

धर्म का अर्थ है, कर्त्तव्य । धार्मिक पुरुष चाहे गृहस्थ हो चाहे संन्यासी, दूसरों की भलाई के लिए कर्त्तव्य धर्म समझ काम करता रहता है । ऐसे कर्त्तव्य धर्म को जो स्वीकार कर लेता है, उसे न ही कठिनाइयाँ प्रतीत होती हैं और न दुःख-शोक आते हैं । धर्म का निश्चित परिणाम सुख है । धार्मिक व्यक्ति के हृदय में अभाव की दावानल नहीं जलेगी, उसकी जटाओं में से निर्मल गंगाजल की धारा बहती रहेगी । धर्म सूर्य है । कोई सभ्यता उसका उपहास करके तिरस्कृत नहीं कर सकती । अज्ञान तिरस्करणीय है, धर्म नहीं । आलोचको ! अज्ञान का तिरस्कार करो, धर्म का नहीं ।

धर्म की उपेक्षा, अवमानना क्यों ?

धर्म किसी जमाने में लोक और परलोक की सुख-शान्ति का सुनिश्चित अवलम्बन था । तब कहा जाता था कि जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है । जो धर्म को व्याघात पंहुचाता है, वह जड़-मूल से नष्ट कर देता है । तब संसार की सबसे बड़ी शक्ति थी । धर्म को अपनाने वाले 'धर्मात्मा' देवात्मा समझे और पूजनीय तथा सराहनीय माने जाते थे ।

पर अब कुछ विलक्षण परिवर्तन हुआ है । धर्म को अफीम की गोली कहा जाता है और उस मान्यता को अपनाने वाले कट्टरपंथी, दुराग्रही और पाखण्डी, झगड़ालू माने जाते हैं । उसकी उपेक्षा भी होती है और अवज्ञा भी । नई फैशन के बाबू लोग ही विचारशील विज्ञजन भी प्रायः मिलते-जुलते विचार रखने लगे हैं ।

विचारणीय है कि ऐसा परिवर्तन कैसे हुआ ? जिसे इतना ऊँचा पद प्राप्त था, वह इतनी नीची स्थिति में क्यों आ गया । अपनी चिर-संचित गौरव-गरिमा किस कारण गँवा बैठा ?

धर्म का तात्त्विक स्वरूप है-कर्त्तव्य पालन । धर्म और कर्म दोनों एक ही स्तर के, समानार्थ बोधक हैं । कर्म का अर्थ यहाँ श्रम नहीं वरन् कर्त्तव्य है । कर्त्तव्य अर्थात् नीति और व्यवस्था का परिपालन । नीति अन्तरंग और व्यवस्था बहिरंग रीति-नीति को सुनियोजित रखती है । धर्म के दस लक्षण गिनाये गये हैं । वे दोनों मानवी गरिमा को उच्चस्तरीय बनाये रहने के अनुबन्ध, अनुशासन हैं । उन्हें पालन करने वाले चरित्रवान् आदर्शवादी बनकर रहते हैं । ऐसा व्यक्ति अपने लिए श्रेय सम्पादित करता है और दूसरों के लिए सुख-शान्ति का, प्रगति और समृद्धि का पथ-प्रशस्त करता है । शास्त्रकार का यही कथन है कि धर्म का अनुगमन करने से आत्मिक निश्रेयस और लौकिक अभ्युदय की उपलब्धि होती है । धारण करने की प्रक्रिया को धर्म कहा गया है । व्यक्तित्व में उत्कृष्टता का अवधारण और गतिविधियों में सेवाभावी धर्म-धारणा का समावेश । धर्म की जिस कारण प्रशंसा होती रही है और पालन करने वालों को जिस तरह सराहा जाता रहा है, वह यही अनुबन्ध है । जो मनुष्य को मर्यादा पालन के लिए बाधित करते हैं और पुण्य-परमार्थ की दिशा में धकेलते, उत्साहित करते हैं । उद्देश्य और स्वरूप को देखते

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

हुए अनादि काल में धर्म मान्यता को सराहा जाता रहा है, वह अकारण नहीं है । उसके पीछे कारण और तथ्यों का समावेश है । जिस अवलम्बन से मनुष्य चरित्रवान् और परमार्थी बनता हो, जिसके प्रचलन से समाज व्यवस्था सुनियोजित बनती हो उसकी उपयोगिता को देखते हुए सराहना होनी ही चाहिए और जो उसका परिपालन करते हैं, वे अभिनन्दनीय, अनुकरणीय माने ही जाने चाहिए ।

फिर उस सनातन प्रवाह में ऐसा व्यतिरेक कैसे हुआ कि उसे मूढ़ता, कट्टरता और विग्रह का निमित्त कारण माना जाय और उस क्षेत्र की अवज्ञा होने लगे ? हुआ यह कि सम्प्रदायों ने अपने नाम के साथ धर्म शब्द जोड़ना शुरू किया और लोगों की यह मान्यता बनी कि सम्प्रदाय ही धर्म है । उनकी खामियों को देखते हुए विचारशील लोगों ने उपेक्षा एवं अवमानना करना आरम्भ कर दिया तो इसे अनुचित नहीं कहा जाता । निन्दा-प्रशंसा, गुण-दोषों के साथ ही जुड़ी रहती है ।

धर्म एक है । वह सार्वभौम और सर्वजनीन है । नीति और सदाचार के नियम सर्वत्र एक ही हैं, किन्तु सम्प्रदायों के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है । प्रथा-प्रचलन क्षेत्रीय और सामयिक परिस्थितियों पर अवलम्बित रहते हैं और वे समय पर बदलते रहते हैं । असामयिक हो जाने पर दूरदर्शी स्वयं ही आगे बढ़कर उनमें सुधार-परिवर्तन कर देते हैं । वे ढील या देर करते हैं, तो जनमत उनके विरुद्ध हो जाता है , तब विवश होकर उसे बदलना पड़ता है । नदी प्रवाह की तरह साम्प्रदायिक अनुबन्धों का समय के अनुरूप परिवर्तन आवश्यक है, पर कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो उन्हें पत्थर की लकीर मान बैठते हैं और समय बदल जाने पर भी प्रचलनों में, विकृतियों में घुस पड़ने पर भी उन्हें बदलना नहीं चाहते । कट्टरता यहीं से उत्पन्न होती है और वही विग्रह का कारण बनती है । तब बात और भी बिगड़ती है, जब लोग अपनी मान्यता को दूसरों पर लादते हैं और जो सहमत नहीं होते, उन्हें अधर्मी ठहराकर पीड़ित-प्रताड़ित करते हैं । इस उत्साह में वे नृशंसता की सीमा पार कर जाते हैं । इन घटनाओं पर दृष्टिपात करके लोग अनुमान लगाते हैं कि यह सब धर्म के कारण होता है, जबकि वास्तविकता यह है कि धर्म केवल प्रेम और सहयोग, सौजन्य सिखाता है । घृणा, द्वेष और दबाव तो साम्प्रदायिक कट्टरता का प्रतिफल है । वही जब उग्र हो उठती है तो न केवल सम्बन्धित सम्प्रदायों का वरन् जिसकी छाया में वह पलती उस धर्म धारणा को भी बदनाम करती है ।

बहुपति प्रथा, बहुपत्नी प्रथा आपत्ति धर्म है । किन्हीं क्षेत्रों में किसी समय कोई प्रचलन अपनाया होगा, पर उसे सामयिक सूझ-बूझ कहा जा सकता है, पर वह अपवाद सर्वकालीन नहीं बन सकते । पति-पत्नी का युग्म ही शाश्वत् और सुविधाजनक है, विवेक की कसौटी पर वही खरा उतरता है । जब आपत्तिकालीन परिस्थितियाँ बदल जाएँ तो उन निर्धारणों को भी बदल देना चाहिए । उन प्रचलनों को पत्थर की लकीर मानकर नहीं बैठ जाना चाहिए ।

हिन्दू धर्म में बाल-विवाह, सती-प्रथा, छुआछूत, देवताओं के आगे पशुबलि, मृतकभोज, भिक्षा-व्यवसाय आदि अनेकों कुरीतियाँ प्रचलित हैं । यह साम्प्रदायिक दोष हैं । कभी किन्हीं कारणों से इनका औचित्य रहा होगा । अन्यथा बिना औचित्य के भी बड़ों के प्रभाव या दबाव से वैसी प्रथाएँ चल पड़ी होंगी । वह समय चला जाने पर विज्ञजनों का अथवा लोकमत का कर्त्तव्य है, जो अनुचित अवांछनीय लगे उसे बदल दें । उन कुरीतियों के लिए धर्म पर लांछन न लगायें । क्योंकि धर्म की सीमा तो सदाचार सहयोग तक, उत्कृष्टता आदर्शवादिता तक सीमित है । प्रथाएँ यों सम्प्रदायों की छाया में पलती और बदलती रहती हैं, कठिनाई यह अड़ गई कि लोग धर्म और सम्प्रदायों का अन्तर करना भूल गये और सामयिक साम्प्रदायिक प्रचलनों के लिए धर्म को दोषी ठहराने लगे । धर्म शाश्वत् है । जबकि साम्प्रदायिक प्रचलनों में समय के अनुरूप सुधार-परिवर्तन होते रहना आवश्यक है ।

अपने सम्प्रदाय में दीक्षित होने के लिए विचार स्वातन्त्र्य के अनुसार तर्क और कारण उपस्थित किये जा सकते हैं, पर सहमत न होने वालों को म्लेच्छ या काफिर कहकर अपमानित नहीं किया जा सकता और न प्रलोभन देने, प्रताड़ित करने की सीमा तक बढ़कर असहिष्णुता का परिचय दिया जा सकता है ।

मध्यकाल में मध्यपूर्व और योरोप के देशों में इस प्रकार का रक्तपात बहुत हुआ है, जिसमें सम्प्रदाय बदलने के लिए विवश किया गया और दबाव न मानने वालों का सिर कलम कर दिया गया । उस असहिष्णुता का आक्रामक नृशंस स्वरूप भारतवासियों को भी इन दिनों बहुत देखना पड़ा जिन दिनों मध्यपूर्व के लुटेरे बार-बार आक्रमण करने और हुकूमत जमाने लगे थे । धर्म के नाम पर कत्लेआम की नृशंसता ने लोक-मानस ऐसा बनाया जिसमें यह माना गया कि धर्म कट्टरता, असहिष्णुता और नृशंसता का प्रतिनिधित्व करते हैं । वह अनीति जिन लोगों ने, जिन सम्प्रदायों ने, जिस सीमा तक अपनाई थी, आक्रोश उसी सीमा तक उतने ही समय तक रहना चाहिए था, किन्तु हुआ यह कि सम्प्रदाय और धर्म का अन्तर भुला देने के अतिरिक्त अपने धर्म पंथ में दीक्षित करने के लिए जो दबाव डाले गये, उसके लिए धर्म को दोषी ठहरा दिया गया, जबकि धर्म और सम्प्रदाय में जमीन-आसमान जितना भेद है । लोग भ्रमवश ही दोनों को एक मान बैठते हैं और एक का दोष दूसरे पर मढ़ते हैं ।

इस सम्बन्ध में डा० सनयातसेन एवं चांग काईशेक के जमाने का चीन विवेकपूर्ण प्रचलन का उदाहरण बन गया था । उन दिनों वहाँ बौद्ध, ईसाई, इस्लाम और ताओ धर्म सम्प्रदायों का प्रचलन था । इनमें से जिन्हें जो पसन्द आता था, अपना लेता था । स्त्री ईसाई, पति मुसलमान, बेटा

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

बौद्ध, बेटी ताओ मान्यताओं को अपना सकते थे और अपने-अपने विश्वासों या तर्कों के आधार पर जो अच्छा लगता था उसे पालते थे । कोई किसी पर अनावश्यक दबाव नहीं डालता था । किसी को कोई मान्यता बदलनी होती थी तो वह वैसा ही स्वेच्छापूर्वक कर लेता था । इस प्रकार वहाँ धर्म एक प्रकार से दार्शनिक आवश्यकता पूरी करते थे । कोई पंथ या वर्ग खड़ा नहीं करते थे । यह पद्धति उपयोगी थी । अब तो उस देश में कम्युनिज्म का बोलबाला है, तो भी कोई व्यक्ति किसी सम्प्रदाय की मान्यताएँ, विचारणाएँ अपनायें तो उस पर कोई रोक नहीं है ।

भारत में देवमान्यता के नाम पर कभी शैव, शाक्त, वैष्णव आदि सम्प्रदाय थे, पर अब उस सन्दर्भ में वैसी कट्टरता नहीं रही । परिवार के लोग अलग-अलग देवी-देवता पूज सकते हैं । इसमें कोई किसी से बुरा नहीं मानता । अग्रवाल वैश्यों में जैन भी होते हैं और वैष्णव भी, दोनों के बीच ब्याह-शादियाँ भी होती हैं । कोई किसी की मान्यता में हस्तक्षेप नहीं करता । सम्प्रदायों सम्बन्धी मान्यताओं का भी यही दार्शनिक स्वरूप उपयुक्त है, पर जब भिन्न मत वालों को म्लेच्छ-काफिर कहा जाने लगा और अपने समूह में सम्मिलित करने के लिए रक्तपात तक किया जाने लगा, तो लोगों ने अनुमान लगाया कि ऐसे कृत्य करने वाले, कराने वाले धर्म नहीं हो सकते । उनके रहने से संसार में अशान्ति ही बढ़ेगी । कभी इस चपेट में योरोप, मध्यपूर्व और भारत के अतिरिक्त ऐशिया के कितने ही क्षेत्र बुरी तरह चपेट में आ गये और बुरी तरह नृशंसता के शिकार हुए । धर्मों के प्रति घृणा भाव उसी समय में लोगों के मनों में जमा हुआ है और उस पुराने इतिहास का स्मरण करके अभी भी लोग सोचते हैं कि धर्म अविवेकियों की कट्टरता भर है । इसलिए उसकी उपेक्षा या अवमानना ही होनी उचित है । वह भूल अभी भी बराबर बनी हुई है जिसमें सम्प्रदायों और धर्म दोनों को एक मान लिया जाता है । इस भूल ने ही सारा गुड़-गोबर किया है । मिला देने से न गुड़ खाने योग्य रहा और न गोबर लीपने योग्य ।

धर्म सम्प्रदायों के विरुद्ध तीन आक्षेप लगते हैं- (१) उन्होंने एक मनुष्य जाति को अनेक खण्डों में बुरी तरह विभाजित कर दिया । (२) दूसरे धर्म वालों को अपने में सम्मिलित करने लिए प्रलोभनों और नृशंसता भरे दबाव डाले । (३) जो प्रचलन किसी समय विशेष के लिए किन्हीं बिशेष कारणों से उचित समझे गये थे, अब वैसी परिस्थिति न रहने पर भी सुधार-परिवर्तन में आनाकानी की जाती है और कट्टरता, हठधर्मी बरती जाती है । यह तीनों ही आक्षेप सही हैं । इनके रहते यदि मानस में इस सन्दर्भ में उपेक्षा और अवमानना उभरी है, तो उसे अनुचित नहीं कहा जा सकता । आवश्यकता इस बात की है कि सम्प्रदायों से जो भूल होती रही है उसका परिमार्जन किया जाय । यह हो सका तो धर्म को प्रतिगामिता का प्रतीक मानना भी रुक जायगा और लोग उसकी पूर्वकाल जैसी आवश्यकता अनुभव करेंगे तथा वैसी ही प्रतिष्ठा प्रदान करेंगे ।

धर्म का तत्त्व-दर्शन हर दृष्टि से श्रेयस्कर

पिछले दिनों धर्म-सम्प्रदायों द्वारा जो भूल होती रही है और सामयिक सुधारों के प्रति अनिच्छा है, उसने विचारशील समुदाय को धर्म-विरोधी बना दिया है । उस मान्यता के पक्षधर थोड़े रह गये हैं और जो हैं उनकी संख्या भी निरन्तर घटती जा रही है । औचित्य और विवेक की कसौटी ऐसी है, जिस पर खोटे सिद्ध होने वाले प्रचलन इस बुद्धिवादी युग में देर तक टिक न सकेंगे । यह बात धर्म-सम्प्रदायों पर ही समान रूप से लागू होती है ।

यदि साम्प्रदायिक प्रचलनों में सुधार कर लिया जाय, उन्हें समय की आवश्यकता के अनुरूप ढाल लिया जाय तो इन दिनों बढ़ती हुई अवज्ञा और अवमानना देर तक न टिकेगी और धर्म मानव-जीवन का प्राण एवं समाज सुव्यवस्था का मेरुदण्ड माना जाने लगेगा । तथ्य सिर पर चढ़कर बोलते हैं और यथार्थता अपना स्थान स्वयं बना लेती है ।

धर्म अर्थात् कर्त्तव्य पालन के लिए की गई मानव चिन्तन की घेराबन्दी । शालीनता अपनाने के लिए विवशता उत्पन्न करने वाली आस्था । मानवीय गरिमा का पक्षधर दर्शन ही धर्म है । उसे हटा दें तो फिर मनुष्य के पास ऐसा कोई मजबूत आधार नहीं रह जाता, जिसमें अचिन्त्य चिन्तन और आकृत्य करने से मजबूत रोकथाम की जा सके ।

विशुद्ध धर्म को आध्यात्मिक तत्त्व-ज्ञान कहना चाहिए । उसके अन्तर्गत कई उपयोगी मान्यताओं का समावेश है । ईश्वर का अस्तित्व इसी के अन्तर्गत आता है । सर्वव्यापी और न्यायकारी परमेश्वर को अपने इर्द-गिर्द अनुभव करने वाला यह सोचता है कि छिपकर भी कुकर्म नहीं किये जा सकते । उसकी कर्मफल व्यवस्था के अन्तर्गत हर हालत में अनीति का कष्टकारक प्रतिफल भोगना पड़ता है । ईश्वर की प्रसन्नता और अनुकम्पा का एक ही उपाय है, चिन्तन और चरित्र की उत्कृष्टता, पुण्य और परमार्थ में संलग्नता । इस आधार पर किये गये सत्कर्मों का वह प्रतिफल प्राप्त होता है, जिससे लोक और परलोक दोनों ही सुख-शान्तिमय बन सकें ।

धर्म की अवहेलना और ईश्वर को न मानना एक ही बात है । इस मनोभूमि में कर्त्तव्यों का पालन आस्थापूर्वक नहीं बन पड़ता । कोई नियामक ही नहीं है, तो कर्त्तव्य पालन इच्छा का विषय रह जाता है । इसकी कोई अनिवार्यता नहीं रहती । बहुत जनों का बहुत सुख-समाज, कल्याण-वैयक्तिक प्रतिष्ठा यह तीनों ही बातें ऐसी हैं जिसमें असत्य-भाषण और अनीति आचरण की पूरी गुंजायश है । राजनीति के क्षेत्र में कूटनीति बरतते हैं ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

उनमें देश-भक्ति के नाम पर छल-छद्म बरतने की पूरी गुंजायश रहती है । गुप्तचर अपने को निरन्तर छिपाते रहते हैं और दूसरे के भेद लेने के लिए वार्त्तालाप में पर्याप्त लाग-लपेट बरतते हैं । सेना के किसी प्रामाणिक सदस्य से अगला कार्यक्रम पूछना चाहें तो वह सदा कुछ का कुछ बतायेगा । लोकव्यवहार, व्यापार आदि में भी असत्य का आश्रय लोग धड़ल्ले से लेते हैं । सरकारी दण्ड विधान से बच निकलने के लिए लोगों ने कानूनी और गैरकानूनी हज़ार तरकीबें ढूँढ़ निकाली हैं, इतनी बहानेबाजियों के रहते, मात्र नागरिक कर्त्तव्य के नाम' पर मनुष्य को नीतिपरायण बनाये रहना अति कठिन है । ईश्वर विश्वास और धर्म के प्रति प्रगाढ़ आस्था ही वह अवलम्बन है, जिसे अपनाने के बाद बहानेबाजी के सारे रास्ते बन्द हो जाते हैं और मनुष्य घाटे पर घाटा उठाते हुए भी सत्यनिष्ठा पर डटा रह सकता है । यदि आधार को उखाड़ दिया जाय तो बहानेबाजी में प्रवीण व्यक्ति अनुचित को उचित सिद्ध करने और अकर्म को कर गुजरने में हिचकिचायेगा नहीं । यह बाँध टूटा तो पानी किसी भी रास्ते कितना ही बिगाड़ करते हुए कहीं भी बह सकता. है ।

स्वर्ग-नरक, पुनर्जन्म, देर-सबेर में कर्मफल की अनिवार्यता और सुनिश्चितता की भावना अन्तःकरण में जमाते हैं और उन रस्सियों से बँधने के उपरान्त मनुष्य औचित्य से डगमगाता नहीं अन्यथा अनास्था अपना लेने के उपरान्त न स्वर्ग का प्रलोभन सामने रहता है और न नरक का भय । किये हुए दुष्कर्मों का प्रतिफल यदि हाथों-हाथ नहीं मिला तो यह सोचा जा सकता है कि कभी भी नहीं मिलेगा । इस आधार पर अपराधी दुष्प्रवृत्तियाँ अपनाने की हिम्मत दिन-दिन बलिष्ठ होती जाती है । तुरन्त दण्ड न भोगना पड़ा, इसका अर्थ यही हो सकता है कि कभी भी नहीं भोगना पड़ेगा । समाज को बहकाया जा सकता है । उसे कुछ का कुछ सिद्ध करके विरोधी से प्रशंसक बनाया जा सकता है । सरकार के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या? सौ अपराधियों के पीछे कुछ ही पकड़े जाते हैं और एक दो प्रतिशत ही राजदण्ड पा लेते हैं । जो पा लेते हैं उनकी शर्म उतर जाती है और पूरे ढीठ हो जाते हैं । जेल जाने पर तो अपराधों की कला में प्रवीण-पारंगत लोगों की संगति और शिक्षा के अन्तर्गत जो कमी-कच्चाई थी उसे भी पूरी कर लेते हैं । इन सब तथ्यों को देखते हुए मनुष्य को हर हालत में नीतिनिष्ठ बनाये रहने के लिए आस्तिकता अपनाने का एक ही मार्ग रह जाता है । आस्तिकताऔर धार्मिकता प्रकारान्तर से एक ही तथ्य के दो पक्ष हैं । धर्म और ईश्वर, विश्वास पर टिका है और ईश्वर की सच्ची मान्यता हृदयंगम करने के उपरान्त ही धर्मपरायण रहने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं बचता।

यह भ्रम-जंजाल साम्प्रदायिक लोगों का बुना हुआ है कि अमुक कर्मकाण्ड कर लेने के उपरान्त अथवा हमारे सम्प्रदाय में दीक्षित हो जाने के उपरान्त पाप कर्मों का दण्ड नहीं भुगतना पड़ता । हमारे सम्प्रदाय वाला ईश्वर अपनी बिरादरी वाले सभी को क्षमा कर देता है और मुफ्त में ही उस स्वर्ग में पहुँचा देता है जिसमें आदि से अन्त तक का भोग-विलास एवं ऐश-आराम ही भरा पड़ा है । सच्चे धर्म का सच्चा ईश्वर कर्मफल की अनिवार्यता समझता है । उसमें कहीं छूट की गुंजायश है, तो उसका प्रायश्चित्त के अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं है । समाज को पहुँचाई गई क्षति की पूर्ति करना न्यायानुकूल है । खोदी हुई खाई को जो पाट देता है, उसकी ईमानदारी कठिन मार्ग को सरल बना सकती है । पुण्य अथवा पाप का परिणाम तुरन्त न मिले तो परलोक में अथवा अगले जन्म में मिलने का विश्वास मनुष्य को कुमार्गगामी होने से बहुत कुछ रोकता है ।

धर्म-धारणा को वैयक्तिक चरित्रनिष्ठा और सामाजिक सुव्यवस्था का राजमार्ग समझा जाना चाहिए । इसमें अन्ध-विश्वास जैसी कोई बात नहीं है । फिर हर बात की अच्छाई-बुराई उसके प्रतिफल को देखकर ही आँकी जाती है । जिस कसौटी पर विकृतियों से भरी हुई वर्तमान, साम्प्रदायिकता हेय ठहरती है और उसकी अवज्ञा, अवमानना का औचित्य स्वीकार किया है, उसी कसौटी पर ईश्वर, कर्मफल, स्वर्ग-नरक, पुनर्जन्म जैसी मान्यताओं वाला धर्म अपनी उपयोगी प्रतिक्रियाओं के कारण श्रेयस्कर माना जायगा ।

एक क्षण के लिए यदि ईश्वरवादी धर्म को प्रत्यक्षवाद की कसौटी पर शत-प्रतिशत सही सिद्ध न किया जा सके तो भी उसकी उपयोगी प्रतिक्रियाओं के कारण उसे प्रत्यक्ष सत्य ही माना जायगा और धर्म की उपयोगिता से किसी भी प्रकार इन्कार न किया जायगा । धर्मवादी नीतिवान आदर्शों पर अवलम्बित है तो उसे हर दृष्टि से प्रशंसनीय और अपनाने योग्य ही कहा जायगा ।

धर्म का अन्तःकरण और आवरण

वैसे तो सृष्टि की हर वस्तु का उसका अपना धर्म है । सूर्य का धर्म प्रकाश प्रदान करना तो चन्द्रमा का धर्म शीतलता प्रदान करना है, पर जड़-जंगम में संव्याप्त इस धर्म से हटकर एक धर्म और है, जो मानव-चेतना के स्तर को छूता है । वस्तुतः मानव धर्म की जब चर्चा होती है तब धर्म एक विशिष्ट परिवेश में सामने आता है । वैसे चेतना तो अन्य प्राणियों में भी है, पर उस धर्म का सम्बन्ध मानव चेतना से ही विशेष रूप में है । इस धर्म-भावना ने ही मानव को मानव संज्ञा से विभूषित कराया है ।

'धर्म-निरपेक्षता' शब्द में एक भ्रान्ति प्रवेश कर गई है । धर्म को मजहब, सम्प्रदाय का पर्यायवाची मान लिया गया है । परिणामतः धर्म शब्द की गरिमा संदिग्ध हो गई । जहाँ हर मानव को धार्मिक कहलाने में गर्व का अनुभव करना चाहिए, वहाँ धार्मिक कहलाना संकोच का विषय बन गया है, आशंका का हेतु बन गया है ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

वस्तुत: धर्म जीवन की वह रीति-नीति है, जो कि मनुष्य को मानव बनाकर खड़ा कर देती है । धर्मधारण करने की वस्तु है, तभी धर्म मानवीय तत्त्वों के संरक्षण में कुछ महत्त्वपूर्ण अनुदान दे सकता है । इसीलिए सृष्टि निर्माण में मानवी चेतना के प्रादुर्भाव के साथ ही साथ कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य की भावना ने सामाजिक प्राणी मानव के सामने धर्म का रूप प्रस्तुत कर दिया । धर्म-भावना ईश्वरवादी दृष्टि से भी ऊँची है । रूस जैसा अनीश्वरवादी राष्ट्र भी अधार्मिक होकर जी नहीं सकता; क्योंकि मानव मात्र के कल्याण के लिए जो कुछ भी सम्भव हो सकता है, वह सब मानव धर्म की सीमाओं में रहकर ही ।

मनुष्य का धर्म यही है कि वह अपने बाह्य व्यवहार एवं आन्तरिक वृत्तियों का परिशोधन कर अपने मूल रूप को जीवन में व्यक्त करे । यही शुद्ध स्वरूप ज्ञान "**आत्मवत् सर्वभूतेषु**" की श्रेष्ठतम भावनाओं को स्फुरित कर लोकमंगल को सहज साध्य बना सकता है ।

स्थूल-स्तर पर हम धर्म को दो रूपों में देख सकते हैं। एक वह रूप जो देश, काल, पात्र के अनुरूप आचार संहिता प्रस्तुत करता है और आवश्यकता अनुसार यथोचित् परिवर्तन के साथ लोकमंगल की दिशाएँ सक्रिय बनाता रहता है । धर्म का यह रूप देश, काल, पात्र सापेक्ष होता है।

जिस देश में जलाभाव हो वहाँ सप्ताह में एक बार नहाना भी धार्मिक कृत्य हो सकता है और जहाँ प्रकृति ने हर दिशा में जल राशि बिखरा रखी हो, वहाँ स्वास्थ्य संरक्षण के लिए प्रतिदिन स्नान करना धार्मिक कृत्य होगा ही । गरमी में जो वस्त्र काल-धर्म के प्रतीक होंगे, वे शीत ऋतु में नहीं । इसी प्रकार पात्रानुसार धर्म-आचरण अपने आप में एक ही तथ्य है ।

एक निरन्तर माँसभक्षण पर ही जीवित रहने वाले व्यक्तियों से माँस छुड़ाने का कार्य असम्भव-सा लगता है । महावीर स्वामी द्वारा कौवे का माँस छोड़ देने में धर्म बताकर माँस छोड़ने के शुभारम्भ की विधि के रूप में धार्मिक प्रेरणा दी है । बहुविवाह ग्रसित समाज पर अंकुश लगाने हेतु मात्र चार विवाह को ही धार्मिक कृति बताकर मोहम्मद साहब ने धार्मिक आवरण का शुभारम्भ ही कराया था । धर्म का दूसरा रूप धर्म के मूलतत्त्वों से सम्बन्धित है जो शाश्वत् है, अपरिवर्तनीय है । यह है मानव की आध्यात्मिक शक्तियों का उस चरम बिन्दु तक विकास जहाँ धरती पर स्वर्ग और मनुष्य में देवत्व का अवतरण हो जाता है । अर्थात् मानव का बाह्य आचरण एवं आन्तरिक विचारणा मानव मात्र के कल्याण की दिशा में उन्मुख हो जाते हैं । धर्म का यह स्वरूप सार्वभौमिक, सार्वकालिक एवं सर्वजनीन होता है । यहीं आकर मानव मात्र "**वसुधैव कुटुम्बकम्**" की उदात्त भावना स्थली पर विहार करने लगता है । धर्म के इस शाश्वत् स्वरूप को कौन नकार सकता है।

बेईमान भी ईमानदार साथी चाहता है, विश्वासघाती भी विश्वासपात्र मित्र चाहता है, आचरणहीन पति-पत्नी भी आचरणवान् पत्नी-पति चाहते हैं । इन्हीं सर्वमान्य विभूतियों का विकास धर्म का मूल स्वरूप है, पावन उद्देश्य है । यह धर्म वर्तमान को ही सब कुछ मानकर नहीं चलता, अपितु अतीत और आगत को वर्तमान के श्रेष्ठतम आचारों की शृंखला से जोड़ता चलता है । यही उसकी शाश्वतता है ।

लेकिन दुर्भाग्य से मानव धर्म के मूल तत्त्व भी देश, काल, पात्र की संकुचित सीमाओं में बाँधकर साम्प्रदायिक संकट का कारण बना दिये गये हैं । हम यह भूल जाते हैं कि सृष्टि के प्रारम्भ में मानवीय चेतना में उद्भूत ईश्वरीय प्रेरणाजन्य ज्ञान की पुस्तक 'ऋग्वेद' को एक से चार क्यों होना पड़ा ? वैदिककालीन जीवनक्रम के बीच बुद्ध और महावीर को क्यों अवतरित होना पड़ा ? इसी क्रम की बढ़ती शृंखला में आचार्य शंकर को धर्म विजय के लिए प्रयाण क्यों करना पड़ा ? इन सारे प्रश्नों के उत्तर देश, काल, पात्र की आवश्यकता के परिवेश में सहज ही दिये जा सकते हैं, सब ही श्रद्धा से सम्मानित किये जा सकते हैं, पर हमने विवेक को तिलाञ्जलि दे मानव धर्म को मजहब एवं सम्प्रदाय के शिकंजे में फँसने दिया और अनिष्टकर स्थिति पैदा करते चले गये ।

सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाय के सन्देशवाहक मानव धर्म को हमने स्थूल धार्मिक क्रिया-कलापों की अपनी-अपनी सीमाओं में बाँध, धर्म की इतिश्री मान ली और अपनी सहज धार्मिक वृत्ति को थोथी सन्तुष्टि दे, धर्म आचरण से मुख मोड़ लिया ।

वस्तुत: धर्म का और नैतिकता का कितना घनिष्ट सम्बन्ध है, इसे हम न समझ सके । हमने धर्मक्षेत्र और कर्मक्षेत्र को अलग-अलग करके मानव-जीवन को खण्डित करके रख दिया । हमारी इस धर्म की सत्ता ने जहाँ हमसे निर्दयतापूर्वक पशुबलि तक करवा डाली, वहाँ हमारे आत्मबल को निर्बल बनाकर दया के नाम पर अन्याय, अनाचार के सामने समर्पण करने का आदी बना दिया ।

ऐसी ही निर्बल-दया ग्रसित अर्जुन के कठोर कर्त्तव्य से विमुख होने पर योगिराज श्रीकृष्ण ने 'अश्रुपूर्णा कुलेक्षणम्' एवं 'विषीदन्तम्' की आकुल-व्याकुल मन:-स्थिति की भर्त्सना करते हुए 'कृपया परमाविष्ट:' की हीन वृत्ति को पाप बताया है । वास्तविक मानव धर्म नैतिक बनने की प्रेरणा देता है, साहसी बनने की स्फुरणा देता है । तभी हम गीता का उपदेश सुनने की अपेक्षा किसी द्रौपदी के चीरहरण की रक्षा में सन्नद्ध हो सकते हैं । धार्मिकता जन्य इसी नैतिक साहस में मानव कल्याण के लिए उत्सर्ग कर सकने की क्षमता है, मानवीय एकता की महत्ता है ।

ऐसे मानव धर्म के प्रचार-प्रसार एवं पुन: स्थापना के लिए "**नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावक:**" के गुणों से परिवेष्टित आत्मबल को जंगलों, गुफाओं, कुटियों, मन्दिरों से बाहर निकाल कर खेतों, खलियानों, कल-कारखानों, कार्यालयों, न्यायालयों, झोपड़ियों, महलों में लाना होगा और उसे मानवीय पीड़ाओं का अनुभव कराना होगा, तब

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

कहीं मानव वेदना से पीड़ित आत्मबल लोकमंगल के लिए 'भर्तृहरि' के कथन को साकार करने का साहस जुटा सकेगा । ''चाहे नीति-निपुण लोग निन्दा करें या प्रशंसा, चाहे लक्ष्मी आये या जहाँ उसकी इच्छा हो वहाँ चली जाये, मृत्यु आज हो या सौ वर्ष बाद, धीर पुरुष तो वह है जो न्याय के पथ से तनिक भी विचलित नहीं होता ।''

समस्त आत्माओं की पीड़ा अनुभव कर उनके यथा सामर्थ्य त्राण हेतु अथक् पुरुषार्थ ही मानव धर्म है । ऐसा धर्म हमारे बिखरे व्यक्तित्व को सुसंगठित करता है, हमारी सम्पूर्ण आत्मस्थ-शक्तियों का सर्वांगीण विकास करता है । हमें शिव से शिवत्व की ओर ले जाता है और हमारी सर्वशक्तिमत्ता की अनुभूति करा हमें नर से नारायण बना देता है ।

फिर मजहब, सम्प्रदाय, पन्थ, ग्रन्थ सब अपने सीमित 'स्व' को इस धर्म के 'स्व' समर्पित कर अभिन्न हो जाते हैं, अद्वैत हो जाते हैं और लोकमंगल मानव जीवन में सहज साधक हो जाता है, परम आराध्य हो जाता है । धर्म की इस उदात्त पृष्ठभूमि पर आते ही नास्तिकता अपने ही अस्तित्व को नकारने का नाम हो जाती है, क्योंकि नास्तिकता ईश्वर पर अविश्वास नहीं अपितु स्वयं पर ही अविश्वास है।

धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम्

दर्शन क्षेत्र में इतनी अधिक विभिन्नताएँ हैं कि उन्हें एक सूत्र में बाँधा जाना कठिन है । प्राचीनकाल में षड्दर्शन थे । इसके उपरान्त तो उनके अनेकानेक नाती-पोते निकल पड़े । अद्वैत, द्वैत और त्रैत की मान्यताएँ उभरीं । जैन और बौद्ध दर्शन भी सशक्त थे । चार्वाक दर्शन था तो नास्तिकतावादी पर दलीलें उसकी भी ऐसी थीं, जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती ।

पाश्चात्य दर्शन की अलग शृंखला विनिर्मित हुई । उनके आरम्भ और प्रौढ़काल धूमधाम भरे रहे । पीछे नये दर्शनों ने उनका स्थान ग्रहण किया तो फिर पुरानों में वृद्धता आई, पर जीवित वे भी रहे । इस प्रकार अब तक की खोजों में उनकी संख्या १०० के करीब पहुँच चुकी है । महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन ने अपने 'दर्शन-दिग्दर्शन' ग्रन्थ में इसी छोटी सीमा में उनमें से अधिकांश पर प्रकाश डाला है ।

यों सम्प्रदायों के पीछे अपने-अपने दर्शन हैं । वे मात्र कर्मकाण्ड नहीं हैं, उनके पीछे ऐसे प्रतिपादन भी हैं, जिन्हें दर्शन का नाम दिया जा सकता है । आर्य समाज की अपनी मान्यताएँ थीं, तो कबीरपंथियों की अपनी । इन सब सम्प्रदाय मिश्रित-लिखित और अलिखित दर्शनों की गणना की जाय तो वे एक हजार से ऊपर पहुँचती हैं । भक्तिवाद उन सबमें अनौखा है । उसमें भगवान से लेकर देवताओं तक को अपना स्नेह प्रदर्शित करके वशवर्ती बनाने और अँगुलियों पर नचाने का प्रावधान है ।

इन दर्शनों की वृद्धि के साथ-साथ उनके अनुयायियों की कट्टरता भी बढ़ी । वे अपने को सही और दूसरे सभी को गलत मानते थे । फलतः टकराव होना भी स्वाभाविक था । अपने सिवाय सभी झूठे हैं । झूठों को दबाना चाहिए । इस अत्युत्साह ने कलह के बीज बोये । मनोमालिन्य बढ़कर वैमनस्य तक पहुँचा । अपनी हठ के आगे अन्यान्यों को सिर झुकाने के लिए विवश करने की प्रथा चल पड़ी और संसार भर में इस आधार पर भारी रक्तपात हुए । मारने वाले अपने को धर्मसेवक और मरने वाले अपने को शहीद मानने लगे । उनकी भी अपने-अपने ढंग से पूजा होने लगी । एक ने दूसरे से बढ़कर अपने-अपने मान्य लोगों और देवताओं के स्मारक बनाये । इससे चिढ़ को और भी अधिक प्रोत्साहन मिला और लगा कि प्रचलित दर्शन किसी समस्या का समाधान नहीं करते वरन् कलह-विद्वेष के बीज बोते हैं ।

यह जानना अति कठिन है कि इतनी अधिक मान्यताओं में से कौन सही है ? कौन गलत ? ऐसा निर्णय तो निष्पक्ष लोगों की ऐसी सभा ही कर सकती है जिसका निर्णय मानने के लिए सभी बाध्य हों, पर मनुष्यों की वर्तमान स्थिति में ऐसा पंच निर्णय भी कठिन है, क्योंकि कोई भी अपनी मान्यता से पीछे हटने को तैयार नहीं । सभी को अपने पूर्ववर्तियों का प्रतिपादन प्रतिष्ठा का प्रश्न बन गया है । कोई अपनी हेठी क्यों कराये ? अपनी नाक सबसे ऊँची क्यों न रखे ? ऐसी दशा में किसी सर्वमान्य निष्कर्ष की आशा रखना, दुराशा मात्र ही है ।

नीति, न्याय, विवेक, तर्क, तथ्य, प्रमाण के आधार पर ऐसी आचारसंहिता तो बन सकती है, जो मानवी गरिमा के अनुरूप हो, उसे मानव धर्म भी कहा जा सकता है । वैसे यह अधिक उचित है कि झगड़े की जड़ इन धर्म सम्प्रदायों से पृथक् उस सर्वजनीन सार्वभौम निर्धारण को आचारसंहिता जैसा नाम दिया जाय । वह हर देश के हर मत सम्प्रदाय के लोगों पर समान रूप से लागू होती हो ।

जब तक वैसा सम्भव नहीं हो, तब तक एक मध्यवर्ती मार्ग निकल सकता है कि अपनी-अपनी मान्यताओं को अपने तथा अपने समकक्षी लोगों तक ही सीमित रखा जाय । दूसरों को न तो चुनौती दी जाय और न उन्हें अपना मत बदलने के लिए बाधित किया जाय । अपनी मान्यता अपने तक ही सीमित रहने दी जाय । उसे खण्डन, मण्डन के स्तर तक न पहुँचने दिया जाय । कलह या विद्वेष का निमित्त कारण बनने दिया जाय ।

इसे सर्वदर्शन या सर्वधर्म समन्वय तो नहीं कहा जा सकता है, पर उसे सहिष्णुता समझा जा सकता है । एक-दूसरे को सहन करना सीखें और अपनी विचारणा को अपने तक ही सीमित रखें ।

नीति-नियम ऐसे हैं जिन पर चलने के लिए दूसरों को बाधित किया जा सकता है । चोरी, उठाईगीरी, लूट, अपहरण, हत्या, डकैती, व्यभिचार, धोखाधड़ी आदि को सभी देशों में अपराध ठहराया गया है । अपराधी प्रवृत्ति को रोका जाना चाहिए । सदाचरण को प्रोत्साहित करने वाले ऐसे दर्शन को मान्यता दी जानी

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

चाहिए जो सर्व-साधारण के हित में पड़ती हो और जिसमें अनीति पर बंधन लगाया जाता है । धर्म और अधर्म का अभिप्राय वस्तुतः औचित्य और अनौचित्य है । किसी सम्प्रदाय विशेष की मान्यताओं से नहीं है । नीति पालने और पालन कराने भर का औचित्य है । दर्शन का समान हो सकना कठिन है । सब सम्प्रदायों का एकीकरण भी आज के वातावरण में कठिन है । यह भी नहीं हो सकता कि थोड़ी-थोड़ी बातें सब में से लेकर एक संयुक्त दर्शन या धर्म बनाया जाय । इतनी समझदारी, उदारता एवं यथार्थवादिता अपनाने के लिए लोग सहमत हो सकें, ऐसी विचारशीलता का युग आने में अभी देर है ।

ऐसी दशा में अनेकान्तवाद की जैन मान्यता का अन्य धर्मावलम्बियों द्वारा अपनाये जाने का भी मन होना चाहिए । उस प्रतिपादन में यही कहा गया है कि अपने से भिन्न मान्यताओं के सम्बन्ध में यह मत रखा जाय कि सम्भव है, वह भी ठीक हो । अपना मत अपने लिए कितना ही उपयुक्त क्यों न प्रतीत हो पर उसे दूसरों पर थोपने के लिए बाधित नहीं किया जा सकता । हम अपनी बात कहें तो पर दूसरों को झूठा ठहराने का प्रयत्न न करें । यही अनेकान्तवाद है । स्यादवाद की मान्यता भी इसी से मिलती-जुलती है ।

एक परिवार के कई सदस्य होते हैं । उनके खाने, पहनने के सामान अलग-अलग हो सकते हैं । इस मतभेद के कारण न तो कोई झगड़ता है, न अपनी रुचि को दूसरों पर थोपने का प्रयत्न करता है । जब ऐसे छुटपुट मतभेद उपेक्षा में डाल दिये जाते हैं तो कोई कारण नहीं कि दार्शनिक, साम्प्रदायिक मान्यताओं के सम्बन्ध में वैसी ही छूट क्यों न दी जाय । इसी सहिष्णुता का नाम है, अनेकान्तवाद । इसी को अपनाने से मतभेदों के रहते हुए भी शान्तिपूर्वक रहा जा सकता है ।

संवेदना को परिष्कृत करने वाली विधा है 'धर्म'

पुरुषार्थ चतुष्टय में सर्वाधिक प्रधान पुरुषार्थ जो मोक्ष प्राप्ति का साधन बताया गया है, धर्म है । धर्म शब्द की व्याख्या कई प्रकार से की जा सकती है । पहले शास्त्रों का प्रसंग लें, फिर आधुनिक चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में सोचें कि यह धर्म है क्या ? क्या यह वही धर्म है, जिसके नाम पर निष्ठुर लोग एक-दूसरे को मारते, परस्पर विद्वेष फैलाते नजर आते हैं ? क्या धर्म उसे कहते हैं, जिसमें बहिरंग का कर्मकाण्ड, वेश, विन्यास ही प्रमुख होता है एवं आचरण, व्यक्तित्व परिष्कार की कोई आवश्यकता नहीं होती ? क्या धर्म वह है जो व्यक्ति के अनैतिक आचरण की प्रेरणा देता है व इसके लिए साक्षियाँ भगवत् सत्ता की देता है ? क्या विशिष्ट पूजागृह में जाकर वैसा व्यवहार करना व मुँह चला लेना यही धर्म है ? कर्म को प्रधानता न देते हुए समाज पर भारभूत बनकर अकर्मण्य बनते चले जाना ही क्या धर्म है ? ये सारे प्रश्न, उत्तर माँगते हैं, क्योंकि धर्म शब्द को जितना अधिक तोड़ा-मरोड़ा व उसका दुरुपयोग किया गया है, उतना सम्भवतः और किसी के साथ नहीं हुआ । यह समझ में नहीं आता कि धर्म जैसी शाश्वत्, अनित्य सत्ता कभी-कभी खतरे में कैसे पड़ जाती है व किसी की बलात् धर्म सम्बन्धी मान्यताएँ बदल देने पर परलोक में किसी के लिए स्थान सुरक्षित कैसे हो जाता है ? इन सबका स्पष्टीकरण देने के लिए हमें 'धर्म' के वास्तविक स्वरूप को भारतीय संस्कृति के परप्रेक्ष्य में समझना होगा ।

गीताभाष्य में आद्यशंकराचार्य कहते हैं, "जो इस जगत की स्थिति का कारण एवं प्राणियों के अभ्युदय और मोक्ष का साक्षात् हेतु है, श्रेय के अभिलाषी ब्राह्मणादि वर्ण और आश्रम वाले लोग जिसका आचरण करते हैं, उसका नाम धर्म है ।" (**जगतः स्थितिकारणं प्राणिनां साक्षात् अभ्युदय नि:श्रेयसहेतुः यः स धर्मो ब्राह्मणाद्यै वर्णिभि आश्रमिभि च श्रेयोर्थिभिअनुष्ठीयमानः**) । इसका भावार्थ यह हुआ कि जिस परमसत्ता के बनाये नियमों के अनुरूप इस जगत का धारण पोषण हो रहा है, उसके अनुशासनों के अन्तर्गत अपनी जीवनचर्या का निर्धारण धर्माचरण है, जो मनुष्य की आमूलचूल प्रगति का सर्वांगपूर्ण अभ्युदय तथा नि:श्रेयस का निमित्त कारण है, वह धर्म है । प्रकृति के, विश्व-ब्रह्माण्ड के दायरे में रहकर सदाचरण द्वारा की गई प्रगति अभ्युदय कहलाती है तथा ब्रह्म की नि:सीम सुखानुभूति को, प्रकृति की सीमा से परे प्राप्त होने वाली आत्मिक प्रगति को नि:-श्रेयस (**नास्ति श्रेयान् यस्तात् तत् नि:श्रेयम्**-जिससे बढ़कर कोई उत्तम फल न हो) कहते हैं । श्रेय पथ पर चलने वाले श्रेष्ठ चिन्तन कर तदनुसार आचरण करने वाले ब्रह्मनिष्ठों के बताए पथ पर चलना धर्म है । वस्तुतः आचरण में नीतिमत्ता को उतारने की प्रेरणा देने वाला कारण तत्त्व धर्म है ।

जो व्यक्ति को, समाज को, जन-सामान्य को धारण करे उसे धर्म कहते हैं । धर्म शब्द के मुख्य अर्थ तीन हैं-धारण करने वाला, पालन-पोषण करने वाला, अवलम्बन देने वाला । किन्हें धारण करने वाला ? किन्हें संरक्षण देने वाला ? सम्पूर्ण जगत को । यहाँ रहने वाले जीवधारियों को । इस प्रकार सारी विश्व मानवता के लिए धर्म एक ही हुआ । जिसके मार्गदर्शन, संरक्षण में जिसके छाया तले सभी प्रकार की विचारधाराएँ समान रूप से पोषण पाती रहें, पारस्परिक कोई विग्रह न हो, वह धर्म शाश्वत् है व एक ही है । देव संस्कृति इस सम्बन्ध में हमारा मार्गदर्शन आज की साम्प्रदायिक विद्वेष भरी परिस्थितियों में समुचित रीति-नीति से करती हुई कहती है कि वही धर्म कहलाने योग्य है जो सहिष्णु हो, जिसकी मर्यादा-अनुशासन का अवलम्बन सब लें, जो नीतिमत्ता पर आधारित हो तथा जो सबको समान संरक्षण उत्पन्न करता हो । इस प्रकार "**धारयते लोकम् इति धर्मः**" की उक्ति पर आज की परिस्थितियों में कौन-सा ऐसा धर्म है, इसका

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

निर्णय आसानी से किया जा सकता है व तदनुसार मानव धर्म का निर्धारण मानव मात्र के लिए किया जा सकता है।

धर्म की परिभाषा बड़े विराट व्यापक रूप में समझी जानी चाहिए, क्योंकि इसी पर समग्र विश्व-मानवता की आचारसंहिता अवलम्बित है । धर्म व सम्प्रदाय में अन्तर है। धर्म एक शाश्वत् नीतिदर्शन का नाम है, जो मूलतः संवेदना की धुरी पर जन्म लेता है, जबकि सम्प्रदाय एक मान्यता विशेष का, एक मार्ग का नाम है जिसे मानते हुए जिसका अवलम्बन लेते हुए व्यक्ति एक चरम लक्ष्य को प्राप्त होता है । देव संस्कृति ने धर्म को इसी अर्थ में लिया । यही कारण है कि इसके गर्भ में सभी मत-संप्रदाय, मतान्तर, मान्यताएँ पनपते, विकसित होते चले गये ।

धर्म का प्रथम अंग है, नीति विज्ञान । नैतिकता पर आधारित एक ऐसा अनुशासन जो व्यक्ति की चेतना में संवेदना को जन्म दे, उसे अंकुरित, पोषित होने हेतु समुचित वातावरण प्रदान करे । सच्चा धर्म वही है जो व्यक्ति को नैतिकता के अनुशासन में बाँधता है । आर ऑस्बार्न अपनी पुस्तक 'ह्यूमेनिज्म एण्ड मॉरल थ्योरी' में कहते हैं कि विभिन्न सम्प्रदायों में मान्यताओं सम्बन्धी मतभेद हो सकते हैं, किन्तु नैतिक विचारों के सम्बन्ध में सभी में एकता है । रैल्कपैरी 'द ह्यूमेनिटी ऑफ मैन' में कहते हैं कि धर्म की आवश्यकता मानव का गौरव व उसके आचरण की श्रेष्ठता बनाये रखने में है । नियमबद्ध अनुशासित संयमपूर्ण जीवन ही समृद्ध व्यक्तित्व बनाता है व यही कार्य धर्माचरण से ही सम्भव होता है । सम्भवतः इसी कारण ऋषियों ने कहा-''**धर्मान्न प्रमदितव्यम्** ।'' (अर्थात् धर्म में प्रमाद या असावधानी नहीं बरतनी चाहिए) । आधुनिक सभ्यताएँ नैतिक बन्धनों से परे धर्म रहित अर्थ व काम की प्राप्ति-उपार्जन हेतु प्रेरित करती हैं, मन की पैशाचिक दासता को स्वीकारने की प्रेरणा देती हैं । परिणाम सामने है । प्रत्यक्षतः या लौकिक जीवन में जो रोग, दुर्बलताएँ, दुःख, अशान्ति, पारस्परिक विग्रह नजर आ रहे हैं, वह सब इसी कारण पनपे हैं । मनु कहते हैं, ''**परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्म वर्जितौ**'' अर्थात् ''मनुष्य को ऐसे अर्थ और काम का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए जो कि धर्म से रहित हो ।'' इस प्रकार धर्म का अर्थ हुआ संवेदनामूलक नीतिमत्ता ।

धर्म का द्वितीय अंग है-आस्तिकता प्रधान तत्त्व-दर्शन । मानव-मानव में पारस्परिक सामंजस्य एवं अनिवार्य घनिष्टता स्थापित करने वाला तर्कसम्मत विवेचन । आर अस्गोली ने अपनी पुस्तक 'साइकोसिन्थेसिस' में धर्म के इस पहलू को मानवीय अतिचेतन के एक अनिवार्य गुण के रूप में प्रतिपादित करते हुए कहा है कि-''यहीं से मनुष्य को ऊँचा उठाने वाली, दुर्बलताओं से मुक्ति दिलाने वाली श्रेष्ठ व उदात्त भावनाओं का उदय होता है । प्रतिभा जागरण का मूल केन्द्र यही है । आध्यात्मिक ऊर्जा जगाकर व्यक्ति को श्रेष्ठता के पथ पर पहुँचाने वाली विधा है यह ।'' वेदों का ऋषि धर्म के इस उदात्त व व्यापक रूप की व्याख्या करते हुए मानव मात्र के शुभ की कामना की अभिव्यक्ति इस प्रकार करता है-

ध्रुवां भूमि पृथिवीं धर्मणाधृताम् ।
शिवां स्थोनामनु चरेम विश्वहा ।।

-अथर्ववेद १२.१

अर्थात् ''यह ध्रुव और अचल भूमि, यह पृथ्वी जो धर्म द्वारा धारण की गई है, हम उस पर शिव सुखदायिनी भूमि पर विश्वान्त विचरण करें ।'' ऋग्वेद में ऋषि कहते हैं- ''**सुगां ऋतस्य पंथा**'' अर्थात् धर्म का मार्ग मानव को सुख देता है, दुःख से मुक्त करता है ।'' (ऋग्वेद ८/३/१३) कितनी व्यापक अर्थ वाली भावना वैदिक संस्कृति में धर्म के प्रति व्यक्त की गयी है । ऋग्वेद में ऋतु ऐसी विश्व व्यवस्था सम्बन्धी धारणा है, जिसमें सार्वभौम प्रतिमानों द्वारा धर्म की परिपूर्ण व्याख्या तत्त्व-दर्शन के परिप्रेक्ष्य में की गयी है ।

धर्म का तृतीय अंग है-अनगढ़ मानव को देवमानव बनाने वाला । उसे सही दिशा देने वाला एक गहन विज्ञान, जिसे हम 'अध्यात्म' नाम से जानते हैं, धर्म को अध्यात्म से 'स्प्रिचुअलिटी' से कभी अलग नहीं किया जा सकता । जो प्रयास-प्रयत्न मनुष्य को अन्तर्मुखी होने की प्रेरणा दे वह धर्म है, जो बहिर्मुखी बनाए उसे भोगवादी बनाकर उसके व्यक्तित्व को विखण्डित्त कर दे, वह अधर्म है । बहिर्मुखता मनुष्य को व समग्र समाज को असंयम की ओर, विनाश की ओर ले जाती है तथा अन्तर्मुखता संयम, शान्ति, प्रेम तथा इनरब्लिस व परम लक्ष्य की ओर । विभिन्न कर्मकाण्डों द्वारा देव संस्कृति में यही प्रयोग मनुष्य को सिखाया जाता है-एकाग्रता के चरमलक्ष्य की ओर, अन्तर्मुखता की ओर बढ़ने का । जिस समाज में जितने अधिक अन्तर्मुखी वृत्ति के व्यक्ति होंगे, वह समाज उनकी एकाग्रता से प्राप्त शक्ति से उतना ही लाभान्वित होगा । वह उतना ही अधिक टिकाऊ बनेगा । भारतीय संस्कृति इस कसौटी पर पूरी तरह खरी उतरती है ।

वस्तुतः मानव की संवेदनशीलता का विकास ही धर्म है । एरिकफ्रॉम वह पहला व्यक्ति था, जिसने मन की गहन परतों की सामाजिक परिप्रेक्ष्य में व्याख्या कर धर्म को मानव मात्र के लिए अनिवार्य बताया । इसके लिए उसने धर्म की व्याख्या की, मानवी क्षमताओं के जागरण की, उसके समुन्नत व्यक्तित्व परिष्कार की विधा के रूप में (मेन एण्ड सोसायटी इन एरिकफ्रॉम-अदिति चौधरी-पृष्ठ १८३) फ्रॉम कहते हैं कि-''वह धर्म झूठा है, जो व्यक्ति की विकासोन्मुख मौलिक क्षमताओं को दबाने या कुन्द करने की, उसे संवेदनाहीन बनाने की कोशिश करता है ।'' स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि ''धर्म के नाम पर आज हम सब 'लिप सर्विस' । ओंठों से बुदबुदाने वाले कर्मकाण्ड मात्र का प्रयोग करते हैं, जबकि धर्म व्यक्तित्व परिष्कार की व उस माध्यम से उसके सारे समाज पर पड़ने वाले प्रभाव की विधा का नाम है । एक सच्चा धार्मिक व्यक्ति चलती-फिरती संस्था है ।'' स्वामी विवेकानन्द की यह उक्ति कितनी सही है ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

तैत्तिरीय आरण्यक में धर्म को सम्पूर्ण जगत का आधार कहा गया है-''धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा ।'' सारा समाज इसी अनुशासन पर टिका हुआ है । समाज के मानक दण्ड मानवीय मूल्यों का पतन होने पर उसका विनाश सुनिश्चित है । धर्म प्रधान पुरुषार्थ व्यक्ति, समाज, राष्ट्र व संस्कृति के सर्वांगीण अभ्युदय का निमित्त कारण बनता है, इसमें किसी प्रकार का संशय किसी भी विचारक को नहीं है ।

सारे विश्व के मनुष्यों की उत्पत्ति द्वारा मानव के रूप में एक प्राणी भगवान् ने बनाया है । अतः उसके धर्म अनेक नहीं हो सकते । विश्व में दो या पाँच या दस धर्म हैं, यह एक भ्रान्ति है । अनादि सनातन वैदिक धर्म ही मानव धर्म है, यह प्रागैतिहासिककालीन विश्वमान्य सत्य है । बाद में देश, काल, पात्र के अनुसार महापुरुषों ने धर्म के किसी विशेष अंग को कहीं प्रचलित किया और कालान्तर में वह मत धर्म कहा जाने लगा । धर्म के विभिन्न अंगों में पारस्परिक विग्रह या विद्वेष कैसा ? सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, त्याग आदि सार्वभौम धर्म हैं । किसी महामानव ने किसी पर बल दिया है, किसी ने दूसरे पर । तात्कालिक समाज की जो विकृतियाँ थीं, उन्हें मिटाने हेतु जिस साधन पर बल देना आवश्यक माना गया, उसे उन्होंने प्रमुखता दी । किसी ने यह नहीं कहा कि हम नूतन धर्म का सृजन कर रहे हैं । यह तो मानवीय दम्भ है, जो शाश्वत धर्म को सम्प्रदायों का रूप देकर उन्हें परस्पर लड़वाकर समाज के पतन का कारण बनता है । इस संकट का निवारण तभी सम्भव है जब धर्म का शाश्वत् स्वरूप सभी को हृदयंगम कराया जा सके ।

मानव मात्र के लिए श्रेष्ठता के पथ पर बढ़ने में सहायक धर्मोत्पत्ति के दस साधन मनुमहाराज ने बताये हैं, उन्हें धर्म के दस लक्षण भी कहा जाता है ।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ।।

-मनुः स्मृति ६-९२

अर्थात् धृति (धैर्य, सन्तोष, आत्मावलम्बन), क्षमा (औचित्य के प्रति उदारता), दम (मनःसंयम), अस्तेय (न्यायपूर्ण जीवन), शौच (बहिरंग व अन्तरंग की पवित्रता), इन्द्रिय निग्रह (विषयों के अधोगामी प्रवाह को रोकना), धी (विवेकबुद्धि), विद्या (आत्मज्ञान पारलौकिक फल वाले सत्कर्मों में प्रवृत्ति), सत्य (मन-वचन-कर्म से व्यक्ति का शुद्ध होना व प्रिय सत्य बोलना), अक्रोध(मानसिक समस्वरता, आत्म-नियन्त्रण, आवेश में न आना)-ये दस लक्षण धर्म में बताये गए हैं । व्यावहारिक अध्यात्म की दृष्टि से कितने सही व परिष्कृत व्यक्तित्व हेतु अनिवार्य ये सद्गुण हैं । किसी भी सभ्यता-मान्यता को मानने वाले को इस सम्बन्ध में भ्रम नहीं होना चाहिए ।

कुछ धर्म सामान्य धर्म होते हैं, कुछ विशेष । दान सामान्य धर्म है, परन्तु रोगी ऐसे पदार्थ आकर माँगे जो उसे नुकसान करेंगे तो उस समय इसे वह पदार्थ न देना विशेष धर्म है । इसी प्रकार आततायी को क्षमा कर देना अहिंसा नहीं कायरता है । फोड़े पर चीरा लगाना चिकित्सक का विशेष धर्म है, हिंसा नहीं । इस प्रकार धर्म सदैव देश, काल, परिस्थिति व औचित्य के साथ देखकर उसका निर्धारण किया जाना चाहिए । आपद्धर्म केवल आपत्तिकाल तक के लिए होता है और वह भी उतने ही अंश जितने अंश में आपत्तिकाल चल रहा हो । मरणासन्न रोगी को वैद्य ने लहसुन दे दिया तो जरूरी नहीं कि अच्छा होने पर भी लहसुन उसका खाद्य हो जाय । युग धर्म वह है जो उस समय काल के लिए किया जाने योग्य कर्त्तव्य है । स्वतन्त्रता संग्राम में देश के लिए लड़ना युग धर्म था तो आज देव संस्कृति का तत्त्वज्ञान घर-घर पहुँचाना, आस्था-संकट से जूझना, पीड़ित मानवता की सेवा युग धर्म है ।

वस्तुतः धर्म हमें कर्त्तव्य की प्रेरणा देता है, साथ ही फल की ओर से तटस्थ रहने का आदेश भी देता है । धर्म का एकमेव लक्ष्य अन्तर्मुखता है, त्याग है, संवेदना का जागरण है तथा पारस्परिक सद्भाव का विकास है । इस भावना का जितना विस्तार होगा, धर्म की उतनी ही रक्षा होगी, आस्था संकट की विभीषिका तभी मिटेगी तथा मानवीय पुरुषार्थ अलसाई अवस्था से परिपूर्ण जागरण-मोक्ष की ओर अग्रसर होगा ।

धर्मक्षेत्र की गरिमा बनाये रहने वाले महामानव

महामानवों द्वारा सम्पन्न किये गए महान् कार्यों पर जन-सामान्य कुछ दृष्टिपात करता है तो प्रतीत होता है कि औसत मनुष्य की तुलना में उनमें कोई दिव्य विशेषता सम्पन्न रही है । कोई दैवी अनुदान उन्हें उपलब्ध होता रहा है अन्यथा सामान्यजन जब उदरपूर्णा मात्र में कोल्हू के बैल की तरह आजीवन पिलते रहने पर भी अभावों, त्रासों और असफलताओं के अतिरिक्त और कुछ हस्तगत नहीं कर पाते तो फिर यह महामानव किसी प्रकार न केवल सरलतापूर्वक निर्वाहक्रम चलाते रहे, वरन् उच्चस्तरीय सफलताएँ प्राप्त करके सर्वसाधारण को अपनी विशिष्टता से चमत्कृत करते रहे ।

जिन्हें तथ्य के प्रति प्रीति-प्रतीति हो उन्हें उतना समझ लेने से समाधान मिल जायगा कि मनुष्य सामान्य तभी तक रहता है, जब तक कि उसके सामने कोई स्पष्ट लक्ष्य नहीं रहता । सैकड़ों सपने देखता और बढ़ता, घटता और निरुद्देश्य जिस-तिस दिशा में भटकता रहता है । पराक्रम की महिमा सुनिश्चित है, पर उसे प्रत्यक्ष देखने के लिए आवश्यक है कि कोई दिशा निश्चित हो । मार्ग पार करने हेतु न केवल सुनियोजित व्यवस्था हो वरन् उसके लिए आवश्यक शक्ति, जानकारी एवं साधन-सामग्री जुटाने के लिए भी उमंग उभरे । अवसर और साधनों की तलाश में

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

कितने ही लोग रहते हैं और प्रतीक्षा करते रहते हैं कि जब कभी वे जुटेंगे, तब ही अगली योजनाओं को कार्यान्वित करेंगे । यह सुविधा को सब कुछ मानने वालों का निमन्त्रण है । इसके विपरीत प्राणवानों का एक दूसरा वर्ग भी है, जो बाहर नहीं भीतर देखता है और जो क्षमता, प्रतिभा एवं तत्परता को इस प्रकार प्रशिक्षित, समुन्नत करता है कि उसके सहारे प्रतिकूलताओं को अनुकूलताओं में, कठिनाई को सरलता में बदला जा सकना सम्भव हो सके ।

धार्मिक क्षेत्र में कितने ही महामानवों ने व्यक्ति और समाज को ऊँचा उठाने के लिए अधिक परिश्रम किये हैं । पुरातनकाल के सभी ऋषि-मुनि इसी प्रयोजन के लिए समर्पित जीवन जीते थे । साधु-ब्राह्मण वानप्रस्थ परिव्राजकों की परम्परा वस्तुतः जनजीवन को आदर्शवादी एवं प्रतिभावान बनाने की दृष्टि से बनी, चली और सफल रही, स्मृतिकारों ने अपने समय की अवांछनीयताओं को बदलने एवं स्थिति के अनुरूप सत्परम्परा चलाने के निमित्त स्मृति ग्रन्थों का रचनाक्रम बनाये रखा ।

सामयिक विपन्नताओं से लोहा लेने वालों में परशुराम, द्रोणाचार्य, बुद्ध, शंकराचार्य, चाणक्य, समर्थ रामदास, चैतन्य, कबीर, गुरु गोविन्दसिंह, दयानन्द, विवेकानन्द आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । प्रचलित सम्प्रदायों के आरम्भकर्त्ताओं में से अधिकांश अपने-अपने समय के समाज-सुधारक ही थे । बाद में उनके उत्तराधिकारी धन और मान बटोरने की दृष्टि से सुधार प्रभावों को छोटे पोखर की तरह संकीर्ण बना बैठे ।

धर्म क्षेत्र में सुधारवादियों को मानवीय गरिमा को बल प्रदान करने वालों की कमी नहीं रही । निहित स्वार्थों ने यों भ्रान्तियों और विकृतियों का जाल-जंजाल भी कम नहीं बुना है । उतने पर भी वह क्षेत्र धर्म-धारणा के मूलभूत सिद्धान्तों से जनमानस को प्रभावित करने की प्रक्रिया से सर्वथा कभी भी विरत नहीं हुआ । पाश्चात्य देशों में भी ऐसे लोकसेवियों की कमी नहीं रही, जिन्होंने अपने सत्प्रयत्नों से धर्म का गौरव बढ़ाया और उसे बदनाम होते रहने से बचाया ।

बारहवीं और सोलहवीं सदी के बीच योरोप में पुरोहितों का आतंक अपनी चरम सीमा पर था । चर्च ने न केवल शासकों को अपना वशवर्ती बना लिया था वरन् अपनी निजी रियासतें भी खड़ी कर ली थीं । जन-साधारण के मनों पर ऐसा सिक्का जमा रखा था मानो वे ही शासन और भगवान् के मध्यवर्ती बने हुए हों । अन्धविश्वासों के आधार पर वे शोषण और आतंक की दुहरी चक्की में प्रजाजनों को पीसते थे । यहाँ तक कि वे स्वर्ग की टिकट दिलाने का सब्जबाग दिखाकर धन भी कुटिलता से लूटते थे ।

इस सन्नाटे को चीरता हुआ एक जर्मन युवक संव्याप्त आतंक से लड़ने के लिए एकाकी आगे आया । नाम था-मार्टिन लूथर । उसने विरोधी आन्दोलन खड़ा किया । आरम्भ कानाफूसी से हुआ । बाद में पर्चेबाजी और विचार गोष्ठियों का सिलसिला चल पड़ा । सहमति व्यक्त करने वाले समर्थकों की संख्या बढ़ी तो विरोधी सभाएँ होने लगीं और अवज्ञा की योजना बनने लगी । विधिवत् पुरोहित आतंक विरुद्ध विद्रोह की घोषणा ३१ अक्टूबर, १५१७ को हुई, जबकि ब्रिटेन वर्ग चर्च कोर्ट के दरवाजे पर जन आकांक्षाओं का प्रतीक विशाल पोस्टर लगाया गया । उसकी असंख्यों प्रतियाँ छापी गईं और जन-साधारण के दरवाजे-दरवाजे पर उसे चिपकाया गया ।

इस आन्दोलन का लम्बा इतिहास है । एक अच्छा-खासा विग्रह खड़ा हो गया । दमनचक्र ने नृशंसता की सभी मंजिलें पार कर दीं, पर इससे जन-आक्रोश दमन के स्थान पर भड़कता ही गया । अन्धविश्वास की जड़ें हिलीं और पुरोहित वर्ग अपनी पकड़ और प्रतिष्ठा गँवाता चला गया । अन्ततः वह दिन आया जब चर्च अपने धर्मप्रचार व विस्तार के प्रयोजन तक सीमित रह गया । उसका वैभव और आधिपत्य छिनकर लोकहित के कार्यों में नियोजित कर दिया गया । इस सुधारवाद की चिनगारी लूथर ने जलाई । समयानुसार उसने पूरे ईसाई समाज में विवेकशीलता की ज्योति जगाने में सफलता पाई ।

इसी प्रकार एक ब्रह्मविज्ञानी, दार्शनिक, चर्च सुधारक, बाइबिल के रूपान्तरणकर्त्ता तथा प्रोटेस्टेन्ट आन्दोलन के अँग्रेज के रूप में चौदहवीं सदी के इंग्लैण्ड के जॉन विकलीफ का नाम विश्वविख्यात है । उन्होंने बाइबिल के रूपान्तरण का अपना पुरुषार्थ प्रयास सम्पन्न किया । उनकी यह कृति धार्मिक जगत में अद्भुत परिवर्तन लाने में सफल हुई ।

उन्होंने चर्चों की रूढ़िगत मान्यताओं व प्रक्रियाओं को भी परिवर्तित किया तथा उसे सुधार की ओर अग्रसर कराने में सफल हुए । इसके लिए उन्होंने 'लोलडिस' नाम से एक संगठित आन्दोलन भी चलाया और न केवल पुरोहित रूप में वरन् समीक्षक, सुधारक और आन्दोलनकारी के रूप में भी जाने जाते रहे । पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति के विकास में इस सुधारक परम्परा ने बहुत सहायता की । यदि इतना न बन पड़ा होता तो सम्भवतः आज भी वहाँ धर्मान्धता के नाम पर युद्ध होते नजर आते ।

समुद्री जहाजों तथा कर्टगेना क्षेत्र (दक्षिणी अमेरिका का प्रमुख दास बाजार) में दासों की अत्यन्त दयनीय अवस्था को देखकर सन्त पीटर ने अपने आप को सदा के लिए निग्रो का दास घोषित कर दिया था । अपने व्याख्याता सहयोगियों तथा खाद्यान्न व औषधियों को साथ लेकर वे सभी दासों से युक्त जहाजों पर चढ़ जाते तथा दास केन्द्रों में भी घूम-घूमकर बीमारों की सेवा करते और धर्म की शिक्षा देते थे । सरकारी विरोध के बावजूद वे अनवरत अड़तीस वर्षों तक इस कार्य में संघर्षरत रहे । उनके इस कदम की जहाँ कट्टरपंथी गोरों ने भर्त्सना की, वहाँ उन्हें समझदार वर्ग तथा हब्शी समुदाय की ओर से समुचित सम्मान भी मिला । उन दिनों की परिस्थितियाँ देखते हुए

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

यह एक असम्भव कार्य ही था, जो इस सन्त ने अकेले कर दिखाया ।

जार्ज फॉक्स को एक धर्मोपदेशक मिशनरी तथा सोसायटी ऑफ फ्रैंड्स (क्वाकरस) के संस्थापक के रूप में जाना जाता है । इनका जन्म लेमेस्टर शायर में १६२४ ई० में हुआ था । इनके सुधारवादी धार्मिक विचारों को अमान्य ठहराकर राज्य द्वारा इन्हें १६४९ से १६७३ के बीच आठ बार जेल में डाला गया तो भी अपनी मान्यताओं पर अटल रहे और जितना समय काम करने के लिए मिला उसमें सुधारवादी आन्दोलन निर्भीकतापूर्वक चलाते रहे ।

इसी प्रकार १५वीं सदी में चीन में एक कन्फुशियन दार्शनिक वाँग-याँग-मिग हुए थे । इन्होंने अपने उत्कृष्ट सुधारवादी विचारों से चीन व जापान को सदियों तक प्रभावित किया तथा आधुनिक समय में भी इस क्षेत्र के विचारकों को इनसे काफी प्रेरणा मिल रही है । विगत दो हजार वर्षों में ये चीन के सर्वश्रेष्ठ विचारक के रूप में सम्मानित किये जाते रहे । उन्होंने नीति, सदाचार और पारस्परिक सद्व्यवहार के पक्ष में इतने सशक्त तर्क तथ्य प्रस्तुत किये कि प्रभावित लोगों में मे अगणितों ने अपनी दिशाधारा ही बदल दी ।

मेनो साइमन्स, १६वीं सदी के एक ड्यूक पादरी थे, जो उग्र सुधारवादी दल 'एनाबैप्टिस्ट्स' के सदस्य के रूप में कार्यरत रहे तथा 'मेनोनाइट' के संस्थापक के रूप में लोक-प्रसिद्ध हुए। उनकी लेखनी व साहसी नेतृत्व के आधार पर एनाबैप्टिस्ट्स संगठन का अत्यधिक विकास हुआ तथा मेनोनाइट चर्च की स्थापना के उपरान्त वे एक अत्यन्त प्रभावशाली सुधारवादी नेता के रूप में माने जाने लगे ।

भारत की जनगणना के अनुसार इस देश में ६० लाख धर्मजीवी, भिक्षा-व्यवसायी, साधु-सन्त रहते हैं । अपने देश में ७ लाख गाँव हैं । हर गाँव को औसतन इस समुदाय के साड़े आठ सदस्यों का भार वहन करना पड़ता है । यदि वे निठल्लापन छोड़कर आलसी, कुरीति-ग्रस्तता, गन्दगी आदि बुराइयों को दूर करने के लिए जुट पड़ें तो समूचे समाज का कायाकल्प हो सकता है । आवश्यकता इतनी भर है कि धर्मजीवी समुदाय को भ्रान्तियों के सहारे व्यवहार चलाने में विरत, बाधित किया जाय और ऐसे कार्यों में लगाया जाय, जिससे धर्म का गौरव बढ़े और समाज को इनके उपयोगी श्रम-साधना का लाभ मिले ।

धर्म का स्वरूप और आधार

पश्चिम में यह धारणा जन-जन में व्याप्त हो गई है कि हम जितनी अधिक उन्नति कर सकते हैं करें । अपने पराक्रम और पौरुष को व्यक्त होने का अवसर मिले, यह कोई बुरी बात नहीं । मनुष्य स्वभाव से ही क्रियाशील है, निष्क्रिय और आलस्य में पड़े रहकर वह जिन्दा तक नहीं रह सकता । विश्राम की सीमा से शरीर को ही अधिक विश्राम मिले तो हम देखते हैं कि वह नई स्फूर्ति अर्जित करने की अपेक्षा शक्ति खोने लगता है । गति ही जीवन है और निष्क्रियता ही मृत्यु है, इसलिए हमें अपने जीवन को अमर रखने के लिए निरन्तर उद्योगशील तो रहना ही चाहिए ।

इच्छाएँ अपने आप में बुरी नहीं, उनका असीम होना बुरा है । इच्छा और प्रगति की दिशा पर नियन्त्रण भी रहना आवश्यक है, अन्यथा पौरुष वीभत्स हो सकता है । पाश्चात्य देशों में यही हुआ, वहाँ भौतिकता बढ़ी और बढ़ती ही गई । उसी अनुपात में आदमी की लालसाएँ इतनी बढ़ीं कि वास्तविक मानवीय समस्याओं पर विचार के लिए कोई समय ही नहीं रहा । मनुष्य की दशा उस बालक की सी हो गई, जो सर्कस देखकर खाना, पीना और घर लौटना भी भूल जाता है । विज्ञान की अद्भुत प्रगति को देखकर मनुष्य कुछ इस तरह खो गया है कि उसकी यथार्थता फीकी पड़ गई है ।

यदि हमारी प्रगति में धर्म का स्पर्श बना रहता तो हम उसी तरह भटकते नहीं, जैसे कोई अच्छे लड़के सर्कस देखते हैं, तब भी अपने माता-पिता की उँगली पकड़े रहते हैं । जीवनरक्षा के लिए वह बालक अपने माता-पिता के संरक्षण को प्रमुख मानते हैं, सर्कस को गौण । यद्यपि कुछ देर को वह सर्कस में इतना निमग्न हो जाता है कि उसके अपने पिता की उँगली का भी ध्यान नहीं रहता, लेकिन सच पूछा जाय तो वह इस तल्लीनता के बाद भी इस बात में आश्वस्त रहता है कि पिता की उँगली मेरे हाथ में है, पिता की गोद मेरा आश्रय ही है । इसमें वह सुरक्षित भी रहता है और सर्कस का आनन्द भी उसे मिल जाता है । भौतिक प्रगति बुरी नहीं, किन्तु उसका उपयोग धर्म की आधारशिलाएँ नष्ट करने में न हो, जैसा कि पश्चिम में हुआ । विज्ञान का उपयोग धर्म को मजबूत बनाने में हुआ होता तो मनुष्य अपने आप को ज्यादा सुरक्षित और निर्भय अनुभव करता ।

धर्म गुणों के विकास द्वारा आत्मा या परमात्मा को प्राप्त करने का विज्ञान है और उससे हम सब तरफ से जुड़े हुए हैं । गुणों की आवश्यकता तो हमें पल-पल पर, पग-पग पर होती है । कई बार तो ओछे और अपराधी व्यक्ति गुणों का नाटक करके भी लोगों से अपना स्वार्थ सिद्ध कर लेते हैं । सिनेमा हम केवल इसलिए पसन्द करते हैं कि उसमें प्रेम, प्यार, साहस, सद्भावनाओं के दृश्यों को रंग देकर उभारा जाता है । यह गुण हमारी आत्मिक आवश्यकताएँ हैं, इसलिए सिनेमा बार-बार देखने जाते हैं, जबकि यह अच्छी तरह जानते हैं कि परदे के पीछे काम करने वाले कलाकारों का आचरण शुद्ध नहीं । वे केवल पैसे के लिए यह सब कुछ करते हैं ।

कुछ दिन पूर्व कानपुर में एक भिखारी एक अपंग लड़के से भीख मँगवाता पकड़ा गया । भिखारी को पता था कि अपाहिज को देखकर लोगों को दया आ जाती है, इसलिए उसने बच्चे को जबरन अपाहिज करके उससे भीख माँगने का काम लिया । इसी अपराध में वह पकड़ा

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

भी गया, पर तब तक तो वह दया प्रदर्शन का बहुत सा लाभ ले चुका था । इससे स्पष्ट है कि गुण या धर्म जीवन की नैतिक आवश्यकता है । उसके विपरीत हम जो कुछ भी करते हैं, अनैतिक ही कहा जायेगा । पाश्चात्य देशों में बुद्धि का विकास हुआ, गुणों का नहीं । इसीलिये वहाँ आज भयंकर अशान्ति है ।

मानव को मानवीय गुणों से सम्पन्न करने के लिए भी कोई आधार होना आवश्यक है । हमारी आदर्श विचारणाएँ और नैतिक परम्पराएँ भी निराधार नहीं टिक सकतीं । सुख और भौतिक प्रगति की अधिकतम मात्रा स्वल्प-से-स्वल्प समय में कोई अर्जित करना चाहे तो सिवाय इसके कि वह आदर्श विचार और नैतिकता का अतिक्रमण करे और दूसरा उपाय भी क्या हो सकता है । ईमानदारी से मनुष्य गुजारे योग्य कमा सकता है, धन की तृष्णा तो उसे मिलावट, कम तौल और अधिक दाम लेने की ही प्रेरणा दे सकती है, देती है ।

आदर्श और नैतिक जीवन का आधार है अध्यात्म । जब तक हम अपने जीवन के गहरे तत्त्वदर्शन में प्रवेश नहीं करते, तब तक जीवन यथार्थ उद्देश्य सामने नहीं आते और इसीलिए हमारी नैतिक आस्थाएँ कमजोर पड़ जाती हैं । यदि केवल भौतिक प्रगति को ही महत्त्व न दिया होता और तत्त्वदर्शन के लिए भी मनुष्य अपने साधन और अवकाश निकालता रहा होता तो आज की अशान्ति का प्रादुर्भाव भी न हुआ होता ।

जब हम प्राचीन महापुरुषों के जीवनवृत्त को पढ़ते हैं, तो यह देखते हैं कि उन्हें उनके साधना-गुरुओं द्वारा सताया ही गया है । आरुणि ब्रह्म-विद्या सीखने धौम्यपाद के आश्रम में गये थे, तब उन्हें गाय रखाने का कष्टकर कार्य दिया गया । दिलीप राजा थे, चाहते तो वह महर्षि वशिष्ठ की गाय चराने के लिए कई भृत्य रख सकते थे, पर वह समझते थे कि आत्मिक आवश्यकताएँ अपना सबसे बड़ा स्वार्थ है और उसकी पूर्ति सांसारिक ढर्रे से उल्टा चलकर ही हो सकती है । इसीलिये उन्होंने पद-प्रतिष्ठा का मोह छोड़कर महारानी सुलक्षणा के साथ वशिष्ठ की गाय चराना स्वीकार किया । इससे उन्हें जीवन के वह आध्यात्मिक और भावनात्मक सूत्र पकड़ में आये हैं, जो मनुष्य को जन्म-जन्मान्तरों से बाँधे हुए हैं । दिलीप को अपनी इस तपश्चर्या से असन्तोष नहीं हुआ । इससे प्रकट होता है कि आत्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति कष्टकर परिस्थितियों में हो तो भी वह बुरी नहीं ।

धर्म या अध्यात्म कोई बाहर से थोपी गई वस्तु नहीं है, यह तो मनुष्य के जीवन की आन्तरिक प्रक्रिया है । किसी परमसत्ता की इच्छा से यह संसार बना है । उसमें कोई शाश्वत् सिद्धान्त गणितीय आधार (मैथेमेटिकल वे) में काम करता है, उसे जानने से ही हम यथार्थ स्थिति की अनुभूति कर सकते हैं । ब्रह्माण्ड में मनुष्य की स्थिति का अध्ययन करना ही पड़ेगा । उसके लिए जैविक विकास (बायोलोजीकल प्रोगेस) के आधार को ढूँढ़ना ही पड़ेगा, तभी तो हम तर्कशील दर्शन (लाजीकल फिलास्फी) को जन्म दे सकते हैं और उसके आधार पर अपने जीवन की उड़ान को नियन्त्रित कर सकते हैं ।

(१) संसार का एक प्रबन्धकर्त्ता परमात्मा है । (२) आत्मा ईश्वर का अंश और अविनाशी तत्त्व है । (३) अच्छे-बुरे कर्मों के आधार पर मरणोत्तर जीवन निश्चित होता है । (४) सुख-दुःख का आधार भाग्य नहीं कर्म है । (५) प्राणिमात्र एक ही परमात्मा की समान प्रिय सन्तान है और हमें इसी आधार पर '**वसुधैव कुटुम्बकम्**' का जीवन जीना चाहिए, यह परिकल्पना (हाइपोथेसिस) स्वयंसिद्ध प्रमाणों पर आधारित हैं । वैज्ञानिक आधार पर भी ये उपयोगी हैं । सामाजिक शान्ति और व्यवस्था के लिये इस विश्वास से बढ़कर और कोई सुदृढ़ आधार नहीं । इनमें अनेकों क्लिष्ट समस्याओं के हल और गुणों के विकास में बड़ा योगदान मिलता है ।

यह विश्वास वस्तुतः वैज्ञानिक सत्य है, पर हमारे मस्तिष्क की और भावनाओं की चौड़ाई आकाश की तरह विराट् नहीं होती । इसी से पदार्थ की बात समझ में नहीं आती, पर यह रेखागणित (ज्योमेट्री) की तरह स्वयंसिद्ध प्रमाण है । बिन्दु की परिभाषा के अनुसार कोई बिन्दु है ही नहीं, पर विश्वास के आधार पर गणितीय समस्याएँ हल कर लेते हैं और सचमुच ही बिन्दु के लिए कोई-न-कोई स्थान निकल आता है । जब सारा संसार योजनाबद्ध तरीके से गणित के सिद्धान्तों पर काम कर रहा है, तो निश्चय ही एक अति-मस्तिष्क का (सुपर-मेन्टल पावर) प्रकृति पर नियन्त्रण होना ही चाहिए । जीवन के बिना सृष्टि का अस्तित्व ही सम्भव नहीं है तो उसकी एक केन्द्रीय सत्ता जहाँ से वह प्रादुर्भूत होता है, होनी ही चाहिए । बिना कारण के कोई क्रिया नहीं होती । बिना आधार जीवन नहीं हो सकता ।

आत्मा और ईश्वर के तत्त्व-दर्शन के अतिरिक्त धर्म के और कोई भी सिद्धान्त विवादास्पद नहीं हैं । इसलिए उनके आधार पर भी विश्व-शान्ति का उद्देश्य तो हल किया ही जा सकता है । उसके लिए व्यक्ति का परमार्थवादी होना आवश्यक है ।

आध्यात्मिक प्रयत्न स्वतन्त्र रूप से हमारे अपने कर्म पर निर्भर हैं । यदि हमारा चरित्र, मनोबल और आत्मभाव अत्यन्त शुद्ध और सुदृढ़ हो जाता है तो यही उपलब्धि हमें ऊँचा उठा देती है । यदि आदर्श और नैतिकता को हम अपने आप में विकसित कर सकें, अपने अन्तःकरण को पवित्र बना सकें तो धर्म तत्त्व और उसके सभी दार्शनिक आधार स्वयंसिद्ध प्रमाणों की तरह अपने ही भीतर मिल सकते हैं ।

प्रारम्भ में, सम्भव है गुणों का अभ्यास करते समय हम अपने आपको कुछ पीछे पायें और लोगों की तुलना में भौतिक दृष्टि से कुछ घाटा अनुभव करें । किन्तु यदि सर्वोच्च सत्य के प्रति हमारी निष्ठा और समाज के लिए श्रद्धा कमजोर न पड़े तो यही घाटा एक दिन सौ गुने लाभ

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

में परिणत होता देखा जा सकता हैं । राम, कृष्ण, गौतम, गाँधी, सुकरात, अरस्तू, टालस्टाय, महावीर, रामकृष्ण परमहंस, रमण, दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, रामतीर्थ, प्रभृति सन्त-महात्माओं के जीवन-वृत्त इस बात के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं । भौतिक दृष्टि से उनके पास कुछ था नहीं, पर उनकी बड़ी-से-बड़ी आवश्यकताएँ समाज ने पूरी कीं । उन्होंने जितना त्याग किया, समाज ने उनसे भी बढ़कर प्यार उन पर उँडेल दिया ।

फ्रान्स के प्रसिद्ध नोबुल पुरस्कार विजेता वैज्ञानिक डा० रिकाम्प्टे ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'ह्यूमन डेस्टिनी' में लिखा है-"आध्यात्मिकता सदैव लोक-समूह में ही सफल रही है । यह मूर्खों द्वारा नहीं और न ही व्यक्तिगत एकाकी में फलती है । आध्यात्मिकता के विकास के लिये जो आधार बने हैं, वह यह है कि व्यक्ति को भौतिकता, नैतिकता और भावुकता की परीक्षा देने के लिए सदैव तैयार रहना चाहिए । आराम, ऐश्वर्य और विलास के जीवन में आध्यात्मिकता का विकास नहीं हो सकता । भावनाओं पर कठोर नियन्त्रण और कठिनाइयों से लड़कर ही अध्यात्मवादी बना जा सकता है ।

धर्म परिवर्तनशील है या अपरिवर्तनशील ?

विद्वानों और महात्माओं ने धर्म को संसार का सर्वश्रेष्ठ तत्त्व बतलाया है । उनका कहना है कि संसार की स्थिति धर्म के आधार पर ही है और जिस मनुष्य में धर्म का अभाव है उसकी कोई गिनती ही नहीं । इसमें सन्देह नहीं कि अभी तक संसार के इतिहास में सबसे बड़ी प्रेरक शक्ति धर्म की ही रही है । इसी के प्रभाव से मनुष्य क्रमशः पशु की सी अवस्था से निकल कर एक सज्ञान और सामाजिक प्राणी की स्थिति तक पहुँच सका है ।

इतना होने पर भी धर्म के सम्बन्ध में जितना मतभेद पाया जाता है उतना अन्य किसी विषय में देखने में नहीं आता । भिन्न-भिन्न देशों के लिए अलग-अलग धर्म प्रवर्त्तकों का होना तो समझ में आ सकता है, क्योंकि सब देशों की परिस्थितियाँ एक-सी नहीं होतीं और परिस्थितियों का प्रभाव धार्मिक विधियों पर अवश्य पड़ता है, पर एक ही देश में बार-बार, नये-नये धर्म क्यों चलाये जाते हैं ? क्या धर्म में भी परिवर्तन किया जा सकता है ? क्या धर्म थोड़े ही दिन ठहरने वाली वस्तु है? यदि धर्म इसी प्रकार बदल सकता है, तो धर्म में भी अनिश्चितता है । फिर धर्म की दुहाई देना भी व्यर्थ है । जिसे आज धर्म कहते हैं, वही कल धर्म न रहेगा । ऐसी अवस्था में किसी भी धर्म प्रवर्त्तक के उपदेश को कैसे स्वीकार किया जाय ?

यथार्थ में धर्म के दो अंग होते हैं । एक तो नित्य अथवा अपरिवर्तनशील और दूसरा अनित्य अथवा परिवर्तनशील । सदाचार या सदगुण तो नित्य या अपरिवर्तनशील धर्म है । उन सद्गुणों के अनुसार बर्ताव करने, इन गुणों को बढ़ाने का प्रयत्न करने और आपस में व्यवहार करने की विधियाँ समय-समय पर बदलती रहती हैं । जैसे-जैसे मनुष्य का मानसिक विकास होता है, ये विधियाँ पहले से ही अच्छी निकलती आती हैं । नये-नये धर्म प्रवर्त्तकों का कार्य पहले से अधिक श्रेयस्कर अथवा बदली हुई परिस्थिति के अनुकूल विधियाँ बनाने का होता है ।

उदाहरण के लिये देखिये कि सत्य, दया, न्यायप्रियता, उदारता आदि सद्गुण अपरिवर्तनशील हैं । कोई धर्म कभी इनको बुरा न कहेगा । ये प्रायः सभी धर्मों में पाये जायेंगे । कोई धर्म-प्रवर्त्तक इनका निषेध न करेगा । इसलिये ये नित्य-धर्म हैं । लेकिन सत्य, दया, उदारता आदि के सूक्ष्म रूप, जैसे-जैसे मनुष्य की बुद्धि तीव्र होती जायेगी वैसे-वैसे प्रकट होंगे । जैसे कोई तो झूठ बोलने को ही सत्य का उल्लंघन समझे । दूसरा ऐसे सभी कार्यों को भी झूठ समझे जिनको उसे छिपाना पड़े या मन में किसी अनुचित इच्छा को लाना भी सत्य का उल्लंघन समझे । यह उस मनुष्य के विचारों की सूक्ष्मता पर निर्भर है । इस प्रकार सत्य धर्म में तो कोई परिवर्तन नहीं हुआ, पर उसके प्रयोग में विकास अथवा उन्नति अवश्य हुई ।

सद्गुणों की वृद्धि करने वाली क्रियाएँ, जैसे-उपासना, सद्ग्रन्थों का अध्ययन, दान, तीर्थाटन आदि भिन्न-भिन्न जातियों, देशों व समयों में भिन्न-भिन्न होती हैं । यह सब धर्म का अंग होते हुए भी परिवर्तनशील हैं । उनका उद्देश्य सदैव एक ही होता है, परन्तु एक ही उद्देश्य से कार्य करने वाले मनुष्यों की कार्यप्रणाली पृथक्-पृथक् होती है । इसी प्रकार जन-समुदायों अथवा सम्प्रदायों की धार्मिक शैलियाँ भिन्न हो सकती हैं और एक ही जाति में महापुरुष नई-नई शैलियों का आविष्कार करते हैं । इसी प्रकार धार्मिक संस्कार पृथक्-पृथक् और परिवर्तनशील होते हैं तो सभी जातियों, सभी देशों, सभी समयों में । मनुष्य जब प्राकृतिक शक्तियों को अपने से बहुत अधिक प्रबल देखकर उनमें देवताओं की कल्पना करता है, तो उन शक्तियों को प्रसन्न करने के लिए पूजा करना, उनको भेंट चढ़ाना, बलिदान करना, आह्वान करना स्वाभाविक ही है, जिससे वह प्रसन्न होकर मनुष्यों का अनहित न करें और उसके लिए सुखकारी सिद्ध हों । यही धार्मिक संस्कारों का मूल है, पर देश-काल के अनुसार हमारी प्रणाली बदलती रही है और आगे भी बदलती रहेगी । उदाहरणार्थ, किसी विधि में किसी ठण्डे देश में ऊनी वस्त्र पहने जाते हैं और फिर यदि वे ही लोग किसी गर्म देश में आ बसें तो ऊनी वस्त्रों के स्थान में सूती वस्त्र पहनने लगेंगे, अथवा यदि किसी समय किसी पूजा में किसी मिट्टी की साधारण-सी मूर्ति बनाकर रखने की प्रथा हो और फिर वे मूर्तियाँ सुन्दर पत्थर की बनने लगें तो मिट्टी की मूर्ति की जगह पत्थर की मूर्तियों का प्रचलन हो जायेगा । लगभग पचास साठ वर्ष पहले ही महाराष्ट्र में गणपति पूजन के अवसर पर

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

शास्त्रानुकूल वेश-भूषा की मूर्तियाँ बनती थीं, पर अब हमने देखा कि वे मूर्तियाँ अँग्रेजी फौजी अफसर के वेश में, राष्ट्रीय नेताओं के वेश में, फैशनेबिल जेण्टिलमैनों के वेश में बनाई जाने लगी हैं ।

धार्मिक संस्कारों का मूल चाहे कुछ हो परन्तु उनका प्रभाव विशेष रूप से पड़ता ही है । उस अवसर का महत्त्व संस्कार करने वाले के मन पर अंकित हो जाता है । संसार के साथ जिस क्रिया को मनुष्य करता है उसे बिना सोचे समझे, हँसी-खेल के समान नहीं करता वरन् उसकी महानता उसके हृदय पर जम जाती है । इस प्रकार अनेक धार्मिक संस्कार धार्मिक भावों अथवा सद्गुणों की बढ़ती करने वाले होते हैं ।

पर जैसे-जैसे समय बीतता जाता है, परिवर्तित परिस्थितियों के प्रभाव से धार्मिक संस्कारों तथा अन्य धार्मिक क्रिया-काण्डों की विधि कोरा दिखावा या आडम्बर मात्र रह जाती है । जिन सद्गुणों को उनके द्वारा बढ़ाना अभीष्ट होता है, उसके विपरीत उसके कारण दुर्गुणों की वृद्धि होने लगती है । लोग उसके सार को भूलकर बाहरी स्वरूप पर ही जोर देने लगते हैं । कभी-कभी वह विधि इतनी पेचीदा और लम्बी-चौड़ी होती है कि साधारण मनुष्य न तो उसे समझ सकता है न याद रख सकता है । ऐसी अवस्था में पंडितों या पुजारियों की एक श्रेणी बन जाती है जो उसे कराने के अधिकारी समझे जाते हैं । ये पुजारी जब अपने अधिकार को दृढ़ता के साथ स्थापित देखते हैं तो वे भी उस विधि के पूर्ण अध्ययन की चिन्ता नहीं करते वरन् उसके द्वारा अधिक से अधिक धन प्राप्त करने को ही अपना लक्ष्य बना लेते हैं । परिणाम यह होता है जो धार्मिक कृत्य मानव-कल्याण के लिए प्रचलित किए गये थे वे ही फिर स्वार्थ-साधना, अभिमान, द्वेष आदि के उत्पत्ति करने वाले बन जाते हैं । संसार में धर्म के नाम पर जो अनर्थ हुए हैं, उसका मूल कारण यही है ।

ऐसी अवस्था देखकर किसी महापुरुष का हृदय सहानुभूति और करुणा से द्रवित हो जाता है । वह ऐसे पुजारियों और ऐसे आडम्बर का विरोध करने लगता है । जब किसी धार्मिक कृत्य से सद्गुणों के बदले दुर्गुण बढ़ने लगें तो वह त्याज्य हो जाता है । इसीलिए फिर से सार-धर्म के उपदेश और नवीन धार्मिक-विधियों के प्रचार की आवश्यकता होती है । कभी-कभी पुजारियों का गुरुडम मिटाने को धार्मिक कृत्यों की पेचीदा विधियों को दूर करके साधारण व्यक्तियों के समझने और आचरण कर सकने योग्य रास्ता बताना आवश्यक होता है । इस प्रकार धार्मिक व्यवस्था में महान् परिवर्तन हो जाता है, परन्तु धर्म का सार रूप, सद्गुणों का आचरण अब भी वैसा ही महत्त्वपूर्ण रहता है जैसा कि पहले था अथवा यह कहना चाहिए कि वह पहले से भी अधिक आवश्यक हो जाता है, क्योंकि उसी की रक्षा के लिए बाहरी विधियों और क्रियाओं में परिवर्तन किया जाता है । इस प्रकार नित्य धर्म की रक्षा के लिए ही महापुरुषों द्वारा धर्म के ऊपरी रूप में परिवर्तन किया जाता है जिसे सामान्य व्यक्ति नवीन धर्म अथवा सम्प्रदाय की स्थापना का रूप दे देते हैं ।

धर्म का तत्त्वज्ञान

नित्य व्यवहार में धर्म शब्द का उपयोग केवल पारलौकिक सुख का मार्ग, इसी अर्थ में किया जाता है । जब हम किसी से प्रश्न करते हैं कि तेरा कौन-सा धर्म है? तब उससे हमारे पूछने का यही हेतु होता है कि तू अपने पारलौकिक कल्याण के लिए किस मार्ग-वैदिक, बौद्ध, जैन, ईसाई, मुहम्मदी या पारसी से चलता है और हमारे प्रश्न के अनुसार ही वह उत्तर देता है । उसी तरह स्वर्ग प्राप्ति के लिए साधनभूत यज्ञ योग आदि वैदिक विषयों की मीमांसा करते समय 'अथातो धर्म जिज्ञासा' आदि धर्मसूत्रों में भी धर्म शब्द का यही अर्थ लिया गया है, परन्तु धर्म शब्द का इतना ही संकुचित अर्थ नहीं है इसके सिवा राजधर्म, प्रजाधर्म, देशधर्म, जातिधर्म, कुलधर्म, मित्रधर्म इत्यादि सांसारिक नीतिबोधकों को भी धर्म कहते हैं । धर्म शब्द के इन दो अर्थों को यदि पृथक् करके दिखलाना हो तो पारलौकिक धर्म को 'मोक्ष-धर्म' अथवा सिर्फ मोक्ष और व्यावहारिक धर्म अथवा केवल नीति को केवल धर्म कहा करते हैं । उदाहरणार्थ, चतुर्विध पुरुषार्थों की गणना करते समय हम लोग धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष कहा करते हैं ।

महाभारत में धर्म शब्द अनेक स्थानों पर आया है और जिस स्थान में कहा गया है कि 'किसी को कोई काम करना धर्म-संगत है' उस स्थान में धर्म शब्द से कर्त्तव्य शास्त्र अथवा तत्कालीन समाज व्यवस्था शास्त्र का ही अर्थ पाया जाता है तथा जिस स्थान में पारलौकिक कल्याण के मार्ग बतलाने का प्रसंग आया है उस स्थान पर मोक्ष धर्म इस विशिष्ट शब्द की योजना की है । इसी प्रकार मनु आदि स्मृति ग्रन्थों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र विशिष्ट कर्मों अर्थात् चारों वर्णों के कर्मों का वर्णन करते समय केवल धर्म अर्थ का ही अनेक स्थानों पर कई बार उपयोग किया गया है । गीता में भी **'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य'** (गीता २-३१) **'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः'** (३-३५) आदि कई स्थानों पर धर्म शब्द इस लोक के चातुर्वर्ण्य के धर्म के अर्थ में ही किया गया है ।

पुराने जमाने के ऋषियों ने श्रम विभाग रूप चातुर्वर्ण्य संस्था इसलिए चलाई थी कि समाज के सब व्यवहार सरलता से होते जाएँ । किसी एक विशिष्ट व्यक्ति का वर्ग पर ही सारा बोझ न पड़ने पावे और समाज का सभी दशाओं से संरक्षण और पोषण भली-भाँति होता रहे । यह बात भिन्न है कि कुछ समय के बाद चारों वर्णों के लोग केवल जाति मात्रोपजीवी हो गये, अर्थात् सच्चे स्वधर्म को भूल कर वे केवल नामधारी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र हो गये ।

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष: न च कश्चिच्छृणोति मे ।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ।।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

अरे, भुजा उठाकर मैं चिल्ला रहा हूँ, परन्तु कोई भी नहीं सुनता, धर्म से ही अर्थ और काम की प्राप्ति होती है, इसलिए इस प्रकार के धर्म का आचरण तुम क्यों नहीं करते हो ?

क्या संस्कृत, क्या भाषा सभी में धर्म शब्द प्रयोग उन सब नीति-नियमों के बारे में किया गया है, जो समाज धारा के लिए शिष्टजनों द्वारा अध्यात्म दृष्टि से बनाये गये हैं । इस दृष्टि से विचार करने पर नीति के उन नियमों अथवा शिष्टाचार को धर्म की बुनियाद कह सकते हैं जो समाज धारणा के लिए शिष्टजनों के द्वारा प्रचलित किये गये हों और इसलिए महाभारत (अनु १४०-१५७) में एवं स्मृति ग्रन्थों में "**आचार प्रभवो धर्मः**" अथवा **आचारः परमो धर्मः** (मनु० १-१०८) अथवा धर्म को मूल बतलाते समय "**वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः**" (मनु० २.१२) इत्यादि वचन कहे हैं ।

धर्म शब्द की दूसरी एक और व्याख्या प्राचीन ग्रन्थों में दी गई है, यह व्याख्या मीमांसकों की है । '**चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः**' (जै० सू० १-२-३) किसी अधिकारी पुरुष का यह कहना अथवा आज्ञा करना कि 'तू अमुक कर' अथवा 'मत कर' 'चोदना' यानी प्रेरणा है । जब तक इस प्रकार कोई प्रबन्ध नहीं कर दिया जाता, तब तक कोई भी काम किसी को भी करने की स्वतन्त्रता होती है । इसका आशय यही है कि पहले-पहले निर्बन्ध या प्रबन्ध के कारण धर्म निर्माण हुआ । धर्म की यह व्याख्या कुछ अंश में प्रसिद्ध अँग्रेज ग्रन्थकार हॉब्स के मत से मिलती है । असभ्य तथा जंगली अवस्था में प्रत्येक मनुष्य का आचरण समय-समय पर उत्पन्न होने वाली मनोवृत्तियों की प्रबलता के कारण हुआ करता है । परन्तु धीरे-धीरे उस समय के बाद यह मालूम होने लगता है कि इस प्रकार का मनमाना बर्ताव श्रेयस्कर नहीं है और यह विश्वास होने लगता है कि इन्द्रियों के स्वाभाविक व्यापारों की कुछ मर्यादा निश्चित करके उसके अनुसार करने में ही सब लोगों का कल्याण है, तब प्रत्येक मनुष्य ऐसी मर्यादाओं का पालन कायदे के तौर पर करने लगता है, जो शिष्टाचार से, अन्य रीति से सुदृढ़ हो जाया करती है । जब इस प्रकार की मर्यादाओं की संख्या बहुत बढ़ जाती है, तब उन्हीं का एक शास्त्र बन जाता है । पूर्व समय में विवाह व्यवस्था का प्रचार नहीं था । पहले-पहल उसे श्वेतकेतु ने चलाया । इसी प्रकार शुक्राचार्य ने मदिरा पान को निषिद्ध ठहराया । यह न देखकर कि इन मर्यादाओं को बनाने में श्वेत केतु अथवा शुक्राचार्य का क्या हेतु था, केवल किसी एक बात पर ध्यान देकर कि इन मर्यादाओं के निश्चित करने का काम या कर्त्तव्य इन लोगों को करना पड़ा, धर्म शब्द की '**चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः**' व्याख्या बनाई गई है।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे राग द्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेतौ ना ह्यस्य परिपंथिनौ ।।

प्रत्येक इन्द्रिय ने अपने-अपने उपयोग अथवा त्याज्य पदार्थ के विषय में जो प्रीति अथवा द्वेष होता है, वह स्वभाव सिद्ध है । इनके वश में हमें नहीं पड़ना चाहिए, क्योंकि राग और द्वेष दोनों हमारे शत्रु हैं, तब भगवान् भी धर्म का वही लक्षण स्वीकार करते हैं, जो स्वाभाविक मनोवृत्तियों की मर्यादित करने के विषय में ऊपर कहा गया है । मनुष्य की इन्द्रियाँ उसे पशु के समान आचरण करने के लिए कहा करती हैं और उसकी बुद्धि उनके विरुद्ध दिशा में खींचा करती है । इस कलहाग्नि में जो लोग अपने शरीर में संचार करने वाले पशुत्व का यज्ञ करके कृतकृत्य (सफल) होते हैं, उन्हें ही सच्चा याज्ञिक कहना चाहिए और वही धन्य भी है ।

धर्म अफीम की गोली नहीं है

३ दिसम्बर, १९०५ को सोवियत रूस से प्रकाशित एक साम्यवादी पत्र में तत्कालीन सोवियत संघ के क्रान्तिकारी नेता एवं साम्यवादी सिद्धान्त के प्रतिपादक लेनिन ने समाजवादी सिद्धान्तों के क्रियान्वयन में सर्वोपरि बाधा धर्म को बताया और धर्म की निन्दा उसे 'अफीम की गोली' कहकर की । आज साम्यवादी सिद्धान्तों में मार्क्स एवं लेनिन के इन्हीं कथनों को सर्वोपरि महत्त्व देकर स्वीकार किया जाता है और इन्हीं शब्दों की प्रेरणा से कम्युनिस्ट देश कम्युनिज्म सिद्धान्त पर आस्था रखने वाले धर्म तत्त्व की अवहेलना, उपेक्षा ही नहीं, उसकी निन्दा भी करते रहते हैं ।

उक्त विचारधारा के प्रतिपादनों को बाद में लेनिन के 'धर्म सम्बन्धी विचार' नामक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित किया गया और अब तक उन्हीं विचारों को आधारभूत तथ्य मानकर धार्मिक आस्थाओं और परम्पराओं का खण्डन किया जाता रहता है ।

कदाचित् कोई उन मूलभूत विचारों पर दृष्टि डाले तो उसे यह समझते देर न लगेगी कि लेनिन की इस मान्यता के पीछे ऐतिहासिक कारण रहे हैं, वे उस समय की परिस्थिति में सही भी रहे माने जा सकते हैं, पर धर्म के यथार्थ स्वरूप की तुलना में न तो उन विचारों में कुछ सत्य है, न ही वजन । उन दिनों अन्य योरोपीय देशों की तरह रूस में भी चर्च और उनके पादरी सर्वप्रभुता सम्पन्न हुआ करते थे। असीमित अधिकार, सम्पत्ति प्राप्त व्यक्ति में अहंकार की अन्य जो भी बुराइयाँ हो सकती थीं वह उन पादरियों में भी थीं । यही कारण था कि उनके प्रति जन श्रद्धा पूरी तरह समाप्त हो चुकी थी । अपना आधिपत्य बनाये रखने के लिए पादरियों ने सिद्धान्तों की कट्टरता का बोझ लादा । उस स्थिति में किसी भी विचारशील में वही प्रतिक्रिया हो सकती थी, जो लेनिन में हुई । वास्तव में लेनिन की आवाज आम जनता की प्रतिक्रिया थी, इसी कारण वहाँ धर्म के प्रति अनास्थाओं ने एकाएक जोर पकड़ा, विप्लव हुआ और रूस एक झटके में साम्यवादी देश हो गया ।

उन समूचे विचारों को बार-बार पढ़ने पर एक भी ऐसा तर्क नहीं मिलता, जिससे सैद्धान्तिक रूप में धर्म के सनातन सिद्धान्त कटते हों । आर्थिक, सामाजिक जीवन को

www.awgp.org
www.vicharkrantibooks.org

जिस भाग्यवाद से दबाने की बात कही गई है, वह पादरियों की तात्कालिक मस्तिष्कीय उपज हो सकती है । वस्तुतः हिन्दू धर्म ही नहीं किन्हीं अन्य धर्मों में भी वैसा नहीं है । हमारे यहाँ पग-पग पर पुरुषार्थ, परहित, सामाजिक भलाई की बात कही गई है, सम्पत्ति वालों को सम्पत्ति का एक बड़ा भाग लेने की परम्परा आज आयकर के रूप में सारे विश्व में विद्यमान है, पर यह वस्तुतः भारतीय शासन व समाज की देन है, उसका भी सम्बन्ध धर्म से ही रहा है जो आर्थिक और भौतिक जीवन के व्यवहार में इतनी कठोर साम्यवादी विचारधारा का पोषक रहा हो उस धर्म को ही प्रगति में बाधक मान लेना न केवल भूल अपितु मूर्खता भी है, जबकि धर्म एक विज्ञान सम्मत प्रक्रिया का नाम है ।

यों पाखण्ड आज भी धर्म में कम नहीं, अन्ध-विश्वास और निहित स्वार्थों का अहंकार अब भी जुड़ा हुआ है धर्म के उस स्वरूप की जो व्यक्ति को पलायनवादी, भाग्यवादी, विषमतावादी बनाता है न केवल निन्दा अपितु उसे बहिष्कृत भी किया जाना चाहिए, पर उसका दार्शनिक पक्ष जो प्रत्येक युग, प्रत्येक काल, प्रत्येक परिस्थिति में व्यक्ति के लिए अपरिवर्तनीय है, का तिरस्कार मानव-जीवन के लिए कितना अहितकर हो सकता है, उसे आज के सामाजिक जीवन और वैयक्तिक आचरण की मर्यादाहीनता के रूप में कहीं भी स्पष्ट देखा जा सकता है । धर्म को पलायनवादी बनाना भगोड़ों का काम है । निन्दा केवल उतने ही अंश की हो सकती है ।

भगोड़ों में से बहुत से तथाकथित अध्यात्म के कोतर में छिपने की कोशिश करते हैं । एकान्त में भजन करने और शान्ति पाने की बात सोचना सर्वसाधारण के लिए उपयोगी नहीं है । यह वैज्ञानिक अन्वेषण एवं अभ्यास का प्रकरण है । अन्तर्मुखी होकर सूक्ष्म अति सूक्ष्म सत्ता के गहरे समुद्र में डुबकी लगाने और वहाँ से बहुमूल्य रत्न राशि ढूँढ़ लाने के लिए कुशल पनडुब्बे का सा-दुस्साहस करना एक महत्त्वपूर्ण काम है, पर वह बन तब पड़ता है, जब पहले मन को भली प्रकार निग्रहीत कर लिया जाय और एकान्त में भी रंगमंच जैसा आनन्द आने लगे। यह समय-साध्य और अभ्यास-साध्य है । यह प्रारम्भ नहीं परिपक्वास्था है । जो लोग आरम्भ में ही एकान्त ढूँढते हैं और पहले दिन ही समाधि लगने की बात सोचते हैं, वे भारी भूल करते हैं । व्यायामशाला में प्रवेश करते ही दंगल जीतने वाला पहलवान कौन बनता है और पट्टी पूजन के दूसरे दिन ही किसके हाथ स्नातक होने का प्रमाण-पत्र मिल जाता है । इसी बालबुद्धि से एकाकी आत्मसाधना के लिए कुछ लोग भागते हैं । इसके लिए उनकी पूर्व तैयारी तो होती नहीं, जो उत्साह होता है वह भी श्रद्धाजन्य नहीं, जीवन संग्राम की भयंकरता से डरकर कहीं छिपने की पलायनवादी मनोवृत्ति से उत्पन्न हुआ होता है । उसमें न श्रद्धा होती है और न गहराई । फलतः मन वहाँ भी नहीं लगता । वापस लौटने में उपहास होने की झिझक से एक नया असमंजस और खड़ा हो जाता है ।

कुछ लोग भजन करने के लिए घर छोड़कर तो नहीं भागते पर एक विचित्र प्रकार की उदासी धारण कर लेते हैं । यह वैराग्य है तो नहीं । पर कहा या समझा इसी तरह जाता है । अपने कर्त्तव्यों एवं आश्रितों से उदासीन हो जाना । उदासी से उत्पन्न शिथिलता भी भारी पड़ती है । जीवन में इस प्रकार जो रिक्तता उत्पन्न होती है, उसे भरने के लिए कई व्यक्ति पूजा-पाठ, सत्संग, साधु-संगम जैसा कोई आश्रय ढूँढ़ते हैं । यदि उस विषय में गम्भीरतापूर्वक कदम उठाये गये होते तो कर्मयोग की सनातन प्रक्रिया पहले से ही मौजूद थी । उसे अपनाकर अर्जुन, हनुमान आदि की तरह उभयपक्षीय कर्त्तव्य-धर्म भली प्रकार सध सकते थे । लोक और परलोक का समन्वय पूर्ण व्यावहारिक है, साथ ही सरल और सरस भी ।

वैयक्तिक जीवन में आत्म-परिष्कार, पारिवारिक जीवन में सहयोगियों का पोषण-संवर्धन, सामाजिक जीवन में सत्प्रवृत्तियों का समर्थन जैसे उत्तरदायित्व हर किसी के सामने मौजूद हैं । उनका निर्वाह भली प्रकार किया जाना चाहिए । इन तीनों ही मोर्चों पर कर्म-कौशल का, शौर्य-साहस का, विवेक-सन्तुलन का परिचय दिया जाना चाहिए। इनसे मन हटा लेना और कल्पनालोक में विचरण करके मन को समझाना ऐसा प्रयत्न है, जिससे किसी उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती । भाग खड़े होने से समस्याएँ और भी अधिक विकराल होती हैं और पहले जितना उपद्रव चल रहा था, उसमें और भी अधिक वृद्धि हो जाती है । मन जिस समाधान को खोजने चला था वह भी भटकाव भरी पगडण्डियों में कहाँ मिलता है । उपेक्षा, उदासीनता की रीति-नीति, चैन मिलने में सहायक होने की कल्पना जिन्होंने भी की है उन्हें प्रयोग के उपरान्त निराशा ही हाथ लगी है ।

प्रायः कायरता से उत्पन्न पलायनवाद की चपेट में बहुत से लोग धर्म आवरण ओढ़ते और व्यावहारिक जीवन से जुड़ी हुई समस्याओं से मुँह मोड़ते हैं । ऐसे ही धर्मात्मा सर्वत्र उपहासास्पद बनते हैं । हर क्षेत्र में श्रम करने पर उपलब्धियाँ मिलती हैं । धर्म क्षेत्र में प्रवेश करने पर व्यक्तित्व में तद्विषयक प्रखरता उत्पन्न न हो तो सहज ही उसकी निरर्थकता का अनुमान लगाया जायगा । दर्शकों और पर्यवेक्षकों में सहज ही उसकी बुरी प्रतिक्रिया होगी । धर्मात्माओं की अपरिपक्वता का दोष धर्म पर, धार्मिकता पर मढ़ा जायगा । देखा यही जाता है कि धर्म-चर्चा करने वाले लोग अपने स्वजन-सम्बन्धियों से उदास होते जाते हैं । जिम्मेदारियों से हाथ खींचकर उन्हें और भी अधिक विकृत करते हैं, साथ ही स्वयं भी निराश, निष्क्रिय बनकर अपने आप के लिए भार-भूत बनते हैं । जहाँ रहते हैं, वहाँ भी नीरसता का वातावरण उत्पन्न करते हैं । जिस समुदाय के बीच रहा जाय, जिन लोगों के साथ घनिष्टतापूर्वक निर्वाह किया जाय उन्हें पारस्परिक स्नेह, सहयोग, विनोद, उत्साह का लाभ मिलना चाहिए । इसके बिना यह निर्वाह के साथ जुड़े हुए कर्त्तव्य की अवहेलना

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

ही होती है । जो माँ स्वयं उदास रहती है और अपने बच्चों पर, पति पर, परिवार पर उदासी थोपे रहती है, वह प्रकारान्तर से उन पर अत्याचार ही करती है । भले ही वह निर्दोष जैसी दीन-दु:खी जैसी क्यों न दीखती हो । यहाँ महिला का तो उदाहरण भर दिया गया है । बात उपेक्षा बरतने वाले हर नर-नारी, बाल-वृद्ध पर लागू हो सकती है । सहजीवन में, साथियों के प्रति अपने कर्त्तव्यों में शिथिलता कर देना हर दृष्टि से अनुचित है । भले ही इसके लिए धार्मिकता की आड़ क्यों न ली गई हो ? धर्म-धारणा का निर्वाह करने के लिए नीरस और उत्तरदायित्वविहीन जीवनक्रम अपनाना आवश्यक नहीं है । उसे सरसता और सक्रियता के साथ अपेक्षाकृत और भी अच्छी तरह निभाया जा सकता है।

ऐसी पलायनवादी धार्मिकता पर करारे व्यंग्य करते हुए दार्शनिक नार्मन वीसेन्ट पोल ने लिखा है-''कमजोर मन:स्थिति के लोग जीवन संग्राम की स्वाभाविक कठिनाइयों को तिल का ताड़ बनाते हैं और भयभीत होकर मुँह छिपाने का कोई आसरा तकते हैं । कोई धर्म का पल्ला पकड़ते हैं, तो कोई शराब का आश्रय लेते हैं, पर इससे उन्हें मिलता कुछ नहीं । ऐसे सभी आसरे परिस्थिति में सुधार नहीं, बिगाड़ ही उत्पन्न करते हैं 'धर्म' को अफीम की गोली कहकर अनास्थावादी लोगों ने उसे खूब बदनाम किया है और कहा है इस जंजाल में फँसने वाले लोग काहिली और गैर जिम्मेदारी से लद जाते हैं, यह बदनामी किसी भी भले-बुरे इरादे से क्यों न की जाती हो, उसमें इतना तथ्य तो है ही कि धार्मिकता और उदासीनता प्राय: पर्यायवाचक बनती दिखाई पड़ती है तो उस परिणाम को देखते हुए इस प्रकार के निष्कर्ष निकालने वालों को अधिक दोष नहीं दिया जा सकता ।

वीसेन्ट पोल ने इस सन्दर्भ में अपना निजी अभिमत व्यक्त करते हुए कहा है-धार्मिकता, औषधियाँ, मनोरंजन आदि सभी साधन यदि ठीक तरह प्रयुक्त किये जाएँ तो इनके सहारे प्रगति होती है और प्रसन्नता मिलती है । किन्तु इन पर इतना आश्रित न बना जाय कि कठोर कर्त्तव्यों की उपेक्षा ही होने लगे । औषधियों पर आश्रित रहने से नहीं स्वास्थ्य रक्षा के ठोस प्रयत्न से काम चल सकता है । मनोरंजन के अवसर ढूँढ़ने से नहीं आन्तरिक उल्लास से प्रसन्नता स्थिर रहती है-इसी प्रकार धर्म के कल्पना लोक में विचरण करने से नहीं, जीवन संग्राम में कर्म का गांडीव उठाने से समाधान मिलता है । कर्मनिष्ठा का स्थान यदि पलायनवादी धार्मिकता ग्रहण करने लगे तो उसमें अनर्थ की सम्भावना रहती है, वैसे दोनों ही अपने-अपने स्थान पर आवश्यक और महत्त्वपूर्ण हैं ।

धर्म का वास्तविक तात्पर्य है-मानवीय चेतना में ऐसी सत्प्रवृत्तियों का समावेश जो सदाचरण और कर्त्तव्य-पालन के रूप में वातावरण को उल्लासपूर्ण बनाने में समर्थ हो सकें । सहिष्णुता, दया, प्रेम, विवेक, उदारता, संयम, सेवा जैसे गुणों में सच्ची धर्मनिष्ठा का परिचय मिलता है । कर्त्तव्यपरायणता को प्रमुखता देने वाला व्यक्ति धर्मात्मा कहा जा सकता है, किन्तु आज तो इन सबकी उपेक्षा करके मात्र पूजा-पठन में निरत रहना ही धर्मपरायणता का चिह्न बन गया है । धर्म के प्रति अनास्था इसी विकृति के कारण उत्पन्न हुई है । धर्म के कारण लोग पिछड़ेपन के शिकार नहीं हुए हैं, वरन् पिछड़े लोग धर्म का आडम्बर ओढ़कर उसकी उपयोगिता में सन्देह उत्पन्न कर दिया है ।

नींद की गोली खाने से, नशा पीने से भाग्यवाद का आश्रय लेने, भाग खड़े होने, उदासीनता धारण कर लेने से उलझनें सुलझती नहीं और न पलायनवादी धार्मिकता से किसी को समाधान मिलता है । तथ्यों को समझा जाना चाहिए और समस्याओं का समाधान ढूँढ़ना चाहिए । वह एक तरह से न सही तो दूसरी तरह से हल हो सकती हैं । जिस तरह हम हल चाहते हैं, वही एकमात्र उपाय हो ऐसी बात नहीं है, खोजने पर ऐसे अनेकों आधार निकल सकते हैं, जिससे प्रस्तुत कठिनाइयों से निपटना या बचना सम्भव हो सके । पानी की धार कोई बड़ी चट्टान सामने आने पर किसी दूसरी दिशा में मुड़ जाती है । सीधी टक्कर कठिन पड़ती है, तो बगल में रास्ता ढूँढ़ा जाता है । निराशा, कायरता और भीरुता से ग्रसित मन:स्थिति में अपनाया गया धर्माश्रय किसी के कुछ काम नहीं आ सकता । धर्म तो कठोर कर्म का पर्यायवाचक है । धर्मनिष्ठा और कर्मनिष्ठा समान अर्थबोधक हैं । दूरदर्शी दृष्टिकोण अपनाकर अपनी और अपने सम्पर्क क्षेत्र की समस्याओं का समाधान करने की क्षमता का विकास ही सच्ची धार्मिकता है । इसी विशेषता के कारण धर्म तत्त्व को मानव-जीवन में सम्मान और उच्च स्थान मिला है । इस मौलिकता से विरत होकर वह अनुपयोगी बनता और बदनाम होता चला जायेगा ।

धर्म और ईश्वर के प्रति आस्था होने का तात्पर्य है-जीवन की गरिमा और उसकी श्रेष्ठता पर सुदृढ़ श्रद्धा । इसकी प्रेरणा से मनुष्य व्यक्तिगत जीवन में ईमानदार, जिम्मेदार और उदार बनता है । ईश्वर विश्वास से वह जानता है कि उसे पैर इसलिए दिये गये हैं कि उनके सहारे न केवल खड़ा हो वरन् आगे चलने का भी प्रयास करे । यदि ईश्वर को लकड़ी का घोड़ा बनाया जायेगा और उस पर चढ़कर सफर करने का इरादा किया जायेगा तो यह आस्तिकता और धार्मिकता के मूल सिद्धान्तों का अतिक्रमण ही होगा ।

यदि तथाकथित अध्यात्मवादियों ने धर्म की यह दुर्गति न की होती तो अनास्थावादियों को यह कहने का साहस नहीं होता कि 'धर्म अफीम की गोली है' जिसमें प्रत्यक्ष चेतना को अप्रत्यक्ष जगत की खुमारी सवार रहती है । धर्म के वे सभी सिद्धान्त जो मनुष्य को प्रत्यक्ष से परे अप्रत्यक्ष

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

और अदृश्य का बोध कराते हैं दर्पण में प्रतिबिम्ब की तरह सत्य और स्पष्ट हैं, वस्तुतः धर्म ही यथार्थ विज्ञान है, धर्म की नाव पर बैठकर ही आत्म-कल्याण, आत्म-शान्ति और आत्मिक प्रगति का समुद्र पार किया जा सकता है, उससे कम में नहीं ।

धर्म के अन्तर्गत वे सारे सिद्धान्त एवं उपयोगी आधार विद्यमान हैं जो मनुष्य के सर्वांगीण विकास-भौतिक एवं आध्यात्मिक प्रगति में सहायक सिद्ध हो सकते हैं । आवश्यकता इतनी भर है कि उसके सनातन एवं सार्वभौम सिद्धान्तों को सही ढंग से प्रस्तुत किया जाय । यह सम्भव हो सके तो मानवीय प्रगति का अवरुद्ध पथ-प्रशस्त हो सकता है और वह विज्ञानसम्मत, कहीं अधिक सशक्त एवं उपयोगी प्रमाणित किया जा सकता है ।

धर्म एक परिष्कृत दृष्टिकोण

प्राचीन भारत में मनीषियों ने धर्म का अर्थ व्यापक माना है । सम्प्रदाय, मत, पन्थ आदि संकीर्ण हैं । धर्म शब्द का दुरुपयोग इनके पर्याय रूप में नहीं होना चाहिए । ऋषि-मुनियों ने वर्ग-सम्प्रदाय आदि भेदभाव के बिना प्राणिमात्र के कल्याण के निमित्त ज्ञान-विज्ञान का अन्वेषण किया । जप-तप की अनुभूतियों से विश्व-मानव को लाभान्वित करने को सूत्र और मन्त्रों की रचना की । वेद वेदांग इसका ज्वलन्त प्रमाण हैं ।

वेद को धार्मिक ग्रन्थ माना जाता है । उसमें समग्र जीवन जीने की कला का वर्णन मिलता है । व्यक्तिगत ही नहीं, सामाजिक समस्याओं का समाधान है । आध्यात्मिक ही नहीं अपितु आर्थिक, राजनैतिक विषय भी हैं । शासन प्रणाली के प्रसंग में "**साम्राज्य भौज्यं स्वराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यम्**" आदि ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण में उल्लेख किया गया है ।

आज लोग हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, बौद्ध, जैन आदि को धर्म मानने लगे हैं । अतः इनसे भेदभाव रहित होना 'धर्म-निरपेक्षता' कहलाता है । यह भ्रामक और गलत दृष्टिकोण है । मुस्लिम, यहूदी, मसीही आदि सम्प्रदाय हैं, धर्म नहीं । धर्म तो एकांगी पंथ-सम्प्रदायों से ऊपर है । सम्प्रदाय जल बिन्दु के समान है । धर्म समुद्र है। सम्प्रदायातीत जीवन ही मानवता का स्वरूप है ।

परन्तु वर्तमान विश्व में जितनी विचारधाराएँ जोरों पर फैल रही हैं, उनमें कृत्रिमता और अधूरा दर्शन है । कुछ एकांगी विचार प्रतिक्रियात्मक और कुछ नकली हैं । पूँजीवाद एकांगी विचार है । पूँजीवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप साम्यवाद है । अन्य भारत में प्रचलित कई धारणा तो अँग्रेजों की सीधी नकल हैं । इस तरह के विचार उस काल में चलते हैं । फिर थोड़े समय के बाद खत्म हो जाते हैं ।

इस युग की यही विडम्बना है कि उद्योग और विज्ञान के विकास से हमारा दृष्टिकोण भौतिकवादी और स्वार्थ-परायण बन गया है । अनास्था और अविश्वास के कारण धार्मिक दर्शन के प्रति द्वन्द्व उत्पन्न हुआ । विद्या-विहीन शिक्षित और साधन-सम्पन्न लोग यह समझते हैं कि नये समाज के निर्माण की शक्ति धर्म में रही नहीं । धर्म-तत्त्व के प्रति अश्रद्धा और उपेक्षा इसी अज्ञान की उपज है ।

यद्यपि विभिन्न मत-पंथ, सम्प्रदाय और वादों का प्रारम्भ व्यक्तिगत तथा समष्टिगत भूलों को सुधारने की दृष्टि से होता है । व्यक्ति का कल्याण एवं सुन्दर समाज का निर्माण ही सभी मतवादों का मुख्य उद्देश्य है, किन्तु उनकी ममता व्यक्ति को पागल बना देती है । यही भ्रान्ति और मोह कहलाता है । हम भूल जाते हैं कि औषधि का सेवन आरोग्य के लिए है, ममता किम्बा आसक्ति हेतु नहीं । सभी विचारों से स्वयं एवं समाज को सुन्दर तथा आनन्ददायक बनाने की अपेक्षा की जाती है ।

जिस दृष्टिकोण की गला फाड़-फाड़कर प्रशंसा की जाती है, यदि वह विश्व-कल्याण हेतु जीवात्मा को सन्मार्ग पर चलाने में उपयोगी न बन सका तो उसका परिवर्तन स्वाभाविक है । प्रेम, सत्य और यथार्थ ही धर्म है । एकता और समता का मूल यही धार्मिक दृष्टिकोण है । धर्म का नया दृष्टिकोण सार्वभौम धर्म का प्रतिपादन करता है ।

अनुपयोगी मत-वाद और साम्प्रदायिक भेदभाव तथा पाखण्ड को अब भुलाकर धर्म के इस नये दृष्टिकोण को जीवन के व्यवहार में क्रियान्वित करना ही पड़ेगा, अन्यथा अधर्म, अनास्था, अभाव, दुर्भाव के कारण विविध समस्या जनित संकट समूची मानव सभ्यता के विनाश का चित्र प्रस्तुत कर देगा ।

हम जानते हैं कि मानव मात्र के अन्तःकरण में धर्म का दैवी भाव भी विद्यमान है । प्रयोजन है, परम सत्य की अनुभूति का अमृत पिलाकर आत्म-परिचय कराने का, अखण्ड-ज्योति जलाकर सद्ज्ञान के अनुदान से सद्भाव जागरण का ।

जीवात्मा का ध्येय है, अनन्त आनन्द की प्राप्ति । "**मृत्योर्मा अमृतं गमय**" में इसी अमरता की माँग है । नदियाँ अपने आप में सन्तुष्ट न होने से समुद्र की ओर दौड़ी चली जाती हैं । हवा को एक स्थान पर चैन नहीं । यह प्रतिक्रिया संसार के प्रत्येक परमाणु में चल रही है । किसी को भी अपने आप में सन्तोष नहीं मिलता । जड़ व चेतन सभी पूर्णता के लिए गतिवान् हैं । अपने स्वत्व को किसी महान् सत्ता में घुला देने के लिए सबके सब सतत् क्रियाशील दिखाई देते हैं ।

ऐसी ही प्रक्रिया जीवात्मा की है । व्यष्टि में उसे अनन्त आनन्द की प्राप्ति नहीं । समष्टि की परमात्मा के पावन स्पर्श हेतु सेवा-भक्ति अनिवार्य है । आत्म-चिन्तन की प्रवृत्ति से जीवन-मरण के रहस्य का अनावरण होता है । उसे यह आभास मिलता है कि मानव को यहाँ वे सारी परिस्थितियाँ प्राप्त हैं जिनके सहारे सक्रिय होने पर वह अपनी विकास यात्रा आसानी से पूरी कर सकता है ।

परमात्मा से प्रेम और आत्मीयता स्थापित करने का अच्छा तरीका यह है कि हम उसका अभ्यास परिजनों से

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

प्रारम्भ करें । संसार में सबके साथ सत्य का व्यवहार करें । न्याय रखें और सहिष्णुता बरतें । स्वार्थ की अहंवृत्ति का परित्याग कर परमार्थ के विशाल क्षेत्र में पदार्पण करें । इससे मनुष्य विराट् की ओर अग्रसर होता है । यही नया दृष्टिकोण युग की अनिवार्य आवश्यकता है ।

ऐसा धार्मिक दृष्टिकोण वाला व्यक्ति हजारों, लाखों योनियों के बाद सौभाग्य से उपलब्ध मानव जीवन को तुच्छ स्वार्थमय गोरखधन्धों में ही दुरुपयोग करने की मूर्खता नहीं करेगा । यह प्रत्यक्ष है कि पशु-पक्षी की तुलना में ज्ञान या धर्म-भावना के कारण ही वह श्रेष्ठ है ।

धर्म के इस दृष्टिकोण के फलस्वरूप जीवन आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर प्रगति करता है । सड़ी- गली रूढ़ियों और परम्पराओं के बन्धन से मुक्ति मिलती है । स्थितप्रज्ञ और परमहंस की स्थिति से परम सुख-शान्ति पाता है । इस प्रकार अभ्युदय निः श्रेयस की सिद्धिदायक विश्वात्मा के विराट् रूप की ज्ञान, कर्म, उपासना ही अभिनव धार्मिक दर्शन का मूल स्वरूप है ।

धर्म-धारणा के लक्षण

जीवन में स्थायी सुख-शान्ति लाने के लिए धर्म का पालन करना बहुत आवश्यक है । जन-साधारण की सामान्य धारणा के अनुसार धर्म कोई विशिष्ट कर्मकाण्ड नहीं है । धर्म का अर्थ पूजा-पाठ अथवा साधना-उपासना ही नहीं है । यह सारे कर्मकाण्ड जीवन को धार्मिक पथ पर चलाने और उसका अभ्यस्त बनाने के साधन मात्र हैं । पवित्र कर्मकाण्ड करने से मनुष्य के कुसंस्कार तथा अहितकर अभ्यास मिटते हैं और उनके स्थान पर सुसंस्कार और कल्याणपूर्ण अभ्यासों का समावेश होता है ।

धर्म तो मनुष्य जीवन की वह सामान्य पद्धति है जिसको अपनाकर चलने से एक चिरस्थायी सुख-शान्ति की उपलब्धि होती है । पग-पग पर विग्रह तथा विनाश-कारणों का समाधान होता है । धर्म का अवलम्बन लेकर चलने से जीवन दिन-दिन उन्नति की ओर अग्रसर होता चलता है । उन्नतिपूर्ण जीवनयापन करना ही मनुष्यता है, इसके विपरीत अधोगामी जीवन जीना और कुछ भी हो मानवता तो नहीं ही है !

भारतीय मनीषियों ने अध्ययन, चिन्तन और अनुभव के आधार पर सुख-शान्ति पूर्ण जीवन-यापन की जो पद्धति खोज निकाली है उसको धर्म का नाम देकर दस लक्षणों अथवा कर्त्तव्यों की सीमा में समाहित कर दिया है । जो मनुष्य इन दस गुणों अथवा कर्त्तव्यों को अपनाकर चलता है वह न केवल स्वयं सुखी रहता है अपितु दूसरों के लिए भी सुख का हेतु बनता है ।

धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय, निग्रह, धी, विद्या, सत्य एवं अक्रोध यह धर्म के दस लक्षण हैं– अर्थात् यह दस लक्षण ऐसे कर्त्तव्य अथवा गुण हैं जो मनुष्य को महान बनाकर सुख-शान्ति की उपलब्धि कराते हैं ।

यह दस कर्त्तव्य केवल धर्म के ही लक्षण नहीं बल्कि सच्ची मनुष्यता के पावन सोपान और विश्व-कल्याण के मूल मन्त्र भी हैं ।

इन दस लक्षणों को अपनाकर चलने वाले को किसी धर्म विशेष का अनुयायी मानना संकुचित दृष्टिकोण तथा संकीर्ण विचारधारा का परिचय देना है । यह किसी जाति विशेष के लिए साम्प्रदायिक निर्देश नहीं अपितु सम्पूर्ण मानवता के लिए मांगलिक निष्कर्ष हैं जिनको सार्वभौम भावना रखने वाले भारतीय चिन्तकों ने सम्पूर्ण जीवन का मंथन करके निकाला है । यह जीवन तथ्य किसी देश, जाति, राष्ट्र अथवा सम्प्रदाय की निधि नहीं है । इस विभूति में समग्र संसार का अधिकार है, जो चाहे ग्रहण कर सकता है और लाभ उठा सकता है।

धर्म के ये दस लक्षण अन्धविश्वास के विषय नहीं हैं, बल्कि तर्क और अनुभव की कसौटी पर परखे हुए मानव जीवन के शाश्वत् सत्य हैं । संसार में कितने ही धर्म, मजहब, पंथ और सम्प्रदाय क्यों न चला करें और क्यों न कितने ही पीर, पैगम्बर, सन्त, महन्त, साधु अथवा महात्मा पैदा हो जायें, मानव कल्याण का निर्देश करते समय इस त्रयकालिक दशक से बाहर नहीं जा सकते । वे जो कुछ नया-पुराना कहेंगे, वह इन्हीं के इर्द-गिर्द घूमती हुई इनकी ही शाखाएँ-प्रशाखाएँ होंगी ।

इस धार्मिक दशक को जीवन में उतारते समय विवेचनापूर्वक इनका स्वरूप समझ लेना अत्यावश्यक है ।

धर्म-धारणा का प्रथम लक्षण–धृति

धर्म शब्द का अत्यन्त संक्षिप्त सारगर्भित अर्थ तो 'अभ्युदय और निःश्रेयस' के रूप में लिया जाता है । जिसका अर्थ होता है, लौकिक और पारलौकिक उन्नति । अथवा ऊँचे उठना, नीचे न गिरना । इतने भर सूत्र-संकेत की यदि विस्तृत विवेचना की जाय तो उसके अन्तर्गत उन सभी श्रेष्ठ गुण, कर्म, स्वभावों का समावेश हो जाता है, जिनका जीवन को समुन्नत, सुसंस्कृत बनाने से सीधा सम्बन्ध है । उन सभी दुर्गुणों का सुधार-निष्कासन भी इसी सूत्र में इसी समाविष्ट है, जो पतन-पराभव का निमित्त कारण होते हैं ।

किन्तु इस अभ्युदय, निःश्रेयस सूत्र से जिनका काम नहीं चलता और जो अधिक विस्तृत विवेचना के साथ वस्तु-स्थिति को समझना चाहते हैं, उनके लिए धर्म के सुप्रसिद्ध दस लक्षणों की भावना, प्रेरणा और व्यवहार संहिता समझने-समझाने की आवश्यकता पड़ेगी ।

धर्म लक्षणों में जिसे प्रमुख प्रश्रय मिला है, वह है–'धृति' जिसका मोटा अर्थ 'धैर्य' समझा जाता है । धैर्य का यह अर्थ नहीं है जो कार्य जितने समय में होने वाला है, उसके लिए उपयुक्त समय दिया जाय । अधीर न हुआ जाय । हथेली पर सरसों जमाने जैसी जल्दबाजी न

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

की जाय । शेखचिल्ली घड़ा ढोने की मजदूरी मिलने से पूर्व ही मुर्गी, बकरी, भैंस, घर, बीबी और सन्तान मिलने की उतावली में इतना व्यग्र हो गया था कि उसमें समय साध्य योजना, पलक झपकते ही पूरी होती दिखाई पड़ने लगी थी, इसीलिए उस घटना या कथा की चर्चा, मुद्दतें बीत जाने पर भी मूर्खता का प्रतिनिधित्व करते हुए भी होती रहती हैं ।

घास वर्षा होते ही उग आती है, किन्तु बरगद अथवा ताड़ व खजूर को अपने यौवन के आगमन की प्रतीक्षा करनी पड़ती है । लम्बे समय तक इमकी सेवा-सुश्रूषा के साथ प्रतिफल की प्रतीक्षा करनी पड़ती है । जो उतावली करते हैं, वे हथेली पर सरसों जमाने की बाजीगरी न कर पाने पर निराश हो जाते हैं और भाग्य को दोष देकर जो काम हाथ में लिया था उसे छोड़ बैठते हैं । इससे किया हुआ परिश्रम भी व्यर्थ चला जाता है और मन-मनोबल भी इस प्रकार टूट जाता है, जिससे भविष्य में और कोई साहस भरे कदम उठाने से डर लगने लगे ।

उपर्युक्त प्रतिपादन किसान व्यापारी से लेकर लोकसेवी और योगी-तपस्वी तक पर समान रूप से लागू होता है । क्षमता, दक्षता एवं अभीष्ट साधन-सहयोग उपलब्ध कर सकना इतना सरल नहीं है कि वे तत्काल ही तैयार किये हुए तैयार मिले । इन्हें ठोक-पीटकर, काट-छाँट के उपरान्त ही इस योग्य बनाया जा सकता है, जिसमें से उनके सहारे निर्धारित योजना भली प्रकार चल सके । इस प्रयास में अडंगे भी लगते और अनुपयुक्त साधन बरतते भी रहने पड़ते हैं । इसमें विलम्ब लगते देखकर अपनी आस्था डगमगाने नहीं देना चाहिए । धैर्यपूर्वक लक्ष्य तक पहुँचने के लिए अटूट संकल्प और साहस अपनाये रहना चाहिए, यही है धृति का व्यावहारिक स्वरूप ।

इसका अर्थ यह नहीं है कि जिस काम में जितना समय लगना चाहिए, उससे अधिक लगाया जाय । आलस्यवश कार्यों को आधे-अधूरे छोड़ते हुए उन्हें अस्त-व्यस्त रहने दिया जाय और अपने उस प्रमाद को धैर्य बताया जाय । कर्त्तव्य पालन के सम्बन्ध में तो समय के एक-एक क्षण को हीरे-मोतियों से तोलना चाहिए और तत्परता के साथ तन्मयता को जोड़ते हुए बिना ध्यान बिखेरे, मन को उदास किये संयम, श्रमशीलता के साथ निर्धारण में संलग्न रहा जाय, तभी उसका कुछ कहने लायक प्रतिफल हस्तगत होता है ।

धैर्य को शिथिलता का, आलस्य-प्रमाद का प्रतीक नहीं माना जाना चाहिए और न इस उच्च आदर्श की आड़ में जो हो रहा है, समय पर होकर रहेगा, भाग्यवादियों जैसा बोल न बोलना चाहिए । धृति का तात्पर्य इतना ही है कि अभीष्ट प्रयोजनों के सधाने में समय से अधिक विलम्ब लग सकता है । इस बीच जो आतुरता-अकुलाहट होती है, उसे काबू में रखा जाय ताकि विलम्ब लगने पर भी कठिनाइयों से लड़ने का हौसला तथा कर्मठता का प्रयास शिथिल होने न पाये ।

ब्रूसो की कथा प्रसिद्ध है । वह लड़ाइयों में बार-बार हारता रहा । अन्तिम हार के समय जान बचाकर किसी खाई में पड़ा छिपा हुआ था । पड़े-पड़े छत पर निगाह डाली तो एक मकड़ी जाला बुनते दिखाई पड़ी । तेरह बार असफल रहने के बाद भी वह निराश नहीं हुई और चौदहवीं बार सफल हुई । ब्रूसो की निराशा को इस घटना ने अभिनव उत्साह में बदल दिया । उसने नये सिरे से लड़ाई की योजना बनाई और दूने उत्साह से उसे पूरी करने में लग गया । इस बार सफलता उसी के हाथ रही ।

अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन चुनावों में १४ बार हारे, इसके बाद उन्हें विजय मिली । हारते रहने पर भी उत्साह ठण्डा न हुआ तो लोगों ने जान लिया कि यह आस्थावान है और विश्वास योग्य है । इस दृढ़ता ने एक साहसी व्यक्तित्व का प्रमाण परिचय दिया और जन-समुदाय उनके साथ हो गया । साधनहीन परिस्थितियों में भी वे राष्ट्रपति का चुनाव जीते ।

शिव पार्वती के विवाह का प्रसंग भी ऐसा ही है । पार्वती शिव को पति के रूप में प्राप्त करने के लिए तप कर रही थीं, सो तो ठीक था, पर शिवजी जानना चाहते थे कि अध्यात्म का प्रथम गुण धैर्य, उनमें है या नहीं । अन्यथा मेरे साथ रहते हुए कठिनाइयों के बीच वे अधीर हो उठा करेंगी और मुझे व्यर्थ का झंझट उठाना पड़ेगा । उन्होंने पार्वती की परीक्षा करने के लिए सप्तऋषियों को भेजा । वे पार्वती जी के पास पहुँचे और बोले शिव हजार वर्ष की समाधि लगाने जा रहे हैं । इतनी लम्बी अवधि तक विवाह की प्रतीक्षा कैसे करती रहेंगी । स्वर्ग में कई सुयोग्य देवकुमार विवाह के इच्छुक भी हैं । तुम्हारा विवाह उनके साथ हम तत्काल करा देंगे । इस प्रकार तुम्हें विवाह सुख भी अधिक अच्छी तरह एवं अधिक जल्दी मिलने लगेगा और तप का झंझट भी लम्बे समय तक न उठाना पड़ेगा । यह विकल्प आकर्षक तो था, पर पार्वती के गले न उतरा । उन्होंने ऋषियों से दृढ़ता भरी वाणी में कहा-

कोटि जन्म लगि रगरि हमारी ।
वरों शंभु , न तु रहों कुमारी ।।

करोड़ जन्म तक कुमारी रहना स्वीकार है । सदा-सर्वदा कुमारी रहना स्वीकार है, पर प्रयत्न शंभु के वरण का ही करूँगी । यह अभिमत शिवजी को सुनाया और उन्होंने व्यक्ति की निष्ठा को सर्वोपरि महत्त्व देते हुए विवाह स्वीकार कर लिया ।

कई व्यक्ति बुढ़ापे में पढ़ने या और कोई महत्त्वपूर्ण कार्य आरम्भ करते हैं तो उनसे यह भी सुना जाता है कि आत्मा अमर होने से शेष कार्य को अगले जन्म में भी पूरा कर लिया जायगा । इस जन्म में उसका जितना भाग पूरा करना और अनुभव सम्पादित करना सम्भव है, उससे क्यों चूका जाय ? ऐसे मनस्वी, धैर्यवान व्यक्ति निश्चित रूप से अपने संकल्पों को पूरा करके रहते हैं । भले ही इसमें कुछ देर कारणवश लग जाय । यही है 'धृति' जिसे भौतिक और आत्मिक सफलता के लिए मूलभूत आधार माना गया है ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

धर्म-धारणा में सापेक्ष-क्षमाशीलता

धृति के अतिरिक्त धर्म के दस लक्षण में दूसरा है 'क्षमा' । क्षमा अर्थ का दुरुपयोग करना हो, उसे अतिवाद की सीमा तक ले जाना हो, फिर उसे लगभग कायरता भी माना जा सकता है और धर्म का लक्षण न कहकर अधर्म का प्रोत्साहन किया जा सकता है ।

क्षमा अपराध किये जाने वाले को ही किया जाता है । सज्जन या सुव्यवस्थित, सुसंस्कृत व्यक्ति को तो क्षमा करने का प्रश्न ही नहीं उठता, किन्तु कुकर्मियों और आक्रामकों को क्षमा करते रहने का परिणाम क्या होगा ? प्रतिक्रिया क्या उभरेगी ?

निश्चय ही उद्दंड और आततायी अपने द्वारा आक्रान्ता का कोई प्रतिरोध न देखकर रोक-थाम के सम्बन्ध में निश्चय हो जाता है और क्षमाशील को कायर-दुर्बल समझकर अगली बार और भी बड़ा हाथ मारते हैं और बढ़ा-चढ़ा कर नुकसान करते हैं । इस प्रकार उनकी एक बार की निर्बाध सफलता उनकी हिम्मत को अनेक गुनी बढ़ाती जाती है । फलतः बड़े और अधिक आक्रमण करते हैं । पहला लाभ तो आक्रामकों के मिलने की बात तो स्पष्ट है ही । उद्दंड अपराधियों के गिरोह इसी प्रकार बढ़े हैं । एक द्वारा सस्ते लाभ उठाने की, अहंकार तृप्त करने की सफलता को देखते हुए उसी स्तर के अन्य लोगों की भी हिम्मत बढ़ती है और एकत्रित होकर अधिक बड़े दुस्साहस करते हैं । यह स्वतन्त्र रूप से भी छुट-पुट अनर्थ करने लगते हैं । चोरी, उठाईगीरी, जेबकटी, ठगी आदि के कितने ही अपराधी धन्धे ऐसे हैं, जिनमें किन्हीं साथियों का रहना भी आवश्यक नहीं । उन्हें तो कोई अकेला भी करता रह सकता है ।

क्षमा से अभिप्राय यह समझा जाता है कि जो अनीति सहनी पड़ी, उसे भूल जाया जाय और जिसने वह अतिवाद अपनाया उसे कोई दण्ड न दिया जाय । क्षमा के कारण हृदय बदल जाने और दुष्टों के प्रकृति बदल लेने या सुधर जाने की आशा की जाय । ऐसा होता तो है पर विशिष्ट प्रतिभाएँ ही क्षमा के साथ भी ऐसा प्रभाव डाल सकती हैं कि उनकी दण्ड क्षमता बढ़ी-चढ़ी होने पर भी क्षमा करने को कोई एहसान माने या अपने को बदलने सुधारने की बात सोचे । यह प्रक्रिया साधनों की दृष्टि से निर्धनता वाले व्यक्तियों पर लागू नहीं होती, वे क्षमा करने पर कायर ही समझे जा सकते हैं, भले ही अपने भीतर वे कैसे ही संत, भक्त क्यों न हों ?

क्षमा का तात्विक अर्थ है कि मनःक्षेत्र में वह आक्रोश न भरे रखा जाय तो दुष्टता को तो प्रताड़ना के आधार पर सुधारने की क्षमता नहीं रखता है, उसकी प्रतिक्रिया को एक प्रकार की आत्म-प्रताड़ना बनाकर उसमें स्वयं जलता-गलता रहता है । यह दुहरी हानि उठाने जैसी बात हुई । ऐसी दशा में यही अच्छा है कि जिन भी तर्कों के सहारे अपना रोष-आक्रोश शान्त किया जा सकता हो, उनके साथ आत्म-पीड़ा से छुटकारा पाने वाली मनःस्थिति बनानी चाहिए । अनीतिकार द्वारा जो हानि उठाई गई है, उसे उसी सीमा तक शान्त किया जाय, जिस सीमा तक मानसिक सन्तुलन बनाए रखा जा सके और भविष्य में वैसी पुनरावृत्ति न होने के लिए योजनाबद्ध कदम उठाना और समुचित प्रतिकार कर सकना सम्भव हो । क्षमा का स्वरूप इसी उद्देश्य की पूर्ति है और उसे इसी सीमा तक सीमित रखा जाना चाहिए ।

कहा गया है कि क्रोध को अक्रोध से जीता जाय । इसका अर्थ यह है कि अपनी भूल कहाँ हुई ? उस सम्बन्ध में सोचने और आवश्यक सुधार करने का अवसर मिले । आक्रमण किसी गलतफहमी के कारण हुआ या लोभ एवं द्वेष वश, इसका वर्गीकरण करने, विवेचना कर सकने की क्षमता भी उत्पन्न की जानी चाहिए और यदि दुर्घटना किसी भ्रम भ्रान्ति के कारण हुई तो उस सन्दर्भ में स्वयं या किसी अन्य मध्यवर्ती विचारशील के माध्यम से विवेचना करायी जानी चाहिए । अधिकांश झंझट भ्रान्तियों के कारण होते हैं । यथार्थता से अवगत होने पर यदि सर्वथा पाषाण स्तर का दुराग्रही और बज्रमूर्ख न हुआ तो सहा भी जाता है और सुधारा भी । इतनी लम्बी बात सोचने और उसकी योजना कार्यान्वित करते रहने पर आक्रमण प्रत्याक्रमण का सिलसिला चलाते रहने की अपेक्षा अधिक समझदारी का काम है कि ऐसे अवसरों पर, क्षमा की वरिष्ठता अपनी आवश्यकता सिद्ध करती है ।

अनर्थ तब खड़ा होता है, जब आक्रामक को सुधारने तक का प्रयास छोड़ दिया जाय और अपने पेट में घूँसा मारकर किसी प्रकार सन्तोष कर बैठने का उपक्रम किया जाय । इस प्रकार उपयोग की गई क्षमा, नशा पीकर गम गलत करने के समान है । उससे अपना आक्रोश भर ठण्डा हुआ । आक्रान्ता को भविष्य में वैसा करने पर और भी अधिक घाटा उठाना पड़ेगा तथा इस बार की गई अनीति का प्रायश्चित्त-परिमार्जन किये बिना भी काम न चलेगा । इससे काम में विग्रह का समुचित समाधान निकलता नहीं ।

क्षमा का एक और भी स्वरूप है, सज्जनता । यह मनुष्य का उच्चस्तरीय गुण है, इसे आये दिन खड़ी रहने वाली खटपटों से उत्तेजित होकर छोड़ नहीं दिया जाना चाहिए । आक्रान्ता प्रायः प्रतिरोध और प्रताड़ना की भाषा ही समझते हैं । इसलिए उनका उपयुक्त प्रवाह प्रतिबद्ध करने के लिए भी अपने साथ सज्जनता का समर्थन जुटाये रहा जा सकता है, प्रतिपक्षी के साथ तत्काल गुँथ जाया जाय तो कारण और न्याय को न समझने वाले रास्ता चलते लोग उसे ही दोष देंगे, जिसे अधिक देर से विवेकवान या भद्रजन समझा जाता रहा है । ऐसी दशा में यदि आक्रान्ता का जोश और होश दुरुस्त करने के लिए भी आवश्यक है कि आक्रामक द्वारा पहुँचाई गई चोट का अधिक विज्ञापन होने दिया जाय । इसमें इतना खतरा तो है कि आक्रान्ता की सामर्थ्य के बारे में लोगों के मनों में भय समा जाय और

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

उस कारण वे भी अपनी जान बचाने और किसी झंझट में न पड़ने की बात सोचें । इतने पर भी यह सम्भावना रहेगी ही कि समीपवर्ती या न्यायनिष्ठ लोगों का शौर्य-पराक्रम जगे और वे अपने विरोध को पीड़ित पक्ष की सहायता में अपने विचार बनाएँ । यथार्थता की अभिव्यक्ति करें और उद्दंड के लिए किसी न किसी रूप में अवरोधकर्त्ता के रूप में उभरें ।

क्षमा की शोभा वहाँ है, जहाँ मजा चखाने के प्रत्यक्ष साधनों की अनुभूति कराते हुए यह समझने के अवसर मिलें कि मेरे साथ उदारता, सज्जनशीलता या क्षमाशीलता बरती गई । जहाँ इतना भी प्रयोजन सिद्ध न होता हो वहाँ क्षमा का आडम्बर ओढ़ना व्यर्थ है ।

क्षमाशील के लिए यह भी आवश्यक है कि अपने मानसिक सन्तुलन को स्थिर बनाये रखने के साथ दुष्टता जन्य दुर्घटना रोकने का उपाय-उपचार इस या उस प्रकार करें । अनीति को प्रोत्साहन करके तथा अपने आपको दीन-दुर्बल, कायर-क्लीव कहलाने का लांछन या उपहासास्पद न बनना ही श्रेयस्कर है ।

क्षमा एक संवेदनशील शक्ति है, इसका सही उपयोग करते हुए औचित्य का ध्यान रखना ही चाहिए । छोटे बच्चे नासमझ होने के कारण काम बिगाड़ते और ऊँट-पटाँग करते या बोलते रहते हैं । अभिभावक उसकी सीमित समझ को हँसी-उपहास में टाल देते हैं और किस कार्य के स्थान पर क्या करना चाहिए, इसका प्रेमपूर्वक पाठ पढ़ा देना चाहिए । रोगी उन्मादी भी न करने योग्य करते और न कहने योग्य कहते रहते हैं, उनसे वैसा ही व्यवहार करके बदला नहीं चुकाया जा सकता, उनकी परिस्थितियों को समझते हुए क्षमा करने का ही औचित्य है ।

छुटपुट अनजाने हो गई गलतियों के लिए शिष्टाचार में भूल करने वाले को खेद व्यक्त करना पड़ता है और बदले में हानि उठाने वाले की कोई बात नहीं, कहकर बात को वहीं समाप्त कर दिया जाता है । सच तो यह है अनगढ़, अनजान, भुलक्कड़, अशिष्ट स्तर के बाल बुद्धि लोगों को क्षमा कर दिया जाना चाहिए, किन्तु जो जानबूझ कर दुष्टता पर उतारू हैं और अपने अहंकार के उन्माद में चाहे जिस पर टूट पड़ते हैं और शोषण-अपहरण का दुष्कृत्य करते रहने का स्वभाव बना लेते हैं, उन्हें जो उपाय उपयुक्त प्रतीत हो उसे अपनाकर सुधारने के लिए बाधित तो किया ही जाना चाहिए । यहाँ क्षमा का उपयोग साँप को दूध पिलाने जैसा अहितकर ही सिद्ध होगा ।

दमन अपने आपे का

धर्म लक्षणों की गणना में तीसरा सोपान 'दम' का आता है । दम का अर्थ है, दमन । दमन किसका ? अन्तरंग और बहिरंग क्षेत्र में संव्याप्त अवांछनीयताओं का ।

विषय अध्यात्म का होने से यहाँ सर्वप्रथम अपने अन्तरंग क्षेत्र को प्रधानता देनी होगी और देखना होगा कि अपने भीतर कितना किस प्रकार का कूड़ा-करकट किस-किस दुष्प्रवृत्ति के रूप में वहाँ जम गया है । अनुपयुक्तता अपने गुण, कर्म, स्वभाव में जिस रूप में भी जम गई हो वहाँ से उसे बुहार बाहर किया जाय । कुछ घटक ऐसे होते हैं, जिन्हें बुहारने भर से काम नहीं चलता, वरन् उसे किसी गड्ढे में दबा दिया जाता है, जिससे वहाँ गढ़ा रहकर खाद बनने लगे । यह दबा देना भी दम है । इसके अतिरिक्त दबोच देना भी दम है । घर में रहने वाले बिच्छू, साँप, कानखजूरे, बर्र, ततैये आदि को निरस्त ही करना पड़ता है । सिर में रहने वाले जुएँ और पलंग के छिद्रों में बैठे खटमलों को दबोचे बिना काम नहीं चलता । न दबोचा जाय तो वे अपने ऊपर हावी होते हैं और जीना दूभर करते हैं । मक्खी, मच्छरों को पालते तो नहीं रहा जा सकता, गली में शौचालय में उत्पन्न होने वाले कृमि-कीटकों को फिनायल, चूना आदि छिड़ककर निरस्त ही करना पड़ता है । अवांछनीयता को निरस्त करना, दबाना भी धर्म का ही एक अंग है । अनुचित बढ़ेगा तो चुप नहीं बैठा रहेगा, जो उचित है, उसे ग्रसेगा । फसल के कीड़ों से न निपटा जाय तो उगाये अन्न को पककर घर तक पहुँचने से पहले ही समाप्त कर देंगे । इसलिए अवांछनीयता के विरुद्ध संघर्ष को उचित माना गया है और उसे कई बार तो सराहा भी गया है ।

मनुष्य स्वभाव में विलासिता, चटोरपन, असंयम, आलस्य आदि अनेकों दुर्गुणों की घुसपैठ हो जाती है । आवेश में आने और कटुवचन बोलते रहने की आदत पड़ जाती है । फिजूलखर्च और कुकल्पनाएँ भी कम हानिकारक नहीं हैं । नशेबाजी स्वभाव का अंग बन जाने से छूटने का नाम नहीं लेती और छुड़ाने पर विद्रोह खड़ा करती है । क्या इन्हें इसी रूप में सहन करते रहा जाय ? क्या उनके विरुद्ध कोई कदम न उठाया जाय ? कोई संघर्ष न छेड़ा जाय ?

कहा गया है, मनुष्य जन्म चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करते हुए पाता है । उसके साथ अनेक निष्कृष्ट योनियों के स्वभाव जुड़े आते हैं और जन्म-जात रूप में कुसंस्कारों के भण्डार के रूप में होता है । उस अनगढ़ स्थिति को नर-पशु या शूद्र कहा गया है । मानवी गरिमा के अपने उत्तरदायित्व और अनुशासन हैं, वे सीखने और सिखाने पड़ते हैं । बोलना किसी को जन्म से नहीं आता, जो उच्चारण सुनता है, उसका अर्थ और क्रम समझते-समझते स्वयं भी बोलने लगता है । लिखना, पढ़ना माँ के पेट से सीखकर नहीं आता । अक्षरज्ञान और शब्दकोष स्कूल की रगड़ाई जैसी पढ़ाई से ही सीखी जाती है । कला-कौशल भी सीखे-सिखाये जाते हैं । यह आशा करना व्यर्थ है कि सत्प्रवृत्तियों की विभूतियाँ अनायास ही उग पड़ेंगी । हेय वातावरण में पले बालक तो प्रायः कुसंस्कारी ही पाये जाते हैं ।

अपने नाक, कान, आँख, पीठ, कंठ, तालु, दाँत तक को हम स्वयं नहीं देख सकते, तो दुर्गुणों को किस प्रकार देख पायेंगे । इन कमियों को विचारशील गुरुजन बताते हैं

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

और मनुष्य तथा पशु के स्तर का अन्तर समझाते हुए यह बताते हैं कि यह करने योग्य है, या नहीं । यह छोड़ने योग्य है और यह बढ़ाने योग्य । इस सुधार-परिष्कार प्रक्रिया के आधार पर ही व्यक्तित्व निखरता है और व्यक्ति पशु से मनुष्य बनता है । इस प्रक्रिया को न अपनाया जाय तो मनुष्य भी वनमानुष की तरह पुत्री, भगिनी या माता से सन्तानोत्पादन करने लगेंगे । निर्वसन घूमेंगे और मल-मूत्र त्यागने के उपरान्त सफाई करने की आवश्यकता न समझेंगे ।

जन्मजात रूप से हर मनुष्य इसी कुसंस्कारी स्थिति में उत्पन्न होता है । उसे शालीनता, शिष्टता अभिभावकों और गुरुजनों से सीखनी पड़ती है । लोकव्यवहार के प्रभावों से भी बहुत कुछ सीखा-समझा जाता है । क्या उचित है, क्या अनुचित इसे दूसरे बता सकते हैं । स्वाध्याय और सत्परामर्श से भी यह जाना जा सकता है, पर वह सुधार परिवर्तन करना स्वयं ही पड़ेगा । हम आहार, निद्रा, शिक्षा, मल-मूत्र त्याग आदि कार्य स्वयं अपने बलबूते ही करते हैं, ठीक इसी प्रकार सुसंस्कारिता-संवर्धन भी स्वयं ही करना पड़ता है । दूसरे रास्ता बता सकते हैं, पर अपने बदले वे चल नहीं सकते । चलना तो अपने ही पैरों द्वारा बन पड़ेगा । साथ ही आत्म-परिष्कार भी होगा ।

मन और इन्द्रियाँ इतने प्रकार की ललकें इतनी भीतर सँजोये हुए हैं, जिनका कोई अन्त नहीं । महत्त्वाकांक्षाओं की कोई सीमा नहीं । आवश्यकताएँ तो पूरी की जाती हैं, पर तृष्णाएँ तो ऐसी आग हैं, जिनमें ईंधन डालते चलने पर वह अधिकाधिक प्रज्वलित ही होती जायगी । मन न जाने कितना बड़प्पन और वैभव चाहता है । इन्द्रियों की ललक है कि जितने विलासी उपभोग इस दुनिया में हैं, वे सभी अपने को उपलब्ध हो जायें । अहंकार इतना उद्धत है कि वह रावण की तरह देवताओं तक को नीचा दिखाना और पाटी से बाँधकर रखना चाहता है । यही तीनों वासना, तृष्णा और अहंता की दुष्प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जो उन्मादी पर चढ़े भूत की तरह हर घड़ी छाई रहती हैं और अनुशासन ढीला पड़ते ही वह कर गुजरती हैं, जो नहीं किया जाना चाहिए था ।

अन्तरंग में विचारणाएँ जमती हैं और शरीर को आदतें अपना वशवर्ती बनाकर कठपुतली की तरह नचाती हैं । बेचारा विवेक, न्याय और औचित्य तो किसी कोने में ही पड़ा सड़ता रहता है । उनकी कोई खैर-खबर तक नहीं लेता । इस दयनीय दुर्दशा में अपने-आप को उबारने के लिए जो आक्रोश एवं साहस भरे प्रयत्न किये जाते हैं, उन्हें ही दम कहते हैं । जिस प्रकार हिंस्र जन्तुओं का, आततायी तस्करों का दमन किया जाता है, उसी प्रकार अपनी भीतरी और बाहरी दुष्प्रवृत्तियों से लड़ा जाना चाहिए और उन्हें उल्टी से उलट कर सीधा किया जाना चाहिए ।

आत्म-परिशोधन सबसे अधिक सरल भी है और सबसे अधिक कठिन भी । सरल इस मायने में कि हम जब पशुओं, परिजनों, नौकरों से मनमर्जी का काम करा सकते हैं तो अपने आपे को गलत दिशा से मोड़-मरोड़ कर सीधे रास्ते चल पड़ना क्यों दुस्तर होना चाहिए । कठिन इसलिए है कि आदतें विषाणुओं की तरह नस-नस में, कण-कण में, चिन्तन-चरित्र और व्यवहार में इस प्रकार जड़ें जमा लेती हैं, जिन्हें सहज ही छुड़ा सकना कठिन पड़ता है । चिपकी हुई जोंक पेट भरकर खून पी लेने पर ही छूटती है । भले ही खींचने पर वह टूट क्यों न जाय । दुष्प्रवृत्तियों का, बुरी आदतों का स्वरूप भी प्रायः ऐसा ही है । समझाने-बुझाने से तो वे मानती भी नहीं उनके लिए तप-तितीक्षा स्तर का कदम उठाने की आवश्यकता पड़ती है और अपने अन्दर वाले भगवान् और शैतान के बीच खड़े किये गये इस महाभारत में स्वयं दर्शक मात्र न रहकर अर्जुन की तरह गाण्डीव संधान की और हस्त की प्रकृष्टता अपनानी पड़ती है जिससे सारा मैदान तीरों से लीप दिया जाय ।

सपेरा हर समय साँप को पालते, खिलाते हुए भी उसकी हरकतों पर पूरा ध्यान रखता है अन्यथा उसे जान से हाथ धोना पड़ सकता है । शेरों से सरकस में मनमाने काम कराने वाले रिंग-मास्टर कितने कौशल और साहस का परिचय देते हैं । ठीक ऐसा ही पराक्रम अपने को पशु-स्तर से परिवर्तित करके सुसंस्कारी मनुष्य स्तर का देवोपम बनाना पड़ता है । इस तीखी-मीठी सुधार और दुलार की उभयपक्षीय प्रक्रिया का नाम 'दम' है । अन्य किसी को दबाना भले ही विचारणीय हो पर अपना दमन प्रशिक्षण परिवर्तन तो करना ही चाहिए ।

अस्तेय अर्थात् अर्थ की पवित्रता

धर्म-धारणा का चतुर्थ सोपान है-अस्तेय । अर्थात् चोरी न करना । चोरी न करना अर्थात् जो अपने हक एवं परिश्रम का है, उसी में प्रसन्नता और सन्तोष के साथ निर्वाह करना।

यहाँ लक्षणों का क्रमानुसार उपयोग इस अर्थ में नहीं किया जा रहा है कि एक को पूरा करने के बाद दूसरे का आरम्भ किया जाय वरन् यह है कि यह दसों लक्षण अपने-अपने क्षेत्र में समान रूप से साथ-साथ काम करते रहते हैं । जैसे-दाँत में मंजन, आँख में अंजन, सिर में तेल आदि का कोई निश्चय नहीं है कि दाँतों की सफाई के उपरान्त ही सिर में तेल डाला जाय । यह सभी अपने-अपने ढंग से यथावत् चलते रहते हैं । इसमें न कोई कम महत्त्व का है, न अधिक । न किसी को प्रमुख कहा जा सकता है न दूसरे को गौण । अपने-अपने क्षेत्र में सुधार उपक्रम चलाते हुए यह दसों निर्धारण अपनी-अपनी गति से आगे बढ़ते रहते हैं और सभी का संयुक्त प्रयत्न मिलाकर एक समग्र एवं संयुक्त इकाई बनता है, जिसे एक शब्द में कह सकते हैं, व्यक्तित्व का सर्वतोमुखी विकास ।

चोरी करना प्रायः उसे समझा जाता है, जिसमें दीवार तोड़कर, छलाँग लगाकर, ताला चटकाकर किसी का माल उड़ाया जाता है । गठरी, पोटरी ले जाने जैसी उठाईगीरी, ठगी, जेबकटी आदि को भी चोरी परिकर ही कहा जाता

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

है, पर यह काम अभ्यासी और दुस्साहसी लोगों से ही बन पड़ते हैं । इन्हें हर कोई नहीं कर सकता । सर्वसाधारण में तो इतनी ताकत और हिम्मत भी नहीं होती । फिर कानून भी उन्हें पकड़ने में तत्काल सक्रिय हो जाता है । उनसे बचना और जेल पहुँच कर अपील दर अपील करते हुए किसी प्रकार छूट आना उस लाभ की तुलना में भारी पड़ता है, जो चोरी करके कमाया गया है ।

यहाँ गहराई में उतरना होगा और देखना होगा कि कानून की पकड़ से बचते हुए निर्बाध रीति से चोरी किस वर्ग के लोग किस प्रकार करते हैं ।

मनुष्य होता तो स्वतन्त्र, स्वछन्द ही है, पर वह कर्त्तव्यों, दायित्वों में इतना अधिक जकड़ा हुआ है कि मानवी गरिमा के साथ जुड़ी हुई जिम्मेदारियों की उपेक्षा करते ही वह अपने महान् पथ से नीचे जा गिरता है और दुष्ट या भ्रष्ट कहे जाने की स्थिति तक नीचे आ टपकता है ।

मनुष्य संयुक्त परिवार का एक घटक है । उसे जन्म देने से लेकर लालन, पालन, शिक्षा, दीक्षा, चिकित्सा, परिचर्या, विवाह, व्यवसाय आदि की दृष्टि से समूचे परिवार का न्यूनाधिक योगदान लगा है । इस ऋण से उऋण होने का सही तरीका यही है कि परिवार के अन्य सदस्यों की तरह निर्वाह किया जाय और जो अपना अधिक उपार्जन है, उसे समूचे परिवार के विशेषतया अधिक आवश्यकता वालों का विशेष रूप से ध्यान रखते हुए प्रयोग किया जाय ।

यह परम्परा आगे भी चलती रही तो नए सिरे से जो स्वावलम्बी या कमाऊ बना है, उसका भी हित है । उसके बेटे, पोते भी उसी परम्परा का निर्वाह करें, जो उनके बाप-दादों से चली, ताऊ द्वारा व्यवहृत होते देखी है । संयुक्त कुटुम्ब में रहने का यही औचित्य है । सम्बन्ध विच्छेद करके सर्वतन्त्र स्वतन्त्र बन जाया जाय, तो बात दूसरी है ।

संयुक्त परिवार का अनुबन्ध यह छूट नहीं देता कि कमाऊ सदस्य अपने स्त्री-बच्चों तक की परवाह न करते हुए मुँह छिपा कर बाजार में व्यंजन उड़ाये । कीमती कपड़े पहने और सिनेमा नाचरंग में, यारवासी में ढेरों पैसा खर्च कर दे । इस प्रकार बरता गया स्वेच्छाचार एक प्रकार से अपने कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व का हनन करना है । नशा पीना तो अपना पैसा और स्वास्थ्य गँवाकर आश्रितों को असहाय स्थिति में छोड़ने की तैयारी है । इस प्रकार का व्यवहार न्याय दृष्टि से चोरी में ही गिना जायेगा, भले ही कानून उसमें हस्तक्षेप न करता हो और परिवार द्वारा कोई कड़ा विरोध भी न होता हो ।

व्यापार में लाभांश की एक सीमा है । जो बेचा जाय उसके सन्दर्भ में वही कहा जाय, जो माल के अनुरूप है । खराब चीज को अच्छी बताकर, नाप-तौल में चालाकी करते हुए अधिक मुनाफा लेकर बेचा गया है, तो वह व्यापार कहलाते हुए भी चोरी के साथ मिला-जुला है ।

सरकारी टैक्स चुराना, दुहरे बही-खाते रखना, मुन्शी को पैसा देकर माल बिना टैक्स चुकाये निकाल लाना, बिना टिकट चलना जैसे कार्यों को भी बिना संकोच चोरी कहा जा सकता है । भले ही अभ्यस्त समाज में जब सभी किसी न किसी रूप में करते हों तो दूसरों की निन्दा न करें ।

उत्तराधिकार का धन वस्तुतः उनका है, जो अभी अपने पैरों पर खड़े होने योग्य समर्थ, स्वावलम्बी नहीं हुए हैं । जो अपना स्वयं कमाते-खाते हैं, वह पूर्वजों की छोड़ी राशि पर गुलछर्रे उड़ायें तो यह हक की व मेहनत की कमाई नहीं है, तो उसे चोरी कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है । वस्तुतः परिवार के असमर्थ सदस्यों के पोषण से बचा श्राद्ध धन है । उसे पितरों की आत्मा की शान्ति और सद्गति देने के लिए ही खर्च किया जाना चाहिए ।

जुआ, सट्टा, लाटरी, दहेज, भेंट, उपहार जैसे माध्यमो से मिला धन वस्तुतः अनीति की उपलब्धि है । उसमें अपना श्रम नहीं लगा तो उसका उपयोग कैसा ? बिना मेहनत के धन को यदि नैतिक दृष्टि से हेय और चोरी के स्तर का कहा जाय, तो उसमें कुछ भी अनुचित न होगा ।

परिवार घर के सदस्यों को तो कहते ही हैं, पर "वसुधैव कुटुम्बकम्" की मान्यता भी गलत नहीं है । समुन्नतों की कमाई पर खड़े होने योग्य सहारा प्राप्त करने के लिए पिछड़े वर्ग को हक है । अधिक उपार्जन की, अधिक कौशल की प्रशंसा प्राप्त करते हुए एक महाप्रशंसा यह भी प्राप्त करनी चाहिए कि जो कमाया गया, वह मिल-बाँटकर खाया गया । उच्चस्तरीय आदर्श प्रस्तुत करना और बदले में अनेकों श्रद्धा उपार्जित करना किसी प्रकार भी कम लाभ की बात नहीं है ।

आमतौर से लोग कँटीली झाड़ियों में भटकते हैं और अपने पैरों के ऐसे निशान छोड़ जाते हैं, जिन पर चलकर पीछे वाले को भी भटकना और झाड़-झंखाड़ों में उलझने का त्रास पाना पड़े । यदि कोई अपने व्यक्तिगत चिन्तन, चरित्र और व्यवहारों को आदर्शों से घुला-मिला रखता है, तो आत्मनिर्माण से संसार का उतना नव-निर्माण अनायास ही हो जाता है । परिवार व्यक्तियों का समुदाय ही तो समाज है, जितने व्यक्ति चरित्र व निष्ठा की कसौटी पर खरे उतरते हैं, समझना चाहिए उतने अंश में धरती पर स्वर्ग उतरने का ठोस सफल प्रयत्न किया गया ।

मन में कुछ हो और प्रकट कुछ करें तो यह भी एक प्रकार की चोरी-चालाकी है । हमारी इच्छा और क्रिया का समन्वय ऐसा होना चाहिए, जिसमें छल-छिद्रों की भरमार नहीं हो । अपनी वास्तविकता को छिपाये रहना विशेषतया बढ़ा-चढ़ाकर बताना भले ही आर्थिक चोरी न हो पर वह दुराव तो है ही और जिस भी प्रयास से दुराव की आवश्यकता पड़ती हो, उसे चोरकर्म की श्रेणी में ही गिना जाना चाहिए ।

हमारी अर्थनीति ऐसी पवित्र और परिष्कृत होनी चाहिए, जिसके कारण न हम किसी से अनुचित लाभ

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

उठायें और न किसी को वैसा लाभ उठाने दें । न चोरी करें और न अपने यहाँ किसी को चोरी करने दें । रिश्वत देना और लेना दोनों ही दण्डनीय बताये गये हैं । समझना चाहिए कि चोरी करना और करने देना, होते हुए मूकदर्शक की तरह देखते रहना, यह भी सभी हेय हैं।

अस्तेय एक दर्शन है, जिसका अर्थ होता है 'आर्थिक पवित्रता' आर्थिक पवित्रता अर्थात् जो अपने श्रम की कमाई नहीं है; जो सत्प्रवृत्तियों के सह-वितरण से बची हुई नहीं है, जो औसत भारतीय स्तर से अधिक मात्रा में प्रयुक्त की गई है, वह सभी धनराशि चोरी की है । स्मरण रहे अर्थ पवित्रता के साथ अन्य प्रकार की सभी पवित्रताएँ जुड़ी हुई हैं । अचौर्य एक व्रत है, जिसे हर पुण्यात्मा को, धर्म-प्रेमी को निबाहना ही चाहिए ।

धर्म-धारणा का पंचम सोपान—शुचिता

धर्म-धारणा का पंचम सोपान है-शौच । शौच का सामान्य अर्थ है-स्वच्छता, यों शौच का मोटा अर्थ मल-त्याग से भी लिया जाता है, पर आध्यात्मिक तत्त्व की दृष्टि से इसका अभिप्राय है-सर्वतोमुखी पवित्रता से । सांसारिक, शारीरिक ही नहीं, मन और आत्मा की भी स्वच्छता ।

मोटेतौर पर ग्राम, शहरों की स्वच्छता उस आधार पर होनी चाहिए जिसे अपनाकर नगरपालिकाएँ, टाउन एरिया यथासम्भव नाली-नाले, सड़क, गली, मुहल्ले, पाखाने, कुएँ, तालाब आदि की सफाई सम्बन्धी योजना बनाती हैं, घरों में रहने वालों को अपने वस्त्र, बरतन, दीवारें, आँगन, छत, पुस्तक, फर्नीचर, अनाज, पानी, रसोईघर, शौचालय आदि की स्वच्छता रखनी पड़ती है, अन्यथा अस्वस्थताजन्य गन्दगी से जो विषाणु उत्पन्न होंगे, वे नाना प्रकार के रोग उत्पन्न करने के लिए बाधित करेंगे ।

शरीरगत स्वच्छता में विसर्जन छिद्रों की, त्वचा की, दाँत-जीभ आदि की सफाई अपना महत्त्व रखती है । कपड़े सादा धुले हुए रहने चाहिए । उनसे पसीना चूता है और न केवल दुर्गन्ध आती है, वरन् जुओं, खटमलों की फसल उग खड़ी होती है । उनके क्या परिणाम होते हैं? इसे भुक्तभोगी ही जानते हैं ।

पेट की भीतरी सफाई यह है कि अपच न होने दिया जाय । दस्त तो एनीमा या जुलाब से भी हो सकता है, पर मुख्य बात यह है कि अखाद्य खाने से अधिक मात्रा में ठूँसने से पेट के पाचक रस कम पड़ने लगते हैं और आँतों में पड़ा हुआ मल सड़ने लगता है । यह सड़न रक्त के साथ जहाँ भी पहुँचती है, वहीं जमती और रुग्णता के रूप में फूटती है । इस कथन में रत्ती भर भी सन्देह नहीं कि कब्ज हर बीमारी की जड़ है । पाचक औषधियाँ खाने भर से उससे पीछा नहीं छुड़ाया जा सकता । सही तरीका यह है कि हल्के, उबले शाकाहार से काम चलाया और आधा पेट खाया जाय । इतना भर नियम पालने से जब-तब एनीमा लेते रहने से सप्ताह में एक दिन खाली पेट रहे जाने पर समझना चाहिए कि कब्ज से छुटकारा मिला और आधी बीमारियों के प्रकोप का संकट टला ।

लेन-देन की सफाई "नौ नकद न तेरह उधार" की नीति अपनाने पर निभती है । जिसका देना उसका जल्दी से जल्दी वापस करना । जिससे अपने को लेना समझना चाहिए, वह बट्टेखाते चला गया । वापस लौटने वाला नहीं है । समय का कुछ ऐसा प्रभाव है कि कर्ज लेने की भूमिका बनाने वाला वर्ग यही सोचकर आता है कि किसी चतुरता से ले तो आया जाय, पर वापस करने का नाम न लिया जाय । जिन्हें मित्र को शत्रु बनाना और उधार डूब जाने पर पश्चात्ताप होता हो, उन्हें पहले ही नीति बना लेनी चाहिए कि किसी अभावग्रस्त की कोई सहायता करनी हो तो कर दी जाय, पर फिर उसके पास लौटने का इन्तजार न किया जाय । कर्ज माँगने वालों में ९० प्रतिशत अपव्ययी लोग होते हैं । आकस्मिक संकटग्रस्त ईमानदारों की संख्या तो मुश्किल से पाँच प्रतिशत होती है । कर्ज देकर वापस लौटा लेना, असाधारण स्तर का कौशल है । जिनके लम्बे-चौड़े व्यापार होते हैं, वे पहले से ही उधार डूबने की सम्भावना को ध्यान में रखते हुए मुनाफा बना लेते हैं । मध्यवर्ती जीवनचर्या का औचित्य इसी में है कि अपनी आय के अनुरूप खर्च का क्रम बनाकर गरीब वर्ग के लोगों की तरह रहा जाय और चैन से दिन काटा और रात को सुख की नींद सोया जाय ।

लाग-पेट की बातें करने की अपेक्षा स्पष्टवादिता अपनाना अच्छा है । किसी को मतभेद बुरा लगे, तो कुछ समय रुष्ट हो लेगा, पर जब चित्त शान्त होगा तो यही अनुभव करेगा कि साफ दिलवाला और भला आदमी है । इसे लाग-लपेट नहीं आती ।

उपरोक्त सभी बातों से बढ़कर यह है कि विचारों को स्वच्छ, स्वच्छतम रखा जाय । ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, सन्देह, आशंका के विचारों से दूर रहा जाय । न चिन्तित हुआ जाय और न आतुर-आक्रोशग्रस्त रहा जाय । शान्तचित्त, प्रसन्नवदन और सन्तोषयुक्त जीवनयापन करने का तरीका यह है कि मन में अनावश्यक चिन्ताओं के भार न लदने दिए जायें और तनावग्रस्त स्थिति में रहने का अवसर न आने दिया जाये ।

महत्वाकांक्षा, ईर्ष्यालु स्वभाव अपने विरुद्ध कुचक्र रचे जाने की आशंका, सन्देह, उद्वेग आदि की स्थिति में मनुष्य भयाक्रान्त, शंकाशील या उद्विग्नता के आवेश से भरा रहता है । यह स्थिति मन को मलीन बनाती है और विचारों में हेय स्तर की गन्दगी भर देती है । जिसके विचार अनुपयुक्त रहेंगे, उसके क्रिया-कलाप कभी सज्जनोचित नहीं रह सकते । जो सोचेगा उससे अपने या दूसरों के सम्बन्ध में ऐसा ही मत बनेगा जैसा कि नहीं ही बनना चाहिए । उत्तेजित, असहिष्णु, दुराग्रही, अहंकारी व्यक्ति विचार क्षेत्र के गन्दे होते हैं । फलतः समूचा जीवन गन्दगी से भर जाता है । वे न स्वयं सुख से रह पाते और न साथ-सम्पर्क के लोगों को चैन से बैठने देते हैं । ऐसे लोगों का कोई सच्चा मित्र नहीं

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

रहता । जिसके प्रति श्रेष्ठता और सम्मान के भाव नहीं, उनसे लोग पीछा छुड़ाने का ही प्रयत्न करते हैं । किसी प्रकार लोक-व्यवहार बना भी रहे तो वे आड़े समय में कदाचित ही साथ देते हैं । वस्तुस्थिति को दिवास्वप्न देखने वाले भी देर-सबेर में समझ जाते हैं और अपने आप को सर्वथा असहाय, एकाकी, अभागा अनुभव करते हैं ।

विचारों की छाया आचरण में प्रवेश किये बिना, उभरे बिना रह नहीं सकती । घटिया व्यक्ति जहाँ जाता है, वहीं प्रत्यक्ष या परोक्ष तिरस्कार का भाजन बनता है । उसके आने से किसी को प्रसन्नता नहीं होती । न चले जाने से दुःख होता है, न आघात लगता है । उसके निज के जीवन की समस्याएँ ही इतनी उलझ जाती हैं जिन्हें सुलझाते नहीं बनता और ऐसी ही परेशानियों में डूबता-उतराता, जिनसे मन मिला है, उनके सामने अपनी विपन्नता का रोना रोने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं बन पड़ता ।

सड़न की दुर्गन्ध हवा के साथ मिलकर दूर-दूर तक वातावरण कुरुचिपूर्ण एवं विषाक्त करती है । सड़ी जिन्दगी अपेक्षतया और भी बुरी स्थिति उत्पन्न करती है । मुर्दा प्राण निकलने के बाद सड़ना आरम्भ करता है और गन्दगी उगलता है, पर सड़े हुए विचारों एवं व्यक्तित्व वाला व्यक्ति जीवित रहते हुए भी मरों की तुलना में अधिक बुरे किस्म की गन्दगी फैलाता है ।

धर्म का पाँचवाँ चरण शौच वस्तुतः सुरुचि और सौन्दर्य के रूप में प्रयुक्त हुआ है । मात्र मलीनता हटा देना ही पर्याप्त नहीं, उसके स्थान पर सुरुचि, सुन्दरता और सुसंस्कारिता का भी दर्शन होना चाहिए ।

यह प्रयोग धर्म के सच्चे साधकों को अपने निकटवर्ती वातावरण में, परिवार में, मित्र-सम्बन्धियों में करना चाहिए और सर्वप्रथम अपने आपे को सुधार कर उसके साथ ही चन्दन वृक्ष की तरह अपने समीप उगे हुओं को भी अपने जैसा ही स्वच्छ एवं उत्कृष्ट बनाना चाहिए, भले ही वे अनगढ़, झाड़-झंखाड़ जैसे ही क्यों न हो ?

इन्द्रिय निग्रह और धर्म-धारणा

धर्म के दस लक्षणों में छठा लक्षण है-इन्द्रिय निग्रह । इन्द्रियाँ अपने काम के लिए बनी हैं । यदि उनसे उनका उचित काम लिया जाय तो वे जीवन के आवश्यक क्रिया-कलापों की पूर्ति में समुचित योगदान देती हैं ।

आँख न हों तो रास्ता चलना, घर की वस्तुओं को ढूँढ़ना, पढ़ना, कृषि, व्यवसाय आदि करना कैसे बन पड़े ? अन्धे को तो छोटे-छोटे कामों के लिए लकड़ी का सहारा लेना पड़ता है । कान न हों तो दूसरे दीखेंगे भर । उनका कथन, परामर्श कुछ भी न सुन पड़ेगा और संसार मात्र में सर्वत्र निस्तब्धता छाये होने का अनुभव होगा ।

जीभ न हो तो स्वाद के आधार पर खाद्य-अखाद्य का निर्णय कैसे हो ? ग्रास की मुँह में उलट-पुलट होती है, वह किस प्रकार हो सके ? इसी प्रकार विचारों की अभिव्यक्ति, उनका आदान-प्रदान किस प्रकार बन पड़े ? यह सब कुछ वाणी के माध्यम से ही सम्भव होता है । वाणी और स्वाद के दो प्रयोजनों में काम लाये जाने के कारण जिह्वा को दो इन्द्रिय गिना गया है । नासिका से सुगन्ध और दुर्गन्ध का अन्तर होता है और सड़न-प्रदूषण तक उपयुक्त महक का अनुभव करके यह निश्चय किया जाता है कि कहाँ रुका और कहाँ से चल दिया जाय । गन्दगी को हटाकर स्वच्छता की स्थापना कैसे की जाय ?

त्वचा की संवेदनशीलता सर्दी, गर्मी, कोमलता, कठोरता आदि का स्पष्ट बोध कराती है । उसके छिद्र पसीना बहाते, गन्दगी निकालते और छूकर वस्तुओं के स्तर का अनुमान लगाने में मदद देते हैं । जननेन्द्रियों को मूत्र विसर्जन और विषयानन्द को भी अलग से न गिनकर त्वचा इन्द्रिय के क्षेत्र में ही सम्मिलित किया गया है । प्रजनन भी वंश परम्परा स्थिर रहने की दृष्टि से आवश्यक है ।

कर्मेन्द्रियों में हाथ पैर आदि आते हैं, वे श्रमिक और मन के आदेशानुसार वफादार नौकर की तरह काम करते रहते हैं । उनकी अपनी निज की कोई इच्छा या स्वादपरायणता नहीं है, तो भी उन्हें सुकृत करने, कुमार्ग पर न चलने की प्रेरणा तो दी ही जाती है । आलसी बनने का अर्थ हाथ-पैरों का न चलना ही माना जाता है ।

इन्द्रिय निग्रह का तात्पर्य इन सही रूप से काम करते हुए जीवन को प्रगतिशील और सुव्यवस्थित बनाने वाले घटकों को क्रियाशील रहने से रोकना नहीं है । ऐसा करते रहने पर तो जीवित रहते हुए भी मृतक बनकर रहना पड़ेगा । इन्द्रिय निग्रह का अर्थ इतना ही है कि इन्हें कुमार्गगामी न बनने दिया जाय । जो अनुचित है वह इनके द्वारा न बन पड़े । इसी की सतर्कता रखने से इन्द्रिय निग्रह साधना सध जाती है । दसों इन्द्रियों को अर्थात् सशक्त काया संस्थान को मात्र सत्प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त करना, उनका दुरुपयोग न होने देना ही इन्द्रिय निग्रह है ।

आदतें, शालीनता, मर्यादा एवं सुव्यवस्था के अनुरूप ढालने की अपेक्षा उन्हें कुमार्ग पर भटका देना और स्वेच्छाचार का प्रदर्शन करना अति सरल है । पानी नीचे की तरफ बहता है । ढेला ऊपर से नीचे की तरफ गिरता है, पर किसी को भी ऊपर चढ़ाना हो तो उसके लिए जोर लगाने और निशाना साधने की जरूरत पड़ती है । वह कार्य अनायास ही नहीं हो जाता ।

इन्द्रियों को सन्मार्गगामी बनाने के सम्बन्ध में सक्रिय रखने का कौशल ऐसा है जो हर किसी से नहीं बन पड़ता, फलतः बहुमूल्य क्षमताएँ सहज ही अस्त-व्यस्त होती रहती हैं । कई बार तो उनका गलत उपयोग अनेक प्रकार के संकट भी खड़े करता है । अतिशय काम लेने या बिल्कुल ही न लेने से तो अपनी क्षमता ऐसे ही गँवा बैठते हैं ।

दुरुपयोग तो और भी भयंकर है । आँखों से देखकर किसी के सौन्दर्य पर मुग्ध हो चला जाय और उसे हथियाने

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

का कुचक्र चल पड़े तो समझना चाहिए नेत्रों का दुरुपयोग हुआ । सौन्दर्य की तरह किसी के धन-वैभव को देखकर भी ईर्ष्या से जल मरने या अपहरण का भाव भी उठ सकता है ।

कानाफूसी में अक्सर दुरभिसन्धियाँ रची जाती हैं । किसी को अपने अनुग्रह का विश्वास दिलाया जा सकता है । चुगलखोरी करके किन्हीं के बीच विद्वेष भड़काया जा सकता है । कानों में अश्लीलता भड़काने वाले कथन या गायनों में रस लिया जा सकता है । नाक को इत्र-फुलेल की आदत डाली जा सकती है । जीभ को चटोरेपन की आदत डालने, स्वादिष्ट व्यंजनों को पेट में अनावश्यक रूप से ठूँसते रहने की उसकी कुचेष्टा न केवल पेट के अपच से लाद देती है, अपितु इस कारण उत्पन्न हुई विषाक्त सड़न से नाना प्रकार के रोगों का उद्भव भी होता है । कटु भाषण करने, शेखीखोरी, चुगलखोरी, व्यंग्य, उपहास जैसी आदतें समूचे जीवन को घिनौना एवं असफल बनाती हैं । नशेबाजी जैसे कुचक्रों का माध्यम भी सुख है । यदि जिह्वा भी उन्हें एकदम अस्वीकार करे, सहन करने को तैयार न हो तो नशेबाजी का धीमा विष भी न छूटने वाली आदत बन कर इस प्रकार गले बँध जाता है कि आधी तन्दुरुस्ती नष्ट हो, उम्र के आधे हिस्से में कटौती कर देती है । उनसे बचाव हेतु, जीव का कर्त्तव्य है कि उन कुटेवों को भीतर घुसने देने के लिए इन द्वारों को ही न खोले ।

यों इन्द्रियाँ दस हैं । इनमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ मुख्य हैं । इनमें जिह्वा और जननेन्द्रिय को प्रमुख माना गया है, क्योंकि इनकी भ्रष्टता सर्वनाश के दृश्य उपस्थित करती है।

जननेन्द्रियों का छोटी आयु से ही कामुकता के लिए प्रयोग करना शुरू कर दिया जाय और क्षरण की सीमा-मर्यादाओं का उल्लंघन करते रहा जाय तो शरीर एवं मस्तिष्क असमय में ही खोखले हो जाते हैं । पेड़ के तने को गोद-गोद कर उनमें से गोंद या जीवन रस निकालते रहा जोय तो निश्चय ही वह न बढ़ सकेगा और न पूरी आयु तक स्थिर रह सकेगा । शरीर को यदि कामुकता के निमित्त निचोड़ा जाता रहे तो उससे रूप-सौन्दर्य का स्थिर रह सकना तो दूर काम-धाम करते रहने योग्य जीवनी-शक्ति का भण्डार भी खाली हो जायगा ।

रतिक्रिया की मर्यादा तोड़ने में न केवल अपना वरन् अपने साथी का भी स्वास्थ्य चौपट होता है और यदि चिन्तन में अश्लीलता चढ़ी रहे तो समझना चाहिए कि उपयोगी प्रसंगों पर गम्भीरतापूर्वक सोच सकने की मेधाशक्ति का ही अपहरण हो गया ।

अश्लील चिन्तन अनैतिक भी है । उसमें नारी मात्र को रमणी, कामिनी, भोग्या, वेश्या के रूप में देखने-सोचने की दुर्बुद्धि जड़ पकड़ती है और ऐसे ही लोग योग्य, अयोग्य का विचार किये बिना व्यभिचार, हस्तमैथुन जैसे आत्मघाती प्रयासों पर उतारू हो जाते हैं । पलंग का एक पाया टूटा तो बाकी तीन भी सुस्थिर नहीं रह सकते । कामुकता के प्रसंग में जो स्वच्छन्द होते हैं, वे नैतिकता के, सामाजिकता के अन्यान्य उपयोगी पक्षों को भी छिन्न, विछिन्न करते चले जाते हैं और पतन के गहरे गर्त में गिरते हैं ।

मन को ग्यारहवीं इन्द्रिय माना गया है । वह भी शरीर के साथ जुड़ा रहने के कारण अदृश्य इन्द्रिय माना जाता है। उसे स्वच्छन्द छोड़ देने पर कुकल्पनाओं के अम्बार अपने क्षेत्र में जमा कर लेता है । "खाली दिमाग शैतान की दुकान" वाली उक्ति में बहुत कुछ यथार्थता भरी पड़ी है ।

वासना, तृष्णा और अहंता का त्रिशूल विकृत मन की ही उपज है । इस अचिन्तन से अपने को न रोक पाने वाले व्यक्ति अपनी समूची गतिविधियों को ही अनुपयुक्तता के दल-दल में फँसा लेते हैं । लोभ, मोह और अहंकार को समस्त कुकृत्यों का जन्मदाता माना गया है । जहाँ मन पर यह तीनों विकृतियाँ छाई रहेंगी, वहाँ कोल्हू के बैल जैसी व्यस्तता भी छाई रहेगी और सत्प्रयोजनों के लिए कुछ करते-धरते न बन पड़ेगा । सदाशयता को चरितार्थ करने में इन तीनों को ही प्रमुख व्यवधान माना जाना चाहिए ।

जो अनुपयुक्त है, उसे कड़ाई से रोकने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं । पालतू पशुओं से भी कुछ काम लेना सहज नहीं होता । हाथी को अंकुश, घोड़े को लगाम, ऊँट को नकेल, बैल को नाथ डालकर काबू में रखा जाता है और उन्हें सही काम करने के लिए बाधित किया जाता है। गाय, भैंस तक के गले में रस्सी बाँधनी पड़ती है । यदि इन सबको छूट दे दी जाय तो वे निर्धारित कार्य करना तो दूर कहीं भी किसी भी दिशा में चल पड़ेंगे । स्वयं मुसीबत में फँसने के साथ-साथ स्वामी सवार की भी दुर्गति करेंगे । इसलिए उन्हें स्वच्छन्द छोड़ने का प्रचलन नहीं है ।

इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी यही बात है । यही बात मनोविकारों के सम्बन्ध में भी है । इस समुदाय पर समुचित अंकुश रखा जाय, मजबूत रस्से से बाँधा जाय । इतने पर भी बगावत करने जैसे लक्षण दिखाई पड़ें तो फिर प्रताड़ना का भय ही एकमात्र उपाय है । इन्द्रिय निग्रह के लिए सुविधा विरोधी तप-साधना करते हुए ऐसा साहस भरा मनोबल बढ़ाना पड़ता है, जो अपने प्रताप से किसी भी घटक को उच्छृंखलता न बरतने दें ।

प्रवाह को रोकने के लिए प्रतिपक्षी बाँध बनाना पड़ता है । अत्याचारों के विरुद्ध उनका सामना करने की तैयारी करनी पड़ती है । लात का जवाब लात और घूँसे का जवाब घूँसा माना जाता है । शठ के साथ शठता बरती जाती है और विष को विष से मारा जाता है । कुविचारों और बुरी आदतों के विरुद्ध प्रतिपक्षी मोर्चा खड़ा करना चाहिए और वह ऐसा होना चाहिए कि अभ्यस्त कुटेवों से डटकर मोर्चा ले सके ।

कामुकता के विरुद्ध ब्रह्मचर्य के लाभों और नारी के देवी स्वरूप को हृदयंगम करने की भावनाएँ विकसित करनी चाहिए । चटोरेपन के विरुद्ध उन घटनाओं और लोगों के उदाहरणों को सामने रखना पड़ेगा । जिन्होंने इस

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

सन्दर्भ में आदर्शों को निबाहा और जन-जन द्वारा अभिनन्दनीय माने गये । इसी प्रकार नशेबाजी, कुदृष्टि कानाफूसी जैसी बुरी आदतों के विरुद्ध तर्कों, तथ्यों, प्रभाव और उदाहरणों का ऐसा भण्डार मन:क्षेत्र में जमाकर रखना चाहिए, जबकि उनके साथ टक्कर कराते हुए व्यक्तित्व के किसी भी कोने में घुसी हुई दुष्प्रवृत्तियों के साथ करारा संघर्ष करने में सफलता मिल सके । नैतिकता और शालीनता का संयम और सदाचार का पक्ष स्वभावत: इतना मजबूत है कि उसके सहारे मानवी-गरिमा सुस्थिर और सुनिश्चित बनायी जा सके । गड़बड़ी तो तब पड़ती है, हारना तो तब होता है, जब अनीतिमूलक अभ्यास ती चिन्तन पर सवार होकर अभ्यास का रूप ले ले और उन्हें निरस्त करने वाले देवपक्ष मूर्छित, तन्द्रित रहकर अपनी प्रतिरोधी क्षमता गँवा बैठें ।

दूरदर्शी विवेकशीलता धी:

सातवाँ चिह्न धर्म-धारणा का धी: है । धी: अर्थात् समझदारी, बुद्धिमानी । लोकव्यवहार में तो इन्हीं के सहारे काम चलता है । अनगढ़ बिखरी परिस्थितियों में से जो अपनी परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुरूप है, उन्हें चुन लेना । जो चुन जाने को है, उसके लाभ-हानि, उचित-अनुचित के हर पक्ष पर गम्भीरतापूर्वक ऐसा विचार करना, जिसमें गलत चयन करने का बाद में पश्चात्ताप न करना पड़े । बुद्धिमान ही इस मेले में से अपने काम की सही चीज चुन पाते हैं, अन्यथा इस सुविस्तृत मेले में ऐसे आकर्षणों की भरमार है कि हर वस्तु ललचाती है और अपने ऊपर मक्खी की तरह टूट पड़ने का इशारा करती है । उस भ्रम-जंजाल में भटक जाने वाले खरीदते और कडुआपन चखकर फेंकते रहने में ही जिन्दगी के दिन पूरे कर लेते हैं ।

अक्लमन्द तो कभी-कभी धूर्तता, चतुरता, उच्छृंखलता और अपराधी दुष्प्रवृत्तियों के साथ भी साझीदारी कर लेते हैं । ऐसी दशा में जो जितना अक्लमन्द है, वह उतना ही धूर्त, ठग, अपराधी प्रवृत्तियाँ अपनाता है और धोखेबाजी, विश्वासघात के नये-नये तरीके ढूँढ़ निकालता है । उक्त के सहारे बुरी से बुरी बात के समर्थन में भी तर्क दिये जा सकते हैं । मन ऐसा वकील है जो किसी भी पूर्वाग्रह की वकालत इस तरह कर सकता है कि झूठी बात भी सच प्रतीत होने लगे और सच्चाई के औचित्य पर सन्देह उठने लगे ।

जेलखानों में जाकर वहाँ बन्द अपराधियों से भेंट-मुलाकात की जाय तो प्रतीत होगा कि दुनिया की आधी चतुरता, अक्लमन्दी इसी वर्ग के हिस्से में आई है और दुनिया ने उसे स्वतन्त्र विचरण करने तक से रोक दिया है । इनके कृत्यों की कथा सुनी जाय तो प्रतीत होगा कि वे चकमा देने और दुस्साहस दिखाने में कमाल ही करते रहते हैं । ऐसी अक्लमन्दी को धिक्कारा ही जा सकता है उसकी तुलना में मूर्ख कहे जाने पर सरल-सीधे लोगों की प्रशंसा की जा सकती है ।

धर्म-धारणा की सातवीं धारा 'धी:' नीतिसमर्थक और भावी परिणामों का सही चित्र खींच सकने वाली उस दूरदर्शी विवेकशीलता से है जो मनुष्य को भौतिक क्षेत्र में राजहंस और अध्यात्म क्षेत्र में परमहंस बनाती है ।

साधारण हंस तो तालाबों में कीड़े-मकोड़े खाते रहते हैं, पर राजहंसों के बारे में कवि कल्पना यह है कि वे नीर-क्षीर का विश्लेषण और पृथक्करण कर सकते हैं । दूध और पानी मिला हुआ हो तो वे केवल दूध पियेंगे और पानी को छोड़ देंगे । इसका अर्थ यह हुआ कि अगणित प्रतिपादनों, क्रिया-कलापों का कोलाहल कितना ही क्यों न मचा रहे, वे उस जंजाल में से उसी को चुनते हैं जो आदर्शों की कसौटी पर शत-प्रतिशत खरे उतरते हैं और जिनका उच्चस्तरीय मेधा, प्रज्ञा समर्थन करती है । इसके अतिरिक्त जो तर्क और उदाहरण घटिया दर्जे के होते हैं, उनका सहज तिरस्कार करते हैं ।

राजहंसों की एक और भी विशेषता है कि वे मोती ही चुगते हैं । कीड़े-मकोड़ों के लिए चोंच नहीं खोलते । कवि कल्पना के इस राजहंस का कृत्य हर दृष्टि से सराहनीय ही नहीं अनुकरणीय भी है । हमारी उपयोग सामग्री शालीनता की कसौटी पर सर्वथा खरी और सही होनी चाहिए । मोती की प्रतिष्ठा इसी रूप में है । वह दिव्यलोक में बरसने वाली स्वांति बूँदों का ही अनुदान है । राजमुकुटों में धारण किया जाता है । उसकी चमक साधारणतया उतरती नहीं । राजहंस अपना आहार इन्हीं मोतियों का बनाता है अन्यथा भूखा मर जाता है । कीड़े-मकोड़ों के लिए चोंच नहीं खोलता । इस समूचे दृष्टान्त का तात्पर्य इतना ही है कि मेधावान विवेकशीलों की 'सद्बुद्धि ही सराहनीय है, वह चिन्तन क्षेत्र पर आच्छादित रहनी चाहिए ।

आम आदमी तात्कालिक लाभ को देखता है और यह भूल जाता है कि इसका दूरगामी परिणाम क्या हो सकता है ? दूरदर्शी आज के घाटे की परवाह नहीं करते और भावी सत्परिणामों को देखते हुए पूँजी रूप से अपनी समूची क्षमता को दाँव पर लगा देते हैं । किसान यही करता है वह निरन्तर जुताई, बुआई, निराई, सिंचाई, रखवाली में लगा रहता है और इसके निमित्त घर की पूँजी भी खर्च कर डालता है, किन्तु समय आने पर जब फसल पकती है तो उसके कोठे अनाज से भर जाते हैं और सम्पदाजन्य सुख और यश उसे मिलता है ।

विद्यार्थी को भी यही करना पड़ता है । प्रथम कक्षा से लेकर एम. ए. करने की अवधि में उन्हें चौदह वर्ष का समय एकनिष्ठ होकर लगाना पड़ता है । यह समय राम वनवास के चौदह वर्षों की तरह कटता है । इस अवधि में खाने-पहनने, पुस्तकें खरीदने, फीस चुकाने में काफी खर्च भी पड़ता है, पर शिक्षा पूरी करने के उपरान्त जब उसे विद्वान कहा और अफसर जैसे उच्च पद पर प्रतिष्ठित किया जाता है, तब पता चलता है कि दूरदर्शिता किसे कहते और उसमें आरम्भिक पूँजी नियोजन का प्रावधान क्यों है ?

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

पहलवान लम्बे समय तक कसरत करता, पौष्टिक भोजनों का खर्च उठाता और संयम बरतता है, तब कहीं समयानुसार परिपुष्ट होकर दंगल जीतता और यशस्वी बनता है । व्यापारी को कारखानों का ढाँचा खड़ा करने में अपनी पूँजी झोंक देनी पड़ती है और आवश्यकता पड़ने पर कर्ज भी लेना पड़ता है, पर जब यह सब कुछ हो चुकता है, तो कारखाना चल निकलने और मुनाफे से तिजोरी भरने का अवसर मिलता है ।

यदि किसान ने बीज को भुनाकर चबैना बना लिया होता, विद्यार्थी फीस न देकर सिनेमा देखता और पहलवान उस साधना से बचकर आवारागर्दी के गुलछर्रे उड़ाता, व्यापारी कारखाने में लगने वाला धन ऐयाशी में उड़ा देता तो इन सब का भविष्य अन्धकारमय ही बनता । भले ही आरम्भ में वे शौक-मौज का मजा चख लेते ।

दूरदर्शिता और अदूरदर्शिता का अन्तर यही है। इसी को सच्चे अर्थों में बुद्धिमत्ता एवं मूर्खता समझा जाना चाहिए । विवेकशील दूरदर्शी ही सच्चे अर्थों में बुद्धिमान हैं, जिन्हें सिर्फ आज का मजा दीखता और भविष्य के अन्धकारमय बनने की कोई चिन्ता नहीं होती । उसे उस मंडली द्वारा भी तिरस्कृत होना पड़ता है जो आरम्भिक दिनों में उस आवारागर्दी को प्रोत्साहन प्रदान करते थे और स्वयं भी सम्मिलित रहकर दूसरे की अँगीठी पर रोटी सेंकते थे।

नशेबाजी जैसी अनेकों प्रकरण ऐसे हैं जो लत लगाने के दिनों में बड़े मजेदार प्रतीत होते हैं, पर वे जब आदत बनकर स्वास्थ्य, धन, यश, परिवार आदि को जर्जर कर लेते हैं, तब भूल का पता चलता है । तब तक यह पिशाच ऐसी मजबूत सवारी गाँठ चुका होता है, जिससे पीछा छुड़ाना फिर सम्भव ही नहीं रहता । यह तात्कालिक लाभ की दृष्टि है । व्यभिचार भी इसी श्रेणी में आता है । इश्कबाजी के आरम्भिक दिन कितने मधुर लगते हैं, पर कुछ ही दिन बाद जब सब ओर से भर्त्सना और प्रताड़ना बरसती है तो तब पता चलता है कि आरम्भ का मौज-मजा इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि भविष्य में दुष्परिणाम सहने से पश्चात्ताप ।

दूरदर्शी, विवेकशील भौतिक जगत में प्रगति, समृद्धि, प्रतिष्ठा और सफलता से ही महान् बने हैं । उनने यश कमाया, मान पाया, आभा पायी और सुख उठाया है, किन्तु जो अदूरदर्शी हैं जिन्हें आज का लाभ ही सब कुछ दीखता है, वे वंशी में फँसने वाली मछली, जाल में तड़पने वाली चिड़िया और चासनी में पर फँसाकर बे-मौत मरने वाली मक्खी का उदाहरण बनते हैं ।

धर्मतत्त्व का आठवाँ अनुशासन : 'विद्या'

विद्या का मोटा अर्थ है-विद्या संचय । भगवती सरस्वती को उसी का प्रतीक माना जाता है । बहुप्रचलित उक्ति है कि 'विद्या विहीनं पशु' । जिसने विद्या के साथ सघन सम्बन्ध नहीं जोड़ा, वह नर पशु की संज्ञा में गिना जायगा । कूप-मण्डूकों की ज्ञान-परिधि उतनी ही छोटी होती है जितनी कि कुएँ की लम्बाई, चौड़ाई । उसे बाहरी दुनिया का कोई ज्ञान नहीं होता । गूलर के भुनके के लिए उस फल का पोला भाग ही समूचा ब्रह्माण्ड है, पर पक्षी उन्मुक्त आकाश में उड़ सकता है, उसे जानकारी होती है कि दुनिया कितनी बड़ी और कितने चित्र-विचित्र दृश्यों और घटनाक्रमों से घिरी हुई है ।

अशिक्षित मनुष्य भी कूप-मण्डूक की तरह बाड़े में बन्द पशु की तरह है । उसकी जानकारी सम्पर्क क्षेत्र के प्रचलनों और क्रिया-कलापों के दायरे भर में घिरी रहती है । जो उसके परिचित क्षेत्र में हो रहा है, उसकी दृष्टि में दुनिया की गतिविधियाँ इतनी ही सीमित हैं, जबकि वस्तुतः ज्ञान क्षेत्र का विस्तार इससे असंख्य गुना बड़ा है । जिसका ज्ञान विस्तार जितना बड़ा है, समझना चाहिए कि उसकी विज्ञता उतनी ही बड़ी है । वस्तुतः यही सच्चा बड़प्पन भी है । बड़प्पन ही नहीं वैभव भी ।

अब संसार बहुत छोटा हो गया है, दुनिया बहुत सिकुड़ गयी है । ज्ञान-विज्ञान का दायरा इतना बड़ा हो गया कि उसके सम्पर्क में न आने से हम गई-गुजरी, पिछड़ी हुई परिस्थितियों में ही घिरे पड़े रहेंगे । बौद्धिक दृष्टि से पिछड़ापन आर्थिक दरिद्रता से भी गया-बीता है । हम चाहे धनवान न बन सकें, पर ज्ञानवान तो बनना ही चाहिए, क्योंकि वह अपेक्षाकृत सरल भी है और व्यक्तित्व के मूल्यांकन की दृष्टि से बहुमूल्य हीरक हार की तरह भी ।

सद्ज्ञानरूपी हिमालय की दो प्रमुख धाराएँ हैं एक शिक्षा, दूसरी विद्या । शिक्षा की परिधि में भौतिक जानकारियाँ आती हैं जिनके सहारे उपार्जन करने की क्षमता और बहुज्ञ समझे जाने की प्रतिष्ठा प्राप्त होती है । स्कूलों में शिक्षा का ही पाठ्यक्रम आदि से अन्त तक है । शिल्पी कलाकार जिस विशिष्टता का परिचय देते हैं, वह शिक्षा की परिधि में आता है । विशेषज्ञ, वैज्ञानिक, साहित्यकार, संगीतज्ञ, यांत्रिक आदि सभी इसी वर्ग में आते हैं, उन्हें शिक्षित कहते हैं । अधिक बढ़ा-चढ़ा होने पर उसे सुशिक्षित भी कहा जाता है ।

विद्या इससे भिन्न है । उसे दूसरे शब्दों में सभ्यता या सुसंस्कारिता भी कह सकते हैं । जीवन एक अनगढ़ धातु की तरह है । उसे जिस भट्टी में तपाया, शोधा, ढाला और निखारा जाता है, उसे विद्या कहते हैं । मनुष्य के गुण, कर्म, स्वभाव कई बार बहुत ही गये-गुजरे, हेय स्तर के होते हैं । कई बार वे इतने उज्ज्वल और उत्कृष्ट होते हैं कि हाड़-माँस के पुतले में ही देवता विराजमान और गतिशील प्रतीत होता है । व्यक्तित्व की दृष्टि से गिरे हुए व्यक्ति को नर-कीटक, नर-पशु या नर-पिशाच कहते हैं । पर जिसकी स्थिति उत्कृष्टता और आदर्शवादिता के साथ घुल-मिल जाती है, उन्हें देवमानव, ऋषि, तपस्वी, सन्त आदि कहते हैं और सहज श्रद्धा में द्रवित होकर उन्हें भाव-भरा नमन करते हैं । भले ही भौतिक सम्पदाओं की दृष्टि से वे दरिद्र या अपरिग्रही जैसी अभावग्रस्त परिस्थितियों में ही क्यों न रह रहे हों ?

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

विद्या का क्षेत्र है-चिन्तन, चरित्र और व्यवहार । चिन्तन में उत्कृष्टता, चरित्र में आदर्शवादिता और व्यवहार में शालीनता का समावेश करना विद्या का काम है । उसकी बढ़ती हुई मात्रा सुसंस्कारिता के रूप में दृष्टिगोचर होती है । ब्राह्मण और साधु वर्ग के लोग महामानव स्तर के होते हैं । उनका व्यक्तित्व इतना भारी और बजनदार होता है कि उस दबाव से व्यक्ति, समाज और वातावरण को बदलते, सुधरते देर नहीं लगती ।

शिक्षा प्राप्ति के लिए उस्तादों के पास जाना पड़ता है और अपने विषय की प्रवीणता में निष्णात गुरुजनों की शरण में जाना पड़ता है । विभिन्न प्रकार के कला-कौशल वे ही सिखाते हैं । अपने विषय का प्रवीण, पारंगत होना ऐसे शिक्षकों के लिए पर्याप्त माना जाता है । इनके सम्बन्ध में यह खोजबीन नहीं की जाती कि वे चरित्रवान् हैं या नहीं ? दुर्व्यसनों से तो घिरे हुए नहीं । इनका दृष्टिकोण घटिया तो नहीं है । यदि हो तो भी शिक्षक शिक्षार्थी मिलकर शिक्षा प्राप्त करने पर गाड़ी धकेलते रहते हैं ।

विज्ञान यदि सुशिक्षित भी हो तो सोना-सुगन्ध अन्यथा कम पढ़े या बिना पढ़े होने पर भी उनका काम चल सकता है । मध्यकालीन सन्तों में बहुत कम सुशिक्षित थे। उनकी कविताओं और कहानियों में शब्द रचना और छन्द शास्त्र की दृष्टि से ढेरों अशुद्धियाँ भरी पड़ी हैं । इससे प्रतीत होता है कि उन्होंने शिक्षा की दिशा में विशेष ध्यान नहीं दिया या अवसर नहीं मिला । यह भी हो सकता है कि उन्हें वैसे कौशल की आवश्यकता ही न समझी हो ।

कबीर ने तो "पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय । ढाई अक्षर प्रेम का पढ़े से पंडित होय" वाले इस बहुचर्चित दोहे में इस तथ्य को और भी अच्छी तरह उजागर कर दिया है । वे भावना क्षेत्र की मान्यताओं, आस्थाओं, आकांक्षाओं और विचारणाओं को ही मनुष्य की वास्तविक पूँजी मानते हैं । उनमें यदि उत्कृष्टता का समावेश है, तो फिर गुण, कर्म, स्वभाव में शालीनता की कमी न रहेगी और कम पढ़े होने पर भी विद्या की आवश्यकता पूरी हो जायगी ।

विद्या का उद्देश्य दृष्टिकोण को परिष्कृत और व्यवहार को सज्जनोचित बनाने का लक्ष्य है । वह चरित्र पर पूरा जोर देती है । निजी आवश्यकता में अधिकतम कटौती करके जो कुछ जीवनरस बचता है, उसे परमार्थ-प्रयोजन में उँड़ेल देने की उमंग भरती है । चरित्र के धनी इतने प्रभावी होते हैं कि उन पर मोटे पेट वाले धनाध्यक्षी हजार धन-कुबेरों को निछावर किया जा सकता है । देवता असुरों से सदा हारते रहे हैं, किन्तु निष्ठावान टूट जाते हैं पर झुकते नहीं, वे अपनी आन पर दृढ़तापूर्वक चट्टान की तरह अडिग खड़े रहते हैं । उनकी प्रत्यक्ष सफलताओं की तो बड़ी से बड़ी गाथा नहीं मिलती, किन्तु यह निश्चित रूप से कहा जाता है कि उन्होंने अपने सम्पर्क क्षेत्र के अनेक झाड़-झंकाड़ों को चन्दन तरु की तरह महकाया है। उन्होंने अपनी नाव पर बिठाकर अनेकानेकों को पार किया है, उन्होंने अनेकों की दिशा-धारा मोड़ी और भटकाव से निकाल कर राज-मार्ग तक पहुँचाया है ।

शिक्षा की परिणति सम्पदा और प्रतिष्ठा है । इसीलिए उसे लोग पढ़ते भी हैं । इसके लिए निज स्कूल खुलते तथा सरकारी बनते रहते हैं । हर साल लाखों लड़के मध्यवर्ती और ऊँची शिक्षा प्राप्त करके उनमें से निकलते भी हैं । इसके उपरान्त कुछ को ही काम मिल पाता है । शेष अपनी बेकारी की शिकायतें करते हुए उद्विग्न फिरते हैं, पर विद्यावानों को कहीं ऐसी विपन्नता का सामना नहीं करना पड़ता । वे अपनी प्रामाणिकता, चरित्रनिष्ठा, अनुशासनपरायणता के आधार पर जहाँ भी पहुँचते हैं, काम और सम्मान पाते हैं । सद्गुण ही वह पूँजी है, जिसकी पूरी तरह परख, परीक्षा न होने तक ही उपेक्षा होती है । जब तक उसका मूल्यांकन कसकर कसौटियों पर नहीं कर लिया जाता है । इस आधार पर निखरे हुए मनुष्य छोड़ने या छुड़ाने में प्राण-हरण जैसा कष्ट होता है । वे जिस काम में हाथ डालते हैं उसमें क्रमिक उन्नति करते हुए सफलता की चरम सीमा तक पहुँचते हैं । सर्वथा अभावग्रस्त परिस्थितियों का घेरा तोड़ते हुए जो उच्च महत्त्व के शिखरों पर पहुँचे हैं, उनकी प्रमुख विशेषता एक ही रही है-उत्कृष्टता । आध्यात्मिक साधनाओं का नन्दनवन चरित्र-निष्ठा की उर्वर भूमि पर ही फलता-फूलता है ।

शिक्षा प्रसार के लिए बहुत कुछ हो रहा है । होना यह भी चाहिए कि विद्या के प्रति बरती जाने वाली, श्रद्धा का अन्त हो, विद्यावानों का, विद्यालयों का अभाव यथासम्भव जितनी जल्दी बन पड़े दूर किया जाय ।

सत्यमेव जयते

धर्म का नवाँ लक्षण है-सत्य । आमतौर से सत्य का बोलने से सम्बन्धित माना जाता है । जैसा कुछ देखा, सुना या समझा है उसे उसी रूप में कह देना सत्य है । मोटी परिभाषा इतने भर से पूरी हो जाती है, पर सत्य का तत्त्वज्ञान यदि समझना हो तो उसकी परिभाषा यह करनी होगी-श्रेष्ठता का संरक्षण । उद्देश्य यदि ऊँचा है तो कथन में स्थिति को देखते हुए यत्किंचित अन्तर भी किया जा सकता है । रोगी निराश होकर मरण को निश्चित मानने लगे तो आशा और उत्साह देकर मनोबल जगाना और इस आधार पर उसके ठीक होने की सम्भावना को नये सिरे से उभारना, सत्य से कम प्रतिफल उत्पन्न करने वाला नहीं है। यदि चिकित्सक के अनमनेपन को ताड़कर मरण की सम्भावना को रोगी के सम्मुख प्रकट कर बैठा जाय तो उससे अनर्थ की ही सम्भावना है । ऐसा सत्य असत्य से बुरा है।

दो स्वजनों के बीच पल रहे मनोमालिन्य को यदि चुगली करके बढ़ाया न जाय और विश्वसनीयता को साफ सफाई की बातों में अपनी ओर से कुछ नमक, मिर्च न मिलाकर सहयोग समाधान की स्थिति उत्पन्न कर दी जाय, तो इसे असत्य नहीं कहा जायगा, वरन् सत्परिणाम को

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

देखते हुए उस चापलूसी को सत्य से कम सराहा न जायगा।

कोई जमाना था जब अपनी खोटें, सर्वसाधारण के सम्मुख प्रकट कर देने से उस व्यक्ति को सच्चाई, निष्कपटता, भोलेपन और सुधार, पश्चात्ताप की छाया में श्रेय ही दिया जाता था और घृणा का भाव त्यागकर उसे क्षमा कर दिया जाता था, पर अब वैसी स्थिति बिल्कुल भी नहीं रही । भेद की बातें पूछकर लोग मस्खरी उड़ाते और उस गन्दगी को चारों ओर बिखेरकर सच बताने वाले की इज्जत को धूल में मिला देते हैं ।

हमें ऐसी अनेकों घटनाओं का स्मरण है, जिसमें नव विवाहिताओं से प्यार, सच्चाई और क्षमा की दुहाई देकर पिछली गलतियों को पूछ लिया गया । इसके उपरान्त क्षमा करना तो दूर, ऐसा रौद्र रूप धारण किया गया कि बेचारी का जीना-हराम हो गया । ऐसी दशा में बुद्धिमत्ता की दृष्टि से यही उचित था कि जिन रहस्यों के प्रकट होने पर किसी आपत्ति के आने की आशंका है, तो उसे सदा-सर्वदा के लिए कूड़े के ढेर में दाब दिया जाय और उसकी चर्चा का प्रसंग ही न आने दिया जाय ।

सच्चाई भलमनसाहत का चिह्न मानी जाती है और मन और कथनी की एकता रखना अच्छा गुण है, पर यह सब दैनिक सामान्य व्यवहार तक ही सीमित रहना उचित है । रहस्य की उन बातों को जिनके प्रकट होने पर विग्रह खड़े होने की आशंका हो, उन्हें न कहना किसी भी प्रकार झूठ नहीं है । कई बार मौन भी सत्य के ही समतुल्य हो जाता है ।

घटना है कि किसी कसाई के हाथ से छूटकर गाय भाग आई । वह ऋषि आश्रम के पीछे नदी किनारे चर रही थी । ढूँढ़ते हुए कसाई आ पहुँचा । ऋषि ने उसकी गाय के बारे में कुछ जानकारी हो तो बताने के लिए कहा । ऋषि ने ब्रह्मज्ञान की भाषा में कहा-"जिसने देखा है, वह बोलता नहीं और जो बोलता है उसने देखा नहीं" । उनका संकेत जिह्वा और नेत्रों की बीच का अन्तर भर बताना था । कसाई उस सांकेतिक भाषा को न समझ सका और निराश होकर घर वापस लौट गया । गाय के प्राण बच गये और इस प्रच्छन्न सत्य के सहारे एक अनर्थ होते-होते बच गया ।

सरकार के सेना विभाग तथा गुप्तचर विभाग के लोगों को कड़ी हिदायत रहती है कि वे सामने वाले का भेद जानने की कोशिश करें । किन्तु अपने सम्बन्ध में जो वस्तुस्थिति हो उसे छिपायें । यह झूठ को प्रत्यक्ष प्रोत्साहन है, किन्तु इसके पीछे राष्ट्र रक्षा तथा अपराधों का पता लगाने की उच्च भावना काम करती है । इन प्रसंगों में झूठ का आश्रय लेना किसी भी प्रकार हेय नहीं कहा जा सकता ।

धर्मराज ने अश्वत्थामा मरण की पुष्टि करते हुए धीमे से इतना और कह दिया कि 'नरोवा कुंजरोवा' या तो इस नाम का मनुष्य मरा होगा या हाथी । हाथी तो महाभारत में ढेरों मरे थे । इस प्रकार युधिष्ठिर ने बात का समग्र स्पष्टीकरण करने की अपेक्षा आधा सत्य और आधा झूठ बोला । यहाँ तक कि कृष्ण भगवान् ने जयद्रथ के स्थान पर अर्जुन के अपघात की आशंका देखकर अपना चक्र सुदर्शन सूर्य के उगे होने के रूप में दिखा दिया । अर्जुन बच गया । जयद्रथ मर गया । अनर्थ टला और औचित्य की रक्षा के लिए जिसका जीवन आवश्यक था, वह बच गया ।

यहाँ न तो झूठ को प्रोत्साहन दिया जा रहा है और न सत्य को अव्यावहारिक बताया जा रहा है, किन्तु यह कहा जा रहा है, जीवन-यापन के सामान्य प्रसंगों में सत्य का व्यवहार ही उचित है । व्यापारी यदि मिलावट न करे, कुछ के स्थान पर कुछ न दे । नाप-तौल में चालाकी न करे । उचित मुनाफा ले और हिसाब-किताब ठीक रखे तो उनकी यह रीति-नीति सत्य समर्थक ही मानी जायेगी । किन्तु चोर या ठग अपनी संचित राशि की संख्या और रखे होने का स्थान पूछे तो तनिक भी आवश्यकता नहीं कि सत्यवादी हरिश्चन्द्र बना जाय और सारे रहस्य बताकर चोरी-डकैती का पथ प्रशस्त किया जाय ।

सच्चाई के व्यवहार की जितनी प्रशंसा की जाय उतनी ही उत्तम है । लाग-लपेट का जितना कम व्यवहार किया जाय उतना ही अच्छा । मन और वाणी की एकता रहने में अन्तराल स्वच्छ रहता है । इससे शारीरिक और मानसिक रोगों की उत्पत्ति के प्रधान कारण अन्तर्द्वन्द्व की जड़ कटती है । अपनी गणना भले मनुष्यों में होती है । कथन पर विश्वास भी किया जाता है और एक सज्जन के रूप में सम्मान बना रहता है । उसकी प्रामाणिकता पर उँगली नहीं उठती ।

इतना जान लेने के साथ ही यह भी जान लेना चाहिए कि श्रेयस्कर क्रिया-कलाप में विघ्न उत्पन्न करने वाली सच्चाई का अकारण ढोल न बजाते फिरा जाय तो उसमें भी कुछ हर्ज नहीं । अगणित प्रसंग ऐसे अपवाद होते हैं, जिनके मौन रहने पर वाणी को बिगड़ने जैसा विक्षेप उत्पन्न नहीं होता ।

इन दिनों ऐसी दुरात्माओं का बाहुल्य है, जो पेट में घुसकर भेद की बात जान लेती हैं और उस आधार पर ऐसे हथकण्डे चलाती हैं कि बेचारे सत्यवादी के लिए आत्मरक्षा करना कठिन पड़ जाय । ऐसे प्रसंगों का बाहुल्य होते देखकर विज्ञजनों ने ठीक ही कहा है कि थोड़ा बोला जाय । हितकर बोला जाय और मधुर बोला जाय । इन तथ्यों का निर्वाह करना भी लगभग सत्य की परिधि को छूना ही है । अकारण सत्य उगलते फिरने में जिनके स्वार्थों को चोट पहुँचती होगी, वे अपने दुश्मन बनेंगे इसलिए जहाँ सत्य की रक्षा करनी है, वहाँ नीति और औचित्य की भी रक्षा करनी चाहिए और साथ ही अपनी आत्म-रक्षा भी ।

सत्य की ही विजय होती है । इस उद्घोष को शोषितों के पक्ष में उभारा जा सकता है और कहा है कि अन्यान्य

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

कागजी रावण के समान है । मनुष्य के मौलिक अधिकार सत्य और तथ्य पर आधारित हैं, इसलिए शोषक कितने ही समर्थ क्यों न हों, कल नहीं तो परसों औंधे मुँह गिरेंगे । कुरीतियों, मूढ़ताओं और अन्धविश्वासों के विरुद्ध भी यही कहा जा सकता है कि उनकी जड़ें नहीं हैं । इन बालू की दीवारों में एक धक्का मारने में यह महल ढह जायगा, जो परम्परावाद के नाम पर किसी तरह अपनी चमड़ी बचाये हुए हैं ।

आत्मसुधार की, लोकमानस निर्माण की अन्तरंग और बहिरंग गतिविधियाँ सत्य की साधना के समतुल्य हैं। नशेबाजी जैसी दुष्प्रवृत्ति भी मनुष्य के ऊपर हावी होकर अमरबेल की तरह उसका रस रक्त चूस रही है । असत्य का अन्धकार हटते ही इस प्रकार के कुप्रचलनों को भी निशाचरों की भाँति मैदान छोड़कर भागना होगा ।

आत्मा सत्य है । आत्मा की गरिमा को अक्षुण्ण बनाये रखने का प्रयत्न भी सत्य है । सत्य ही यह है कि सामाजिक न्याय और भाईचारे की प्रतिष्ठापना फिर से हो । इस मार्ग में जो भी अडंगे अड़ गये हैं, उन्हें निरस्त करने के लिए मोर्चा सँभालना भी सत्य के पक्ष तथा असत्य का दमन करने के समान है ।

धर्मपरायण को क्रोधोन्माद से बचना चाहिए

धर्म-धारणा का अन्तिम और दसवाँ लक्षण है- अक्रोध । अक्रोध अर्थात् क्रोध न करना । आवेश में न आना । अपना मानसिक असन्तुलन हर स्थिति में हर कीमत पर बनाये रहना ।

नौवाँ लक्षण सत्य है । सत्य के बाद सामान्यतया अहिंसा को स्मरण किया जाता है, पर शब्द इतना जंजाल भरा और उलझा हुआ है कि उसकी व्याख्या कर सकना सचमुच बड़ी टेढ़ी खीर है । यों जैन और बौद्ध सम्प्रदाय अहिंसावादी । रामानन्द, कृष्ण भक्त वैष्णव भी इसे वैसी ही मान्यता देते हैं । इतने पर भी माँसाहारी वर्ग को छोड़ देने पर शाकाहारियों के लिए काफी कठिन पड़ता है। जुएँ, खटमल, ईंधन के जलने और पैरों तले कुचलने वाले, पशुओं के शरीर में चिपके रहने वाले कीड़े, मक्खी, मच्छर, बर्र, बिच्छू, सर्प आदि अनेकों कृमिकीटक ऐसे हैं, जिनकी जान-बूझकर न सही अनजाने या उपेक्षा बरतने के कारण मृत्यु होती रहती है । पानी और हवा के साथ शरीर में पहुँचने वाले कृमि भी मरते ही हैं । बीमार पड़ने पर रोग कीटाणुओं को मारने वाली दवाओं का प्रयोग कैसे छोड़ा जाय ? अनाज को धूप में सुखाने और पीसने से भी छोटी बड़ी हिंसा होती है । कृषि की सिंचाई में चींटी-दीमकों के बिलों में पानी भरता है और उनकी मृत्यु का कारण वह कृषि बनती है जो अपना जीवनाधार है । अब तो पौधों में भी जीवन माना जाने लगा है, ऐसी दशा में शाकाहार तक में जीव हिंसा की जा सकती है । फिनायल, डी. डी. टी., कुओं में डालने की दवा जैसे सामान्य प्रचलनों को रोक सकना तो बहुत ही कठिन है । माँसाहार रुक सके और पशु-पक्षियों जैसे बड़े आकार के जीवधारियों के प्राण बच सकें तो भी आधी लड़ाई जीत ली गई समझी जाती है । शत्रु के देश पर हमला करने पर आत्मरक्षा के लिए प्रतिरोध करना ही पड़ेगा और उस कार्य में हिंसा होगी ही।

सर्वथा अहिंसक बनकर रहना किन्हीं योगी, तपस्वियों के लिए अपवाद रूप में ही सम्भव हो सकता है । सामन्यजनों के लिए तो इतनी अहिंसा बन पड़ती है कि क्रूरता की सीमा तक न पहुँचें । माँसाहार न करें । सभी में स्नेह-सद्भाव रखें और अनीतिपूर्वक शोषण करने से बचें । सेना और पुलिस द्वारा दुष्टों से निपटने के लिए जो हिंसा की जाती है । डाकुओं का मुकाबला करने में पुलिस गोली चलाती है । यह सब कैसे बन्द हो ? इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए धर्म के लक्षणों का विवेचन करते हुए भगवान् मनु ने सत्य के साथ अहिंसा का नहीं वरन् अक्रोध का युग्म बनाया और उससे भी अहिंसा के तत्त्व ज्ञान की आंशिक पूर्ति होती देखी है ।

प्रतिपक्षी, विरोधी, आक्रामक, चोरी, हानि पहुँचाने वालों के कारण जो आक्रोश उत्पन्न होता है, उसे मर्यादा में रखने की प्रक्रिया शास्त्रकारों ने 'मन्यु' बताई है और भगवान् से ऋचाकारों ने प्रार्थना की है कि-हे भगवान् ! आप मन्यु हैं । हमें भी मन्यु दीजिए । पंचवटी क्षेत्र में जब असुरों द्वारा नष्ट किए हुए लोगों की अस्थिसमूह देखे तो राम ने भुजा उठाकर प्रण किया कि इस पृथ्वी को निशाचरविहीन किया जायगा और सचमुच उन्होने वैसा ही किया भी । सीता अपहरण के प्रत्युत्तर में ही जिन हनुमान ने पर्वत उठाया और समुद्र लाँघा था, वे सीताजी को पीठ पर बाँधकर वापस ला सकते थे, पर वास्तविकता दूसरी ही थी । असुरों का विनाश ही किसी बहाने करना था ताकि अत्याचारों की शृंखला को विराम दिया जा सके।

इस समूचे संयोजन में राम ने समुचित योजनाएँ बनाईं और रणनीति अपनाई, किन्तु किसी अवसर पर भी अपना सन्तुलन न खोया, आवेशग्रस्त न हुए । कारण कि जिस पर क्रोध किया जाता है, उसे बदला लेने के निमित्त हानि पहुँचाने की तुलना में अपना ही अहित हो जाता है । आधे घण्टे के क्रोध में उतना खून सूख जाता है जितना कि चौबीस घण्टे के तेज बुखार में ।

मशीने चलाने वाली मोटरें जब गरम हो जाती हैं तो ये काम करना बन्द कर देती हैं या अपनी वायरिंग जला देती हैं । तेजाब जहाँ भी फैलता है वहाँ वस्तुएँ ही नहीं जमीन तक जला देता है । माचिस औरों को जलाने से पूर्व अपने आपको समाप्त कर लेती है । क्रोध भी इसी स्तर की आग है, जो जिसके विरुद्ध भड़की है, उसे हानि पहुँचाने के पूर्व अपने आपको जला लेती है । उत्तेजक मतिष्क सही तरह से सोचने की स्थिति में नहीं रहता । उसकी स्थिति पागलों जैसी हो जाती है । सूझ

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

नहीं पड़ता कि क्या करना चाहिए, क्या नहीं ? नशे की उत्तेजना में आदमी कुछ भी कर सकता है। कोई काम बिगाड़ सकता है । किसी के प्रति भी असभ्य और अनुचित व्यवहार कर सकता है। यहाँ तक कि दूसरों का सिर फोड़ सकता है या अपनी आत्महत्या कर सकता है। ऐसी विक्षिप्त स्थिति में बिगड़े काम को बनाना और उलझन को सुलझाना तो नितान्त कठिन है । शराबी के लड़खड़ाते हुए, डगमगाते हुए कदम उठते हैं, उसी प्रकार आवेशग्रस्त व्यक्ति जो सोचता है, जो करता है वह तीन-चौथाई गलत होता है । जिसके कारण आवेश आया था, उस स्थिति का सुधारना या व्यक्ति को बदलना तो दूर अपने आपे को ही विपिन्न स्थिति में डाल लेने वाला व्यक्ति उस बचकानेपन के कारण सम्पर्क क्षेत्र में अपनी इज्जत बुरी तरह गिरा लेता है । फलतः जो उसके समर्थक एवं सहयोगी थे वे भी विरोधी बन जाते हैं ।

बड़ी-बड़ी पेचीदा और उलझी हुई गुत्थियों को जो सुलझा सके हैं, वे शान्तचित्त और हँसते-मुस्कराते रहे हैं। अनुपयुक्त परिस्थिति के हल करने का सहज तरीका यह है कि उस घटना को महत्त्व दिया जाय और शान्त चित्त से धैर्यपूर्वक उपाय सोचकर और उपयुक्त कदम उठाया जाय । विरोधी से गुत्थमगुत्था करने की अपेक्षा गलतफहमी निकालने और समाधान का मार्ग खोजने में काम बन जाता है ।

विग्रह के कारण जो नुकसान हुआ था, उसे दूना चौगुना कर लेने का यही तरीका है कि क्रोध में भरकर अपनी शान्ति और निद्रा गँवा दी जाय । इसकी अपेक्षा उस पहली हानि को सहकर सन्तोष कर लिया गया होता तो अधिक उत्तम होता ।

डाक्टर रोगी का आपरेशन करता है, तो चाकू चलाने के पीछे उसकी कोई दुर्भावना नहीं होती । इसी प्रकार किसी उद्दंड को रास्ते पर लाना है, तो उसे नीचा दिखाने की अपेक्षा यही उत्तम है कि समझाने का रास्ता खोजा जाय। वह न निकलता हो और दण्ड-नीति का आश्रय लेना हो तो भी कम से कम उस हानि से अपने आपको बचा लेना चाहिए जो आवेशग्रस्त होने पर सामने वाले का नहीं उलटकर अपना अहित अधिक मात्रा में करती ।

उपाय करना, रास्ता खोजना एक बात है और लड़-झगड़कर बात का बतंगड़ बना लेना दूसरी । शत्रु से भी हँसते हुए बोला जा सकता है और अपनी सज्जनता को सुरक्षित रखा जा सकता है । ताली दोनों हाथों से बजती है, अकेला एक हाथ थपथपाने की कोशिश करता रहे, तो भी ताली बजने जैसा माहौल नहीं बनता । ईंधन न मिलने पर आग स्वयं ही बुझ जाती है । मौन धारण कर लिया जाय तो कटुवचन कहने वाला भी थककर चुप हो जाता है ।

आवश्यक नहीं हर कोई आपकी बात माने ही । स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं और सोचने के तरीके भी अलग-अलग । ऐसी दशा में जिसे जिस हद तक अनुकूलन बनाया जा सके उतने में ही सन्तोष करना चाहिए । उपेक्षा भी एक तीखा हथियार है । जो टेढ़ा चलता है, समझ की बात नहीं मानता उसके प्रति उपेक्षा की नीति अपनाना और एक प्रकार से असहयोग जैसा रुख बना लेना । उसकी अपेक्षा अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण यह है, जिसमें अपना दिमाग गरम करके दूसरों की दृष्टि में अपने को भी असज्जन सिद्ध न किया जाय ।

विलासी मनुष्य धर्मात्मा नहीं हो सकता

वर्तमान समय में संसार में जो अनेकों प्रकार के भ्रम फैले हैं, उनमें से एक मुख्य भ्रम यह भी है कि मनुष्य अपनी वासनाओं की पूर्ति में लगे रहते हैं, इस वासनामय जीवन को अच्छा समझते हैं और साथ ही यह भी ख्याल करते रहते हैं कि उनका जीवन उपयोगी, न्याय तथा प्रेम पूर्ण माना जा सकता है । यह बात इतनी आश्चर्यजनक है कि मेरे ख्याल से आने वाली पीढ़ियाँ यह समझ ही न सकेंगी कि उत्तम जीवन से हमारे पूर्वजों का तात्पर्य क्या था ? जब धनिक वर्ग के ठूँस-ठूँसकर खाने वाले विलासी और कामुक लोगों के लिए यह कहा जाय कि वे उत्तम जीवन बिताते थे, तो फिर यह समझ सकना बड़ा कठिन है कि खराब जीवन किसको कहा जा सकता है ? आप धर्म और अध्यात्म के सिद्धान्तों को तो दूर रख दीजिए, अगर न्याय और मानवता के साधारण नियमों के अनुसार भी विचार करें तो आप यही कहेंगे कि धनिक वर्ग के इन विलासी लोगों को 'उत्तम जीवन' की चर्चा करने का कोई अधिकार नहीं है ।

इसलिए हमें यह कहने में तनिक भी शंका नहीं है कि जो कोई आदमी उत्तम जीवन बिताने का निश्चय करे उसके लिए आवश्यक है कि वह सबसे पहले बुरा जीवन व्यतीत करना त्याग दे और वह उस दुष्ट जीवन के वातावरण को ही नष्ट करे, जिससे वह घिरा रहता है । यदि हमारा समस्त जीवन सच्चा, न्यायपूर्ण और दयालु हो तो ही हमारा कोई काम सत्कार्य माना जा सकता है । यदि हमारा आधा जीवन अच्छा हो और आधा बुरा हो तो हमारे कार्य अच्छे भी हो सकते हैं और बुरे भी, पर यदि हम सर्वथा बुरा और गलत जीवन बिता रहे हैं तो हम जो काम करेंगे, वह बुरा और गलत भी हो सकता है,

हमारे धनिक वर्ग का जीवन आजकल ऐसा हो गया है कि उसके वातावरण में रहकर मनुष्य से अच्छे कार्यों का हो सकना असम्भव है । हम यह कहना चाहते हैं कि जो मनुष्य भोग-विलास में डूबा है, वह कभी सत्यतापूर्ण जीवन नहीं बिता सकता । जब तक वह अपने जीवन में परिवर्तन नहीं करता, सत्य की ओर जाने वाली पहली सीढ़ी पर पैर नहीं धरता, जब तक सद्जीवन के लिए वह जो भी प्रयत्न करेगा, सब निष्फल जायेंगे । आध्यात्मिक

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

दृष्टि से जीवन को नापने का एक ही तरीका है और वह यह कि मनुष्य खुद को कितना प्रेम करता है और दूसरों को कितना ? हम खुद को जितना कम प्रेम करेंगे, अपने लिए जितनी कम चिन्ता करेंगे और स्वार्थ के लिए दूसरों से जितना ही कम काम करायेंगे, उतने ही उत्तम हम हो सकते हैं । दूसरों से जितना अधिक प्रेम करके हम उनके लिए जितना परिश्रम करेंगे, उतना ही हमारा जीवन उत्तम माना जायगा । संसार के सभी सन्त पुरुषों ने अच्छाई का यही अर्थ बतलाया है, सभी सच्चे धार्मिक पुरुष ऐसा ही कहते हैं और आजकल जन-साधारण भी इसी सिद्धान्त को ठीक मानते हैं । मनुष्य जितना ही अधिक दूसरों को देता है और दूसरों से जितना ही कम अपने लिए चाहता है, उतना ही वह श्रेष्ठ होता-है । इसके विपरीत जितना ही कम वह दूसरों को देता है और अपने लिए जितना ही अधिक चाहता है, उतना ही वह बुरा होता है ।

जो मनुष्य दूसरों के लिए अधिक से अधिक प्रेम भावना रखता है और अपनी खुद की ओर से उदासीन रहता है, उसके लिए श्रेष्ठ बनना उतना ही सुगम होता है । इसके विपरीत जो मनुष्य अपने को जितना अधिक प्रेम करता है और दूसरों से अपनी जितनी ही अधिक सेवा कराता है, उतना ही वह दूसरे लोगों की भलाई कम कर सकता है । एक मनुष्य जो दूसरों को खिलाने की वजाय खुद ही बहुत अधिक खा लेता है, तो वह अन्य लोगों की दो प्रकार से हानि करता है । एक तो उसके अधिक खाने से दूसरों के भोजन में कमी पड़ जाती है और दूसरे अधिक खा लेने से वह अपनी शक्ति को भी खो बैठता है और दूसरों का हित करने योग्य नहीं रहता ।

बहुत से लोग ऐसा प्रकट करते हैं कि वे दूसरों से प्रेम करते हैं, पर उनका प्रेम केवल शब्दों तक ही सीमित रहता है । हम दूसरों के साथ तभी वास्तविक प्रेम कर सकते हैं, जबकि अपने साथ प्रेम करना या अपना अनुचित स्वार्थ छोड़ें । ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते हैं जिनमें हम समझते हैं कि हम दूसरों से प्रेम करते हैं पर वास्तव में हमारा प्रेम शब्दों तक ही सीमित होता है । दूसरों के लिए भोजन खिलाना या आश्रय देना हम भूल जाते हैं, पर अपने लिए भोजन तथा आश्रय प्राप्त करना कभी नहीं भूलते । इसलिए दूसरों को सचमुच प्रेम करने के लिए हमको वास्तव में अपने आपको अधिक प्रेम करना छोड़ना होगा ।

हम विलासी जीवन बिताने वाले और अपने सुख के लिए ही प्रयत्न करने वाले व्यक्ति के लिए भी कुछ ऊपरी बातों को देखकर अनेक बार कह देते हैं कि "वह श्रेष्ठ जीवन बिता रहा है ।" किन्तु ऐसा व्यक्ति चाहे वह स्त्री हो या पुरुष और चाहे उसमें चरित्रशीलता के कितने ही अच्छे गुण-नम्रता, अच्छा स्वभाव आदि क्यों न हों, अच्छा आदमी नहीं हो सकता और न अच्छा जीवन बिताने का दावा कर सकता है । जिस प्रकार एक चाकू कैसे भी बढ़िया लोहे का क्यों न बनाया गया हो और उसका बनाने वाला भी कैसा ही कारीगर क्यों न हो, पर जब तक उसमें धार न लगाई जायगी, वह तेज और कारगर नहीं हो सकता । अच्छा आदमी बनने और अच्छा जीवन व्यतीत करने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य दूसरों से जितना ग्रहण करे, उससे अधिक उन्हें लौटा दे, किन्तु स्व-भोगी (अपने सुख का ध्यान रखने वाला) मनुष्य, जो ऐश-आराम की जिन्दगी बिताने का अभ्यस्त है, ऐसा कर ही नहीं सकता । इसका पहला कारण तो यह होता है कि हमेशा उसको अपने लिए बहुत से पदार्थों की जरूरत रहती है । यह उसकी स्वार्थपरता के कारण नहीं होता वरन् इसलिए भी होता है कि वह भोग-विलास का अभ्यस्त होता है और जिन पदार्थों का वह अभ्यस्त होता है उनसे वंचित रहना उसको कष्टकर जान पड़ता है । दूसरे वह अन्य लोगों से जो कुछ प्राप्त करता है, उस सबका उपयोग स्वयं ही करके अपने आपको कमजोर और काम करने के अयोग्य बना लेता है और इस प्रकार दूसरों की सेवा करने में असमर्थ हो जाता है । एक स्वयं-भोगी मनुष्य, जो देर तक कोमल शैय्या पर सोता है, गरिष्ठ और मीठे पदार्थों का सेवन करता है, हमेशा बढ़िया और फैशनेबिल कपड़े पहिनता है, कभी मेहनत का काम नहीं करता, वह कभी किसी का उपकार या सेवा करने योग्य नहीं रहता । ऐसा मनुष्य अपने भोग-विलासमय जीवन को तिलांजलि दिए बिना किस प्रकार दूसरों का भला कर सकता है? किस प्रकार सद्जीवन व्यतीत कर सकता है?

मैं समझता हूँ कि मेरा बार-बार इन शब्दों का दुहराना अधिकांश साधन-सम्पन्न श्रीमानों को अच्छा न लगेगा और वे इन शब्दों के प्रति उदासीनता या विरोध-सूचक मौन का ही परिचय देंगे, पर एक नीतिवान व्यक्ति चाहे वह उच्च-श्रेणी का हो या मध्यम श्रेणी का, इस विषय पर विचार करके कभी इस प्रकार की सामाजिक पद्धति का समर्थन नहीं कर सकता । वे जानते हैं कि जिन पदार्थों का वह व्यवहार करते हैं, वह बहुसंख्यक पद-दलित श्रमजीवियों द्वारा तैयार किये जाते हैं । हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए इन गरीब लोगों को ऐसी परिस्थिति में रखा जाता है कि उनको न तो स्वास्थ्यकर भोजन मिलता है, न स्वास्थ्यकर मकान, न काफी कपड़े मिलते हैं, न मनोरंजन के उचित साधन ही नसीब होते हैं । वृद्ध, बालक और स्त्रियाँ, जो श्रम-मजदूरी के लिए रात-रात भर जागने और रोगों आदि से जर्जर हो गये हैं, वे हमारे लिए आराम और विलास की ऐसी चीजें तैयार करने में अपना जीवन खपा देते हैं, जो उनको कभी नसीब नहीं होती, पर जो हमारे लिए जरूरी होती हैं । इसलिए कोई भी मनुष्य तब तक नीतिवान और धार्मिक होने का दावा नहीं कर सकता, जब तक मनुष्यता तथा न्याय की रक्षा के लिए वह अपने विलासमय जीवन में परिवर्तन करने को तैयार न हो ।

धर्म-धारणा का लक्ष्य

सामाजिक जीवन में धर्म की प्रतिष्ठापना के लिए धर्म-प्रचार आवश्यक माना गया है । उत्साह के साथ धर्मानुयायी प्रचार के लिए निकल भी पड़ते हैं, पर प्रायः देखा यही जाता है कि उपदेश देने भर से अभीष्ट सफलता नहीं मिल पाती । इसका प्रमुख कारण है-धर्म के मर्म को न समझ पाना । धर्म का अर्थ है-धारण करना । धर्म प्रचार में धर्म पहले आता है और प्रचार बाद में । महर्षि व्यास के अनुसार "**धारणाद्धर्म मित्याहुः**" अर्थात् धारण करने से

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

धर्म बना। धर्म की रक्षा करने अर्थात् धारण करने से ही प्रचार की सफलता निर्भर करती है। धारणा की पूँजी एकत्रित किए बिना जो सामाजिक उत्कृष्टता की बात सोचते हैं, उन्हें असफलता ही हाथ लगती है।

धार्मिक प्रतिष्ठापना की सामाजिक उपलब्धि तभी प्राप्त हो सकती है, जब धार्मिक आदर्शों एवं सिद्धांतों की विचारणा ही नहीं, अपने जीवनक्रम की प्रत्येक गतिविधियों में समावेश भी किया जाय। भूल वहाँ होती है, जब सिद्धांतों एवं आदर्शों को जीवन में उतारे बिना धर्म प्रचार की चेष्टा की जाती है। ऐसे प्रचारक वस्तुत: धर्म को जीवन में उतना ही दूर धकेलते जाते हैं। धर्म को निश्चित क्रिया-कृत्यों की सीमा में कैद कर उसे साम्प्रदायिक बना देते हैं। परिणाम यह होता है कि धर्म एक स्थान विशेष, प्रणाली विशेष का अंग बनकर रह जाता है। धर्म की व्यापकता साम्प्रदायिक स्वरूप ग्रहण कर लेती है। साम्प्रदायिकता की लकीर में उलट-फेर होते ही सारे सम्प्रदाय में उपद्रव-सा खड़ा हो जाता है। धार्मिक लकीरों की रक्षा के लिए अनेकों प्रकार के विग्रह खड़े हो जाते हैं। लकीर की रक्षा को ही वे धर्मरक्षा समझ लेते हैं।

इतिहास साक्षी है कि विश्व के सभी साम्प्रदायिक दंगे धर्म की निष्प्राण लकीरों, क्रिया-कृत्यों का वर्चस्व सिद्ध करने एवं उन्हें सर्वोपरि ठहराने के लिए हुए हैं। उनमें धार्मिक तत्त्वों की मात्रा कम, अविवेक का पुट अधिक रहा है। बाह्य क्रिया-कृत्यों, कर्मकांडों के प्रति दुराग्रह प्रधान रहा है। इसके कारण मानव समाज को कितनी ही बार अपार क्षति उठानी पड़ी है। धर्म के स्थान पर अधर्म पनपा एवं अनीति बढ़ी है।

धर्म का लक्ष्य है, संसार की समस्त विषमताओं में एकता की स्थापना करना, मनुष्यत्व की प्रतिष्ठापना करना। यह तभी हो सकता है जब धर्म के तत्त्व को समझा जाए, जीवन में उतारा जाए। वस्तुत: यह स्थिति चिंतन प्रधान नहीं, अनुभूति प्रधान है। यह अनुभूति धार्मिक आदर्शों के धारण से ही संभव है।

महापुरुषों की यह विशेषता होती है कि वे चिर सनातन धार्मिक आदर्शों को मात्र जानते ही नहीं हैं वरन् उनका समावेश भी अपने जीवनक्रम में रखते हैं। तत्पश्चात् धर्म को संकीर्णता की सीमा से बाहर निकालकर उसे सार्वभौम स्वरूप प्रदान करते हैं। वे कोई नया सत्य उद्घाटित नहीं करते, वरन् चिरपुरातन सनातन सत्यों-सिद्धांतों को देश, काल एवं समय की परिस्थितियों तथा मानवमात्र की आवश्यकता के अनुरूप नया स्वरूप प्रदान करते हैं। कालांतर में यह स्वरूप भी उपयोगी नहीं रहता, समय की नवीन माँग होती है। प्राय: अनुयायियों का दुराग्रह मात्र कलेवर के स्वरूप के प्रति होता है। फलस्वरूप संकीर्णता पनपती है। जिन धार्मिक तत्त्वों की प्रतिष्ठा के लिए कलेवर प्रदान किया गया था, वे लुप्त हो जाते हैं। प्रधानता स्वरूप की रह जाती है।

विश्व में फैले सभी धर्म-सम्प्रदायों का अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि दुराग्रह धार्मिक आदर्शों की सर्वोपरिता सिद्ध करने एवं अपनाने का होता तो बात समझ में भी आती, किंतु जब अपने प्रचलनों एवं विधि-विधानों को श्रेष्ठ सिद्ध करने की चेष्टा की जाती है, तो परिणाम दुखद ही होता है। ऐसा दुखद जिससे धर्म-धारणा को कलंकित होना पड़े।

धर्म प्रचार करने से पूर्व उसके लक्ष्य, सिद्धांतों एवं आदर्शों को जानना, समझना तथा तदनुरूप अपने जीवनक्रम को गढ़ना आवश्यक है। प्रचार की पृष्ठभूमि यहीं से बनती है। अभीष्ट सफलता प्राप्त करना तभी संभव होता है। धर्म-धारणा के बिना धर्म की सुखद सम्भावनाओं का रसास्वादन सम्भव नहीं। भोजन करने से शक्ति मिलती है, यह बात सत्य है, किन्तु इसकी अनुभूति तभी होती है, जब भोजन किया जाता है और वह पचकर शक्ति देता है। अनुभूति स्तर पर उतरा यह सिद्धांत ही सत्य को प्रकट कर सकने में समर्थ होता है।

धर्म का यह सिद्धान्त जब अनुभूति में उतर जाता है कि विभिन्न कलेवरों में एक ही परमात्मा क्रीड़ा-कल्लोल कर रहा है, स्वरूप की भिन्नता दीखते हुए भी मूलतत्त्व की एकता है, तो धार्मिक प्रचलनों के प्रति दुराग्रह का मोह स्वयमेव तिरोहित हो जाता है, तब प्रचारक साधना प्रणालियों को नहीं आदर्शों एवं सिद्धान्तों को महत्व देने लगता है। समाज में इनकी प्रतिष्ठापना ही उसका लक्ष्य होता है। एकरूपता बनाए रखने के लिए किसी विशेष साधना-प्रणाली का प्रचलन तो किया जा सकता है, किन्तु उसके अपनाये जाने का आग्रह नहीं होता है। आग्रह यदि होता भी है तो धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों को अपनाये जाने का ।

धारणा के अभाव में सशक्त क्रिया-प्रणाली भी उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकती है। इस तथ्य को वर्तमान समय में स्पष्टतया देखा जा सकता है। इन दिनों अधर्म बढ़ा ही है, यह बात यथार्थ है, किन्तु इसके साथ-साथ धर्म का कलेवर भी विस्तृत हुआ है। गम्भीरतापूर्वक निरीक्षण करने पर पता लगता है कि विश्व में अनेकों नवीन धर्म-सम्प्रदाय उभरकर सामने आये हैं। उनका कलेवर आकर्षक है और प्रतिपादन प्रणाली भी बुद्धि-संगत। फिर क्या कारण है कि वे मनुष्य समाज को प्रभावित नहीं कर पाते। जन-जीवन का सुधार-परिष्कार कर सकने में असमर्थ सिद्ध होते हैं। कारणों की खोज की जाए, तो स्पष्ट होगा कि प्रचार की सफलता का जो मूल आधार था, उसका ही अभाव रहा। धर्म-धारणा की कमी ही असफलता का कारण बनी। साधना प्रणाली में किसी प्रकार की कमी नहीं है।

विचारशील वर्ग धार्मिक कृत्यों से अल्पकाल के लिए प्रभावित तो होता है, किन्तु धर्म का ढिंढोरा पीटने वाले प्रचारकों के व्यक्तित्व में जब आदर्शवादी मान्यताओं का अभाव देखता है, तो उसे उतनी ही घृणा भी हो जाती है।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

जिस तेजी से वह कुछ पाने के लिए आगे बढ़ता है, उसी तीव्रता से पीछे हट जाता है । विश्व में नास्तिकों का प्रादुर्भाव इसी प्रकार हुआ । धर्मतन्त्र की विकृति ही प्रधानतया नास्तिकता का कारण बनी है । इस कटुसत्य से इनकार नहीं किया जा सकता । प्रच्छन्न नास्तिकता की दार्शनिक पृष्ठभूमि तो बहुत ही दुर्बल है । वस्तुतः उसका परिपोषण धार्मिकता के उथले तथा छद्म रूप से ही होता है । यह नास्तिकता वस्तुतः नकारात्मक धार्मिकता मात्र है।

धर्म सशक्त है और उपयोगी भी । भौतिक सम्पन्नता एवं आध्यात्मिक उन्नति के दोनों ही प्रयोजन धर्म को अपनाने, जीवन का अविच्छिन्न अंग बना लेने से पूर्ण होते हैं। आज आवश्यकता इस बात की है कि उसकी आदर्शवादी मान्यताओं का सदुपयोग मानवमात्र के परिष्कार में किया जाय । यह कार्य धर्म को सम्प्रदाय की संकीर्ण सीमा से बाहर निकालने पर ही सम्भव हो सकता है । धारणा से ही धर्म उपयोगी एवं प्रभावशाली बन सकता है। यह कार्य कठिन अवश्य है, किन्तु इसके बिना धर्म प्रचार प्रभावशाली सिद्ध नहीं हो सकता।

जिन्हें सच्चे अर्थों में धार्मिकता पसन्द है, जो धर्म को जीवित-जाग्रत देखना चाहते हैं, उन्हें धार्मिकता के सिद्धान्त और स्वरूप का परिचय जन-जन को कराना होगा । अभी तो अन्ध परम्पराएँ ही धर्मनिष्ठा के स्थान पर विराजमान हो रही हैं और स्वयं ही अश्रद्धा का वातावरण उत्पन्न कर रही हैं । धर्मतत्त्व महान् है । उसकी सम्भावनाएँ और भी महान् हैं, किन्तु यह सुखद परिणाम धर्म के कलेवर के नहीं, धर्म धारणा के हैं । इस तथ्य को जितनी जल्दी समझा और हृदयंगम किया जा सके उतना ही अच्छा है । धर्म-प्रचार के लिए लेखनी, वाणी से, धर्मानुष्ठानों और प्रशिक्षणों से इस पुण्य-प्रयोजन में बहुत सुविधा हो सकती है, किन्तु साथ-साथ ध्यान यह भी रखना होगा कि धर्म-प्रचार का उत्तरदायित्व वहन करने वाले दूसरों को जो सिखाना चाहते हैं, उस पर स्वयं विश्वास करें और तदनुरूप आचरण करें । धर्म-धारणा को अपने जीवन में गहराई तक समाविष्ट करके ही व्यक्तित्व को उच्चस्तरीय बनाया जाता है । अनुगमन भी उसी का होता है, जिसका कि व्यक्तित्व सौ टंच सोने की भाँति परीक्षण में खरा उतरता है ।

धर्म-दर्शन के चार मूलभूत सिद्धान्त

मनुष्य जीवन को दो पक्षों में बाँटा जा सकता है-अन्तरंग और बहिरंग । अन्तरंग को विकसित करने वाली प्रक्रिया का नाम है-संस्कृति । बहिरंग जीवन को सजाने-सँवारने की जिम्मेदारी सभ्यता की है । अन्तरंग की नीति समझा जा सकता है । अध्यात्म का प्रयोजन तत्त्व-दर्शन से, नीति का परिपालन चारित्रिक अनुशासन से सम्भव होता है । संक्षेप में समग्र धर्म को चार चरणों में बाँटा जा सकता है । इन चारों की स्पष्ट व्याख्या-विवेचना निम्न प्रकार है-

(१) अध्यात्म

अध्यात्म-मान्यताओं, आस्थाओं, आकांक्षाओं, संवेदनाओं, उमंगों और आदतों से बने अन्तःकरण को कहते हैं । व्यक्तित्व के उद्गम अन्तराल यही हैं । इन्हीं की प्रेरणा से मनःतन्त्र सोचने की दिशा निर्धारित करता है । इन्हीं पूर्वाग्रहों के आधार पर कल्पनाओं, तर्कों-प्रमाणों का संचय किया जाता है । बुद्धि का निर्णय इसी निर्धारित दिशा में पक्ष-समर्थन होता है । अन्तराल का निर्देश मस्तिष्क मानता है । प्रिय की पूर्ति के लिए उपाय सोचता है । कठिनाइयों का हल निकालता है और शरीर को उसी मार्ग के अनुसरण करने का निर्देश करता है, जिससे अन्तराल की इच्छापूर्ति सम्भव हो सके ।

संक्षेप में किसी मनुष्य का यह ढाँचा ही उसके भूत का इतिहास, वर्तमान का प्रयास और भविष्य का निर्धारण बनकर सामने आता है । मनुष्य के स्तर का मूल्यांकन इसी ढाँचे को देखकर किया जाता है । मित्र शत्रु के रूप में अन्यान्य व्यक्ति इसी की प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं । जीवन की दिशा-धारा निर्धारित करने का यही केन्द्र-बिन्दु है । इसी के अनुरूप मनुष्य उत्थान-पतन की ओर बढ़ते हैं । सुख-दुःख पाते और सफल-असफल बनते हैं । अन्तराल में से पशु-प्रवृत्तियों के निष्कासन और देव-धारणाओं को प्रतिष्ठित करने के लिए तत्त्व-दर्शन का सृजन हुआ है ।

तत्त्व-दर्शन ही उत्कृष्टतावादी अध्यात्म की पृष्ठभूमि है। ब्रह्मविद्या का विशालकाय ढाँचा इसी स्तर को समुन्नत बनाये रखने के लिए सृजा गया है । ईश्वर, आत्मा, देवता, परलोक, पुनर्जन्म, कर्मफल, सद्गति, स्वर्ग, नरक, बन्धनमुक्ति, भक्ति, साधना, सिद्धि आदि से सम्बन्धित अनेकों प्रतिपादनों के पीछे एक ही प्रयोजन सन्निहित है कि मानवीय आस्थाएँ निकृष्टता से विरत होकर उत्कृष्टता को स्वीकारें और उस निर्धारण के अनुरूप अपनी विचारणा एवं कार्यपद्धति की प्रेरणा प्रदान करें ।

अध्यात्म निर्धारण का मूल आधार श्रद्धा है । श्रद्धा को कल्पना मात्र न मान लिया जाय, उसे संदिग्ध न कहा जाने लगे । इसलिए शास्त्रों की, आप्तवचनों की, दिव्य प्रेरणाओं की, ईश्वरीय निर्देशों को कथा-पुराणों की अनेकानेक साक्षियाँ देकर पक्ष में तर्क, तथ्य, प्रमाण आदि का संचय करना और उन्हें सुनियोजित ढंग से प्रस्तुत करना तत्त्व-दर्शन का कार्य रहा है ।

(२) नीति-सदाचरण

नीति-मर्यादाओं के निर्धारणों को सदाचरण कहते हैं । धर्मशास्त्रों का प्रधान विषय इसी उद्देश्य से नियम बनाना है । स्मृतियों में व्यक्ति के आन्तरिक और सामाजिक कर्त्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों का ही विस्तृत विवेचन किया गया है, इसे कर्त्तव्यनिष्ठा-धर्मनिष्ठा भी कह सकते हैं । कर्त्तव्य को प्रधान एवं अधिकार को गौण मानने की जो

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

प्रेरणा दी गई है और कहा गया है कि प्रलोभनों, आकर्षणों, भय, दबाव की चिन्ता न करते हुए नीति-निष्ठा पर सुदृढ़ रहा जाय ।

सहृदयता, सज्जनता, शालीनता, संयम, सादगी की महत्ता एवं उपयोगिता का प्रतिपादन करके मनुष्य को शालीन, संयमी एवं सदाचरण के प्रति निष्ठावान बनाने का उपक्रम नीतिशास्त्र का विषय है । आदर्शों के लिए त्याग-बलिदान करने वाले महामानवों की जयन्तियाँ मनाने, कथा-गाथा करने का प्रचलन इसी दृष्टि से है कि उससे जन-साधारण को आत्म-संयम बरतने और सत्प्रवृत्तियों के परिपोषण के भाव-भरे अनुदान प्रस्तुत करने को प्रेरणा मिले । नीति-निर्वाह में तत्काल कुछ कठिनाई पड़ती है । भौतिक महत्त्वाकांक्षाओं, ललक-लिप्साओं को नियन्त्रित करना पड़ता है । इस नियमन को लयसाधना कहते हैं । तपस्वी समर्थ को संकीर्ण स्वार्थपरता की पूर्ति से बचाकर परमार्थ प्रयोजनों में लगाता और आत्मसन्तोष जन-सम्मान, स्नेह-सहयोग एवं दैवी अनुग्रह के असाधारण लाभ प्राप्त करता है । इस स्तर के उदाहरणों का प्रस्तुतीकरण नीतिपूर्ण माना जाता है । गुण, कर्म, स्वभाव में उत्कृष्टता का समावेश इसी नीति-मर्यादा का परिपालन करने से सम्भव होता है । व्यक्तित्व की गरिमा इसी आधार पर बढ़ती है ।

नीति-मर्यादाओं को कई प्रकार, कई स्तर पर निरूपित किया जाता रहा है । मनुस्मृति में धर्म के दस लक्षण बताये गये हैं । राजयोग में लगभग इन्हीं का यम-नियमों के नाम से उल्लेख है । अन्य धर्मशास्त्रों से भी थोड़े-बहुत अन्तर से इसी सीमा-परिधि का निर्धारण किया है । धर्म-सम्प्रदाओं के मौलिक प्रतिपादन इसी नीति-निर्धारण की समानता के कारण एकता बनाये हुए हैं । यद्यपि इन नीति-न्यायों के परिपालन के उपाय-उपचारों में अन्तर भी बहुत पाया जाता है । प्रथा-परम्पराओं का निर्धारण सभी सम्प्रदाओं में अपने-अपने ढंग से सामयिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए किया है । यह परम्पराएँ समय के साथ बदलती रहती हैं । जीर्ण होने पर विकृतियाँ बढ़नी स्वाभाविक हैं, ऐसी दशा में उनमें सुधार, परिवर्तन भी होता रहता है फिर भी नीतिनिष्ठा की मूल मर्यादाओं में उत्कृष्टतावादी निर्धारण अपने स्थान पर यथावत् बना रहता है । इसी से धर्म को शाश्वत् कहा गया है ।

(३) सद्व्यवहार-शिष्टाचार

दूसरों के साथ व्यवहार करने में शालीनता की कुछ मर्यादाओं का परिपालन होना ही चाहिए, इनमें प्रथम है, दूसरों के सम्मान की रक्षा । मानवीय परिवार का एक सदस्य होने के नाते उसके सम्मान आकांक्षा का उचित समर्थन । दूसरा है-अपनी सज्जनता का नम्रता के रूप में प्रस्तुतीकरण । वार्त्तालाप से लेकर छोटे-बड़े समस्त व्यवहारों में इस मौलिक तथ्य का आदि से अन्त तक निर्वाह किया जाय । असहयोग-विरोध से लेकर संघर्ष तक की स्थिति आने पर भी उस मर्यादा का हर हालत में पालन किया जाय । अशिष्टता किसी भी दशा में न बरती जाय । क्रोध में आपे से बाहर होकर गाली-गलौज जैसी उद्धता पर उतारू हो जाना अपनी शालीनता को गँवा देना-अपने ही छोटे स्तर का प्रदर्शन करना है । दुष्टों से जूझते समय भी अशिष्टता न अपनायी जाय, भले ही प्रहारों की प्रक्रिया कितनी ही कठोर क्यों न हो ।

दूसरों से वह व्यवहार किया जाय जो अपने साथ अपेक्षित है । इसमें शिष्टाचार बरतने से लेकर उन सभी तथ्यों का समावेश है, जो दूसरों को कुछ सुविधा ही देते हैं । किसी संकट या असमंजस में नहीं डालते । समय का परिपालन, वचन का परिपालन ऐसी ही मर्यादाएँ हैं, उनके सम्बन्ध में प्रयत्नशील रहना चाहिए । ऐसा कोई वायदा न किया जाय, जिसका निर्वाह सम्भव न हो । विश्वास दिलाना ही है तो फिर विश्वासघात की स्थिति न आने दी जाय । बेईमानी या छल से दूसरों से हानि करके अपना लाभ कमा लेना एक प्रकार से मानवी गरिमा को तिलाञ्जलि देना ही है, इस प्रकार के उपार्जन से बचा जाय । आर्थिक क्षेत्र में इन दिनों इसी प्रकार का अनाचार चल रहा है । श्रमिकों की कामचोरी, व्यापारियों की नफाखोरी और उद्देश्यों की सीनाजोरी अनुपयुक्त उपार्जन के लिए कुछ भी कर गुजरने के लिए आतुर पाई जाती है । इस प्रचलन को न तो स्वयं अपनाया जाय, न सहन किया जाय और न दूसरों को वैसा करने में समर्थन या सहयोग दिया जाय ।

दूसरों की नागरिक स्वतन्त्रता का आदर किया जाय । किसी पर अपने विचार थोपने का दबाव तब तक न डाला जाय, जब तक वे अनैतिक या असामाजिक न बन रहे हों। बलपूर्वक विचार थोपना अनुचित माना जाय । विचार-स्वातन्त्र्य का, मानवीय मौलिक अधिकारों का लाभ लेने से किसी को भी वंचित न किया जाय ।

पारस्परिक मिलन-व्यवहार में बरते जाने वाले शिष्टाचार का निर्धारण देश, काल, पात्र के अनुरूप होता रहा है । इनका उद्देश्य दूसरों का सम्मान-सहयोग प्रदान करना एवं अपनी शालीनता व्यक्त करना है । स्थानीय प्रचलनों को ध्यान में रखते हुए इनमें से जो उपयुक्त लगते हों उनका उत्साहपूर्वक पालन करने का अभ्यास किया जाय ।

नागरिकशास्त्र, समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि के अनुसार मनुष्य को सामाजिक उत्तरदायित्वों के निर्वाह के लिए उचित आधार एवं परामर्श दिये गये हैं, उन्हें समझा और अपनाया जाय । इन मर्यादाओं के पालन में उत्साह दिखाने वालों को पुरस्कार की और अवरोध उत्पन्न करने वालों के प्रति दण्ड की व्यवस्था बनी हुई है। सरकारें, कानून, सेना, कचहरी, जेल आदि की व्यवस्था इसी सामाजिक अनुशासन को बनाये रहना और व्यतिक्रम करने वालों का दमन करने के लिए करती है । समाज में भर्त्सना और प्रशंसा का विरोध और समर्थन का क्रम चलता है। निजी सम्पर्क में यही प्रक्रिया विचार-विमर्श से लेकर असहयोग-प्रतिरोध के रूप में

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

चलती है । स्वजनों के प्रति भी एक आँख प्यार की, दूसरी सुधार की रखी जाती है ।

प्रचलनों में से दुष्प्रवृत्तियों के निराकरण और सत्प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में तत्परता बरती जाय । अवांछनीयताओं, मूढ़-मान्यताओं एवं कुरीतियों का न तो समर्थन किया जाय और न उनमें सहयोग दिया जाय, वरन् यथासम्भव असहयोग-विरोध से लेकर संघर्ष की नीति अपनाई जाय । इसी प्रकार कल्याणकारी सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्धन के जो प्रयास चल रहे हों, उनका समर्थन एवं सहयोग किया जाय । राजनीति के क्षेत्र में मतदान के अधिकार का प्रयोग दूरदर्शिता, निष्पक्षता एवं उत्कृष्टता की कसौटी पर कसने के उपरान्त किसी प्रामाणिक व्यक्ति के पक्ष में ही किया जाय । व्यक्तिवादी संकीर्ण-स्वार्थपरता को निरुत्साहित किया जाय और सामूहिकता, सहकारिता को सामर्थ्य भर प्रोत्साहित किया जाय ।

मानवी एकता एवं क्षमता को लक्ष्य मानकर चला जाय, विभेद की दीवारें गिराई जाएँ । जाति और लिंग के आधार पर किसी को ऊँच-नीच न ठहराया जाय । भावी मानव समाज का स्वरूप विश्व परिवार के रूप में विनिर्मित करने की तैयारी की जाय । विश्व राष्ट्र, विश्व-भाषा, विश्व धर्म, विश्व संस्कृति को एकता के सूत्र में बाँधा जाय और उन सब में आग्रहों को छोड़कर औचित्य को अपनाने पर बल दिया जाय ।

व्यक्ति परिवार की मध्यवर्ती धुरी है । उस छोटे से परिवार को एक समग्र राष्ट्र या समाज की संज्ञा दी जा सकती है । परिवार तन्त्र को, श्रेष्ठ नागरिकों को ढालने की फैक्ट्री एवं नर-रत्नों की खदान कह सकते हैं । इसे सुव्यवस्थित एवं समुन्नत बनाने का प्रयत्न वैयक्तिक गरिमा और समाज को समुन्नत बनाने के दोनों प्रयोजन पूरे करता है । साथ ही उसमें रहने वालों को प्रसन्नता, सुविधा एवं प्रगति के अति महत्त्वपूर्ण आधार परिवार संस्था की छाया में अनायास ही मिलते हैं । परिवारों को भेड़ों का बाड़ा या सराय के स्तर पर उपेक्षित न पड़ा रहने दिया जाय, उसमें पंचशीलों की सत्प्रवृत्तियों का समावेश किया जाय । सर्वविदित है कि पारिवारिक पंचशीलों के पाँचों उद्देश्य स्वच्छता, श्रमशीलता, सहकारिता, प्रगतिशीलता एवं मितव्ययता पाँचों आदर्श ऐसे हैं जिन्हें जिस अनुपात में जहाँ अपनाया जा रहा होगा, वहाँ उतना ही समृद्ध एवं सुसंस्कृत वातावरण बन रहा होगा और उस आश्रम में रहने वाले प्रत्येक सदस्य का भविष्य उज्ज्वल बन रहा होगा ।

परिवार संस्था का पुनर्गठन करने की दृष्टि से युग निर्माण मिशन का अभिनव प्रयास महिला जागरण अभियान के रूप में चल रहा है । उसके कार्यक्रमों में वे समस्त तत्त्व विद्यमान हैं जो व्यक्ति और समाज के बीच उपयोगी आदान-प्रदान प्रस्तुत कर सकें और उस धुरी को सक्षम बनाकर प्रगतिक्रम को उज्ज्वल भविष्य की दिशा में अग्रसर कर सकें ।

(४) सदुपयोग

सदुपयोग पदार्थपरक है । जो वस्तुएँ उपलब्ध हैं या जिनका उपयोग-उपभोग करना पड़ता है, उन सभी को सुव्यवस्थित रखा जाय, बर्बाद न किया जाय । उपयोग करते समय यह ध्यान रखा जाय कि उसका लाभ अन्यान्यों को भी मिलता हो, उनको भी इनकी आवश्यकता पड़ेगी। पदार्थ अपने सही रूप में रहना चाहिए । ऐसा न हो कि वह अपनी उपयोगिता गँवा बैठे और उपयोगकर्त्ताओं के लिए निरर्थक, हानिकर सिद्ध होने लगे । धन का उपार्जन, उपयोग एवं वितरण इसी सीमा में आता है । जल, वायु आदि को विषाक्त न बनने की मर्यादा इसी स्तर की है। वस्तुओं का अनुपयुक्त उपयोग करके उन्हें नष्ट करना, अन्यान्यों को उस सुविधा से वंचित रखना, उन्हें कुरूप एवं अस्त-व्यस्त स्थिति में रखना पदार्थों का दुरुपयोग है ।

परिग्रह को पाप और दान को पुण्य मानने के पीछे यही दर्शन काम करता है कि सम्पदा का न तो अनावश्यक उपयोग किया जाय और न उसे एक स्थान पर एकत्रित होने दिया जाय । एकत्रित सम्पदा सड़न उत्पन्न करती है, उनसे अनेकों दुर्व्यसनों-विकृतियों की विडम्बना पनपती है, ईर्ष्या भड़कती है तथा अपराध पनपते हैं । अध्यात्मवादी परम्परा में संचय एवं दुरुपयोग की भर्त्सना है । आधुनिक साम्यवाद एवं समाजवाद भी इसी तथ्य का समर्थन करते हैं। उसे सम्पत्ति के दुरुपयोग को रोकना एवं सदुपयोग में प्रयुक्त करना ही कहा जा सकता है ।

इन दिनों एक अर्थचिन्तन यह चल रहा है कि वस्तुओं का अधिक उत्पादन किया जाय ताकि उत्पादकों को अधिक लाभ मिले । अधिक मात्रा में हुए उत्पादन की खपत के लिए लोगों को अनावश्यक उपभोग करके बर्बाद करने के लिए कहा जाय । उससे समृद्धि भी बढ़ेगी और सुविधा भी । अमेरिका आदि समृद्ध राष्ट्र इसी नीति को अपना रहे हैं । इसका परिणाम यह होगा कि पृथ्वी का पदार्थ भण्डार तेजी से चुकेगा, कारखानों का प्रदूषण बढ़ेगा । मशीनों से जूझने वाला मनुष्य दुर्बल होगा । व्यस्तता बढ़ेगी, साथ ही दुर्व्यसनों की प्रवृत्ति भी, यह पदार्थ का दुरुपयोग है । सही तरीका वही है कि हल्की मशीनों की सहायता से उत्पादन उतना ही बढ़े, जितना आवश्यक है । इससे बड़े उद्योगों की तुलना में अधिक लोगों को अधिक काम मिलेगा । सादगी एवं मितव्ययता अपनाने से पदार्थों की अनावश्यक बर्बादी न होगी और वितरण में वह हिस्सा पिछड़े लोगों के पक्ष में भी जा सकेगा । सादा जीवन के साथ उच्च विचारों का अन्यान्योश्रित सम्बन्ध है । सादगी से न केवल शालीनता बढ़ती है वरन् उसके कारण होने वाले समय, श्रम, बुद्धि और सम्पत्ति की बचत के लाभ सत्प्रवृत्तियों के संवर्धन के रूप में लगता है । जहाँ पदार्थ के सदुपयोग की आदर्शवादिता काम करेगी, वहाँ यह प्रति साधना भी होगी कि बचत का संग्रह न किया जाय उसे सत्प्रवृत्तियों में खपाया जाय । यह दूरदर्शिता ही वस्तुओं का सदुपयोग है । इसे प्रकृति के साथ बरती

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

गई मानवोचित् शालीनता कह सकते हैं । इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए ।

धर्म के यही व्यावहारिक चार चरण हैं, जिन पर चलकर व्यक्ति एवं समाज को श्रेष्ठ एवं समुन्नत बनाया जा सकता है । धर्म-धारणा से अभिप्राय: उन सिद्धान्तों को आचरण में उतारना है, जो सर्वजनीन एवं सर्वकालीन हैं । देश, काल अथवा सम्प्रदाय का इन पर कोई प्रभाव नहीं होता । अपवादों को छोड़कर लगभग सभी धर्म प्रत्यक्ष या परोक्ष में अनको अपनाने एवं उन पर चलने की प्रेरणा देते हैं । सिद्धान्तों को अपनाने एवं व्यवहार में उतारने से कोई भी धर्म अपने अनुयाइयों को इतना कुछ दे सकता है, जिसे पाकर वे धन्य हो सकते हैं । सामाजिक सुव्यवस्था की धुरी भी इसी पर अवलम्बित है ।

धर्मतन्त्र की क्षमता प्रगति- प्रयासों में लगे

ईसाई धर्म का एक केन्द्रीय संगठन है । दान की धन राशि उस केन्द्र में ही जमा होती है । मिशन की गतिविधियों को व्यापक एवं अग्रगामी बनाने के लिए कार्यकर्त्ता प्रशिक्षित किए जाते हैं और उन्हें योजनाबद्ध ढंग से उन उपयुक्त स्थानों में नियुक्त किया जाता है, जहाँ उन्हें अधिक सफलता मिलने की आशा है । प्रतिफल भी आश्चर्यजनक रूप से हो रहा है । संसार भर में ईसाई धर्म के अनुयायियों की संख्या अप्रत्याशित रूप से बढ़ रही है । गणना की दृष्टि से ईसाई धर्म अब प्रथम पंक्ति में है । भविष्य में उसकी प्रगति और भी तेजी से होने की सम्भावना है ।

बौद्ध काल में ऐसे ही प्रयोग के लिए दो बड़े केन्द्र बनाये गये थे । एक नालन्दा विश्वविद्यालय, दूसरा तक्षशिला विश्वविद्यालय । कहा जाता है, उसमें तीस-तीस हजार छात्रों के अध्यापन, निवास, निर्वाह की व्यवस्था थी । वे छात्र धर्मप्रचारक बनकर निकलते थे और बौद्ध धर्म को विश्वव्यापी बनाने के लिए निरन्तर कर्त्तव्यरत रहते थे ।

अति प्राचीन समय में यह कार्य तीर्थस्थानों में बने गुरुकुलों तथा आरण्यकों द्वारा सम्पन्न होता था । लोग उनके साथ जुड़ते थे । सद्ज्ञान-संवर्धन और सत्प्रवृत्ति संचालन के निमित्त मुक्तहस्त से धन दान करते थे । उन साधनों के सहारे धर्मप्रचारकों, पुरोहितों का प्रशिक्षण होता था और उनके प्रवास में आवश्यक पड़ने वाली सुविधाओं को वहीं से जुटाया जाता था ।

यह कुछ थोड़े से उदाहरण हैं, जिनके माध्यम से कतिपय धर्म संस्थानों द्वारा अपने-अपने ढंग से, अपने-अपने क्षेत्र में सफलतापूर्वक काम करने का परिचय मिलता है । यह सब तभी बन पड़ा, जब वे किसी केन्द्र-बिन्दु को बनाने और उस पर एकत्रित होने में सफल हुए ।

यदि केन्द्रीय शक्ति एकत्रित न हुई होती, एक व्यापक और सुनिश्चित योजना न बनी होती, संगठन स्थानीय ढंग के रहे होते, उनके कार्यकर्त्ता सर्वत्र स्वतन्त्र रहकर बिखरे, भटके रहे होते, आपस में अधिक प्रतिष्ठा पाने और अधिक लाभ उठाने के प्रलोभन में परस्पर टकराते रहे होते तो निश्चित है कि उनके क्रिया-कलाप में तनिक भी प्रगति न हुई होती । कोई यशस्वी सफलता हस्तगत न हुई होती । अपनी ढपली अपना राग वाली उक्ति चरितार्थ होती । 'डेढ़ चावल की खिचड़ी पकाने' 'ढाई ईंट की मस्जिद बनाने' वाले व्यंग्य-उपहास इन धर्म केन्द्रों तथा प्रचारकों पर भी चरितार्थ हुए होते । प्रगति तो होती ही क्या ? कोई कारगार सफलता तो मिल ही कैसे सकती थी ?

हिन्दू धर्म की दार्शनिक पृष्ठभूमि असाधारण रूप से मजबूत है । उसकी जड़ें पाताल तक पहुँचती हैं । उसकी मान्यताओं, आस्थाओं, प्रथाओं एवं प्रतिपादनों को यदि सही सुधरे हुए रूप में सर्वसाधारण के सामने रखा जा सके, तो सामान्य विवेक-बुद्धि वाला भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता, किन्तु इस सम्भावना के मार्ग में कई कठिनाइयाँ भी हैं । मध्यकालीन अंधकार युग के प्रभाव से उसके प्रचलनों में कितने ही अवांछनीय तत्त्व सम्मिलित हो गये हैं । समय आ गया है कि उन पर फिर से दृष्टिपात किया जाय और जो अनुपयुक्त लगता है उसे स्वेच्छापूर्वक सुधार लिया जाय । उदाहरण के लिए, जाति-पाँति पर आधारित ऊँच-नीच को मान्यता, विवाह-शादियों के अवसर पर होने वाला सामर्थ्य से बाहर इतना खर्च जो परिवारों को दरिद्र एवं बेईमान बनाये बिना न रहे, आधे जन-समुदाय की स्त्रियों को घूँघट-पर्दे में कैद रखकर उन्हें अपंग जैसी स्थिति में डाले रखना, मृतक भोज के नाम पर लम्बे-चौड़े प्रीतिभोजों का होना । भिक्षा व्यवसाय आदि-आदि । इन प्रचलनों को असामान्य ठहरा कर समाज को प्रतिगामिता के लांछन से बचाया जा सकता है । इन्हीं कारणों से पनपने वाली दरिद्रता से पीछा छुड़ाया जा सकता है । मान्यताओं में भी भाग्यवाद, अंधविश्वास जैसे प्रतिगामी तत्त्वों की घुसपैठ कम नहीं हुई है । इन्हीं के चंगुल में फँसकर अगणित भावुकजन दिग्भ्रान्त होते और भ्रम-जंजालों में भटककर जेब कटाते तथा समय गँवाते हैं । यदि उन अवांछनीयताओं पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर लिया जाय और उनके परिशोधन के लिए साहस कर लिया जाय तो न केवल भारत का तत्त्व-दर्शन वरन् व्यवहार प्रचलन भी ऐसा हो सकता है, जिसे अपनाने के लिए हर किसी की उमंग उभरे । विचारशील वर्ग उसका अनुगमन करने से पीछे न रहे । अभी तो जो उस परम्परा में पूर्वजों की सीख मानकर किसी प्रकार लकीर पीटने की तरह अपनाये हुए हैं, वे भी उत्साहित मन से उसके प्रति आस्थावान बनें और अन्यान्यों को उसकी महत्ता बताते हुए आस्थावान बनने के लिए प्रोत्साहित करें । इस प्रकार अपना समुदाय देखते-देखते कई गुना हो सकता है । वर्गों का संख्या बल अपना महत्त्व रखता है । लोकतन्त्र तो उसी पर आधारित है । पाकिस्तान का बँटवारा उसी आधार पर हुआ कि अपने की भिन्न संस्कृति का अनुयायी होने के नाते उन्होंने प्रथम भूमि की

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

माँग की और बँटबारा करा लेने में सफलता पाई । भारतीय धर्मानुयायी यदि घटते चले गये और भिन्न मान्यता रखने वालों की संख्या बढ़ती गई, तो भविष्य में उसी स्तर के संकट खड़े हो सकते हैं । बँटवारे पर बँटवारा होने के आधार खड़े हो सकते हैं । ऐसी स्थिति उत्पन्न होने की आशंका उत्पन्न होना भी कष्टकर है, पर उस ओर से आँखें बन्द करके भी नहीं बैठे रहा जा सकता । समय रहते भविष्य को समुज्ज्वल बनाए रखने के लिए आवश्यक कदम उठाने चाहिए । इस सन्दर्भ में प्रथम प्रयास यही हो सकता है कि हिन्दू धर्म की मान्यताओं में जहाँ कहीं प्रतिगामिता दृष्टिगोचर होती है उसका सुधार, परिमार्जन कर डाला जाय ।

भारत में जितने लोगों ने हिन्दू धर्म छोड़ा है उनमें से अधिकांश असंतुष्ट वर्ग के लोग हैं । अन्य धर्मों के तत्त्व-दर्शन की तुलनात्मक समीक्षा करके वे धर्म-परिवर्तन के लिए सन्नद्ध हुए हों ऐसी बात नहीं है । वास्तविकता यह है कि कुप्रचलनों से खिन्न-उद्विग्न हुए लोगों ने यह अच्छा समझा कि इस धर्म से सम्बन्ध ही तोड़ लिया जाय, जिसमें उन्हें अनुचित दबाव, त्रास सहने पड़ते हैं । शोषण का शिकार बनना पड़ता है । उससे सदा-सर्वदा के लिए पीछा क्यों न छुड़ा लिया जाय ? विक्षोभों ने ही उन्हें धर्म परिवर्तन के लिए विवश किया है । इन परिस्थितियों को सुधारे बिना कोई गति नहीं । यदि हाट में अपना माल अपेक्षाकृत अधिक उत्तम सिद्ध न किया जा सका तो उसे खरीदेगा कौन ? उसे मान किनसे मिलेगा ? सवर्ण और असवर्ण सभी इन कुरीतियों की चपेट में आते हैं । जो धर्म परिवर्तन नहीं करते, वे भी इन औचित्य भरे प्रचलनों को कोसते तो हैं हीं, ऐसी दशा में अनुयायियों की आस्था भी डगमगाती है । मनोबल भी कमजोर होता है । समाज सुधार के अतिरिक्त एक दूसरा कदम उठाने योग्य है कि धर्मतंत्र को संगठित, सुव्यवस्थित किया जाय । उसकी गतिविधियों को ऐसी दिशाधारा के साथ जोड़ा जाय जो रचनात्मक उपलब्धियाँ प्रस्तुत करें ।

हिन्दू धर्म अनेकानेक मत-मतान्तरों में विभाजित है । उनके सबके अपने-अपने पंथ, आश्रम हैं । अपने-अपने प्रथा प्रचलन । एक दूसरे से ताल मेल न रखने वाले प्रतिपादन । गुरु, महन्त, वर्ग । अच्छा होता यह विभाजन सिकुड़ता एकीकरण की ओर चलता, संगठित होता, पास्परिक सहयोग एक केन्द्र पर केन्द्रित हो जाता यदि ऐसा बन पड़ता तो बिखरी हुई शक्ति एक केन्द्र पर केन्द्रित होती। धन-शक्ति, जन-शक्ति, बुद्धि-शक्ति किसी रचनात्मक दिशा में लगती । सुधार, परिष्कार और उत्कर्ष, अभ्युदय की उन आवश्यकताओं को पूरा करती, जिनकी आज महती आवश्यकता है । ईसाई मिशन ने अपनी संगठित शक्ति को, अपने मत को व्यापक बनाने में लगाया । हम उसे जन-कल्याण के ऐसे कामों में लगा सकते हैं कि सभी धर्मों के अनुयायी उससे प्रभावित होते और लाभ उठाते ।

भारतीय जन-समुदाय में धर्म-श्रद्धा की किसी प्रकार कमी नहीं, वरन् अन्य धर्मों से कुछ अधिक ही है । यह स्थापना देश में वंश परम्परा के आधार पर युग-युगान्तरों से चलती आ रही है । अत्यधिक गरीबी रहते हुए दान-दक्षिणा के तीर्थ यात्रा के विभिन्न कर्मकाण्डों के निमित्त इतना पैसा खर्च किया जाता है, जिसे सरकारी राजस्व कर के समतुल्य समझा जाता है । साठ लाख साधु-बाबाओं धर्म जीविकों का खर्च भी जनता खुशी-खुशी उठाती है । उनके द्वारा आये दिन किये जाने वाले धर्म कृत्यों में भी विपुल धन राशि खपती ही है । इस राशि को, इस जन शक्ति को, ईसाई मिशनों के वैभव कम नहीं अधिक ही आँका जा सकता है । अन्तर इतना ही है कि उन्हें संगठन का आश्रय लिया है और योजनाबद्ध कार्यक्रम बनाकर निर्धारण के अनुरूप प्रयासों को संलग्न करने की बुद्धिमत्ता का परिचय दिया है, जबकि हमारे स्वभाव में विघटन ही घर कर गया है ।

आत्म-निरीक्षण का ठीक यही समय है । भूलें सुधारने का भी । इस दिशा में धर्मतन्त्र को आगे आना चाहिए । क्योंकि उसका अपना महत्त्व, सम्मान, प्रभाव है । उसके पास साधन की कमी नहीं । सभी धर्म स्थानों की सम्पदा और उस दिशा में नियोजित जन-शक्ति का अनुमान लगाया जाय, तो इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा कि इससे पूर्व कभी भी भारतीय धर्मतन्त्र की छत्र-छाया में इतनी शक्ति एकत्रित नहीं हुई । बुद्ध जैसे महामानवों ने अपनी शक्ति से देशभर में, विदेशों में धर्मचक्र प्रवाह की गगनचुम्बी लहर उठाने में सफलता पाई थी । यह उसकी सीमित शक्ति का प्रभाव था । उसके स्थानों पर धर्म संस्थानों की, धर्माचार्यों की संयुक्त शक्ति तो आज अनेक गुनी अधिक आँकी जा सकती है । प्रश्न केवल उसको सम्पादित कराके, एक केन्द्र पर केन्द्रीभूत करने की है । साथ ही एक निश्चित लक्ष्य बनाकर उस प्रयास में उस क्षमता को नियोजित करने की । यदि ऐसा बन पड़े तो प्रचलित अवांछनीयताओं से भली प्रकार लोहा लिया जा सकता है और उनके स्थान पर सत्प्रवृत्तियों की प्राण प्रतिष्ठा की जा सकती है ।

जो लोग धर्म की दुहाई देते और उसी के लिए अपने सहचर-अनुयायियों का समय, श्रम, धन लगाते रहते हैं, यदि वे समय की माँग पर ध्यान दें तो उन्हें धर्म पाठ पढ़ाने के स्थान पर स्वयं ही उसे पढ़ने की आवश्यकता प्रतीत होगी । अपने मुट्ठी भर अनुयायियों की अलग पहचान बनाकर रखने की अपेक्षा अधिक श्रेयस्कर यही है कि सभी धर्म-प्रेमियों को एक छात्रावास में एकत्रित किया जाय और उनकी क्षमताओं को सर्वतोमुखी प्रगति के लिए नियोजित किया जाय ।

धर्मतंत्र अपनी क्षमता प्रत्यक्ष कर दिखाये

राजतंत्र के उपरान्त जन-जीवन में दूसरा स्थान धर्मतंत्र का है । राजतंत्र सुरक्षा, अर्थव्यवस्था, शिक्षा, चिकित्सा, परिवहन, संचार आदि के सुविधा-साधन जुटाता है । भौतिक क्षेत्र की सुव्यवस्था प्रजाजनों के लिए उपलब्ध कराता है । धर्मतंत्र अनगढ़ चेतना को परिष्कृत करता और सुसंस्कारित बनाता है । नीति, न्याय, संयम, सदाचार, आस्था, भावना जैसे अन्तःचेतना से सम्बन्धित क्षेत्रों में शालीनता, सज्जनता की स्थापना धर्मतंत्र ही करता है । मानवीय-गरिमा के अनुरूप चिन्तन, चरित्र और व्यवहार

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

को आदर्शवादिता के ढाँचे में ढालने की जिम्मेदारी उसी की है । संयम बरतने और बचत को परमार्थ-प्रयोजन में लगाने की शिक्षा, प्रेरणा उसी के तत्त्व-दर्शन से उपलब्ध होती है । अन्तराल को परिष्कृत करना धर्म का काम है और भौतिक क्षेत्र की सुविधाएँ जुटाना, वैभवपरक प्रगति का सरंजाम जुटाना राजतंत्र का । दोनों मिलकर ही एक दूसरे के पूरक बनते हैं । इस संयोग सुयोग से ही समग्रता बनती है ।

राजतंत्र को गतिशील, सुनियोजित रखने के लिए अनेकानेक प्रतिभाएँ विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत रहती हैं । टैक्सों के आधार पर जनता उसके लिए आवश्यक साधनों की व्यवस्था जुटाती है । धर्मतंत्र लोकश्रद्धा पर आधारित है । उसे धर्मसेवी, साधु-ब्राह्मण, परिव्राजक, दानशील मिल-जुलकर पोषण प्रदान करते हैं । दोनों का सुव्यवस्थित और सुसंचालित रहना आवश्यक है । गड़बड़ी इनमें से किसी भी क्षेत्र की सहन नहीं हो सकती । शासन अनीति अपनाये तो प्रजा को त्रास सहने पड़ेंगे और अराजकता फैलेगी । धर्म-धारणा में यदि प्रपंच, पाखण्ड का समावेश होगा तो व्यक्तित्वों का स्तर गिरेगा । वे भ्रष्टाचार पर उतरेंगे और मर्यादाओं, वर्जनाओं का उल्लंघन करते हुए मानवीय गरिमा को पतन-पराभव के गर्त में धकेलेंगे ।

राजतंत्र को सँभालने और उसमें प्रवेश पाने वाली अनुपयुक्तताओं को इंगित करने वाले राजनैतिक क्षेत्र में अनेक व्यक्ति रोकथाम करने और सुधारात्मक परामर्श देने के लिए तत्पर रहते हैं । इसलिए गड़बड़ियाँ एक सीमा तक ही चल पाती हैं । सन्तुलन बनाये रहने के प्रयत्न चलते रहते हैं । फलतः बिगाड़ उस सीमा तक नहीं पहुँच पाता, जिसे गतिरोध कहा जा सके, किन्तु धर्मतंत्र को ऐसी सुविधा उपलब्ध नहीं है । धर्मध्वजी अपनी मनमर्जी चलाते रहते हैं । वे न सतयुगी मर्यादाओं का अवलोकन करते हैं, न धर्मधुरियों के लिए निर्धारित उच्चस्तरीय चरित्र मर्यादा का परिपालन । फलतः उस क्षेत्र के अधिकांश लोग निहित स्वार्थों के कुचक्र में फँसते हैं और जिस-तिस प्रकार भावुक भक्तजनों को दिग्भ्रान्त करके अपना उल्लू सीधा करते हैं । इस आधार को अपनाने पर धर्मक्षेत्र के मूर्धन्यों का उतना प्रभाव सर्वसाधारण के मन पर नहीं पड़ पाता कि उनके प्रतिपादनों, प्रवचनों पर ध्यान दिया जा सके, उन्हें हृदयंगम किया जा सके । दूसरी ओर साधारण धर्मप्रेमियों की भावश्रद्धा, अन्ध श्रद्धा स्तर तक जा पहुँचती है । उसकी वह परीक्षण बुद्धि धूमिल हो जाती है, जिसके आधार पर उचित-अनुचित का अन्तर कर सकना सम्भव हो सके । धूर्तता और मूर्खता का तालमेल सध जाने पर ऐसा कुछ चल पड़ता है, जिसे धार्मिक क्षेत्र की विडम्बना भी कहा जा सकता है, धर्म-धारणा नहीं । यही है वह दुर्भाग्य जो राजतंत्र की विकृतियों से भी अधिक मात्रा में धर्मतंत्र में घुस पड़ा है । उसी ने बिखराव उत्पन्न किया है । उसी कारण छोटे-छोटे वर्ग-समुदायों, मतान्तरों, सम्प्रदायों से इस सशक्त क्षेत्र का विकेन्द्रीकरण हुआ है । इसका दुष्परिणाम सर्वसाधारण को भुगतना पड़ा है । सच्ची धर्म-धारणा का अमृत दुर्लभ हो जाने से उसे अपनी प्यास ऐसे गँदले पानी से बुझानी पड़ रही है, जो समग्र आन्तरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से हितकर नहीं है ।

लोगों को चित्र-विचित्र मान्यताओं और परम्पराओं के प्रति आग्रही देखा जाता है, पर यह सोचते नहीं बन पड़ता कि धर्म के मूलभूत प्रयोजनों को समझा और अपनाया जाय । निजी जीवन में पवित्रता, प्रामाणिकता और प्रखरता के रूप में धर्म का परिचय मिलना चाहिए । सामूहिक जीवन में उसकी प्रतिक्रिया, सहकारिता, सामाजिकता, उदार परमार्थ-परायणता के रूप में सामने आनी चाहिए । इसी दिशाधारा में लोक-चिन्तन बह रहा है । आदर्शवादी क्रिया-कलापों में उसकी प्रतिक्रिया जन-जीवन में परिलक्षित हो रही हो तो समझना चाहिए कि धर्मतंत्र की विधा और प्रक्रिया अपने सही रूप में बनी हुई है । इस कसौटी पर धर्मक्षेत्र इन दिनों खरा नहीं उतर रहा है । समय की माँग इस क्षेत्र का कायाकल्प किये जाने जैसी है ।

सुधार-उपक्रम बिलगाव का केन्द्रीकरण होने की दिशा में होना चाहिए । निहित स्वार्थों के छोटे समुदाय को चंगुल में कसे रहने की सुविधा में व्यवधान पड़ता दीख सकता है । वे विरोध पर उतारू होते और आड़े आते दीख पड़ सकते हैं, पर समग्र धर्मक्षेत्र की प्रतिष्ठा और गरिमा को ध्यान में रखते हुए संगठित होने के प्रयत्न जारी रहने चाहिए । बिखराव में नष्ट होती रहने वाली शक्ति एक लक्ष्य और एक केन्द्र पर समवेत हो सके तो इसमें सबका सब प्रकार से कल्याण ही है । धर्मतंत्र अपनी उपयोगिता बनाये रह सकेगा और कंधों पर ली हुई जिम्मेदारी पूरी हो सकेगी । धर्मप्रेमी लोगों का, सर्वसाधारण का इस नीति को अपनाने से कल्याण ही होगा । उन्हें भ्रान्तियों में भटकते तथा स्वार्थों का शिकार बनते रहने से छुटकारा मिलेगा ।

सार्वभौम धर्म न बन सके, मानव-धर्म की एकरस व्यवस्था न बन पड़े तो कम से कम इतना तो होना ही चाहिए कि एक प्रकृति के समुदाय एक केन्द्र पर एकत्रित हों । इस दृष्टि से हिन्दू धर्म का एक संगठित तंत्र तो बन ही सकता है । उसके ऐसे नियम-प्रचलन तो बन ही सकते हैं, जिन्हें उस समुदाय के लोग बिना मतभेद के सरलतापूर्वक स्वीकार कर सकें । सभी धर्मों के सूत्र-संचालक यदि इस प्रकार का प्रयत्न सच्चे मन से करें, बिलगाववादी मतभेदों को उठाकर एक कोने में रखें, तो एकनिष्ठा को विकसित होने में फिर कोई बड़ी अड़चन शेष नहीं रह जाती ।

रुचि के अनुकूल पूजा-उपासना में, तत्त्व-दर्शन में विभिन्नताओं को अपनाये रहने की भी छूट मिल सकती है, पर चरित्रनिष्ठा और समाजनिष्ठा के परमार्थवादी सिद्धान्तों में तो एकरूपता रह सकती है । प्रथा-प्रचलनों को भी यथासम्भव एकता और समता के ढाँचे में ढाला जा सकता है । भिन्नताएँ जितनी कम हों, उतना ही अच्छा ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

धार्मिक तत्त्व ज्ञान के उच्चस्तरीय स्वरूप का अध्ययन करने के लिए ऐसे शोध-संस्थानों की सुविधा होनी चाहिए जो भिन्नताओं के बीच पाई जाने वाली एकता को खोजकर उसे उजागर कर सकें । सर्वसाधारण के लिए प्रस्तुत कर सकें।

धर्म प्रचार के लिए प्रामाणिक प्रवक्ता तैयार किये जायें जो इस विषय पर अधिकारपूर्ण लिख सकें और प्रचार प्रवचन के क्षेत्र में उतर सकें । स्थान-स्थान पर ऐसे केन्द्र स्थापित कर सकें जो अपने क्षेत्र में धर्म-धारणा को जीवन्त एवं गतिशील बनाये रहने की जिम्मेदारी सँभालें । हर गाँव में एक प्रामाणिक धर्म केन्द्र होना चाहिए जो विचार देने के साथ-साथ ऐसे सेवा कार्यों की भी व्यवस्था बनाये रहे जो जन-साधारण की सहानुभूति आकर्षित करती हों । सभी ईसाई चर्चों में शिक्षा, चिकित्सा, पीड़ितों की सामयिक सहायता की व्यवस्था रहती है । अपने धर्म केन्द्रों में भी ऐसा कुछ रहना चाहिए । मात्र कथा प्रवचनों, सत्संगों, कर्मकाण्डों तक ही सीमित न रहा जाय ।

लोकमंगल के लिए धर्म-धारणा को किन-किन क्षेत्रों में किस-किस प्रकार प्रयुक्त किया जा सकता है ? इसके लिए प्रान्तीय भाषाओं के क्षेत्रों में अलग-अलग विश्वविद्यालयों की स्थापना हो सकती है । भाषायी कठिनाइयों के कारण एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्रों के लोगों तक अपनी बात नहीं पहुँचा पाते । इस कठिनाई को दूर करने के लिए भाषायी क्षेत्रों के धर्म प्रशिक्षण विद्यापीठें अपनी कार्यविधि अपनी भाषाओं में भी सिखा सकती हैं, पर सभी की नीति एक हो । केन्द्रीय तंत्र से ही सभी को मार्ग-दर्शन मिले । सभी एक शैली को अपनायें ।

दूसरा विकल्प यह भी हो सकता है कि एक केन्द्रीय विश्वविद्यालय में विभिन्न भाषाओं के माध्यम से एक ही स्थान पर एक ही शैली में भाषायी माध्यम अपनाते हुए शिक्षा व्यवस्था चलती रहे । इस प्रकार एक ही स्थान से विभिन्न भाषायी क्षेत्रों में काम करने वाले कार्यकर्त्ता उपलब्ध होते रहेंगे ।

धर्मतंत्र की प्रभावक्षमता, व्यापकता, सम्पन्नता को देखते हुए उसे अनेकानेक लोकोपयोगी कार्यों का दायित्व सौंपा जा सकता है । उसे छोटी परिधि में सीमित नहीं रखा जा सकता । अभ्यर्थना, कथावार्त्ता एवं कर्मकाण्डों, परम्पराओं का निर्वाह भर होता रहे, यह उचित न होगा । सामयिक आवश्यकताओं के अनुरूप जन-कल्याण के कार्यों में उसकी क्षमता को नियोजित किया जा सकता है, किया जाना चाहिए । शिक्षा-संवर्धन, स्वावलम्बन, सत्प्रवृत्ति-संवर्धन, दुष्प्रवृत्ति-उन्मूलन जैसे क्रिया-कलापों के अनेक स्वरूप हो सकते हैं और वे धर्मतंत्र के माध्यम से सुविस्तृत क्षेत्र में क्रियान्वित हो सकते हैं ।

अपने देश में सात लाख गाँव हैं । साठ लाख सन्त । हर गाँव के पीछे उनका औसत साढ़े आठ आता है । जब जनता उनके निर्वाह का भार उठाती है तो उसे यह अधिकार है कि उनसे कुछ सेवा-सहायता की आशा भी करे ।

धर्मसेवी समुदाय यदि चाहे तो अशिक्षा की समस्या का सहज समाधान निकल सकता है । इतने सन्त, अध्यापक यदि चाहें तो अपने-अपने कार्य क्षेत्र बनाकर उसमें निरक्षरता उन्मूलन के लिए इतना अधिक काम कर सकते हैं कि कुछ ही समय में देश के माथे से निरक्षरता का कलंक मिट जाय । शेखावटी के स्वामी केशवानन्द ने यही कार्य अपने हाथ में लिया था और गाँव-गाँव प्राथमिकशालाएँ स्थापित करके उन्हें हाईस्कूल, कॉलेज तक पहुँचा दिया था । यह कार्य कोई भी धर्मक्षेत्र का व्यक्ति बड़ी सरलतापूर्वक हाथ में ले सकता है और उसे सरलतापूर्वक पूरा भी कर सकता है ।

गली-कूँचों में सड़ती रहने वाली गंदगी न केवल कुरुचि-दुर्गन्ध बिखेरती है, वरन् बीमारियाँ उत्पन्न करके अनेकों के लिए प्राणसंकट भी खड़ा करती है । सहकारी श्रमदान के बलबूते कोई भी सेवाभावी संगठन अग्रगमन का मार्ग-दर्शक बनते हुए बिना सफाई कर्मचारियों के ढूँढ़े अपने बलबूते उस प्रयोजन को पूरा करा सकता है । श्रमदान संगठन के माध्यम से अनेकों उपयोगी कार्य स्थानीय आवश्यकता के अनुरूप सहज ही पूरे किये जा सकते हैं ।

चरित्रनिष्ठा, समाजनिष्ठा, जीवन कला, पारिवारिक सुसंगठना जैसे विषयों की जानकारी लोगों को नगण्य जितनी है, उसे सुविस्तृत करने पर व्यक्तित्व के विकास का मार्ग खुलता है । यह बड़ी उपलब्धि है, जिसे राष्ट्रीय विकास की आधारशिला समझा जा सकता है । कुरीतियों का उन्मूलन भी इतना ही महत्त्वपूर्ण कार्य है । नशा, दहेज, छूआछूत, पर्दा प्रथा आदि कितने ही प्रचलन ऐसे हैं, जो विकास के मार्ग में सबसे बड़े अवरोध हैं । इनके विरुद्ध उन्मूलन अभियान चलाने में धर्मतंत्र के अधिष्ठाता, पुरोहितों, धर्मोपदेशकों को जितनी सफलता मिल सकती है उतनी और किसी को नहीं । राजतंत्र अपनी उपयोगिता और समर्थता का परिचय दे, किन्तु धर्मतंत्र को भी उपेक्षित एवं निष्क्रिय नहीं रहना चाहिए । बिखराव को समेटकर एक केन्द्रीय अनुशासन में योजनाबद्ध रूप में इस प्रकार जुटना चाहिए, जिससे धर्मतंत्र की गरिमा प्राचीनकाल की तरह प्रतिष्ठा के उच्च शिखर तक जा पहुँचे ।

क्या धर्मतंत्र जनमानस का मार्गदर्शन करने में सक्षम है ?

मनुष्य को स्रष्टा की सिरजनहार की सर्वोत्कृष्ट कृति माना गया है । प्राणी जगत में इस नाते उसे एक विशेष स्थान प्राप्त है । यह सब विशिष्टता उन विभूतियों के कारण है, जो अन्यान्य जीवधारियों के पास नहीं है । वरिष्ठता का पद, जो मनुष्य को प्राप्त है, वह शारीरिक समर्थता, मानसिक बुद्धिमत्ता, कौशल अथवा आर्थिक सम्पन्नता के कारण नहीं, अपितु उस उत्कृष्टता के कारण है, जिसे सुसंस्कारिता के नाम से जाना जाता है । मानवीय कर्त्तव्यों,

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

दायित्वों के साथ जुड़ी यही विशिष्टता उसे वैयक्तिक जीवन में नीतिनिष्ठ एवं सामाजिक जीवन में समाजनिष्ठ बनाती है । इसे ही मानवीय गरिमा के अनुरूप जीवन जीना कहा जाता है । यों तो मनुष्य अपने कार्यक्षेत्र में स्वतन्त्र, स्वच्छन्द दिखाई देता है, किन्तु वह उच्चस्तरीय मर्यादाओं में बँधा हुआ है । यह अनुशासन ही उसे मनुष्य जैसा उच्चस्तरीय गरिमापद प्रदान करता है । सम्भवत: यही सब सोचकर ऐतरेय उपनिषद्कार ने कहा है-"मनुष्य विश्व शक्ति की एक सुकृति है"

ताभ्य: पुरुषमानयत्ता अब्रुवन् सुकृतं
बतेति पुरुषो व सुकृतम् ।।

-ऐत. उप. १/२/३

आप्तवचनों के आधार पर तो जन्म से सभी असंस्कृत, असभ्य अथवा शूद्र होते हैं, किन्तु शरीर यात्रा के साथ संस्कारों का समावेश होते-होते वे क्रमश: ब्राह्मणत्व को, श्रेष्ठता को प्राप्त होते चले जाते हैं । वातावरण भी इसमें मदद करता है तथा धर्म अध्यात्म के माध्यम से बनाया गया वह अद्भुत तंत्र भी जो जीवनयात्रा के महत्त्वपूर्ण मोड़ों पर संस्कारों को समाविष्ट करने की व्यवस्था करता है । जब-जब भी यह व्यवस्था गड़बड़ाती है, इसमें कोई अवरोध पैदा होता है, अनगढ़ मानवों की संख्या समाज में बढ़ने लगती है एवं इस कुसंस्कारी समुदाय के बाहुल्य के कारण नैतिक मूल्यों का ह्रास होते-होते आस्था संकट की विपत्ति आ खड़ी होती है । आज की परिस्थितियों की समीक्षा इन्हीं तथ्यों के सन्दर्भ में की जानी चाहिए ।

मानवी कायाधारी इस संसार में करोड़ों-अरबों हैं । असंख्यों जन्म लेकर मृत्यु को प्राप्त हो चुके तथा असंख्यों अगले दिनों जन्म लेने की प्रतीक्षा में हैं । जो आने वाले हैं या जो अभी हैं, यदि उनमें मानवोचित उत्कृष्टता का समावेश न हो सका तो इतना ही समझना चाहिए कि धरती के लिए संकट बनने के अतिरिक्त वे और कुछ कर न सकेंगे । यह इस धरती का दुर्भाग्य ही है कि अपेक्षाकृत अधिक साधन-सम्पन्न होते हुए भी मनुष्य को अनगढ़-असभ्य बने रह निकृष्टता का कलंक लाद कर जीना पड़े । असभ्य, अशिष्ट, दुर्गुणी, दुर्व्यसनी, अनाचारी स्तर के मनुष्य अपने लिए और दूसरों के लिए विपत्तियों के ही कारण बनते हैं । वे बदनाम भी होते हैं तथा सहयोग-सम्मान से भी वंचित बने रहते हैं । अनगढ़ कुसंस्कारी प्रवृत्तियों के कारण उन्हें नर-वानर की यदि उक्ति भी देनी पड़े तो वह सही है । डार्विन के विकासवाद के आधार पर न सही, भारतीय अध्यात्म प्रकृति में साम्य के कारण नर तन धारी जीवों की एक श्रेणी यह भी ठहराती है । एक दूसरा तबका नरपशुओं का वह है, जिन्हें कर्त्तव्यों का ज्ञान नहीं, मानवीय गरिमा के अनुरूप जीना, अनुशासित स्थिति में रह पाना, जिन्हें रास नहीं आता । भारतीय संस्कृति के अनुसार एक तीसरी श्रेणी और इन्हीं जीवधारियों की है, जो और भी निकृष्ट है । भावसंवेदनाओं की दृष्टि से जो शून्य है, जिन्हें भ्रष्टचिन्तन व दुष्टआचरण में ही रस आता है, वैसा ही कुछ घिनौना जो करते कराते रहते हैं । इन्हें नरपिशाचों का दर्जा दिया गया है । प्रश्न यह है कि इन सभी जीवधारियों जिन्हें मनुष्य तन व मस्तिष्क प्राप्त है, के रहते यह सृष्टि श्रेष्ठ बने तो कैसे ? यदि इन सबके व्यक्तित्व के स्तर को ऊँचा उठाने के प्रयास न किए जायें तो यह धरती देखते-देखते अगणित अनगढ़ नर-पशुओं के हजूम में बदलती चली जायेगी, जहाँ जन्म लेना सम्भवत: तब देवता भी स्वीकार न करें ।

कारण इन सबका एक ही समझ में आता है । वह है व्यक्तित्व के स्तर को उत्कृष्ट बनाने के लिए जरूरी प्रयासों की उपेक्षा । वस्तुत: मनुष्य असामान्य है व उसकी गरिमा सुसंस्कारिता के साथ जुड़ी हुई है । कहाँ से उपलब्ध हो, यह सुसंस्कारिता ? मनीषियों के अनुसार इसे दूरदर्शिता, विवेकशीलता के आधार पर उपलब्ध किया जाता है । यह विभूति स्व-उपार्जित भी हो सकती है तथा दूसरों के द्वारा अनुदान में भी दी जा सकती है । जो भी हो, प्रयास अपना हो अथवा समर्थ के अवलम्बन से मिला हो, मानव-जीवन की सार्थकता और सराहना सुसंस्कारिता की बढ़ी-चढ़ी उपलब्धि के सहारे ही हस्तगत होती है । किन्तु जैसा कि प्रारम्भ में कहा गया, हर मनुष्य को मर्यादाओं के अनुबन्धों के निर्वाह में जन्म-जन्मान्तरों की संचित कुसंस्कारिता से जूझना पड़ता है । वह आलस्य-प्रमाद के, संकीर्ण स्वार्थपरता, लिप्सा-लालसा के रूप में भी पुरानी आदतों को इस समय भी कार्यान्वित रखे रहना चाहती है। इसीलिए लोभ, मोह, क्रोध, अहंकार के रूप में वे कुसंस्कार उभरते रहते हैं । इन्हें दबाया-दबोचा न जाय, तो वे अभ्यास, आदतें सहज छूटते नहीं, विचारों को विचारों से काटना पड़ता है । मन को समझाना पड़ता है कि कुसंस्कारों को अपनाये रहना शरीर में क्षय-कैन्सर जैसी घातक व्याधियों के रोगाणुओं को प्रविष्ट कराने के समान है। कुसंस्कारों के रहते कोई, व्यक्तित्व के वास्तविक वैभव का धनी नहीं बन सकता ।

कुसंस्कारों से मुक्ति एवं सुसंस्कारिता के उपार्जन हेतु, मनुष्य रूपी भटके हुए देवता के भटकाव को निरस्त करने हेतु, एक राजमार्ग देव-संस्कृति के निर्धारकों, मनीषियों, ऋषिगणों द्वारा निर्धारित किया गया है, वह है धर्मतंत्र के माध्यम से लोकशिक्षण का मार्ग । भाषा, व्यवहार, आहार, रहन-सहन, रीति-रिवाज, आचार, गुण-कर्म आदि स्वभावत: बच्चे, बड़ों से सीखते हैं । ठीक इसी प्रकार चिन्तन, चरित्र, रुचि, रुझान पर आधारित व्यक्तित्व भी, किन्हीं वरिष्ठों के तत्वावधान में उपलब्ध करना पड़ता है । यह वरिष्ठ मार्ग-दर्शन तंत्र जब-जब जिस भी समाज में सुयोग्य स्तर का होता है, वह समाज देवमानवों से भरा प्रगति के पथ पर बढ़ रहा होता है । इस मार्ग-दर्शन तंत्र को ऋषि व मुनि सँभालते हैं तथा इसे धर्मतंत्र नाम से सम्बोधित कर वरिष्ठतम स्थान समाज में दिया जाता है । हर युग में, हर समाज में, हर समय इस तंत्र की एक ही महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है-वह है लोकमानस का

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

परिष्कार, लोकशिक्षण, परिष्कृत स्तर का मार्ग-दर्शन । चेतना क्षेत्र में सुसंस्कारिता का संवर्धन ही धर्मतंत्र का युगों-युगों से कार्यक्षेत्र रहा है व इसी कारण समाज में सतयुगी प्रेरणाओं का बाहुल्य तब-तब पाया जाता रहा, जब धर्मतंत्र ने अपनी भूमिका सही ढंग से निभाई ।

धर्मतंत्र के अन्तर्गत स्वाध्याय-सत्संग व्यवस्था के अतिरिक्त समर्थ, सुसंस्कृत सज्जन व्यक्ति ढालने वाला वातावरण बनाने का सुव्यवस्थित तंत्र आता है । उच्चस्तरीय वातावरण बनाने हेतु प्राचीनकाल में बालकों के लिए गुरुकुल, तरुणों के लिए तीर्थ तथा प्रौढ़ों के लिए आरण्यक विनिर्मित किए जाते थे । देवालय, आश्रम, धर्म-संस्थान, साधु-ब्राह्मण, वानप्रस्थ-परिव्राजक आदि विभिन्न माध्यम प्रतीकों से लेकर आचरण के द्वारा समाज को सुसंस्कारी बनाने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहते थे। सुसंस्कारों के प्रतिष्ठापन और अभिवर्धन के लिए मनोविज्ञान के प्रचण्ड विद्वान ऋषिगणों ने प्रतीकों के साथ-साथ षोडष संस्कारों की भी अभिनव व्यवस्था की थी । प्रचलन में आई यह प्रक्रिया प्रयोग-परीक्षणों की कसौटी पर खरी उतरी तथा उसे जीवन के आवश्यक कृत्यों में महत्त्वपूर्ण स्थान मिला । इस प्रकार धर्मतंत्र की एक सशक्त भूमिका देव संस्कृति में लोक-शिक्षण द्वारा समाज के नवनिर्माण की रही है व इसके प्रवक्ताओं ने इसे सुचारु रूप से निभाया है ।

शासनतंत्र और धर्मतंत्र की तुलना करने पर प्रतीत होता है कि शासन का प्रभाव मात्र भौतिक क्षेत्र पर है, जबकि धर्म व्यक्तित्व के गहन क्षेत्र में प्रवेश करके, भावश्रद्धा, प्रखर-प्रज्ञा और आदर्श कर्मनिष्ठा को उभारकर मनुष्य में देवत्व का उदय करता है । आस्था में समायी भ्रष्टता-दुष्टता पर शासकीय नियंत्रण नगण्य जितना ही हो पाता है । राजतंत्र में श्रद्धा जगाने तथा संयमी उदार जीवन की प्रेरणा देने वाले दूर-दूर तक कहीं नजर नहीं आते, जबकि धर्म इन्हीं दैवी सम्पदाओं से लबालब भरा हुआ है। आज धर्म के नाम पर जो चल रहा है । क्रिया-कृत्यों को मात्र ढकोसला और पण्डा वर्ग का स्वार्थ साधन भर मानकर प्रतिगामी स्वरूप प्रस्तुत किया जा रहा है, उसकी भरपूर भर्त्सना करते हुए यह भी समझाया जाना जरूरी है कि धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है ? वस्तुत: वह समाज को धारण करने वाला, उसे मर्यादाओं से बाँधने वाला एक सर्वांगपूर्ण तंत्र है । चिन्तन और चरित्र में उत्कृष्टता भर देने और समाज को सत्परम्पराएँ अपनाने हेतु बाध्य करने वाला एक प्रचण्ड अनुशासन है । ऐसा अनुशासन, जिसके समक्ष न अनीति ठहरती है, न उद्दण्ड आततायी उच्छृंखलता । शासन के बिना भी समाज चल सकता है किन्तु धर्म-कर्त्तव्य को छोड़ बैठने वाले जनसमुदाय द्वारा अपनायी गयी अराजकता-अनैतिकता को काबू में रखना धर्मान्धता जो विवेक से परे है, पर नियंत्रण करना कठोर से कठोर शासनतंत्र के लिए भी सम्भव नहीं है। देव संस्कृति की सबसे बड़ी सेवा व सबसे महान स्थापना धर्मतंत्र ही है । यदि वह प्रखर-परिष्कृत हो, लोकमानस का नेतृत्व कर सके, मार्गदर्शन कर सके तो निश्चित ही समाज में सत्प्रवृत्तियों का बाहुल्य होगा । स्वामी विवेकानन्द ने जिस दरिद्रनारायण की व्याख्या कर उसे ऊँचा उठाने की बात धर्मतंत्र के मंच से कही, उसी को महात्मा गाँधी ने राजनीति के मोर्चे पर अपने शब्दों में उभारा तथा भारतीय समाज की दुखती रग को स्पर्श किया । फलस्वरूप धर्मतंत्र के आधार पर जगी आस्थाओं ने राष्ट्रीय पुनर्जागरण की एक प्रचण्ड लहर पैदा की जिसकी परिणति स्वतंत्रता के रूप में हुई । आज यदि सांस्कृतिक आजादी इस देश को मिलनी है व उसके माध्यम से सारे विश्व का नेतृत्व होना है तो वह भी सशक्त, परिष्कृत, जाग्रत धर्मतंत्र से ही सम्भव हो सकेगा। वास्तविक धर्मतंत्र-अध्यात्म एक नगद धर्म की तरह है, जो बुद्ध, गाँधी की तरह वातावरण को बदलता है और ऐसे कार्यों की योजना बनाता है, जिसके साथ लोकमंगल जुड़ा हो, आत्मकल्याण का पुण्य भी जिससे सिद्ध हो तथा जनकल्याण का परमार्थ भी । सद्ज्ञान और सत्कर्म की दार्शनिकता हृदयंगम कर जब लाखों व्यक्ति जाग्रत धर्मतंत्र के द्वारा समाज में छाई अवांछनीयताओं, अनैतिकताओं, मूढ़-मान्यताओं व कुप्रचलनों के विरुद्ध संघर्ष हेतु आगे आने लगें, आत्मनिर्माण, परिवार निर्माण की एक सशक्त प्रक्रिया जन्म लेने लगे तो सहज ही सतयुग की वापसी का स्वप्न साकार सा होता दिखाई पड़ने लगता है । रुग्ण समाज का कायाकल्प तथा राष्ट्र का पुनर्निर्माण जाग्रत धर्मतंत्र द्वारा ही सम्भव है तथा युग-निर्माण योजना-गायत्री परिवार के कर्तृत्वों के माध्यम से इसके सूत्र- संचालकों ने यह पिछले दिनों आंशिक रूप से सम्पन्न कर दिखाया है व अगले दिनों इसकी पूर्णता की आशा जगाई है, तो यह एक आश्चर्य नहीं तो और क्या है ?

परिष्कृत धर्मतंत्र ही अतीत का गौरव लौटाएगा

जन-मानस का स्तर ऊँचा उठाना इतना बड़ा और इतना महत्त्वपूर्ण कार्य है कि उसका प्रगतिक्रम चल पड़ने पर प्रस्तुत समस्याओं में से हर किसी का समाधान सरलतापूर्वक निकल सकता है । अभावों की पूर्ति के लिए उपार्जन के जितने भी स्रोत हैं उनमें सबसे बड़ा है, व्यक्तित्व का प्रामाणिक और परिमार्जित होना । यदि इसे उपलब्ध किया जा सके तो समझना चाहिए अवरोधों के जाल-जंजाल से छुटकारा मिल पाया । यदि मनुष्य सद्गुणी बन सका तो समझना चाहिए कि विभूतियों को कहीं से भी घसीट लाने वाले चुम्बकीय शक्ति वाला पारस पत्थर हाथ लग गया । दरिद्रता पैसे की उतनी नहीं सताती जितना कि व्यक्तित्व की क्षुद्रता पटक-पटक कर मारती है और साधन होते हुए भी आये दिन रुलाती है ।

दरिद्रता और कुछ नहीं पिछड़ेपन का ही दूसरा नाम है । संकट कहीं दूर देश से नहीं आता । ओछा और

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

अनगढ़ व्यक्तित्व ही उन्हें जहाँ-तहाँ से बीन-बटोर लाता है । इन दिनों पिछड़ेपन को दूर करने के लिए अनेक आजीविका-अभिवर्धन के प्रगति-प्रयास चल रहे हैं । कितना अच्छा होता यदि इसी के साथ-साथ नैतिकता, बौद्धिकता और सामाजिकता की जुड़ी हुई सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्धन पर भी उतना ही ध्यान दिया जा सकना बन पड़ा होता । सम्पदा में पदार्थों और साधनों की ही गणना होती है । अच्छा होता यदि शालीनता को भी इसी का एक पक्ष माना गया होता । उस अभिवर्धन के लिए समर्थ तंत्र खड़ा किया गया होता । वस्तुओं, पदार्थों, साधनों की आवश्यकता होती है, पर यह ध्यान देने योग्य है कि सूझबूझ और पुरुषार्थपरायणता ही अन्ततः समस्त अभावों को दूर कर सकने में समर्थ होती है । अव्यवस्थाओं, समस्याओं और संकटों से निपटने के लिए शक्ति भी चाहिए और अंकुश भी । कई बार इसके लिए दमन का आश्रय भी लेना पड़ता है और उद्दण्डता पर अनुशासन थोपने वाले साधनों का भी प्रदर्शन करना पड़ता है, पर इस सबका सामयिक प्रतिफल ही हो सकता है । अनौचित्य की जड़ काटने के लिए मनुष्य को विवेकवान, सद्गुणी और साहसी भी होना चाहिए । बाह्य उपचार दीखते भी हैं और जाने-सराहे भी जाते हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि जो दीख नहीं पड़ता, उसकी समर्थता कहीं अधिक है । शरीर कितना ही सुन्दर और बलिष्ठ क्यों न हो, अदृश्य प्राण के न रहने पर वह सारा-सरंजाम कबाड़ बनकर रह जाता है ।

भूलों में सबसे बड़ी भूल एक ही है कि दृश्य को सब कुछ माना गया और अदृश्य को उपेक्षा-अवमानना के गर्त में, गिरा न रहने के सन्दर्भ में, न उसे उखाड़ कर ऊँचा उठाने के सम्बन्ध में कुछ ऐसा किया जा सका जिसे कारगर कहा जा सके ।

कठिनाई एक ही है कि अन्तःस्फुरणा उभारने वाले आन्तरिक पौरुष का स्तर दीन-दुर्बल जैसा हो गया और बाहर से सहारे दे सकने वाले अवलम्बनों ने इस दिशा से मुँह मोड़ लिया । शिक्षा का प्रबन्ध हुआ पर सचेतन को परिष्कृत कर सकने वाली 'विद्या' का कहीं से कोई प्रबन्ध न बन पड़ा । न उसका तंत्र खड़ा किया गया और न उस प्रयोजन को पूरा कर सकने वाले उपाध्यायों का, पुरोहितों का वर्ग उभर कर आगे आया ।

मुड़कर पीछे की ओर देखा जाय तो प्रतीत होगा कि अतीत में, आज की तुलना में साधनों का भारी अभाव था । पर जो कुछ हस्तगत था उसका सदुपयोग कर सकने में कौशल का समुचित प्रबन्ध बना रहने पर परिस्थिति इतनी उच्चस्तरीय रहती रही, जिन्हें सतयुग का नाम दिया जाता रहा, तब मनुष्य में देवत्व की अभिव्यक्ति उजागर होती थी और धरती पर ऐसा वातावरण बना रहता था, जिसे स्वर्गोपम कहा जा सके । हर किसी को सुख-शान्ति उपलब्ध थी । हर किसी को हँसते-हँसाते जीने और मिल-बाँटकर खाने का अवसर उपलब्ध था ।

आखिर यह सब बन कैसे पड़ा ? जन्म से तो भी सभी प्रायः नरपशु की स्थिति में धरती पर आते हैं । उन्हें बनाने या उठाने में तो सम्बद्ध परिकर ही प्रधान भूमिका निभाते हैं । स्मरणीय अतीत में साधनों के उपार्जन का, उपयोग का सही तरीका तो अपनाया ही जाता रहा होगा । सबसे बड़ी बात यह बनी रही कि अन्तराल को परिष्कृत और व्यक्तित्व को समुन्नत बनाने के लिए कुशल कारीगर बड़ी संख्या में उपलब्ध रहे और कार्यक्षेत्र में तत्परतापूर्वक डटे रहे । इस पुण्य प्रताप का प्रतिफल था कि स्वल्प साधनों में असीम आनन्द और सौजन्य ने समूचे वातावरण को कृत-कृत्य करके रख दिया ।

लोकचेतना को समुन्नत स्तर का बनाये रहने का घोषित और निर्धारित उत्तरदायित्व पुरोहित का है । उसके लिए यही नियति थी, जिसे श्रद्धापूर्वक सौंपा और शपथपूर्वक स्वीकारा गया था । राष्ट्र को, समाज को, व्यक्ति को, लोकमानस को जीवित और जाग्रत बनाये रखने का दायित्व यही पुरोहित वर्ग चिरकाल तक सँभाले-सँजोये रहा । फलतः जन-समुदाय के सभी घटक घड़ी के कलपुर्जे की तरह ठीक काम करते रहे । पेण्डुलम और मिनट यदि अपनी सही चाल पर चलते रहें तो घड़ी के बन्द होने का अवसर कदाचित् ही आता है । लोकचेतना की सत्ता और महत्ता तो असीम है, पर उसमें कमी एक ही है-आत्मसंकल्प को उभारने में स्वावलम्बी साहस कम ही जुट पाता है । उसे समर्थों का सहारा तलाशना पड़ता है। बच्चे भी तो अभिभावकों से प्रायः ऐसी ही आशा करते हैं ।

प्राचीनकाल में एक विशेष वर्ग था जिसे 'पुरोहित' कहते थे । उसकी कई श्रेणियाँ थीं ऋषि, तपस्वी, योगी, मनीषी स्तर की रीति-नीति अपनाकर वे अपनी योग्यता और पात्रता सम्पादन करते थे ताकि उनके मार्गदर्शन को जनसमुदाय द्वारा स्वीकारा जा सके । इसके साथ ही वे सेवा धर्म को कार्यान्वित करना आरम्भ कर देते थे, जिसके आधार पर चिन्तन में उत्कृष्टता उभरती है और चरित्र एवं व्यवहार को ऐसा सुगढ़-समर्थ बना देती है कि उसके सहारे न केवल निजी जीवन वरन् सम्पर्क में आने वाले परिकर को भी समुन्नत बनाने का अवसर मिलता रहे ।

पुरोहित वर्ग दो भागों में विभाजित था । एक ब्राह्मण, दूसरे साधु । ब्राह्मण प्रायः गृहस्थ होते थे और अपने सीमित क्षेत्र में जन-सम्पर्क साधने और उन्हें भावनात्मक दृष्टि से परिष्कृत किये रहने का दायित्व निभाते थे । गुरुकुल संचालन के लिए उन्हें पत्नी की सहायता अनिवार्य रूप से अपेक्षित होती थी । अपने निजी जीवन का, पारिवारिक और वैयक्तिक स्वरूप आदर्शों से ओतप्रोत रखकर वे जनसाधारण के सामने एक उदाहरण प्रस्तुत करते थे कि किस प्रकार सीधे-सरल तरीके से सर्वोपयोगी उत्कृष्ट जीवन जिया जा सकना सम्भव हो सकता था । लोकशिक्षण के लिए वे अपने यजमानों में स्वाध्याय-सत्संग की व्यवस्था बनाये रहते थे, इसके लिए पर्व-त्योहारों पर व्रत, संस्कारों

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

के माध्यम से सामूहिक प्रशिक्षण अधिक उपयोगी और प्रभावी समझा जाता था । अस्तु वे ऐसे ही अवलम्बनों के सहारे अपने परिकर के यजमानों को उच्चस्तरीय प्रेरणाओं से अनुप्राणित किया करते थे ।

साधु वर्ग का कार्यक्रम प्रव्रज्या पर अवलम्बित रहता था । इसलिए उन्हें परिव्राजक भी कहा जाता था । परिव्राजक अर्थात् परिभ्रमणकर्त्ता इस आधार पर उन्हें व्यापक क्षेत्र के बहुसंख्यक निवासियों के साथ सम्पर्क साधने में सरलता होती थी । विभिन्न वर्गों और क्षेत्रों की स्थानीय समस्याओं और आवश्यकताओं को इस आधार पर समझ सकना उनके लिए सरल पड़ता था । साथ ही जहाँ जैसा समाधान सम्भव था, वहाँ उसका कार्यक्रम बनाने, सरंजाम जुटाने एवं ढाँचा खड़ा करने का प्रयास करते भी बन पड़ता था । इस क्रिया-प्रक्रिया का महत्त्व इसलिए भी अधिक था कि ज्ञान पिपासा बुझाने के लिए जिन्हें मनीषियों से सम्पर्क साधने पहुँचना कठिन पड़ता था, उन्हें वह लाभ घर बैठे भी मिल जाता था । बहुत लोग एक समय एकत्रित होकर एक मार्ग-दर्शक से उद्‌बोधन प्राप्त करें यह भी एक तरीका था, पर दूसरा यह तरीका भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं था कि सूर्यचक्र, पवन-बादल की तरह स्वयं ही परिभ्रमण पर निकला जाय और जन-जन को अपनी ऊर्जा से प्रतिभाषित किया जाय । जिन्हें यह कार्यपद्धति पसन्द आती थी, वे अविवाहित रहते थे और तीर्थयात्रा के नाम से जन-जागरण की पदयात्रा में निरन्तर निरत रहते थे ।

साधु और ब्राह्मण वर्गों के समन्वय से उस लोक-शिक्षण की आवश्यकताएँ भली प्रकार पूरी हो जाती थीं, जिससे व्यक्तित्व निखरता है और उस प्रामाणिकता एवं प्रतिभा का अर्जन होता है जो भौतिक और आत्मिक सफलताओं का पथ-प्रशस्त कर सके ।

साधु और ब्राह्मण वर्ग के लोकनायकों का एक मिश्रित रूप भी था-वानप्रस्थ । इस वर्ग के लोग आधी आयुष्य तक पहुँचते-पहुँचते अपने सामान्य गृहस्थ जीवन के दायित्व पूरे कर लेते थे और फिर आत्म-निर्माण और लोकमंगल की समन्वित साधना में निरत होते थे । जो पत्नियाँ साथ रहना चाहती थीं वे पति के साथ उसी प्रयोजन में निरत होती थीं । जो अपने को असमर्थ पाती थीं वे परिवार को सँभालने और पड़ोस को यथासम्भव अपनी उपस्थिति का लाभ देती थीं ।

तीर्थस्थानों के सुव्यवस्थित आश्रम इसलिए बने थे कि वहाँ वानप्रस्थ वर्ग के लोग आरण्यक व्यवस्था के अनुरूप अपनी वरिष्ठता का अभिवर्धन करें और समयानुरूप सेवा के क्षेत्र के साथ भी सम्पर्क साधें, गृहस्थजन भी तीर्थों के प्रेरक वातावरण में कुछ समय निवास करके अपनी विशिष्टताओं में अभिवर्धन करने वाली साधनाएँ सम्पन्न करते थे ।

इस समूचे धर्मतंत्र की मिली-जुली सामर्थ्य ऐसी हो जाती थी कि उसका प्रभाव समूचे जन-समुदाय पर पड़े बिना नहीं रहता था । दुष्प्रवृत्तियों के उन्मूलन और सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्धन में सहायता मिले । इस आधार पर धर्मतंत्र इतनी कम सेवा-साधना कर पाता था, जितनी कि शासनतंत्र से भी नहीं बन पड़ती । शासन प्रायः अवांछनीयताओं से निपटता रहता था, प्रगति के लिए आवश्यक साधन-सुविधाएँ भी जुटाता है, किन्तु उस सबसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष है, व्यक्ति की शालीनता और दक्षता का । चिन्तन, चरित्र और व्यवहार में सुसंस्कारिता के समावेश का । इसके बिना समुचित साधन उपलब्ध कर लेने पर भी सार्वजनिक शान्ति और प्रगति का सुयोग बन नहीं पड़ता । धर्मतंत्र इसी महती आवश्यकताओं की पूर्ति करता था । इसी को परिष्कृत रूप में प्रस्तुत करने की आज आवश्यकता है ।

धर्म और ईश्वर भी प्रगति पर

आदिमकाल से लेकर अब तक मनुष्य ने प्रगति पथ की अनेकों सीढ़ियाँ पार की हैं । इसी के साथ-साथ धर्म का भी विकास होता चला आया है । आदिमकाल से मनुष्य ने पशु के आहार, निद्रा, भय, मैथुन की सीमित परिधि से आगे बढ़कर जब अपने इर्द-गिर्द के वातावरण को समझने का प्रयत्न किया होगा तो उसे भय लगा होगा । आग का गोला सूर्य, आकाश में चमकने वाले चाँद-सितारे, दिन-रात का चक्र, बादलों की घटाएँ, बिजली की कड़क, नदियों की चाल, समुद्र की लहरें, सिंह और सर्पों के उत्पात, जन्म और मरण जैसी विस्मयजनक हलचलों को उसने किन्हीं अदृश्य अतिमानवों की करतूत समझा होगा और उनके कोप से बचने एवं सहायक बनाने के लिए पूजा उपक्रम का कुछ ढंग सोचा होगा । सम्भवतः यहीं से उपासनात्मक अध्यात्म का आरम्भ हुआ है । एकाकी स्वेच्छाचार ने जब समूह में रहने की प्रवृत्ति अपनाई होगी तो आचारसंहिता की आवश्यकता पड़ी होगी अन्यथा सहयोग का अभिवर्धन और टकराव का समाधान ही सम्भव न होता । धर्म यहीं से चला है । अब हम धर्म और अध्यात्म को दो धाराओं में बाँटते हैं, पूर्वकाल में दोनों एक थे ।

भय के बाद लोभ की प्रवृत्ति पनपी । उसने अतिमानवों से, देवताओं से अभीष्ट लाभ पाने की आशा रखी होगी । उनसे अवरोधों को दूर करने और वांछित फल प्रदान करने का सहयोग माँगा होगा । तब मानव अपने पुरुषार्थ की तुच्छता और आकांक्षाओं की प्रबलता का वह तारतम्य नहीं बिठा पा रहा होगा, जिसे पशु-पक्षी सहज ही बिठा लेते हैं । उपलब्ध परिस्थितियों और निजी आकांक्षाओं का वह सहज ही तालमेल बिठा लेते हैं और जो कुछ है उसी में सन्तुष्ट होकर अपनी प्रकृति को तदनुरूप ढाल लेते हैं । मनुष्य की आकांक्षाएँ बढ़ीं और साधन सीमित रहे । ऐसी परिस्थिति में किन्हीं अदृश्य अतिमानवों का, देव-दानवों का पल्ला पकड़ना उसने उचित समझा होगा । देवाराधन का स्वरूप उस विकास युग में भय से थोड़ा-थोड़ा

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

छुटकारा पाने और लोभ-लालच की परिधि में प्रवेश करने का बना होगा । स्वर्ग-नरक, शाप-वरदान जिन अदृश्य शक्तियों द्वारा दिया जाता है, उनके कोप से बचना और प्रसन्न करके लाभान्वित होना तब एक दिव्य कौशल रहा होगा । उन्हीं दिनों मन्त्र-तन्त्र के देव-परिकर के रूप विधान गढ़े गये । संयोगवश जो भले-बुरे अवसर आते गये उन्हें दैवकृत माना जाता रहा । इसी आधार पर अमुक विधान का खण्डन अमुक का मण्डन क्रम चलता रहा ।

धर्म के विकास का इतिहास मनुष्य की चेतना के चिन्तन के साथ-साथ कदम से कदम मिलाकर चलता आया है । भय और लोभ की व्यक्तिवादी आकांक्षाओं से आगे बढ़कर मनुष्य अधिकाधिक समाज पर निर्भर होते चलने की स्थिति में यह समझने के लिए बाध्य हुआ कि समूहगत हलचलें मनुष्य को अत्यधिक प्रभावित करती हैं । पारस्परिक सहयोग और असहयोग के, नीति पालन और उल्लंघन के क्रिया-कलाप अधिकाधिक सुविधा-असुविधा उत्पन्न करते हैं । सुख और दुःख यही परिस्थितियाँ उत्पन्न करती हैं । अतएव व्यक्ति और समाज की नीति-मर्यादाओं को अधिक सबल, अधिक परिष्कृत बनाया जाय । इस मान्यता ने नीति के, उपकार के तत्त्वज्ञान को धर्म में सम्मिलित किया और इसके लिए आचारशास्त्र का विकास हुआ । धर्म की व्याख्या, नीति-पालन एवं उदारता के लिए उत्साह प्रदर्शन के रूप में की गई । यह और भी अधिक महत्त्वपूर्ण कदम था ।

इससे आगे और भी विकसित स्थिति आती है, जब 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की-'सूत्रे माणि गणा इव' की मान्यता की आधारशिला रखी गई । यह ब्रह्मविद्या का युग है । एक ही आत्मा सब में समायी हुयी है, सब में अपनी ही सत्ता जगमगा रही है, अपने भीतर सब है, सब में एक ही आत्मा का प्रतिबिम्ब है । सब अपने और 'अपना' सब का है । यह विश्व मानव की, विश्व परिवार की एकात्म, अद्वैत बुद्धि सचमुच धर्म की अद्भुत और अति उपयोगी देन है । बढ़ती हुई समाज निर्भरता का सन्तुलन इसी मान्यता के साथ बैठता है । बढ़ी हुई जनसंख्या, वैज्ञानिक उपलब्धियों ने संचार और द्रुतगामी वाहनों के जो साधन प्रस्तुत किये हैं उन्होंने सुविस्तृत क्षेत्र में फैली हुई दुनिया का फैलाव सिकोड़कर रख दिया है । अब कुछ घण्टों में ही धरती के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँचा जा सकता है । कोई देश अपने पड़ोसियों के कारण ही नहीं, दूर देशों की आन्तरिक परिस्थितियों के कारण भी प्रभावित होता है । व्यक्ति की प्रगति और अवगति अब उसके निजी पुरुषार्थ पर निर्भर नहीं वरन् सामाजिक परिस्थितियाँ उसे बनने, बदलने के लिए विवश करती हैं । व्यक्ति की सत्ता समाज की मुट्ठी में केन्द्रित होती चली जा रही है । व्यक्ति पूरी तरह समाज यंत्र का पुर्जा मात्र बन गया है । इन परिस्थितियों में यदि व्यक्ति को समाजनिष्ठ बनने के लिए कहा जाय, उसे अपनी प्रगति, अवगति को समाज के उत्थान-पतन के रूप में जोड़ने के लिए कहा जाय तो यह सर्वथा उचित और सामयिक है ।

जो परिस्थितियाँ आज अनिवार्य हो गई हैं, कुछ समय पहले ही उनकी सम्भावना दूरदर्शियों ने भाँप ली थी और धर्म एवं अध्यात्म को अधिकाधिक समाजनिष्ठ बनाना आरम्भ कर दिया गया है । अहंकार को, स्वार्थ को, परिग्रह को, तृष्णा-वासना को, त्यागने के लिए कहने का तात्पर्य व्यक्तिवाद की कड़ी पकड़ से अपनी चेतना को मुक्त करना ही हो सकता है । सेवा, परोपकार, जन-कल्याण, दान-पुण्य, त्याग-बलिदान के आदर्श मनुष्य को समाजनिष्ठ बनाने के लिए विनिर्मित हुए हैं । व्यक्तिवाद को झीना करने और समाजवाद को परिपुष्ट करने के लिए सुविकसित अध्यात्म एक अच्छी पृष्ठभूमि तैयार करता है । उसमें संयम की, तप की, तितीक्षा की, पवित्रता की, मितव्ययता की, शालीनता की, सज्जनता की, सन्तोष और शान्ति की वे धाराएँ सम्मिलित की गई हैं, जो मनुष्य को अपने लिए अपनी शक्तियों का न्यूनतम भाग खर्च करने की प्रेरणा देती हैं और तन-मन, धन का जो भाग इस नीति को अपनाने के कारण बच रहता है उसे जन-कल्याण में खर्च करने की ओर धकेलती हैं ।

ईश्वर का स्वरूप भी अब भयंकर, वरदाता, नीति-निर्देशक की क्रमिक भूमिका से आगे बढ़ते-बढ़ते इस स्थिति पर आ पहुँचा है कि हम विराट् ब्रह्म के, विश्व दर्शन के रूप में उसकी झाँकी कर सकें और श्रद्धा-विश्वास जैसे उत्कृष्ट चिन्तन को भवानी शंकर की उपमा दे सकें । अग्निहोत्र की व्याख्या यदि जीवनयज्ञ के, सर्वमेध के साथ जोड़ी जाने लगी है, तो यह अत्यन्त ही सामयिक परिभाषा का प्रस्तुतीकरण है । क्रिया-काण्ड को यदि भावपरिष्कार का प्रतीक-संकेत कहा जाय तो वस्तुतः यह प्राचीन ईश्वर की परिष्कृत चेतना भी कहा जायेगा । अब प्रसाद खाकर या प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होने वाले ईश्वर का रूप बदल रहा है । प्रतिमाओं का दर्शन करने, नदी, तालाबों में नहाने, मन्त्रों के जपोच्चार से, चित्र-विचित्र कर्मकाण्डों से अब ईश्वर के प्रसन्न होने की बात पर केवल बहुत पिछड़े लोग ही विश्वास करते हैं । विचारशील वर्ग का ईश्वर उत्कृष्ट चिन्तन और आदर्श कर्तृत्व के साथ एकाकार हो गया है और उसकी पूजा श्रेष्ठ व्यक्तित्व एवं समाज के लिए प्रस्तुत किए गए अनुकरणीय अनुदानों के रूप में ही मानी जानी जा रही है । यह ईश्वर का मनुष्य जाति के साथ-साथ प्रगति पथ पर बढ़ता हुआ साहसिक चरण है ।

आदिम ईश्वर सर्वतन्त्र स्वतन्त्र था, जिस पर प्रसन्न हो उसे लाभ देना और जिस पर अप्रसन्न हो उसे हानि पहुँचाना ही उसका काम था । मनुष्यों से वह भेंट, पूजा और स्तवन की आकांक्षा करता था । पुरोहित वर्ग उसका ऐजेन्ट था । उन्हें प्रसन्न करना ही प्रकारान्तर से ईश्वर को प्रसन्न करना था । यह स्थिति जब विकसित हुई, तो नीति पालन और परोपकार को ईश्वर की प्रसन्नता का आधार

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

समझा गया । अब का ईश्वर एक नियम है । उसने समस्त जड़-चेतन को संसम्बद्ध नियन्त्रण में जकड़ा है-यहाँ तक कि अपने को भी कायदे-कानून के बन्धनों में बाँध लिया है । आधुनिक ईश्वर को पूजा मात्र से नहीं सद्भावसम्पन्न और सत्कर्मपरायण व्यक्तित्व के आधार पर ही प्रभावित किया जा सकता है । कुछ समय पूर्व ईश्वर सर्वशक्तिमान था और उसे प्रसन्न करने के लिए धर्म विधान था । अब इस द्वैत को अद्वैत के रूप में परिणत किया जा रहा है । ईश्वर की झाँकी स्थूल शरीर में सत्कर्म के रूप में और मन में सद्भावों के रूप में की जाने लगी है । परिष्कृत व्यक्तित्वों की गणना दैवी अथवा अवतार के रूप में की जाने लगी है । यह शुभ चिह्न है ।

धर्म और ईश्वर जिस क्रम से विकास पथ पर चल रहे हैं, उसे देखते हुए अगले दिनों नास्तिक और आस्तिक का झगड़ा दूर हो जायेगा । धर्म और विज्ञान के बीच जो विवाद था, उसका हल निकल आवेगा । साम्प्रदायिक विद्वेष की भी गुंजायश न रहेगी । पिछले और पिछड़े सम्प्रदाय अपने-अपने ईश्वरों के अलग-अलग आदेशों को पृथक् प्रथा-परम्पराओं के रूप में मानते थे और मतभेद रखने वालों को तलवार के घाट उतारते थे । अब वैसी गुंजायश नहीं रहेगी । सद्भावना एवं सज्जनता की परिभाषाएँ यों अभी भी कई तरह की जाती हैं, पर उनमें इतना अधिक मतभेद नहीं है, जिनका समन्वय न किया जा सके ।

दुनिया अब एक धर्म, एक आचार, एक संस्कृति, एक राष्ट्र, एक भाषा के आधारों को अपनाकर एकता की ओर चल रही है । ऐसी दशा में एक सर्वमान्य ईश्वर और उसका एक सर्वसमर्थित पूजा-विधान भी होना ही चाहिए । अब इस दिशा में आशाजनक स्थिति उत्पन्न होने जा रही है । लगता है धर्म और ईश्वर अब एक हो जायेंगे । पिछले दिनों ईश्वर अलग था और धर्म उसे प्रसन्न करने की प्रक्रिया थी । अब दोनों मिलकर एक हो जायेंगे । धार्मिक ही ईश्वरभक्त माना जायेगा और ईश्वरभक्त को धार्मिक बनना पड़ेगा । दूसरे शब्दों में इसे अद्वैत सिद्धि कह सकते हैं । अनेकता और बहुरूपता के कारण जो मतिभ्रम और विद्वेष उत्पन्न होता है, वह जब संसार के विविध क्षेत्रों में से मिटाया जा रहा है तो फिर ईश्वर और धर्म का क्षेत्र भी क्यों अछूता रहेगा । धर्म और कर्म का मर्म समझने वाले ब्रह्मपरायण व्यक्ति ईश्वर को निर्विवाद स्थिति तक पहुँचाकर ही रहेंगे ।

धर्म और ईश्वरनिष्ठा की महान आवश्यकता

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । सामाजिक होने का अर्थ इतना ही नहीं कि उसे समाज में रहने का अभ्यास है । सामाजिकता की परिभाषा इससे भी विशद् है । सामान्य जीवनक्रम में उसे बहुतों के सहयोग की अपेक्षा होती है । कितनों का उत्तरदायित्व भी उसे निभाना पड़ता है । परिवार, कुटुम्ब, जाति, देश और सम्पूर्ण जगत से जीवन-रस, ज्ञान और विविध साधन लेकर वह अनेक प्रकार के सुखोपभोग प्राप्त करता है । मनुष्य की सामाजिकता का अर्थ है कि उसे जिन-जिन से उपकार मिला है, वह उनके प्रति उपेक्षा या उदासीनता की वृत्ति न रखे । स्वार्थ के साथ परमार्थ का भी पूरा ध्यान रहे ।

अपने शरीर के सीमित दायरे में बहुत सारे सुखों को उपलब्ध कर लेना बड़ी आसान बात है । मनुष्य जैसी अपार क्षमता वाले प्राणी के लिए यह कोई बड़प्पन की बात नहीं है कि अपनी तृष्णा, अपनी वासना की पूर्ति में लगा रहे । नीचे आने का क्रम बड़ा आसान है, पानी को नीचे बहाना हो तो यह कोई कठिन कार्य नहीं, ऊँचे से नीचे उतरने के लिए कोई भी फिसल सकता है, पर यदि ऊँचे उठकर कुछ श्रेष्ठतर कार्य करने हों तो बड़े साहस और बड़ी कर्त्तव्यनिष्ठा की आवश्यकता होगी । मनुष्य की स्वार्थपरता इसके लिए पर्याप्त न होगी, उसे परमार्थ का भी उतना ध्यान रखना पड़ेगा । समाज की सुख-शान्ति और समुन्नति इन कर्त्तव्यों का समुचित पालन करने से ही हो सकती है । स्वार्थ और परमार्थ में समन्वय और सन्तुलन रखे बिना मनुष्य सामाजिक प्राणी होने की कसौटी पर खरा सिद्ध नहीं होता ।

ऋषियों ने मनुष्य-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र का बड़ी गहराई तक अध्ययन किया उससे सम्बन्धित अनेकों तात्विक, मनोवैज्ञानिक, सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक तथ्यों की खोज की । उन्होंने मनुष्य को दो रूपों में विभक्त किया । एक उसका सांसारिक रूप था और दूसरा आध्यात्मिक । यहीं से धर्म का प्रादुर्भाव हुआ । पूर्वज इस बात को समझते थे कि मनुष्य की आत्मा अनेक जन्मों के कुसंस्कारों का मलावरण और अज्ञान अपने आप में चढ़ाये हुए होती है और वह इस मनुष्य रूप में प्रकट होने पर सांसारिकता में बड़ी जल्दी ग्रास हो जाता है और चौरासी लाख योनियों वाले जीवों की तरह के कार्यों में ही इससे काम लेने लग जाता है । भोगों की अतृप्त आकांक्षा उसे बार-बार उधर घसीटती है ।

इन दिनों निजी स्वार्थ बहुत बढ़ गये हैं, उनमें कोई किसी प्रकार की कमी नहीं करना चाहता । कहने को कुछ लोग जप-तप, दान-दक्षिणा, तीर्थ-व्रत आदि भी करते हैं, किन्तु आज यह सब उन स्वार्थपूर्ण प्रवृत्तियों पर पर्दा डालने वाली प्रवंचना मात्र बनकर रह गई । उससे मानव-जीवन में जो सत्कर्मों, दया, क्षमा, उदारता, सेवा, सहिष्णुता का विकास होना था, वह जरा भी नहीं हो पाता, वरन् इससे सामाजिक स्थिति और भी खराब, भ्रमपूर्ण और कष्टदायक हो जाती है ।

इन बुराइयों से मनुष्य को सावधान रखने और मनुष्य के जीवन जैसी सर्वथा दुर्लभ वस्तु का सदुपयोग करने के लिए ऋषियों ने मनुष्य जीवन के आध्यात्मिक पहलू का बड़ी तत्परता के साथ पूर्ण वैज्ञानिक पद्धति से विकास किया । धर्म की मान्यताएँ काल्पनिक नहीं हैं, उनके पीछे

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

पूर्वजनों के कठिन परिश्रम, गहन शोधों के सत्परिणाम संयुक्त हैं । इसीलिये वे इतनी सुन्दर बन गई हैं कि उनसे एक व्यक्ति का भी भला होता है और सामाजिक वातावरण भी स्वर्गीय बनता है ।

भारतवर्ष में किसी जमाने में आध्यात्मिकता का बहुत अधिक विकास हुआ था । इतिहास साक्षी है कि उस समय यहाँ के लोग कितने सुखी, सम्पन्न और समुन्नत थे । यहाँ किसी बात का अभाव न था । यहाँ का समाज देव-समाज कहलाता था । दुष्प्रवृत्तियों का कहीं नामो-निशान तक न था । यही कारण था कि यह देश स्वर्ग की-सी गरिमाओं से विभूषित था और जीवनमुक्त आत्माएँ भी यहाँ बार-बार लौट-लौटकर जीवन धारण करने के लिए आतुर रहा करती थीं ।

धर्म मनुष्य समाज को सुव्यवस्थित, सुनियन्त्रित एवं सुविकसित रखने में सर्वप्रथम और शक्तिशाली सिद्ध हुआ है, पर खेद है कि आज उसे वह प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं, जो होनी चाहिए थी । समाज यद्यपि इसका दोषी नहीं है । कुछ अर्थों में तो वह इसके लिए प्रशंसा का पात्र ही समझा जाना चाहिए कि उसने अपने विवेक के द्वारा आज के तथाकथित मिथ्यावादी धर्म का भंडाफोड़ किया और उसमें उच्छृंखल तत्त्वों की दाल न गलने दी, किन्तु अपने सच्चे और स्वाभाविक रूप में धर्म और अध्यात्म ही ऐसा है जो मनुष्य समाज की प्रत्येक गुत्थी को सुधार सकता है । धर्म मनुष्य को सुसंस्कृत और सुसंस्कारित बनाने वाली सर्वांगपूर्ण प्रक्रिया का नाम है । उसे धारण करने से ही मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन भी सार्थक होना सम्भव है ।

स्मृतियों में धर्म के जो लक्षण बताये गये हैं उनमें त्याग, क्षमा, दया, समता, सेवा, परोपकार को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है । यह गुण जहाँ व्यक्तिगत जीवन में शान्ति और सन्तोष प्रदान करने वाले हैं, वहाँ इनका आचरण भी समाज में ही हो सकता है, फलस्वरूप सामाजिक जीवन में भी वैसे ही सत्परिणामों का दिखलाई देना स्वाभाविक है ।

मनुष्य के भौतिकवादी दृष्टिकोण पर नियंत्रण रखने के लिए आध्यात्मिक तत्त्व बड़े आवश्यक हैं । शरीर को ही सर्वप्रमुख वस्तु समझने की भूल ने मनुष्य को बड़ा धोखा दिया है । अपने मूल कलेवर आत्मा का वेधन और ज्ञान किये बिना मनुष्य की स्वार्थपूर्ण प्रवृत्तियाँ कम नहीं होतीं, पर जब उसे यह मालूम पड़ता है कि मनुष्य एक विज्ञान है और वह विश्वव्यापी प्राणतत्त्व व परमात्मा से निर्गत हुआ अत्यन्त अल्पक्षमता वाला प्राणी है, तो उसका सारा अहंभाव नष्ट हो जाता है । विराट् जगत की कल्पना या ईश्वर के अस्तित्व को मान लेने के बाद दूसरों को सताने या छल-कपट-द्वेष, पाखण्ड दम्भ और दुराचार का व्यवहार करने में प्रायः हर किसी को भय लगता है । यह भय ईश्वर का भय है । यही सामाजिक दुष्प्रवृत्तियों से हर क्षण, हर घड़ी सजग रखता है । ऐसी व्यवस्था न तो कानून में है, न किन्हीं स्थानीय प्रतिबन्धों में । जब तक मनुष्य कण-कण में विद्यमान आत्म-तत्त्व के भाव को हृदयंगम न कर लेगा कानूनी व्यवस्थाएँ चाहे कितनी ही कठोर क्यों न कर दी जायें, बुराइयाँ कभी कम नहीं हो सकतीं । ऐसे अवसर बराबर आते हैं, जब मनुष्य कानून की पकड़ से बच सकता है या उसे धोखा दे सकता है । जब तक दण्ड से बच निकलने का विश्वास बना रहेगा, तब तक कोई भी व्यक्ति पाप या दुराचरण से न डरेगा । उजागर न सही छिपे तौर पर तो बुराइयाँ वह करेगा ही । रिश्वत लेगा, मिलावट करेगा, कम तौलेगा और भी तरह-तरह के कपटपूर्ण कार्य करेगा, फलस्वरूप सामाजिक व्यवस्था में गड़बड़ी भी अवश्य ही फैलेगी ।

आस्तिकता मनुष्य के आत्मभाव को विकसित कर उसे सबकी कुशलता में अपनी कुशलता अनुभव करने की प्रेरणा देती है । स्पष्ट है कि ऐसी अवस्था में कोई व्यक्ति किसी के साथ प्रकट या अप्रकट कोई अभद्र व्यवहार न करेगा । यह बात सब के अन्दर आ जाय तो निस्सन्देह मनुष्य समाज का स्तर बहुत ऊँचा उठ जाय ।

ईश्वर का विश्वास करने और आत्मा की सर्वज्ञता अनुभव करने के अनेक आधार हैं, अतः इसे व्यवस्था से सहायक केवल मनोवैज्ञानिक उपचार मात्र नहीं कहा जा सकता । यह संसार कर्त्ता और कर्म के अडिग सिद्धान्त पर टिका हुआ है । प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई जन्मदाता भी अवश्य है । फिर इस विराट् जगत का भी तो नियन्ता होना चाहिए अन्यथा इतने सूक्ष्म गणित के सिद्धान्त पर फैली हुई सांसारिक व्यवस्था न मालूम कब की अस्त-व्यस्त हो गई होती । जहाँ मनुष्य की बुद्धि नहीं पहुँच पाती, जहाँ उसकी कोई योजना कार्य नहीं कर सकती वहाँ भी प्रकाश है, वहाँ भी गतिविधियाँ जारी हैं, यह सब किसी प्रकार नियंत्रित होनी चाहिए और यह भी स्पष्ट है कि इस कार्य को कोई भगवान् जितना शक्तिशाली तत्त्व ही पूरा करता होगा । हिन्दू धर्मग्रन्थों में से इस सम्बन्ध में जो व्यापक अनुसन्धान हुआ है, वह सम्पूर्ण विश्व के लिये कल्याण का साधन है ।

धर्म हमें अन्तिम सत्य तक ले पहुँचता है

धर्म किन्हीं विशेष अभिरुचि के या फालतू समय वालों के मन बहलाव का माध्यम है अथवा उसका कोई सार्वजनिक उपयोग भी है । इस प्रश्न के उत्तर में हमें धर्म का स्वरूप और उद्देश्य समझने का प्रयत्न करना होगा और यह जानना होगा कि क्या तथाकथित धर्माध्यक्षों द्वारा अपने-अपने ढंग से किया गया बहुमुखी प्रतिपादन ही धर्म है अथवा उसके पीछे व्यक्ति और समाज की उपयोगी मार्गदर्शन की तथ्यपूर्ण क्षमता भी है ?

सर जूलियन हेस्कले ने अपने ग्रन्थ 'रिलीजन विदाउट रिविलेशन' में धर्म-सम्प्रदायों के सम्मिलित सत्य और असत्य की समीक्षा करते हुए लिखा है, सत्य, ज्ञान और

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

सौन्दर्य के अभिव्यक्तित्वों से जो धर्म जितना पिछड़ा हुआ है, उसे उतना ही झूठा और नीचा समझा जाना चाहिए । सालोमन रीनाइक की यह उक्ति एक खीज भर है, जिसमें उन्होंने धर्म पर 'मानवी क्षमताओं पर रोक लगाने'' का आक्षेप किया है । वस्तुतः वैसा है नहीं । धर्म की मूल आत्मा न्याय, कर्त्तव्य एवं औचित्य का समर्थन करती है । प्रथा-परम्पराएँ तो धर्म के आवरण मात्र हैं, जिन्हें समय-समय पर बदले जाने की आवश्यकता पड़ती है ।

देश-भक्ति ही सब कुछ नहीं है । विश्व-भक्ति उससे भी ऊपर है । समाज का कितना ही महत्त्व क्यों न हो, बहुमत की मान्यताओं के समर्थन में कुछ भी क्यों न कहा जाता रहे, अन्ततः विवेक ही सबसे ऊपर है । उसे देश भक्ति से भी ऊँचा स्थान मिलना चाहिए । बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय के आधार पर विधान कुछ भी क्यों न बनते रहें, उच्च आदर्शों का स्थान सबसे ऊँचा है, भले ही उनके समर्थन में नीतिनिष्ठ व्यक्तियों की थोड़ी-सी ही संख्या क्यों न हो ?

धर्म दुधारी तलवार है । यदि वह अपरिपक्व दर्शन और संकीर्ण साम्प्रदायिकता का समर्थन भर करता है तो वह हानिकारक है, किन्तु यदि उसमें नीतिनिष्ठा का समुचित समावेश है, तो उसके द्वारा मनुष्य और समाज का हितसाधन ही होगा ।

विज्ञान और धर्म के शोध विषय पृथक् हैं । एक पदार्थ की गहराई को खोजता है, दूसरा चेतना के मर्मस्थल को । इतने पर भी दोनों का मूल प्रयोजन एक है-सत्य की शोध । इसके लिए आवश्यक है कि मस्तिष्क को किन्हीं पूर्वाग्रहों से जकड़ कर न रखा जाय । पिछले लोग क्या सोचते ? क्या कहते और क्या करते रहे हैं ? इसकी जानकारी उत्तम है, उसके सहारे तथ्यों तक पहुँचना सरल पड़ता है, पर यह मानकर नहीं चला जा सकता कि जो जाना या माना गया है, उसमें संशोधन या सुधार की गुंजायश नहीं है । तथ्यों को स्वीकार करने की शोध दृष्टि में यह साहस रहता है कि यदि प्रचलित स्वीकृतियों से, भिन्न प्रकार के तथ्य सामने आते हैं, तो उनके स्वीकार करने में इसलिए असमंजस न करना पड़ेगा कि अब तक के चिन्तन को झुठलाना पड़ेगा ।

तर्कहीन मनःस्थिति का नाम धार्मिकता नहीं है । आँखें बन्द करके किसी के भी वचन को गले नहीं उतारना चाहिए । अपने लोग कहते हैं या पराये-बात संस्कृत या अरबी भाषा में कही गई है अथवा बोलचाल की भाषा में, इससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं । स्वीकार करने योग्य वही है, जिनमें तथ्य जुड़े हुए हों और जिसे विवेक की कसौटी पर खरा सिद्ध किया जा सके । बिना खोज-परख के जो धर्म के नाम पर किसी भी मान्यता या प्रथा को स्वीकार कर ले, वह स्वस्थ दृष्टि नहीं है । धार्मिक मन सत्य का उपासक होता है उसे औचित्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहिए । भले ही इसके लिए उन्हें पूर्वजों की अथवा उपदेशकों, ग्रन्थों अथवा साथियों की ही अवहेलना क्यों न करनी पड़े ।

सत्य का दर्शन

एक अनादि शक्ति का, जिसे हम अपनी भाषा में ब्रह्म, सृष्टिकर्त्ता, परमात्मा आदि विविध नामों से जानते हैं प्रकाश, उसकी प्रेरणा ही जगत को सब ओर से प्रकाशित किए हुए है । उसी से इस जगत और यहाँ के पदार्थों को, हमारे ज्ञान-क्षेत्र, कार्य-क्षेत्र, सौन्दर्य को स्फुरण मिल रहा है । वही अपने समग्र रूप में सर्वत्र ही अवतीर्ण होता रहता सत्य रूप में प्रतिष्ठित है । जगत और इसके प्रेरक तत्त्व को जब हम एक करके देखते हैं तभी हमारे ध्यान की प्रक्रिया पूर्ण होती है । हमारे ध्यान-मन्त्र में ''ॐ भूर्भुवः स्वः'' के उच्चारण से ही सृष्टि का बोध होने लगता है और अखिल ब्रह्मांड के बीच जब उन्हें ही अपनी चेतना को, सूर्य, पृथ्वी, चन्द्रमा, तारागण आदि को प्रकाशित करते देखते हैं, तभी हम सत्य का दर्शन करते हैं ।

जगत और अध्यात्म का जहाँ परिपूर्ण सामंजस्य होता है, वहीं सत्य की परिभाषा पूर्ण होती है और यह सत्य जब हमारी जीवनयात्रा का आधार होता है, तभी हम जगत और उसकी प्रेरक शक्ति का परिचय प्राप्त कर कृतार्थ होते हैं । इसीलिए सत्य ही जीवन का सहज दर्शन है । महात्मा गाँधी के शब्दों में ''सत्य हमारे जीवन का नियम है ।'' महर्षि व्यास ने सत्य को ही सर्वोपरि धर्म बतलाया है । ''सत्य तत्त्व को जानकर ही ऋषिगण देवयान मार्ग से परमात्मा तक पहुँचते हैं ।'' महात्मा गाँधी ने तो यहाँ तक कह दिया कि ''सृष्टि में सत्य की ही एकमात्र सत्ता है । सत्य के ऊपर कोई ईश्वर नहीं, सत्य स्वयं ही ईश्वर की अभिव्यक्ति है ।''

सत्यदर्शी विश्वामित्र ने सत्य की महिमा का बखान करते हुए कहा है-

सत्येनार्कः प्रतपति सत्ये तिष्ठति मेदिनी ।
सत्यं चोक्तं परो धर्मः स्वर्गः सत्ये प्रतिष्ठितः ।।

''सत्य से ही सूर्य तप रहा है, सत्य पर ही पृथ्वी टिकी हुई है । सत्य सबसे बड़ा धर्म है । सत्य पर ही स्वर्ग प्रतिष्ठित है ।'' एक अन्य शास्त्रकार ने भी इसी तथ्य को प्रतिपादित करते हुए कहा है-

सत्येन धार्यते पृथ्वी, सत्येन तपते रविः ।
सत्येन वाति वायुश्च, सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ।।

सत्य से ही पृथ्वी स्थिर है, सत्य से सूर्य तपता है, सत्य से ही वायु बहती है । सब सत्य में ही स्थिर है ।

स्मरण रहे अध्यात्ममय जगत ही सत्य का आधार है । पूर्व और पश्चिम जैसे एक ही अखण्ड क्षितिज में स्थित है, ठीक इसी तरह जगत और अध्यात्म दृश्य और अदृश्य सत्ता एक ही सत्य के दो पहलू हैं । इनमें से एक का भी परिहार करने पर हम सत्य के समक्ष अपराधी होते हैं ।

जब हम जगत की समस्त घटनाओं को केवल बाह्य घटनाएँ समझते हैं, तो उनसे हमें कोई आनन्द नहीं मिलता। वे घटनाएँ और हमारा जीवन केवल एक रूखी

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

मशीनी प्रक्रिया मात्र बनकर रह जाता है । जिस तरह पटरी पर रेल, सड़क पर मोटर, शिलाखण्डों पर नदी की धारा बहती है, उसी तरह हमारे मन-पाषाण पर जगत की धारा बहती रहती है । चित्त पर उसका कोई प्रभाव नहीं होता । सब कुछ निर्जीव नीरस अरुचिकर व्यापार-सा लगता है और तब हम कृत्रिम उपायों, व्यसनों द्वारा नाना वृथा कर्मों द्वारा आमोद-प्रमोद प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, लेकिन फिर भी हमारी जीवनयात्रा एक बोझा-सी मालूम पड़ती है ।

जब हम केवल जगत को, यहाँ की घटनाओं को ही देखते हैं तो हमें जीवन में कोई रस नहीं मिलता, न उत्साह स्फूर्तिमय प्रेरणा ही । कुछ समय तक तो ये हमारे मन, इन्द्रियों को लुभाये रहते हैं किन्तु शीघ्र ही इनसे विरक्ति होने लगती है और फिर अपने स्वभाव के अनुसार अन्य पदार्थों में जीवन-रस ढूँढ़ते हैं और एक समय वहाँ से भी हमें हटना पड़ता है । गरज यह है कि हम वस्तु से वस्तु, पदार्थ से पदार्थ, घटना से घटनाओं में चक्कर लगाते रहते हैं, लेकिन इन सबसे हमारी चेतना को कहीं स्फुरणता प्राप्त नहीं होती ।

हमारी पदार्थवादी जगत प्रधान दृष्टि के कारण सूर्य के उगने में, नदी के कल-कल बहने में, पक्षियों के गुंजन में, वृक्षों के फलने-फूलने में भी कोई विशेष प्रेरणा नहीं मिलती और हम यत्र-तत्र भटकते रहते हैं । प्रतिदिन कहीं कुछ सहारा पाने को जहाँ हमारी चेतना को, स्फुरण मन को आनन्द की प्रेरणा प्राप्त हो सके, लेकिन असत्य की छाया में सुख-शान्ति कहाँ ? उल्टे ये सब हमारे लिए दुःखप्रद, कष्टदायी, क्लेशपूर्ण ही सिद्ध होते हैं ।

इसी तरह ही हमारा अभ्यास कुछ ऐसा हो गया है कि अध्यात्म को भी हम एकांगी दृष्टि से देखते हैं । जगत की सीढ़ियाँ जिन पर चढ़कर सत्य दर्शन की यात्रा पूरी करते हैं, उनकी ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता और बिना सीढ़ी के छत पर पहुँचना सम्भव नहीं होता, ठीक उसी तरह जगत को भुलाकर हमारे सत्य दर्शन के प्रयास व्यर्थ सिद्ध होते हैं । जगत के साथ रहने में ही अध्यात्म की भी सार्थकता है, अन्यथा वह एक कपोल-कल्पना, मूढ़ विश्वास मात्र बनकर रह जाता है ।

इस तरह असत्य का आचरण जिसके अन्तर्गत हम जगत और अध्यात्म को अलग-अलग करके देखते हैं, हमारे पतन का, हमारी असफलता का कारण बनता है । जगत को, वस्तु पदार्थ के सृष्टिकर्त्ता को जब हम भिन्न-भिन्न, खण्ड-खण्ड करके देखते हैं तो सत्य से दूर होते हैं ।

सत्य की साधना के लिए, सत्य का दर्शन करने के लिए, हमें जगत और अध्यात्म को, सृष्टि और सृष्टिकर्त्ता को, वस्तु, पदार्थ और इनको प्रकाशित करने वाली विश्व-चेतना को समग्र रूप से जानना, समझना और देखना पड़ेगा एवं इसे ही अपने चिन्तन का आधार बनाना पड़ेगा ।

जब हम इस सत्य को आत्मसात् कर लेंगे तो हमारी चेतना परितृप्त हो जायेगी, क्योंकि "सत्य चिर-नवीन है, उसका रस अक्षय है ।" जगत के बीच, वस्तु पदार्थ, समस्त घटनावली के मध्य जब हम सृष्टिकर्त्ता के अन्तर्गत स्वरूप का दर्शन करने लगते हैं, तभी हमारी दृष्टि सार्थक होती है । फिर हमारा जीवन और समस्त जगत ही आनन्दविस्मय, महत्त्व और सार्थकता से परिपूर्ण हो जाता है, तब हमें नदी के बहने में, पक्षियों के गुंजन में, वृक्ष-लताओं के फलने-फूलने में, मेघों के गर्जन-तर्जन में, समुद्र की उत्ताल तरंगों में, आनन्द सरसता, सौन्दर्य, 'आह्लाद' का मधुर संगीत सुनाई पड़ने लगता है ।

जीवन के परम सत्य का दर्शन होने पर जब हम विश्व व्यापार, समस्त घटनापुंज के मध्य जो मूल शक्ति है, उसका दर्शन करते हैं तो जगत आवरण न रहकर उसी सत्य की किरणों के रूप में जो प्रति मुहूर्त उनसे विकीर्ण होती रहती हैं जान पड़ता है और तब यह बन्धन न रहकर हमारे आनन्द का साधन बन जाता है ।

जगत और उसको प्रकाशित करने वाली सत्ता का समग्र-दर्शन ही हमारे ध्यान चिन्तन का आधार होना चाहिए । घटना-पदार्थों के मध्य भी अनन्त सत्य का दर्शन हमारे जीवन का ध्येय, हमारी साधना का लक्ष्य हो ।

धर्म से स्वर्ग प्राप्ति

पूर्व मीमांसा में भगवान् जैमिनी मुनि ने धर्म का लक्षण निम्न प्रकार किया है-

चोदना लक्षणो धर्मः ।।

पू० मी० १.१.२

'धर्म का लक्षण प्रेरणा है ।' अर्थात् अपनी अवस्था उच्चतर करने के लिए जो आन्तरिक स्फूर्ति होती है, वह प्रेरणा है । जब यह प्रेरणा मन में उत्पन्न हो जाती है, तब मनुष्य कर्म के लिए प्रवृत्त होता है, पश्चात् कर्म करता है और अपनी उन्नति की सिद्धि प्राप्त करता है । यह सब जिस प्रेरणा से होता है, वह धर्म की प्रेरणा है । अपनी स्थिति सुधारने का पुरुषार्थ करने की ओर प्रबल प्रवृत्ति होना ही धार्मिक प्रवृत्ति का लक्षण है ।

धार्मिक वाङ्मय में 'स्वर्ग और नरक' इन दो कल्पनाओं से मनुष्य की दो अवस्थाएँ बतायी हैं । साधारण लोग समझते हैं कि स्वर्ग ऊपर है, नरक नीचे और हम बीच में हैं । अर्थात् तीन मंजिल का यह मकान है, बीच की मंजिल पर भूलोक है, ऊपर का मंजिल स्वर्गलोक है और निचला मंजिल नरक है, परन्तु यह वास्तविक कल्पना नहीं है । स्वर्ग और नरक की वास्तविक कल्पना होने से ही धर्म की वास्तविक बात जानी जा सकती है ।

'नर' शब्द मनुष्यवाचक है और उसको अल्पार्थक 'क' प्रत्यय लगकर 'नर-क' शब्द हुआ है, इसका मूल अर्थ 'अल्पमनुष्य, छोटा आदमी, नीच मानव' है । इसके पर्याय शब्द ये हैं-

नारकस्तु नरको निरयो दुर्गति ।।

अमर० १.१.१

नारक, नरक, निरय, दुर्गति ये चार शब्द नरकवाचक हैं । इन शब्दों में 'दुर्गति' शब्द दुष्ट अवस्था का वाचक स्पष्ट है । 'निरय' शब्द भी नीच अवस्था का द्योतक है । 'नरक' शब्द का अर्थ 'नीच मनुष्य' ऊपर दिया ही है । इसी प्रकार 'नार-क' शब्द का अर्थ 'नीच मनुष्य समाज' है, क्योंकि (नराणां समूहो नारं) मनुष्य संघ का ही नाम 'नार' है । नरकवाचक ये शब्द मनुष्य की पतित अवस्था ही बता रहे हैं । मनुष्य की दुर्गति, हीन अवस्था, पतित

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

अवस्था, नीच स्थिति, सामाजिक अधोगति, राष्ट्रीय कष्टमय अवस्था आदि भाव 'नरक' शब्द में है । तात्पर्य पृथ्वी की निचली मंजिल का नाम नरक नहीं है और भूमि के नीचे कोई मंजिल है भी नहीं, परन्तु मनुष्यों की पतित अवस्था का नाम ही नरक है, जिस अवस्था में रहने से मनुष्य हीन समझा जाता है, वह अवस्था नरक शब्द बता रहा है । धर्म का प्रेरणा लक्षण होने से धर्म मनुष्य को ऐसी उच्च प्रेरणा करता है कि मनुष्य का पतन न हो और मनुष्य एक नरक की दुर्गति में न गिरे । धर्म का यही कार्य है कि वह मनुष्य के सामने उच्च आदर्श सदा रखे और कभी उसको गिरने न दे ।

उक्त प्रकार के नरक-की ठीक कल्पना हो गई, तो स्वर्ग की कल्पना होने में देरी नहीं लगेगी । ब्राह्मण ग्रन्थों में इसका निवर्चन निम्न प्रकार आता है-

स्व:, स्वर्, सु-वर्, सुवर्ग । (ब्राह्मण निर्वचन) अर्थात् (सु-वर्ग) उत्तम वर्ग ही स्वर्गलोक है । वर्ग शब्द समाजवाचक किंवा संघवाचक है । उत्तम झुण्ड, उत्तम संघ, श्रेष्ठ समाज, उच्च समाज आदि भाव 'सु-वर्ग' शब्द बता रहा है । 'सु-वर' शब्द 'उत्तम उच्च अवस्था' का आशय व्यक्त करता है । 'स्व-र' शब्द 'अपना प्रकाश' अथवा अपना प्रभाव बता रहा है और वही भाव अर्थात् वही आत्मत्व का भाव 'स्व:' शब्द में है । इसका तात्पर्य यह है कि 'अपने उच्च प्रभाव का अनुभव' स्वर्ग में है और अपनी हीन अवस्था की दुर्गति, नरक अवस्था में है । एक अवस्था मानवी श्रेष्ठता की है और दूसरी अधोगति की । अर्थात् ये दो नाम दो अवस्थाओं के हैं, न कि अन्य स्थानान्तर के । 'नाक' शब्द स्वर्गवाची है, उसका अर्थ (न+अ+क) नहीं है । दु:ख जिस अवस्था में, वह अवस्था स्वर्ग है । दु:खहीन अवस्था किंवा सुखमय अवस्था का नाम स्वर्ग है । सच्चा सुख अपनी उच्च अवस्था में ही होता है । अस्तु इस प्रकार स्वर्ग की मूल कल्पना है ।

धर्म प्रेरणा करके मनुष्य में ऐसा पुरुषार्थ करने की इच्छा उत्पन्न करता है कि जिससे वह मनुष्य उच्च और श्रेष्ठ बनता चला जाता है और पतित नहीं होता । इस प्रकार धर्म से स्वर्ग की प्राप्ति होती है और धर्म का पालन न करने से पतित अवस्था का नरक भोगना पड़ता है ।

युगधर्म के निर्वाह में ही समझदारी

उत्सव, आयोजनों, निर्माणों, दुर्घटनाओं, प्रकृति-प्रकोपों जैसे अवसरों पर सम्बन्धित व्यक्ति ही नहीं, अन्य भावशील भी उन कार्यों में सहयोगी बनने के लिए अनायास ही दौड़ पड़ते हैं । इसके लिए निमंत्रण देने, बुलाने के लिए नहीं जाना पड़ता । दर्शकों तक की क्रियाशीलता उभर पड़ती है और वे अपने योग्य काम तलाश कर स्वयं ही कुछ न कुछ करने लगते हैं । मेलों में जब सर्वत्र हलचलें दीख पड़ती हैं तो वहाँ जा पहुँचने वाले भी चुपचाप बैठे नहीं रहते, वरन् कहाँ क्या हो रहा है यह देखने के लिए चल तो पड़ते ही हैं । अरुणोदय, प्रभात बेला में भी सर्वत्र हलचलें दीख पड़ती हैं । पक्षी चहचहाने, पुष्प खिलने और प्राणी समुदाय उदीयमान ऊर्जा से अनुप्राणित होकर अपने-अपने स्तर की क्रियाशीलता का परिचय देने लगते हैं । मदारी, सपेरे और बाजीगर जब कुछ कौतुक दिखाने लगते हैं, तब भी बच्चों से लेकर बूढ़ों तक के ठट्ठ जमा हो जाते हैं और जरूरी काम छोड़कर भी अभिनव क्रिया-कलाप में रस लेने लगते हैं ।

युग परिवर्तन की बेला भी ऐसी ही है, जिसमें बहुमुखी परिवर्तन दृष्टिगोचर होंगे । बीन बजने पर सर्प लहराने लगते हैं । मेघ गर्जन पर मोरों का नाचना आरम्भ हो जाता है । बसन्त उभरा देखकर तितलियाँ, भौंरों से लेकर कोयलों तक की चित्र-विचित्र हलचलें दीख पड़ती हैं । लगता है उनको भाव-संवेदनाएँ अवसर के अनुकूल उत्तेजित करतीं और कुछ न कुछ करने के लिए जुटा देती हैं । युद्ध के नगाड़े बजने पर सैनिकों की भुजाएँ फड़कती हैं । सावन आते ही गीत-मल्हारों की धूम मच जाती है । भोर का प्रकाश आरम्भ होते ही सभी की नींद खुल जाती है और नित्य कर्म से निपटकर ताजगी अनुभव करने और निर्धारित क्रिया-कलापों में जुटते सभी को देखा जाता है । जुलूस को आरम्भ करते ही कुछ जुगाड़ बिठानी पड़ती है, पीछे तो रास्ता चलते लोग साथ हो लेते हैं और प्रमुखों की तरह ही प्रदर्शन करने और नारे लगाने लगते हैं । नदी के प्रवाह में कूड़ा-करकट भी बहता है । अन्धड़ के साथ तिनके-पत्ते भी घोड़े की चाल दौड़ने लगते हैं ।

युगसृजन बड़ा काम है । इसमें जीर्ण-शीर्ण खण्डहरों को उखाड़ा और उनके स्थान पर भव्य भवन खड़ा किया जाना है । दीवाली पर घर का कूड़ा-कचरा तो बुहारा ही जाता है, साथ ही पुताई-रँगाई के अतिरिक्त सजावट के लिए भी मन हुलसता है । युगसंधि को ऐसी ही हलचलों से भरापूरा मानना चाहिए । प्रस्तुत दस वर्षों के उपरान्त नये दृश्यों, विधानों और क्रिया-कलापों का सिलसिला चल पड़ेगा । मुर्दों के साथ श्मशान तक भी भीड़ जाती है और बारात के आगमन पर दूल्हों को देखने के लिए काम छोड़कर बारात पर टकटकी लगाने लगते हैं । प्रस्तुत परिवर्तन अभूतपूर्व ही होने जा रहा है । इसमें आश्चर्य का गहरा पुट रहेगा । जीवित लोगों में से इस प्रकार की महान् क्रान्ति कदाचित् ही किसी को देखने को मिली होगी । स्थानीय और क्षेत्रीय घटनाएँ तो आश्चर्यजनक होती भी रहती हैं, पर जिनका प्रभाव विश्व के कोने-कोने पर पड़े और प्राणियों के चिन्तन, क्रिया-कलापों में असाधारण अन्तर आये, ऐसी कुछ कल्पना तो की जा सकती है, पर उतनी व्यपक उथल-पुथल का घटनाक्रम तो असम्भव जैसा ही लगता है । आज जबकि हर दिशा में अवांछनीयता का बोलबाला है इस बात पर कौन भरोसा करेगा कि वह

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

परिवर्तन आँखों को देखने को मिलेगा, जिसके स्वप्न तो सँजोये, पर कुछ बन न पड़ने के कारण निराश होकर ही चले आये ।

अब की बार बात दूसरी है । इस भवितव्यता के पीछे स्रष्टा की योजना, चेतना और प्रेरणा जो काम कर रही है, उसका संकेत पाकर तो "मूक होंहि वाचाल पंगु चढ़हिं गिरिवर गहन" वाली उक्ति चरितार्थ होने लगती है । बीज को वृक्ष और भ्रूण को समर्थ जीवधारी बना देने वाले कौतुकी के लिए क्या कुछ असम्भव हो सकता है । जो रात को दिन में बदल सकता है, उसके लिए युगपरिवर्तन क्यों कुछ कठिन होना चाहिए । भूतकाल में भी ऐसे परिवर्तन होते रहने की गाथाएँ और साक्षियाँ देखने और सुनने को मिलती रहती हैं ।

बसन्त की बेला फूल ही नहीं खिलाती, प्राणियों में ऐसा आन्तरिक उल्लास भी उभारती है जो उन्हें प्रजनन-कृत्य में संलग्न होने को विवश करता है । आन्तरिक उमंगें उठती हैं, तब ऐसा घटित और नियोजित होने लगता है, जिसे देखने वाले आश्चर्यचकित हुए बिना नहीं रहते । इन दिनों भी ऐसा ही कुछ दीख पड़े तो उसे अप्रत्याशित नहीं मानना चाहिए ।

भूमि-पूजन, शिलान्यास, शुभारम्भ तो आदर्शनिष्ठ व लोकसेवी अपने ढंग से अपनी छोटी हैसियत के अनुरूप छोटे स्तर पर कर रहे हैं , पर वह महान् प्रक्रिया इतने छोटे परिकर तक ही सीमाबद्ध होकर नहीं रहने वाली है । चिनगारी, दावानल बनते देखी जाने वाली है । बुद्ध के धर्मचक्र प्रवर्तन एवं गाँधी के सत्याग्रह का आरम्भ छोटा और क्रमिक विस्तार कितना हुआ था, इसे हम सभी जानते हैं । ईसा ने शरीर त्यागने के उपरान्त भी करोड़ों को अनुयायी बना लेने की भूमिका निभाई । साम्यवाद प्रजातन्त्र के जन्मदाता भी मात्र आरम्भिक प्रतिपादन ही कर सके थे । उन मान्यताओं का विस्तार तो उन्होंने किया जिन्होंने उन्हें अन्तर की गहराई में प्रतिष्ठित कर लिया था ।

युगसृजन की प्रारम्भिक भूमिका विचारशील वर्ग को दीप्तिमान करती है । प्रतिभाएँ ही अग्रिम पंक्ति में खड़ी होती हैं । साहस और पराक्रम के आधार पर ऐसे आदर्श उपस्थित करती हैं, जिनका अनुमान करने में अनेकों के पैर सहज ही आगे बढ़ने लगें । प्रथम चरण विचार-क्रान्ति है । जो चल रहा है, उसमें से अधिकांश सड़ा-गला है । इसे बुहारना-हटाना तो पड़ेगा ही, साथ ही उसे प्रस्तुत-उपस्थित भी करना होगा, जिसकी समय को अनिवार्य आवश्यकता है, इसके लिए लेखनी, वाणी, कला जैसे अनेकों विचारों के प्रभावित करने वाले तबके अग्रिम मोर्चा सँभालेंगे । लोगों को सोचने के लिए बाधित करेंगे कि जो अपना लिया गया है वह न तो उचित है और न श्रेयस्कर । इसके स्थान पर वही प्रतिष्ठित किया जाना चाहिए. जो यथार्थता, उपयोगिता, दूरदर्शिता और आदर्शवादिता के साथ जुड़ा हुआ है ।

अवांछनीय प्रचलनों की आदतों को छोड़े बिना कोई गति नहीं । नशेबाजी चाहे कितनी ही पुरानी क्यों न हो, उसे छोड़े बिना कोई गति नहीं । आलस्य और प्रमाद का उपभोग भले ही चिरकाल से स्वभाव में सम्मिलित रहता चला आया हो, पर जब प्रगति की आवश्यकता अनुभव हो, तो उन्हें छोड़ना पड़ेगा । लोगों में लालच-संग्रह की, बड़प्पन प्रदर्शन के लिए आतुर-अहंकार की प्रवृत्तियाँ स्वभाव का अंग बनकर रह रही हैं । थोड़े लोगों के कुटुम्ब का स्वार्थ साधन ही समस्त विश्व के हित से बढ़कर दीखता है । आवश्यकता से कहीं अधिक बटोरने और उसका अपव्यय, दुरुपयोग करके बिखेरते रहने की आदतें स्वभाव में घुस पड़ी हैं । इन्हें हटाये बिना किसी को सच्चे अर्थों में मनुष्य कहला सकने का अवसर मिलता ही नहीं । मर्यादाओं का पालन और वर्जनाओं का संयम रखकर ही कोई इस योग्य बन सकता है कि विश्व-वसुधा की सेवा-साधना में समर्थ हो सके । औसत नागरिक स्तर के निर्वाह में सन्तोष करने के उपरान्त ही ऐसा कुछ बन पड़ता है जिसे युग-देवता के चरणों में समर्पित किया जा सके और वातावरण को नन्दन वन जैसा सुरभित बनाया जा सके ।

जिनके पास अतिरिक्त सामर्थ्य है, उनके ऊपर अतिरिक्त जिम्मेदारियाँ भी आती हैं और उनका उपयोग परिवर्तन जैसे महान् प्रयोजनों में बन पड़ने की आशा-अपेक्षा तो की ही जाती है । जिनके पास भाव-संवेदना का कोई कहने लायक अंश विद्यमान होगा वे अपनी विचार-शक्ति का भरपूर उपयोग दिग्भ्रान्तों को सही रास्ते पर लगाने के लिए करेगा । वह कैसा ज्ञानी जो अपने बुद्धि-कौशल का उपयोग मात्र धन-सम्पदा एकत्रित करने में ही लगाता रहे । इसके लिए अनुचित मार्ग तक अपनाये और दूसरों को भी अपने भटकावे में सहयोगी बनाये । मनीषियों का प्रथम वर्ग है जिसे लोकचेतना को उत्कृष्टता की दिशा में उछालने के लिए प्राणपण से प्रयत्न करना चाहिए । विचार-क्रान्ति का अधिक दायित्व उन्हीं के कन्धों पर है । युग-साहित्य का सृजन, मार्ग-दर्शन, विचार-विनिमय जैसे कृत्य यदि अपना उदाहरण प्रस्तुत करते हुए किये जा सकें तो उसका प्रतिफल उच्चस्तरीय हुए बिना रह ही नहीं सकता । प्रज्ञापुत्रों का प्रथम और प्रमुख यही कार्य है कि वे नवयुग के अनुरूप दृष्टिकोण, भाव संवेदना और साहस उत्पन्न करने में कमी न रखें । तदनुरूप वातावरण बनाने में प्राणपण से जुट पड़ें ।

जिनके पास पैसा है वे उसे विलास के लिए, संग्रह के लिए उत्तराधिकारियों के लिए और ठाटबाट के लिए, खर्च न करें वरन् उन पुण्य प्रयोजनों के लिए लगायें जो गिरों को उठाने और उठों को उछालने में अपनी सार्थकता सिद्ध करें ।

जो जा रहा है उसकी पूँछ पकड़ने से कुछ लाभ नहीं । जो आ रहा है और स्थिर रहने वाला है उसी की आरती उतारना दूरदर्शिता है । पिछले दिनों आसुरी सभ्यता का बोलबाला रहा है । उसी ने तथाकथित समर्थों को बुरी तरह भ्रमाया और नचाया है । इस कुचक्र से उन्होंने लाभ

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

भी उठाया है, भले ही उसने उन्हें तथा सहभागियों को सड़ा-गला कर बरबाद कर दिया हो । यह ग्रहणकाल जैसा अनर्थ अब विदा होने जा रहा है । उसका साथ समय रहते छोड़ देने में भलाई है । भलाई इसमें भी है कि जिस शालीनता के प्रतिष्ठित होने का समय आ रहा है उसके अनुरूप अपनी रीति-नीति को परिवर्तित कर लिया जाय । इस परिवर्तन में प्रतिभाओं को अग्रणी बनना चाहिए। प्रचलन में विरत होकर यदि प्रगतिशीलता अपनाने में कुछ घाटा दीखता हो तो उसको वरण नहीं करना चाहिए । समय के अनुरूप बदलने में जो उत्साह का परिचय देते हैं, उनका आगमन हर दृष्टि से हर किसी के लिए श्रेयस्कर ही सिद्ध होता है । भोर होने से पहले बाँग लगाने वाला मुर्गा अकिंचन पक्षी होते हुए भी सर्वत्र चर्चा का विषय रहता है और अपनी दूरदर्शिता के कारण सराहा भी जाता है।

इन दिनों पाश्चात्य भौतिकवाद हर किसी के सिर पर चढ़ा है । विज्ञान क्षेत्र में उसने जो उपलब्धियाँ हस्तगत की हैं उसी के सहारे उसकी साख जम गई है और समर्थों के अनुकरण की परम्परा बन गई है । यह इन्द्रधनुषी आकर्षण है तो बहुत, पर नियति के साथ जुड़ा हुआ न होने से उनमें स्थायित्व नहीं है । कुकुरमुत्ते बरसात के दिनों में उग तो सड़े कचरे में भी जाते हैं, पर उनकी छायादार विशालता का लाभ किसी ने नहीं उठाया । समझा जाना चाहिए कि इन दिनों जिस प्रपंच का बोलबाला है, वह बरसाती नदी की तरह अपना उफान देर तक बनाये न रह सकेगा । ऐसे नाले कुछ ही दिनों में तली तक पहुँचकर सूख जाते हैं । अवांछनीयता और कुप्रचलनों की तूती देर तक नहीं बोलती रह सकती ।

सात्विकता और शालीनता में ही स्थिरता रही है । देवपक्ष ही स्थिर रहता और पूजनीय बनता है । भूत-पलीत तो थोड़े समय उपद्रव खड़े करते और सदा के लिए समाप्त हो जाते हैं । प्रपंचों में ओत-प्रोत चतुरता गुब्बारे की तरह कुछ ही समय तक फूली हुई और आकाश में उड़ती हुई दीख सकती है, पर वह स्वरूप स्थिर कहाँ रह सकता है । पानी के बबूले की उछल-कूद कुछ ही क्षण रहती है । टिकाऊपन तो हिमप्रदेश से झरने वाले झरनों में ही होता है । वे स्वयं शोभायमान लगते और असंख्यों की प्यास बुझाने की क्षमता धारण किये रहते हैं । समझना चाहिए कि देवस्तर की शालीनता को अपनाने, तदनुरूप ढलने और ढालने में ही कल्याण है । विचारवानों को समय रहते अपनी गतिविधियों में ऐसा परिवर्तन कर लेना चाहिए जिसमें लाभान्वित रहने और रखने के उभयपक्षीय प्रयोजन सिद्ध होते रहें । उपलब्ध क्षमताओं को नव-सृजन, पुण्य-प्रयोजन के लिए नियोजित करना ही अपने समय की सबसे बड़ी बुद्धिमानी है । चूक जाने पर तो पश्चात्ताप ही हाथ रहेगा और घाटा उठाने का परिताप भी भुगतना पड़ेगा ।

धर्मतंत्र का आदर्शवादी प्रतिभाओं को युग-आमन्त्रण

सर्वतोमुखी प्रगति की सम्भावना तभी बलवती होती है जब भौतिक और आत्मिक दोनों पक्षों पर समुचित ध्यान दिया जाय । अकेले भौतिक प्रगति भी एकांगी है और एकाकी मुक्ति के प्रयास भी अधूरे हैं । केवल भौतिक प्रगति को ही लक्ष्य बनाकर किये गये प्रयास व्यक्ति को स्वार्थी और असामाजिक बनाते हैं तो व्यक्तिगत मोक्ष प्राप्ति के लिए किये गये प्रयत्न व्यक्ति को पलायनवादी बनाते हैं । इसलिए सर्वतोमुखी प्रगति का सन्तुलन स्थापित करने के लिए भौतिक और आत्मिक दोनों ही दिशा में प्रयास किये जाने चाहिए ।

पिछले दिनों समृद्धि की ओर सांसारिक क्षेत्र में प्रगति पर अत्यधिक जोर दिया गया, फलतः मनुष्य के पास साधन-सुविधाएँ एकत्र होती चली गयीं और वह हर दृष्टि से समृद्ध, सुविधासम्पन्न बना । परन्तु चूँकि जोर केवल भौतिक प्रगति पर ही दिया गया, इसलिए आत्मिक प्रगति की उपेक्षा की जाने लगी, परिणामस्वरूप व्यक्ति का चेतन-स्तर गिरा और उसके व्यक्तित्व में, क्रिया-कलापों में निकृष्टताएँ घुस पड़ीं । इससे कई तरह की समस्याएँ उठ खड़ी हुईं । आवश्यक यह था कि भौतिक प्रगति के साथ-साथ आत्मिक उन्नति की आवश्यकता पर भी उतना ही ध्यान दिया जाता । नहीं दिया गया, यह भूल हुई, अब इस भूल को सुधारा जाना चाहिए और इस तथ्य को समझा जाना चाहिए कि सर्वतोमुखी प्रगति का लाभ, आनन्द तभी उठाया जा सकता है, जबकि भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही क्षेत्रों में समान रूप से रुचि हो जाय, प्रगति की बात विचारी जाय ।

सुविधापूर्वक यात्रा सम्पन्न करने के लिए आवश्यक है कि मोटर अच्छी हो तथा तेल की टंकी भी भरी रहे, किन्तु इतना भर होना पर्याप्त नहीं है । मोटर के अच्छी होने तथा तेल की टंकी भरी होने से अधिक आवश्यक यह है कि ड्रायवर भी कुशल हो । हाथी खरीद लेने मात्र से उसकी सवारी का आनन्द नहीं उठाया जा सकता, उसके लिए सधा हुआ महावत होना भी आवश्यक है । कारखाना कितना ही साधनसम्पन्न क्यों न हो यदि उसका संचालन या प्रबन्ध अनुभवी के हाथों में नहीं है तो उसकी बर्बादी निश्चित है । शरीर कितना ही अच्छा क्यों न हो, भौतिक सम्पदा और साधन कितने ही विपुल क्यों न हों उनका वास्तविक मूल्य चेतन के स्तर पर निर्भर है । चेतन स्तर यदि गिरा हुआ है, तो बढ़ी हुई साधन-सम्पत्ति से अनर्थ ही उत्पन्न होगा । साधन-सम्पत्ति की विपुलता तभी सार्थक होगी, जब योग्य साधनों की तरह उपभोक्ता और प्रयोक्ता की आन्तरिक स्थिति, उसका चेतन स्तर भी सुविकसित बनाया जा सके ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

इस तथ्य की ओर विचारशील व्यक्तियों उत्कृष्टता को मानने वाली आदर्शवादी प्रतिभाओं को ध्यान देना चाहिए कि समग्र प्रगति आत्मिक स्तर को ऊँचा उठाने की आवश्यकता पूरी किये बिना सम्भव नहीं है । दरिद्रता, रुग्णता, अशिक्षा और असुविधा जैसे भौतिक पिछड़ेपन से जूझने के साथ-साथ चिन्तन की प्रतिगामिता से भी पीछा छुड़ाया जाना चाहिए और उसे प्रगतिशील उत्कृष्टता की दिशा में अग्रसर किया जाना चाहिए ।

प्रश्न उठता है यह काम कौन करे ? भौतिक प्रगति का उत्तरदायित्व पहले कभी विभिन्न क्षेत्रों में बिखरा हुआ था, किन्तु अब तो वह शासनसत्ता में केन्द्रित हो गया है । अपने क्षेत्र की आर्थिक प्रगति का सूत्र-संचालन शासन तन्त्र करता है । यों यह काम जन-साधारण की श्रमनिष्ठा के आधार पर ही पूरा होता है फिर भी उसका पथ-प्रशस्त करने, आवश्यक व्यवस्था बनाने की जिम्मेदारी शासन तन्त्र की है । युद्ध और प्रकृति प्रकोप जैसी बाधाएँ न आएँ तो किसी देश की आर्थिक उन्नति का श्रेय वहाँ की सरकार को ही दिया जाता है और किसी समाज की स्थिति अवनति-ग्रस्त रहती है तो उसके लिए दोषी भी सरकार को ही ठहराया जाता है । कहने का आशय यह है कि किसी समाज की भौतिक प्रगति का उत्तरदायित्व सरकार पर, शासन तन्त्र पर आता है ।

आत्मिक प्रगति का उत्तरदायित्व दूसरे क्षेत्र का है जिसे धर्म या अध्यात्म कहते हैं । इस दिशा में आवश्यक प्रयास इन्हीं क्षेत्रों के लिए किये जाने चाहिए । चेतना के स्तर का विकास आस्थाओं पर निर्भर है और आस्थाओं का विकास सरकार नहीं कर सकती । आर्थिक उन्नति, सुरक्षा व्यवस्था, शिक्षा प्रबन्ध जैसे कार्य ही कर सकना ही उसकी सीमा में आते हैं । यदि इतना भली-भाँति बन पड़े तो वह भी पर्याप्त है । दृष्टिकोण का निर्धारण, जो आस्थाओं पर अवलम्बित है, केवल श्रद्धा के आधार पर ही किया जा सकता है । यह क्षेत्र राजनीति की पकड़ में पूरी तरह न कभी आया है और न कभी आ सकेगा, इसलिए धर्मनीति और राजनीति को हमेशा एक-दूसरे से पृथक् रखा गया है, यद्यपि वे एक दूसरे के पूरक हैं, क्योंकि दोनों भौतिक और आत्मिक प्रगति का सन्तुलन समन्वय साधती हैं, राजतन्त्र और धर्मतन्त्र दोनों मिलकर ही मनुष्य की समग्र आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकते हैं ।

राजतन्त्र अपने साधनों से भौतिक उन्नति के आधार खड़े करे । धर्मतन्त्र आदर्शवादी आस्थाएँ उत्पन्न करके नर- रत्नों का उत्पादन करे और सहयोग-सद्भाव का वातावरण बने तभी उस उभय-पक्षीय प्रगति से उज्ज्वल भविष्य की सम्भावना मूर्तिमान हो सकती है और प्रगति के लिए किये गए प्रयत्नों का सच्चा लाभ मिल सकता है ।

इन दिनों राजतन्त्र को प्रखर बनाने और उसमें प्रबन्ध हेतु आगे आने का उत्साह ही सब में पाया जाता है । यह उचित भी है तथा आवश्यक भी किन्तु धर्मतन्त्र प्रतिभावान लोगों द्वारा उपेक्षित बना रहे तथा इस पर प्रतिगामी तत्त्वों का कब्जा बना रहे, यह स्थिति कष्टकर ही है । आज धर्मतन्त्र में इन्हीं तत्त्वों की ही अधिकता हो गई है, फलतः उसमें विकृतियों की भरमार होती चली जा रही है । धर्माध्यक्षों का रूप बनाकर अपने स्वार्थों को पूरा करने की तिकड़म जहाँ-तहाँ चल पड़ी है, इसके कारण समाज के श्रम, साधन तथा धन का शोषण होता चला जा रहा है । इस क्षेत्र में व्याप्त विकृतियों के कारण विचारशील व्यक्तियों का धर्म से विश्वास उठता चला जा रहा है क्योंकि इस क्षेत्र में आधिपत्य जमाये लोग स्थूल कर्मकाण्डों और विभिन्न अनुष्ठानों का आकाश-पाताल जैसा महत्त्व बताते हैं तथा उसके द्वारा सहज ही किये गए पाप कर्मों के दण्ड से छुटकारा मिलने की आशा बँधाते हैं, एक तो इससे लोगों में अनैतिकता और अकर्मण्यता बढ़ती है तथा दूसरे इसको देखकर विचारशीलों की दृष्टि में धर्म प्रतिगामी, रूढ़िवादी एवं अनैतिक भ्रष्ट आचरण की प्रेरणा देने वाला तन्त्र पैदा होता है ।

यह स्थिति नहीं बनी रहने दी जा सकती । अब धर्मतन्त्र को दुर्दशाग्रस्त स्थिति में पड़े रहना कदापि सहन नहीं किया जाना चाहिए । उसकी सामर्थ्य, उपयोगिता और सम्भावना पर विचार किया जाना चाहिए । राजतन्त्र में सुधार के लिए जितना उत्साह गोचर होता है, कम से कम उतनी अभिरुचि धर्मतन्त्र के प्रति भी प्रबुद्धजनों में उत्पन्न होनी चाहिए । अवांछनीयता को निरस्त करने के लिए उपेक्षा पर्याप्त नहीं । आवश्यक है कि इसके स्थान पर उपयोगी विकल्प प्रस्तुत किये जायें । इसके लिए धर्मतन्त्र के आदर्शवादी प्रतिभाओं को प्रवेश करना चाहिए । जन-साधारण का ध्यान इस दिशा में मोड़ा जाना चाहिए कि राजतन्त्र अकेला ही नहीं धर्मतन्त्र भी सर्वतोमुखी प्रगति के लिए महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करने में समर्थ है ।

भौतिक उन्नति के साधनों की अपनी उपयोगिता है, पर आत्मिक प्रगति भी उपेक्षणीय नहीं है । भौतिक प्रयासों के फलस्वरूप जो मिला है, जो मिल रहा है और जो मिलेगा, उसकी भरपूर प्रशंसा की जानी चाहिए । भविष्य में उससे और भी अधिक अच्छी सम्भावनाओं की आशा की जा सकती है, पर साथ ही यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि आत्मिक प्रगति के लिए भी यदि इसी उत्साह से प्रयासों को जुटाया जा सके तो वर्तमान साधनों से ही अपनी आज की परिस्थितियों में ही इसी धरती पर स्वर्ग का अवतरण सम्भव हो सकता है ।

आदर्शवादी प्रतिभाओं की प्रतीक्षा

अनुकरण की प्रवृत्ति मनुष्य स्वभाव का महत्त्वपूर्ण अंग बनकर रहती है । हम जैसा देखते हैं वैसा करते हैं । बच्चा अभिभावकों को, साथियों को जिस शब्दावली का, भाषा का प्रयोग करते सुनता है, उसी को बोलने और समझने लगता है । चरित्र और स्वभाव के सम्बन्ध में भी साथियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है । वातावरण का प्रभाव पड़ना एक तथ्य है । जिन लोगों के बीच, जिन परिस्थितियों के बीच रहना पड़ता है, वैसी ही आदतें बन जाती हैं । रुचि विचित्रता, आदतों की भिन्नता और प्रकृति की पृथकता न तो जन्मजात होती है और न अनायास उत्पन्न होती है, इसके निर्माण में समीपवर्ती व्यक्तियों और परिस्थितियों का भारी हाथ रहता है ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

अनाचार समर्थक-अभिरुचि बढ़ जाने से वातावरण में अपराधी प्रवृत्तियों का प्रवाह उत्पन्न होता है । सामान्य मन:स्थिति के लोग उसी की धारा में बहने लगते हैं । हवा के रुख की ओर ही पत्ते उड़ते हैं । बहुत लोग जो कुछ करते हैं, उसी का अनुकरण करने की, उसी दिशा में चलने की लोकप्रवृत्ति उभरती है ।

जन-प्रवाह को अवांछनीयता से विरत रहने के लिए इसी प्रकार का वातावरण बनाना आवश्यक है जिसमें सामान्य लोगों के चल पड़ने की प्रेरणा मिल सके । यह कार्य प्रखर एवं मनस्वी व्यक्तियों के आगे आने से ही सम्भव होता है । हवा का रुख वे ही बनाते हैं, प्रवाहों को वे ही मोड़ते हैं । वातावरण बनाने का बहुत कुछ श्रेय उन्हीं को होता है ।

विचार और क्रिया को जिन्होंने मिलाकर अपनी आस्था का परिचय दिया है, वे कुमार्गगामी होते हुए भी प्रतिभावान होते हैं और अपने सम्पर्क क्षेत्र को प्रभावित करते हैं । एक वेश्या अनेकों को व्यभिचार सिखा देती है । नशेबाज, चोर, जुआरी आदि कुमार्गगामी अपनी बुरी लतें उनमें से अधिकांश सिखा देते हैं, जो उनके सम्पर्क में आते हैं । विचार यदि कर्म में उतर सकने जैसा प्रौढ़ हो तो उनसे प्रतिभा उभरती है और उसका प्रभाव पड़ता है ।

सन्मार्गगामी प्रतिभाएँ अपने समाज एवं समय को प्रभावित कर सकने में पूरी तरह सफल रही हैं । गाँधीजी ने अपने प्रभाव से ऐसा वातावरण बनाया था जिसने असंख्य लोगों को सत्याग्रही सैनिकों के रूप में कष्टसाध्य त्याग, बलिदान करने के लिए अग्रिम पंक्ति में लाकर खड़ा कर दिया । भगवान बुद्ध की प्रेरणा से लाखों भिक्षु और भिक्षुणी अपनी सुख-सुविधाएँ छोड़कर जन-प्रवाह बदलने के लिए कर्म-क्षेत्र में उतरे थे । लेनिन के अनुयायी साम्यवादी आन्दोलन को समर्थ बनाने में सफल हुए थे । शिवाजी, प्रताप, गुरुगोविन्द सिंह आदि के ऐसे अगणित प्रमाण इतिहास के पृष्ठों पर भरे पड़े हैं जिनमें प्रतिभाशाली व्यक्तित्वों ने अपने प्रभाव से युगांतरकारी वातावरण बनाया और उस प्रवाह में बहने के लिए असंख्यों को प्रोत्साहित किया ।

समय की पुकार जिस परिवर्तन की है, उसके अनुरूप लोकमानस तैयार किया जाना चाहिए । इसके लिए अग्रिम पंक्ति में उन योद्धाओं को आना पड़ेगा जो अपनी आस्थाओं को कार्यान्वित करते हुए सर्वसाधारण के सम्मुख अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत कर सकें ।

त्याग और बलिदान की पुण्य-परम्परा अपनाये बिना यह महान् प्रयोजन और किसी भी प्रकार पूरा न हो सकेगा। इसका आरम्भ दुर्बल मन:स्थिति के लोगों से नहीं कराया जा सकता । वे पीछे तो चल सकते हैं पर अग्रिम पंक्ति में खड़े होने का साहसिक शुभारम्भ कर सकने में समर्थ नहीं हो सकते । युगपरिवर्तन का शुभारम्भ तो त्याग और बलिदान के भावभरे आदर्श प्रस्तुत कर सकने वाले अग्रगामी साहसी शूरवीरों द्वारा ही सम्भव होगा । युग की माँग और पुकार उन्हीं के उभरने, उठने की प्रतीक्षा कर रही है ।

यह स्वर्णिम अवसर फिर आयेगा नहीं

जीवन के कुछ ऐसे विशिष्ट अवसर होते हैं, जिनका सदुपयोग करके असाधारण सफलता पायी जा सकती है । विद्यार्थी जीवन में अध्यवसाय की उपेक्षा करने से जीवनपर्यन्त पश्चात्ताप करना होता है । किशोरवय स्वास्थ्य-संवर्धन के लिए सर्वाधिक उपयुक्त समय है । इस अवधि में आहार-विहार, संयम, व्यायाम सम्बन्धी नियमों पर भली-भाँति ध्यान दिया जाय तो शरीर का यह सुदृढ़ ढाँचा तैयार हो जाता है, जिससे भावी जीवन ठीक प्रकार गतिशील हो सके । इस आयु में उपेक्षा बरतने पर शरीर की वह दृढ़ता नहीं बन पाती जो नियमों के पालन द्वारा सम्भव थी । यों तो ब्रह्मचर्य व्रत का पालन हर आयु में लाभप्रद है, किन्तु किशोरावस्था में अधिक जोर दिये जाने के पीछे उपरोक्त तथ्य ही सन्निहित है ।

योग्यता वृद्धि और स्वास्थ्य-संवर्धन के लिए प्रयास सदा किये जाते हैं और किये भी जाने चाहिए । योग्यता बढ़ाने और स्वास्थ्य को सन्तुलित रखने के लिए सदा तत्पर और जागरूक रहना आवश्यक है और उपयोगी भी, किन्तु नवनिर्माण के लिए किशोरावस्था को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है । यह हर दृष्टि से उचित है । चढ़ती वय में जो ढाँचा शरीर और मन का बन जाता है, वही जीवन भर काम आता है । बाद में तो इसमें परिष्कार होता है, निर्माण नहीं । इस अवधि का सदुपयोग करके कोई भी योग्यता, प्रतिभा बढ़ाने और शरीर को बलिष्ठ बनाने का लाभ प्राप्त कर सकता है । नवनिर्माण के इस सुअवसर की उपेक्षा कर देने से तो भविष्य अन्धकारमय हो जाता है । बाद के प्रयत्नों से तो उतना लाभ नहीं मिल पाता जितना कि इस आयु के सदुपयोग द्वारा सम्भव था ।

कुछ ऐसे अवसर भी आते हैं, जो व्यक्ति को अजर-अमर बना देते और श्रेय-सम्मान तथा लोक-श्रद्धा के पात्र बना डालते हैं । यों तो साहस, शौर्य, पराक्रम का परिचय चोर-डाकू भी देते हैं, कितने ही संघर्षों में मारे भी जाते हैं, किन्तु उन्हें कौन बहादुर और साहसी कहता है ? दूसरी ओर देश की बलिवेदी पर अपनी आहुति दे देने वाले सीमाप्रहरी सैनिकों को असाधारण श्रेय और सम्मान मिलता है । उनके कीर्तिस्तम्भ बनते हैं, साहस, त्याग और बलिदान के अविस्मरणीय उदाहरण के लिए वीरता के अनेकों 'चक्र' प्रदान किये जाते हैं । उनकी कीर्ति इतिहास के पृष्ठों पर स्वर्णिम अक्षरों में लिखी जाती है । स्वार्थों के दल-दल में पड़े, उनकी आपूर्ति के लिए दुस्साहस का प्रदर्शन करने वाले आततायियों को कौन याद करता है ? उन्हें तो घृणा और तिरष्कार का ही भाजन बनना पड़ता है ।

युगों-युगों के बाद जब परिस्थितियाँ अत्यधिक जटिल हो जाती हैं, मानवी पुरुषार्थ उन्हें सुलझा पाने में असमर्थ सिद्ध होता है, तो महाकाल का दिव्य प्रेरणा प्रवाह उनके

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

अनुकूलन के लिए उमड़ता है । महापुरुषों का, अवतारों का प्रकटीकरण ऐसे ही अवसरों पर होता है, ये अवसर विशिष्ट होते हैं । जो इसको समझने और अपनी क्षमताओं को दैवीय प्रयोजन में नियोजित करने के लिए उस दिव्य प्रेरणा प्रवाह में बहने के लिए स्वयं को मुक्त छोड़ देते हैं, वे धन्य हो जाते हैं, अजर और अमर बन जाते हैं । आगा-पीछा सोचने वाले, प्रेरणा-प्रवाह को न समझने वाले उस महत प्रयोजन में सहयोग से कन्नी काटते रहने वाले, संकीर्ण व्यक्ति अन्ततः घाटे में रहते हैं और उस ऐतिहासिक श्रेय से वंचित रह जाते हैं जो अल्प प्रयासों द्वारा सम्भव था ।

अवसर मिल सके तो किसका अंगद, हनुमान, सुग्रीव, विभीषण, भरत, लक्ष्मण जैसे समर्थों जैसा ही नहीं-जराजीर्ण जामवन्त, जटायु, शबरी यहाँ तक कि गिलहरी जैसी स्थिति प्राप्त करने के लिए मन नहीं ललचायेगा । उन दिनों के निवासी कदाचित् यह अनुमान नहीं लगा सके होंगे कि रामराज्य युगों-युगों तक स्मरण किया जायेगा और अवतरण में सहयोगी किस प्रकार प्रातःस्मरणीय माने और श्रद्धा-सुमनों से सजाये जायेंगे।

कृष्णकाल में भीम, अर्जुन जैसे बलिष्ठ और द्रोपदी, राधा जैसी विदुषियाँ ही नहीं, कुब्जा और सुदामा जैसे उपहासास्पद भी धन्य बने थे । ग्वाल-बाल ही नहीं मोरमुकुट और बाँस की बाँसुरी भी भाग्यवान बने । वे घोड़े तक भाग्यवान लगते हैं, जो अर्जुन के रथ में जुतकर महाभारत जिताने और कृष्ण के द्वारा नहलाये-धुलाये जाने का आनन्द लेते रहे होंगे ।

बुद्धकाल में अशोक, हर्षवर्धन, आनन्द, कुमारजीव जैसे मूर्धन्य ही नहीं अंगुलिमाल और आम्बपाली जैसे निकृष्ट तक कृत-कृत्य हो सके । उन भिक्षुकों के सौभाग्य को भी सराहा जाता है, जो उस पुण्य बेला में जन्मे और उपयुक्त अवसर प्राप्त कर सकने के कारण आत्म-कल्याण तथा लोक-कल्याण की उच्च भूमिका सम्पन्न कर सकने में समर्थ हुए, जिन्हें विश्व के कोने-कोने में देवताओं की तरह दिव्य-शक्ति सम्पन्न समझा और वन्दनीय माना जाता है ।

महाकाल का दिव्य प्रेरणा-प्रवाह विशिष्ट अवसरों पर चलता है । धर्म की स्थापना, अधर्म का नाश, औचित्य की प्रतिष्ठापना, अनौचित्य की काट-छाँट उसका लक्ष्य होता है । इस अवसर विशिष्ट को समझने वाले और अपनी क्षमताओं को उस महान् प्रयोजन में नियोजित कर देने वाले, उनकी तुलना में जो संकीर्ण स्वार्थों की आपा-धापी में लगे रहते हैं, कहीं अधिक लाभ में रहते हैं । शरीर निर्वाह के साधन दोनों को प्राप्त हो जाते हैं । अन्तर मात्र इतना होता है-एक शरीर के लिए जीता है, उसकी सारी चेष्टाएँ शरीरगत आवश्यकताओं के प्रचुर परिमाण में जुटाने के लिए होती हैं और दूसरा अपनी सामर्थ्य का उतना ही भाग अपने शरीर के लिए प्रयुक्त करता है जितना कि जीवित रहने के लिए आवश्यक है । बड़ा अंश 'महाकाल' अर्थात् आदर्शवादिता, बुद्धिमत्तापूर्ण नीतिमत्ता की इच्छा को पूरा करने में नियोजित करता है । अपना सर्वस्व शरीर के लिए होम देने वालों को अन्ततः कुछ भी हाथ नहीं लगता, जबकि ईश्वरीय प्रयोजन में निरत रहने वाला अपने जीवन-काल में शान्ति और सन्तोष का वरदान प्राप्त करता है । मरणोपरान्त उसे जो अतिरिक्त श्रेय सम्मान मिलता और लोक-श्रद्धा रूपी जो सुमन चढ़ते हैं, उनकी कीमत सिक्कों में नहीं आँकी जा सकती, उसे तो देखकर मन ललचाता है और यह उमंग उठती है कि काश अपने को भी ऐसा श्रेय प्राप्त कर सकने का सुअवसर मिल पाता ।

ऐसे विशिष्ट अवसर कभी-कभी ही आते हैं । जब रीछ, भालू और गिलहरी जैसे नगण्य क्षमता वाले भी असाधारण श्रेय के भागीदार बन जाते और जन-श्रद्धा प्राप्त कर लेते हैं । इस उपलब्धि में उनके पुरुषार्थ का कम, महाकाल की उस दिव्य प्रेरणा का अधिक योगदान होता है जो उन्हें मात्र समर्पण के आधार पर अनायास ही मिल जाती है । करना इतना भर होता है कि महाकाल की इच्छा को अपनी मानकर उसे पूरा करने में जुट जाया जाय ।

इन दिनों परिस्थितियाँ कुछ अधिक भयावह हैं । मानवी बुद्धि ने विनाश का जो सरंजाम खड़ा किया है, यदि वह फूट पड़े तो इसमें सन्देह है कि वर्तमान सभ्यता का नामोनिशान भी बचेगा अथवा नहीं । स्रष्टा ऐसी ही विकट घड़ियों में शक्तियों के रूप में, सूक्ष्म प्रवाह के रूप में अवतरित होता रहा है । इन दिनों उसका प्रेरणा प्रवाह अवांछनीयता को बहा ले जाने के लिए नियोजित है । वह प्रज्ञाशक्ति के रूप में अवतरित हो रहा है और हर भावनाशील के अन्तःकरण को झकझोर रहा है । कुछ महत्त्वपूर्ण कर दिखाने का, युगों-युगों तक इतिहास में स्मरण किये जाने का यह अवसर विशेष है ।

अवतार की शक्तियाँ अपना कार्य पूरा करती हैं और करती रहेंगी । अपने सहयोगियों को वे मुफ्त में असाधारण श्रेय दे जाती हैं । अवसर विशेष को न पहचानकर संकीर्णताओं की आपा-धापी में पड़े रहने वालों को दुर्भाग्यशाली ही कहा जाता रहा है । अवसर चूक जाने पर पश्चात्ताप ही हाथ लगता है । ऐसे अवसर विशेष पर जब आस्थासंकट की विभीषिका चहारदीवारी पर आ खड़ी हो-मानवता का तकाजा है कि भावनाशील बुद्धिजीवी जागें और अनीति के प्रति सत्साहस दिखाने एवं उसके प्रतिरोध में एक समर्थ वातावरण तैयार करने में स्वयं को नियोजित कर दें ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

ज्ञान ही नहीं, मनुष्य को धर्म भी चाहिए

केवल शुष्क ज्ञान ही नहीं, धर्म भी आवश्यक है

पदार्थ क्या है ? संसार क्या है ? इन प्रश्नों का उत्तर इन्द्रिय अनुभूति मात्र से नहीं दिया जा सकता, शरीर पंच तत्त्वों से बना हुआ है इस उपकरण के सहारे पदार्थ का दृश्य रूप ही परिलक्षित होता है, किन्तु सब कुछ इतना ही तो नहीं है । उसके अन्तराल में भी बहुत कुछ है । उसे 'ज्ञान' से ही जाना जा सकता है । अदृश्य को देखने वाले उपकरण भी ज्ञान के आधार पर ही बनते हैं और उनसे जो सूचनाएँ मिलती हैं उनसे कुछ निष्कर्ष निकल सकना ज्ञान के आधार पर ही सम्भव होता है । मनुष्य की शक्ल एवं शारीरिक संरचना ही सब कुछ नहीं है । मुख्य वस्तु है उसका व्यक्तित्व और उसके जानने, परखने के लिए आँखें पर्याप्त नहीं, उसे ज्ञान के आधार पर ही जाना जा सकता है । पदार्थ के गर्भ में जो आणविक हलचलें होती हैं उन्हें इन्द्रियों ने प्रत्यक्ष दृश्य के रूप में नहीं देखा है । ज्ञान चक्षुओं से उसकी स्थिति का अनुमान लगाया और पीछे उसे प्रमाणित करने के साधनों का निर्माण कर सकना ज्ञान के आधार पर ही सम्भव हुआ । मन्त्र उपकरण तो उस ज्ञान साधना के अकिंचन जैसे उपकरण भर हैं । बिना ज्ञान वाला निष्कर्ष, निकालने वाले के वे उपकरण जो सांकेतिक सूचना देते हैं, उतने से किसी तथ्य का पता नहीं चलता । अन्तरिक्षीय सूचनाएँ संकेत रूप से ही प्राप्त होती हैं । उनकी व्याख्या बुद्धिमत्तापूर्वक करने के उपरान्त ही उपलब्ध सूचनाओं का कुछ सही अर्थ निकलता है ।

आत्मा है या नहीं ? इसका उत्तर हाँ और ना में दोनों ही तरह दिया जा सकता है । हाँ, उनके लिए ठीक है जो ज्ञान के आधार पर सूक्ष्म विषयों पर विचार कर सकने और निष्कर्ष निकाल सकने में समर्थ हैं । ना, उनके लिए जो मात्र इन्द्रियों के सहारे ही चेतनसत्ता का दर्शन करना चाहते हैं । चेतन सूक्ष्म है वह चेतनसत्ता की ज्ञानाभूति के द्वारा समझा और देखा जा सकता है । किसी की आँखों में से आँसू बहते देखकर आँखें तो इतना ही बता सकती हैं कि भवों के नीचे वाले गड्ढों में से पानी की पतली-सी धार बह रही है । उस पानी के पीछे कोई व्यथा-वेदना तो नहीं भरी है, यह जान सकना जीवित अन्तःकरण की भाव संवेदनाओं के लिए ही सम्भव है । यदि वह न हो तो फिर आँसू और पसीने में वैज्ञानिक उपकरणों के सहारे कुछ अधिक अन्तर नहीं पाया जा सकता । सूर्य की रोशनी और फूल की शोभा की अनुभूति उन्हीं को हो सकती है जिनकी आँखें सही हों । यदि दृष्टि समाप्त हो जाय तो अपने लिए संसार के सभी दृश्य समाप्त हो जायेंगे । भले ही वे अन्य लोगों के लिए यथावत् बने रहें । दृश्यों की अनुभूति में जितना महत्त्व पदार्थों के अस्तित्व का है उससे अधिक अपनी दृष्टि का है । यह ज्ञान ही है जो हमें दृश्य या श्रव्य के स्थूल रूप की तुलना में असंख्य गुने रहस्यमय मर्मों से परिचित कराता है ।

ज्ञान के दो पक्ष हैं एक विचारणा दूसरा संवेदना । विचार मस्तिष्क की देन हैं वे बाहर से आते हैं, प्रशिक्षण एवं अनुभव के सहारे । भाव से भीतर उठते हैं, वे अन्तःकरण के उत्पादन हैं । विचारों से जानकारी तो बढ़ती है और बुद्धि में परिपक्वता आती है, पर उनका प्रभाव अन्तस् पर नहीं के बराबर पड़ता है । बहुत पढ़ने और बहुत सुनने से भी आन्तरिक उत्कृष्टता उभरने का कोई निश्चय नहीं । कितने ही व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनके कान सत्संग सुनते-सुनते पक गये और आँखें स्वाध्याय करते-करते थक गईं, फिर भी उनकी मूल प्रवृत्तियों में कुछ विशेष अन्तर नहीं आया । लोभ, मोह से उन्हें रत्ती भर भी विरति नहीं हुई । काम, क्रोध के आवेश घटे नहीं । धर्मोपदेशकों में धर्म-धारणा और नेताओं में देशभक्ति प्रायः प्रसंग चर्चा की कलाकारिता जितनी ही दिखाई पड़ती है । दूसरों को जिन तर्कों से वे प्रभावित कर लेते हैं उससे अपने आपको प्रभावित नहीं कर पाते, क्योंकि वे बाहर से आये आगन्तुक हैं । अपने गृहसदस्य नहीं । अन्तस् तो भावों का भण्डागार है । वहाँ से निसृत होते हैं और वहाँ के चुम्बकत्व से उन्हें बाह्य जगत में से आकर्षित एवं ग्रहण किया जाता है । विचार की गति तर्क और तथ्य के सहारे होती है और वे बढ़ते-बढ़ते विज्ञान का स्वरूप धारण कर लेते हैं । विचार के आधार पर यह संस्कार पदार्थ गुच्छक या गुलदस्ता मात्र है । अथवा विभिन्न प्रकार की तरंग प्रवाह का अन्धड़-क्षेत्र उसे कह सकते हैं । विद्युत चुम्बकीय लहरों से भरा-पूरा समुद्र भर यह संसार रह जाता है । ऐसे ही कुछ नाम और भी उसे दिये जा सकते हैं । मस्तिष्कीय, चेतना-पदार्थ ज्ञान पर अवलम्बित है और वह अपनी सीमा उसी परिधि के अन्तर्गत रखती है । यही उसकी मर्यादा है । उससे आगे की ऐसी कोई बात मस्तिष्क के आधार पर नहीं जानी या पाई जा सकती जो हृदय से, अन्तस् से सम्बन्धित है

भाव-संवेदना, अन्तस् का उत्पादन है । भावुक व्यक्ति ही दूसरों की व्यथा-वेदनाओं को अनुभव कर सकता है ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

पाषाण हृदय व्यक्ति पर किसी की करुणाजनक स्थिति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, पर दूसरों के रुदन और चीत्कार तक को स्थिति-प्रज्ञ की तरह निर्मम होकर देखता रहता है, कई बार तो उनसे विनोद करता और रस लेता भी देखा गया है ।

धर्म को संवेदना का उद्‌गम स्रोत कह सकते हैं । वह उपदेश नहीं उपचार है जिसके सहारे दिव्य चक्षुओं पर चढ़ी हुई धुन्ध को दूर किया जा सकता है । उस धुन्ध के हटने पर पदार्थ के अन्तराल में संव्याप्त सत्ता को देखा जाता है । उसी के सहारे उस ब्रह्माण्डव्यापी चेतना की अनुभूति होती है जिसे विश्वात्मा कहा जाता है और जिसका एक घटक आत्मा है । विचार से पदार्थ के गुण, धर्म, स्वभाव और उपयोग को जाना जाता है, धर्म से आत्मा का साक्षात्कार होता है और जीवन को आत्मा के अनुशासन में चलने के लिए प्रशिक्षित, अभ्यस्त किया जाता है ।

यों ज्ञान की मोटी परिभाषा जानकारी है । शिक्षा द्वारा उसी का संचय संवर्द्धन होता है । मन की कल्पनाशक्ति और बुद्धि की निर्णयशक्ति के संयुक्त परिणाम को बुद्धि कौशल कहते हैं । सूझ-बूझ, समझदारी, विद्वत्ता और विशेषज्ञता इसी की परिणति है । इतने पर भी संवेदना पर इस सारी बुद्धिमत्ता का कोई असर नहीं है । धर्म अग्नि है जिसका उद्‌गम आत्मा है । आत्मा के अन्तराल से जो ज्योति प्रस्फुटित होती है, जिसका आलोक अन्तःज्ञान के रूप में देखा जा सकता है, आत्मबोध यही है । इसी का प्रकट होना और आत्म-सत्ता के समूचे क्षेत्र को प्रकाशवान कर देना यही आत्म-साक्षात्कार है । विचार क्षेत्र शिक्षा कहलाता है, अन्तः-संवेदनाओं के ऊहापोह को विद्या एवं ब्रह्मविद्या कहते हैं । यह इन्द्रियातीत है इसलिए उसकी अनुभूतियाँ भी अतीन्द्रिय कहलाती हैं । दया, करुणा, प्रेम, सेवा, उदारता, त्याग, बलिदान, संयम, आत्मानुशासन जैसी दिव्य-संवेदनाओं की पूर्ति के लिए मनुष्य खुशी-खुशी कष्ट सहते हैं । अपने लाभों का परित्याग करते हैं और भौतिक दृष्टि से प्रत्यक्षतः घाटा उठाते हैं । आदर्शवादियों के निहित स्वार्थों द्वारा तरह-तरह की हानि पहुँचाई जाती है । उदार व्यवहार में भी वे कुछ त्याग ही करते हैं । देश भक्तों और तपस्वियों को कष्टमय जीवन व्यतीत करना पड़ता है और कई बार तो उन्हें प्राणों तक से हाथ धोना पड़ता है । बुद्धिमानी का भौतिक मापदण्ड इनमें घाटा ही घाटा देखता है । प्रत्यक्ष लाभ जैसी कोई बात इस मार्ग पर चलने से नहीं मिलती । फिर भी समझदारी की सीमाओं का उल्लघंन करके वे कदम उठाये जाते हैं जिसे व्यवहार बुद्धि अपने भौतिकवादी गणित के सहारे मूर्खता ही सिद्ध करेगी । इतने पर भी सारे तर्कों का उल्लंघन करके कोई आन्तरिक उमंग ऐसी उठती है और उच्चस्तरीय भाव संवेदना की भूख बुझाने के लिए त्याग, बलिदान की माँग करती है और अनेकों सद्‌भावसम्पन्न उसकी पूर्ति भी करते हैं ।

यह संवेदना ही अग्नि है । जब वह आदर्शों को अपनाये रहने की परिपक्वावस्था में होती है तो उसे श्रद्धा कहते हैं । अपने लिए कल्याणकारी कर्त्तव्य यही है । इसका सुनिश्चित निर्धारण विश्वास कहलाता है । श्रद्धा को भवानी की और विश्वास को शंकर की उपमा दी गई है और कहा गया है कि इन्हीं दोनों की सहायता से अन्तरात्मा में ओत-प्रोत परमात्मा का दिव्य दर्शन होता है । आदर्शवादी संवेदनाओं की यह समूची परिधि धर्म क्षेत्र के नाम से जानी जाती है । इसी की उमंगें कर्म क्षेत्र पर छाई रहती हैं । आस्थाओं की प्रेरणा से विचार तन्त्र को दिशा मिलती है और विचारों की कर्म के रूप में परिणति होती है । इसी क्षेत्र में जब प्रखरता आती है तो अतीन्द्रिय ज्ञान जाग्रत होता है और दूरदर्शन, दूरश्रवण, प्रकृति के रहस्यों का उद्‌घाटन, भावी सम्भावनाएँ जैसी वे जानकारियाँ मिलती हैं जो सामान्य इन्द्रिय क्षमता की पकड़ से बाहर हैं ।

अन्तःसंस्थान के शान्त, सुस्थिर एवं परिष्कृत करने की विधि-व्यवस्था का नाम योग है । योगाभ्यास में जिस समाधि की चर्चा की जाती है वह मस्तिष्क की घुड़दौड़ शान्त करके अन्तःकरण की भाव-संवेदनाओं को उभारने की प्रक्रिया है । चित्तवृत्तियों का निरोध इसी को कहा गया है । यह स्थिति प्राप्त होने पर अपने अस्तित्व में आत्मा की उपस्थिति अनुभव होती है और उसके अनुशासन को स्वीकार कने की सहज स्वीकृति जाग्रत होती है । आत्म-समर्पण के क्षण इन्हीं भावनाओं से भरे होते हैं । दिव्यत्व में अन्तःकरण का सरावोर हो जाना इतना आनन्द युक्त होता है कि उसे ईश्वर दर्शन के सम्बन्ध में किये गये समस्त वर्णन यथार्थता के रूप में अनुभव होते हैं ।

धर्म को भीरुता से जोड़ा जाता है, जीवन संघर्ष से कतराने वाले धर्माडम्बरों में उलझे रहते हैं यह कहा जाता है, पर वस्तुतः बात ऐसी है नहीं । यह साहसी शूरवीरों का मार्ग है । मन और अन्तःकरण का संघर्ष स्पष्ट है । मन सुविधाओं में रमता है और अन्तःकरण को वे भाव संवेदनाएँ चाहिए, जो उत्कृष्टता अपनाने के मूल्य पर ही उपलब्ध होती हैं । लोक-प्रवाह और अपने संचित संस्कार मनोकामनाओं की पूर्ति की दिशा में खींचते और मनमानी करने के लिए उकसाते हैं इसके ठीक विपरीत वह क्षेत्र है जिसे आत्मा की पुकार कहते हैं । यहाँ सब कुछ दूसरे ही तरह का है । यहाँ वैभव बेचकर सन्तोष खरीदा जाता है । इतना बड़ा सौदा करना जुआरी द्वारा अपना सर्वस्व ऐसी बाजी पर लगा देने जैसा है जिसमें प्रत्यक्षतः घाटा ही घाटा है । ऐसा बड़ा कदम उठाना सती-शूरमाओं जैसा दुस्साहस है जिसमें प्रत्यक्ष का उत्सर्ग करके परोक्ष के उपलब्ध होने का सुनिश्चित विश्वास आवेश की तरह अन्तराल के कण-कण में छाया होता है । ऐसी स्थिति प्राप्त करने में केवल साहसी शूरवीर सफल होते हैं । भावनाओं के परिपोषण में कामनाओं की बलि चढ़ा देना जिनसे बन पड़ता है वस्तुतः वे ही धर्मात्मा हैं । कहा जाता

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

है कि धार्मिकता स्वर्ग के लालचियों और नरक से भयभीत लोगों को छिपाये रहने वाली माँद भर है, पर बात ऐसी है नहीं । कुछ उथले धर्माडम्बरियों या धर्मभीरुओं के लिए यह बात भले ही लागू होती हो, पर वस्तुतः धर्म एक सत्साहस और प्रबल पुरुषार्थ है जिसमें अन्तरात्मा को सर्वोपरि माना जाता है और उत्कृष्टता भरी भाव संवेदनाओं के समर्थन की सुख-सुविधाओं से लेकर स्वजनों को रुष्ट करने तक का ऐसा साहस प्रदर्शित किया जाता है जिसे अलौकिक एवं असाधारण कहा जा सके ।

धर्म अर्थात् सदाशयता

न्याय को सर्वप्रथम आधार विश्व-व्यवस्था के रूप में मिलता है । ऋग्वेद में इसे 'ऋत्' शब्द से प्रकट किया गया है। इसका अर्थ है-वह व्यवस्था जिसके द्वारा विश्व का संचालन हो रहा है । इस व्यवस्था का उल्लंघन करना अन्याय है । सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, ऋतुएँ तथा अन्य प्राकृतिक तत्त्व उसी व्यवस्था के अनुसार चल रहे हैं । जिस दिन यह व्यवस्था टूट जायगी, विश्व का विनाश हो जायेगा । यह व्यवस्था ही विश्व को धारण किये हुए है । इसका दूसरा नाम 'धर्म' है ।

जब इस सिद्धान्त को समाज पर लागू किया गया तो उसका यह अर्थ हो गया कि प्रत्येक व्यक्ति तथा वर्ग को अपनी-अपनी मर्यादा में रहकर कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए, समाज के संचालन के लिए यह अनिवार्य है । इसके लिए समानता की उपेक्षा करना अन्याय नहीं है । समाज को विद्वान, सैनिक, कृषक, सेवक सभी की आवश्यकता है । यदि कोई वर्ग अपना कर्त्तव्य छोड़कर दूसरे वर्ग में प्रवेश करता है, तो समाज की व्यवस्था टूट जायेगी । यह अन्याय है ।

यूनानी दार्शनिक प्लेटो और अरस्तू भी इसी सिद्धान्त के समर्थक रहे हैं । उनके मत में भी न्याय का आधार सामाजिक व्यवस्था है और इसके लिए विषमता बुरी नहीं है । प्लेटो का कथन है-जूते सीने वाला चमार, चमार ही रहेगा, नाविक नहीं बन सकता । किसान, किसान ही रहेगा, न्यायाधीश नहीं हो सकता । सैनिक, सैनिक ही रहेगा, व्यापारी नहीं बन सकता । अरस्तू ने इसी तथ्य को दूसरे रूप में उपस्थित किया है । उसका कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति का अपनी-अपनी मर्यादाओं में स्थिर रहना ही न्याय है । ये मर्यादाएँ समतामूलक नहीं हो सकतीं । समाज-व्यवस्था के लिए विषमता आवश्यक है । यह विषमता वर्गमूलक है, अर्थात् एक वर्ग दूसरे के समान नहीं हो सकता, किन्तु वर्ग के अन्तर्गत व्यक्तियों में परस्पर व्यवहार समतामूलक ही होना चाहिए । इस प्रकार न्याय का आधार वर्ग-वैषम्य और व्यक्ति-साम्य है ।

ईश्वर एक है, समूची मानव-जाति एक है और उसका उद्गम स्रोत एक ही है-यह ध्रुव सत्य है । प्रेम, त्याग, बलिदान, सेवा, भाईचारा, सभी धर्मों के प्रति समान आदर रखना, यही है धर्म के प्रति सच्ची आस्था । यही है वह सेवा, जिसमें मानवता के कल्याण की भावना ओत-प्रोत है । यही है धर्म का सार । सारे संसार में कोई दुखी न रहे, कोई भूखा न रहे, कोई नंगा न रहे । सबके पास सिर छिपाने के लिए स्थान हो । सोते-जागते, उठते-बैठते "सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया" की भावना से ओत-प्रोत जीवन रहना चाहिए ।

धर्मों का बाहरी स्वरूप कुछ भी बना रहे, किन्तु लक्ष्य सबका समान है । अविवेकी, ओछे और अन्ध बुद्धि के लोगों के लिए धर्म का बाहरी स्वरूप, देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार भिन्न भी हो सकता है । बिना सोचे-विचारे लड़ते रहना समझदारी नहीं है, किन्तु समझदार और विवेकी नहीं झगड़ते, न इस झमेले में पड़कर अपनी प्रगति ही अवरुद्ध होने देते हैं । वे जानते हैं कि धर्म घृणा नहीं प्रेम सिखाता है, फिर क्यों न प्रेम-मार्ग का अनुसरण कर शान्त और सुखमय जीवन-यापन किया जाय ।

धर्म बनाम समाजवाद

अधिकांश लोग समाजवाद अथवा साम्यवाद को आधुनिक समय का आन्दोलन समझते हैं और इसकी उत्पत्ति कल-कारखानों से मानते हैं । यह कथन एक सीमा तक सही माना जा सकता है, पर वास्तव में साम्यवाद का सिद्धान्त और उसका आन्तरिक भाव नवीन नहीं है । उसका जन्म उसी समय हो गया था जब मनुष्य ने जंगली अवस्था से निकलकर गाँव और कस्बों का निर्माण किया था । तभी से कुछ लोग शक्ति, उद्योग, चालाकी अथवा संयोग के फल से सम्पत्तिशाली बन गये और बहुत से निर्बलता, साहसहीनता, भोलेपन अथवा प्राकृतिक कोप से दरिद्र हो गये । अमीरों ने गरीबों को सताना, लूटना और गुलाम बनाकर सेवा कराना आरम्भ किया, जिसके फलस्वरूप गरीबों में असन्तोष का भाव पैदा होने लगा ।

इस प्रकार यह अमीरों और गरीबों अथवा अधिकार-सम्पन्न और अधिकार-विहीन लोगों का संघर्ष अति प्राचीनकाल से होता आया है । इस कलह में जिन लोगों ने गरीबों का पक्ष समर्थन किया, अथवा जिन्होंने इन लड़ाई-झगड़ों का अंत करके समाज में न्याय और शान्ति की स्थापना करने की चेष्टा की, वे वास्तव में अपने समय के साम्यवादी ही थे, चाहे उनकी भाषा आज से सर्वथा भिन्न रही हो और चाहे उनका संगठन आर्थिक आधारों के बजाय धार्मिक या आध्यात्मिक सिद्धान्तों पर हुआ हो । पाठकों को शायद यह बात कुछ असंगत-सी प्रतीत हो, पर हमारे ख्याल से महावीर, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद आदि जितने महान् धर्म-प्रचारक हुए हैं वे सब इसी श्रेणी के व्यक्ति थे और उनके जीवन-कार्य का सारांश यही था । यह बात दूसरी है कि उनके पश्चात् स्वार्थी और अवसरवादी लोग उनके संगठन में घुस गये और कुछ ही समय में उन्होंने मूल वस्तु की काया-पलट करके दर्शन, धर्म-शास्त्र,

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

स्मृति, पुराण आदि का तूमार खड़ा कर दिया और एक नये मजहब या सम्प्रदाय को जन्म दे डाला, जो उस महापुरुष के कार्यों और जीवन-उद्देश्य से सर्वथा भिन्न था।

ऐतिहासिक काल के पूर्व की अवस्था का विवेचन तो हम स्थानाभाव के कारण कर नहीं सकते, पर यह सर्वविदित है कि वैदिक-युग का भारतीय समाज, समानता और भ्रातृभाव के सिद्धान्तों पर आधारित था । उस समय मनुष्यों की तो क्या बात, यहाँ के ऋषि-मुनियों ने प्राणिमात्र से मैत्री-भाव रखने का उपदेश दिया था और "**आत्मवत् सर्वभूतेषु**" के सिद्धान्त की संसार भर में घोषणा कर दी थी ।

ऐतिहासिक युग के महापुरुषों में सम्भवत: महावीर स्वामी का नाम ही सर्वप्रथम आता है, क्योंकि वे भगवान् बुद्ध से भी कुछ पूर्व कार्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हो चुके थे । उस समय भारत में कर्मकाण्डों के धर्म की अति हो चुकी थी और उसका उद्देश्य भी आध्यात्मिक के बजाय खुले आम लौकिक और भौतिक हो गया था । इससे समाज में स्वार्थ और अन्याय की भरमार हो गई थी और धर्म के नाम पर उच्च वर्ण नीच वर्णों का शोषण कर रहे थे । महावीर स्वामी ने अहिंसा, अपरिग्रह और संयम के रूप में जिस मार्ग का उपदेश दिया वह लोक में फैली हुई असमानता, उत्पीड़न और शोषण के विरुद्ध ही था । उन्होंने स्पष्ट कहा-"किसी का बिना दिया धन नहीं लेना, क्योंकि धन मनुष्य के बाह्य प्राण के समान है, इसलिए किसी का धन हरण करना उसके वध करने के बराबर है ।" इसे आश्चर्य और खेद का विषय ही समझना चाहिए कि जिस धर्म का मूल त्याग और अपरिग्रह था वह आज 'सेठों' का धर्म बना हुआ है ।

भगवान् बुद्ध महावीर स्वामी के समकालीन और एक दृष्टि से सहयोगी ही थे । यह कल्पना सर्वथा असम्भव नहीं कि महावीर स्वामी के उदाहरण और उनके द्वारा उत्पन्न वातावरण ने ही गौतम बुद्ध को गृह-त्याग के लिए प्रेरित किया था । जिस कार्य को महावीर स्वामी ने उठाया था उसी अहिंसा और त्याग के प्रचार को बुद्ध ने आगे बढ़ाया और उसमें आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त कर दिखाई । उस समय शोषण करने वालों का स्थान ब्राह्मण और क्षत्रियों ने ग्रहण कर रखा था और किसान, बढ़ई, लुहार, सुनार, तेली, चर्मकार आदि उद्योग धन्धों में लगी जातियाँ शोषित बनी थीं । बुद्ध ने भी यह कहा था कि-"जो अधर्म द्वारा धनवान नहीं होना चाहता, वही धार्मिक है ।" इतना ही नहीं उनके संगठन में अधिकांश वैश्य और शूद्र जातियों के लोग सम्मिलित हुए थे, जिन्होंने कुछ समय बाद शोषक वर्ग की सत्ता को सैकड़ों वर्षों के लिए मिटा दिया और शासन की बागडोर शोषितों के हाथ में दे दी । स्वयं सम्राट अशोक भी इन्हीं जातियों में से था ।

जब हम विदेशों की तरफ दृष्टि डालते हैं तो दो सबसे बड़े धर्म-संस्थापकों में से एक महात्मा ईसा को भी इसी पथ का पथिक पाते हैं । उनके समय में पैले स्टायन में 'फरीसीज' नामक पूँजीपतियों का आधिपत्य था, जो साधारण श्रमजीवियों को पददलित रखते थे । ईसा ने गरीबों का पक्ष लिया और कहा कि सुई के नाके में होकर ऊँट भले ही निकल जाय पर किसी धनवान का स्वर्ग के द्वार में प्रवेश कर सकना सम्भव नहीं, साथ ही यह भी कहा-"उस सर्वशक्तिमान ने अहंकारियों का दर्प भंग कर दिया । उसने शक्तिसम्पन्नों को अपने आसन से गिरा दिया और दीन-दुखियों को महत्त्व प्रदान किया।" इस प्रकार की भावनाओं का फैलना शोषक वर्ग को कब पसन्द आ सकता था ? अत: वहाँ के शासकों और धर्माधिकारियों ने ईसा पर समाज विद्रोह का आरोप लगाकर सूली पर चढ़ा दिया ।

ईसा को प्रचार-कार्य करने का बहुत थोड़ा समय मिला था और जिन लोगों का पक्ष-समर्थन उन्होंने किया था वे बहुत ही शक्तिहीन और पिछड़े हुए थे । इसलिए उनके विचार ज्यादा प्रभाव न दिखा सके, केवल अल्पसंख्यक यहूदी श्रमजीवी छोटी-छोटी स्वतन्त्र समितियाँ बनाकर उनके सिद्धान्तों के अनुसार सामूहिक और समाजवादी जीवन बिताते रहे । वे लोग 'एबियोनाइट' कहलाते थे और गरीबी को गौरव का विषय मानते थे, पर शोषकों से यह भी सहन न हुआ और उन्होंने ईसा के नाम पर बहुत-सी चमत्कारपूर्ण कथाएँ और बाह्याडम्बर रचकर एक नया मजहब चला दिया । इन धर्माचार्यों में सबसे प्रमुख सेंटपाल था जो स्वयं एक 'फर्रासीज' था । सम्भवत: इसी कारण आज ईसाई धर्म पूँजीवाद का सबसे बड़ा आश्रय-स्थल बना हुआ है और उस सच्चे महापुरुष के नाम को बदनाम कर रहा है ।

दूसरे धर्म इस्लाम के संस्थापक मुहम्मद साहब का उदाहरण भी इससे भिन्न नहीं है । उन्होंने भी वहाँ के दुर्दशाग्रस्त जन-समुदाय को उठाने का प्रयत्न किया जिससे कुरैशी लोग (अरब के पूँजीपति) उनको मारने की कोशिश करने लगे, पर वे व्यावहारिक आदमी भी थे और उन्होंने खूँखार कुरैशियों का दमन करके समानता और भ्रातृ-भाव के सिद्धान्तों से युक्त मजहब का प्रचार करने में सफलता प्राप्त की । उन्होंने घोषणा की कि, "सूद लेना बहुत बड़ा पाप है । धन को अन्य लोगों के उपकारार्थ खर्च करना ही धर्म है । जिसकी आमदनी अधिक हो उसे टैक्स (जकात) के रूप में अपनी आय का ४० प्रतिशत गरीबों को दान कर देना चाहिए । फिर भी धन इकट्ठा हो जाय तो हज (मक्का की यात्रा) कर आनी चाहिए ।" इस प्रकार मुहम्मद साहब ने अपने समाज-संगठन में ऐसे नियमों का समावेश किया जिससे पूँजीवाद के पनपने को मौका न मिल सके । उनके प्रयत्न से कई सौ वर्षों तक इस्लाम समानत का एक बड़ा प्रचारक बना रहा, पर बाद में उसमें भी बादशाहों, नवाबों और अमीरों ने श्रेणी-भेद उत्पन्न कर दिया और मुहम्मद साहब के मूल उद्देश्य को बहुत कुछ बदल डाला ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

इस प्रकार साम्यवाद या समाजवाद की भावना हजारों वर्षों से सामाजिक न्याय की स्थापना का प्रयत्न करती आयी है, पर कुछ व्यक्तियों की स्वार्थ और अपहरण की प्रवृत्तियों ने सदैव उसको दबाने और अन्याय तथा शोषण की प्रणाली को जारी रखने का प्रयत्न किया है। होते-होते हम वर्तमान समय में आ पहुँचे हैं, जबकि पूँजीवाद अपनी चरमसीमा पर पहुँच गया है और सत्य भी यह है कि जब तक कोई सामाजिक-प्रणाली अपनी चरमसीमा पर नहीं पहुँच जाती, तब तक स्वाभाविक रूप से उसका अन्त भी नहीं हो सकता । यही अवस्था अब पूँजीवादी-प्रणाली की हो रही है, पर वह अब भी अपनी स्वाभाविक मृत्यु से मरने को तैयार नहीं, वरन् अपने साथ समस्त संसार का विनाश करने की धमकी दे रही है ।

पूँजीवाद की एकत्रित शक्ति को देखते हुए यह असम्भव नहीं कि वह अपनी धमकी को कार्यरूप में परिणत करके संसार में प्रलय काण्ड उपस्थित कर दे पर साथ ही यह भी अटल सत्य है कि पूँजीवाद चाहे कितनी भी बड़ी नाशलीला क्यों न कर दिखलाये और संसार की प्रगति को सौ-दो-सौ वर्षों के लिए रुद्ध कर दे, पर अब उसका अन्त अवश्यम्भावी है और उसका स्थान समाजवादी प्रणाली ही ग्रहण करेगी, क्योंकि यही प्रकृति और मानव-धर्म का निर्देश है ।

नीति-अनीति का भेद और सफलता

धर्म की व्याख्या करते हुए स्वामी शंकराचार्य ने अपने गीता भाष्य में लिखा है-"**जगतः स्थितिकारणं प्राणिनां साक्षात् अभ्युदय निःश्रेयसहेतुः यः स धर्मो**" जो जगत की स्थिति का कारण प्राणियों की उन्नति और निःश्रेयस् (आत्म-कल्याण) का साक्षात् हेतु है वह धर्म है ।

धर्म की इस परिभाषा में जगत् की स्थिति, लौकिक उन्नति और आत्म-कल्याण तीन प्रयोजनों को समाहित किया गया है । इसीलिए धर्म क्या है और अधर्म क्या है ? यह जानने के लिए किसी भी क्रिया, विचार व सिद्धान्त को नीति, सफलता और साधना की व्यावहारिक कसौटी पर परखा जाता है । नैतिकता धर्म का ही एक अंग है । नीति-अनीति के विचार की आवश्यकता क्यों उत्पन्न हुई? इसका विवेचन करते हुए महाभारतकार ने लिखा है ।

"तब मनुष्यों में कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान नष्ट हो गया और वे लोभ के अधीन हो गये । जो वस्तु उनको प्राप्त नहीं थी वह वस्तु वे पाने का यत्न करने लगे । इस पाने की लालसा को ही काम कहते हैं । काम के अधीन मनुष्यों में रोग उत्पन्न हुआ और वे कर्तव्य-अकर्तव्य में भेद भूल गये । और इस कारण अव्यवस्था उत्पन्न हुई । अव्यवस्था को दूर करने के लिए सत्पुरुषों ने परमात्मा का चिन्तन किया । परमात्मा ने उन्हें मार्ग बताया और नीति पर चलने की आज्ञा दी ।" (महा. शा. ५७, १७-२०, २८)

नीति के इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि अपने स्वार्थ-साधन के साथ-साथ औरों के हित की भी चिन्ता की जाय । अपने स्वार्थ को तिलांजलि देकर परमार्थ परायण बनना उच्चकोटि की आध्यात्मिकता है, पर वहाँ तक पहुँचने के लिए पहला कदम नीतिपूर्वक अपना स्वार्थ-साधन है । नीति का अर्थ यह है कि हम दूसरों के हितों में हस्तक्षेप किये बिना अपने हितों को साधते रहें । इसमें जहाँ अव्यवस्था-जनित दोष उत्पन्न नहीं होते वहीं असफल होने या सफलता के छिन जाने का भय भी नहीं रहता । क्योंकि एक-एक व्यक्ति जब नीति मार्ग का अनुसरण करने लगेगा तो वह अपने लाभ की चिन्ता तो करेगा ही उसके लिए प्रयत्नशील भी रहेगा, पर राग और लोभ से प्रेरित होकर दूसरों के हित का अपहरण भी नहीं करेगा ।

नीति पर चलते हुए असफलता की बहुत कम या नहीं के बराबर सम्भावना है । ईमानदारी को नीति-नियम स्वीकार कर लिया जाय और उसका पूरी तरह पालन किया जाय तो अन्य लोगों के विश्वास प्रामाणिकता और खरेपन की विशेषताएँ अपने आप साथ आकर जुड़ जाती हैं । इन विशेषताओं से किये गये प्रयत्नों के साथ अन्य लोगों का सहयोग स्वभावतः मिल ही जाता है । जिसका अतिरिक्त लाभ मिलकर सफलता का मार्ग और अधिक प्रशस्त बनता है । अनीति सफल होती है, यह कहना अनुचित होगा । क्योंकि लोगों के सामने जब अनीति की कलई खुलती है तो विश्वास उठने से लेकर दण्ड मिलने तक जितने दुष्परिणाम भोगने पड़ते हैं वे मिलकर अनीति अपनाने वाले का मूल्य नष्ट कर देते हैं और संयोगवश हाथ लगी सफलता इतनी महँगी पड़ती है कि वह असफलता से भी ज्यादा दुःखदायी बन जाती है ।

लोग भले ही यह कहते रहें कि नीति की अपेक्षा अनीति के शॉर्टकट से सफलता अधिक और तत्काल मिलती है, पर विचारपूर्वक देखा जाय तो अनीति छद्म वेश में नीति का ही मुखौटा ओढ़े होती है । मिलावट करने वाला दुकानदार भी अपनी वस्तु को प्रामाणिक, विशुद्ध और उचित नाप-तौल में उचित रेट पर बेचने का दावा अपने ग्राहक से करता है । यदि वह कहने लगे कि "मेरे पास मिलावट की चीज है । उसकी शुद्धता का मैं जिम्मेदार नहीं हूँ और कम भी तोलूँगा" तो लोग या तो उसे पागल कहेंगे अथवा उसकी दुकान उठवाकर ही दम लेंगे । मिलावटखोर भी अपनी चीज को बेचने के लिए नीति की-शुद्धता की आड़ लेता है । इस प्रकार कोई अनीतिपूर्वक सफलता प्राप्त ही कर नहीं सकता। करता भी है तो नीति की आड़ लेकर ।

तो यह आसान लगने लगता है कि नीति की आड़ लेकर अनीति अपनायी जाय । यह छद्म नीति और भी खतरों से भरी है । अपनी कमजोरी पकड़े जाने का डर, चालाकी खुल जाने का भय और उसके बाद उपेक्षा, तिरस्कार, दण्ड आदि न जाने कितने दुष्परिणाम हैं जो

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

छद्म नीति अपनाने वालों के लिए हर घड़ी दरवाजे पर खड़े रहते हैं । उसकी बुद्धि, प्रतिभा, शक्ति और क्षमता सब अनीति को नीति साबित करने में लगी रहती है । फलस्वरूप वह लौकिक दृष्टि से सम्पन्न, समृद्ध और समादृत भले ही हो पर इन सफलताओं के साथ जो दूसरा अनिवार्य पक्ष जुड़ा है, आत्म-कल्याण का, आत्म-शान्ति और आत्म-सन्तोष का, जिसके लिए कि सारी गतिविधियाँ अपनायी जाती हैं, धूमिल ही नहीं तिरोहित भी हो जाती हैं ।

लोकसंवाद में जिसे सफलता कहा जाता है वह अपने आप में कोई उपलब्धि नहीं है । वह सहायक है, पर लक्ष्य नहीं; राह का खर्च है, पर मंजिल नहीं । विचारशील व्यक्तियों के लिए सफलता अन्तिम लक्ष्य कभी नहीं रहा । लक्ष्य आत्म-कल्याण और जीवनोत्कर्ष है और सफलता उसके निर्वाह की एक आवश्यकता भर है । यश, पद, धन, शक्ति-बल आदि जो चाहे जो हो वह आत्मिक स्वास्थ्य के मूल्य पर कदापि नहीं खरीदी जा सकती । खरीदना प्रवंचना मात्र है जो धोखा देती रहती है और वस्तुस्थिति सामने आने पर अन्ततः त्रासदायी सिद्ध होती है ।

"हम संकल्प करते हैं कि अनीति से प्राप्त सफलता की अपेक्षा नीति पर चलते हुए असफलता को शिरोधार्य करेंगे ।" इसका मतलब यह नहीं है कि सफलता अनीति से ही मिलती है और नीति के मार्ग पर केवल असफलता ही हाथ लगती है । वस्तुतः तो अनीति से सफलता मिलने की आशा करना दिवास्वप्न जैसा है फिर भी हम सफलता की शर्त पर भी अनीति नहीं अपनायेंगे । यदि किसी प्रकार अनीति से सफलता मिलती दिखाई भी दे तो भी हमें वह स्वीकार नहीं करेंगे । क्योंकि वह इतनी महँगी होगी जो हमें मंजिल पर पहुँचने से पहले ही मार्ग की भूल-भुलैया में उलझा देगी ।

यह एक तथ्य है कि जब हम किसी अच्छे उद्देश्य के लिए अच्छे मार्ग का अवलम्बन लेते हैं तो मार्ग के संघर्षों और कष्टों के बीच भी हमें अपने लक्ष्य का स्मरण बना रहता है । लक्ष्य के लिये हमें कितनी ही कीमत क्यों न चुकानी पड़े, हम अपने पथ से विचलित नहीं होते, क्योंकि मार्ग की दृढ़ता एक सम्बल का काम भी करती है । इसके विपरीत अनुचित तौर-तरीके अपनाने वाले उनके प्रलोभन युक्त परिणामों को देखते हैं और वे उनमें ही उलझकर रह जाते हैं। इस बात को उस किशोर बालक के दृष्टान्त से भलीभाँति समझा जा सकता है जो अपने कार्य को भूलकर रास्ते में मदारी और बाजीगरों के तमाशे में ही रम गया और बाजार से क्या लेने के लिए आया हूँ यह तो भूला ही, यह भी भूल गया कि मैं अपने घर किस रास्ते से वापस लौट सकता हूँ । उपयुक्त नीति पथ पर एकाग्रता और दृढ़तापूर्वक न चलने वाले बटोही को उसी प्रकार अपने लक्ष्य से भटका और पथभूला हो जाना पड़ता है ।

यदि हम यह मानते हैं कि मनुष्य जीवन का लक्ष्य खाने-पीने, शान-शौकत से रहने और भोग-सामग्रियों का संचय करना मात्र नहीं है । इसके विपरीत आत्म-कल्याण है, तो हमें अपना दृष्टिकोण बदलना होगा और सुख-सुविधाओं के लिए आकुल-व्याकुल न रहकर वही रीति-नीति अपनानी होगी जो आत्मिकवर्चस्व गरिमा को बढ़ाने में सहायक ही नहीं, आधारभूत भी सिद्ध हो । इसके लिए सफलता और सुख-समृद्धि के बहुतेरे आकर्षणों से मुक्त होना पड़ेगा तथा आत्मिकस्तर को ऊँचा उठाने के लिए नीतिमत्ता का वरण करना पड़ेगा । नैतिक जीवन को साधने का प्रयोजन इससे सिद्ध हो जाता है कि हम अपनी सुख-सुविधाओं के साथ-साथ औरों की सुख-सुविधाओं का भी ध्यान रखें और निर्बाध-निष्कलुष होकर प्रगति के पथ पर बढ़ते रहें ।

पाप और पुण्य का रहस्य

श्रेष्ठ कार्य वह है, जो श्रेष्ठ उद्देश्य के लिये किया जाता है । उत्तम कार्यों की क्रिया-प्रणाली भी प्रायः उत्तम ही होती है । दूसरों की सेवा या सहायता करनी है तो प्रायः उसके लिये मधुर भाषण, नम्रता, दान, उपहार आदि द्वारा ही उसे सन्तुष्ट किया जाता है । परन्तु कई बार इसके विपरीत अवसर भी आते हैं, कई बार ऐसी स्थिति सामने आती है कि सदुद्देश्य होते हुए भी, भावनाएँ उच्च, श्रेष्ठ, सात्विक होते हुए भी क्रिया-प्रणाली ऐसी कठोर, तीक्ष्ण एवं कटु बनानी पड़ती है जिससे लोगों को यह भ्रम हो जाता है कि कहीं यह सब दुर्भाव से प्रेरित होकर तो नहीं किया गया । ऐसे अवसरों पर वास्तविकता का निर्णय करने में बहुत सावधानी बरतने की आवश्यकता होती है ।

सीधे-सादे अवसरों पर सीधी-सादी प्रणाली से भली प्रकार काम चल जाता है । किसी भूखे, प्यासे की सहायता करनी है तो वह कार्य अन्न-जल देने के सीधे-सादे तरीके से चल जाता है । इसी प्रकार किसी दुःखी या अभावग्रस्त को अभीष्ट वस्तुएँ देकर उसकी सेवा की जा सकती है । धर्मशाला, कुआँ, बाबड़ी, बगीचा, पाठशाला, गौशाला, अनाथालय, औषधालय, क्षेत्र, सदावर्त्त, प्याऊ आदि के द्वारा लोकसेवा की जा सकती है और यज्ञ, कथा, कीर्तन, सत्संग, उपदेश, सत्साहित्य आदि द्वारा जनहित किया जाता है । ऐसे कार्य निश्चय ही श्रेष्ठ हैं और उनकी आवश्यकताएँ एवं उपयोगिता सर्वत्र स्वीकार की जा सकती है ।

परन्तु कई बार इस प्रकार की सेवा की भी बड़ी आवश्यकता होती है जो प्रत्यक्ष में बुराई मालूम पड़ती है और उसके करने वाले को अपयश ओढ़ना पड़ता है । इस मार्ग को अपनाने का साहस हर किसी में नहीं होता । बिरले ही बहादुर इस प्रकार की दुस्साहसपूर्ण सेवा करने को तैयार रहते हैं । दुष्ट और अज्ञानियों को उस मार्ग से छुड़ाना जिस पर कि वे बड़ी ममता और अहंकार के साथ

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

प्रवृत्त हो रहे हैं, कोई साधारण काम नहीं है । सीधे आदमी सीधे तरीके से मान जाते हैं । उनकी भूल ज्ञान से, तर्क से, समझाने से सुधर जाती है, पर जिनकी मनोभूमि अज्ञानान्धकार से कलुषित हो रही है और साथ ही जिनके पास कुछ शक्ति भी है, वे ऐसे मदान्ध हो जाते हैं कि सीधी-सादी क्रिया-प्राणाली का उन पर प्रायः कुछ भी असर नहीं होता ।

मनुष्य शरीर धारण करने पर भी जिनमें पशुत्व की प्रबलता और प्रधानता है, ऐसे प्राणियों की कमी नहीं है । ऐसे प्राणी सज्जनता, साधुता और सात्विकता का कुछ भी मूल्यांकन नहीं करते । ज्ञान से, तर्क से, नम्रता से, सज्जनता से, सहनशीलता से उन्हें अनीति के दुखदाई मार्ग पर से पीछे नहीं हटाया जा सकता । पशु समझाने से नहीं मानता । उससे कितनी ही प्रार्थना की जाय, शिक्षा दी जाय, उदारता बरती जाय, वह इससे कुछ भी प्रभावित न होगा और न अपनी कुचाल छोड़ेगा । पशु केवल दो चीजें पहचानता है–एक लोभ, दूसरा भय । दाना, घास खिला कर उसे ललचा कर कहीं भी ले जाइये, वह आपके पीछे-पीछे चलेगा या लाठी का डर दिखाकर जिधर चाहें उधर ले जाया जा सकता है । भय या लोभ द्वारा अज्ञानियों को, कुमार्गगामियों को, पशुओं को कुमार्ग से विरत और सन्मार्ग में प्रवृत्त कराया जा सकता है ।

भय उत्पन्न करने के लिये दण्ड का आश्रय लिया जाता है । लोभ के लिये कोई ऐसा आकर्षण उसके सामने उपस्थित करना पड़ता है जो उसके लिये आज की अपेक्षा भी अधिक सुखदायी हो । इसी प्रकार उसके सामने कोई ऐसा डर खड़ा कर दिया जाय जिससे वह घबरा जाय और अपने ऊपर इतनी भयंकर आपत्ति अनुभव करे जिसकी तुलना में अपने वर्तमान कुटेवों को छोड़ना उसे लाभदायक मालूम हो तो वह उसे छोड़ सकता है । नशेबाजी, व्यभिचार आदि बुराइयों के दुष्परिणाम को बढ़ा-चढ़ाकर, बताकर कई बार उस ओर चलने वालों को इतना डरा दिया जाता है कि वे उसे स्वाभाविक छोड़ देते हैं । इस प्रकार के अत्युक्तिपूर्ण वर्णनों में यद्यपि असत्य का अंश रहता है, पर वह इसलिये बुरा नहीं समझा जाता क्योंकि उसका प्रयोग सदुद्देश्य से किया गया है । इसी प्रकार किन्हीं सत्कार्यों का लाभ अत्युक्तिपूर्ण रीति से बढ़ा-चढ़ाकर बताया जाय तो उसमें कुछ दोष नहीं होता । कारण कि बाल, बुद्धि लोगों को सन्मार्ग की ओर अग्रसर करने के लिये उस अत्युक्ति का आश्रय लिया गया है । गंगास्नान, तीर्थयात्रा, ब्रह्मचर्य, दान आदि के अत्युक्ति पूर्ण महात्म्य हमारे धर्म ग्रन्थों में भरे पड़े हैं । उन्हें असत्य ठहराने का दुस्साहस कोई विच (व्यक्ति नहीं कर सकता, क्योंकि आम जनता जिसकी बाल-बुद्धि की प्रधानता रहती है, बिना विशेष भय और बिना विशेष लोभ के उच्चता के कष्टमय म पर चलने के लिये कदापि सहमत नहीं हो सकती । स्वर्ग का आकर्षक आनन्ददायक वर्णन और नरक का भयंकर रोमांचकारी, दुःखदायी चित्रण इसी दृष्टि से किया है कि इस प्रबल लोभ या भय से प्रभावित होकर लोग अनीति का मार्ग छोड़कर नीति का मार्ग अपनाएँ। स्वर्ग-नरक की इतनी आलंकारिक कल्पनाएँ रचने वालों को क्या हम झूठा ठहराएँ ? नहीं, यदि हम ऐसा करेंगे तो यह पहले सिरे की मूर्खता होगी ।

संसार में अज्ञानग्रस्त, स्वार्थी, नीच मनोवृत्ति वाले बाल-बुद्धि लोगों की कमी नहीं है । उनकी सेवा, उनकी इच्छाएँ पूर्ण करने में सहायक बनकर नहीं , वरन् बाधक बनकर ही की जा सकती हैं । बालक हर घड़ी गोदी में चढ़ना चाहता है, स्कूल जाने से जी चुराता है, पैसे चुरा ले जाता है या और कोई कुटेव सीख रहा है, उसके साथ उदारता बरतने, उसके कार्यों में सहायक होने का अर्थ तो उसके साथ शत्रुता करना होगा । इस प्रकार तो वह बालक बिल्कुल बिगड़ जायेगा और उसका भविष्य अन्धकारमय हो जावेगा । कोई रोगी है, कुपथ्य करना चाहता है या सन्निपात ग्रस्त होकर अंड-बंड कर्म करने को कहता है, उसकी इच्छापूर्ति करने का अर्थ होगा–उसे अकाल मृत्यु के मुख में ढकेल देना । इस प्रकार के बालकों और रोगियों की सच्ची सेवा इसी में है कि वह जिस मार्ग पर आज चल रहे हैं, जो चाहते हैं उसमें बाधा उपस्थित की जाय, उसका मनोरथ पूरा न होने दिया जाय । इस कार्य से सीधी-सादी तरकीबों से ज्ञान और विवेकमय उपदेश देने से कई बार सफलता नहीं मिलती और उनके हित का ध्यान रखते हुए विवेकवान् और निःस्वार्थ पुरुषों को भी असत्य या छल का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है । ऐसे छल या असत्य को निन्दित नहीं ठहराया जा सकता । रोगी या बालकों को फुसलाकर उन्हें ठीक मार्ग पर रखने के लिये यदि झूठ बोला जाय, डर या लोभ दिखाया जाय, किसी अत्युक्ति का प्रयोग किया जाय तो उसे निन्दनीय नहीं कहा जायेगा ।

आसुरी शक्तियाँ जब अत्यधिक प्रबल हो जाती हैं और उनको वश में करने के लिये सीधे-सादे तरीके असफल होते हैं तो काँटे से काँटा निकालने की "शठे शाठ्यं समाचरेत" की नीति अपनानी पड़ती है । सिंह व्याघ्र आदि का पकड़ना या मारना, सीधे-सादे तरीके से नहीं हो सकता, उसके सामने जाकर कुश्ती लड़ना या पकड़ लाना आदमी की शक्ति के बाहर है । जाल में फँसाकर, छिपकर, बन्दूक आदि हथियार का आश्रय लेकर ही उन्हें पकड़ा या मारा जा सकता है । मोटी दृष्टि से देखने में यह क्रियाएँ, छल धोखेबाजी, कायरतापूर्ण आक्रमण कही जा सकती हैं, पर विवेकवान् पुरुष जानते हैं कि इसमें कुछ भी अनीति नहीं है, हिंसक जन्तुओं की भयंकर करतूतें, उनको रोकने की अनिवार्य आवश्यकता एवं मनुष्य की अल्पशक्ति पर विचार करते हुए यह उचित प्रतीत होता है कि इन हिंसक जन्तुओं को जिस प्रकार से भी छल-बल से परास्त किया जा सकता है तो वैसा भी निःसंकोच करना चाहिए ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

प्राचीन इतिहास पर हम जब हम दृष्टिपात करते हैं तो प्रतीत होता है कि इस नीति का अवलम्बन अनेक महापुरुषों को करना पड़ा । धर्म की स्थूल मर्यादाओं का उल्लंघन करना पड़ा है । इस उल्लंघन में उन्होंने लोकहित का, धर्म वृद्धि का, अधर्म विनाश का ध्यान अपनी पूर्ण सद्भावना के साथ रखा था इसलिये उनको उस पाप का भागी नहीं होना पड़ा जो साधारणतया धर्म-मर्यादाओं के उल्लंघन करने पर होता है ।

भस्मासुर ने जब वरदान प्राप्त कर लिया कि मैं जिस किसी के भी सिर के ऊपर हाथ रख दूँ वही भस्म हो जाय तो उसने महादेवजी को ही भस्म करने की ठानी ताकि सुन्दरी पार्वती को वह प्राप्त कर ले । भस्मासुर शंकर जी के सिर पर हाथ कर उन्हें भस्म करने के लिये उनके पीछे दौड़ा । शंकर जी अपने प्राण बचाकर भागे । विष्णु भगवान् ने देखा कि यह सारी उलझन उत्पन्न हुई । असुर बलवान है, उसे समाप्त करने के लिये छल का उपयोग करना चाहिए । वे पार्वती का रूप बनाकर पहुँचे और कहा-"असुरराज ! मैं आपको बड़ा प्रेम करती हूँ । आपके साथ रहना चाहती हूँ, पर एक बात मुझे शंकर जी की बहुत पसंद है । वह है-उनका नृत्य ! आप भी यदि वैसा नृत्य कर सकें तो मैं इसी क्षण से आपके साथ चलने को तैयार हूँ ।" भस्मासुर बड़ा प्रसन्न हुआ । उसने पार्वती के साथ नृत्य करते समय में उसने अपना हाथ सिर पर रखा और स्वयं जलकर भस्म हो गया । विष्णु ने अपने छल बल से उस प्रचंड असुर को सहज ही नष्ट कर दिया ।

समुद्र मंथन के बाद चौदह रत्न निकले । अन्य रत्न तो बँट गये, पर अमृत के बँटवारे पर काफी झगड़ा हुआ । देवता और असुर दोनों ही इस बात पर तुले हुए थे कि अमृत हमें मिलना चाहिए । विष्णु ने देखा कि ऐसे अवसरों पर छल का अचूक हथियार ही काम देता है । उन्होंने मोहिनी रूप बनाया, असुरों को लुभाया, अमृत बाँटने के लिये असुरों की ओर से प्रतिनिधि बने, देवताओं को सारा अमृत पिला दिया । असुर बगलें झाँकते रह गये । उन्होंने देखा कि हमारे साथ भारी विश्वासघात हुआ । पर मोहिनी रूप विष्णु का उद्देश्य तो महान् था । असुरों के साथ छल और विश्वासघात करने का दोष उनको छू भी न सकता था ।

राजा बलि को धोखे में डालने के लिये बामन अंगुल का छोटा-सा रूप-साढ़े तीन कदम भूमि माँगना और भूमि नापते समय इतना विशाल शरीर बना लेना कि तीन कदम में ही सब कुछ नाप लिया गया और आधे कदम के लिये बलि को अपना शरीर देना पड़ा । इसे स्थूल दृष्टि वाले क्या कहेंगे ?

सती वृन्दा का सतीत्व नष्ट करने के लिये भगवान् का जालंधर का रूप बनाकर जाना और उसका सतीत्व नष्ट करना मोटे-तौर से धर्म नहीं कहा जा सकता । फिर भी इसलिये उचित था, क्योंकि जालंधर की मृत्यु इसके किये बिना नहीं हो सकती थी और जालंधर ऐसा दुष्ट था कि उसके जीवित रहने से असंख्य प्रजा पर विपत्ति के पहाड़ टूट रहे थे ।

राम ने वृक्ष की आड़ में छिपकर बाली को मारने में युद्ध के धर्म नियमों का स्पष्ट उल्लंघन किया । इसे क्या कहा जायगा ?

महाभारत में आइये । धर्मराज युधिष्ठर ने अश्वत्थामा की मृत्यु का छलपूर्ण समर्थन किया । अर्जुन ने शिखंडी की ओट में खड़े होकर भीष्म को मारा, कर्ण के रथ का पहिया गढ़ जाने पर भी उसका वध किया गया । धड़ से नीचे के भाग को घायल करना वर्जित होने पर भी भीम द्वारा दुर्योधन की जंघा पर गदा प्रहार हुआ । क्या ये सब धर्मयुद्ध के लक्षण हैं ? पर वहाँ धर्मयुद्ध के नियमों को बरतने का अवसर ही कहाँ था ।

आपत्ति धर्म के अनुसार घोर दुर्भिक्ष पड़ने पर, प्राण संकट में होने पर, अपने शरीर को लोक-हित के लिये जीवित रखने की आवश्यकता अनुभव करते हुए-विश्वामित्र ऋषि, चाण्डाल के घर कुत्ते का माँस चुराते हैं । चाण्डाल उन्हें पकड़ लेता है और चोरी करने के लिये ऋषि की भर्त्सना करता है, विश्वामित्र उसे सविस्तार समझाते हैं कि मूर्ख तू धर्म को जितना स्थूल समझता है वह उतना स्थूल नहीं । किसी महान् उद्देश्य के लिये अधर्म करना भी धर्म है । इसी प्रकार एक बार अकाल पड़ने पर अपनी लोक-हितैषी जीवन की रक्षा के लिये उपस्ति ऋषि को एक अन्त्यज के झूठे उड़द खाकर अपने प्राण बचाने पड़े थे ।

प्रहलाद का पिता की आज्ञा उल्लंघन करना, विभीषण का भाई को त्यागना, भरत का माता की भर्त्सना करना, बलि का गुरु शुक्राचार्य की आज्ञा न मानना, गोपियों का परपुरुष श्रीकृष्ण से प्रेम करना, मीरा का अपने पति को त्याग देना लौकिक दृष्टि से धर्म की स्थूल मर्यादा के अनुसार यद्यपि अनुचित कहे जा सकते हैं, पर धर्म की सूक्ष्म दृष्टि से इसमें सब कुछ उचित ही हुआ है । परशुराम जी द्वारा अपनी माता का सिर काटा जाना भी इसी प्रकार औचित्ययुक्त था ।

हिन्दू-धर्म के रक्षक छत्रपति शिवाजी द्वारा जिस प्रकार अफजल खाँ का वध किया गया, जिस प्रकार वह फलों की टोकरी में छिपकर बादशाह के बन्धन में से निकल भागे, उसे भी कोई मूढ़मति लोग छल कह सकते हैं । भारतीय स्वाधीनता के इतिहास में क्रान्तिकारियों ने ब्रिटिश सरकार को उलटने के लिये जिस नीति को अपनाया था उसमें चोरी, डकैती, जासूसी, वेश बदलना हत्या, कत्ल, झूठ बोलना, छल, विश्वासघात कह सकते हैं । इन कार्यों को निरन्तर करते रहने पर भी वे कितने धर्मात्मा कहलाये । असंख्यक, दीन, दुःखी प्रजा की करुणाजनक स्थिति में द्रवित होकर अन्यायी शासकों को उलटने का उन्होंने निश्चय किया था । कानून की पोथियों ने भले ही उन्हें दोषी ठहराया और उन्हें कठोरतम दंड

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

दिये परमात्मा की दृष्टि में, धर्म के तत्त्वज्ञान की कसौटी पर वे कदापि पापी घोषित नहीं किये जावेंगे ।

सुनते हैं कि प्राचीनकाल में कोई डाकू भी अमीरों को लूटकर प्राप्त धन को गरीबों में बाँटते थे । इस प्रकार की भावनाएँ कानून के विपरीत होते हुए भी तात्विक दृष्टि से हेय नहीं हैं । राजनीति के नेता, युद्ध के सेनापति, सरकार के गुप्तचर विभाग के कर्मचारी इस तथ्य को अपनी विचार धारा का प्रधान अंग मानकर कार्य करते हैं । यदि वे सत्य और निष्कपटता की स्थूल परिभाषा के अनुसार अपना कार्य करने लगें तो उनका कार्य एक दिन भी चलना असम्भव है ।

इन सब बातों पर विचार करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि हमारे अन्तःकरण में सत्य, प्रेम, न्याय, त्याग, उदारता, संयम, परमार्थ आदि की उच्च भावनाओं का होना आवश्यक है । उनकी जितनी अधिक मात्रा हो उत्तम है, पर संसार के उन व्यक्तियों के साथ जो अभी अज्ञान-पाप के असर से बेतरह पीड़ित हो रहे हैं, काफी सावधानी बरतने की आवश्यकता है । उनकी आत्मा का कल्याण हो, वे अनीति से छूटें, इस भावना के साथ यदि उन्हें भय या लोभ से प्रभावित करके सत्मार्ग पर लाया जा सके तो उसमें डरने की कोई बात नहीं है । चोर, डाकू, जेबकट, भ्रष्टाचारी, दुष्टात्मा लोगों के भेद छल करके यदि मालूम कर लिये जाएँ और उन्हें पकड़वा दिया जाय तो इसमें बुराई की कोई बात नहीं है । ऐसे अवसरों पर हम अपनी धर्मभीरुता को लोकहित की तुलना में पीछे ही रखना चाहिए । शास्त्र में ऐसे कितने ही वचन हैं जिनमें कहा गया है कि-"सदुद्देश्य के लिये प्रयुक्त हुआ असत्य दुर्भाव के लिये प्रयोग हुए सत्य की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है ।" क्रिया की अपेक्षा भावना का ही महत्त्व अधिक है । यदि उच्च उद्देश्य के लिये निन्दित कार्य भी किया जाय तो उससे भी लोकहित ही होता है और वह भी धर्म कार्य के समान ही पुण्यफल प्रदान करता है ।

नैतिकता की खरी कसौटी

पाप क्या है ? पुण्य क्या है ? सत् क्या है ? असत् क्या है ? उचित क्या है ? अनुचित क्या है ? शुभ क्या है ? अशुभ क्या है ? अच्छा क्या है ? बुरा क्या है ? मानव जाति ने जब से विचार करना आरम्भ किया तब से ये प्रश्न उसके सामने हैं । ऐसा नहीं है कि इनके सार्वभौम उत्तर प्राप्त करने की कोशिश नहीं की गई । परन्तु प्रयत्न के बावजूद भी कोई ऐसा समाधानकारक उत्तर नहीं मिला है जिसे सब देश और सब काल में सबके लिए उपयुक्त कह सकें ? यही कारण है कि परम पुरातन होते हुए भी ये प्रश्न नित्य नवीन बने हुए हैं ।

नैतिकता की मान्यताओं को अधिकांश विचारक देशकाल और पात्र सापेक्ष मानते हैं । इस कारण से एक ही कार्य एक समय, एक स्थान में एक व्यक्ति के लिये अच्छा सिद्ध होता है और वही कार्य दूसरे समय, दूसरे स्थान में दूसरे व्यक्ति के लिये अनैतिक बन जाता है । जैसे-युद्ध के समय सामूहिक हत्या उचित मानी गई, किन्तु अन्य परिस्थिति में हत्या पाप है, अपराध है । इस अनिश्चयात्मक स्वरूप के कारण ही, लगता है नैतिक मान्यताएँ जन-साधारण को अनावश्यक अनाकर्षक जँचती हैं । उन्हें लगता है कि अच्छे-बुरे का विचार करना समय की बरबादी और निरी मूर्खता है । आज भी संसार में ऐसे लोगों का अभाव नहीं है जो सुकरात को मूर्खराज की उपाधि से निःसंकोच विभूषित करते हैं ।

सामान्यजन प्रत्येक प्रश्न पर व्यापारी दृष्टि से विचार करते हैं। वे प्रत्येक कार्य को लाभ-हानि की तुला पर तोलते हैं । नैतिक मान्यताएँ इस तुला से हानिकारक जँचती हैं और इस स्वार्थी निष्कर्ष को नैतिक मान्यताओं के स्वरूप की अनिश्चयात्मिकता का बल मिल जाता है । फिर क्या गिलोय और नीम चढ़ी । जन-सामान्य में नैतिकता की ऐसी शोचनीय अवस्था होते हुए भी ऐसा कह सकना सम्भव नहीं है कि वे नैतिक मान्यताओं की पूर्ण उपेक्षा कर सकते हैं । वे जाने-अनजाने कहते ही रहते हैं कि अमुक ने अच्छा नहीं किया, अमुक अन्यायी है, पापी है, दुराचारी है इत्यादि । उनके ये कथन सिद्ध करते हैं कि कोई व्यक्ति भले ही अपने लिये नैतिक आचरण को अनावश्यक कहे, पर जहाँ दूसरे के आचरण का प्रश्न आता है, उसको आवश्यक मानता है । जिस व्यक्ति से हमारा कोई सरोकार नहीं, हानि-लाभ की आशा नहीं उसके आचरण की भी हम आलोचना करते ही हैं, अच्छे-बुरे का निर्णय करते हैं । इससे स्पष्ट है कि नैतिकता की कसौटी हमारी हानि-लाभ वाली तुला नहीं हो सकती। वह उससे सर्वथा पृथक् है ।

हम दूसरे व्यक्ति को उसके बाह्य आचरण से अच्छा या बुरा ठहराते हैं । हमारे पास इसके अतिरिक्त दूसरा साधन भी नहीं है, पर बाह्य आचरण के आधार पर किया गया नैतिक निर्णय हमेशा ठीक ही होगा, ऐसा नहीं कह सकते । दो व्यक्तियों का बाहरी व्यवहार एक-सा होते हुए भी एक नीतियुक्त और दूसरा अनैतिक हो सकता है । उदाहरण के लिए एक व्यक्ति ने दया से द्रवित होकर एक भिखारी को एक रुपया दिया और दूसरे ने उसे अपनी आँखों के सामने से हटाने के लिए एक रुपया दिया । कहने का मतलब यह है कि एक ने पसीजकर और दूसरे ने खीझकर रुपया दिया । जहाँ तक देने का सम्बन्ध है इस उदाहरण में दोनों ने दिये हैं, समान दिये हैं पर दान के पीछे जो भावना है उनमें जमीन-आसमान का अन्तर है । भावना के कारण एक का वही कार्य नैतिक है तो दूसरे का वही कार्य अनैतिक है । काम अच्छा हो इतना ही नहीं है, बल्कि वह अच्छी भावना से किया गया होना चाहिए ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

जो अच्छा काम अच्छी भावना से किया गया हो, उसका परिणाम हमेशा शुभ ही हो, यह आवश्यक नहीं है । कार्य के परिणाम को उसकी नैतिकता की माप मानना ठीक नहीं । उदाहरणार्थ–मुझे एक घड़ी प्राप्त करनी है। अब मैं इस लक्ष्य को कई तरीकों से सिद्ध कर सकता हूँ–यथा खरीदकर, माँगकर, चोरी करके । साधन के अनुसार मेरी लक्ष्य प्राप्ति का स्वरूप भी नैतिकानैतिक बनते जाता है । यही कारण है कि महात्मा गाँधी लक्ष्य का ही शुद्ध होना आवश्यक नहीं, बल्कि साधन का भी शुद्ध होना आवश्यक है, कहते थे । उनके अनुसार शुद्ध साधन से ही शुद्ध लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है । साम्यवादी नैतिक भूमिका और गाँधीवादी नैतिक भूमिका में यह बुनियादी फर्क है ।

अच्छे काम का, अच्छी भावना से शुद्ध साधनों के द्वारा किया जाना, उसके नैतिक होने के लिये अपरिहार्य शर्तें हैं । साथ ही वह काम आत्मस्फूर्त भी हो । जो कार्य दबाव या भय से किया जावेगा, वह दबाव या भय के कारण के दूर होते ही लुप्त हो जावेगा । यदि कोई विनोबा जी के साथ पदयात्रा में सुबह शाम होने वाली प्रार्थना में उनके नैतिक भय या नियम के दबाव से शामिल होकर प्रार्थना करता है तो उसका वह कार्य नैतिक नहीं कहा जा सकता । ऊपर से लदा हुआ कार्य नैतिक नहीं हो सकता है ।

यहाँ तक नैतिकता की मान्यता पर विषयगत दृष्टि से विचार किया गया, लेकिन यह प्रश्न तो रह ही जाता है कि हम कैसे जानें कि कौन काम शुभ है ? कौन अशुभ है ? कौन सत् है और कौन असत् कार्य है ? इसके लिये सर्वमान्य एक मापदण्ड न हो सकने पर भी वैसे मापदण्ड का सर्वथा अभाव नहीं है । संसार से जितने नीतिशास्त्र के आचारवान् विचारक, संत-महात्मा हो गये हैं वे एक स्तर से घोषित करते हैं कि–"**आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्** ।" सारे संसार के नीतिशास्त्र का सार संक्षेप है। रूसी ऋषि टॉलस्टाय कहते–जो व्यक्ति जितना कम लेता है और जितना ज्यादा वापस देता है उसी अनुपात में वह उतना ही नैतिक है । महात्मा गाँधी की अहिंसा क्या है–सर्वभूतों से आत्मवत् प्रेम ही तो है ।

"**आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्**" इन पाँच शब्दों के लघु वाक्य में समस्त नीतिशास्त्र का निचोड़ सम्मिलित है–यह सहसा विश्वास नहीं होता है । सत्य की सरलता ही उसे पहिचानने में कठिनाई उपस्थित करती है । समस्त नैतिक सिद्धान्त क्या बताते हैं ? यही न कि हमारे सारे व्यवहार दूसरों के प्रति इस प्रकार हों जिससे हम अपना सर्वतोमुखी विकास करते हुए दूसरों के उसी प्रकार के विकास में सर्वतोभावेन सहयोग कर सकें । इस प्रकार का व्यवहार वही हो सकता है जो ऊपर के पाँच शब्दों में प्रकट किया गया है । इसी वाक्य का अविकल अनुवाद-सा करते हुए संत कन्फ्यूसियस ने कहा-"जो व्यवहार तुम अपने प्रति नहीं पसन्द करते, वह दूसरों के प्रति न करो ।" साक्षात् धर्म के लक्षण बताते हुए मनु ने कहा-"**स्वस्य च प्रियमात्मनः**" धर्म का एक प्रयत्न लक्षण अपनी आत्मा को जो प्रिय लगे, वह करना है । अब कोई कह सकता है कि हमारी आत्मा को तो चोरी करना प्रिय है, तो उसका धर्म वही है, परन्तु आपको चोरी करना प्रिय नहीं है क्योंकि जिसे जो काम प्रिय है, उसे यदि और लोग करें तो उसे खुश होना चाहिए । कोई चोर नहीं चाहेगा, कि सब चोर हों क्योंकि वैसी हालत में उसका काम नहीं बनेगा । अतः हम जिस कार्य को अपने प्रति नहीं चाहते कि कोई करे उसका आचरण हम दूसरों के प्रति करें एक सच्ची कसौटी है । हम नहीं चाहते कि कोई हमारे साथ झूठा व्यवहार करे, अतः हमें चाहिए कि हम सबके साथ सत्य व्यवहार करें । हम नहीं चाहते कि कोई हमारा जी दुखाए, अतः हमें चाहिए कि हम अपने आचरणों से किसी को कष्ट न दें । हम अपनी जान की रक्षा करते हैं, हमें अपनी जान प्यारी है इसी से यह अपरिहार्य व्यवहार निश्चित हो जाता है कि हम दूसरे की जान की रक्षा करें । सत्य, अहिंसा के सिद्धान्त का मूल यही विचार है । इसी प्रकार अस्तेय, अपरिग्रह आदि अन्य सार्वभौम नैतिक सिद्धान्तों के विषय में आप अपने अन्तःकरण से स्वयं जान सकते हैं ।

उपर्युक्त नीति वाक्य के अनुसार अपने आचरण की जाँच करने के लिये जितनी सहसद्विवेक बुद्धि की जरूरत है उतनी प्रत्येक सामान्य व्यक्ति को प्रकृति से प्राप्त है । हमारी समस्या नीति की अज्ञानता उतनी नहीं है जितना नीति का आचरण है । अर्जुन के समान हम सबकी स्थिति है– "**जानामि धर्म्यं न चमे प्रवृत्तिः जानाम्यः धर्म्यं न चमे निवृत्तिः।**" धर्माधर्म का ज्ञान इन सबको रहता है तदनुकूल आचरण के अभाव से सारी समस्या खड़ी होती है । यदि हम वसुधैव कुटुम्बकम्, का आदर्श अपनाकर अपने व्यावहारिक जीवन में "**आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्** " का आचरण करें तो हम धर्म और नीति की रक्षा करते हुए सच्चे अर्थों में स्व, पर कल्याण कर सकते हैं ।

प्रेय के साथ श्रेय भी जुड़ा है

कठोपनिषद् में एक उपाख्यान आता है । आत्म-ज्ञान की इच्छा से अभिप्रेरित होकर नचिकेता यमराज के पास पहुँचा । यमराज ने उसे सम्पत्ति, श्री, ऐश्वर्य जैसे अनेकों प्रलोभन दिये तथा कहा कि वह चाहे तो इन सबका उपभोग कर सकता है । उसे वे सारी वस्तुएँ दी जायेंगी जिसे सांसारिक सुख कहते हैं । नचिकेता उन प्रलोभनों से अप्रभावित रहा । उसने यमराज से प्रश्न किया–"देव ! क्या ये वस्तुएँ हमको शाश्वत् आनन्द की अनुभूति कराने में सहयोग देंगी ।" यमराज ने उत्तर दिया, "नहीं "।

तब नचिकेता ने कहा, "श्रेष्ठ फिर इन नश्वर वस्तुओं को लेकर मैं क्या करूँगा । मुझे तो श्रेय मार्ग को बताइये

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

जिसका अवलम्बन लेकर आत्म-ज्ञान को प्राप्त कर सकूँ।'' यमराज ने नचिकेता के निर्लिप्त भाव को जानकर आत्म-ज्ञान का उपदेश दिया ।

जीवन में दो प्रकार की परिस्थितियाँ प्रस्तुत होती हैं–एक श्रेय, दूसरा प्रेय । प्रेय आकर्षणों का केन्द्रबिन्दु है । उस पर चलने वाला इन्द्रियजन्य सुखों में अपनी जीवन सम्पदा झोंकता रहता है, जबकि श्रेय मार्ग आन्तरिक सन्तोष शान्ति प्रदान करने वाला है । यहाँ बात दोनों के मतभेद की नहीं, बल्कि उनके स्तर की कही जा रही है । प्रेय, श्रेय साधन बने यह तो बात समझ में आती है, किन्तु यदि आन्तरिक शान्ति, सन्तोष गँवाकर भौतिक उपलब्धियाँ प्राप्त की जा रही हैं तो वे अन्ततः दुःखदायी ही सिद्ध होंगी ।

शास्त्रों में भौतिक प्रलोभनों, आकर्षणों से दूर रहने की बात कही गयी है । इन प्रतिपादनों का उद्देश्य भौतिक पदार्थों को बिल्कुल ही छोड़ देने से नहीं है, बल्कि यह है कि उनके प्रति आसक्त न रहा जाय । भौतिक शरीर जब तक है, तब तक भौतिक साधनों का परित्याग कर सकना सम्भव भी नहीं है । अन्न, जल, वायु, कपड़ा की उपयोगिता से इन्कार नहीं किया जा सकता है । ये सब श्रेय की प्राप्ति में सहयोगी हैं, बाधक नहीं, किन्तु यदि भौतिक उपलब्धियों को ही लक्ष्य बना लिया गया तो भारी भूल होगी ।

पाश्चात्य जगत का उदाहरण सामने है । भौतिक समृद्धियों में बढ़ा-चढ़ा तथा नवीन अनुसन्धानों का केन्द्र बिन्दु अमेरिका माना जाता है । सुख-साधनों की जितनी बहुलता वहाँ है, समस्याएँ भी वहाँ उसी अनुपात में बढ़ती जा रही हैं । व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन में जितनी अशान्ति वहाँ दिखायी देती है उतनी अन्यत्र कहीं नहीं है । कारणों की तह में जाने पर पता लगता है कि 'प्रेय' को ही लक्ष्य माना गया । साधन जीवन के साध्य बन बैठे । भौतिक पदार्थ चेतना पर हावी हो गया । आन्तरिक शान्ति सन्तोष के मूल्य पर भौतिक समृद्धि खरीदी गई ।

अमेरिका की स्थिति का वर्णन करते हुए समाज शास्त्र के विशेषज्ञ इंग्लैण्ड निवासी श्री विल्फ्रेड वेलाक अपनी पुस्तक में लिखते हैं–

''पिछले दशक में जितनी भौतिक प्रगति हुई है अशान्ति भी उसी अनुपात में बढ़ी है । भौतिक समृद्धि की दृष्टि से अमेरिका सभी राष्ट्रों से आगे है, किन्तु इतना अशान्त जीवन भी अन्यत्र कहीं नहीं है जितना कि अमेरिका में । इस अशान्ति का सर्वाधिक कारण समृद्धि का मोह और उपभोग की आतुर लालसा है ।''

शास्त्रकारों ने इस कारण से ही 'प्रेय' से बचने तथा श्रेय की ओर बढ़ने की प्रेरणा दी है । प्रेय का–साधनों का–सदुपयोग किया जाय, किन्तु लक्ष्य हो शाश्वत् आनन्द की–शान्ति-सन्तोष की प्राप्ति करना । जीवन लक्ष्य को यदि भुला दिया गया, भौतिक आकर्षणों को लक्ष्य माना गया तो जीवन सम्पदा का यह दुरुपयोग ही होगा ।

कल्याण का मार्ग

आमतौर से समझा जाता है, 'कि हमें जो भी काम करना चाहिए, अपने फायदे के लिये करना चाहिए । दूसरों के फायदे के लिए हम क्यों सर खपावें ।' बात ठीक है, अपने घर की आग बुझाकर तब पड़ोसी के घर की हिफाजत की जाती है । मेरी दाढ़ी जल रही हो और दूसरों की भी जलने लगे, तो स्वभावतः मैं पहले अपनी बुझाऊँगा तब दूसरे की ओर ध्यान दूँगा । नेकी, भलाई, परोपकारिता आदि अच्छी वस्तु हैं, परन्तु एक व्यवहारवादी व्यक्ति तो अच्छी चीजें अपने लिए लेना चाहता है । यह नेकी अच्छी वस्तु हैं तो निस्सन्देह उसे पहले अपने लिए लेना होगा । स्वाभाविक स्वार्थ-बुद्धि का यह ही तकाजा है कि हम अपने साथ नेकी करें, अपनी भलाई सोचें, अपने उपकार में प्रवृत्त हों और अपने कल्याण का मार्ग अवलम्बन करें ।

एक ही वस्तु प्रयोग भेद से भिन्न प्रकार के परिणाम उपस्थित कर सकती है, सुई कपड़ा सीने का एक अच्छा साधन है, किन्तु यदि उसका दुरुपयोग करके शरीर के किसी हिस्से में चुभो दी जाय तो वह कष्टदायक बन जायेगी । भोजन और जल जैसे जीवनोपयोगी पदार्थ यदि अनियमितता के साथ सेवन किये जाएँ, तो नाना प्रकार के रोगों के कारण बन सकते हैं । आत्म-कल्याण एक अत्यन्त उपयोगी जीवन तत्त्व है, किन्तु जब इसका सदुपयोग होता है, तब परमार्थ कहा जाता है और दुरुपयोग की अवस्था में वही स्वार्थ के घृणित नाम से सम्बोधन किया जाता है । वास्तव में स्वार्थ और परमार्थ एक ही वस्तु है, पर एक को आदरणीय दूसरे को तिरष्कृत इसलिए कहा जाता है, कि एक के उपयोग में काम लिया गया है और दूसरा मूर्खतापूर्ण है ।

मूर्ख पक्षी दाने के लोभ में फँस जाते हैं और चतुर पक्षी चारों ओर देखकर चोंच खोलते हैं, जैसे उन्हें कुछ खटका प्रतीत हुआ वैसे ही वे उड़ जाते हैं । इस प्रकार चतुर पक्षी तो बच जाते हैं और मूर्ख पक्षी बहेलिये के जाल में फँसकर कष्ट उठाते हैं । स्वार्थ और परमार्थ में उपर्युक्त दो पक्षियों की विचार-धारा के समान ही अन्तर है । स्वार्थी मनुष्य आज के लाभ को प्रधानता देता है, उसकी दृष्टि बहुत ही संकुचित और विचार-धारा बहुत ही सीमित होती है । आज के, आँखों से दिखाई देने वाले लाभ ही उसकी दृष्टि में लाभ हैं, किन्तु बुद्धिमान, चतुर और परमार्थी भविष्य के परिणामों का ध्यान रखकर आज का काम करता है । किसान परमार्थी है, वह अच्छी फसल पाने के लिए आज अपने बीज को खुशी-खुशी खेत में बिखेर देता है । निश्चय ही आप उस मूर्ख पक्षी के कार्य की सराहना नहीं करेंगे, जिसकी दृष्टि सिर्फ सामने वाले दानों तक ही थी और जो आगे रखे हुए जाल की ओर लोभ के मारे ध्यान नहीं देता था, वह अल्पज्ञ पक्षी कुछ थोड़े से क्षणों तक अहंकार में फूला रह सकता है और उन दानों के

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

लाभ से अपने को सौभाग्यशाली गिन सकता है, परन्तु अन्त में उसे अपनी भूल पर पछताना पड़ेगा । बुद्धिमान पक्षी जाल के खतरे और दानों के लाभ की तुलना करता है और भविष्य के परिणामों पर विचार करता है, इस प्रकार वह सामने रखे हुए दानों को बिना किसी हिचकिचाहट के जहाँ का तहाँ पड़ा छोड़कर उड़ जाता है ।

नेकी का-आत्मकल्याण का मार्ग अवलम्बन करने वाले व्यक्ति के सामने इसी तरह की समस्या आती है । एक ओर तो स्वार्थ, भोगविलास, इन्द्रिय-लिप्सा, तृष्णा, लालसा, संग्रह, परिग्रह का प्रलोभन होता है जिनमें लिप्त हो जाने पर भविष्य अन्धकारमय बन जाता है, दूसरी ओर परमार्थ, त्याग, दया, प्रेम, करुणा, सहानुभूति का मार्ग है, प्रत्यक्ष में यह रास्ता सूखा, कष्ट-साध्य और घाटे का प्रतीत होता है, किन्तु अन्त में उसका परिणाम बहुत ही आशातीत तथा आनन्ददायक होता है । जाल के ऊपर पड़े हुए दाने को छोड़कर जो पक्षी उड़ गया था, भले ही वह किसी की दृष्टि में घाटे में रहा, पर जब हरे-भरे पेड़ पर ऊँची डाली पर बैठकर वह प्रसन्नता के मधुर गीत गाता है, तब वह अनुभव करता है, कि जाल के दानों को छोड़कर भी मैं घाटे में नहीं रहा । किसान जब फसल के समय अपना भरा हुआ कोष देखता है तो उसे प्रतीत होता है, कि खेत में जो बीज मैंने बिखेरा था वह व्यर्थ नहीं गया । उस समय घाटा प्रतीत होता था, पर आज तो जितना दिया गया था, उससे हजार गुना वापिस लौट आया ।

आप अपनी नेकी के मार्ग पर दृढ़ता से चलते रहिए । अपने वास्तविक कल्याण को दूर-दृष्टि के साथ, विशाल दृष्टिकोण के साथ देखिए । दूसरे लोग, इस दुनिया में, बहुत पैसा इकट्ठा करते हुए, विषयभोगों में लगे हुए इन्द्रिय तृप्ति में परायण एवं लालसाओं को पूरा करने में लगे हुए आपको दिखाई पड़ेंगे । यह लोग बाहर से ठाट-बाठ का और तड़क-भड़क का जीवन व्यतीत करते हुए प्रतीत होंगे । आप इनके वैभव को देखकर भूलकर भी ललचाइये मत, क्योंकि यह विनाश के पथ पर दौड़ रहे हैं । तृष्णा, लालसा और अनीति की पाप-वासनाएँ उनके भीतर लुहार की भट्टी की तरह जल रही हैं, एक दिन यह भीतरी ज्वाला बाहर आवेगी और उन्हें जड़-मूल से नष्ट कर देगी । आप भविष्य के आनन्दमय परिणामों के लिए आज के कठोर, रूखे काम करना आरम्भ कर दीजिये । चतुर किसान की तरह अपनी मानसिक, शारीरिक और भौतिक शक्तियों को ईश्वर के संसार रूपी खेत की ऊपजाऊ मिट्टी में बिखेर दीजिए । लोकहित के, परमार्थ के, धर्म के कार्यों में सब कुछ छोड़कर लग जाइए । अपनी योग्यताओं का बीज परमार्थ के खेत में बोइए और फसल आने तक निष्ठा और विश्वास के साथ अपने स्वेदबिन्दुओं से उसे सींचते रहिए । सचमुच एक दिन आप ही बुद्धिमान ठहराये जायेंगे और स्वीकार किया जाएगा कि आप ही बेजोखों का व्यापार करने वाले सच्चे व्यापारी हैं ।

आप अपनी आत्मा के गौरव को स्मरण कीजिए, अपनी महानता का अनुभव कीजिए और केवल उन्हीं कार्यों में हाथ डालिए जो आपके पद के अनुकूल हों । सम्राटों के सम्राट् परमात्मा का उत्तराधिकारी राजकुमार मनुष्य, वस्तुत: महान् है । महानता का गौरव इसी में है कि, अपनी मर्यादा पर स्थिर रहा जाय । चकवा प्यासा मर जाता है पर स्वाति बूँद के अभाव में गन्दे नाले का पानी नहीं पीता, हंस अपनी मर्यादा की रक्षा करता है, मछली अपनी मर्यादा की रक्षा करती है, हंस मोती न मिलने पर भूखा मर जाता है और मछली जल के अभाव में जीवित नहीं रहती । आप भी अपनी गौरव-मर्यादा से नीचे मत गिरिये । धर्ममय उत्तमोत्तम कार्य करने के लिए आपका अवतार इस पृथ्वी पर हुआ है, परमात्मा का राजकुमार आत्मा अपने पिता की राज-सत्ता को सुव्यवस्थित करने आया है । सरकारी हाकिम देहातों में दौरा करने के लिए भेजे जाते हैं, ताकि वे सम्राट् का शासन सुव्यवस्थित रखने में सहायता करें । आपको इसलिए यहाँ भेजा गया है, कि ईश्वर की इच्छा और आज्ञाओं का सन्देश विश्व के कौने-कौने में गुंजित करें और अधर्म को हटाकर धर्म की स्थापना करें । आप अपने पद और जिम्मेदारी का स्मरण कीजिए और इसी की मर्यादा की रक्षा के निमित्त कार्य करना आरम्भ कर दीजिए, आपके लिये नेकी और भलाई का यह बहुत ही उत्तम मार्ग हो सकता है ।

अच्छी तरह इस बात को हृदयंगम कर लीजिए जीवन का सच्चा लाभ इसी में है कि आप आत्म-कल्याण के, नेकी और भलाई के मार्ग पर चलें । अपने आचरण को सच्चाई और धर्म-निष्ठा से परिपूर्ण रखें एवं अन्त:करण के किवाड़ों को सद्भाव एवं सद्विचारों के लिए खोल दें । कल्याणकारी पिता के हे कल्याणकारी पुत्र ! उठो, परमात्मा का अवलम्बन ग्रहण करो और नेकी के मार्ग पर अग्रसर हो जाओ । आपकी सच्ची भलाई इसी में है ।

बहुमत की अपेक्षा धर्म श्रेष्ठ है

यह प्रत्यक्ष अनुभव की बात है कि यद्यपि आधिभौतिक विषय सुख प्रत्येक को इष्ट होता है तथापि जब हमारा सुख अन्य लोगों के सुखोपभोग में बाधा डालता है तब वे लोग बिना विघ्न किये नहीं रहते । इसलिए कई आधिभौतिक पण्डित प्रतिपादन किया करते हैं कि यद्यपि स्वयं अपना सुख या स्वार्थ-साधन ही हमेशा उद्देश्य है तथापि सब लोगों को समान रियायत दिए बिना सुख का मिलना सम्भव नहीं है, इसलिए अपने सुख के लिए ही दूरदर्शिता के साथ अन्य लोगों के सुख की ओर भी ध्यान देना चाहिए । हमें दु:ख हुआ तो हम रोते हैं और दूसरों को हुआ तो हमें दया आती है । क्यों ? इसीलिए न कि जब हम पर भी आ बीतेगी तब वे हमारी सहायता करेंगे । हम अन्य लोगों पर इसलिए प्यार करते हैं कि वे भी हम पर प्यार करें और कुछ नहीं तो हमारे मन में अच्छा

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

कहलाने का स्वार्थमूलक हेतु अवश्य रहता है । परोपकार और परार्थ दोनों शब्द केवल भ्रान्ति हैं । यदि मूलत: कुछ सच्चा है तो स्वार्थ और स्वार्थ कहते हैं अपने लिए सुख प्राप्ति या अपने दु:ख निवारण को । माता बच्चे को दूध पिलाती है इसका कारण यह नहीं है कि वह बच्चे पर प्रेम रखती हो, सच्चा कारण तो यही है कि उसके स्तनों में दूध के भर जाने से उसे दु:ख होता है, उसे काम करने के लिए अथवा भविष्य में यही लड़का मुझे प्यार करके सुख देगा, इस स्वार्थसिद्धि के लिए ही बच्चे को वह दूध पिलाती है । इस बात को दूसरे वर्ग के आधिभौतिकवादी मानते हैं कि स्वयं अपने ही सुख के लिए भी क्यों न हो परन्तु भविष्य पर दृष्टि रखकर ऐसे नीति धर्म का पालन करना चाहिए कि जिससे दूसरों को भी सुख हो । मनुष्य केवल विषय सुख रूप स्वार्थ के साँचे में ढला एक पुतला है । इंग्लैण्ड में हाब्स और फ्रान्स में हेल्वेशियस ने इस मत का प्रतिपादन किया है । परन्तु इस मत के अनुयायी अब न तो इंग्लैण्ड में ही और न ही कहीं बाहर ही अधिक मिलेंगे ।

हाब्स के नीतिधर्म की उत्पत्ति के प्रसिद्ध होने पर वाल्टर सरीखे विद्वानों ने उसका खण्डन करके सिद्ध किया कि मनुष्य स्वभाव केवल स्वार्थी नहीं है, स्वार्थ के समान ही उसमें जन्म से ही भूतदया, प्रेम, कृतज्ञता आदि सद्गुण भी कुछ अंश में रहते हैं । इसलिए किसी का व्यवहार या कर्म का नैतिक दृष्टि से विचार करके केवल स्वार्थ या दूरदर्शी स्वार्थ की ओर ही ध्यान न देकर, मनुष्य स्वभाव के दो स्वाभाविक गुणों स्वार्थ और परार्थ की और नित्य ध्यान देना चाहिए । जब हम देखते हैं कि व्याघ्र सरीखे क्रूर जानवर भी अपने बच्चों की रक्षा के लिए जान देने को तैयार हो जाते हैं, तब हम यह कभी नहीं कह सकते कि मनुष्य के हृदय में प्रेम और परोपकार बुद्धि जैसे सद्गुण केवल स्वार्थ ही से उत्पन्न हुए हैं । इससे सिद्ध होता है कि धर्म-अधर्म की परीक्षा केवल दूरदर्शी स्वार्थ से करना शास्त्र की दृष्टि से भी उचित नहीं है ।

एक ही मनुष्य के सुख को न देखकर, किन्तु सब मनुष्य जाति के आधिभौतिक सुख-दु:ख के तारतम्य को देखकर ही नैतिक कार्य अकार्य का निर्णय करना चाहिए । एक ही कृत्य से एक ही समय में समाज के या संसार के सब लोगों को सुख होगा असम्भव है । कोई एक बात किसी को सुखकर मालूम होती है तो वही बात दूसरों को दु:खदायक हो जाती है । इसीलिए सब लोगों का सुख इन शब्दों का अर्थ 'अधिकांश लोगों का अधिक सुख' करना पड़ता है । जिससे अधिकांश लोगों को अधिक सुख हो, उसी बात को नीति की दृष्टि से उचित और ग्राह्य मानना चाहिए और उसी प्रकार का आचरण करना इस संसार में मनुष्य का सच्चा कर्त्तव्य है । कोई काम अच्छा है या बुरा, धर्म है या अधर्म, नीति का है अथवा अनीति का इत्यादि बातों का सच्चा निर्णय उस काम के केवल बाहरी फल या परिणाम, अर्थात् वह अधिकांश लोगों को अधिक सुख देगा कि नहीं इतने ही से नहीं किया जा सकता, उसी के साथ-साथ यह भी जानना चाहिए कि उस काम को करने वाले की बुद्धिवासना या हेतु कैसा है । एक समय की बात है कि अमेरिका में एक बड़े शहर में, सब लोगों के सुख और उपयोग के लिए, ट्रामवे की बहुत आवश्यकता थी, परन्तु अधिकारियों की आज्ञा पाये बिना ट्रामवे नहीं बनाई जा सकती थी । सरकारी मंजूरी मिलने में बहुत देरी हुई । तब ट्रामवे के व्यवस्थापक ने अधिकारियों को रिश्वत देकर जल्द ही मंजूरी ले ली, ट्रामवे बन गई और उससे शहर के सब लोगों को सुभीता और फायदा हुआ, कुछ दिनों के बाद रिश्वत की बात प्रकट हो गई और उस व्यवस्थापक पर फौजदारी मुकद्दमा चलाया गया । पहली ज्यूरी, पंचायत का एकमत नहीं हुआ इसलिए दूसरी ज्यूरी चुनी गई । दूसरी ज्यूरी ने व्यवस्थापक को दोषी ठहराया, अतएव उसे सजा दी गई । इस उदाहरण में अधिक लोगों के अधिक सुख वाले नीति तत्त्व से काम चलाने का नहीं, क्योंकि यद्यपि घूस देने से ट्रामवे बन गई यह बाह्य परिणाम अधिक लोगों को अधिक सुखदायक था, तथापि इतने ही से घूस देना न्याय नहीं हो सकता । दान करने को अपना धर्म समझ कर निष्काम बुद्धि से दान करना और कीर्ति के लिए तथा अन्य फल को आशा से दान करना इन दो कृत्यों का बाहरी परिणाम यद्यपि एक सा हो, तथापि श्रीमद्भागवत गीता में पहले दान को सात्विक और दूसरों को राजस कहा है । (गीता १७ २०-२१) और यह भी कहा गया है कि यदि वही दान कुपात्रों को दिया जाय तो वह तामस अथवा गर्हित है ।

कहने का आशय यह नहीं है कि अधिकांश लोगों का अधिक सुख या हित वाला तत्त्व बिल्कुल ही निरुपयोगी है । केवल बाह्य परिणामों का विचार करने के लिए उससे बढ़कर दूसरा तत्त्व कहीं नहीं मिलेगा, हमारा तो यह कथन है कि जब नीति की दृष्टि से किसी बात को न्याय अथवा अन्याय कहना हो तब यह केवल बाह्य परिणामों को देखने से काम नहीं चल सकता, उसके लिए और भी कई बातों पर विचार करना पड़ता है, अतएव नीतिमत्ता का निर्णय करने के लिए पूर्णतया इसी तत्त्व पर अवलम्बित नहीं रहते । इसीलिए इससे भी अधिक निश्चित और निर्दोष तत्त्व को खोज निकालना आवश्यक है ।

गीता में जो यह भेद कहा गया है कि कर्म की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है। (गी. २-४७) उसका भी यही अभिप्राय है, यदि केवल बाह्य कर्मों पर ध्यान दें तो वे बहुधा भ्रामक होते हैं । स्नान, सन्ध्या, तिलक, माला इत्यादि बाह्य कर्मों के होते हुए भी, पेट में क्रोधाग्नि का भड़कते रहना असम्भव नहीं है, परन्तु यदि हृदय का भाव शुद्ध हो तो बाह्य कर्मों का कुछ भी महत्त्व नहीं रहता । सुदामा के मुट्ठी भर चावल सरीखे अत्यन्त अल्प बाह्य कर्म की धार्मिक और नैतिक योग्यता, अधिकांश लोगों को अधिक सुख देने वाले हजारों मन अनाज के बराबर ही समझी जाती है ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

इस बात को अधिक भौतिक सुखवादी भी मानते हैं कि शारीरिक सुख से मानसिक सुख की योग्यता अधिक है । पशु को जितने सुख मिल सकते हैं वे सब किसी मनुष्य को देकर उससे पूछो कि क्या तुम पशु होना चाहते हो, तो वह कभी इस बात के लिए राजी न होगा, इसी तरह ज्ञानी पुरुषों को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि तत्त्वज्ञान के गहन विचारों से बुद्धि में जो एक प्रकार की शान्ति उत्पन्न होती है उसकी योग्यता, सांसारिक सम्पत्ति और बाह्योपभोग से हजार गुनी बढ़कर है । यदि लोकमत को देखें तो भी यही ज्ञात होगा कि नीति का निर्णय करना केवल संख्या पर अवलम्बित नहीं है, लोग जो कुछ किया करते हैं वह सब केवल आधिभौतिक सुख के ही लिए नहीं किया करते । वे आधिभौतिक सुख ही को अपना परम उद्देश्य नहीं मानते, बल्कि हम लोग यही कहा करते हैं कि बाह्य सुखों की कौन कहे विशेष प्रसंग आने पर अपनी जान की भी परवाह नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ऐसे समय में आध्यात्मिक दृष्टि के अनुसार जिन सत्य आदि नीति धर्मों की योग्यता अपनी जान से अधिक है, उनका पालन करने के लिए मनोनिग्रह में ही मनुष्य का मनुष्यत्व है ।

शास्त्रवाद और बुद्धिवाद का समन्वय

हिन्दू जाति में धर्म-ग्रन्थों की संख्या अत्यधिक है । हम लोग यद्यपि ईसाई, यहूदी, पारसी, मुसलमान आदि धर्मों को हिन्दू धर्म से निम्नकोटि का समझते हैं और यदि आध्यात्मिक और दार्शनिक तत्त्वों की विवेचना की दृष्टि से देखा जाय तो इस कथन को सर्वथा असत्य भी नहीं कह सकते । तो भी उन धर्मों में एक ही धर्म-स्थापक और एक ही धर्म-ग्रन्थ को मान्यता प्रदान की जाती है, इस कारण उनके अनुयायियों में धार्मिक नियमों का पालन और आचरण कहीं अधिक परिमाण में देखने में आता है । इसके विपरीत हिन्दू धर्म में उच्चकोटि का आध्यात्मिक और दार्शनिक ज्ञान होते हुए भी अनेक धर्म-संचालकों और अनेक धर्म-शास्त्रों के होने के कारण इतनी अधिक मत-विभिन्नता और उसके फल से पारस्परिक मतभेद देखने में आता है कि समस्त हिन्दुओं को एक धर्म का अनुयायी कह सकना भी एक समस्या हो जाती है । वैसे विद्वानों ने इस मत को भिन्न-भिन्न स्तर(श्रेणी) के मनुष्यों के भेदों अनुकूल सरल अथवा कठिन धर्माचरण बतला कर उनका सामंजस्य करने की चेष्टा की है, पर कम से कम व्यवहार में तो इस समय इस परिस्थिति का परिणाम अच्छा नहीं जान पड़ता । इसके कारण नीची श्रेणी के अल्पबुद्धि वाले लोग ही दलबन्दी और फूट के शिकार नहीं बनते, वरन् पूर्ण विद्वान कहलाने वाले भी धार्मिक सिद्धान्तों और नियमों का अर्थ एक दूसरे से बिल्कुल उलटा लगाते हैं । इसके फल से समाज में स्पष्ट रूप से फूट और कलह उत्पन्न होती है और वह विशृङ्खल और निर्बल बनता है ।

हिन्दू जाति के कल्याण के लिए यह परम आवश्यक है कि आँखें बन्द करके 'शास्त्र की दुहाई' देने की प्रवृत्ति को यथासम्भव कम किया जाय । शास्त्र समय-समय पर बने हैं और उनमें उस समय की परिस्थिति के अनुसार आवश्यकीय परिवर्तन किये गये हैं । इसके सिवा भारतवर्ष स्वयं एक महाद्वीप के तुल्य है और इसमें भिन्न-भिन्न प्रांतों के लोगों के रहन-सहन, खान-पान, आचार-विचार और सामाजिक नियमों में बहुत अधिक अन्तर रहा है, पर इन सब लोगों को हिन्दू ही माना जाता है । इसके अतिरिक्त इधर एक हजार वर्षों के विदेशी शासन के प्रभाव और वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण प्राचीन परिस्थिति बहुत अधिक बदल गई है और हम चाहे मुँह से 'शास्त्र-शास्त्र' चिल्लाते रहें, पर उनके अनेक नियमों का पालन नहीं कर सकते । उदाहरण के लिए, रेल की यात्रा और कारखानों में हजारों मजदूरों के एक साथ काम करने की अवस्था पर विचार कीजिये तो आपको स्पष्ट जान पड़ेगा कि वहाँ पर शास्त्रों में बतलाये चौका-चूल्हे और छुआछूत के नियमों पर चल सकना प्रायः असम्भव होता है । इसीलिए यह अनिवार्य है कि हिन्दू विद्वान स्वयं शास्त्रों के वास्तविक तत्त्व पूर्ण सिद्धान्तों के अनुकूल वर्तमान समय के व्यवहारोपयोगी नियम निर्धारित करें । इस समय हिन्दू-शास्त्र कहलाने वाले ग्रन्थों और नियमों में कैसा विपर्यय हो गया है, इसका विवेचन बनारस के शास्त्रीय विषयों के मर्मज्ञ विद्वान बाबू भगवानदासजी ने बड़े स्पष्ट रूप में किया है, जिससे विदित होता है कि इस प्रवृत्ति से हिन्दू समाज में कैसा अडङ्गा लगा हुआ है ।

शास्त्रों के सम्बन्ध में जो तर्क-वितर्क प्रायः हुआ करता है उसका निचोड़ यही है कि हमको अन्त में 'बुद्धि' की शरण लेनी चाहिए । यदि 'शास्त्र' शब्द ही पकड़ा गया तो फिर उसके साथ चलना कठिन हो जायेगा । उदाहरण के लिये शास्त्रों में एक ओर तो अहिंसा को मुक्ति का एक प्रधान साधन माना है दूसरी ओर अन्य शास्त्रों में बकरा, भैंसा, घोड़ा तथा मनुष्य तक का बलिदान देने का विधान है । "सोत्रामण्यां सुरां पिबेत्" यह भी विदित है । फिर इतने पर ही समाप्त क्यों ? शाक्त सम्प्रदाय वाले तंत्र-ग्रन्थों को ही सबसे बड़ा 'शास्त्र' बतलाते हैं, उनके 'शास्त्र' की आज्ञा मानकर पंच-मकार का सेवन क्यों न किया जाय ? यदि नहीं, तो क्यों नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर देने का जब आप प्रयत्न करेंगे तो आपको विदित हो जायेगा कि बुद्धि की शरण लेने के अतिरिक्त आपको कोई दूसरा उपाय नहीं है ।

हिन्दुओं की ढाई हजार जाति और उपजातियों में से प्रत्येक का अपना 'शास्त्र' अलग है । भोजन के विषय में, विवाह के विषय में, दाय-भाग के विषय में अनन्त भेद हैं

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

जो सभी 'शास्त्रीय' बतलाये हैं । मनु ने आठ प्रकार के विवाह और बारह प्रकार के पुत्र कहे हैं । दाय-भाग के विषय में 'मिताक्षरा' कुछ कहती है, 'जीमूतवाहन' का मत कुछ और है, 'दत्तक मीमांसा' और 'अपरार्क' में भिन्न बातें बतलाई गई हैं । इनमें से आप किसको ठीक मानेंगे, क्योंकि ये सभी माननीय 'शास्त्र' स्वीकार किये जाते हैं ।

जब किसी शास्त्रसम्मत मानी जाने वाली बात का विरोध किया जाता है तो शास्त्रवादी प्रायः यह दलील पेश करते हैं कि "इस प्रथा या नियम को लाखों, करोड़ों आदमी हमारे पूर्वज इतने पुराने समय से मानते आये हैं, तो वे क्या सब मूर्ख थे ?" इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि, "करोड़ों आदमी अति प्राचीनकाल से शराब पीते आये हैं और शास्त्रों में भी अनेक जगह इसका विधान पाया जाता है, भगवान् कृष्ण के बड़े भाई और अंशावतार बलरामजी घड़ों शराब पी जाते थे, तो क्या शराब पीना शास्त्र-सम्मत और श्रेष्ठ कार्य मान लिया जाय ?" वास्तविक बात तो यह है कि 'शास्त्र' या प्राचीन ग्रन्थों में लिखी होने से ही किसी बात को स्वीकार नहीं किया जा सकता है । उसे बुद्धि के तराजू पर तोलना और उसकी उपयोगिता को समझ लेना भी आवश्यक है । भगवान् मनु ने कहा है:-

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः ।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ।।

(अ. १२ श्लोक ११३) मनु

अर्थात् "एक भी सच्चा तपो-विद्या युक्त विद्वान, वेद वेदान्त का मर्म जानने वाला जो निर्णय कर दे, उसको धर्म मानना चाहिए, पर दस हजार अज्ञ (अनजान) भी जो कहें उसे नहीं मानना चाहिए ।"

'शास्त्रों' के नाम पर अंधश्रद्धा के अत्यन्त बढ़ाने का ही फल है कि हिन्दू जाति की दासत्व बुद्धि प्रतिदिन अधिकाधिक बढ़ती गई । उन्होंने कब्रों और दरगाहों पर जाकर भी मस्तिष्क झुकाया । काशी की पंचकोशी यात्रा में एक बार देखा गया कि एक आदमी ने अपने को 'ब्राह्मण' कहकर एक मील के पत्थर को 'महादेव' बतलाया और अनेक देहातियों ने उस पर फूल, पत्ते, पानी पैसे चढ़ाये और उन पैसों को लेकर 'ब्राह्मण' देवता चल दिये ।

इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि जब भारतवासी स्वतन्त्र विचार के रहे, तर्क के बल पर चले, तब तक हिन्दू जाति जीवित रही, अर्थात् मूल सिद्धान्त को स्थिर रखते हुए विशेष आचार, धर्म-कर्म, विधि-निषेध समय-समय पर अवस्थानुसार बदलते रहे । अन्य बातों को छोड़कर केवल एक इसी बात पर विचार कीजिये कि जब आरम्भ में समस्त व्यवहारों का निर्णय करने के लिये मनुस्मृति बन ही चुकी थी, तो फिर सत्ताइस अन्य स्मृतियाँ क्यों बनाई गईं? इसका कारण यही हो सकता है कि मनु के मूल सिद्धान्तों को अटल रखते हुए थोड़ा-बहुत हेर-फेर गौण बातों में समय-समय पर होता रहा है । पर जब से हम अन्ध-विश्वासी बने या बना दिये गये तब से शास्त्रों की प्रगति रुक गई । अब उन प्रगतिशील ऋषियों की हम ऐसी अकर्मण्य सन्तान हैं कि शास्त्रों की दुहाई देने के सिवाय अपनी विवेक-बुद्धि से काम लेना ही नहीं जानते ।

इसका आशय यह नहीं कि हम अपने शास्त्रों को त्याग दें या उनकी निन्दा करें । हमको कालक्रम से बिगड़ी हुई परिस्थिति को सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए न कि एक-दूसरे की कटुआलोचना करके अपनी संगठन शक्ति को और भी निर्बल करना । इसीलिए उचित यही है कि प्रामाणिक प्राचीन ग्रन्थों को ही मान्यता दी जाय और उनके मूल सिद्धान्तों का संग्रह करके गौण बातों अथवा 'उपनियमों' को वर्तमान परिस्थिति के अनुकूल निर्धारित किया जाय । यदि यह कार्य सार्वजनिक रूप से दलबन्दी या प्रतिद्वन्द्विता की भावना को दूर रखकर किया जायेगा तो निस्सन्देह इससे समाज का कल्याण होगा ।

धर्म-धारणा का लक्ष्य और उद्देश्य

मानव जाति की रक्षा, धारण, पोषण, व्यवस्था, समाज में सत्व संशुद्धि अर्थात् सद्गुणों की वृद्धि, शुद्धि के लिए धर्म व्यवस्था की अत्यन्त आवश्यकता है । इसके बिना समाज का ढाँचा सुव्यवस्थित एवं सुस्थिर रहना सम्भव नहीं है ।

मानव धर्म के मूल स्रोत मुख्यतया तीन हैं । इन तीनों पर ही विभिन्न धर्मों में एक स्वर से जोर दिया गया है । समुदाय एवं मानव-जाति की सुव्यवस्था एवं रक्षा आदि के लिये आवश्यक है कि हमारा दृष्टिकोण चिन्तन-मनन का केन्द्र एकदेशीय अथवा व्यक्तिगत न होकर विश्वगत हो, समष्टिमय हो । हर व्यक्ति अपने आपकी स्वतन्त्र सत्ता न समझे वरन् उसका सम्बन्ध अखिल विश्व-भुवन स्वत चेतन जगत से है । धर्म का दूसरा आधार है-मानव जीवन का स्वस्थ निर्माण । धर्म का तीसरा आदर्श है-अपने जीवन को स्वस्थ एवं सशक्त सबल बनाते हुए उसे मानव-जाति के हित में अर्पण कर दे, परमार्थमय बना दे । जीवन के सारे क्रिया-कलाप समुदाय के लिए हों । जिनके साथ अखण्ड एक्य सम्बन्ध स्थापित है उसी के लिए इसका विसर्जन हो, स्वार्थ के लिये नहीं । सभी धर्मों का मूलाधार यह तीन तथ्य हैं ।

धर्म का पहला आदेश हमारे चिन्तन और दृष्टिकोण की व्यापकता के लिये है । मानव मात्र प्रयोजन विशेष से पढ़ाई-लिखाई, काला, गोरा, धनी, गरीब, मोटा, दुबला, स्वभाव एवं योग्यता के आधार पर एक दूसरे से काफी भिन्न है । वहाँ वह अपना अलग-अलग व्यक्तित्व भी रखता है, किन्तु इन सबके मूल में जहाँ हमारे अस्तित्व की मूल आत्मा का निवास है, हम सबमें कोई विशेष भिन्नता नहीं है । हम सब एक ही आत्म-सत्ता में स्थित हैं जो

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

एकदेशीय नहीं सार्वभौमिक है। इस प्रकार व्यक्ति और समुदाय में पृथकतत्त्व और समग्रता में एकत्व स्थापित करना धर्म की पहली शर्त है। समस्त जगत् का एक अखण्डत्व, यही मानव धर्म का मूल आधार है।

आस्तिकता का उद्देश्य जहाँ आत्म-कल्याण है। वहाँ यह भी है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको सर्वव्यापक आत्म-सत्ता का एक अंश माने और दूसरों को अपने साथ आत्मीयता एवं एकता के सुदृढ़ सूत्र में आबद्ध अनुभव करे। महापुरुषों ने ईश्वरीयसत्ता के बारे में विभिन्न अनुभूतियाँ प्राप्त कीं, जिनका निष्कर्ष यह है कि ईश्वर अर्थात् सृष्टि की स्थिति-लय-कारिणी शक्ति में ही यह जगत् भासमान है। भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बियों की ईश्वर विषयक धारणाएँ भिन्न-भिन्न हो सकती हैं, कोई साकार रूप में, तो कोई निराकार रूप में, साथ ही रूप भी अपनी कल्पनानुसार ही दिए जाते हैं। फिर भी उन सबमें सब जीवों में ईश्वर की विद्यमानता और उनकी मूलभूत आत्मीयता की मान्यता एक-सी है।

मानव धर्म की उच्च भूमिका यही है। जहाँ मनुष्य अपनी पृथकता और समग्रता में एक्य स्थापित करता है और अपने अस्तित्व की मूल आत्म-सत्ता में स्थित होता है, जहाँ कोई भिन्नता नहीं, संकीर्णता नहीं, वहाँ सर्वत्र एकत्व के ही दर्शन होते हैं। अतः धर्म को यदि सम्पूर्ण जीवन का लक्ष्य निर्धारित करना है। उसकी उच्च भूमिका में पहुँच कर विराट विश्व चेतना से एकत्व कायम करना है तो उसे अधिकाधिक आन्तरिक और विश्वव्यापी बनाना होगा जो हमारे और संसार के अन्धकार का उन्मूलन कर दें। मनुष्य जीवन में जब यह धर्मक्रिया व्यवहार के रूप में व्यक्त होने लगेगी तब सब प्रकार के भेद-विभेद, सीमाएँ एवं परस्पर विभाजन करने वाली बाधाएँ छिन्न-भिन्न हो जाएँगी, तब मानव जाति विश्वैक्य के उस पावन मन्दिर का निर्माण कर सकने में समर्थ होगी, जहाँ मानवता और मानवादर्शों के प्रतीक के रूप में ईश्वर का पूजन किया जाएगा।

इसके लिए सोचना होगा कि हमारा चिन्तन कहाँ तक ठीक है ? कितना व्यापक और विशाल दृष्टिकोण है ? हमारा चिन्तन और दृष्टिकोण आकाश जैसा विशाल होना चाहिए। अपनी समस्त संकीर्ण धारणाओं का त्याग आवश्यक है। हमें नित्य ही धारणा-करनी चाहिए, मनन और निदिध्यासन के द्वारा अपनी अनुभूति को बढ़ाना चाहिए कि "मैं संकीर्ण क्षुद्र व्यष्टि जीव नहीं हूँ मैं समष्टि स्वरूप हूँ, मेरा सत्यस्वरूप उस विश्वगत चेतन सत्ता से सम्बन्धित है। मैं उसी शृङ्खला की एक कड़ी मात्र हूँ। जिस चेतन सत्ता में अतीतकाल से बुद्ध, ईसा, राम, कृष्ण, गाँधी, मुहम्मद की आत्माएँ निवास करती हैं, उसी में मेरा भी धारण-पोषण, लय स्थित है, मैं सब का आत्मस्वरूप हूँ। इस समग्र जगत के साथ में अभिन्न हूँ।" इन धारणाओं के माध्यम से अपने भेद-विभेद रूपी आवरण को छिन्न-भिन्न करके समस्त जगत का अखण्डत्व, एकत्व दर्शन ही धर्म की प्रमुख बुनियाद है।

यह हो सकता है कि सबके सोचने का मार्ग भिन्न हो, एक ही गन्तव्य पर पहुँचने के लिए अलग-अलग कई मार्ग हो सकते हैं। यह सदैव रहा है और रहेगा।

उपनिषद्कार ने कहा है-

"एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति"

सत्य एक ही है उसे बुद्धिमान लोग कई नामों से पुकारते हैं। मानव धर्म, सत्य धर्म एक ही है परन्तु उपासना के माध्यम अलग-अलग हो सकते हैं, उसी प्रकार जैसे एक ही नदी में उतरने के लिए विभिन्न घाट।

कालान्तर में मानव-जाति के व्यापक हो जाने एवं बढ़ जाने से विभिन्न धर्म नाम, समुदाय, शाखा, प्रशाखाएँ भी बहुत बढ़ गई हैं, किन्तु यह बुरा नहीं है, स्वाभाविक ही है। धर्म स्वतः आकाश जितना विशाल और अनन्त है, रुचि, कल्पना, चिन्तन के आधार पर विभिन्न समुदायों का भिन्न धर्म होना कोई बुरी बात नहीं है, किन्तु यदि इनका अर्थ गलत लगाकर अथवा एकदेशीय और संकीर्ण रूप देकर एकांगी बना लिया जाय तो वे धर्म मनुष्य का हित-साधन नहीं कर सकते। इन सबका आधार मानव-धर्म होना चाहिए जो भिन्नता को एकत्व की ओर अग्रसर करता है। जहाँ स्वयं में ही भेद-विभेद की संकीर्ण सीमाएँ कायम होंगी उससे विश्व एकता, मानव एकता की कैसे आशा की जा सकती है ? मार्ग अलग-अलग हों, किन्तु हमारे विचार और भावनाओं का व्यापक और सीमातीत होना आवश्यक है। मानव धर्म की इस बुनियाद को भुला देने पर तो धर्म नाम की वास्तविकता ही समाप्त हो जाती है।

अब बुद्धिवाद का युग है। विज्ञान के कदम बड़ी तेजी से बढ़ रहे हैं, इसके साथ-साथ हमें अपने चिन्तन और धार्मिक दृष्टिकोण को भी अग्रगामी बनाना होगा। अपनी संकीर्णताओं को त्याग कर अपने लिए विशाल एवं उदार दृष्टिकोण अपनाना होगा। आलोचना, प्रत्यालोचना और शास्त्रार्थ के द्वारा हार-जीत करने का जमाना अब चला गया। आज के युग की माँग है-मानवता का गठन और उसका एक्य। तीखी समालोचना और कट्टरता के माध्यम से मानव-जाति अपना बहुत अहित कर चुकी, अब उसकी पुनरावृत्ति नहीं की जानी चाहिए। आज मानव-धर्म के मूल सिद्धान्तों का अवलम्बन करना ही उचित और सही मार्ग होगा।

युग-धर्म के दस लक्षण

पुरातनकाल में नीति-शास्त्र को धर्म-शास्त्र के अन्तर्गत लिया जाता था। बाद में साम्प्रदायिक मान्यताएँ और प्रथापरम्पराएँ भी उसके साथ जुड़ गईं। सम्प्रदायों के प्रतिपादनों में अनेकों स्थल ऐसे हैं जो एक दूसरे से मेल नहीं खाते। इसीलिए विवाद उठते हैं और पूर्वाग्रह आपस में टकराते हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्यता के हित में यही उपयुक्त है कि सम्प्रदायों को सहिष्णुतापूर्वक रहने दिया जाय। उनमें जो बातें सर्वोपयोगी और नीतिसम्मत मिलें, उन्हें अपनाते और सराहते रहा जाय। विग्रह का अवसर

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

देने वाले प्रचलनों या प्रतिपादनों की चर्चा को टालते रहा जाय।

नीतिशास्त्र को धर्मशास्त्र के साथ जोड़ना हो तो उसके अन्तर्गत आने वाली आदर्शवादी स्थापनाओं को प्रत्येक सम्प्रदाय द्वारा प्रोत्साहन दिया जाय, उन्हीं को प्रकाश में लाया जाय और उन्हीं को प्रचारित किया जाय।

आज की परिस्थितियों में विवेकपूर्ण अध्ययन करने पर पाया जाता है कि धर्मधारण की प्रमुख स्थापनाओं में, तत्व-दर्शन की दिशा-धाराओं में भी परस्पर अन्तर देखा जाता है। जैसे-अहिंसा शब्द को ही लें तो उस संदर्भ में अनेक पक्ष-विपक्ष उभर कर सामने आते हैं। जैन और बौद्ध धर्मों में अहिंसा को प्रमुखता और प्राथमिकता दी गयी है, पर शाक्तधर्म में देवताओं के सामने पशुबलि देने का प्रावधान है। अन्यान्य धर्मों के विभिन्न त्योहारों पर पशुबलि धार्मिक परम्परा के अन्तर्गत की जाती है, उनमें प्रसाद के रूप में माँस परोसा जाता है। इस विभेद को दूर कैसे किया जाय ?

सत्य के सम्बन्ध में भी ऐसे ही द्वन्द्व सामने आते हैं। उच्च उद्देश्यों की पूर्ति के नाम पर राजनीति में, सेना में, गुप्तचर विभागों में दुराव अपनाकर भेद लेने की, भेद न खुलने की व्यवस्था है ही। समय-समय पर अध्यात्मवादी भी अपवाद प्रस्तुत करते रहे हैं। बच्चों का मन रखने के लिये अथवा दुष्टों की दुष्टता निरस्त करने के लिये प्रत्यक्ष सत्य की मर्यादाएँ तोड़ी जाती हैं। भगवान् कृष्ण के जीवन में ऐसे ही कई उतार-चढ़ाव हैं। इस दृष्टि से धर्म-शास्त्रों में भी धर्म लक्षणों की कोई स्पष्ट रेखा खिंची हुई नहीं है। विभिन्न स्थलों पर धर्म के भिन्न-भिन्न लक्षणों का प्रतिपादन मिलता है। इस आधार पर कोई सर्वसम्मत अभिमत उभर कर सामने नहीं आता।

ऐसी स्थिति में परम्परागत विधि-निषेधों की ऊहापोह में न उलझकर शाश्वत् धर्म 'युगधर्म' के नाम से नीति-नियमों का वर्गीकरण करके उन्हें स्वीकार कर लेना हमारे लिए अधिक उपयोगी होगा। धर्म के अनेक लक्षण हैं, प्रत्येक लक्षण में अनेक बारीकियाँ हैं। उन सब का जोड़-तोड़ बिठाने पर धर्म के प्रमुख अंगों की संख्या भी इतनी बड़ी हो जाती है कि उनके निर्वाह की सर्तकता बरतना तो दूर, उन्हें पूरी तरह याद रखना भी कठिन हो जाता है।

ऐसी दशा में यही उपयुक्त लगता है कि सामयिक समस्याओं का समाधान कर सकने वाले, सामयिक आवश्यकताओं को पूरा कर सकने वाले नीति-नियमों को ही प्रमुखता दी जाय और उन्हें ही ऊपर उठाया-उछाला जाय। उन्हें सार्वभौमिकता एवं सज्जनता की कसौटी पर जाँचते हुए खरे स्तर तक पहुँचाया जाय। इन दिनों कई दुर्गुण असाधारण रूप से पनप रहे हैं। वे प्राचीनकाल में इतने उग्ररूप में नहीं थे, इसीलिये तब उनके प्रतिरोध पर अधिक जोर देने की आवश्यकता भी नहीं समझी गई। परन्तु आज की स्थिति में उनकी उपेक्षा का अर्थ है विनाश को निमन्त्रण देना। इसलिए अब उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, उनके विरोध-प्रतिरोध के लिए सशक्त तंत्र खड़े करने ही होंगे।

उदाहरण के लिए नशेबाजी को ही लें। प्राचीनकाल में उसे उतनी विकृति नहीं माना गया था। क्योंकि तब नशे के नाम पर तीव्र प्रतिक्रिया वाले, अत्यधिक हानिकारक पदार्थों का प्रचलन नहीं था। जो थे वे सौम्य नशे थे और उपयुक्त परिस्थितियों में उनके मर्यादित उपयोग से उतनी हानि की सम्भावना नहीं थी। उनमें किन्हीं अंशों में औषधीय गुण भी रहते थे तथा उस रूप में चिकित्सक की सलाह से लेने में कोई दोष नहीं माना जाता था, परन्तु आज तो स्थिति भयंकर है। इतने तीव्र नशीले पदार्थ विकसित कर लिए गये हैं कि उन्हें जहर से कम कुछ भी नहीं कहा जा सकता। उस पर भी नशा सेवन व्यसन से आगे बढ़कर फैशन बनता जा रहा है। सेवन की कोई मर्यादा ही नहीं रह गई है। तीव्र नशे और उनके अमर्यादित सेवन की प्रतिक्रियाएँ समूचे समाज को ही जर्जर किए डाल रही हैं। ऐसी स्थिति में यदि नशे को भारी अधर्म ठहराया जाय तो इस निर्धारण को सही और समयानुकूल ही कहा जायेगा।

यही बात छल-छद्म के सम्बन्ध में भी है। प्राचीन काल में सत्य व्यवहार एक सीधी-सादी बात के रूप में सहज स्वीकार्य था। कभी दो व्यक्ति या वर्ग आपस में टकराते थे तो उनमें आमने-सामने सीधा संघर्ष ही होता था, पर आज तो अधिकांश व्यक्तिगत या सामूहिक लड़ाइयाँ छल-प्रपंच के आधार पर लड़ी जाती हैं। पहले तो कूटनीति की भी कोई आचारसंहिता थी, जिसमें उसे सीमित प्रसंगों में, सीमित मात्रा में ही प्रयुक्त किया जाता था, पर अब तो छल-प्रपंच की कोई सीमा-मर्यादा भी नहीं रह गई। भाइयों और पड़ोसियों, सहकर्मियों से लेकर अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र तक, कोई पक्ष इससे मुक्त नहीं है। विपक्ष को धोखे में डालकर विश्वासघात की सीमा तक जाकर भी अपनी कथित जीत के ताने-बाने बुनना सामान्य बात हो गई है। मित्र बनकर शत्रुता करने वाले, शौर्य के स्थान पर धोखेबाज की धूर्तता बरतने वाले अपने को कुशल शिकारी जैसा श्रेय दिलाना चाहते हैं। मानो मछलीमार-चिड़ीमार ही सबसे बड़े वीर-विजेता कहलाने लगे हैं।

पुरातनकाल में यह प्रवृत्ति नहीं थी। दिन में युद्ध करके दिन छिपे बाद सभी सैनिक शत्रु पक्ष की ओर से निश्चिन्त होकर आराम करते थे। विरोधी पक्षों की ओर से लड़ने वाले भी शाम होने पर परस्पर मिल लेते थे, सलाह कर लेते थे, पर अब तो विश्वासघात को, छल को ही रणनीति का प्रमुख अंग मान लिया गया है।

लड़ाई ही नहीं सामान्य जन-जीवन में छोटे-छोटे स्वार्थों के लिए, यश लूटने के लिए, मेरे को आगे और तेरे को पीछे धकेलने के लिए, कदम-कदम पर धोखेबाजी, विश्वासघात को ही प्रमुख हथियार मानकर प्रयुक्त होते

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

देखा जाता है। ऐसी स्थिति में जब मनुष्य पर से, मनुष्यता पर से ही विश्वास टूटता जा रहा है तो छल को कौशल नहीं अधर्म कहकर ही उस पर कड़ा प्रतिबन्ध लगाना होगा। प्राचीनकाल में ऐसी वीभत्स स्थिति पैदा न होने से भले ही उसे इतना घातक घोषित न किया गया हो, परन्तु आज तो उसे सर्वसम्मत अधर्म घोषित करना ही होगा।

कथन का अभिप्राय इतना भर है कि समय की समस्याओं का अध्ययन करते हुए उन्हें सुलझा सकने योग्य नीति-निर्धारण करने होंगे। उनको ही प्रचार और लोक-शिक्षण का आधार बनाना होगा। व्यक्ति और समाज की उलझी हुई समस्याओं का जो समग्र समाधान दे सके, उसे ही 'युगधर्म' कहा जा सकता है। ऐसे नीति-निर्धारण को जन-जीवन में प्रमुखता मिले ऐसा वातावरण बनाना होगा।

युग की आवश्यकता के अनुरूप धर्मधारण या नीति-निष्ठा के सूत्रों को इन दिनों इस प्रकार वर्गीकृत किया जाय तो ठीक रहेगा–

(१) शालीनता–सज्जनता, भलमनसाहत, विनम्रता का सहज स्वभाव, वाणी और व्यवहार से उसका परिचय देना। दूसरों को, छोटे-बड़े सभी को उचित सम्मान देना। वाणी में मधुरता, सहजता और सार-संक्षेप के समावेश का अभ्यास। अधिकार से अधिक कर्त्तव्यों का ध्यान रखना। विवादों और विग्रहों से यथासम्भव बचना। विचारों में आदान-प्रदान का क्रम चलता रह सके, ऐसा संतुलन बनाये रखना। सुधार के लिए स्वयं को प्रस्तुत करने का सहज उत्साह बनाये रखना।

(२) दूरदर्शिता–निर्धारणों और प्रयासों के दूरगामी परिणामों को समझना और महत्त्व देना। उतावली में, आवेश में आकर्षणवश ऐसा कुछ न करना जिससे तत्काल थोड़ा लाभ पाने के बाद भविष्य में तिरस्कार सहना और पश्चात्ताप करना पड़े।

(३) तत्परता-सुव्यवस्था–श्रमशीलता, जागरूकता बनाये रखना। शारीरिक आलस्य और मानसिक प्रमाद का उन्मूलन। समय को सुनियोजित क्रिया-कलापों में व्यस्त रखना। हर क्षण को सार्थक सदुपयोगों में लगाने की प्रखरता। हाथ के काम में समग्र मनोयोग से लगना। निरर्थक कल्पनाओं में मानसिक क्षमताओं को अस्त-व्यस्त न होने देना। शरीर, वस्त्र, स्थान, उपकरण सभी की स्वच्छता और सुरुचि का सौम्य संयोग रखना। वस्तुओं को यथास्थान करीने से जमाने की आदत। दिनचर्या, कार्य-पद्धति एवं योजनाओं में सुनियोजन का तारतम्य। जीवन के किसी भी क्षेत्र में अस्त-व्यस्तता न रहने देना अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न मानना।

(४) ईमानदारी–किसी को धोखा न देना। वस्तुस्थिति से बहुत आगे बढ़कर शेखी न बघारना। छल-प्रपंच का आश्रय न लेना। करनी और कथनी में अन्तर न आने देना। अन्याय-अनौचित्य से बचकर रहना। बेईमानी को अपने विचारों और कार्यों में समाविष्ट न होने देना। अनीति न करना, न कराना और न उसका समर्थन करना।

(५) जिम्मेदारी–कर्त्तव्यपरायणता, शारीरिक स्वास्थ्य का, मानसिक संतुलन का, आर्थिक सुव्यवस्था का तारतम्य बिठाये रखना। सौंपे गये कार्यों, आश्रित या अधीनस्थ व्यक्तियों के समुचित निर्वाह और विकास की क्षमता और भावना बनाये रखना। कोई ऐसा कार्य न करना जिसका अनुसरण करने पर अन्यान्यों को पतन गर्त में गिरना पड़े, दुःख उठाना पड़े। वैयक्तिक, पारिवारिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में प्रामाणिकता, उत्कृष्टता बनाये रखने के लिए प्रयत्नशील रहना। देश, धर्म, समाज और संस्कृति के प्रति कर्त्तव्यों को अनुभव करना और उनका निर्वाह करना।

(६) आस्तिकता–ईश्वर को सत्प्रवृत्तियों का समुच्चय, कल्याणकारी चेतनशक्ति का प्रवाह मानना। उस दिव्य-धारा को व्यक्तित्व में अधिक से अधिक समाविष्ट करने के लिए अभ्यर्थना, उपासना करना। परब्रह्म को सर्वव्यापी और न्यायकारी मानते हुए कर्मफल की सुनिश्चितता पर विश्वास करना, उसे विश्व-व्यवस्था का अनिवार्य अंग मानकर चलना। प्रतिफल मिलने में देरी होती हो तो भी उसको अकाट्य मानकर कुकर्मों से बचे रहने के सम्बन्ध में सतर्क रहना। व्यक्तित्व को, उसमें सन्निहित विभूतियों को परमपिता की धरोहर मानना और उसके सदुपयोग के लिए जागरूक रहना। इस हेतु व्यक्तित्व में पवित्रता, प्रामाणिकता और प्रखरता बढ़ाते हुए सच्चे अर्थों में अध्यात्मवादी बनना।

(७) परमार्थपरायणता–जरूरतमन्दों की आवश्यकताएँ पूरी करने में हर्ष की अनुभूति होना। दीनों, दुःखियों, गिरे हुओं को, अभावों, दुःखों और पतन से ऊपर उठाने के पुण्य कार्य को अपने पवित्र कर्त्तव्य के रूप में स्वीकार करना और उसे नियमित रूप से दिनचर्या का अंग बनाकर चलना। अपने धन, समय, प्रतिभा, योग्यता, प्रभाव आदि का निर्धारित अंश उस निमित्त मनोयोगपूर्वक लगाते रहना। ऐसा करने में गौरव एवं संतोष की अनुभूति करना। इस क्रम में अन्यों को जोड़ते रहने का प्रयास-पुरुषार्थ करते रहना।

(८) संयमशीलता–इन्द्रियों को व्यसनों में न भटकने देना। चटोरापन, कामुकता, अतिवाचालता, आवारागर्दी जैसी दुष्प्रवृत्तियों पर अंकुश रखना। समय का सुनियोजित निर्धारण, दिनचर्या बनाकर चलना। समय काटने-बर्बाद करने की मनोभूमि से बचना। प्रत्येक क्षण के अच्छे से अच्छे उपयोग के लिए तत्पर रहना। अर्थ को, धन और साधन को, उपयोगी हितकारी कार्यों में ही लगाना। फैशन, विलासिता, अहंता के प्रदर्शन के लिए बचत करना, अनावश्यक संग्रह से बचना। विचारों को श्रेष्ठ रचनात्मक कार्यों में इस प्रकार सुनियोजित किए रहना कि कुकल्पनाएँ उठने का अवसर ही न मिले। ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिशोध, प्रपंच आदि का ताना-बाना बुना ही न जा सके। उद्वेग उठने, उत्तेजित होने की गुंजाइश ही न रहे।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

(९) उदार आत्मीयता-सहकारिता—अपने आपको समष्टि का, विराट् का एक अंग मानना। सब में परमात्म-चेतना या आत्मचेतना का अंश देखते हुए भेद से ऊपर उठकर विशाल हृदय-आत्मीयता का प्रमाण देना। संकीर्ण स्वार्थपरता के भाव मन में न आने देना। सहयोग लेने और देने की प्रवृत्ति और कला का विकास करना। एक वृहत परिवार का अंग होने का भाव बनाये रखना। मिल-जुलकर रहने, मिल-बाँट कर खाने और साथ-साथ काम करने में प्रसन्नता अनुभव करना।

(१०) प्रखरता—कठिनाइयों, अवरोधों को पार करते हुए लक्ष्य तक बढ़ने की क्षमता, साहसिकता। आदर्शों को अपनाने, विकारों को हटाने, कठिनाइयों में अविचलित रहने योग्य मनोबल। कुरीतियों-अनीतियों को नकारने और उनका प्रतिरोध कर सकने योग्य संकल्पबल। सन्मार्ग पर चल पड़ने की ही नहीं, उसे बसा लेने को भी सहज प्रवृत्ति का विकास।

उपर्युक्त दस सूत्रों को युगधर्म की मान्यता दी जा सकती है। विभिन्न मत-मतान्तरों, सम्प्रदायों के मानने वालों को भी इन्हें अपनाने में सैद्धांतिक कठिनाई नहीं होगी, क्योंकि प्रकारान्तर से सभी विचारकों ने इन्हें स्वीकार किया है। कहीं किसी नियम विशेष की लक्ष्मण रेखा बन गई हो, वहाँ उसे इन दस सूत्रों में से किसी के साथ, उसकी समस्वरता देखते हुए मिलाया जा सकता है। अनेकानेक नीति-नियमों को इन दस सूत्रों की परिधि में समेटा जा सकता है। योगदर्शन में वर्णित अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्राणिधान आदि यम-नियम इन्हीं में आ जाते हैं। मनु के दस धर्म, लक्षण और महात्मा गाँधी के सप्त महाव्रत भी घुमा-फिरा कर इन्हीं सूत्रों में समाहित हो जाते हैं।

इन सूत्रों की परिधि में, दार्शनिक क्षेत्र में प्रतिपादित आस्तिकता, धार्मिकता आध्यात्मिकता का, ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग का गीतोक्त दैवी सम्पदाओं आदि का भी समावेश हो जाता है। समाजशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित सभी अनुशासन संयमशीलता के अन्तर्गत और नागरिकता के नियम शालीनता के अन्तर्गत आ जाते हैं। इसी प्रकार कहीं यदि कुछ छूटता दीखे तो उन्हें इन्हीं सूत्रों के साथ ही जोड़ते हुए चला जा सकता है। इन्हें युगधर्म का, शाश्वत् धर्म का नाम सार्वभौम स्तर पर लागू किया जा सकता है।

धर्म युद्ध—महान तप

धर्म युद्ध करना एक प्रकार का तप है, जो हमारे पाप-तापों को धोकर पवित्र कर देता है। यह अग्नि देखने में तीखी, झुलसाने वाली, कष्टकर और अप्रिय लगती है, पर अन्त में यही सब से हितकर सिद्ध होती है। सोना अग्नि में पड़ने के बाद अपनी प्रामाणिकता सिद्ध करता है, हथियार को तेज करने के लिए उसे गरम करना आवश्यक होता है। जीवन को धर्म युद्ध के तप में डाले बिना उसमें तीक्ष्णता, पवित्रता और महानता नहीं आ सकती। तप से ही वह तेज प्राप्त होता है, जिसके कारण मानव जीवन कुन्दन जैसा झिलमिलाता है। संघर्ष ही जीवन है। दो वस्तुओं के रगड़ने से गर्मी पैदी होती है। सत्संग से ज्ञान प्राप्त होता है और युद्ध से महत्त्व प्राप्त होता है। जिसमें गति है वही जीवित है। शिथिलता और निष्क्रियता का नाम ही मृत्यु है। वे ही व्यक्ति जीवित कहे जायेंगे जो कर्त्तव्य क्षेत्र में सिपाही की तरह संग्राम करते हैं। जिन्होंने ढाल तलवार उतार कर रख दी वे मृतक हैं, भले ही लुहार की धोंकनी की तरह उनके नथुनों में से साँस चलती रहे।

गीताकार ने जीवन को धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र की उपमा दी है। इसमें पाण्डवों को धर्मपक्ष की और कौरवों के, अधर्मपक्ष की सेनाएँ मुकाबले में डटी हुई हैं। सुखाकांक्षी मन अर्जुन मोह में पड़कर कहता है, इस झंझट में पड़ने से मुझे क्या काम ? युद्ध का काम अप्रिय है, इसमें ऐसे काम करने पड़ते हैं, जो देखने में कड़ुए और कठोर जान पड़ें। अर्जुन इन कठोर कर्म से बचकर भिक्षा माँग खाने का सरल कार्य पसन्द करता है। उसके मन में छिपी हुई कायरता लड़ाई तकरार से अलग रहने का तर्क करती है। मन की इस कमजोरी को आत्मा देखती है और उसकी बिडम्बना के लिए धिक्कार देती है। भगवान् कृष्ण अर्जुन से कहते हैं—हे क्षत्रिय ! तेरे लिए धर्म युद्ध से बढ़कर और कोई कर्त्तव्य नहीं है। यह सोच-विचार मत करे, कि इस लड़ाई में कौन मारा जायेगा, कितनी विधवाएँ होंगी, क्योंकि यह सब तो दुनिया में होता ही रहता है। धर्मयुद्ध के बिना तो यह सब जीवित ही मृत हो जायेंगे। पृथ्वी पापों के भार से लद जायेगी। इसलिए हे परन्तप ! युद्ध में प्रवृत्त हो, इसमें जीतने से तेरी कीर्ति है और मरने पर स्वर्गलोक है। अर्जुन रूपी मन की समस्त बातूनी जमा खर्च को काटते हुए योगेश्वर ने उसे युद्ध में प्रवृत्त होने को बाध्य किया है। करते भी क्यों न, जिस दिन मन का क्षत्रिय धर्म नष्ट हो जायेगा उस दिन यह पृथ्वी प्रलय की गोद में चली जायेगी।

राम के सामने यह प्रश्न उपस्थित होता था कि एक सीता के लिए रावण के इतने बड़े वंश को नष्ट क्यों करूँ ? अर्जुन के सामने भी यही प्रश्न आया कि अपने साथ हुई अनीति के बदले में कौरवों की इतनी बड़ी सेना को क्यों मारूँ ? यदि राम या अर्जुन धर्मयुद्ध न करते, तो बुराई की चिनगारी कुछ समय बाद विकराल दावानल बन जाती कि असंख्य सीताओं और असंख्य पाण्डवों को उसमें जलना पड़ता और उसका पातक इन धर्मयुद्ध न करने वालों को लगता।

विकार, अधर्म, अनाचर से प्रतिक्षण युद्ध करना हमारा स्वाभाविक धर्म है। विरोध और असहयोग का अब बुराई के मुकाबले में हर वक्त ताने रहने का ईश्वरीय आदेश है। नाक में गर्द-गुबार जमते ही छींक आती है, जो उसे

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

बाहर निकाल फेंकती है, पेट में मल-मूत्र की अधिकता होती है, शरीर उसे अलग कर देता है, आँखें अपने विकार को कीचड़ के रूप में, इसी प्रकार नाक, कान और मुँह में जो मैल जमा होता है, वह रेत, कीट और थूक के रूप में बाहर निकलता रहता है। खून में विष जमा हो जाय तो शरीर की चैतन्यशक्ति उबल पड़ती है और उसे फोड़े-फुन्सियों के रूप में बाहर खदेड़ देती है, वैसे तो यह कार्य पसीने के रूप में हर वक्त होता रहता है। शरीर शास्त्री जानते हैं कि रक्त के श्वेत कीटाणु बाहर के विजातीय पदार्थों, विषों तथा रोग कीटों से निरंतर लड़ते रहते हैं। जहाँ विकार पैदा हुआ कि यह धर्मवीर वहीं लड़ने पहुँचे। जिसके शरीर से यह श्वेत कीट नष्ट हुए बस उसकी मृत्यु ही समझनी चाहिए। इसी प्रकार हमारा मानसिक धर्म है कि अपनी निज की तथा दूसरों की पापवासनाओं से निरंतर लड़ें, हर वक्त लोहा बजावें और शूरवीर सिपाही की तरह धर्मयुद्ध में वीरगति प्राप्त करें। जिसके मन से यह पाप विरोधिनी शक्ति निकल गई, समझना चाहिए कि अब यह मानवी चैतन्यता को त्याग कर पतित जड़ योनियों में गिरने जा रहा है। जिस देश या जाति की यह धर्मयुद्ध भावना नष्ट हो गई समझना चाहिए कि अब इसे गरीबी और गुलामी की नारकीय यंत्रणाएँ सहनी पड़ेंगी। संघर्ष जीवन है और अकर्मण्यता मृत्यु। संग्राम स्वर्ग है और निष्क्रियता नरक। मनुष्य का स्वाभाविक कर्त्तव्य यह है कि वह पाप का हर घड़ी विरोध करें तभी तो धर्म को धारण करने में समर्थ होगा।

आप अपने जीवन को संग्राम समझिए। अपने आस-पास जहाँ कहीं भी पाप रूप शत्रुओं को पावें उनका मूलोच्छेदन के लिए तत्पर हो जावें। हो सकता है, इसमें आपको उलझन, कष्ट, कठिनाई और आपत्ति का सामना करना पड़े, परन्तु एक सच्चे शूरवीर का कर्त्तव्य यही है कि वह धैर्यपूर्वक उन्हें सहन करे और तप समझकर कष्टों को प्रसन्नता के साथ अंगीकार करे। विश्व की विपत्ति निवारण के लिए उस आपत्ति को अपने सिर पर ले लेना, दूसरों को खाने वाली राक्षसी से स्वयं ही लड़ पड़ना पहले दर्जे का धर्मकार्य है। धर्मयुद्ध महान् तप है, इस तप को स्वीकार करने से हम विश्व की महान् सेवा कर सकते हैं।

धर्म तर्कसंगत होता है

प्राचीनकाल में महर्षियों ने जिस धर्म को मोक्ष प्राप्ति का अनन्य साधन बताया था, वही धर्म आज के मानव के समक्ष एक भुल-भुलैया के रूप में आकर उपस्थित हो गया है। कोई धर्म को जाल कहकर संतोष प्राप्त करता है तो दूसरा धर्म को मनुष्य में वैमनस्य और घृणा के भावों के जागरण करने का एक साधन कहने में भी नहीं चूकता। सारांशत: आज का मनुष्य धर्म को भयावने और घृणित रूप में देखता है। अब आप विचारेंगे कि क्या सचमुच ही धर्म ऐसी वस्तु है ? मैं इसके उत्तर में आप से कहूँगा, यह वास्तव में धर्म का दोष नहीं है, अपितु यह दोष हमारी भ्रमात्मक बुद्धियों का है, जिसके कारण हम वास्तविक धर्म क्या है ? यह समझने में असमर्थ रहते हैं। वास्तविक धर्म वही है जो भगवान् मनु ने धर्मशास्त्र में लिखा है-

"यस्तर्केणनुसंधत्ते स धर्मोवेदनेतर:"

अर्थात् जो तर्क की कसौटी पर पूर्ण उतरे वही वैदिक धर्म है। संसार में कोई भी व्यक्ति इस बात को समझे बिना धर्म के पालन में समर्थ नहीं हो सकता-परिवर्तनशील प्रकृति साम्राज्य में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जो उत्पन्न होकर जीर्ण न हो और जीर्ण होकर पुनर्नवीनता पाने के लिए प्रलय की ओर न जाती हो। धर्म के नियम भी इस संसार से बाहर हैं। संसार के परिवर्तन के साथ धर्म के नियमों का परिवर्तन न होना अनिवार्य है। उदाहरणार्थ, समझिये 'जिस कर्म का परिणाम सुख है वही कर्म धर्म है' इस धर्म की परिभाषा को मानकर चलने से हमें ज्ञान होगा कि धर्म के नियमों में भी परिवर्तन आता ही रहता है। किसी नियम के पालन करने का परिणाम जब तक सुख है तभी तक यह धर्म की गणना में है और उसी समय तक उसका पालन भी उचित है, परन्तु जब उसका परिणाम सुख से दु:ख में परिणत होता दिखाई देने लगे तो वह पाप बन जाता है। जैसे-झूठ बोलना पाप है, परन्तु जिस सत्य कथन से महान अनर्थ होता हो तो वह धर्म कहने के योग्य नहीं। लोकमान्य तिलक जी ने गीता रहस्य में लिखा है कि-"यदि हम अपने घर में अकेले पड़े हों और उस समय कोई डाकू आकर हमसे पूछे कि धन कहाँ है तो उस समय का सत्यभाषण कभी भी सत्यभाषण अथवा धर्म सें सम्मिलित नहीं हो सकता। इसी प्रकार पवित्रता आदि भी ले लीजिये। प्रात:काल स्नान करना धर्म है परन्तु निमोनिया से पीड़ित के लिये वही अधर्म हो जाता है। इतना ही नहीं, जिस विवाहप्रथा में आज विश्व विश्वास करता है और जिसको लोक और परलोक का साधन समझता है वह प्रथा श्वेतकेतु के पूर्व कहाँ थी ? किन्तु क्या ? आज संसार को कोई भी विवेक-बुद्धि रखने वाला जन विवाह प्रथा को तोड़कर ऋतुदान पर्यन्त पुरुष-स्त्री सम्बन्ध रखने की पूर्व प्रथा का जारी रखना धर्म या उचित बता सकता है ? उत्तर में कहना होगा कि नहीं। इतिहासों या पुराणों में देखो 'श्रीराम' पिता की आज्ञा पालन करने पर बड़े त्यागी व मर्यादा पुरुषोत्तम माने गये, परन्तु प्रहलाद तो पिता की आज्ञा भंग करने पर ही परम भक्त माने गये। एक अक्षर भी प्रदान करने वाले गुरु का सामना करना अन्य अवसरों पर भले ही महापाप हो परन्तु महाभारत के युद्ध में तो भगवान् कृष्ण ने यही उपदेश दिया था कि-"हे अर्जुन ! इस समय गुरुओं पर प्रहार न करके तू युद्ध से मुख मोड़ेगा तो तेरा सारा क्षात्र धर्म मिट्टी में मिल जायेगा।" शास्त्रकारों ने साफ तौर पर लिखा है कि "देश, काल, पात्र व प्रवृत्ति अनुसार धर्म से अधर्म और अधर्म से धर्म तथा अर्थ से अनर्थ और अनर्थ से अर्थ किया जा सकता है और किया जाता है।"

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

अब यह दोहराने की आवश्यकता नहीं है कि– ''लौकिक धर्म किसी एक बात पर नहीं रहता।''

उसके लिए परिस्थिति के अनुसार आगे-पीछे के कई विचार करने पड़ते हैं। मनुजी लिखते हैं कि–

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्।।''

(मनु २/१२)

अर्थात् वेदों के वचन, धर्मशास्त्रों के कथन, श्रेष्ठों के चलने और अपनी आत्मा की स्वीकृति, ये चार धर्म की कसौटियाँ हैं। यानि धर्म सम्बन्धी जब जटिल समस्या उपस्थित हो तो वेदों को पढ़िए, धर्मशास्त्रों को देखिए इनसे भी समस्या हल न हो तो इतिहास के पृष्ठ उलटिये और देखो ऐसी समस्या आने पर हमारे पूर्वजों ने क्या किया था ? इस पर भी यदि मन का संदेह निरस्त न हो तो अपनी अन्तरात्मा की पुकार सुनिए और देखिए कि अपनी अन्तरात्मा उसे धर्म कहती है या अधर्म कह रही है। बस अन्तिम धर्म की यही कसौटी है इस पर जो पूर्ण उतरे उसे करो और जो इस कसौटी पर अपूर्ण उतरे उसे कभी करने का साहस न कीजिए, नहीं तो धर्म के स्थान पर अधर्म होगा और कर्त्ता को अपार दुःखसागर में डुबा देगा।

धर्म को दिमागी बीमारी बताने वाली भ्रान्त मनोवृत्ति

फ्रायड ने धर्म को एक प्रकार की व्यापक दिमागी बीमारी–यूनिवर्सल अवसेशनल न्यूरासेस माना है। वे अपनी 'दी फ्यूचर ऑफ एन इल्यूजन' में लिखते हैं–''जब मनुष्य अपने आपको बाह्य प्रकृति और अन्तःप्रवृत्ति के झकझौरों का सामना करने में असमर्थ पाता है तो अपनी असहाय अन्तःव्यथा को ठण्डा करने के लिए धर्म का सहारा लेता है।''

धर्म अवांछनीय है और कामप्रवृत्ति मनुष्य की मूल प्रवृत्ति है। इन दो प्रतिपादनों से खुले अनाचार को छूट मिलती है। थोड़े कर्मकाण्डों और प्रथा-प्रचलनों को अलग रख कर देखा जाय तो धर्म विशुद्ध रूप से नीतिशास्त्र है उसमें नागरिकशास्त्र और समाजशास्त्र के अस्तित्व से इनकार कर देना और किनारे पर पड़े हुए सीप-घोंघों को ही समुद्र सम्पदा मान बैठना भूल है।

धर्म को अनुपयोगी इसलिए कहा जाने लगा है कि उसमें पूर्वाग्रह, रूढ़िवादिता एवं साधारण कर्मकाण्डों का अत्युक्तिपूर्ण माहात्म्य भर दिया गया है। निहित स्वार्थों से प्रेरित धर्माचार्यों के अन्धविश्वास के ऐसे तत्त्व धर्मक्षेत्र में घुसेड़ दिये हैं जिनसे उनका व्यक्तिगत लाभ तो खूब होता है, पर श्रद्धालु के पल्ले समय और पैसे की बर्बादी के अतिरिक्त और कुछ नहीं पड़ता। यदि यह दोष निकाल दिया जाय तो धर्म का नैतिक एवं सामाजिक पक्ष अपने असली स्वरूप में आ सकता है उसका बुद्धिवाद का हर पक्ष एक स्वर से समर्थन कर सकता है। मनोविज्ञानी धर्म को मनःचेतना पर अनावश्यक और अवांछनीय भार डालने वाला जब बताते हैं, तब वस्तुतः उसका मंतव्य उसी धर्मविडम्बना की कटुआलोचना करना होता है जो आज पाखण्ड के रूप में सभी सम्प्रदायों ने समान रूप से अपना रखी है।

मनोविज्ञानवेत्ता विलियम जेम्स, डीवे, तयाजुङ्ग ने धर्म में नैतिक-अनैतिक एवं यथार्थ भ्रान्त तत्त्वों के संशोधन की आवश्यकता पर बल दिया है, वे कहते हैं, जब तक धर्म के शुद्ध और अशुद्ध पक्षों का वर्गीकरण न किया जायेगा तब तक उसके पक्ष और विपक्ष में बहुत कुछ कहा जाता रहेगा। उसकी संतुलित विवेचना भी सम्भव न हो सकेगी और न इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकेगा कि धर्म की उपयोगिता में कितना तथ्य है।

स्पष्ट है कि यह समीक्षा धर्मप्रवंचना की ही है। यह धर्म तत्त्व अपने मूल रूप में परिष्कृत स्तर का बन सके, तो उसे मनोविज्ञान दर्शन के आधार पर भी अनावश्यक एवं भारभूत न ठहराया जा सकेगा।

धर्म के मूल तत्त्वों को भूलकर जो स्थानीय और सामयिक धर्मप्रवर्तकों में खो जाते हैं, वे ही धर्म को बदनाम करते हैं। पूर्वजों के कुछ आचरण और निर्देश अपने समय में ठीक समझे और कहे जाते होंगे पर बदली हुई परिस्थितियों में उनका यथावत् बने रहना सम्भव नहीं। शाश्वत् में धर्मतत्त्व का मूल दर्शन ही है। उसके आचरण में अन्तर होते रहते हैं। यदि तत्त्व को भुलाकर किसी समय के धर्माचरण को ही मुख्य मान लिया जाय अथवा अमुक धर्म प्रवर्तक की उक्तियाँ अथवा गतिविधियों को सनातन न मान लिया जाय तो फिर धर्म प्रतिगामी ही बन जायेगा और कालान्तर में विकृत होकर विग्रह उत्पन्न करेगा।

मनोविज्ञान को जिस प्रयोजन के लिए आज-कल प्रयोग किया जाता है वह उसके मूल शब्दार्थ का एक बहुत छोटा भाग ही प्रकट करता है। अँग्रेजी में जिसे 'साइकोलॉजी' कहते हैं उसका मूल अर्थ है आत्मा का विज्ञान। इस शब्द का प्रयोग सबसे पहले सन् १५९० में रुडोल्फ गोमेकले ने किया। मूल रूप में यह यूनानी भाषा के 'साइके' और 'लोगस' दो शब्दों से मिलकर बना है। साइके का अर्थ है–आत्मा। लोगस कहते हैं–चर्चा अथवा विज्ञान। जिस संदर्भ में आत्मा की चर्चा या विवेचना की जाय इसे साइकोलोजी कहा-समझा जाना चाहिए। प्लेटो और अरस्तू इसे इसी अर्थ में प्रयोग करते रहे हैं।

मनोविज्ञान की परिभाषा करते हुए कुछ दार्शनिक इस प्रकार कहते हैं–

मनोविज्ञान वह विवेचना है जो व्यवहार के पीछे छिपी मानसिक दिशा की जानकारी कराता है।

–जैम्स ड्रेवर

जीवन के सम्मुख प्रस्तुत होती रहने वाली परिस्थितियों एवं वस्तुओं के सम्बन्ध में जो प्राणी की प्रतिक्रिया होती है उसी का विश्लेषण मनोविज्ञान है।

–चार्ल्स ई. स्किनर

वातावरण से प्रभावित व्यक्ति की विभिन्न मनःस्थितियों के स्वरूप की जानकारी को मनोविज्ञान कह सकते हैं।

–वुडवर्थ

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

मानवीचिन्तन एवं कर्तृत्व के पीछे छिपी अचेतन मन की गतिविधियों का नाम मनोविज्ञान है।

–ब्रिजेज

मनोविज्ञान मानवीय अनुभवों एवं व्यवहारों का तात्विक दिग्दर्शन है।

–थाउलस

त्याग, बलिदान, सेवा, तपस्या की कष्टसाध्य प्रक्रिया को अपनाने में कितने ही व्यक्ति असाधारण आनन्द, संतोष एवं गर्व अनुभव करते हैं, यह समष्टि मन की ही तुष्टि है। पाशविक मन तो इस प्रकार के कदम उठाने की कभी कल्पना ही नहीं कर सकता। उसे कामोपयोगी जैसी पशु-प्रवृत्ति की तृप्ति में ही अपनी सारी मानसिक क्षमता नियोजित रखे रहनी पड़ेगी। भोग की लालसा मात्र शेष स्वभाव को ही परिपुष्ट करेगी। प्रेम जैसे अध्यात्म तत्त्व से तो ऐसे लोगों को सर्वथा वंचित ही रहना पड़ेगा। प्रेम तो उदारता और आत्म-दान की भूमि पर ही विकसित होता है, जिसे अपने ही भोग की आपाधापी पड़ी है उसे शोषक का दृष्टिकोण ही पल्ले पड़ेगा और कुत्साओं में ग्रस्त रहने के अतिरिक्त उसके हाथ और कुछ न लगेगा।

विकसित व्यक्तित्व और प्रखर प्रतिभा की प्रशंसा सर्वत्र कही-सुनी जाती है, यह और कुछ नहीं केवल समष्टिगत मन के विकास की व्यक्तिगत जीवन में दीख पड़ने वाली झाँकी मात्र है। सुगठित चरित्रनिष्ठा, मनस्विता, दूरदर्शिता, प्रगतिशीलता, तत्परता एवं साहसिकता, सुव्यवस्था के रूप में हम केवल समष्टि मन की प्रौढ़ता का ही दर्शन करते हैं। इसकी तुलना उन भोगपरायण नरकीटकों से नहीं की जा सकती जो अपनी तुच्छता के कारण गुण, कर्म, स्वभाव की दृष्टि से पग-पग पर घृणित और पतित सिद्ध होते रहते हैं। आत्मा का संदेश, ईश्वर का प्रकाश जिन्होंने सुना, देखा है वे उसे समष्टि मन की प्रौढ़ता का प्रसाद ही अनुभव करेंगे।

मन की भौंड़ी और उथली परत के नीचे दो और मन हैं-अतीन्द्रिय मन और समष्टिगत मन। अचेतन मन के यह दो भाग कितने महत्त्वपूर्ण हैं इसे मनस्वी और मनःक्षेत्र की साधना करने वाले लोग ही जान सकते हैं। चेतन मन के स्वरूप और प्रभाव से सभी लोग परिचित हैं। उसे सुयोग्य बनने के लिए अध्ययन, अनुभव, परामर्श, मनन, चिन्तन आदि उपयोग को अपनाया जाना चाहिए। बुद्धिमान बनने के उपायों और परिणामों से सभी परिचित हैं। अचेतन मन की गरिमा और सम्भावनाओं का पता लगाने के लिए मनःशास्त्री जितने गहरे उतरते जाते हैं, उतना ही यह अनुभव करते हैं कि इस रत्नागार में छिपी बहुमूल्य सम्पदा इतनी अपार और असीम है जिनकी कल्पना तक कर सकना कठिन है।

अतीन्द्रिय मन में वे समस्त सम्भावनाएँ विद्यमान हैं जिनका योगी-तपस्वी तथा सिद्ध पुरुषों के चमत्कारों तथा सिद्धि-साधनों के संदर्भ में वर्णन किया जाता है। परोक्ष जगत में जिन आविष्कर्ताओं और अतिमानवीय उपलब्धियों की चर्चा होती रहती है उनका बीज मूल इस चेतन मन में ही प्रसुप्त स्तर पर पड़ा होता है, जो उसे जाग्रत कर लेते हैं वे उस अद्भुत को भी प्रत्यक्ष करते रहते हैं जो साधारण तथा असम्भव और अप्रत्याशित समझा जाता है।

समष्टि मन को दूसरे शब्दों में विश्वात्मा कह सकते हैं। प्राणि में एक ही दिव्य ज्योति विभिन्न रङ्ग-रूपों और आकार-प्रकारों में जल रही है। सामूहिकता, सद्भावना, प्रेम-उदारता, सेवा-संयम, करुणा-ममता जैसी उच्च प्रवृत्तियाँ इसी स्तर के प्रस्फुरण से विकसित होती हैं। तुच्छ से नरपशु को महामानव के रूप में परिणत कर देने का श्रेय इसी मनःस्तर को है। अनीति की ओर बढ़ते कदमों को यही अन्तःप्रेरणा रोकती है। त्याग और बलिदान के लिए साहस इसी स्तर की हलचलों से जाग्रत होता है। अतीन्द्रिय और समष्टि मन की अन्तःस्फुरणाओं के प्रभाव से ही व्यक्ति ऋषि, दृष्टा, तत्त्वज्ञानी, देवदूत एवं अवतारी बनता है। समष्टि मन का प्रभाव ही समाज सेवा, लोक-मङ्गल एवं चरित्र-निर्माण के रूप में देखा जाता है और अतीन्द्रिय मन की विभूतियों का सौन्दर्य अतिमानवों के, देवदूतों के रूप में यत्र-तत्र बिखरा हुआ देखा जा सकता है।

उथले स्तर की मनःविकृतियों को ही समग्र मानसिक चेतना मान बैठने वाले ही यह कह सकते हैं कि-"पशु प्रवृत्तियों के दमन से मानसिक रोगों की उत्पत्ति होती है। इसलिए उन्हें खुल खेलने देना चाहिए और नैतिकता-अनैतिकता, मर्यादा, उच्छृंखलता का विचार नहीं करना चाहिए।" यह प्रतिपादन वस्तुतः मनुष्य के घृणित और वीभत्स स्तर की ही वकालत है और उसे पशु एवं पिशाच बनने का निर्लज्ज प्रोत्साहन है। यदि यह बात सत्य रही होती तो मानवीय संस्कृति का जो विकास अब तक हो सका है वह कदापि सम्भव न रहा होता, फिर आदर्शवादिता और उत्कृष्टता के लिए, संयम और सद्भाव के लिए मनुष्य चरित्र में कोई स्थान ही न रहा होता।

सच तो यह है कि नैतिक भावनाओं का उन्नयन मन को अत्यन्त सबल एवं उत्पादक बना देता है और ऐसे आनन्द, सन्तोष से भर देता है जिसकी तुलना में कामवासना सरीखी पशुप्रवृत्तियों का तुष्टीकरण तुच्छतम ही प्रतीत हो सकता है। अनैतिक आकांक्षाएँ और कुछ नहीं नैतिक भावनाओं के उत्थान के अभाव में बनी रहने वाली अंधकार भरी रिक्तता ही हैं। धूप जहाँ नहीं पहुँचती वहाँ सीलन रहती है, प्रकाश जहाँ नहीं होता वहाँ अँधेरा छाया रहता है। ठीक इसी प्रकार समष्टि मन के मूर्छित पड़े रहने पर स्वार्थवादी एवं इन्द्रियपरायण अहंता जग पड़ती है और उसकी ललक, वासनातृष्णा की पशु चेष्टाओं में भटकती रहती है। फ्राइड सरीखे मनोविज्ञानी इसी भटकाव को मनुष्य की प्रवृत्ति मान बैठे हैं। वे यह नहीं सोच सके कि उनके निष्कर्ष मानवी महानता को पतनोन्मुख बनाने का कितना घातक परिणाम प्रस्तुत करेंगे।

मनःशास्त्री जुङ्ग ने समष्टि मन की क्षमता पर बहुत प्रकाश डाला, उसका कहना है कि इसी प्रेरणा से वे सभी

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

गतिविधियाँ उत्पन्न होती हैं, जिनके आधार पर मनुष्य और समाज का सराहनीय रूप बनता है। वस्तुतः यही मूल प्रवृत्ति है और इसी ने मनुष्य में विचारशीलता, सहकारिता, एवं आदर्शवादिता की प्रवृत्तियाँ विकसित करके उसे आज की समुन्नत स्थिति तक पहुँचाया है। देवत्व यही है। सतोगुण एवं आत्मबल इसी को कहते हैं। वातावरण की गन्दगी मन पर जमते रहने पर एक अनैतिक परत भी जमी रहती है। पर उसके उन्मूलन में भी दैवी प्रवृत्ति निरन्तर संलग्न रहती है। समुद्र मन्थन का अन्तर्द्वन्द्व यही है। सद्गुरु की शिक्षा एवम् आत्म-प्रेरणा के रूप में इसी संशोधन परिष्कार को आत्मवेत्ता चित्रित करते रहे हैं। समष्टिगत आकांक्षाओं के प्रतिकूल उच्छृंखलता एवम् अनैतिक आचरण करने वालों को न केवल राजसत्ता द्वारा सामाजिक घृणा द्वारा दण्ड मिलता है वरन् आत्म-ताड़ना द्वारा अनेकों शारीरिक, मानसिक रोगों की उत्पत्ति भी होती है। यह तथ्य अब दिन-दिन अधिकतम स्पष्ट होते चले जा रहे हैं और उच्छृंखलतावादी मनोवैज्ञानिक प्रतिपादनों की निरर्थकता स्वयं सिद्ध बनती चली जा रही है।

जिस प्रकार धान के ऊपर अनुपयोगी छिलका चढ़ा होता है, उसी प्रकार किसी-किसी के मन की ऊपरी परतें भी ऊबड़-खाबड़ हो सकती हैं, पर यह आवश्यक नहीं है कि सुसंस्कृत वातावरण में जन्मे और पले व्यक्ति भी अशुद्ध चिन्तन की व्याधि से ही ग्रस्त हों। आज के उचित वातावरण में बहुसंख्यक लोगों की मनोवृत्तियों में पशु-प्रवृत्तियों का भी बाहुल्य हो सकता है। उन्हीं के आधार पर मनुष्य के स्तर की पाशविक प्रवृत्तियों से ग्रस्त मान बैठना वस्तुतः मानवता के साथ अन्याय करना ही है। सम्भवतः फ्रायड से यही भूल जान या अन्जान में हुई है। वे मनुष्य को कामुकता की कीचड़ में सड़ते रहने वाले कृमिकीटक मात्र समझ सके हैं। वस्तुतः मानवी सत्ता की गरिमा उससे ही ऊँची है जैसा कि उन्होंने समझा है।

पाश्चात्य दार्शनिक मन और आत्मा के बीच का भेद समझ सकने में प्रायः असफल रहे हैं। उनमें से अधिकतर दोनों को एक ही मानते हैं। हीगल और उनके अनुयायियों ने यही प्रतिपादित किया है कि मन की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति धारा का नाम आत्मा है। आर्थर शोपन हावर और इमेनुअल काण्ट ने आत्मा और भेद को कुछ अधिक स्पष्ट किया है। फिर भी वे इस विभेद को उतना आगे तक नहीं ले गये हैं जितना कि भारतीय तत्त्ववेत्ता बताते रहे हैं।

भौतिक विज्ञान इतना ही मानता है कि मनुष्य का पूर्वपक्ष भूतकाल उसके माता-पिता, पितामह आदि पूर्वजों के साथ जुड़ा है और उत्तरपक्ष भविष्य पुत्र-पौत्रों के साथ। चेतना की शृंखला उसकी दृष्टि से आत्म-विज्ञान मानता है कि जीव का पूर्वज परमात्मा है और उसका भविष्य भी उसी के साथ जुड़ा हुआ है। इस दृष्टि भेद की प्रतिक्रियाएँ अत्यन्त दूरगामी होती हैं। भौतिकतावादी अपने अलावा अपने वंश-परिवार की ही सुख-समृद्धि सोच सकता है पर आत्मवादी को परमात्मा के प्रति, अपने उत्तरदायित्वों को निवाहने की बात ध्यान में रखनी पड़ती है। वह समाजनिष्ठ होता है, जबकि भौतिकवादी की महत्त्वाकांक्षाएँ अपने घर-परिवार तक सीमित होकर रह जाती हैं।

मनोविज्ञान वस्तुतः दर्शन शाखा की ही एक शाखा है। इस शाखा की भी तीन प्रशाखाएँ हैं-(१) जड़वादी अथवा अचेतनवादी-फ्रायड का सिद्धान्त (२) चेतन वादी-जुङ्ग का सिद्धान्त (३) व्यवहारवादी-मेग्डूगल का सिद्धान्त । यदि यह वर्गीकरण कार्यक्षेत्र के स्तर पर किया जाय तो उसे (१) वैयक्तिक (२) सामाजिक (३) सैद्धान्तिक (४) व्यावहारिक इन चारों भागों में विभक्त करना पड़ेगा। यों इस पर शोधकार्य पशु मनोविज्ञान, पक्षी मनोविज्ञान, प्राणी मनोविज्ञान, मानव मनोविज्ञान के रूप में भी हुआ है। मानव मनोविज्ञान को बालकों, प्रौढ़ों, महिलाओं औरों वृद्धों को ध्यान में रखकर भी विभाजन रेखाएँ खड़ी की गई हैं और व्यापार, चिकित्सा, कानून, शिक्षा, शासन आदि से सम्बन्धित कितने ही प्रयोजनों के लिए स्वतंत्र शास्त्रों के रूप में प्रतिपादित किया गया है।

अतीन्द्रिय मन के सम्बन्ध में कभी यही सोचा जाता था कि यह दैवी अनुग्रह का वरदान-चमत्कार है। अब यह स्पष्ट हो चला है कि मन्त्रों और देवताओं के माध्यम से जो कुछ प्राप्त किया जाता है वह वस्तुतः कहीं बाहर से नहीं आता वरन् भीतर से ही उदय होता है। देवता यदि है तो उनका निकटतम देवस्थान अपना अतीन्द्रिय मन ही है। मन्त्रों में, साधन-अनुष्ठानों में अलौकिक क्षमता मानी जाती है। उसके उद्गम स्थल अचेतन मन की यही उच्चस्तरीय परत है। मन्त्र, देवता या साधना-विधान किसी के लिए फलप्रद होते हैं किसी के लिए नहीं, इसका एकमात्र कारण साधक के अतीन्द्रिय मन की परिस्थितियों का ऊँचा नीचा स्तर ही है। अलौकिकताओं का ध्रुवकेन्द्र यही मर्मस्थल है। ब्रह्म बिन्दु इसी को कहते हैं।

सर ओलीवर लाज, मेडम वैवेटस्की, प्रभृति तत्त्ववेत्ता अतीन्द्रिय विज्ञान की आधुनिक शोध में महत्त्वपूर्ण कार्य कर चुके हैं। ओकल्ट साइन्स, पैरासाइकोलॉजी-मैटा फिजिक्स के अन्तर्गत इस सन्दर्भ में शोध कार्य जारी है। दूरदर्शन, दूरश्रवण, परोक्षानुभूति, परिचित विज्ञान, पर-काया प्रवेश जैसे कितने ही प्रयोग प्रत्यक्ष प्रयोगशालाओं में होते हैं। मैस्मरेज्म, हिप्नोटिज्म को अब टोना-टोटका नहीं माना जाता, वरन् उसके आधार को विज्ञान-सम्मत स्वीकार कर लिया गया है। कितने ही ऐसे व्यक्ति समय-समय पर प्रकाश में आते रहते हैं जो मनुष्य में अलौकिकताओं की सम्भावना को हर कसौटी पर प्रमाणित कर सकें। यह सारी परिधि अतीन्द्रिय मन की अद्भुत शक्ति सामर्थ्य पर ही प्रकाश डालती है। भूतकाल का इतिहास तो इस ब्रह्मविद्या की महत्ता से ही भरा पड़ा है। वह दिन दूर नहीं जब अतीन्द्रिय विज्ञान के शोधकर्त्ता मनुष्य की महान् महत्ता को अबकी अपेक्षा सहस्रों गुनी अधिक अद्भुत सिद्ध कर सकेंगे। तब प्रकृति के नहीं चेतना जगत के एक से

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

एक बढ़कर महत्त्वपूर्ण रहस्यों का उद्घाटन मात्र मानवी शरीर एवम् मन रूप यन्त्र से ही सरल सम्भव हो सकेगा।

मनोविज्ञान आज भले ही भ्रान्तियों की उलझन में उलझ गया हो, पर आशा करनी चाहिए यथार्थता अगले दिनों प्राप्त कर ही ली जायेगी और पशु प्रवृत्तियों से ऊँचा उठाकर मनुष्य को देवस्तर तक पहुँचाने में मनःशास्त्र अपनी उचित भूमिका सम्पादन करेगा।

धर्म के नाम पर मानवता का पतन

धर्म अत्यन्त पवित्र मानवीय आत्माभिव्यक्ति है। धर्म की उत्पत्ति मानवता के कल्याण से जुड़ी हुई है। संसार के सब ज्ञान, अनुभव, नैतिक प्रगति का नवनीत धर्म ही है। सच्ची धर्मभावना से मानव मात्र का कल्याण होता है, किन्तु हम देखते हैं, आज के युग में धर्म की आड़ में धर्मान्धता का प्रचार हो रहा है, साम्प्रदायिकता का जाल बिछता जा रहा है, धार्मिक संस्थाओं में आडम्बर, भोग-विलास तथा बाह्य प्रदर्शन बढ़ते जा रहे हैं। झूठे सारहीन धर्मविश्वास, रूढ़ियाँ, कट्टरता, धर्मान्धता, अज्ञान पारस्परिक विद्वेष फैल रहे हैं। मठ-मन्दिरों की जिन पवित्र सेवा, त्याग, निस्वार्थ भावना के उच्च उद्देश्यों के लिए स्थापना की गई थी, वे समय की गति से विलुप्त हो गए हैं।

एक युग था जब मन्दिर का पुजारी ज्ञानी, सुशिक्षित, सच्चरित्र, धर्म का उपदेश देने तथा तदनुकूल आचरण करने वाला संयमी व्यक्ति होता था। भजन, पूजन, कीर्तन, सदग्रन्थावलोकन, मन्दिर की देख-रेख, मूर्ति को स्नान कराना, मन्दिर में यज्ञ इत्यादि की देखभाल उसका कार्य-क्रम था। समय बदला और भगवान की सेवा में भी धोखेबाजी चल निकली है।

आज मन्दिरों का प्रसाद दूकानों पर आकर पैसों से बिकता है। उनमें से नफा कमाया जाता है। कहने को यह भगवान् का प्रसाद है, पर उसे चखने के लिए गाँठ में रुपया चाहिए। जिस देश में भगवान् का ट्रेड मार्क लगाकर रद्दी, बासी, दुर्गन्धमय, सड़ी-बुसी मिठाइयाँ बेची जाएँ, पूजा बिना रुपये-पैसे के न हो सके, पुजारी और महन्त दिन भर गाँजा तम्बाकू, भाँग, अफीम तथा अन्य नशीली वस्तुओं का सेवन कर रात्रि के अन्धकार में परस्त्री भोग, डकैती और खून तक करते रहें और जनता दकियानूसी विचारों व अन्ध-विश्वासों में पड़ी रहे, उसका भविष्य क्या होगा ?

धर्मशालाओं में आज मुसाफिर को जो कष्ट होते हैं, जैसी गन्दगी, भ्रष्टाचार, स्वार्थ और चौकीदार का एकछत्र राज होता है, यह प्रत्येक यात्री जानता है। रिश्वत में कुछ न कुछ देते रहने से आप अच्छा कमरा प्राप्त कर सकते हैं अन्यथा आपको निकृष्ट तथा दुर्गन्धमय अँधेरे कमरे से सन्तोष करना पड़ेगा। धर्मशालाओं में शौचादि का स्थान ऐसा गन्दा रहता है कि मानव की गन्दगी और कुरूपता पर दया आती है।

दिखावे का धर्म

आज का धर्म दिखावे का धर्म है। दिन भर व्रत रखने वाले भगवान् का नाम लेने, भजन-पूजन करने, दान देने, सद्ग्रन्थों का पठन-पाठन करने या मौन धारण करने के स्थान पर गालियाँ देते रहते हैं, व्रत रखने वाले दूकानदार कम तोलने, काला बाजार करने, झूठ बोलने, ग्राहक को ठगने में लगे रहते हैं। कहने को व्रत-उपवास से हैं, शाम को मन्दिर में पूजन-दर्शन के लिए भी जाएँगे किन्तु कम तोलना, झूठी बातें करना, व्यर्थ की खुशामद, काला बाजारी नहीं छोड़ेंगे। यह है, आज का झूठा दिखावे का धर्म।

दिन-रात अप-शब्दों का उच्चारण करने, लड़ने-झगड़ने, मारने-पीटने, गुस्सा रहने वाली कर्कशा स्त्रियाँ अपने आपको धर्म का ठेकेदार समझती हैं। जो स्त्रियाँ पढ़ना नहीं जानतीं, या अक्षर ज्ञान मात्र लेकर रामायण, गीता, महाभारत में चिपकी रहती हैं, वे अपने को धर्म का दावेदार मान बैठी हैं। जो हफ्ते में एक बार गंगा या जमुना में स्नान कर लेती हैं, वे अपने को पवित्र मानती हैं। जिन्हें सारहीन धार्मिक विश्वासों ने अकर्मण्य और कूपमंडूक बना दिया है, जो दिन-रात बहुओं पर नृशंस अत्याचार करती हैं, उन्हें स्वयं पीटती या पति से पिटवाती हैं, वे अज्ञानी अपने पाप को धर्म के आवरण में छिपाने का प्रयत्न करती हैं। बड़े-बड़े पूँजीपति रात-दिन काला बाजार कर जनता को लूटमार धोखा देकर खूब रुपया ऐंठते हैं। फिर परमेश्वर को रिझाने और पाप धोने के लिए गंगा स्नान, यात्रा, दान का स्वाँग बनाते हैं।

'धर्म' मनुष्य जीवन की प्रधान आवश्यकता है। पूजा और उपासना से मनुष्य का अन्तःकरण निर्मल होता है और आत्मबल बढ़ने से आत्मा सच्चे सुख एवं शान्ति की ओर अग्रसर होती है। आज धर्म एवं उपासना के नाम पर केवल कुछ रूढ़ियाँ प्रचलित रह गई हैं। इसमें सुधार होना मनुष्यता की रक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यक है। धार्मिक विश्वास हमारे प्रत्येक कार्य और विचार में ओत-प्रोत होना चाहिए। जीवन की गतिविधि साधनामय होनी चाहिए। पूजा-उपासना से लेकर दैनिक जीवन के सामान्य कार्य तक साधनामय हों तभी हम सच्चे साधक एवं ईश्वर विश्वासी बन सकते हैं।

राजनैतिक क्षेत्रों में धर्म का नितान्त अभाव

आज की राजनीति स्वार्थ, भ्रष्टाचार, दूसरे राष्ट्रों को हड़पने, अपना साम्राज्य फैलाने के उपक्रम, धोखा, घृणा, विद्वेष और हिंसा से परिपूर्ण है। आज का शासन गुटबन्दी का शासन है। एक ओर ब्रिटेन-अमरीका गुट है, तो दूसरी ओर रूस-चीन जोर मार रहे हैं। बिना किसी गुट में

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

सम्मिलित हुए, बिना कूटनीति के प्रयोग किये किसी राष्ट्र का अस्तित्व निरापद नहीं।

राजाओं का निरकुंश शासन-युग समाप्त हो गया है। जनमत का आदर हो रहा है। जनता का राज्य गरीबी, मजदूरी, बीमारी, आर्थिक कष्टों को दूर नहीं कर पा रहा है। प्राय: जनता को भुलावे में डालकर डिक्टेटर जन्म ले रहे हैं और डिक्टेटर जनमत की परवाह नहीं कर रहे हैं। आज की राष्ट्रीयता संकुचित एवं आक्रामक राष्ट्रीयता है। फासिस्ट दल जनमत की परवाह नहीं करता। वह अपने विचार एक विशिष्ट प्रचार-पद्धति से जनता पर थोप देता है। फैस्जिम कोई नई स्वयंस्थित विचारधारा नहीं, प्रत्युत पूँजीवाद का खूनी रक्षक भर है। गरीबी दूर करने का भुलावा देकर वह जनता का ध्यान आर्थिक अधिकारों और उन्नति से हटाता है।

फासिज्म दूसरे राष्ट्रों की निर्बलता, पिछड़ेपन, निर्धनता, असभ्यता पर पनपता है। असभ्य तथा पिछड़े हुए देशों को हथियाकर अपने अधिकार में कर लिया जाता है। पिछड़े हुए राष्ट्रों पर जो भयंकर अत्याचार किए जाते हैं, उनका वर्णन नहीं किया जाता। अबीसीनियाँ और यूथोपिया इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

फासिज्म में एक देश के विरुद्ध विषैला प्रचार किया जाता है, जो प्राय: मिथ्या होता है। फासिस्ट प्रोपेगेन्डा वाला डिक्टेटर अपनी प्रजा में यह प्रचारित करता है-"अमुक राष्ट्र ने, जो हमारे पड़ौस में है, हमारे यहाँ स्थिर नागरिकों पर बड़े-बड़े अत्याचार किये हैं। वह हमारा शत्रु है । हमें अपनी आबादी को बसाने के लिये स्थान चाहिए। अत: उस पर आक्रमण कर देना चाहिए।"

इस मनोवृत्ति से परस्पर घृणा, द्वेष, कटुता, शत्रुता की वृद्धि होती है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के प्रति विषैला प्रचार करता है।

कम्यूनिज्म ऐसा राजनैतिक धर्म है, जो समाज में एक पार्टी का हित चाहता है। दूसरी पार्टी में चाहे कोई कितना ही अच्छा हो, कम्यूनिज्म की दृष्टि से हेय है।

साम्राज्यवाद पूँजीवादी वृत्ति का परिणाम है। हमारा साम्राज्य बढ़ता रहे, चाहे उससे जनता को लाभ हो या न हो, इससे हमें मतलब नहीं। पूँजीवादी व्यवस्था सें सबसे बड़ा दोष यह है कि उसका आधार व्यक्तिगत लोभ है। उसमें मानवता के कल्याण का कोई स्थान नहीं। समाज के लोग बिना वस्त्र घूम रहे हों, पर पूँजीवाद देश विध्वंसक गोले, बन्दूक, आतिशबाजी बनाने में कपड़े की वनिस्पत अधिक दिलचस्पी लेता है।

आज प्रजातन्त्र का युग है किन्तु प्रजा अशिक्षित, मूर्ख, अन्धविश्वासों, रूढ़ियों, धार्मिक कुचक्रों में बँधी हुई है। अवसरवादी, ढोंगी नेता, भोली जनता की अशिक्षा से लाभ उठाते हैं। प्रजा का शोषण चलता है। अधिकारी समझता है कि यह उसका अन्तिम अवसर है। अत: वह उचित-अनुचित रूप से अधिकतम रुपया खींच लेना चाहता है। रुपये के बल पर वोट मिलते हैं, जनता को धोखे में डाल दिया जाता है। कल जो किसी रिश्वतखोरी, बेईमानी या अनुचित कार्य करने पर निकाल दिया गया था, आज वही रुपये तथा प्रोपेगेण्डा के बल पर जननेता का स्वाँग बनाता है। कुछ राजनैतिक पार्टियाँ धर्म और साम्प्रदायिकता की आड़ में अपना स्वार्थ सिद्ध करती हैं। कोई किसान मजदूरों का नारा लगाकर जनता की सहानुभूति चाहता है। आज राजनीति के क्षेत्र में अजीब खींचतान, संघर्ष, झूठ, कपट, प्रोपेगेण्डा, स्वार्थसिद्धि चल रही है। युद्ध के बादल मँडरा रहे हैं । जब तक ऐसा कुटिल वातावरण चलता रहेगा, तब तक मानवता पतित होती रहेगी।

प्रान्तीयता का विष

"यह हमारे प्रान्त का व्यक्ति है। अत: इसकी उचित शिक्षा अपने ही प्रान्त के व्यक्तियों को प्रोत्साहन, आर्थिक सहायता या तरक्की नौकरी देनी चाहिए।" यह प्रान्तीयता की भावना आज अपने घृणात्मक रूप में देखी जा रही है।

सरकारी नौकरियों में यदि कोई मद्रासी अफसर है तो उसकी दृष्टि में मद्रास के अतिरिक्त अन्य प्रान्त वाले किसी योग्य नहीं हैं। बंगाली सज्जन अपने बंगालियों को ही लेना पसन्द करते हैं। पंजाबी पंजाबियों, सिंधी सिंध वालों और यू.पी. उत्तर प्रदेश में रहने वालों को आगे बढाना चाहते हैं। प्रान्तीयता की भावना हमारी संकुचिता की प्रतीक है। इससे यह ज्ञात होता है हमारे हृदय कितने छोटे हैं। हमारी आत्मीयता के ये छोटे-छोटे दायरे हिंदू-समाज के कलंक हैं। जब हम एक प्रान्त के व्यक्ति से पक्षपात करते हैं और दूसरे का सच्चे हठ की अवहेलना करते हैं, तो हम एक पाप करते हैं। पक्षपात हमारी राजनीति का एक बड़ा शत्रु है। पक्षपात के कारण अयोग्य, अशिक्षित, अनधिकारी व्यक्ति मिनिस्ट्री, म्यूनिस्पेलटी की मैम्बरी का आनन्द भोगता है, भ्रष्टाचारपूर्ण शासन करता है, जबकि योग्य विद्वान अधिकारी सज्जन पड़े सड़ा करते हैं।

आजकल के भ्रष्टाचार का तीसरा कारण अवसर-वादिता है। "अब अवसर है, हम अधिकारी हैं, अपने महकमे के सरताज हैं, हमारा अपना राज है। अतएव अपना उल्लू सीधा कर लेना चाहिए।"-ऐसी विचारधारा हमारे पतन का ही कारण है। आज राजनैतिक जीवन में अधिकांश नेता, अधिकारी अफसर लोग अपने-अपने अवसर से पूरा-पूरा फायदा उठाने की फिक्र में लगे हुए हैं। इस अवसरवादिता का पतित रूप कन्ट्रोल तथा पुलिस-कचहरियों आदि के विभागों में अपने सबसे घिनौने रूप में देखा जा सकता है।

घूस, भ्रष्टाचार और पक्षपात

पुलिस वाला इक्के वालों, ताँगे वालों, छोटे-छोटे फेरी वालों, खोमचा, फल इत्यादि बेचने वालों, पटरियों पर बिसाती की छोटी-छोटी दूकान लगाने वालों से रिश्वत लेते हैं। सबका दैनिक रुपया बँधा है। शाम को प्रत्येक ताँगा,

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

रिक्शा या बिसाती अपनी अर्जित आय का एक भाग लाकर कान्स्टिबिल साहब की जेब में डाल जाता है। चुङ्गी कस्टम इत्यादि में मुसाफिर या व्यापारी को पकड़ लिया जाता है। राशन की दूकानों पर कम तोलने, कूड़ा-करकट मिलाकर गेहूँ आदि निकाल लेने, दूध में पानी की मिलावट, घी में वनस्पति का मिश्रण, कालीमिर्च में पपीते के बीज, जीरे में सींकों के जीरे का पुट इत्यादि बाजार की अनैतिकता का कारण निरीक्षकों को मिलने वाली घूस ही है।

गत कुछ वर्षों से देश में चोरी और डाकों का दौर-दौरा चल पड़ा है। स्कूल-कालेज में छोटी-छोटी वस्तुओं की चोरी, फाउन्टेन पेन, पेंसिल, रूमाल इत्यादि उचाटने को तो बुरा ही नहीं माना जाता। उधार चीज लेकर, विशेषत: रुपया या पुस्तक वापस न करना तो हमारी आदत का अंग बन गया है। जो खुले बाजार में प्राप्त नहीं होता, वह चोरबाजार में अनायास ही प्राप्त हो जाता है। रेल के महकमे में रिश्वत पर्याप्त चलती है। व्यापारी अपने व्यापार के लोभ में अनाप-शनाप घूस देकर माल की बिल्टी तैयार करा लेते हैं। बिना टिकिट सफर करने की अनैतिक आदत भी वृहत् संख्या में दृष्टिगोचर हो रही है। सरकारी दफ्तरों में रिश्वत का यह जोर है कि एक क्लर्क अपने ही आफीसर के दूसरे क्लर्क से चाय-पानी के पैसे ले लेता है। दिनों-दिन बढ़ती हुई यह चोरी, घूसखोरी, भ्रष्टाचार और छीना-झपटी, भोगवाद, धन-लिप्सा का विराम कम होना, कहा नहीं जा सकता। भोग गर्भित स्वार्थ के कारण आज प्राय: सभी प्रकार के नैतिक बन्धन शिथिल पड़ गये हैं।

नेताओं का दुरंगापन

सरकारी योजनाओं की विफलता में उनके कर्मचारियों, नेताओं, पथ-प्रदर्शकों की स्वार्थजन्य अनैतिकता का प्रमुख हाथ है। आज एक व्यक्ति कुछ प्रोपेगेण्डा करता है, कल वही मिनिस्टर या अधिकारी बनकर राष्ट्र की उपेक्षा कर निजी स्वार्थ को सर्वोपरि समझने लगता है। पिछड़े और दलित वर्गों की आवाज को दबाता है और अपने खूनी पंजों से बहुसंख्यक जनता की सामाजिक दासता की बेड़ियाँ सख्त कर देता है। अनेक नेता घर पर नौकरों, मजदूरों को मारते-पीटते, तनख्वाह नहीं देते हैं, बाहर जनता में प्लेटफार्म पर मजदूरों का पथ-प्रदर्शन का ठेका लेते हैं। स्वयं मदिरा पान कर दूसरों को मदिरा की असंख्य बुराइयाँ दिखाते हैं, स्वयं रेशमी सिल्क इत्यादि घर में पहिनकर बाहर खद्दर पहिनकर निकला करते हैं कहते कुछ हैं, करते कुछ उलटा ही हैं। वचन तथा आचरण में सर्वत्र दुरंगापन चल रहा है।

धर्म एक—स्वरूप-सम्प्रदाय अनेक

संसार में हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, ताओ, कन्फ्यूशियन, जैन, बौद्ध, यहूदी आदि विभिन्न नामों से प्रचलित धर्म-सम्प्रदायों पर दृष्टिपात करने से यही पता चलता है कि उनके बाह्यस्वरूप एवं क्रिया-कृत्यों में जमीन-आसमान जितना अन्तर है । क्रिया-कृत्यों में यह अन्तर होना उचित भी है, क्योंकि जिस वातावरण, जिन परिस्थितियों में वे पनपे और फैले हैं, उनकी छाप उन पर पड़ना स्वाभाविक है । मनीषी, अवतारी, महा-मानवों ने देशकाल, परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए श्रेष्ठता संवर्द्धन एवं निकृष्टता निवारण के लिए जो सिद्धान्त एवं आचारशास्त्र विनिर्मित किए, कालान्तर में वे ही धर्म-सम्प्रदायों के नाम से जाने लगे । इस कारण उनके बाह्य कलेवर में विविधता होना स्वाभाविक है । फिर भी जहाँ तक मौलिक सिद्धान्तों की बात है, वह सभी तथाकथित धर्मों में एक ही है । सभी ने एक सार्वभौम सत्ता के साथ तादात्म्य स्थापित करना मानव का अन्तिम लक्ष्य स्वीकार किया है ।

सभी प्रचलित धर्मों में 'प्रार्थना' को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया एवं अपने दैनिक क्रिया-कृत्यों में सम्मिलित किया गया है । मनश्चिकित्सकों एवं मनोविश्लेषकों ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है कि धार्मिक कर्म-काण्डों में जो प्रार्थना की जाती है एवं किसी न किसी प्रकार श्रेष्ठ विचारों के स्वाध्याय का क्रम चलता है—वह अशुभ एवं निकृष्ट चिंतन से उत्पन्न मनोरोगों और मन:शारीरिक रोगों के उपचार के लिए सद्विचारों की स्थापना में रामबाण औषधि की तरह काम करता है ।

अमेरिका के विख्यात साइकीआर्टिस्ट डॉ. ब्रिल ने कहा है-"कोई भी व्यक्ति जो वास्तव में धार्मिक है, मनोरोगों का शिकार नहीं हो सकता ।"

प्रसिद्ध विचारक डेलकारनेगी ने लिखा है-"जीवन की जटिलताओं और विषमताओं से संघर्ष करके सफलता पाने में कोई भी व्यक्ति अकेले समर्थ नहीं है, आस्था और विश्वास के साथ इस संघर्ष में विजय प्राप्त करने के लिए ईश्वर से प्रार्थना की जाय ।" उन्होंने कहा कि अधिकांश आत्म-हत्याएँ एवं पागलपन की दु:खद घटनाएँ उस शान्ति और पवित्रता से बाधित हो सकती हैं, जो सच्ची धार्मिकता एवं प्रार्थना में पाई जाती हैं ।

मौलाना रूम ने कहा है-"रूह की दोस्ती इल्म और ईमान से है, उसके लिए हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई आदि में कोई फर्क नहीं ।"

प्रसिद्ध ईसाई धर्मोपदेशक जस्टिन ने ईसाइयों को उपदेश करते हुए कहा-"जितनी भी श्रेष्ठ विचारणाएँ हैं, वे चाहे किसी भी देश या धर्म की हों सब मनुष्यों के लिए ईश्वरीय निर्देश की तरह हैं ।

शिव महिमा: में उल्लेख है-"जिस प्रकार बहुत-सी नदियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार से घूमकर अन्तत: समुद्र में ही जाकर गिरती हैं, उसी प्रकार मनुष्य अपने स्वभाव के अनुसार अलग-अलग धर्म-पथों से चलकर उसी एक ईश्वर तक पहुँचते हैं ।"

इंजील ने लिखा है-"मनुष्य के नथुनों में जितने श्वास आते हैं, उतने ही ईश्वर तक पहुँचने के रास्ते हैं ।"

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

चीन के प्रसिद्ध दार्शनिक कन्फ्यूशियस का कथन है–"अलग-अलग धर्मों की प्रेरणाएँ एक-दूसरे की विरोधी नहीं, पूरक हैं ।"

प्रसिद्ध सन्त जरथुस्त के अनुसार-"हम संसार के उन सभी धर्मों को मानते और पूजते हैं, जो नेकी सिखलाते हैं ।"

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में स्पष्ट कहा है–"सभी मनुष्य भिन्न-भिन्न पथों से चलकर अन्ततः मुझ तक ही पहुँचते हैं ।"

अनेकों मनीषियों, युगदृष्टा ऋषियों ने इसे स्वीकार किया है कि विभिन्न धर्मों में वर्णित आदर्श एवं सिद्धान्त सनातन हैं–

एक्लेजियास्टिक्स ने उल्लेख किया है– क्या कोई ऐसा आदर्श है जिसके संदर्भ में यह कहा जा सके कि यह नया है ? हर सिद्धान्त सनातन है, जिसका उल्लेख विभिन्न धर्मों में मिलता है ।

हजरत ईसा ने एक बार कहा था-"मैं प्रचलित धर्मों को नष्ट करने नहीं आया बल्कि उन्हें पूरा करने आया हूँ ।"

कृष्ण ने अर्जुन को गीता-उपदेश देते समय कहा-"जो ज्ञान मैं तुम्हें दे रहा हूँ, वही विवस्वान् ने मनु को, मनु ने इक्ष्वाकु को और इक्ष्वाकु ने अन्यों को दिया । यह क्रम हर युग में चलता रहा है और आगे भी चलता रहेगा ।"

कुरान में उल्लेख मिलता है-"जो शिक्षाएँ कुरान में दी गयी हैं, वे कोई नई नहीं हैं ।"

हजरत मोहम्मद ने सभी धर्मानुयायियों को सम्बोधित करते हुए कहा था-"आओ हम सब मिलकर उन बातों पर विचार करें जो हममें और तुममें एक सी हैं ।"

चरक ने लिखा है-"हम सभी धर्मों की एकता पर दृष्टि रखें यदि केवल बाह्य कलेवरों के विभेदों पर ही दृष्टि रही तो मानवता का पतन अवश्यम्भावी है ।"

विभिन्न साम्प्रदायिक दंगे-फसाद उस एकाकी दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप ही होते हैं, जिसमें धर्मों के बाहरी स्वरूप को देखकर ही विभेदता का अनुमान कर लिया जाता है । उस मौलिक एकता की ओर उथली दृष्टि होने से लोगों का ध्यान ही नहीं जाता, जिसमें एक लक्ष्य को लेकर धर्म के विविध कलेवरों का आविर्भाव हुआ ।

'जापान परिचय' नामक पुस्तक के लेखक इनजो नितोबो ने लिखा है–सातवीं शताब्दी में जापान में 'शिनतो' धर्म प्रचलित था । उसके बाद 'कन्फ्यूशियन' धर्म का चीन से और 'बौद्ध' धर्म का भारत से प्रवेश हुआ । ऐसी विषम स्थिति में वहाँ साम्प्रदायिक दंगे भड़कने की सम्भावनाएँ स्पष्ट दिखाई देने लगीं और यह भय व्याप्त हो गया कि कहीं इन धार्मिक मतभेदों के कारण यह छोटा-सा द्वीप समूह विनष्ट न हो जाय । ऐसे ही अवसर पर 'शोतोकु' नामक सन्त ने जापान की जनता का मार्गदर्शन करते हुए कहा–"ये तीनों धर्म एक ही धर्म रूपी वृक्ष के विभिन्न अवयव हैं । 'शिनतो' धर्म इस वृक्ष की जड़ है कन्फ्यूशियन एवं बौद्ध धर्मों के सिद्धान्त उसकी शाखाएँ, पत्तियाँ, फूल और फल हैं । जापानी जनता ने धर्म के मूल तत्त्व को तो आत्मसात् कर लिया और धर्मों के बाह्य कलेवरों की भिन्नता को समझ लेने के फलस्वरूप विभेदता की कुचाल में न फँसी, उत्तरोत्तर प्रगति पथ पर बढ़ती गई ।"

उपरोक्त विवेचना से यही निष्कर्ष निकलता है कि विविध धर्मों के बाह्य कलेवर एवं क्रिया-कृत्यों में न्यूनाधिक भिन्नता भले ही हो, परन्तु सबका प्राण तत्त्व एक ही है । धर्म का सच्चा स्वरूप वस्तुतः वही है जो शाश्वत् सिद्धान्तों के रूप में सभी धर्मों में विद्यमान है । धर्म के उस प्राण तत्त्व को हृदयंगम कर व्यावहारिक जीवन में समाविष्ट किए जाने से ही सबका कल्याण सम्भव हो सकेगा और मानवीय समाज सुख-शान्ति का रसास्वादन कर सकेगा ।

धर्म और सम्प्रदाय का अन्तर समझा जाय

अन्य प्राणियों और मनुष्यों में मौलिक अन्तर यह है कि मनुष्य में दूरगामी प्रतिक्रिया का पूर्व अनुमान लगा लेने की सामर्थ्य है, जबकि अन्य जीवधारी मात्र वर्तमान को ही देख-समझ पाते हैं । शारीरिक आवश्यकताएँ पूर्ण करने के लिए मिली हुई प्रकृति-प्रेरणा एवं इन्द्रिय क्षमता ही उनका बौद्धिक अवलम्बन होती है । इस सीमित उपलब्धि के कारण वे कोई योजना बनाने में, नीति निर्धारित करने में समर्थ नहीं होते । जिन्दगी पूरी करने के लिये ही जीते हैं । न सामने कोई लक्ष्य होता है और न भविष्य । अतएव उन्हें न अपने सम्बन्ध में कुछ सोचना पड़ता है, न अन्य जीवधारियों के सम्बन्ध में ।

मनुष्य की मौलिक दूरदर्शिता ने अनेकों व्यवस्था बनाने तथा नीति-मर्यादाएँ अपनाने के लिये प्रेरित किया है। परिवार गठन, आहार, उत्पादन, आच्छादन, सम्भाषण, संचय, विनिमय, पारस्परिक सहयोग, सामूहिक संघर्ष जैसी अनेकों आवश्यकताएँ उसके सामने आयीं । उनके लिये योजनाएँ बनानी पड़ीं और वे परम्परा के रूप में सभी ने स्वीकार कीं । इतने पर भी मत्स्य न्याय का जंगली कानून चलता ही रहा । समर्थों ने असमर्थों का शोषण करने की आक्रामक नीति अपनाए ही रखी । इस वर्ग के लोगों के लिए प्रतिरोध के अतिरिक्त दूसरा उपाय नीति-मर्यादा समझने का उपक्रम बना । ऐसा उपक्रम जो टकराव की स्थिति उत्पन्न करने वाली प्रवृत्ति की ही जड़ काटता रहे । इतना ही नहीं परस्पर स्नेह, सहयोग एवं उदार व्यवहार की भावनात्मक पृष्ठभूमि भी बनाता रहे । यह निर्धारण मानवी प्रगति का सबसे सशक्त माध्यम सिद्ध हुआ । इसी को अपनाकर वह सामाजिक प्राणी बना और हर क्षेत्र में

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

क्रमिक प्रगति करते-करते उस स्थिति तक पहुँचा जिसमें कि आज है, जिसमें उसे सृष्टि का मुकुटमणि कहा जाता है ।

सुविधा-साधनों का भौतिक उत्पादन जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही यह आवश्यक है कि उनका उपयोग-उपभोग करने में एक ऐसा व्यवस्थाक्रम बनाये रखा जाय जिसमें औचित्य का, न्याय का समुचित समावेश हो, जिसकी उपयोगिता तर्क और तथ्य के सहारे समझी-समझाई जा सके । स्वार्थों को औचित्य की सीमा तक रखने का अनुशासन और टकराव की स्थिति में बलपूर्वक नियमन की उभयपक्षीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये सामयिक निर्णयों की अपेक्षा यह अच्छा समझा गया कि एक आचारसंहिता बने और उसे सब लोग स्वेच्छापूर्वक पालन करें । साथ ही यह व्यवस्था भी बनी कि उच्छृंखलता को दमन करने वाला तन्त्र भी समर्थ बनकर रह सके । यही है मानव प्रगति के शुभारम्भ की घड़ियों में बनाई-अपनाई गई व्यवस्था । इसी ने उसे सज्जन बनाया, सहयोग का पाठ पढ़ाया, अनुशासन में रखा और उदार बनने के लिए उत्तेजित किया । यदि ऐसी व्यवस्था न बनी होती तो चातुर्य एवं कौशल के आधार पर उपार्जित की गई सुविधा-सामग्री का दुरुपयोग होता । आपाधापी और छीना-झपटी के कुचक्र में फँसकर मनुष्य विग्रही बनता और सम्पन्नता एवं बुद्धिमत्ता ऐसे विनाश का कारण बनती जिससे मानवी अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता ।

अराजकता और अनास्था को यदि इन दिनों छूट मिल सके तो मानवी गतिविधियाँ देखते-देखते दुष्प्रवृत्तियों में जुट पड़ेंगी । अनाचार फैलेगा और चिरसंचित प्रगति-क्रम को अस्त-व्यस्त होने में देर न लगेगी । भूतकाल में भी यह तथ्य समझा गया और मनुष्य ने अपने कौशल उपार्जन को टकराव होने से बचाने के लिए नीति-मर्यादाओं का निर्धारण किया । उन्हें परम्परा के रूप में अपनाया साथ ही यह प्रबन्ध भी किया कि जो उस अनुशासन को तोड़े उसे कड़े प्रतिरोध का, दण्ड-विधान का सामना करना पड़े । यह व्यवस्था उतनी ही सराहनीय कही जायेगी जितनी कि उपार्जन में समर्थ श्रमनिष्ठ बुद्धिमत्ता ।

संक्षेप में यही धर्म की आदिम स्थापना है । इस अनुशासन को पराक्रम के समतुल्य ही माना जा सकता है । भूतकाल में मनुष्य का सम्पर्क एवं कार्यक्षेत्र सीमित था इसलिए समस्याएँ भी थोड़ी थीं और उनका समाधान भी छोटे रूप में ही बन जाता था । तब मात्र एक ही अनुशासन तन्त्र या 'धर्म' था । उसी से चिन्तन और चरित्र के परिष्कार एवं नियमन का उभयपक्षीय प्रयोजन पूरा हो जाता था । शासन और अनुशीलन तक एक ही छत्रछाया में पनपते । अभिवर्द्धन और परिशोधन की दोनों ही आवश्यकता एक ही मंच से पूरी होती रहती थीं । धर्म की उपयोगिता-आवश्यकता उन दिनों हर किसी ने समझी थी और उसे परिपुष्ट बनाने में पूरा-पूरा सहयोग दिया था ।

प्रगतिक्रम विस्तृत हुआ । कार्यक्षेत्र का विस्तार हुआ । फलतः व्यवस्था को दो खण्डों में विभाजित करने की आवश्यकता समझी गई । भौतिक प्रगति और सहयोग, संरक्षण-अनुशासन का उत्तरदायित्व राजतन्त्र के कंधों पर आया और आस्था, विचारणा, शालीनता, सहकारिता जैसे व्यक्तिगत चरित्र-चिन्तन से सम्बन्धित सभी काम धर्मतन्त्र के अन्तर्गत सँभाले जाने लगे । एक ही मर्यादा परम्परा ने मनःस्थिति और परिस्थिति को प्रगतिशील बनाने की जिम्मेदारी दो भागों में विभक्त होकर सँभाली । एक को धर्म कहा गया, दूसरे को शासन ।

पशु की स्वेच्छाचारिता और मनुष्य की नीति-मर्यादा का अन्तर समझने पर इस निष्कर्ष पर पहुँचना सरल होगा कि मात्र बुद्धिमत्ता ने ही उसे आगे नहीं बढ़ाया है । दूरदर्शी शालीनता के अनुशासन ने भी सुनियोजित क्रम परम्परा के आधार पर आगे बढ़ने, ऊँचा उठने की सुविधा प्रदान की है । इस दृष्टि से धर्म और शासन की उपयोगिता लगभग समान ही बैठती है । चातुर्य और पराक्रम अनुशासन के अभाव में मात्र विनाशकारी ही सिद्ध हो सकता है । एक जंगल में दो शेर नहीं रहते हैं । देखते ही आधिपत्य के गर्व में एक-दूसरे पर टूट पड़ते हैं । फलतः वे अभी भी ऊँगलियों पर गिनने जितनी संख्या में रह रहे हैं, जबकि अन्य जीवधारी टकराव से बचे रहने के कारण संख्या और सुविधा की दृष्टि से आगे ही बढ़ते चले आये हैं । मनुष्य ने चिन्तन और चरित्र का अनुशासन न अपनाया होता तो उसको भी सिंह-व्याघ्रों जैसी स्थिति में रहना पड़ता । एक दिन में न सही, कालान्तर में उसे अपना अस्तित्व गँवाने के लिए विवश होना पड़ता ।

शासनतन्त्र पुरातनकाल में एक ही विधि से चलता था। राजा और पुरोहित मिलकर नीति-न्याय का निर्धारण करते थे । बाद में उतना पर्याप्त नहीं माना गया और अधिक विज्ञजनों का सहयोग भी उसमें सम्मिलित करना आवश्यक समझा गया । फलतः शासनतन्त्र खड़े हुए, उनकी कार्यपद्धति बनी, संविधानों और संहिताओं का सृजन हुआ। आज विभिन्न क्षेत्रों की परिस्थितियों के अनुसार अनेकों प्रकार के शासनतन्त्र चल रहे हैं । प्रजातन्त्र, राजतन्त्र, अधिनायकवाद, साम्यवाद, समाजवाद, सम्प्रदाय शासन जैसी अनेकों विधि-व्यवस्थाएँ इन दिनों अपने-अपने ढंग से काम करती हुई देखी जाती हैं ।

धर्मतन्त्र के सम्बन्ध में भी यही हुआ। वैयक्तिक चरित्र चिन्तन को प्रभावित करने वाली नीति-मर्यादाएँ एवं व्यवहार-परम्पराएँ यों होनी तो मनुष्य मात्र की एक ही चाहिए, पर क्षेत्रीय परिस्थितियों एवं मनीषियों ने अपनी सूझ-बूझ के अनुसार अन्तर किये और कितने ही प्रकार के

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

धर्म चल पड़े। वस्तुतः इन पृथक् निर्धारणों को सम्प्रदाय कहा जाना चाहिए। क्योंकि धर्म शब्द के अन्तर्गत तो औचित्य-अनुशासन का परिपालन ही आता है और वह सार्वभौम सार्वजनीन ही हो सकता है। स्थानीय परिस्थितियों एवं क्षेत्रीय परम्पराओं के आधार पर धर्मानुशासन को कहाँ, किस प्रकार, किस सीमा तक प्रयुक्त किया जाय ऐसी व्यवस्थाएँ सम्प्रदाय के अन्तर्गत आती हैं। सम्प्रदायों की मान्यताओं और परम्पराओं में अन्तर है। जबकि धर्म को नीति-मर्यादा का संस्थापक, संरक्षक होने का सार्वभौम श्रेय मिला हुआ है।

इन दिनों छोटे-बड़े सम्प्रदायों की संख्या हजारों में है। इनमें से ईसाई, मुस्लिम, हिन्दू, बौद्ध, यहूदी, पारसी आदि मुख्य हैं। इन प्रख्यातों में से भी हर एक की कई-कई शाखा-प्रशाखाएँ हैं। इस सन्दर्भ में हिन्दू धर्म के अन्तर्गत जातियों-उपजातियों की रूपरेखा भी एक प्रकार से छोटे सम्प्रदायों जैसी बन गई है। शैव, शाक्त, वैष्णव, रामानन्द, कृष्ण उपासक आदि देवताओं के नाम पर, क्षेत्रों और परम्पराओं के नाम पर इतने विभाजन हैं कि आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है कि इतने विभेदों से भरे समुदाय को एक कैसे कहा जाय ? न केवल हिन्दुओं में वरन् मुस्लिम, ईसाई, बौद्ध आदि में भी कई-कई भेद-उपभेद वाले सम्प्रदायों की भरमार है।

यह धर्म अपनी नीति-परम्परा बनाये रहते और दूसरों को अपने रास्ते चलने देते तो ठीक रहता। अच्छा होता सभी मिलकर एक सर्वोपयोगी प्रक्रिया अपना लेते अथवा विभेदों को घटाकर जितने सीमित कर सकते थे कर लेते, पर ऐसा हुआ नहीं। धर्मधारण से अपने अनुयाइयों का अन्तःकरण अनुप्राणित करने के लक्ष्य से भटककर वे उस उग्रवादी हठवादिता को अपनाने लगे जिसमें मात्र अपने को ही सही तथा अन्य सबों को गलत माना जाने लगा। अपनी मान्यताओं को ही ईश्वर निर्मित मानना, अपने ही पैगम्बरों को सर्वोच्च मानना उसी सीमा तक सह्य या उचित कहा जा सकता है जहाँ तक कि उस समुदाय की अपनी श्रद्धा की सीमा हो। किन्तु अन्यान्य सभी सम्प्रदायों को मिथ्या कैसे कहा जाय ? जबकि वे भी ठीक वैसी ही मान्यता अपनाये बैठे हैं। जब कोई सम्प्रदाय यह प्रयत्न करता है कि दूसरों को झूठा सिद्ध किया जाय और उसे समाप्त करके अपना वर्चस्व बनाने में पुण्य माना जाय तब विग्रह के विष-बीज उगने लगते हैं। फलतः सम्प्रदायों के नाम पर आये दिन दंगे होते हैं। धन-जन की अपार क्षति होती है। इतना ही नहीं भीतर-भीतर घृणा-द्वेष की आग सुलगती रहती है और समय-समय पर उसके घातक विस्फोट होते हैं जिससे समूचे समाज में विषाक्तता उत्पन्न होकर विनाशकारी दुष्प्रवृत्तियाँ भड़कती चली जाती हैं। यह धर्म तत्त्व की प्रत्यक्ष अवमानना है। जिस स्थापना को स्नेह-सद्भाव बढ़ाने, सहयोग एवं संयम पनपाने के लिए विनिर्मित किया गया था, वही यदि फूट के बीज बोये, घृणा फैलाये, कुरीतियों को जन्म दे, विघटन की दीवारें खड़ी करे और अहमन्यता, हठवादिता को उभारे तो समझना चाहिए, चन्दन को ईंधन बनाकर जलाया जा रहा है।

क्षेत्रों, देशों, भाषाओं के आधार पर मनुष्य समाज का बँटा होना एक दुर्भाग्य ही है, जिससे एकता, शिक्षा, सहकारिता के हर क्षेत्र में भारी अड़चन उत्पन्न हो रही है। इससे भी अधिक दुर्विपाक यह है कि सद्भावना और शालीनता के आरोपण-अभिवर्द्धन के लिए बना 'धर्म' अवांछनीय रंगों में रँगकर अपनी गरिमा को गिराये और उससे ठीक विपरीत दिशा अपनाये, जिसके लिए उसका निर्माण-निर्धारण महामनीषियों ने किया था। विगठन नहीं एकता धर्म का लक्ष्य है। उसकी जिम्मेदारी है कि अपने प्रभाव क्षेत्र में सज्जनता, सहकारिता, विवेकशीलता, पुरुषार्थपरायणता, उदारता जैसी सृजनात्मक सत्प्रवृत्तियों से अनुप्राणित करे। इतना ही उसके लिए पर्याप्त है। अपने क्षेत्र को परम्परागत श्रद्धा बनाये रहने का औचित्य उसी सीमा तक है, जहाँ वह न्याय और औचित्य से टकराती नहीं।

आज सम्प्रदायों को ही धर्म कहा जाने लगा है, जब कि धर्म तना है और सम्प्रदाय उसके शाखा-पल्लव। धर्म की आत्मा एकता की, शालीनता की, उदार सहकारिता की पक्षधर है, जबकि सम्प्रदाय मात्र कर्मकाण्डों, प्रथा-प्रचलनों को ही सब कुछ मानते हैं और उन्हें अपनाने भर से पुण्य अर्जन एवं ईश्वर प्राप्ति की बात कहते हैं। धर्म शाश्वत् है और साम्प्रदायिक प्रचलन परिवर्तनशील। हर सम्प्रदाय पर समय का प्रभाव पड़ा है। रूढ़ियों और विकृतियों ने अड्डा जमाया है, तद्नुरूप सुधारक आगे आते और संशोधन-परिवर्तन करते रहे हैं। साम्प्रदायिक प्रचलनों की उपयोगिता तभी है, जब वे धर्म की मूलभूत आस्था के साथ जुड़े रहें और मानवी उत्कृष्टता का, सहकार-सद्भाव का वातावरण बनाये रहें।

आज की स्थिति कुछ विचित्र है। सम्प्रदायों का बोलबाला है। पुरातन प्रचलन आज के लिए अनुपयोगी हो जाने पर भी परम्परा के नाम पर जड़ जमाए बैठे हैं और आये दिन विग्रह ही खड़े नहीं करते वरन् अनौचित्य का भी परिपाटी के नाम पर समर्थन करते हैं। अब आवश्यकता इस बात की है कि सर्वसाधारण को धर्म का शाश्वत् और सम्प्रदाय का परिवर्तनशील स्वरूप समझाया जाय, साथ ही तद्नुरूप हठवादिता के स्थान पर दूरदर्शी न्याय-निष्ठा का समर्थक सिद्ध करके धर्म की गिरती गरिमा को रोकने और उसकी सनातन महानता को अक्षुण्ण रखने का प्रबल प्रयत्न किया जाय।

धर्म को सम्प्रदायवाद के कुचक्र से उबारा जाय

धर्मतन्त्र एवं शासनतंत्र के अपने कार्यक्षेत्र हैं। प्राचीनकाल में ही धर्म ही मानवी उत्कर्ष एवं अनुशासन

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

का मूलभूत आधार था। कालान्तर में वह राजतन्त्र में बँट गया। इतना होने पर भी मानवीय अन्तराल पर उसका प्रभाव सामर्थ्य यथावत् बनी रही। शासन पदार्थ एवं व्यवहार क्षेत्र की एक मर्यादा में बँध गया तो धर्म चरित्र एवं चिन्तन को बनाने, व्यक्तित्व में सुसंस्कारिता बढ़ाने हेतु नियोजित किया जाता रहा। साधनों का उत्पादन, सुरक्षा, अर्थतंत्र का संचालन, दण्ड व्यवस्था शासन के हाथ में रहने के कारण उसका वर्चस्व माना जाता रहा है। फिर भी धर्म की गरिमा अपने स्थान पर अक्षुण्ण बनी रहती है। विचारों में सदाशयता समाविष्ट करने का दायित्व धर्म के कन्धों पर ही आता है। भावना क्षेत्र को दिशा धर्म ही देता है एवं शासन की क्रिया-पद्धति तभी सुव्यवस्थित हो सकती है जब धर्म अपना दायित्व ठीक प्रकार निभा रहा हो।

आज हम पाते हैं कि शासन में संव्याप्त विकृतियों के निवारण हेतु तो अनेकों जन-आन्दोलन उभरते रहते हैं, किन्तु धर्म तत्त्व, जो मानवी गरिमा का मेरुदण्ड है, एक प्रकार से उपेक्षित ही कर दिया गया है। उसमें विकृतियों ने प्रवेश कर जनसाधारण में सम्प्रदायवाद के नाम पर भ्रान्तियाँ उत्पन्न की हैं और निहित स्वार्थों का निमित्त बना दिया है। भारत में अनेकों मत-सम्प्रदाय प्रचलित हैं। एक मोटे अनुमान के अनुसार इस देश की ७२ करोड़ भोली जनता उन एक करोड़ धर्म-जीवियों के ठाठ-बाट आडम्बर से भरेपूरे व्यय का भार उठाती है, जिन्होंने इसे व्यवसाय बना लिया है। यह राशि इतनी अधिक है कि इससे शिक्षा, सुरक्षा और चिकित्सा का सारे राष्ट्र का बजट बनाया जा सकता है। मनोयोग, श्रम, समय के रूप में जो मानवी शक्ति धर्म के निमित्त हमारे राष्ट्र तथा अन्यान्य राष्ट्रों में लगती है, वह आर्थिक नियोजन के अतिरिक्त है।

यहाँ चर्चा धर्म के समग्र रूप की चल रही है, किसी विशेष सम्प्रदाय अथवा मत की नहीं। भ्रान्तियों का कुहासा सब पर समान रूप से छाया हुआ है। समय की आवश्यकता है कि स्थिति का पुनरावलोकन कर इसे मिटाया जाय एवं धर्म के मूल स्वरूप की उपादेयता एवं उसके नाम पर चल रही प्रतिगामिता से संभाव्य विभीषिकाओं से सर्व साधारण को भली-भाँति अवगत कराया जाय। आज धर्म और सम्प्रदाय दोनों मिलकर एक हो गए हैं। इस गुड़-गोबर के कारण असली नहीं नकली पूजा हो रही है, शाश्वत् मूल्यों को सब भुला बैठे हैं।

धर्म-निरपेक्षता का एक फतवा हमारे राष्ट्र पर चढ़ा हुआ है। विभेदों से भरे इस समुदाय को एक माना जाता है एवं न केवल हिन्दुओं में वरन् मुस्लिम, ईसाई, बौद्ध आदि धर्मों में भी कई-कई भेद-उपभेद वाले सम्प्रदायों की कमी नहीं। इनमें परस्पर शान्ति-सौहार्द्र बना रहता तो ठीक था। उचित होता कि जैसे उसे कहा जाता है वैसा ही धर्म-निरपेक्ष यह राष्ट्र रहा होता एवं सभी धर्म-मत मिलकर एक सर्वोपयोगी रीति-नीति अपनाकर विभेदों को भूलकर प्रसन्नता भरा जीवन जीते, पर ऐसा हुआ नहीं। उग्रवादी हठवादिता ने परस्पर धर्मों के बीच ही नहीं, मत सम्प्रदायों में भी अलगाव, द्वेष एवं अहमन्यता की आग लगा दी है। धर्म सम्बन्धी अपनी मान्यता ही श्रेष्ठ है-दूसरे की नहीं, ईश्वर मात्र अपना ही सर्वोच्च है दूसरे का नहीं, इस दुर्भावना ने धर्म के स्वरूप को विकृत ही नहीं किया, वरन् पारस्परिक खून-खराबे, कलह-द्वेष को भी जन्म दिया है। यही कारण है कि राष्ट्रीय एकता को बुरी तरह आघात पहुँचा व सांस्कृतिक गरिमा खण्डित हुई है।

किसी प्रकार का पूर्वाग्रह न रखते हुए यदि हमें धर्म-सम्प्रदायों सम्बन्धी आँकड़ों पर विश्व स्तर पर एवं अपने राष्ट्रीय स्तर पर दृष्टि डालें तो हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचने पर विवश होना पड़ता है कि धर्मधारणा के प्रति निष्ठा नहीं बढ़ी, अपितु सम्प्रदायवाद का विषवृक्ष पिछले पचास वर्षों में भली-भाँति पुष्पित-पल्लवित हुआ है। धर्म के शाश्वत् मूल्यों को बढ़ाने के स्थान पर अपने-अपने सम्प्रदायों का पोषण करने हेतु धनराशि खुलकर खर्च की गयी है, मानवी श्रम भी कम नहीं लगा है।

प्लेनट्रुथ पत्रिका के फरवरी १९८४ हीरक जयन्ती अंक में प्रकाशित श्री कीथ स्टम्प के एक अध्ययन के अनुसार १९३४ व १९८४ में तुलना की जाय तो हम पाते हैं कि विभिन्न धर्मानुयाइयों की संख्या जनसंख्या के अनुपात में तेजी से बढ़ी है। इसमें सर्वाधिक वृद्धि इस्लाम धर्म की हुई है जो ४० देशों में फैला है एवं विश्व की कुल जनसंख्या का बीस प्रतिशत भाग मुस्लिम है। १९३४ में पूरे विश्व में अधिकृत आँकड़ों के अनुसार २० करोड़ ९० लाख मुसलमान थे जो १९८४ में ७० करोड़ हो गए। यह वृद्धि २३५ प्रतिशत है। ईसाई धर्मावलम्बी १९३४ में कुल ६८ करोड़ २४ लाख थे जिनकी संख्या १९८४ में १ अरब हो गयी। वृद्धि की दर ४७ प्रतिशत रही। हिन्दू धर्म को मानने वाले १९३४ में २३ करोड़, एक लाख ४० हजार थे जो १९८४ में ४८ करोड़ हो गए। यह वृद्धि दर ११५ प्रतिशत रही। बौद्ध धर्म के सारे विश्व में १५ करोड़ २ लाख अनुयायी १९३४ में थे। अब १९८४ में ६३ प्रतिशत वृद्धि दर से यह संख्या २४ करोड़ ५० लाख हो गयी। इन आँकड़ों के सन्दर्भ में ध्यान रखने योग्य तथ्य यह है कि १९३४ में विश्व की कुल आबादी मात्र दो अरब थी एवं अब १९८४ में चार अरब बहत्तर करोड़। वृद्धि की यह दर १३६ प्रतिशत रही है।

विद्वान लेखक अपने इस विवेचन में लिखते हैं कि मुस्लिम एवं ईसाई अनुपात की दृष्टि से पूरे विश्व की जनसंख्या का कुल चालीस प्रतिशत है, जबकि हिन्दू मात्र पौने दस प्रतिशत हैं। उनका कथन है कि बलात् धर्म परिवर्तन द्वारा इस्लाम धर्म ने जिस तेजी से अपनी मतावलम्बी बढ़ाए हैं, यह आश्चर्यजनक है। यह वृद्धि पेट्रोडॉलर के उद्भव के बाद सर्वाधिक हुई है!

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

नीर-क्षीर की विवेक-बुद्धि अपनायें

किसी वस्तु, व्यक्ति या प्रचलन के सम्बन्ध में लोगों की अनेकानेक मान्यताएँ और व्याख्याएँ हैं। अभ्यास, अनुभव और आदत के अनुरूप लोग अपने मन की बात कहते हैं और मर्जी के अनुरूप रीति-नीति अपनाते रहते हैं। यदि वे सभी सही रही होतीं तो इतना मतभेद क्यों पाया जाता, लोग एक ही रास्ते पर चलते। अनेकता होने का तात्पर्य यही हो सकता है कि इसमें कोई एक बात सही और अन्य सब गलत हैं। ऐसा भी हो सकता है कि विभिन्न कथन-प्रतिपादन में से कोई एक अंश सही हो बाकी हिस्सा ऐसा हो जो गले न उतरे। ऐसी दशा में यथार्थता और उपयोगिता का निष्कर्ष निकालने हेतु तर्क का ही आश्रय लेना पड़ता है।

धर्म-सम्प्रदायों की बात लें तो उनके संस्थापकों के बारे में इतनी बढ़ी-चढ़ी बातें कही जाती हैं कि उन्हें अलौकिक, अद्‌भुत, आश्चर्यजनक भी कहा जा सकता है। उनके साथ कितनी ही करामातों, सिद्धियों की बात जुड़ी होती हैं। ऐसी दशा में उनके कथन को किस प्रकार झुठलाया जाय ?

फिर एक धर्म-संस्थापक के सम्बन्ध में जैसी बातें कही जाती हैं वैसी ही न्यूनाधिक मात्रा में औरों के सम्बन्ध में बताई जाती हैं। सभी धर्मानुयायी अपने-अपने पीर-पैगम्बरों के सम्बन्ध में ऐसी ही बढ़ी-चढ़ी बातें कहते हैं जो उन्हें असामान्य सिद्ध करती हैं। जो असामान्य हैं वे गलत बातें क्यों कहेंगे ? सिद्ध पुरुषों का कथन क्यों कर अविश्वस्त या अप्रामाणिक ठहराया जाय ? ऐसी दशा में सभी के कथनों को मानने-अपनाने को मन करता है, किन्तु एक कदम आगे बढ़ाते ही ऐसी कठिनाई सामने आ खड़ी होती है कि रास्ता रुक जाता है और जिज्ञासु की मनःस्थिति दिग्भ्रान्त जैसी हो जाती है।

यही बात शास्त्रों के सम्बन्ध में भी है। सभी धर्मों के अपने-अपने आचार-विचार हैं। मान्यताएँ और रीति-रिवाज हैं, पर कठिनाई तब आती है, जब उनके प्रतिपादनों में जमीन-आसमान जैसे अन्तर देखने में आते हैं। जैन, बौद्ध और वेदान्ती लगभग ईश्वर को अमान्य ठहराते हैं, जबकि भक्तिमार्गी उसके नामोच्चारण मात्र से उद्धार हो जाने की बात कहते हैं। कितने ही धर्मों में अहिंसा पर पूरा जोर दिया गया है। किसी प्राणी को तनिक भी कष्ट न पहुँचाने का निर्देश है। इसके विपरीत कई धर्मों में माँसाहार का कोई प्रतिबन्ध नहीं है, वरन् वध के तरीकों की किन्हीं उपचारों के रूप में पालन की बात भी कही गई है। इतना ही नहीं ईश्वर या देवताओं की प्रसन्नता के लिए कई धर्मों को आवश्यक भी माना गया है। ऐसी दशा में धर्म को विशुद्ध जिज्ञासु भाव से देखने वाला व्यक्ति किंकर्त्तव्यविमूढ़ होता और सोचता है कि इनमें से क्या करणीय है ? क्या अकरणीय ? परस्पर विरोधी बातें तो सच हो नहीं सकतीं। यदि गलत कहा जाय तो किसे कहा जाय ? इस सही-गलत के प्रश्न पर ही विग्रह खड़े होते हैं और रक्तपात की नौबत आती है। कितनों को ही काफिर, म्लेच्छ या नास्तिक होने के अपराध में अनेक त्रास सहने पड़ते हैं और अपने प्राण तक गँवाने पड़ते हैं। बात धर्म-सम्प्रदायों तक ही सीमित नहीं है। राजनैतिक क्षेत्रों में भी ऐसे ही परस्पर विरोधी प्रतिपादन मिलते हैं जो एक दूसरे के साथ तालमेल नहीं खाते। पूँजीवाद, साम्राज्यवाद, समाजवाद, साम्यवाद, गाँधीवाद, प्रजातन्त्र, राजतन्त्र, अधिनायकवाद आदि अनेकों मान्यताएँ प्रचलित हैं। उन सब के अपने-अपने समर्थक और अनुयायी भी हैं। ये प्रतिपादनकर्त्ता अपने पक्ष-समर्थन में ऐसी-ऐसी बातें कहते हैं कि क्षण भर को उन्हीं की बात सच प्रतीत होती है, किन्तु जब अन्य पक्षों के कथनों को ध्यान से सुना जाता है तो उनकी बात भी मिथ्या कहने का साहस नहीं होता।

दर्शन के सम्बन्ध में भी ऐसी ही बात है। विश्व विवेचना तथा व्यक्ति की आत्म-सत्ता के सम्बन्ध में भी इतनी परस्पर विरोधी बातें हैं कि कई बार तो उनमें से किस पक्ष को मान्यता दी जाय यह समझ में नहीं आता। आस्तिकवाद और नास्तिकवाद के बीच एक दूसरे की घोर प्रतिपक्षी मान्यताएँ हैं। नास्तिक पक्ष न ईश्वर को मानता है न आत्मा को। कर्मफल की सीमा को वह राजदण्ड तक सीमित कर देता है। परलोक, पुनर्जन्म पर उनकी कोई आस्था नहीं। दूसरे हैं जो ईश्वरभक्ति में तल्लीन होकर भाव-विभोर हो जाते हैं और उसके प्रत्यक्ष दर्शन होने तक की बात करते हैं। ऐसी दशा में दर्शन के किस पक्ष को चुना जाय, यह निर्णय करना एक निष्पक्ष व्यक्ति के लिए नितान्त कठिन हो जाता है।

बात श्रद्धा पर छोड़ी जाय तो वह भी नहीं बनती क्योंकि श्रद्धा के बीच यह वर्गीकरण करना कठिन है कि किसे अन्धश्रद्धा कहा जाय और किसे विवेकसम्मत। श्रद्धा की अपनी शक्ति तो है पर यदि वह अन्धश्रद्धा हो तो उससे भ्रान्तियों के शिकार होने की काफी गुंजायश रहती है। भूत, पलीत, सयाने, दीवाने, ओझा एवं धूर्त गुरु जैसे जंजालों में कितने लोग, कितने प्रकार के नुकसान उठाते हैं ऐसे समाचार रोज ही सुनने को मिलते हैं। अनीति के कारण जितने कष्ट लोगों को उठाने पड़ते हैं उनसे कम किसी भी प्रकार अन्धश्रद्धा से हानि नहीं होती किन्तु जो लोग उसे अपनाते हैं उन्हें आरम्भ में यही विदित होता है कि यर्थाथता को ही अपना रहे हैं। हमने यर्थाथता का ही अवलम्बन किया है, किन्तु जब कालान्तर में ढोल की पोल खुलती है कि वे किस कुचक्र में फँस गये और कितना समय बर्बाद करते तथा कितना घाटा उठाते रहे?

यही बात व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध में भी है। एक समय जो व्यक्ति देवता जैसा प्रतीत होता है, वही दूसरे समय दुष्ट या दैत्य जैसा निकलता है। विश्वासघात की घटनाएँ वहीं होती रहती हैं। शत्रुओं द्वारा जो अहित होता है उसकी तुलना में मित्र बनकर अनर्थ करने वाले व्यक्तियों

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

की संख्या कहीं अधिक है। उदाहरण दोनों ही प्रकार के मिल सकते हैं। ऐसे भी होते हैं जो आदि से अन्त तक सज्जन बने रहे और ऐसे भी कम नहीं जिन्होंने गिरगिट की तरह अनेक बार रंग बदले। मित्रता करने वालों में से प्रथम स्थिति में यह पता ही नहीं चलता कि हम सत्संग कर रहे हैं या कुसंग में फँस रहे हैं।

यह स्थिति हर एक सत्यान्वेषी के सामने आती है। वह अपने को भ्रमग्रस्त स्थिति में पाता है। कई बार तो खीझकर व्यक्ति अपनी आस्था ही खो बैठता है और हिप्पीस्तर का कामवाद उसे अच्छा लगने लगता है या फिर संसार को माया-मिथ्या, भ्रम-जंजाल कहकर पलायनवादी, वैरागी बन जाता है।

कई इन परस्पर विरोधी विसंगतियों का समन्वय करने का प्रयत्न करते हैं, पर वह बात भी बनती नहीं। परस्पर विरोधी मान्यताओं को एक सूत्र में कैसे पिरोया जाय ?

इस उलझन से निकलने का पहला चरण यह है कि हर पक्ष में गुण-दोष होने की सम्भावना को ध्यान में रखा जाय। दूसरा चरण यह है कि न्याय, औचित्य और विवेक की कसौटी पर जहाँ जो कथन उपयुक्त प्रतीत होता हो उतना अंश उसमें से अंगीकार कर लिया जाय। तीसरा चरण यह है कि विग्रह वाले प्रतिपादनों की उपेक्षा की जाय। समझा जाय कि मनुष्य आदिम युग से लेकर इस शिष्टाचार स्तर तक पहुँचने में लम्बी मंजिलें पार करता रहा है। समय-समय पर उन्हें अनेक प्रयोग अपनाने और छोड़ने पड़े हैं। आज भी हम इसी स्थिति में हैं। पूर्ण सत्य को अभी पाया नहीं जा सका है। उसकी खोज में हम सब क्रमिक विकास कर रहे हैं। इसलिए वर्तमान स्थिति को ऐसा ही माना जाय कि हर क्षेत्र में, हर व्यक्ति में उचित और अनुचित का समावेश है। इस सन्दर्भ में न किसी पर निछावर हुआ जाय और न किसी को पूर्णतया हेय ठहराया जाय। प्रचलनों और व्यक्तियों के सम्बन्ध में शंकाशील भी रहें और औचित्य को भी खोजें। नीर-क्षीर विवेक-बुद्धि अपनाकर जो प्रकरण विवेकसम्मत प्रतीत हो उतना ही स्वीकार करे और भविष्य जब नये तथ्यों की उपयोगिता सिद्ध करे, तब उन्हें अपनाने के लिए भी मस्तिष्क का द्वार खुला रखें।

जितना उचित है उतना ही अंगीकार करें

सम्प्रदाय और धर्म को यदि एक ही मानना हो तो फिर हर विचारशील को नये सिरे से यह सोचना होगा कि प्रचलित धर्मों में से किसे अपनाया जाय, किसे नहीं। फिर यह भी देखना होगा कि किस धर्मसम्प्रदाय का कितना अंश ग्राह्य है और कितना नहीं। उद्यान में अनेकों फूल रहते हैं और कुशल माली उनमें से जो पूरी तरह खिले होते हैं उन्हीं को हार बनाने के लिए चुनता है, बिना खिली कलियों और मुरझाये सूखे फूलों पर वह हाथ नहीं डालता। गोताखोर मात्र मोती वाली सीपों को ही पकड़ते हैं।

इस सन्दर्भ में स्वामी रामतीर्थ ने अपना अभिमत व्यक्त करते हुए बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कहा कि धर्म-प्रचलनों में से किसी के प्रति भी हमारा आग्रह नहीं रहना चाहिए वरन् हंस की तरह नीर-क्षीर का विवेक करते हुए मोती चुनने चाहिए और कीड़े खाने से परहेज करना चाहिए भले ही वे दोनों जलाशय में कितनी ही मात्रा में भरे हों। धर्म और अधर्म का सम्मिश्रण भी पाया जाता है उसमें भी नीर-क्षीर विवेक की नीति अपनाई जानी चाहिए। हम औचित्य का ही ग्रहण करें भले ही वह अपने खेत में उगा हो या दूसरे में।

स्वामी रामतीर्थ का कहना है-किसी धर्म को इसलिए स्वीकार न करो कि वह अधिक पुरातन है। पुराने घरों को गिराना भी पड़ता है और पुराने चिथड़े कूड़े के ढेर में डालने पड़ते हैं। नई वस्तुओं की भी प्रतिष्ठा होती है। नया खिला फूल और नया ओसकण इसलिए तिरस्कृत नहीं किया जाता कि वह नया होने के कारण उपेक्षणीय है। समय और विवेक की कसौटी पर जो खरा सिद्ध होता हो वह ग्रहण करने योग्य है।

किसी धर्म को इसलिए अंगीकार न करो कि विपुल जनसंख्या उस पर विश्वास करती है। बहुमत के आधार पर यह निर्णय नहीं हो सकता कि उसने सही फैसला ही किया होगा। बहुमत प्राय: मूर्खों का ही होता है और वह आवेश, आग्रह, प्रलोभन और अज्ञान में भ्रमित होकर अनौचित्य का भी समर्थन कर सकता है। निर्णायक विवेक के न्यायाधीश को ही बनाया जाना चाहिए। गवाहों की भीड़ कुछ कहती रहे। जज अपनी सूक्ष्म दृष्टि से ही तथ्य का पता लगाता और बिना समुदायों के कथन को महत्त्व दिए औचित्य का समर्थन करता है। धर्मों के झुरमुट में हमारी विवेक-बुद्धि की निष्पक्ष न्यायाधीश जैसी भूमिका ही निभानी चाहिए।

किसी धर्म को इसलिए अंगीकार न करो कि उसके संस्थापक त्यागी-महात्मा थे। त्यागी होना एक बात है और औचित्य को अपनाना दूसरी। कितनी ही सतियाँ अपने पतियों के साथ आत्मदाह कर चुकी हैं, पर उनका वह कदम विवेकपूर्ण नहीं ठहराया जा सकता। किसी धर्म को इसलिए भी अंगीकार नहीं किया जा सकता कि उसे राजाओं या विद्वानों ने चलाया है। समर्थता एक बात है और विवेकशीलता दूसरी।

मनुष्य चाहे स्वयं अच्छे पकवान न बना सके, पर उसे कच्चा, जला होने की सूझबूझ अवश्य होती है। हर मनुष्य में यह विवेक पाया जाता है कि यदि वह निष्पक्षता अपना सके तो उचित-अनुचित का अन्तर करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। धर्म और अधर्म को प्रथक् कर सकने की क्षमता को तनिक और विकसित कर लिया जाय तो हममें से कोई भी औचित्य को परखने और उसके उपयोगी अंश अपनाने में समर्थ हो सकता है।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

कट्टरता एक प्रकार की नास्तिकता है। अपना सो अच्छा, पराया सो बुरा इस मान्यता को अपनाये रहने वाला दुराग्रही सत्य से दूर बना रहेगा। सत्य का न कहीं पहाड़ है और न समुद्र, बालू के साथ बिखरे हुए चाँदी के कणों की तरह जिसे बारीकी से देखना और प्रयत्नपूर्वक चुनना पड़ता है। धर्मों के सम्प्रदायों के जंगल में से हमें वह चुनना चाहिए जो चुनने योग्य है।

धर्म को व्यावहारिक-युगानुकूल बनाया जाय

तालाब का गन्दा पानी खराब होने लगता है, किन्तु सतत् बहने वाली नदियों का पानी कभी इस प्रकार के दोष से दूषित नहीं हो पाता। सागर इतना विशाल होता है कि उसमें सहस्रों नदियाँ आकर आत्म-समर्पण कर देती हैं, फिर भी उसका जल पीने की दृष्टि से किसी काम का नहीं होता। वह खारा का खारा रहता है। मकान चाहे कितना ही आलीशान और मजबूत हो यदि उसकी नियमित सफाई न रखी जाय तो उसमें चमगादड़ ही अपना बसेरा बना सकते हैं, मनुष्य नहीं, क्योंकि प्रकृति का नियम गति है, स्थिरता नहीं। हर वस्तु नया जीवन माँगती है। समय के अनुसार किंचित मात्र परिवर्तन हर वस्तु माँगती है।

धर्म श्रद्धा भी प्रकृति के इस नियम का अपवाद नहीं है। धर्म भी समय के अनुसार अपने आप में परिवर्तन माँगता है। जिस प्रकार बन्द कमरे की हवा दूषित हो जाती है, उसमें रहने वालों का स्वास्थ्य संकट में पड़ जाता है और यदि उसमें पत्थर के कोयलों की सिगड़ी जल रही हो तो प्राण भी संकट में पड़ सकते हैं। इसलिए कमरे की खिड़कियाँ खुली रखी जाती हैं। खिड़कियाँ खुली रखने पर ताजी हवा और ताजी धूप के रूप में नया जीवन उस कमरे में प्रवेश करता है। धर्म श्रद्धा रूपी कमरे की खिड़कियाँ और रोशनदान भी इसी तरह खुले रहने चाहिए ताकि सतत् परिवर्तनशील इस संसार के साथ वह भी अपने आप में नया जीवन ग्रहण कर ले।

आज यदि अधिकांश जन धर्म से दूर होते जाते हैं, नास्तिक बनते हैं तो इसमें उनकी भूल प्रमुख कारण नहीं है, वरन् प्रमुख कारण यही है कि धर्म का स्वरूप समय के साथ बदलकर सामने रखने का काम किसी ने नहीं किया अथवा धर्म श्रद्धा रखने वाले लोग उसे समय के साथ नया जीवन नहीं दे पाये। समय के साथ उसे व्यावहारिक नहीं बना पाये।

धर्म के शाश्वत् सिद्धान्त तो यही हैं-सत्य, प्रेम, नैतिकता, सेवा, परोपकार, त्याग और व्यक्ति के साथ-साथ समाज और विश्व की प्रगति, स्वार्थ और परमार्थ का समन्वय, किन्तु उसका व्यावहारिक स्वरूप सदा एक-सा नहीं रह सकता। समय के साथ उसमें परिवर्तन अनिवार्य है।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि धर्म के व्यावहारिक स्वरूप को समय-समय पर बदला जाता रहा है। आज जिन्हें हम धर्म विशेष के संस्थापक मानते हैं, वे वस्तुतः उस धर्म विशेष के संस्थापक कभी नहीं रहे, न उन्होंने कोई नया धर्म स्थापित किया। उन्होंने तो उसी धर्म को, जिसका कोई नाम हो सकता है तो मानव धर्म ही कहा है और उसी को समय के अनुरूप तथा व्यावहारिक स्वरूप दिया, किन्तु भूल से उनके अनुयायी उनके द्वारा किए गये चन्द सुधारों को ही धर्म मानकर उसकी पृथक् गणना कर बैठे।

थोड़ा विचार किया जाय तो किसी महात्मा, ऋषि, पैगम्बर या देवदूत ने कोई नया धर्म नहीं चलाया यह बात स्पष्ट होकर सामने आ जाती है। आज संसार में प्रचलित दो बड़े धर्म-ईसाई और मुस्लिम धर्म भी आस्था में सामयिक सुधार मात्र थे। अरब में प्रचलित देववाद और अन्य सामाजिक कुरीतियों को समाप्त करने के लिए मुहम्मद साहब ने जो कहा, लिखा और किया वह उस समय व स्थान की दृष्टि से तो ठीक था, पूरी तरह अनुकरणीय था ,पर आज वही बातें इस वैज्ञानिक युग में और अन्य देशों में बसने वाले इस्लाम मतावलम्बियों के लिए पत्थर की लकीर नहीं बन सकतीं।

महात्मा यीशु ने कोई नया मत चलाया हो सो बात नहीं है, उन्होंने भी प्रेम, न्याय और सत्य और ईमानदारी की वे सब बातें प्रचारित कीं जो कि मानव धर्म का आधार हैं, किन्तु उनके द्वारा बताया गया मार्ग ही सब कुछ है, उससे बाहर कुछ मान्य और अनुकरणीय हो ही नहीं सकता, यदि यह दुराग्रह कोई रखता है तो वह प्रकारान्तर से अपने मानव परिवार को विघटित-विभाजित करने का दोषी है।

दूर क्यों जायें, हमारे देश में आज ही कितने ही मत सम्प्रदाय प्रचलित हैं, जिनके अनुयायी हिन्दू धर्म के व्यावहारिक स्वरूप को समयानुसार बनाने के लिए उसमें किए गए संशोधनों को ही समग्र रूप से पृथक् धर्म मान बैठने की भूल कर रहे हैं। आरम्भ में एक ही वेदसम्मत धर्म प्रचलित था। कालान्तर में उसमें जड़ता आनी आरम्भ हुई। थोड़े से लोगों ने धर्म को और धर्माचरण को अपनी बपौती मानकर कर्मकाण्ड को ही धर्म का सार बनाकर रख दिया। वे उसके ठेकेदार बन गये, तब महात्मा बुद्ध और महावीर स्वामी ने धर्म को रूढ़ होने से बचाया। उसे थोड़े से लोगों के अधिकार क्षेत्र में से निकालकर व्यापकता दी।

बौद्ध-धर्म अपने आरम्भिककाल में तो खूब फला-फूला, यहाँ तक कि वह भारत से निकल कर आधी दुनिया का धर्म बना, किन्तु वह अपने आप में पूर्ण नहीं था। ईश्वर की परिकल्पना से सर्वथा शून्य केवल आचारों के आधार पर चलने वाला यह धर्म वस्तुतः एक सामयिक शुभारम्भ था सो समय के परिवर्तित होने के साथ ही उसकी उपयोगिता कम पड़ती गई और वह ह्रास-मान होता गया।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

विश्व में सबसे प्राचीनतम, सबसे उदार और समय के साथ हुए परिवर्तन को स्वीकार कर लेने वाला धर्म हिन्दू धर्म कहा जा सकता है। समय-समय पर सुधारक महापुरुष इसमें नये प्राण भर कर इसे युगानुरूप बनाते आये हैं। इसे धर्म न कहकर धर्म-संस्कृति कहा जा सकता है। ऐसी बात नहीं है कि इसमें जड़ता नहीं आयी हो। यह भी रूढ़ हुआ है। इसके प्रवाह में भी समय-समय पर शैवाल उगे हैं। उन्हें उखाड़ा जाता रहा है। यह भी युगानरूप अपने में सुधार चाहता है। विभिन्न संस्थाओं एवं महापुरुषों द्वारा जो कार्य किए जा रहे हैं, उसमें से एक कार्य यह भी है कि समय-समय पर आने वाली विकृतियाँ मिटती रहें, धर्म का एक परिष्कृत रूप उभरकर-निखरकर सामने आये।

कहना न होगा कि कोई-सा सम्प्रदाय हो या कोई-सा भी धर्म हो वह मानव धर्म का एक अंग, एक इकाई, एक मार्ग भर है। इन्हें एक-दूसरे से विरोधी नहीं पूरक मानना ही सत्यसम्मत हो सकता है। भिन्न-भिन्न परिस्थितियों, भिन्न-भिन्न भौगोलिक वातावरणों में उत्पन्न होने के कारण इनमें व्यावहारिक दृष्टि से अंतर दिखाई दे सकते हैं, किन्तु इनमें निहित तथ्य, सत्य और मानवीय कर्त्तव्य सब एक से हैं। अस्तु इन्हें पृथक्-पृथक् मानने में कोई लाभ नहीं है।

आज वैज्ञानिक और भौतिक प्रगति के साथ-साथ विश्व एक होता जा रहा है। आने वाले दिनों में हो सकता है यह एकता देश तक ही नहीं, समस्त पृथ्वी तक भी विस्तारित हो। समय और दूरी पर मनुष्य ने विजय प्राप्त कर ली है। पारस्परिक अन्तर्निभरता इतनी बढ़ गई है कि देशों का अन्तर भी उसे लग नहीं पाता। आज अमेरिका में जो गेहूँ पैदा होता है, उसे जापान भी मँगाता है और भारत भी। वहाँ के किसान अन्न उपजाकर जापानवासियों और भारतवासियों की आवश्यकता की पूर्ति करते हैं। इसी प्रकार अन्य वस्तुओं, शिक्षाओं और तकनीकों के लिए एक देश दूसरे देश की सहायता लेता है।

इस प्रगति से स्पष्ट है कि यह समय पृथकता की माँग नहीं एकत्व की माँग करता है। समय के साथ धर्म को भी इसी माँग को पूरी करना है, यदि धर्म इस माँग को पूरी नहीं करता, यदि धर्मावलम्बी अपने धर्मश्रद्धा रूपी भवन की खिड़कियों और रोशनदानों को खोलकर युग की हवा को भीतर नहीं आने देते तो उन्हें यह भी समझ लेना चाहिए कि वह धर्म जैसे लोकोपयोगी अनिवार्य तत्त्व का नाश करने की भूल कर रहे हैं।

सर्वधर्म समन्वय क्यों और कैसे ?

अपने को धार्मिक कहने वाले व्यक्तियों को हम तीन श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं-(१) अन्वयी (२) प्रत्ययी, (३) समन्वयी। अन्वय का अर्थ (अनु+अय) पीछे जाना, प्रत्यय का अर्थ (प्रति+अय) विरुद्ध जाना और समन्वय का अर्थ (सम+अनु+अय) भले प्रकार पीछे जाना है। अन्वयी उन व्यक्तियों को कहते हैं, जो बुद्धि बेचकर किसी बात का अन्धानुकरण करते हैं। अमुक बात प्रचलित है। बस ! इसीलिए उन्हें स्वीकार है, इतने लोग इसे मानते हैं फिर यह गलत कैसे हो सकती है ? बस ! इतना ही तर्क उनके लिए काफी है। किसी प्रख्यात व्यक्ति या मोटी पुस्तक ने उस बात का समर्थन कर दिया। बस ! यह बात भी सन्तोष के लिए पर्याप्त है। जो चीज जैसी उनके सामने है, उसको वे सर्वश्रेष्ठ समझ बैठते हैं। इतना कष्ट कौन करे जो यह सोचे कि यह बात देशकाल के अनुरूप है या नहीं, इससे हमें लाभ होगा या हानि। अज्ञान भेड़ों का स्वभाव यह है कि एक भेड़ का मुँह जिधर को उठ जाय और वह जिधर भी चल पड़े इधर ही झुण्ड की अन्य भेड़ें भी चल देंगी, उन्हें यह सोच-विचार करने की जरूरत प्रतीत नहीं होती कि हम कहाँ जा रही हैं और क्या परिणाम उठावेंगी। अधिकांश धार्मिक ऐसे ही अन्वयी होते हैं वे निकटतम परम्परा से चिपट जाते हैं और आत्मिक निर्बलता के कारण अपने आस-पास के लोगों के विचारभार से इतने दब जाते हैं कि स्वतंत्र रूप से उसके हानि-लाभों पर विचार करते हुए उन्हें डर-झिझक और कष्ट प्रतीत होता है अनेक मनुष्य ऐसे ही संकुचित दायरों में बँधे हुए हैं और कष्टकर प्रथाओं का अनुयायी बड़े पढ़े-लिखे लोग भी मिल सकते हैं जो सब दृष्टियों से त्याज्य और समाज की वर्तमान अवस्था के बिल्कुल प्रतिकूल है। ऐसे अन्ध-अनुयायियों को अन्वयी कहा जायेगा।

चाहे कोई धर्म कितना ही बुरा क्यों न हो पर उसके मूलभूत सिद्धान्त दूसरों से टकराते नहीं, किन्तु अज्ञान और अन्धानुकरण जैसी जो वस्तुएँ मिलती हैं तो प्रत्यय उत्पन्न होता है। 'मैं दूसरे की बात को नहीं मानूँगा।' ऐसा प्रत्ययी का दृढ़ निश्चय होता है। मैं सच बोलता हूँ और सब झूठे हैं, ऐसी मान्यता प्रत्ययी ही कर सकता है। एक बार दो मनुष्यों में लड़ाई हो रही थी, एक कह रहा था, कि मैंने पहाड़ों को दौड़ते हुए देखा है। दूसरा कहता था कि बिलकुल झूठ है ऐसा हो ही नहीं सकता, पहाड़ तो अपनी जगह पर से जरा दूर भी चलने में असमर्थ हैं। दोनों ही अपनी बात पर जोर दे रहे थे और विरोधी की हठधर्मी से चिढ़कर लड़ने-मरने पर उतारू थे। गाली-गलौज हो रही थी और हाथा-पाई की तैयारी थी। इतने में एक विचारवान सज्जन उधर से निकले और लड़ाई का कारण पूछा, जब दोनों की बात सुन चुके तो वे मन ही मन हँसे और झगड़े का कारण समझ गये। उन सज्जन ने पहाड़ दौड़ने की बात का आग्रह करने वाले से पूछा कि-भाई ! जब तुमने पहाड़ दौड़ते देखे थे, तो रेलगाड़ी में तो नहीं बैठे थे ? उसने उत्तर दिया-हाँ जी, रेलगाड़ी में यात्रा करते समय ही पर्वतों की घुड़दौड़ मुझे दिखाई दी थी। तब उन सज्जन ने समझाया कि मित्र ! रेल के दौड़ने से पर्वत चलने का भ्रम होता है। दूसरे से उन्होंने कहा कि तुम्हें किसी बात का खंडन करने से

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

पूर्व उस बात के स्थूल रूप को झूठा करार न दे देना चाहिए, वरन् कहने वाले के दृष्टिकोण, उसकी मानसिक योग्यता और घटना का वास्तविक कारण-तलाश करना चाहिए।

आये दिन साम्प्रदायिक कलह और विरोधी विचार वाले को शत्रु समझ लेने का कारण यह प्रत्यय ही है। जो मैं कहता हूँ वही ठीक है, केवल मैं ही सत्य कहता हूँ ऐसा मानना प्रत्यय है। प्रत्यय का निश्चित परिणाम कलह है। अन्यथा धर्म पृथक्-पृथक् तो है, पर आपस में टकराते नहीं। विचार भिन्नता स्वाभाविक नहीं वरन् आवश्यक है फिर लड़ने-झगड़ने का क्या कारण ? जो धर्म के नाम पर दूसरे का खून पीने खड़े होते हैं समझ लीजिये कि वे प्रत्ययी हैं।

इन दोनों तामसी-राजसी अवस्थाओं से ऊपर सत् है। सतोगुण के साथ जब धर्म तत्त्व का संमिश्रण होता है तो मनुष्य समन्वयी बन जाता है। भले प्रकार पीछे चलने वाला वह है जो किसी वस्तु का वास्तविक स्वरूप देखता है, उसके गुण-दोषों को पहचानता है और उपयोगी पदार्थ को ग्रहण करता है। राजहंस न तो पानी से द्वेष करते हैं और न दूध से राग। उन्हें चाहे दूध में पानी मिला हुआ दिया जाय या दूध में पानी, वे न तो झुँझलाते हैं और न किसी को दोष देते हैं वरन् अपने काम के योग्य सार वस्तु निकाल लेते हैं। अमुक धर्म अच्छा है और अमुक बुरा इस झगड़े में राजहंस वृत्ति के विचारवान सज्जन नहीं पड़ते। वे अपने काम के योग्य वस्तु ग्रहण कर लेते हैं और अनुपयोगी वस्तु की उपेक्षा कर देते हैं। सभी धर्म सत्य की ओर हमें अग्रसर करते हैं, किन्तु मनुष्यकृत होने के कारण वे सभी अपूर्ण हैं, यदि किसी छोटे कपड़े में फिट रहने योग्य ही अपने शरीर को बनाये रखने का प्रयत्न करेंगे तो आपको चारों ओर से अपना बदन कस देना पड़ेगा और अपने वृद्धिक्रम को रोक देना पड़ेगा। वस्त्र के मोह पर शरीर की वृद्धि का बलिदान करना पड़ेगा। धर्मशास्त्र आप से निवेदन करता है कि ऐसा मत कीजिए आप शरीर को बढ़ने दीजिए और जो कपड़ा छोटा प्रतीत होता है उसे बदल लीजिए। सभी धर्म में कुछ न कुछ गुण हैं और सभी में कुछ न कुछ दोष। इसलिए निष्पक्ष होकर उन्हीं सिद्धान्तों को अपनाइए जो आप को आत्म-कल्याण की ओर अग्रसर करते हैं आप उन्हीं प्रथाओं को अपनाएँ जो आत्म-संतोष को प्रदान करें। आपकी आध्यात्मिक चेतना में यदि कोई मज़हबी मान्यता विरोध उत्पन्न करे, यदि आपकी आत्मा पुकारे कि मेरे लिए यह रिवाज असत्य है, तो आप उस प्रथा को मानने से इन्कार कर दीजिए। मार्ग आत्मा को उन्नति के लक्ष पर पहुँचाने के लिए है, मार्गों पर चलने के लिए ही आत्मा का अस्तित्व नहीं है। आप मानसिक दासता के विरुद्ध बगावत का झण्डा खड़ा कर दीजिए, दूसरे लोग ऐसा कहते हैं या मानते हैं यह कोई कारण नहीं है जो आपको भी वैसा ही करने या मानने के लिए बाध्य करे। हर व्यक्ति अपनी अलग कक्षा में विकास कर रहा है। आपका विकासक्रम भी अलग है। हर व्यक्ति का धर्म दूसरे से सर्वथा भिन्न है, आपका धर्म भी दूसरों से बिलकुल स्वतन्त्र है। आप अपनी आत्मा में उठने वाले ईश्वरीय सन्देश को सुनिए और उसी के अनुरूप मानसिक भोजन जिस खेत में भी मिले उसमें से चर लीजिए। सब धर्मों का सार ग्रहण कीजिए। समन्वयी बनिए, धर्मों से बल प्राप्त कीजिए, पर उन्हें भूलकर भी आत्मा का हनन करने वाला मत बनने दीजिए।

सब धर्मों में मौलिक एकता

धर्म उत्कृष्ट सिद्धान्तों के ऊपर अवस्थित होता है। इस दृष्टि से देखा जाय तो सभी धर्मों का लक्ष्य वस्तुतः एक है। विभिन्न सामाजिक परिवेश एवं भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के कारण उनके सिद्धान्तों के प्रस्तुतीकरण में थोड़ा अन्तर हो सकता है, परन्तु इन सबके लक्ष्य में कहीं कोई अन्तर नहीं पड़ता।

ईश्वर के प्रति दृढ़ आस्था सभी धर्मों का मूलाधार है। विभिन्न धर्मों में ईश्वर को भिन्न-भिन्न नामों से सम्बोधित किया जाता है, परन्तु मूलतः सभी इस बात पर एकमत हैं कि 'ईश्वर एक है तथा सबका पालनहार है।' वैदिक ऋचाओं में उल्लेख है-"एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" अर्थात् एक ही ईश्वर को विज्ञजन विभिन्न नामों से पुकारते हैं। ईश्वर के निराकार, विराट व अविनाशी स्वरूप का उल्लेख वेद के पुरुषसूक्त में इस प्रकार मिलता है-

सहस्त्रशीर्षा पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं सर्वत स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम।

अर्थात् वह विराट् पुरुष सहस्त्र, सिरों अनन्त चक्षुओं और अनन्त चरणों वाला है। वह भूमि (ब्रह्माण्ड) को चारों ओर से व्याप्त करके और दस अंगुल परिमाण अधिक होकर अर्थात् ब्रह्माण्ड से बाहर भी व्याप्त होकर अवस्थित है।

आगे के श्लोक में पुनः इस बात को उद्धत किया गया है कि वह कारणावस्था (निराकार) में विद्यमान ईश्वर, प्राणियों के भोग्य के निमित्त ही जगद्वस्था को प्राप्त होता है। उस पुरुष का ही एक अंश यह जगत रूप है। **'एकोऽहम् बहुस्यामि'** का ईश्वरीय उद्घोष इस बात का साक्षी है कि यह समस्त जगत उसी परम पिता परमेश्वर का प्रतिरूप है।

ईश्वर की सर्वव्यापकता की ओर इंगित करते हुए कुरान शरीफ (५७/१३) कहता है-वह आदि है, अन्त है, बाहर है, भीतर है तथा सर्वज्ञ है। वह पुनः यह सिद्धान्त प्रतिपादित करता है-फाएनमा तबल्लू फमसा बज हिल्ला अर्थात् "जिस ओर भी तुम दृष्टि फेरो, अल्लाह का जलवा नजर आयेगा।" सूफी मत भी इस बात को स्वीकारता है कि ईश्वर एक तथा अल-हक (परम-सत्य) है तथा संसार

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

उसका जिल्ल (वास्तविकता की अभिव्यक्ति) है। ईसाइयों की धर्म पुस्तक बाइबिल में कहा गया है-''परमेश्वर एक है जो निरंजन, निराकार और ज्योतिस्वरूप है। '' यहूदी मतानुसार ईश्वर एक ही निराकार तथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का सृजेता सृष्टि का पिता है। पारसी धर्म ने भी ईश्वर को एक तथा अहुरमजद (सर्वशक्तिमान) बताया है।

ईश्वर निराकार है, अतः उसे बोधगम्य बनाने हेतु सभी धर्म मतों ने आत्म-ज्ञान की ओर अग्रसर होने के लिए व्यक्ति को उत्प्रेरित किया है। वृहदारण्यकोपनिषद में मैत्रेयी-विश्वामित्र संवाद का उल्लेख मिलता है। मैत्रेयी के प्रश्नोत्तरों में महर्षि कहते हैं-हे मैत्रयी आत्मा ही देखने योग्य, सुनने योग्य, मनन करने योग्य और अनुभव करने योग्य है। अपने आपको, आत्मा को जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है। वस्तुतः आत्मज्ञान से व्यक्ति की विभेद दृष्टि मिट जाती है तथा वह कण-कण में भगवान का दर्शन करने लगता है। यह जगत ही उसकी दृष्टि में ईश्वर हो जाता है। ईसाई ग्रन्थ में भी यह कहा गया है कि ईश्वर का राज्य आँखों से दिखाई पड़ने वाले रूप में नहीं आता है। ईश्वर का राज्य तो तुम्हारे हृदय के भीतर पवित्र आत्मा रूप में विराजमान है। सूफी भी अपनी आत्मा को ही आध्यात्मिक काबा मानते हैं तथा इसके अनुपालन से करामातों का, सिद्धियों का मार्ग प्रशस्त होना बताते हैं।

आत्मा के अमरत्व सम्बन्धी दृष्टिकोण में भी कहीं कोई अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। प्रायः सभी धर्मों ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि आत्मा का नाश नहीं होता, वरन् इसका मात्र रूपान्तरण होता है। इससे जीवन में कर्मफल की भी पुष्टि होती है। अगले जन्म में भी कर्मफल मिलने के प्रति विश्वस्त होकर व्यक्ति दुष्कर्मों से बचता तथा सत्कर्मों की ओर प्रवृत्त होता है। भारतीय धर्म दर्शन तो प्राणियों के ८४ लाख योनियों में कर्मानुसार भ्रमण करने की बात कहता है। उसके अनुसार सर्वश्रेष्ठ योनि मनुष्य की ही है, परन्तु उत्कृष्ट कर्म से च्युत होने पर उसकी अवनति भी सम्भव है। महान सूफी सन्त महात्मा रूमी ने अपने ग्रन्थ 'असनवी' में लिखा है कि मैंने अनेकों जन्म लिये तथा सात सौ सत्तर शरीर धारण किये। कुरान शरीफ में भी यही उल्लेख मिलता है-

वकीहा नोई दुकुम तमिनहा नुखरूजकुम् एलात।
यारती न प्रखह मिलहा खलकनाकुम्॥

अर्थात्-मैं उसको मिट्टी में लौटा दूँगा और उसको फिर निकाल लूँगा और उसको फिर निकाल लूँगा, लगातार आखिर तक।''

दूसरे स्थान पर पुनः कहा गया है कि ''मैंने तुम्हारे मर जाने के बाद पुनः पैदा किया ताकि तुम सुकर्म करो।'' पतित कर्म किये जाने पर ईश्वर द्वारा बन्दर और सूअर बनाये जाने का उल्लेख (कु. ५/९/४) में मिलता है।

ईसाई ग्रन्थ की यह घोषणा है कि देखो मैं तुमसे एक रहस्यपूर्ण बात कहता हूँ। वह यह है कि हम सभी सोचेंगे तो नहीं, पर हम सबका रूपान्तरण हो जायगा। पुनः (पतरस १.२३) यह उल्लेख मिलता है कि-तुमने नाशवान नहीं अविनाशी बीज से ईश्वर के जीवित और शाश्वत शब्द के द्वारा नया जन्म पाया है। यहूदियों का भी विश्वास है कि जीवात्मा मरणोपरान्त किसी दिन उठेगा और ईश्वर कृपा से उसका उद्धार होगा। कहने का आशय यह कि ये सिद्धान्त सभी धर्म-सम्प्रदायों में शाश्वत् सनातन रूप में विद्यमान हैं।

सत्कर्म करने की ओर सभी धर्म मतों ने व्यक्ति का ध्यान आकृष्ट किया है। व्यक्ति का मुख्य जीवनोद्देश्य सत्कर्म को ही बताया गया है तथा इसकी परिणति मृत्योपरान्त स्वर्ग मिलने के रूप में प्रतिपादित की गई है। इसके विपरीत दुष्कर्म करने वालों को नरक मिलने की, यातना मिलने की बात कही गई है। यह स्वर्ग नरक है क्या ? इसकी चर्चा सभी मतों में अपने-अपने ढंग से की गई है। हिन्दू मतानुसार ये दोनों परोक्ष जगत हैं, जहाँ सूक्ष्म आत्माएँ अपने किये कर्मों का फल भोगने हेतु कुछ समय के लिए निवास करती हैं। स्वर्ग में देवताओं के निवास की राजभोगादि से युक्त वातावरण होने की बात कही जाती है, जबकि नरक में राक्षसों, पिशाचों आदि का निवास तथा अत्यन्त घृणित व पीड़ादायक होने की बात बतायी जाती है। कुरान शरीफ में भी आखिरत (प्रलोक) की चर्चा की गई है तथा सत्कर्म करने वालों को जन्नत (स्वर्ग) मिलने की घोषणा प्रस्तुत की गई है। जन्नत के विषय में उसने यह कहा है-'लाचमस्सुहुम न सबुन।' अर्थात्, ''वहाँ किसी तरह का कोई दुःख न छू सकेगा।''

दूसरे तरफ अत्याचारियों को नरक देने की भी घोषणा की गई है। नरक के दृश्य का विश्लेषण इस प्रकार मिलता है-''आग की ज्वालाएँ उन्हें घेरे हुए हैं और जब वह प्यास से चिल्लाएँगे तो उसके उत्तर में उनको पानी दिया जायेगा, तेल की गाद जैसा और इतना जलता और खौलता हुआ कि भून डाले मुँह को।''

ईसाइयों का भी मत है कि जो कोई प्रभु पुत्र यीशु पर आस्था रखता है, उसके पक्ष में यीशु अभिमत व्यक्त करेंगे तथा वे लोग स्वर्गाधिकारी होंगे।

कर्मफल की सुनिश्चितता तथा आत्मा की अमरता के प्रति विश्वस्त होकर सभी धर्म-मतों ने अपने मानव-जीवन को श्रेष्ठतम बनाने हेतु नैतिक सिद्धान्तों का निर्धारण किया है। प्रत्येक समाज में कुछ निन्दित कर्म भी निर्धारित किये हैं, जिनसे बचकर व्यक्ति हेय व नरकतुल्य जीवन जीने हेतु सुरक्षित रह सके। आदर्शों को दैनिक जीवन में अपनाये रहने के लिए, उत्कृष्ट सिद्धान्तों का दैनिक स्मरण के लिए कुछ उपासनात्मक विधान भी प्रस्तुत किये गये हैं। हिन्दू धर्मानुसार काम, क्रोध, लोभ और अहंकार ये सब पतनोन्मुखी प्रवृत्तियाँ हैं। व्यक्ति को सदैव इनसे बचने की चेतावनी दी गई है। इनके ऊपर नियन्त्रण हेतु साधना, स्वाध्याय, संयम, सेवा के चतुष्मार्ग सुझाये गये हैं। देवोपम जीवन जीने हेतु सादगी, शालीनता तथा परोपकार के

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

आदर्श को अपनाने हेतु भी प्रेरित किया गया है। ईसाई ग्रन्थ (गला ५-२२-३०) में यह उल्लेख है कि 'आत्मा का फल है-प्रेम, आनन्द, शान्ति, धीरज, उदात्तता, सौजन्य, श्रद्धा, नम्रता और संयम। इनको अपनाने वाला बन्धन मुक्त हो जाता है। ' प्रभु ईसा ने व्यक्ति को हत्या, व्यभिचार, अहंकार तथा शराबादि दुर्व्यसनों से बचने का संदेश प्रस्तुत किया था। इसके लिए उसने प्रत्येक धर्मावलम्बी को प्रतिदिन व्यक्तिगत रूप से तथा सप्ताह में एक दिन सामूहिक रूप से प्रार्थना में भाग लेने का आदेश दिया था। अपनी प्रार्थना में प्रत्येक ईसाई प्रभु से अन्तः के चक्षु खोलने हेतु विनय करता है, जिससे कि वह जीवन मार्ग में कहीं भटक न जाय। कुरान में धार्मिक कर्त्तव्य का उल्लेख इस प्रकार मिलता है कि-'यह पुण्य नहीं है कि तुम अपने मुँह को पूरब या पश्चिम की ओर कर लो। पुण्य तो परमेश्वर, मृत्यु-दिन, पैगम्बरों, ग्रन्थों पर श्रद्धा रखने में है। धन सदा प्रेमियों, सम्बन्धियों, अनाथों, दरिद्रों को देना तथा रोजा (उपावस माह) रखना पवित्र कर्त्तव्य है। साथ ही प्राणी मात्र के प्रति दया का भाव रखना तथा सदैव ईमानदार बने रहना परम धर्म है।' दूसरे तरफ सूद लेना, फिजूलखर्ची, मद्यपान, हत्या तथा दूसरों को सताया जाना निन्दित कर्म बताये गये हैं। पवित्र जीवन जीने के लिए प्रत्येक मुसलमान को कलमा पढ़ना, नमाज पढ़ना, रोजा रखना, जकात (दान) तथा हज (तीर्थरूप) ये पाँच कर्त्तव्य बताये गये हैं। सूफी साधकों की धर्मयात्रा मनोवैज्ञानिक अनुभवों से अग्रसर होती चलती है। इसे अनेकानेक स्थिति (अहवल) तथा केन्द्र (मकमत) के रूप में जाना जाता है। एक सच्चा सूफी होने के लिए इन सभी केन्द्रों का अनुभव लेना आवश्यक है तथा अन्ततः मुख्य केन्द्र में पहुँचकर पूर्णत्व का बोध (तवहिद) ही लक्ष्य होता है। इसके लिए सूफी भक्ताधिक प्रक्रिया (एकाग्रता) को अपनाते हैं। अहं विनाश तथा उत्कृष्ट प्रेम का प्रकटीकरण ही उनका लक्ष्य होता है। रूमी ने लिखा है कि 'जहाँ इकाइयों(विभेदों) का अस्तित्व नष्ट हो जाता है, वहीं एकत्व स्थापित होता है। व्यक्तिगत अहंकार विनष्ट होने पर सिर्फ ईश्वर रह जाता है और तब सर्वव्यापक प्रेम का उद्भव (भक्तियोग) होता है।'

इस प्रकार सैद्धान्तिक धरातल पर प्रत्येक धर्म-सम्प्रदाय एक है। विभेद दृष्टि तो अज्ञानताजन्य ही है। एक कवि ने ठीक ही कहा है-

गवामनेकवर्णानां क्षीरस्यास्त्येकवर्णता तथैव सर्वधर्मानां तत्वस्यास्त्येकवस्तुताः ।

''गायें अनेक रंगों की हैं, पर उनका दूध एक ही रंग का होता है। उसी प्रकार धर्म अनेक स्वरूपों में विद्यमान होते हुए भी. तत्वतः वे सब एक ही हैं। '' सईद ने भी लिखा है-

राम कहो या रहीम कहो, दोनों की गरज अल्लाह से है।
फिर क्यों लड़ता मूरख बंदा, यह तेरी खामखयाली है।
है पेड़ की जड़ तो एक वही, हर मजहब एक-एक डाली है।

काश ! आज की बीसवीं सदी का धर्मान्ध मनुष्य धर्म के इस मर्म को समझ पाता। न तो अगणित व्यक्तियों का तब रक्तपात होता, न अनेकों बेसहारा नारियाँ वैधव्य को प्राप्त होतीं, न ही ईश्वर की प्रतीक स्थापनाएँ दुराचारी क्रूर व्यक्तियों का अड्डा बन पातीं। आवश्यकता है कि मजहबों में फैलायी जा रही खाइयाँ पाटी जायें ताकि एक सार्वभौम नियम व्यवस्था पर चलने वाला समाज विनिर्मित हो सके।

सब धर्मों का एक ही मर्म-उच्च आदर्शों का परिपालन

दृश्यमान इस जगत में विद्यमान प्रत्येक वस्तु का अपना कुछ न कुछ गुण-धर्म अवश्य होता है। उसी गुण-धर्म के आधार पर किसी वस्तु की उपयोगिता आँकी जाती है। उत्पादकता पृथ्वी का धर्म है तो शीतलता जल का। अग्नि में प्रखरता पायी जाती है और वायु में व्यापकता। नदी अपने जल को स्वच्छ एवं उपयोगी रखने के लिए सतत् गतिशील रहती है। बादलों के निर्माण तथा पर्जन्य वर्षा हेतु समुद्र अपने जल को सदा समर्पित करते रहना अपना धर्म मानता है। वृक्ष मँडराते बादलों से वृष्टि कराने तथा पर्यावरणचक्र को सन्तुलित रखने की जिम्मेदारी सतत् निभाते हैं। प्राणी वर्ग में सभी अपने विशेष गुण-धर्म को अपनाये रहते हैं। इस धर्म-चक्र में कहीं राई-रत्ती भी अवरोध उत्पन्न हो जाय, तो सामूहिक विनाश की स्थिति पनप सकती है। अतः यह कहना गलत नहीं होगा कि यह जगत धर्म के सिद्धान्तों के परिपालन पर ही अवलम्बित है।

मनुष्य सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी माना गया है, परन्तु स्रष्टा ने उसके अन्दर की इच्छाशक्ति को प्रबल कर, दो रास्ते बना दिये हैं। उसे इस बात में स्वतन्त्र बना दिया गया है कि वह चाहे तो अधोगामी प्रवृत्ति अपनाकर पशुतुल्य जीवन जिये अथवा उत्कृष्ट जीवन अपनाकर देवोपम एवं सर्वश्रेष्ठ जीवन को अंगीकार करे। अतः विवेकशीलता ही मनुष्य का परम धर्म है। इसके आधार पर ही वह भले-बुरे के बीच अन्तर समझकर श्रेष्ठता, महानता के मार्ग पर अग्रसर होता है। मनुष्य अपने विवेक के आधार पर ही जीवन के रहस्यों को समझता है। शरीर को ही सब कुछ न मानकर वह आत्मा के अस्तित्व को भी स्वीकार करता है। शरीर उपभोग हेतु मिला है, परन्तु आत्मा आदर्श को ही अपनाती है। उपभोग और आदर्श दोनों में संतुलन बिठाना ही धर्म का लक्ष्य है, विवेक की परिणति है। दूसरे शब्दों में सदाचरण, आदर्शवादी व्यक्तित्व ही धर्म का पर्याय है।

मानव-जीवन को देवोपम बनाने के लिए धर्म विशेषज्ञों व महा-मनीषियों ने कुछ सिद्धान्तों, दर्शनों को प्रतिपादित किया है। उन्होंने वह मार्ग सुझाये हैं, जिससे

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

व्यक्ति द्रुतगति से श्रेष्ठता की दिशा में अग्रसर हो सकता है। हर राष्ट्र व समाज में ऐसे व्यक्ति होते आये हैं। उन सबने प्राय: एक ही तरह के सिद्धान्तों को पूरे विश्व समुदाय के लिए प्रस्तुत किया है। आंशिक विभिन्नताएँ मात्र कर्मकाण्डपरक हैं, जो विभिन्न परिस्थितियों व सामाजिक संरचनाओं के आधार पर निर्धारित की गई हैं। मुख्य उद्देश्य सबों का एक ही है।

आज संसार में प्रमुख ग्यारह मजहब अथवा धर्म मत हैं। वे इस प्रकार हैं–जापान का शिन्तो मत, चीन का ताओ मत, चीन का ही कन्फ्युशियस मत, हिन्दुस्तान का वैदिक मत, बौद्ध मत, जैनमत, सिक्ख मत, पारसी मत, यहूदी मत, ईसाई मत तथा इस्लाम मत। ये सब वस्तुत: एक ही धर्म-सन्देश को विभिन्न रूपों में समझाने का प्रयास हैं। ये सभी मत हैं, स्वयं धर्म नहीं। धर्म तो मूलत: व्यक्ति के मनुष्यत्व में, उसकी विवेकशीलता में सन्निहित है। धर्म का वास्तविक अर्थ है–कर्त्तव्यनिष्ठा, आकृष्ट चिन्तन आदर्श कर्तृत्व। प्रकारान्तर से इन्हीं सिद्धान्तों की पुष्टि विभिन्न मतों के माध्यम से की जाती है।

जापान का शिन्तो मत पवित्रता को धर्म का प्रधान गुण मानता है। उसके अनुसार निश्छलता पवित्रता का प्रमुख अंग है तथा ईश्वर प्राप्ति का राजमार्ग भी। इस मतानुसार निर्धारित दैनिक प्रार्थना का भाव इस प्रकार है– "हमारी आँखें भले ही अपवित्र वस्तु देखें, किन्तु हे भगवान! हृदय में अपवित्र बातों का उदय न हो। हमारे कान भले ही अपवित्र बात सुनें, किन्तु हमारे चित्त में अपवित्र बातों का अनुभव न हो।" अपनी पूजा-पद्धति में भी शिन्तो सम्प्रदाय ने मनोनिग्रह हेतु ध्यान तथा पवित्रता हेतु मन्त्रोचार को व्याहृत किया है।

ताओ मत के अनुसार ईश्वर को प्राप्त करने के लिए पवित्रता, विनय, सन्तोष, करुणा, प्राणि मात्र के प्रति दया, सच्चा ज्ञान और आत्म-संयम मुख्य माध्यम हैं। इनकी प्राप्ति हेतु ध्यान और प्राणायाम उपयोगी प्रक्रियाएँ हैं। ताओ मत में लोगों के लिए सन्देश इस प्रकार प्रकट किये गये हैं–"मेरे पास तीन वस्तुएँ हैं, जिन्हें मैं दृढ़तापूर्वक जुगोता रहता हूँ–सौम्यता (दयालुता), मितव्ययी तथा नम्रता।"

कन्फ्यूशियस चीन के सुविख्यात धर्मप्रचारक एवं सिद्ध पुरुष हो चुके हैं। उन्होंने अपने दर्शन में मुख्यत: मानव-जीवन को उत्कृष्टतम बनाने की बात कही है। वे प्राय: कहा करते थे–"जब तुम्हें यह ज्ञान नहीं कि मनुष्य की सेवा किस प्रकार की जाय, तब देवों की सेवा के सम्बन्ध में कैसे पूछ सकते हो ?" उनका एकमात्र सन्देश मानव मात्र के प्रति यही था कि वैयक्तिक उन्नति जीवन का लक्ष्य नहीं, वह तो सामाजिक उन्नति का फल है। उसके अनुसार पूर्ण धर्म वह है, जब तुम बाहर निकलो तो प्रत्येक से यह समझकर मिलो मानो, वह तुम्हारा बड़ा अतिथि है। उनका उपदेशामृत यह था कि–सदाचार के प्रति निष्ठा, सौन्दर्य के प्रति अनुराग की तरह हृदय से होना चाहिए। मनुष्य का हृदय आइने के सदृश होना चाहिए, जिस पर समस्त वस्तुओं का प्रतिबिम्ब पड़ता है, किन्तु उससे उसमें मैलापन नहीं आता।

वेदान्त दर्शन यह सिद्धान्त प्रतिपादित करता है कि मूल में सारा जगत एक है, जिसे इस एकत्व का दर्शन हो जाता है, उसकी दृष्टि में स्वार्थ और परमार्थ में भेद नहीं रह जाता है । इस दिव्य दृष्टि की परिणति सबको अपने में तथा अपने को सबमें देखने के रूप में होती है। उसके हृदय से 'आत्मवत् सर्वभूतेषु तथा वसुधैव कुटुम्बकम्' का अन्तर्नाद गुंजित होने लगता है। वह व्यष्टि से समष्टि की ओर अग्रसर हो जाता है तथा सबके कल्याण में अपना कल्याण समझने लगता है। तभी तो वैदिक काल के ऋषियों ने यह घोषणा की थी।

"सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामया,
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् मा दुखमापुन्यात।"

जो इतना परमार्थपरायण होगा वह अवश्य पवित्र होगा। उसका जीवन अवश्य आदर्शवान होगा।

अथर्ववेद (३-३०-१) की उक्ति यहाँ उल्लेखनीय है–

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या।।

अर्थात्–हे मनुष्यो ! मैंने तुमको सहृदय और बुद्धिमान तथा दोषरहित बनाया है। तुम एक दूसरे के साथ इस प्रकार बर्ताव करो जैसे गाय अपने नवजात बच्चे के साथ करती है।

भगवान् बुद्ध ने स्वयं के जीवन को उदाहरण रूप में प्रस्तुत करके लोगों को पवित्र व श्रेष्ठ जीवन जीने की प्रेरणा दी थी। उनके अनुसार आर्य सत्य चार हैं–दु:ख, दु:ख का हेतु, दु:ख निरोध का उपाय तथा दु:ख का निरोध। दु:ख के निरोध हेतु वे तृष्णा को सर्वतोभाव से परित्याग करने का सन्देश देते थे। उनका कहना था कि राग के समान आग नहीं, द्वेष के समान ग्रह नहीं, मोह के समान जाल नहीं और तृष्णा के समान अगम नदी नहीं। अत: बुद्ध सदाचरण को ही महत्त्व देते थे। उनने कहा भी था कि, "धर्मग्रन्थों का कितना ही पाठ करें, लेकिन यदि प्रमाद के कारण मनुष्य उनके अनुसार आचरण नहीं करता, तो दूसरे की गौएँ गिनने वाले ग्वाले की तरह वह श्रमणत्व (ब्राह्मणत्व) का भागी नहीं होता।"

जैन मत का सिद्धान्त मुख्य रूप से यह है कि किसी भी कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए तीन बातों की आवश्यकता होती है–श्रद्धा, ज्ञान और क्रिया। जैन शास्त्रों में इसे सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र के रूप में उल्लेखित किया है।

गुरुनानक देव ने सिक्ख धर्म रूपी ऋषि परम्परा का शुभारम्भ किया था तथा गुरु गोविन्द सिंह जी ने इसे प्रगतिशील बनाया था। तत्कालीन राष्ट्रीय समस्या को देखते हुए गुरु गोविन्दसिंह जी ने प्रत्येक अनुयायियों को राष्ट्र व मानवता हेतु अपनी आहुति, अपना बलिदान प्रस्तुत करने को कहा था। उस परम्परा को आगे भी बनाये रखने के लिए उन्होंने प्रत्येक सिक्ख को शास्त्रादपि शरादपि

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

का, 'माला और भाला' साथ रखने का, अनीति से सदैव जूझते रहने का सन्देश दिया।

पारसी धर्म के प्रवर्त्तक जरथुस्त्र हुए हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित धर्मनीति के मुख्य चरण हैं-हुमत अर्थात् उत्तम विचार, हुख्त अर्थात् उत्तम वचन और हुश्वर्त अर्थात् उत्तम कार्य । ईश्वर के साक्षी व प्रेरक रूप हेतु उन्होंने अग्नि को स्वीकृत किया तथा अग्नि की तरह प्रखर, प्रकाशवान, ऊर्ध्वगामी व परोपकारी वृत्ति का बनने की प्रेरणा दी।

यहूदी मत का मूल दर्शन-ईश्वर के एकत्व, ईश्वर की पवित्रता तथा उसकी निराकारिता में सन्निहित है । संसार के दो मुख्य मत-ईसाई और इस्लाम इसी से प्रस्फुटित हुए हैं ।

ईसाई मत के अनुसार प्रेम ही परमेश्वर है । प्रेम ही पूजा-आराधना है, उसकी परिणति है । अपनी प्रार्थना में हर ईसाई यह कहता है-"परमात्मन् ! मुझे अपनी राह दिखा। अपने सम्बन्ध में ज्ञान करा और सत्य मार्ग पर मुझे चला । मेरी मुक्ति का ईश्वर तू ही है । मेरा ज्ञानचक्षु खोल, जिससे मैं तेरी प्रेम पूर्ण आश्चर्यजनक कृतियों को समझ सकूँ ।" ईसाई मत के मूलाधार तो स्वयं ईसा हैं, जिन्होंने मानवता एवं आदर्श हेतु अपना बलिदान प्रस्तुत किया था।

इस्लाम मत के संस्थापक हजरत मुहम्मद ने प्रत्येक मुसलमान को सदाचारी, कर्त्तव्य-परायण बनने का उपदेश जीवन भर दिया । 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की तरह उनकी घोषणा थी कि हर इन्सान अल्लाह का कुनवा है । तभी तो वे पुनः यह कहते पाये जाते हैं कि-आओ ! तुम और हम मिलकर उन चीजों पर मेल कर लें, जो हम दोनों में एक-सी हैं ।

इन तथ्यों के आधार पर धर्म के मूलभूत दर्शन में कहीं भी कोई भिन्नता नहीं नजर आती । आज धार्मिक मान्यताओं के नाम पर होने वाले संघर्ष तथा आपा-धापी को अज्ञानताजन्य कृत्य ही कहा जा सकता है । यह एक विडम्बना ही है कि लोग अपने मतों तथा धर्म-प्रवर्त्तकों की दुहाई देते हैं, पर उनके दर्शन तथा आदर्श को अपने जीवन में ढाल नहीं पाते । यदि चिन्तन में उत्कृष्टता, चरित्र में आदर्शवादिता तथा व्यवहार में शालीनता का समन्वय किया जा सके तो धर्म का वह स्वरूप प्रकट होगा जहाँ विभेद नहीं, एकत्व स्थापित होगा । संघर्ष नहीं वरन् सर्वत्र प्रेम, सहकार, उदारता व समर्पण का साम्राज्य होगा ।

एकता और समता

एकता और समता को इस संसार की महती उपलब्धि माना गया है । इसकी जहाँ जितनी सत्ता और महत्ता प्रकट होने लगती है, समझना चाहिए कि वहाँ उतनी ही भौतिक समृद्धि और आध्यात्मिक सिद्धि का सुयोग बन गया । सुख-शान्ति और प्रगति-समृद्धि के मार्ग में प्रमुख बाधाएँ यही दो हैं-एक परायेपन का विद्वेष, दूसरी विषमता । ऊँच-नीच की विषमताजन्य विलगता । इन दो के रहते सर्वतोन्मुखी शान्ति एवं प्रगति की आशा नहीं की जा सकती ।

सभी जानते हैं कि धागे मिलकर कपड़ा, तिनके मिलकर रस्सा, ईंट मिलकर भवन, सिपाहियों के एकत्रीकरण से समर्थ सेना बनती है । शरीर के विभिन्न अंग-अवयव जब तक मिल-जुलकर काम करते हैं, तब तक उनकी दृढ़ता और समर्थता अक्षुण्ण बनी रहती है, किन्तु जब उनमें विलगाव-बिखराव पैदा हो जाता है, तो टूट-फूट आरम्भ हो जाती है और इस विघटन से शरीर, परिवार, समाज, राष्ट्र सभी का पराभव आरम्भ हो जाता है । इस विभीषिका से बचा जा सके तो समझना चाहिए कि नदियों से मिलकर भरा-पूरा बने रहने वाले समुद्र की तरह अपना समाज-समुदाय भी सुदृढ़ बना रहेगा और अपनी शक्ति के पारस्परिक आदान-प्रदान द्वारा वह परिस्थितियाँ उत्पन्न करेगा जिनके द्वारा उत्पन्न हुई सुविधाओं को स्वर्गोपम कहा जा सके । एकाकी व्यक्ति की सामर्थ्य नगण्य है, पर जब वह अनेकता से एकता में विकसित होती है, तो एक-एक मिलकर ग्यारह लिखे जाने की उक्ति चरितार्थ होती है । भौतिक प्रगति का सारा आधार एकता-समता है । पुर्जों से मिलकर मशीनें बनती हैं । विशाल उत्पादन वाले कारखाने खड़े होते हैं, किन्तु उन घटकों को बिखेर दिया जाय तो उनका स्तर कूड़े-कबाड़े जैसा बन जाता है ।

आत्मिक प्रगति का मार्ग है-समता । 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का मंत्र इसी आदर्श का संकेत करता है । सब में अपने और अपने में सबको देखना ही समता का तत्वज्ञान है । 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का एक मंत्र एकता का सूत्र है । यदि भारतीय धर्म के हजारों सिद्धान्तों में से मात्र इन दो का उपयोग करने लगें तो इतने भर से भौतिक एवं आध्यात्मिक प्रगति का दुहरा प्रयोजन सिद्ध हो सकता है ।

एकता का तात्पर्य है-मिलजुलकर रहना-मिलबाँट कर खाना, अपनी खुशी बाँटना और दूसरों के दुःख बँटा लेना, एक कुटुम्ब की तरह हिलमिल कर इस प्रकार रहना जैसे कि एक घर के लोग रहते हैं । जितनी आवश्यकता होती है, उतना लेते हैं और जितनी सामर्थ्य होती है उतना करते हैं। आवश्यकता का स्वरूप बनाने से पहले यह सोचते हैं कि यह औसत नागरिक स्तर की है या नहीं । परिवार में सबकी सम्पत्ति सम्मिलित रहती है । यह सहकारिता का सिद्धान्त है । इसके सहारे अधिक लोगों को अधिक काम और अधिक लाभ मिल सकता है ।

एकता के प्रधान सूत्र, राष्ट्र, संस्कृति, भाषा और व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जिसे सब लोग सरलता से अपना सकें और इसमें विभेद पैदा होने से जो विकृति खड़ी होती है, उसका निराकरण कर सकें ।

परिवार की संयुक्त सम्पदा एक रहती है और उसमें से बालकों, बूढ़ों, अपंगों, असमर्थों का भरण-पोषण भी यथावत् चलता है । समर्थ यह नहीं कहते, कि हमने जो

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

कमाया है उसका उपयोग हमीं करेंगे वरन् होता ठीक उल्टा है । कमाने वाले अभिभावक अपनी निज की इच्छाओं को मारते हैं, किफायत बरतते हैं और बच्चों के दूध, किशोरों के कपड़े, वृद्धों की तीर्थयात्रा, रोगियों की दवा-दारू के लिये आवश्यक प्रबन्ध करते हैं । उन्हें प्राथमिकता देते हैं । समाज की सुव्यवस्था भी इसी प्रकार बननी चाहिए कि कोई वर्ग पिछड़ेपन की, अभावग्रस्तता की शिकायत न करने पाये । यह तभी सम्भव है, जब एकात्मता की नीति अपनाई जाय ।

कम्यूनिज्म शब्द कम्यून शब्द से बना है, जिसका अर्थ होता है 'लार्जर फैमिली'–संयुक्त परिवार । पुरानी शैली के संयुक्त परिवारों में कई अव्यवस्थाएँ और कई अनीतियों का समावेश हो चला था इसलिये उसके सम्बन्ध में यह सोचा गया कि हर किसी को न्याय मिले और स्वतंत्रता के मौलिक अधिकार का उपयोग करने के लिये अवसर रहे । इस हेतु लार्जर फैमिली की पद्धति अपनायी गयी । हर मियाँ-बीबी अपने लिये अलग चूल्हा जलाये, हर एक अपना शाक-भाजी खरीदने बाजार जाये, अपने कपड़े आप धोये, इसकी अपेक्षा यह उपयुक्त समझा गया कि एक संयुक्त-बड़े परिवार के अन्तर्गत बच्चों को पालने-खिलाने से लेकर अन्यान्य व्यवस्थाओं तक का एकीकरण किया जाय । इसमें सभी को सुविधा रहती है और ढेरों समय तथा पैसा बचता है । एक टी.वी. खरीदकर उस पर कई परिवार के सदस्य मिल-जुलकर कार्यक्रम देख सकते हैं ।

पारिवारिक एकता से लेकर धार्मिक, साम्प्रदायिक भावना सम्बन्धी, जाति-पाँति की राष्ट्रीयता की एकता रहे तो छोटे-छोटे देश मिलकर अपने महासंघ बना सकते हैं और फिर विश्व-परिवार की विशालकाय माला में गुँथे हुए मोतियों की तरह शोभायमान हो सकते हैं । इसमें सुविधा भी है और सुरक्षा भी । एकता को आत्मीयता, पारिवारिकता या सुविधा के रूप में विकसित किया जाना चाहिए । इसी में वर्तमान समस्याओं का समाधान भी है और प्रगति का प्रावधान भी ।

समता, एकता का पूरक पक्ष है । जाति, वर्ग वंश, क्षेत्र, लिंग आदि के आधार पर मनुष्य जाति अनेक विभागों में बँटकर रह रही है । जो बड़े बनते हैं, उनका अहंकार, आतंक जमता है, जो छोटे रह जाते हैं, उन्हें शोषण, अपहरण, उत्पीड़न का शिकार होना पड़ता है । ऊँचा भवन उठाने के लिये, कहीं से मिट्टी उठाने के लिये गहरा गड्ढा बनाना पड़ता है । अमीरी का वैभव बनाने पर स्वाभाविक है कि कितनों को ही गरीबी उत्पन्न करने वाले कुचक्र में पिसना पड़े । पुरुष स्त्री को पैरों की जूती, दासी, चौकीदारिन, रसोईदारिन, बच्चे जनने वाली मशीन बनाकर रखेगा, तो उसका परिणाम स्वभावतः यह होगा कि नारी अपना स्वावलंबन, स्वाभिमान गँवाकर पुरुष के गले का पत्थर बनेगी । इसकी हानि समूची मनुष्य जाति को अवगति के रूप में उठानी पड़ेगी ।

जाति-पाँति के नाम पर ऊँच-नीच का भेदभाव पनपेगा तो उसका परिणाम यह होगा कि कुछ अधिक सुविधा प्राप्त करेंगे, कुछ उनसे वंचित रहेंगे । शरीर का एक अंग अस्वाभाविक रूप से मोटा हो और दूसरा अतिशय पतला, तो उसका प्रभाव सामाजिक असमानता और अनीति के रूप में सामने आवेगा । कुछ अति समर्थ बनेंगे, कुछ अति दुर्बल । ऐसा शरीर कुरूप ही लगेगा और उनके बीच रोष-विद्वेष पनपे बिना न रहेगा । ईर्ष्या बढ़ेगी और विग्रह की स्थिति बनेगी । प्रगतिशील और प्रगति सम्पन्न देशों के बीच खाई चौड़ी ही होती जाती है । जाति-बिरादरी के नाम पर बँटे हुए वर्ग परस्पर उपेक्षित ही बने रहते हैं और उस विलगता का हर प्रकार दुष्परिणाम भोगते हैं । अपने हिन्दू समाज को ही लें यह समाज अनेक जातियों, उपजातियों में बँट गया है । यहाँ तक कि एक ही वर्ग के लोग उपजाति के आधार पर एक दूसरे को नीचा-ऊँचा समझते हैं, तो छिटक कर दूर हट जाते हैं ।

दक्षिण अफ्रीका जैसे देशों में काले-गोरे का भेदभाव कितना उग्र रूप धारण कर रहा है, यह किसी से छिपा नहीं है । वैसी ही स्थिति जातियों और उप-जातियों के छोटे रूप में अपने यहाँ भी उत्पन्न कर रही है । सम्प्रदाय आपस में अलगाव की नीति अपनाते हैं । अपने वर्ग के लिये विशेष सुविधा और अन्य वर्ग को नीचा दिखाने की प्रवृत्ति जब पनपती है तो उसके पीछे पक्षपात का ही बोलबाला रहता है । इन विभेदों और संकटों को समता के आधार पर ही मिटाया जा सकता है । अमीरी-गरीबी से लेकर अन्यान्य प्रकार की असमानताएँ सदा दुःखदायी परिणाम ही उत्पन्न करती हैं । इसलिये उनके उन्मूलन में ही भलाई है ।

विश्व-वसुधा एकत्व के सूत्र में बँधे

एकता में ही शक्ति सन्निहित होती है, इस तथ्य को सभी लोग भली-भाँति जानते हैं । इसे बनाये रखने के लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने को राष्ट्रीय मशीन का एक प्रामाणिक पुर्जा मानकर चले । विलगाव की प्रवृत्ति को दूर करके केन्द्रीकरण की दिशा में अग्रसर हो । व्यक्तिगत अहंता एवं स्वार्थपरता को घटाते चलने और समिष्ट के विकास में भाग लेकर सन्तुष्ट रहने की प्रवृत्ति ही हमें एकता की ओर ले जायेगी । इसी दिशा में चलते हुए 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है ।

यहाँ एकता से तात्पर्य मानवी एकता से है । मनुष्य की जाति एक है । सभी का रक्त-माँस एक जैसा है । उनकी संरचना में कोई अन्तर नहीं है । अतएव किसी को किन्हीं कारणों से विखण्डित नहीं होना चाहिए । कारण हम सब राष्ट्र के अभिन्न अंग हैं । जिस प्रकार एक शरीर से सम्बन्धित सभी अवयवों का स्वार्थ परस्पर सम्बद्ध है उसी

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

प्रकार सारी मानव-जाति एक ही नाव में बैठी है । घड़ी का एक पुर्जा खराब हो जाने पर सारी मशीन ही बन्द हो जाती है । शरीर का एक अंग पीड़ित होने पर उसका प्रभाव अन्य अंगों पर पड़ता है । हम लोग भी एक सूत्र में पिरोये हुए मनकों की तरह सम्बद्ध हैं । प्रत्येक कड़ी के ठीक तरह जुड़े रहने से ही जंजीर की मजबूती बनी रहती है । उनका बिखरना शुरू हो जाय तो जंजीर नाम की कोई चीज न होगी । तिनके अलग-अलग दिशा में अपना स्वार्थ लेकर चल पड़ें तो रस्सी कैसे बनी रहेगी ?

किसी जाति और राष्ट्र का अस्तित्व इसी पर आधारित रहता है कि विशाल जनता उसमें आत्मसात् रहती है । पृथकता की भावना रखने वाले, भिन्न स्वार्थों, भिन्न आदर्शों एवं मान्यताओं वाले लोग कहीं बहुत बड़ी संख्या में एकत्रित हो जाएँ तो वे एक राष्ट्र, समाज, एक जाति नहीं बन जाते । एकता के आदर्शों में बँधे हुए और उस आदर्श के लिए सब कुछ निछावर कर देने वाले व्यक्तियों का समूह ही समाज या राष्ट्र कहलाता है । शक्ति का स्रोत इसी एकता की अनुभूति में है । यह भावना ही किसी देश की सर्वांगीण प्रगति का आधार बन सकती है ।

मनुष्य को मनुष्य से अलग करने वाली दो दुष्प्रवृत्तियाँ उसकी सामुदायिक प्रवृत्ति में अभी भी घुसी हुई हैं । उनमें से एक है-संकीर्णता और दूसरी है बिखराव । इन दोनों को एक दूसरे का अनन्य सहयोगी भी कहा जा सकता है । स्वार्थपरता और अहंता का आग्रह यह रहता है कि अपना स्वतंत्र ढकोसला खड़ा किया जाय । अपनी कमाई का लाभ स्वयं लिया जाय । प्रदर्शन से अहंता का पोषण किया जाय । ऐसे ही अनेकों मनोवैज्ञानिक कारण हैं, जिनसे प्रेरित होकर लोग समूह के सदस्य बने रहने की अपेक्षा अपना एक संगठन अलग खड़ा करते हैं । डेढ़ ईंट की मस्जिद बनाने वाले, ढाई चावल की खिचड़ी पकाने वाले प्रायः इसी स्तर के होते हैं । बिखराव में उन्हें अहंता का पोषण तो मिलता है, पर ऐसे अनेकानेक लाभों से वंचित रहना पड़ता है, जो समुदाय के साथ घनिष्टता या एकात्मकता स्थापित करने के उपरान्त ही सधते हैं । 'इक्कड़' तो दूध में से मक्खी की तरह निकाल फेंके जाते हैं । संकीर्णता एवं बिलगाव अपनाने वालों के हाथ केवल अनर्थ ही लगता है ।

अतः मानव को एक दूसरे से अलग करने वाली सभी दुष्प्रवृत्तियों और संकीर्णताओं का अन्त किया जाना चाहिए ताकि लोग परस्पर एकता का अनुभव कर सकें । वर्ग भेद उत्पन्न करने वाली हर प्रवृत्ति को निरुत्साहित किया जाना चाहिए । भाषा, क्षेत्र, समुदाय, जाति धर्म आदि के नाम पर इतने विभेद पिछले दिनों खड़े कर दिये गये हैं कि उन्होंने न केवल आदमी-आदमी के बीच खाई खोदी है वरन् परस्पर एक दूसरे को बिराना, अपरिचित, विरोधी भी बना दिया है । जब तक यह दीवारें गिरायी नहीं जायेंगी, पृथकतावादी तत्त्व विषमता के बीज बोते रहेंगे और कोई न कोई झंझट खड़ा करते रहेंगे ।

भाषा को ही लें । प्रगति के इस युग में भाषा की अनेकता तथा विविधता के कारण कितनी ही समस्याओं का सामना करना पड़ता है । विश्व स्तर पर न सही राष्ट्रीय स्तर पर ही सोचें तो अपने देश में इन दिनों कई प्रान्तों में पृथक् भाषा-भाषी होने के कारण अपने-अपने वर्ग को अलग मानने और राष्ट्रीय धारा से कटकर अपनी विशेष भूमि, विशेष पहचान बनाने की प्रवृत्ति चल पड़ी है । इसे शान्त करने के लिए वैसे ही प्रयत्न किये जाने चाहिए, जैसे अग्निकाण्ड आरम्भ होने पर उसके फैलने से पूर्व ही किये जाते हैं । भाषाओं की भिन्नता पर लड़ने तथा एकता के उद्यान उजाड़ डालने की छूट किसी को नहीं मिलनी चाहिए । पंजाबी, गुजराती, मराठी, बंगाली आदि अपनी-अपनी क्षेत्रीय भाषा को स्मरण भले ही रखे, पर इस आधार पर सीमा-बन्धन खड़े करना और वह भी इतनी कट्टरता के साथ कि एक दूसरे के बीच खाई खुदे, दीवार बने किसी भी प्रकार उचित नहीं । इससे बचना चाहिए ।

राष्ट्रीय एकता को बनाये रखने के लिये यह आवश्यक है कि अनेकता को हटाकर एकता का समावेश किया जाय । किसी एक भाषा को राष्ट्रीय मान्यता दी जाय । सरकारी एवं शैक्षणिक कार्यों की भाषा एक हो । इससे समूचे देशवासी एक विचारों का आदान-प्रदान कर सकेंगे साथ ही एक भाषा, एक लिपि होने से ज्ञान के आदान-प्रदान में जो भारी बाधाएँ उपस्थित हैं वे भी न रहेंगी । एक विद्वान का प्रतिपादन एक भाषा में छपने के कारण समूचे देश में एक ही दिन में उपलब्ध हो सकता है । अनुवाद की तनिक भी कठिनाई न रहेगी । अनेक भाषाओं के कारण मनुष्य समाज छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटा पड़ा है । अपने ही भाषा क्षेत्र में कूप-मण्डूक की तरह टर्राता रहता है । देश की एक भाषा हुए बिना जब शिक्षित व्यक्ति भी गूँगे-बहरे की तरह एक-दूसरे को समझने में असमर्थ रहते हैं तो फिर निकटता और एकता कैसे सम्भव होगी ?

कुछ ऐसे देश हैं जिन्होंने राष्ट्रीय स्तर पर एक भाषा के विकास में सफलता पाई है । वहाँ एक ही भाषा जन-सम्पर्क का माध्यम है । चीनी भाषा उनमें से एक है । सत्तर करोड़ से अधिक चीनियों के विचार-विनिमय की भाषा चीनी है । भाषाविदों ने चीनी भाषा को सबसे अधिक जटिल भाषा माना है । इसके बावजूद भी एक भाषा होने के कारण चीन के नागरिकों को सांस्कृतिक एवं सामाजिक दृष्टि से एकता के सूत्र में बाँधे रखने में चीनी भाषा ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है ।

यदि हमें मानवी एकता का लक्ष्य प्राप्त करना है तो संकीर्णता एवं बिखराव की प्रवृत्ति को निरस्त करना होगा साथ ही देश में एक भाषा के विकास के लिये प्रयास करना होगा । ज्ञान की परिधि को विश्वव्यापी बनाने के लिये एक विश्व भाषा बनाये बिना काम चल ही नहीं सकता । एक राष्ट्र, एक भाषा, एक सार्वभौम धर्म को आधार बनाकर ही

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

हम सर्वतोन्मुखी एकता की ओर अग्रसर हो सकते हैं । यह एकता नवयुग का महत्त्वपूर्ण आधार होगी ।

विश्वशांति का एकमेव आधार-अपनत्व का विस्तार

भौतिक जगत में आर्थिक, जातीय, सामाजिक, राजनीतिक एवं बौद्धिक आधार पर ही समता-एकता स्थापित करने के प्रयत्न चलते रहते हैं । इससे एकता-समता तो आती नहीं, वरन् उलटे और भी अधिक गुत्थियाँ उलझती जाती हैं । मनुष्य-मनुष्य के बीच ऊँच-नीच, नर-नारी, धनी-निर्धन, योग्य-अयोग्य आदि कारणों से जो अगणित भेद-विभेद फैले हुए हैं उन्हें हटाने-मिटाने और सर्वजनीन एकता-समता स्थापित करने के लिए हमें वेदान्त प्रतिपादित एकात्मवाद का, अद्वैतवाद का ही आश्रय लेना और उसका विस्तार करना पड़ेगा । अद्वैतवाद को दूसरे शब्दों में 'एकजीववाद' या मानवतावाद कहा जा सकता है, जिसमें सभी प्रकार के भेद-भावों को मिटाकर एकता उत्पन्न करने की प्रेरणा सन्निहित है । उसमें ईश्वर और जीव के बीच का ही भेदभाव नहीं मिटाया गया है वरन् प्राणियों के बीच जो विभेद की दीवारें खड़ी हैं उन्हें भी गिराया गया है ।

अद्वैतवाद के, एकात्मवाद के व्याख्याता आद्यशंकराचार्य ने वेदान्त की संक्षिप्त व्याख्या इन शब्दों में की है-'मनुष्य को सर्वप्रथम अपने में ब्रह्म चेतना की अनुभूति करनी चाहिए; तदुपरान्त जड़-चेतन जगत में अपनी ही आत्मा का विस्तार अनुभव करना चाहिए । एक ही आत्मा को सब में संव्याप्त की दृढ़ अनुभूति होने पर अपने-पराये का भेद कहाँ सम्भव है ?

गीताकार ने कहा है-

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।।
यस्मिन सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्रः को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।।

अर्थात् जो मनुष्य सब जीवों में अपनी ही आत्मा देखता है तथा सब जीवों में अपने ही स्वरूप को देखता है, उसके भीतर किसी भी जीव के प्रति जुगुप्सा, निन्दा, द्वेष आदि का भाव नहीं रह पाता । समस्त जीवों में एक ही आत्मा समायी हुई है, ऐसा जानकर जिस ज्ञानी मनुष्य के लिए समस्त संसार अपना ही स्वरूप आत्मस्वरूप हो जाता है, उस एक आत्मतत्त्व का अनुभव करने वाले को किसका भय, किसका मोह, किसके लिए शोक होगा ?

गीता में आगे उल्लेख है-

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।।

अर्थात्-जो व्यक्ति ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते, चाण्डाल आदि सभी जीवों में एक ही आत्मतत्त्व का दर्शन करता है, वही पण्डित है ।

वस्तुतः 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की यह वेदान्त आस्था ही मनुष्य में दया, करुणा, स्नेह, सद्भाव, सौजन्य का उदय कर सकती है । नागरिकता, सामाजिकता का विकास ममता और आत्मीयता के साथ जुड़ा हुआ है । इस भावना का जितना अधिक विकास होगा उतनी ही व्यक्ति की महानता बढ़ेगी और समाज की शान्ति, समृद्धि और सुस्थिरता में अभिवृद्धि होगी । अपने पास आत्मीयता का पारस हो, तो हर लोहे जैसी काली-कलूटी और अल्प मूल्य की वस्तु को, व्यक्ति को सोने जैसा सुन्दर और बहुमूल्य स्तर का बनाया जा सकता है ।

एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ स्नेह-सौजन्य का व्यवहार वहीं तक कर सकता है जहाँ तक कि उसकी ममता का प्रकाश फैल रहा हो । "आत्मोपम्येन न सर्वत्र सम पश्यति योऽर्जुन" की मनःस्थिति वाला व्यक्ति ही दूसरों के दुःख में अपने दुःख की तरह दुःखी हो सकता है और दूसरों के सुख की अनुभूति कर सकता है । ऐसी मनोभूमि में ही कोई व्यक्ति सच्चे अर्थों में एकात्मवादी, लोकसेवी, परमार्थपरायण, उदार-सज्जन बन सकता है । संयम और त्याग की आकांक्षा ऐसी ही मनःस्थिति में बन पड़ेगी ।

उपनिषद में कहा है-"द्वितीयं द्वै भयं भवति" अर्थात् दूसरे से ही भय होता है । संसार में परमेश्वर से यदि अपनी आत्मीयता समाविष्ट कर ली जाय तो जैसे ही परायापन मिटेगा, वर्ग विभेद की, ऊँच-नीच की दीवारें टूटेंगी वैसे ही 'अभय' का आनन्द मिलता, बढ़ता चला जायगा ।

प्रख्यात दार्शनिक सुकरात का कथन है कि- "सबसे बड़ा ज्ञान है अपने को पहचानना और भयमुक्त होना ।" हम दूसरों के बारे में बहुत कुछ जानते हैं, पर अपने बारे में अन्जान ही बने रहते हैं । अपने स्वरूप और लक्ष्य को भूलकर हम अज्ञानग्रस्त रहते हैं और भवबन्धनों में बँधते हैं। हमें किस तरह सोचना, रहना और दूसरों से व्यवहार करना चाहिए, यदि इस तथ्य को भली प्रकार हृदयंगम कर लें और तदनुरूप आचरण करें तो समझना चाहिए कि आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया और जीवन को सार्थक बनाने वाला मार्ग अपना लिया ।

यूनान के स्टोइक दार्शनिक एपिकतेतु ने प्राणिमात्र में ईश्वर का प्रकृति अंश विद्यमान होने की बात कही है । उन्होंने विश्वबन्धुत्व पर जोर देते हुए मानव मात्र को एक पिता की सन्तान भाई-भाई के रूप में माना है । स्टोइक दर्शन के अनुसार ब्रह्म एवं जीवजगत दो भिन्न सत्ता नहीं हैं । यह संसार परमात्मा का सजीव शरीर है । सृष्टि में संव्याप्त शक्ति-चेतना का बीज यह सर्वव्यापक ब्रह्मसत्ता ही है । उसकी सभी सन्तानें समान हैं, फिर मनुष्य के बीच असमानता की, विभेद की दीवारें कहाँ से आ गयी हैं ?

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

मानव-जीवन का सबसे बड़ा रस प्रेम है । विभिन्न व्यक्ति या पदार्थ तभी प्रिय लगते हैं जब उनसे प्रेम होता है, आत्मीयता होती है । उदासीनता या उपेक्षा जहाँ भी होगी, वहाँ सूनेपन का, निरर्थकता का अनुभव होगा । जिस वस्तु से भी आत्मीयता हट जायगी वह नीरस, निष्प्राण लगने लगेगी। प्रिय न कोई पदार्थ है न व्यक्ति अपना आपा ही सबको प्रिय है । वह जहाँ कहीं, जिस किसी पर भी प्रतिबिम्बत होता है वही सुन्दर और प्रिय लगने लगता है । यदि सर्वत्र प्रिय पात्रों से भरी दुनिया दीखती हो तो समझना चाहिए कि आत्मीयता का, प्रेम का विस्तार व्यापक बनता जा रहा है । यह आत्म-विस्तार न केवल वैयक्तिक आनन्दानुभूति, अभिवर्द्धन की दृष्टि से वरन् लोकमंगल की, समाज की दृष्टि से भी आवश्यक है । 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का अन्तर्राष्ट्रीय शांति, समृद्धि सिद्धान्त व्यक्तिगत प्रेम भावनाओं-आत्मीयता के विस्तार पर ही निर्भर है ।

मनीषियों के अनुसार मनुष्य के विकास की सर्वोच्च अवस्था वह है जहाँ उसके सभी सन्देह तथा वासनाएँ, अहंताएँ सदैव के लिए नष्ट हो जाती हैं । हृदय की समस्त स्वार्थपूर्ण ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं तथा कारण-कार्य का अनन्तक्रम उसके लिए समाप्त हो जाता है ।

मुण्डकोपनिषद् २/२/८ में ऋषि ने इस स्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए कहा है-

"भिद्यते हृदया ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ।।"

अर्थात् उस परब्रह्म को तत्त्व के द्वारा जानने पर हृदय ग्रन्थि खुल जाती है और सब संशय नष्ट हो जाते हैं । इसके साथ शुभ-अशुभ कर्म भी क्षीण हो जाते हैं ।

इस ब्रह्मचेतना से परिपूर्ण जीवनमुक्ति स्थिति को प्राप्त करने में अस्तित्व के अन्त का भय करना निरर्थक है । वस्तुतः वह तो पूर्ण अभय की स्थिति है । डर तो दूसरे से होता है । जहाँ केवल अपना ही आपा बिखर पड़ा हो वहाँ भयभीत होने, भेद बुद्धि उपजने, आशंका करने की कोई गुंजायश नहीं है । वेदान्त प्रतिपादित एकात्मभाव की 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की मान्यता ही आज के बिखराव को, मनोमालिन्य को मिटा सकती है और चहुँ ओर बहुमुखी सुख-शान्ति का आधार खड़ा कर सकती है ।

हम पुरखों से हर क्षेत्र में पिछड़े ही नहीं रहें

पुराने जमाने के लोगों से हम कई बातों में पिछड़े हुए हो सकते हैं, पर यह कहना उचित नहीं कि जमाना हर दिशा में गिरावट की ओर जा रहा है । जहाँ तक समस्याओं के सम्बन्ध में दृष्टिकोण का सम्बन्ध है, हम अपेक्षाकृत अधिक सुधरे हुए ढंग से विचार करने लगे हैं ।

धर्म प्रचार की बात को ही लें । मुद्दतों तक धर्मदीक्षा के लिए शासनसत्ता और तलवार का उपयोग किया जाता रहा है । अन्य धर्मावलम्बियों की स्त्रियों का अपहरण करके उनसे अपने धर्म वाली सन्तानें पैदा करने का ढर्रा बहुत समय तक चला है । भारत में ही नहीं एशिया और अफ्रीका में इसी आधार पर लगभग एक हजार वर्ष तक धर्म विस्तार का सिलसिला जारी रहा । उस आतंकवादी पद्धति से सफलता भी बहुत मिली । जो कार्य विचार परिवर्तन की सौम्य पद्धति से धीरे-धीरे और स्वल्प मात्रा में सम्भव होता, वह आतंकवादी तरीकों ने जादू की तरह सम्भव कर दिया । इस निष्कर्ष का परिणाम यह होना चाहिए था कि अपने धर्म को तीव्र गति से विस्तृत बनाने के लिए आतुर लोग इन्हीं तरीकों को अपनाते पर अब ऐसा सम्भव नहीं रहा । दुनिया की विचारशीलता बहुत आगे बढ़ गई है । आतंक के आगे सिर झुकाने का प्रचलन अब नहीं रहा । जाग्रत लोकमानस में आतंक की नीति शिरोधार्य नहीं की जा सकती है । अस्तु पुराना ढर्रा छोड़ कर अब धर्म विस्तार के लिए लोग भी सौम्य तरीके ही अपनाते हैं ।

संगठन की दृष्टि से हम कहीं आगे हैं । पिछली शताब्दियों और सहस्राब्दियों में यदि जनता संगठित रही होती तो मुट्ठी भर आक्रमणकारी, विशाल जनसंख्या वाले देशों को, इस प्रकार पददलित करने और गाजर-मूली की तरह काट डालने में सफल न होते, श्रमिकों की हड़तालें उनकी माँगें मनवाने के लिए मालिकों को झुका लेती हैं । यह संगठन शक्ति का चमत्कार है । गान्धीजी के असहयोग और सत्याग्रह आन्दोलन प्रत्यक्षतः अँग्रेज सरकार परास्त नहीं कर सकते थे । पर जनसहयोग के अभाव में अँग्रेजों के लिए, इस देश में टिके रहना असम्भव हो गया । तब वे भलमनसाहत के साथ अपने विस्तर समेट कर यहाँ से चले गये ।

पुराने जमाने में अपराधी को दण्ड देने में जो दृष्टिकोण था, वह निर्मम और निष्ठुर ही कहा जा सकता है । चोर को हाथ काट लेने की सजा मिलती थी । आतंक के बल पर अपराधी को तथा दर्शकों को ही सिखाया जाता था कि उसे उत्पीड़न का शिकार होना पड़ेगा । सम्भव है इस प्रकार अपराधों की रोकथाम में अधिक सफलता मिलती हो पर मानवोचित सौहार्द्र और न्याय-विवेक का हनन ही होता था । अब दण्ड देने की, वह पद्धति बदल गई । पुराने जमाने में क्या अपराध हुआ, यह देखना पर्याप्त था । अब यह समझना पड़ता है कि अपराध क्यों हुआ ? उसका मूल कारण क्या था ? अब दण्ड देने में प्रतिशोध का समावेश नहीं किया जाता वरन् सुधार का दृष्टिकोण अपनाया जाता है । कारागारों को सुधारगृहों में परिणत करने का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है । सुव्यवस्था के अभाव में भले ही सफलता उतनी न मिली हो फिर भी इतना माना ही जाना चाहिए कि न्याय की आत्मा अधिक सुकोमल बनी है, वह अपराधी को सुधार का अवसर देने के लिए प्रतीक्षा करने को सहमत हो गई है ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

मनुष्य के समान अधिकारों को स्वीकार करने में हम अपने पूर्वजों की तुलना में कही आगे हैं । दास, दासी खरीदने, बेचने और दान देने की प्रथा प्रायः सभी देशों में रही है । समर्थ लोग असमर्थों का उपयोग पशुवत करते रहे हैं । युद्धों में विजेता लोग, सेना और शासकों को ही नहीं मारते-काटते थे, वरन् प्रजा को भी लूटते थे और वयस्क नर-नारियों को पकड़ कर साथ ले जाते थे और उन्हें गुलामों की तरह बेचते, खरीदते थे, अछूत जातियों को सामाजिक अधिकार नहीं के बराबर थे । अब वैसी प्रथाएँ समाप्त हो गईं । गुलाम प्रथा नहीं रही, हर नागरिक अपने मानवी अधिकारों का उपयोग करता है । जहाँ इसमें कमी है वहाँ तीव्र संघर्ष चल रहे हैं और स्थिति उत्पन्न हो रही है कि कल नहीं तो परसों समस्त विश्व में कहीं कोई व्यक्ति मानवी अधिकारों की समानता से वंचित न रहेगा ।

नारी जाति के सम्बन्ध में पूर्वजों की अपेक्षा अपनी पीढ़ी अधिक प्रगतिशील है । पर्दा प्रथा अब कुछ पिछड़े लोगों की ही मूर्खता बनकर रही है । अब पत्नी की स्थिति पति की खरीदी हुई जड़-सम्पत्ति जैसी नहीं रही । विवाह बन्धन में पारस्परिक सहमति भी एक तथ्य बन गई है । तलाक के नियम अधिक से अधिक उदार होते चले जाते हैं । नर तो नारी का उपभोग किसी भी प्रकार करे पर नारी की माँग या आवाज का कोई मूल्य नहीं, अब यह निर्दय कठोरता दिन-दिन घट रही है । यौन स्वेच्छाचार की सुविधा पुरुष को ही मिले, यह प्रतिबन्ध टूट रहे हैं । पतिव्रत ही अब एकमात्र प्रशंसनीय नहीं रहा । पत्नीव्रत को भी ठीक उसी के समकक्ष लाकर खड़ा कर दिया गया है और यह अवसर दिया गया है कि या तो दोनों व्रतों को समान रूप से मान्यता मिले या दोनों को हटा दिया जाय । पाश्चात्य देशों ने दोनों को हटा देने का फैसला किया है और वहाँ व्यभिचार को जनमान्यता मिल गई है । पुरुष से बहुविवाह का अधिकार छीनकर भारत जैसे देशों ने पत्नी-व्रत को भी पतिव्रत स्तर की ही मान्यता दी है । यह सन्धिकाल है, परम्पराएँ बदल और बन रही हैं । स्थिरता में देर लग सकती है, पर यह तथ्य उभरकर सामने आ ही रहा है कि नर का नारी से बाधित आधिपत्य उठ रहा है । विवाह की स्थिरता अब स्वेच्छा-सहयोग पर निर्भर होने जा रही है । अब पत्नी का उत्पीड़न पति का एक स्वेच्छाचारी अधिकार नहीं रह सकेगा । चरित्र के सन्देह में यदि पत्नी पति की हत्या नहीं करती तो पति को भी न्याय की उसी तुला पर अपने वर्चस्व की गर्मी नीचे उतारनी पड़ेगी । दोनों पक्षों के लिए कर्त्तव्य और अधिकार अब एक जैसे ही होकर रहेंगे । नारी के प्रति बरती जाने वाली अनुदारता का अन्त करने निस्सन्देह हम पुरानी पीढ़ी से कहीं आगे उदार हो चले हैं ।

सम्प्रदायों, देवताओं और परम्पराओं के कारण मनुष्य-मनुष्य के बीच जो भारी मतभेद चल रहे थे और वे विद्वेष-विग्रह के रूप में फूट रहे थे, वह कट्टरता अब क्रमशः घटती और मिटती चली जा रही है । समस्त धर्मों की एक ही आत्मा, समस्त देव एक ही ब्रह्म के नाना रूप, समस्त परम्पराओं के मूल में सुविधा एवं औचित्य का आधार तलाश किया जा रहा है और समन्वयवादी, सहिष्णुतावादी विचारधारा पनप रही है । विश्व धर्म, विश्व संस्कृति, विश्व भाषा, विश्व राष्ट्र का आन्दोलन तेजी से चल रहा है । यह अनुभव किया जा रहा है कि मानव मात्र को एक बनकर रहना चाहिए । एकता के आधारों को प्रोत्साहित करना चाहिए । अब देश, जाति और सम्प्रदाय की सीमाएँ मानव मात्र की एकता में कम से कम व्यवधान उत्पन्न करे ऐसा प्रयत्न चल रहा है । कहना न होगा कि विचार-सागर में जो ज्वार-भाटे इन दिनों आ रहे हैं, वे विभेद की समस्त दीवारों को तोड़कर विश्व का, मानवी एकता का लक्ष्य पूरा किये बिना न रहेंगे । हम प्रगति की ओर चल रहे हैं । इस सृष्टि से निस्सन्देह हम पुरखों की अपेक्षा कहीं आगे हैं । कितनी ही बातों में हम पिछड़े भी हैं । स्वास्थ्य, सद्भाव और सदाचार में काफी गिरावट आयी है । छल, प्रपंच और उद्दण्डता ने नैतिक और सामाजिक सङ्कट उत्पन्न कर दिये हैं । विलासिता, फिजूलखर्ची और आलस्य जैसी दुष्प्रवृत्तियाँ पनपी हैं । यह प्रतिगामिता के चिह्न हैं । पर शिक्षा का विस्तार, दूरदर्शी चिन्तन, विज्ञान का विकास और विश्वव्यापी घनिष्टता की कुछ धाराएँ ऐसी भी हैं जो क्रमशः संसार में अधिकाधिक प्रगतिशीलता उत्पन्न करेंगी और उन विकृतियों को निरस्त करेंगी जो भविष्य को अन्धकारमय बनाने में लगी हुई हैं ।

पिछड़ेपन का रोना रोते रहना ही पर्याप्त नहीं । हमें इस युग की उपलब्धियाँ भी समझनी चाहिए और विश्वास करना चाहिए हमारा भविष्य भूतकाल की तुलना में अधिक उज्ज्वल ही होने जा रहा है ।

विस्तार को नहीं, स्तर को महत्त्व दिया जाय

सामान्य दीखने वाला मनुष्य विलक्षण है, उसको दृढ़ता और सुसंस्कारिता के आधार पर नापा जा सकता है। यों उसमें सहज विलक्षणताएँ भी कम नहीं । यह कमी जन्मजात रूप से ही अनायास ही उभरती है, कभी प्रयत्नपूर्वक विकसित कर ली जाती है । यह कौतूहल बढ़ाती है और बताती कि साधारण के भीतर कितनी असाधारण सम्भावनाएँ विद्यमान हैं ।

.'संख्या नहीं स्तर' यह दृष्टि उपयोगी और सराहनीय है । काम थोड़ा करें, पर उसमें मनोयोग और कौशल का सारा समावेश किया जाय और प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाया जाय । ऐसा करने से वह छोटा दीखने वाला या थोड़ा लगने वाला काम ही कर्त्ता की प्रतिष्ठा बढ़ाने वाला और अधिक लाभ दे सकने वाला बन सकता है ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

इसके विपरीत यदि संख्या वृद्धि एवं कलेवर विस्तार को महत्त्व दिया जाता रहा, स्तर का ध्यान न रखा गया तो वह बढ़ा हुआ विस्तार हितकर होने की अपेक्षा कष्टकर ही सिद्ध होता है । सिर पर लदा हुआ भार जितने परिमाण में अधिक होता है उतना ही वहनकर्त्ता को अधिक कष्ट उठाना पड़ेगा, भारी शरीर वाले मोटे दीखने वाले व्यक्ति हर दृष्टि से घाटे में रहते हैं । बढ़ा हुआ निरर्थक माँस क्रियाशक्ति को कुण्ठित करने और रुग्णता उत्पन्न करने के अतिरिक्त और किसी काम नहीं आता ।

रूस के यूक्रेन क्षेत्र में ओडेसा गाँव का एक आठ वर्षीय छात्र संसार भर के बालकों में अपनी विशालता का कीर्तिमान स्थापित किये हुए हैं । नाम विट्या, ऊँचाई पाँच फुट, वजन १५० पौण्ड । आठ वर्ष की आयु में इतना विस्तार आश्चर्यजनक है ।

पिछले २०० वर्षों में कोई व्यक्ति इतना दैत्याकार नहीं था जितना कि इंग्लैण्ड का डेनियल लेम्बर्ट । उसका वजन लगभग चार क्विन्टल था । उसके बैठने की कुर्सी खासतौर से बनाई गई थी । कपड़े इतने बड़े थे कि जिनके विस्तार पर सहज ही विश्वास नहीं होता । संग्रहालय में उसकी कुर्सी तथा जाकेट अभी सुरक्षित है ।

इस व्यक्ति की आर्थिक स्थिति दयनीय ही बनी रही वह उतना उपार्जन भी न कर पाता था, जितना कि सामान्य व्यक्ति कर लेते हैं । कौतुकी दर्शकों की व्यंग्य उपहास करने वाली भीड़ से उसे कभी कोई लाभ नहीं हुआ वरन् उस जमघट से उसका समय ही बर्बाद होता रहा ।

संसार की विशालकाय वृक्ष जातियों में अमेरिका के कैलीफोर्निया क्षेत्र में पाये जाने वाले केडवुड और सिकोया प्रमुख हैं । इनके तने ३५ फुट व्यास के पाये गये हैं । दो फुट मोटी तो इनकी छाल ही होती है । इनकी ऊँचाई २०० से ३०० फुट तक की पाई जाती है । अधिक ऊँचाई होने के कारण आकाशी बिजली इन पर अक्सर गिरती रहती है । फिर भी उसका प्रहार सहते रहते हैं ।

ऊँचाई अधिक होने से उनकी छाया का लाभ उतनी अच्छी तरह नहीं मिल पाता जितना कि सामान्य वृक्षों से काम चलता है । उनके फल-फूल भी निरर्थक होते हैं । लकड़ी काटने का साहस भी इतने ऊँचे चढ़कर कौन करेगा ? यह पेड़ दीर्घजीवी तो होते हैं, पर जितनी जमीन घेरते हैं उतनी का किराया भी वापिस कर सकने जितनी उपयोगिता नहीं होती ।

बहुलता का विस्तार कौतूहल भर बढ़ाता है । भिन्नताएँ विचित्र तो लगती हैं, पर उनसे परेशानी ही बढ़ती है । अपने आज के संसार में ३०६४ भाषाएँ बोली जाती हैं । इस बहुलता ने मनुष्य की क्या सेवा की ? यदि संख्या थोड़ी होती तो क्या हर्ज था ? सच तो यह है कि थोड़ी भाषाएँ होने से ज्ञान के विस्तार में सहायता मिलती और मनुष्यों के बीच आदान-प्रदान का रास्ता सरल होता ।

इन दिनों संसार भर के छोटे-बड़े ९० हजार मजहब हैं । इन सम्प्रदायों की कँटीली घास अधिक भूमि पर छाई हुई तो दीखती है, पर उससे रास्ता चलने वाले को, अनुयायियों को क्या लाभ मिलता है ? अनेकों रास्ते बना देने से मुसाफिर को भटकने की कठिनाई रहेगी । सीधा रास्ता एक दो ही हों तो अगणित टूटी-फूटी पगडंडियाँ खड़ी कर देने की तुलना में अधिक सुविधाजनक रहेगा ।

अलग-अलग मन्दिर बनाने की प्रतिस्पर्धा चलती रहती है । साधनरहित कितने ही देवालय बनते और अपनी दयनीय दरिद्रता का परिचय देते हुए कुरुचि और अश्रद्धा उपजाते रहते हैं । यह संख्या विस्तार न बढ़े और थोड़े से ही साधनसम्पन्न धर्म, मन्दिर सुनियोजित उद्देश्य लेकर काम करें तो वे ईसाई मिशन के गिरजाघरों की तरह अपनी उपयोगिता सिद्ध कर सकते हैं ।

विस्तार की गरिमा सहज ही समझी जा सकती है, पर यदि प्रखरता का अभाव हो तो उस विशाल कलेवर को आदिम काल के दैत्याकार सरीसृपों के समतुल्य ही माना जायेगा, जिसे एक नई जाति के भेड़िये ने उन सभी को कतर ब्यौंत करके रख दिया । प्रशंसा प्रखरता की है, विस्तार तो कौतूहल बढ़ाने भर के काम आता है ।

अपना भारत भूमि की दृष्टि से ब्रिटेन से १४ गुना, जापान से ९ गुना बड़ा है । योरोप के विकसित समझे जाने वाले सभी देशों का क्षेत्रफल जितना होता है उसकी तुलना में भी भारत का विस्तार अधिक है । ४०० करोड़ जनसंख्या वाले विश्व में ९० करोड़ से अधिक लोगों का भारत प्रायः छठा भाग है । संसार के विकसित-अविकसित निवासियों में से हर छह के पीछे एक भारतीय की गणना की जा सकती है । संख्या और भूमि के विस्तार की तुलना में यदि अपनी प्रखरता भी बढ़ी-चढ़ी रही होती तो निश्चय ही उसे अपने आप में अति बलिष्ठ होने और दूसरों की प्रचुर सहायता कर सकने का श्रेय वैसा ही मिला होता जैसा कि अतीत में भारत के भूमि पुत्रों को मिलता रहा है ।

संख्या और विस्तार को सौभाग्य का चिह्न कभी माना जाता रहा है । अब तो बड़े परिवार एक प्रकार से विग्रह और असन्तोष के अखाड़े ही बने दीखते हैं । समझा और समझाया जा रहा है कि परिवार छोटे रखे जाएँ ताकि उनके स्तर उठाने के प्रयासों में अधिक सफलता मिल सके । अधिक धनी होना अन्य लोगों को चमत्कृत कर सकता है, पर जिन पर वह लदा रहता है वे विद्वेषी, चिन्ताओं और दुर्व्यसनों से घिरते ही चले जाते हैं । इस कुचक्र में शारीरिक आरोग्य, मानसिक सन्तुलन, पारिवारिक सद्भाव भी गँवा बैठते हैं । लोभ की ललक बढ़ते जाने से बहुत बार वे अवांछनीय रीति से कमाई करने लगते हैं और लोक-परलोक बिगाड़ते हैं । अधिक धन का होना आवश्यक नहीं । आवश्यक यह है कि नीति से कमाया जाय और श्रेष्ठ प्रयोजनों के लिए उसका सदुपयोग किया जाय । ऐसा धन थोड़ी मात्रा में होने पर भी उपार्जनकर्त्ता को सुख और श्रेय प्रदान करता है । हमें विस्तार का नहीं स्तर का ही अधिक ध्यान रखना चाहिए ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

शक्तिसंचय के पथ पर

अनेक प्रकार की कठिनाइयों, विपत्तियों तथा संकटों का प्रधान कारण निर्बलता है । निर्बल के ऊपर रोग, नुकसान, अपमान, आक्रमण आदि के पहाड़ आये दिन टूटते रहते हैं । निर्बलता में एक ऐसा आकर्षण है जिससे विपत्तियाँ अपने आप आकर्षित हो आती हैं । जिसका कुछ नहीं बिगाड़ा है वह भी निर्बल का शत्रु बन जाता है । बकरी की निर्बलता उसके प्राणों की घातक सिद्ध होती है । जंगली जानवर, मनुष्य यहाँ तक कि देवी-देवता भी उसी के रक्त के प्यासे रहते हैं । बदला लेने की शक्ति रखने वाले और आसानी से हाथ न आने वाले सिंह, व्याघ्र, भेड़िया आदि का माँस लेने की किसी की इच्छा नहीं होती । देवी-देवता भी इनकी ओर आँख उठाकर नहीं देखते ।

हिन्दू जाति बहुत समय से बकरी बनी हुई है । उस पर भीतर और बाहर से लगातार आक्रमण होते रहते हैं । पिछली शताब्दियों की ओर दृष्टिपात करते हैं तो प्रतीत होता है कि उसे बहुत समय से आक्रमणों का शिकार होना पड़ रहा है । यूनानियों ने हिन्दुस्तान पर हमला किया, सिकन्दर ने चढ़ाई करके काफी धन-जन की हानि पहुँचाई । इसके बाद मुसलमानों के हमले शुरू हुए, एक के बाद एक हमला हुआ । नये-नये वंश आते रहे और मनचाही लूट-खसोट करते रहे । धर्म विस्तार के लिए उन्होंने जो ज्यादतियाँ कीं, हिन्दू अबलाओं की जिस प्रकार इज्जत लूटी वह किसी से छिपा नहीं है । इसके बाद अंग्रेज, फ्रांसीसी, पोर्तगीज आदि के आक्रमण हुए उन्होंने भी अपने-अपने ढंग से हुकूमत चलाई और हुकूमत से मिलने वाले लाभों को खूब लूटा ।

इतने बड़े देश पर, इतनी बहुसंख्यक जाति पर थोड़े से लोगों ने इस प्रकार आक्रमण किये और ऐसी लूट-खसोट मचाई इसे देखकर हैरत होती है । बड़ी संख्या को देखकर छोटी संख्या वाले खुद डर जाते हैं और दुर्व्यवहार करने का दुस्साहस नहीं करते, पर यहाँ तो बिलकुल उलटा हुआ । मुट्ठी-मुट्ठी भर हमलावरों को तनिक से प्रयत्न में सफलता मिल गई और वे काफी लम्बे समय तक निधड़क होकर कब्जा किये बैठे रहे, यह सचमुच ही एक आश्चर्य की बात है ।

आज साम्प्रदायिक दंगों का वातावरण गरम है । जगह-जगह से साम्प्रदायिक दंगों को दिल दहला देने वाले समाचार प्राप्त होते रहते हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि थोड़े से गुण्डे उबल पड़ते हैं और हजारों नर-नारियों को गाजर मूली की तरह काट कर रख देते हैं । अपार धन-जन की हानि कर देना उनके बाएँ हाथ का खेल है । हम अनाथ बालकों की तरह रोते-चिल्लाते और इधर-उधर भागते हैं , अखबारों में लेख छापते हैं, प्रस्ताव पास करते हैं और अन्त में माथा पीट कर चुप हो बैठते हैं। गुण्डों के हौसले बढ़ते हैं, वे एक के बाद दूसरा आक्रमण अधिक जोर से करते हैं और अधिक उत्पात मचाते हैं । हर उत्पात के साथ उनकी पशुवृत्ति तृप्त होती है और लूट का माल हाथ लगता है । इस घटनाक्रम की बार-बार पुनरावृत्ति होती रहती है ।

इस दुःखद स्थिति पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि हम या तो अशक्त हो गये हैं या हमने अपने को इस रूप में रखा है कि दूसरों द्वारा अशक्त समझे जाने लगे हैं । जरूरत से ज्यादा जो सीधे होते हैं वे बकरी की भाँति सताये जाते हैं । इसी कारण हिन्दू जाति को अनेकों प्रकार के संकटों का आये दिन सामना करना पड़ता है ।

हिन्दू-धर्म, दया, शान्ति, क्षमा और सहिष्णुता का धर्म है । हमारी धार्मिक शिक्षाएँ शान्ति का उपदेश देती हैं । यह शिक्षा है, बहुत ही उच्च एवं महान् है । यह जितनी उच्च है, उतने ही उच्चकोटि के व्यक्तियों द्वारा प्रयोग में लाये जाने योग्य है । जिस समय आर्य जाति सब प्रकार उन्नत अवस्था में थी, चक्रवर्ती साम्राज्य उसके हाथ में था उस समय वह इन शिक्षाओं को चरितार्थ करने की स्थिति में थी, जिसमें बल है, जो दंड देने की योग्यता से सम्पन्न है उसी वीर को क्षमा शोभा देती है । पैर में चींटी काट ले तो मनुष्य चाहे तो उसे क्षणभर में मसल कर रख दे सकता है, ऐसी स्थिति में यदि वह उस चींटी के प्रति क्रोध न लावे और दयापूर्वक उसे क्षमा कर दे तो यह क्षमा उसके लिए शोभनीय है, प्रशंसा के योग्य है, परन्तु यदि कोई भयंकर भेड़िया आक्रमण कर और नृशंसतापूर्वक अपने बालकों को चबाने लगे तो उसका प्रतिरोध न करना 'क्षमा' नहीं कही जा सकती, यह कायरता या अशक्यता ही ठहरेगी ।

क्षमा वीरों का धर्म है, अशक्तों का नहीं । जो पूर्ण स्वस्थ है, उसके लिए खीर-पूआ, मोहनभोग, घी, रबड़ी का सेवन लाभदायक है पर जो रोग से चारपाई पर पड़ा है, उठकर खड़े होने की शक्ति जिसमें नहीं, उसके लिए वे पौष्टिक पदार्थ लाभदायक नहीं हैं, उसके लिए तो वे अहित कर परिणाम ही उपस्थित करेंगे । वे निर्बल जो अपने न्यायोचित अधिकारों की रक्षा नहीं कर सकते, अपनी आत्मरक्षा में सफल नहीं होते, यदि शान्ति और क्षमा की रट लगाते हैं तो समझना चाहिए कि अपनी निर्बलता और कायरता छिपाने का एक थोथा बहाना ढूँढ़ते हैं । आततायियों से आत्मरक्षा करने के लिए, उसका कड़ा मुकाबला करने को धर्म ग्रन्थों और राजकीय कानूनों का समर्थन प्राप्त है ।

हमें अपनी दुर्गति को रोकना है तो बकरी की स्थिति से ऊँचा उठना होगा । किसी पर आक्रमण करने का, किसी को सताने का उद्देश्य कदापि न रखते हुए भी आत्मरक्षा के लिए हमें शक्तिसम्पन्न बनना चाहिए। आततायियों के आक्रमण का मुँहतोड़ उत्तर देने की क्षमता हमारे अन्दर जैसे-जैसे उत्पन्न होती जायगी वैसे ही वैसे अकारण सिर के ऊपर टूटते रहने वाले अनर्थों से छुटकारा मिलने लगेगा ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

अँग्रेजी की एक कहावत है कि "शक्ति का प्रदर्शन, शक्ति के प्रयोग को रोकता है ।" जिसके पास शक्ति होती है उसका प्रयोग बहुत कम करना पड़ता है, उसका परिचय पाकर ही दुष्ट लोग दहल जाते हैं और दुष्टता का दुस्साहस करने की हिम्मत नहीं पड़ती । पर जहाँ वह निधड़क होते हैं कि न तो हमारे आक्रमण का मुकाबला किया जायेगा और न पीछे कोई दण्ड मिलेगा वहाँ उनकी दुष्टता नंगे रूप में नाचने लगती है । ऐसी विषम स्थिति से बचने का एकमात्र उपाय शक्ति का परिचय देना ही है । बकरे की माँ कब तक दुआ माँगती रहेगी ? निर्बल की रक्षा बातूनी जमा खर्च से नहीं हो सकती ।

धन कमाने और धर्म चर्चा करने की ओर आज हमारे समाज की प्रवृत्तियाँ विशेष रूप से हैं, पर यह दोनों कार्य भी तब तक ठीक प्रकार नहीं हो सकते, जब तक अमनचैन का वातावरण न हो । अशान्त वातावरण का कारण शक्ति-सन्तुलन का बिगड़ जाना है । इसे ठीक किये बिना जीवन की कोई दिशा स्थिर नहीं रह सकती, आज समय का तकाजा है कि हम अपनी निर्बलता और कायरता को निकाल फेंकें । संगठन करें, शारीरिक बल बढ़ावें, आत्मरक्षा के लिए लाठी आदि की शिक्षा प्राप्त करें और मुसीबत के समय एक दूसरे की सहायता करते हुए आततायियों के आक्रमण को विफल बनाने की तैयारी करें। हम आत्म-रक्षा के साधनों से जब सुसज्जित हो जायेंगे तभी बकरी की स्थिति से छुटकारा पा सकेंगे । बाहर से और भीतर से होने वाले आक्रमण से बचने के लिए शक्ति-संचय के पथ पर अग्रसर होना चाहिए, तभी शान्ति स्थापित हो सकेगी ।

अंधी दौड़ धर्म की ओर मुड़े

बेरिक्र पास्तर नाक ने लिखा है-"भौतिकवाद की बढ़ोत्तरी हमें विश्वयुद्धों के खौलते कढ़ाव में तली तक जाने के लिए विवश कर रही है । हम न जाना चाहें तो भी उसके हाथ में जंजीर की वह कड़ी है, जो अनिच्छा की परवाह न करते हुए भी घसीटते ही ले चलेगी । असुरक्षा की जंजीरों में कसा हुआ हमारा अस्तित्व उस बन्दी की तरह है, जिसे मौत की प्रतीक्षा में कुछ साँसें और गिनने की छूट मिली हुई है ।"

इस भयावह स्थिति से त्राण पाने के लिए हमें पूरी परिस्थिति पर नये सिरे से विचार करना होगा । ऐसा विचार कर सकना गहरी अन्तर्दृष्टि के बिना और किसी आधार पर सम्भव नहीं हो सकता । सीधा-सा सवाल एक ही है कि मानवीय अस्तित्व और सभ्यता के जीवन-मरण का प्रश्न किस आधार पर हल किया जाय, क्या इन्हें भविष्य में भी जीवित रखा जाना है ? यदि हाँ, तो हमें सोचने के नये तरीके और चलने के नये रास्ते खोजने होंगे ।

विनाश की दिशा में अन्धी घुड़दौड़ में हम सब असहाय की तरह सम्मिलित हो गये हैं और जल्दी पहुँचने, बाजी मारने के लिए बेताब हो रहे हैं । कठिनाई यह है कि क्या इस घुड़दौड़ से वापिस लौट सकना हमारे लिए सम्भव रह भी गया है या नहीं । यदि मुड़ सकना या लौट सकना सम्भव है, तो वह रास्ता तलाश करना होगा, जिससे आदमी-आदमी के साथ सहयोग और सन्तोष पूर्वक रह सकें ।

अगर ऐसा कोई रास्ता ढूँढ़ा जा सके, तो वह होगा धर्म के साथ-साथ इन्सान का कदम मिलाकर चल सकना। यहाँ धर्म से मेरा मतलब मत-मतान्तरों से नहीं है, वरन् उस चेतना से है, जो जाग्रत और विवेकवान आत्माओं में पायी जाती है । यह चेतना ऐसी होगी, जो मौत के मरघट की तुलना में जीवन के आनन्द को तरजीह दे । जिस धर्म की यहाँ चर्चा हो रही है, वह आन्तरिक उत्कृष्टता और आदर्शवादिता से सम्बन्धित है । यदि ऐसे धर्म की उपयोगिता समझी जा सके, तो ढर्रे की लकीर पर चलने से नहीं वरन् आत्मा की पुकार के प्रकाश में ढूँढ़नी होगी । ऐसा धर्म भी नये सिरे से ढूँढ़ना और यदि मिल सके तो परिष्कृत करना होगा ।

हम मौत की ओर अँधी दौड़ में इसलिए दौड़ रहे हैं कि भौतिकवाद की बढ़ोत्तरी को हमने प्रिय समझा और पसन्द किया है । देखना यह है कि क्या इतनी सुविधा और समृद्धि की हमें सचमुच आवश्यकता है, जिसके लिए आत्मा बेचनी पड़े और यह भुला देना पड़े कि दूसरों को भी जीने का हक है । चतुर लोग समृद्धि को ढूँढ़ें और बढ़ायें, किन्तु साथ-साथ यह भी सोचें कि उसके उपार्जन से करोड़ों के सामने जीवन-मरण की समस्या तो खड़ी न होगी ।

क्या भौतिकवाद की बढ़ोत्तरी इस सीमा तक होनी चाहिए, जिसके लिए आदमी की जिन्दगी और सुख-शांति दाँव पर चढ़ानी पड़े । यदि पिछले दो महायुद्धों और आये दिन की छोटी-बड़ी लड़ाइयों से हमने कुछ सीखा हो, तो एक विराम चिह्न वहाँ लगाना चाहिए, जहाँ समर्थ लोग असीम सम्पदा के लिए बेतरह बेचैन हो रहे हैं ।

यदि किसी को चैन से रहने देने की इच्छा जगी हो, तो उसे हर एक से कहना चाहिए कि समता और संतोष के दिन वापिस लौटाये जाने चाहिए । यदि वे लौटेंगे, तो उसका रास्ता धर्म का यथार्थ स्वरूप ढूँढ़ना और अपनाना ही हो सकता है । ऐसा धर्म जो न्याय और औचित्य की कसौटी पर खरा सिद्ध होता हो ।

तर्क एवं श्रद्धा का समन्वित रूप-धर्म

पाश्चात्य जगत में धार्मिक मान्यताओं एवं तर्क में परस्पर टकराव देखा जा सकता है, लेकिन भारतीय दृष्टिकोण इस सम्बन्ध में भिन्न है । अँग्रेजी में जिसे 'फेथ' (Faith) कहकर पुकारा जाता है, अँग्रेजी शब्द 'रीजन'

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

(Reason) सामान्य भाषा में बुद्धि कहलाता है । पाश्चात्य संस्कृति में फेथ और रीजन में कई सदियों से संघर्ष चला आ रहा है । आर्य मान्यताएँ शाश्वत् हैं । वे बताती हैं कि श्रद्धा एवं बुद्धि के समन्वय में ही मानवता का कल्याण है । जब यह सम्बन्ध स्पष्ट होने लगता है तो व्यक्ति को दोनों की अभिन्नता, एक-दूसरे के बिना अपूर्णता का आभास होता है ।

धर्म श्रद्धा पर आधारित है और विज्ञान बुद्धि पर । यह पाश्चात्य दृष्टिकोण है । वहाँ ईसाई धर्म और वैज्ञानिकों में गत चार-पाँच सदियों से पारस्परिक द्वेष एवं टकराव की स्थिति देखी जा सकती है । वैज्ञनिक धर्म को चमत्कार और अन्धश्रद्धा मानते आये हैं और धार्मिक कहे जाने वाले वैज्ञानिकों को नास्तिक कहते आये हैं । यही नहीं धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों में भी जैसे-कैथोलिक, प्रोटेस्टेंट आदि में भिन्न-भिन्न मान्यताएँ होने के कारण संघर्ष होता चला आया है । मध्यकालीन युग में ईसाई तथा गैर-ईसाइयों के बीच कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट के बीच भी एक-दूसरों को सफाया कर देने वाले कट्टरतावादी धर्म युद्ध हुए हैं ।

धर्म के बारे में वैज्ञानिकों का ख्याल है कि धर्म-पुस्तकों में जो लिखा है उसे ही सत्य मानना, उसके बारे में कोई प्रश्न नहीं कर सकना, यह बात विज्ञान के मूलभूत सिद्धान्तों के विरुद्ध है । पाश्चात्य देशों में आरम्भ में धर्म सत्ता का ही बोलबाला था और वैज्ञानिकों के सत्यान्वेषण करने के लिए समर्पित हो जाने के लिए अटूट श्रद्धा को तोड़ने के लिए प्रयत्न किया गया । फलस्वरूप १९वीं शताब्दी के अन्त में पाश्चात्य विज्ञान का नाम बुद्धिवादी हुआ और धर्म का नाम अन्ध-श्रद्धालु, संकीर्ण एवं असहिष्णु हुआ, जिसका प्रभाव यह हुआ कि उसका दुष्परिणाम हम लोग भी भुगत रहे हैं ।

श्री रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द के सत्प्रयत्नों ने पश्चिम की धार्मिक मान्यताओं एवं भारतीय वैदिक आध्यात्मिक विचारधाराओं के बीच के अन्तर को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया ।

भारत में विज्ञान का विकास करना ही होगा, बुद्धि को तीक्ष्ण करना ही होगा, लेकिन भारत में विज्ञान और बुद्धि को आध्यात्मिक सिद्धान्तों से संघर्ष करने की कोई आवश्यकता नहीं है । शिक्षित वर्ग में आज यह आम मान्यता भरी हुई है कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास करेंगे, लेकिन धार्मिक मान्यताओं को दूर करेंगे । सौभाग्यवश पाश्चात्य सुप्रसिद्ध वैज्ञानिकों का झुकाव भारतीय अध्यात्म की ओर हुआ है तथा वे अध्यात्म और विज्ञान के संघर्ष से प्रसन्न नहीं हैं । साथ ही वे इसके समाधन के लिए प्रयत्नशील हैं । पाश्चात्य में भी धर्म के उच्च नेतागण भी अपनी धार्मिक मान्यताओं के बारे में बुद्धिगम्य और वैज्ञानिक आधार पर जोर दे रहे हैं । इसी तरह इन वैज्ञानिकों की संख्या भी बढ़ रही है । जिनका मत है कि मनुष्य को धर्म और श्रद्धा की आवश्यकता है । लेकिन पाश्चात्य जगत में ऐसा बुद्धिगम्य और विज्ञान पर आधारित अध्यात्म न पाने से पश्चिम में कई मान्य धार्मिक और वैज्ञानिक लोग भी भारतीय तत्त्वज्ञान की ओर आकृष्ट हुए हैं ।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक सर आर्थर एडिंग्टन के कथानुसार इस वैज्ञानिक युग में भी फेथ (श्रद्धा) का स्थान सर्वोच्च है। क्योंकि बुद्धि श्रद्धा का एक छोटा अंग है ।

अल्बर्ट आइन्सटीन के अनुसार भी धर्म और विज्ञान के क्षेत्र अलग-अलग होने पर भी इन दोनों के बीच परस्पर आदान-प्रदान करने की बड़ी क्षमता है । धर्म विज्ञान से बहुत कुछ पाता है, लेकिन धर्म ने मानवी जीवन का जो लक्ष्य दिया है उसकी ओर बढ़ना विज्ञान के लिए बाकी है । विज्ञान को सत्य एवं विवेक का अन्वेषण करना होगा । भावनाओं का स्रोत धर्म है । आइन्स्टाइन के मतानुसार मौलिक वैज्ञानिक वही है जिसको पूर्ण श्रद्धा है। धर्म के सिवा विज्ञान पंगु है और विज्ञान के सिवा धर्म अन्धा है ।

आज के युग में आम आदमी मनहूस मनोवृत्ति वाला हो गया है। जिसकी स्थिति यह है कि हर वस्तु की बाजारू कीमत तो जानता है, परन्तु किसी को उपयुक्त नहीं समझता । वैज्ञानिक मनहूस तो नहीं है, लेकिन उनमें श्रद्धा भी कम हुआ करती है । उनको अपने कार्य से ही मतलब रहता है । अन्य क्षेत्रों के प्रति प्रायः उदासीन जैसा रहता है ।

बकर्ले विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध भौतिकविद् प्रोफेसर फिटजाफ काप्रा के कथानुसार-वैज्ञानिक अनुसंधान में बौद्धिक तीक्ष्णता एवं बौद्धिक प्रक्रियाएँ ही मुख्य हुआ करती हैं, लेकिन इतना ही पर्याप्त नहीं है । अगर बुद्धि के साथ अन्तःप्रेरणा का सहयोग नहीं हो सके तो अनुसंधान प्रक्रिया पूरी नहीं हो पाती । ये अन्तःप्रेरणाएँ प्रयोगशाला के टेबुल पर नहीं आती हैं, वे आती हैं प्रायः नैसर्गिक वातावरण में-जबकि वैज्ञानिक घने जंगलों में घूम रहा हो या समुद्र के ज्वार-भाटे को मन्त्रमुग्ध की भाँति देख रहा हो या शान्तचित्त होता है । इसी के सहारे मन में अपने कार्यक्षेत्र की विभिन्न परिकल्पनाएँ उठती रहती हैं तथा वह किसी अगम्य सत्ता से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता है । वैज्ञानिक कहता है कि इतना मैं जानता हूँ पर इसके आगे क्या है, मैं नहीं जानता, लेकिन आगे कुछ अवश्य है, जिसे अनुभव करता हूँ । यहीं से श्रद्धा शुरू होती है । अध्यात्म विज्ञान में श्रद्धा उसी को कहते हैं जिसमें अनजान तथ्य के प्रति सम्मानित मनःस्थिति होती है । जो इन्द्रियातीत है, वही श्रद्धा है । सामान्य ख्याल है कि शून्य आकाश खाली है लेकिन विज्ञान के आधुनिक आविष्कार दर्शाते हैं कि शून्य आकाश में अगणित कण विद्यमान हैं जिनकी उत्पत्ति और लय निरन्तर हुआ करती है । आधुनिक भौतिक विज्ञान तथा भारतीय तत्त्व-दर्शन यहाँ अति सान्निध्यता प्रकट करते हैं ।

छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार ये समस्त दुनिया बहुत ही सूक्ष्म कणों की बनी हुई है, यही सत्य है । यही बात अन्यान्य उपनिषद् सन्दर्भों में भी प्रकट हुई है ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

श्री रामकृष्ण परमहंस के कथनानुसार चेतना के दिव्य महासागर जिसको 'ज्योतिसार ज्योति' अथवा सच्चिदानन्द नाम से पुकारा गया है, का रसास्वादन करने के लिए दो मार्ग हैं । प्रथम है सगुण उपासना तथा निर्गुण उपासना । श्रद्धावान साधक अपने मनोराज्य में आरोपित भावनाओं से जिस तत्त्व की अनुभूति करता है । उसी तत्त्व के विभिन्न स्वरूप की अनुभूति बुद्धि से भी हो सकती है । 'एकम् सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' सत्य एक ही है, विद्वतजन उसका विभिन्न स्वरूपों में दर्शन करते हैं । इसी दर्शन के कारण भारत में चार्वाक जैसे ईश्वर को इंकार करने वाले, सांख्य, जैन, बौद्ध आदि अर्द्धईश्वरवादी एवं अनेक देववाद को मानने वाले, विभिन्न विचार-धाराओं वाले व्यक्ति के बीच भी अनन्योश्रित प्रेम और आदर पाया जाता है । ठीक इसी तरह विज्ञान की चरम सीमा तक पहुँचने वाले मनीषी भारतीय तत्त्वज्ञान में अपने ही मत का समर्थन अपने ही तौर-तरीके से दर्शन कर सकते हैं ।

अणुविद् वैज्ञानिक एर्विन स्त्रण्डिगर अपनी पुस्तक "जीवन क्या है ?" में लिखते हैं कि चेतन तत्त्व की अनुभूति विभिन्न देशकाल में भिन्न-भिन्न लोगों ने एक ही स्वरूप में की है । कहीं-कहीं इनमें भिन्नता भी पायी जाती है तो इसका एक ही कारण है कि तथ्य एक होने पर उसकी सजावट के साधन भिन्न हो सकते हैं ।

आधुनिक भौतिकविद् दुनिया को बुद्धियुक्त मन से देखता है, जबकि रहस्यवादी आध्यात्मिक सन्त अपने अन्तर्मन से देखता है । दोनों का गन्तव्य स्थान एक ही होने पर भी ऐसा लगता है कि दृश्य भिन्न-भिन्न हैं अगर दोनों अपने लक्ष्य के अन्त तक पहुँच जाएँ तो एक ही दृश्य नजर आयेगा ।

परम्पराओं में घुसी हुई अवांछनीयता

विज्ञान ने अपनी प्रामाणिकता अर्जित की है । इसका कारण यह रहा है कि उसने स्वतंत्र चिन्तन का सहारा लिया । पिछले लोग क्या कहते हैं और क्या करते रहे हैं इस ओर उसने तनिक भी ध्यान नहीं दिया । सदा एक ही दृष्टि रखी कि अधिक सुविधा प्राप्त करने के लिए, अधिक सोच विचार करने और अधिक पुरुषार्थ करने से पीछे न हटा जाय । सत्य को आधार माना जाय । आज जो बात जिस रूप में समझी गई है, उसे भविष्य में भी उसी रूप में मानते रहने का अनुग्रह न लिया जाय । यही कारण है कि अन्वेषणकर्त्ताओं ने जिस आविष्कार को, सिद्धान्त को आरम्भ में जिस रूप में उपलब्ध किया उसे सदा उसी रूप में मानते रहने के लिए हठ नहीं किया । आरम्भ में सभी आविष्कृत यंत्र अनगढ़ स्तर के थे । उनसे इतनी आशा भर बँधती थी कि यदि प्रयत्न जारी रखा जाय, सुधार करते रहा जाय तो वह दिन भी आवेगा जब अधिक अच्छी स्थिति उपलब्ध की जा सके, अधिक बड़ी सफलता प्राप्त हो सके।

तनिक भी सफलता प्राप्त कर लेने पर यदि उसे पूर्ण मान लिया गया होता । उतने भर को ही सब कुछ समझकर रह गया होता तो प्रगति का द्वार बंद हो जाता । जितना कुछ हाथ लगा था उसी पर संतोष करके जहाँ का तहाँ अड़े रह गया होता । अपने को अल्पज्ञ मानना और अधिक स्पष्ट सत्य तक पहुँचने के लिए प्रसन्नरत रहना । यही दो विशेषताएँ ऐसी हैं जिन्होंने विज्ञान को प्रगतिपथ पर आगे बढ़ने का अवसर भी दिया और साथ ही उसे यथार्थवादी, तथ्यान्वेषी समझकर सार्वभौम सम्मान भी दिया । जिस वर्ग या क्षेत्र का आविष्कर्ता रहा हो उतने ही क्षेत्र में उसे मान्यता मिली हो ऐसी बात नहीं । सत्य का स्वरूप ही ऐसा होता है कि जिसे अनेकानेक कसौटियों पर कसे जाने के लिए सदा कष्ट सहना पड़ता है । दुराग्रह के लिए उस क्षेत्र में तनिक भी गुंजाइश नहीं है ।

विज्ञान की प्रामाणिकता पर उँगली नहीं उठ सकती । जिस सिद्धान्त पर जापान में बिजली बनती है उसी पर जर्मनी में भी । जो व्याख्याएँ-विवेचनाएँ की जाती हैं, उस पर किसी का न तो पक्षपात होता है न आग्रह । यदि भविष्य में किसी सुधार-संशोधन की गुंजायश दीखती है तो बालक का कथन भी वयोवृद्धों की तुलना में अधिक महत्व प्राप्त करता है । उसे माना भी जाता है और अपनाया भी । पुरातन मान्यताएँ कुछ भी क्यों न रहीं हों जब उनमें त्रुटि प्रतीत हुई तो उस वर्ग में नये तथ्यों को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार किया गया । कभी पृथ्वी को स्थिर माना जाता था। पर पीछे जब उसके गतिशील होने का पता चला तो प्रमाणों की साक्षी सर्वत्र स्वीकार की गयी । किसी ने भी पूर्व मान्यताओं का पक्षधर होने की दुहाई नहीं दी, न पूर्ववर्ती प्रतिपादकों को झूठा ठहराया गया । केवल इतना ही समझा गया कि पुरातन पर्यवेक्षकों की दृष्टि में जो तथ्य थे वे उनके आधार पर वे पृथ्वी का स्थिर होना ही सही मानते थे । इसलिए उनकी नीयत पर किसी प्रकार का हमला नहीं किया गया । मात्र इतना कहकर ही बात समाप्त कर दी कि हम सभी सत्य के अन्वेषक हैं । यात्रा में क्रमशः आगे बढ़ा जाता है । इसमें जो कदम भूतकाल में उठ चुके उनका तिरस्कार नहीं किया जाता । वर्तमान में जहाँ गति हो रही है उसे अधिक तत्परता के साथ परखा जाता है । यदि कहीं कोई संदेह हो तो सुधार लिया जाता है । साथ ही यह आशा रखी जाती है कि भविष्य में और भी अधिक प्रामाणिक तथ्य हस्तगत हो सकते हैं । ऐसी दशा में आज की मान्यता को छोड़ने का कोई दुराग्रह नहीं करेगा वरन् नया संशोधित सही सिद्ध हुआ है, उसे बिना हिचक के अपना लिया जायेगा । वैज्ञानिक प्रगति का सिलसिला इसी आधार पर चलता रहा है और जब तक प्रस्तुत आधार को स्वीकारा जाता रहेगा, तब तक उसकी प्रगति निरन्तर होती रहेगी । हमें सत्य का दावेदार नहीं होना चाहिए वरन् उसकी खोज में निरत पथिक भर मानना चाहिए ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

विज्ञान उपर्युक्त आधार अपनाकर तथ्यान्वेषी के रूप में अपनी प्रामाणिकता प्राप्त कर चुका है । जो अधूरापन रह गया है वह यह है कि नीतिमत्ता के प्रति उसका सही आग्रह नहीं रहा । फलतः उसकी आवाज आधी-अधूरी रह गई । वह ज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश न कर सका । औचित्य के समर्थन में अपनी निष्ठा नियोजित न कर सका । इसलिए उसे भौतिक दृष्टि से सफल और आध्यात्मिक दृष्टि से असफल माना जा रहा है । यही इसकी अपूर्णता है ।

वैज्ञानिक उपलब्धियों ने सुविधाओं का संवर्द्धन तो किया पर उनका बँटवारा न्यायोचित ढंग से हो सके इसके लिए प्रयत्न नहीं किया गया । सम्पन्न और चतुर लोगों ने वैज्ञानिक उपलब्धियों का अनुचित प्रयोजनों के लिए उपयोग किया । अतएव वे समर्थ से अधिक समर्थ, सुखी से अधिक सुखी बनते गए । दूसरी ओर जिनकी समर्थता चतुरता कम थी वे घाटे में रहे । उन्हें गरीब और पिछड़ा बनना पड़ा । विज्ञान ने अपने आपको न्याय एवं औचित्य का पक्षधर नहीं बनाया । इस दृष्टि से उसकी प्रामाणिकता अधूरी रह गई इसके साथ पवित्रता न जुड़ सकी । यही वह त्रुटि है जिसके कारण भौतिकवादियों की वैज्ञानिक उपलब्धियों को कोसा जाता है ।

प्रस्तुत परिस्थिति में इस अभाव की पूर्ति 'ज्ञान' को करनी होगी । विज्ञान यदि अपने को पदार्थजन्य सुविधा तक सीमित रखता है तो उसका अधूरा काम 'ज्ञान' को अपने कंधे पर लेना चाहिए । पर यह ठीक तरह बन तभी पड़ेगा, जब विज्ञान की मूल प्रवृत्ति तथ्यान्वेषी होने के रूप में अपनाया जाय ।

ज्ञान पक्ष ने मनुष्य को बहुत कुछ दिया है । चिन्तन, चरित्र, रुझान, व्यवहार की दृष्टि से मनुष्य समाज की शानदार सेवा करने का उसका दावा है । समाज को सुगठित करने की दृष्टि से भी उसके प्रयासों ने कारगर योगदान दिया है ।

ज्ञान का अभिप्राय है-चेतना की दिशाधारा का सही निर्धारण। जानने को हम बहुत-सी बातें जानते और मानने को अनेकानेक मान्यताएँ अपनाते हैं । पर उनमें से कितनी उपयोगी, तथ्यसंगत एवं परिणाम में सुखद हैं इसका विवेचन कदाचित ही कभी करते हैं। चिरकाल से प्रचलित अवधारणाएँ परम्परा कहलाती हैं । इन दिनों जो कुछ बहुत लोगों द्वारा किया, माना जाता, अपनाया जाता है उसे प्रचलन कहते हैं । परम्पराओं और प्रचलनों के दो पहियों पर अपनी जीवनक्रम की गाड़ी लुढ़क रही है । उसमें विचारशील दूरदर्शिता की धुरी है ही नहीं । ऐसी दशा में यही कहा जा सकता है कि बुद्धिमत्ता की मानवीय विशेषता का परित्याग करते हम प्रवाह में बहने वाले कूड़े-कचरे की तरह उधर बहे जा रहे हैं जहाँ नियति हमें घसीटती-धकेलती लिए जा रही है ।

उदाहरण के लिए जाति-पाँति के आधार पर उत्पन्न हुए विलगाव और ऊँच-नीच के भाव को लिया जा सकता है । कभी व्यवसायों के आधार पर वर्ण बनते थे जो जिस कार्यपद्धति को अपनाता था उसे उस उद्योग में निष्णात रहने के लिए एक परम्परा बना दी जाती थी कि उस परिवार के लोग उसी प्रयास में निरत रहकर अमुक प्रकार का उत्पादन बढ़ाएँ । इससे उत्पादकों और उपभोक्ताओं का संख्या संतुलन बना रहता था । बेकारी जैसी समस्या सामने न आती थी । पैतृक धंधा चलाते रहने का प्रचलन रहने पर नया धंधा ढूँढ़ने और नये सिरे से सीखने, साधन जुटाने की आवश्यकता न पड़ती थी । यही जाति-पाँति का प्रमुख आधार था । उसके साथ ऊँच-नीच का कोई भेदभाव नहीं था । अभी भी एक व्यवसाय वाले दूसरे व्यवसाय वालों के साथ घनिष्टता रखते और आदान-प्रदान करते हैं । किसान, अध्यापक, व्यापारी, शिल्पी, चिकित्सक आदि वर्गों में से कोई किसी को ऊँच-नीच नहीं मानता और न अपने मन का दायरा संकुचित करके उस छोटे समुदाय को ही अपनों में गिनता है । उत्पन्न आयोजनों में सभी वर्गों के प्रियजन बुलाए जाते हैं । यही उचित भी है और यही उपयोगी भी । इस संदर्भ में इस विकृति का प्रवेश हो गया कि जन्म से जाति मानी जाती रही । उसमें भी शाखा-प्रशाखा के रूप में अनेकानेक उपजातियों का उद्भव हो गया । इतना ही नहीं इन वर्गों ने अपने-अपने को श्रेष्ठ और दूसरों को निकृष्ट बताना शुरू कर दिया । बात कहने तक ही सीमित न रही वरन् उसके साथ और भी कितने ही अवांछनीय तत्त्व जुड़े । विवाह शादियों के लिए अपने ही वर्ग की सीमा रेखा खींच ली गई । फलतः छोटे-छोटे वर्गों में अच्छे स्तर के वर-वधू ढूँढ़ना कठिन हो गया । सुसंस्कृत परिवारों में तो सुयोग्य लड़की-लड़के मिल ही जाते हैं पर जिनकी स्थिति पिछड़ी हुई है उस समुदाय में अच्छे लड़के मिल सकना कठिन हो गया । दहेज की माँग इसी आधार पर बढ़ी । यदि ढूँढ़ खोज के लिए बड़ा वर्ग या समुदाय रहा होता तो न उपयुक्त जोड़ें मिलाने के लिए इतनी भागदौड़ करनी पड़ती और न दहेज माँगने या दिये जाने का रिवाज चलता ।

उत्सवों-आयोजनों में, ब्याह, बारात या मृतक संस्कार आदि में जब प्रधानतः अपने ही वर्ग के लोग आते हैं तो उनके प्रति संकीर्ण आत्मभाव भी बढ़ना स्वाभाविक है। ऐसी दशा में उनके साथ पक्षपात भी चलता है । कुछ को पक्षपात का विषय बनाया जाय तो शेष के साथ उपेक्षा बरतने की बात भी चल पड़ती है । ऊँच-नीच का भाव रहने पर कुछ के साथ घनिष्टता और कुछ के साथ परायेपन का भाव भी पकता है । बीमारी, विवाह-शादी या व्यावहारिक पक्षपात तक ही सीमित नहीं रहती । बात आगे बढ़कर राजनीति में भी प्रवेश करती है और वोट माँगने देने में अपनी बिरादरी को प्रमुखता देने का सिलसिला चल पड़ता है, इससे विषबेल और भी गहरी जमती तथा फैलती देखी जाती है । भारतीय समाज संगठनों में भारी दोष यह है कि वह जाति-पाँति के आधार पर विभाजित हो गया है । समग्र संगठन की एकात्मता

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

छिन्न-भिन्न हो गई है । विदेशी अतिक्रमणों की सफलताओं का प्रमुख कारण यही रहा है कि प्रतिरोध की सम्मिलित शक्ति विकसित न हो सकी । अभी भी सामान्य व्यवहार में भी किसी छोटे गाँव तक को एक गाँव के रूप में गिनते नहीं बन पड़ता वरन् उसमें रहने वाली बिरादरियों को अलग-अलग छाँटकर लेखा-जोखा लेना पड़ता है । सभी के रस्म-रिवाज अलग-अलग हैं । किन्हीं जातियों में बाल-विवाह, विधवा-विवाह, घूँघट-पर्दा आदि का रिवाज है किन्हीं में नहीं । किन्हीं जातियों से लड़की के बदले दहेज माँगा जाता है । किन्हीं में लड़के के बदले । इसी प्रकार जातियों के हिसाब से अनेकानेक विभेदों का अन्तर दीख पड़ता है । जब तक देश विशृंखलित रहे, तब तक अनुसूचित जातियों, जनजातियों का विकास उतनी अच्छी तरह उतनी जल्दी न हो सकेगा, जितना कि होना चाहिए । जिस प्रकार आधा जन-समुदाय स्त्रियों को प्रतिबंधित कर देने से लुंज-पुंज हो गया है, ठीक उसी प्रकार छोटी समझी जाने वाली जातियों में मानसिक हीनता इस गहराई तक घुस गई कि वे सरकारी अनुदानों से लाभ उठाने तक के लिए उद्धत नहीं होते । शिक्षा की उपयोगिता, आवश्यकता तक स्वीकार नहीं करते । अनेक सुविधाओं का लालच देकर उन्हें पढ़ने, निश्चित उद्योगों में लगने तथा समूचे समाज में घुल-मिलकर रहने के लिए परामर्श दिया जाता है तो उसे अनमने मन से ही सुनते हैं । उसे अपनाने में तो उत्साह कदाचित ही दिखाते हैं ।

मनुष्य एक जाति है । किसी जाति या क्षेत्र में रहने से उसे पृथक् नहीं किया जा सकता, किन्तु मध्यकालीन परम्पराओं ने इस अनहोनी को होनी करके दिखा दिया है । पढ़े और बिना पढ़े सभी इस चपेट में हैं । सवर्णों की तरह असवर्णों में भी परस्पर भेदभाव कम नहीं है । सवर्णों, सवर्णों के बीच और असवर्ण, असवर्ण भी इस जन्मजात पृथकता और ऊँच-नीच की भावना से ग्रस्त देखे जाते हैं । इसे अज्ञान के अतिरिक्त और क्या कहा जाय ? ज्ञान के सामने चुनौती है कि वह इस व्यापक अन्धकार से निपटने के लिए अपने सभी प्रचार साधनों का उपयोग करें और मनुष्य को बाधित करें कि जो अवांछनीयताएँ उसने पकड़-जकड़ रखी हैं उनसे छूटने का वैसा ही प्रयत्न करे जैसा कि कीचड़ से सन जाने पर अंगों को धोने, साफ करने के लिए किया जाता है ।

बिना सद्ज्ञान के अधूरा है भौतिक ज्ञान

सृष्टि की संरचना जड़-चेतन के संयोग से हुई है । प्रकृति जड़ है, पर उसमें जो गति है, शक्ति है उसका कारण चेतन तत्त्व है । चेतना की ही सर्वत्र हलचल है तथा जीवधारियों में जीवन तत्त्व ही विभिन्न रूपों में क्रीड़ा-कल्लोल कर रहा है । विज्ञान जड़ प्रकृति की खोज करता है। नये-नये रहस्यों का उद्घाटन करता है । अध्यात्म का क्षेत्र चेतना है । उसकी खोज सृष्टि के आदि कारणों की ओर चलती है, जबकि विज्ञान बाह्य जगत से अपना कार्य आरम्भ करता है । ज्ञान की दोनों ही धाराएँ यदि परस्पर पूरक बनकर कार्य करें तो सृष्टि के रहस्यों को, उसमें क्रियाशील चेतना को समझने में विशेष मदद मिल सकती है और साथ ही संसार की अगणित समस्याओं को सुलझाने में भी सहयोग मिल सकता है ।

प्राचीनकाल में ज्ञान की दोनों ही धाराएँ-तत्त्वज्ञान और भौतिक विज्ञान परस्पर सम्बद्ध थीं जिसे एक समग्र ज्ञान-अध्यात्म विज्ञान के नाम से जाना जाता था। ऋषिकाल में सब कुछ सन्तुलित-सुव्यवस्थित था, परिस्थितियाँ आज जैसी जटिल नहीं थीं । न साधना की कमी थी और न ही महान् उत्कृष्टतासम्पन्न व्यक्तित्वों की। पर कालान्तर ज्ञान की दोनों ही धाराएँ एक-दूसरों से कटकर अलग हो गयीं, अपनी ढपली आप बजाने लगीं । अपना राग आप अलापने लगीं । इस विलगाव ने ही संसार में अगणित समस्याएँ पैदा की हैं ।

ज्ञानी, तत्त्वज्ञानी और वैज्ञानिक-मनीषी कहलाने का एकमात्र सौभाग्य मनुष्य को प्राप्त है, परन्तु मनुष्य जाति के सभी सदस्य ज्ञानेन्द्रियों का, साधनों का सम्यक् प्रयोग करते हुए भी वस्तुतः वैज्ञानिक नहीं हैं । लाखों में से कठिनता से दो चार निकलेंगे जिन्हें सही अर्थों में वैज्ञानिक कहा जा सकता है। ज्ञानेन्द्रियों के सहयोग से कुछ अनुभूतियाँ प्राप्त कर लेने का नाम ज्ञान नहीं है, न ही दर्शनों के अनुशीलन का नाम दर्शन । ऋषि, दार्शनिक, वैज्ञानिक या तत्त्ववेत्ता वस्तुतः वही है जो सृष्टि के सौन्दर्य से, उसके भीतर बाहर की व्यवस्था से परिचित होने का प्रयास करे, भीतर निहित गुह्यविद्या को जानने का प्रयास करे तथा कला व्यवस्था के निमित्त कारण-परम कलाकार-नियामक सत्ता से हमारा परिचय कराये । जिस सृष्टि में मनुष्य रहता है वह प्रत्येक आयाम में महान् है । सृष्टि में भी महान् वह कला है जो कि उसे सौन्दर्य प्रदान करती है और इस कला से भी महान् वह कलाकार है जिसने प्रकृति के उपादान तत्त्वों पर उस श्रेष्ठतम रचना की अभिव्यक्ति की है । वैज्ञानिक एवं ऋषि की आस्था इसी प्रकार की आस्तिकता में होती है । प्राचीनकाल में ऋषि तथा आज के वैज्ञानिक इसी आस्था का अवलम्बन लेकर नये-नये रहस्यों का उद्घाटन करते आ रहे हैं ।

ऋषियों और वैज्ञानिकों में समानता यह है कि दोनों की ही खोज जिज्ञासा से अभिप्रेरित होती रही है । एक पिण्ड और ब्रह्माण्ड के मूलतत्त्व की खोज करता है, तो दूसरा सृष्टि के रहस्यों के उद्घाटन में अपने को खपा देता है । वैज्ञानिक अपने सीमित साधनों एवं ज्ञान के सहारे सृष्टि के विशद् अध्ययन की यात्रा सम्पन्न करता है । सृष्टि भी उसकी तपस्या और आस्था पर मुग्ध होकर धीरे-धीरे अपने समस्त गुह्य रहस्यों को वैज्ञानिक के समक्ष अभिव्यक्त करने लगती है । हिरण्यमय पात्र से ढका हुआ सत्य भी

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

अपने सही रूप में अनावृत्त होकर वैज्ञानिक के सामने प्रकट होने लगता है । वैज्ञानिक जगत में जितने भी आविष्कार हुए हैं उसके पीछे विचित्र संयोग भी जुड़े हुए हैं । प्रकृति का किसी न किसी रूप में उनमें परोक्ष सहयोग रहा है । ऋषियों ने अपनी खोज भीतर से आरम्भ की । अपनी तपस्या तथा अविचल निष्ठा-आस्था द्वारा इन रहस्यों का साक्षात्कार किया । वे विज्ञान परम्परा के आदि-जनक थे । उसी ऋषि परम्परा में आज के वैज्ञानिक भी सृष्टि सम्बन्धी जिज्ञासाओं के समाधान में लगे हुए हैं ।

विज्ञान के माध्यम से जो जानकारियाँ मिली हैं उनसे अणु और महान्, सूक्ष्म और विराट् की दोनों ही दिशाओं में परमात्मसत्ता के विराट् भाव का कुछ आभास कराती हैं। परमाणु के सूक्ष्मतम् स्वरूप की नयी-नयी जानकारियाँ मिलती जा रही हैं। एक बदलती है तो दूसरी मान्यता स्थापनापन्न बनती है। सूक्ष्मता की ओर खोज जारी है। उसका अन्त कहाँ होगा, यह किसी को मालूम नहीं। विराट् की ओर अत्यधिक आधुनिक यन्त्रों के माध्यम से देखने का प्रयास किया गया। उस खोज का भी कोई सुनिश्चित अन्त दिखायी नहीं पड़ता। लगता है अगले दिनों विज्ञान को भी ऋषियों की भाँति उद्घोष करना पड़ेगा "अणोरणीयान् महतोमहीयान्।" "वह अणु से भी विराट् है, महान् से भी महानतम है।"

समय के साथ विज्ञान की सूक्ष्मता अब अत्यन्त आगे बढ़ चुकी है। एक सेकण्ड के समय मापन को अब बहुत स्थूल माना जाता है। ऐसे यन्त्र बन चुके हैं जिनसे एक सेकण्ड के एक लाखवें भाग जैसे अल्पकाल को भी मापा जा सकता है। द्रव्य के ऐसे सूक्ष्म कणों की जानकारी मिल चुकी है जिनका जीवनकाल १०-१२ से १०-३० सेकिण्ड की माप के बीच है-अर्थात् एक सेकिण्ड का वह सूक्ष्म भाग जिस पर १० के अंक पर २० से ३० बिन्दु तक होवें। एण्टीयूनीवर्स-एण्टीमैटर-एण्टीमैन की एक अति सूक्ष्म पर अत्यन्त सामर्थ्यवान दुनिया हाथ लगने वाली है।

खगोलशास्त्री धरती पर बैठे हुए सुदूर स्थित ग्रह नक्षत्रों की-ज्योतिर्पिण्डों का परिचय प्राप्त कर रहे हैं। उनमें से कितने ऐसे हैं जिनका प्रकाश पृथ्वी पर आने में वर्षों लग जाते हैं। वैज्ञानिक धरती की आयु अधिक से अधिक दो से चार अरब वर्ष मानते हैं, पर ऐसे अगणित सृष्टि पिण्डों का परिचय मिला है जिनकी आयु खरबों वर्ष से भी अधिक है। अपने सौरमण्डल में एक सूर्य, एक चन्द्रमा है पर ऐसी सम्भावना है कि ब्रह्माण्ड में इनसे भी बड़े और प्रकाशवान अगणित सूर्य, चन्द्र जैसे पिण्ड मौजूद हैं।

पृथ्वी का द्रव्यमान दस खरब का ६६०० गुना टन है। उस वजन की मात्र कल्पना की जा सकती है। सौरमण्डल के अन्य ग्रह हैं। सूर्य उनमें सबसे विशाल है। वह पृथ्वी के दस अरब गुना ६६०० अरब टन द्रव्यमान से भी ३,३०००० गुणा भारी है। अपनी आकाशगंगा में कम से कम दस अरब सूर्य हैं जिनमें से औसतन प्रत्येक सूर्य का आकार एवं भार अपने सूर्य से अधिक है। ज्योतिर्विदों का मत है कि इस आकाशगंगा जैसी कम से कम एक लाख आकाशगंगाएँ इस ब्रह्माण्ड में हैं। उनमें अपनी पृथ्वी सूर्य और चन्द्रमा जैसे कितने पिण्ड होंगे, उनका कितना अधिक भार होगा, यह सोचकर ही मानव मन हतप्रभ हो जाता है और विराट् की एक झाँकी उसे दिखायी देने लगती है।

लेकिन इन्द्रियों और यन्त्रों की पकड़ में आने वाला यह गोचर जगत का अंश थोड़ा है। इसकी तुलना में अगोचर-इन्द्रियातीत का क्षेत्र वृहद है, पर दोनों ही एक दूसरे से परस्पर सम्बद्ध हैं तथा एक-दूसरे को प्रभावित भी करते हैं। दृश्य जगत पर अदृश्य की प्रतिक्रियाएँ होती देखी जाती हैं। इससे अदृश्य जगत की सत्ता तथा उसकी सामर्थ्य का बोध होता है। उदाहरणार्थ, एक्स किरणें आँखों को दिखायी नहीं पड़तीं। अल्ट्रावायलेट, इन्फ्रारेज, कॉस्मिक रेज आदि की भी यही स्थिति है। पर जब वे अनुकूल पर्दों पर पड़ती हैं तो फ्लोरेन्स उत्पन्न करती हैं, जो इन्द्रियगम्य है, जिसे देखकर एक्सरे की प्रतीत होती है। विद्युतधारा दिखायी नहीं पड़ती पर उसका परिचय बल्ब जलने, पंखा चलने, हीटर के गरम होने आदि के रूप में होता है ।

उल्लेखनीय बात यह है कि प्रत्यक्ष की तुलना में परोक्ष जगत अद्भुत और विलक्षण ही नहीं है, बल्कि अधिक मूल्यवान और सामर्थ्यवान भी है । जैसे-जैसे परोक्ष से परिचय बढ़ेगा, नयी-नयी महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हाथ आती जायेंगी, पर उनका सदुपयोग मानव तभी कर सकेगा जब उसमें सद्ज्ञान का, सद्विवेक का प्रादुर्भाव होगा । ज्ञान के विस्तार से मनुष्य का कल्याण भी हो सकता है और विनाश का मार्ग भी प्रशस्त हो सकता है । परमाणु बम भी बन सकते हैं और परमाणु संचालित ऊर्जा स्टेशन भी चल सकते हैं । पर ज्ञान पर विवेक का अंकुश लग जाने से दुरुपयोग की सम्भावना नहीं रहती । वह विवेक मानव मस्तिष्क में विद्यमान है जो विशुद्ध रूप से परमात्मा की देन है । विवेक ने ही सृजन की अगणित सम्भावनाओं को साकार किया है । उसके जागरण से ही मानव जाति का कल्याण होगा ।

परिकल्पना तर्क पर आधारित हो तथा उनसे निकले निष्कर्ष मुक्ति युक्त हों तो वे सर्वग्राही बन जाती हैं जिन्हें वैज्ञानिकों एवं दर्शनशास्त्रियों दोनों ही को स्वीकार करना पड़ता है । आइन्सटीन की रिलेटविटीथ्योरी लॉजिक की दृष्टि से खरी उतरती है । वैज्ञानिक विधि में सरफ्रांसिस बेकन का आगमनिक तर्क (इंडक्टिव लॉजिक) तथा अरस्तू का निगमनिक तर्क (डिडक्टिव लॉजिक) मान्यता प्राप्त है । ये उदाहरण बताते हैं कि हाइपोथीसिस बनाने हेतु कोई सशक्त आधार हो तो किसी विवेकशील को उसे स्वीकार करने में कोई अड़चन नहीं ।

सिद्धान्त, मत या वाद भी वस्तुतः युक्तिपूर्ण परिकल्पनाएँ होती हैं जो निश्चित प्रकार के नियमों की व्याख्या करती हैं । वर्तमान भौतिक जगत के प्रमुख प्रचलित सिद्धान्त हैं-काइनेटिक मौलिक्यूलर थ्यौरी, एटामिक थ्यौरी, थ्यौरी ऑफ इवॉल्यूशन, थ्यौरी ऑफ

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

रिलेटिविटी, क्वाण्टम थ्यौरी, थ्यौरी ऑफ यूनीफिकेशन ऑफ फोर्सेस । विज्ञान क्रमशः नवीन खोजों एवं परिकल्पनाओं द्वारा व्यवस्थित ज्ञान की ओर बढ़ रहा है, पर उसका प्रयास एकाकी और अपूर्ण है । उसकी विचारधारा जड़वादी है । उसमें प्रेम, करुणा जैसी संवेदनाओं का कोई स्थान नहीं है । जड़वादी विचारधारा में भलाई-बुराई का कोई स्थान नहीं है । यही कारण है संसार में विज्ञान के बदले प्रभाव के साथ-साथ मानवीय गरिमा को सार्थक करने वाली उच्चस्तरीय भावनाएँ भी कम होती जा रही हैं । "पेड़-पादपों की तरह जीवन का भी अन्त सुनिश्चित है, भलाई-बुराई का कोई अर्थ नहीं है।" ये मान्यताएँ बनी रहीं तो किसी दिन कोई सिर-फिरा घातक परमाणु बमों से इस खूबसूरत संसार को यह सोचकर भी नष्ट कर सकता है कि एक न एक दिन तो समस्त जीवधारियों का अवसान होना ही है तो इस कृत्य में हर्ज ही क्या है ?

विज्ञान की उपलब्धियाँ निश्चित ही महत्त्वपूर्ण हैं । उसकी खोजें भी अद्वितीय हैं, पर उसकी सीमाएँ हैं । जड़ प्रकृति के सीमित रहस्यों को ही वह जान सकता है पर उसकी चमत्कारी सामर्थ्य की व्याख्या करने में यह असमर्थ है ? विज्ञान यह बता सकने में अक्षम है कि ग्रह-नक्षत्र, आकाशगंगा आदि की सुव्यवस्थित गति का कारण क्या है? वह 'क्या' की व्याख्या कर सकता है, 'क्यों' की नहीं । विज्ञान यह तो बता सकता है कि भौतिक सृष्टि कैसे बनती है, विभीषिकाएँ कैसे आती हैं ? पर यह नहीं बता सकता है कि द्रव्य और ऊर्जा कहाँ से आए तथा विश्व की रचना इतनी सुव्यवस्थित कैसे हो गयी ? निश्चित ही इन प्रश्नों का हल भौतिक विज्ञान के आधार पर नहीं पाया जा सकता है ।

स्टैनफोर्ड विश्वविद्यालय के बायोफिजिक्स के प्रोफेसर पाल क्लेरेंस एवरसोल्ड अपनी एक पुस्तक में लिखते हैं कि-"अपने वैज्ञानिक अध्ययनकाल के आरम्भ में वैज्ञानिक तर्कों एवं प्रणाली से मैं इतना मुग्ध हो गया था कि मुझे विश्वास हो चला था कि वैज्ञानिक विश्व की प्रत्येक घटना की व्याख्या कर सकते हैं, किन्तु ज्यों-ज्यों अध्ययन की गहराई में पहुँचता गया उतनी ही निराशा होती गयी । मुझे अपनी मान्यता बदलनी पड़ी तथा यह मानना पड़ा कि विज्ञान के द्वारा कुछ घटनाओं की ही व्याख्या की जा सकती है । मेरा सुनिश्चित विश्वास है अध्यात्म विज्ञान का अवलम्बन लिए बिना सृष्टि की अगणित पहेलियों को सुलझा पाना सम्भव नहीं है ।"

खोज की गहराइयों में विज्ञान जैसे-जैसे उतर रहा है उसी अनुपात में उलझता जा रहा है । स्थूल की तुलना में सूक्ष्म जगत उसे और भी विस्मित कर रहा है । उसे अनुभव हो चला है कि खोज के प्रयास एकांगी और अधूरे हैं । यह स्थिति निश्चित ही उसे अध्यात्म के शाश्वत् आधारों को अपनाने को विवश करेगी, ऐसा विश्वास सुनिश्चित किया जा सकता है ।

विज्ञान की अपूर्णताएँ और उनका विकल्प

विज्ञान की अधिकांश उपलब्धियाँ जड़ प्रकृति के क्षेत्र में हैं । पृथ्वी में पाये जाने वाले सभी कार्बनिक (आर्गेनिक) और अकार्बनिक (इनआर्गेनिक) धातुओं, खनिजों, गैसों और इन सबके द्वारा बनने वाले यन्त्रों, प्रकाश, विद्युत, ताप, चुम्बक आदि से सम्बन्धित अनेकों महत्त्वपूर्ण जानकारियाँ विज्ञान देता है, उसमें कामवासना की तरह का क्षणिक आकर्षण भी है, क्योंकि हम उससे कुछ शक्ति-सुविधा पाते और प्रसन्नता अनुभव करते हैं, किन्तु जब हम जीवविज्ञान की ओर चलते हैं तो पता चलता है कि यह जानकारियाँ नितान्त एकांगी और भ्रम पूर्ण हैं । वह जीव-चेतना के मूल उद्देश्य के बारे में कुछ नहीं बता पातीं ।

उदाहरण के लिये जीवाणु (लिविंग आर्गनिज्म) को विज्ञान पूर्ण मानता है, चेतना सूक्ष्म से सूक्ष्म कण में भी विद्यमान है, यह एक महत्त्वपूर्ण जानकारी हुई, किन्तु विज्ञान उसे शाश्वत नहीं मानता । जीवाणु के प्राकृतिक अंश (नेचुरल पार्टस् साइटोप्लाज्मा) के बारे में जीव-विज्ञान (बायोलॉजी) की जानकारियाँ बहुत कुछ सत्य और उपयोगी होती हैं, किन्तु जब यह पूछा जाता है कि इसमें रह रही चेतना का मूलभूत स्वरूप क्या है ? तो विज्ञान चुप हो जाता है, जबकि उसके अस्तित्व और मूल महत्व को वह स्वीकार भी करता है । जीव-विज्ञान अधिक से अधिक यह कल्पना कर सका है कि चेतना प्राकृतिक पदार्थों की रासायनिक चेतना मात्र है । प्रो. ह्वाइट हेड स्वयं एक महान् वैज्ञानिक थे, उन्होंने विज्ञान के इस तर्क का खण्डन करते हुए पूछा-"एक अमीवा (प्रकृति का सबसे छोटा जीव) जिसमें साइटोप्लाज्मा ही उसका शरीर और एक नाभिक(न्यूक्लियस) ही उसकी चेतना होती है, क्योंकि ऐसा होता है कि नाभिक के निकल जाते ही शेष भाग मृत हो जाता है, जबकि नाभिक पुनः एक स्वतन्त्र अमीवा का रूप ले लेता है । इससे मालूम पड़ता है कि चेतना प्राकृतिक-संरचना से स्वतन्त्र है, वह स्वयं प्रकृति को उत्पन्न करने की सामर्थ्य रखता है । विज्ञान इस सम्बन्ध में पूर्णतया डाँवा-डोल है ।

यदि चेतना का स्वरूप रासायनिक होता तो प्रयोगशालाओं में अनेक प्रयोग करके कई तरह की रासायनिक शक्तियाँ पैदा करते हैं, पर उनमें उपयोगितावाद (सरवाइविल ऑफ फिटेस्ट) देखने में नहीं आता । उपयोगितावाद के अनुसार बड़ी रासायनिक शक्ति को चाहिए था कि वह छोटी रासायनिक शक्ति को दबोचती पर वैसा आज तक कहीं नहीं हुआ, रासायनिक शक्तियाँ और मूल चेतन सत्ता में कोई सामंजस्य नहीं है ।

विज्ञान की सीमितता (लिमिटेशन ऑफ साइन्स) नामक पुस्तक के लेखक डा. जे. डब्ल्यू. एन. सुलीवान ने

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

एक स्थान पर लिखा है–मानव-जीवन की उत्पत्ति के बारे में प्रचलित डारविन का विकासवाद (इस मत के अनुसार मनुष्य अमीवा, अमीवा से दूसरे सर्पणशील जीवों से विकसित होता हुआ बन्दर बना, बन्दर से मनुष्य बन गया) और रेन्डग के सिद्धान्त (इस मत के अनुसार मनुष्य उसी प्रकार परिपूर्ण जन्मा, जिस प्रकार अन्य जीव) में से कौन सत्य है, कौन असत्य है । इस सम्बन्ध में विज्ञान कुछ भी स्पष्ट कर सकने में असमर्थ है । यहाँ बड़े से बड़े वैज्ञानिक को भी भ्रम हो जाता है कि वस्तुतः कोई ऐसी महान् सत्ता संसार में काम कर रही हो सकती है, जिसकी इच्छा से बलवान् और कोई शक्ति संसार में न हो ।

यदि हम जानवरों के अंगों की कार्यप्रणाली का ही भौतिक और रासायनिक अध्ययन करें, तब भी निष्कर्ष वहीं के वहीं रह जाते हैं । शरीर में इच्छाओं का रासायनिक क्रम विज्ञान बता सकता है, किन्तु विज्ञान यह नहीं बता पाता कि इच्छाएँ क्यों उत्पन्न होती हैं । पशु भी अपनी इच्छाएँ रोक नहीं पाते । मार खाते हैं तो भी खेतों में चोरी से घुसकर फसल खाने की इच्छा को रोक सकना उसके लिए भी असम्भव ही होता है । रासायनिक परिवर्तनों के कारण इच्छाओं के स्वरूप-परिवर्तन के बारे में विज्ञान बता सकता है, पर परिवर्तनों के उद्देश्य (पराजिव आर्डस) के बारे में वह कुछ भी व्यक्त करने में असमर्थ ही रहा है ।

भौतिक विज्ञान (फिजिक्स) और मनोविज्ञान (साइकोलॉजी) दोनों में पृथ्वी और आकाश का अन्तर है । मनोविज्ञान के विश्लेषण से मिला व्यवहारवाद और भौतिक विज्ञान से मिले यन्त्रों की कार्यप्रणाली में बड़ा फर्क है, भौतिक विज्ञान की धारणाएँ स्पष्ट होती हैं, हमें पता रहता है कि अमुक यन्त्र काम न करेगा तो मशीन बन्द हो जायेगी, मशीन में फिर यह शक्ति नहीं होगी कि वह अपनी इच्छा से थोड़ी देर आराम करने के बाद फिर चलने लगे । जीवन के बारे में यह धारणाएँ बहुत अस्पष्ट होती हैं, हम अपने ही सम्बन्ध में नहीं कह सकते कि आधे घन्टे पीछे हमारी मनःस्थिति क्या होगी ? हम कहाँ और क्या होंगे ? विज्ञान द्वारा मानवी व्यवहार को स्पष्ट किया जाना बिलकुल असम्भव है । इसलिये यह मानना स्वाभाविक है कि आत्म-चेतना विज्ञान की सीमा से पृथक् वस्तु है ।

डाक्टर भी एक वैज्ञानिक ही है, उसे शरीर रचना और उसके रासायनिक परिवर्तनों की जानकारी होती है, इसलिये उसे पूरी बीमारी का पता बिना रोगी से पूछे लगा लेना चाहिए था । उसे यह भी बता देना चाहिए था कि शरीर के अमुक भाग में इस तरह की पीड़ा होती है, पर वह ऐसा करने में असमर्थ होता है । वहम (मीनिया) और बिना किसी भौतिक सम्पर्क के किरकिराना या सिहरन (एलर्जी) का आभास क्यों होता है ? डाक्टर इसका पता लगाने में असमर्थ है ।

भू-गर्भ विद्या (जियोलाजी) वृक्ष-वनस्पति विज्ञान (प्लैन्टोलांजी) और जीव-विज्ञान(बायोलॉजी) के अध्ययन से पता चलता है कि जीवित वस्तुओं का क्रमिक विकास हुआ है । रसायन-शास्त्र (केमिस्ट्री) बताती है कि जितने भी अब तक खोजे गये १०८ तत्त्व हैं, वह भी क्रमिक नम्बर (पीरियाडिक टेबुल) में हैं, इलेक्ट्रानों की संख्या बढ़ते-बढते एक से दो हो जाती है तो दूसरा तत्त्व बन जाता है, तीन हो जाती है तो तीसरा और चार हो जाने पर चौथा । शेष सभी पदार्थ इनके सम्मिश्रण से बनते हैं, सृष्टि में जो भी जड़ प्रकृति है, मूलतः १०८ तत्त्वों (अब तक की जानकारी के अनुसार) से बनी है । यह १०८ तत्त्व किसी एक ही तत्त्व का विकास या अपदस्थ क्रम है, मूल कोई एक ही सत्ता या प्राण है, जिससे सारा संसार प्रकट होकर आ रहा है । वह सब क्या है ? विज्ञान यह समझाने में असमर्थ है ।

ऊँची स्थिति से नीची में पहुँचने का यह क्रमिक विकास हजारों-लाखों वर्षों की प्रक्रिया का परिणाम है । अभी आगे यह क्रम कब तक चलेगा हमें नहीं मालूम पर पदार्थों में क्रियाशीलता क्यों है ? यह भी वैज्ञानिक नहीं बता पाते, किन्तु इन स्पष्टीकरणों से यह पता चलता है कि समय, पदार्थ, चेतनता और सृष्टि के आविर्भाव का कारण (टाइम, स्पेश, मोशन एण्ड काजेशन) यह सब किसी एक परम बिन्दु (एब्सल्यूट प्वाइन्ट) से चले हैं । विज्ञान से पूछा जाता है कि वह परमसत्ता, बिन्दु, समय, तत्त्व क्या है, जिससे सृष्टि का आविर्भाव, घटनाक्रम, गति स्पन्दन चल रहा है तो वह कुछ भी नहीं बता पाता । इससे सिद्ध हो जाता है कि विज्ञान मानव-जीवन के सर्वांगपूर्ण पहलू का अध्ययन और विश्लेषण कर नहीं सकता ।

मनुष्य के मर जाने का चिह्न (इन्डीकेशन) भी विज्ञान नहीं समझ सका । कभी वह हृदय की धड़कन (पल्पिटेशन) रुक जाने को मृत्यु कहता है, कभी श्वास क्रिया रुक जाने को, कभी वह मस्तिष्क की मृत्यु से जीवन की मृत्यु घोषित करता है, पर अन्तिम रूप से मृत्यु और जीवन के अन्तर को विज्ञान समझा नहीं सका ।

अब हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विज्ञान के द्वारा निर्जीव पदार्थों की बहुत सी जानकारियाँ देने के बाद भी अनेक जानकारियों का पता लगाना शेष रह जाता है । सापेक्षवाद के सिद्धान्त (थ्योरी ऑफ रिलेटिविटी) और क्वान्टम सिद्धान्त की बहुत-सी बातें लोगों की समझ में इसीलिए नहीं आतीं, क्योंकि उनका सम्बन्ध आत्म-चेतनता से है । धर्म और अध्यात्म से है, जो विज्ञान से परे की सत्ता है, इसलिए यदि धर्म को विज्ञान का विकल्प कहा जाये, अथवा यह माना जाये कि जहाँ विज्ञान रुक जाता है, वहाँ से आगे का लक्ष्य 'धर्म' पूरा कर सकता है तो किसी प्रकार की अतिशयोक्ति नहीं मानना चाहिए ।

प्रयोग और अध्ययन के प्रारम्भिक दिनों में गैलीलियो का कहना था कि दिखाई देने वाले प्राकृतिक परिणामों (नेचुरल फेनामेना) को गणितीय सिद्धान्तों से (मैथेमेटिकली) जाना जा सकता है । प्रकृति के बारे में यह कहना बिलकुल ठीक है । एक वर्ष बाद ठीक आज के दिन सूर्य किस राशि पर होगा, गुणा भाग के द्वारा इसे

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

जाना जा सकता है । चन्द्र, बुध, शुक्र, वृहस्पति हर्शल सेटर्न, प्लूटो उस दिन कहाँ किस दिशा में होंगे? यह रेखागणित से हल किया जा सकता है, ब्रह्माण्ड के और अनेक गुह्य रहस्यों का पता पदार्थों पर पड़ने वाले प्रभावों को देखकर जाना जा सकता है, किन्तु कुछ दिन बाद जब कैपलर ने कहा कि वस्तुओं में अगणितीय गुण भी विद्यमान हैं, उदाहरणों के लिये इलेक्ट्रान का पतन होने पर पदार्थ का पतन हो जाता है । इलेक्ट्रान अपनी कक्षा में घूमते हुए आगे वाली या पीछे वाली कक्षा में टूट गिरेगा, इस सम्बन्ध में कोई गणितीय नियम काम नहीं करता । मानव व्यवहार भी किसी गणितीय नियम पर आधारित नहीं है ।

कुछ दिन बाद गैलीलियो ने भी स्वीकार किया कि अगणितीय गुण अन्तवर्ती (सब्जेक्टिव) होते हैं, उनका हमारे ज्ञान (सेन्सेशन) के अतिरिक्त कहीं भी अस्तित्व नहीं है । मस्तिष्क न हो, ज्ञान न हो तो ब्रह्माण्ड का कोई आकार-प्रकार होगा, न भार समझ में आयेगा, रङ्ग, ध्वनि, गन्ध, स्थान और समय भी हमारे लिए कुछ भी न रह जायेगा, क्योंकि यह सारी बातें मस्तिष्क की उपज हैं, मस्तिष्क न हो तो इन विविधताओं का कोई रूप ही न हो ।

मस्तिष्क ही चेतना है, चेतना का इतिहास और उसका भविष्य ही धर्म है, इसलिये जब तक चेतना का अस्तित्व है, तब तक धर्म की अनिवार्यता भी बनी रहेगी । गैलीलियो ने इन अगणितीय नियमों के आधार पर ही यह माना था कि संसार में व्यवस्था और गणित है, वह किसी महाशक्ति के हाथों का विधान है, उसे समझ पाना मनुष्य के लिये तब तक कठिन है, जब तक वह धर्म और दर्शन (रिलीजन एण्ड फिलास्फी) को अपने जीवन में स्थान नहीं देगा ।

न्यूटन का मत था कि विज्ञान वास्तविकता का आंशिक ज्ञान देता है, पूर्णता का विकल्प तो धर्म ही है । एडिन्टन और प्रसिद्ध वैज्ञानिक जेम्स जीन्स भी एक ही निष्कर्ष पर पहुँचे कि ब्रह्माण्ड का अन्तिम स्वभाव (अल्टीमेट नेचर) गणितीय नहीं, मानसिक (मेन्टल) है, अर्थात् मस्तिष्क की तरह की किसी सूक्ष्म चेतना में ही संसार चल रहा है, यदि मानसिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त कर हम कुछ सत्य बात जानने की इच्छा करें तो हमें धर्म को मानने के अतिरिक्त और कोई दूसरा उपाय नहीं रह जाता ।

हम यह मानने के लिये विवश हैं कि आधुनिक विज्ञान को महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हमारे जीवन के आधारभूत तथ्यों की जानकारी देने में असमर्थ रही हैं, जब तक हम उसे आध्यात्मिक धरातल पर परिणत नहीं करते, तब तक इन जिज्ञासाओं का शान्त होना सम्भव नहीं, उससे तो और मानसिक अशांति ही बढ़ेगी । मानवीय सुख-शांति, सुव्यवस्था और इस शरीर में आने के लक्ष्य की पूर्ति धर्म से हो सकती है । धर्म को इसलिए मनुष्य जीवन से पृथक् नहीं किया जा सकता ।

विज्ञान का अधूरापन दूर किया जाय

विज्ञान शब्द व्यापक है, उसमें पदार्थ और चेतना दोनों का ही समावेश होता है, किन्तु आज उसकी एकांगी व्याख्या हो रही है । मात्र पदार्थ और उसका स्वरूप एवं उपयोग की विधि-व्यवस्था को इस समय विज्ञान मान लिया गया है । यहाँ तक कि चेतना को भी जड़ तत्त्वों की प्रतिक्रिया भर सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता रहा है । यह सर्वथा एकांगी तथा अपूर्ण प्रयत्न है ।

पदार्थ कितना ही मूल्यवान एवं उपयोगी क्यों न हो, उसकी कोई कीमत तभी है, जब चेतन प्राणी उसे उस प्रकार की मान्यता दे, अन्यथा वस्तु की दृष्टि से हीरा और कोयला लगभग एक ही स्तर के होते हैं । उपयोगिता की दृष्टि से लोहा सोने की अपेक्षा अधिक कारगर है,पर मनुष्य ने इनमें से जिसे जितनी मान्यता दी उसी अनुपात से उसका मूल्य बढ़ा है । पदार्थ अपनी उपयोगिता स्वयं सिद्ध नहीं कर सकते । मनुष्य की बुद्धि ही उन्हें खोजती है और काम में लाने योग्य बनाती है । अस्तु पदार्थ की तुलना में चेतन का महत्त्व अधिक हुआ । स्वयं विज्ञान का विकास भी बुद्धि-कौशल की ही प्रतिक्रिया है । ऐसी दशा में चेतना के मूल अस्तित्व को स्वीकार न करना, उसे जड़ शरीर के सम्मिलन से उत्पन्न हलचल भर मानना यही सिद्ध करता है कि वैज्ञानिकों ने उस क्षेत्र को आधा-अधूरा ही समझा है, जिसमें वे अपनी सारी अन्वेषण प्रक्रिया सँजोये हुए हैं ।

पदार्थ विज्ञान की ही बात लें तो प्रतीत होगा कि उसकी खोज के साधन रूप में जड़ पदार्थों का ही उपयोग होता है । जिन यन्त्र-उपकरणों के माध्यम से प्रकृतिगत हलचलों का पता लगाया जाता और उपलब्ध ज्ञान का उपयोग सिद्ध किया जाता है वे स्वयं जड़ पदार्थों के बने हुए होते हैं । उसकी पकड़ और पहुँच अपनी सीमा तक ही काम कर सकती है । मस्तिष्क का सचेतन इन्द्रियगम्य ज्ञान विशुद्ध भौतिक है । इसे मन कहते हैं । जानकारियाँ प्राप्त करना और खोज-कुरेद करना इसी का काम है । बुद्धि और अन्वेषण उपकरणों की सहायता से ही वैज्ञानिक खोजबीन का ढाँचा खड़ा किया जाता है । ऐसी दशा में चेतनासत्ता का वास्तविक स्वरूप और बल प्रकट नहीं हो सकता । उसके प्रकटीकरण में चेतना का यह भाग प्रयुक्त करना होता है जिसे अन्तर्मन, उच्च मन, अन्तरात्मा अतीन्द्रिय तत्त्व कहते हैं । ब्रह्म विद्या उसी की विवेचन करती है । तत्त्व-दर्शन का आविष्कार इसी निमित्त हुआ है । ऋतम्भरा प्रज्ञा, भूमा, धी इसी प्रयोजन के लिए प्रयुक्त होती है । अतीन्द्रिय ज्ञान के सहारे ही चेतना तत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर सकना सम्भव है । इसकी उपेक्षा करके जो विज्ञान काम में लाया जा रहा उसे अपूर्ण ही कहना चाहिए ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

वैज्ञानिक विचारक एडिंगटन ने इधर विज्ञान की इस मान्यता पर कि वह वस्तुओं का सही-सही वर्णन कर सकता है, अनेक प्रश्न चिह्न लगा दिए हैं । अपनी पुस्तक 'द फिलासफी ऑफ फिजिकल साइन्स' में उन्होंने कहा है कि जब हम अणुओं अथवा किसी तत्त्व के गुणों की चर्चा करते हैं , तो ये गुण उन अणुओं या पुद्गल तत्त्वों के एकमात्र वास्तविक गुण कदापि नहीं माने जा सकते, अपितु ये तो वे गुण हैं, जो हमने अपनी प्रेक्षण-विधि द्वारा उन अणुओं या पुद्गल-तत्त्वों पर आरोपित कर दिया है । इस प्रकार एडिंगटन ने निष्कर्ष निकाला है कि विज्ञान जिस जगत का वर्णन करता है, वह और भी अधिक आत्म-परक होता है, जबकि अभी तक कथित पदार्थवादी या वैज्ञानिक भौतिकवादी इसी बात पर जोर देते थे कि अध्यात्मवादियों का सम्पूर्ण चिन्तन आत्मनिष्ठ होता है, वस्तुपरक नहीं और वस्तुपरक चिन्तन तो मात्र विज्ञान द्वारा ही सम्भव है ।

एडिंगटन ने अपनी बात एक उदाहरण द्वारा समझाई है । उनका कहना है कि जिस प्रकार एक मछुआ कुछ मछलियों को पकड़ता है, फिर वह वर्णन करता है-कि मछलियाँ इस-इस तरह की होती हैं । अब मछुए का यह वर्णन सिर्फ उन्हीं मछलियों पर लागू होता है, जिन्हें उसने पकड़ा है । उसी प्रकार भौतिकशास्त्र का विश्व-सम्बन्धी ज्ञान केवल उन्हीं वस्तुओं पर लागू हो सकता है, जिन्हें हम अपनी इन्द्रियों, उपकरणों तथा बुद्धि की पकड़ में ला सकते हैं । इस प्रकार भौतिक शास्त्र में जिसे हम सामान्य कथन या प्रकृति के नियम कहते हैं, वे एक ऐसे संसार का वर्णन है जो हमारे अपने बोध पर निर्भर है । इसे ही एडिंगटन 'चयनात्मक आत्मनिष्ठतावाद' (सलेक्टिव सब्जेक्टिविज्म) कहते हैं ।

इसीलिए जाक रुएफ ने 'फ्राम द फिजिकल टू द सोशल साइन्सेज' में लिखा है-''हमारे पास यह कहने का कोई आधार नहीं है कि भौतिक शास्त्र के सिद्धान्त जिन कारणों का उद्घाटन करते हैं, वे वस्तुओं की असली प्रकृति हैं ।'' उदाहरण के लिए इलेक्ट्रान, प्रोटान आदि को लें । इनकी असली प्रकृति क्या है ? यह पूरी तरह कोई वैज्ञानिक नहीं कह सकता । जिस रूप में इनका वर्णन किया जाता है, वह वैज्ञानिकों के विभिन्न प्रेक्षणों (आब्जर्वेशन्स) को सम्बद्ध करने के लिए आवश्यक गुण मात्र हैं । इनकी वास्तविक सत्ता का पूर्ण विवरण ज्ञात नहीं है ।

विज्ञान के द्वारा आविष्कृत इस 'अनिचयात्मकता' ने आज जहाँ एक ओर ऐसे 'दर्शनों' को जन्म दिया है, जो 'दर्शन-शास्त्र' मात्र के विरोधी हैं तथा जिनका कहना है कि सृष्टि सम्बन्धी कोई भी दार्शनिक-समीक्षा मात्र परिकल्पनात्मक होती है, उसकी वास्तविकता की जाँच सम्भव नहीं है, वहीं दूसरी ओर अनेक स्थापित वैज्ञानिक सिद्धान्तों के पैर उखाड़ दिए हैं ।

विटगेन्स्टाइन तथा अन्य तर्कमूलक भाववादियों (लाजिकल-पाजिटिविस्टस्) की मान्यता है कि प्रकृति के नियम सामान्य कथन नहीं हो सकते, बल्कि वे 'प्रोपोजीशनल फंकशन' मात्र होते हैं । उनके द्वारा विवर्तमान मूल्यों के विभिन्न मान रखकर परीक्षण के लिए विशेष कथन तो प्राप्त किए जा सकते हैं, पर कोई सामान्य कथन नहीं निकाले जा सकते, जबकि वैज्ञानिक प्रवर आइन्स्टाइन मानते थे कि प्रत्येक वैज्ञानिक इस निश्चित धारणा के साथ ही अनुसंधान करता है कि यह विश्व एक सुसंगत तथा कारण-कार्यमूलक इकाई है । देखने में ये दोनों निष्कर्ष परस्पर विरोधी होते हैं, पर ये वैसे हैं नहीं । ये वस्तुतः यथार्थ के दो भिन्न-भिन्न स्तरों के भिन्न-भिन्न विश्लेषण हैं ।

आज विज्ञान भी यथार्थ एवं आभास का अन्तर मान रहा है। वेदान्त-मत में इसे ही पारमार्थिक सत्य तथा व्यावहारिक सत्य के रूप में विश्लेषित किया गया है । वैज्ञानिकों द्वारा यथार्थ का यह परीक्षण कि सृष्टि की मूल सत्ता उस रूप में नहीं है, जैसी कि व्यवहारतः हम जानते-मानते हैं, वेदान्त के सर्वथा अनुरूप है । यह ध्यान रहे कि वैज्ञानिक यह कतई नहीं मानते हैं कि विश्व कुछ है ही नहीं और सब 'शून्य' है ।

एडिंगटन ने 'न्यू पाथवेज इन साइन्स' नामक ग्रन्थ में स्पष्ट कहा है कि-''मेरा तात्पर्य यह कदापि नहीं कि भौतिक विश्व का अस्तित्व ही नहीं है ।'' वस्तुतः भौतिक विश्व व्यवहारतः पूर्ण सत्य है, उसमें एक निश्चित विधिव्यवस्था है, क्रमबद्धता है । अनिश्चय के सिद्धान्त का भी यह अर्थ नहीं कि इस दुनिया में सभी कुछ अनिश्चित है। इसमें सर्वथा विपरीत वैज्ञानिकों और वेदान्तियों का यह मत है कि सृष्टि में सर्वत्र कारण-कार्य भाव विद्यमान है । प्रत्येक कार्य का एक निश्चित कारण है । अनिश्चय के सिद्धान्त से तात्पर्य यह है कि वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा हम सृष्टि की मूल सत्ता को पूरी तरह कभी नहीं जान सकते, क्योंकि प्रयोगों के उपकरण और माध्यम भी उसी सृष्टि के अंश हैं, जिसका परीक्षण किया जा रहा है ।

वैज्ञानिक विश्लेषणों के तीन मुख्य दार्शनिक निष्कर्ष हैं-(१) ब्रह्माण्ड का आदि कारण कोई अति सूक्ष्म एकमेव सत्ता है, जो चेतन है, किन्तु पूरी तरह पदार्थ विहीन नहीं । तरंगों का जो रूप ज्ञात हुआ है, वह प्रकृति की मूल शक्ति के सापेक्ष स्वरूप को स्पष्ट करता है । प्रकृति की यह मूलशक्ति वेदान्त-विचार की माया की तरह अवर्णय, अव्याख्येय है । शुद्ध माया या मूलशक्ति तो चेतना से घनिष्टता से सम्बद्ध है, पर वह स्वयं चैतन्य-मात्र नहीं । वह पूरी तरह 'द्रव्यातीत' नहीं है ।

(२) सृष्टि का ठीक-ठीक स्वरूप जाना नहीं जा सकता । क्योंकि हमारे ज्ञान की सीमाएँ हैं, उसके द्वारा हम उससे परे का यथार्थ नहीं जान सकते ।

(३) वैज्ञानिकों का तीसरा निष्कर्ष यह है कि भौतिक विश्व आभास का (एपियरेन्स का) क्षेत्र है, यथार्थ

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

का नहीं । यथार्थ उसकी पृष्ठभूमि में है । अर्थात् विश्व की व्यावहारिक सत्ता है, पारमार्थिक या परम् यथार्थ सत्ता नहीं है । स्पष्टत: यह वेदान्त मत के अनुसार है ।

अपनी पुस्तक 'द न्यूवैकग्राउण्ड ऑफ साइन्स' में सर जेम्स जीन्स ने भी कहा है-"सृष्टि में हम जो विधि-व्यवस्था पाते हैं, वे अत्यन्त स्पष्टता तथा सरलता से आइडियलिज्म की भाषा में वर्णित-व्याख्यायित हैं ।"

यथार्थ और आभास (रियलिटी एण्ड अपियरेन्स) की विवेचना करते हुए वैज्ञानिक अब इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि प्रकृति को हम पूरी तरह कभी भी जान नहीं सकेंगे । उसका मूल रूप स्वरूप सदा ही अज्ञात रहेगा । क्योंकि जैसे ही हम 'जानने' की चेष्टा करते हैं, हम उसमें 'व्यवधान' उपस्थित करने लगते हैं । इसीलिए महान वैज्ञानिक हेजनबर्ग ने 'अनिश्चय का सिद्धान्त' प्रतिपादित किया है । उन्होंने स्पष्ट किया कि किसी माध्यम के द्वारा फिर वह प्रकाश हो, ऊर्जा हो या कुछ और, जैसे ही हम मैटर के किसी अंश से सम्पर्क करते हैं, हम उसके प्राकृतिक स्वरूप में व्यवधान उपस्थित कर देते हैं । इस प्रकार इलेक्ट्रान का असली स्वरूप क्या है ? यह कभी भी नहीं जाना जा सकता । जब हम इलेक्ट्रान की स्थिति एवं वेग का प्रकाश की सहायता से सूक्ष्म उपकरणों द्वारा परीक्षण करते हैं, तो प्रकाश का यह सहयोग कथित इलेक्ट्रान की स्वाभाविक दशा को निश्चित ही प्रभावित कर देता होगा । फिर परीक्षण के लिए प्रयुक्त उपकरण भी उसी सृष्टि के एक अंश हैं, जिनके द्वारा कि उस 'सृष्टि' का रहस्य जानने का प्रयास किया जा रहा होता है । इन उपकरणों का सम्पर्क परीक्षित किए जा रहे अंश को स्वाभाविक नहीं रहने दे सकता । इस प्रकार प्रयोगों द्वारा यथार्थ सत्ता का ज्ञान असम्भव है ।

जगत का स्वरूप समझने की वैज्ञानिक विधि इन्द्रियज्ञान तक सीमित है । सूक्ष्मदर्शी यन्त्रों द्वारा एकत्र जानकारी मस्तिष्क को इन्द्रियों द्वारा ही मिलती है । स्थूल दृश्य जगत की यथार्थता जानने-समझने में ही हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ बराबर धोखा खाती रहती हैं, मस्तिष्क भी पग-पग पर भ्रम में पड़ता रहता है । स्पष्ट है कि इन आधारों पर जब प्रत्यक्ष-जगत के बारे में ही सही निष्कर्ष निकाल पाना सम्भव नहीं, तो वह अदृश्य जगत में तो हमारी सीमाएँ स्पष्ट हैं । अणु संरचना के स्पष्टीकरण में उपकरणों द्वारा जो जानकारी और सहायता एकत्र की गई है, उससे अधिक आश्रय अनुमान पर आधारित गणितपरक आधारों का लिया गया है, तभी कुछ निष्कर्ष निकाले जा सके हैं ।

यथार्थ की तह तक पहुँचने के लिए, सत्य को प्रत्यक्ष करने के लिए परख के आधार को अधिक विस्तृत करना होगा । प्रत्यक्ष में अतीन्द्रिय ज्ञान को भी सम्मिलित करना होगा । अध्यात्म-प्रयोगों के निष्कर्षों की प्रामाणिकता की जाँच कर उनको भी समझना होगा । अदृश्य जगत की सम्भावनाओं के द्वार पर ठिठके खड़े विज्ञान को ऋतम्भरा, प्रज्ञा, योग भूमिका जैसे आधारों को भी समझना आवश्यक है, आगे के क्षेत्र में इनसे ही सहायता मिल सकती है ।

समझदारी विभाजन में नहीं, एकीकरण में

प्रचलनों का अनुकरण करने की मानसिकता यह सिद्ध करती है कि वस्तुओं की देखभाल करके अपनाने की विवेकशीलता को उपेक्षा के गर्त में डाला जा रहा है । ऐसा अन्य कुछ प्राणियों में तो होता रहता है किन्तु मनुष्य में पाई जाने वाली बुद्धिमत्ता यह पूछती है कि देखभाल कर, नाप-तौल कर, खरा-खोटा परखकर खरीदने वाली क्षुद्र आदत मात्र सौदा खरीदने तक ही सीमित हैं अथवा उसे अन्यान्य क्षेत्रों में भी प्रयुक्त किया जा रहा है । भेड़ों के सम्बन्ध में कहावत है कि एक के पीछे एक चलती हैं । आँखें होते हुए भी उनका उपयोग नहीं करतीं । जिधर आगे वाली चलती है उधर ही पीछे वाली भी चलती जाती है । भले ही आगे खाई खन्दक क्यों न हों । बन्दरों के बारे में भी कुछ ऐसा ही सुना जाता है । पक्षियों का झुण्ड भी एक ही दिशा में उड़ता है । यह समुदाय इस बात का विचार नहीं करते कि जो मार्ग अपनाया जा रहा है उसकी उपयोगिता भी है या नहीं । यह रीति जो भी अपनाते हैं पीछे पछताते ही देखे जाते हैं । पशु-पक्षियों की-कीट पतंगों की बात छोड़ी भी जा सकती है । टिड्डी दल किसी अविज्ञात दिशा में अन्धानुकरण करते हुए उड़ रहा है तो उसे देखकर उनकी बुद्धिहीनता को मजबूरी समझकर उपेक्षा में डाला जा सकता है, पर मनुष्यों के बारे में ऐसा नहीं होना चाहिए । सभी मुसाफिरों को रेल के एक ही डिब्बे में नहीं घुस पड़ना चाहिए । किसी दिशा में जा रही रेल में ही सफर नहीं करने लगना चाहिए । सब धान बाईस पसेरी नहीं बिकने चाहिए । सभी मंदगति और गतिमान जानवरों को एक लाठी से नहीं हाँका जाना चाहिए । मेले में सभी दुकानों पर भीड़ रहती है । ग्राहक इच्छित वस्तुएँ खरीदते हैं । इतना होते हुए भी प्रत्येक ग्राहक को यह देखना होता है कि उसके उपयोग की वस्तुएँ क्या हैं ? उनकी आवश्यकता क्या है ? किस दुकान पर उसे अच्छा और सस्ता माल मिल रहा है ? यदि इस प्रकार की जाँच-पड़ताल वह छोड़ दे और वही करने लगे जो दूसरे कर रहे हैं तो भारी कठिनाई खड़ी हो जाएगी । खरीददार निरर्थक और निरुपयोगी वस्तु खरीदेंगे । अपना बोझ बढ़ावेंगे और अपनी जेब खाली करेंगे । घर जाकर खाली जगह को कूड़े-करकट से भरेंगे। यह आचरण उपहासास्पद बनेगा और हानिकारक भी रहेगा । देखा-देखी बनाना छोटे बच्चों को भले ही सुहाता है, पर बड़ों की बुद्धिमत्ता यह पूछती है, जिसे अपनाया जा रहा है वह उपयोगी है भी कि नहीं । उसे बटोरकर कुछ हितसाधन होगा या नहीं ? जहाँ ऐसी जाँच-पड़ताल हो, जहाँ अन्धेर नगरी में बेबूझ राजा- राज करता हो-जहाँ 'टका सेर भाजी टका सेर खाजा' बिकने का क्रम चलता हो समझना चाहिए कि यहीं कहीं सर्वनाश मँडरा रहा है ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

विज्ञान और धर्म में झगड़ा नहीं है । वह समझदारी और नासमझी का झंझट है । विज्ञान का हर कदम तब उठता है जब वह 'क्यों', कैसे, किस प्रकार आदि का तरीका पूछ लेता है और तर्क, तथ्य, प्रमाण, उदाहरण के आधार पर यह निष्कर्ष निकाल लेता है कि इस कृत्य की परिणति क्या होनी चाहिए ? अनुमान में कहीं संदेह होता है तो प्रयोगशाला में उसे उलट-पुलट कर अनेक बार देखता है और तब तक आश्वस्त नहीं होता जब तक कि उसके परिणाम के सम्बन्ध में पूरी तरह निश्चित नहीं हो जाता । यथार्थता का परीक्षण उसी को कहते हैं जिसकी उपयोगिता के सम्बन्ध में हर प्रकार जाँच-पड़ताल कर ली जाती है । सत्य तक पहुँचने का यही एक मार्ग है । विज्ञान ने समस्त आविष्कारों में इसी प्रक्रिया को अपनाया और कार्यान्वित किया है । विज्ञान की दिशाधारा और कार्यपद्धति यही है । इसी आधार पर उसने भौतिक क्षेत्र में महती सेवा करके दिखाई और प्रामाणिकता अर्जित की है । अब 'ज्ञान' की बारी है कि अपनी उपयोगिता सिद्ध करने के लिए तथ्यों का अवलम्बन करे और सर्वसाधारण को इस प्रकार सोचने के लिए बाधित करे जैसे कि विज्ञान ने अपनी उपयोगिता से प्रभावित करके उसे अपनाने के लिए तत्पर किया है । आग या बिजली का सदुपयोग और दुरुपयोग किस प्रकार लाभदायक और हानिकारक सिद्ध होता है, इसे इस तरह से हृदयङ्गम कराया है कि लोग उस संदर्भ में अपनी सूझ-बूझ के सहारे ही वह करते पाये जाते हैं जो उन्हें करना चाहिए । रेल, तार, मोटर, साइकिल, फाउन्टेनपेन, सेफ्टी-रेजर आदि आविष्कारों की उपयोगिता देखी और समझी गई है । इसलिए उन्हें प्रयुक्त करने के लिए किन्हीं को समझाने के लिए अत्यधिक प्रयत्न नहीं करना पड़ता । लाभ और हानि के पक्ष दृष्टि से ओझल रहे तो ही उस संदर्भ में भटकाव का जोखिम रहता है । यदि वस्तुस्थिति इस प्रकार समझाई जा सके कि वह तथ्यों के सहारे मान्यताओं की गहराई तक पहुँच सके तो जो छोड़ने योग्य है उसे अस्वीकार भी कर दिया जाएगा और जो अपनाने योग्य है उसे आदतों में सम्मिलित भी कर लिया जायगा । मनुष्य को अतिरिक्त रूप से बुद्धिमत्ता इसीलिए मिली है कि वह हित-अनहित को समझे और विधि-निषेध के निर्धारण में सतर्कता बरते । कमी एक ही बात की रह जाती है कि 'ज्ञान' ने अपनी निर्धारणाओं को स्पष्ट नहीं किया । प्रतिपादनों को इतना प्रत्यक्ष और स्पष्ट नहीं किया कि वह अपनी प्रामाणिकता इस हद तक सही सिद्ध करे कि उसमें संदेह करने की कहीं कोई गुंजाइश न रहे । 'ज्ञान' अपने को सर्वोपयोगी, यथार्थवादी, प्रत्यक्षवादी सिद्ध करने में सफल रहा होता तो उसे भी वैसी ही मान्यता मिली होती जिसके रहते अन्धविश्वासों को अन्धपरिस्थितियों में इतना आश्रय न मिला होता कि वे हानिकारक होते हुए भी मजबूरी से पैर जमाये रह सकें ।

उदाहरण के लिए प्रचलन के कुछ प्रसंगों पर दृष्टिपात किया जा सकता है । इस संदर्भ में नशेबाजी और सन्तान की संख्या वृद्धि का पर्यवेक्षण किया जा सकता है । यह दोनों ही विषय ऐसे हैं जो यथास्थान जमे रहने और बढ़ते रहने पर असाधारण रूप से हानि पहुँचाते हैं फिर भी उनकी रोकथाम में सफलता मिलती नहीं दीखती ।

प्राणि-विज्ञान की दृष्टि से उनकी अङ्ग संरचना, रहन-सहन पद्धति, आहार-विहार शैली, स्वभाव, प्रजनन वर्ग आदि की दृष्टि से उनका पृथक्करण किया गया है । इस दृष्टि से मनुष्य मात्र एक ही जाति का प्राणी है भले ही वह किसी भी देश, वंश या गौत्र में उत्पन्न क्यों न हुआ हो। ऐसी दशा में उनका भेद-विभाजन करना उपयुक्त नहीं । जलवायु और वंश परम्परा के आधार पर उनकी आकृति में यत्किंचित भेद अवश्य पाया जाता है पर वह ऐसा नहीं है जिसके आधार पर उन्हें एक दूसरे से पृथक् माना या ऊँच-नीच समझा जाय । जाति जन्म से नहीं हो सकती है । किसी का पिता अफसर, व्यापारी, चिकित्सक आदि था तो आवश्यक नहीं कि उसकी सन्तान भी अपने को वही घोषित करे जो उसके पिता और पूर्वज थे । व्यवसाय बदलते ही वर्ण बदल जाता है । एक ही व्यक्ति एक ही जीवन में व्यापारी, सैनिक, अध्यापक, किसान आदि कितने ही उद्योग अपना या बदल सकता है । ऐसी दशा में उसे बार-बार अपना वर्ण बदलना पड़ेगा जो सर्वथा उपहासास्पद है । भले या बुरे स्वभाव के आधार पर किसी को नीच-ऊँच ठहराया जाय तो वह स्थितियाँ भी स्थायी नहीं हैं । उनमें भी परिवर्तन होता रहता है । उनमें विभाजन के जितने भी आधार हैं वे सभी अनुपयुक्त बैठते हैं । मनुष्य जाति एक रही थी । एक ही है और एक ही रहेगी । उनका अवांछनीय आधारों पर वर्गीकरण करना और उसकी लक्ष्मण रेखा जैसी दीवार खड़ी कर देना, अपने समुदाय को ऊँचा कहकर अहंकार का प्रदर्शन करना है । इसके साथ ही अन्यों को नीच कहकर उसके स्वाभिमान मात्र को सीधा आघात पहुँचाना है । एक समुदाय मिथ्या अहंकार का प्रदर्शन करे, दूसरा अपने को गया-गुजरा समझे तो एक ऐसी खाई बनेगी जिसे पाटना कठिन हो जायेगा और सार्वभौम मान्यता का कभी विकास न हो सकेगा । विभाजित वर्ग सदा कमजोरियों से ही घिरे रहते हैं । पारस्परिक सम्मिलन या सहयोग से जो सुधार-विकास का क्रम चलते रहना चाहिए उसका द्वार ही बन्द हो जाता है । यह स्थिति चिन्ताजनक भी है और घातक भी । पनपता हुआ विभेद और विभाजन जब तक रुँधा-मुँदा बना रहता है तब तक सहन होता रहता है किन्तु जब वस्तुस्थिति को समझने की बात सामने आती है तो फिर रोष और प्रतिशोध का उबाल उभरता है तो उसका परिणाम जातीय विग्रह के रूप में भी खड़ा हो सकता है, उससे समूचा समाज क्षतिग्रस्त हो सकता है ।

स्त्री-पुरुष के बीच यही हुआ । पुरुष अधिपति बना, नारी को पैरों तले की जूती समझा । धीरे-धीरे यह मानसिकता बन गई और इसका परिणाम दोनों ही पक्षों के लिए दुःखद हुआ । नारी मात्र दासी बनकर रह गई ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

अपनी मौलिक प्रतिभाओं से, भावी सम्भावनाओं से हाथ धो बैठी । पुरुष को भी मिथ्या अहंकार प्रदर्शन के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिला । दोनों ही पक्ष घाटे में रहे और समूचे समाज को हानि पहुँची । ठीक वैसा ही ऊँच-नीच परक जाति-विभाजन का परिणाम हुआ। अनुसूचित जातियों, जन-जातियों की एक मानसिकता बन गई और वे उस पिछड़ेपन में ही जकड़े बैठे रहने की अपनी नियति समझने लगे । सुधार या विनाश के लिए दूसरों द्वारा किये गये प्रयास तक की उपेक्षा करने लगे । अस्वीकार करने जैसी स्थिति प्रकट करने लगे । स्वयं बढ़ाने की सार्थकता न हो और दूसरों का सहयोग स्वीकार न किया जाय तो उस दशा में उपयोगी परिवर्तन असाधारण रूप से कठिन हो जाता है । आज समाज का प्रायः एक तिहाई वर्ग इस नीच-ऊँच के कुचक्र में फँसकर पिछड़ेपन के साथ बुरी तरह जकड़ गया है । स्वाभिमान, स्वावलम्बन और प्रगति पुरुषार्थ की दृष्टि से गड़बड़ा जाने पर स्थिति अपंगों जैसी बन गई है और उठना कठिन पड़ रहा है दूसरी ओर रूढ़िवादी, स्वार्थ अहंकार में डूबे रहते हैं और यथास्थिति बनाये रहने के लिए पूर्वाग्रह ग्रस्त रहते हैं । अहंकार के पोषण के लिए मिथ्या सम्मान चाहिए । वह उत्कृष्टता के आधार पर उपलब्ध न होता हो तो शोषण उत्पीड़न के आधार पर आतंक जमाने का प्रयत्न करते हैं । पिछले अन्धकार युग में यही होता रहा है । संसार भर में न्यूनाधिक मात्रा में यह विभेद प्रचलन किसी न किसी रूप में चल रहा है । 'ज्ञान' पक्ष को चाहिए था कि इस अनौचित्य की बौद्धिक दृष्टि से धुर्रे उड़ाता और ऐसे आन्दोलन खड़े करता जिससे इस प्रचलन की जड़ ही कट जाती । दास-दासियों का पशुओं की तरह क्रय-विक्रय अब नहीं रहा । एक बड़ी बुराई दुनिया से सर्वत्र उठ गई । इसके लिए कोई बड़ा विग्रह या आन्दोलन खड़ा नहीं हुआ । विवेक जागरण की लहर ने सहज परिवर्तन की रीति से उसे सुधार लिया । इसी प्रकार राजतन्त्रों की जड़ें उखड़ गईं, जमींदार-साहूकारों के धन्धे मिट गये । पिंडारी, ठग और डाकुओं के धन्धे उस रूप में नहीं रहे जैसे कि पिछले दिनों कभी थे । अब इस बात की भी आवश्यकता है कि हम सब अपने-अपने परिचय एवं प्रयत्न क्षेत्र में इस सुधार-परिवर्तन के लिए जो छोटे-बड़े कदम उठा सकते हैं उसे उठायें और स्थिति में ऐसा परिवर्तन लायें जो नीति, न्याय और विवेकसंगत हैं ।

परम्परा के नाम पर अनेकों कुरीतियाँ पल रही हैं । उन्हें समर्थन इस आधार पर मिल रहा है कि जिन पूर्वजों ने यह प्रचलन चलाये वे मूर्ख थोड़े ही थे । यह कहने वाले यह भूलते हैं कि सतयुग में ऐसी परम्पराओं का नाम नहीं था । सभी एक पिता की सन्तान की तरह रहते थे मिलजुलकर सामूहिक प्रगति के सत्प्रयोजन में समान रूप से भागीदार रहते थे । यह तो मध्यकालीन अन्धकार युग ही था जिससे सामन्तवादी अनाचार पनपा । इन विकृतियों को मान्य परम्परा का स्थान-सम्मान नहीं ही मिलना चाहिए । हर प्रथा-परिपाटी को औचित्य की कसौटी पर कसने के उपरान्त ही स्वीकार करना चाहिए । आज इसी विचारशीलता की महती आवश्यकता है ।

दर्शन बदलता है, युग की परिस्थितियों को

दर्शन क्या है ? कुछ औंधे-सीधे विचारों को अव्यवस्थित रूप में रख देना ? या एक ऐसी समृद्ध चिंतन प्रणाली प्रस्तुत करना, जिससे समय समाज एवं समस्त विश्व का समग्र विकास सम्भव हो सके ? सुकरात के शब्दों में कहें, तो वास्तविक दर्शन यही है ।

किन्तु इन दिनों दर्शनों की ऐसी बाढ़ आयी है कि विचार और दर्शन में कोई अन्तर ही नहीं रहा । जब भी किसी के मन में कोई नयी सोच उभरी, उसको लिपिबद्ध कर दिया । बस, वह उसके द्वारा प्रतिपादित दर्शन बन गया । भले ही वह सैद्धांतिक ही क्यों न हो, समय की आवश्यकता पूर्ति करता हो अथवा नहीं, वह दर्शन है । सन् १९९६ में हॉर्वर्ड विश्वविद्यालय की स्नातक दर्शन परिषद् में व्याख्यान देते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि जिसमें व्यावहारिकता हो, जो सम्पूर्ण जीवन-शैली को प्रभावित करता हो, जिसमें समाज को मार्गदर्शन करने की सामर्थ्य हो, सही अर्थों में वही सच्चा दर्शन है, शेष सभी विचारधारा हैं । लिबनिज, काण्ट, हेगल, स्पिनोजा सभी ने ईश्वर सम्बन्धी अपने-अपने मत भर प्रकट किये हैं, अतः वे विचारक तो हो सकते हैं, दार्शनिक नहीं । जहाँ फिलासफी होती है, वहाँ क्रांति होती है, समग्र परिवर्तन होता है, जबकि विशिष्ट विचारधारा कुछ एक अनुयायी भर पैदा कर पाती है, कोई नया समाज अथवा व्यवस्था नहीं । कतिपय नवीन चिंतन देकर फिलॉसफर बन बैठना, यह पश्चिम की पद्धति और देन है । भारत जैसे पूर्वी देशों में तो दर्शन समाज परिवर्तन का सुनिश्चित आधार माना जाता है । गाँधीजी ने ग्रामोद्योग पर आधारित दर्शन दिया था और कहा था कि हर हाथ को काम और हर पेट को अनाज इसी के माध्यम से सम्भव है । आर्थिक स्वावलम्बन इसी के द्वारा हस्तगत किया जा सकता है । भारत का जब कभी आर्थिक कायाकल्प होगा, इसी आधार पर सम्पन्न होगा ।

एक समय था, जब सम्पूर्ण विश्व में मार्क्सवाद की बड़ी धूम थी । उसने अर्थतंत्र से सम्बन्धित सशक्त विचारधारा दी थी कि संसार में उससे क्रांति हो गई । विश्व के आधे से अधिक देश उस विचारधारा को अपनाने के लिए विवश हो गये । इस आधार पर उन देशों ने एक नई समाज-व्यवस्था को जन्म दिया, जिसका नाम समाजवाद समाज-व्यवस्था रखा गया । ईसा के दर्शन को जब लोगों ने हृदयंगम किया, तो दुनिया में ईसाइयत फैल गई । रूसो फिलॉसफर थे । मौलिक चिंतन के राजतंत्र के

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

जमाने में जब उन्होंने राजा और सामंतों की तानाशाही और निरंकुशता देखी, तो उनके अंदर का दार्शनिक जाग उठा और एक नई व्यवस्था 'डेमोक्रेसी' का प्रतिपादन किया। जिन दिनों की यह बात है, उन दिनों जब सर्वप्रथम इसे प्रस्तुत किया गया, तो लोगों ने इसकी बड़ी हँसी उड़ायी और कहा-यह दर्शन नहीं, पागलपन है । भला जनता-जनता पर किस प्रकार शासन कर सकती है ? किन्तु आज वही पागलपन किस तरह सारी धरती में अपना प्रभुत्व जमाये हुए है, यह सर्वविदित है । यह एक फिलॉसफी और फिलॉसफर की शक्ति है । ऐसी विचार-चेतना जब कभी जहाँ भी अवतरित हुई है, उसने सुषुप्ति तोड़ी और मूर्च्छना मरोड़ी ।

बुद्ध अपने काल के सशक्त मनीषी थे । जहाँ मनीषा जन्म लेती है, वहीं मनीषी का अवतरण होता है । ऐसे मनीषी जब धरित्री पर आविर्भूत होते हैं, तो समाज के जरा-जीर्ण कलेवर का उद्धार हो जाता है । उसमें नयी चेतना पैदा होती है, नई व्यवस्था आती है, नई स्फूर्ति और उमंग का आविर्भाव होता है । यह मनीषी की, मनीषा की सामर्थ्य है । दर्शन इसी से उत्पन्न होता है । बुद्ध ने जब अपने समाज को देखा, तो उन्हें घोर वितृष्णा हुई । उस जमाने की कुप्रथाओं से उन्हें इतनी घृणा हुई कि उन्होंने समाज को एक अभिनव सूत्र दिया-"**बुद्धं शरणं गच्छामि**" बुद्धि की, विवेकशीलता की, समझदारी की शरण में आओ-उन्होंने इसका आह्वान किया । "**संघं शरणं गच्छामि**"-संघबद्ध होकर काम करो, अपनी ढपली, अपना राग मत गुनगुनाओ, समाज की सेवा संगठित होकर ही की जा सकती है-लोगों को इसका उन्होंने प्रथम पाठ पढ़ाया "**धम्मं शरणं गच्छामि** '-आज का जो सर्वोपरि धर्म-समाज सेवा है, उसे समझो और अपना लो, इसका उपदेश किया ।

इस बुद्ध दर्शन ने जन-चेतना में जो उथल-पुथल मचायी, वह असाधारण थी । सम्पूर्ण उत्तर पूर्व इससे इस कदर प्रभावित हुआ, जिसकी छाप आज तक विद्यमान है । इस प्रकार के करतब कर दिखाने वालों को मनीषी कहते हैं । मनीषी विचार नहीं, दर्शन देते हैं-एक ऐसा दर्शन, जो लम्बे समय तक समाज का मार्गदर्शन करता रहे । समस्याओं का समाधान सुझाता रहे-उलझनों को घटाता-मिटाता रहे । ऐसे लोग भारत में प्राचीन समय में बहुतायत से हुए थे । ये ऋषि कहलाये, इन्होंने भारतीय संस्कृति को एक समृद्ध चिंतन और सर्वांगपूर्ण दर्शन दिया । इसी दर्शन ने इस भूमि में इतने सारे महामानव, अवतार, युगपुरुष, समाज सुधारक, ऋषि-मनीषी पैदा किये कि इसे देवभूमि कहा जाने लगा । इसकी तुलना स्वर्ग से की जाने लगी । इसे स्वर्ग की उपमा दी जाने लगी-ऐसा स्वर्ग जिसमें जीवन्त देवता रहते हों, चलते-फिरते प्रत्यक्ष देव निवास करते हों । ऐसे देव जहाँ भी रहेंगे, वहाँ स्वर्ग की अनुभूति स्वाभाविक है । इमर्सन कहा करते थे "मुझे नरक में भेज दो, मैं वहीं स्वर्ग पैदा कर दूँगा ।" यह फिलॉसफी की शक्ति है, शिक्षा या वातावरण की नहीं । शिक्षा और वातावरण तो कई देशों में भारत जैसे रहे हैं, पर वहाँ वह संस्कृति और विद्या नहीं है, इसीलिए वे वहाँ के निवासी भारत जैसे नहीं बन सके ।

वर्तमान में सर्वत्र अराजकता और अव्यवस्था का दौर-दौरा इसलिए दीख पड़ता है, क्योंकि आज दर्शन के नाम पर वितंडावाद ज्यादा चल पड़ा है । सब अपने नाम-यश के पीछे भागते प्रतीत होते हैं । जब स्थिति ऐसी हो जाय, जिसमें व्यक्ति प्रमुख और समाज को गौण माना जाने लगे, तो दशा दयनीय और दुःखद होनी स्वाभाविक है । एक बानगी के सहारे भली-भाँति समझा जा सकता है कि सम्प्रति किस प्रकार लोग एक दूसरे पर अपना वर्चस्व स्थापित करने की कोशिश कर स्वयं को यशस्वी बनाने की चेष्टा कर रहे हैं । कई वर्ष पूर्व प्रूधों ने गरीबों पर एक पुस्तक लिखी । नाम रखा- 'फिलॉसफी ऑफ पोवरटी' अर्थात् 'दरिद्रता का दर्शन' इसके कुछ समय पश्चात् मार्क्स ने इसके जवाब में एक दूसरा ग्रंथ लिखा- 'पोवरटी ऑफ फिलॉसफी' या 'दर्शन की दरिद्रता' । उक्त रचना में कई प्रकार के तर्कों द्वारा प्रूधों के तथ्यपूर्ण विचार को गलत साबित करने का प्रयास किया है । जब स्वयं को श्रेष्ठ और वरिष्ठ सिद्ध करने के लिए दूसरों को निकृष्ट बताने की प्रतिस्पर्धा चल पड़े, तो समाज की जो दुरावस्था हो सकती है, वही आजकल दिखाई पड़ रही है । इसी दिशा में सारा श्रम, समय, क्षमता, प्रतिभा चुकते दृष्टिगोचर हो रहे हैं । जब समाज-निर्माण में काम आने वाली क्षमताओं का दुरुपयोग होने लगे, तो उससे उत्पन्न होने वाले दर्शन का अन्दाज लगाया जा सकता है । आज इसी भ्रष्ट दर्शन ने समाज की यह गति बनायी है । जब भौतिकवादी दर्शन भोगवाद के "**ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्**" के चरमोत्कर्ष पर पहुँच जाय, तो समय का प्रवाह किस ओर होगा, इसका अनुमान लगाना, कोई बहुत मुश्किल नहीं ।

'ह्वाट इज फिलॉसफी ?' नामक कृति में मूर्धन्य विचारक फ्रैंक थिली ने इसी पर विचार किया है । वे लिखते हैं कि फिलॉसफी चिंतन प्रणाली कम, जीवन विधा अधिक है । वह सिद्धांत नहीं, व्यवहार है । उनके अनुसार जिस दर्शन में जीवन जीने की कला का अभाव हो, जो व्यक्ति-निर्माण की प्रक्रिया नहीं बता पाता हो एवं जहाँ अपकर्ष से उत्कर्ष की ओर जाने का कोई मार्ग न हो, वह दर्शन नहीं हो सकता । वे कहते हैं कि दर्शन में इतनी सामर्थ्य होनी चाहिए कि वह मानवी जीवन को चरम लक्ष्य तक पहुँचा सके । यहाँ उनके विचार भारतीय अध्यात्म से बिलकुल मिलते-जुलते हैं । वस्तुतः भारतीय अध्यात्म में ही इतनी शक्ति है कि वह जीवन के अंतिम ध्येय तक व्यक्ति को पहुँचा सके, किन्तु थिली के अनुसार आज वह भी असहाय इसलिए लग रहा है, क्योंकि इन दिनों पूर्वी अध्यात्म पर पश्चिमी विचारधारा हावी है । वह मात्र कथन, श्रवण एवं मानसिक ऐय्याशी जैसा विषय बनकर रह गया है ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

ऐसी दशा में अध्यात्म को जी कर दिखाने की आवश्यकता पड़ी, ताकि लोगों को आश्वस्त किया जा सके कि यह किसी भी प्रकार घाटे का सौदा नहीं है, इसमें हर तरह से लाभ-ही-लाभ है । यह काम शांतिकुंज के संचालक ने बखूबी पूरा किया । आज उसी का परिणाम है कि उनके जीवन-दर्शन पर आधारित 'युग-निर्माण योजना, प्रज्ञा अभियान' आन्दोलन द्रुतगति से अपना कलेवर-विस्तार करता चल रहा है । अगले दिनों यह विश्वव्यापी बनकर 'युग-परिवर्तन' का अपना महती प्रयोजन पूरा कर ले, तो किसी को कोई आश्चर्य नहीं करना चाहिए, वरन् इसे उनके द्वारा प्रतिपादित क्रांतिकारी दर्शन का सत्परिणाम मानना चाहिए ।

वेदान्त पलायनवादी दर्शन नहीं है

योगवासिष्ठ के अनुसार भगवान् रामचन्द्र जी को संसार से तीव्र वैराग्य हुआ और वे विरक्त जीवन जीने की तैयारी करने लगे तो महर्षि वशिष्ठ ने समझाया-"राम तुम संसार का त्याग क्यों करते हो ? संसार क्या ब्रह्म से भिन्न वस्तु है ?"

महाभारत में कुरुक्षेत्र में दोनों सेनाओं के बीच अर्जुन को भी वैराग्य भावना का उदय इसी प्रकार हुआ था । जब दोनों ओर अपने मित्र-सम्बन्धी और पारिवारिकजनों को देखा तो मोह उत्पन्न हो गया, तब भगवान् श्रीकृष्ण ने कर्मयोग की शिक्षा दी थी ।

वेदान्त चिन्तन के नाम पर एक निराशापूर्ण पलायनवादी दृष्टिकोण पल्लवित हो गया है-"जगत मिथ्या माया का खेल मात्र है । यहाँ की हर वस्तु दुःख और बन्धन का कारण है । इससे छुटकारा पाकर भागो । वनों और पर्वतों में जाकर छिप जाओ । तभी ब्रह्म साक्षात्कार व मुक्ति प्राप्त हो सकेगी ।"

हमारा अध्यात्म हमारे मन, हृदय और चेतना की वस्तु है । हमें अध्यात्म के सही रूप को समझने की आवश्यकता है । इसको प्राप्त करने का अर्थ यह नहीं है कि इस संसार को त्याग कर एकान्तवासी हो जाएँ । जीवन को परिपूर्ण बनाने के लिए जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है हम उन सभी का उपभोग करेंगे, किन्तु उन वस्तुओं की कामना और वासना नहीं रह जाएगी । आसक्ति का त्याग ही संन्यास है । यद्यपि जीवन के वैभव हमारे अनुभव के एक अंश बनकर रहेंगे, पर भीतर से हम उनसे इतने मुक्त होंगे कि हमारी समग्र आन्तरिक भावना भगवान में समर्पित होगी ।

जो प्रेय (प्रिय) है उसके प्रति अरुचि, घृणा का भाव उत्पन्न से ही श्रेय की प्राप्ति हो सकेगी ? नहीं, जीवन की सार्थकता प्रेय को श्रेय प्राप्ति का साधन बनाने में है । जीवन के प्रति निषेधात्मक दृष्टिकोण अमानवीय है, अव्यावहारिक है । जीवन के प्रति पलायनवादी दृष्टिकोण रखने वाले लोग समाज से अलग पड़ गये और अकर्मण्यता का शिकार बनकर समाज पर भारस्वरूप हो रहे हैं। ५६ लाख साधु-संन्यासियों का समुदाय इसी गलत दृष्टिकोण का भयावह परिणाम है ।

वेदान्त दर्शन के अनुसार "**माया मात्र मिदं सर्वम्**" (यह सब माया है) "**ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या**" (ब्रह्म सत्य है और जगत मिथ्या है) आदि-आदि उपनिषद् वाक्यों का तात्पर्य संसार और उसकी वस्तुओं की निन्दा करना अथवा उनका निषेध करना नहीं है । वे तो विश्व की आत्म-रूपता बताना चाहते हैं । जगत की इस एकात्मकता का बोध ही वेदान्त का सार है ।

'**सर्वभूत हितेरतः**' (सबके हित में रत रहना) वेदान्त का सिद्धान्त है । विश्व के साथ एकात्मकता का बोध एवं तादात्म्य की अनुभूति प्राप्त किये बिना ब्रह्म के साथ तादात्म्यता, एकात्मकता की अनुभूति नहीं की जा सकती । इस स्थिति की प्राप्ति के बिना "**सर्वभूत् हितेरतः**" का सिद्धान्त केवल ढोंग ही सिद्ध होगा । वेदान्त दर्शन तो कर्म का दर्शन है-इसमें कुण्ठा और गतिरोध को स्थान नहीं ।

देश-काल-परिस्थिति के परिप्रेक्ष्य में ही हमें किसी प्रवृत्ति पर विचार करना चाहिए । प्राचीन ऋषि-मुनियों के जीवन उस समय की परिस्थितियों के अनुसार उपयुक्त थे । वनों में एकान्त साधना ही उनका जीवन था । उस समय वन-सम्पदा का बाहुल्य था । वहाँ अपने आश्रम बनाकर अपनी ज्ञान-साधना में लगे रहना उनके लिए सर्वथा उपयुक्त था । उनकी वेश-भूषा भी परिस्थितिजन्य थी । प्रायः अधिकांश ऋषियों के पत्नी और बच्चे थे । जगत व्यापार में लोक-व्यवहार करते हुए भी आत्मा की निर्मलता उनका लक्ष्य था । वायु में गन्ध मिली होती है फिर भी वायु उससे निर्लिप्त रहती है-यही प्राचीन ऋषियों का जीवन था ।

सांसारिक जीवन का उपभोग करते हुए भी मन से निर्लिप्त रहना ही सच्ची निवृत्ति है । संसार से अलग वन गुफाओं के अन्दर रहते हुए भी मन के भीतर सांसारिक वासनाओं की सृष्टि होती रह सकती है ।

निवृत्ति मार्ग को अधिक बल आचार्य शङ्कर से मिला । इस सन्दर्भ में हमें शंकर की समकालीन परिस्थितियों की समीक्षा करनी होगी । वेदान्त विद्या के परम आचार्य शंकर के कन्धों पर सच्चे वैदिक धर्म के पुनरुद्धार का भार था । उस समय भारत में बौद्ध धर्म का बोलबाला था । शंकर को बौद्ध धर्म से लोहा लेना पड़ा । लोहे से ही लोहा काटा जाता है । भगवान बुद्ध ने भिक्षुओं को जो प्रव्रज्या दी थी, वह शंकर के मन को भी ठीक लगी । अतः उन्होंने '**सर्वभूत हितेरतः**' सिद्धान्त के लिए समर्पित संन्यासी वर्ग के लिए काषाय और प्रव्रज्या दोनों को बौद्ध धर्म से लिया, परन्तु उन्होंने बौद्धों के निराशापूर्ण क्षणभंगुरवाद का खण्डन किया और आत्मा के शाश्वत् अजर-अमर स्वरूप का प्रतिपादन किया ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

शङ्कर के बारे में यह कहना कि वे जगत को मिथ्या कहकर इससे भाग जाने का उपदेश करते थे, ठीक नहीं । शंकर तो जगत का ब्रह्म के साथ एकीभाव दिखाकर उसे सत्य रूप प्रदान करते थे । उनके दर्शन में जगत मिथ्या नहीं । उसको अनन्त आत्मा से अलग समझने की दृष्टि मिथ्या है । जीवन के प्रथम चरण में ही कर्म संघर्ष में उतर आने वाले शंकर को हम पलायनवादी मार्ग की ओर प्रवृत्त करने वाला किस प्रकार कह सकते हैं ।

"अमृतस्य पुत्राः वयम्" (हम अमृत के पुत्र हैं) । यही वेदान्त की आस्था है । जहाँ हम विश्व की समग्र सत्ता के इस मूल अमृत स्रोत के साथ स्वयं को जोड़ लेते हैं । वहाँ हम पलायनवादी नहीं, कर्मवान होने की सतत् प्रेरणा प्राप्त करते हैं । अन्तर केवल इतना है कि इस दिशा में किये गये कर्म के पीछे समष्टि के हित का भाव होगा, स्वार्थ की भावना नहीं । वेदान्त आदमी को ऊपर उठाकर जीना सिखाता है ।

वेदान्त के "माया मात्र मिदं सर्वम्" "ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या" सूत्रों के वास्तविक भाव न समझने वाले लोग शब्दाडम्बर के जाल में उलझे हुए हैं । आध्यात्मिक मार्ग पर आरूढ़ हर अभीप्सु को निरन्तर सत्य के किसी मौलिक साक्षात्कार के लिए भी तत्पर रहना चाहिए । शब्दों के भीतर निहित समान्तर अर्थों का आकलन करना अभीष्ट है । जो शब्दों मात्र पर जीते हैं, वे उसी तरह भूखे रह जायेंगे जैसे अपूर्ण पोषण से पीड़ित व्यक्ति भोजन करके भी भूखे रह जाते हैं ।

आध्यात्मिक साहित्य में जिन सत्यों को प्रकाशित किया जाता है, वे चेतना में बोये हुए बीज होते हैं। यदि उन बीजों को सक्रिय और उर्वर चेतना में बोया जाता है तो वे फूट कर उग आते हैं और फल प्रदान करते हैं । पर यदि उन्हीं बीजों को सुप्त चेतना में आरोपित किया जाता है-एक ऐसी चेतना में जो अचेतन या मृत है-जो बाह्य रूपों और क्रियाकाण्डों या विगत काल के विचारों पर जीती है-तो वे बीज फूटेंगे नहीं, अंकुरित और परिपक्व नहीं होंगे ।

वेदान्त के सुन्दर विचार बीज अनुर्वर मस्तिष्कों में ज्यों के त्यों निष्क्रिय रूप में पड़े हैं । लाखों लोग उन बीजों को धारण करने का दावा करते हुए भी निष्प्राणवत् समाज के भार बने हुए हैं ।

आज वेदान्त की नाव पर चढ़े हुए असंख्य लोग ज्ञान सागर में अपनी नाव चला रहे हैं, किन्तु भाँग पिये हुए प्रमादी लोगों की तरह उनकी नाव रस्सी से किनारे के खूँटे पर बँधी हुई निष्क्रिय है । वे समझ रहे हैं कि हम चल रहे हैं, बढ़ रहे हैं किन्तु सत्य है कि वे एक इन्च भी टस से मश नहीं हो रहे हैं ।

ज्ञान कर्म का सागर संतरण तो उनके लिए असम्भाव्य है ही, सांसारिक भोग-वासना से दूर हटने में भी असमर्थ हैं। दिखावा करते हैं कि हम संसार से अलग हैं किन्तु वस्तुतः उसकी नाव सांसारिक वासना के खूँटे से बँधी हुई किनारे के पास ही हिल रही है । सही अर्थों में वे न पलायनवादी हैं न कर्मवादी, बल्कि घोर संसारी लोग हैं । कर्त्तव्य कर्म के उत्तरदायित्व से बचकर सभी सांसारिक भोगों का उपभोग कर रहे हैं । धर्म को तुच्छ व्यवसाय का रूप देकर भारतीय संस्कृति की उत्कृष्ट विचारधारा को गन्दा कर दिया है । इस जघन्य अपराध के लिए आने वाला युग इन निवृत्तमार्गियों को कभी क्षमा नहीं करेगा ।

समस्त विचारधाराओं का सार वेदान्त

विगत शताब्दी में कई सुसंस्कृत योरोपीय विद्वानों ने वेद, उपनिषद् तथा अन्य धार्मिक साहित्यों का मात्र गम्भीर अध्ययन ही नहीं अपितु अनुवाद भी किया । इस कारण योरोप में भारतीय तत्त्वज्ञान के प्रति अभिरुचि बढ़ी, फलस्वरूप १९वीं सदी के अन्त और वर्तमान के आरम्भ में विवेकानन्द जैसे सन्तजनों को योरोप में बुलाया गया जहाँ उन्होंने वेदान्त क्या है, बताया । वेदों के ज्ञान का अन्त 'ज्ञानकाण्ड' ही वेदान्त है, जिसमें १०८ से अधिक उपनिषद् के सिद्धान्त का समन्वय होता है । चूँकि भारत में तत्त्वज्ञान की प्रमुख ६ शाखाएँ विद्यमान हैं । (१) जैसे कणाद का वैशेषिक, जिसने विश्व की पाई जाने वाली अणु ऊर्जा की जानकारी दी है (२) गौतम का न्याय दर्शन (३) कपिल का सांख्य (४) जैमिनी की पूर्व मीमांसा (५) पतंजलि का योग दर्शन (६) व्यास का उत्तर मीमांसा-वेदान्त-ये सब भिन्न-भिन्न दर्शन हैं फिर भी एक दर्शन का सर्वाधिक प्रभाव भारतीय भू-खण्ड में दिखाई पड़े तो वह वेदान्त का है ।

वेदान्त का तत्त्वज्ञान एक ही मूल सिद्धान्त पर टिका है-एक ही मूल सत्ता है, "सारी सृष्टि का एक स्रोत है और सारे विश्व में एक ही 'कास्मिक माइन्ड' काम करता है ।" इस परमसत्ता को आत्मा अथवा परमात्मा कहा गया । जीव मात्र को प्राण कहा गया । प्रत्येक जीवधारी को चलाने वाली जीवनी-शक्ति को प्राण कहा गया । वेदान्त के अन्य सिद्धान्त हैं कि जीवन का स्रोत जड़ नहीं चेतन ही हो सकता है । इस परमात्मा को वेदान्त में सच्चिदानन्द का नाम दिया गया है । जो नर है न नारी और नर-नारी दोनों ही है और इससे परे भी ।

वेदान्त में सभी एक समान, एक हैं । कोई जाति-लिङ्ग का भेदभाव नहीं । स्वर्ग और नरक यहीं पर हैं । अब आप महत्त्वाकांक्षा के गुलाम हो जाते हैं, धन-दौलत, भोग-विलास, विषयों के दास हो जाते हैं, तो हम अपने को नरक में पाते हैं । वेदान्त के अनुसार मानव के छह दुश्मन हैं, जो नरक में घसीटते हैं, काम, क्रोध, लोभ, मोह मद और मत्सर । वेदान्त कहता है कि परमसत्ता न तो किसी पर दया करती है और न किसी को सजा देती है। यह किसी को नरक में नहीं घसीटती । वेदान्त का सार

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

गीता में बताया गया है कि यदि आपकी वासनाएँ, कामनाएँ मलिन हैं तो आप नरक में हैं । किन्तु यदि आपकी दैवीय कामनाएँ हैं जो मनुष्य मात्र की ही भलाई सोचते हैं तो आप स्वर्ग में हैं ।

अभय को वेदान्त ने सर्वोच्च सद्गुण बताया है । वेदान्त कहता है कि परमात्मा सर्वज्ञ है, सनातन है और ज्ञान स्वरूप तथा अनन्त है । वेदान्त के अनुसार आप ही आपके भाग्य विधाता हैं । वेदान्त आपको कर्मयोग सिखाता है प्रारब्ध नहीं । प्रत्येक क्रिया को भगवान् की पूजा समझी जाय । भोजन करते समय यह मनोभाव रखें कि आप जठराग्नि स्थित उस देव, उस परमसत्ता को आहुति दे रहे हैं जो भोजन पचाती है, अस्तु भोजन की क्रिया यज्ञ प्रक्रिया है। भगवान् की उपासना करनी है तो कहीं जाने की आवश्यकता नहीं । आपका खाद्य ही उस शक्ति का परम निवास है । नारी में सभी परमशक्ति का दर्शन करें। विश्व के अधिकांश भाग में महिलाओं को पिछड़ी स्थिति में रखा गया है तभी तो वे हीन रखी हैं । वेदान्त के अनुसार संसार एक नाट्यशाला है जिसमें विशेष भूमिका निर्वाह के लिए आपको कहा गया है । अपनी भूमिका सही-सही पूरी करें। यही सही ज्ञान, सही पूजा है । जहाँ कहीं ज्ञान है वहीं प्रकाश है । प्रकाश को ही ज्ञान का 'प्रतीक' बताया गया है और अन्धकार को अज्ञान का ।

वेदान्त के सर्वश्रेष्ठ भाग को राजयोग कहा गया है जो सिखाता है कि शरीर के मस्तिष्क तथा देह पर कैसे नियन्त्रण रखा जाय ? इसमें अष्टांग योग, प्राणायाम आदि सिखाया गए हैं । मूल तो दर्शन है शेष क्रियायोग तो सामान्य-सा खेल है ।

नीतिशास्त्र का सर्वप्रथम नियम यह है कि अपने पड़ोसी को अपनी तरह प्यार करें । प्यार क्यों करें ? इसका उत्तर वेदान्त में मिलेगा नीतिशास्त्र में नहीं । वेदान्त का 'तत्त्वमसि' पड़ोसी को इसलिए नहीं चाहेगा कि वह हमारी भलाई करेगा किन्तु तत्त्वमसि तो 'स्प्रिचुअल वननेस' एक परमपिता के सन्तान होने की बात सिखाता है । यही नीतिशास्त्र का मूलभूत सिद्धान्त है 'आध्यात्मिक एकता' । इस सृष्टि से किसी व्यक्ति को दुःख पहुँचाने का कोई कार्य हम नहीं करेंगे । इतना ही नहीं किसी अन्य को नुकसान पहुँचाकर अपना लाभ नहीं उठायेंगे । वेदान्त का सत्य निरूपण विभिन्न मत-मतान्तरों के बीच ही नहीं अपितु वास्तविक धर्म तथा वास्तविक विज्ञान के बीच इस समस्वरता का संस्थापन करता है, जो आज की अतीव आवश्यकता है । मैक्समूलर ने कहा था "सभी तत्त्वज्ञान की विचारधाराओं में वेदान्त सर्वोत्तम है, क्योंकि हर प्रकार के तत्त्वज्ञानों और सभी धर्मों का समन्वय करता है ।"

सनातन धर्म के अनुसार परम शक्ति एक ही हो सकती है, चाहे आप किसी सम्प्रदाय के क्यों न हों ? यह दिव्य शक्ति न केवल मनुष्यों को ही जीवन प्रदान करती है अपितु पशु तथा वनस्पति सृष्टि एवं जड़ सृष्टि को भी जीवन प्रदान करती है, क्योंकि जड़ से भी मालीक्युलर ऐक्टिविटी जैसे कि इलेक्ट्रान आयन, स्टेम्प या मालीक्युल की चित्र-विचित्र संरचना-हलचल हरदम होती रहती है । इसे आप चाहे लाइफ फोर्स या प्राण नाम दें, सारी सृष्टि वेदान्त के अनुसार प्राण तत्त्व से भरी हुई है ।

वेदान्त कहता है कि वास्तव में मानवता ही ईश्वरत्व है । यदि आप अपने भाई या पड़ोसी से दुर्व्यवहार करते हैं, तो उसके मानी होते हैं कि आपका यह दुष्कृत्य भगवान् के साथ हो रहा है ।

प्रो. मैक्समूलर के अनुसार-"वेदान्त सब तत्त्वज्ञानों की विचारधाराओं का सार है, जो विश्व के सभी धर्मों का समन्वय करता है, क्योंकि योरोप के विभिन्न मूर्धन्य तत्त्वज्ञानी जैसे प्लूटो, शोपेनहावर, हेगल, काण्ट, ह्यूम इत्यादि सभी ने उच्चतम सत्य के बारे में जो कुछ बताया है, उसको आप वेदान्त में पायेंगे । वैदिक धर्म पालन करने वाला एक सच्चा ईसाई, सच्चा मुसलमान, सच्चा बौद्ध या सच्चा हिन्दू है, क्योंकि वह परमसत्ता की उपासना करता है और प्राणि मात्र में परमात्मा का दर्शन करता है, इसलिए विश्व के सभी पैगम्बरों और सन्तों का वह सम्मान करता है और पूज्य भाव दर्शाता है ।"

जीवन के उद्देश्यों को समझने का प्रयत्न कीजिए और किसी भी भाँति उस लक्ष्य, इष्ट से इसकी उपासना कीजिए । यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जब हम कोई बुरा काम करते हैं जिससे किसी को दुःख होता है, हम अशान्त हो उठते हैं, क्योंकि हमारी आत्मा हमें कोसती है । इसी प्रकार जब हम सच्चाई के मार्ग पर चलते हैं, किसी की भलाई करते हैं तो मन प्रसन्न शान्त रहता, उसी समय हम देवत्व का अनुभव करते हैं, क्योंकि अशान्त मन में शैतान रहा करता है । वेदान्त के अनुसार इसी धरती पर स्वर्ग नरक दोनों हैं । वेदान्त की आधारशिला कर्म सिद्धान्त है । कर्मयोग का जितना सुन्दर विवेचन वेदान्त में है, वह कहीं और देखने को नहीं मिलता ।

उच्चतम ज्ञान का उद्गम स्रोत

वेदान्त

वेदान्त दर्शन में भारतीय तत्त्वज्ञान की अनुपम व्याख्या की गयी है । दार्शनिक विचारधारा की इस शाखा में भारतीय चिन्तन का सार समाविष्ट है । इसमें अपने आप में पूर्ण समग्रता है । वेदों के अन्तिम खण्ड ज्ञान काण्ड में निहित १०८ उपनिषदें ही इस चिन्तनधारा की गंगोत्री अर्थात् उद्गम स्रोत हैं । यहीं से चिन्तन की यह भागीरथी अजस्र स्रोतों में प्रवाहित होती है ।

वेदान्त में निहित तत्त्वज्ञान का एक सार्वभौमिक सिद्धान्त है कि मूलसत्ता एक ही है । यही सारी सृष्टि का

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

स्रोत और आधार है । यह सत्ता सार्वभौम और सर्वव्यापक है। इसी के प्रकाश में समस्त अस्तित्व उद्घाटित और प्रकाशित होता है । इसी परमसत्ता को ज्ञानी-मनीषी भिन्न नामों से पुकारते हैं । ईसाइयों का गौड, पारसियों का आहुरमज्द, यहूदियों का जेहोवा, मुसलमानों का अल्लाह या खुदा, बौद्धों का शून्य, आर्यों का ब्रह्म एक ही शाश्वत् सत्य के विविध नाम हैं । वेदान्त की शिक्षा "**एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति**" इन सबमें अद्भुत सामञ्जस्य स्थापित करती है । इसी परम सत्य को आधुनिक काल के चिन्तकों जैसे-शोपेनहावर ने इच्छा हरबर्ट स्पेंसर ने अज्ञेय, स्पिनोजा ने सबस्टेन्शिया, प्लेटो ने शुभ आदि के द्वारा इंगित किया है । यह दिव्य सत्ता संसार में संव्याप्त होते हुए भी सबसे परे है ।

इसका तत्त्व ज्ञान सभी का अमृतस्य पुत्र का सम्बोधन देते हुए सभी को परमात्मस्वरूप घोषित करते हुए बताता है-"**त्वं स्त्रीत्वं पुमानासि त्वं कुमार उतवा कुमारी । त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भावसि विश्वतोमुख ।**"

अर्थात् विश्वतोमुख परमसत्ता ही स्त्री-पुरुष, बूढ़े-बच्चे आदि सभी स्वरूपों में अभिव्यक्त हो रही है । इसकी दृष्टि में न तो कोई छोटा है न बड़ा, न छूआ-छूत जैसा संकीर्ण भाव है, न स्त्री के प्रति उपेक्षित हीनभावना । बिना किसी भेद-भाव के जीवन का उद्देश्य और उसकी प्राप्ति के मार्ग को दार्शनिक चिन्तन की यह धारा उद्घाटित करती है।"

भगवान् न तो किसी की रिश्वत से खुश होकर उसे सिंहासनारूढ़ करता है, न ही किसी से नाराज होकर उसके लिए नर्क की व्यवस्था । स्वर्ग-नरक मनुष्य के अपने कर्मों के परिणाम हैं और किसी लोक-लोकान्तर में न होकर यहीं पर है । महत्त्वाकांक्षी धन-वैभव इन्द्रिय लिप्साओं का गुलाम विषयों के दास होकर हम स्वतः ही अपने लिए नरक का निर्माण करते और दुःखी होते, कष्ट पाते हैं । सत्कर्मों में स्वयं को नियोजित कर आसक्ति फलाकांक्षा से रहित उच्च उद्देश्यों में लगा सत्य का जिज्ञासु उत्तम स्वर्गीय आनन्द का लाभ उठाता है । इस गुह्यतत्त्व को उद्घाटित करता हुआ वैदिक चिन्तन पुरुषार्थ हेतु प्रेरणा देते हुए निर्देश देता है-

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैवः रिपुरात्मनः ।।

अर्थात्-व्यक्ति को स्वयं प्रयत्नशील होना चाहिए । अपने उत्कर्ष का जिम्मेदार वह स्वयं है । उसके अपने ही सद्गुण मित्र और दुर्गुण शत्रु की भूमिका निभाते हैं । दूसरे शब्दों में मनुष्य अपना मित्र-शत्रु स्वयं है अन्य कोई नहीं ।

पुरुषार्थ की प्रेरणा देते हुए यह 'अभय' को सर्वोच्च गुण के रूप में मान्यता देता है । इसके अनुसार भय का कारण मात्र अज्ञान ही है जैसे किसी को रस्सी में सर्प का भ्रम हो जाय तो वह तब तक डरता रहेगा, जब तक यथार्थता से अवगत न हो । सत्य का ज्ञान सारे भयों को उसी प्रकार विनष्ट कर देता है जैसे कि प्रकाश अंधकार को । ज्ञान का रहस्य भक्ति के रहस्य और कर्म के रहस्य को खोलते हुए उसमें अद्भुत समन्वय सुसामञ्जस्य स्थापित करना इस चिन्तनधारा की विलक्षणता है । ज्ञान का अवलम्बन हो अर्थात-विवेक से निर्णित कर अपने स्वधर्म रूप कर्मों को अनासक्त भाव से भावनापूर्ण हृदय से विराट् पुरुष के लिए अर्थात् उसकी अभिव्यक्ति रूप इस विश्व वाटिका को अधिकाधिक सुन्दर, परिष्कृत, सुघढ़ बनाने, पुष्पित, मञ्जरित करने में किया जाय तो यह उपासना का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप बन सकता है । छोटी-छोटी क्रियाएँ भी भावना और विवेक के संयोजन से महत्त्वपूर्ण बन जाती हैं । इस प्रकार की उपासना करने के लिए न तो कहीं पलायन की आवश्यकता है, न भागने की । संसार एक रंग-मंच की तरह है । इसमें अपनी भूमिका का निर्वाह भली प्रकार करें । यही सही ज्ञान है ।

नीतिशास्त्र का सामान्य कथन है कि हम अपने पड़ोसी को उसी प्रकार प्यार करें जैसा कि स्वयं से । पर प्यार करें क्यों ? नीतिशास्त्र के पास इसका कोई समाधान नहीं है । वेदान्त का चिन्तन उत्कृष्ट ढंग से इस गुत्थी को सुलझाते हुए कहता है-"**तत्त्वमसि**" अर्थात् तुम वही परम तत्त्व हो एवम् "**सर्वंखल्विदं ब्रह्म**" अर्थात्-समस्त में वही परमतत्त्व व्याप्त है । वेदान्त के इस भाव को मानने वाला पड़ोसी को इसलिए नहीं चाहेगा कि उसके ऊपर कोई अहसान कर रहा है अपितु पड़ोसी ही नहीं सभी के लिए समान रूप से होगा । यही भाव 'स्प्रिचुअल वननेस' आध्यात्मिक एकता का केन्द्रीय आधार है । इस दृष्टिकोण को स्वीकार करने वाला किसी को दुःख-कष्ट पहुँचाने की तो दूर वह इस बारे में सोचेगा भी नहीं । वेदान्तिक ज्ञान विभिन्न मत-मतान्तरों के बीच ही नहीं अपितु वास्तविक धर्म और विज्ञान के सच्चे स्वरूप के बीच समस्वरता व सामञ्जस्य का स्थापन करता है, जो आज की आवश्यकता है ।

परमसत्ता एक ही है, चाहे हम किसी मत-सम्प्रदाय को मानें । यही न केवल मनुष्यों, मनुष्येतर प्राणियों, वनस्पतियों में जीवन का संचार करती है अपितु जड़ कही जाने वाली सृष्टि को भी गतिशील बनाती है । क्योंकि जड़ में भी मॉलीक्यूलर एक्टीविटी जैसे इलेक्ट्रान का घूमना आदि हलचल हरदम होती रहती है । इसे भले ही लाइफ फौर्स प्राण जैसे अन्यान्य नाम क्यों न दिए जाएँ पर इसका मूल कारण वैश्व चेतना ही है ।

वेदान्तिक चिन्तन बौद्धों की तरह निषेधात्मक नहीं वरन् विधेयात्मक है । इस चिन्तन को समझकर-अपनाकर पूर्व काल में ऋषियों ने और आधुनिक काल में सदाशिव ब्रह्मेन्द्र, रामकृष्ण, विवेकानन्द, रामतीर्थ, अभेदानन्द आदि सन्तों ने अपने जीवन का समग्र विकास किया और परम सत्य से एकत्व पा सके ।

प्रसिद्ध चिन्तक एवम् 'पेरेनियल फिलासॅफी' के लेखक एल्डुअस हक्सले के अनुसार-"वेदान्त परम सत्य की खोज

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

का मार्ग प्रशस्त करता है । यह स्पष्ट करता है कि इस शाश्वत् सत्य की खोज शुद्ध मन और ऋतम्भरा प्रज्ञा के द्वारा सम्भव है ।'' पूर्णता की प्राप्ति हेतु आवश्यकताओं की सुन्दर विवेचना व्याख्या अन्यत्र दुर्लभ है ।

क्रिस्तेफर ईशर उड़ अपने एक लेख 'व्हाट वेदान्त मीन्स टूमी' में बताते हैं कि वेदान्त की शिक्षा ने मेरे हृदय में अभय का संचार किया । सही माने में मुझे ज्ञात हो सका कि अपना सच्चा स्वरूप क्या है ।

सुप्रसिद्ध लेखक जेराल्ड हर्ड बताते हैं कि भारतीय चिन्तनधारा का मुकुटमणि वेदान्त एक विचार विज्ञान है, जिसमें वैश्व सत्ता अपनी वास्तविक प्रकृति एवम् मानव के सच्चे स्वरूप को स्पष्ट किया गया है ?

प्रख्यात विदुषी डॉ० मेरिआना मासिन वेदान्त की शिक्षाओं को हृदय मन की शांति एवं पूर्णता की प्राप्ति के लिए अद्वितीय एवम् सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानती हैं । उनके अनुसार इसके विचार जीवन की गुत्थियों को सुलझाकर नूतन दिशा प्रदान करते हैं । इसमें अंधविश्वास जैसा कुछ नहीं । चिन्तन की यह विधा तर्क नैयामिक दृष्टिकोण तथा अनुभूतियों पर आधारित है ।

आंग्लदेश की रूथ फोलिंग का कहना है कि वेदान्त में निहित शिक्षाएँ आध्यात्मिक क्षेत्र के नक्शे की रेखाओं की तरह हैं, जिन्हें उपनिषदों के ऋषियों ने बनाया है ।

सुप्रसिद्ध विद्वान जेराल्ड साइकेस ने अपने एक लेख 'टू रिंग इण्डिया एट ए डिस्टेंस' में बताया है कि फिल्लिग फ्रारस्टर, इमर्सन काण्ट, ह्यूम ने उच्चतम सत्य के बारे में जो बताया है उसका उद्‌गम स्रोत वेदान्त ही है । पश्चिमी विचारकों में इसी के विचार प्रतिबिम्बित हुए हैं ।

नि:सन्देह इसका महत्त्व असाधारण है । इसकी शिक्षाओं को अपने जीवन में, आचरण में अपनाकर व्यावहारिक रूप से क्रियान्वित कर कोई भी अपने वास्तविक स्वरूप को जो दिव्य है, उसे जानकर शाश्वत् सत्य से एकत्व पाकर जीवन का परम लाभ अर्जित कर कृत-कृत्य हो सकता है ।

समदर्शन और व्यवहार-कौशल

संसार में सभी प्रकार के मनुष्य भरे पड़े हैं । उनका वर्गीकरण मोटे रूप में इस प्रकार किया जा सकता है- (१) सज्जन (२) दु:खी (३) समुन्नत (४) दुर्जन । इन सबसे व्यवहार भी तदनुरूप ही करना होता है । सभी से एक जैसा व्यवहार नहीं हो सकता ।

योगदर्शन में एक सूत्र आता है । मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा । इसमें व्यक्ति के अनुरूप व्यवहार करने की आवश्यकता एवं उपयोगिता समझाई गई है । सज्जनों के साथ मित्रता करनी चाहिए । ताकि उनके सद्‌गुणों का प्रभाव अपने ऊपर भी पड़े और समयानुरूप सद्व्यवहार किये जाने की भी अपेक्षा रहे । दु:खी लोगों के, पिछड़ों के प्रति करुणा भाव रखा जाय और उनकी सेवा-सहायता करने, संकटों से उबारने की चेष्टा चल पड़े । कम से कम सहानुभूति प्रकट करने, धैर्य बँधाने-उबरने का मार्ग बताने का प्रयत्न तो किया ही जाना चाहिए ।

जो सफल-समुन्नत हैं उनको देखकर प्रसन्न हुआ जाय । उन्नतिशीलों को इतना उपहार तो मिलना ही चाहिए कि उनके पुरुषार्थ एवं कौशल की प्रशंसा हो, प्रोत्साहन मिले । इससे दूसरों को भी उत्कर्ष की प्रेरणा मिलती है ।

दुष्ट-दुर्जनों से सदा लड़ना तो सम्भव नहीं हो सकता । रास्ता चलते किससे झगड़ा किया जाय और किस प्रकार सुधारा तथा ठिकाने लाया जाय ? इसलिए उनकी उपेक्षा की जाय ? कम से कम अपने साथ किये दुर्व्यवहार की तो उपेक्षा की ही जा सकती है ताकि जितना समय बदला लेने, नीचा दिखाने में लगे, उसे बचाकर किसी उपयोगी कार्य में लगाया जा सके । इतने पर भी इतना तो ध्यान रखना ही चाहिए कि उन्हें असहयोग, विरोध और संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होने का भय तो दिखाया जाय, अन्यथा उनके निर्विरोध की स्थिति में अधिक दुस्साहस दिखाने का अवसर मिलता है । उपेक्षा इसी सीमा तक की होनी चाहिए, जिससे दुष्टों का हौंसला बढ़ने न पाये । उन्हें यह भय बना ही रहना चाहिए कि समाज सर्वथा निर्जीव नहीं हुआ है, एक के साथ दुर्व्यवहार करने पर कोई दूसरा जीवट वाला आदमी उसका मजा चखा सकता है अथवा शासन की प्रताड़ना उसे भुगतनी पड़ती है ।

व्यक्ति के स्तर के अनुरूप व्यवहार करना ही कर्म-कौशल है, जिसे गीता में भगवान् ने योग का ही एक प्रकार कहा है ।

व्यवहारकुशलता के आधार पर व्यक्तियों से भिन्न व्यवहार करने की बात इसलिए कहनी पड़ी कि तत्त्वदर्शन में कई स्थानों पर ऐसा उल्लेख आता है कि सबमें एक ही आत्मा है । इसलिए समदर्शी होना चाहिए और सबसे सद्-व्यवहार करना चाहिए । गीता में ही एक स्थान पर ब्राह्मण, गौ, हस्ति, श्वान और चाण्डाल के साथ विचारशीलों को समदर्शी होने का परामर्श दिया गया है । इस परामर्श में ब्रह्म दृष्टि की मान्यता तो ठीक है। अन्त:करण में होनी चाहिए । ''आत्मवत् सर्वभूतेषु'' की मान्यता विचार-बुद्धि तक ही सीमित रहने योग्य है । उसे व्यवहार में समान रूप से प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। व्यवहार में जाने पर तो बड़ी अटपटी स्थिति हो जायेगी । सम्मानित गुरुजन और दुष्ट-दुरात्मा एक ही मंच पर बिठाये जायेंगे और उनकी समान रूप से पूजा-आरती की जायगी अथवा दोनों की उपेक्षा-भर्त्सना की जायेगी तो यह व्यवहार सर्वथा अटपटा हो जायेगा उसका दुष्परिणाम भी होगा । साथ ही इस अटपटेपन को कार्यान्वित करने वाले को उपहास का सामना भी करना होगा ।

दर्शन दृष्टिकोण तक सीमित है । व्यवहार लोकाचार से सम्बन्धित । इसलिए दोनों के बीच का अन्तर औचित्य का समर्थन करते हुए अनौचित्य का विरोध भी करना

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

चाहिए । न्यायाधीश एक को ससम्मान बरी करता है । दूसरे को जेल या फाँसी की सजा देता है । तीसरे की क्षति-पूर्ति करता है और चौथे को उपहार दिये जाने की सिफारिश करता है । इसमें उसका कोई निजी राग-द्वेष नहीं है, न कोई स्वार्थ, प्रतिशोध । वह न्यायपीठ पर बैठा हुआ होने से समदर्शी भी कहा जा सकता है । किन्तु जब व्यवहार की बात आती है तो व्यक्ति का स्तर देखते हुए उसके सुधार की कामना करते हुए भिन्न व्यक्तियों से उनके स्तर के अनुरूप भिन्न प्रकार का आचरण करना पड़ता है । इसके बिना काम नहीं चल सकता ।

द्रोणाचार्य हाथ में वेद और कन्धे पर धनुष रखते थे । गुरु गोविन्दसिंह ने शिष्यों को एक हाथ में माला और एक हाथ में भाला रखने का आदेश दिया है । ईसा ने एक गाल पर थप्पड़ मारने वाले के सामने दूसरा गाल कर देने का उपदेश दिया है, किन्तु कार्लमार्क्स ने अनाचार से घृणा करने और उसके उन्मूलन में जुटने की बात कही है । इनमें विसंगतियाँ दिखाई पड़ती हैं, पर वस्तुतः ऐसा कुछ है नहीं । जैसे को तैसा बरतना व्यवहार-कौशल है ।

समझदार सज्जनों को भ्रान्तियों से मुक्त कराने हेतु तर्क, तथ्य और आदर्शों की चर्चा से यथार्थता का अनुभव कराया और राह पर लाया जा सकता है । किन्तु हिंस्र पशु उस तरह के व्यवहार को नहीं समझते हैं । उनके लिए भय ही एकमात्र ऐसा आधार है जिससे डराकर उन्हें सीमा में रखा जा सकता है । नम्रता और सदुपयोग को तो वे दुर्बलता समझते हैं एवं उपहास उड़ाते हैं । इससे उनका आक्रमण रुकता नहीं । इन स्थिति भिन्नताओं को देखते हुए व्यवहार में अन्तर करना पड़ता है । द्रोणाचार्य, गोविन्दसिंह ने एक ही व्यक्तित्व में दोनों बातों का समावेश रखने की बात कही है जबकि ईसा और मार्क्स ने आधी-आधी बातें कहकर उनका सम्मिश्रण करने की बात विवेकवानों की सहज बुद्धि पर छोड़ दी है ।

एक राजा के दरबार में तीन जुआरी पेश किये गये । राजा ने एक को काला मुँह करके गधे पर बिठाकर शहर भर में घुमाने की सजा दी । दूसरे का नाम पुकारा और पिता की बड़ाई करते हुए कहा-आप भी ? तीसरे से कुछ नहीं कहा और कहा-जाइए ।

तीनों को तीन तरह की सजा एक ही अपराध में मिलने की बात लोगों को अटपटी लगी । मंत्री ने तो कारण ही पूछ लिया । इस पर राजा ने दूसरे दिन यह तलाश कराया कि देखो, वे तीनों क्या कर रहे हैं । जिसे गधे पर घुमाया गया था, वह फिर दूसरे दिन भी जुआ खेल रहा था । दूसरा जिसके बाप की तुलना की गई थी, उसने वह नगर ही लज्जा के मारे छोड़ दिया । तीसरे को अपने ऊपर इतनी ग्लानि हुई कि उसने विष खाकर आत्महत्या कर ली । राजा ने सभासदों को सम्बोधन करते हुए कहा कि अब आप लोग समझे होंगे, भिन्न लोगों से भिन्न प्रकार का व्यवहार करने का कारण वस्तुतः औचित्य पर आधारित था ।

भैंसे को डन्डे के बल पर चलाया जाता है किन्तु घोड़ा लगाम का इशारा करने पर ही दौड़ने लगता है । यह प्रकृति की भिन्नता है । उसी के अनुरूप व्यवहार का औचित्य भी है । इस वर्गीकरण के लिए योगदर्शन के सूत्र में मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा का संकेत किया है पर हम आज की परिस्थितियों को देखते हुए वर्गीकरण के और भी भेद-उपभेद कर सकते हैं और तदनुरूप व्यवहार के और भी तरीके निकाल सकते हैं । ऐसा भी हो सकता है कि आवश्यकतानुसार व्यवहार में साम, दाम, दण्ड, भेद की चतुरता का समावेश किया जाय । जहाँ एक से काम न चलता हो वहाँ दूसरे-तीसरे की नीति अपनाई जाय । भावना हमारी सुधार की है । व्यक्ति से नहीं अनीति से घृणा करें और डाक्टर के आपरेशन जैसी कठोरता को भी नीति के अन्तर्गत ही समझें तो वह समन्वित व्यवहार सभी के लिए श्रेयस्कर हो सकता है ।

दर्शन को भ्रष्ट न किया जाय

मनुष्य ने पिछले एक लाख वर्ष में असाधारण उन्नति की है । यदि वह बन्दर की औलाद है तो भी अपने पूर्वजों की तुलना में कहीं आगे है । सुविधा-साधनों की दृष्टि से भी और नीति-आचरण की दृष्टि से भी । यदि किन्हीं गुत्थियों का समाधान करना है या प्रगति का अग्रिम पथ खोजना है तो भी संचित सभ्यता द्वारा उपलब्ध हुए निष्कर्षों का सहारा लेना पड़ेगा । सुविकसित मेधा और प्रज्ञा इस सम्बन्ध में आवश्यक सहायता कर सकती है । संचित तत्त्वदर्शन इतना निरर्थक नहीं है कि उसे कूड़े-करकट के ढेर में फेंक कर कीड़े-मकोड़ों के आचरण को प्रकृति प्रेरणा मानकर उसके अनुकरण की बात सोचनी पड़े । कुत्ता दूसरे कुत्ते के मुँह का ग्रास छीनने की कोशिश करता है । बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है तो हमें भी अपने पुरातन तत्त्वदर्शन को ठुकराकर इन्हीं हेय कृत्यों को प्रकृति का निर्देश मानने और उनका अनुकरण करने के लिए तत्पर होना चाहिए यह आवश्यक नहीं ।

उदाहरण लिया जाय तो वह भी एकांगी यह कहाँ का तर्क है ? करोड़ों-अरबों जीवधारियों में मात्र मछली ही बदनाम करने को क्यों रह गई ? ढूँढ़ने हों तो ऐसे ही और भी उदाहरण मिल सकते हैं । भूखी सर्पिणी अण्डे-बच्चों को खा जाती है । मकड़ी रतिकर्म के उपरान्त थकान मिटाने के लिए मकड़े को ही दबोचकर उदरस्थ कर लेती है । यह उदाहरण मनुष्य जीवन की नीति-निर्धारण करने वाला दर्शन विनिर्मित करते समय क्यों कर आदर्श बन सकते हैं ? बौद्धिक और भावनात्मक दृष्टि से जो विकसित है उनके उदाहरण प्रस्तुत करते हुए मनुष्य जीवन को अपेक्षाकृत अधिक विकसित करने के लिए नवीनतम दर्शनशास्त्र की उसके आधार पर संस्कृति प्रथा-परम्परा की आधारशिला रखी जा सकती है । मछली का काना-कुबड़ा उदाहरण क्यों इसके लिए ढूँढ़ा जाय । विकसित जाति की मछलियाँ समुद्र के उन क्षेत्रों में प्रसव करने जाती हैं जहाँ मीठे पानी

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

में अण्डे-बच्चे ठीक तरह पल सकें । ऐसे स्थान हजारों मील दूर होते हैं । इतनी लम्बी यात्रा वे अकेली नहीं करतीं। जिन नरों के साथ भी गर्भ-धारण प्रयोजन के लिए क्रीड़ा-कल्लोल करती हैं वह सरस प्रेमी समुदाय साथ होता है । गर्भिणी पर दुहरा-तिहरा भार न पड़े इसलिए प्रेमी समुदाय उनके लिए भोजन भी जुटाता रहता है और जब वे थकने लगती हैं तो यात्रा में सहारा भी देता है । उदाहरण देते समय ऐसे प्रसंगों को भुला देना उस एक उदाहरण को भी लँगड़ा-लूला कर देना है जो मनुष्य के मार्गदर्शन के लिए किसी प्रकार एक ढूँढ़ा गया है । बड़ा पेट छोटे की खुराक खा जाता है, यह उदाहरण देने वालों को झाड़ियों की रीति-नीति का भी उल्लेख करना चाहिए जो अपनी गाँठों में से नये-नये कोपल फोड़ती रहती हैं और एक के स्थान पर झाड़ियों का भरा-पूरा झुरमुट बना लेती हैं । यह खुराक खाना हुआ या अपने अंग-अवयवों में से नई शाखा-प्रशाखाएँ फोड़ते चलने और एक सुविस्तृत समुदाय बना लेने की सर्वथा विपरीत बात हुई ?

स्वार्थपरता, आपाधापी, दुर्बलों का शोषण जैसे दुष्ट प्रयोजनों को अपने युग में मान्यता देनी है तो हिंस्र पशु-पक्षियों के उदाहरण अनेकों मिल सकते हैं । मनुष्यों में भी इस मार्ग पर चलने वाले चोर, डाकू, हत्यारे, क्रूर, नृसंशों, असुरों के नाम गिनाये जा सकते हैं । इसके लिए प्रकृति परम्परा की साक्षी देने की क्या आवश्यकता है ? यदि इसी साक्षी समुदाय को तलाश किया जायेगा तो दो के स्थान पर दो हजार ऐसे मिल जायेंगे जो नीति, मर्यादा, सहानुभूति सहकार एवं सेवा का समर्थन कर रहे होंगे ।

चींटी, दीमक और मधुमक्खी की भी बिरादरियाँ ऐसी हैं जिनका सारा क्रिया-कलाप सेवा और सहकार के आधार पर चलता है । मधु-मक्खियाँ निरन्तर श्रम करती हैं जो उपार्जन करती हैं, वह सामूहिक सम्पत्ति की तरह जमा रखती हैं । चींटियाँ अण्डे-बच्चों को जब इधर से उधर ले जाती हैं । उनके लिए खाद्य जुटाती हैं तो अपने-पराये का भेदभाव भूल जाती हैं और सबके लिए सब काम करती हैं । दीमकों की प्रकृति भी ऐसी है । आपत्ति और आक्रमण के समय सब मिल-जुलकर सामना करती हैं । एक पर हुए हमले को सब अपने ऊपर हुआ आक्रमण मानती हैं और उस समूह युद्ध में इस बात की परवा नहीं करतीं कि किन्हें जान गँवानी पड़ी और उस सुरक्षा-प्रयास में किनकी जान बची । इसे पूरी साम्यवादी व्यवस्था कहा जा सकता है ।

चींटी की बुद्धिमत्ता असाधारण है वह गृह निर्माण, शिल्प, शिशुपालन और अर्थव्यवस्था में मनुष्य से किसी प्रकार पीछे नहीं है । वैज्ञानिक चकित हैं और यह खोज रहे हैं कि मनुष्य और चींटी के मस्तिष्कीय परमाणु कहीं एक ही जाति के तो नहीं हैं ।

शाकाहारी पशुओं को कई बार हिंसकों का सामना करना पड़ता है । तब वे झुण्ड बनाकर सामना करते हैं या दिशा विशेष में भागने के लिए एक नेतृत्व का अनुगमन करते हैं । पक्षियों के सम्बन्ध में भी यही बात है । जब मोर्चा जम जाता है तब आक्रान्ताओं को उस समय भाग खड़े होने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रहता । तब के लिए घात लगाते हैं जब कोई झुण्ड में बिछुड़ गया हो । बाज जैसे आक्रान्ताओं को देखकर चिड़ियाँ इकट्ठी हो जाती हैं और शोर का कुहराम ही नहीं करतीं वरन् खदेड़ने के लिए मिलिटरी जैसी मोर्चाबन्दी करती हैं । इस सामूहिक मोर्चेबन्दी में किसे क्षति पहुँची कौन बच गया, इसका ख्याल तक उस समुदाय में से किसी को नहीं रहता । यही नीति है जिसे अपनाने के कारण वे आक्रान्ताओं के बीच निरन्तर घिरी रहने पर भी हौसले बुलन्द रखती हैं और निर्भय का मस्त जीवन बिताती हैं ।

जलपक्षियों में से कोई मादा मर जाय तो उसकी सहेलियाँ उन बच्चों को भी अपने ही बच्चे मान लेती हैं और इस तरह पालती हैं जिससे उन्हें माँ का अभाव न खटके । घोंसले में नये बच्चों के लिए जगह कम पड़ जाती है तो मिल-जुलकर इतनी जल्दी बना देती हैं कि अनाथ बच्चों को आश्रयरहित न रहना पड़े ।

सिंह और सुअर की लड़ाई जिन्होंने देखी है वे जानते हैं कि जंगली सुअर सिंह का सामना डट जाने पर पूरा गिरोह इकट्ठा होकर सामने अड़ जाता है और दाँतों की ऐसी करारी चोट करता है कि गरदन या पेट को चीरकर ही रख देता है । सुअर का शिकार बाघ और हाथी से भी महँगा पड़ता है । सूँड़ के ऊपरी भाग से लटककर सूँड़ चीर दे तो बात अलग है अन्यथा हाथी भी सूँड़ की ऐसी करारी चोट करते हैं कि शेर की कमर टूटे बिना नहीं रहती । यह एक दूसरे का सहकार है जिसके कारण अन्य पशुओं की बिरादरी घटने नहीं पाती । हिंस्र पशु दाव-घात लगाकर जब तब असंगठित, डरपोक और कमजोर हिरन आदि के सहारे पेट भरते हैं । कभी जंगली भैंसों का सामना पड़े तो शेर दुम दबाकर मूँछें नीची करके उस समय मोर्चा छोड़ने में ही अपनी खैर समझते हैं ।

यह कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं जिसमें नवयुग का नवीन दर्शन गढ़ने वालों को अपनी भूल का पता चले कि केवल बड़ी मछली छोटी को निगल जाती है । इसी एक यदा-कदा घटित होने वाले सिद्धान्त को मनुष्य के लिए मार्गदर्शक नहीं बनाया जा सकता । वस्तुतः मछली माँस से अधिक शाक पर निर्भर करती है । जलाशयों में पाई जाने वाली हरियाली उसकी प्रधान खुराक है ।

प्रकृति को मछली की साक्षी देकर मनुष्य के लिए यह मान्यता अपनाना उचित नहीं कि वह अपने से दुर्बलों का शोषण करे । जिसकी लाठी तिसकी भैंस को न्यायानुमोदित सिद्ध करे । जंगल का कानून अपनाते हुए प्रगतिशीलता की दुहाई दे और यह कहे कि मनुष्य को समुन्नत और संसार को सुन्दर बनाने का यह तरीका है कि कमजोरों को जैसे बने वैसे सफाया करने की नीति अपनाई जाय । इसके लिए जीवन-संघर्ष के आकर्षक सिद्धान्त की दुहाई देने की

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

आवश्यकता नहीं है और न यह साबित करने की गुंजायश ही रहेगी । आज बूढ़े बैल को कसाई खाने भेजने का अर्थशास्त्रीय औचित्य बताया जाता है, तो कल बूढ़े बाप के सम्बन्ध में उसी नीति को अपनाने में क्या संकोच रहेगा?

अनौचित्य और उसके दण्ड की परम्परा मिटाकर आज नया दर्शन गढ़ा जा रहा है, जीव के लिए संघर्ष और योग्यतम के चुनाव का नारा बुलन्द करते हुए । यह मान्यता अभी भी समाज और व्यक्ति को भ्रष्ट कर रही है, अगले दिनों इसके और भी अनर्थकारी परिणाम सामने होंगे ।

आदेश बनाम विवेक

सिद्धान्तों का परीक्षण करना आवश्यक है क्योंकि परस्पर विरोधी सिद्धान्तों का सर्वत्र अस्तित्व प्राप्त होता है । एक और जहाँ हिंसा को, बलिदान या कुर्बानी को, धर्मों में समर्थन प्राप्त है वहाँ ऐसे भी धर्म हैं जो जीवों की हत्या तो दूर उन्हें कष्ट पहुँचाना भी पाप समझते हैं । इसी प्रकार ईश्वर, परलोक, पुनर्जन्म, अहिंसा, पवित्र पुस्तक, अवतार, पूजा विधि, कर्मकाण्ड, देवता आदि विषयों के मतभेदों से धार्मिक क्षेत्र भरे पड़े हैं । सामाजिक क्षेत्रों में वर्णभेद, स्त्री अधिकार, शिक्षा, रोटी, बेटी आदि प्रश्नों के सम्बन्ध में परस्पर विरोधी विचारों की प्रबलता है । राजनीति में प्रजातंत्र, साम्राज्यवाद, पूँजीवाद, अधिनायकवाद, समाजवाद आदि अनेकों प्रकार की परस्पर विरोधी विचारधाराएँ काम कर रही हैं । उपर्युक्त सभी प्रकार की विचारधाराएँ आपस में खूब टकराती भी हैं । उनके समर्थक और विरोधी व्यक्तियों की संख्या भी कम नहीं है ।

जबकि सिद्धान्तों में इस प्रकार के घोर मतभेद विद्यमान हैं तो एक निष्पक्ष जिज्ञासु के लिए, सत्यशोधक के लिए उनका परीक्षण आवश्यक है । जब तक यह परख लिया जाय कि किस पक्ष की बात सही है किसकी गलत? किसका कथन उचित है किसका अनुचित ? तब तक सत्य के समीप तक नहीं पहुँचा जा सकता । यदि परीक्षा और समीक्षा को आधार न बनाया जाय तो किसी प्रकार उपयोगी और अनुपयोगी की परख नहीं हो सकती ।

'महाजनो ये न गतो स पन्था' के अनुसार महाजनों का, बड़े आदमियों का अनुसरण करने की प्रणाली प्रचलित है । साधारणत: लोग सैद्धान्तिक बातों के सम्बन्ध में अधिक माथापच्ची करना पसंद नहीं करते । दूसरों की नकल करना सुगम पड़ता है, निकटवर्ती बड़े आदमी जो कह दें उसे मान लेने में दिमाग पर जोर नहीं डालना पड़ता । अधिकांश जनता की मनोवृति ऐसी ही होती है । परन्तु इस प्रणाली से सत्य-असत्य की समस्या सुलझती नहीं । क्योंकि जिन्हें हम महापुरुष-महाजन समझते हैं सम्भव है वे भ्रान्त रहे हों और दूसरे लोग जिन्हें महापुरुष समझते हैं सम्भव है उन्हीं की बात ठीक है । जबकि अनेक व्यक्ति एक प्रकार के विचार वाले महाजन की बात ठीक मानते हैं और उसी प्रकार अनेक व्यक्ति दूसरे महाजन की, दूसरे प्रकार के विचारों को मान्यता देते हैं । तब यह निर्णय कठिन हो जाता है कि इन दोनों के कथनों में किसका कथन उचित है, किसका अनुचित ?

महापुरुष दो प्रकार से अपने विचारों को व्यक्त करते हैं । (१) लेखनी द्वारा । (२) वाणी द्वारा । वाणी द्वारा प्रकट किये हुए विचार क्षणस्थायी होते हैं, इसलिए उन्हें चिरस्थायी करने के लिए लेखबद्ध किया जाता है । विचारों के व्यवस्थित लेखन को ही ग्रन्थ या पुस्तक कहते हैं । जिन ग्रन्थों में धार्मिक या आध्यात्मिक विचार लिपिबद्ध होते हैं उन्हें शास्त्र कहते हैं । शास्त्रों को लोग एक स्वतंत्र सत्ता का स्थान देने लगे हैं । जैसे देवता की अपनी एक स्वतंत्र सत्ता समझी जाती है, वैसी ही शास्त्र भी स्वतंत्र सत्ता बनने लगे हैं, परन्तु बात ऐसी नहीं है । वे महाजनों के विचार ही तो हैं । जैसे महाजन भ्रान्त हो सकते हैं-होते हैं वैसे ही शास्त्र भी हो सकते हैं, एक शास्त्र द्वारा दूसरे शास्त्र के अभिमत का खण्डन करना यही प्रकट करता है कि एक समान श्रेणी के महाजनों में प्राचीनकाल में भी इसी प्रकार मतभेद रहता था जैसा कि आजकल अनेक समस्याओं के सम्बन्ध में हमारे नेता आपसी मतभेद रखते हैं ।

आज नेताओं के मतभेद में से छानकर हम वही बात ग्रहण करते हैं जो हमारी बुद्धि को अधिक उचित और आवश्यक जँचती है । किसी नेता के मत से सहमति न रखते हुए भी उसके प्रति आदरभाव रहता है इसी प्रकार स्वर्गीय महाजनों, महापुरुषों को लेखबद्ध विचारप्रणाली के सम्बन्ध में भी होना चाहिए । शास्त्र का अन्धानुकरण नहीं होना चाहिए, वरन् उनके प्रकाश में सत्य को ढूँढ़ना चाहिए । अन्धानुकरण कोई किया भी नहीं जा सकता । क्योंकि कभी-कभी एक ही शास्त्र में दो विरोधी आदर्श मिलते हैं । हमारे शास्त्रों में जीवित प्राणियों को मारकर अग्नि में होम देने का भी विधान है और जीव मात्र पर दया करने का भी । दोनों ही आदेश पवित्र धर्मग्रन्थों में मौजूद हैं । वे शास्त्र हमारे परम आदरणीय और मान्य हैं तो भी इनके आदेशों में से हम वही बात आचरण में लाते हैं जो बुद्धिसंगत, उचित और आवश्यक दिखाई पड़ती है ।

हिन्दू धर्म किसी व्यक्ति या उसके लेखबद्ध विचारों को अत्यधिक महत्व नहीं देता । चाहे वह व्यक्ति कितना ही बड़ा महापुरुष, ऋषी, महात्मा या ईश्वर ही क्यों न रहा हो । हिन्दू धर्म में सिद्धान्तों की समीक्षा और उसके बुद्धिसंगत अंश को ही ग्रहण करने की ही परिपाटी का समर्थन किया गया है । किसी बड़े से बड़े व्यक्ति या ग्रन्थ से मतभेद रखने और उसके मन्तव्यों को स्वीकार करने न करने की उसमें पूर्ण सुविधा है । हाँ, किसी की महानता को कम करने की आज्ञा नहीं है । महापुरुषों और पवित्र ग्रन्थों का समुचित आदर करते हुए भी उनकी सम्मति में से बुद्धिसंगत अंश को ही ग्रहण करने का आदेश है । इसी आदेश के आधार पर

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

प्राचीन समय में सच्चे जिज्ञासुओं ने सत्य की शोध की है और अब भी वही मार्ग अपनाना होता है ।

हिन्दू धर्म में भगवान् बुद्ध को ईश्वर का अवतार माना गया है । दस अवतारों में उनकी गणना है । इससे अधिक ऊँचा आदर, श्रद्धा, महत्त्व और क्या हो सकता है ? भगवान् बुद्ध भी हिन्दुओं के लिए वैसे ही पूज्य हैं जैसे अन्य अवतार । उनके महान् व्यक्तित्व, त्याग, तप, संयम, ज्ञान एवं साधन के आगे सहज ही हर व्यक्ति का मस्तक नत हो जाता है । उनके चरणों पर हृदय के अन्तस्तल से निकली हुई गहरी श्रद्धा के फूल चढ़ाकर हम लोग अपने को धन्य मानते हैं । इतने पर भी भगवान् बुद्ध के विचारों का हिन्दू धर्म में प्रबल विरोध है । श्री शंकराचार्य ने उनके मत का खण्डन करने का प्राण-पण प्रयत्न किया है । बौद्ध विचारों को उनके सम्प्रदाय को स्वीकार करने के लिए कोई हिन्दू तैयार नहीं है, तो भी उनके व्यक्तित्व में भगवान् का दर्शन करता है ।

बात यह है कि व्यक्तित्व और सिद्धान्त दो भिन्न वस्तुएँ हैं । कोई सिद्धान्त इसलिए मान्य नहीं हो सकता कि उसे अमुक महापुरुष ने या अमुक ग्रन्थ ने प्रकाशित किया है । इसी प्रकार किसी घृणित व्यक्ति द्वारा कहे जाने या प्रतिपादन किये जाने से कोई सिद्धान्त अमान्य नहीं ठहरता । यदि कोई चोर यह कहे कि "सत्य बोलना उचित है ।" तो उसे इसलिए अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि यह बात चोर ने कही है । चोर का घृणित व्यक्तित्व भिन्न बात है और 'सत्य बोलने' का सिद्धान्त अलग चीज है । दोनों को मिला देने से तो बड़ा अनर्थ हो जायगा । चूँकि चोर ने सत्य बोलने के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, इसलिए वह सिद्धान्त अमान्य नहीं ठहराया जा सकता । इसी प्रकार कोई बड़ा महात्मा किसी अनुपयोगी बात का उपदेश करे तो उसे मान्य नहीं ठहराया जा सकता । कई अघोरी साधु अभक्ष भक्षण करते हैं, यद्यपि उनकी तपश्चर्या ऊँची होती है तो भी उनके आचरण का कोई अनुकरण नहीं करता । निश्चय ही व्यक्तित्व अलग चीज है और सिद्धान्त अलग चीज है । महात्मा कार्लमार्क्स, ऐंजिल, लेनिन आदि का चरित्र बड़ा ही ऊँचा था, वे अपने विषय के उत्कट विद्वान भी थे । उनके उज्ज्वल व्यक्तित्व के लिए दुनिया सिर नवाती है, पर उनका अनीश्वरवादी मत मान्य नहीं किया जाता ।

प्राचीन समय में भी आज की भाँति ही परस्पर विरोधी मत प्रचलित थे । जैसे आज अनेकानेक विचारधाराओं के मतभेद पर बारीक दृष्टि डालकर उसमें से उपयोगी तत्त्व ग्रहण करने को विवश होना पड़ता है वही बात प्राचीन समय के सम्बन्ध में लागू होती है । आधुनिक महापुरुषों के विचारों से जीवन निर्माण कार्य में हमें मदद मिलती हैं, उसी प्रकार प्राचीनकाल के स्वर्गीय महापुरुषों के लेखबद्ध विचारों से, धर्मग्रन्थों से लाभ उठाना चाहिए परन्तु अन्ध-भक्त किसी का नहीं होना चाहिए । यह हो सकता है कि प्राचीनकाल की और आज की स्थिति में अन्तर पड़ गया हो जिससे तब के विचार आज के लिए उपयोगी न रहे हों, यह भी हो सकता है कि उन्होंने किसी बात को अन्य दृष्टिकोण से देखा हो और आज उसे किसी अन्य दृष्टि से देखा जा रहा हो । एक समय समझा जाता था कि चातक स्वाति नक्षत्र का ही पानी पीता है, पर अब प्राणिशास्त्र के अन्वेषकों ने देखा है कि चातक रोज पानी पीता है । हंसों का मोती चुगना या दूध पानी का अलग कर देना भी अब अविश्वस्त ठहरा दिया गया है । इसी प्रकार अन्य अनेक बातों में भी प्राचीनकाल के सिद्धान्तों से और आज की शोधों में अन्तर आ गया है । इन अन्तरों के सम्बन्ध में हमें परीक्षक बुद्धि से कोई मत निर्धारित करना पड़ता है । आधुनिक या प्राचीन होने में ही कोई सिद्धान्त मान्य या अमान्य नहीं ठहरता । शास्त्रकारों का भी यही मत है कि-"बालक के भी युक्तियुक्त वचनों को मान लें परन्तु यदि युक्ति विरुद्ध हो तो ब्रह्मा की भी बात को तृण के समान त्याग दे ।"

धर्म और दर्शन को अलग-अलग रखिए

बहुत से लोग दर्शनशास्त्रों की और स्वर्ग-नरक आदि की दुहाई देकर धर्मों की आलोचना करने लगते हैं, यह धर्म तो ईश्वर नहीं मानता या ऐसा मानता है, वैसा मानता है आदि । ये फिजूल के झगड़े हैं । धर्मशास्त्र का काम नीति, सदाचार, प्रेम और मनुष्यता का पाठ पढ़ाना है, इसलिये धर्म को या धर्मशास्त्र को हम इसी नजर से देखें । दर्शन, इतिहास, भूगोल, ज्योतिष, प्राणिशास्त्र आदि का विचार स्वतन्त्र रूप से करें । इनसे सम्बन्ध रखें, सहयोग स्थापित करें, पर इन शास्त्रों की बातों के विरोध को धर्म का विरोध न समझें ।

गणित के अनुसार दो और दो चार होते हैं । अब इस बारे में यह विचार करना व्यर्थ है कि हिन्दू-धर्म के अनुसार कितने होते हैं और इस्लाम के अनुसार कितने होते हैं । गणित पर हिन्दू, इस्लाम, जैन आदि की छाप लगाना उचित नहीं । इस तरह जब मुझ से कोई पूछे कि कलकत्ता से नागपुर कितने मील है ? मैं कह दूँगा सात सौ मील । तब क्या कोई यह पूछेगा कि हिन्दू धर्म के अनुसार कितने मील है और इस्लाम के अनुसार कितने मील ? यदि इस बात का सम्बन्ध धर्म-शास्त्र से नहीं है, तो हिन्दुस्तान कितना बड़ा है, इसका सम्बन्ध धर्मशास्त्र से कैसे हो जायगा और यदि हिन्दुस्तान की रचना का सम्बन्ध धर्म-शास्त्र से नहीं है, तो एशिया या पृथ्वी का कैसे हो जायेगा ? जब पृथ्वी का नहीं तब ब्रह्माण्ड का कैसे हो जायेगा ? धारा तो एक ही है, एक ही शास्त्र का विचारणीय विषय है । तब इन बातों का सम्बन्ध हम धर्म-शास्त्र से कैसे जोड़ सकते हैं ? इसीलिए मैं कहता हूँ कि धर्म-शास्त्र को धर्म-शास्त्र रहने दीजिये, दुनिया

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

भर के शास्त्र और उनके झगड़े धर्म-शास्त्र पर न लादिये । अगर आप धर्म का पालन करना चाहते हैं, धर्मात्मा बनना चाहते हैं, तो प्रेम का, सेवा का, ईमानदारी का और त्याग का व्रत लीजिये, दुनिया की भलाई में अपनी भलाई समझिये । दर्शन आदि की चर्चा को इस झगड़े में न लाइये, जैसा आपको जँच जाय वैसा मान लीजिये, पर उसका उपयोग नीति और सदाचार को बढ़ाने में कीजिये । हमारा पहला और मुख्य काम सुखी बनना और जगत को सुखी करना है । सब बातें और सब धर्म इसी के लिये हैं । इस बारे में महात्मा बुद्ध के विचार ध्यान देने लायक हैं । उन्होंने बड़े अच्छे ढंग से इस समस्या को सुलझाने की कोशिश की थी ।

एक बार आनन्द ने-(बुद्ध के एक मुख्य शिष्य) बुद्ध से पूछा-भगवन् ! सभी लोग परलोक आदि के बारे में कुछ न कुछ निश्चित बात कहा करते हैं पर आप कुछ नहीं कहते, यह क्या बात है ?

इसके उत्तर में भगवान बुद्ध ने बहुत-सी बातें कहने के साथ कहा-देखो आनन्द, जंगल में एक आदमी जा रहा था, उसको तीर लगा, जिससे बड़े जोर से खून की धारा बहने लगी । खून की धारा देखकर उसका पहला कार्य क्या है ? वह पहले खून की धारा बन्द करे या तीर किसने बनाया आदि बातों की खोज करे ?

आनन्द ने कहा-खून बन्द करना पहला काम है ।

भगवान बुद्ध ने कहा-तो बस, संसार में जो तृष्णा आदि के घाव प्राणी को लगे हैं, उनका बन्द करना पहला काम है । उसी के लिये मैंने चार आर्य सत्य बतलाये हैं । तृष्णा आदि के बन्द होने पर परलोक आदि कैसा भी हो, तृष्णा आदि हटा देने वाले का भला ही है । उसकी चिन्ता अभी से क्यों की जाय ? मरने के बाद जैसा होगा देख लिया जायेगा ।

हम आप से यही कहना चाहते हैं कि ईश्वर, परलोक आदि आपको जिस प्रकार मानना हो मानिये, पर उसके किसी एक रूप के मानने, न मानने से धर्म-अधर्म का रिश्ता न जोड़िये ।

दूसरी बात यह है कि ईश्वर और परलोक आदि के मानने की बात मुँह से न कहिये । जीवन से न कहकर मुँह से कहना अपने को और दुनिया को धोखा देना है । हममें से अधिकांश ऐसे धोखेबाज ही हैं । इसलिये हम कहा करते हैं कि हजार में नौ-सौ निन्यानवे व्यक्ति ईश्वर को नहीं मानते। मानते होते तो जगत में पाप दिखाई न देता ।

अगर हम ईश्वर को मानते तो क्या अँधेरे में पाप करते ? समाज या सरकार की आँखों में धूल झोंकते, उस समय क्या यह न मानते कि ईश्वर की आँखों में धूल नहीं झोंकी गई ? हममें से कितने आदमी ऐसे हैं जो दूसरों को धोखा देते समय यह याद रखते हों कि ईश्वर की आँखें सब देख रही हैं । अगर हमारे जीवन में यह बात नहीं है, तो ईश्वर की दुहाई देकर दूसरों से झगड़ना हमें शोभा नहीं देता ।

कहने का मतलब यह है कि हम इन बातों को जीवन में उतारने की कोशिश करें, ईश्वरवादी हों या कर्मवादी या अद्वैतवादी, मगर हम अपने वादों को जीवन में उतारने की कोशिश करेंगे, तो धर्म की राह में सब अपने को एक ही जगह पायेंगे, झगड़ने का कोई कारण न रह जायेगा । सब धर्म हमें एक ही जगह ले जाने वाले मालूम होंगे ।

जीवन-दर्शन के तीन स्वर्णिम सूत्र

'हेडफील्ड' प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक के रूप में प्रख्यात हैं। जीवन को सुखी, समुन्नत, आनन्दमय, शान्ति एवं सन्तोष युक्त बनाने के लिए उन्होंने तीन अमूल्य सूत्र बताये हैं, जो हर व्यक्ति के लिए हर परिस्थितियों में उपयोगी हैं । जिसे जीवन-दर्शन के तीन सारभूत सिद्धान्त समझे जा सकते हैं । अपनी 'साइकोलाजी एण्ड मॉरल्स' पुस्तक में उन्होंने तीन सूत्रों का उल्लेख इस प्रकार किया है-(१) अपने आपको जानो (२) अपने आपको स्वीकार करो (३) अपने आप में रहो ।

अपने को जानने का अर्थ है-अपनी सत्ता से सुपरिचित होना । सामान्यतया परिचय का क्षेत्र भौतिक जगत, शरीर, इन्द्रियाँ एवं ज्ञानेन्द्रियाँ होती हैं । प्रत्यक्ष शरीर दीखता है । इसलिए समझा जाता है कि शरीर ही सब कुछ है और अपनी सत्ता भी शरीर ही तक है । अस्तु, शरीर को ही सब कुछ मानने एवं बोध का क्षेत्र इन्द्रियों तक ही सीमित रह जाने के कारण उनकी सीमित शक्ति का लाभ मिल पाता । अधिकांश व्यक्तियों का जीवनक्रम इस मान्यता के इर्द-गिर्द ही घूमता एवं लुढ़कता रहता है । फलतः खाने, कमाने एवं प्रजनन सीमा के सीमित दायरे से निकलते नहीं बनता । न कुछ विशिष्ट करते बनता और न ही विशिष्ट सोचते ।

अपनी वास्तविक सामर्थ्य शरीर की क्षमता की तुलना में असंख्य गुनी अधिक है । आत्म-सत्ता शक्ति की पुञ्ज है । इन्द्रियों की क्षमताएँ तो उसकी कुछ तरंगें मात्र हैं । असली सामर्थ्य का केन्द्र तो आत्मा है, इस बोध के न होने से ही मनुष्य अपने को दीन-हीन, गया-गुजरा, असमर्थ-असहाय महसूस करता और किसी तरह जीवन के दिन पूरे करता है । इसके विपरीत अपनी भीतरी सामर्थ्य का बोध होते ही बाध्य जीवनक्रम एवं परिस्थितियों में भारी हेर-फेर हो जाता है । तब उसे अनुभव होता है कि आत्मा के भीतर प्रचण्ड शक्ति भरी पड़ी है । आत्म-विश्वास के उदय होते ही मनुष्य बाध्य परिस्थितियों को उतना महत्त्व नहीं देता जितना कि मनुष्य के भीतर समाहित विशेषताओं को ।

हेडफील्ड का कहना है कि "जीवन में अधिकांश व्यक्ति इसलिए असफल रहते हैं कि उनमें आत्म-विश्वास

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

नहीं होता, अपनी शक्ति से अपरिचित होते हैं । अस्तु उससे लाभ उठाते भी नहीं बनता । फलतः कुछ विशेष नहीं कर पाते, जबकि ऐतिहासिक सफलताएँ आत्म-विश्वासियों को मिलती हैं ।'' असफलताओं का रोना रोने वाले, निराशा के गर्त में डूबे व्यक्तियों के लिए हेडफील्ड के ये स्वर्णिम वाक्य सारगर्भित एवं अति उपयोगी हैं- ''निराशा एवं अवसाद से निकलकर अपने भीतर झाँको । देखो तुम्हारे अन्दर शक्ति का स्रोत छिपा पड़ा है ।''

हेडफील्ड का दूसरा सिद्धान्त है-''अपने आपको स्वीकार करो ।'' इसे आत्म-बोध का द्वितीय चरण समझा जा सकता है, जो कर्मयोग की प्रेरणा देता है । अपने को जानना ही पर्याप्त नहीं है वरन् यह भी आवश्यक है कि मनुष्य जीवन का जो कुछ भी अनुदान मिला है उसे परमात्मा का वरदान मानकर सहर्ष स्वीकार किया जाय । अर्थात् प्राप्त अनुदानों का सदुपयोग किया जाय । अपने को दीन-हीन मानने की तुलना में यह समझा जाय कि हम संसार के महत्त्वपूर्ण घटक हैं तथा हमारा जन्म पेट-प्रजनन जैसे निकृष्ट प्रयोजन के लिए नहीं, किसी महान् उद्देश्य के लिए हुआ है । विश्व वसुधा अंचल फैलाए-हमारे सहयोग की अपेक्षा कर रही है ।

यह आवश्यक नहीं कि हर व्यक्ति को हर तरह की क्षमता प्राप्त हो । शरीर-बल, बुद्धि-बल, भाव-बल, सम्पत्ति में से किसी भी तरह की सामर्थ्य क्यों न हो, सभी अपने में महत्त्वपूर्ण तथा उपयोगी हैं। यह सोचना निराधार है कि अमुक तरह की योग्यता होती अथवा साधन उपलब्ध होते तो महत्त्वपूर्ण कार्य किया जाता । जिस भी तरह की क्षमता-साधन प्राप्त हैं उनके ही सदुपयोग द्वारा बहुत कुछ किया जा सकता है । यह तथ्य हृदयंगम किया जाना चाहिए कि महान् कार्य योग्यता, प्रतिभा के बलबूते नहीं उच्चस्तरीय आदर्श एवं सिद्धान्तनिष्ठा द्वारा सम्पादित किए जाते हैं । योग्यता-प्रतिभा का योगदान तो होता है पर तभी जबकि वे उत्कृष्टता के पक्षधर बनें । अस्तु, योग्यता संवर्द्धन के लिए प्रयत्न किए जाने चाहिए, पर इतने पर भी यदि किसी विशेष तरह की योग्यता अर्जित न हो सकी तो यह नहीं समझा जाना चाहिए कि वह प्राप्त होती तभी महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकते थे । जो प्राप्त है उस क्षमता का ही नियोजन यदि ठीक प्रकार बन पड़े तो आत्म-निर्माण एवं लोक-कल्याण की दिशा में इतना कुछ किया जा सकता है जितना कि विपुल साधनों के रहते भी नहीं किया जा सकता । अतएव आवश्यकता इस बात की है अनुपलब्ध साधनों अथवा योग्यताओं के कारण निराश न हुआ जाय । जो उपलब्ध है उसका अधिक से अधिक सदुपयोग किया जाय । महामानवों के इतिहास पर दृष्टिपात करने पर यह पता चलता है कि अधिकांशतः विपन्न परिस्थितियों में जन्मे एवं पले । योग्यता एवं प्रतिभा की दृष्टि से भी उससे असंख्यों आगे थे, किन्तु सबको पीछे छोड़ते हुए वे आगे निकलकर महानता के उच्च शिखर पर जा पहुँचे । विचार करने पर इसका एक ही कारण नजर आता है कि उन्होंने अपने समय, श्रम एवं मनोयोग का पूरी तत्परता के साथ उपयोग किया । इसके विपरीत साधनों एवं योग्यताओं से सम्पन्न होते हुए भी उनका सदुपयोग न बन पाने के कारण कितने ही व्यक्ति सामान्य जीवनचर्या से आगे नहीं बढ़ पाते ।

सुखी-सन्तुष्ट आनन्दयुक्त जीवन के लिए हेडफील्ड का तीसरा सन्देश है, ''अपने आप में सन्तुष्ट रहो ।'' प्रसन्नता, अप्रसन्नता का केन्द्र सामान्यतया बाह्य परिस्थितियों एवं व्यक्तियों को बनाया जाता है । परिस्थितियों तथा व्यक्तियों में परिवर्तन होते रहते हैं । उनके प्रभाव सुखप्रद अथवा दुःखप्रद दोनों ही तरह के हो सकते हैं । उनके भले-बुरे प्रभाव पड़ने भी स्वाभाविक हैं । दृष्टिकोण बहिर्मुखी होने से मनुष्य को असन्तोष ही हाथ लगता है । उपलब्धियाँ हासिल करने के लिए प्रयत्नशील रहा जाय, यह ठीक है, पर अनावश्यक ललक-लिप्सा तो हर दृष्टि से हानिकारक है । व्यक्ति एवं वस्तुओं के प्रति भी आसक्ति इस सीमा तक न जोड़ी जाय कि उनके न रहने अथवा प्रतिकूल हो जाने पर निराशा एवं असन्तोष की मनःस्थिति से गुजरना पड़े । अस्तु, प्रसन्नता का केन्द्रबिन्दु अपनी अन्तरात्मा को मानना ही श्रेयस्कर एवं सहायक है ।

जीवन-दर्शन के ये तीन सिद्धान्त अपने में महत्त्वपूर्ण प्रेरणाएँ छिपाये हुए हैं । जिनका अवलम्बन लेकर किन्हीं भी परिस्थितियों में अपनी मनःस्थिति सुदृढ़ बनाये रखना सम्भव है । मन को शान्त, प्रसन्नचित्त रखने एवं विकास के मार्ग पर अग्रसर होने के लिए ये सूत्र हर किसी के लिए उपयोगी एवं लाभप्रद सिद्ध हो सकते हैं ।

''यह अकथ कथा है, कहता कही न जाई''

बालपहेलियों और कबीर की उलटबाँसियों की तरह गीता में एक रहस्यों भरा श्लोक है, जिसमें कहा गया है-

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।।

अर्थात्-जब सब प्राणियों की रात होती है तब संयमी जागा करते हैं । जब सब प्राणी जागा करते हैं, तब मुनि सोया करते हैं ।

शब्दार्थ को देखते हुए यह आश्चर्यजनक और असम्भव प्रतीत होता है । जब सब लोग जगा करें तब मनीषीगण सोया करें तो यह बात बड़े अचम्भे की होगी । संयमी लोग जब रात्रि को जगेंगे तो उन्हें किसी से वार्त्तालाप-व्यवहार करने का अवसर न मिलेगा । मुनि लोग जब जगेंगे तब सारी दुनिया सोई हुई होगी । ऐसी दशा में वे सदा एकाकी रहेंगे अथवा यों कहें कि सर्वसाधारण के विपरीत उनका आचरण होगा । ऐसी दशा में उन्हें किसी से सामान्य व्यवहार करते न बन पड़ेगा । जब लोगों के व्यवहार का समय होगा तो वे सो जाया करेंगे । ऐसी दशा में वे सदा

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

दुनिया के लिए सोए हुए होंगे । यह विचित्र बात सामान्य समझ से परे लगती है । ऐसे तो दुनिया का लाभ उस व्यक्ति को न मिल सकेगा और उससे दुनिया का कोई व्यक्ति न सम्पर्क साध सकेगा, न लाभ उठा सकेगा । ऐसी स्थिति में रहकर संयमी या मुनि एक प्रकार से मूर्च्छित या मृतक कहलाएँगे ।

इस पहेली का तात्पर्य यह है कि अध्यात्मवादी और भौतिकवादी के चिन्तन, चरित्र एवं व्यवहार में ठीक उल्टी स्थिति होती है । संसारी लोग जो सोचते या करते हैं, मुनि का चिन्तन ठीक उससे उल्टा होता है । व्यवहार में भी ठीक ऐसी ही प्रतिकूलता होती है । स्वयं कबीर के शब्दों में **"कहत कबीर यहु अकथ कथा है कहता कही न जाई।"** विधि की व्यवस्था पर उनका यह संकेत मात्र है ।

सांसारिक मनुष्य मात्र शरीर को ही सब कुछ मानते हैं और उसी के लिये मरते-खपते हैं । शरीर सुख-सज्जा ही उनके लिये सब कुछ होती है । इसके लिये वे आत्मा को बड़ी से बड़ी क्षति पहुँचाते रहते हैं । इसके विपरीत जो आत्मपरायण व्यक्ति हैं, वे शरीर की सुख-सुविधाओं की उपेक्षा करते रहते हैं । मात्र निर्वाह ही उनके लिये पर्याप्त होता है । वे जानते हैं कि सीमित, सात्विक जीवनचर्या ही नीरोग बनाये रहती है और दीर्घजीवन प्रदान करती है । सात्विक रहन-सहन सस्ता होता है । आज धन और इन्द्रिय-परायणचर्या अपनाने के लिए महँगे साधन इकट्ठे करने पड़ते हैं, जिसके लिए अनीति-उपार्जन के बिना काम नहीं चलता । ऐसे साधन एकत्रित करने पर साज-सज्जा तो अवश्य बढ़ जाती है पर उसके लिये बेईमानी-अनीति अपनाये बिना काम नहीं चलता । इसके लिए आत्मा धिक्कारती रहती है । सादगी का रहन-सहन अपनाने पर ठाट-बाट तो नहीं बनता, तरह-तरह के स्वादों के विलासों की व्यवस्था तो नहीं बनती पर आत्मा सदा सन्तुष्ट-प्रमुदित बनी रहती है । सादगी अपनाने पर उच्च विचार धारण किये रहने का सुयोग बना रहता है । विवेकवानों के लिए यह स्थिति हर दृष्टि से शान्तिदायक और सन्तोषजनक होती है।

उपर्युक्त दोनों ही परिस्थितियाँ परस्पर सर्वथा प्रतिकूल हैं । दोनों में जमीन-आसमान जितना अन्तर है । इसी अन्तर को ध्यान में रखते हुए गीताकार ने सोने और जागने की उपमा दी है । सोने का अर्थ है विरति, उपेक्षा और अवहेलना । जागने का तात्पर्य है उत्साह, आतुरता, लालच आकांक्षा । यह दोनों ही बातें एक दूसरे से विपरीत ही तो होती हैं ।

जीवन के अनेकानेक पक्ष हैं । आहार, विहार, उपार्जन, उपभोग, संग्रह इन सबकी अपनी-अपनी अभिरुचियाँ हैं, अपने-अपने स्वाद हैं । इन्हें उपार्जित करने सम्बन्धी भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण हैं और उपभोग सम्बन्धी अलग-अलग मान्यताएँ हैं । आहार को ही लें । किसी को स्वादरहित, सात्विक आहार रुचिकर लगता है तो किसी को मिष्ठान्न, पकवान, षट्रस व्यंजन, सो भी इतनी मात्रा में कि पेट फूलने-फटने लगे । किसी को आधा पेट आहार से भरना है, चौथाई पानी के लिए और चौथाई हवा के लिए छोड़ना है । दोनों में कितना अधिक अन्तर हुआ । इन्द्रिय भोगने के लिये किसी को मर्यादाओं का ध्यान रखना होता है । यह गाँठ बाँधनी पड़ती है कि इन जंगली घोड़ों को मनमानी छूट दी गयी तो जीवनी-शक्ति को खोखली करके छोड़ेंगे, इसलिए इन्हें अंकुश वाले हाथी की तरह, लगाम वाले घोड़े की तरह, नकेल वाले ऊँट की तरह काबू में ही नहीं रखना है, वरन् लक्ष्य तक पहुँचाने की सही राह पर भी चलाना है । विशेषतया कामुकता का चिन्तन और व्यवहार ऐसा रखना है कि वर्जनाओं की तोड़-फोड़ न होने पाए । माता, बहिन, बेटी, पुत्री की मान्यताओं पर किंचित व्यतिरेक न होने पाए ।

पशु-पक्षी तक मर्यादाएँ पालते हैं । मादा के आह्वान पर ही प्रजनन हेतु कामसेवन करते हैं । फिर मनुष्य तो अधिक विचारशील है । उसे तो जीवनशक्ति के बचाव का, नीति और मर्यादा का और भी अधिक पालन करना है । जो इस सन्मार्ग पर जागरूक है, उसे समझना चाहिए कि मुनि की तरह, योगी की तरह उस समय भी जागता है, जबकि पशु-प्रवृत्ति के लोग निद्राग्रस्तों की तरह नीति और मर्यादा के सम्बन्ध में उनींदे बने रहते हैं । सोते हुए व्यक्ति को न कपड़े सँभालने का होशो-हवास रहता है और न मुँह खोलने, बन्द करने का । विवेकवान-अविवेकी को ही यहाँ जाग्रत और निद्रित की संज्ञा दी गयी है ।

वस्त्र विन्यास की विहार पद्धति में एक प्रकार के लोगों को 'सादा जीवन उच्च विचार' के अनुरूप सादगी और सज्जनता का ध्यान रहता है । दूसरे ऐसे सजे फिरते हैं जैसे रंग-बिरंगे गुड्डे-गुड़िया । दोनों में से पहले को मानवी गरिमा को, अन्तः की उत्कृष्टता को बनाये रखने का सदा ध्यान रहता है तो दूसरे को बहिर्मुखी जीवन ही रुचिकर लगता है । इसी के बलबूते वह अन्यों पर अपनी छाप पड़ने की भ्रान्तिपूर्ण अनुभूति करता रहता है ।

एक पक्ष को ईमानदारी की, न्यायोपार्जित कमाई का ध्यान रहता है और न्यूनतम में निर्वाह करके जो बचता है, उसे पुण्य-परमार्थ में, सत्प्रयोजन में, लोक-मंगल में लगाने का सदैव ध्यान बना रहता है । दूसरा पक्ष न्याय-अन्याय का कुछ भी ध्यान न रखकर जैसे भी बने वैसे कमाने और आवश्यक-अनावश्यक संग्रह करने की ललक में मग्न रहता है । बेहिसाब खर्च करता और तंगी भुगतते हुए ऋणी बना रहता है । किसी को देना तो दूर जैसे भी बन पड़े, हड़पने में वह भय, लज्जा का विचार नहीं करता ।

आध्यात्मिक जीवन जाग्रत जीवन है और मर्यादारहित भौतिक जीवन सोता हुआ । दोनों का मध्यवर्ती अन्तर स्पष्ट है । दोनों के बीच चिन्तन, चरित्र और व्यवहार में जमीन-आसामां जैसा अन्तर होता है । एक को सज्जनता के अतिरिक्त दूसरा कुछ किसी भी मूल्य पर स्वीकार नहीं । दूसरा उद्दण्ड असुरों की तरह किसी बात का विचार किए बिना लूटते-खसोटते, खाते और बिगाड़ते हैं ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

वेदान्त मानवी व्यक्तित्व की मर्यादा बताता हुआ कहता है-त्वचा, शरीर, सम्प्रदाय, मत, धर्म और राष्ट्रीयता कभी मनुष्य की सीमा नहीं हो सकते । जैसे-जैसे मनुष्य अपने अज्ञान पर विजय पाता है, वैसे-वैसे इन सीमाओं को भी पार कर लेता है । कहा भी है-

अयं निजः परोवेत्ति गणना लघुचेतसाम् ।
उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।।

अर्थात्-"यह मेरा देशवासी है, यह परदेशी है-ऐसी दृष्टि केवल ओछे मन वालों की है । एक उदार मन के लिए तो सारा संसार कुटुम्ब है ।" गीताकार ने सम्भवतः इसी तथ्य को दृष्टिगत रख मुनि और संयमी को जाग्रत कहा है और उद्दण्डों-संकीर्णों को प्रसुप्त । दोनों अपने अन्तर के अनुरूप प्रतिफल भी प्राप्त करते हैं ।

प्रतिपादन और उसका प्रभाव

तत्त्वज्ञान को पढ़ने-समझने वाले लोग भी उस मार्ग पर प्रायः स्वयं नहीं चल पाते । दूसरों को उपदेश करने वाले और अध्यात्मयुक्त धर्म मार्ग पर चलने की आये दिन चर्चा करने वाले लोग भी जब स्वयं उस मार्ग पर चलते नहीं, तो कथनी और करनी का अन्तर दूसरों में क्या उत्साह भर सकता है और किस प्रकार उन्हें उस कथन पर विश्वास करने के लिए उद्यत कर सकता है ?

करनी और कथनी का अन्तर छिपाये नहीं छिपता । वह हवा के साथ उड़कर असंख्यों के मस्तिष्क से जा टकराता है और अनुमान-आशंका से आगे बढ़कर वह चर्चा का विषय बन जाता है। काना-फूसी का रूप धारण करता है और सन्देह बढ़ते-बढ़ते सर्वजनीन चर्चा का विषय बन जाता है और यदि वैसा अन्तर न हो तो अनेक प्रतिभावानों द्वारा लगाये गये लांछन भी हवा में उड़ जाते हैं और उनका कोई गम्भीर प्रभाव नहीं पड़ता । वास्तविकता असंख्य विरोधों को चीरती हुई विज्ञजनों के अन्तराल में श्रद्धा बनकर जा बैठती है । इसीलिए नीतिकारों ने निन्दा प्रशंसा की चिन्ता न करके वस्तुस्थिति को प्रामाणित बनाने का परामर्श दिया है ।

कथनी और करनी का अन्तर यों अखरता तो हर क्षेत्र में है, पर धर्म और अध्यात्म क्षेत्र में यह अन्तर लोगों को प्रतिपादित दर्शन के प्रति ही अनास्था उत्पन्न करता है । सुनने वाले सोचते हैं कि यह मार्ग इतना सही और व्यावहारिक रहा होता तो प्रवक्ता स्वयं ही उसे क्यों न अपनाता और उन बातों से स्वयं क्यों वंचित रहता जिन्हें प्राप्त करने के लिए दूसरों से कहा जा रहा है ।

विचारणीय है, आदर्शों का प्रतिपादन करने वाले स्वयं उनसे क्यों पीछे हटते हैं ? इसका मुख्य कारण उनकी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाएँ होती हैं, जिन्हें कामनाएँ होती हैं। भावना के आगमन में यह कामनाएँ दबी ही नहीं रहतीं, अपेक्षित साधन या अवसर मिल जाने पर भी वे आग में ईंधन डालने की तरह बढ़ती ही जाती हैं । उनकी पूर्ति के निमित्त उठती हुई उत्कण्ठा इतनी व्याकुलता उत्पन्न करती है कि मनुष्य अपने द्वारा किये गये प्रतिपादनों को भुलाकर संकीर्ण स्वार्थपरता की दलदल में गहरा ही धँसता जाता है और कुकृत्य तक करने लगता है । अभ्यास हो जाने पर पीछे वह आत्म-ग्लानि भी नहीं होती जो विवेकवानों के मन में उठनी चाहिए, यह महत्त्वाकांक्षाओं का समूह ही 'काम' कहा गया है और इसे पतन के गर्त में धकेलने वाला शत्रु कहा गया है । गीताकार के शब्दों में यह 'काम' ही ऐसा उद्वेग है जो मनुष्य को अपनी और दूसरे की आँखों में गिरा देता है ।

इस विडम्बना से कैसे पीछा छूटे ? इस प्रश्न का भक्तिमार्गी उत्तर देते हैं कि ईश्वर की शरण में जाना और ज्ञानमार्गी कहते हैं-अपने को सीमित संकीर्णता से उबारकर सबको अपने और अपने को सबमें देखना । ऐसी मनःस्थिति में परमार्थ ही स्वर्ग बन जाता है और दूसरों को सुखी बनाने वाले कार्य अपनी निजी सफलता से बढ़कर आनन्ददायक प्रतीत होने लगते हैं ।

ईश्वर की शरीर में जाने की बात भी ऐसी ही है । अदूरदर्शी परमात्मा को कोई व्यक्ति विशेष मानते हैं और उसे भी उन्हीं दुर्बलताओं से ग्रसित मानते हैं, जिनसे कि मनुष्य घिरे रहते हैं । पूजा-उपचार के निमित्त प्रयुक्त किये जाने वाले काल्पनिक ईश्वर और सर्वव्यापी निराकार परब्रह्म में भी ऐसा ही जमीन-आसमान जैसा अन्तर रहता है ।

इस सन्दर्भ में शास्त्र कहता है कि-

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ।

-गीता ६/२९

अर्थात्-सम्पूर्ण प्राणियों में अपने को और अपने को सब प्राणियों में योगीजन देखते हैं । जिन्हें सर्वत्र एक ही तत्त्व दीखता है वे मुक्तात्मा हैं । वही योगी हैं ।

अयामांसर्वभूतेषु भूतात्मानां कृतालयम् ।
अहं दान मानाभ्यां मैत्राभिन्नेन चक्षुषा ।
मनसैतानि भूतानि प्रणमेद बहुमान यत् ।
ईश्वरो जीव कलया प्रविष्टो भगवानिति ।।

-गीता

अर्थात्-सब प्राणियों को मेरी ही आत्मा समझकर उन्हें भिन्न-अभिन्न भाव से देखना उनकी सेवा-सहायता करना, मान देना, इन प्रयोजनों में संलग्न जीव भगवान् को प्राप्त करता है ।

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षुषि पश्यन्ति ।
तदेव ब्रह्मत्वविद्विनेदं यदिदं उपासते ।।

-उपनिषद्

अर्थात्-जो आँखों से नहीं देखा जा सकता । जिसके कारण नेत्र देखते हैं । उसी परब्रह्म को जानना चाहिए । जिसकी पूजा-उपासना की जाती है वह ब्रह्म नहीं है ।

परमेश्वर की शरण में जाना हो तो इस तरह जाना चाहिए कि उत्कृष्टताओं के समुच्चय परमेश्वर को अपने अन्तरंग और बहिरंग जीवन में ओत-प्रोत कर लें । यदि

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

साकार ब्रह्म से सम्बन्ध जोड़ने की इच्छा हो तो यह विराट् विश्व ही उसकी प्रतिमा है । उसकी पूजा-अर्चा के निमित्त संसार में सदाशयता और सज्जनता की सुसंस्कारिता का अभिवर्द्धन अपनी समूची सामर्थ्य के अनुरूप करना चाहिए ।

प्राणी को अपने में और अपने को प्राणियों में समाया हुआ देखने का अर्थ यह है कि दूसरों के दु:ख बँटाने और अपने सुख बाँट देने में अपना सन्तोष और आनन्द निरन्तर बढ़ता चले । जो बरताव दूसरों द्वारा अपने लिए किये जाने की अपेक्षा करते हैं वही हम स्वयं भी दूसरों के लिए करते हैं । साथ ही एक बात का और भी ध्यान रखें कि औसत नागरिक जैसा जीवनक्रम अपनाये । 'सादा जीवन उच्च विचार' का यथार्थवादी तत्त्वज्ञान इस आधार पर नियत है और अपनी बचत के समय श्रम और साधनों को उनके लिए लगा सकना सम्भव होता है जिन्हें कि 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की मान्यता के अनुरूप शरीर और परिष्कार की तरह माना जाना चाहिए ।

दृष्टिकोण में इतनी उदात्त आत्म-भावना या ब्रह्म परायणता का समावेश हो जाने पर ही अन्त:करण उस ढाँचे में ढलता है जिसके आधार पर कि उच्चस्तरीय तत्त्वज्ञान को प्रतिपादन तक सीमित न रखकर अपने चरित्र व्यवहार का भी अविच्छिन्न अंग बनाया जा सके ।

ऐसे एकात्म भाव के ढाँचे में अपने को ढाल लेने वाले दूसरों को जो परामर्श देते हैं वह सुनने वालों के कानों तक सीमित नहीं रहता और मस्तिष्क को झकझोरता हुआ अन्तराल तक उतर जाता है । इतना ही नहीं, ऐसा भी होता है कि उनका व्यक्तित्व वातावरण में उच्चस्तरीय ऊर्जा बिखेरे और उससे परिचित-अपरिचित अनेकों अनायास ही सत्प्रेरणाएँ ग्रहण करते और प्रभावित होते चले जायें । ऐसा जीवन ही धन्य है जो स्वयं तरे अन्य असंख्यों को तारे ।

इस स्तर का जीवन कितने दिन जिया गया इस पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है । वे अल्पायु होने पर भी वयोवृद्धों से बढ़कर हैं और जिन्होंने भारभूत जीवन जिया वे दीर्घायु होते हुए भी बालकों से भी गये-बीते, अबोध हैं । कहा गया है कि-

तेजसां हि न वय: समीक्ष्यते ।

अर्थात्-तेजस्वियों की आयु कितनी हो गई । इसकी समीक्षा नहीं करनी चाहिए, वे तो अजर-अमर होते हैं ।

तस्य वाचक: प्रणव:

भारतीय संस्कृति की यह विशेषता है कि उसमें प्रतीकों, चिह्नों, आकृतियों और अक्षरों के मध्य ब्रह्माण्ड और विश्व के ऐसे रहस्यों को सँजोया गया है, जैसा अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलता । उदाहरण के लिए, ओंकार को लिया जा सकता है । देखने में यह जितना नगण्य और छोटा प्रतीत होता है, उतनी ही बड़ी शक्ति का निरूपक है ।

ईश्वरीयसत्ता का प्रतीक-प्रतिनिधि होने के नाते सभी मांगलिक अवसरों पर इसके लिखे और गाये जाने का विधान है, चाहे वैवाहिक आमंत्रण हो, निमंत्रण पत्र या सामान्य चिट्ठी-पूजा की वेदी हो या फिर यज्ञ का पवित्र कलश-सर्वत्र इसकी प्रतिष्ठा होती है । इन स्थापनाओं का अपना मनोवैज्ञानिक प्रभाव है । नख-दर्पण के प्रयोग में जब प्रयोक्ता की निगाहें लम्बे समय तक कालिख पुते नाखून में जमी रहती हैं, तो वह एक प्रकार से स्वसंमोहन की गिरफ्त में आने लगता है । यही बात ओंकार के साथ भी है । उपासना के समय या शादी के मौके पर जब-जब दृष्टि इस पवित्र वर्ण पर पड़ती है, तो मन अनायास ही परमसत्ता के प्रति श्रद्धासिक्त हो उठता है । ऐसी पवित्र मनोदशा में सम्पन्न होने वाले अनुष्ठान और आयोजन के हर प्रकार से सफल और सिद्ध होने में फिर कोई सन्देह रह नहीं जाता । यह घटना जब सभी उपस्थितजनों के मनों में घटती है, तो अंत:करण में एक उदात्त भाव पैदा होता है । इस सामूहिक भाव, उत्कृष्टता से एक उच्चस्तरीय वातावरण का निर्माण होता है । देवता ऐसे ही दिव्य वातावरण में पधारते और प्रार्थी को अपने अनुदान-वरदानों से निहाल करते हैं । यह 'प्रणव' से उत्पन्न दैवी अनुदान है । इसका मनोवैज्ञानिक लाभ यह है कि इस सम्पूर्ण काल में मन विकारग्रस्त होने से बचा रहता है ।

ॐ 'अव्' धातु से औणादिक 'मन्' प्रत्यय के संयोग से बनता है । इसको व्युत्पन्न कहते हैं । अतएव 'अव्' धातु के जितने अर्थ हैं, उन सबका यह बोधक है । इसके प्राय: उन्नीस अर्थ हैं । कांति, तृप्ति, प्रीतिरक्षण, गति, अवगम, प्रवेश, श्रवण, स्वाम्यर्थ, याचन, क्रिया, इच्छा, दीप्ति, वाप्ति, आलिंगन, हिंसा, दान, भाग और वृद्धि । इनके पुन: कितने ही अर्थ हों । उन अर्थों को आगे यदि व्याकरण की रीति से विस्तार किया जाय, तो 'ॐ' अनन्तार्थ का द्योतक हो जायेगा । इस दृष्टि से वह जिस अनादि-अनंत सत्ता का वाचक है, स्वयं भी उसी प्रकार अपरिमित अर्थों वाला बन जाता है, जो वाच्यार्थ के अनुरूप ही है । जो स्वयं पूर्णता का बोधक हो, भला वह असीमित और अपूर्ण कैसे हो सकता है ? इसे गणित के एक उदाहरण से भली-भाँति समझा जा सकता है । जैसा कि पहले कहा जा चुका है । कि 'अव' धातु के १९ अर्थ हैं । इसमें एक और नौ के अंक उपस्थित हैं । गणितज्ञ इससे पूरी तरह परिचित हैं कि एक का अंक अपने में पूर्ण स्वतंत्र है, अतएव इसकी सत्ता का सद्भाव सभी अंकों में विद्यमान है । ९ का अंक स्वतंत्र तो नहीं, किन्तु पूर्ण अवश्य है । पूर्ण वह है जो अपने में न्यूनता को न आने दे । यही कारण है कि संख्या एक से आरम्भ होकर नौ पर समाप्त हो जाती है । शेष जो कुछ है, इन्हीं अंकों का विस्तार है । एक का अंक सबके आदि, मध्य और अंत में प्रकट हो रहा है, यथा एक, दो

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

में तो है, किन्तु दो एक में नहीं है । इसी प्रकार छोटी संख्या की सत्ता बड़ी संख्या में पायी जाती है । एक का अंक सूक्ष्म है, शेष सब स्थूल हैं । जिस प्रकार सूक्ष्म का समावेश स्थूल में हो जाता है, उसी प्रकार स्थूल का प्रवेश सूक्ष्म में नहीं हो सकता । नौ की संख्या पूर्ण है, यही कारण है कि इसके आगे संख्या का विधान नहीं है । जिस प्रकार एक और एक मिलकर दो हो जाते हैं और दो के साथ एक के संयोग से तीन बनते हैं, वैसे ही एक की वृद्धि से संख्या में वृद्धि और हानि से ह्रास होता है । यह वृद्धि और ह्रास का क्रम नौ तक बढ़ता और एकांत घटता रहता है । नौ अंक की व्यवस्था अन्यों से कुछ भिन्न है । जब एक का अंक इसमें संयुक्त होने के लिए समीप आता है, तो वह वृद्धि को न प्राप्त होकर बिन्दु के रूप में बदल जाता है, किन्तु अपने गौरव को नहीं घटाता । यह सर्वदा पूर्णता का पक्षधर है, यही कारण है कि इस बिन्दु ने ही उत्पन्न होकर गणित विद्या को पूर्ण बना दिया यदि इसको पृथक् कर दिया जाय, तो अंक-विद्या अपूर्ण और अधूरी बन जाती है ।

इस बिन्दु और नौ की समानता पर विचार करें, तो ज्ञात होगा कि इनमें स्वरूप-भेद के अतिरिक्त और कुछ भी अंतर नहीं । यह इस बात से प्रकट होता है कि यदि किसी अंक के आगे से बिन्दु को हटाते हैं, तो निश्चय ही वहाँ से नौ को ही प्रकारान्तर से मिटाते हैं । प्रस्तुत दृष्टांत से इसे भलीप्रकार समझा जा सकता है । दस की संख्या के आगे से यदि बिन्दु को दूर किया जाय, तो सामने एक बनता है । इस प्रक्रिया में प्रच्छन्न रूप से हम नौ को ही दूर करते हैं । ऐसे ही यदि १०१ के मध्य से बिन्दु को पृथक् करें, तो ९० दूर होंगे । उक्त संख्या में नौ विद्यमान है । पुनः यदि ९० के सामने से बिन्दु हटाया जाय, तो ८१ मिटते हैं, जिसके ८ और १ मिलकर नौ का निर्माण करते हैं । ऐसा ही सर्वत्र होता है । किसी भी अंक के आगे बिन्दु लाने या हटाने से नौ ही आते अथवा जाते हैं । इस प्रकार प्रस्तुत अंक सर्वत्र अपनी पूर्णता का परिचय देता रहता है । अन्य अंकों को परस्पर गुणा करने से न्यूनाधिक लाभ होता है, किन्तु नौ को गुणा करने से प्राप्त अंक का योग नौ ही बना रहता है । यह इसकी पूर्णता को दर्शाता है । 'अव्' धातु के उन्नीस अर्थों वाली इस संख्या में उपस्थित १ और ९ के अंक ओंकार के इस पूर्णताबोधक तत्त्वदर्शन को ही अभिव्यक्त करता है ।

ईश्वरीय चेतना अपरिवर्तनशील है । वह वृद्धि-ह्रास से परे एकरस बनी रहती है, अस्तु उसे अभिव्यक्त करने वाले अक्षर को भी इन गुणों से युक्त होना नितांत आवश्यक है । व्याकरण की दृष्टि से 'उद्गीथ' (ओंकार) पर विचार करने से ज्ञात होता है कि वह हर स्थिति में अपने मूल स्वरूप को बनाये रखता है और किसी भी दशा में कभी भी परिवर्तित नहीं होता । 'वृक्ष' से निर्मित वाक्य पर विभक्ति के आधार पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जायेगा । 'वृक्ष स्थिर है'-यहाँ स्थिति क्रिया का वृक्ष कर्त्ता है । 'वृक्ष को स्पर्श करता है'-यहाँ स्पर्श क्रिया का वृक्ष कर्म है । 'वृक्ष पर से चन्द्रमा को देखता है' यहाँ दर्शन क्रिया का वृक्ष करण है। 'वृक्ष के लिए जल सींचता है'-यहाँ सिंचन क्रिया का वृक्ष संप्रदान है । 'वृक्ष से पत्र गिरते हैं '-इसमें पतन क्रिया का वृक्ष अपादान है । 'वृक्ष के फल मधुर हैं'-यहाँ फल सम्बन्ध से वृक्ष सम्बन्धी है । 'वृक्ष पर पक्षी निवास करते हैं' इस स्थान पर निवास क्रिया का वृक्ष अधिकरण है । इस प्रकार देखते हैं कि एक वृक्ष को विभक्ति ने भिन्न-भिन्न कारकों में विभक्त कर दिया । ऐसा ॐ के साथ घटित नहीं हो सकता । इसके आगे विभक्ति आते ही अपने स्वरूप को खो देती है, अतः यह अभेद्य है । भेदकारक विभक्ति की शक्ति इसका स्वरूप परिवर्तन नहीं कर सकती । इसमें वह पूर्णतः अक्षम है । अग्नि प्रायः उसी वस्तु को जलाती है, जो दहनशील हो, अदाह्य वस्तु को जलाने अथवा मिटाने की सामर्थ्य उसमें नहीं, वहाँ तो वह स्वयं शांत हो जाती है । ऐसे ही 'ॐ' शब्द सर्वदा अपनी महिमा में स्थिर परिवर्तन से परे है ।

व्याकरण के 'वचन' और 'लिंग' भी इसमें किसी प्रकार का कोई भेद उत्पन्न करने में सर्वथा असमर्थ हैं । वचन से व्यक्त होना इसको निम्न उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है-जिस प्रकार 'बालक' शब्द एकवचन, द्विवचन और बहुवचन प्रत्यय के संयोग से 'बालकः बालकौ, बालकाः' ऐसे रूपों को धारण कर लेता है और उच्चारण भेद पाकर एक, दो और कई बालक हैं-इन अर्थों का द्योतक बन जाता है-ऐसा 'ओम' शब्द में दर्शन, उच्चारण और वचन भेद कदापि नहीं हो सकता ।

लिंग दर्शाने वाले प्रत्यय शब्द के साथ जुड़कर जिस तरह उसे कभी स्त्रीलिंग, कभी पुल्लिंग तो अनेक बार नपुंसकलिंग में रूपांतरित कर देते हैं, वैसा अक्षर ब्रह्म को व्यक्त करने वाले इस अक्षर के साथ कभी होता दिखाई नहीं पड़ता । सदा अपरिवर्तनीय बने रहना इसका स्वभाव है । परम चेतना बदलती कहाँ है ? वह तो सदा स्थिर और एकरूप बनी रहती है । 'प्रणव' इसी का प्रतिनिधि है।

अव्युत्पन्न 'ॐ' अ, उ, म-यह तीन वर्गों के मेल से बनता है । यह वर्ण 'उद्गीथ' में अगणित 'त्रिको' को धारण किये हुए हैं । भूः भुवः स्वः-स्थूल, सूक्ष्म, कारण-जाग्रति, स्वप्न, सुषुप्ति-ब्रह्मा, विष्णु, महेश-ऋक्, यजुः साम-वैश्वानर, तेजस् प्राज्ञ-गार्हपत्य अग्नि, दक्षिण-अग्नि, आवहनीय अग्नि-सूर्य चन्द्र अग्नि-विराट्, हिरण्यगर्भ, मायादेह-नाश, निर्माण, स्थिति-जीव, प्रकृति, ब्रह्म । इस प्रकार ओंकार अनंत गुणों और विभूतियों को अपने अंदर समाहित किये हुए है । इन सब को विस्तारपूर्वक चर्चा प्रश्न और छान्दोग्य उपनिषदों में मौजूद है, परन्तु मांडूक्य में जो रहस्योद्घाटन हुआ है, वैसी आध्यात्मिक वर्णन इसका अन्यत्र कहीं नहीं मिलता ।

ध्वनिशास्त्र की दृष्टि से यदि इसके इन तीन घटकों पर विचार किया जाय, तो हम पायेंगे कि ये केवल ध्वनि मात्र

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

नहीं है, वरन् समस्त ध्वनि जगत का अंतर्भाव करने वाले प्रतीक हैं । इसमें आया हुआ 'अ' मात्र एक स्वर या ध्वनि नहीं, अपितु निखिल संगीत जगत का, सृष्टि का, समस्त भाषाओं का मूलाधार एवं मूल प्रकृति है । गीता में विभूति-वर्णन के समय भगवान यह भी कहते हैं-'**अक्षराणामकारोऽस्मि**' अर्थात् अक्षरों में 'अकार' मैं ही हूँ । निश्चय ही इसकी अनुपस्थिति में भाषाशास्त्र और स्वरविज्ञान अपंग एवं मूक स्तर के साबित होते हैं । इससे इसकी महत्ता स्पष्ट विदित हो जाती है । यह महत्त्व तब और सुस्पष्ट हो जाता है, जब विभिन्न वर्णों को अकार से पृथक् करते हुए उच्चारण का विफल प्रयास किया जाता है। स्वरशास्त्र के अभ्यासियों को यह मालूम होता है कि 'अ' का सुदीर्घ उच्चारण करते हुए बाद में जब मुख से निकलने वाली वायु को होंठ सिकोड़ और फैलाकर संपीड़ित और विस्तृत किया जाता है, तब उससे ही उ, इ, ए, ओ आदि दूसरे स्वर उत्पन्न होने लगते हैं । इससे स्पष्ट है कि वर्ण विज्ञान का आदि मूल 'अकार' है । यह अकार और कुछ नहीं, अपितु 'प्रणव' में व्यक्त हो रही ईश्वरीय चेतना की व्यापकता ही है । 'उ' और 'म' इसी अकार के विकास रूप हैं । इन्हीं तीन ध्वनियों द्वारा सम्पूर्ण नाद जगत का प्रतिनिधित्व होता है, इसीलिए इनके संयुक्त रूप 'ॐ' द्वारा हम उस नाद ब्रह्म-शब्द ब्रह्म को जानने, समझने और उसकी अनुभूति करने का प्रयास करते रहते हैं ।

शब्द आकाश का गुण है । आकाश में इसका निर्माण और विलय-विसर्जन होता रहता है । इसके उच्चारण से हम अनायास ही इस तत्त्व से जुड़ जाते हैं । इस आकाश तत्त्व पर विज्ञान अथवा दर्शन जिस भी दृष्टि से विचार करें, ज्ञात होगा कि सृजन प्रक्रिया का शुभारम्भ यहीं से होता है । यह सूक्ष्मतम है और उत्तरोत्तर सूक्ष्मतर, सूक्ष्म, स्थूल, स्थूलतर एवं स्थूलतम-इस क्रम में सृष्टि की उत्पत्ति उससे (आकाश तत्त्व से) हुई है । विज्ञान के 'महाविस्फोट' (बिग बैंग) वाले सिद्धान्त की इससे संगति बैठ जाती है, जबकि अध्यात्म की यह सुनिश्चित अवधारणा है कि सृष्टि के आदि में सब कुछ इस आकाश तत्त्व से ही प्रकट हुआ है और सृष्टि के अंत में उसे पुनः उसी में समाहित हो जाना है । हम ओंकार का जब उच्चारण करते हैं, तो नादब्रह्म द्वारा ब्रह्म से अर्थात् सृष्टि के आदि कारण से सम्बद्ध हो जाते हैं । यह आध्यात्मिक प्रक्रिया किसी सम्प्रदाय विशेष तक ही सीमित नहीं है, वरन् सम्पूर्ण मानव समाज इससे जुड़ा हुआ है । हमारी पूजा-पद्धति चाहे कैसी ही क्यों न हो, हम किसी धर्म, किसी जाति, किसी क्षेत्र से सम्बद्ध क्यों न हों, ग्रन्थ चाहे किसी भी इष्ट-आराध्य के उपदेश क्यों न करते हों, एकेश्वर या बहुदेववादी हों, फिर भी उक्त सत्य सदा शाश्वत् और सनातन बना रहता है । विश्व के इस आदिकारण को चाहे हम ब्रह्म, ईश्वर, गॉड, टसाइटगाइस्ट, एनर्जी कुछ कह लें, केवल नामकरण से वह आदिकारण बदलने वाला नहीं । वह सदा एक है और एक ही रहेगा । इस दृष्टि से विचार करें, तो हम पायेंगे कि 'ॐ ब्रह्म है । इस जगत में सब कुछ ॐ है । तैत्तिरीय उपनिषद् की यह घोषणा न तो अनावश्यक है, न अत्युक्ति पूर्ण, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होगा ।

पातंजलि योगदर्शन ओंकार का उल्लेख करते हुए लिखता है-'**तस्य वाचकः प्रणव**' अर्थात् उसका (ईश्वर का) वाचक (शब्द) प्रणव है । यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि वाच्य और वाचक का रिश्ता परस्पर अविच्छिन्न होता है । वाचक के उच्चारण से वाच्य स्वयंमेव प्रतिभासित हो उठता है । गाय एक प्राणी है और उसका वाचक शब्द 'गाय' उससे पृथक् है । इतने पर भी शब्द के उच्चारण के साथ मन-मस्तिष्क में उस जन्तु की तस्वीर स्वतः उभर आती है । इसी प्रकार 'ॐ' ईश्वरवाचक है । ईश्वर न तो स्थूल है, न इन्द्रियगम्य, फिर भी उसकी कल्पना-भावना करने और उससे सम्बन्ध-सूत्र स्थापित करने में यह अक्षर साधनभूत बनता है । दूसरे शब्दों में कहें, तो शब्द और अर्थ अभिन्न एवं अन्योन्याश्रित हैं । नाम जप का यही रहस्य है । नामोच्चारण से ईश्वर का अनिवार्य स्मरण होता है-इसी बात को सूत्रकार अपने अगले सूत्र में स्पष्ट करते हुए कहते हैं-'**तज्जपस्तदर्थ-भावनम्**' अर्थात् नामजप से अंतःकरण में भगवद् भावना उभरने लगती है । इस प्रकार उद्गीथ मनुष्य और महत् चेतना के मध्य सम्बन्ध स्थापित करने में सेतु का काम करता है ।

ओंकार-माहात्म्य का बखान आर्षग्रंथों में स्थान-स्थान पर हुआ है, मनुस्मृति से लेकर गोपथ ब्राह्मण एवं उपनिषदों में कठ से लेकर अमृतनाद, अथर्वशिरा, अथर्वशिरपा, मैत्रायणी, मैत्रेय, ध्यान बिन्दु आदि कितने ही प्रधान-अप्रधान ग्रन्थों में इसका उल्लेख है .। गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं-''**गिरारम्येग्येकमक्षरम्**'' अर्थात् वाणी में एक अक्षर 'ॐ' मैं हूँ । यजुर्वेद में इसी को 'ॐ रवं ब्रह्म' कहकर वर्णित किया गया है, अर्थात् आकाश के समान व्यापक परमात्मा 'ॐ' नाम वाला है । शिव पुराण के कैलास संहिता में उल्लेख है-'**शिवो यो प्रणयो ह्येष प्रणवो वा शिवः स्मृतः**' प्रणव ही शिव है और शिव ही प्रणव है । अन्यत्र वर्णन है-'**ॐ इति सर्वम्**' । यहाँ सम्पूर्ण जगत को 'ॐ' अर्थात् ईश्वरमय बताया गया है । इस प्रकार ओम के इस एक अक्षर में ही चराचर जगत और उसकी सम्पूर्ण शक्तियाँ अभिव्यक्ति पा रही हैं । दूसरे शब्दों में कहें, तो यह जगत 'ॐ' (परमात्मा) का व्यक्त रूप है, उसी का प्रकाश है । इस प्रकाश-प्रेरणा को हम जितने अंशों में लोगों तक पहुँचाते हैं, समझना चाहिए उतने ही अनुपात में ॐ के तत्त्वदर्शन को आत्मसात् किया और आचरण में उतारा गया । हम अपनी आत्मीयता को सीमाबद्ध न रखें, उसे विस्तृत और व्यापक बनायें-ओम का 'अकार' इसी बात की प्रेरणा देता है । 'उकार' उससे आगे की गति-प्रगति का द्योतक है। जब यह विकसित होते हुए विराट् ब्रह्म में दूध-पानी

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

की तरह घुल-मिल जाता है तो यही मकार बन जाता है । जीवन मुक्ति, एकत्व, अद्वैत इसे ही कहते हैं । इस प्रकार अकार से यात्रा आरम्भ कर मनुष्य जब अपने को परिष्कृत और विकसित करते हुए चलता है, तो अंतिम परिणति मकार के रूप में, ईश्वर उपलब्धि के रूप में सामने आती है । यह 'प्रणव' की सबसे बड़ी विशेषता है । वह प्रवृत्ति मार्ग में चलाते हुए भी अंततः आदमी को अंतिम लक्ष्य पर ला खड़ा करती है । ऐसी विशिष्टता किसी अन्य शब्द में नहीं ।

हम ओम की उपासना और जप तो करते हैं, पर उसमें सन्निहित मर्म और आदर्श की अवहेलना कर देते हैं । आज की दुर्गति का यही प्रमुख कारण है । इसी से उबारने के लिए हमारे संस्कृति-विधायकों ने शब्द और सूत्र रूप में गागर में सागर उँड़ेल कर रख दिया है, ताकि जब कभी अपने कर्त्तव्यों, दायित्वों और आदर्शों की उपेक्षा हो, तभी यह सूत्र-संकेत सामने आकर हमें अपनी विस्मृति और भूल का एहसास कराये। इस त्रुटि-परिमार्जन के द्वारा ही हम 'ॐ' के सच्चे उपासक कहला सकते हैं, इससे कम में नहीं ।

सत्कार्यों के लिए साधन-सहयोग

आत्मा शक्ति है और शरीर साधन । दोनों के सम्मिलित प्रयासों से दो पहिये की गाड़ी की तरह जीवन रथ चलता है । आत्मा की महत्ता कितनी ही बड़ी क्यों न हो, किन्तु वह शरीर-साधन के बिना कुछ कर सकना तो दूर अपने अस्तित्व का परिचय तक नहीं दे पाती । दोनों के बिछुड़ते ही मरण सामने आ खड़ा होता है । संसार-क्रम में यही बात है । व्यक्ति की गरिमा और महिमा से इन्कार नहीं किया जा सकता । किन्तु यदि साधनों का अभाव हो तो फिर दीन-हीन, दरिद्र, अनगढ़, पिछड़ेपन और अभावों के कारण स्थिति उपहासास्पद बनी रहती है। बिना अन्न, वस्त्र, आच्छादन के निर्वाह तक नहीं चलता । प्रगति का कोई भी पथ अपनाने के लिए साधन-सम्पदा अनिवार्य रूप से चाहिए । मात्र हाथ-पैरों के श्रम से तो मनुष्य पेट भरने जितनी रोटी ही कमा सकता है । उद्योग, व्यवसाय जैसे तंत्र खड़े करने में, व्यापक विशालकाय अभियान चलाने में तो जन-शक्ति ही नहीं साधन-शक्ति भी चाहिए ।

बुद्ध के धर्मचक्र प्रवर्त्तन में प्रधान भूमिका तो भिक्षु-भिक्षुणियों की ही रही, पर उनके निर्वाह, निवास एवं यातायात-प्रचार आदि के लिए विपुल साधनों की आवश्यकता पड़ती रही, जिसे बिम्बसार, हर्षवर्धन, अशोक जैसे पुण्यात्माओं से लेकर अंगुलिमाल, अम्बपाली जैसे हेय समझे जाने वालों द्वारा समर्पित किये गये साधनों से पूरा किया जाता रहा । यदि यह सब न जुटा होता तो भिक्षुओं-परिव्राजकों के लिए महान् परिवर्तन की भूमिका निभा सकना तो दूर, जीवित रहने के लिए कन्द-मूल तलाश करने में ही अपना समय गुजारना पड़ता । देश, धर्म और समाज-संस्कृति की सेवा तो वे कर ही कैसे पाते ?

राणाप्रताप साधनों के अभाव में एक बार नितान्त हताश हो गये थे । घास की रोटी भी जब बिलाव उठा ले गया , तो अबोध बालिका भूखी मरने लगी । प्रताप का पत्थर जैसा कलेजा मोम जैसा हो गया और वे बादशाह से संधि करके हथियार डाल देने और पराधीनता स्वीकार करने की बात सोचने लगे । बेचारे करते भी क्या, साथी सैनिकों को भी तो अन्न-वस्त्र चाहिए । शस्त्रों की निरन्तर रहने वाली आवश्यकता भी तो पूरी होनी चाहिए, अन्यथा योद्धा मात्र पत्थर फेंक कर तो दुर्दान्त शत्रु का सामना नहीं कर सकता । प्राण त्यागना अपने वश की बात है वैसा तो चित्तौड़ की रानियों ने भी जौहर के रूप में कर डाला था , पर विजयश्री का वरण करने के लिए अकेले भुजबल से भी काम नहीं चलता । साथ में सैनिक भी चाहिए । शस्त्र भी और राशन-वाहन भी । इसके बिना कर्त्तव्य निभाना भर हो सकता है, विजय प्राप्त करके दुंदुभी बजाना और जीत का उद्घोष करना सम्भव नहीं हो सकता । साधनों का भी अपनी जगह महत्त्व है । विशेषतया तब जब शरीर सेवा से बढ़कर किसी बड़े अभियान का सरंजाम जुटाना हो तब ।

प्रताप के सम्मुख प्रस्तुत जीवन-मरण की कठिनाई का हल उदारचेता भामाशाह ने किया । उनके पास व्यवसाय संग्रहीत सम्पदा थी, जिस पर कुटुम्बी और रिश्तेदार दाँत लगाये हुए थे । उन सबकी मान्यता थी कि उत्तराधिकार में जो हिस्सा मिलेगा उसी के सहारे मौज की जिन्दगी कटेगी। जब उन्होंने यह सुना कि भामाशाह राणा की सहायता के लिए अपनी सम्पदा समर्पित करने वाले हैं, तो वे सभी आगबबूला हो गये । गृहकलह चरम सीमा तक पहुँच गया, किन्तु शाह ने अपने विवेक को इतने पर भी जीवित रखा । कर्त्तव्य भी पाला और आदर्श भी निभाया । उनके पास जो विपुल सम्पदा थी उस सबको समेट कर राणा के चरणों पर सत्प्रयोजनों के निमित्त अर्पित कर दिया । परिवार के किसी सदस्य से सलाह नहीं ली और न उनके विरोध की परवाह की । परिणाम स्पष्ट है । राणा की रगों में नया रक्त उछला । नई योजना बनी । नये सिरे से संग्राम शुरू हो गया और इतिहास के पृष्ठों में वह वीरता अमर हो गई । श्रेय तो वीरता को ही मिला पर जो गहराई तक प्रवेश कर सकते हैं, वे उसके पीछे अविच्छिन्न रूप से जुड़े हुए भामाशाह के उदार साहस को जोड़े बिना नहीं रह सकते ।

ऐसे उदाहरण एक नहीं अनेक हैं । नवयुग निर्माण के लिए प्रयत्नरत विश्वामित्र को राजा हरिश्चन्द्र ने अपना धन ही नहीं परिवार और शरीर तक समर्पित कर दिया था । आद्य-शंकराचार्य जब देश के चारों कोनों से चार मठ बनाने के लिए व्याकुल थे, तब साधनों का अभाव उनके

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

सामने प्रमुख बाधा बनकर खड़ा था । मान्धाता ने अपनी सारी सम्पदा उसी प्रयोजन के लिए लगा देने की प्रतिज्ञा की और निभायी । यदि वे वैसा साहस न कर सके होते, कोई और वैसा उदार न मिला होता, तो देश के चार कोनों पर चार धाम बनाकर देश की एकता और अखण्डता को सांस्कृतिक आधार पर सुदृढ़ एवं सुनिश्चित बनाने की योजना का कौन जाने क्या हुआ होता ? इस सम्बन्ध में कौन क्या कह सकता है ?

गाँधीजी ने स्वतंत्रता आन्दोलन का नेतृत्व तो किया ही, साथ ही वे रचनात्मक कार्यों को सँभालने के लिए भी व्याकुल थे । खादी, चरखा, सर्वोदय बुनियादी तालीम, कुटीर उद्योग, हरिजन उत्कर्ष, प्राकृतिक चिकित्सा आदि कितने ही कामों को हाथ में लिया हुआ था । साबरमती आश्रम, सेवाग्राम, पवनार, उरली कांचन आदि स्थानों में अपने-अपने ढंग की प्रवृत्तियाँ चलती थीं । इन सभी के लिए पैसे की आवश्यकता रहती थी । वह अन्य साधनों से भी जुटता था । पर आत्यन्तिक उत्तरदायित्व जमनालाल बजाज ने उठाया था । उन्होंने अपने आप को गाँधीजी का चौथा पुत्र घोषित किया था । समर्थ बेटे की जिम्मेदारी है कि अपनी उचित आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए श्रवण कुमार की भूमिका निबाहे । श्री बजाज ने स्वेच्छा से यही उत्तरदायित्व वहन किया । वे पता लगाते रहते थे कि बापू की कोई प्रवृत्ति पैसे के अभाव में रुक तो नहीं रही है । अड़ी हुई आवश्यकता को वे अपने पास-से साथियों को दबाकर उतना साधन हर हालत में जुटा देते थे, जिससे बापू को अर्थसंकट के कारण अपनी योजनाओं में कटौती न करनी पड़े । जानने वाले जमनालाल बजाज को दूसरा भामाशाह कहते हैं ।

स्वराज्य के दिनों में उठती उमंगों वाले युवकों को प्रशिक्षित करके स्वतंत्रता संग्राम को अंगद-हनुमान की तरह उठा ले जाने की आवश्यकता अनुभव की गई । राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं का उत्पादन उस समय की महती आवश्यकता थी । इसके लिए पैसा चाहिए था । अँग्रेज सरकार के डर से सम्पन्न लोग भी ऐसे कामों में कुछ धन देने से अपने ऊपर आफत आने की आशंकाएँ करते थे । छात्र और उनके अभिभावक भी कुछ अधिक देने की स्थिति में नहीं थे । पैसे के बिना काम अड़ गया । इस व्यवधान को अकेले एक आदमी ने पूरा किया । उनका नाम था, महेन्द्र प्रताप । अलीगढ़ जिले के मुरसान कस्बे में उनके पास लगभग सौ गाँवों की जागीरदारी थी । उनमें से एक गाँव अपने गुजारे के लिए रखकर शेष ९९ गाँवों को उनके अपने नवजात पुत्र के नाम हस्तांतरित कर दिया । वे निःसंतान थे । पुत्र की चर्चा चलती रहती थी । उन्होंने अपने संकल्पित विद्यालय को ही 'मानस पुत्र' माना और उसी दिन प्रेम महाविद्यालय को जन्म देते हुए अपनी सम्पदा उसके नाम हस्तान्तरित कर दी । प्रेम महाविद्यालय बनने और चलने में देर न लगी । देश के लिए उत्सर्ग होने वाले छात्रों के ठठ लग गये । उच्चस्तरीय अध्यापक खोजे गये । डॉ. सम्पूर्णानन्द, आचार्य जुगल किशोर, प्रो० कृष्णचन्द्र जैसे देश के मूर्धन्य समझे जाने वाले नेता प्रविष्ट छात्रों को स्वयं पढ़ाते थे । फलतः पूरा विद्यालय स्वतंत्रता सैनिकों की छावनी बन गया । आन्दोलन आरम्भ होते ही सरकार ने उसे जब्त कर लिया । विद्यार्थी और अध्यापक अपनी गतिविधियों से इस प्रकार आन्दोलन चलाते रहे कि उस जमाने में उत्तर प्रदेश सत्याग्रही सैनिकों की खदान माना जाने लगा । विचारणीय यह है कि राजा महेन्द्र प्रताप की वह विपुल सम्पदा यदि आड़े समय में राष्ट्र के काम न आई होती, तो आन्दोलन में जो चार चाँद लगे, उसमें निश्चित रूप से कमी रह जाती । जमींदारी देते समय उनके परिवार वाले सहमत रहे हों या मित्रों ने उसे बुद्धिमत्तापूर्ण कदम बताया हो, ऐसी बात नहीं है । सभी कहते थे कि पहले अपने मौज-मजे का प्रबन्ध करना चाहिए और दान के नाम पर इतना थोड़ा-सा देना चाहिए, जिससे अखबारों में फोटो छपने लगे और चापलूस चमचे, चारणों की तरह कीर्तिध्वजा फहराने और जय-जयकार करने की कीमत प्राप्त कर सकें । यह सब अपने स्थान पर होता रहा और महेन्द्र प्रताप का संकल्प अपने स्थान पर फलित होता रहा ।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर उन दिनों ५०० रुपए के लगभग वेतन पाते थे, पर उन्होंने अपने परिवार के खर्च के लिए ५० रुपए की राशि ही निश्चित की थी । उतने में ही गुजारा चला लेते थे और शेष बचा हुआ पैसा उन निर्धन विद्यार्थियों की शिक्षा-व्यवस्था में काम आता था, जो पढ़ाई के आवश्यक साधन अपने घरों से प्राप्त नहीं कर सकते थे । ऐसे छात्रों के लिए विद्यासागर ही अभिभावक की भूमिका निभाते थे ।

पोलैण्ड की शान्ति के लिए नोबुल पुरस्कार विजेता एक श्रमिक नेता लेक वालेसा ने अपने को मिली राशि में से एक पाई को भी अपने लिए नहीं छुआ, वरन् वह सारा धन श्रमिक आन्दोलन को गतिशील बनाने के लिए हाथों-हाथ हस्तान्तरित कर दिया ।

ठीक इस प्रकार एक नोबुल पुरस्कार विजेता उच्च-शिक्षित पादरी अलबर्ट श्वाइत्जर ने अपने को अफ्रीका के कोढ़ियों के लिए समर्पित किया । यह छूत उन्हें भी लग गई थी, तो भी वे मरते दिन तक उस व्रतशीलता को निबाहते रहे । उन्हें भी नोबुल पुरस्कार मिला था । उस लाखों की रकम को उन्होंने कोढ़ी परित्राण के लिए ही दान कर दिया । शरीर और मन तो वे पहले ही दे चुके थे ।

अल्फ्रेड नोबुल स्वयं एक बड़े व्यापारी थे । युद्ध के दिनों उनका व्यापार खूब चमका और करोड़ों डालर उनके पास इकट्ठे हो गये । ओछे मनुष्य, विलास संग्रह, ठाटबाट, प्रशंसा आदि के लिए खर्च करते हैं और जो बचता है, उसे कानूनी उत्तराधिकारियों के लिए छोड़ जाते हैं । आम प्रचलन यही है, पर लकीर से हटकर नोबुल ने दूसरी तरह सोचा । अपनी सारी सम्पदा बैंक में जमा कर दी और ट्रस्ट बना दिया ताकि उसकी ब्याज से विश्व में उदाहरण प्रस्तुत करने वाले विभिन्न फैकल्टीज के

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

मूर्धन्यजनों को पुरस्कार में वह ब्याज की राशि प्रतिवर्ष दी जाया करे । हर वर्ष दर्जनों लोगों को उसी राशि में से लाखों के पुरस्कार मिलते हैं और बढ़-चढ़कर काम करने के लिए अगणित-जन प्रोत्साहित होते हैं । नोबुल को भी अन्य धनाढ्यों की तरह दुर्बुद्धि ही घेरे रहती तो उनका धन गंदी नालियों में होकर बहता और जहाँ कहीं भी पहुँचता, वहीं अनर्थ करता ।

अमेरिका के एक करोड़पति पैसे को इतना प्यार करते थे कि उन्होंने शादी तक नहीं की कि स्त्री-बच्चों पर खर्च करना पड़ेगा । उनसे कोई मिलने आता था, तो सिर्फ एक बत्ती कमरे में जलने देते थे, ताकि अधिक बिजली जलने से पैसे की हानि न हो ।

उस देश में एक प्रशिक्षकों का विश्वविद्यालय बन रहा था । उसके लिए चंदा इकट्ठा किया जा रहा था । धन कमेटी ने अनुत्साहपूर्वक उस कृपण के यहाँ चलने का भी निश्चय किया । घुसते ही एक को छोड़कर सब बत्तियाँ बुझ गईं । तो उन्होंने समझ लिया कि इस कृपण के यहाँ से कुछ मिलना-जाना नहीं है । संकोचपूर्वक समिति ने पाँच हजार डालर की प्रार्थना की । चूँकि योजना धनाढ्य के मन की थी और वह उसी निमित्त एक-एक कौड़ी करके धन जमा करता रहा था, ऐसी यूनिवर्सिटी खुलने की उसे हार्दिक प्रसन्नता हुई । उसने पाँच हजार के स्थान पर पचास हजार डालर का चेक दिया । जब समिति आश्चर्य व्यक्त करने लगी, तो उसने कहा-"चूँकि काम मेरे मन का है, इसलिए मैं अपनी पचास करोड़ डालर की पूरी सम्पदा दूँगा, पर पच्चीस-पच्चीस लाख की किश्तों में, ताकि यह देखता चलूँ कि काम उसी स्तर का, उसी प्रकार हो रहा है या नहीं जैसा कि मैं चाहता हूँ ।" अन्ततः उसकी सारी पूँजी उस विश्वविद्यालय में ही लगी ।

यह सम्पन्न लोगों की एकाकी साहसिकता के उदाहरण हैं, पर यह आवश्यक नहीं कि अधिक लोग ऐसी स्थिति में हों और ऐसा बड़ा साहस कर सकें, किन्तु जिसकी जितनी क्षमता और उदार साहसिकता है, वह उस अनुपात में कुछ तो दे ही सकता है, उन कामों के लिए जिनकी परिणति असंदिग्ध हो, जिनसे वस्तुतः लोक-कल्याण सधता हो ।

ऐसे उदाहरणों में मथुरा जिले की एक बाल विधवा का प्रसंग है, जो दिन भर आटा पीसती और दो आने रोज कमाती थी । उसने सोचा कि कमाई में पुण्य का भी एक अंश होना चाहिए, वह दो पैसे रोज बचाती रही । बूढ़ी हुई तब उसने एक पक्का कुआँ बनवा दिया । उसका पानी असाधारण रूप से मीठा, ठंडा और गुणकारी निकला । पिसनहारी का कुआँ अब भी विद्यमान है और उससे लाभ उठाने वाले निर्माणकर्त्ता की उदारता को भूरि-भूरि सराहा करते हैं ।

भगवान् बुद्ध ने एक विशाल संघाराम निर्माण के लिए धनिकों की गोष्ठी बुलाई । सभी ने उदारतापूर्वक दान दिया । पीछे यह पूछा गया कि सबसे बड़ी राशि कितनी थी, तो एक घसियारे के पचास पैसे की घोषणा की गई । यह उसकी शत-प्रतिशत पूँजी थी और उसे दे चुकने के बाद उस दिन उसे भूखा सोना पड़ा था । पुण्य धन की मात्रा पर निर्भर नहीं वरन् इस तथ्य पर अवलम्बित है कि किसने अपने साधनों का कितना बड़ा अंश पुण्य कार्य के निमित्त भावपूर्वक समर्पित किया ।

पुरातन गरिमा को भुलाएँ नहीं

जापान में पुरातनकाल में 'शिन्टो' धर्म का प्रचलन था। उसकी शिक्षाएँ तो यही थीं जो अन्य धर्मों की हैं । धर्म सदाचार का ही समर्थन कर सकते हैं । भले ही कथा पुराणों में उनका छद्म रूप भी ऐसा जोड़ दिया हो जिनसे सामयिक आवश्यकता के अनुरूप उनमें छद्म मिला देने के अपवाद भी जुड़े हुए हैं । सभी धर्म ऐसा करते रहे हैं । चोर दरवाजे ऐसे भी रखे हैं जिनमें अपने विपरीत मतवालों से घृणा की जाए और बलपूर्वक उन्हें अपने धर्म में दीक्षित किया जाय । वस्तुतः विचार स्वातन्त्र्य पनपने देने के लिए यह आवश्यक है कि मानवी ऐसे मौखिक अधिकारी को मान्यता दी जाय जो नीति-सदाचार से टकराते न हों ।

शिन्तो धर्म में कट्टरता नहीं है । यही कारण है कि बौद्ध धर्म का जब उस क्षेत्र में प्रवेश हुआ तो बिना टकराये दोनों एक-दूसरे के साथ मिल गये । सामञ्जस्य ने दोनों की विशेषताएँ स्वीकार कर लीं । जापान के बौद्ध धर्म पर पुरातन शिन्तो मान्यताओं की गहरी छाप है । यदि यह प्रयोग अन्य धर्मों में ही हुआ होता तो धर्मों के कारण जो विलगाव उत्पन्न हुआ है और रक्तपात एवं छल-छद्म अपनाये गये हैं, उनकी कहीं कोई जरूरत न पड़ती ।

शिन्तो धर्म की अतिरिक्त विशिष्टता यह है कि उसमें जापानियों को सूर्य पुत्र कहा है । उस क्षेत्र के निवासियों को अपने पूर्वज सूर्य के समान तेजस्वी और गतिशील होने की प्रेरणा दी है । यह मोटा सिद्धान्त वहाँ के नागरिकों ने गहराई तक हृदयंगम किया है । इस आधार पर अपना स्वाभिमान ही नहीं चरित्र भी ऊँचा रखा है । व्यक्ति को अपने अस्तित्व के सम्बन्ध में ऊँची मान्यता रखने से उसकी प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया क्या होती है, उसे जापान जाकर वहाँ के नागरिकों का भावनात्मक स्तर परखते हुए सहज ही जमा जा सकता है ।

अन्य धर्मों में आत्मा का उद्गम पतित क्षेत्र से माना गया है । हिन्दू धर्म में चौरासी लाख योनियों में घूमते हुए मनुष्य जन्म पाने पर फिर अपने पाप कर्मों का फल पाने के लिए उसी चौरासी के चक्र में चले जाने की मान्यता है । इसमें मनुष्य की चिरस्थायी सत्ता तो पशु की ही रही । मनुष्य जन्म तो ईश्वर का उपहार भर है इसमें स्थायित्व नहीं है ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

यह मान्यता विकासवादी डार्विन के उस मत से मिलती-जुलती है जिसमें क्षुद्र जल-जीवों से धरती के प्राणियों में जीवन का विकास हुआ है और बन्दर से मनुष्य बना है । यदि हमारे पूर्वज बन्दर थे तो फिर उनकी वंश परम्परा अपने स्वभाव में सम्मिलित रहे तो क्या आश्चर्य ! पुरातन निर्धारणों की सहज ही जनमानस में उनको मान्यता मिल जाती है और यदि वह गई-गुजरी स्थिति है तो फिर पीढ़ियों में प्रखरता आने की कोई गुञ्जायश नहीं रह जाती।

भारतीय धर्म की वेदान्त मान्यता अपनाने योग्य है, जिसमें आत्मा को परमात्मा का अंश या प्रतीक-प्रतिनिधि माना गया है और उसका परिष्कार करके पूर्णता की स्थिति तक पहुँचने के लिए निर्देशन किया गया है।

देवताओं को ऋषियों की सन्तान होने की बात हम अपने गोत्रों के आधार पर भी हृदयंगम कर सकते हैं । साथ ही पूर्वजों की गरिमा रक्षा के लिए अपने आपे को श्रेष्ठतम बनाने की बात भी सोच सकते हैं।

मानवी गरिमा की दो मूलभूत कसौटियाँ

बुद्धि को शरीर का एक भाग माना गया है । उसे मस्तिष्कीय उत्पादन भी कह सकते हैं । जीवन-संचालन के क्षेत्र में पशुओं और मनुष्यों में भिन्नता है । पशु परिस्थितियों के अनुरूप अपने को ढालते हैं और मनुष्य को अपने अनुरूप परिस्थितियाँ ढालनी पड़ती हैं । यह कार्य वह बुद्धि-वैभव के सहारे ही कर पाता है, अन्यथा शरीर रक्षा ही उसके लिए एक समस्या बन जाय और अपनी दुर्बल काया के आधार पर प्रकृति परिवर्तन के प्रभाव भी सहन न कर सके । फिर उसकी इच्छाएँ ज्ञानेन्द्रियों के साथ-साथ ही उभरती रहती हैं । वासना और तृष्णा जैसे प्रलोभन मस्तिष्क क्षेत्र में ही उपजते हैं और उनकी पूर्ति के लिए अनेकों चित्र-विचित्र उपाय सोचने और कार्य करने पड़ते हैं । यह परिधि शरीरगत आवश्यकताओं और संरचनाओं से ही सम्बन्धित है ।

आत्मा का स्तर, स्वरूप और क्षेत्र शरीर से भिन्न है । उसमें दो विशेषताएँ हैं, जिन्हें स्नेह एवं करुणा कहते हैं । यह भाव-संस्थान मनुष्य के अन्तराल में ही विकसित रूप में पाया जाता है । अन्य प्राणियों में इसकी मात्रा नगण्य है । मादा अपने बच्चों की जीवन-रक्षा के लिए जो प्रयास करती है उसे जैविक स्नेह कह सकते हैं । करुणा की थोड़ी-सी झलक साथी के प्रति लगाव के रूप में देखी जाती है , पर मनुष्य की स्थिति उससे कहीं अधिक भिन्न है । उसे भावप्रधान माना गया है । भावनाएँ शरीर से सीधी सम्बन्धित नहीं हैं । वरन् वे मनुष्य के अन्तःकरण के साथ जुड़ी रहती हैं और उनका स्तर एवं अनुपात यह बताता है कि व्यक्ति अन्तःकरण की, आत्मसत्ता की दृष्टि से कितना विकसित हो सका है ।

बच्चे भी साथ-साथ खेलते हैं । एक दूसरे को सहयोग करते हैं । मिल-बाँटकर खाते अपने अभिभावकों के साथ अधिक निकटता पसन्द करते हैं । बड़ी आयु में भी यह विकसित होता रहता है । केवल माध्यम बदलता है । पति-पत्नी के बीच उत्पन्न होने वाली घनिष्टता, मित्रों और साथियों का साहचर्य का आधार स्नेह ही है । सहकारिता इसी का विकास है । परिवार और समाज इसी आधार पर बनते हैं । संगठन बनने और सम्मिलित प्रयत्नों से किन्हीं बड़े कामों में जुटाने में मात्र भौतिक लाभ ही कारण नहीं होते वरन् उद्देश्य की एकता सफलता को प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाकर चलना स्नेह का ही प्रतिफल है ।

प्राणियों में असमर्थ रहने तक ही मादा अपने बच्चों से लगाव रखती है । किन्तु मनुष्य समुदाय में पिता और अभिभावक उस प्रयास में सतत् बँधे रहते हैं । समान विचार और कार्यों से सम्बन्धित व्यक्ति भी आपस में जुड़ जाते हैं । समाज की संरचना, परिवार का गठन स्नेह के आधार पर ही सम्भव हो सकता है अन्यथा कोई किसी के काम न आता, न मिलजुल कर रहने, मिल-बाँट कर काम करने की ही आकांक्षा किसी में उत्पन्न होती । यह दैवी गुण हैं । इसे आत्मा की विशेषता एवं उत्कृष्टता के रूप में भी निरूपित किया जा सकता है ।

मानवीय श्रेष्ठता की परिचायक दूसरी प्रवृत्ति है करुणा । इसी से प्रेरित होकर दूसरों के दुःख में भागीदार होने और अपने सुख बँटा देने की उमंग उठती है । दान, परोपकार, सेवा, सहायता इसी का प्रतिफल है । इसका स्वार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है । वरन् दुखियों की सहायता की आकांक्षा, अपना समय और धन लगाने की, स्वयं कष्ट सहकर दूसरों को सुविधा पहुँचाने की प्रवृत्ति भी उत्पन्न होती है । यह परिचितों से ही सम्बन्धित नहीं होती वरन् अपरिचितों तक भी दौड़ती है । जिनसे किसी प्रकार का प्रत्युपकार होने की आशा नहीं है, उनके प्रति भी सहायता करने का यह भाव करुणा कहा जाता है । इसमें पिछड़ों को सहारा देने, गिरों को उठाने, उठतों को बढ़ाने का भाव निहित है अपने द्वारा दूसरों के प्रति ऐसे जो कार्य बन पड़ते हैं, इस प्रकार की प्रवृत्तियों को चरितार्थ होते हुए कहीं देखते हैं तो कहा जाता है कि यहाँ करुणा काम कर रही है । यह प्रवृत्ति प्राणि-समाज में मनुष्य में ही इतने विकसित रूप में देखी जाती है । इसकी श्रेष्ठता का एक बड़ा आधार यह भावनात्मक संवेदना है ।

सम्प्रदायों की बात छोड़िये, उनमें तो प्राणिबध को अनेक स्थानों पर पुण्य तक माना गया है और देवताओं की प्रसन्नता के लिए इसे एक उत्तम उपहार के रूप में निरूपित भी किया गया है । किन्तु जहाँ तक धर्म-अध्यात्म के तत्त्वज्ञान का सम्बन्ध है, वहाँ दूसरों में अपनी आत्मा को देखने और उनकी पीड़ाओं को अपनी निज की पीड़ा मानने का निर्देशन है । **'आत्मवत् सर्वभूतेषु'** की भावना

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

दूसरों को अपने द्वारा प्रसन्नता पहुँचाते हुए प्रसन्न-पुलकित करती है और अनजाने में भी किसी के अधिकार का अपहरण करते हुए पाप, नरक और विश्वात्मा को पीड़ा पहुँचाने के समान मानती है । इसलिए धर्म-भावना को अधिकाधिक विकसित करने के लिए कहा गया है । इस प्रवृत्ति को मात्र मनुष्यों तक सीमित रखने में तो एक प्रकार का बिरादरीवाद उठता है । जातियों में युद्ध इसी आधार पर होते हैं । अपने समुदाय, समाज और देश को लाभ पहुँचाने के निमित्त दूसरों के निमित्त निष्ठुर बनकर ही आक्रान्ताओं की योजनाएँ बनीं और कार्यान्वित हुई हैं । उपनिवेशवाद, दास प्रथा की घटनाएँ उसी आधार पर घटित होती रही हैं । ऐसे कृत्य मानवता की मूल प्रेरणा का उल्लंघन करके ही हो सकते हैं ।

यों सभी धर्मों में सिद्धान्ततः इस तथ्य का समर्थन है, पर जैन और बौद्ध धर्म के संचालकों ने इस प्रवृत्ति को मनुष्यों तक ही सीमित न रहने देकर प्राणिमात्र के प्रति चरितार्थ करने के लिए कहा है । मनुष्य की दया, करुणा केवल मनुष्यों तक ही सीमित रहे और अन्य प्राणियों का प्रश्न आने पर निष्ठुरता बरतने लगे तो वह आदर्श का पालन कहाँ हुआ ? वह तो सुविधा-सम्पादन की बात हुई । चूँकि अन्य प्राणी बदला नहीं ले सकते, उतनी अच्छी तरह बचाव भी नहीं कर सकते, इसलिए मानवी न्याय-पुस्तकों में उसे दंडनीय अपराध भी नहीं माना गया है । ऐसी दशा में यदि पशुवध की छूट मिली है तो उसे मत्स्यन्याय ही कहना चाहिए । बड़ी मछली छोटी मछली को इसलिए खा जाती है कि वह अपना बचाव करने में असमर्थ है । बड़ी मछली भी अपने से बड़ी पर आक्रमण नहीं करती और न उसे खाने की योजना बनाती है । इसमें दया या करुणा का स्वभाव नहीं है वरन् विवशता है । विवशता, असमर्थता को संयोग से जिन आक्रमणों में सफलता नहीं मिलती, उन्हें स्नेह या करुणा का रूप नहीं दिया जा सकता ।

मानवी भौतिक विकास में लाभ एवं स्वार्थ की ही प्रधानता है । अन्य प्राणी भी यह करते हैं । दूसरों की सुविधा का अपहरण करने में उन्हें इसलिए संकोच नहीं होता कि इसमें किन्हीं को कष्ट होगा या अन्याय, उत्पीड़न सहना पड़ेगा । इसकी साधारण मात्रा को पाशविक कहते हैं और जहाँ अन्याय की चरमसीमा का प्रयोग होता है, उसे पैशाचिक कहते हैं । मनुष्य में देवत्व भी है और दानवत्व भी । इनमें एक भौतिक है दूसरा दैवी । मनुष्य की गरिमा इसलिए नहीं है कि उसने सुविधा-साधनों में अभिवृद्धि कर ली है और इस प्रकार का कौशल या प्रपंच सीख लिया है जिससे उसकी क्षमता का गुणगान होता रहे, वरन् उसकी गरिमा इसमें है कि ईश्वरप्रदत्त विभूतियों को अपनी ओर कितनी आकर्षित कर सका और अपने में धारण करने में कितना समर्थ हो सका ? स्नेह और करुणा ही वे दो कसौटियाँ हैं जिन पर कसकर यह जाना जा सकता है कि कौन अपने वास्तविक वर्चस्व की ओर कितना आगे बढ़ सका ?

हम माया-मूढ़ होकर भ्रम-जंजाल में भटक रहे हैं

जो कुछ हम देखते, जानते या अनुभव करते हैं क्या वह सत्य है ? इस प्रश्न का मोटा उत्तर हाँ में दिया जा सकता है, क्योंकि जो कुछ सामने है, प्रत्यक्ष है, अनुभव किया जा रहा है, उसके असत्य होने का कोई कारण नहीं । चूँकि हमें अपने पर, अपनी इन्द्रियों और अनुभूतियों पर विश्वास होता है इसलिए वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति के बारे में जो समझते हैं, उसे भी सत्य ही मानते हैं । इतने पर भी जब गहराई में उतरते हैं, तो प्रतीत होता है कि हमारी मान्यताएँ और अनुभूतियाँ हमें नितान्त सत्य का बोध कराने में असमर्थ हैं । वे केवल पूर्व मान्यताओं की अपेक्षा से ही कुछ अनुभूतियाँ करती हैं । यदि पूर्व मान्यताएँ बदल जाएँ तो फिर अपने सारे निष्कर्ष या अनुभव भी बदलने पड़ेंगे ।

हमारा बुद्धिसंस्थान केवल अपेक्षाकृत स्तर की जानकारियाँ दे सकने में ही समर्थ है । इतने से ही यदि सन्तोष होता हो तो यह कहा जा सकता है कि हम जो जानते या मानते हैं वह सत्य है, किन्तु अपनी मान्यताओं को ही यदि नितान्त सत्य की कसौटी पर कसने लगें तो प्रतीत होगा कि यह बुद्धिसंस्थान ही बेतरह भ्रमग्रसित हो रहा है फिर उसके सहारे नितान्त सत्य को कैसे प्राप्त किया जाय ? यह एक ऐसा विकट प्रश्न है जो सुलझाये नहीं सुलझता ।

वजन जिसके आधार पर वस्तुओं का विनिमय चल रहा है एक मान्यता प्राप्त तथ्य है । वजन के बिना व्यापार नहीं चल सकता, पर वजन सम्बन्धी हमारी मान्यताएँ क्या सर्वथा सत्य हैं ? इस पर विचार करते हैं तो पैरों तले से जमीन खिसकने लगती है । वजन का अपना कोई अस्तित्व नहीं । पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति का जितना प्रभाव जिस वस्तु पर पड़ रहा है, उसे रोकने के लिए जितनी शक्ति लगानी पड़ेगी वही उसका वजन होगा । तराजू-बाँटों के आधार पर हमें इसी बात का पता चलता है और उसी जानकारी को वजन मानते हैं, पर यह वजन तो घटता-बढ़ता रहता है । पृथ्वी पर जो वस्तु एक मन भारी है वह साड़े तीन मील ऊपर आकाश में उठ जाने पर आधी अर्थात् बीस सेर रह जायेगी । इससे ऊपर उठने पर वह और हलकी होती चली जायगी । पृथ्वी और चन्द्रमा के बीच एक जगह ऐसी आती है जहाँ पहुँचने पर उस वस्तु का वजन कुछ भी नहीं रहेगा । वहाँ अगर एक विशाल पर्वत भी रख दिया जाय तो वह बिना वजन का होने के कारण जहाँ का तहाँ लटका रहेगा । अन्य ग्रहों की गुरुता और आकर्षण-शक्ति भिन्न है, वहाँ पहुँचने पर अपनी पृथ्वी का भार माप सर्वथा अमान्य ठहराया जाय । ऐसी

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

दशा में यही कहा जा सकता है कि वजन सापेक्ष है । किसी पूर्वमान्यता, स्थिति या तुलना के आधार पर ही उसका निर्धारण हो सकता है ।

लोकव्यवहार की दूसरी इकाई है गति । वजन की तरह ही उसका भी महत्त्व है । गति ज्ञान के आधार पर ही एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचने के विभिन्न साधनों का मूल्यांकन होता है, पर देखना यह है कि 'गति' के सम्बन्ध में हमारे निर्धारण नितान्त सत्य की कसौटी पर खरे उतरते हैं या नहीं ।

हम अपनी कुर्सी पर बैठे लिख रहे हैं और जानते हैं कि स्थिर हैं, पर वस्तुतः एक हजार प्रति घण्टा की चाल से हम एक दिशा में उड़ते चले जा रहे हैं । पृथ्वी की यही चाल है । पृथ्वी पर बैठे होने के कारण हम उसी चाल से उड़ने के लिए विवश हैं । यद्यपि यह तथ्य हमारी इन्द्रियजन्य जानकारी की पकड़ में नहीं आता और निरन्तर स्थिरता प्रतीत होती है । पैरों से या सवारी से जितना चला जाता है, उसी को गति मानते हैं ।

पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है, इसलिए इस क्षण जहाँ हैं वहाँ वापस २४ घण्टे बाद ही आ सकेंगे, पर यह सोचना भी व्यर्थ है, क्योंकि पृथ्वी ६,६६,००० मील प्रति घण्टा की चाल से सूर्य की परिक्रमा के लिए दौड़ी जा रही है। वह आकाश में जिस जगह है वहाँ लौटकर एक वर्ष बाद ही आ सकती है, किन्तु यह मानना भी मिथ्या है क्योंकि सूर्य महासूर्य की परिक्रमा कर रहा है और पृथ्वी समेत अपने सौरपरिवार के समस्त ग्रह-उपग्रहों को लेकर और भी तीव्र गति से दौड़ता चला जा रहा है और वह महासूर्य अन्य किसी अति सूर्य की परिक्रमा कर रहा है। वह सिलसिला न जाने कितनी असंख्य कड़ियों में जुड़ा हुआ होगा। अस्तु, एक शब्द में यों कह सकते हैं कि जिस जगह आज हम हैं कम से कम इस जन्म में तो वहाँ फिर कभी लौटकर आ ही नहीं सकते। अपना आकाश छूटा तो सदा-सर्वदा के लिए छूटेगा। इतने पर भी समझते यही रहते हैं कि जहाँ थे उसी क्षेत्र , देश या आकाश के नीचे वहीं जन्म भर बने रहेंगे।

स्थान की भाँति गति की मात्रा भी भ्रामक है। दो रेल-गाड़ियाँ समान पटरियों पर साथ-साथ दौड़ रही हों तो वे साथ-साथ हिलती-जुलती भर दिखाई पड़ेंगी। दो मोटरें आमने-सामने से आ रही हों और दोनों चालीस-चालीस मील प्रतिघण्टे की चाल से चल रही हों तो जब वे बराबर से गुजरेंगी तो ८० मील प्रतिघण्टे की चाल का आभास होगा। जब कभी आमने-सामने से आती हुई रेलगाड़ियाँ बराबर से गुजरती हैं तो दूना वेग मालूम पड़ता है, यद्यपि वे दोनों ही अपनी-अपनी साधारण चाल से चल रही होती हैं। अपनी पृथ्वी जिस दिशा में जिस चाल से चल रही है वही गति और दिशा अन्य ग्रह-नक्षत्रों की रही होती तो आकाश पूर्णतया स्थिर दीखता। सूर्य-तारे कभी न उगते, न चलते, न डूबते। जो जहाँ है वहीं सदा बना रहता, तब पूर्ण स्थिरता की अनुभूति होते हुए भी सब की गतिशीलता यथावत् बनी रहती।

गति सापेक्ष है। अन्तर कितनी ही तरह निकाला जा सकता है। सौ में से नब्बे निकालने पर दस बचते हैं। तीस में से बीस निकालने पर भी पचास में से चालीस निकालने पर भी दस ही बचेंगे। अन्तर एक ही निकले इसके लिए अनेकों अंकों का अनेक प्रकार से उपयोग हो सकता है। इतनी भिन्नता रहने पर भी परिणाम में अन्तर न पड़ेगा। एक हजार का जोड़ निकालना हो तो कितने ही अंकों का कितनी ही प्रकार से वही जोड़ बन सकता है। गति-मापने के बारे में भी यही बात है। भूतकाल के खगोल-वेत्ता सूर्य को स्थिर मानकर ग्रह-गणित करते रहे हैं। चन्द्र-ग्रहण, सूर्य-ग्रहण, सौरण्डल के ग्रह-उपग्रहों का उदय-अस्त, दिनमान, रात्रिमान आदि इसी आधार पर निकाला जाता रहा है। फिर भी वह बिलकुल सही बैठता रहा है। यद्यपि सूर्य को स्थिर मानकर चलने की मान्यता सर्वथा मिथ्या है। मिथ्या आधार भी जब सत्य परिणाम प्रस्तुत करते हैं, तो फिर सत्य-असत्य का भेद किस प्रकार किया जाय, यह सोचने पर बुद्धि थककर बैठ जाती है।

दिशा का निर्धारण भी लोकव्यवहार में आवश्यक है। इसके बिना भूगोल नक्शा, यातायात की कोई व्यवस्था ही न बनेगी। रेखागणित में आड़ी, सीधी, तिरछी रेखाओं को ही आधार माना गया है। दिशाज्ञान के बिना वायुयान और जलयानों के लिए निर्दिष्ट लक्ष्य तक पहुँच सकना ही सम्भव न होगा। पूर्व, पच्छिम आदि आठ और दो ऊपर नीचे की दशों दिशाएँ लोकव्यवहार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण आधार हैं, पर 'नितान्त सत्य' का आश्रय लेने पर यह दिशा मान्यता भी लड़खड़ा कर भूमिसात हो जाती है।

एक लम्बी नाली लगातार खोदते चले जाएँ तो प्रतीत होगा कि वह सीधी समतल जा रही है, पर वस्तुतः वह गोलाई में ही खुद रही है और वह क्रम चलता रहने पर खुदाई उसी स्थान पर आ पहुँचेगी जहाँ से वह आरम्भ हुई थी। रबड़ की गेंद पर बिलकुल सीधी रेखा खींचने पर भी वस्तुतः वह गोलाई में ही खिंच रही है, सीधी रेखा खींचने का मतलब उसके दोनों सिरों का अन्तर सदा बना रहना ही होना चाहिए, पर जब वे अन्ततः एक में आ मिलें तो फिर सीधी लकीर कहाँ हुई ? कागज पर, जमीन पर या कहीं भी छोटी-बड़ी सीधी लकीर खींची जाय वह कभी भी सीधी नहीं हो सकती। स्वल्प गोलाई अपने नाप-साधनों से भले ही पकड़ में न आवे, पर वस्तुतः वह गोल ही बन रही होगी। जिस भूमि को हम समतल समझते हैं वस्तुतः वह भी गोल है। समुद्र समतल दीखता है, पर उस पर चलने वाले जहाजों का मस्तूल ही पहले दीखता है, इससे प्रतीत होता है कि पानी समतल प्रतीत होते हुए भी पृथ्वी के अनुपात में गोलाई लिए हुए है। जमीन पर खड़े होकर जमीन और आसमान मिलने वाला क्षितिज प्रायः ३ मील पर दिखाई पड़ता है पर यदि दो सौ फुट ऊँचाई पर चढ़कर देखें तो वह बीस मील दूरी पर मिलता दिखाई

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

देगा। यह बातें पृथ्वी की गोलाई सिद्ध करती हैं। फिर भी मोटी बुद्धि से उसे गोल देख पाने का कोई प्रत्यक्ष साधन अपने पास नहीं है। वह समतल या ऊँची-नीची दीखती है गोल नहीं। ऐसी दशा में हमारा दिशा-ज्ञान भी अविश्वस्त ही ठहरता है।

चन्द्रमा हमसे ऊँचा है पर यदि चन्द्रतल पर जा खड़े हों तो प्रतीत होगा कि पृथ्वी ऊपर आकाश में उदय होती है। सौरमण्डल से बाहर निकलकर कहीं आकाश में हम जा खड़े हों तो प्रतीत होगा कि पूर्व, पच्छिम, उत्तर, दक्षिण ऊपर नीचे जैसी कोई दिशा नहीं है। दिशा-ज्ञान सर्वथा अपेक्षाकृत है। दिल्ली, लखनऊ से पच्छिम में, बम्बई से पूर्व में, मद्रास से उत्तर में और हरिद्वार से दक्षिण में है। दिल्ली किस दिशा में है यह कहना किसी की तुलना अपेक्षा से ही सम्भव हो सकता है वस्तुतः वह दिशा विहीन है।

समय की इकाई लोकव्यवहार में एक तथ्य है। घण्टा, मिनट के सहारे ही दफ्तरों का खुलना-बन्द होना, रेलगाड़ियों का चलना रुकना-सम्भव होता है। अपनी सारी दिनचर्या समय के आधार पर ही बनती है, पर समय की मान्यता भी असंदिग्ध नहीं है। सूर्योदय या सूर्यास्त का समय वही नहीं होता जो हम देखते या जानते हैं। जब हमें सूर्य उदय होते दीखता है उससे प्रायः ८।। मिनट पहले ही उग चुका होता है। उसकी किरणें पृथ्वी तक आने में इतना समय लग जाता है। अस्त होता जब दीखता है, उससे ८।। मिनट पूर्व ही वह डूब चुका होता है। आकाश में कितने ही तारे ऐसे हैं जो हजारों वर्ष पूर्व अस्त हो चुके, पर वे अभी तक हमें चमकते दीखते हैं। यह भ्रम इसलिए रहता है कि उनका प्रकाश पृथ्वी तक आने में हजारों वर्ष लग जाते हैं। जब वे वस्तुतः अस्त हुए हैं उसकी जानकारी अब कहीं इतनी लम्बी अवधि के पश्चात् हमें मिल रही है। सौरमण्डल के अपने ग्रहों के बारे में भी यही बात है, वे पंचांगों में लिखे समय से बहुत पहले या बाद में उदय तथा अस्त होते हैं।

जो तारा हमें सीध में दीखता है आवश्यक नहीं कि वह उसी स्थिति में है। प्रकाश की गति सर्वथा सीधी नहीं है। प्रकाश भी एक पदार्थ है और उसकी भी तोल है। एक मिनट में एक वर्ग मील जमीन पर सूर्य का जितना प्रकाश गिरता है उसका वजन प्रायः एक औंस होता है। पदार्थ पर आकर्षण-शक्ति का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। तारों का प्रकाश सौरमण्डल में प्रवेश करता है तो सूर्य तथा अन्य ग्रहों के आकर्षण के प्रभाव से लड़खड़ाता हुआ टेड़ा-तिरछा होकर पृथ्वी तक पहुँचता है, पर हमारी आँखें उसे सीधी धारा में आता हुआ ही अनुभव करती हैं। हो सकता है कि कोई तारा सूर्य या किसी अन्य ग्रह की ओट में छिपा बैठा हो पर उसका प्रकाश हमें आँखों की सीध में दीख रहा हो। इसी प्रकार ठीक सिर के ऊपर चमकने वाला तारा वस्तुतः उस स्थान से बहुत नीचा या तिरछा भी हो सकता है। इस प्रकार दिशा ही नहीं समय सम्बन्धी मान्यताएँ भी निर्भ्रान्त नहीं हैं।

दार्शनिक विवेचनाओं से देश, काल का उल्लेख होता रहता है। उसे कोई मुल्क या घण्टा-मिनट वाला समय नहीं समझ लेना चाहिए। यह पारिभाषिक शब्द है। वस्तुओं की लम्बाई चौड़ाई मोटाई को 'देश' कहा जाता है और उनके परिवर्तन को काल। आमतौर से वस्तुएँ देश की अर्थात् लम्बाई-चौड़ाई-मोटाई के आधार पर ही देखी जाती हैं जबकि उनकी व्याख्या-विवेचना करते हुए काल का चौथा 'आयाम' भी सम्मिलित किया जाना चाहिए। किन्तु गतियाँ और दिशाएँ अनिश्चित भी हैं और भ्रामक भी। काल तो उन्हीं पर आश्रित है यदि आधार ही गड़बड़ा रहा है तो काल का परिमाण कैसे निश्चित हो। अस्तु वस्तुओं को तीन आयाम की अपेक्षा चार आयाम वाली भी कहा जाय तो भी बात बनेगी नहीं। वस्तुएँ क्या हैं ? उनका रूप, गुण, कर्म स्वभाव क्या है ? यह कहते नहीं बनता, क्योंकि उनके परमाणु जिस द्रुतगति से भ्रमणशील रहते हैं उस अस्थिरता को देखते हुए एक क्षण की गई व्याख्या दूसरे ही क्षण परिवर्तित हो जायगी।

कौन बड़ा कौन छोटा, इसका निश्चय भी निःसंकोच नहीं किया जा सकता है। पाँच फुट की लकड़ी छह फुट वाली की तुलना में छोटी है और चार फुट वाली की तुलना में बड़ी। एक फुट मोटाई वाले तने की तुलना में दो फुट वाला मोटा अधिक है और दो फुट वाले की तुलना में एक फुट वाला पतला। वह वस्तुतः मोटा है या पतला ऐसा कुछ नहीं कहा जा सकता। तुलना बदलते ही यह छोटा और बड़ा होना, पतला और मोटा होना सहज ही बदल जायेगा।

कौन धनी है और कौन निर्धन, कौन सुखी है कौन दुःखी, कौन सन्त है कौन ज्ञानी है, कौन अज्ञानी, कौन सदाचारी है, कौन दुराचारी इसका निर्णय अनायास ही कर सकना असम्भव है, इस प्रकार का निर्धारण करने से पूर्व यह देखना होगा कि किसकी तुलना में निर्णय किया जाय। नितान्त निर्धन की तुलना में वह धनी है जिसके पास पेट भरने के साधन हैं। किन्तु लक्षाधीश की तुलना में वह निर्धन ही है। जिसे दस कष्ट हैं उसकी तुलना में तीन कष्ट वाला सुखी है, पर एक कष्ट वाले की तुलना में वह भी दुःखी है। वस्तुतः कौन सुखी और कौन दुःखी है यह नहीं कहा जा सकता। डाकू की तुलना में चोर सहृदय है किन्तु उठाईगीरे की तुलना में वह भी अधिक दुष्ट है। एक सामान्य नागरिक की तुलना में उठाईगीरा भी दुष्ट है, जबकि वह सामान्य नागरिक भी सन्त की तुलना में पिछड़ा हुआ और गया-गुजरा है। सन्त भी किसी महासन्त, आत्मत्यागी, शहीद की तुलना में हलका बैठेगा।

अपेक्षा से ही हम किसी वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति का मूल्यांकन करते हैं। तुलना ही एक मोटी कसौटी हमारे पास है, जिससे किसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है। जिनके बारे में वह निर्धारण किया गया है वे वस्तुतः क्या हैं ? इसका पता लगाना अपनी ज्ञानेन्द्रियों के लिए जिनमें मस्तिष्क भी सम्मिलित है, अति कठिन है। क्योंकि वे सभी

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

अपूर्ण और सीमित हैं। कई अर्थों में तो उन्हें भ्रान्त भी कहा जा सकता है। सिनेमा के पर्दे पर तस्वीरें चलती-फिरती दिखाई देती हैं वस्तुतः वे स्थिर होती हैं, उनके बदलने का क्रम ही इतना तेज होता है कि आँखें उसे ठीक तरह पकड़ नहीं पातीं और आकृतियों को ही हाथ-पैर हिलाती, बोलती, गाती समझ बैठती हैं।

हमारी अपूर्ण क्षमताएँ तब और भी अधिक गड़बड़ा जाती हैं जब हम अवांछनीय तुलना करने पर उतारू हो जाते हैं। इस दुहरी मार से लड़खड़ाई हुई चेतना हमें उस स्थिति में पटक देती है जिसे भ्रम, अज्ञान एवं माया कहते हैं। वेदान्त दर्शन का प्रतिपादन यह है कि संसार मिथ्या और स्वप्न है। परमाणुओं की द्रुतगामी हलचलों को न समझते हुए आँखें जब वस्तुओं को स्थिर देखती हैं, तो वैज्ञानिकों को यही कहना पड़ता है कि हम सब वस्तुस्थिति नहीं समझ पाते, मात्र स्वप्न देखते हैं। अपेक्षा का मापदण्ड सही न रखकर ही हम खीजते, झल्लाते, रोते-कलपते और दुःख-शोक के सागर में डूबते-उतराते हैं। बाहरी परिस्थितियों के बारे में वह मान्यता बनाते हैं, जिनकी यथार्थता असंदिग्ध है। सत्य का आग्रह भर करते हैं, पर नितान्त सत्य क्या है ? यह समझ सकना ही अपने बुद्धि संस्थान एवं इन्द्रिय चेतना के लिए अति कठिन है।

शाश्वत सत्य को प्राप्त करने के लिए हमें उच्चस्तरीय आदर्शों का आश्रय लेना पड़ेगा। मानवी गरिमा का उज्ज्वल रूप है जिनकी आवश्यकता अन्तरात्मा को निरन्तर होती रहती है और हर स्थिति का व्यक्ति अपने प्रति दूसरों से वैसी ही अपेक्षा करता है। हम चाहते हैं दूसरों का व्यवहार हमारे प्रति सज्जनता, प्रामाणिकता और उदारता से परिपूर्ण हो यही आत्यन्तिक सत्य है। वस्तुओं, व्यक्तियों और परिस्थितियों में ढूँढ़ने की अपेक्षा जब हम मनःस्थिति का भावनात्मक परिष्कार करते हुए दिव्य चिन्तन को अपनाने के लिए तत्पर होते हैं, तो अपना आपा ही इतना सर्वांग-सुन्दर बन जाता है कि बाहर भटकने की अपेक्षा अन्तरात्मा के आलोक में निरन्तर आनन्दमग्न रहा जा सके। यह आत्मबोध ही यथार्थ ज्ञान है, जो इन्द्रियानुभूति से नहीं परिष्कृत आत्मचेतना से ही उपलब्ध हो सकता है।

समय और चेतना से उठकर आत्म-चेतना के दर्शन

धर्म-अधर्म, आस्तिकता-नास्तिकता, अध्यात्म और अनात्म का द्वन्द्व बहुत दिनों से चल रहा है। धर्म की आवश्यकता और ईश्वर के अस्तित्व के लिये लोगों की मान्यताएँ ऐसी जटिल हो गई हैं कि उनकी अनुभूति करना-कराना वस्तुतः एक बड़ी समस्या हो गई है। मनुष्य अपने पूर्वाग्रह अर्थात् वह जिस स्थिति में है उसे छोड़ने के लिये तैयार नहीं और ईश्वरीय नियम भी अपने आप में इतने अटल और अविचल हैं कि वह भी अपने स्थान से एक इन्च हटने को तैयार नहीं। पूर्वाग्रह या मनुष्य द्वारा अपने स्थूल रूप को सब कुछ मान लेने की धारणा और ईश्वरीय नियमों की अटलता के बीच ऐसी रस्साकसी उठ खड़ी हुई है कि मनुष्य यह भी सही-सही नहीं जान पा रहा है कि उसका और संसार का वास्तविक स्वरूप क्या है ?

भारतीय धर्म और अध्यात्म में मनुष्य को जीवन सम्बन्धी यथार्थ की अनुभूति कराने की सामर्थ्य है किन्तु विभिन्न मत-मतान्तरों, विज्ञान में विश्वास और व्यक्ति की आसक्ति, प्रवृत्ति के कारण धर्म एक ऐसी विवादास्पद धारणा बन गई है जिस पर विश्वास करने से पूर्व ही प्रबुद्ध वर्ग कतरा जाते हैं। उन्हें सापेक्षवाद (थ्योरी ऑफ रिलेटिविटी) के आधार पर यथार्थ की अनुभूति कराया जाना सम्भव है।

हम विश्व के यथार्थ को क्यों नहीं समझ पाते ? महाअणुविज्ञानी आइन्स्टीन अपने सापेक्षवाद सिद्धान्त (थ्योरी ऑफ रिलेटिविटी) के द्वारा उत्तर देते हैं-"हमारे साधारण विचार, समय और पदार्थमय हो गये हैं (वी आर बाउण्ड टू टाइम एण्ड स्पेश)। हम इनसे मुक्त नहीं हो पा रहे हैं, किन्तु हमारा समय और स्थान या पदार्थ से बँध जाना समस्त प्रकृति या विराट् जगत का दर्शन कराने में असमर्थ है। हम प्रकृति की वास्तविकता को तभी पहचान सकते हैं जब समय और स्थान (टाइम एण्ड स्पेश) से हम ऊपर उठ जायें।"

समय और स्थान क्या है ? यह वास्तव में कुछ भी नहीं है, हमारे मस्तिष्क की कल्पना या रचना मात्र है। लोग कहा करते हैं कि-मैं आठ बजकर आठ मिनट पर घर से निकला, मेरी सगाई २ जुलाई को सायं सात बजे हुई, राम और श्याम में परसों दोपहर १२ बजे लड़ाई हो गई, किशोर ने मई सन् १९५५ में हाईस्कूल में परीक्षा दी आदि-आदि। इन वाक्यों को ध्यान से कई बार पढ़ें तो हमें मालूम होगा कि प्रत्येक समय किसी-न-किसी घटना से जुड़ा हुआ है। समय दरअसल कोई वस्तु ही नहीं है। यदि कोई घटना या क्रिया न हुई होती तो हमारे लिये समय का कोई अस्तित्व ही नहीं होता। आठ बजकर आठ मिनट, सात बजे, मई सन् १९५७ परसों-यह सब घटनाओं की सापेक्षता (रिलेटिविटी) मात्र हैं। जिसे हम १९५७ कहते हैं उसे हम सम्वत् २०१५ भी कह सकते हैं। शक संवत् के हिसाब से वह कोई और ही तिथि होगी, आर्य संवत् प्रणाली के अनुसार वह और ही कुछ होगा क्योंकि वे लोग समय की माप उस अवस्था से करते हैं, जब से यह पृथ्वी या पृथ्वी में जीवन अस्तित्व में आया। कल्पना करें कि पृथ्वी का अस्तित्व ही न होता तब हमारे लिये समय क्या रह जाता-कुछ भी तो नहीं। यदि हम घटनाओं से परे हो जायें तो समय नाम की कोई वस्तु संसार में है नहीं। ऐसी कल्पना तभी हो सकती है जब हम सारा चिन्तन, क्रिया-कलाप छोड़कर मस्तिष्क बन जायें या मस्तिष्क में केन्द्रीभूत हो जायें अर्थात् समय मस्तिष्क की रचना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जब हम अपने आपको समय के ऊपर उठकर देखते हैं तो हमें अपनी मस्तिष्कीय चेतना

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

के अतिरिक्त कुछ भी दिखाई नहीं देता, तब हमारा सही रूप से एक भिन्न व्यक्तित्व होता है। तब हम लगातार विचार, ज्ञान, अनुभूति या प्रकाश की किरण के समान हो जाते हैं और स्थूल शरीर के प्रति अपना मोह-भाव समाप्त हो जाता है। मांडूक्यकारिका (२/१४) में इसी बात को शास्त्रकार ने यह शब्द दिये हैं-

चित्तकाला हि येऽन्तस्तु द्वय कालाश्च ये बहिः।
कल्पिता एव ते सर्वे विशेषो नान्यहेतुकः॥

"हे शिष्य ! यह संसार वास्तव में चित्त की अनुभूति और घटनाओं की सापेक्षता मात्र है, सब कुछ कल्पित है। दृश्य संसार में विशेषता कुछ भी नहीं है।"

महर्षि पतञ्जलि ने यही तथ्य इस तरह प्रतिपादित किया-

तयोः क्षणतत्क्रमयोः संयमात्तयोः साक्षात्करणम्।
ततश्च विवेकजं ज्ञानं प्रादुर्भवति ॥५२॥

-पातञ्जलि योग दर्शन ३/५२

जब हम अपना ध्यान समय के अत्यन्त छोटे टुकड़े क्षण में जमाते हैं, तभी संसार की सही स्थिति का निरीक्षण कर सकते हैं ।

समय की भाँति ही मनुष्य के सामने आने वाली सभी वस्तुएँ भी सापेक्ष हैं । भौतिक पदार्थ साधारणतया कोई अपरिवर्तनीय (आब्सोल्यूट) मूल्य नहीं रखते, वरन् चुने गये प्रसंग के अनुसार मूल्य रखते हैं । उदाहरण के अनुसार आप जिसे मिट्टी कहते हैं, यदि उसे आप किसी रसायनज्ञ के पास ले जायें तो वह उस ढेले का रासायनिक विश्लेषण (केमिकल एनालिसिस) करेगा और बतायेगा इसमें इतना भाग इस धातु के कण, इतना नमक है, इतना पानी और अमुक-अमुक गैसों के समूल कण । इस तरह हमें दिखाई देने वाले सभी भौतिक पदार्थ वैज्ञानिकों की दृष्टि में कार्बनिक (आर्गेनिक) या अकार्बनिक (इनार्गेनिक) कण मात्र होते हैं । उन्हीं से यह सारा संसार बना है ।

संसार परमाणुमय है । परमाणुओं के मिलने से पदार्थ बनते हैं और पदार्थों से मिलकर स्थान, देश और ब्रह्मांड बने । इस ब्रह्मांड को ही हम पदार्थों के रूप में खाते हैं, पहनते हैं, उसी में रहते हैं । हमारा शरीर भी तो पदार्थ या परमाणुओं से बना हुआ है । यह भी एक प्रकार का ब्रह्माण्ड ही है । आइन्स्टीन ने सम्भवतः शरीर रूपी पदार्थ जगत (स्पेश) में एक मस्तिष्कीय सतर्कता होने के विश्वास स्वरूप अपना यह मत व्यक्त किया था कि प्रत्येक ब्रह्माण्ड को एक सतर्कता (सेन्टीमेन्ट) नियन्त्रण करती है अर्थात् पृथ्वी की या प्रत्येक ग्रह-नक्षत्र की अपनी एक स्वतन्त्र चेतना या अहंभाव है और वह मनुष्य के समान ही गणितीय आधार पर (इन दि मैथेमेटिक वे) काम करती रहती है। अर्थात् संसार मस्तिष्क द्वारा पदार्थों की रचना के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं ।

हम जब तक अपने स्थूल रूप से देखते हैं तब तक संसार की स्थूलता दृष्टिगोचर होती है, लेकिन यहाँ भी किसी प्रकार की सत्यता नहीं है । प्रत्येक परमाणु संसारमय है अर्थात् हर परमाणु की रचना एक भरे-पूरे संसार जैसी है उसमें पूरे के पूरे संसार के दर्शन कर सकते हैं और उस पर भी मस्तिष्क (सतर्कता) बैठा हुआ होता है । वैज्ञानिक पद्धति से विश्लेषण करने से पता चलता है कि परमाणु भी अन्तिम सत्य नहीं है वह और भी सूक्ष्म आवेशों-इलेक्ट्रान, प्रोट्रान, पाजिट्रान और न्यूट्रॉन से बना होता है । यों समझाने के लिये इन्हें बिन्दु के रूप में दिखाया जाता है किन्तु इलेक्ट्रान पदार्थ नहीं, तरंग रूप (वेविकल शेष) में है । अर्थात् हम जिन पदार्थों को देख रहे हैं, यदि अपने देखने की स्थूलता हटा दें और केवल मस्तिष्क से हटा दें तो वह एक तरंग के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है अर्थात् हम जिस संसार को स्थूल रूप में देख रहे हैं वह तो हमारा दृष्टिदोष है । क्वान्टम सिद्धान्त (थ्योरी ऑफ लाइट क्वान्टम) के अनुसार जो वस्तु कण के रूप में है वह उसी प्रकार से तरंग के रूप में है । साधारण अवस्था में हम उसे ठीक तरंग रूप में नहीं देख पाते । उसका और कोई कारण नहीं वरन् हमारे मस्तिष्क का पदार्थ से बँधे रहना मात्र होता है ।

इस सब जानकारी का उद्देश्य मनुष्य को विभ्रमित या आश्चर्यचकित करने का नहीं है, वरन् उसके दृष्टिकोण को चौड़ा करना है, जिससे वह अपने शाश्वत् स्वरूप को समझाने की चेष्टा कर सकता है । हम अपने आपको कितना ही धोखा दें, कितना ही शरीर, समय और स्थान में बँधे हुए देखें पर हमारा विशुद्ध 'अहंभाव' (शाश्वत् स्वरूप) तो अपने नियमों से विचलित होने वाला है नहीं । तब फिर हमारे लिये अपने आपको पदार्थों की सीमा में बाँधना कहाँ तक उचित होगा ? कहाँ तक हम अपने मनुष्य-जीवन में आने के लक्ष्य को न पहचानने की भूल करते रहेंगे ?

पदार्थ या स्थान और समय में कोई सत्यता नहीं है । कोई भी निश्चित एक ब्रह्माण्ड नहीं है, जिसमें कि संसार समा सके । अनेक ब्रह्माण्ड हैं और वह सब मस्तिष्क में समाये हुए हैं । एक कण प्रकृति का, एक अहंभाव, चेतनता या परमेश्वर का दो ही अनादि तत्त्व हैं । उनका विस्तृत ज्ञान जब तक नहीं जिसमें मनुष्य इसे सांसारिक भूल-भुलैया में ही गोते लगाता रहेगा । क्योंकि हम जिस सुख-शांति, सन्तोष और आनन्द की खोज में हैं वह पदार्थ में मस्तिष्क की अपनी अनुभूति है इसलिए यथार्थ आनन्द की प्राप्ति भी स्थान और समय से ऊपर उठकर ही प्राप्त की जा सकती है ।

कोई मूलभूत समय भी नहीं है जिसमें कोई घटना घटित हुई हो । निरीक्षण के अनुभव ही समय की रचना करते हैं और इसी समय से हम ब्रह्माण्ड को, स्थान को, अपने जीवन को नापते हैं । यदि हम अपने मस्तिष्क को समय से ऊपर उठा दें तो अपने अमरत्व को अनुभूति ही नहीं पदार्थ और ब्रह्माण्डों के स्वामी बनते चले जा सकते हैं । हमारा मस्तिष्क अर्थात् हम स्वयं ही सदैव ही जागरूक रहते हैं । परिवर्तनीय तो यह जड़ या प्राकृतिक

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

परमाणु ही हैं और जब तक हम अपने आप में समाहित नहीं होते, प्रकृति पर न तो नियन्त्रण कर सकते हैं और न ही उसका उपयोग ।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन अल्वर्ट आइन्स्टीन के सापेक्षवाद (थ्योरी ऑफ रिलेटिविटी) की व्याख्या मात्र है । इसे उन्होंने गणित के द्वारा सिद्ध किया है । उन्होंने यह सिद्ध कर दिखाया कि एक सरल रेखा का सरल या सीधा होना आवश्यक नहीं । संसार अण्डाकार है । ब्रह्माण्ड सीमारहित है, किन्तु अनन्त नहीं और भी ब्रह्माण्ड है जिनका ज्ञान पाना मानवी बुद्धि के लिये सम्भव नहीं है । प्रकाश-कणों में भार होता है, जबकि भार पदार्थ में ही सम्भव है, शक्ति में नहीं (स्मरण रहे-प्रकाश पदार्थ नहीं, शक्ति माना गया है) मस्तिष्क प्रकाश से बना है । इस तरह यह साबित होता है कि इस संसार में प्रकृति और परमात्मा, प्रकाश और पदार्थ मस्तिष्क और चेतना दोनों अभिन्न हैं । मनुष्य शरीर एक छोटा ब्रह्माण्ड और अपना मस्तिष्क छोटा परमात्मा-हमारी अपने ज्ञान और स्थूलता के आधार पर होती है जो समय, स्थान की सीमा में बँधी होती है । यदि हम समय और पदार्थ या स्थान के बन्धनों को तोड़कर देखें तो हम अपने को शाश्वत्, चिरंतन, चिन्मय, विराट् और परमात्मा के रूप में देख सकते हैं । इसी बात को महर्षि रमण इन शब्दों में कहते हैं-

भाति दिक्काल कथा विनाऽस्मान् ।
दिक्काल लीलेहि वपुर्वयं चेत् ।।
न क्वापि भामौ न कदापि भामौ ।
वयं तु सर्वत्र सदा च भामा ।।

''ऐसा कौन-सा स्थान है, ऐसा कौन-सा समय है जहाँ पर मैं मौजूद नहीं । शरीर, समय और स्थान में रहता है । लेकिन मैं किसी स्थान या समय में नहीं हूँ । प्रत्येक स्थान में, प्रत्येक समय में मैं हूँ ।''

इसी बात को मांडूक्यकारिका २/२४ में-''**काल इदि काल विदो दिश इति च तहिदः**'' मैं समय हूँ और हर क्षण को जानता हूँ, मैं सर्वत्र हूँ और सर्वज्ञ भी-ऐसा कहा है । गीता ११/३० में ''**कालोऽस्मि**''-मैं ही काल हूँ-कहा है ।

हम क्या हैं ? कितने विस्तृत और शक्तिमान् हैं, हमारे ज्ञान की सीमाएँ कितनी विराट् हैं ? इसे हम समय और स्थान की सीमा से ऊपर उठकर ही जान सकते हैं । यही मनुष्य जीवन का लक्ष्य है । जो इसे नहीं जानता वही तुच्छ है, आसक्ति और दुःखों में अपने आपको जकड़ रहा है । जो इस स्थूल दृष्टि-दोष से छूटा वह संसार का यथार्थ ज्ञान पा गया, बन्धन-मुक्त हो गया, परमैश्वर्य को प्राप्त कर लिया।

भ्रम-जंजाल में उलझे हुए हम सब

अक्सर हमारी अनुभूतियाँ वस्तुस्थिति से सर्वथा उलटी होती हैं । इन्द्रियाँ अपूर्ण ही नहीं कई बार तो वे भ्रामिक सूचनाएँ देकर हमें ठगती भी हैं । उनके ऊपर निर्भर रहकर प्रत्यक्षवाद को आधार मानकर शाश्वत् सत्य को प्राप्त करना तो दूर समझ सकना भी सम्भव नहीं होता ।

उदाहरण के लिए प्रकाश को ही लें । प्रकाश क्या है ? उसे विद्युत चुम्बकीय लहरों का बबंडर ही कहा जा सकता है । वह कितना मंद या तीव्र है यह तो उसकी मात्रा पर निर्भर है, पर उसकी चाल सदा एक-सी रहती है । एक सैकिण्ड में वह एक लाख छियासी हजार मील की गति से दौड़ते रहने वाला पदार्थ है । प्रकाश किरणों में सात रंग होते हैं । इन्हीं के सम्मिश्रण से हलके-भारी अनेकानेक रंगों का सृजन होता है ।

यह बात कहने, सुनने और जानने, मानने में बड़ी विचित्र लगेगी कि संसार के किसी पदार्थ में कोई रंग नहीं है । हर वस्तु रंग रहित है । किन्तु यह विशेषता अवश्य है कि प्रकाश की किरणों में जो रंग है उनमें से किसी को स्वीकार करें किसी को लौटा दें । बस इसी कारण हमें विभिन्न वस्तुएँ विभिन्न रंगों की दीखती हैं । पदार्थ जिस रंग की किरणों को अपने में सोखता नहीं वे उससे टकराकर वापस लौटती हैं । वापसी में वे हमारी आँखों से टकराती हैं और हम उस टकराव को पदार्थ का अमुक रंग होने के रूप में अनुभव करते हैं । पौधे वस्तुतः हरे रंग के नहीं होते, उनका कोई रंग नहीं, हर पौधा सर्वथा बिना रंग का है, पर उसमें प्रकाश की हरी किरणें सोखने की शक्ति नहीं होती अस्तु वे उस में प्रवेश नहीं कर पातीं । वापिस लौटते हुए हमारी आँखों को इस भ्रम में डाल जाती हैं कि पौधे हरे होते हैं । हम उसी छलावे को शाश्वत् सत्य मानते रहते हैं और प्रसंग आने पर पूरा जोर लगाकर यह सिद्ध करते रहते हैं कि पौधे निश्चित रूप से हरे होते हैं । कोई उससे भिन्न बात कहे तो हँसी उसी की बुद्धि पर आवेगी, भ्रांत और दुराग्रही उसी को कहेंगे । यह जानने और मानने का कोई मोटा आधार दिखाई नहीं पड़ता है कि हमारी ही आँखें धोखा खा रही हैं-प्रकृति की जादूगरी, कलाबाजी हमें ही छल रही है । पेड़ का तो उदाहरण मात्र दिया गया । हर पदार्थ के बारे में हम रंगों के सम्बन्ध में ऐसे ही भ्रम-जंजाल में जकड़े हुए हैं । जिन आँखों को प्रामाणिक मानते हैं, जिस मस्तिष्क की विवेचना पर विश्वास करते हैं यदि वही भ्रमग्रस्त होकर हमें झुठलाने लगे तो फिर हमारा 'प्रत्यक्षवाद' को तथ्य मानने का आग्रह बेतरह धूल-धूसरित हो जाता है ।

हमारी दृष्टि में काला रंग सबसे गहरा रंग है और सफेद रंग कोई रंग नहीं है, पर यथार्थता इस मान्यता से सर्वथा उलटी है । किसी भी रंग का न दीखना काला रंग है और सातों रंगों का सम्मिश्रण सफेद रंग । अँधेरा वस्तुतः 'कुछ भी नहीं' कहा जा सकता है, जबकि वह घोर-घना छाया दीखता है और उसके कारण कुछ भी सूझ न पड़ने की स्थिति आ जाती है । वैशेषिक दर्शन ने अँधेरे को कोई पदार्थ मानने से इनकार किया है, जबकि दूसरे दार्शनिक उसे एक तत्त्व मानने का जोर-शोर से प्रतिपादन करते हैं। कालापन सभी प्रकाश किरणों को अपने भीतर सोख लेता है । फलतः हमारे पल्ले कुछ नहीं पड़ता है और अँधेरे में ठोकर खाते हैं, घनी कालिमा छाई देखते हैं ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

किसी भी रंग की किरणें सोख सकने में जो पदार्थ सर्वथा असमर्थ हैं, वे ही हमें सफेद दीखते हैं । कारण यह है उनसे टकराकर तिरस्कृत प्रकाश तरंगें वापस लौटती हैं और उनके सातों रंगों का सम्मिश्रण हमारी आँखों को सफेद रंग के रूप में दीखता है । कैसी विचित्र, कैसी असंगत और कैसी भ्रम-जंजाल भरी विडम्बना है यह! जिसे न उगलते बनता है न पीते । न स्वीकार करने को मन होता है, न अस्वीकार करने का साहस । अपने ही अपूर्ण उपकरणों पर क्षोभ व्यक्त करते हुए मन-मसोसकर बैठना पड़ता है । वैज्ञानिक सिद्धियों को अस्वीकार कैसे किया जा सकता है । हलका, भारी, गहरा, उथला, कालापन भी एक पहेली है । अन्धकार कहीं या कभी बहुत गहरा होता है और कहीं या कभी उसमें हलकापन रहता है यह भी उतने अंशों में प्रकाश को सोखने न सोखने की क्षमता पर निर्भर रहता है । काले रंग में प्रकाश का सारा अंश सोख लेने की क्षमता का एक प्रमाण यह है कि वह धूप में अन्य पदार्थों की अपेक्षा अधिक मात्रा में और अधिक जल्दी गरम होता है ।

अब एक नया प्रश्न उभरता है कि प्रकाश किरणों में रंग कहाँ से आता है ? इस स्थल पर उत्तर और भी विचित्र बन जाता है । प्रकाश लहरों की लम्बाई का अन्तर ही रंगों के रूप में दीखता है । वस्तुतः रंग नाम की कोई चीज इस समस्त विश्व में कहीं कुछ है ही नहीं । उसका अस्तित्व सर्वथा भ्रामक है ।

विद्युत चुम्बकीय तरंगें ही प्रकाश है । इन तरंगों की लम्बाई अलग-अलग होती है । अस्तु उनका अनुभव हमारा मस्तिष्क भिन्न-भिन्न अनुभूतियों के साथ करता है । यह अनुभूति भिन्नता ही रंगों के रूप में विदित होती है । सात रंग तथा उनसे मिल-जुलकर बनने वाले अनेकानेक रंगों का वैज्ञानिक विश्लेषण प्रकाश तरंगों की लम्बाई का मस्तिष्कीय अनुभूति के रूप में ही किया जा सकता है । रंगों की अपनी तात्त्विक सत्ता कुछ भी नहीं है ।

आश्चर्य का अन्त इतने से ही नहीं हो जाता । रंगों की दुनिया बड़ी है, उस मेले में से हमारी जान-पहचान बहुत थोड़ी-सी है । बाकी तो सब कुछ अनदेखा ही पड़ा है । लाल रंग की प्रकाश तरंगें एक इंच जगह में तेतीस हजार होती हैं, जबकि कासनी रंग की सोलह हजार । इन्फ्रारेड तरंगें एक इन्च में मात्र ८० ही होती हैं । इसके विपरीत रेडियो तरंगों की लम्बाई बीस मील से लेकर दो हजार मील तक पाई जाती है । यह अधिक लम्बाई की बात हुई । अब छोटाई की बात देखी जाय पराकासनी किरणें एक इन्च में बीस लाख तक होती हैं । एक्सरे किरणें एक इन्च में पाँच करोड़ से एक अरब तक पाई जाती हैं । गामा तरंगें एक इन्च में २२० खरब । इतने पर भी इन सबकी चाल एक जैसी है अर्थात् सैकिण्ड में वही एक लाख छियासी हजार मील ।

अगर हम विदित प्रकाश किरणों को यन्त्रों की अपेक्षा खुली आँखों से देख सकने में समर्थ हो सके होते तो जिस प्रकार एक सात रंगों का सप्तक हमें दीखता है, उससे अतिरिक्त अन्यान्य ऐसे रंगों के जिनकी आज तो कल्पना कर सकना भी अपने लिए कठिन है। ६७ सप्तक और दीखते । ६७ × ७=४६९ रंगों के सम्मिश्रण से कितने अधिक रंग बन जाते इसका अनुमान इसी से लगाया जाता है कि विज्ञात सात रंगों से ही हजारों प्रकार के हलके भारी रंग बने हुए दीखते हैं ।

प्रातःकाल का अरुणोदय और लाल रंग का सूर्य निकलना इस रंग भ्रम-जंजाल की एक झलक है । सूर्य वस्तुतः सफेद ही होता है, पर सवेरे वह सिर पर नहीं पूर्व में तिरछी स्थिति में होता है । इसलिए उसकी किरणों को बहुत लम्बा वायुमण्डल पार करना पड़ता है । इस मार्ग में बहुत अधिक धूल कण आड़े आते हैं । वे कण लाल रंग नहीं सोख पाते अस्तु वे किरणें हम तक चली आती हैं और सवेरे का उगता हुआ सूर्य लाल दिखाई पड़ता है ।

आँखें कितना अधिक धोखा खाती हैं और मस्तिष्क कितनी आसानी से बहक जाता है इसका एक उदाहरण रंगों की दुनिया में पहला पैर रखते ही विदित हो जाता है । अन्य विषयों में भी हमारी भ्रान्ति का ठिकाना नहीं । जीवन का स्वरूप, प्रयोजन और लक्ष्य एक प्रकार से पूरी तरह विस्मृत कर दिया है और जड़ पदार्थों पर अपनी ही मान्यता को बिखेर कर उन्हें प्रिय-अप्रिय के रूप में देखने की स्थिति को संसार से मिलने वाले सुख-दुःख मान लिया है । आत्म-ज्ञान की सूक्ष्म दृष्टि यदि मिल सके तो पता लगेगा कि हम अज्ञान, माया और भ्रम के जिस जंजाल में फँसे हुए हैं, उनसे निकले बिना सत्य के दर्शन नहीं हो सकते और सत्य के बिना सुख नहीं मिल सकता ।

क्या सत्य, क्या असत्य ?

संसार की प्रत्येक वस्तु और परिस्थितियों का स्वरूप सदैव बदलता रहता है । एक-सी स्थिति कभी भी नहीं रहती । छायापट के चित्रों की भाँति एक दृश्य बनता है, दूसरा बिगड़ जाता है । ज्वालामुखी फटते हैं तो बड़े-बड़े पर्वत तराइयों में परिवर्तित हो जाते हैं । छोटे-छोटे द्वीपसमूहों का विस्तार होकर ही महाद्वीप बने हैं । वृक्ष-वनस्पति आदि सभी परिवर्तनशील हैं । प्रकृति अपने पञ्च-तत्वों से विविध खिलौने बनाती-बिगाड़ती रहती है । इसी क्रम से सारा संसार चल रहा है । युग बीते, कल्प हुए और कई बार प्रलय हो चुकी, किन्तु खेल रुका नहीं। इसी भाँति सदैव दृश्यों का बनना और बिगड़ना जारी रहता है ।

यह तथ्य सर्वमान्य है कि प्रत्येक क्रिया के पीछे कोई कारण या सिद्धान्त काम किया करता है । ऊपर से कोई वस्तु छोड़ते हैं तो पृथ्वी उसे गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त से खींच लेती है । स्वर-कम्पनों को ईथर तत्त्व में गतिमान कर देने से यहाँ की आवाज सुदूर व्यक्ति तक पहुँचा देते हैं । संसार का क्रम भी किसी नियामक तत्त्व की इच्छा पर ही आधारित है । गीताकार ने इस बात को व्यक्त किया है –

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ।।

गीता- २/१६

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

अर्थात्–माया का अस्तित्व कभी रहता नहीं और सत्य तत्त्व (ब्रह्म) का कभी अभाव नहीं रहता । तत्त्वदर्शी इस अन्तर पर सम्यक् रूप से विचार करते हैं और माया का परित्याग कर सत्य तत्व को धारण करते हैं ।

माया का अर्थ, यहाँ परिवर्तनशील वस्तुओं के प्रति लगाव का भाव है । यह जानते हैं कि जन्म–मृत्यु यहाँ का नैसर्गिक क्रम है फिर भी दुःखी होते हैं, बाह्य अधिकार केवल जीवन धारण तक ही सीमित है, तो भी वस्तुओं के प्रति लोगों की आसक्ति इतनी प्रबल होती है कि वे उन पर अकारण लड़ते–झगड़ते रहते हैं । तत्त्व–ज्ञानियों ने इसीलिए इस रूप परिवर्तिनी माया को झूठा बताया है और उस अनादि तत्त्व ब्रह्म को जानने की प्रेरणा दी है ।

विचार करते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि काम, क्रोध, लोभ और मोह तथा इनसे सम्बन्धित अन्य क्रिया–व्यापार का जहाँ भी विस्तार होता है, वहाँ असत् वस्तुओं के प्रति व्यक्तियों का लगाव, रुचि और आकर्षण अधिक होता है । इसी कारण यहाँ की दुःखपूर्ण परिस्थितियों में भी सुख का–सा आभास हुआ करता है, परिणामस्वरूप मनुष्य अपने को एक इकाई मानकर इतने से जीवन के क्षेत्र में ही चक्कर काटता रहता है । यह संसार और यहाँ की वस्तुएँ ही उसे प्रिय लगती हैं । पारलौकिक जीवन की चिन्ता तब तक नहीं होती, जब तक असत् का मोह मनुष्य के अन्तः–करण में छाया रहता है । इसलिये बार–बार कहा जाता है कि संसार और सांसारिक वस्तुओं से उतना ही लगाव रखो, जितने में पारलौकिक जीवन की आवश्यकताओं पर आघात न लगे । अनावश्यक वस्तुओं का व्यामोह ही बार–बार जीवात्मा को खींच लाता है । जन्म–मृत्यु का क्रम इसीलिए बना रहता है कि लोगों को असत् के प्रति अधिक आकर्षण होता है ।

यह आकर्षण कभी स्वेच्छा से कम नहीं होता, वरन् एक से एक अधिक मोहक रूप सामने आते रहते हैं । एक बार के उपभोग से जितना सुख मिला था, दूसरी बार का सुख अपनी कल्पनाशक्ति और बढ़ा–चढ़ाकर लुभावने रूप में प्रस्तुत कर देती है । बस, दूसरे प्रयत्न में लग जाते हैं, हजारपती होने की अपेक्षा लखपती होने में अधिक सुख, सम्मान और गौरव दिखाई पड़ता है, इसीलिए उतने से भी तृप्ति नहीं होती । अधिक से अधिक प्राप्त करने की लोभ–वृत्ति छूटती नहीं । भगवान् कृष्ण ने कहा है:–

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेनि देहिनम् ।।

अर्थात्–एक वस्तु का आकर्षण समाप्त नहीं होता कि दूसरी सामने आ उपस्थित हो जाती है, इस प्रकार संसार की वस्तुओं के प्रति आसक्ति और लोभ की वृत्ति ही मनुष्य को आवागमन के चक्कर में बाँधे रहती है ।

मनुष्य की बुद्धि में जब स्वार्थ–संकीर्णता अधिक बढ़ जाती है तो उसकी प्रवृत्ति रजोगुण से तामसिक इच्छाओं की ओर बढ़ने लगती है । अर्थात् भोग ही जीवन का लक्ष्य बन जाता है । तब उचित और अनुचित का ध्यान भी नहीं रहता । ऐसी संकीर्णता व्यक्ति और समाज दोनों के लिए अहितकर होती है। आन्तरिक मलिनता के कारण व्यक्तिगत जीवन में क्षोभ, असन्तोष, कलह और पश्चात्ताप की निराशापूर्ण परिस्थितियाँ मनुष्य को प्रताड़ित करती हैं और समाज में भय, प्रतिहिंसा, प्रतिशोध और अन्याय का परिमाण बढ़ने लगता है । एक व्यक्ति के पाप और अपराध अनेक व्यक्तियों के जीवन में उतरते चले जाते हैं । फलस्वरूप समाज में नारकीय यन्त्रणाएँ भीषण रूप से बढ़ जाती हैं । इस तरह जीवन का सात्विक सुख भी विनष्ट हो जाता है । चारों ओर ये ही लक्षण परिलक्षित होने लगते हैं ।

किसी भी अवस्था में बाह्य–जीवन की सफलता, सांसारिक सुख और उनके भोग की लालसा को जीवन का ध्येय नहीं मान सकते, क्योंकि इनसे शारीरिक शक्तियों का पतन तीव्रता से होता और वह समय जल्दी ही आ जाता है, जिस समय मनुष्य के सम्पूर्ण दैहिक साधन अनुपयुक्त पड़ जाते हैं ।

यह लगाव तभी तक सार्थक हो सकते हैं, जब तक देह है । मृत्यु के क्षणों में भी यह विचार संस्कार रूप से विद्यमान रहते हैं, इस कारण से जीवात्मा को घोर अशान्ति होती है, पर तब बनता कुछ नहीं । सत्य प्रकट होता है तो भारी पश्चात्ताप होता है, अपने विगत जीवन पर । किन्तु तब लाभ कुछ नहीं होता । हीरे का जीवन कौड़ियों के मोल बिक गया, कैसी शान्ति और कैसा सन्तोष ?

इसलिए जो समय रहते विचार कर ले, वही बुद्धिमान है । शास्त्रकार बार–बार कहता है :–

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये ।
सत्यस्य सत्यमृत सत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ।।

अर्थात्–"हे मनुष्यो ! यह संसार जिस सत्य के समावेश होने के कारण जीवनमय जान पड़ता है, उस सत्संकल्प, सत्यस्वरूप, त्रिकाल सत्य और सत्य का अधिष्ठान करने वाले परम पिता परमेश्वर को जानो । "

अर्थात् मनुष्य को इस बात का सदैव ध्यान बनाये रखना चाहिए कि वह सत्य से विलग होकर केवल असत्य कर्मों में ही न लगा रहे ।

यह बात और अधिक स्पष्ट होती है । जीवन और मृत्यु की अवस्थाओं पर एक क्षण विचार कीजिए । अपनी तुलना सामने पड़े शव से करिये, देखिए–क्या आप में, इसमें समानता नहीं है । वही हाथ, पाँव, कान, आँख सभी कुछ ठीक अपने जैसे ही हैं, किन्तु उसमें चेष्टा का जो अभाव है उसके कारण ही देहधारी को 'शव' का विशेषण दिया है । प्राण और शरीर की विलगता क्या यह सोचने को विवश नहीं करती कि यह संसार दो भागों में विभक्त है, जड़ और चेतन । असत्य और सत्य । साधना और विचार की इस निर्जीविता और चैतन्यता पर जो ध्यान देता है, उसे यह वैज्ञानिक तथ्य स्पष्ट दिखाई दे सकता है । इसी को जानने की चेष्टा का नाम सत्य की खोज करना और पा लेने को जीवनसिद्धि मानते हैं ।

इस संसार में परमात्मा की ही सत्ता सर्वत्र व्याप्त है । उसी की प्राणप्रक्रिया के परिणाम में यह दृश्य जगत बना है । यह मनुष्य के उपभोग के लिए नहीं है, यह कहना उद्देश्य नहीं है । इन पंक्तियों में निहित तथ्य यह है कि मनुष्य के समक्ष जो अकारण दुःख, शोक और निराशा के

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

परिणाम में आते हैं वे ईश्वर-कृत नहीं हैं । मनुष्य के सत्यासत्य के ज्ञान के अभाव के कारण और सांसारिक वस्तु और परिस्थितियों के कारण ही ऐसी स्थिति आती है । सत्य के अनुशीलन से मनुष्य के मोह-बन्धन टूटते हैं, कुत्सित आचरण से भय पैदा होता है, स्वार्थ की संकीर्णता समाप्त होती है । इन दुर्गुणों के दूर होने से ही शाश्वत् शान्ति की उपलब्धि होती है । आत्म-सन्तोष प्राप्त करने का और कोई रास्ता इस संसार में है ही नहीं ।

सत्य-असत्य की विवेचना

वेद में सत्य की महिमा के विषय में कहा है कि सारी सृष्टि की उत्पत्ति के पहले ऋतं और सत्यं उत्पन्न हुए और सत्य ही से आकाश, पृथ्वी, वायु आदि पंच महाभूत स्थिर हैं-**'ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोध्यजायत।।'** ऋ० १०. १९०,१, **'सत्येनोत्तमिता भूमिः ।'** ऋ, १०. ८६. १ । सत्य शब्द का धातुगत अर्थ भी यही है-रहने वाला अर्थात् जिसका कभी अभाव न हो अथवा त्रिकाल अवाधित । इसीलिए सत्य के विषय में कहा गया है कि सत्य के सिवाय और धर्म नहीं है, सत्य ही परब्रह्म है । महाभारत में कई जगह इस वचन का उल्लेख किया गया है कि **'नास्ति सत्यात्परो धर्मः,** (१. १६२. २४)और यह भी लिखा है कि-

अश्वमेध सहस्रं च सत्यंचतुलयाधृतम् ।
अश्वमेध सहस्राद्धि सत्यमेवविशिष्यते ।।

-आ. ७४. १०२,

हजार अश्वमेध और सत्य की तुलना की जाय तो सत्य ही अधिक होगा ।

सत्य के सम्बन्ध में मनु जी का कहना है-

वाच्यार्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिस्सृताः ।
तांस्तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः ।।

मनु-४/२५६

मनुष्यों के सब व्यवहार वाणी से हुआ करते हैं । एक के विचार दूसरे को बताने के लिए शब्द के समान अन्य साधन नहीं हैं । वही सब व्यवहारों का आश्रय स्थान और वाणी का मूल होता है । जो व्यक्ति उसको मलिन कर डालता है अर्थात् जो वाणी की प्रतारणा करता है, वह सब पूँजी ही की चोरी करता है । इसीलिए मनु ने कहा है **'सत्यपूतां वदेद्वाचं,** मनु. ६-४६. जो सत्य से पवित्र किया गया हो, वही बोला जाय और-और धर्मों से सत्य ही को पहला स्थान देने के लिए उपनिषद् में भी कहा है-**सत्यंवद, धर्मं चर** (तै. १. ११. १.) जब बाणों की शैया पर पड़े भीष्म पितामह शान्ति और अनुशासन पर्वों में, युधिष्ठिर को सब धर्मों का उपदेश दे चुके तब प्राण छोड़ने के पहले **'सत्येषु युतितव्यं वः सत्यं हि परमं बलो'** इस वचन को सब धर्मों का सार समझकर उन्होंने सत्य ही के अनुसार व्यवहार करने के लिए सब लोगों को उपदेश किया है । (म. भा. अनु. १६७. ४०)

जो सत्य इस प्रकार स्वयं सिद्ध एवं चिरस्थायी है, उसके लिए कुछ अपवाद भी हैं । कल्पना कीजिये कि कुछ आदमी चोरों से पीछा किये जाने पर तुम्हारे सामने किसी स्थान में जाकर छिप रहे । इसके बाद हाथ में तलवार लिए हुए चोर तुम्हारे पास आकर पूछने लगे कि वे आदमी कहाँ चले गये ! ऐसी अवस्था में तुम क्या कहोगे ? क्या तुम सच बोलकर सब हाल कह दोगे या उन निरपराधी मनुष्यों की रक्षा करोगे ? शास्त्र के अनुसार निरपराधी जीवों की हिंसा को रोकना सत्य ही के समान महत्त्व का धर्म है । मनु कहते हैं-**नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः ।** (२. ११०. म. भा. १., २८७. ३४) जब तक कोई प्रश्न न करे, तब तक किसी से बोलना नहीं चाहिए और यदि कोई अन्याय से प्रश्न करे तो पूछने पर भी उत्तर नहीं देना चाहिए । यदि मालूम भी हो तो सिड़ी या पागल के समान कुछ हूँ-हूँ करके बात बना देना चाहिए -**'जानन्नापि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ।'** अच्छा, क्या, हूँ-हूँ कर देना और बात बना देना एक तरह से असत्य भाषण करना नहीं है । महाभारत में कई जगह कहा है कि **'न व्याजेन चरेद्धर्मं'** (आ. २१५. ३४) धर्म से बहाना करके मन का समाधान नहीं कर लेना चाहिए, क्योंकि तुम धर्म को धोखा नहीं दे सकते । तुम खुद धोखा खा जाओगे । अच्छा, यदि हूँ-हूँ करके कुछ बात बना देने का भी समय न हो तो क्या करना चाहिए ? मान लीजिये, कोई चोर हाथ में तलवार लेकर छाती पर आ बैठा है और पूछ रहा है कि तुम्हारा धन कहाँ है ? यदि कुछ उत्तर न दोगे तो जान ही से हाथ धोना पड़ेगा । ऐसे समय पर क्या बोलना चाहिए ? सब धर्मों का रहस्य जानने वाले भगवान कृष्ण ऐसे ही चोरों की कहानी का दृष्टान्त देकर कर्णपर्व (६९. ६१) में अर्जुन से और आगे शान्ति पर्व के सत्यानृत अध्याय १०९. १५. १६. में भीष्म पितामह युधिष्ठिर से कहते हैं-

अकूजनेनचेन्मोक्षोनावकूजेत्कथंचन ।
अवश्यंकूजितव्येवाशंकेरन्वाप्यकूजनात् ।।
श्रेयस्तत्रानृतंवक्तुंसत्यादितिविचारितम् ।

अर्थात् यह बात विचारपूर्वक निश्चित की गई है कि यदि बिना बोले मोक्ष या छुटकारा हो सके तो, कुछ भी हो बोलना नहीं चाहिए और यदि बोलना आवश्यक हो अथवा न बोलने से (दूसरों को) कुछ सन्देह होना सम्भव हो, तो उस समय सत्य के बदले असत्य बोलना ही अधिक उपयुक्त है । इसका कारण यह है कि सत्य धर्म केवल शब्दोच्चार ही के लिए नहीं है अतएव जिस आचरण से सब लोगों का कल्याण हो, वह आचरण सिर्फ इसी कारण से निन्द्य नहीं माना जा सकता कि शब्दोच्चार अयथार्थ है । जिससे सभी की हानि हो वह न तो सत्य ही है और न अहिंसा ही । शान्तिपर्व (३२९. १३. २८७. १८) में सनत्कुमार के आधार पर नारदजी शुकदेवजी से कहते हैं-

सत्यस्यवचनंश्रेयःसत्यादपि हितंवदेत् ।
यद्भूतहितमत्यन्तमेतत्सत्यंमतंमम ।।

सच बोलना अच्छा है, परन्तु सत्य से भी अधिक ऐसा बोलना अच्छा है, जिससे सब प्राणियों का हित हो, क्योंकि जिससे सब प्राणियों का अत्यन्त हित होता है वही हमारे

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

मन से सत्य है । यह वचन महाभारत के वनपर्व में ब्राह्मण और व्याघ्र के संवाद में दो-तीन बार आया है । उनमें से एक जगह तो 'अहिंसासत्यवचनंसर्वभूतहितंपरम्' पाठ है(वन २०६. ७३) और दूसरी जगह 'हितमत्यन्तं तत्सत्यमिति धारणा' (वन. २०८. ४) ऐसा पाठान्तर किया गया है। सत्य प्रतिज्ञ युधिष्ठिर ने द्रोणाचार्य से 'नरो वा कुंजरो वा' कह कर उन्हें सन्देह में क्यों डाल दिया ? इसका कारण वही है जो ऊपर कहा गया है । लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि हमारे शास्त्रकारों ने झूठ बोलकर किसी खूनी की जान बचाने का समर्थन किया हो । शास्त्रों में, खून करने वाले आदमी के लिए देहान्त प्रायश्चित्त अथवा वध-दण्ड की सजा कही गई है । इसलिए वह तो सजा पाने या वध करने के ही योग्य है । शास्त्रकारों का कहना है कि ऐसे समय अथवा इसी के समान और किसी समय जो आदमी झूठी गवाही देता है, वह अपने सात या अधिक पूर्वजों सहित नरक में जाता है । (मनु ८. ८९. ९९. म. भा. ७. ३)

अन्य धर्मों में भी इसी का समर्थन होता है । ईसामसीह के शिष्य पॉल बाइविल में कहते हैं-"यदि मेरे असत्यभाषण से प्रभु के सत्य की महिमा और बढ़ती है (अर्थात् ईसाई धर्म का अधिक प्रचार होता है) तो इससे मैं पापी क्यों कर हो सकता हूँ । " (रोम ३. ७.) ईसाई धर्म के इतिहासकार मिलमैन ने लिखा है कि "प्राचीन ईसाई धर्मोपदेशक कई बार इसी तरह आचरण किया करते थे । वर्तमान समय के नीतिशास्त्रज्ञ भी इसका समर्थन करते हैं । सिजविक नाम के नीतिशास्त्रज्ञ जिनका कि नीतिशास्त्र कालेजों में पढ़ाया जाता है उनका कहना है कि छोटे लड़कों को और पागलों को उत्तर देने के समय और इसी प्रकार बीमार आदमियों को (यदि सच बात सुना देने से उनके स्वास्थ्य के बिगड़ जाने का भय हो तो), अपने शत्रुओं को, चोरों को (और यदि बिना बोले काम न चलता हो तो) जो अन्याय से प्रश्न करे उनको उत्तर देने के समय अथवा वकीलों को अपने व्यवसाय में झूठ बोलना अनुचित नहीं है ।" लेस्की स्टीफन नामक अँग्रेज ग्रंथकार अपने नीतिशास्त्र विषयक आधिभौतिक विवेचन में कहता है कि "किसी कार्य के परिणाम की ओर ध्यान देने के बाद ही किसी बात की नीतिमत्ता-निश्चित की जानी चाहिए । यदि मेरा यह विश्वास हो कि झूठ बोलने ही से कल्याण होगा तो मैं सत्य बोलने के लिए कभी तैयार नहीं रहूँगा । मेरे इस विश्वास में यह भाव भी हो सकता है कि इस समय झूठ बोलना ही मेरा कर्त्तव्य है।" नीतिशास्त्र की चर्चा करते हुए ग्रीन साहब ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि "नीतिशास्त्र यह नहीं कहता कि किसी साधारण नियम के अनुसार सिर्फ यह समझ कर कि वह है हमेशा चलने में विशेष कुछ महत्त्व है, किन्तु उसका कथन सिर्फ यही है कि सामान्यत: उस नियम के अनुसार चलना हमारे लिए श्रेयस्कर है । इसका कारण यह है कि ऐसे समय हम लोग केवल नीति के लिए, अपनी लोभमूलक नीच मनोवृत्तियों को त्यागने की शिक्षा पाया करते हैं ।"

हमारे शास्त्रकारों का कहना है कि-

ननर्मयुक्तंवचनंहिनस्तिनस्त्रीषुराजन्नविवाहकाले ।
प्राणात्ययेसर्वधनापहारेपञ्चानृतान्याहुरपातकानि ।।

अर्थात्-हँसी में स्त्रियों के साथ, विवाह के समय, जब जान पर आ बने तब और सम्पत्ति की रक्षा के लिए झूठ बोलना पाप नहीं है । (म. भा. आ. ८२. १६, शां० प० १०९, मनु ८.११०) परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि स्त्रियों के साथ हमेशा ही झूठ बोला करे । सिजविक साहब ने जिस भाव से छोटे लड़के, पागल और बीमार आदमी के विषय में अपवाद कहा है, वही भाव महाभारत के उक्त कथन का भी है । अँग्रेज ग्रन्थकार पारलौकिक और आध्यात्मिक दृष्टि पर कुछ भी ध्यान नहीं देते, इसी लिए तो उन्होंने लिख मारा कि व्यापारियों को अपने लाभ के लिए झूठ बोलना तथा वकीलों को अपने व्यवसाय के लिए झूठ बोलना अनुचित नहीं है, किन्तु यह बात हमारे शास्त्रकारों को मान्य नहीं है । इन लोगों ने कुछ ऐसे ही मौकों पर झूठ बोलने की अनुमति दी है, जबकि केवल सत्य शब्दोच्चारण (केवलवाचनिकसत्य) और सर्वभूत हित (अर्थात् वास्तविक सत्य) में विरोध हो जाता है और व्यावहारिक दृष्टि से झूठ बोलना अपरिहार्य हो जाता है । इनका कहना है कि सत्य आदि नीति धर्म नित्य अर्थात् सब समय एक समान अपरिहार्य हैं, अतएव यह अपरिहार्य झूठ बोलना भी थोड़ा-सा पाप ही है और इसीलिए प्रायश्चित्त भी कहा गया है यथा-तत्वांबनाय निर्वाप्यश्चरु: सारस्वतो द्विज: । (याज्ञ० २.८३. मनु०८. १०४/१०६) युधिष्ठिर ने संकट के समय एक ही बार दबी हुई आवाज से 'नरो वा कुंजरो वा' कहा था जिसका फल यह हुआ था कि उसका रथ जो पहले जमीन से चार अंगुल ऊपर चला करता था, अब और मामूली लोगों के रथों के समान धरती पर चलने लगा और अन्त में एक क्षणभर के लिए उन्हें नरक लोक में भी रहना पड़ा (म० भा० द्रोण १९१. ५७.५८ तथा स्वर्गा० ३.१५) इससे सिद्ध होता है कि सत्य के सम्बन्ध में जो विशेष अवसरों के लिए अपवाद दिए गये हैं वे मुख्य या प्रमाण नहीं माने जा सकते क्योंकि शास्त्रकारों का तो अन्तिम और तात्विक सिद्धान्त है-

आत्महेतो: परार्थे वानर्महास्याभयात्तथा ।
येमृषानवदन्तीहतेनरा:स्वर्गगामिन: ।।

-म० भा० अनु० १४४/१९

जो लोग इस जगत में स्वार्थ के लिए, परार्थ के लिए या ठट्ठे में भी कभी झूठ नहीं बोलते, उन्हीं को स्वर्ग की प्राप्ति होती है ।

अपनी प्रतिज्ञा या वचन को पूरा करना सत्य ही में शामिल है। भगवान् श्रीकृष्ण और भीष्मपिता यह कहते हैं कि चाहे हिमालय पर्वत अपने स्थान से हट जाय अथवा

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

अग्नि शीतल हो जाय, परन्तु हमारा वचन टल नहीं सकता (म० भा० आ० १०३ तथा ८१-४८) भर्तृहरि ने भी ऐसे सत्पुरुषों का वर्णन किया है–

तेजस्विनः सुखमसूनपि संत्यजन्ति ।
सत्यव्रतंव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम् ।।

तेजस्वी पुरुष आनन्द से अपनी जान भी दे देंगे परन्तु वे अपनी प्रतिज्ञा का त्याग कभी नहीं करेंगे । (नीति श० ११०) श्री रामचन्द्रजी के एक पत्नीव्रत के साथ उनका एकबाण और एकवचन का व्रत प्रसिद्ध है । 'द्विः शरं नाभि संधत्ते रामो द्विर्नाभिभाषते । हरिश्चन्द्र ने अपने स्वप्न में दिए वचन को सत्य करने के लिए डोम की नीच सेवा भी की थी । यद्यपि इस प्रकार के सत्याचरण के विरुद्ध भी कुछ न कुछ मिलता है। जैसे वेद में इन्द्रादि देवताओं ने वृत्रासुर के साथ जो प्रतिज्ञाएँ की थीं उन्हें तोड़ दिया और उसको मार डाला । व्यवहार में भी कुछ कौल-करार ऐसे होते हैं जो न्यायालय में वेकायदा समझे जाते हैं या जिनके अनुसार चलना अनुचित माना जाता है । अर्जुन के सम्बन्ध की एक ऐसी ही कथा महाभारत (कर्णपर्व ६९) में है । अर्जुन ने प्रतिज्ञा की थी कि जो कोई मुझसे कहेगा कि तू अपना गाण्डीव धनुष किसी दूसरे को दे दे उसका सिर मैं तुरन्त ही काट डालूँगा, इसके बाद युद्ध में जब युधिष्ठिर कर्ण से पराजित हुआ तब उसने निराश होकर अर्जुन से कहा । ''तेरा गाण्डीव हमारे किस काम का है ? तू उसे छोड़ दे ।'' यह सुनकर अर्जुन हाथ में तलवार ले युधिष्ठिर को मारने दौड़ा, भगवान् कृष्ण उस समय वहीं थे उन्होंने तत्त्वज्ञान की दृष्टि से सत्य धर्म का मार्मिक विवेचन करके अर्जुन को यह उपदेश किया कि तू मूर्ख है, तुझे अब तक सूक्ष्म धर्म मालूम नहीं हुआ है, तुझे वृद्धजनों से इस विषय की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। 'न वृद्धाः सेवितास्त्वया ।' तूने वृद्धजनों की सेवा नहीं की है। यदि तू प्रतिज्ञा की रक्षा करना ही चाहता है तो तू युधिष्ठिर की निर्भर्त्सना कर, क्योंकि सभ्यजनों की निर्भर्त्सना मृत्यु ही के समान है । इस प्रकार बोध करके अर्जुन को ज्येष्ठ भ्रातृ वध के पाप से बचाया । भगवान श्रीकृष्ण ने इस समय जो सत्यानृत विवेक अर्जुन को बताया है, इसी को आगे चलकर शान्तिपर्व के सत्यानृत नामक अध्याय में भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा है (शा० १०९) । सत्य की साधना के लिए व्यवहार करते समय इस उपदेश को लोगों को सतत् अपने सामने रखना चाहिए ।

सत्य की स्वीकृति

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि
तच्छकेयं तन्मे राध्यताम् ।
इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ।।

(वा० यजु० १-५)

''हे नियमों के पालक अग्ने ! मैं नियम का पालन करूँगा । उसका पालन करने के लिए मैं समर्थ होऊँ, उसमें मुझे सिद्धि प्राप्त हो । मैं इस असत्य को छोड़कर सत्य को स्वीकार करता हूँ ।''

हे अग्ने ! तेजस्वरूप परमात्मन् ! अब तक मैं नियमों से अपरिचित था या परिचित होकर भी उनके पालन करने में प्रमाद करता था । सो मदिरा में उन्मत्त होकर मैंने आपकी व्यवस्था को पहचानने की कोशिश नहीं की थी या पहचान कर भी भुला दिया था। अब आगे से ऐसा न करूँगा । हे प्रभो ! आज से मैं नियमबद्ध होने की प्रतिज्ञा करता हूँ । आगे से आपके नियमों को पहिचानूँगा और उन पर चलने का प्रयत्न करूँगा ।

मैं इस असत्य को छोड़कर सत्य को स्वीकार करता हूँ। यह सत्य स्वीकार करने की भावना ही सत्य बनने की प्रथम सीढ़ी है । अब मैं अनुभव करूँगा कि आत्मा अखण्ड है, जीवन अखण्ड है, जगत अखण्ड है । हे नाथ ! आपका ही तो वरद पुत्र हूँ, मेरा 'अहम्' आपकी ही अखण्ड-ज्योति की एक विनम्र चिनगारी है, मैं क्षुद्र जीव नहीं हूँ, नीच या दुष्टकर्मी कीड़ा नहीं हूँ, आपके पवित्र तेज से पोषण पाता हुआ मेरा आत्मा भी पवित्र है।संसार में आप ही व्याप्त हैं । सम्पूर्ण विश्व आपकी प्रभा से आलोकित हो रहा है, सो हे उद्धारक ! आपकी विश्वव्यापी विभूति को मैं प्रणाम करता हूँ ।

मेरे अन्दर आपकी ही ज्योति जगमगा रही है, सो मैं आत्मा के अन्दर झिलमिलाते हुए आप परमात्मा का श्रद्धा पूर्वक दर्शन करता हूँ । आपको, परमात्मा को, आपके तेज आत्मा को, एक ही दृष्टि से देखकर दोनों की एक समान पूजा-उपासना करूँगा । आत्मा के रूप में जब आप हर घड़ी मेरे साथ हैं, तो हे नाथ ! हर घड़ी आपकी पूजा करूँगा । हर क्षण आपकी उपासना में तल्लीन रहूँगा । आपकी आज्ञा को मानूँगा । आपके नियमों को स्वीकार करूँगा । मैं जानता हूँ कि पवित्र कर्मों से ही आपकी उपासना हो सकती है, मैं जानता हूँ कि धर्म का आचरण करते देखकर ही आप प्रसन्न होते हैं । प्रभो ! आपके मन्दिर को, इस शरीर को, सब प्रकार भीतर-बाहर से पवित्र रखने का मैं प्रयत्न करूँगा । कुकर्म रूपी चाण्डालों से आपके इस मन्दिर की रक्षा करूँगा । आप साक्षी रूप से देखते रहिए मैं ऐसे काम न करूँगा, जिससे मेरे अन्दर बैठे हुए हे परमात्मन्, आपको लज्जित होना पड़े । आत्मा अखण्ड है, इसलिए मैं भी अखण्ड रहूँगा । प्रभो मैं आपका ही हूँ , आपके साथ ही चिपटा रहूँगा ।

हे अग्ने ! सत्य के दूसरे चरण को भी मैं स्वीकार करता हूँ । जीवन नाशवान् है, असत्य को त्याग कर अखण्ड-जीवन की सत्यता पर विश्वास करने की प्रतिज्ञा करता हूँ । मैं अनादि काल से हूँ और अनादि काल तक रहूँगा । आपने मुझे यह अखण्ड जीवन प्रदान किया है । हाय मैं कैसा अभागा हूँ, जो शरीर छूटने तक के, कपड़े बदलने तक के, थोड़े से समय को जीवन-मान लेता हूँ

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

और एक शरीर के लिए, एक कपड़े के लिए अपने वास्तविक जीवन को खतरे में डाल लेता हूँ । एक पल के सुख के लिए वर्ष भर दुःख उठाने वाले मूढ़ की तरह में शरीर के लिए कुकर्म करके महान् जीवन को नष्ट करता हूँ । जब मैंने भ्रमवश शरीर को जीवन माना, तो माया में लिप्त होकर पतित हो गया । अपने स्वर्णिम सिंहासन को छोड़कर नाली की कीचड़ में लोटने लगा । पर हे विभु ! आज उस असत्य भ्रम को त्यागकर सत्य को स्वीकार करता हूँ । जीवन को नश्वर नहीं अखण्ड मानूँगा । शरीर कपड़े हैं, इनको अब दूसरे रूप में न समझूँगा । हे व्रतपते ! अब मैं व्रत का आचरण करूँगा ।

हे रुद्र ! जब मैं चैतन्यता के पद से पतित होकर जड़ पञ्चभूतों के रेत में गधे की तरह लोटने लगा, तो उन्हीं को अपनी समानता का समझने लगा । सिंह का बच्चा भेड़ों में पलकर अपने को भेड़ समझने लगा था । मैंने अपने को जड़ मान लिया । रुपया-पैसा, भूमि-जायदाद, वस्त्र-आभूषण तथा प्राणियों के शरीरों को मैं स्थिर मानता हूँ और जब वे नष्ट हो जाते हैं, तो बिलख-बिलख कर रोता हूँ । मित्र परिजनों के शरीरान्त होने पर छटपटा जाता हूँ और आत्महत्या करने को तत्पर होता हूँ । हे परमात्मन् ! अज्ञानवश मैं जड़चेतन्य का भेद करना भूल गया, इसलिए मोह की रस्सियों में बँधा-बँधा बिलख रहा हूँ । जड़ पदार्थ नाशवान् हैं । वे स्वभावतः एक-एक करके नष्ट होते रहते हैं, हर लहर को उठता देखकर खुशी से उछलता हूँ और हर बबूले को फूटता देखकर धाड़ मारकर रोता हूँ । इस हँसने-रोने की विडम्बना में मेरी आँखें सूज गई हैं और गला सूख गया है । तृष्णा के पर्वत और दुःखों के तूफान मेरे चारों ओर घूम रहे हैं, भय के मारे मेरी धमनियाँ इठी जा रही हैं । मेरा अज्ञान प्रेत पिशाच का विकराल रूप धारण करके मुझे ही उँगलियों पर नचा रहा है । क्षण में हँसाने और क्षण में रुलाने की उसकी बाजीगरी मेरे लिए एक पहेली बन गई है । इस निविड़ बन्धन में से आप मेरा परित्राण कीजिए । जड़ को चैतन्य समझने की, नश्वर को अमर समझने की, अलग रहने वाले को साथी मानने की मैंने भूल की है, जड़ तत्त्व आत्मा के साथ रहेंगे, ऐसा मैं मानता रहता हूँ । इसलिए जीवन सौन्दर्य को गँवाकर सिर धुन-धुन कर रुदन करता फिरता हूँ । आज मैंने सच्चाई को समझ लिया है । जड़ जगत आत्मा का साथी नहीं हो सकता । वह जहाँ का तहाँ पड़ा रहता है और अपने अकाट्य नियमों के अनुसार बदलता रहता है, अब मैंने यह भली-भाँति हृदयंगम कर लिया है । इसलिए मैं असत्य को छोड़कर सत्य को स्वीकार करता हूँ और जगत अखण्ड है, इस सच्चाई को मान्य करता हूँ ।

हे अग्ने ! हे नियमों के पालक ! एक बार फिर प्रतिज्ञा करता हूँ कि अपने नियमों का पालन करूँगा । मैं असत्य को छोड़कर सत्य को स्वीकार करता हूँ । उसका पालन करने में मैं समर्थ होऊँ । उसमें मुझे सिद्धि प्राप्त हो, ताकि अपनी आत्मा का, आपका दर्शन करता हुआ अपने परम परमपद का अधिकारी होऊँ ।

सत्य के प्रकाश को हृदयंगम करें

अध्यात्म क्षेत्र में ज्ञान को प्रकाश कहा जाता है । प्रकाश अर्थात् वह स्थिति जिसमें यथार्थता प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने लगे । अन्धकार वह जिसमें भ्रान्तियों-भटकावों में मारे-मारे फिरना पड़े । यों दिन में प्रकाश और रात्रि में अन्धकार रहता है पर तत्त्वज्ञान की दृष्टि से सत्य के निकटवर्ती पहुँची मान्यताओं को आत्मबोध कहा जाता है । इसी को सत्यनारायण का , परब्रह्म का साक्षात्कार भी कहते हैं । साधना का लक्ष्य यही है । स्वाध्याय और सत्संग-मनन और चिन्तन के सहारे साधक उस स्थिति तक पहुँचने का प्रयत्न करता है, जिसमें माया से, भ्रान्ति से छुटकारा मिल सके । यही मुक्ति की, जीवन-मुक्ति की स्थिति है ।

सत्य के लिए तर्क, तथ्य, प्रमाण, उदाहरण आदि के प्रत्यक्षवादी आधार तो चाहिए ही । इसके अतिरिक्त श्रद्धा की आवश्यकता होती है । उसी के सहारे प्रचलन के विपरीत आदर्शवादिता अपनाने के लिए विश्वास जागता और साहस उभरता है ।

भय और अज्ञान यह दो अन्धश्रद्धा के उत्पादन हैं । यह दोनों ही विवेक का कपाट बन्द करते हैं । सत्य तक पहुँचने के मार्ग में भारी बाधा प्रस्तुत करते हैं । ऐसे लोग आमतौर से दुराग्रही होते हैं । 'मेरा सो सच-और का सो झूठ' यही उनकी मान्यता रहती है । अन्ध-श्रद्धा से पिछड़े लोगों की तरह तो प्रगतिशील भी ग्रसित पाये जाते हैं । अशिक्षितों की तरह शिक्षित भी उसके चंगुल में फँसे पाये जाते हैं । अन्तर इतना ही रहता है कि पिछड़े लोग जहाँ पुरातन को ही सब कुछ मानते हैं, उसी प्रकार तथाकथित प्रगतिशीलों, अर्वाचीनों का नवकथन ही सब कुछ प्रतीत होता है । आँखें खोलकर देखने और अन्यान्य प्रतिपादनों को धैर्यपूर्वक सुनने-समझने की विवेकशीलता दोनों की ही आवेशग्रस्त मनःस्थिति में टिक नहीं पाती ।

अध्यात्मवादी और अन्धविश्वासी होना, इन दिनों समानार्थबोधक बन गये हैं, पर वस्तुतः दोनों एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् हैं । गाँधीजी कहते हैं- "आध्यात्मिकता की पहली शर्त है निर्भयता । डरपोक मनुष्य कभी नैतिक नहीं हो सकता । इसलिए उसका अध्यात्मवादी होना भी कठिन है ।" विवेकानन्द कहते थे जिसे अपनी गरिमा पर आस्था नहीं वह अब्बल दर्जे का नास्तिक है । आत्म-विश्वास ही मनुष्यता की पहली पहचान है । व्यक्ति अपने भाग्य का निर्माता स्वयं ही है ।

पैराशूट की तरह मनुष्य का मस्तिष्क भी तभी अपना काम ठीक तरह करता है जब वह खुला हुआ हो । जिसने पूर्वाग्रहों से अपने को जकड़ लिया है जो दूसरे की

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

सुनना- समझना ही नहीं चाहता उसे कोठरी में बन्द कैदी की उपमा दी जानी चाहिए ।

श्रद्धा का सहोदर विश्वास है । विश्वास तर्क और तथ्यों पर आधारित होना चाहिए । उसके पीछे नीति और विवेक का समर्थन जुड़ा रहना आवश्यक है । शास्त्र उल्लेख या आप्तवचन विचारणीय तो हो सकते हैं पर उन प्रतिपादनों पर आँखें बन्द करके नहीं चला जा सकता । पक्ष की तरह प्रतिपक्ष की बात भी सुनी जानी चाहिए । न्यायपीठें इसी आधार पर उपयुक्त निर्णय दे सकने की स्थिति तक पहुँचती हैं ।

शास्त्र अपने ही वर्ग के लोगों द्वारा लिखे होने पर मान्य हों और दूसरे वर्ग द्वारा मान्यता प्राप्त झुठलाया दिया जाय । यह कहाँ का न्याय ? अपने समुदाय के आप्तजन जो कह गये हैं, वही सत्य है और अन्य वर्गों के आप्तजन झूठ ही बोलते थे, ऐसा क्यों सोचा जाय ? सत्य की शोध के लिए मानस पूरी तरह खुला रहना चाहिए । अपने-पराये का भेद किये बिना यह समझने का प्रयत्न करना चाहिए कि औचित्य क्या कहता है? आदर्शों का समर्थन किस ओर से मिलता है ?

सत्य में हजार हाथियों का बल

सत्य की महिमा अपार है । शास्त्रों और ऋषियों ने उसे धर्म और अध्यात्म का आधार माना है और कहा है, 'सत्यमेव जयते नानृतम्' अर्थात् सत्य ही जीतता है, असत्य नहीं । चिरस्थायी सफलताओं का आधार सत्य पर रखा गया होता है । असत्य के सहारे कोई व्यक्ति थोड़े समय तक लाभ प्राप्त कर सकता है, पर जब वस्तुस्थिति प्रकट हो जाती है, तब उस लाभ को समाप्त होते हुए भी देर नहीं लगती । सत्य का वट-वृक्ष धीरे-धीरे भले ही बढ़ता और फलता-फूलता हो पर जब वह परिपुष्ट हो जाता है, तब उसका आयुष्य हजारों वर्षों का बन जाता है । वटवृक्ष की जड़ें नीचे जमीन में भी चलती हैं और ऊपर की शाखाओं में से भी निकलकर नीचे आती हैं और जमीन में प्रवेश कर वृक्ष की पुष्टि और आयु बढ़ाने में सहायक होती हैं । दूसरे छोटे पेड़-पौधे प्रकृति के प्रवाह को देर तक नहीं सह पाते और शीघ्र ही बूढ़े होकर अपना अस्तित्व खो बैठते हैं । सत्य वट-वृक्ष के समान है । अन्य आधारों पर प्राप्त की गई सफलताएँ बरसाती घास-पात की तरह हैं, जो सत्य के सूर्य की प्रखरता सहन कर सकने में समर्थ नहीं होतीं । ग्रीष्म ऋतु में उनका अस्तित्व अक्षुण्य नहीं रह सकता ।

उक्ति है कि "सत्य में हजार हाथियों के बराबर बल होता है ।" शारीरिक दृष्टि से यह बात सच भले ही न हो पर आत्मिक दृष्टि से पूर्णतया सही है । सत्यनिष्ठ व्यक्ति में इतना आत्म-बल होता है कि वह अकेला हजार मिथ्याचारियों से भिड़ सकता है और अन्ततः वही विजय प्राप्त करता है । जहाँ सत्य है, वहाँ अन्य गुण अपने आप उत्पन्न हो जाते हैं, जहाँ असत्य है, वहाँ दुर्गुणों का भण्डार धीरे-धीरे भरता और बढ़ता चला जाता है । इसलिये आत्म-बल बढ़ाने के लिये, ईश्वर प्राप्त करने के लिये हमारे शास्त्रों में सत्य-निष्ठा को महानतम उपासना बताया है । भारतीय धर्म में सत्य को परमात्मा का स्वरूप माना है । सत्य को नारायण कहा गया है । सत्य-नारायण भगवान् की जय बोलने, कथा सुनने, व्रत रखने का अपने यहाँ चिरप्रचलन है। यह सत्य-नारायण कोई व्यक्ति या देवता नहीं है, वरन् सच्चाई को अन्तःकरण, मस्तिष्क और व्यवहार में प्रतिष्ठापित करने की प्रगाढ़ आस्था ही है । जो सत्य-निष्ठ है, वही सत्य-नारायण भगवान् का समीपवर्ती साधक है । स्वर्ग और मुक्ति-सिद्धि और समृद्धि तो उसके करतलगत ही रहती हैं ।

यही बात किसी सभ्यता, संस्कृति, जाति, समाज अथवा संस्था पर लागू होती है, उसमें जितनी अधिक मात्रा में सच्चाई होगी, उतना ही उसका अस्तित्व सुदृढ़ बना रहेगा, उतना ही उसे फलने-फूलने का अवसर मिलेगा, उतना ही उसका सम्मान बढ़ेगा और उतना ही उसका विकास होगा । सच्चाई के अभाव में मिथ्या आधार को लेकर कितना ही विशाल कलेवर क्यों न खड़ा कर लिया जाय-कागज की नाव की तरह गलते, बालू के महल की तरह ढहते देर नहीं लगती। रामलीला समारोहों में कागज और बाँस की खपच्चियों से विशालकाय रावण बनाया जाता है । देखने वाले उसकी ऊँचाई और कलेवर देखकर कौतूहल और आश्चर्य अनुभव करते हैं, पर देखा यह जाता है कि उस समारोह में रावण-वध का जब समय आता है, तब कोई छोटा-सा आदमी जरा-सी दियासलाई एक कोने पर लगा देता है और वह विशालकाय आकृति थोड़ी ही देर में जल-भुन कर भस्म हो जाती है । असत्य के आधार पर खड़े किये गये किसी भी आवरण का अन्त इसी प्रकार होता है । स्थिरता केवल सच्चाई में है और कहीं नहीं । असत्य के अन्धकार में सत्य को समझने में अक्सर लोगों को देर लग जाती है, इस देरी को धैर्यपूर्वक सहन करने की क्षमता यदि हम में हो अन्ततः सत्य की ही विजय होने का सत्परिणाम कभी भी, कहीं भी देखा जा सकता है ।

सत्य ही व्यक्ति के जीवन में बल एवं प्रकाश उत्पन्न करता है । सत्य के आधार पर समाज की शक्ति और क्षमता निखरती है । असत्य का आश्रय लेकर व्यक्ति और समाज का अधःपतन होता है । इसके विपरीत उत्थान की घड़ी तब आरम्भ होती है, जब सत्य का अवलम्बन ग्रहण करने की आकांक्षा प्रबल होती है और उसे अपनी गतिविधियों का आधार बनाने का साहस सक्रियता धारण करके कार्य-क्षेत्र में अग्रसर होती है ।

सत्यभाषण वाणी का तप है, इससे वाक्सिद्धि जैसी विभूतियाँ प्राप्त होती हैं, इसलिये सत्य-भाषण का हर किसी को अभ्यास करना चाहिए । उसके साथ ही प्रिय भाषण और हितभाषण के अलंकार भी जोड़ रखने चाहिए।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

सत्य तो बोलना ही चाहिए, पर साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि वह प्रिय एवं मधुर भी हो और उस सम्भाषण से दूसरों का हितसाधन भी होता हो । कटु, कर्कश, मर्मभेदी, दूसरों को लांछित , तिरस्कृत एवं अपमानित करने वाला, जिसमें दूसरों के अहित की सम्भावना हो ऐसा अनावश्यक सत्य भी कई बार सच बोलने के महान् गुण को दोष युक्त कर देता है, इसलिये इस विकृति से बचने के लिये सत्य को प्रिय और हित इन दो आदर्शों के साथ संयुक्त करके प्रयोग करने का निर्देश दिया है । अप्रिय और अहितकर सत्य का भी निषेध किया है, 'न् ब्रूयात् सत्यमप्रियम्' ।

यह भ्रम दूर किया जाना चाहिए कि सत्य को अपनाने से मनुष्य धन और सम्मान की दृष्टि से घाटे में रहता है और झूठ का सहारा लेने पर आमदनी एवं इज्जत बढ़ सकती है । इसी प्रकार इस भ्रम का भी निवारण होना चाहिए कि सत्य बोलना अथवा सत्य का अवलम्बन कठिन है । वस्तुस्थिति उन भ्रान्त धारणाओं से सर्वथा विपरीत है । सत्य अति सरल है । जो बात जैसी है, उसे वैसी ही कह देने में मस्तिष्क पर कोई जोर नहीं पड़ता, कोई अबोध बालक या मन्द-बुद्धि भी बिना किसी कठिनाई के जो बात उसे मालूम है, ज्यों की त्यों कह सकता है । किन्तु यदि झूठ बोलना हो तो मस्तिष्क पर बहुत जोर देने की आवश्यकता पड़ेगी और ऐसी भूमिका बनानी पड़ेगी, जो पकड़ में न आ सके । मन्द-बुद्धि व्यक्ति झूठ बोले तो कहीं न कहीं ऐसी त्रुटि रह जाती है, जिससे वह अक्सर पकड़ में आ जाती है । कार्तिक के महीने में तरबूजे खाने की गप्प कोई मार तो सकता है, पर उसे यह भी ज्ञान होना चाहिए कि किस ऋतु में क्या चीज पैदा होती है । यदि इसमें चूक हुई तो बनावटी तुरन्त खुल जायेगी । बढ़ा-चढ़ा कर कही बात के भ्रम में कोई बिरले ही आते हैं, आम-तौर से अधिकांश लोग समझ जाते हैं कि अपनी शान या शेखी जताने के लिये अथवा दूसरों को उल्लू बनाने के लिये यह बातें गढ़ी जा रही हैं । ऐसा सन्देह होने पर उसकी इज्जत गिर जाती है और सामने भले ही न कहें पेट में उसे झूठा मान लिया जाता है और झूठा व्यक्ति किसी का विश्वास-पात्र नहीं हो सकता और न इज्जत पा सकता है, यह निश्चित है झूठ सरल है, सत्य कठिन है । यह मानने वालों को जानना चाहिए कि झूठ बोलना और उसे खुलने न देना किसी अति चतुर का अति कठिन कार्य है, सामान्य बुद्धि के लिये तो वह एक प्रकार से असम्भव और इज्जत को दाव पर लगाने वाला ही है । जो असत्यवादी, अविश्वासी माना जाता है, उसे किसी का सच्चा सहयोग नहीं मिलता । स्वार्थ के लिये जो मित्र बने हुए थे, अवसर आने पर वे भी उसे धोखा देते हैं और गिरे में लात लगाते देखे जाते हैं ।

इसी प्रकार यह भ्रम भी त्यागने ही योग्य है कि असत्य से बढ़ोत्तरी होती या आमदनी बढ़ती है । सत्य की आड़ में किसी को जब एक धोखा दिया जा सकता है, केवल तभी तक किन्हीं छद्म व्यवसायों को चलाया जा सकता है । वस्तुस्थिति देर तक छिपी ही नहीं रह सकती । कहते हैं कि "पारे को पचाया नहीं जा सकता और पाप को छिपाया नहीं जा सकता ।" झूठ आज नहीं तो कल खुलने ही वाला है ।

जब छल-कपट सामने आता है, कलई खुलती है तो जो लोग ठगे जाकर उसे लाभ दे रहे थे, वे अलग हो जाते हैं, दूसरों को सावधान करते हैं, फलस्वरूप इसका व्यवसाय ठप्प हो जाता है । असत्य का अवलम्बन लेकर बढ़ने वालों को जड़-मूल से नष्ट होते देखा गया है । ईश्वर के इस शासन में ऐसी सुदृढ़ न्याय-व्यवस्था मौजूद है, जिसके अनुसार अनीति देर तक नहीं पनप सकती । इसके विपरीत सत्य की जड़ सदा हरी वाली उक्ति में पूर्ण सार्थकता है । इस असत्य अविश्वास भरे जमाने में सहसा सत्यनिष्ठ पर भी विश्वास नहीं होता, उसे भी सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है, पर देर तक अपने आदर्शों पर जमे रहने के उपरान्त सब लोगों को यह विदित हो जाता है कि यहाँ सच्चाई, ईमानदारी और वास्तविकता है, तब लोग उसका सहयोग पाने, सहयोग देने के लिए आतुर रहने लगते हैं । उसके कार्यक्रमों में जन-सहयोग के कारण प्रगति होती है । उन्नति का एक आदर जन-सहयोग भी है । जिसे जन-सहयोग मिलेगा उसे सफलता भी मिलेगी । श्रद्धा, आदर, सम्मान मिलने में जो आन्तरिक प्रसन्नता होती है, उसकी तुलना में संसार के सभी लाभ तुच्छ हैं । सबसे बड़ी बात आत्म-सन्तोष है । सत्यप्रवृत्तियाँ अपनाने से, सन्मार्ग पर चलने से आत्म-बल बढ़ता है और अन्तरात्मा इतनी प्रफुल्ल रहती है, जितनी बड़ी से बड़ी समृद्धि अथवा सफलता प्राप्त करने पर भी सम्भव नहीं ।

व्यक्तियों में महानता तथा देवत्व का अवतरण सत्य-निष्ठा के आधार पर होता है, कुछ समय उन्हें सोने की तरह परख की कसौटी पर अवश्य चढ़ना पड़ता है, पर उस अग्नि-परीक्षा के बाद उनकी आभा और प्रामाणिकता अनेक गुनी बढ़ जाती है । परख की मंजिल जो धैर्यपूर्वक, साहस और दृढ़ता के साथ पार कर लेते हैं, उन्हें यही मानना और कहना पड़ता है कि सत्य में वस्तुतः हाथी के बराबर बल है । यही सिद्धान्त समाज व्यवस्था पर भी लागू होता है । जब सच्चाई की रीति-नीति अपनाई जाती है, तब संसार में किसी बात की कमी नहीं रहती । इस परिवर्तन के साथ युग बदलते हैं । जब यह सत्य का युग-नया युग बदलेगा और समाज की समग्र सुख-शान्ति का-रीति एवं समृद्धि का वातावरण उत्पन्न करेगा, इसमें सन्देह करने की रत्ती भर भी गुंजायश नहीं है ।

गरिमा सत्यवचन की नहीं-सत्यनिष्ठा की है

सत्य की बड़ी महिमा धर्मशास्त्रों में गाई गई है । पर वह सत्य केवल जीभ से सच बोलने तक सीमित नहीं है ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

जो भीतर है वही बाहर प्रकट किया जाय, छलरहित निष्कपट रहा जाय, सत्य का स्थूल रूप यह है । जीवन लक्ष्य सत्य पर, धर्म पर, परमेश्वर पर उच्च उद्देश्यों एवं आदर्शों पर केन्द्रित रहे यह भी सत्यनिष्ठा है । इस विवेक पूर्ण एवं सत्परिणाम प्रवर्त्तक सत्य की वह महिमा है जिसका प्रतिपादन शास्त्रों में पग-पग पर किया है । सत्यवचन बोलने तक पुण्य-प्रक्रिया सीमित नहीं रखी गई है। क्योंकि सदुद्देश्यपूर्वक भी विशेष परिस्थितियों में यथार्थ उच्चारण की उपेक्षा आवश्यक हो जाती है ।

सत्य की गरिमा और उसके वास्तविक स्वरूप की झाँकी नीचे देखिये–

सत्यमेव जयति नानृतं
सत्येन पन्था विततो देवयानः ।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा
यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ।। ६ ।।

–मुण्डक उपनिषद् २-५

जहाँ सत्यस्वरूप परमेश्वर का श्रेष्ठ निवास स्थान है उनके समीप वहीं ऋषिगण देवयान मार्ग से पहुँचते हैं, जिनकी कोई कामना शेष नहीं रह गई है । यह मार्ग सत्य से परिपूर्ण है, क्योंकि सत्य की ही सदा विजय होती है, झूठ की नहीं होती ।। ६ ।।

सत्ये ह्येव दीक्षा प्रतिष्ठिता भवतीति ।

शत. १४/६/९/२४

जिसने सत्य को हृदयंगम कर लिया उसकी दीक्षा हो गई ।

सत्य का अवलम्बन आवश्यक है । वचनों की यथार्थता अनिवार्य नहीं । परिस्थितिविशेष में सदुद्देश्य के लिए असत्य बोलना भी सत्य के समान ही आवश्यक एवं उपयुक्त होता है । सेना में, गुप्तचर विभाग में काम करने वाले लोग, देशरक्षा एवं लोकहित के लिए यथार्थता को छिपाये रहते हैं । इससे वे कुछ पाप नहीं करते वरन् उससे धर्म एवं कर्त्तव्य की रक्षा ही होती है। अस्तु उसे हेय नहीं माना गया है । सत्यनिष्ठा को महत्त्व देना अनिवार्य है । सत्यवचन और सत्यनिष्ठा में अन्तर आता हो तो वचन को गौण और निष्ठा को प्रधान मानकर चला जा सकता है ।

सत्यस्य वचनंश्रेयःसत्यादपि हितंवदेत् ।
यद्भूतहितमत्यंन्तमेतत्सत्यंमतंमम ।।

–महाभारत शान्ति पर्व ३२९-१३

सत्य बोलना उत्तम है । पर वह भी ऐसा बोलना चाहिए जो सब प्राणियों के लिए वस्तुतः श्रेयस्कर हो । जिसमें लोक का हित होता हो वही वस्तुतः सत्य है ।

नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः ।
जानन्नापि हि मेधावी जड़वल्लोक आचरेत् ।।

–मनुस्मृति २-११०

दुष्ट-दुरात्मा कोई प्रश्न न करे तो कुछ बोले ही नहीं। यदि वह अनाचारी बताने को विवश करे तो वस्तुस्थिति जानते हुए भी ऐसे ही कुछ ही-हूँ कहकर पागल की तरह टालटोल कर दे ।

महाभारत के कर्ण पर्व में इस तथ्य पर और भी अधिक विस्तृत प्रकाश डाला गया है । भगवान् कृष्ण ने गीता ज्ञान की तरह सत्य का तथ्य भी पाण्डवों को इस प्रकार समझाया ।

सत्यस्यवदितासाधुर्नसत्याद्विद्यतेपरम् ।
तत्त्वेनैवसुदुर्ज्ञेयंपश्यसत्यमनुष्ठितम् ।।
भवेत्सत्यमवक्तव्यंवक्तव्यमनृतंभवेत् ।
यत्रानृतंभवेत्सत्यंसत्यंचाप्यनृतंभवेत् ।।
सर्वस्वस्यापहारेतुवक्तव्यमनृतंभवेत् ।
तत्रानृतंभवेत्सत्यंसत्यंचाप्यनृतंभवेत् ।।
तादृशंपश्यतेबालोयस्यसत्यमनुष्ठितम् ।।
भवेत्सत्यमवक्तव्यंनवक्तव्यमनुष्ठितम् ।
सत्यानृतेविनिश्चित्यततोभवन्तिधर्मवित् ।।
श्रुतेर्धर्मइतिह्येकेवदन्तिबहवोजनाः ।
तत्तेनप्रत्यसूयामिनचसर्वविधीयते ।।
येन्यायेनजिहीर्षेन्तोधर्ममिच्छन्तिकर्हिचित् ।
अकूजनेनमोक्षंवानानुकूजेत्कथंचन ।।
अवश्यंकूजितव्येवाशंकेरन्नप्यकूजतः ।
श्रेयस्तत्रानृतंवक्तुंतत्सत्यमविचारितम् ।।
नचतेभ्योधनंदेयंशक्येसतिकथंचन ।।
पापेभ्योहिधनंदत्तंदातारमपिपीडयेत् ।
तस्माद्धर्मार्थमनृतमुत्कानानृतभाग्भवेत् ।।

–महाभारत कर्ण पर्व अध्याय ६९

सत्य श्रेष्ठ है । सत्य बोलने वाला साधु है । पर सत्य के दुर्विजेय तथ्य को भी समझना चाहिए । जहाँ झूठ सच हो रहा हो और सच झूठ बन रहा हो वहाँ सत्य बोलना अधर्म और झूठ बोलना धर्म है । दुष्टों द्वारा सर्वस्व अपहरण किया जा रहा हो तो झूठ बोलना ही उचित है, ऐसे अवसर पर झूठ सत्य और सत्य झूठ हो जाता है । सत्य की गहराई में प्रवेश करने वाले जिज्ञासु को कहना चाहिए कि यदि कहीं सत्य का न कहना ही उचित हो तो उसे नहीं ही कहना चाहिए । गम्भीरतापूर्वक सत्य और असत्य के तत्त्व को समझना चाहिए । लोग कहते हैं कि श्रुति से ही धर्म का ज्ञान होता है । मैं इसका खण्डन नहीं करता पर यह भी सत्य है कि श्रुति से ही सब कुछ निश्चय नहीं होता । न्याय की रक्षा ही धर्म का लक्षण है । यदि कहीं चुप रहना उचित हो तो कभी न बोले । यदि बोलना आवश्यक ही हो जाय और बिना बोले काम न चले तो न्याय की रक्षा के लिये झूठ बोलने में ही श्रेय है । ऐसा असत्य भी सत्य ही कहलाता है। चोरों के साथ पाला पड़ने पर यदि झूठ बोलकर छुटकारा पाले तो धर्म तत्त्व के ज्ञाता इसे अधर्म नहीं कहते। जिस प्रकार पापियों को दिया हुआ दान दाता को भी दुःख देता है । वैसे ही दुष्टों के समर्थन में बोला गया सत्य भी वक्ता के लिए अनुपयुक्त ही है।

सत्य हमारे आचरण में उतरे

जिन्होंने सत्य को जीवन में उतारा है, आचरण में ढाला है उन्हीं के कार्य सफल हुए हैं । जिन्होंने जीवन

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

भर अहिंसा-व्रत का आचरण किया है, ऐसे लोगों के प्रति लोग बैर-भाव छोड़ देते हैं । जीवन में अस्तेय का व्रत जिन्होंने लिया है उन्हें धनाभाव कभी नहीं रहा । जिस प्रकार ब्रह्मचारी का वीर्यवान बनना आवश्यक है, उसी प्रकार सत्याचरण अपनाने वाले का ओजस्वी, तेजस्वी, मनस्वी होना स्वाभाविक है ।

सत्य बोलना, सत्य आचरण करना और प्रत्येक कार्य को सत्य की कसौटी पर कसकर करना ये तीनों बातें भिन्न हैं । सत्य बोलना आसान है और कितने ही लोग प्रतिदिन सत्य बोलते हैं किन्तु आचरण सत्य से भिन्न होने के कारण उनके जीवन में न कोई फल निकलता है, न उनके सत्य का कोई चमत्कार उनके जीवन में उन्हें दिखाई देता है, क्योंकि मन, वचन और कर्म में सदैव भिन्नता बनी रहने से योग नहीं बनता और कोई फल नहीं निकलता ।

गाँधीजी ने जिस सत्य को अनुभूत किया और आचरण में उतारा, उसके बलबूते वे ब्रिटिश साम्राज्य की नींव हिला सके, अन्यथा गाँधी जी से पहले भी कितने ही लोग सत्य बोलते और महात्मा भी थे । सत्य दैवी सम्पदा और ईश्वर के समतुल्य है, जिन्हें यह विश्वास होता है, अटूट श्रद्धा होती है, ऐसा सत्य जीवन में फलदायी होता है ।

व्यक्तित्व विकास के लिए मन, वाणी और कर्म की एकता सधनी चाहिए किन्तु मन,वाणी और कर्म में एषणा, अहन्ता और लोभ आदि अनेकों ऐसे विग्रह उत्पन्न करते हैं जो व्यक्तित्व का विकास नहीं होने देते । सत्य को वाणी का तप कहा गया है । इसका तात्पर्य है उसमें मन की चोरी की कोई गुंजाइश नहीं होनी चाहिए । जिनके मन, वाणी और कर्म की अभेदता सध चुकी होती है उन्हें सत्य का साक्षात्कार अवश्य होता है ।

सत्य का मूलाधार मनुष्य का निज का स्वभाव है । चित्त में मानव की अभिरुचि, शक्ति, आवेश आदि प्रवृत्तियों का समावेश होता है । स्वभाव आनुवंशिक संस्कार, सामाजिक संयोग, शिक्षा और संयम से बनता है । इसीलिए गीता में कहा गया है कि जैसा स्वभाव वैसा मनुष्य । स्वभाव जितना सरल, कुंठामुक्त, पूर्वाग्रहरहित शान्त तथ्य सत्याचरण से युक्त होगा मनुष्य उतना ही देवत्व से अभिपूरित होगा ।

सत्य सामुदायिक नहीं व्यक्तिगत विषय है । सत्य सीखने का नहीं, अनुशीलन और आचरण का विषय है । सत्यान्वेषी को सदैव मन की चालाकी और चतुराई पर ध्यान रखना चाहिए । जब भी चूक होगी तब मन की ओर से सत्य आचरण में ऊपरी दिखावा अथवा किसी प्रकार की चालाकी हस्तक्षेप कर देगी । यदि चालाकी चली जा रही होगी तो निश्चय ही व्यक्तित्व विकास अथवा किसी प्रकार की प्रगति की आशा नहीं की जानी चाहिए । व्यक्ति को निरन्तर आत्म-पर्यवेक्षण करना और अपने पर संयम बरतना चाहिए । सत्य अनुशीलन का विषय है न कि बोलचाल, दिखावे और प्रदर्शन का ।

सत्य को धर्म का प्रथम लक्षण माना गया है, पर उसका अर्थ मात्र सच बोलने तक ही सीमित नहीं किया जाना चाहिए । मोटेतौर पर सच बोलने के अर्थ में प्रयुक्त है। जो बात जैसी सुनी या समझी है, उसे उसी रूप में कह देना सच बोलना माना जाता है । सामान्य प्रसंगों में यह ठीक भी है । इस नीति को अपनाने वाले भरोसेमंद माने जाते हैं । उनका कथन सुनने के उपरान्त असमंजस अविश्वास नहीं रह जाता है । किन्तु यह स्पष्ट समझ लिया जाना चाहिए कि 'सत्य बोलना' धर्म का एक छोटा-सा अंग है । वास्तविक सत्य वाणी तक सीमित न रहकर जीवन के समस्त विधि-व्यवस्थाओं में समाहित होता है । चिन्तन, चरित्र और व्यवहार उससे पूरी तरह प्रभावित हो रहा हो तो समझना चाहिए कि सत्य को पहचाना एवं अपनाया गया। वास्तविकता तो यह है कि हमारा समूचा आचरण, समूचा जीवन सत्यमय होना चाहिए ।

सत्य को विवेक को कसौटी पर कसा जाय

भगवान् का सर्वश्रेष्ठ और सार्थक नाम है-सत्य नारायण-इसका अर्थ होता है-सत्य ही नारायण है । इस सम्बन्ध में यह भ्रान्ति चली आती है कि नारायण ही सत्य है । पहले गाँधीजी भी ईश्वर ही सत्य है । ऐसा कहते रहे हैं । बाद में गम्भीर विचारणा के उपरान्त उन्होंने सत्य ही ईश्वर है, यह कहना आरम्भ किया था । सत्य के पीछे मात्र श्रद्धा नहीं यथार्थता भी है और उसे उलट-पुलट कर जाँचा जा सकता है । प्रामाणिकता इसी आधार पर बनती है । जो प्रामाणिक है उसी को श्रद्धास्पद मानने की अन्तर से मान्यता उभरती है ।

नारायण के अनेक नाम-रूप हैं । इतना ही नहीं उनके स्वभाव, प्रयास और निर्देशन में भी असाधारण अन्तर है । अनेक धर्म-सम्प्रदायों ने ईश्वर की जो व्याख्या-विवेचना की है, उनके निर्देशनों की जो व्याख्या की है वह ऐसी है जो एक-दूसरे के कथन से बहुत अंशों में संगति नहीं खाती । एक धर्म का ईश्वर पूर्ण अहिंसावादी है यहाँ तक कि पानी में रहने वाले-साँस के साथ वायु में उड़ने वाले और धूलकणों में रहने वाले अदृश्य जीव-जन्तुओं तक पर दया करने और उनकी हिंसा न होने देने का निर्देश करता है । दूसरे सम्प्रदाय का ईश्वर इससे भिन्न प्रकृति का है उसे प्रसन्न करने के लिए पशुबलि आवश्यक है । कितने ईश्वर अपने-अपने पर्वों पर इसी बलि के निमित्त निरीह प्राणियों की रक्तधार बहाने में प्रसन्न होते माने जाते हैं । एक सम्प्रदाय का ईश्वर सभी प्राणियों में अपनी आत्मा देखने का निर्देशन करता है । दूसरे सम्प्रदाय वाला इसमें निर्धारित मान्यताओं से इनकार करने पर काफिर, नास्तिक कहलाता है और प्राणदण्ड तक का अधिकारी बन जाता है । दोनों में से कौन सच्चा रहा कौन झूठा । इनमें से किसकी बात मानी जाय ? किसकी न मानी जाय ? यह बड़ा असमंजस

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

है । वनवासी कबीले ईश्वर को अपना पक्षधर बनाने के लिए प्रतिपक्षी कबीले वालों को जितनी अधिक संख्या में-जितनी निर्दयता से बलि कर सकते हैं उतनी ही अपनी भक्तिभावना को सार्थक हुई मानते हैं । कई सम्प्रदायों का ईश्वर ध्यान-धारणा के सहारे वशवर्ती होता है । कई ईश्वरों के लिए महँगे धार्मिक कर्मकाण्डों का विधान है । अश्वमेध जैसे कृत्य सुसम्पन्न राजदरबारी ही कर सकते हैं । अन्य पन्थ वाले राम नाम लेने भर से भक्ति का समग्र उद्देश्य पूरा हुआ मान लेते हैं । किसी-किसी के अनुसार ध्रुव, भगीरथ या पार्वती जैसी काया कष्ट वाली साधनाएँ लम्बे समय तक करनी पड़ती हैं । यह सभी बातें ऐसी हैं जिन्हें एक-दूसरे को सामने रखकर समीक्षा की जाय तो भारी भ्रम उत्पन्न होता है कि इन ईश्वरों में से किसका कथन-निर्देशन सही माना जाय किसका गलत ? जब सभी धर्म एक ईश्वर की मान्यता करते हैं तो उनके इलहामों, मन्तव्यों और स्वरूप में इतना अन्तर क्यों होना चाहिए । इस विभिन्नता और विचित्रता के रहते किसे मान्य ठहराया जाय किसे अमान्य ? किसे अपनाया जाय और किसे गलत कहा जाय । सूर्य एक है तो उसकी आकृति और प्रकृति भी संसार भर से एक जैसी मान्यता प्राप्त किये हुए है। फिर ईश्वर के सम्बन्ध में वैसी एक मान्यता हजारों-लाखों भक्ति-भाव चलते रहने पर भी क्यों न बन सकी ।

सत्य के महत्त्व माहात्म्य के सम्बन्ध में उसकी महिमा असीम बताई गई है । "साँच बराबर तप नहीं झूठ बराबर पाप" वाली उक्ति में सत्य को सर्वोपरि महत्त्व का पुण्य बताया गया है । यह बात इसलिए गले उतरती है कि उसके आधार पर हम यथार्थता के अधिकतम समीप पहुँचते हैं । सत्य में मतभेदों की गुञ्जायश नहीं है । विज्ञान इसी आधार पर सर्वमान्य बना है कि उसकी क्रिया और परिणति में कहीं कोई अन्तर नहीं पाया जाता और उसे बिना किसी अड़चन के सभी लोग मान्य करते और प्रयोग में लाते हैं ।

गाँधीजी ने अपनी आत्मकथा को 'सत्ये नु प्रयोग' नाम दिया है । वे आजीवन सत्य का प्रयोग-परीक्षण करते रहे हैं और उन्हीं अनुभूतियों को जीवनगाथा के रूप में लिखा है । सत्य ही नारायण है, इस मान्यता के अनुरूप सत्य नारायण व्रत या माहात्म्य का प्रचलन हुआ है ।

अब यहाँ भी प्रश्न उठता है कि एक समय के सत्य का दूसरे समय के सत्य में अन्तर पड़ जाता है । परिस्थिति भेद से भी उसमें उलट-पुलट होती रहती है । ऐसी दशा में कैसे जाना जाय कि सत्य का यथार्थ स्वरूप क्या है ? किसी समय पृथ्वी को ब्रह्माण्ड का मध्यवर्ती ध्रुव माना जाता था और कहा जाता था कि सूर्य आदि सब ग्रह उसकी परिक्रमा करते हैं। पृथ्वी स्थिर है । यह मान्यता अधिक समय स्थिर न रही । विज्ञान की अगली खोजों ने पुरानी मान्यता को झुठला दिया और कहा सूर्य के इर्द-गिर्द सौर-मण्डल के ग्रह-उपग्रह चक्कर काटते हैं । इतना ही नहीं, यह भी कहा गया कि अपनी निहारिका में ऐसे करोड़ों सूर्य और उनके सौरमण्डल हैं । अपना सूर्य किसी बड़े महासूर्य की परिक्रमा में अपने परिकर समेत घूमता है । पुराने समय का वही सत्य था और आज का यही सत्य है । सम्भव है अगले दिनों इन मान्यताओं में और कोई परिवर्तन करना पड़े । ऐसी दशा में ईश्वर की भाँति सत्य की स्थिति भी अनिश्चित हो जाती है । तब हम भ्रम मुक्त सत्य तक कैसे पहुँचें ?

यहाँ एक कसौटी की आवश्यकता पड़ती है । वह है विवेक । इसके सहारे हम क्रमशः एक-एक सीढ़ी पार करते हुए सत्य के अधिकतम निकट पहुँचने का प्रयास जारी रख सकते हैं । बुद्धि और विवेक का यहाँ अन्तर समझने की आवश्यकता है । बुद्धि अपनी मान्यता या रुचि का समर्थन करने के लिए तद्नुरूप तर्क, प्रमाण ढूँढ़ निकालती है और हम फिर उलझन में ही फँसे रह जाते हैं । दोनों पक्ष के वकील अपने-अपने यजमान को सफल बनाने के लिए तर्कों का ढेर लगा देते हैं । कानून की धाराओं का ऐसा अर्थ करते हैं, जिससे प्रतीत होता कि उनका कथन ही सच है । परस्पर विरोधी दावों के दोनों पक्ष सही हों यह नहीं हो सकता फिर भी वकील उसके लिए ऐढ़ी-चोटी का बल लगाते हैं और झूठ को सच साबित करने की कोशिश करते हैं । न्यायाधीश को विवेक कह सकते हैं । वह पक्ष और विपक्ष दोनों की बात तो सुनता है पर बुद्धि द्वारा प्रस्तुत किये गये तर्कों से प्रभावित नहीं होता । अपनी स्वतन्त्र चेतना से न्याय एवं औचित्य के सहारे वस्तुस्थिति को समझने का प्रयत्न करता है और तद्नुसार ही निर्णय करता है । सत्य में इतना दम-खम होना चाहिए कि वह तर्कों को मान्य-अमान्य कर सके ।

विभिन्न धर्म-सम्प्रदाय अपनी-अपनी मान्यताओं को सही सिद्ध करने के लिए तर्कों के ढेर लगा देते हैं । सभी पक्षों के तर्क आकर्षक लगते हैं । इतने पर भी एक-दूसरे के विरोधी होते हैं । ऐसी दशा में तार्किक और बुद्धिवादी मान्य नहीं हो सकते । औचित्य एवं न्याय का पक्षधर विवेक ही तत्कालीन सत्य ठहरता है । किन्तु इसमें भी गुञ्जायश रहती है कि पूर्ण निर्णय में खामी रही है और उसका सुधार-परिमार्जन किया जाय । छोटे कोर्ट के फैसलों को हाईकोर्ट के सामने-हाईकोर्ट के फैसले को सुप्रीम कोर्ट के सामने इसीलिए प्रस्तुत किया जाता है और खामी रही हो तो उसे ठीक कराया जाता है ।

ईश्वर की तरह सत्य सम्बन्धी मान्यताओं को भी परिवर्तनशील माना जाता है और इसीलिए विवेक की, सार्वजनिक हित की, औचित्य की कसौटी पर कसा जाता है । गाँधीजी ने अपनी जीवनचर्या सत्य के प्रयोग में नियोजित रखी और जब उन्हें प्रतीत हुआ कि पहले की अपेक्षा अधिक सही मार्ग पा रहे हैं तो उन्होंने पूर्वाग्रह को तिलाञ्जलि देकर अन्तरात्मा की आवाज को स्वीकारा, भले ही इसके लिए अस्थिर मति होने का दोष सहना पड़ा हो ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

सत्य की मोटी परिभाषा जो बात जैसी सुनी या समझी हो उसे उसी रूप में कह देना मानी जाती है, पर यह आवश्यक नहीं कि जानकारी को यथावत् ही कह दिया जाय । दार्शनिक हेगल के अनुसार कथन में यथावत् प्रयुक्त होने वाला एक प्रतिशत ही औचित्य की कसौटी पर खरा उतरता है । ढेरों प्रसंग ऐसे होते हैं जिनमें जानकार होते हुए भी अनजान बनना सत्य के अधिक निकट होता है । चोर को पूछने पर कोई अपनी सम्पदा का विवरण क्यों बताये ? युद्ध संचालक सेनापति अपनी गढ़ी योजना क्यों प्रकट करे ? गुप्तचर जिस काम के लिए नियुक्त है उसका ब्यौरा क्यों प्रकट करे ? किसी के चरित्र पर लांछन लगाने और उसका भविष्य बिगाड़ने को भला सत्य वचन बोलते फिरने की क्या और आवश्यकता समझी जाय ?

सत्य का यथाअवसर बोलने में भी प्रयोग किया जाय तो हर्ज नहीं, पर इससे पूर्व विवेक की कसौटी पर यह परखा जाना चाहिए कि इस कथन का भावी परिणाम क्या होगा ? जिसमें सुधार होने की गुञ्जायश है, जिससे लोकहित सधता है, उसे प्राथमिकता देनी चाहिए और सत्य वचन उतना ही बोलना चाहिए, जिसमें किसी अनर्थ की आशंका न हो ।

समग्र सत्य बहुत बड़ा है । मनुष्य की समझ सीमित है। सीढ़ी पर एक-एक पैर रखते हुए चढ़ा जाता है । यथार्थता की खोज के लिए हमें अपना मस्तिष्क खुला रखना चाहिए । प्राचीनकाल में कोई प्रथा-प्रचलन ऐसे रहे होंगे जो उस समय सही माने गये होंगे, किन्तु आज का विवेक उसे स्वीकार नहीं करता तो पूर्व पुरुषों के कथन अथवा कृत्य को ध्यान में रखते हुए उसी परिपाटी को अपनाने की आवश्यकता नहीं है । मध्यकाल में कितनी ही प्रथाएँ उस समय के चिन्तन के अनुसार सही समझी जाती रही हैं, पर आज उनकी कोई उपयोगिता नहीं समझी जाती तो पुस्तकों के उल्लेख, किसी बड़े आदमी के अनुकरण या विद्वान के कथन को प्रमाण मानकर उन पुरातन व्यवहारों का अनुसरण करने की आवश्यकता नहीं समझी जानी चाहिए । विवेक, औचित्य, न्याय को इस कसौटी पर कसा जाना चाहिए कि मान्यता या निर्णय की प्रतिक्रिया स्वयं उनके ऊपर बीतने पर क्या होगी ? यह विवेक और औचित्य का साक्षी रखकर ही निर्णय किया जा सकता है ।

अन्ततः सत्य ही जीतता है

पिछड़े समुदाय की लोक-चेतना पूर्वाग्रहों से भरी जड़ प्रकृति की होती है । उसे प्रचलनों का समर्थन ही नहीं गर्व करते भी देखा जाता है । परिवर्तन की बात सुनने और उस दिशा में कुछ कदम बढाना उनके लिए अति कठिन होता है ।

सुधारकों को इन्हीं परिस्थितियों में काम करना पड़ता है । सहमति की तुलना में असहमति से ही अधिक पाला पड़ता है । यह अस्वीकृति इस आधार पर उभरती है कि उन पर कितना दबाव पड़ा । बदलने की आवश्यकता अनुभव करने के लिए उन्हें तर्क या व्यवहार की दृष्टि से कितना बाधित होना पड़ा ।

उपयोगी परिवर्तन का दबाव जब तक हल्का होता है तब तक उपेक्षा बरती जाती है । कोई ध्यान ही नहीं देता । बात को अनसुनी कर दिया जाता है ।

जब दबाव का तापमान कुछ और बढ़ता है तो उपहास उड़ाया जाने लगता है । उपहास इस बात का प्रतीक है कि जो कहा गया था उसकी क्षमता को समझा गया और मान्यता दी गई ।

जब सुधार-प्रयासों की शक्ति बढ़ती है और लगता है कि वे सफलता की दिशा में चल रहे हैं तो विरोध खड़ा किया जाता है । चुनौतियाँ मिलती हैं । शास्त्रार्थ खड़े किए जाते हैं । पर्चेबाजी होती है एवं विरोधी यह प्रयत्न करते हैं कि उनकी जीत मानी जाय और प्रतिपादनकर्त्ता को हारा हुआ या बदनाम सिद्ध कर दिया जाय ।

अन्तिम शस्त्र है आक्रमण । जब कोई और उपाय नहीं सूझता तो मूढ़मति लोग आक्रमण का सहारा लेते हैं । शारीरिक चोट पहुँचाने से लेकर दुरभिसन्धियाँ रचने तक आरोप-आक्षेप लगाकर चरित्रहनन तक की नीति अपनाते हैं । ऐसा प्रायः सभी सुधारवादियों को सहन करना पड़ता रहा है । जब तक आन्दोलन शिक्षित सामान्य स्तर तक रहता है, तब तक उपहास, तिरस्कार का आश्रय लेकर ही प्रतिपक्षी काम चलाते रहते हैं पर जब अवांछनीयता के अस्तित्व को अपने लिए खतरा खड़ा होते दीखता है, तो वह प्रतिशोध पर उतर आती है । निहित स्वार्थों के दाँव में लगा हुआ कानून का चक्कर जब हाथ से जाता दीखता है तब वे अपने आक्रोश को एकत्रित करके हमला बोलने लगते हैं । देवासुर संग्राम का समूचा इतिहास इसी एक तथ्य के इर्दगिर्द घूमता है । शहीदों के बलिदान के पीछे इसी उपक्रम की पुनरावृत्ति होती देखी जा सकती है ।

सन्त, सुधारक और शहीद की एक सुनिश्चित शृंखला है । महान् परिवर्तन के प्रणेता को सर्वप्रथम सन्त की भूमिका निभानी पड़ती है, ताकि उसका चिन्तन और चरित्र लोकश्रद्धा अर्जित करके अपने व्यक्तित्व और प्रभाव का दुहरा दबाव डाल कर प्रस्तुत तर्कों, तथ्यों, प्रमाणों को सशक्त बना सके और अनेकानेक विचारशीलों को समर्थक, सहयोगी बना सके । इसके बाद सच्चे मन से अपनाया गया प्रतिपादन कार्यरूप में परिणत होने लगता है । लोग उसे करने भी लगते हैं जो उनने समझा और सही माना था ।

सुधारकों की यही सफलता है । इसके उपरान्त जहाँ विचारशील उस प्रयास का अभिनन्दन करते हैं, वहाँ निहित स्वार्थ आक्रमण का आश्रय लेते हैं और अपने प्रतिपक्षी मोर्चे को तहस-नहस करने का प्रयत्न करते हैं। संघर्ष चल पड़ने पर कभी एक पक्ष को चोट लगती है कभी दूसरे को । असुरता हारती है तो प्रगति का पथ प्रशस्त होता है पर यदि औचित्य पर भी आघात होने लगे तो भी हानि नहीं । भावनाएँ उमड़ती हैं और छूटे हुए काम में लक्ष्य तक पहुँचाने में सहायता करती हैं । ईसा, सुकरात,

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

मंसूर, दयानन्द आदि के प्राण ही ले लिए गये इतने पर भी उनका छूटा प्रयास रुका नहीं, वरन् और भी अधिक तेजी पकड़ता गया । इसी निष्कर्ष को ध्यान में रखते हुए तत्त्वदर्शियों ने कहा है कि अन्ततः सत्य की ही विजय होती है ।

सत्य और अहिंसा के परिपालन की सीमा

सभी शास्त्रकारों ने सत्य और अहिंसा को धर्म का प्रधान स्वरूप माना है । किन्तु इन दोनों ही तथ्यों का मोटा अर्थ करने से अनेकों शंकाएँ उठ खड़ी होती हैं । अतएव वे तनिक गहराई तक उतरकर उनके भावार्थ और व्यवहार को अधिक अच्छी तरह समझने की आवश्यकता होगी ।

सत्य का मोटा अर्थ सच बोलना होता है । जो बात जैसी सुनी या समझी है उसे उसी रूप में कह देना इसे सत्य भाषण कहा जा सकता है, पर यह सत्य का एक बहुत छोटा अंश है । सत्याचरण इतने तक ही सीमित नहीं है । कभी-कभी सत्याचरण और सत्यभाषण के बीच विरोध, विपर्यय भी खड़ा होता है और यह विचारना पड़ता है कि दोनों का साथ-साथ निर्वाह सम्भव भी है या नहीं ।

चोर, डाकुओं, तस्करों, हत्यारों, षड्यंत्रकारियों का पता लगाने के लिए सरकारी गुप्तचर विभाग को अपना छद्म परिचय देना पड़ता है और भेद निकालने के लिए भूमिका कई प्रकार से बनानी पड़ती है । शत्रु देश आक्रमण करने वाला हो और अपनी रणनीति का, साज-सज्जा का पता लगाना चाहता हो तो बात ज्यों की त्यों नहीं बताई जा सकती । बता देने पर अपने देश का सर्वनाश हो जायेगा और अगणित लोगों को धन-जन की हानि उठानी पड़ेगी । कई व्यक्ति स्वयं व्यभिचारी होते हुए भी पत्नी से सत्य की दुहाई देकर उसकी गलती उगलवा लेते हैं और पीछे उसे असाधारण त्रास देते हैं । इसकी अपेक्षा तो वह बात को छिपा जाती तो दाम्पत्य जीवन के दोनों भागोदारों का जीवन शान्ति-सन्तोष का बना रहता ।

विग्रह, कलह, अशान्ति, असंतोष, वैमनस्य उत्पन्न करने वाले सत्य को भी असत्य से बुरा बताया गया है । वस्तुतः सत्याचरण के अन्तर्गत न्याय और नीति का जीवन आता है । इसमें परिणाम को ध्यान में रखते हुए कुछ आगा-पीछा करने की पूरी-पूरी गुंजायश है । अकारण गप्पबाजी में, निंदा-चुगली में दुष्परिणाम के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले असत्य का ही निषेध है ।

इसी प्रकार अहिंसा की व्याख्या और प्रयोग नीति अपनाने में भी विवेकशीलता को ध्यान में रखना होगा । वनस्पति में जीवन का होना सिद्ध हो चुका है । पानी में भी सूक्ष्म जीवाणु होते हैं और हवा में भी । इन सब में से किसी की भी हिंसा न होने देना तभी सम्भव है जब अपना जीवन समाप्त करना हो । यहाँ इतना ही सम्भव है कि जीवधारी संवेदनशील प्राणियों की ऐसे ही शिकार आदि विनोद के लिए अथवा माँसाहार के लिए प्राणि-वध न किया जाय ।

सिर में जुएँ, खाट में खटमल-अन्न में घुन, नाली के कृमि, घर में बैठे साँप-बिच्छू यदि न मारे जाएँ तो फिर अपनी खैर नहीं । बढ़ते मक्खी-मच्छरों के लिए फिनायल चूना आदि का छिड़काव वर्जित नहीं है । बीमारियों के भी कीटाणु होते हैं, उन्हें औषधि से मारना पड़ता है । रास्ते में अनजाने ही कितने ही चींटी-कीड़े आदि मरते हैं । खेत की सिंचाई करने पर ढेरों दीमक मर जाती हैं , चूल्हा जलाने में भी कुछ न कुछ प्राणी मरेंगे । इन्हें बचाने का प्रयत्न करना अपने को संकट में डाल लेना है । अनिवार्य अथवा अनजान में होने वाली हिंसा को रोका नहीं जा सकता ।

शत्रु का अपने देश पर आक्रमण हो तो उससे लड़ने में अपने अथवा शत्रु के पक्ष का रक्तपात होगा ही । चुप बैठे रहने पर तो जापान पर गिराये गये बमों की तरह अपना सबका सफाया हो जायेगा । कहते हैं कि मिश्र के पिरामिड बनने में एक लाख करीब गुलामों को कोड़े खाते मरना पड़ा था । बिना प्रतिरोध के नृशंषों के ऐसे ही असंख्य अत्याचार होते रहेंगे । तब अहिंसा क्या काम देगी ?

गाँधीजी के करो या मरो आन्दोलन में अहिंसा का निर्वाह नहीं हो सका । दोनों ही पक्ष के ढेरों आदमी मरे थे । अहिंसा नीति हो सकती है पत्थर की लकीर नहीं । बराबरी का मुकाबला न होने पर शस्त्रबल से लड़ा जाने वाला युद्ध सफल नहीं हो सकता था । ऐसी बेवसी में असहयोग, विरोध, सत्याग्रह जैसे ही उपाय कम जोखिम के और शत्रु को हैरान करके दबाने वाले हो सकते थे । यही उपाय अमेरिका के नीग्रो नेता लूथर किंग ने भी अपनाया था । नीति की दृष्टि से यह साधना उपयुक्त थी, क्योंकि कुछ महीने के लिए जेल जाने के लिए हजारों सत्याग्रही मिल गये पर हिंसा पर उतारू होने पर जो गोलीकाण्ड होते उसके लिए मुट्ठी भर लोग ही मुश्किल से तैयार होते । गाँधीजी के असहयोग सत्याग्रह आन्दोलन को उनकी नीति और धर्म का समन्वय माना गया । यों बीमारी में तड़पते हुए बछड़े को जहर की सुई लगा देने के लिए गाँधीजी ने ही डाक्टर को परामर्श दिया था ।

निजी जीवन में अहिंसा का पालन उस सीमा तक हो सकता है जहाँ किसी भूले, अनजान या कमजोर से वास्ता पड़े । खाने के लिए अथवा देवता पर चढ़ाने के लिए पशुबलि का निषेध किया जा सकता है । यह व्यक्तिगत जीवन की घरेलू नीति है । इसका यथासम्भव अधिकाधिक पालन करना चाहिए । किन्तु यदि घर पर डाकू चढ़ आवे और अत्याचारपूर्वक धन का, सामान का अपहरण करे तो उसका सामना ही किया जाना चाहिए । इसमें चाहे हिंसा ही क्यों न अपनानी पड़े ।

सामान्यतया निजी व्यवहार में प्रेम का, उदारता का परिचय देना चाहिए । यही अहिंसा धर्म की मर्यादा है । उसे

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

भी पत्थर की लकीर मान लेने से अनीति का त्रास सहना पड़ेगा और अत्याचारी का हौसला बढ़ेगा । वह ऐसे-ऐसे अनेकानेक कुकृत्य करने के लिए उतारू हो जायेगा ।

अत्याचार करने की तरह अत्याचार सहना भी पाप है । यदि यह नीति-वचन सही है, तो फिर अत्याचारी का सामना कैसे किया जाय ? हाथ जोड़ने-गिड़गिड़ाने से तो अहिंसक पशु तक नहीं रुकते फिर मनुष्य कैसे मानेगा, जिसके समुदाय में अधिकांश निष्ठुर और निर्दयी ही भरे पड़े हैं । पुलिस, कचहरी और जेल का भय न हो तो दिन-दहाड़े कोई भी किसी का भी कितनों का भी कत्ल कर सकता है । सामन्ती शासन के दिनों यही होता भी रहा है । डाकुओं के गिरोह बनाकर उनका सरदार राजा जागीरदार बन जाता था और चाहे जहाँ हमला करके सैकड़ों नव-युवतियों, नव-युवकों को गुलाम बना ले जाता था । विरोध करने पर कत्लेआम मचाता था । प्रजा के धन की लूट, लूट नहीं मानी जाती थी । ऐसी स्थिति में बदला लेने और दाँत खट्टे करने की छापामार नीति भी न अपनाई जाय तो आखिर क्या किया जाय ? छत्रपति शिवाजी ने यही नीति अपनाई थी ।

अहिंसा की अति, कायरता बन जाती है । वह मनुष्य को श्रमशील, भाग्यवादी, भक्तजन बना देती है । उससे अपना और अपने समूचे समाज का अहित ही होता है । दुष्टता को इससे पोषण ही मिलता है ।

सत्य और अहिंसा दोनों ही सराहनीय हैं । सामान्य जीवन में स्वभावत इनका उपयोग किया ही जाना चाहिए, किन्तु यह भी समझा जाना चाहिए कि यह पत्थर की लकीर नहीं है । आपत्तिकाल में इनका उल्लंघन भी अपवादस्वरूप किया जा सकता है ।

सुखद और सरल सत्य ही है

निस्संदेह सत्य का मार्ग उतना कठिन नहीं है जितना दीखता है । जो वस्तु व्यवहार में नहीं आती जिससे हम दूर रहते हैं वह अजनबी, विचित्र तथा कष्टसाध्य लगती है पर जब वह समीप आती है और व्यवहार में चल पड़ती है तो वह स्वाभाविक एवं सरल बन जाती है । चूँकि हमारे जीवन में झूठ बोलने की आदत ने गहराई तक अपनी जड़ जमा ली है । बात-बात में झूठ बोलते हैं । बच्चों से हँसी-दिल्लगी में, शेखी बघारने के लिए, लोगों को आश्चर्य में डालने के लिए अक्सर अतिरंजित बात कही जाती है । इनसे कुछ विशेष लाभ होता हो या कोई महत्त्वपूर्ण स्वार्थ सधता हो, सो बात भी नहीं है, पर यह सब आदत में सम्मिलित हो गया है इसलिए अनजाने ही हमारे मुँह से झूठ निकलता रहता है ।

वेदों में स्थान-स्थान पर सत्य की महत्ता को समझाया गया है और सत्यवादी तथा सत्यनिष्ठ बनने के लिए प्रेरणा दी गई है ।

ऋग्वेद १/४६/११ की बात एक श्रुति है:-

अभूदु पारमेतवे पन्था ऋतस्य साधुया अदर्शि वि स्तृतिर्दिवः ।।

"सत्य का मार्ग चलने में सरल है । यह मार्ग संसार सागर से तरने के लिए बनाया गया है । यही मार्ग द्युलोक तक गया है ।"

स्वार्थ के लिए, आर्थिक लाभ के लिए, व्यापार में झूठ बोलना तो आज उचित ही नहीं एक आवश्यक बात भी समझी जाने लगी है । ग्राहक को भाव बताने में अक्सर दुकानदार झूठ बोलते हैं, घटिया को बढ़िया बताते हैं, चीज के दोषों को छिपाते हैं और गुणों को अतिरंजित करके बताते हैं, जिससे भोला ग्राहक धोखे में आकर सस्ती और घटिया चीज को बढ़िया समझ कर अधिक पैसे में खरीद ले । दुकानदार की इस आमप्रवृत्ति को, ग्राहक भी समझने लगे हैं और वे मन ही मन दुकानदार को झूठा, ठग तथा अविश्वस्त मानते हैं । उसकी बात पर जरा भी विश्वास नहीं करते । अपनी निज की समझ का उपयोग करते हैं, दुकानदार की सलाह को ठुकरा देते हैं, दस जगह घूमकर भाव-ताव मालूम करते हैं, चीजों का मुकाबला करते हैं, तब अन्त में वस्तु को खरीदते हैं । यह व्यापारी के लिए एक बड़ी लज्जा की बात है कि उसे आमतौर से झूठा और बेईमान समझा जाय, उसकी प्रत्येक बात को अविश्वास और संदेह की दृष्टि से देखा जाय । ऐसे लोग भले ही लाभ कमाते हैं, पर वस्तुतः मानवता के मूल्यांकन में ये बहुत ही निर्धन, निम्नस्तर के तथा घटिया लोग हैं । जिसे अविश्वस्त समझा जाय, जिनकी नीयत पर सन्देह किया जाय, जिसे ठग, धोखेबाज और बहकाने वाला माना जाय वह निसन्देह अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा खो चुका । इतनी कीमती वस्तु खोकर यदि किसी ने धन कमा भी लिया तो इसमें न कोई गौरव की बात है और न प्रसन्नता की । अपना सामाजिक सम्मान खोकर कई लोग धन कमा लेते हैं । वेश्याएँ खूब धन कमाती हैं और ऐश-आराम का जीवन बिताती हैं । लुच्चे, लफंगे, जेबकट और लुटेरे भी अपनी उस्तादी से बहुत पैसे बनाते हैं और मौज की छानते हैं । कोई-कोई भिखमंगे भी संत-महन्त, पंडा-पुजारी, कोढ़ी-कलंकी आदि का रूप बनाकर लोगों की दया और धर्मवृत्ति का शोषण करने में खूब सफल होते हैं और ढेरों दौलत जमा कर लेते हैं । क्या इनकी प्रशंसा की जायेगी ? क्या इनका कोई सराहनीय सामाजिक स्तर गिना जायेगा ? नहीं, विचारशील क्षेत्रों में इन्हें निम्नकोटि का इन्सानियत से गिरा हुआ व्यक्ति ही गिना जायेगा । ऐसी कमाई, जिससे मनुष्य घृणास्पद बनता हो, अपना आत्म-सम्मान खोता हो, धिक्कार के ही योग्य है । असत्यवादी चाहे वह अपनी चालाकी से किसी क्षेत्र में कितनी ही सफलता क्यों न प्राप्त कर सका हो, धिक्कार के योग्य ही माना जायेगा।

लोग सोचते हैं, असत्य व्यवहार से लोगों को उल्लू बना लेना और अधिक धन-उपार्जन कर सकना सरल है । इसलिए वे अपने कारोबार में नकलीपन की भरमार कर डालते हैं । कई बचकाने लोग अपनी हैसियत बहुत बड़ी बनाने के लिए खूब फैशन बनाते हैं और अनाप-शनाप खर्च करते हैं ताकि लोग यह अनुमान करके कि यह कोई

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

बहुत बड़ा आदमी है उसका आवश्यकता से अधिक सम्मान करने लगें । पर वे यह भूल जाते हैं कि काठ की हाँडी एक ही बार चढ़ती है, किसी को एक ही बार धोखा दिया जा सकता है । बात आखिर खुलती है, झूठ कितने दिन तक छिप सकती है ? जब पोल खुलती है तो सारा गुड़-गोबर हो जाता है । बदनाम व्यापारी का काम अन्त में ऐसा ठप्प होता है कि रोने को मजूर नहीं मिलते । इसी प्रकार औकात से अधिक शेखी बनाने वालों को अन्ततः उपहासास्पद ही बनना पड़ता है । बड़प्पन की छाप किसी पर छोड़ने की अपेक्षा वे औरों की दृष्टि में ओछे एवं जलील ही साबित होते हैं ।

विदेशों में जहाँ व्यापार पनपा है वहाँ उन्होंने सच्चाई को प्रथम स्थान दिया है । वस्तुओं का मूल्य भले ही महँगा रखा हो, पर भावों में धोखेबाजी नहीं करते और न कुछ बताकर कुछ देते हैं । समुन्नत योरोपीय देशों में दूध में पानी मिलाकर कोई नहीं बेचेगा । ऐसा काम कोई करे तो उसे ऐसा ही जलील और नीच माना जायेगा जैसा यहाँ बच्चों को उड़ा ले जाने या धतूरा मिला प्रसाद बाँटकर लोगों की पोटली उठा ले जाने वालों को घृणित मानते हैं । इसी प्रकार वस्तुओं की क्वालिटी तथा कीमत के बारे में भी कोई दुकानदार धोखा न देगा जो वस्तु जैसी है जितने दाम की है उसे एक ही साँस में कह देगा । न ग्राहक का समय नष्ट होगा न दुकानदार का । दुकानदार को न ग्राहक की चापलूसी करनी पड़ती है और न ग्राहक को दस जगह मोलभाव करने तथा चीजों के असली नकली होने का पता लगाने को मारा-मारा फिरना पड़ता है । इसमें दोनों का सुभीता है, दोनों का ही लाभ है ।

ईमानदारी में लाभ ही लाभ है । बढ़िया घड़ियाँ बनाने वाली वेस्ट एण्ड वाच कम्पनी हर वर्ष करोड़ों रुपया कमाती है और सस्ती घटिया निकम्मी घड़ी बनाने के अनेकों कारखाने हर साल खुलते और बन्द होते रहते हैं । फोर्ड मोटर्स अपने ईमानदार कारखाने को प्रतिदिन करोड़ों रुपया कमाकर देती हैं, जबकि जैसे-तैसे पुर्जों को जोड़कर निकम्मी मोटरों के कारखाने घाटे का ही रोना रोते रहते हैं । दूध में पानी, घी में बेजीटेविल, शहद में चासनी मिलाकर बेचने वालों के किले खड़े किसी ने नहीं देखे हैं, वे इतना सब करने पर भी फटेहाल ही रहते हैं । पर जिन्होंने ईमानदारी और सच्चाई को अपनी नीति बनाया है उनका दूध, घी, शहद महँगा भी बिकता है, लाभ भी देता है और साथ ही विक्रेता की प्रतिष्ठा में भी चार चाँद लगाता है । सच्चाई का मूल्य कम नहीं है । वह कामधेनु गौ के समान है, यदि कोई उसकी ठीक तरह सेवा करले तो पालने वाले को मालोमाल कर देती है ।

जो बात व्यापार के सम्बन्ध में कही गई है वही जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में लागू होती है । पारिवारिक जीवन में यदि घर के सब सदस्य परस्पर सच्चाई का व्यवहार करें तो कलह और वैमनस्य की नौबत ही न आवे । पति-पत्नी के बीच सच्चा प्रेम तभी स्थापित हो सकता है जब दोनों एक-दूसरे से किसी प्रकार का दुराव न रखें । छल, कपट, चालाकी, चोरी की बात जहाँ शुरू हुई नहीं कि प्रेम में अन्तर आया नहीं । भाई-भाइयों में, पिता-पुत्र में यही विष, फूट और द्वेष के बीज बोता है । यदि परिवार के सब लोगों का अन्तःकरण शुद्ध हो, व्यवहार में सौजन्य एवं सत्य का समावेश हो तो वह कुटुम्ब देवपरिवार बन सकते हैं । वहाँ प्रेम और आनन्द की निर्झरिणी सदा प्रवाहित होती रह सकती है ।

आस्था की ज्योति बुझने न पाये

धर्मतंत्र के प्रति विद्यमान लोकआस्था इस बात का संकेत है कि उसके द्वारा मानवीय अन्तःकरण के परिष्कार एवं समाज के कल्याण की सम्भावना के प्रति जन-मानस गहनतापूर्वक आस्थावान रहा है । किन्तु लगातार इसके दोहन किए जाने और बदले में लोकमानस को समुचित मार्ग-दर्शन न दिए जाने के कारण आज यह छीजती हुई दिखाई देती है ।

इसके इस तरह घटने का कारण सिर्फ यही है कि यह विद्या अनगढ़ लोगों के हाथ में आ गई । कोई भी उपकरण, जानकारियाँ, सूत्र जब इस तरह के गैर-समझदार हाथों में पड़ जाते हैं तो उनका स्वाभाविक और समुचित उपयोग नहीं हो पाता । कुशल एवं लम्बे समय प्रशिक्षण पाया हुआ चिकित्सक ही लोगों का इलाज कर सकता है । यदि कोई अनाड़ी आदमी बीमारी ठीक करने का जिम्मा ले ले तो 'नीम हकीम खतरे जान' वाली कहावत सत्य प्रमाणित होगी । यही बात भवन निर्माण कला के सम्बन्ध में है । कुशल इंजीनियर शानदार गगनचुम्बी इमारतें सहजता से खड़ा कर सकता है । पर यही काम यदि अनजान आदमी ले ले तो इमारत में ढेरों कमियाँ और कुरूपताएँ दिखाई पड़ेंगी । इन सारी कमियों का दोष चिकित्साशास्त्र या भवन निर्माण विधा का नहीं है । इनमें निहित सत्य तो अपने आप में निर्दोष है, पर गलत हाथों में पड़ जाने से उनकी अभिव्यक्ति विकृत रूपों में होती है । अभिव्यक्ति की विकृति को विद्या की विकृति समझ बैठना समझदारी की कमी ही मानी जाएगी । धार्मिकता और इसके प्रति आस्था के बारे में भी यही बात है । इसमें निहित सूत्रों के अनुकरण से क्रिया-कलापों में पवित्रता, प्रखरता एवं उत्कृष्टता का समावेश होता है । यदि किसी धार्मिक कहे जाने वाले में ये गुण न दिखाई दें तो इसका सीधा मतलब है कि उसने इसके सूत्रों-सिद्धान्तों को ठीक-ठीक समझा नहीं ।

इसी तथ्य से सहमति व्यक्त करते हुए प्रख्यात मनीषी अल्डुअस हक्सले का अपनी रचना 'द पेरीनियल फिलॉसफी' में कहना है कि धार्मिकता व आध्यात्मिकता का तात्पर्य उन विधाओं से है जिनकी अनिवार्य जरूरत मानवी-कल्याण एवम् मानव-जीवन के उत्थान के लिए है । इनसे जीवन में समरसता, सामंजस्य, शक्ति और सन्तुलन आता है । डॉ. राधाकृष्णन् और पी. टी. राजू अपनी रचना 'द कन्सेप्ट

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

ऑफ मैन' में कहते हैं कि धार्मिकता ही वह नीति है जो सामाजिक व्यवस्था, जीवन की स्वस्थता तथा कल्याण का प्रसार करती है । इसका महत्त्व लोकजीवन के साथ स्वयं के जीवन में भी है । इसे सुख आनन्द की स्थापना की विधा के रूप में जाना जा सकता है । मानवता की भूमि में प्रेम से, द्वेष पर न्याय से, अन्याय पर सेवा से, स्वार्थ पर गुणों के द्वारा दोषों पर विजय पाने की एकमात्र प्रणाली यही है ।

परन्तु इस प्रणाली की उपर्युक्त परिणतियाँ स्वयं के जीवन में तभी अनुभव की जा सकती हैं जब प्रणाली के प्रति गहन आस्था और क्रिया के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण हो अन्यथा आलस्य-प्रमाद को आश्रय देकर अधूरे मन से अपनाई गई पद्धति अपने पूर्ण परिणाम प्रस्तुत नहीं करती । वैज्ञानिक को अपनी विधा में गहन आस्था होती है । इसके साथ ही वह प्रयोग की विधियों में किसी तरह की कोई कमी, भूल किसी तरह बर्दाश्त नहीं करता । उसकी दत्तचित्तता व एकनिष्ठ मनोयोग के बारे में कहना ही क्या? ये सारी चीजें मिलकर ही चमत्कृत कर देने वाले नतीजे सामने लाती हैं । लोग सोचने पर विवश हो जाते हैं कि इसके ऐसे अकल्पनीय परिणाम भी हो सकते थे । धार्मिक प्रणाली के बारे में भी यह सत्य लागू होता है । धर्म जीवन विज्ञान है । इसके प्रयोगकर्त्ता में इसके प्रति गहन आस्था का होना आवश्यक है । साथ ही सारी कमियों, भूलों को दूर कर प्रमाद को दूर फेंककर समूचे जीवन को इसके अनुरूप ढालना होगा । ऐसा कर पाने पर परिणाम भी आश्चर्यजनक करने वाले आएँगे ।

प्राचीनकाल के ऋषियों ने अपने शोध-प्रयासों तथा स्वयं के जीवन पर अनेकानेक प्रयोगों से प्राप्त निष्कर्षों के बलबूते न केवल स्वयं को श्रेष्ठ विभूति सम्पन्न बनाया था बल्कि जनमानस में इसकी सैद्धान्तिकता व व्यावहारिकता के प्रति आस्था भी जगायी थी । आज यदि यह घट रही है तो इसका कारण पिछली कुछ शताब्दियों से प्रतिभाशालियों के द्वारा इसकी उपेक्षा तथा उस पर प्रतिगामी तत्त्वों का एकाधिपत्य है । इस कारण ही उसमें विकृतियों की भरमार हो चली है । आज धार्मिकता सिर्फ सिद्धान्तों की बक-झक होकर रह गई है और भी न जाने कितनी विडम्बनाएँ इस क्षेत्र में चल पड़ी हैं । समाज के श्रम, धन, समय का शोषण होने लगा । जिस आदर्शवादी दृष्टिकोण परिष्कार धर्मतन्त्र की स्थापना का उद्देश्य था वह तो भूलता, विसरता, गायब होता चला गया, फैलता गया झूठा आडम्बर, भाग्यवाद, पलायनवाद के साथ वह विकृत दृष्टिकोण जिसके अनुसार नदी स्नान, देवदर्शन तीर्थ-भ्रमण जैसे छुटपुट कर्मकाण्डों से पाप के दण्ड भुगतने से छुटकारा मिल जाता है । अनैतिकता और अकर्मण्यता को बढ़ावा देने वाली मान्यताएँ इस क्षेत्र में लम्बे समय तक छाई रहीं । उस मृगमरीचिका में भटक रही जनता भ्रान्त-क्लांत हो चली है । विचारशील वर्ग में धर्मतन्त्र के प्रति आस्था वैसी अविचल नहीं रही । वे इसकी उपयोगिता को संशय की दृष्टि से देखने लगे हैं।

विचारणीय यह है कि भारत के लोकमानस में मानवतावादी सद्भावना और सत्प्रवृत्तियों की स्थापना किस पृष्ठभूमि पर हो सकती है ? उपयोगी गतिविधियाँ अपनाने के लिए जन-सामान्य को सहमत करने की सबसे अधिक सरल प्रक्रिया क्या होगी ?

धार्मिकता भारतीय जनता का प्रिय तत्त्व रहा है । इसकी आस्थाओं के प्रति विचलन सामयिक है । कुछ ऐसे लोग अथवा समूह इस पवित्र कार्य हेतु सन्नद्ध हो जाएँ जिनकी वैचारिकता, भावना तथा कार्यप्रणाली में समरूपता हो तो यह संकट दूर हो सकता है । श्रीरामकृष्ण परमहंस के शब्दों में धार्मिक व्यक्ति जब सोलह आने आदर्शवादी होगा तो उसे देखकर लोग एक आने आदर्श का पालन जरूर करेंगे । अतएव उपदेशकों में राईरत्ती कमी को जन-मानस बर्दाश्त नहीं करेगा । स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में "भारत आह्वान कर रहा है ऐसे पुरुषार्थी एवं त्यागी लोगों का, जो स्वार्थ, वासना, कामना सभी कुछ को धार्मिक आस्थाओं की स्थापना की पवित्र वेदी पर अर्पित कर सकें । इससे कम में मानववादी विचार, आदर्शवादी मान्यताएँ सरलतापूर्वक जन-समुदाय को नहीं समझायी जा सकतीं ।"

ऐसे लोग ही धार्मिक कलेवर का उपयोग विवेकपूर्ण विचारों के शिक्षण के लिए सफलतापूर्वक कर सकते हैं । आज भी जनता के धन, समय और मनोयोग का बहुत बड़ा भाग धर्मतन्त्र के लिए स्वेच्छा से समर्पित होता रहता है । अतः उस शक्ति का सदुपयोग करना एक जरूरी कर्त्तव्य कर्म है । धर्म कलेवर में नए प्राण फूँकना भारत में एक राष्ट्रीय कर्त्तव्य है ।

इसी के द्वारा लोकमानस का परिष्कार व परिमार्जन सम्भव है । प्राणी भी पदार्थों की तरह अनगढ़ होते हैं । पदार्थों को पकाना, ढालना, खरादना जरूरी होता है, तभी वे कांतिमान, सुन्दर, सुडौल और उपयोगी बनते हैं, किन्तु इस प्रक्रिया के लिए पहली जरूरत साँचों की है, जिसके आधार पर यह महत्त्वपूर्ण कार्य सम्भव बन पड़े । ऐसा बन सकने के लिए सामर्थ्य वालों को आगे की पंक्ति में आना होगा ।

एक लम्बे अर्से से धर्मतन्त्र का काफी दुरुपयोग हुआ है और वह मनुष्य के लिए हानिकारक विकृतियों का पोषण केन्द्र बनता जा रहा है । इस पर भी इसके प्रति लोकआस्था बची हुई है । इसकी ज्योति को स्वास्थ्यप्रद प्राणवायु से प्रखर-प्रदीप्त बनाया जाना चाहिए । यह दायित्व जीवट वाले प्राणवान तथा संकीर्ण स्वार्थपरता की बेड़ियों से मुक्त उन लोगों का है, जो लोकमानस के परिष्कार एवम् प्रशिक्षण का महत्त्व समझते हैं और राष्ट्रीय सन्दर्भ में उसके उपयुक्त माध्यम के रूप में उपादेयता को जानते हैं ।

धर्मतन्त्र रूपी मन्दिर में जल रही जन-आस्था की ज्योति के बुझने में घाटा ही घाटा है । इसका अभ्यासी

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

जन-मानस इससे दिग्भ्रान्त हो जाएगा । अतः जरूरत इस बात की है कि इसकी पर्याप्त मात्रा में प्राणवायु पहुँचायी जाय । यह काम सुभाष बोस, चन्द्रशेखर, विवेकानन्द, दयानन्द जैसे महामानवों की परम्परा का है । आस्था संकट से जूझने के लिए जब भावनाशील, पवित्र अन्तः-करण, उत्कृष्ट चिन्तन एवम् श्रेष्ठ आचरण वाले प्रबुद्ध जन इस क्षेत्र में उतरेंगे, तभी धर्मतन्त्र को परिमार्जित, परिशोधित, नवनिर्धारित कर धार्मिक नीतिमत्ता के प्रति आस्था की ज्योति जगाए रखी जा सकती है, यह ज्योति ही मानवीय अन्तःकरण को आनन्दित, पुलकित, प्रफुल्लित रख कर प्रगति पथ पर बढ़ते रहने का पाथेय जुटाती रह सकेगी ।

मानवी तत्त्वदर्शन का शिलान्यास हो

एक ही कैमरे से एक ही वस्तु के अनेक कोणों से फोटो खींचे जाएँ तो वे सभी एक-दूसरे से भिन्न होंगे । किसी में पीठ आएगी, तो किसी में चेहरा, किसी में बगल । इनमें से जो जिसे पसन्द करेगा, वह उसे अंगीकार करेगा । धर्म के सम्बन्ध में यही बात है । उसका सही स्वरूप अध्यात्म है । इसी को उत्कृष्ट दृष्टिकोण कहते हैं । इस आधार पर जो देखा और जाना जाता है, उसी को सही कह सकते हैं, अन्यथा सम्प्रदायवाद के साथ जुड़े हुए प्रचलन सत्यान्वेषी विवेकबुद्धि से उनका निरीक्षण-परीक्षण किया जाता है कि यह सारा जंजाल कहीं अन्धविश्वासों का जमघट ही तो नहीं है ।

कभी यह मान्यता थी कि अमुक सम्प्रदाय के लोगों को ही ईश्वर पसन्द करता है और अन्य सम्प्रदाय वालों के बारे में सोचता है कि जैसे भी बने उन्हें अपने मत में सम्मिलित किया जाय । सहमत न हों तो उनके सिर कलम कर दिये जाएँ । मध्यकाल के सामन्तों को जहाँ लूट-खसोट, राज्य बढ़ाने की हवस थी, वहाँ यह जनून भी कम न था कि अपनी बात न मानने वाले काफिरों का कत्लेआम किया जाय । इस मान्यता ने कितने निरीहों का रक्तपात कराया । इसे इतिहास के विद्यार्थी भली प्रकार जान सकते हैं ।

सम्राटों-सामन्तों को दफनाते समय उनके साथ कितनी औरतें, कितने नौकर, कितनी दौलत दफन की जाती थीं ताकि परलोक में यह सभी वस्तुएँ उन्हें उपलब्ध हो सकें । सद्गृहस्थों को पकड़ कर दास-दासी बना लिए जाते । उन्हें खरीदने, बेचने और पशुओं जैसा काम करने के लिए विवश करना किसी जमाने में आम रिवाज था ।

अमेरिका के रेडइण्डियनों और अफ्रीका के हवशियों में पशुओं की ही नहीं मनुष्यों के भारी संख्या में बलिदान का भी भारी प्रचलन था । उसी कारण कितनी ही जातियाँ एक-दूसरे को बलि चढ़ाते-चढ़ाते नाममात्र के लिए शेष रह गईं । इन कृत्यों को करने वाले अपने को धर्मात्मा मानते थे और सोचते थे कि ईश्वर यही चाहता है और इसी से प्रसन्न होता है ।

भारत में ही सतीप्रथा, विधवा विवाह, बाल विवाह, अपहरण जैसे अत्याचार नारियों के साथ किए जाते थे, उन्हें पर्दे में कैद रखा जाता था । मनुष्यों में भी एक चौथाई को अछूत कहकर मनुष्योचित अधिकारों से वंचित किया जाता था । देवताओं को प्रसन्न करने के लिए उनकी प्रतिमाओं के सामने सहस्रों निरीह पशुओं का वध किया जाता था आदि-आदि ऐसे अनेकों प्रचलन थे जिन्हें सही माना जाता था और वैसा करने में शास्त्रकारों की आज्ञा का हवाला दिया जाता है । पिरामिडों के निर्माण में लाखों को मेहनत कराते-कराते उसी में पीस दिया गया । एक पुरुष सैकड़ों-हजारों स्त्रियाँ हरम में रखता था । कभी लड़कियाँ बिकती थीं, अब लड़के बिकते हैं ।

ऐसी-ऐसी अनेक बातें हैं, जिन्हें धर्मपरम्परा, शास्त्र आज्ञा, ईश्वर की इच्छा मानकर कहा जाता है और अनेकों भावुकों का शोषण किया जाता है । ऐसे धर्म व्यवसायी धन और सम्मान दोनों हाथों से बटोरते हैं और अपने को देवताओं का एजेन्ट कहकर उनका अनुग्रह दिलाने के लिए महँगी फीस वसूल करते हैं ।

मात्र हिन्दू समाज में ही नहीं अन्य सम्प्रदायों में भी ऐसे बेतुके प्रचलनों की भरमार है, जिनका विवेक की कसौटी पर कोई औचित्य सिद्ध नहीं होता फिर भी उन सम्प्रदायों के मानने वाले पुरातन मान्यताओं को ही सब कुछ मानते हैं और समीक्षा या सुधार की बात कहने तक को अधर्म मानते हैं ।

धर्म सबसे पुरानी परम्परा है । उनके साम्प्रदायिक खण्ड इतने अधिक हैं कि उनकी गणना करते कठिनाई होती है । फिर उनके प्रचलन ऐसे हैं जिनके स्वरूपों और सिद्धान्तों में जमीन-आसमान जैसा अन्तर है । फिर भी आश्चर्य इस बात का है कि उन सभी के अनुयायी अपनी-अपनी परम्पराओं पर इतने कट्टर हैं कि उनकी यथार्थता पर पुनर्विचार करने की तनिक भी गुंजायश नहीं । अभी भी आये दिन दहेज कम मिलने पर स्त्रियों को जला देने, देवता को प्रसन्न करने के लिए, बच्चे चुराकर बलि चढ़ा देने जैसे नृशंस कृत्य आये दिन होते रहते हैं और उन्हें करने वाले अपने को अपराधी नहीं मानते, वरन् परम्परा के निर्वाह के लिए अपनाया गया औचित्य ही मानते हैं ।

यह धर्मचर्चा का विषय हुआ । अपराधियों की, दुराचारियों की, व्यसनियों की अपनी बिरादरी है और वे अपने कृत्यों को शान दिखाने का प्रसंग मानते हैं । न लज्जित होते हैं और न उन कुमार्गों को छोड़ने की बात सोचते हैं, यह दृष्टिकोण ही है जिसके कारण मनुष्य ऐसे ढाँचे में ढल जाते हैं कि जो किया अपनाया गया है, उस पर नए सिरे से विचार करने और उचित-अनुचित का विचार करने तथा ढर्रे में परिवर्तन करने तक की आवश्यकता नहीं समझते । वेश्याएँ अपनी सफलता और

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

चतुरता की डींगें अपने समुदाय में बढ़-चढ़ कर मारती ही हैं ।

यहाँ एक और कठिनाई है कि जिसने जो ढर्रा अपना रखा है वह उसका औचित्य तर्कों के सहारे भी सिद्ध करने में पीछे नहीं रहता । यों तर्क से ही उचित-अनुचित के निर्णय करने का रिवाज है, पर बुद्धि के विकास ने इस क्षेत्र को भी अप्रामाणिक बना दिया है और विश्व मानव की एकता-एक दिशा अपनाने में बाधक बन रही है । मति-भिन्नता के रहते प्रगति की किसी योजना को कार्यान्वित करना और सफलता के स्तर तक पहुँचाना कभी भी सम्भव न हो सकेगा ।

भूतकाल के अनौचित्य, वर्तमान के दुराग्रह और भविष्य के अन्धकार को ध्यान में रखते हुए हमें ऐसे उपाय खोजने चाहिए जिनसे विग्रहों के आधार ढहें और एकता के, औचित्य के द्वार खुलें । दार्शनिक क्षेत्र में यह आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है ।

आवश्यकता है कि न्याय, औचित्य, विवेक का आश्रय लिया जाय और पूर्वाग्रहों से अपने दृष्टिकोण को मुक्त रखा जाय । अपने आग्रहों को ईश्वर, देवता, पैगम्बर आदि की उक्ति बताने की दुहाई न दी जाय और न अपने मान्यजनों को चमत्कारी, दैवशक्तियों से सम्पन्न सर्वज्ञ ठहराया जाय । इन आधारों को अपनाने से औचित्य के प्रति अन्याय ही होगा । हमें स्वतंत्र चिन्तन का आश्रय लेना चाहिए और प्रचलित मत-मतान्तरों में से कौन ज्येष्ठ और श्रेष्ठ के झंझट में न पड़कर नई दृष्टि अपनानी चाहिए कि प्रस्तुत प्रचलनों को किसी विशेष समय की आवश्यकताओं के अनुरूप गढ़ा हुआ मानना चाहिए । ग्राह्य और अग्राह्य का निर्णय तर्कों के सहारे नहीं, वरन् मानवी गरिमा के अनुरूप भावनाओं के सहारे करना चाहिए ।

अर्थशास्त्र बताता है कि नई पीढ़ी को स्थान देने के लिए पुरानों को बूचरखाना पहुँचाना चाहिए । यदि यह सिद्धान्त पशुओं के लिए सही है तो मनुष्यों के लिए प्रचलित क्यों नहीं हो सकता ? फिर बूढ़े माँ-बापों को कसाईखाने भिजवाना पड़ेगा । ''जिसकी लाठी तिसकी भैंस'' का जंगली कानून यदि सही ठहराया जाय तो 'बड़ी मछली छोटी को निगल लेती है ' का सिद्धान्त मनुष्यों पर भी लागू करना होगा और इस संसार में सभी दुर्बलों का एक सिरे से सफाया करना होगा । देशभक्ति की दुहाई दी जाती रही तो क्षेत्र विशेष की सुविधा ही सब कुछ मानी जायेगी और विदेशों के साथ अन्याय होने की बात पर विचार न हो सकेगा । इसलिए हमें वास्तविक न्याय का निर्णय करने के लिए स्वयं सृष्टि का स्रष्टा बनकर सभी को सन्तान मानते हुए उचित अवसर प्रदान करना पड़ेगा या फिर अगली शताब्दी की देहरी पर खड़े होकर आदि से अन्त तक नए कानूनों का इस आधार पर निर्धारण करना होगा, जिससे भविष्य में किसी अनुचित विग्रह के लिए गुंजायश न रहे । मनुष्यों में से प्रत्येक को मानवी मौलिक अधिकारों का संरक्षण मिले, साथ ही सृष्टि के अन्य प्राणियों को भी इस धरती पर रह सकने की सुविधा मिले ।

दुर्जन मुट्ठी भर होते हैं, पर वे संगठित गिरोह बनाकर आक्रमण करते हैं और तथाकथित सज्जन मिल-जुल कर उनका विरोध नहीं करते, फलतः संसार में अनीति और अपराधों की बाढ़ आती है । होना यह चाहिए कि अनाचारियों का सामूहिक बहिष्कार और विरोध हो, साथ ही मिल-जुल कर सब उनके विरुद्ध संघर्ष करें । शासन को कहा जाय कि सुधार की आशा से दरगुजर करने वाले या हलका दण्ड देकर जमानत पर छुट्टल छोड़ देने की अपेक्षा अपराधी के साथ उतनी कड़ाई की जाय जिसे देखकर दूसरों को वैसा करने का हौसला न बढ़े । शासन को जहाँ सत्प्रवृत्तियों का समर्थन-अभिवर्द्धन करना चाहिए वहाँ यह भी नितान्त आवश्यक है कि आततायी को प्रताड़ना सहनी पड़े और पश्चात्ताप करना पड़े ।

सम्प्रदायों की अनुपयुक्तता देखते हुए उनसे निरपेक्ष हो जाना और चाहे जिसको चाहे जो करने की छूट नहीं देनी चाहिए । ऐसी छूट प्रकारान्तर से अनीति का समर्थन एवं प्रोत्साहन है । हमें उपेक्षापूर्ण रिक्तता उत्पन्न नहीं करनी चाहिए, वरन् एक नवीन मानव धर्म की संरचना करनी चाहिए और उसका परिपालन करने के लिए लोगों से अनुरोध करते रहने की अपेक्षा बाधित करने की कठोरता अपनानी चाहिए । राजनीतिकवाद भी मात्र शासन की अर्थव्यवस्था की देखभाल करते हैं और मूर्खों के बहुमत का जिस-तिस प्रकार समर्थन प्राप्त करके अपनी मनमानी चलाते हैं । यह सब भी अपूर्ण है । हमें उतनी गहराई तक जाना होगा जिससे मानवी तत्त्व-दर्शन का शिलान्यास हो। चिन्तन में उत्कृष्टता, चरित्र में आदर्शवादिता और व्यवहार में सज्जनता का समावेश हो । वस्तुतः इसी परिधि में मानवजीवन की समस्त समस्याएँ आती हैं । जिससे इस सुविस्तृत क्षेत्र का समाधान निकले उसी को सच्चे अर्थों में तत्त्वदर्शन, समाज विज्ञान या शासन तंत्र कहना चाहिए, फिर उसका नाम कुछ भी क्यों न रखा जाय । मनुष्य को सत्प्रयोजन अपनाने की पूरी छूट मिलनी चाहिए, पर उसकी धूर्तता को इतने कड़े शिकंजे में कसना चाहिए कि पीछे हटने या आगे बढ़ने की कोई गुंजायश न रहे ।

बढ़ते हुए विज्ञान और बुद्धिवाद ने दुनिया को सिकोड़ कर एक बस्ती जैसी सीमित कर दिया है । इसमें एकता और समता की रीति-नीति ही चल सकती है । मनमौजी खींचतान चलाने और कलह के सर्वनाशी बीज बोने की छूट पिछले दिनों मिलती रही होगी, पर अब उसकी तनिक भी गुंजायश नहीं है । हमें एक विरादरी नहीं, एक परिवार बनाकर रहना होगा और एक भाषा, एक देश, एक धर्म, एक दर्शन अपनाकर ही शान्तिपूर्वक रहना होगा । इस प्रयास में प्रत्येक वर्ग को अपनी पूर्व मान्यताओं के प्रति दुराग्रह छोड़ना होगा और यह सोचना होगा कि अगले दिनों इस संसार को ऐसा सुन्दर-सुसंस्कृत कैसे बनाया जा

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

सकता है जिसमें अमीरी-गरीबी को सब लोग मिल-बाँटकर खायें । शक्ति और बुद्धि के सत्परिणामों से सभी लोग मिलजुल कर लाभ उठायें और हँसते-हँसाती जिन्दगी जियें । इसके लिए समुचित साधन भी मौजूद हैं और पर्याप्त अवसर भी । आवश्यकता इस बात की है कि दूरदर्शी विवेकशीलता के धनी अपने चिन्तन को इस केन्द्र-बिन्दु पर एकाग्र करें कि मानवी गरिमा के अनुरूप चिन्तन क्या हो ? लोग उसे अपनाने और चरित्र में उतारने की प्रेरणा देने वाला शिक्षण किस प्रकार के विद्यालयों और किस स्तर के साहित्य सत्संग द्वारा प्राप्त करें ? शासन किस प्रकार चले ? अब तक यही सोचा जाता रहा है ।

नवयुग की आवश्यकता है कि यह निर्धारण किया जाय कि समाज का स्वरूप क्या हो और उसकी आचार संहिता अपनाने के लिए जन-जन को किस प्रकार सहमत किया जाय । जिनकी नस-नस में धूर्तता भरी पड़ी है उन्हें कड़ी प्रताड़नाएँ सहने के लिए बाधित किया जाय । अब इतना समय शेष नहीं रह गया है कि फिर पीछे कभी के लिए बात टाली जा सके । हम जीवनमरण की विभीषिकाओं के बीच जूझ रहे हैं । उपाय एक ही शेष है-आध्यात्मिक दृष्टिकोण का स्वरूप निर्धारण और उसका अनुशासनपूर्वक परिपालन ।

इन्द्रोः मायाभिः पुरुरूप ईयते

तात्त्विक दृष्टि अपनाने एवं अध्यात्म दर्शन के लक्ष्यों पर ध्यान देने पर पता चलता है कि संसार में फैले हुए धर्म मतों में जो भी भिन्नता दृष्टिगोचर होती है, वह बाह्य है । लक्ष्य तो सबका एक ही है । धर्म के कुछ मूलभूत सिद्धान्त ऐसे हैं जिन्हें कोई भी नकार नहीं सकता । वे शाश्वत् हैं, सनातन हैं । अन्तर वहाँ पड़ता है जब उनका अर्थ अपने सन्दर्भ में अलग लगा लिया जाता है । सभी धर्म-सम्प्रदायों के सिद्धान्तों की आचार-संहिता में तो स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप भिन्नता हो सकती है, किन्तु उद्देश्य-मन्तव्य में किसी भी प्रकार का मतभेद नहीं हो सकता ।

ईश्वर के अस्तित्व एवं कर्त्तव्य के प्रश्न को ही लें । ज्ञात होता है कि इस सन्दर्भ में सबकी मान्यताएँ एक जैसी नहीं हैं । एक सम्प्रदाय कहता है कि जगतकर्त्ता ईश्वर है, जबकि दूसरा उससे इनकार करता है । दोनों वादों पर ध्यान देने पर पता चलता है कि वस्तुतः भेद है नहीं । एक ही तथ्य को दो प्रकार से कहा भर गया है । ईश्वर को जगत का स्रष्टा मानने वाला कहता है कि यदि तुम पाप करोगे, अनीति का पथ अपनाओगे तो वह तुम्हें दण्ड देगा । तुम्हें इस कुमार्गगामिता के फलस्वरूप नरक में जाना होगा । सदाचरण एवं नीति पर चलोगे तो परमात्मा प्रसन्न होगा । उसके अनुदान तुम पर बरसेंगे । इहलोक व परलोक दोनों ही श्रेष्ठ बनेंगे । परमात्मा को सृष्टि का स्रजेता न मानने वाले धर्ममतावलम्बियों का कहना है कि तुम्हारे पापयुक्त कर्म बन्धन के कारण होंगे तथा वे अनेकों प्रकार के रोग-क्लेशों के रूप में दिखाई देंगे । अच्छे कार्यों की परिणति ही श्रेष्ठ जीवन एवं समुन्नत परिस्थितियों के रूप में होती है ।

दोनों ही प्रकार की मान्यताओं की गहराई में जाने पर पता चलता है कि दोनों ही कर्मफल के सनातन सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं । अच्छे का फल अच्छा एवं बुरे का बुरा प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है । इस मान्यता में कोई मतभेद नहीं । एक धर्म ईश्वर को जगत का स्रष्टा मानकर जिस लक्ष्य की पूर्ति कराना चाहता है, दूसरा ईश्वर को स्रष्टा न मानते हुए उसी लक्ष्य की ओर बढ़ने की प्रेरणा देता है । यहाँ भिन्नता कहाँ हुई ? भिन्नता तो मात्र सोचने के साधनों में हुई । साधन-साधन है, लक्ष्य नहीं । साधनों की भिन्नता देखकर एक धर्म को दूसरे का विरोधी मान बैठना भारी भूल है ।

मानवी संरचना एवं मनोगत प्रकृति को दृष्टिगत रख चिन्तन करते हैं तो भी दोनों ही प्रकार की मान्यताएँ उपयोगी लगती हैं । मानवी प्रकृति दो रूपों में विभाजित है-एक भाव प्रधान, दूसरी बुद्धि प्रधान । जो भावनाशील है-जिनके हृदय में संवेदनाओं के लिए स्थान है, उनके लिए ईश्वर का क्रिया वाला स्वरूप अधिक श्रेष्ठ एवं उपयोगी है । समर्पण की उदात्त भावना के कारण वे निश्चिन्त रहते हैं, उनमें कर्त्तव्य का अहंकार नहीं पैदा होता । इस सुदृढ़ अवलम्बन द्वारा वे अपने कृत्यों को परमात्मा में अर्पित करते हुए क्रमशः लक्ष्य की ओर बढ़ते चले जाते हैं। जबकि ईश्वर को प्रत्येक कार्य का कर्त्ता मानने से परावलम्बन को बुद्धिजीवी समुदाय एक अभिशाप मानता है । इस नीति को छोड़ कर्त्तव्य साधना में निरत रहने को ही वे सच्चा पथ मानते हैं । नीति पर चलने व अनीति से बचते हुए वे क्रमशः लक्ष्य की ओर बढ़ते हैं । मानवी प्रकृति की भिन्नता के कारण दोनों ही मत अपने-अपने स्थान पर सही हैं ।

परमात्मा को सृष्टि का कारण मानने एवं न मानने वाले दोनों व्रत पाप कर्म से बचने एवं पुण्य की ओर बढ़ने की प्रेरणा देते हैं । यह एक ऐसा सार्वभौम सिद्धान्त है जो सभी धर्मों में समान रूप से पाया जाता है । इस सिद्धान्त के पीछे एक ही लक्ष्य है-मानव मात्र को सुखी व श्रेष्ठ बनाना । यह कर्मफल के सिद्धान्त को अपनाने से ही सम्भव हो सकता है । यदि यह अंकुश उठ जाय तो मनुष्य उच्छृंखल हो जायेगा । पाप-पुण्य के बीच की दीवार ही लुप्त हो जायेगी । न केवल आस्तिक वरन् नास्तिकों का भी यही कर्त्तव्य होना चाहिए-मानव मात्र सुख एवं सन्तोष से भरा जीवनयापन करे । यह मात्र सदाचरण से ही सम्भव है । स्पष्ट है कि सभी धर्म मानव मात्र के कल्याण के लिए प्रयत्नशील हैं । अपने देशकाल एवं परिस्थितियों के अनुरूप वे सचेष्ट भी रहे हैं ।

कलेवर नहीं विभिन्न धर्मों के अन्तरंग में झाँकने पर पता चलता है कि सबके सनातन सिद्धान्त प्रायः एक जैसे

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

हैं । अज्ञान में पड़े रहने एवं साम्प्रदायिकता की दुराग्रहपूर्ण मान्यता के कारण ही भेद पनपता है । रामकृष्ण परमहंस के विषय में प्रसंग प्रचलित है कि धर्म-सम्प्रदायों में फैले मतभेद को देखकर उन्होंने प्रत्येक धर्म की साधना-प्रणाली अपनायी थी । साधना की परिपक्व अवस्था में उन्होंने पाया कि सभी धर्म उसी एक सत्ता में ही जाकर मिलते हैं ।

आलोचनात्मक दृष्टि छोड़कर यदि ग्रहण करने की प्रवृत्ति अपनायी जा सके तो ढूँढ़ने पर प्रत्येक धर्म में कुछ ऐसे उपयोगी तत्त्व मिल सकते हैं जो मानव मात्र के लिए कल्याणकारी हैं । यह समदृष्टि अपने एवं दूसरे धर्मों का आदर करने से ही सम्भव हो सकती है । इस तथ्य को हृदयंगम किया जाना चाहिए कि वर्तमान में पूर्णतया कल्याणकारी न सिद्ध होते हुए भी कोई धर्म पूर्णतया निरर्थक नहीं कहा जा सकता । सम्भव है कि जो तत्त्व वर्तमान में निरुपयोगी दृष्टिगोचर हो रहे हैं कभी उपयोगी रहे हों । कालान्तर में बदली हुई परिस्थितियों के कारण वे अब उतने लाभप्रद नहीं सिद्ध हो पा रहे हैं ।

प्रत्येक धर्मसम्प्रदाय तभी जन-कल्याणकारी सिद्ध हो सकता है जब वह रूढ़ियों एवं अन्धविश्वासों को अपने अन्दर से निकाल फेंके । यह धर्म को नये परिवेश में स्वस्थ स्वरूप देने से ही सम्भव हो सकेगा । पुरातन के नाम पर अनुपयोगी कर्मकाण्डों-क्रियाकृत्यों की लकीर पीटना अविवेकपूर्ण है । उनके स्थान पर उन तत्त्वों एवं प्रचलनों को अपनाया जाना चाहिए जो मानवी व्यक्तित्व के विकास में योगदान देते हैं । वस्तुतः धर्म तत्त्वदर्शन का वास्तविक लक्ष्य भी यही है ।

सार्वभौम धर्म की स्थापना के लिए साम्प्रदायिकता की संकीर्ण परिस्थित से बाहर आना होगा । इसके लिए आवश्यक नहीं कि सभी धर्म-सम्प्रदायों को तोड़कर एक नवीन धर्म खड़ा करने की बात सोची जाय । क्योंकि यह न तो सम्भव है और न ही उपयोगी । प्रत्येक समाज की अपनी अलग परिस्थितियाँ एवं आवश्यकताएँ हैं । इस कारण सबको एक स्वरूप प्रदान कर सकना सम्भव नहीं है । यदि यह किसी प्रकार सम्भव हो जाय तो भी व्यावहारिक दृष्टि से प्रचलन में ला पाना सम्भव नहीं हो पायेगा ।

सार्वभौम, सार्वजनीन अध्यात्म दर्शन तो प्रत्येक धर्म में से सर्वोपयोगी तत्त्वों के चयन से ही सम्भव हो सकेगा । इसके लिए प्रत्येक धर्म की सनातन विशेषताओं को ढूँढ़ना एवं संकलित करना होगा । प्रत्येक धर्म के शाश्वत् एवं उपयोगी तत्त्वों को लेकर ही ऐसे विश्व धर्म की पृष्ठभूमि बन सकती है । इस दिशा में जितना शीघ्र प्रयास चल पड़े उतना ही श्रेयस्कर होगा ।

आत्म-कल्याण की समग्र साधना और उसका स्वरूप

आत्म-कल्याण का जीवन लक्ष्य प्राप्त करना प्रत्येक भावनाशील भारतीय को स्वभावतया अभीष्ट है । इसके लिए प्रत्येक धर्म, प्रवृत्ति का व्यक्ति उत्सुक रहता है, उपाय भी पूछता और ढूँढ़ता है-कुछ न कुछ करता भी है, पर दुर्भाग्य यात्रा के आरम्भ में ही आ खड़ा होता है जबकि उसे भ्रांत मान्यताओं में उलझा दिया जाता है। यों अपना देश भ्रान्तियों का देश है, यहाँ हर दिशा में इतनी मूढ़-मान्यताएँ जड़ जमाये बैठीं हैं मानो हम एक लाख वर्ष पुराने आदिमकाल में रह रहे हों । हमारा समाज शरीर गलित कुष्ठ के पीड़ितों जैसा हो रहा है । उसमें इतने सड़न भरे व्रण उभरे हुए हैं कि स्थिति कई बार तो निराशाजनक दीखने लगती है । ऊँच-नीच मूलक जाति-प्रथा, विवाहों में होने वाले अपव्यय और नारी के प्रति चल रहे अन्याय और भिक्षा-व्यवसाय को जन-मान्यता मिलने की थोड़ी-सी बातों पर ही ध्यान दें तो पता चलेगा कि वह कितने भयावह गर्त-दलदल में हैं- और इनमें धँसे-फँसे समाज को कितना कुछ सहन करना पड़ सकता है-सहना पड़ रहा है ।

धर्म और अध्यात्म क्षेत्र में यह दुर्गति और भी आगे बढ़ी-चढ़ी है । इसलिए वह और भी अधिक कष्टप्रद है पानी से मैल धोया जाता है, पर यदि पानी ही मैल से भरा हो तो फिर धुलाई का क्या परिणाम निकलेगा । धर्म को साबुन और अध्यात्म को पानी कह सकते हैं । व्यक्ति और समाज की धुलाई, सफाई इसी आधार पर हो सकती है, पर यदि इन्हीं में मैल भर जाय तो फिर धुलाई से स्वच्छता उपलब्ध होने की बात कैसे बनेगी ?

जीवन-लक्ष्य की पूर्ति के, ईश्वर की प्राप्ति के सम्बन्ध में इन दिनों जो मान्यताएँ प्रचलित हैं वे बहुत ही भौंड़ी-फूहड़ और अवैज्ञानिक हैं । उनमें न कोई तथ्य है, न प्रदर्शन, न आधार । भजन करो और मुक्ति पाओ का नारा ऐसा ही है जैसे कोई चिल्लाने लगे, लाटरी खरीदों और अमीर कहलाओ । इस नारे में भाग्य और चांस की कौड़ी सीधी पड़ जाने पर कुछ तो आशा रहती ही है पर जो नारा इन दिनों धर्म-क्षेत्र में जोर-शोर से लगाया जा रहा है वह पूर्णतया थोथा है । भजन करो और मुक्ति पाओ वाली बात यदि सही होती तो देश में जो ५६ लाख से बढ़ कर अब ८० लाख धर्मध्वजी हो गये हैं वे मुक्ति पा लेते और अपने व्यक्तित्व में ऐसी प्रखरता सिद्ध करते जिससे भारत तो क्या समस्त विश्व का कल्याण हो गया होता । मनुष्य तो क्या-समस्त प्राणिवर्ग ने राहत पाई होती । मुक्तवर्ग का व्यक्तित्व लगभग ईश्वर के समतुल्य ही होता है उसकी प्रतिभा और सत्ता न केवल उस उपलब्धि वाले मनुष्य का ही कल्याण करती है वरन् वह अपने देश, धर्म, समाज और संस्कृति ही नहीं युग का भी उद्धार कर सकती है ।

यह सही है कि आर्षग्रन्थों में भजन की महिमा एक स्वर से गाई है और आप्त-पुरुषों ने भजन का महत्त्व परिपूर्ण समर्थन के साथ प्रस्तुत किया है, पर साथ ही उसके साथ कुछ विशिष्ट आधार भी जुड़े हुए हैं,

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

जिनके सहारे ही भजन रूपी बीज वपन फलदायक हो सकता है । बीज के महत्त्व से इन्कार नहीं किया जा सकता ।

मात्र माला सटकने की तोतारटन्त भजन का प्रयोजन पूरा नहीं कर सकती । पुराण पुस्तकों के पन्ने उलटने से स्वाध्याय की उद्देश्य पूर्ति नहीं होती । घर छोड़ देने भर से कोई वैरागी नहीं हो सकता । परमार्थ पथ पर चलने वालों को इतनी-सी बालक्रीड़ा करके सन्तुष्ट नहीं होना पड़ता उन्हें और भी ऐसा बहुत कुछ करना पड़ता है जिससे अन्त:चेतना का स्तर महामानव की ऊँचाई तक पहुँच सके। उपासना केवल पूजा की कोठरी तक सीमित नहीं रह सकती, उसे लोकसेवा के रूप में विकसित होना पड़ता है । यदि यह तथ्य भजन करने वालों को विदित रहा होता तो वे बेचारे निष्क्रिय दिनचर्या अपनाकर ऐसे ही कुछ शब्दों की तोतारटन्त से सन्तुष्ट होकर एक कोने में बैठे मौत के दिन गिनने में न लगे रहते । उनके व्यक्तित्व और कर्तृत्व से समाज सर्वथा वंचित होकर न रह जाता । भजन की, उपासना की उथली परिभाषा में यदि लोग न उलझाये गये होते, उन्हें यथार्थता का बोध कराया गया होता और परमार्थ जीवन के साथ जुड़े हुए परम पुरुषार्थ के लिए अभीष्ट उत्साह उत्पन्न किया गया होता तो हमारे देश के ८० लाख, भजन को घोषित व्यवसाय बताने वाले भजनानन्दी, अपने में और अपने समाज में प्रचण्ड प्रखरता प्रस्तुत भर रहे होते । उससे भजन और भजनानन्दी दोनों ही धन्य हो जाते । जिस धर्म और अध्यात्म ने भजन का गौरव गाया है उसके चरणों पर भी संसार मस्तक झुकाता, पर ऐसा हुआ कहाँ ? एक अंग की पूर्णता मान बैठने से जो उपहासास्पद स्थिति उत्पन्न होती है वही हमारे भजनानन्दी वर्ग की हो रही है ।

अग्नि पर भोजन पकता है सो ठीक है पर साथ ही अग्नि और जल की व्यवस्था भी की जानी चाहिए अन्यथा अकेली अग्नि जुटा लेने से किसी का पेट न भरेगा । किसान को बीज ही नहीं खाद और पानी का भी प्रबन्ध करना पड़ता है । अध्ययन में मनोयोग के अतिरिक्त लेखनी और वाणी का उपयोग भी होता है । पहलवान के लिए व्यायाम अकेला ही पर्याप्त नहीं उसे पौष्टिक भोजन और संयम, ब्रह्मचर्य पालन भी करना होता है । औषधि अकेली ही रोग नष्ट नहीं करती, परहेज और परिचर्या का भी ध्यान रखना पड़ता है । हम अन्न खाकर ही जीवित नहीं रह सकते पानी और हवा भी चाहिए । इमारत अकेली ईंटों से नहीं चुनी जाती उसमें चूना और लकड़ी की भी आवश्यकता पड़ती है । आग अपने आप नहीं जलती रह सकती उसे आक्सीजन भी चाहिए और ईंधन भी । मोटर अपने आप नहीं चलती उसके लिए पेट्रोल भी चाहिए और ड्राइवर भी । कारखाने, मशीन, पूँजी और श्रमिकों की त्रिविध व्यवस्था होने पर ही चलते हैं । शरीर सिर, धड़ और पैर के तीन भागों में विभक्त है । ईश्वर, जीव और प्रकृति के समन्वित प्रयास से यह संसार बना है । ब्रह्मा, विष्णु, महेश का त्रिवर्ग सृजन, पोषण और संहार की त्रिविध गतिविधियों का संचार करके विश्वव्यापी हलचल का आधार बना हुआ है । सर्दी, गर्मी, वर्षा की तीन ऋतुएँ शैशव, यौवन और वृद्धता -सत् रज, तम्, सत्यं, शिवं, सुन्दरं, सत्, चित, आनन्द की त्रिविध दिव्य धाराएँ परस्पर अत्यन्त सघनतापूर्वक गुँथी हुई हैं । उसी प्रकार ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग के सहारे ही जीवनलक्ष्य की प्राप्ति होती है । ब्रह्मविद्या-तपश्चर्या और लोकसेवा के त्रिविधि आधार लेकर ही समग्र परमार्थ साधना सम्भव होती है इसी समन्वय को भजन की समग्रता कह सकते हैं । नाम-जप उसी भजन विज्ञान का एक बहुत छोटा-सा पुर्जा है । मात्र पेण्डुलम हाथ में रहने से घड़ी द्वारा टाइम देखने की आवश्यकता पूरी नहीं होती ।

भजन की समग्रता और यथार्थता हर किसी धर्मप्रेमी को समझाई जानी चाहिए और हर भजनप्रेमी को इस भ्रम जंजाल से निकाला जाना चाहिए कि वह अमुक मन्त्र देवता या कर्मकाण्ड को करते रहने मात्र से पूर्णता तक पहुँच सकता है । जिह्वा से कुछ शब्दों का उच्चारण और शरीर तथा पूजा-उपकरणों के इधर-उधर हेरा-फेरी जैसे स्वल्प श्रम-साध्य बाल-कौतुक से आत्म-कल्याण और ईश्वर प्रगति जैसे महान प्रयोजन को प्राप्त नहीं किया जा सकता । बहुमूल्य उपलब्धियाँ प्राप्त करने के लिए महँगा मूल्य चुकाना पड़ता है । सस्ते में सरलतापूर्वक मूल्यवान विभूतियाँ नहीं पाई जा सकतीं । उपासना क्षेत्र में घुसी सट्टेबाजी की प्रवृत्ति हटाई जानी चाहिए और बताया जाना चाहिए-धन से लेकर ईश्वर तक हर बड़ी उपलब्धि के लिए प्रचण्ड पुरुषार्थ से कम में कुछ कहने लायक सफलता नहीं मिल सकती ।

शरीरबल सम्पादन के लिए पहलवान को जो करना पड़ता है उससे कम नहीं वरन् अधिक ही चेष्टा आत्मबल सम्पादन के लिए आवश्यक है । सफल कृषक, विद्यार्थी-व्यवसायी और अन्वेषी लोगों को पुरुषार्थ का अनुकरण ही आत्मबल सम्पादन करने के लिए भी किया जाना चाहिए । बाल-क्रीड़ा मात्र से मन नहीं बहलाना चाहिए । कम श्रम और कम समय में बढ़ी-चढ़ी उपलब्धियाँ पाने में अत्युत्साही ही तो शेखचिल्ली जैसे उपहासास्पद बनते हैं । किसी समझदार धर्म-प्रेमी को उथलेपन का परिचय देकर अपने को उपहासास्पद नहीं बनाना चाहिए ।

यह तथ्य और यह धर्म, अध्यात्म क्षेत्र में भली प्रकार समझ लिया जाय तो सस्ता सौदा बेचने वाली दुकानें बन्द हो जाएँगी और लूट के माल से धनी बनने के सपने देखने वाले-बेपर की उड़ानें उड़ना छोड़कर यथार्थता की भूमि पर विचरण करना आरम्भ कर देंगे । उस स्थिति में सम्भव है कायर, मुफ्तखोर और सस्ती खरीद के लिए आकुल लोगों की भीड़ छँट जाय और यथार्थवादी सीमित संख्या में ही दृष्टिगोचर होने लगें पर इससे एक भारी लाभ होगा कि जो भी अध्यात्म मार्ग के पथिक रहेंगे वे न तो अपने को भटका हुआ अनुभव करेंगे और न खाली हाथ रहेंगे ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

भजन कम किया जाय या ज्यादा, पूरा समय लगाया जाय या थोड़ा समय लगाया जाय यह बात पीछे की है पर हर उपासनाप्रेमी को यह समझ ही लेना चाहिए कि मात्र-जप या पूजा-परक कर्मकाण्ड आत्म-कल्याण की साधना का बहुत छोटा अंग है । उतने भर को पूर्णता मानकर बैठे रहना घातक है । भजन करना हो तो उसके साथ स्वाध्याय का-जीवन-शोधन का और सेवा-साधना का अनिवार्य समावेश उसी प्रकार होना चाहिए जिस तरह कि पूजा में अक्षत, धूप, दीप, नैवेद्य, पुष्प, जल आदि के उपकरणों को एकत्रित करना आवश्यक माना जाता है । भजन एक जीवन नीति है, कुछ क्षणों में पूरी हो जाने वाली हलचल नहीं । इस सत्य को अध्यात्म जगत में जितनी जल्दी समझ लिया जाय उतना ही उत्तम है ।

व्यस्त और गृहस्थ-जीवन में जिन्होंने थोड़ी-बहुत उपासना करने का क्रम बनाया है उन्हें भी इस सिद्धान्त को ध्यान में रखकर चलना चाहिए । भगवान का भजन-पूजन उनकी संक्षिप्त योगाभ्यास प्रक्रिया है । गायत्री जप के साथ ही सविता देवता की ज्ञानज्योति का अवतरण अपने रोम-रोम में होने का ध्यान करने के लिए सर्वसाधारण को कहा जाता रहा है । सामान्य उपासना की दृष्टि से यह उत्तम पूजा-पद्धति है । जप-ध्यान के उपरान्त सूर्यार्घ चढ़ाया जाय और भावना की जाय यह जल मेरे व्यक्तित्व का प्रतीक है जिसे सूक्ष्मात्मा-सविता के चरणों में समर्पित किया जा रहा है । भगवान् इसे स्वीकार करें और भाप, वर्षा, ओस, बूँदें, बनाकर इसे विश्व की सुख-साधना के लिए उन्मुक्त आकाश में छितरा दें । यज्ञ में जो उद्देश्य वसोधरा का है वही दैनिक जप में सूर्यार्घ का है । व्यष्टि का समष्टि में समर्पण-स्वार्थ में समापन यही है । आत्मा की परमात्मा में परिणति, ईश्वर प्राप्ति या ब्रह्म निर्वाण अथवा भवबन्धनों से मुक्ति इसी का नाम है । उपासना के समय पूजन, जप, ध्यान, सूर्यार्घ आदि भजन कृत्यों को इसी उद्देश्य से किया जाना चाहिए । संक्षिप्त योगाभ्यास की पूर्ति यह दैनिक पूजा-प्रक्रिया किसी हद तक कर देती है । व्यस्त जीवन में भी इतना क्रम तो चलना ही चाहिए ।

किन्तु स्मरण रखा जाय यह कृत्य भी एकांगी ही है । इससे समग्र साधना की उद्देश्य पूर्ति नहीं होती । नित्य मन पर चढ़ने वाले दूषित वातावरण के बुरे प्रभाव की गन्दगी धोने के लिए स्वाध्याय का, मनन-चिन्तन का प्रयोग नित्य, नियमित रूप से करना चाहिए । जीवन को परिष्कृत और उदार बनाने की प्रेरणा भरने वाला साहित्य स्वाध्याय के लिए चुन लेना चाहिए और उसे मनोयोगपूर्वक पढ़ने के लिए कोई न कोई समय निश्चित-निर्धारित कर ही लेना चाहिए । फुरसत के समय यहाँ तक कि रास्ता चलते भी पढ़ना पड़े तो भी चलेगा । आत्म-चिन्तन, आत्म-सुधार, आत्म-निर्माण, आत्म-विकास की चतुर्विद्या आवश्यकताओं को कैसे पूरा किया जा सकता है ? वर्तमान ढर्रे में क्या सुधार-परिवर्तन किस क्रम से होना चाहिए, इसी प्रकार की योजनाएँ मनन-चिन्तन में बनाई जाती हैं । ज्ञानयोग की साधना के लिए उपासना के अतिरिक्त स्वाध्याय और आत्म-चिन्तन का अवसर रहना ही चाहिए ।

भजन का तीसरा चरण है सेवा-साधना । कहना न होगा कि इस युग में सबसे अधिक आवश्यक और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण परमार्थ जन-मानस का भावनात्मक परिष्कार ही हैं । समस्त उलझनें, निकृष्ट विचारणा ने ही उत्पन्न की है और अब या हजार वर्ष बाद जब भी विश्व-शान्ति की आधारशिला रखी जायेगी तब विचारणा का स्तर ऊँचा उठाने वाले क्रिया-कलापों को ही प्राथमिकता दी जायगी । हमारी सेवा-साधना का लक्ष्य ज्ञान-यज्ञ का विस्तार ही होना चाहिए । विचार क्रान्ति वह प्रधान आवश्यकता है जिसकी शाखा-प्रशाखाएँ अवांछनीयताओं के उन्मूलन और सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्द्धन के रूप में फूटती दिखाई पड़ेंगी । हर धर्मप्रेमी को ईश्वरभक्त को-उपासना परायण को ज्ञान-यज्ञ के विस्तार में अपना योगदान देना चाहिए और सेवा-धर्म का पालन करते हुए आत्म-विस्तार की दिशा में कदम बढ़ाते हुए आत्म-कल्याण के चरम-लक्ष्य तक पहुँचना चाहिए ।

यह त्रिविधि साधना-पद्धति व्यस्त और गृहस्थ लोगों के लिए है । जिनकी भावनाएँ जितनी प्रखर हो चली हैं उन्हें उसी स्थिति के अनुरूप उपरोक्त तीनों कार्यों में बढ़ा-चढ़ा श्रम, साहस करना चाहिए । वानप्रस्थ जीवन में इन तीनों चरणों की पूर्ति के लिए अधिकाधिक समय लगाना और अधिकाधिक अभिरुचि के साथ, प्रगाढ़ निष्ठा के साथ मनोयोग केन्द्रित करना पड़ता है । उपासनापरक योगाभ्यास और तप-साधना की दृष्टि से पंचकोशों का अनावरण और षटचक्रों का वेधन बहुत ही उपयुक्त प्रयोग है, इसमें मनोविज्ञान और साधनाविज्ञान के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहस्यों का समावेश है। सिद्धियों और विभूतियों की आशाजनक सम्भावना उस क्षेत्र में समाविष्ट है । कौन साधक क्या साधना करे इसका निर्णय इस साधनाक्रम में से कौन किस प्रकार किस प्रक्रिया का आरम्भ, अभिवर्द्धन करे ? इसका निर्णय करने के पूर्व साधक का आन्तरिक स्तर देखना पड़ता है । हर रोगी के लिए एक ही दवा फिट नहीं पड़ती, प्रकृति के अनुरूप चिकित्साक्रम में परिवर्तन करना पड़ता है। इसी प्रकार उपासना पद्धति निर्धारण करते समय व्यक्ति विशेष की प्रकृति और स्थिति का ध्यान रखना होता है ।

ज्ञान-साधना के बारे में भी यही बात है । किसी व्यक्ति का पूर्व ज्ञान किस स्तर का है ? उसे देखते हुए आगे की शिक्षा-प्रक्रिया निर्धारित की जाती है । इतने पर भी यह स्पष्ट है कि आत्म-परिष्कार और लोकसेवा के मार्ग में आने वाली समस्याओं का समाधान करने की रीति-नीति जानना ही इस प्रशिक्षण का उद्देश्य होता है । उसी परिधि में की जाने वाली ज्ञान-साधना का महत्त्व है प्राचीनकाल के ग्रन्थों को पढ़ते रहने का जाल-जंजाल इतना बड़ा है कि उसे अनेक जन्मों में भी पार नहीं किया जा सकता । शिक्षा सोद्देश्य होनी चाहिए-वानप्रस्थों की भी ।

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

सेवा-साधना के लिए इन दिनों हमें एक ही केन्द्र पर केन्द्रित होना है-ज्ञान यज्ञ; ज्ञान-यज्ञ, ज्ञान-यज्ञ । विचार-क्रान्ति, विचार क्रान्ति-विचार क्रान्ति। चूँकि अपना कार्य भावनाओं के परिष्कार से सम्बन्ध रखता है इसलिए उसके साथ अध्यात्म की पृष्ठभूमि ही रह सकती है । धर्म का तत्त्वदर्शन ही इस प्रयोजन की पूर्ति कर सकता है । भावनाओं का स्पर्श करने और उन्हें मोड़ने-उभारने के लिए धर्म-चिन्तन और धर्म-कलेवर को ही आधार बनाना होगा । यह कार्य न राजनैतिक स्तर पर हो सकता है और न सामाजिक, आर्थिक आधार पर समझाने से काम बन सकता है । यह उथली पृष्ठभूमियाँ हैं, जिन्हें अपनाकर किसी को आदर्शवादी गतिविधियाँ अपनाने के लिए प्रेरित नहीं किया जा सकता । नव-निर्माण के लिए सर्वसाधारण को कुछ त्याग करने, कुछ कष्ट सहने के लिए ही तो बाध्य किया जायेगा । इसके बिना सर्वतोमुखी सृजन की आवश्यकता पूरी हो ही नहीं सकती । जन-मानस में इस प्रकार की उत्कृष्टता केवल धर्मक्षेत्र की भावुकता ही उत्पन्न कर सकती है । इसलिए वानप्रस्थों की सेवा-साधना की दिशा धर्म-कलेवर को पृष्ठभूमि बनाकर ज्ञान-यज्ञ की विचार क्रान्ति की ज्योतिर्मय प्रखरता उत्पन्न करना ही हो सकता है । उन्हें इसी परिधि में रहकर विभिन्न सेवा-साधनों में संलग्न होने की तैयारी करनी पड़ती है ।

वैराग्य और जीवन-लक्ष्य

मन कल्पना तो कितनी ही कर सकता है । इच्छाओं की परिधि भी असीम रहती है, पर अभिरुचि या प्रीति एक सीमित केन्द्र पर ही रहती है । उसे बिखेरा नहीं जा सकता । बहुमुखी भी नहीं किया जा सकता ।-

पत्नी का समर्पण पति के निमित्त होता है । वह उसके प्रति अपनी बफादारी का पूरा निर्वाह करती है । यों उसे शिष्टाचार और अनुशासनवश सास, जिठानी आदि को भी मानना पड़ता है । इसी प्रकार पति समर्पित अपनी पत्नी के लिए ही रहता है । अन्यान्य रिश्ते अन्यान्य महिलाओं के साथ भी निभाता है । चकोर की चन्द्रमा के प्रति चकवा की मेघमाला के प्रति अनन्य प्रीति होती है । शरीर निर्वाह के लिए वे घोंसला बनाने, दाना-चुगने आदि का काम भी करते हैं ।

इसी प्रकार मन की तन्मयता एकनिष्ठ होती है । दूसरे केन्द्र के प्रति सामान्य कर्त्तव्य निर्वाह भर की बात पूरी करनी पड़ती है । आकर्षण के केन्द्र दो ही हैं एक शरीर, दूसरा आत्मा । दोनों में से एक को प्रथम, दूसरे को गौण मानकर चलना होता है । आमतौर से मनुष्य अपने को शरीर भर मानता है । इसलिए शरीर की जिनमें आसक्ति होती है वे सब प्रिय लगने लगते हैं । पेट की भूख सर्वप्रथम है । उसके लिए आजीविका उपार्जन की आवश्यकता पड़ती है । निर्वाह के प्रति जो व्यवसाय अपनाये जाते हैं । उनके प्रति दायित्व अनुभव किया जाना स्वाभाविक है । इसके अतिरिक्त परिवार-पालन की जिम्मेदारी का कुछ भाग अपने ऊपर होता है । यह सब कुछ आसानी से हो जाता है । न यह बोझिल है, न कष्टकर ।

दूसरा पक्ष आत्मा का है, जो परमात्मा के प्रति जुड़ती है । सामान्य जीव-जन्तुओं की तुलना में मनुष्य शरीर और मन की विशेष महत्ता है । अन्य किसी प्राणी को ऐसे अनुदान नहीं मिले । यह उद्देश्य विशेष के लिए दिये गये हैं, अनायास ही नहीं । अनायास ही, अकारण ही ऐसा विशिष्ट जीवन मनुष्य को दिया गया होता तो उसे एक वर्ग के प्रति पक्षपात और अन्य सभी के प्रति अन्याय कहा जाता । समदर्शी को तो अपनी सभी सन्तानों के प्रति एक जैसी व्यवस्थाएँ करनी चाहिए, अपने वैभव का वितरण समान रूप से करना चाहिए । किन्तु मनुष्य जीवन अन्य सभी जीवधारियों की तुलना में विशिष्ट है । इसका कोई कारण, कोई उद्देश्य होना चाहिए, अन्यथा ईश्वर के न्यायकारी होने पर उँगली उठती है ।

जिस प्रकार शरीर आत्मा के प्रति उत्तरदायी है, उनकी आवश्यकताओं, इच्छाओं को पूरा करने के लिए दिन-रात लगा रहता है, उसी प्रकार होना यह चाहिए कि आत्मा-परमात्मा का ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण उसकी इच्छाओं को समझे, संकेतों का परिपालन करे, अनुशासन को निबाहे ।

यह सब क्या है ? इसे एक शब्द में लोकमंगल के लिए अटूट श्रम किया जाना कह सकते हैं । विश्व वाटिका भगवान् की है । यह निर्माण उसी का है, पर उसे सींचने-सँजोने के लिए माली तो अलग से चाहिए । बाग का मालिक ही वह सब काम नहीं कर सकता । उसके सामने दूसरे बड़े काम होते हैं । इसलिए माली की नियुक्ति करके उसे खाद, पानी, सिंचाई आदि की सुविधा देकर यह जिम्मेदारी सौंप देता है कि उसे सुन्दर, समुन्नत व फूला-फला रखे । मनुष्य को माली की तरह लोक-मंगल का काम सौंपा गया है । इसे करते हुए वह निजी निर्वाह की, परिवार-पालन की व्यवस्था भी अति सरलतापूर्वक जुटा सकता है । अद्भुत संरचना वाले शरीर को अपने प्रत्यक्ष दायित्वों को निभाना कुछ भी कठिन नहीं है । इसके अतिरिक्त भी वह उन कार्यों को करता रह सकता है जिसके लिए वह अनुपम अवसर उसे मिला है ।

देखा गया है कि मनुष्य सारा जीवन शरीर निर्वाह के लिए नहीं, इन्द्रिय लिप्सा, लोभ, लालसा एवं अहंता की पूर्ति हेतु ठाट-बाट बनाने में समाप्त कर देता है । मूल उद्देश्य का उसे ध्यान ही नहीं रहता । चिह्न पूजा के लिए यत्किंचित पूजा-पाठ बन पड़ा, तो कर देता है । वस्तुतः ईश्वर सर्व-समर्थ है । उसे किसी की ओर से मनुहार तथा उपहार की न कोई इच्छा है, न आवश्यकता वह तो उस कार्य की पूर्ति देखना चाहता है जिसके लिए उसे संसार में भेजा गया है ।

लोक-मंगल के परमार्थ को अपनाने पर अपना स्वार्थ सहज ही सध जाता है, मनुष्य खाली पेट उठता भले ही

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

हो, पर सोता तब है, जब उसे भर लेता है । लोकहित के लिए उसके पास ढेरों समय, श्रम और मनोयोग बच जाता है । इतना वह करता रहे तो सहज ही साथ में सद्भावना और उन सद्गुणों का विकास होता रहता है जो स्वर्ग, मुक्ति एवं आत्म-कल्याण के लिए आवश्यक है । सेवा-साधना के साथ सद्भावना और समय दान, अंश दान का परमार्थ तो सहज ही जुड़ जाता है । इससे तीन गुना लाभ होता है-आत्मपरिष्कार का, सन्तोष-सेवा से कृतज्ञ हुए लोगों का भाव-भरा सम्मान एवं ईश्वर के सौंपे दायित्व को पूरा करने से उपलब्ध होने वाला दैवी अनुग्रह। इस प्रकार लक्ष्य को प्रमुखता देने वाला लौकिक और पारलौकिक दोनों ही दृष्टि से नफे में रहता है ।

इतना जानते हुए भी मनुष्य जीवन को अकारण क्यों बिताता है ? अनर्थों का बोझ सिर पर क्यों लादता है ? इसका एक ही कारण है-मन के रागों में आसक्ति । राग तीन ही हैं जिनका उल्लेख वासना, तृष्णा, अहन्ता के रूप में किया गया है । इन्हीं को लोभ, मोह और दर्प भी कहते हैं । इनका आकर्षण जिनके ऊपर नशेबाजी के व्यसन जैसा चढ़ दौड़ता है, उन्हें उस उन्माद में न आत्मा का ध्यान रहता है, न परमात्मा का, न लक्ष्य का, न कर्त्तव्य का ।

इन रागों को ही भव-बन्धन कहा गया है । लोक-प्रचलन का अनुगमन करने पर तो वे बड़े जटिल प्रतीत होते हैं, पर यदि सूक्ष्म दृष्टि और विवेक से काम लिया जाय तो सद्ज्ञान का सूर्य उदय होने पर यह कुहासा छँटने में देर नहीं लगती ।

आत्मिक प्रगति के मार्ग में वैराग्य की चर्चा बहुत होती रहती है । विवेकहीन लोग उसका अर्थ शरीर निर्वाह और परिवार पालन के उत्तरदायित्वों का परित्याग करना मान बैठते हैं । भिक्षा पर निर्वाह करते हैं । आलस्य में समय गँवाते और आश्रितों के प्रति विश्वासघात करते हैं, इस स्थिति को वैराग्य जैसे सम्मानास्पद नाम से किस प्रकार सम्बोधित किया जाय ? खाली समय और खाली दिमाग तो शैतान की दुकान होता है । उस स्थिति में मुफ्त का सामान और पैसा बटोरने की सूझ-सूझती है और ऐसे प्रपंच रचे जाने लगते हैं, जिनमें लोगों के समय, धन और विवेक की बर्बादी होने लगे । वैराग्य तो लिप्साओं से होना चाहिए न कि कर्त्तव्य से ? वैरागी को लोकसेवी होना चाहिए, न कि भारभूत जीवनचर्या अपनाकर प्रपंच गढ़ना और जनसाधारण को भ्रमित करना ।

बुद्धि क्षेत्र से परे अपरोक्षानुभूति

वेदान्त दर्शन में भारतीय तत्त्व-चिन्तन का सार निहित है । इसमें आस्तिकता का समर्थन व प्रतिपादन है । तत्त्व-चिन्तन की इस धारा में स्पष्ट किया गया है कि एक ऐसा परमतत्त्व विश्वचेतना जो सबकी नियामक एकमेवाद्वितीय सर्वत्र परिव्याप्त है । सृष्टि के कण-कण, विश्व-ब्रह्माण्ड के प्रत्येक घटक में समाई हुई है । सम्पूर्ण विश्व उसी की अभिव्यक्ति है । इसी सत्ता को वेदान्त पूर्णब्रह्म कहकर सम्बोधित करता है, पर नाम के प्रति उसका कोई संकीर्ण भाव नहीं । क्योंकि परमसत्ता नाम और रूप से परे है । यह बताते हुए ही "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" के सूत्र को प्रतिपादित किया गया है । विभिन्न मतावलम्बी उसे भिन्न-भिन्न नामों से जानते हैं । ईसाइयों का गॉड, मुसलमानों का अल्लाह या खुदा, यहूदियों का जेहोवा, ताओवादियों का ताओ, पारसियों का आहुरमज्द । इसी दिव्य सत्ता के भिन्न-भिन्न प्रतीकात्मक नाम हैं । आधुनिक चिन्तकों जैसे प्लेटो का शुभ, स्पिनोजा का सबस्टेशिया , काण्ट का डिंग एन सिच, हरबर्ट स्पेन्सर का 'अननोएबल' शोपनेहावर का विल, हमर्सन का 'ओवरसोल' इसी विश्व चेतना के भिन्न-भिन्न पर्याय हैं ।

वेदान्त ने इसी परम-सत्ता को सद, चित्, आनन्द कहकर भी इंगित किया है । जिसका तात्पर्य है-यथार्थता ज्ञान और स्वतंत्रता (आनन्द) । यह आध्यात्मिक अनुभव के तीन रूप हैं । यह दार्शनिक प्रतिपादन कि "प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है" "जीवन का उद्देश्य इस अव्यक्तता को व्यक्त करना तथा दिव्य जीवन की प्राप्ति ही है" का सन्देश देता है ।

यह सत्य क्या है ? यथार्थता-वास्तविकता क्या है ? इसकी जानकारी तो परमज्ञान की प्राप्ति से ही होती है । इसी से सतरूप अर्थात् अपने दिव्य स्वरूप का बोध होता है । इस सत्स्वरूप को जानकर-यथार्थता से अवगत होकर ही सच्चे आनन्द की प्राप्ति होना सम्भव है ।

पर यह ज्ञान है क्या ? हम नित्य बड़ी-बड़ी पोथियाँ पढ़ते हैं, मोटे-मोटे ग्रन्थों को तोते की तरह रटते और अनेकानेक ग्रन्थालयों के चक्कर काटते हैं । सारे जीवन नानाविधि परीक्षाएँ पास करते, ढेर की ढेर उपाधियाँ बटोरते रहते हैं । फिर भी अपने स्वरूप से, परमसत्य से अनभिज्ञ ही रहते हैं और जिन्दगी के सुनिश्चित बँधे बँधाये क्षण बीत जाते हैं । हमारा सारा का सारा अस्तित्व काल-कवलित हो जाता है । समयानुसार फिर पैदा होते और पुनः उसी शृंखला का प्रारम्भ हो जाता है । यदि सचमुच ज्ञान की प्राप्ति होती तो अपनी दिव्यता का मान भी होता और आनन्दामृत की प्राप्ति भी, पर ऐसा कुछ नहीं होता उल्टे दुःख, निराशा के चक्कर में रोते-झींकते सारा का सारा जीवन बीत जाता है । "पुनरपि जननं पुनरपि मरणं" से छुटकारा नहीं । ऋषि के कथन से स्पष्ट है कि पी० एच० डी०, डी० लिट्, एफ० आर० सी० एस० जैसी उपाधियाँ अर्जित करना ज्ञान की प्राप्ति की द्योतक नहीं । इससे तो यही स्पष्ट होता है कि अमुक व्यक्ति ने सापेक्षिकता संसार में ढेर की ढेर जानकारियाँ इकट्ठी करली हैं और उसके बलबूते नाना उपाधियों से अलंकरण और यश कीर्ति की प्राप्ति हुई है, पर इसमें कुछ भी ऐसा नहीं जिससे निरपेक्ष सत्ता का बोध हो सके, सही माने में सत्य की प्राप्ति सम्भव हो सके ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

वस्तुतः ज्ञान दो प्रकार का होता है, एक है निरपेक्ष ज्ञान-जिसका प्रतिपादन भारतीय ऋषियों तथा अंकोरवाट या क्योतो के सन्तों ने किया है । दूसरा है सापेक्ष ज्ञान-जिसे आक्सफोर्ड, बर्कले के प्रोफेसर और दुनिया भर के शिक्षाविद् कहते हैं ।

ज्ञान के यह दो विभेद हैं, जिन्हें मानव-मन ग्रहण करता है । इन विभेदों को दूसरे शब्दों में वो तर्क प्रधान (रेशनल) तथा अन्तर्ज्ञान (इन्ट्यूशन) कह सकते हैं । पश्चिमी जगत ने तथा नास्तिक मतवादियों ने इस अन्तर्ज्ञान की उपेक्षा-अवहेलना ही की है, जबकि पूर्वी जगत विशेषतया आर्यावर्त्त के ऋषि-मुनि कहे जाने वाले शोधकर्त्ता, मनीषी, चिन्तकों ने हजारों वर्षों पहले इसी अन्तर्ज्ञान के बलबूते चेतना जगत की जानकारी हासिल की और परमसत्य की खोज करने में कामयाब हो सके । परम सत्य की प्राप्ति गूँगे के गुड़ की तरह से है, जिसकी मिठास अनुभव तो की जा सकती है, पर इसकी व्याख्या-विवेचना करना असम्भव है । इसीलिए सन्त सुकरात ने कहा "मैं जानता हूँ पर कह नहीं सकता ।" चीनी संत लाओत्जू का कहना कि "नहीं बता सकता, इसका तात्पर्य यह है कि मैंने ज्ञान पाया है ।" वेदान्त दर्शन भी इसी परम ज्ञान के विषय में नेति-नेति कहकर चुप्पी साध लेता है । हाँ ! इस परमतत्त्व की प्राप्ति के उपायों के बारे में संकेत मात्र किए गए हैं और इसी की विशद् व्याख्या भी हुई है । परमहंस श्री रामकृष्ण कहा करते थे कि परमतत्त्व को मुख से उच्चारित-विश्लेषित करना असम्भव है । ज्ञान स्वरूप परमात्मा मुख से उच्चारित नहीं हुआ, इसलिए झूठा नहीं हुआ है, जबकि शास्त्र बार-बार दुहराये जाने के कारण झूठे हो गए हैं । उपनिषदों में इसी को उच्च ज्ञान और निम्न ज्ञान भी कहा गया है । इसे अपरोक्ष ज्ञान अर्थात् ज्ञान स्वरूप ईश्वर की प्राप्ति का अनुभव जो अनुच्चरित-अविश्लेषित है तथा परोक्ष ज्ञान अर्थात् इस निरपेक्ष ज्ञान की प्राप्ति के संकेत और उसकी व्याख्या । बौद्धों ने इसे अपनी भाषा में पहले को पूर्ण ज्ञान-दूसरे को सापेक्ष ज्ञान भी कहा है । चीनी दर्शन ने इसी बौद्धिक और अर्न्तज्ञान को यिन और याँग रूप में मान्यता दी है । ताओइज्म व कन्फ्यूशिज्म भी इसका समर्थन करते हैं ।

बौद्धिक या सापेक्ष ज्ञान वह है जो आस-पास के वातावरण में विभिन्न पदार्थों तथा होने वाली घटनाओं के बारे में इन्द्रियों द्वारा होने वाले अनुभवों के माध्यम से पाया जाता है । इसकी परिधि बुद्धि तक सीमित है । सामान्यतया इसी ज्ञान को संसार में विविध भाषाओं, अक्षरों, वाक्यों के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है ।

दूसरे शब्दों में सापेक्षिक ज्ञान सीमा बन्धन वाले दृश्य जगत का ही ज्ञान है । विज्ञान अभी इसी तक सीमित है । विख्यात भौतिकीविद् वार्नर हेसेनबर्ग ने अपनी पुस्तक 'फिजिक्स एण्ड फिलासफी' में इस सीमा को स्वीकारते हुए कहा है कि विज्ञान रूपी विधा एक सीमा तक ही उपयोगी है । यह सीमा है सापेक्षिता ।

सापेक्षिता की सीमाबद्धता क्या है ? इसे जानना हम सभी के लिए कठिन तो अवश्य है । कारण कि हम सापेक्ष और निरपेक्ष में विभेद नहीं जानते अथवा कर नहीं पाते। वेदान्त दर्शन के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि पूर्वकाल के ऋषियों ने इसी निरपेक्ष तत्त्व को जाना था । उससे एकत्त्व प्राप्त किया था तथा इस विभेद की कठोपनिषद् में श्रेयस और प्रेयस के नाम से विशद् व्याख्या भी की है । साथ ही सापेक्षता के भ्रमजाल से उबरने का सन्देश भी दिया है । बौद्धों ने 'जैन' सम्प्रदाय तथा ताओवादी सन्त चुआंगत्सू ने भी इसका समर्थन किया है ।

पर ये दार्शनिक व्याख्याएँ हमारे लिए उपयोगी तभी हैं, जब हम इनकी धारणा करें और व्यावहारिक जीवन में लाएँ अन्यथा शब्दजाल तो सापेक्षिता की सीमा में ही आता है । उससे निरपेक्ष तत्त्व की अनुभूति होना असम्भव है । पश्चिम जगत मूर्धन्य में तत्त्ववेत्ता कोर्जीत्सकी ने इसी को पुष्ट करते हुए कहा है कि "नक्शा भूमि अथवा विजय नहीं है ।" कठोपनिषद् का ऋषि स्पष्ट उद्घोष करता हुआ कहता है-

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं
तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं
निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते॥ (३-१५)

अर्थात्-परमात्मा, प्राकृत, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से परे है । इन्द्रियों की पहुँच उस तक नहीं है । वे नित्य अविनाशी असीम हैं । इसी ज्ञान स्वरूप परम तत्त्व को जानकर मनुष्य सदा के लिए भ्रममुक्त (जन्म मरण के बन्धन से मुक्त) हो पाता है ।

परमहंस रामकृष्ण ने इसी को और अधिक सरल सुस्पष्ट करते हुए बताया है कि शास्त्र की आवश्यकता तो निर्देशन भर के लिये है । परम तत्त्व की प्राप्ति तो व्यावहारिक जीवन में उन निर्देशों को उतारने से ही पूरी होगी । जैसे किसी के यहाँ उसके गाँव से पत्र आए कि चार किलो मिठाई, एक धोती, तीन लोटे लेकर आ जाय। अब उसका कार्य यह है कि बाजार जाकर इन सब चीजों को खरीदे । तत्पश्चात् घर जाय और सामान पहुँचाए । तभी प्रयोजन की पूर्ति होगी । यदि वह मात्र पत्र पढ़ता रहे याद कर डाले उस पर बहस करे तो क्या फायदा ?

पत्र पढ़ना है-परोक्ष ज्ञान और सामान पहुँचाना अपरोक्ष ज्ञान । इस अपरोक्ष ज्ञान को पूर्णज्ञान या निरपेक्ष ज्ञान भी कहा गया है । मनीषियों का कहना है कि ज्ञान तर्क से परे है । इसी से आचार्य शंकर "**शब्द जालं महारण्यं चित्त विभ्रम कारणम्** ।" अर्थात् तर्कों की लच्छेदार भाषा चित्तविभ्रम के कारण के अलावा और कुछ नहीं है । इसी कारण-ब्रह्म सूत्र के सूत्रकार महर्षि व्यास ने 'तर्क प्रतिष्ठानात्' का सूत्र प्रतिपादित किया है । जान स्टुअर्ट

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

मिल ने भी यही स्पष्ट किया है कि ज्ञान का साम्राज्य तर्क से परे है। क्योंकि वह परम ज्ञान तर्क के लिए लालायित रहने वाली बुद्धि के क्षेत्र से परे है ।

इसी परमज्ञान को लोओत्जू ताओ कहते हैं और उपर्युक्त तथ्य को ताओतेजिंग नामक ग्रन्थ में स्पष्ट करते हैं कि ताओ शब्द से ताओ की अभिव्यक्ति नहीं होती यह तो शब्द, मन, वाणी, बुद्धि के क्षेत्र से परे अनुभूतिगम्य है ।

इस प्रकार यह दिव्यज्ञान पूरी तरह से बुद्धि के क्षेत्र से परे अपरोक्षानुभूति है । एक ऐसी अनुभूति जो असामान्य स्थिति के चेतनास्तर में होती है । इस स्थिति को समाधि की स्थिति भी कहा जा सकता है । इसी स्थिति में प्राप्त दिव्यज्ञान के बारे में अनेकों पूर्वी व पश्चिमी गुह्यवादियों ने अपने अनुभव के आधार पर संकेत किए हैं । आधुनिक शोधकर्त्ताओं ने भी इसे माना है । विख्यात मनीषी विलियम जेम्स ने अपनी पुस्तक 'दि वैरायटी ऑफ रिलीजियस एक्सपीरियेन्सेज' में सुस्पष्ट किया है कि हमारी सामान्य जाग्रत चेतना स्थिति जिसे बौद्धिक चेतना कहते हैं, से परे एक विशेष चेतना की स्थिति होती है, जो इससे पृथक् है । वहाँ अव्यक्त रूप से बिल्कुल अलग प्रकार की दिव्य चेतना होती है । चेतना के इसी क्षेत्र में परमज्ञान की उपलब्धि सम्भव हो पाती है ।

इसी परमज्ञान को-निरपेक्ष ब्रह्म को प्राप्त कर ऋषि मनीषी, ज्ञानी भ्रमजाल से परे होकर विश्व-उद्यान में जीवन्मुक्त हो विहार करते हैं और परमपिता की इस वाटिका को सुरम्य बनाने में हाथ बँटाते हैं । वेदान्त ज्ञान की यह सर्वोपरि उपलब्धि है ।

अमृत और उसकी प्राप्ति

मृत्यु इस संसार में किसी भी जीव को शायद जितना दुःख देती है उतना अन्य कोई वस्तु नहीं । धन और साधन सम्पन्न मनुष्य, नाग, यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, भूत और बैताल तक मृत्यु की कल्पना से काँपते पाये जाते हैं । युग के युग बीते, असंख्यों व्यक्तियों ने असंख्यों तरीकों से अनुसन्धान किये पर इस समस्या का कोई समाधान न निकला । जन्म लेने वाले जीव को मृत्यु से कदापि न बचाया जा सका । आधुनिक विज्ञान का आविर्भाव भी इसी परिकल्पना पर आधारित है । विज्ञान के समुद्र मंथन से अनेक प्रकार के तत्त्व रत्न और विविध आश्चर्य आविष्कृत हुये, किन्तु अमृतत्त्व की कहीं से भी उपलब्धि न हो सकी । मृत्यु से छुटकारा पाने का कोई स्थूल साधन आज तक न ढूँढ़ा जा सका । इस दुःख से जीव को किसी भाँति उन्मुक्त न किया जा सका ।

तो भी संसार के प्रत्येक धर्म ने एक ऐसे तत्त्व की बात स्वीकार की है जिसे पाकर मनुष्य अमृत-पद पा लेता है, उसे मृत्यु के भय से छुटकारा मिल जाता है । ऋषियों ने अमृत तत्त्व को एक दैवी पेय पदार्थ के रूप में माना है । पौराणिक कथा, कहानियों और उद्धरणों के अतिरिक्त वेद और उपनिषदों में भी कई स्थानों में 'अमृत' शब्द प्रयुक्त हुआ है । ऐसे सभी स्थल यह व्यक्त करते हैं कि अमृत कोई ऐसा तत्त्व है जिसके द्वारा मृत्यु से छुटकारा मिल सकता है । अमृत पान करने की वस्तु है या कोई आध्यात्मिक तत्त्व है तथा उसके पान करने से मृत्यु से छुटकारा मिल जाता है या नहीं, यह यहाँ विवेचना का विषय है ।

पुराणों में एक कथा आती है-एक बार देवताओं तथा असुरों ने समुद्र का मन्थन किया । इस मन्थन से जो चौदह रत्न मिले अमृत भी उनमें एक था । बाद में देवताओं ने उसे पान किया और वे अमर हो गये ।

समुद्र का मन्थन किया जाना और उससे कोई अमृत जैसा दृश्य पेय प्राप्त किया जाना-यह बात कुछ अजीब-सी लगती है । इतने बड़े समुद्र को मथा जाना ही असम्भव लगता है फिर उससे जो चौदह रत्न प्राप्त हुए वह भी ऐसे हैं जिन पर कोई सहस विश्वास नहीं होता । पर उक्त पौराणिक आख्यानों की गहराई में प्रवेश किया जाय तो मालूम पड़ता है कि इन कथानकों के द्वारा शास्त्रकारों ने सूक्ष्म आध्यात्मिक तत्त्वों का आलंकारिक विश्लेषण किया है । अमृत को जिस रूप में पुराणों में वर्णित किया गया है वह उस तत्त्व का केवल कवित्वमय चित्रण है, पर उसमें जो जीवनदर्शन सन्निहित है वह अवश्य ही बहुत महत्वपूर्ण है । इस आलंकारिक विवेचना की वास्तविकता को जानने के लिये उपनिषदों का अध्ययन आवश्यक है । अमृत की व्याख्या उपनिषदों में जिस रूप में की गई है भारतीय संस्कृति का निरूपण उसी को आधार मान कर किया गया है ।

अमृतत्त्व अध्यात्म-धर्म का प्रमुख आधार है और उसी की प्राप्ति को मनुष्य जीवन का लक्ष्य भी बताया गया है, किन्तु वह किसी तरल पेय पदार्थ के रूप में नहीं है, वरन् विशुद्ध आध्यात्मिक तत्त्व के रूप में हुआ है जिसका अवगाहन कर मनुष्य का स्थूल शरीर भले ही अमर न होता हो किन्तु यह निश्चित है कि वह जिस उद्देश्य को लेकर धरातल में अवतरित होता है, उसे अवश्य पूर्ण कर लेता है । इसे ही आत्म-कल्याण, स्वर्ग या मुक्ति की, परमानन्द की प्राप्ति कह सकते हैं । जिस तत्त्व को प्राप्त कर जीव शाश्वत् सुख में लीन हो जाता है उसे ही अमृत-तत्त्व के नाम से पुकारा जाता है ।

वह तत्त्व क्या है-कठोपनिषद् में इसकी व्याख्या की गई है । शास्त्रकार ने यम के मुख से नचिकेता के लिए जो उपदेश कराया है-उसमें कहा है-

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।।

-२/२/८

अर्थात्-यह परमात्मा ही प्रलयकाल में भी जाग्रत रहता है । जीव के लिए कर्मानुसार भोग का निर्माण करने वाला भी वही है । वह शुक्र है, वह ब्रह्म है उसे ही अमृत के नाम से पुकारा जाता है ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

इस श्लोक से यह सिद्ध होता है कि परमात्मा ही वह अविनाशी तत्त्व है जिसे प्राप्त करने से मनुष्य जीवन का उद्देश्य पूरा किया जा सकता है ।

मुण्डकोपनिषद् में इसे और भी स्पष्ट करते हुए बताया है-

यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु च
यस्मिँल्लोकानिहितालोकिनश्च ।
तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः
तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्य विद्धि ।। -२/२/२

अर्थात्-हे सौम्य ! तू उस बेधने के योग्य लक्ष्य को बेध डाल, जो तेजस्वी सूक्ष्मातिसूक्ष्म और लोकों में निवास करने वाले प्राणियों का आश्रय है, वही अविनाशी ब्रह्म है, वही मन, वाणी, प्राण, सत्य और अमरत्व से युक्त है ।''

यहाँ परमात्मा के 'अमृत-तत्त्व' होने की बात को पुष्ट करते हुए शास्त्रकार ने यह भी सिद्ध किया है कि वह प्राण है, सत्य है, मन और वाणी है । इन सन्दर्भों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह मनुष्य के भौतिक स्वरूप को अमृत नहीं करता वरन् जीवात्मा की स्थिति को इतना ऊँचे उठा देता है कि जीव का हलकापन नष्ट हो जाता है और उसे अपने आनन्दमय, अविनाशी स्वरूप का बोध हो जाता है । उपर्युक्त सूक्त में शास्त्रकार ने आदेश दिया है कि यदि तुम उस अमरत्व को प्राप्त करना चाहते हो तो हे सौम्य ! उस परमात्मा की ही शरणागति प्राप्त करो ।

ब्रह्मामृत की उपलब्धि के साधन पर प्रकाश डालते हुये केनोपनिषद् में विवेचन किया है-

आत्मना विन्दते वीर्य, विद्यया विन्दतेऽमृतम् ।

-२/१/४

अर्थात्-''परमात्मा से प्रकट हुआ ज्ञान ही यथार्थ है, क्योंकि इसके द्वारा ही अमृतत्त्व की प्राप्ति होती है । आत्मा से परमात्मा को जानने की प्रेरणा प्राप्त होती है और ज्ञान से अमृत स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है ।''

हमारे महापुरुष सदैव इस बात पर जोर देते आये हैं कि मनुष्य ज्ञानवान् बने । विद्या को मनुष्य का आभूषण बताया और कहा कि ज्ञान ही तुम्हें बन्धन से मुक्त करेगा और अमृतत्त्व प्रदान करेगा पर उन्होंने यह बात भी स्पष्ट कर दी कि यह विद्या लौकिक नहीं हो सकती । यथार्थ विद्या ब्रह्म विद्या है । उसका मनन करने से आत्मा के रहस्य ज्ञात होते हैं, वास्तविक रूप का ज्ञान होता है और यह ज्ञान ही मनुष्य को सृष्टि के आदिकारण परमात्मा को जानने की प्रेरणा प्रदान करता है ।

विद्या के विशुद्ध ग्रहणीय स्वरूप का और भी विवेचन ईशोपनिषद् में हुआ है-

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदो भयं स ह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृऽतमश्नुते ।।

-११ वाँ मन्त्र

अर्थात्-''जो मनुष्य विद्या रूप ज्ञान तत्त्व और अविद्या रूप कर्म तत्व को साथ ही साथ जान लेता है, वह कर्मों के अनुष्ठान से मृत्यु को पार कर ज्ञान के अनुष्ठान से अमृतत्व का उपभोग करता है ।''

उपनिषद् के यह सभी प्रकरण अमृत-तत्त्व के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं पर साथ ही मनुष्य को भूल न होने देने के लिये भी आगाह कर देते हैं । अमृत मौलिक अर्थ में मृत्यु से छुड़ाने वाला पदार्थ है, पर मृत्यु को आध्यात्मिक रूप में शरीर का बारम्बार विनाश मानकर जीव के अज्ञान को मानना पड़ेगा । क्योंकि जब तक अज्ञान रहता है तब तक मनुष्य के सारे क्रिया-कलाप स्थूल भोगों तक ही सीमित रहते हैं । विषयभोगों के प्रति आसक्ति मनुष्य से पाप कराती है और वह बार-बार कर्मानुसार मृत्यु पाता है, पुनर्जन्म लेता है । जब तक यह स्थिति चलती रहती है, तब तक उसके दुःख नष्ट नहीं होते ।

धर्म-धारणा द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार

ईश्वर के सत्स्वरूप का साक्षात्कार अथवा स्पष्टीकरण ही धर्म का प्रधान उद्देश्य है । इस रहस्यपूर्ण सृष्टि से विस्मित होकर मनुष्य को उसके रचयिता ईश के रहस्य को जानने की जिज्ञासा सृष्टि के आरम्भ से ही रही है । प्रभु का साक्षात्कार करने तथा उसके सत्स्वरूप को समझने का प्रयत्न प्रत्येक युग में, प्रत्येक स्थान पर थोड़ा बहुत हुआ है, लेकिन भारतीय ऋषियों ने इस ओर जितना प्रयत्न किया है उतना अन्यत्र नहीं मिलता । पग-पग पर उसकी असीम-सत्ता का अनुभव करके वे इस परिणाम पर पहुँचे कि पत्ती-पत्ती में, अणु-परमाणु में और प्रत्येक जीवधारी के व्यक्तित्व के विकास में वही सत् स्वरूप समाया हुआ है ।

जीवन के सभी क्षेत्रों में विकास का एक ही प्राकृतिक नियम कार्य करता है । जिस प्रकार शिक्षा के क्षेत्र में विद्यार्थी एक श्रेणी से उत्तीर्ण होकर दूसरी श्रेणी में चढ़ता है, ठीक उसी प्रकार आध्यात्मिक उन्नति के लिये मनुष्य को धर्म की सीढ़ियाँ पार करनी पड़ती हैं । धर्म की ये सीढ़ियाँ गृह-धर्म, कुल-धर्म, समाज-धर्म देश-धर्म और विश्व-धर्म या पूर्ण-धर्म हैं ।

ईश्वर के सत् स्वरूप का साक्षात्कार परिवार तथा समाज के छोटे क्षेत्र से लेकर समस्त भूमंडल में किया जाता है । देखिये ! जब परिवार का कोई बच्चा बीमार पड़ जाता है तो गृहस्वामी और गृहस्वामिनी पूजा, अर्चना, प्रार्थना, वंदना और उसके उपचार में रात-दिन एक कर देते हैं । बच्चे के स्वस्थ होने पर वे ईश्वर को कोटि-कोटि धन्यवाद देते हैं और ईश्वर में उनका विश्वास एवं श्रद्धा बढ़ती है । समाज-प्रेमी समाज के किसी अंग को सड़ा हुआ देखकर दुःख से व्याकुल हो जाता है और तुरन्त उसके उपचार में लग जाता है । विधवाओं की दशा को देखकर उसका मन रो पड़ता है । यही कारण था कि राजाराममोहन राय ने एक विधवा को चिता में जलते हुए देखकर सतीप्रथा बन्द करने का बीड़ा उठाया । स्त्रियों की

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

अज्ञानता से ऋषि दयानन्द के मन पर चोट लगी और उन्होंने नारी जाति के उद्धार के लिये कन्या गुरुकुल खुलवाकर उन्हें शिक्षित बनाया । आधुनिक शिक्षित नारी उन्हीं के प्रयत्न का फल है । हरिजनों की शोचनीय दशा ने गाँधीजी को व्याकुल कर दिया और समाज के इस अंग को सड़ने से बचाने के लिये उन्होंने हरिजनोद्धार में अपने जीवन का अधिकांश भाग लगाया उसी के फलस्वरूप आज हरिजन प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति कर रहे हैं ।

मनुष्य के जीवन का जितना विकास होता है, सृष्टि के साथ उसका जितना सम्बन्ध होता है, उतने ही क्षेत्र के भीतर वह ईश्वर का साक्षात्कार करता है । समाज-प्रेमी सत् का साक्षात्कार समाज की रक्षा और उसके सुख में करता है । समाज के प्रत्येक मनुष्य के साथ सम्बन्ध न होने पर भी उसकी सहानुभूति समाज के छोटे-बड़े सभी प्राणियों के साथ होती है । वह प्रत्येक व्यक्ति के भीतर सत् का प्रकाश देखता है । इसी प्रकार देश-धर्म का पालक देश के शासन प्रबन्ध की प्रत्येक बुराई को दूर करना अपना कर्त्तव्य समझता है । राष्ट्र को समुन्नत बनाने तथा उसकी रक्षा करने में उसको ईश्वरानुभूति होती है । देश-प्रेमी देशवासियों को अपने सम्बन्धी जैसा समझता है। डा० खान अब्दुल गफ्फारखाँ हजारा की घटनाओं से प्रभावित होकर वहाँ क्यों पहुँचे थे ? बिहार की भयानक दशा से पं. जवाहरलाल नेहरू अधीर क्यों हो उठे ! यह हाथों में शासन सत्ता होने की बात नहीं, हृदय में पीड़ा अनुभव करने की बात है । बंगाल में जब शरणार्थियों की सेवा के लिये अपील हुई तो वे ही स्त्री-पुरुष प्राणों का मोह छोड़कर आगे आये जिन्होंने देश-प्रेम को हृदय में उमड़ता पाया । देश के बच्चे-बच्चे में ईश की विभूति एवं सत्ता दृष्टि आयी । सारांश यह कि जब मनुष्य शनैः-शनैः जीवन पुष्प को विकसित करता है तो उसकी ईश्वरानुभूति का क्षेत्र भी विस्तृत होता जाता है । वह परिवार, समाज और देश जैसे सीमित क्षेत्र से निकल कर समस्त भूमंण्डल में ईश्वर का साक्षात्कार करता है । वह विश्व के कल्याण, रक्षा, समृद्धि तथा सुख की अभिलाषा करता है । ईसा, बुद्ध और गाँधी ऐसे ही महान् पुरुषों में से थे जो विश्व को सुखी देखकर सन्तुष्ट होते थे और उसकी हीनदशा से दुःखित विश्व का बच्चा-बच्चा उनकी सहानुभूति प्राप्त करता था । उन्होंने विश्व के प्रत्येक प्राणी की अंतरात्मा में ईश्वर की सच्ची प्रतिमा देखी ।

मनुष्य सत् का जितना साक्षात्कार करता है, उतना ही वह धर्म को समझता है । एक ओर ईश्वर में उसका प्रेम, विश्वास, श्रद्धा और भक्ति बढ़ती है, तो दूसरी ओर प्राणी मात्र के लिये उसका प्रेम, सहानुभूति और कष्ट निर्धारण का क्षेत्र विस्तृत होता है । मनुष्य जीवन का अन्तिम लक्ष्य व्यक्तित्व का पूर्ण विकास है, जिसको प्राप्त करने पर विश्व के उसके हृदय का तादात्म्य हो जाता है । उसका व्यक्तित्व विश्व के व्यक्तित्व में मिल जाता है । मानव समाज से पृथक् उसका कोई अस्तित्व नहीं रहता । विश्व की आत्मा उसकी आत्मा हो जाती है । उसे कोई स्थान ईश्वर से रिक्त दृष्टि नहीं आता । उस अवस्था में मनुष्य सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है । इसी को भारतीय धर्म-ग्रन्थों में मुक्तावस्था कहा गया है । आज महात्मा गाँधी विश्व के हृदय में गहरे क्यों पैठ गये हैं ? चारों दिशाओं में उनकी आवाज क्यों गूँज रही है ? प्रत्येक प्राणी की जिह्वा पर उनकी है चर्चा क्यों ? इसलिये कि वह अपने व्यक्तित्व को मिलाकर सब को उसका थोड़ा-थोड़ा अंश दे गये अथवा सबको अपने आप में लय कर गये । वृहदाराण्यक उपनिषद् में 'आत्मलय' करने को जीवन का मुख्य लक्षण बतलाया गया है, जिसे साम अर्थात् अपने समान बना लेना कहते हैं । अखिल विश्व के बीच जब मनुष्य का चित-सत् का साक्षात्कार करता है, तभी वह सच्चिदानन्द भगवान् को समझता और प्रतिपल उसकी समीपता का अनुभव करता है । उस समय उसको सच्चे आनन्द की प्राप्ति होती है ।

प्रेम, श्रद्धा, भक्ति और सहानुभूति धर्म के अंग हैं । हृदय का विकास होने पर प्राणी भगवान् के प्रेममय स्वरूप को समझकर चराचर जगत को प्रेममय देखता है । श्रद्धा, भक्ति, सहानुभूति आदि गुण उसके हृदय में स्वभावतः उद्दीप्त होते हैं । ईसा, बुद्ध और गाँधी के जीवन पर दृष्टि डालने से यह बात स्पष्ट हो जाती है । ईश्वर के साथ हमारा जितना सम्बन्ध होगा हमारे धर्म और प्रेम की परिधि भी उतनी ही विस्तृत होगी । हम ईश्वर से जितना प्राप्त करते हैं उतना ही प्राणियों को दे सकते हैं । ईश्वरभक्त सबको अपने में और अपने को सब में देखने लगता है । यही आत्मा को पहचानना या आत्मसाक्षात्कार है ।

स्वर्ग की प्राप्ति और बन्धन मुक्ति

कहा जाता है कि देवता स्वर्ग में रहते हैं और यज्ञकर्त्ताओं को सीधे स्वर्ग ले जाते हैं । शास्त्रों में ऐसी अनेक कथाएँ आती हैं, जिनमें यज्ञ का माहात्म्य बताया गया है । यज्ञ करने वाले नहुष आदि सशरीर स्वर्ग को गये थे । स्वर्ग किसी लोक विशेष को समझा जाता है, किन्तु खोज कर्त्तागण सौरमण्डल के अन्तर्गत कोई ग्रह-उपग्रह ऐसा नहीं खोज पाए हैं, जिसमें स्वर्ग जैसी परिस्थितियाँ हों और मण्डल के बाहर ऐसे किसी ग्रह-नक्षत्र की आशा नहीं है जिनमें स्वर्ग या जन्नत जैसा कुछ हो । तो क्या स्वर्ग जाना, यज्ञ का प्रतिफल इस रूप में मिलना कपोल-कल्पित है ? वस्तुतः स्वर्ग उच्चस्तरीय दृष्टिकोण का नाम है, जिसके उपलब्ध होने से यह समस्त विश्व का भगवान का, विराट् स्वरूप दिखाई देता है और उसके बीच रहते हुए

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

प्रसन्नता का अनुभव सदा बना रहता है । परब्रह्म के लोक में रहना-इस स्वर्गादपि गरीयसी धरती माता पर जन्म लेना किसी श्रेष्ठ सुख-सौभाग्य से कम नहीं है । फिर देव संस्कृति में आत्मा को परमात्मा का अंश माना गया है । इन परमात्मा के अंश को आकाशस्थ नक्षत्र-मण्डल की तरह दिवाली के दीपकों की तरह जाज्वल्यमान, शोभायमान समझा जा सकता है ।

हर मनुष्य में कुछ न कुछ सद्गुण पाये जाते हैं । उतने अंश पर ध्यान केन्द्रित किया जाय तो अपना लोक ही देवलोक जैसा आनन्ददायक प्रतीत हो सकता है । उद्यान में पुष्प भी रहते हैं और खाद-कूड़े की गंदगी भी । भौंरे, तितली, मधुमक्खियाँ केवल पुष्प ही देख पाती हैं, किन्तु गुबरीले कीड़े को वहाँ भी खाद-गोबर ही दिखाई पड़ता है । वह कथा प्रसिद्ध है कि जिसमें गुरु ने दुर्योधन और युधिष्ठर को एक ही गाँव के लोगों का गुण-दोष ढूँढ़कर लाने को भेजा था । युधिष्ठर को सब सज्जन ही मिले और दुर्योधन को सभी में बुराइयाँ दिखाई पड़ीं । यह अपने दृष्टिकोण का अन्तर है । भूले -भटके, पापी, दुरात्माओं को अपनी सेवा का माध्यम माना जा सकता है और उनके सहारे अपनी सेवा तथा सुधारवृत्ति को विकसित किया जा सकता है । बुरों की तुलना में ही अच्छे की कदर होती है । यदि सभी अच्छे होते तो सुधारने और संघर्ष करने का अवसर ही न मिलता । दुनिया नीरस और हलचलविहीन हो जाती , किन्तु ऐसा नहीं हुआ । दुनिया विविधता से भरी-पूरी है । यहाँ अच्छे-बुरे सभी हैं, किन्तु बुरों का उसी प्रकार उपचार करना चाहिए, जिस प्रकार एक डॉक्टर रोग को मारता है और रोगी को बचा लेता है ।

स्वर्ग की भाँति मुक्ति की भी चर्चा होती है । मुक्ति अर्थात् भव-बन्धनों से छूटना । भव-बन्धन क्या है ? किसने मनुष्य को हथकड़ी-बेड़ी से जकड़ा है ? किसमें ईश्वर के अंश को बाँधने या विवश करने की सामर्थ्य है ? वस्तुत काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार जैसे दुर्गुण ही वे भव-बन्धन हैं जिनमें मनुष्य स्वयं बँधता है । नशे की तरह इनकी आदत डालता है, पर यदि वह चाहे तो उन्हें छोड़ भी सकता है । मकड़ी अपने लिए जाला स्वयं ही बुनती है और उसमें अज्ञानवश स्वयं बँध जाती है । जब उसे इस बात का ज्ञान होता है कि यह सारा प्रपंच मेरा ही बुना हुआ है और मुझमें वह सामर्थ्य है कि पहले की तरह फिर समेटकर पेट में निगल लूँ , तो वह फिर से नया कदम उठाती है और जाले को समेट कर उदरस्थ कर लेती है । स्वच्छंद विचरती है । यही मुक्ति है । यदि हम अपने दोष-दुर्गुणों भ्रमजंजालों को समेट लें और अपने को विश्व उद्यान का माली समझकर उसकी हरीतिमा तथा फल-फूल सम्पदा को देखते-चखते हुए आनन्द उठायें तो प्रतीत होगा कि यह धरती ऐसी गौरवमयी है कि उस पर जन्म लेने के लिए देवता तरसते हैं और भगवान् भाग-भाग कर यहाँ जन्म लेने के लिए आते हैं । यज्ञीय जीवन की यह शिक्षा है । यज्ञकर्त्ता उसके साथ जुड़े हुए उपरोक्त तत्त्वज्ञान को अपनाएँ तो उन्हें हर घड़ी, हर परिस्थिति में संतोष और उल्लास उपलब्ध हो सकता है यह है स्वर्ग और मुक्ति जो मनुष्य के पूरी तरह अपने हाथ में है ।

भौतिक ही नहीं, आत्मिक उन्नति का भी ध्यान रहे

मनुष्य का अस्तित्व स्थूल भौतिक पदार्थ एवं सूक्ष्म चेतना के संयोग से बना है । इसमें चेतना संचालक तत्त्व है और पदार्थ संचालित । इस दृष्टि से मानवी सन्तुलन के लिए चेतना पक्ष को स्थूल की अपेक्षा अधिक नहीं तो कम महत्त्व तो नहीं ही दिया जाना चाहिए । स्थूल आँख से दिखता है इसलिये उसे प्रधानता मिल जाती है । सूक्ष्म चेतना की उपेक्षा होने लगती है तो सन्तुलन बिगड़ जाता है और भौतिक समृद्धि बढ़ते हुए भी तरह-तरह की विकृतियाँ, कष्ट और कठिनाइयाँ पैदा होने लगती हैं । आज हर क्षेत्र में ऐसा ही हो रहा है । भौतिक प्रगति पिछले दिनों खूब हुई है, किन्तु उसके साथ सुख-सन्तोष की मात्रा नहीं बढ़ सकी । बल्कि कई बार यह सोचना पड़ जाता है कि कहीं प्रगति के नाम पर उल्टी दुर्गति तो नहीं हो रही है ?

यहाँ दोष भौतिक उन्नति को नहीं दिया जा रहा है और न उसे अनावश्यक सिद्ध किया जा रहा है । कहा यह जा रहा है कि उपार्जन एवं उपभोग का निर्धारण करने वाली अन्तःचेतना को विकसित, परिष्कृत करने का भी उतना ही ध्यान रखा जाय जितना भौतिक साधनों के अभिवर्द्धन पर ध्यान दिया जाता है । इस दिशा में उपेक्षा बरती जायेगी तो उससे सन्तुलन बिगड़ेगा और तथाकथित उन्नति परिणाम में अवनति का आधार बनेगी जैसा आज बनती दीख भी रही है ।

यह भली प्रकार समझा जाना चाहिए कि सर्वतोमुखी समग्र प्रगति का लाभ तभी उठाया जा सकेगा, जब वह भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही क्षेत्रों में समान रूप से चले । मोटर अच्छी होनी चाहिए और उसकी टंकी तेल से भरी रहनी चाहिए । किन्तु काम इतने से भी नहीं बनेगा, ड्राइवर की कुशलता और भी अधिक आवश्यक है। हाथी खरीद लेना ही पर्याप्त नहीं, सधा हुआ महावत भी चाहिए । कोई कारखाना कितना ही साधनसम्पन्न क्यों न हो, अनुभवी संचालक के अभाव में उसकी बर्बादी ही निश्चित है । आये दिन देखने को मिलता है कि पूर्वजों की छोड़ी हुई विपुल सम्पदा को अयोग्य उत्तराधिकारी कुछ ही दिन में स्वाहा कर देते हैं । सुन्दर स्वास्थ्य और प्रखर मस्तिष्क का दुरुपयोग करने वाले, अनपढ़ लोगों से भी अधिक दुर्गति सहते और संकट उत्पन्न करते हैं । अन्तः-चेतना के परिष्कार को, आत्मिक प्रगति को, भौतिक विकास और विस्तार से भी अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए और उसके लिए कम नहीं वरन् अधिक ही प्रयत्न किया जाना चाहिए ।

स्मरण रखा जाय मनुष्य शरीर मात्र नहीं है, उसका वास्तविक मूल्य चेतना के स्तर पर निर्भर है । इसलिए

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

शरीर की आवश्यकता पूरी कर सकने वाली साधन-सम्पत्ति की व्यवस्था बना लेने मात्र से तो अधूरापन ही बना रहेगा । पूर्णता तब आयेगी, सन्तुलन तब बनेगा जब योग्य साधनों की तरह उपभोक्ता की स्थिति भी सुविकसित स्तर की बन सके। एक पहिये की गाड़ी से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। एक पैर का लँगड़ा, एक हाथ का लूला, एक आँख का काना आदमी कुरूप ही लगेगा और अक्षम भी रहेगा । भौतिक उन्नति होती रहे, किन्तु आन्तरिक उत्कृष्टता न बढ़े तो बढ़ी हुई सम्पत्ति के दुरुपयोग से संकट ही बढ़ेगा और उसका दुष्परिणाम अभावग्रस्त स्थिति में भी महँगा पड़ेगा ।

विचारशील वर्ग का ध्यान इस तथ्य की ओर जाना चाहिए कि दरिद्रता, रुग्णता, अशिक्षा, असुविधा जैसे भौतिक पिछड़ेपन से जूझने की तरह चिन्तन की प्रतिगामिता से भी पीछा छुड़ाया जाना चाहिए । इस दिशा में भी उतने ही प्रबल प्रयत्न होने चाहिए, जितने कि भौतिक उन्नति के लिए हो रहे हैं ।

भौतिक उन्नति का उत्तरदायित्व कभी विभिन्न क्षेत्रों में बिखरा हुआ था, अब वह सिमटकर शासन-सत्ता में केन्द्रित हो गया है । शासन ही अपने क्षेत्र की आर्थिक प्रगति का सूत्र-संचालन करता है । यों होता तो जनसाधारण की श्रमनिष्ठा से ही है फिर भी उसका पथ-प्रशस्त करना सरकार के कन्धों पर चला गया है । युद्ध, प्रकृति-प्रकोप जैसी कोई दुर्घटनाएँ घटित न हों तो किसी देश की आर्थिक उन्नति का श्रेय वहाँ की सरकार को दिया जाता है और अवनति की स्थिति बनी रहे तो दोष भी उसी को दिया जाता है ।

आत्मिक प्रगति का उत्तरदायित्व दूसरे क्षेत्र का है, जिसे धर्म अथवा अध्यात्म कहते हैं । यह सब आस्थाओं पर आधारित है । सरकार आस्थाएँ उत्पन्न नहीं कर सकती । आर्थिक उन्नति, सुरक्षा व्यवस्था, शिक्षा प्रबन्ध जैसे कार्य कर सकना ही उसके साधनों की सीमा में आते हैं । इतना ठीक प्रकार बन पड़े तो वह भी कम नहीं । आत्मिक प्रगति चिन्तन की उत्कृष्टता, आस्थाओं में आदर्शवादिता जुड़ी होने पर ही होती है । यह कार्य बाहरी दबाव से नहीं हो सकता । शासन की प्रमुख शक्ति दबाव है । शिक्षण के सूत्र भी उसके हाथ में हैं, पर वे भौतिक जानकारियों एवं कर्तृत्व को दिशा भर दे सकते हैं। आस्थाएँ उत्पन्न करना तत्त्वदर्शन का काम है । श्रद्धा उसी से उत्पन्न होती है । कहना न होगा कि दृष्टिकोण का निर्धारण आस्थाओं पर अवलम्बित है और इन्हें श्रद्धा के आधार पर ही विनिर्मित किया जा सकता है । सरकारें जिस विद्या को अपनाकर चलती हैं, उसे कूटनीति कहते हैं । उसमें उद्देश्य भले ही ऊँचा रहे व्यवहार में साम, दाम, दण्ड, भेद जैसे उन साधनों को अपनाये जाने की छूट रहती है, जो सामान्य नैतिक आदर्शों से पूरी तरह तालमेल नहीं खाते ।

आस्थाओं का क्षेत्र राजनीति की पकड़ में पूरी तरह कभी आया भी नहीं है और कभी आ भी नहीं सकेगा । इसलिए धर्म-नीति और राजनीति को सदा एक-दूसरे से पृथक् रखा गया है । वे एक-दूसरे के पूरक रहे तो काम चल सकता है । जीवन दर्शन के प्रशिक्षण में एक भारी कठिनाई यह है कि उसे पुस्तकीय ढंग से पढ़ाया तो जा सकता है, किन्तु हृदयंगम तब तक नहीं कराया जा सकता, जब तक कि शिक्षक का अपना चरित्र ठीक उसी ढाँचे में ढला हुआ न हो । आदर्शवादी शिक्षण में छात्रों को सबसे बड़ा असमंजस तब पैदा होता है, जब शिक्षक स्वयं ही अपने प्रतिपादनों के विरुद्ध आचरण करते हैं । शिक्षार्थी यह सोचता है कि आदर्शवाद कहने-सुनने भर की वस्तु है, व्यवहार की नहीं । यदि वह व्यवहार की रही होती तो शिक्षक स्वयं क्यों नहीं उसे अपनी जीवनचर्या में सम्मिलित करता ?

जनसाधारण का आत्मिक स्तर ऊँचा उठाये रहना उस तत्त्वदर्शन का काम है जो श्रद्धा पर अवलम्बित है । उसे धर्म एवं अध्यात्म के नाम से जाना जाता है । इस सन्दर्भ की जानकारियाँ धर्मशास्त्र में मिल जाती हैं, पर उसे पढ़ने, सुनने भर से प्रयोजन पूरा नहीं होता । उसे हृदयंगम कराने के लिए ऐसे शिक्षक चाहिए जो प्रतिपादन को अपने व्यावहारिक जीवन में उतार कर यह सिद्ध कर सकें कि जो कहा जा रहा है वह अपनाये जाने योग्य भी है । संक्षेप में उत्कृष्ट आस्थाओं की स्थापना करने के लिए धर्मशास्त्रों के साथ-साथ उसके लिए कलेवरधारी नहीं, भीतर और बाहर से पूरी तरह खरे सिद्ध होने वाले प्रशिक्षणकर्त्ताओं की आवश्यकता होती है । शासन तन्त्र में भी तो यही होता है । साधनों के अतिरिक्त कुशल प्रशासक भी अपेक्षित रहते हैं । धर्मतन्त्र में धार्मिक क्रिया-कलाप ही नहीं ऐसे नहीं प्रशिक्षकों की भी आवश्यकता पड़ती है जो अपनी निजी जीवनचर्या से अनुकरणीय प्रेरणाएँ दे सकें ।

समग्रता धर्मतन्त्र और राजतन्त्र के समन्वय से

राजतन्त्र और धर्मतन्त्र दोनों मिलकर ही मनुष्य की समग्र आवश्यकताओं को पूरा करते हैं । भौतिक और आत्मिक तत्त्वों से ही मिलकर ही मानवी सत्ता बनती है । अस्तु उसे भौतिक सम्पदा भी चाहिए और आत्मिक विभूति भी । एकाकी प्रगति तो आत्मिक क्षेत्र की भी अपर्याप्त है । योगी और तपस्वी को भी शरीर निर्वाह के साधन चाहिए । इसी प्रकार सम्पन्न और समर्थ होते हुए भी यदि कोई मानसिक एवं आत्मिक दृष्टि से पिछड़ा रहेगा तो प्रचुर सम्पदा होते हुए भी उसका लाभ भी प्राप्त न कर सकेगा । समन्वय तो चाहिए ही । बात कार्यक्षेत्र की है । वैज्ञानिक एवं प्रशासकों के कार्य-क्षेत्र अलग-अलग होते हैं । धर्मतन्त्र और राजतन्त्र के क्षेत्र भी इसी प्रकार पृथक् रहकर ही एक-दूसरे के पूरक रह सकते हैं ।

राजतन्त्र का उत्तरदायित्व वहन करने वाले व्यक्तित्व दृष्टिकोण एवं साधन एक तरह के होते हैं और धर्मतन्त्र की

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

आवश्यकता पूरी करने के लिए भिन्न प्रकार की स्थिति चाहिए । राजतन्त्र अपने उत्तरदायित्व सँभाले और धर्मतन्त्र अपने । दोनों ही सम्मिलित कार्यपद्धति मानवी आवश्यकताओं की सर्वतोमुखी पूर्ति कर सकती है । दोनों को ही अपने-अपने क्षेत्रों में प्रखरता भरी भूमिका सम्पादित करनी चाहिए । तभी समग्र प्रगति का पथ-प्रशस्त हो सकेगा ।

खेद इस बात का है कि राजतन्त्र की भौतिक क्षमता सर्वसाधारण के आकर्षण का केन्द्र बनी हुई है । सुधार और प्रगति के विभिन्न प्रयोजन पूरे करने के लिए इसी क्षेत्र से अपेक्षा की जाती है । इसीलिए प्रतिभाशाली व्यक्ति उसी क्षेत्र में प्रवेश करने के लिए आतुर दीखते हैं और आगे बढ़ने के लिए आपस में धक्का-मुक्की करते हैं । धर्मतन्त्र की शक्ति समझी नहीं गई और उसकी आवश्यकता, उपयोगिता पर ध्यान नहीं दिया गया । उपेक्षित क्षेत्र में गन्दगी और कुरूपता का जमा होना स्वाभाविक है । आज हर किसी को धर्मक्षेत्र में प्रतिगामिता, आडम्बर और अवांछनीयता घुस पड़ने की शिकायत है । आमतौर से विचारशील लोग इसी कारण उसकी उपेक्षा करते और नाक-भौं सिकोड़ते पाये जाते हैं । यह उपेक्षा अनुचित है । सामर्थ्य और सम्भावनाओं की दृष्टि से धर्मतन्त्र की क्षमता राजतन्त्र से किसी भी प्रकार कम नहीं है । न उसकी उपयोगिता को ही झुठलाया जा सकता है । भौतिक प्रगति की सार्थकता आत्मिक प्रगति के बिना सम्भव नहीं । इसी प्रकार कोई राष्ट्र मात्र समर्थ सरकार के बल पर ही सच्चे अर्थों में सुविकसित नहीं हो सकता । इसके लिए उसके नागरिकों की चरित्रनिष्ठा अपेक्षित है और महामानवों का बाहुल्य भी होना चाहिए । राजतन्त्र अपने साधनों से भौतिक उन्नति के आधार खड़े करे साथ ही धर्मतन्त्र जनमानस से आदर्शवादी आस्थाएँ उत्पन्न करके नर-रत्नों का उत्पादन करे और सद्भाव, सहकार का वातावरण बनाये तभी उस उभयपक्षीय प्रगति से उज्ज्वल भविष्य की सम्भावना मूर्तिमान हो सकेगी । तभी प्रगति के लिए किये गये प्रयत्नों का सच्चा लाभ मिल सकेगा ।

राजतन्त्र को प्रखर बनाने और उसमें प्रवेश करने का उत्साह प्रबुद्ध वर्ग में पाया जाता है । यह उचित भी है और आवश्यक भी । किन्तु धर्मतन्त्र प्रतिभाविहीन लोगों के द्वारा उपेक्षित बना रहे और उस पर प्रतिगामी तत्त्वों का कब्जा बना रहे, यह स्थिति भी कष्टकर है । इससे व्यक्ति और समाज को अपार हानि उठानी पड़ रही है । प्रबुद्ध प्रतिभाओं से भरा-पूरा धर्मतन्त्र जनमानस का स्तर कितना ऊँचा उठ सकता है ? आदर्शवादी आस्थाओं की प्रतिष्ठापना से मनुष्य में देवत्व का उदय हो सकता है और उत्कृष्ट व्यक्तित्व वाला समाज सतयुगी वातावरण से भरा-पूरा रह सकता है । तब स्वल्प साधनों में भी स्वर्गीय आनन्द की परिस्थितियाँ बनी रह सकती हैं । अधिक साधन होने पर तो आनन्द का समुद्र ही लहलहाता दीख पड़ सकता है ।

उपेक्षा के गर्त में पड़े रहने पर तो उपयोगी से उपयोगी वस्तु भी सड़ने-गलने लगती है । धर्मतन्त्र की ओर प्रबुद्ध वर्ग की उपेक्षा रहने से ही उसमें प्रतिगामिता और अवांछनीयता को घुसपैठ करने का अवसर मिला है । यदि सतर्कता और प्रखरता की दृष्टि उस ओर लौट पड़े तो सारा वातावरण ही बदल जायगा और प्रतीत होगा कि मानवी प्रगति का एक नितान्त उपयोगी और अतीव महत्त्वपूर्ण आधार हाथ लग गया ।

धर्मतन्त्र को वर्तमान विकृतियों से उबारा जाय

आज धर्मतन्त्र में प्रतिगामी तत्त्वों की ही अधिकता हो गई है । फलतः उसमें विकृतियों की भरमार होती चली जा रही है । धर्माध्यक्षों का रूप बनाकर अपने स्वार्थों को पूरा करने की तिकड़म जहाँ-तहाँ चल पड़ती है । इसके कारण समाज के श्रमधन और सम्मान का शोषण हो रहा है । बदले में जनसाधारण को वह मिलता है जिसमें हानि ही हानि भरी पड़ी है । कल्पनालोक की निरर्थक उड़ानें, मूढ़मान्यताएँ, अन्धविश्वास जैसी हानिकारक उपलब्धियाँ ही धर्मप्रेमी लोग प्राप्त कर पाते हैं । भाग्यवाद, देववाद, पलायनवाद, उपेक्षावाद जैसी हानिकारक मान्यताएँ ही उस क्षेत्र में जनसाधारण को मिलती हैं । जिस आदर्शवादी दृष्टिकोण का परिष्कार धर्मतन्त्र की स्थापना का उद्देश्य था, उसका सर्वथा विपरीत प्रशिक्षण देने में आज का विकृत धर्मतन्त्र कटिबद्ध हो रहा है । नदी स्नान, देव दर्शन जैसे छुटपुट कर्मकाण्डों से पाप दण्ड भुगतने से छुटकारा मिल जाता है और अमुक पूजा-विधान से स्वर्ग-मुक्ति की, देव अनुग्रह से मनोवांछा पूरी होने की सिद्धि मिल सकती है इस मान्यता ने अनैतिकता एवं अकर्मण्यता को बढ़ावा दिया है । जब पाप दण्ड से सहज ही छुटकारा मिल सकता तो फिर दुष्कर्म से भरपूर लाभ क्यों न उठाया जाय ? जब छुटपुट कर्मकाण्ड ही स्वर्ग-मुक्ति आदि का लाभ दे सकते हैं तो आत्मोत्कर्ष के लिए चरित्रनिष्ठा एवं परमार्थपरायणता की कष्टसाध्य प्रक्रिया क्यों अपनाई जाय ? आज धर्मक्षेत्र में धर्मानुष्ठानों की महिमा आकाश-पाताल जितनी बताई जा रही है और धर्मतत्त्व की जड़ पर करारा कुठाराघात किया जा रहा है । कितने दुःख की बात है कि जनसाधारण से असीम लोकश्रद्धा और प्रचुर सम्पदा प्राप्त करने के उपरान्त भी धर्मतन्त्र बदले में वे भ्रान्तियाँ दे रहा है, जो आत्मोत्कर्ष का प्रयोजन पूरा करने में सहायता करना तो दूर उलटे अवरोध खड़े करती हैं ।

यथास्थिति नहीं बनी रहने दी जा सकती । धर्मतन्त्र की दुर्गति चलती ही नहीं रहनी चाहिए । उसकी सामर्थ्य, उपयोगिता और सम्भावना पर विचार किया जाना चाहिए । राजतन्त्र के सुधार में जितना उत्साह दृष्टिगोचर होता है, कम से कम उतनी अभिरुचि तो प्रबुद्ध वर्ग की धर्मतन्त्र में होनी ही चाहिए । अवांछनीयता को निरस्त करने के लिए

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

उपेक्षा पर्याप्त नहीं उसके स्थान पर उपयोगी विकल्प प्रस्तुत किए जाने चाहिए । धर्मतन्त्र में आदर्शवादी प्रतिभाओं का प्रवेश करना चाहिए । जनसाधारण का ध्यान इस दिशा में मोड़ा जाना चाहिए कि राजतन्त्र ही नहीं धर्मतन्त्र भी सर्वतोमुखी प्रगति के लिए अति महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत कर सकने में समर्थ है । भौतिक उन्नति के साधनों की अपनी उपयोगिता है, पर आत्मिक प्रगति भी उपेक्षणीय नहीं है ।

संसार की सर्वोपरि शक्ति—धर्म

भौतिक प्रयासों के फलस्वरूप जो मिला है, जो मिल रहा है और मिलेगा उसकी भरपूर प्रशंसा की जानी चाहिए और भविष्य में अधिक अच्छी सम्भावनाओं की आशा लगाई जानी चाहिए, पर साथ ही यह भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि आत्मिक प्रगति के लिए यदि इसी उत्साह से प्रयासों को जुटाया जा सके तो वर्तमान साधनों से ही अपनी आज की परिस्थितियों में ही, इसी धरती पर स्वर्ग का अवतरण सम्भव हो सकता है । आवश्यकता इस बात की है कि धर्मतन्त्र को वैसा ही पवित्र, प्रखर और सशक्त बनाया जाय जैसा कि उसके निर्माणकर्त्ताओं का लक्ष्य था । ऐसा हो सके तो नर-रत्नों का वह महान् उत्पादन सम्भव हो सकता है जिसकी तुलना में कुबेर जितनी सम्पत्ति भी तुच्छ प्रतीत होगी ।

अपने देश में यह प्रयोग चिरकाल से होता रहा है कि जनमानस में धर्मनिष्ठा जमाई जाय और उसके फलस्वरूप देवमानवों का भव्य उत्पादन करके सुख-शान्ति भरा व्यापक वातावरण बनाया जाय । प्राचीन भारत में धर्मतन्त्र प्रखर भी था और समर्थ भी । फलतः हर घर-परिवार नर-रत्नों की खदान बना हुआ था । इस देश के ३३ करोड़ निवासी, संसार भर की आँखों में ३३ कोटि देवता थे । भारत जगद्गुरु, चक्रवर्ती शासक और स्वर्ण सम्पदाओं का स्वामी माना जाता है, उस पर समस्त विश्व की असीम श्रद्धा बरसती थी । समूची मानव जाति उससे तरह-तरह की अपेक्षाएँ करती थी । इतिहास साक्षी है कि अपने देश के निवासी देवमानव अपने उत्कृष्ट चिन्तन और आदर्श कर्तृत्व से परस्पर स्नेह-सद्भाव और सहकार के आधार पर सद्भावनाओं और सत्प्रवृत्तियों का सतयुगी वातावरण बनाये रहें और विश्व भर को अपना कार्यक्षेत्र मानकर 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' के सदुद्देश्य में लगे रहे । वे संसार के कोने-कोने में बिखरे और जहाँ गये वहाँ शिक्षा, सामाजिकता, नीति, न्याय, शासन, शिक्षा, कृषि, पशुपालन, व्यवसाय आदि की शिक्षा-व्यवस्था जमाते हुए प्रगति का पथ-प्रशस्त करते रहे । भारतीय संस्कृति को देव सभ्यता माना जाता रहा और उसे विश्व मानव का भाव भरा असीम अभिनन्दन प्राप्त होता रहा । न केवल भारत में वरन् समूचे विश्व में समुन्नत परिस्थितियाँ उत्पन्न कर सकना एकमात्र धर्मतन्त्र की प्रखरता का ही प्रभाव था । निश्चित रूप से आस्थाओं की उत्कृष्टता से बढ़कर मानवी सौभाग्य का और कोई आधार नहीं हो सकता । धर्मसत्ता से बढ़कर और किसी शक्ति का अस्तित्व इस संसार में है नहीं ।

तथ्य को यदि समझा जा सके तो भौतिक उन्नति के उत्साह में एक पक्ष यह भी जोड़ना होगा कि उतनी ही तत्परता आत्मिक प्रगति की दिशा में भी नियोजित की जाय । राजतन्त्र समर्थ बने सो ठीक पर उसमें एक कड़ी यह भी जुड़नी चाहिए कि धर्मतन्त्र को दुर्बल न रहने दिया जाय । प्रतिभाएँ राजनीति के क्षेत्र में प्रवेश करें पर प्रबुद्ध वर्ग की धर्मक्षेत्र में अरुचि और उपेक्षा ही न बनी रहे । प्रगतिशीलता का जब हर क्षेत्र में प्रवेश हो रहा है तो धर्मक्षेत्र को ही प्रतिगामिता का अड्डा बने रहने के लिए ऐसे ही अनाथ, असहाय स्थिति में रोते-कराहते न पड़ा रहने दिया जाय ।

दरिद्रता बनाम मानसिक पिछड़ापन

अपने देश की, आज की स्थिति पर यदि गम्भीरता से विचार किया जाय तो आर्थिक दरिद्रता की तरह मानसिक पिछड़ेपन की कठिनाई भी सामने खड़ी दिखाई देगी और उसे दूर करना भी आवश्यक समझा जायेगा । गरीबी को अधिक भयंकर माना जाय या मानसिक पिछड़ेपन को ? इस प्रश्न की समीक्षा में यह भी प्रबल पक्ष है कि मानसिक पिछड़ेपन के रहते दरिद्रता दूर करने के लिए जिन प्रयासों को बढ़ाया जाना आवश्यक है, उनके लिए अभीष्ट उत्साह उत्पन्न न हो सकेगा । यदि सम्पन्नता बढ़ भी गई तो पिछड़ेपन के रहते उसका दुरुपयोग ही होगा । यह तर्क दरिद्रता दूर करने से किसी को रोकते नहीं वरन् यह कहते हैं कि चिन्तन की प्रखरता को नगण्य न माना जाय और उस ओर उपेक्षा न बरती जाय ।

दरिद्रता के कारण मनुष्य की स्थिरता और प्रगति में भारी बाधा पड़ती है । यह तथ्य सर्वमान्य है, पर यह भी भुला नहीं देना चाहिए कि हाथ-पैर, मस्तिष्क रहते हुए भी यदि मनुष्य दरिद्र रहता है तो इसमें सबसे बड़ा कारण उसका मानसिक पिछड़ापन ही हो सकता है । सामाजिक कुरीतियों ने जितनी हानि पहुँचाई है उतनी हानि विदेशी दासता ने भी न पहुँचाई होगी । बात को यों भी कह सकते हैं कि लम्बी राजनैतिक पराधीनता का बहुत बड़ा कारण अपने सामाजिक ढाँचे और चिन्तन स्तर में खोखलापन घुस जाना ही रहा है, अन्यथा इतनी बड़ी जनसंख्या का, इतनी सामर्थ्य और परम्परा का धनी इतने समय तक इस प्रकार के उत्पीड़न और अपमान का शिकार न बना रहता ।

जाति, उपजातियों के आधार पर प्रचलित ऊँच-नीच और अपने-विराने की मान्यता ने एक समाज से अनेक समाजों में विभक्त करके रख दिया है । मत-मतान्तरों और सम्प्रदायों ने एक ही धर्म के टुकड़े-टुकड़े करके फेंक दिये हैं और एक ही संस्कृति के अनुयायियों के बीच गहरी

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

खाइयाँ खोदकर खड़ी कर दी हैं । आधी जनसंख्या नारी वर्ग को प्रतिबन्धित और पददलित स्थिति में पटक दिये जाने के कारण समाज अर्द्धांग पक्षाघात से पीड़ित की तरह अपंग बन गया है और उसका बोझ ढोने में समर्थ पक्ष का कचूमर निकला जा रहा है । आधी जनसंख्या दुर्दशाग्रस्त स्थिति में रहे तो उसकी आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियाँ दयनीय रहेंगी ही । पिछड़ी नारी प्रतिभासम्पन्न पीढ़ियों का निर्माण कैसे कर सकेंगी और कैसे उस पिछड़ेपन के रहते परिवारों के वातावरण में हर्षोल्लास की अनुभूतियाँ जीवन्त रह सकेंगी ।

विवाह-शादियों में जितना खर्च होता है, उसके रहते आर्थिक स्थिरता बने रहना असम्भव है । जो कमाया जाता है वह शादियों में स्वाहा हो जाता है । वह पैसा बच सका होता और पूँजी बनकर प्रगति के आधार खड़े करता तो आज अपने देश के हर परिवार में खुशहाली दृष्टिगोचर होती और हम किसी प्रगतिशील देश से पीछे न रहते, पर इस दुर्भाग्य को क्या कहा जाय, शादियों में होने वाले अपव्यय के रूप में हमारे उपार्जन का अधिकांश भाग होली की तरह जलता रहता है । मृतक भोज, अलन-चलन, देवी-देवता, भिक्षुकों की सेना द्वारा खड़े किये जाने वाले नित नये आडम्बर-सब मिलकर जनसमाज पर आर्थिक दबाव डालते हैं कि उत्पादन प्रयत्नों की उपलब्धि जलते तबे पर पानी की कुछ बूँदों की तरह भाप बनकर उड़ जाती है ।

आर्थिक उन्नति के प्रयासों की तुलना में दुधारी गाय से की जाय तो सामाजिक कुरीतियों को टूटे पेंदे का दोहन पात्र कहा जाएगा । गाय जो दूध देगी वह फूटे पेंदे से होकर नीचे निकल जायेगा फिर गौ-पालन से जो आशाएँ लगाई गई थीं वे साकार कैसे हो सकेंगी ? गरीबी दूर करने के लिए उपार्जन बढ़ाने की जितनी आवश्यकता है, उतनी ही यह भी आवश्यक है कि उन कुरीतियों का उन्मूलन किया जाय जो हमारी आर्थिक बर्बादी के लिए उत्तरदायी हैं । यदि ये कुरीतियाँ यथावत् चलती रहीं तो आर्थिक प्रगति की योजनाओं का समुचित लाभ किस प्रकार मिल सकेगा ?

जाति-उपजाति, छूत-अछूत, वर्ग-सम्प्रदायों के खाई-खन्दक हमें एक जाति, एक राष्ट्र की तरह सुगठित, सशक्त न बनने देंगे और भीतर की दुर्बलताएँ बाहर उभर-उभर कर आती रहेंगी । अस्तु, सशक्तता बढ़ाने के लिए पौष्टिक भोजन जुटाने की तरह यह भी आवश्यक है कि भीतर ही भीतर खोखलापन उत्पन्न कर रही बीमारियों का उपचार किया जाय, अन्यथा बलिष्टता उत्पन्न करने की विशालकाय तैयारी रक्त में घुसी बीमारी से उत्पन्न होने वाले दुष्परिणाम की तरह उज्ज्वल भविष्य की सम्भावनाओं को कभी भी मूर्तिमान न होने देगी ।

दरिद्रता की तरह शिक्षा की कमी भी अपने पिछड़ेपन का एक बड़ा कारण है, पर स्मरण रखा जाय सरकारी स्कूलों की योजना से ही ७० प्रतिशत लोगों की अशिक्षा दूर न हो सकेगी । इसके लिए भी भावनात्मक वातावरण बनाना पड़ेगा और जिस तरह लोग अपने पुरुषार्थ से अपनी रोटी कमाते हैं, सरकार से माँगने नहीं जाते । उसी प्रकार अपनी, अपने परिवार की शिक्षा व्यवस्था जुटाने के लिए जब अनिवार्य आवश्यकता समझी जायेगी तो अन्य दैनिक साधन जुटाने की तरह शिक्षा का प्रबन्ध भी स्वतः ही किया जायेगा । चाहे दरिद्रता हो चाहे अशिक्षा सभी दुर्बलताएँ मनुष्य के पिछड़े हुए चिन्तन एवं दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया हैं, यदि इस वस्तुस्थिति को समझ लिया जाय तो पत्ते सींचने के साथ-साथ जड़ सींचने की आवश्यकता भी अनुभव की जायेगी और वह ठोस आधार हस्तगत हो जायेगा जिससे व्यापक दुःख-दैन्य से स्थायी मुक्ति मिल सके ।

जनमानस में विवेकशीलता एवं प्रगतिशीलता की भावनाएँ उतारना अपने युग का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है । यदि सोचने की सही दिशा और कार्य करने की सही शैली उपलब्ध हो सके तो हर मनुष्य अपने साधनों में ही समुचित उपार्जन कर सकता है, आगे बढ़ने का रास्ता निकाल सकता है और अपनी तथा समाज की समस्याओं के समाधान में समुचित योगदान दे सकता है । ऐसी स्थिति में दरिद्रता जैसी समस्याओं को अपने बलबूते ही हल किया जा सकता है । हमारा ध्यान इस तथ्य की ओर जा सके तो प्रतीत होगा कि आर्थिक उन्नति की ही तरह सोचने की परिष्कृत एवं प्रगतिशील पद्धति से जनसाधारण को परिचित एवं अभ्यस्त कराया जाना भी उतना ही अधिक महत्त्वपूर्ण है । इसके लिए अविलम्ब व्यवस्था जुटाई जानी चाहिए ।

सत्प्रवृत्तियों की स्थापना

विचारणीय यह है कि भारत के लोकमानस में मानवतावादी सद्भावना एवं सत्प्रवृत्तियों की स्थापना किस पृष्ठभूमि पर हो सकती है और उन्हें उपयोगी गतिविधियाँ अपनाने के लिए किस आधार पर सहमत किया जा सकता है । यहाँ यह ध्यान रखने योग्य है कि अपने देश की प्रायः तीन-चौथाई जनता अशिक्षित है और आबादी की दृष्टि से प्रायः तीन-चौथाई जनता ही छोटे देहातों में रहती है । आज की अपनी जनसंख्या ९० करोड़ है । इनमें से ६६ करोड़ अशिक्षित और प्रायः इतने ही देहात के निवासी हैं। असली भारत यही है । शिक्षितों और शहरी लोगों को उपयोगी जानकारियाँ देने के लिए पुस्तकें, पत्रिकाएँ, सभाएँ, संस्थाएँ अपने-अपने ढंग से काम करती रहती हैं, पर अशिक्षितों और देहातियों को प्रगतिशीलता का मार्गदर्शन करने के उपयुक्त माध्यमों का खटकने वाला अभाव सामने खड़ा है । शिक्षितों को राजनीति, अर्थशास्त्र, समाज, विज्ञान आदि कितने ही आधारों पर समझाया जा सकता है, क्योंकि उनकी मानसिक पृष्ठभूमि का इतना विकास पढ़ने-सुनने से हो चुका है, जिससे इन आधारों के सहारे आज की सामयिक समस्याओं का स्वरूप और हल

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

समझाया जा सके । किन्तु अशिक्षित और देहाती भारत की कठिनाई यह है कि उनकी पूर्व जानकारी प्रधानतया धार्मिक जानकारियों तक सीमित है । अस्तु बात का सिलसिला उसी से जोड़कर वैसे ही उदाहरण प्रस्तुत करते हुए वे तथ्य हृदयंगम कराये जा सकते हैं, जिन्हें आज की स्थिति में समझाना और अपनाया जाना आवश्यक है । धर्म भारतीय जनता का प्रिय विषय है । पिछड़ी भारतीय जनता तो इसी को अन्धे की लाठी बनाकर आगे बढ़ चलने के लिए कहा जा सकता है । वैसे अशिक्षितों और शहरी लोगों के लिए भी धर्म-कर्म रुचिकर और कम प्रेरणाप्रद नहीं है । उस क्षेत्र में भी विवेकसम्मत धर्म-विवेचनाओं को रुचिपूर्वक अपनाया जाता है ।

उपयुक्त यही है कि धर्मतन्त्र का आश्रय लेकर उसकी कथा-गाथाओं की संगति मिलाते हुए व्यक्ति, परिवार और समाज की वस्तुतः समस्याओं का हल हृदयंगम कराया जाय और उन्हें प्रगतिशील गतिविधियाँ अपनाने के लिए प्रोत्साहित किया जाय । रामायण कथा, गीता कथा, भागवत कथा जैसे माध्यम आदि लोकशिक्षण की सामयिक आवश्यकता पूरी करने में लगाया जाय तो उससे अति महत्त्वपूर्ण प्रयोजन सिद्ध हो सकता है । सस्ते धार्मिक आयोजनों में जो भावनात्मक वातावरण बनता है उसमें गरम लोहे से उपकरण ढालने जैसी बात और भी आसानी से बन सकती है । यह प्रयोग अति प्राचीनकाल में सफलतापूर्वक प्रयुक्त होता रहा है । "वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः" की प्रतिज्ञा लेकर राष्ट्रोत्कर्ष में संलग्न पुरोहित धर्मचर्चा और धर्मप्रेरणा के सहारे ही जनमानस को प्रबुद्ध एवं प्रशिक्षित बनाने में सफलता प्राप्त करते रहे हैं । इन दिनों युग-निर्माण योजना द्वारा धर्ममंच से लोकशिक्षण की इसी परम्परा को पुनः अपनाया गया है और अनुभव से उसका चमत्कारी प्रतिफल प्रस्तुत किया है । यदि इसी प्रक्रिया को व्यापक रूप से प्रबुद्ध वर्ग द्वारा अपनाया जा सके तो समय की उस सर्वोपरि माँग को पूरा किया जा सकता है जिसमें लोकचेतना को प्रगतिशीलता की दिशा में धकेल देने की अनिवार्य आवश्यकता अनुभव की जा रही है ।

धर्मतंत्र की शक्ति पंगु न बने

इन दिनों धर्मपक्ष की ओर से लोकश्रद्धा घट रही है । कोई भी आधार अपनी उपयोगिता सिद्ध करके ही जन-सम्मान और सहयोग प्राप्त कर सकता है । धर्म के आदर्श कितने ही ऊँचे क्यों न हों पर व्यवहार में यदि कोई प्रत्यक्ष उपयोग न दिखाई पड़ेगा तो लोगों में उस दिशा में स्वभावतः अरुचि एवं उपेक्षा बढ़ेगी । पिछले दिनों यही हुआ है । धर्माध्यक्षों ने यह विचार नहीं किया कि जनता को जो धन एवं सम्मान मिलता है, उसका परिणाम वापस लौटाया जाना चाहिए यदि ऐसा होता तो सहज ही लोगों की धर्मबुद्धि बढ़ती और उसे अधिकाधिक सम्मान, सहयोग मिलता चला जाता, वैसा किया भी नहीं गया और सोचा भी नहीं गया । फलतः धर्म श्रद्धा से निरन्तर घटोत्तरी होते जाना स्वाभाविक ही है ।

इतने पर भी देखा जा सकता है कि जनता का कितना धन, समय और सहयोग धर्मतंत्र को मिल रहा है । ६० लाख के लगभग व्यक्ति भिक्षावृत्ति अपनाकर धर्माश्रय के सहारे ही अपना गुजारा करते हैं । यह सरकारी कर्मचारियों जितनी ही बड़ी सेना है । इनका निर्वाह व्यय जनता उठाती है । यदि प्रतिव्यक्ति पर भोजन, वस्त्र तथा अन्यान्य खर्चों की न्यूनतम राशि ६०) मासिक मान ली जाय तो ६० लाख×६०=३६ करोड़ रुपया प्रति माह होता है । वर्ष में यह राशि १२×३६=४३२ करोड़ हो जाती है । यह हिसाब मात्र धर्मजीवी भिक्षुकों का हुआ ।

सोमवती अमावस्या का स्नान करने के लिए उत्तर काशी से लेकर कलकत्ता में गंगासागर तक न्यूनतम ५० लाख व्यक्ति स्नान करने दूर-दूर से जाते हैं । इनका काम छोड़ने और आने-जाने का खर्च २०) प्रति व्यक्ति माना जाय तो १० करोड़ होता है । ऐसी सोमवती अमावस्याएँ कम से कम ४ होती हैं । इनका खर्च ४० करोड़ हुआ । यह अकेली गंगा की बात है । यमुना, सरयू, नर्मदा, क्षिप्रा, काबेरी, गोदावरी आदि भी ऐसी दर्जनों पवित्र नदियाँ हैं जिनका स्नान भी स्थानीय जनता लगभग उतना ही पुण्य फलदायक मानती है । इन सबके स्नान की राशि ६० करोड़ मान ली जाय तो वह १०० करोड़ हो जाती है । तीर्थयात्रा, देवदर्शन, धर्मानुष्ठान, कथा, कीर्तन आदि के खर्चे जोड़े जाएँ तो वे इतने हो जाते हैं जितना भारत सरकार का वार्षिक बजट ।

६० लाख पेशेवर धर्मजीवी हुए । इनके अतिरिक्त सरकारी जनगणना से बाहर सहायक धन्धे के रूप में धर्म जीविका उपार्जित करते हैं अथवा जो अपने निज के समय से पूजा-उपासना में, कथा-कीर्तन में समय लगाते हैं उस समय के घण्टे जोड़े जाएँ तो वे भी ३० लाख से कम मनुष्यों का श्रम नहीं बैठेगा । इस प्रकार एक करोड़ से ऊपर जनशक्ति पूरे समय धर्म प्रयोजनों में लगी दिखाई पड़ती है ।

इमारतों की दृष्टि से देवस्थानों की, धर्मस्थानों की इमारतें जो गाँव, शहर और जंगल खण्डहरों के रूप में सर्वत्र बिखरी पड़ी हैं, उसका हिसाब लगाया जाय तो सरकारी इमारतें जितना ही धन और स्थान उनमें घिरा पाया जा सकता है । सरकारी दफ्तरों, अदालतों और कारखानों में जितने लोग आते-जाते हैं, उससे कथा-कीर्तनों, दर्शन-सत्संगों और पर्व-मेलों पर धार्मिक जनता की उपस्थिति कम नहीं होती ।

देश की श्रम, धन, समय और मनोयोग की कितनी बड़ी शक्ति धर्म-प्रयोजनों में संलग्न है, इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि यदि राजतन्त्र की सामर्थ्य से लोकजीवन की प्रगति एवं समृद्धि को बढ़ाया जा सकता है, जो धर्मतन्त्र में लगी हुई लगभग उतनी ही बड़ी सामर्थ्य का सदुपयोग करने की बात क्यों न सोची

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

जाय । प्रतिगामी हाथों के निहित स्वार्थों से देश की इस धर्मशक्ति को छुटकारा मिल सके और उसे विचारशील मनीषियों द्वारा रचनात्मक प्रयोजनों में प्रयुक्त किया जा सके तो उसका उतना बड़ा सत्परिणाम उत्पन्न होगा जितना खाई में खोदने लगे साधनों को बाँध बनाने और इमारत चुनने में लगाने पर सम्भव हो सकता है ।

स्वतन्त्रता आन्दोलन में महात्मा गाँधी की धार्मिकता कितनी अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुई यह सर्वविदित है । उनका महात्मा वेश, नित्य प्रार्थना, कीर्तन, रामराज्य लाने का संकल्प, गौरक्षा का आश्वासन जैसी विशेषताओं ने जनमानस में उनकी ऋषिकल्प स्थापना की थी । फलतः भावभरी सहज श्रद्धा से प्रेरित होकर जनता ने उनके आदेश आह्वान को शिरोधार्य किया और सत्याग्रह आन्दोलन अपनी प्रखरता के कारण सफल होकर रहा । स्वतन्त्रता की माँग अपने आप में महत्त्वपूर्ण थी, पर महात्मा गाँधी का ऋषि व्यक्तित्व उसमें सम्मिलित होकर सोना सुगन्ध का सुयोग बन गया । भारतीय जननेतृत्व यदि धार्मिकता से जोड़ दिया जाय, सर्वतोमुखी प्रगति के लिए धर्मतंत्र का प्रयोग किया जाय तो उससे आशातीत सत्परिणामों की सहज ही आशा-अपेक्षा की जा सकती है ।

राष्ट्रीय चरित्र-निर्माण का दायित्व जनता पर

जिन्हें राजनीति में अधिक दिलचस्पी है और वे उसी के माध्यम से समस्त समस्याओं के हल सोचते हैं उन्हें भी इतना तो जानना ही चाहिए कि राजतंत्र की असली चाबी अब जनता के हाथ में आई है । राजतंत्र और अधिनायकवाद तक अब जनसामर्थ्य की अपेक्षा करते हैं। प्रजातंत्र का तो पूरा ढाँचा ही प्रजाजनों के स्तर पर निर्भर रहता है । यदि मतदाता अनाड़ी, अनुत्तरदायी हैं तो वे जाति-बिरादरी के नाम पर, व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धी को प्रधानता देकर, छोटे-छोटे प्रलोभनों से ललचाकर अथवा बहकावे में आकर किसी भी अनुपयुक्त व्यक्ति के पक्ष में अपना मतपत्र डाल सकते हैं । जहाँ ऐसा होगा वहाँ प्रखरतासम्पन्न निर्लोभ प्रतिनिधियों का चुना जाना सम्भव नहीं । यदि अनपढ़ वोटरों को फुसलाकर मत पाने की सम्भावना बन जाय तो फिर शासनतंत्र को उच्चस्तरीय आदर्शों के साथ चल सकने वाले व्यक्तियों को किस प्रकार सूत्र-संचालन का अवसर मिलेगा । प्रजातंत्र की सफलता के लिए प्रधान आधार मतदाता की अपनी स्थिति इतनी सही होनी चाहिए कि वह वोट को समूचे राष्ट्र की पवित्रतम धरोहर समझकर उसे पूर्णतया परखे हुए व्यक्ति के पक्ष में ही सील लगाये । जनसाधारण की नैतिक सहृदयता के बिना रिश्वतखोरी, लालफीताशाही, मनमानी आदि नौकरशाही की खराबियाँ सुधारी नहीं जा सकतीं । जागरूक प्रजाजनों को सताते रहना कठिन है । चरित्रवान लोग जब रिश्वत देंगे ही नहीं तो उनसे ले कौन लेगा ? अनीति के विरुद्ध संगठित हो जाने और तन कर खड़े होने का साहस जहाँ होगा वहाँ शासन-तंत्र को सीधे रास्ते पर चलने के लिए विवश होना पड़ेगा । स्वच्छ शासन के लिए प्रजातंत्र में प्रजाजनों की प्रखरता ही उत्तरदायी होती है । इस क्षेत्र में दुर्बलता छाई रही तो जड़ें सड़ जाने पर पेड़ की ऊपर से टीमटाम करते रहना कठिन पड़ेगा । शासन सुधार के लिए मतदाता को इस स्तर का होना चाहिए कि वह स्वयं शासन-तंत्र सँभाल सकने की प्रतिभा से सम्पन्न हो अथवा किसी पूर्ण सुयोग्य के पक्ष में अपने पवित्र वोट का सर्वश्रेष्ठ उपयोग कर सके ।

यह कार्य चुनाव प्रचार के दिनों में नहीं हो सकता । प्रजाजनों का बहुमत सर्वतोमुखी उत्कृष्टता से सुसम्पन्न हो तो ही वे मतदान की जिम्मेदारी निभाने से लेकर अन्य वैयक्तिक और सामाजिक कर्त्तव्यों का सही ढंग से उपयोग कर सकते हैं । यही वह स्थिति है जिसमें व्यक्ति समाज को समुन्नत स्थिति तक पहुँचाया जा सकता है । राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण अति कठिन और सुविस्तृत कार्य है, इसे धर्ममंच के आधार पर ही किया जा सकता है । गोली से भूनने पर कम दण्ड न रखा जाय तो शायद अपराधों और अवांछनीयता की गतिविधियाँ रुक सकें, अन्यथा जहाँ तक हृदय परिवर्तन के आधार स्वेच्छा-सद्भावना का सम्बन्ध है उस प्रयोजन को धर्मनिष्ठा का जनमानस में प्रवेश कराने के उपरान्त ही सम्भव होने की बात सोची जा सकती है ।

प्रजातंत्र में राजसत्ता की कुंजी प्रजाजनों के हाथ है । उनका स्तर उठाने में ही रामराज्य की कल्पना साकार हो सकती है । अस्तु हम लोग भले ही राजनीति में प्रवेश न करें भले ही चुनाव न लड़ें, पर काम वही कर रहे हैं, जिससे जागरूक मतदाता समय-समय पर अपने मताधिकार का सही प्रयोग करके स्वच्छ शासन की स्थापना में सदा समर्थ रह सकें । इस प्रकार अपना मिशन प्रत्यक्ष ही राजनीति से पृथक् रहते हुए अप्रत्यक्ष रूप से स्वच्छ शासन की सम्भावना को मूर्तिमान करने में प्राणपण से संलग्न समझा जा सकता है ।

समग्र प्रगति धर्म-धारणा से ही सम्भव है

शरीर की आवश्यकता है-भूख और आत्मा की आवश्यकता है-धर्म । शरीर आहार पाकर जीवित रहता है और अन्तःकरण को धर्म-धारणा के सहारे चैन मिलता और सन्तोष होता है । यदि जीवित रहना हो तो आहार के साधन जुटाने ही चाहिए और यदि आन्तरिक तुष्टि अभीष्ट हो तो धर्म के प्रति आस्था और तत्परता की मनःस्थिति बनी रहनी चाहिए । व्यक्तित्व की स्थिरता और प्रगति के

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

लिए इस स्तर के प्रयत्न चलने ही चाहिए, जिसमें शारीरिक ही नहीं आत्मिक आवश्यकता भी पूरी होती चले । अपूर्णता से पूर्णता की ओर बढ़ चलने का जीवन लक्ष्य धर्म-धारणा के सहारे ही सम्भव हो सकता है । ऊँचे पहाड़ों पर चढ़ने के लिए हाथ में लाठी का सहारा लेना पड़ता है और आत्मा को परमात्मा की महानता तक पहुँचाने के लिए धर्म का अवलम्बन ग्रहण करना पड़ता है । अस्तु इस महान् आधार को मानवता का मेरुदण्ड माना जाय और उसे हर कीमत पर जीवन्त रखा जाय ।

धर्म व्यक्ति की आवश्यकता और समाज की माँग है । समाज की सुव्यवस्था और सुरक्षा के लिए धर्म आस्था का उत्कर्ष और धर्म-मर्यादाओं का पालन नितान्त आवश्यक है आदर्श जीवन जीने की, लोकमंगल के लिए बढ़े-चढ़े अनुदान प्रस्तुत करने की आन्तरिक उमंग मात्र धर्म-प्रेरणा से ही उत्पन्न होती है । सांसारिक दृष्टि से तो इन दोनों उमंगों में प्रत्यक्ष ही हानि दिखाई पड़ती है । यदि समाज में आदर्शवादी परम्पराओं का प्रचलन अभीष्ट हो, यदि देश नररत्नों, महामानवों और चरित्रनिष्ठ व्यक्तित्वों की आवश्यकता अनुभव करता हो तो उसके लिए वातावरण को धार्मिक ऊर्जा से गरम बनाये रहना नितान्त आवश्यक है । संकीर्ण स्वार्थपरता ही व्यक्ति को निष्कृष्ट बनाती है और उसी के पनपने से भ्रष्टता बढ़ती और अपराधी प्रवृत्तियाँ सिर उठाती हैं । अनाचार की बाढ़ सामाजिक स्थिरता, शान्ति और प्रगति को बुरी तरह बहा ले जाती हैं और फिर जो कुछ शेष बचता है उसमें खेद एवं पश्चात्ताप के अतिरिक्त और कुछ बचता नहीं । अस्तु, व्यक्ति और समाज की स्थिरता के लिए धर्म को आधारभूत मानकर चलना होगा । उसकी रक्षा के लिए उतनी ही गम्भीरता से सोचना होगा जितना कि नागरिक सुरक्षा एवं राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए सोचा और किया जाता है । सद्भावनाएँ और सत्प्रवृत्तियाँ ही प्रगति का आधार हैं और इन दोनों को धर्म-धारणा के दो अविच्छिन्न चरण ही माना जाना चाहिए ।

इन दिनों धार्मिक क्षेत्र की स्थिति दयनीय और दुर्दशाग्रस्त है । उसे देखकर प्रबुद्ध वर्ग नाक-भौं सिकोड़ता है और उपेक्षा, उपहास एवं व्यंग्य की प्रतिक्रिया व्यक्त करके शान्त हो जाता है । इससे काम नहीं चलेगा । आज का दुर्दशाग्रस्त धर्म भी किसी कदर जनमानस को पूर्णतया भ्रष्ट बनने से बहुत हद तक रोकता है । धर्मप्रेमी और धर्मभीरु मनुष्य अपेक्षाकृत कम उद्दण्ड और कम अनैतिक होते हैं इतना भी कम नहीं । यदि उस ओर विचारशील वर्ग की उपेक्षा चलती रही और अवांछनीय तत्त्वों का ऐसा ही आधिपत्य बना रहा तो धर्म-धारणा का क्रमशः ह्रास ही होता चला जायेगा और उसके स्थान पर निहित स्वार्थों की पूर्ति करने वाले सड़े-गले आडम्बर ही शेष रह जायेंगे, तब धर्म नास्तिकवादी प्रचार के कारण नहीं अपनी आन्तरिक खोखलेपन के कारण आप ही बेमौत मरेगा । इससे बढ़कर अपने संसार का दुर्भाग्य और कोई हो नहीं सकता । नीति, मर्यादा, संयम, उदारता जैसे तत्त्व यदि निकल जाएँ तो मनुष्य से बढ़कर सर्वभक्षी, आक्रमणकारी, धूर्त और आत्मघाती कोई दूसरा प्राणी हो ही नहीं सकता । धर्म के अभाव में ऐसे ही मानव प्राणी शेष रहेंगे और वे एक-दूसरे की कतरव्योंत करते हुए मानवीय अस्तित्व को ही इस धरती पर से समाप्त कर देंगे ।

हमें समय रहते चेतना चाहिए और खोखले खड़े धर्म कलेवर में नये सिरे से प्राण संचार करने चाहिए । इसके लिए धर्म के प्रति गहरी निष्ठा रखने वाले व्यक्तियों को स्वतः आगे बढ़ना चाहिए और धर्म के जिस स्वरूप को जनमानस में उतारना है उसका रूप-निर्धारण करना चाहिए । यह लोकोपयोगी होना चाहिए । उसमें लगने वाला प्रत्येक क्षण, प्रत्येक श्रमबिन्दु और प्रत्येक पैसा व्यक्ति और समाज के उत्कर्ष में बीज की भूमिका प्रस्तुत कर सकने वाला होना चाहिए ,ताकि उसके अंकुरित होने पर सद्भावना और सत्प्रवृत्तियों की फसल लहलहाती हुई हर दिशा में दृष्टिगोचर होने लगे ।

धर्मतत्त्व की पुनः प्राण प्रतिष्ठापना के लिए आवश्यक है कि उसे भ्रान्तियों, मूढ़मान्यताओं से मुक्त किया जाय । धर्म-शोषकों को अपनी पकड़ ढीली करने के लिए कहा जाय और उन्हें पीछे हटने के लिए कहा जाय । इसमें निहित स्वार्थों का कोपभाजन बनना पड़ सकता है । मुफ्त का सम्मान और धन जब हाथ से छिनेगा तो उनका रुष्ट और क्रुद्ध होना स्वाभाविक है, पर यह विवशता है । समाजवादी व्यवस्था लाने के लिए राजा, सामन्त, जागीदार, अमीरों को रुष्ट किया जा सकता है तो धर्म-क्षेत्र की महानता पर ग्रहण की तरह चिपके हुए राहु-केतुओं को हटाने की आवश्यकता भी पड़ेगी ही और उन्हें रुष्ट करने का खतरा भी उठाना ही पड़ेगा ।

आवश्यकता इस बात की है कि विचारशील वर्ग धर्म की उपयोगिता को समझे, उसके यथार्थ स्वरूप की पुनः प्रतिष्ठा करे और उसे जनमानस में उतारने के लिए प्रबल प्रयत्नों के साथ जुट जाय । इसके लिए प्रचारात्मक, रचनात्मक और सुधारात्मक प्रक्रिया के अन्तर्गत आने वाले लेखनी, वाणी जैसे सभी सम्भव साधनों का प्रयोग करना आवश्यक होगा । सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की होगी कि धर्मसेवा में निरत व्यक्ति अपने आप को भीतर और बाहर से इतना प्रामाणिक बनाने का साहस जुटायें जिन्हें जीवन्त धर्म प्रतिभा के रूप में देखा-परखा जा सके । प्रचारतंत्र के सबसे प्रचण्ड आधार ऐसे व्यक्तित्व हो सकते हैं, जिन्हें प्राचीनकाल के साधु-ब्राह्मणों के वंश-कलेवर में नहीं वरन् आस्था की गहराई को समूचे व्यक्तित्व पर छाया हुआ देखा जा सके । साधु-ब्राह्मणों का वर्ग धर्म की छाया में अब तक जीवित रहा है । अब ऐसे लोगों को समय ने पुकारा है जो साधु-ब्राह्मण की भूमिका सच्चे अर्थों में निभा सकें और अपनी छाया में मृतप्राय धर्मतत्त्व को पुनः नवजीवन प्रदान कर सके । यदि ऐसा होगा तो धर्मयुग वापिस लाने की, सतयुग की कल्पना साकार करने की सम्भावना सुनिश्चित है । तब धर्मराज्य रामराज्य की आवश्यकता भी सहज ही पूरी हो चलेगी ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

क्या धर्म ? क्या अधर्म ?

सच्चिदानन्द की आराधना

वैसे तो 'धर्म' शब्द नाना अर्थों से व्यवहृत होता है पर दार्शनिक दृष्टि से धर्म का अर्थ स्वभाव ठहराता है । अग्नि का धर्म गर्मी है अर्थात् अग्नि का स्वभाव उष्णता है । हर एक वस्तु का एक धर्म होता है जिसे वह अपने जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त धारण किये रहती है । मछली का प्रकृति धर्म जल में रहना है, सिंह स्वभावत: माँसाहारी है । हर एक जीवित एवं निर्जीव पदार्थ एक धर्म को अपने अन्दर धारण किये हुए हैं । धातुएँ अपने-अपने स्वभाव धर्म के अनुसार ही काम करती हैं । धातु-विज्ञान के जानकार समझते हैं कि अमुक प्रकार का लोहा इतनी आग में गलता है और वह इतना मजबूत होता है, उसी के अनुसार वे सारी व्यवस्था बनाते हैं । यदि लोहा अपना धर्म छोड़ दे, कभी कम आग से गले कभी ज्यादा से, इसी प्रकार उसकी मजबूती का भी कुछ भरोसा न रहे तो निस्संदेह लोहकारों का कार्य असम्भव हो जाय । नदियाँ कभी पूरब को बहें कभी पश्चिम को, अग्नि कभी गरम हो जाय कभी ठंडी तो आप सोचिये कि दुनिया कितनी अस्थिर हो जाय । परन्तु ऐसा नहीं होता, विश्वास का एक-एक परमाणु अपने नियम धर्म का पालन करने में लगा हुआ है, कोई तिल भर भी इधर से उधर नहीं हिलता । धर्म रहित कोई भी वस्तु इस विश्व में स्थिर नहीं रह सकती ।

बहुत काल की खोज के उपरान्त मनुष्य का मूल धर्म मालूम कर लिया गया है । जन्म से लेकर मृत्यु तक सम्पूर्ण मनुष्य अपने मूलभूत धर्म का पालन करने में प्रवृत्त रहते हैं। आपको यह सुनकर कि कोई भी मनुष्य धर्म रहित नहीं है, आश्चर्य होता होगा इसका कारण यह है कि आप मनुष्यकृत रीति-रिवाजों, मजहबों, फिरकों, प्रथाओं को धर्म नाम दे देते हैं, यह सब तो व्यवस्थाएँ हैं जो वास्तविक धर्म से बहुत ऊपर की उथली वस्तुएँ हैं, आपको वास्तविकता का पता लगाने के लिए एक सत्य शोधक की भाँति बहुत गहरा उतरकर मनुष्य स्वभाव का अध्ययन करना होगा ।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि धर्म का अर्थ स्वभाव है । स्वभाव मनुष्यकृत नहीं होता वरन् ईश्वर प्रदत्त होता है । जिस योनि में जैसी शिक्षा प्राप्त करनी होती है, उसकी मर्यादा चारों ओर से खिंची हुई होती है, जिससे नौसिखिए कुछ भूल न कर बैठें । स्कूल के छात्र खेल के घण्टों में जब गेंद खेलते हैं तो अध्यापक उन्हें एक मर्यादित क्षेत्र बता देता है कि इस भूमि में खेलो । वैसे तो अपनी बुद्धि के अनुसार खेलने, हारने-जीतने में खिलाड़ी लोग स्वतन्त्र हैं, अध्यापक उसमें हस्तक्षेप नहीं करता पर क्षेत्र जरूर मर्यादित कर देता है । फील्ड छोड़कर सड़क पर फुटबाल उछालने की वहाँ व्यवस्था नहीं है । इसी प्रकार मनुष्य की कुछ स्वाभाविक मर्यादाएँ हैं, जिनके अन्दर वह भले-बुरे खेल खेलता है । यही स्वाभाविक मर्यादाएँ दार्शनिक दृष्टि से धर्म कहलाती हैं । धर्म के अन्तर्गत क्षेत्र में ही मनुष्य के सारे काम होते हैं, इसमें पाप-पुण्य क्या है ? और किस प्रकार है ? इसकी विवेचना तो हम अगले पृष्ठों में करेंगे । इस समय तो मूलभूत धर्म के बारे में ईश्वर दत्त स्वाभाविक मर्यादा के सम्बन्ध में चर्चा की जा रही है, जिसे जानकर यह निश्चय किया जा सके कि हमें यह मानव देह क्या शिक्षा प्राप्त करने के लिए मिली है ?

मनुष्य क्या करने में लगा रहता है, इसका गहरा निरीक्षण करके आध्यात्मिक तत्त्ववेत्ताओं ने यह निष्कर्ष निकाला है कि 'सच्चिदानन्द' की उपासना में मानव प्राणी हर घड़ी लगा रहता है, एक पल के लिए भी इसे नहीं छोड़ता और न इसके अतिरिक्त और कुछ काम करता है, पाठक अधीर न हों कि सच्चिदानन्द की उपासना तो विरले ही करते हैं, यदि विरले ही करते तो वह बात स्वाभाविक धर्म न रह जाती, फिर उसे मनुष्यकृत मानना पड़ता है । अगली पंक्तियों में यही बताया जा रहा है कि किस प्रकार प्रत्येक मनुष्य सच्चिदानन्द की उपासना करता हुआ अपने धर्म कर्त्तव्य को पालन करने में लगा हुआ है ।

सत् का अर्थ है, अस्तित्व, चित् का अर्थ-ज्ञान और आनन्द का अर्थ सुख है । अपने अस्तित्व की उन्नति में, अपने ज्ञान की वृद्धि में, अपने सुख को बढ़ाने में ही सब लोग लगे हुए हैं । मनोविज्ञान शास्त्र के फ्रांसीसी पण्डित सारेन्सस ने मानव प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए बताया है कि- (१) शरीर और मन का सुख प्राप्त करने, (२) आत्म-रक्षा, (३) अपने को सबके सामने प्रकट करने, (४) बड़प्पन पाने, (५) समूह इकट्ठा करने, (६) गुप्त विषयों को जानने, (७) विपरीत योनि से, (पुरुष स्त्री से, स्त्री पुरुष से) घनिष्टता रखने, (८) साहस करने की इच्छाओं में प्रेरित होकर ही मनुष्य अनेक प्रकार के कार्य करता है । अर्थात् मनुष्य को जितने भी कार्य करते हुए देखते हैं, वे सब इन्हीं इच्छाओं के फल मात्र होते हैं । इन आठ वृत्ति का विभाजन हम इस प्रकार किये देते हैं:-

अस्तित्व-उन्नति के अन्तर्गत- (१) आत्म-रक्षा, (२) अपने को प्रकट करना (कीर्ति) (३) बड़प्पन प्राप्त करना ।

ज्ञान वृद्धि के अन्तर्गत-(१) गुप्त विषयों का जानना, (२) समूह इकट्ठा करना ।

आनन्द बढ़ाने के अन्तर्गत-(१) शरीर और मन सुख, (२) साहस, (३) विपरीत योनि से घनिष्टता ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

अब विचार कीजिए कि मनुष्य के समस्त कार्य इस सीमा में आ जाते हैं कि नहीं। हिंसक, दस्यु, आक्रमणकारियों से, आपत्ति से बचने के लिये लोग घर बनाते, बस्तियों में रहते, शस्त्र रखते, डरते, छिपते, भागते, वैद्यों, डॉक्टरों के पास जाते, राज्य का निर्माण करते, देवी-देवताओं की सहायता लेते, युद्ध करते तथा अन्यान्य ऐसे प्रयत्न करते हैं, जिससे आत्मरक्षा हो, अधिक दिन जियें, मृत्यु से दूर रहें। कीर्ति के लिए लोकप्रिय बनना, फैशन बनाना, विज्ञापन कराना, अपना ढंग विशेष प्रकार का बनाना, भाषण देना, अपने विचार छापना, लोगों का ध्यान खींचने वाले शब्द अथवा प्रदर्शन करना आदि कार्य किये जाते हैं। गौरव के लिये नेता बनना, अपने संरक्षण में छोटे लोगों को लेना, ओहदा प्राप्त करना, सम्पत्तिवान, बलवान बनना, राज्य सम्पत्ति पाना, गुरु बनना, अपने को पदवीधारी, ईश्वरभक्त, धर्मप्रचारक प्रकट करना आदि कृत्य होते हैं । इस प्रकार आत्मरक्षा, कीर्ति और गौरव प्राप्त करके आत्म-विश्वास, आत्म-सन्तोष, आत्म-उन्नति का उद्योग किया जाता है ।

विद्याध्ययन, सत्संग, स्वाध्याय, साधना, अन्वेषण, आविष्कार, खोज, परीक्षण, वाद-विवाद, यात्रा, सगारोहों में सम्मिलित होना, नवीन वस्तुओं को देखना, इस श्रेणी के कार्य 'गुप्त विषयों की जानकारी' के लिए होते हैं । समाज में रहना, मित्र बढ़ाना, संगठन में बँधना, दल बनाना, कम्पनी खोलना, साझा करना आदि कार्यों के द्वारा मनुष्य दूसरों की योग्यताओं की जानकारी प्राप्त करना एवं उनकी सामूहिक अनुभूतियों के आधार पर अपनी ज्ञान-चेतना में वृद्धि होने का लाभ उठाना चाहता है । इस प्रकार रहस्यान्वेषण को अपना प्रिय विषय बनाकर हम अल्पज्ञता से सर्वज्ञता की ओर बढ़ना चाहते हैं । अपने संसार के और अदृश्य विषयों के रहस्य से परिचित होने के लिए ज्ञान की तीव्र पिपासा को जीव अपने अन्दर धारण किये हुए हैं । शिक्षालय, योग साधनाएँ, प्रयोगशालाएँ, पुस्तकें, समाचार पत्र, रेडियो, मनुष्य की इसी महान मानसिक क्षुधा के निवारणार्थ-ज्ञानवृद्धि होने के निमित्त प्रयत्न कर रहे हैं ।

स्वादिष्ट भोजन, शीतोष्ण निवारण के प्रयत्न, वस्त्र, कोमल बिस्तर, सवारी, सेवक आदि शरीर सुख के लिये तथा खेल, तमाशे, नाच-रंग, गीत, वाद्य आदि मनोरंजन के लिये होते हैं। त्याग, दान, अद्भुत कार्य, कष्टों का मुकाबला आदि, धीरता-वीरता के कार्य साहस प्रदर्शित करने के लिए करते हैं, पुरुषों का स्त्रियों के सम्बन्ध में और स्त्रियों का पुरुषों के सम्बन्ध में अनेक मार्गों से अधिक दिलचस्पी लेना भी सर्वत्र देखा जाता है, यह खिंचाव भी आनन्ददायक समझा जाता है। शरीर सुस्थिर, दीर्घजीवी, आनन्दी एवं उन्नतिशील बनने की क्षमता वाला रहे और मनोरंजन से चित्त हल्का होकर ऊर्ध्वगति प्राप्ति करने की सामर्थ्य अपने अन्दर धारण किये रहे, इसलिये अन्तःचेतना स्वयमेव ऐसा प्रयत्न कर रही है कि शरीर और मन की प्रसन्नता नष्ट न होने पावे ।

पाठक! सब ओर भली प्रकार की दृष्टि दौड़ाकर देख लें, सत् अस्तित्व की उन्नति, चित्-ज्ञान की वृद्धि, आनन्द-शरीर और मन की सुख-साधना में ही सब लोग प्रवृत्त मिलेंगे, कोई भी व्यक्ति इस कार्यक्रम से पृथक् सच्चिदानन्द की उपासना से विरक्त दिखाई न पड़ेगा । इसे जब हम गम्भीर दृष्टि से मनुष्य के स्वभाव-जन्य मूलभूत धर्म की खोज करते हैं, तो 'सच्चिदानन्द की उपासना' इसी तत्त्व को प्राप्त करते हैं ।

पाप-पुण्य का भेद

पिछले पृष्ठों पर बताया गया है कि हर एक व्यक्ति चाहे वह भले कर्म करता हो या बुरे निःसन्देह सच्चिदानन्द की प्राप्ति के लिये प्रयत्न कर रहा है । मानव-जीवन की धारा इसी निश्चित दिशा में प्रवाहित हो रही है, उसका पलटना या बदलना किसी भी व्यक्ति के लिये सम्भव नहीं क्योंकि वह ईश्वर प्रदत्त स्वाभाविक धर्म वृत्ति है । मनुष्य जन्म से ही उसे साथ लेकर पैदा होता है ।

अब यह प्रश्न पैदा होता है कि जब सभी मनुष्य स्वाभाविक धर्म का पालन कर रहे हैं तो फिर पाप-पुण्य का, उचित-अनुचित का, भले-बुरे का भेद क्यों है ? किन्हीं कार्यों को धर्म और किन्हीं को अधर्म क्यों कहा जाता है ? पापी और पुण्यात्मा का भेद क्यों किया जाता है ? इन प्रश्नों का तात्विक समाधान जानने के लिए हमें भले और बुरे कर्मों के बीच में जो भेद है, उसे समझना होगा । वास्तव में कर्म तो एक भी बुरा नहीं है पर उनको करने की व्यवस्था में अन्तर आ जाने से रूप बदल जाते हैं । एक ही कर्म, व्यवस्था-भेद से पाप भी हो सकता है और पुण्य भी । जैसे 'दान देना' एक कर्म है । यदि सत्पात्र को दान दिया जाये तो वह पुण्य हुआ और यदि कुपात्र को दान दिया जाय तो वही पाप है । 'मैथुन' एक कर्म है । यदि वह स्वपत्नी के साथ हो तो उचित है किन्तु यदि परपत्नी के साथ हो तो अनुचित है । 'मद्यपान' एक कर्म है । यदि रोग निवृत्ति के लिये औषधि रूप से उसे सेवन किया जाय तो योग्य है किन्तु उन्मत्त होने के लिये उसे किया जाय तो अयोग्य है । 'हिंसा' एक कर्म है । यदि अत्याचारी, दुष्ट, घातक प्राणी को मार डाला तो उचित है किन्तु उपकारी, हानि न करने वाले, निर्दोष प्राणी को मार डाला जाय तो वह अनुचित है । अदालत की आज्ञानुसार अपराधी को फाँसी देने वाला व्यक्ति पापी नहीं होता और न सिंह, सर्पादि, दुष्ट जीवों को हनन करने वाला क्षत्रिय पापी कहा जाता है । किन्तु निर्दोष को मारने वाला अपराधी ठहराया जाता है । परोपकार के लिए, धर्म-कार्य के लिए, विवेकपूर्वक यदि चोरी, ठगी, झूठ, छल का भी आश्रय लेना पड़े वह अधर्म नहीं ठहरता । पाठक गम्भीरतापूर्वक विचार करेंगे तो उनकी समझ में यह बात भली प्रकार आ जायेगी कि जितने भी कार्य मनुष्य द्वारा होते हैं । वे कर्म स्वतः भले या बुरे नहीं हैं पर उनका

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

प्रयोग जिस रूप में किया जाता है, उसके अनुसार वे पाप-पुण्य बन जाते हैं ।

दो रसोइया भोजन बनाते हैं । एक का भोजन अच्छा बना दूसरे ने अज्ञान से उसमें बहुत-सी त्रुटियाँ रहने दीं । खाने वाले अच्छा भोजन बनाने वाले की प्रशंसा करेंगे, उसे सुयोग्य ठहरावेंगे । परन्तु जिसने भोजन बनाने में बहुत-सी भूलें की थीं, उसकी तैयार की हुई वस्तुएँ ठुकराई जायेंगी, खाने वाले उससे नाराज होंगे, हर कोई कटु शब्द कहेगा । मालिक उसे दण्ड भी देगा । दोनों ही रसोइयों ने वस्तुतः अपना नियत कर्म ही किया था । मूल कर्म में कुछ दोष न था पर कार्य करने की पद्धति में भेद हो जाने से एक को भलाई और दूसरे को बुराई मिली, एक ने आदर पाया, दूसरा तिरस्कार का भाजन बना । पाप-पुण्य की भी ऐसी ही बात है । अपनी तरक्की के लिए, ज्ञान-वृद्धि के लिये, आनन्द प्राप्त करने के उद्देश्य से ही समस्त मनुष्यों के सब काम होते हैं । इन तीन को छोड़कर चौथे उद्देश्य में कोई भी व्यक्ति कुछ काम नहीं करता । साधु, सन्त, त्यागी, परोपकारी या दुष्ट-दुराचारी सभी कोई उपरोक्त तीन आकांक्षाओं से प्रेरित होकर अपने-अपने कार्य कर रहे हैं । इनमें से चतुर रसोइए की भाँति जो लोग सावधानी और बुद्धिमानी से अपनी कार्य-पद्धति निर्माण करते हैं वे पुण्यात्मा कहे जाते हैं और जो असावधानी एवं अदूरदर्शिता के साथ काम करते हैं उन्हें पापी कहा जाता है ।

अमुक कर्म पाप है, अमुक पुण्य है, यह निर्णय करने में सृष्टि के आदि से ही सम्पूर्ण धर्मशास्त्र और तत्त्ववेत्ता लगे हुए हैं । अब तक पाप-पुण्य की परिभाषा करने में हजारों धर्मग्रन्थ निर्मित हो चुके हैं परन्तु कोई सर्वसम्मत फैसला न हुआ । एक दल के विद्वान जिन कार्यों एवं विचारों को धर्म ठहराते हैं, दूसरे उसे अधर्म कह देते हैं । इस प्रकार लोक में बुद्धि भ्रम तो बढ़ता है पर कुछ ठीक-ठीक निर्णय नहीं हो पाता । महाभारतकार का मत इस सम्बन्ध में हमें सबसे अधिक बुद्धिसंगत प्रतीत हुआ है । भगवान व्यास ने लिखा है-"**परोपकार पुण्याय, पापाय परपीड़नम्**" अर्थात् परोपकार पुण्य है और दूसरों को दुःख देना पाप है । दूसरों के साथ उपकार करना पुण्य इसलिए है कि इससे अपनी तीनों मूल वृत्तियों के बढ़ने में विशेष सहायता मिलती है । यह एक निश्चित नियम है कि जैसा व्यवहार हम दूसरों के साथ करते हैं वैसा ही व्यवहार दूसरे हमारे साथ करते हैं । यदि हम दूसरों के मार्ग में बाधक नहीं हों तो दूसरे हमारे मार्ग में बाधक नहीं होंगे । यदि हमने अपना स्वभाव नम्र, मधुर, आनन्दी, उपकारी, दयालु बना लिया है तो बहुत अंशों में दूसरे लोगों का व्यवहार भी हमारे प्रति वैसा ही होगा । चोर, डाकुओं को चारों ओर अपने पकड़ने वाले ही दिखाई पड़ते हैं किन्तु सज्जन, धर्मात्मा एवं ईमानदार व्यक्ति निधड़क पैर पसार कर सोते हैं । उन्हें आत्मिक अशान्ति का अनुभव नहीं करना पड़ता जैसा कि दूसरों को हानि पहुँचाने वाले लोगों का कलेजा हर घड़ी काँपता रहता है । सत्पुरुषों का सर्वत्र आदर होता है, वे निर्धन होते हुए भी बेताज के बादशाह होते हैं । कारण यह है कि परोपकार वृत्तियों में बहुत बड़ा आध्यात्मिक आकर्षण होता है । फूल की सुगन्ध से मुग्ध मधुमक्खियाँ इसके चारों ओर भिनभिनाती फिरती हैं वैसे ही परमार्थी स्वभाव के आकर्षण से अन्य लोग अपने आप प्रशंसक एवं सहायक बन जाते हैं ।

अपने कार्यों को सेवा युक्त बना देने से अन्तःकरण को असाधारण शान्ति प्राप्त होती है । जीवन में पग-पग पर उल्लास बढ़ता जाता है । क्रूरता, कुटिलता, छल-पाखण्ड से जो मानसिक उद्वेग उत्पन्न होता है, वह जीवन को बड़ा ही अव्यवस्थित, अशान्त एवं कर्कश बना देता है । मानव-जीवन में जो आध्यात्मिक अमृत छिपा हुआ है, वह स्वार्थी लोगों को उपलब्ध नहीं हो सकता । जो व्यक्ति अपने ही सुख का ध्यान रखता है, अपनी ही चिन्ता करता है और दूसरों के स्वार्थों की परवाह नहीं करता, वह बड़ी विषम स्थिति में फँस जाता है। सब लोग उससे घृणा करते हैं, कोई भी सच्चे दिल से उसे प्यार नहीं करता । यह हो सकता है कि मतलबी चापलूस उसकी हाँ में हाँ मिलावें, यह भी हो सकता है कि उसकी शक्ति के आतंक से डरकर विरोध करने वाले कुछ प्रत्यक्ष हानि न पहुँचा सकें तो भी अदृश्य रूप से वह बड़े भारी घाटे में रहता है । स्वार्थी मनुष्य अपेक्षाकृत अपने लिए अधिक सुख चाहता है इसके लिए दूसरों को सताता है। सताये हुए व्यक्ति की आत्मा में से शापयुक्त आहें निकलती हैं जो शब्दबेधी बाण की तरह उसके पीछे चिपक जाती हैं और उसे घोर मानसिक कष्ट देती रहती हैं । जिन लोगों की प्रत्यक्ष हानि नहीं की है वे भी स्वार्थी की अनीति से घृणा करते हैं और वे असंख्य मनुष्यों की घृणा, भावनाएँ उस स्वार्थी के लिये अदृश्य रूप से बड़ी घातक परिणाम उपस्थित करने में लग जाती हैं । मोटी बुद्धि से देखने में स्वार्थी मनुष्य कुछ भौतिक वस्तुएँ इकट्ठी कर लेने वाला, मालदार भले ही दिखाई देता हो परन्तु वह असल में बहुत बड़े घाटे में रहता है, उसकी सारी मानसिक सुख-शान्ति नष्ट हो जाती है ।

परमार्थमय जीवन बिताने पर, अपने कार्यों को दूसरे के लिये लाभदायक बना देने पर, अपना जीवन बिल्कुल निरापद एवं प्रफुल्लित हो जाता है । त्याग-भावना को, प्रेम-व्यवहार को, प्रमुख नीति बना लेने पर किसी से संघर्ष होने का अवसर उपस्थित नहीं होता और न शाप एवं घृणा के शब्द-बेधी बाण आत्मा को हर घड़ी घायल करते हैं, वरन् दूसरों के आशीर्वाद, शुभ संकल्प, सद्भाव, देवताओं की भाँति पुष्प वृष्टि करते हैं । अदृश्य लोक से अपने ऊपर अमृत वृष्टि होती हुई, हमारा अन्तःकरण अनुभव करता है, जिसके कारण मानसलोक उल्लास और आनन्द से भरपूर बना रहता है । उत्तम स्वभाव वाला परमार्थी मनुष्य अपने दैवी प्रभाव से आस-पास के लोगों पर वैसा ही प्रभाव डालता है जिससे एक उत्तम समाज का

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

निर्माण होने लगता है । पड़ोसियों के साथ हम प्रेम, भलमनसाहत, न्याय और ईमानदारी का व्यवहार करते हैं तो वह भी उसका अनुकरण करने के लिए बहुत अंशों में प्रयत्न करेंगे । इस प्रकार मनुष्य अपने और दूसरे के जीवन को, परमार्थ नीति के अपना लेने पर सुख-शान्ति पूर्ण बना लेता है ।

इस लेख के आरम्भ में ही यह कहा गया है कि किसी कर्म को बुरा या भला बतलाना ठीक नहीं क्योंकि कर्म तो एक पदार्थ है, जैसे लोहा । लोहे से शास्त्र रचना करने वाली लेखनी भी बन सकती है और हत्या करने वाली छुरी भी बन सकती है । वस्तु एक है पर प्रयोग भेद से वह दो भिन्न प्रकार की हो गई । पाप-पुण्य भी ऐसे ही किसी एक कार्य के दो प्रयोग-भेद हैं । व्यासजी ने परोपकार को पुण्य और स्वार्थ को पाप बताकर एक बहुत ही उत्तम सम्मति प्रकट की है । अपने लिये अपेक्षाकृत अधिक चाहना पाप है और दूसरों की सुविधा का अधिक ध्यान रखना पुण्य है । स्वार्थी को पापी और परमार्थी को पुण्यात्मा कहा जा सकता है, क्योंकि स्वार्थ से स्वयं मानसिक अशान्ति प्राप्त होती है एवं दूसरे के कष्ट होने के कारण विरोधी वातावरण उत्पन्न होता है, परमार्थ से आत्मिक शान्ति उपलब्ध होती है, दूसरे लोग सुख पाते हैं, समाज में शान्ति रहती है और सद्भावों का सुखदायी वातावरण उत्पन्न होता है ।

कर्मयोग के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों के अनुसार कोई व्यक्ति साधारण काम-काज करता हुआ भी संन्यासी और तपस्वियों की गति प्राप्त कर सकता है । शिक्षा, मजदूरी व्यापार या अन्य कोई भी काम करता हुआ मनुष्य यदि अपने विचारों को परमार्थी रखे तो उसका वही दैनिक कार्य धर्म हो जायेगा । एक दुकानदार अपनी दुकान को परमार्थी भावना से चलाता है । अपनी मजदूरी, मुनाफा नियत कर लेता है । फिर ठीक भाव से, पूरा तोलकर बेचता है । अनजान को कम और जानकार को अधिक नहीं देता । अपने कार्य को समाज सेवा, धर्म समझता है इसलिए वह खराब, मिलावटी, दूषित, हानिकर वस्तुएँ नहीं बेचता, यदि कोई दुकानदार इस तरीके से अपनी दुकानदारी चलाता है तो निस्सन्देह वह पूर्ण धर्मात्मा है । धर्म की पहचान यही है कि स्वयं आत्मिक शान्ति प्राप्त हो और दूसरों को सुख मिले । उस दुकान से यदि यह दोनों कार्य पूरे होते हैं तो यज्ञशाला से वह किसी प्रकार कम नहीं ठहराई जा सकती । राजा जनक राजपाट करते थे, उनकी बहुत-सी रानियाँ भी थीं पर वे उच्च कोटि के योगी थे। बड़े-बड़े तपस्वी, वनवासी उनसे शिक्षा प्राप्त करने आते थे । राजपाट, दुकान, वेदपाठ, संन्यास, मजदूरी एक कार्य मात्र हैं । स्वयं न तो भले हैं न बुरे । इनका प्रयोग जिस रूप में किया जाय वैसा ही इनका भला-बुरा स्वरूप बन जाता है । उत्तम काम भी यदि बदनीयती से किया जाय तो उसका फल पाप के समान ही होगा और साधारण काम-काज भी यदि उत्तम भावना से किया जाय तो उसका परिणाम पुण्य स्वरूप होगा ।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । कुछ अपवादों को छोड़कर शेष समस्त मनुष्य दूसरों के ही सहयोग से आनन्द लाभ कर सकते हैं । उत्तम भोजन, सुन्दर वस्त्र, मकान, सवारी, विद्या, मनोरंजन यह सब दूसरों के सहयोग से ही तो प्राप्त होता है । निन्दा-स्तुति, संयोग-वियोग, हानि-लाभ, अपमान-सत्कार यह कार्य दूसरों द्वारा होते हैं परन्तु हमारे सुख-दुःख का बहुत कुछ अवलम्बन इन्हीं पर निर्भर रहता है । निस्सन्देह समाज और व्यक्ति का घनिष्ट सम्बन्ध है । व्यक्ति की उत्तमता से समाज की सुख-शान्ति और समाज की उत्तमता से व्यक्ति को प्रसन्नता बढ़ती है । पुण्य वे कार्य हैं जो व्यक्ति को त्यागी बनाकर उसे समाज के लिए उपयोगी बनाते हैं । "अपने लिये अपेक्षाकृत कम चाहना और दूसरे की सुविधा का अधिक ध्यान रखना ।" यह मनोवृत्ति धर्म की आधारशिला है। त्याग, दया, उदारता, दान, सहायता, सेवा, परोपकार, परमार्थ यह पुण्य हैं क्योंकि इनको अपनाने से समाज के लिए मनुष्य उपयोगी बन जाता है और उस उपयोगिता के कारण दोनों पक्षों की समृद्धि होती है ।

चोरी, हिंसा, छल, व्यभिचार, स्वार्थ, विश्वासघात, घमण्ड, मिथ्या भाषण, कर्कशता, अत्याचार, जुआ यह आदतें अधर्म कही जाती हैं । इन स्वभावों के साथ जो कार्य किये जाते हैं, वे पाप ठहराये जाते हैं, कारण यह है कि इससे दूसरों को, समाज को हानि होती है । जिन्हें हानि पहुँचाई गई है उनमें बदले की भावना बढ़ती है और कलह खड़ा हो जाता है । इसी प्रकार नशेबाजी, फिजूलखर्ची, बीमारी, गन्दगी, व्यक्तिगत पाप हैं । इनमें फँसा हुआ मनुष्य समाज के लिए हानिकारक सिद्ध होता है अतएव ऐसी आदतों को भी पाप ठहराया जाता है । व्यक्तिगत पाप अधिकतर अपने निजी जीवन को अनुपयोगी बनाते हैं और चोरी आदि सामाजिक पाप दूसरों को अधिक हानि पहुँचाते हैं इसलिये व्यक्तिगत पापों से सामाजिक पापों को बड़ा माना गया है ।

पहले प्रकरण में बताया गया था कि हर मनुष्य सत्-अस्तित्व की उन्नति, चित्त्-ज्ञान वृद्धि, आनन्द-सुख साधना में लगा हुआ है । इन तीन को प्राप्त करने की इच्छा से ही उसके सारे काम होते हैं । उन कार्यों में कौन अनुचित है ? किनको करने से उल्टी हानि उठानी पड़ती है ? इन प्रश्नों का उत्तर ऊपर कहा जा चुका है कि परमार्थ भावना से किये हुए काम ही उत्तम एवं इष्टसिद्धि प्रदान करने वाले हैं। गीता के कर्मयोग का यही सारांश है ।

मध्यम मार्ग

यात्रा का नियम है कि मध्यम वृत्ति से कदम उठाये जाएँ, मामूली बीच की चाल से चला जाय । बहुत ही धीरे चलना तथा अत्यन्त तेजी से भागकर चलना यह दोनों ही स्थितियाँ हानिकारक हैं । बहुत धीरे चलने से यात्रा का क्रम रुक जाता है और नाना प्रकार के दोष उत्पन्न हो जाते

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

हैं । शरीर को परिश्रम करने की आवश्यकता है। यदि कोई व्यक्ति गद्दे तकिया पर पड़ा-पड़ा समय बिताये, तो नाड़ियाँ निर्बल हो जायेंगी, पाचन-शक्ति घट जायेगी, इन्द्रियों में दोष उत्पन्न हो जायेंगे । इसी प्रकार यदि शरीर से अत्यधिक काम लिया जाय, दिन-रात कठोर परिश्रम में जुटा रहा जाय तो भी शक्ति का अधिक व्यय होने से देह क्षीण हो जायेगी, परमात्मा ने मन एवं इन्द्रियों के अनुसार औजार दिये हैं, जिनसे जीव अपनी मूलभूत आकांक्षा को पूरी कर सके । पेट को भूख लगती है, बुद्धि को चिन्ता होती है कि भोजन प्राप्त करने का परिश्रम करना चाहिए । मस्तिष्क धन कमाने के उपाय सोचता है, पैर उद्योग-धन्धे की तलाश में घूमते हैं, हाथ मजदूरी करते हैं, अन्य अंग भी अपना-अपना काम करते हैं । इस सब प्रयत्न से शरीर के हर अंग की योग्यता बढ़ती है । बुद्धि, मस्तिष्क, हाथ, पैर सभी का अभ्यास बढ़ता है और उनकी सामूहिक उन्नति से मनुष्य की गुप्त शक्तियाँ सुदृढ़ होती जाती हैं । जीव का उतने अंशों में विकास होता जाता है । पेट को भूख न लगती तो मनुष्य जो निरन्तर उद्योग करता है, उसे क्यों करता ? अजगर की तरह किसी गुफा में पड़ा सोया करता, जब भी चाहता थोड़ा बहुत कमा लेता । न बुद्धि को कष्ट देने की जरूरत होती, न शरीर को । आज जितनी दौड़-धूप चारों ओर दिखाई पड़ रही है, भूख के न होने पर इसका हजारवाँ भाग भी दिखाई न पड़ता । सृष्टि संचालन के लिये परमात्मा को जीव की विकास-यात्रा निर्धारित करनी पड़ी और वह यात्रा गड़बड़ में न पड़ जाय इसलिये ऐसी आवश्यकताएँ पीछे लगा देनी पड़ीं जिनसे प्रेरित होकर जीव की विकास यात्रा निरन्तर जारी रहे ।

ऊपर पेट की भूख का उल्लेख किया गया है । ऐसी ही अनेक भूखें मनुष्य को रहती हैं । उनमें से कुछ शारीरिक हैं, कुछ मानसिक । इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को चाहती हैं यह कोई बुरी बात नहीं है वरन् आत्मोन्नति के लिये आवश्यक है। मैथुनेच्छा यदि मनुष्य को न होती तो वह बिल्कुल ही स्वार्थी बना रहता । सन्तान के लालन-पालन में जो परोपकार की, सेवा की, स्नेह की, दुलार की, कष्ट सहन की भावनाएँ जाग्रत होती हैं वे बिना सन्तान के कैसे होतीं ? काम-वासना बिना सन्तान न होती, इसलिये सात्विकी वृत्तियों को जगाने के लिये कामवासना की भूख परमात्मा ने मनुष्य को दे दी । इन्द्रियों की भूखें बड़ी ही महत्त्वपूर्ण हैं, उनकी रचना परमात्मा ने बहुत सोच-विचार कर की है । इसी प्रकार मनुष्य की सभी शारीरिक और मानसिक वृत्तियाँ जो जन्म से उसे स्वाभाविक रीति से प्राप्त होती हैं, जीवन को उन्नत, विकसित, सरस, उत्साहप्रद एवं आनन्दी बनाने के लिये बहुत ही आवश्यक हैं ।

अक्सर धार्मिक विद्वान इन्द्रिय भोगों को बुरा, घृणित, पापपूर्ण बताया करते हैं । असल में उनके कथन का मर्म यह है कि इन्द्रिय भोगों का दुरुपयोग करना बुरा है । जैसे अभाव बुरा है वैसे ही अति भी बुरी है । भूखा रहने से शरीर का ह्रास होता है और अधिक खाने से पेट में दर्द होने लगता है । उत्तम यह है कि मध्यम मार्ग का अवलम्बन किया जाय । न तो भूखे रहें और न अधिक खायें वरन् भूख की आवश्यकता को मर्यादा के अन्तर्गत पूरा किया जाय । वास्तविक बात यह है कि अति एवं अभाव को पाप कहते हैं । जैसे धन उपार्जन करना एक उचित एवं आवश्यक कार्य है । इसी में जब अति या अभाव का समावेश हो जाता है तो पापपूर्ण स्थिति पैदा होती है । धन न कमाने वाले को हरामखोर, निठल्ला, आलसी, अकर्मण्य, नालायक कहा जाता है और धन कमाने की लालसा में अत्यन्त तीव्र भावना से जुट जाने वाला लोभी, कंजूस, अर्थ-पिशाच आदि नामों से तिरस्कृत किया जाता है । कारण यह है कि किसी बात में अति करने से अन्य आवश्यक कार्य छूट जाते हैं । व्यायाम करना उत्तम कार्य है पर कोई व्यक्ति दिन-रात व्यायाम करने पर ही पिल पड़े अथवा हाथ-पैर हिलाना भी बन्द कर दे तो यह दोनों ही स्थितियाँ हानिकारक होंगी और विवेकवानों द्वारा निन्दा की जायेगी । विवेकपूर्वक खर्च करना एक मध्यम मार्ग है । परन्तु खर्च न करने वाले को कंजूस और बहुत खर्च करने वाले को अपव्ययी कहा जाता है । खर्च करना एक स्वाभाविक कर्म है पर अति या अभाव के साथ वही अकर्म बन जाता है ।

लघुता से महानता की ओर, अपूर्णता से पूर्णता की ओर जीवन की यात्रा का प्रवाह बह रहा है । इस चक्र को चालू रखने के लिये शारीरिक और मानसिक स्वाभाविक इच्छा-आकांक्षाएँ अपनी भूख प्रकट करती रहती हैं । (१) आरोग्य, (२) ज्ञान वृद्धि, (३) सौन्दर्य, (४) धन, (५) कीर्ति, (६) संगठन, (७) विवाह, (८) आत्म-गौरव-यह आठ वस्तुएँ हर मनुष्य चाहता है । इनकी शाखा-उपशाखाएँ अनेक हैं पर मूलतः यह आठ वृत्तियाँ ही प्रधान होती हैं । सत्, चित्, आनन्द की तीन इच्छाएँ संसार के पंचभौतिक पदार्थों से टकराकर उपरोक्त आठ टुकड़ों में बँट जाती हैं । आठों पहर इन्हीं आठ कामों की इच्छा, अभिलाषाएँ मनुष्य को सताती हैं और वह किसी न किसी रूप में तृप्त करने के लिये उद्योग किया करता है । साधु-चोर, अमीर-गरीब, शिक्षित-अशिक्षित, स्त्री-पुरुष सब कोई अपनी आठ मानसिक वृत्तियों को बुझाने के नाना प्रकार के कर्मों का ताना-बाना बुनते रहते हैं । तीन सूक्ष्म आकांक्षाएँ पंचतत्वों के आठ पदार्थों के साथ आठ प्रकार से प्रकट होती हुई हर कोई देख सकता है । पापी और पुण्यात्मा इन कार्यों के अतिरिक्त और कोई कार्यक्रम अपने सामने नहीं रखते ।

मध्यम मार्ग से इन वृत्तियों को तृप्त करने वाला इस संसार में धर्मात्मा कहा जाता है और जो अति या अभाव की नीति ग्रहण करता है, उसकी शुमार पापियों में की जाती है । जो शरीर को नीरोग रखने के लिये प्रातःकाल उठता है, स्नान करता है, दन्त धावन, व्यायाम करता है, मस्तिष्क को शीतल रखने के लिये चन्दन लगाता है, छना

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

हुआ जल पीता है, रोगनाशक तुलसी-पत्रों का सेवन करता है, गन्दे आदमियों का छुआ नहीं खाता, व्रत-उपवास रखता है, वह धर्मात्मा है । निस्सन्देह स्वास्थ्य को ठीक रखने वाला पुण्यात्मा ही कहा जा सकता है क्योंकि मनुष्य के अन्तःकरण में घुसकर बैठी हुई आरोग्य भावना का वह मध्यम मार्ग से पोषण करता है जो अभाव या अति का व्यवहार करेगा वही पापी कहलायेगा । सूर्योदय तक सोने वाला, स्नान में लापरवाही करने वाला, अन्न-जल की शुद्धता पर ध्यान न देने वाला, उपवास न करके पेट को खराब रखने वाला पापी है क्योंकि उसमें मध्यम मार्ग का अभाव है । जो व्यक्ति आरोग्य की आतुरता में अन्धा हो रहा है, भक्ष-अभक्ष का विचार न करके जो चाहे सो खाता है या बहुत व्रत रखता है, अन्य सब काम छोड़कर केवल दिन-रात आरोग्य को ही पकड़े बैठा है, वह भी पापी है क्योंकि उसने मध्यम मार्ग को छोड़कर अति का आश्रय लिया है ।

'जानकारी बढ़ाना' स्वाभाविक वृत्ति है । जो विद्या पढ़ता है, स्वाध्याय करता है, सत्संग करता है, ग्रन्थ सुनता है, तीर्थयात्रा करता है, वह पुण्यात्मा है । जो अपनी वृद्धि को आगे न बढ़ने देने के लिये कसम खाकर अन्धविश्वास एवं कूपमंडूक की भाँति कोठरी का ताला बन्द करके बैठा है वह पापी है । इसी प्रकार वह भी पापी है जो ज्ञान की लालसा में अगम्य स्थानों पर जाता है । अनुचित तर्क करता है, न जानने योग्य, गुप्त एवं दूषित बातों को जानने का प्रयत्न करता है । अभाव बुरा है अति भी बुरी है ।

'सौन्दर्यप्रियता' सभी स्त्री-पुरुष, बालक-बालिकाओं को होती है । सफाई, स्वच्छता, सजावट, आकर्षण, सुन्दरता का प्रदर्शन इस इच्छा को किसी भी प्रकार दबाया नहीं जा सकता । संसार को मिथ्या कहने वाले भी ईश्वर की मूर्तियों को नाना सजावट शृंगारों से सुसज्जित करके नेत्रों को तृप्त करते हैं । धार्मिक कर्मकाण्डों में हर काम सजावट से भरा-पूरा होता है । सोलह संस्कारों में से एक भी ऐसा नहीं है जिसमें संस्कार होने वाले व्यक्ति की, उस स्थान की, वहाँ की वस्तुओं की अनेक बहानों से सजावट न होती हो । रंग-बिरंगे चौकपूरन, कलश, रोली, अक्षत, आम्रपत्र, शुभ-वस्त्र आदि की सजावटें तो धार्मिक कर्मकाण्डों का प्रधान अंग बन चुकी हैं । कला प्रेमी व्यक्ति शौच, स्वच्छता, सात्विक सजावट से रहने वालों तक का समाज में विशेष आदर होता है । वेश-भूषा को देखते ही उसकी पोजीशन समझ में आ जाती है । घर, कमरा, फर्श, कपड़े, टोपी, काम में आने वाली वस्तुएँ किसी मनुष्य के टुच्चीपन एवं महत्व को चिल्ला-चिल्लाकर बताते रहते हैं। इससे तो कुवेश-भूषा वालों, अस्त-व्यस्त सजावट रखने वालों को घृणा की दृष्टि देखा जाता है । जो लोग सजावट में अति करते हैं, फैशन में ही डूबे रहते हैं, योग्यता और स्थिति का उल्लंघन करके अत्यधिक टीप-टाप करते हैं वे भी तिरस्कृत होते हैं क्योंकि अभाव की भाँति अति को भी पापी माना जाता है ।

धन उपार्जन के सम्बन्ध में पहले ही कहा जा चुका है कि कमाऊ पूत सबसे अच्छे लगते हैं । उनकी सर्वत्र प्रशंसा होती है । धर्म पालन करने वाले की प्रशंसा होनी भी चाहिए । धन न कमाने वाले आलसी और अधिक कमाने वाले अर्थ-पिशाच इसलिये कहे जाते हैं कि उन्होंने मध्यम मार्ग छोड़कर या तो अति का आश्रय लिया है या अभाव में पड़े हुए हैं ।

'कीर्ति' के लिये मनुष्य प्राण दे देते हैं । अपनी प्रशंसा सुनकर मनुष्य की बाछें खिल उठती हैं । लोकहितकारी, आत्म-सुख-वर्द्धक, धर्म-कार्य करने से प्रतिष्ठा, आदर, सद्भाव, आशीर्वाद, प्रोत्साहन, प्रशंसा कीर्ति प्राप्त होती है । यह धर्म मध्यम मार्ग है । दूसरों की रुचि, इच्छा, आवश्यकता के ध्यान बिना अविवेकपूर्वक मनमानी करते रहना अधर्म है, क्योंकि जो स्वार्थी, एकाकी, हृदयहीन एवं जड़ होगा वही यश-अपयश का ध्यान रखे बिना कार्य करेगा । नीति ग्रन्थों में यश की बड़ी प्रशंसा की है । यशस्वी का जीवन ही जीवन बताया है । यश रहित को निर्जीव की उपमा दी है । शास्त्रकारों का मन्तव्य है कि सुयश सम्पादित करके यशेच्छा की आध्यात्मिक भूख को बुझाना चाहिए । प्रीति-भोजों में, मेले-उत्सवों में, शहरों में जाना लोग इसलिये पसन्द करते हैं कि वहाँ रहने वाले बहुत से मनुष्यों की शारीरिक विद्युत की गर्मी से मिलने वाला सुख प्राप्त करें । जाड़े के दिनों में अधिक कपड़े पहनकर उनकी गर्मी से शरीर को सुख मिलता है । इसी प्रकार जहाँ अधिक मनुष्य रहते हैं उन स्थानों में पहुँचने पर उनके शरीर से निकलने वाली अनेक विद्युत-तरंगों से मन प्रसन्न होता है । यश से भी ऐसी ही आध्यात्मिक विद्युत-तरंगें प्राप्त होती हैं । प्रशंसक लोग अपनी शुभ-कामनाएँ, सद्भावनाएँ प्रवाहित करते हैं । वे सब इकट्ठी होकर यशस्वी व्यक्ति के आस-पास इकट्ठी हो जाती हैं और गरम कपड़ों की भाँति तथा मित्र-मण्डली की भाँति अदृश्य रूप से आध्यात्मिक सुख पहुँचाती हैं । अपयश के साथ लोगों का रोष, घृणा, विरोध एवं दुर्भाव इकट्ठे होकर उस व्यक्ति पर आक्रमण करते हैं और उसके अन्तःकरण को व्यथित कर डालते हैं, ऐसे व्यक्ति जिनकी चारों ओर निन्दा होती है बड़े ही दुःखी, चिन्तित, उदास एवं अशान्त देखे जाते हैं । शर्म के भार से उनका मन सदैव दबा हुआ रहता है ।

कहीं-कहीं कीर्ति की इच्छा को बुरा बताया गया है और यश-आकांक्षा छोड़ देने के लिये कहा गया है । वहाँ 'अति' का विरोध है, सुकर्म करके प्रशंसा प्राप्त करने के मध्यम मार्ग का उल्लंघन करके जब मनुष्य किसी प्रकार दूसरों के मुँह अपनी चर्चा सुनने के लिए लालायित हो जाता है, तो वह भले-बुरे का विचार छोड़ देता है। बदनाम हुए तो क्या नाम न होगा की नीति अपना लेना यश की अति इच्छा का परिणाम है । झूठा, शेखीखोर, ढोंगी मनुष्य अपनी यशेच्छा को अत्यन्त बढ़ जाने देते हैं और उसकी पूर्ति के लिए अनेक प्रकार उच्छृंखल, उद्दण्ड,

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

अति साहसी लोग भारी जोखिम उठाते हैं, नीति-अनीति का विचार छोड़ देते हैं और ऐसे असाधारण कार्य करते हैं जिनसे उनकी चर्चा चारों ओर होने लगे। मुझे भूत चढ़ता है, मुझे देवता के दर्शन हुए, मैंने अमुक-अमुक साहसिक कार्य किये आदि मनगढ़न्त बातें कहकर कई व्यक्ति अपनी विशेषता प्रकाशित करते हैं और उसके कारण होने वाली जनचर्चा से अपनी यशेच्छा को तृप्त करते हैं । किसी स्वतन्त्र पुस्तक में हम यह बताने का प्रयत्न करेंगे कि यशेच्छा के विकृत रूप में लोग नाना प्रकार की बीमारियों और बुरी आदतें भी किस प्रकार अन्दर धारण कर लेते हैं। यश प्राप्त करना आवश्यक है क्योंकि उससे आध्यात्मिक लाभ होता है । परन्तु उसका अभाव और अति दोनों ही हानिकारक होने से अधर्म कहे जाते हैं ।

समूह बनाने, मिल-जुलकर रहने, संगठन करने की इच्छा ने ही मनुष्य को सामाजिक प्राणी बना दिया है । कुटुम्ब, जाति, गोत्र, धर्म, सम्प्रदाय, राष्ट्र आदि का निर्माण इसी इच्छा ने कराया है । अनेक सभाएँ, पार्टी, संगठन, परिवार, सत्संग, गोष्ठी, गिरोह, यूनिटें, अखाड़े, दल, क्लब हम अपने चारों ओर गुप्त एवं प्रकट रूप में फैले हुए देखते हैं । इन सबके मूल में मनुष्य की एक ही भूख काम कर रही है कि हम अधिक लोगों के साथ दल बाँध कर रहें । ऊपर कीर्ति की चर्चा करते हुए बता चुके हैं कि मनुष्यों के शरीरों से निकलने वाले विद्युत प्रवाहों की गर्मी से जीव को बल प्राप्त होता है इसलिए उसे अकेले रहना बुरा लगता है और बहुत लोगों के बीच में रहते हुए प्रसन्नता प्राप्त होती है। इस सम्बन्ध में यही एक बात और भी जान लेने की है कि रुचि का आकर्षण समानता में ही विशेष रूप से रहता है । मनुष्य के आचार-विचार जैसे हैं वह अपने वैसे लोगों को ही अपने साथ सम्बन्धित कर लेता है । "चोर-चोर मौसेरे भाई" बन जाते हैं । नशेबाजों की उक्ति है कि "दम भाई सो निज भाई" इसी प्रकार भले-बुरे, चोर, साधु, बालक, वृद्ध हर तरह के मनुष्य अपनी समानता का संगठन करते हैं । इस संगठन से अनेक गुना लाभ है । अलग-अलग मनुष्य थोड़ी-थोड़ी लकड़ी लाकर उन्हें अलग-अलग जलाकर शीत निवारण करें तो बहुत खर्च होने पर थोड़ा-थोड़ा लाभ होगा किन्तु यदि वे सब अपनी लकड़ियों को इकट्ठा करके एक ही स्थान पर सम्मिलित रूप से जलायें तो आग बहुत तीव्र जलेगी और सबका शीत निवारण हो जायेगा । संगठन में ऐसी ही महत्त्वपूर्ण विशेषता होने से साधारण लोग अपने समान विचार के लोगों के साथ रहना ठीक समझते हैं । इसलिये यह आकर्षण है । हर एक सम्प्रदाय का कहना है कि हमारे धर्म में शामिल होने से मुक्ति, स्वर्ग, जन्नत, बहिस्त, हैविन आदि की प्राप्ति होगी । धर्माचार्यों का यही प्रयत्न रहता है कि उनके सम्प्रदाय में अधिक लोग शामिल हों । वे अपने सम्प्रदाय में दीक्षित व्यक्ति को धर्मात्मा घोषित करते हैं। कारण यही है कि एक समान विचार के लोगों का एक सम्बन्ध सूत्र में बँधकर रहना एक-दूसरे के लिये बहुत ही लाभदायक है । जो सबसे अलग रहता है, दूसरों से कम सम्बन्ध रखता है उसे लोग अज्ञानी, स्वार्थी, निर्मोही, हृदयहीन, निष्ठुर कहते हैं एवं जो समूह में अत्यन्त लिप्त होकर किन्हीं व्यक्तियों से अतिममता जोड़ लेता है उसे मोहग्रस्त, मायाबन्धित कहते हैं । हमें समूहबद्ध रहना चाहिए, सद्विचार वालों को समता वाले व्यक्तियों के साथ सम्बन्धित रहना चाहिए । यह धर्म है । अति और अभाव की दशा में स्वार्थी अथवा मोहग्रस्त कहा जाता है जो अधर्म के ही दूसरे नाम हैं ।

एक पूर्ण मानव की रचना के ईश्वर ने दो भाग कर दिये हैं । चने की दो दालें मिलकर एक चना बनता है । इसी प्रकार स्त्री और पुरुष मिलकर पूर्ण मानव बनता है । न केवल शारीरिक विकास की वरन् मानसिक विकास की गति भी दाम्पत्तिक जीवन से बढ़ती है । इस धर्म विवेचन की पुस्तक में शरीर रचना और काम विज्ञान की उन पेचीदगियों का वर्णन करने का स्थान नहीं है, जिसके आधार पर वैज्ञानिक दृष्टि से यह सिद्ध किया जा सकता है कि स्त्री और पुरुष बिना एक-दूसरे के बहुत ही क्षति पीड़ित रहते हैं । बालक-बालिकाएँ अपने माता-पिता भाई-बहिनों से वह रस खींचते हैं । जिन लड़कियों को छोटे लड़कों के साथ खेलने का, पिता, चाचा, ताऊ आदि के पास रहने का अवसर नहीं मिलता वे अनेक दृष्टियों से निर्बल रह जाती हैं । इसी प्रकार जो लड़के माता, बहिन, चाची, दादी, बुआ आदि के सम्पर्क से वंचित रहते हैं उनमें भी अनेक भारी-भारी कमियाँ रह जाती हैं । सरकारी मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट देखने से पता चलता है कि विवाहितों की अपेक्षा विधवा एवं विधुरों की मृत्यु संख्या बहुत बढ़ी-चढ़ी होती है । यहाँ साधु-महात्माओं के कुछ अपवादों की हम चर्चा नहीं करेंगे क्योंकि वे तो एकाकी रहते हुए भी अन्य उपायों से क्षति की किसी प्रकार पूर्ति कर लेते हैं पर यह सर्व-साधारण के लिए सम्भव नहीं है । विवाह को पवित्र धार्मिक संस्कार माना गया है । पुत्र का विवाह कर देना पिता अपना धर्म-कर्त्तव्य समझता है, कन्या दान के फल से कन्या का पिता स्वर्ग की प्राप्ति की आशा करता है । कारण यह है कि दाम्पत्य जीवन बिताना मनुष्य की स्वाभाविक, ईश्वरप्रदत्त आवश्यकता है । उसकी पूर्ति करना धर्म कर्त्तव्य कहा ही जाना चाहिए । तरुण एकाकी, स्त्री-पुरुषों को सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है । विधवाएँ और विधुर स्वाभाविक रीति से गृहस्थ जीवन बिताने वालों की अपेक्षा तिरस्कृत समझे जाते हैं, उन्हें भाग्यहीन समझा जाता है । शहरों में किसी सम्मिलित बड़े घर में एक हिस्सा किराये पर लेने के लिए विधुर लोग कोशिश करते हैं पर उन्हें बहुत बार सफलता नहीं मिलती क्योंकि सद्गृहस्थों बीच विधुर तो एक अविश्वासी, नीची श्रेणी का जीव समझा जायेगा । सधवा स्त्रियाँ बाहर के लोगों से वार्तालाप कर सकती हैं, शृंगार कर सकती हैं, परन्तु विधवा का ऐसा करना सन्देह भरा हुआ समझा जायेगा क्योंकि अविवाहित रहना मनुष्य की स्वाभाविक

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

ईश्वरप्रदत्त दृष्टि के अनुसार अवांछनीय है। यह अभावजन्य अधर्म है । अब अतिजन्य अधर्म को लीजिए , व्यभिचारी, कुकर्मी, अप्राकृतिक कर्म करने वाले, अगम्या से गमन करने वाले जो अनुचित उचित का भेद त्यागकर विवाह क्षुधा की अतिशय तृप्ति पर उतारू हो जाते हैं वे भी पापी कहे जाते हैं ।

आत्म-गौरव की वृद्धि चाहने की भावना सर्वत्र पाई जाती है । नेता, मुखिया, गुरु, शासक, व्यवस्थापक, अधिकारी, पदवीधारी, जीवनमुक्त, सिद्ध, वैज्ञानिक, विद्वान, दार्शनिक आविष्कारक, संचालक बनने की इच्छाएँ मानसिक भूमिका को आन्दोलित करती रहती हैं । चरित्रवान्, धर्मनिष्ठ, सदाचारी, सद्गुणी, कर्त्तव्यपरायण, व्यक्तियों में स्वाभिमान की भावना प्रमुख होती है । वे आत्म-गौरव को स्वयं अनुभव करते हैं और उसे ऐसे सुन्दर ढंग से संसार के सामने रखते हैं कि अन्य लोग भी उनके व्यक्तित्व का आदर करें । नीचे दर्जे के लोग कपड़े, जेवर, धन, सवारी, पदवी आदि की सहायता से अपनी महत्ता प्रकट करते हैं और ऊँची श्रेणी के विचार वाले व्यक्ति सद्गुणों से अपने आपे का प्रदर्शन करते हैं । ''आत्मा का बढ़ा हुआ गौरव अनुभव करना'' सारी योग साधना का केवल मात्र इतना ही दृष्टि बिन्दु है, आत्मा को परमात्मा में मिला देना, मुक्ति लाभ करना इन शब्दों के अन्तर्गत आत्म-गौरव की वृद्धि करने की ही भावना खेल रही है । स्वाभिमान की आत्मसम्मान की आकांक्षा उन्नततम, विकासवान मनुष्यों में अधिक स्पष्ट देखी जाती है क्योंकि वह इच्छा उच्च आध्यात्मिक सतोगुणी भूमिका में उत्पन्न होती है । आत्म-गौरव की प्राप्ति मनुष्य की आध्यात्मिक भूख है । जो इस साधना में प्रवृत्त है वह धर्मात्मा कहलाता है किन्तु जिसने आत्म-सम्मान नष्ट करके दीनता, दासता, पशुता को अपना लिया है वह पापी है । इसी प्रकार वह भी पापी है जो अनुचित आत्मगौरव में प्रवृत्त है । ऐसे मनुष्य अहंकारी, घमण्डी, अकड़बाज, बदमिजाज कहकर अपमानित किये जाते हैं ।

मनुष्य को मनुष्य बनना चाहिए । इन्सानियत आदमियत, मनुष्यत्व वह स्वर्ग सोपान है जिसके लिये देवता भी तरसते हैं । इस मध्यम मार्ग को अपनाने वाले देव-स्वभाव के मनुष्य कर्त्तव्यपरायण एवं धर्मात्मा कहे जाते हैं । इन्सानियत धर्म है । इसके अभाव को हैवानियत और अति को शैतानियत कहते हैं । जो व्यक्ति अपनी स्वाभाविक ईश्वरप्रदत्त इच्छाओं को कुचलता हुआ दीनतापूर्वक अभावग्रस्त जीवन व्यतीत कर रहा है वह आत्मघाती पशुता को अपनाने वाला अधर्मी है । इसी प्रकार वह भी अधर्मी है, जो इच्छाओं की अति पूर्ति के लिए व्याकुल होकर मर्यादा को छोड़ बैठा है । दूसरों की परवाह किए बिना अत्यन्त तीव्र वेग से, इच्छाओं को पूर्ण करने के लिये तूफानी गति से दौड़ता है उस परपीडक, शैतानियत को ग्रहण करने वाले को अधर्मी के अतिरिक्त और क्या कहा जाय ? अति में पाप है और अभाव में भी पाप है । अत्यन्त धीरे चलने वाला पिछड़ जाता है और अत्यन्त दौड़ने वाला थककर चूर-चूर हो जाता है । इसलिये आप मध्यम मार्ग को ग्रहण कीजिये, दीनतापूर्वक अकर्मण्यता के अज्ञान में पड़े अभावग्रस्त जीवन बिताना छोड़िये ! चलिये, उठिये, मनुष्यों की भाँति गौरव और सुख शान्ति का जीवन प्राप्त कीजिये ! परमात्मा ने आपको जो भूखें दी हैं वे आपकी उन्नति में सहायता के लिये हैं उन्हें पूरा करने के लिये विवेकपूर्वक अपना कार्यक्रम निर्धारित कीजिए, संसार सब प्रकार सुविधाजनक सामग्रियों से भरापूरा है, फिर आप ही क्यों मलीन, उदास, अभावग्रस्त, दीनतापूर्वक जीवन बितावें ? उठिये । मध्यम मार्ग को अपनाइए और मनुष्य का सा सुव्यवस्थित जीवन व्यतीत कीजिए। लेकिन सावधान रहना कहीं आपकी इच्छाएँ अमर्यादित होकर शैतानियत की ओर न खिसक पड़ें । घोड़े को '' आगे रोक, पीछे ठोक'' नीति से कदम चाल चलना सिखाया जाता है । आप जीवन को विकसित कीजिए किन्तु उसे शैतानियत तक मत बढ़ने दीजिए । मनुष्य का धर्म है इसलिए इसी अमृतमय मध्यम मार्ग पर आरूढ़ होते हुए अपनी मंगलमय जीवन यात्रा को आगे बढ़ने दीजिए ।

धर्म का मर्म

सृष्टि का निर्माण होने पर जीवों में जब चेतना शक्ति उत्पन्न हुई और वे कुछ कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के सम्बन्ध में सोचने-विचारने लगे तो उनके सामने धर्म-अधर्म का प्रश्न उपस्थित हुआ । उस समय भाषा और लिपि का सुव्यवस्थित प्रचलन नहीं था और न कोई धर्म पुस्तक ही मौजूद थी । शिक्षा देने वाले धर्मगुरु भी दृष्टिगोचर न होते थे, ऐसी दशा में अपने अन्दर से पथ-प्रदर्शन करने वाली आध्यात्मिक प्रेरणा जाग्रत होती थी। मनुष्य उसी के अनुसार आचरण करते थे 'वेद अनादि, ईश्वरकृत हैं ।' इसका अर्थ यह है कि धर्म का आदि स्रोत मनुष्यों द्वारा निर्मित नहीं है वरन् सृष्टि के साथ ही अन्तरात्मा द्वारा ईश्वर ने उसे मानव जाति के निमित्त भेजा था । वेद की भाषा या मन्त्र रचना ईश्वर निर्मित है, यह मान्यता ठीक नहीं, वास्तविकता यह है कि प्रबुद्ध आत्माओं वाले ऋषियों के अन्तःकरण में ईश्वरीय सन्देश आये और उन्होंने उन सन्देशों को मन्त्रों की तरह रच दिया । प्रायः सभी धर्मों की मान्यता यह है कि ''उनका धर्म अनादि है, पैगम्बरों और अवतारों ने तो उनका पुनरुद्धार मात्र किया है ।''

तत्वतः सभी धर्म अनादि हैं । अर्थात् एक ही अनादि धर्म की शाखाएँ हैं । उनका पोषण जिस वस्तु से होता है । वह 'सत्' तत्त्व है । वही धर्म सच्चे ठहर सकते हैं जो सत् पर अवलम्बित हैं । असत् तो वंचना मात्र है वह अल्पस्थायी होता है और बहुत शीघ्र नष्ट हो जाता है कोई भी सम्प्रदाय यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि हमारा धर्म 'सत्' पर अवलम्बित नहीं है। इसलिए यह

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

स्वीकार करना ही होगा कि एक ही अनादि सत्य का आश्रय लेकर अनेक धर्म-सम्प्रदाय उत्पन्न हुए हैं । यह आदि सत्य हमारी अन्तरात्मा में ईश्वर द्वारा भली प्रकार पिरो दिया गया है । न्याय बुद्धि का आश्रय लेकर जब हम कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का निर्णय करना चाहते हैं तो अन्तरात्मा उसका सही-सही निर्णय कर देती है । विभिन्न सम्प्रदायों के अपने-अपने स्वतन्त्र धर्मग्रन्थ हैं । वेद, कुरान, बाइबिल, जिन्दावस्ता, धम्मपद आदि असंख्य धर्मशास्त्रों में उसी महान 'सत्' की व्याख्या की गई है । अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार इन महान् शास्त्रों ने सत् की व्याख्या की है, फिर भी उन्हें सन्तोष नहीं हुआ और अपने कथन की अपूर्णता को स्वीकार करते हुए 'नेति' 'नेति' ही कहते रहे । सभी धर्मों में नये सुधारक होते रहे और उन्होंने पुरानी व्याख्या को दोषपूर्ण बताकर अपनी रुचि के अनुसार सुधार किये । इन सुधारकों का कथन था कि उन्हें ईश्वर ने ऐसा ही सुधार करने के निमित्त भेजा है । इन सुधारकों में भी सुधार करने वाले होते आये हैं और वे सब भी धर्माचार्य ही थे । सत्य एक ही है तो भी उसका प्रयोग करने की विधियाँ बदलती रहती हैं । शरीर की ऋतु-प्रभावों से रक्षा करनी चाहिए, यह एक सच्चाई है पर इसका व्यावहारिक रूप समय-समय पर बदलता रहता है । जाड़े के दिनों में जिन कपड़ों की आवश्यकता थी उनका गर्मी के दिनों में कोई उपयोग नहीं है । इसलिए पोशाक में परिवर्तन करना जरूरी है । यह आक्षेप करना उचित न होगा कि पैगम्बरों ने अपनी बात को ईश्वर की वाणी क्यों कहा ? यदि उनके संदेश ही ईश्वर की वाणी थे तो अनेक धर्मों के पैगम्बर मतभेद क्यों रखते हैं ? इनमें से एक को सच्चा माना जाय तो बाकी सब झूठ ठहरते हैं । तथ्य बात यह है कि सभी पैगम्बरों की वाणी में ईश्वरीय संदेश था । उन्होंने जो कुछ कहा अन्तरात्मा की पुकार के आधार पर, ईश्वर की आकाशवाणी के संकेत पर कहा । समयानुसार प्रथाएँ बदलती हैं जैसे कि ऋतुओं के अनुसार पोशाक बदलती हैं । एक व्यक्ति दिसम्बर के महीने में यह शिक्षा देता है कि ऊनी कोट और स्वेटर पहनो तो उसकी शिक्षा सत्य से, धर्म तत्व से परिपूर्ण है । किन्तु यदि दूसरा व्यक्ति जून के महीने में यह कहता है कि-अब ऊनी कोट की, रुई के लिहाफ की कोई जरूरत नहीं है, बल्कि पतले कपड़े पहनने चाहिए । तो वह भी झूठा नहीं है ।

कई बार साम्प्रदायिक और सामाजिक रीति-रिवाजों और अन्य मान्यताओं के सम्बन्ध में आपके सामने बड़ी पेचीदा गुत्थी उपस्थित हो सकती है । विभिन्न धर्मों के पूजनीय अवतार और धर्म ग्रन्थ एक-दूसरे से विपरीत उपदेश देते हैं । ऐसी दशा में बड़ा मतिभ्रम होता है किसे मानें और किसे न मानें ? इस गुत्थी को सुलझाने के लिए आपको यह बात हृदयंगम कर लेनी चाहिए कि अवतारों का आगमन और धर्मग्रन्थों का निर्माण समय की आवश्यकता को पूरी करने के लिये होता है । कोई पुराने नियम जब समय से पीछे के हो जाने के कारण अनुपयोगी हो जाते हैं, तो उनमें सुधार करने के लिये नये-नये सुधारक, नये अवतार प्रकट होते हैं । देश, काल और व्यक्तियों को विभिन्नता के कारण उनके उपदेश भी अलग-अलग होते हैं । देश,काल और पात्र के अनुसार वेद एक से चार हुए, कुरान में संशोधन हुआ, बाइबिल तो अनेक अवतारों की उक्तियों का संग्रह है । जब वैदिकी ब्रह्मोपासना आवश्यकता से अधिक बढ़ी तो भौतिकवादी वाममार्ग की आवश्यकता हुई, जब वाममार्गी हिंसा की अति हुई तो भगवान बुद्ध ने अहिंसा का मार्ग चलाया, जब अहिंसा का रोड़ा मानव जीवन के मार्ग में बाधा देने लगा तो शंकराचार्य ने उसका खण्डन करके वेदान्त का प्रतिपादन किया । इसी प्रकार समस्त विश्व में धार्मिक और सामाजिक अन्तर होते रहे हैं । साम्प्रदायिक नियम और व्यवस्थाओं का अस्तित्व समयानुसार परिवर्तन की धुरी पर घूम रहा है । देश, काल और पात्र के भेद से इनमें परिवर्तन होता है और होना चाहिए । एक नियम एक समय के लिए उत्तम है तो वही कालान्तर में हानिप्रद हो सकता है । गर्मी की रातों में लोग नंगे बदन सोते हैं पर वही नियम सर्दी की रातों में पालन किया जायेगा तो उसका बड़ा घातक परिणाम होगा ।

संसार के अनेक धर्मों के आदेशों को सामने रखें । उनके सिद्धान्त और आदेशों पर दृष्टिपात करें तो वे बहुत बातों में एक-दूसरे से विपरीत जाते प्रतीत होते हैं । उनमें विरोधाभास भी दिखाई देता है, परन्तु वास्तव में भ्रम में पड़ने की कोई बात नहीं है । अन्धों ने एक बार एक हाथी को छूकर देखा और वे उसका वर्णन करने लगे । जिसने पैर छुआ था उसने हाथी को खम्भा जैसा, जिसने पूँछ छुई थी उसने बाँस जैसा, जिसने कान छुआ था उसने पंखे जैसा, जिसने पेट छुआ था उसने चबूतरे जैसा बताया । वास्तव में वे भी सत्यवक्ता हैं, क्योंकि अपने ज्ञान के अनुसार सभी ठीक कह रहे हैं । उनका कहना उनकी परिस्थिति के अनुसार ठीक ही है । परन्तु उसे पूरा नहीं माना जा सकता है । देश, काल और पात्र की उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए अवतारी आत्माओं ने विभिन्न समयों पर विभिन्न धर्मों का उपदेश दिया है । भगवान महावीर को एक माँस-भोजी निषाद मिला । उन्होंने उसे माँस भोजन त्याग देने के लिए बहुत समझाया पर कुछ भी असर न हुआ । तब उन्होंने सोचा कि इसकी मनोभूमि इतनी निर्मल नहीं है जो अपने चिरकाल के संस्कारों को एकदम त्याग दे इसलिये उन्होंने धीरे-धीरे उसे बढ़ने का उपदेश देना उचित समझा । सोच-विचार के बाद भगवान महावीर ने उस निषाद से कहा अच्छा भाई ! कौवे का माँस खाना तो छोड़ दोगे यह भी बड़ा धर्म है । निषाद इसके लिये तैयार हो गया क्योंकि कौवे का माँस खाने का उसे अवसर ही न आता था जब त्याग का संकल्प कर लिया तो उसके मन में धर्म भावना जाग्रत हुई और धीरे-धीरे अन्य त्यागों को अपनाता हुआ कुछ दिन बाद बड़ा

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

भारी धर्मात्मा, अहिंसा का पुजारी और महावीर का प्रधान शिष्य बन गया । अवतारी महापुरुष जिस जमाने में हुए हैं उन्होंने उस समय की परिस्थितियों का, देश, काल का बहुत ध्यान रखा है । अरब में जिस समय हजरत मोहम्मद साहब हुए थे उस समय वहाँ के निवासी अनेक स्त्रियाँ रखते थे, उन्हें चाहे जब रखते और चाहे जब निकाल देते थे, जब सन्तान बढ़ती तो उनका पालन-पोषण न कर पाते तो निर्दयतापूर्वक बच्चों को मार-मारकर फेंक देते, उपयोगी और अनुपयोगी पशुओं की अन्धाधुन्ध हत्या करते थे । उन्हें धीरे-धीरे सुधारने के लिये हजरत ने चार स्त्रियाँ रखने की, बालकों को न मारने की, जीवहत्या एक नियत संख्या में करने की शिक्षा दी । समय बीत जाने पर अब तक एक व्यक्ति को चार स्त्रियाँ रखने की आवश्यकता नहीं, देखने में वह शिक्षा आवश्यक हो गई पर इसके मूल में छिपा हुआ सत्य ज्यों का त्यों आवश्यक है-"अपनी आवश्यकताओं को घटाओ, भोगों को कम करो।" प्रेम का यह सन्देश उस शिक्षा के मूल में था वह उद्देश्य करोड़ों वर्षों में भी परिवर्तित न होगा ।

आप गम्भीरतापूर्वक धर्मतत्व पर दृष्टिपात कीजिए और धर्म की उन नियत व्यवस्थाओं में कौन-सी पवित्र और शाश्वत भावना काम कर रही है उसे ढूँढ़ निकालिये । सत्य शाश्वत है और कायदे, कानून, विचार, व्यवस्था परिवर्तनशील हैं । इस ध्रुव सत्य का हृदयंगम करते ही धर्मों का आपसी विरोध वैमनस्य दूर हो जाता है और धर्म सत्य हैं एवं एक ही नींव पर रखे हुए हैं यह दृष्टिगोचर होने लगता है ।

आप जिस सम्प्रदाय से निकट सम्पर्क रखते हैं । उसका सूक्ष्म दृष्टि से निष्पक्ष परीक्षक की भाँति, खरे आलोचक की भाँति निरीक्षण कीजिये । निस्सन्देह उसमें बहुत-सी बातें बहुत ही उत्तम होंगी क्योंकि हर सम्प्रदाय सत्य का सहारा लेकर खड़ा हुआ है । उसमें कुछ अच्छाई अवश्य ही होनी चाहिए । किन्तु यह भी निश्चय है कि समय ही प्रगति के साथ उसमें कुछ न कुछ निरुपयोगिता भी अवश्य आई होगी । निरुपयोगिता को भी मोहवश छाती से चिपटाये फिरेंगे तो आप अपना बहुत बड़ा अहित करेंगे । दो दिन पूर्व जो भोजन तैयार किया था, वह बहुत ही पवित्र, उत्तम, स्वास्थ्यकारक था पर दो दिन पुराना हो जाने के कारण आज तो वह बासी हो गया । उसमें बदबू आने लगी, स्वादरहित एवं हानिकर हो गया । उस बासी भोजन को मोहवश यदि ग्रहण करेंगे तो अपने को रोगी बना लेंगे । साम्प्रदायिक अनुपयोगी रीति-रिवाजों की परीक्षा कीजिए और उनका वैसे ही परित्याग कर दीजिये जैसे मरे हुये कुत्ते की लाश को घर से विदा कर देते हैं । पिछला कल बीत गया । अपनी बहुत-सी आवश्यकता-अनावश्यकताओं को वह अपने साथ समेट ले गया । आज तो आज की समस्याओं पर विचार करना है । आज के लिए उपयोगी नयी व्यवस्था का निर्माण करना है । एक समय में एक रिवाज उत्तम थी, केवल इसीलिये वह सदा उत्तम रहेगी, यह कोई तर्क नहीं है । हो सकता है कि एक समय 'नरमेध यज्ञ' होते हों परन्तु आज उनकी पुनरावृत्ति कौन करेगा ? आदिम युग में मनुष्य के पूर्वज दिगम्बर रहते थे पर आज तो सभी को कपड़ों की आवश्यकता होती है । पहले लोहे और पत्थर से आग पैदा की जाती थी इसीलिये कोई दियासलाई का बहिष्कार नहीं कर देता । अमुक नगर से अमुक नगर को पहले पक्की सड़क न थी पर आज बन गई है तो उस पर चलना पाप थोड़े ही कहा जायेगा । आप बुद्धि बेचकर पिछले कल की हर बात के अन्धविश्वासी मत बन जाइये अन्यथा अपने जीवन को दारुण दुःखों में फँसा लेंगे । बन्द गड्ढे का पानी सड़ जाता है । कहीं ऐसा न हो कि रूढ़ियों के पौंगा-पन्थी के गड्ढे में बन्द पड़ी हुई आपकी बुद्धि सड़ जाय और उसकी दुर्गन्धि से पास-पड़ोसियों का सिर फटने लगे । सदैव अपनी चेतना को स्वच्छता की ओर रखिये । घर के कूड़े को जैसे रोज-रोज साफ किया जाता है वैसे ही धर्म-साधना के लिये अनुपयोगी रीति-रिवाजों की सदैव सफाई करते रहा कीजिए । उनके स्थान पर वर्तमान समय के लिए जिन प्रथाओं की आवश्यकता है, उनकी आधारशिला आरोपित करने के लिये साहसपूर्वक आगे कदम बढ़ाया कीजिये ।

आपको नाना जंजालों से भरे हुए मत-मतान्तरों की ओर मुड़कर देखने की जरूरत नहीं है, क्योंकि उनमें से बहुत-सी वस्तुएँ समय से पीछे की हो जाने के कारण निरुपयोगी हो गई हैं, उनसे चिपके रहने का अर्थ यह होगा कि अपने हाथ-पाँव बाँधकर अपने को अँधेरी कोठरी में पटक लिया जाय । आप किसी भी धर्मग्रन्थ, सम्प्रदाय या अवतार का अनादर मत करिये, क्योंकि भले ही आज उनके कई अंश निरुपयोगी हो गये हैं, पर एक समय उन्होंने सन्तुलन ठीक रखने के लिए सराहनीय कार्य किये थे । आप सभी धर्मग्रन्थों, सम्प्रदायों और अवतारों का आदर करिये और उनमें जो बातें ऐसी प्रतीत हों, जिनकी उपयोगिता अब भी बनी हुई है, उन्हें ग्रहण करके शेष को अस्वीकार कीजिए । हंस की वृत्ति ग्रहण करके दूध को ले लेना और पानी को छोड़ देना चाहिये ।

सत् धर्म का सन्देश है कि ईश्वर के प्राणप्रिय राजकुमारो ! हे सच्चिदानन्द आत्माओ ! हे नवीन युग के निष्कलंक अग्रदूतो ? अपने अन्तःकरण में ज्योति पैदा करो । अपने हृदयों के कषाय-कल्मषों को मथकर निरन्तर धोते रहो । अपने अन्दर पवित्रता, निर्मलता और स्वच्छता को प्रतिक्षण स्थान देते रहो, इससे तुम्हारे अन्दर ब्रह्मत्व जाग्रत होगा, ऋषित्व उदय होगा, ईश्वर की वाणी तुम्हारी अन्तरात्मा का स्वयं पथ-प्रदर्शन करेगी और बतावेगी कि इस युग का क्या धर्म है ? जब आप अनादि सत् धर्म को स्वीकार करते हैं तो इस नाना प्रकार के जंजालों से भरी हुई पुस्तकों की ओर क्यों ताकें ? सृष्टि के आदि में जब सत् धर्म का उदय हुआ था तो जीवों का पथ-प्रदर्शन उनकी अन्तरात्मा-में बैठे हुए परमात्मा ने किया था इसी

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

को 'वेद' या आकाशवाणी कहा जाता है । आप पुस्तकों की गुलामी छोड़िये और आकाशवाणी की ओर दृष्टिपात कीजिये। आपकी अन्तरात्मा स्वतन्त्र है, ज्ञानवान है और प्रकाश स्वरूप है । वह आपको आपकी स्थिति के अनुकूल ठीक-ठाक मार्ग बता सकती है । यह मत सोचिये कि आप तुच्छ, अल्प और असहाय प्राणी हैं और आपको अन्धे की तरह किसी की उँगली पकड़कर ले चलने वाले की जरूरत है । ऐसा विचार करना आत्मा के ईश्वरीय अंश का तिरस्कार करना होगा ।

धर्म-अधर्म का निर्णय करने के लिये सद्बुद्धि आपको प्राप्त है । उसका निष्पक्ष होकर, निर्भय उपयोग किया कीजिये । मत कहिये कि हमारी बुद्धि अल्प है, हमारा ज्ञान थोड़ा है । हो सकता है कि अक्षर ज्ञान की दृष्टि से आप पीछे हों, परन्तु सद्बुद्धि तो ईश्वर ने सबको दी है । वह आपके पास भी कम नहीं है । दीनता की भावना को आश्रय देकर आत्मा का तिरस्कार मत कीजिये । अपनी सद्बुद्धि पर विश्वास करिये और इसी की सहायता से आज के लिए उपयोगी रीति-रिवाजों को स्वीकार कीजिये यही सच्चा धर्म का मार्ग है ।

धर्म और प्रथाएँ

पुरानी रीति-रिवाजें माननी चाहिये या नहीं । इस प्रश्न का विवेचन करते हुए आपको प्राचीनता से राग-द्वेष नहीं होना चाहिये । बहुत-सी बातें ऐसी हैं जो प्राचीनकाल से ऐसे रूप में विद्यमान हैं जो अब भी वैसी ही उपयोगी हैं जैसी कि पूर्व समय में थीं किन्तु बहुत-सी बातें ऐसी हैं जो बहुत पीछे की हो गई हैं और उनकी उपयोगिता नष्ट हो चुकी है । इनकी मरी हुई लाशों को छाती से चिपकाये रहने से कुछ प्रयोजन सिद्ध न होगा वरन् सड़न और दुर्गन्ध ही बढ़ेगी इसलिए आपका दृष्टिकोण यह नहीं होना चाहिए कि पुरानी बातों के अन्धविश्वासी रहेंगे या हर बात में उसका विरोध ही करेंगे । आप तो हर एक कार्य विचार और प्रथा की इस कसौटी पर कसिये कि वह देश, काल, पात्र के लिए भी उपयोगी है या नहीं । यदि उपयोगी प्रतीत हो तो ऐसा मत सोचिये कि नवीन विचार वाले हमें क्या कहेंगे, हमारा उपहास करेंगे । किन्तु यदि पुराने विचारों की अब की परिस्थितियों से टक्कर न खायें तो उसे निस्संकोच त्याग दीजिये । इस प्रथा को कायम रखने के लिए यह विचार बिल्कुल निरर्थक है कि अमुक पुस्तक में इसका उल्लेख है या अमुक महापुरुष ने इस बात का आदेश किया था । उन धर्म पुस्तकों का या उन महापुरुषों के प्रति आपके अन्दर अवज्ञा के भाव नहीं होने चाहिये वरन् आदर करना चाहिए कि अपने समय में अपने समाज के लिए कैसी सुन्दर व्यवस्था का उन्होंने निर्माण किया था, आज उनकी बातें समय से पीछे पड़ गई हैं तो उनसे हम मोह क्यों करें ? क्या उन महापुरुषों ने अपने में पूर्व प्रचलित प्रथाओं के साथ मोह किया था । यदि करते तो उनके महत्त्वपूर्ण मन्तव्य जो हमें क्या सुनाई पड़ते हैं प्रकट ही न हुए होते ।

रीति-रिवाजों का आधार मानवीय सुविधा है, इसलिये उन्हें धर्म के साथ सम्बन्धित नहीं किया जा सकता । धर्म के तात्त्विक सिद्धान्त सार्वभौम होते हैं, वे सम्पूर्ण मनुष्यों पर एक समान लागू होते हैं । किन्तु जो जाति भेद, स्थान भेद आदि के कारण बदल जाते हों वे धर्म नहीं कहे जा सकते । हिन्दू सन्ध्या करता है, मुसलमान नमाज पढ़ता है, ईसाई प्रेयर करता है । इनके तरीके या कर्मकाण्ड अलग-अलग हैं । क्या आप इन तरीकों को ही धर्म कहेंगे ? तब तो अपने मजहब वालों के सिवाय अन्य सारी दुनिया अधार्मिक ही कही जायेगी । आप हिन्दू हैं और सन्ध्या करते हुए विश्वास करते हैं कि इस प्रकार अन्तरात्मा की वाणी ईश्वर तक पहुँचाते हैं । ठीक इसी प्रकार एक सच्चे मुसलमान को भी यह मानने का अधिकार है कि वह नमाज द्वारा खुदा तक अपनी पुकार पहुँचाता है । दोनों ही सच्चे हैं । यदि रिवाजों की प्रधानता होती तो दोनों में से एक धार्मिक होता दूसरा अधार्मिक । किन्तु बात ऐसी नहीं है, रीति-रिवाजों का कोई मूल्य नहीं केवल भावना का महत्त्व है ।

मान लीजिये आप हिन्दू हैं । आपने सनातनी आर्य समाजी आदि मतभेद आते रहते हैं और सोचते हैं कि इनमें से किसे स्वीकार करना चाहिये किसे नहीं ? इस प्रश्न का निर्णय करने के लिए बाहरी विवादों से कुछ अधिक सहायता न मिलेगी क्योंकि दोनों ही पक्ष वाले अपने-अपने मत का समर्थन प्रौढ़ शब्दावली एवं प्रखर तर्कों द्वारा करते हैं । इस शब्दावली और तर्क समुदाय में हर एक व्यक्ति उलझ सकता है और अपने को भ्रमित कर सकता है । भ्रम से बचने का एक ही सर्वोत्तम उपाय है कि शान्त चित्त से भ्रम के ऊपर विचार करें । विचार में स्वार्थपरता, लोक-लज्जा, हठधर्मी इन तीनों ही वस्तुओं को बिलकुल अलग कर दें और विशाल दृष्टिकोण, उदार-हृदय, निष्पक्ष निर्णय को अपनाते हुए सोचें कि वर्तमान समय की परिस्थितियों में कौन प्रथाएँ हितकर और कौन अहितकर हैं । पिछली भूमि पर से कदम उठाकर आगे की जमीन पर पाँव रखना यह यात्रा का निर्बाध नियम है । आप जब तक असंख्य मील लम्बी यात्रा पार कर चुके हैं और इस बीच में कल्पनातीत लम्बाई की भूमियों में गुजरते हुए उन्हें पीछे छोड़ चुके हैं, फिर जिन परिस्थितियों में पड़े हुए हैं उन्हें छोड़ने की झिझक क्यों ? अपने को किन्हीं संकुचित रस्सियों में मत बाँधिये क्योंकि आप स्वतन्त्र थे और अब स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए विजय यात्रा कर रहे हैं । 'सत्य की शोध' यही जीवन का कार्य होना चाहिये । रूढ़िवाद यदि आपको सड़ी-गली रस्सियों में जकड़े रहे और विकास-क्रम को रोककर अधिकाधिक स्वतन्त्र विचारधारा अपनाने से वंचित कर दे तो समझिये कि आपने गलत चीज अपना ली । धर्म के नाम पर उसकी सड़ी-गली पीव को आपने बटोर लिया । यह पीव किसी

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

समय में पुष्ट माँस रहा था यह समझकर उसे चुल्लू में भरे फिरना योग-शास्त्र की दृष्टि में बिल्कुल मूर्खतापूर्ण है ।

रसोई करने के लिए लकड़ी धोकर काम में लानी चाहिये या नहीं ? नल का पानी पीना चाहिए या नहीं ? कपड़े पहनकर भोजन करना चाहिये या नहीं ? अमुक व्यक्ति को छूकर स्नान करना चाहिए या नहीं ? रात्रि में भोजन करना चाहिए या नहीं ? पानी छानकर पीना चाहिए या नहीं ? अमुक के घर रसोई ग्रहण करनी चाहिए या नहीं ? आदि प्रश्नों का उत्तर देने में हम बिल्कुल असमर्थ हैं, यह बातें किसी स्वास्थ्य विज्ञान के वेत्ता से पूछनी चाहिए । क्योंकि इन खानपान सम्बन्धी बातों का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है, बल्कि यह सब प्रश्न स्वास्थ्य विज्ञान की अपेक्षा करते हैं । एक समय था जब कानूनों की सीमा छोटी थी और धर्मशास्त्र के अन्तर्गत स्वास्थ्य, समाज, राजनीति, गृहस्थ, अर्थशास्त्र, आदि सब बातें आ जाती थीं । आज यह व्यवस्था बदल गई है । धर्म को हम अध्यात्म शास्त्र या योग शास्त्र कहते हैं जो कि अपरिवर्तनशील है । अन्य नियमोपनियम देशकाल की अपेक्षा करते हैं, इसलिये उन्हें भौतिक भूमिका में लाकर स्वतन्त्र शास्त्र बना दिया गया है, यद्यपि उन पर अंकुश धर्म का ही है । इसलिए अब खान-पान, शौच स्नान का प्रश्न स्वास्थ्य विज्ञान की आधारशिला पर स्थिर होना चाहिए । यदि कोई प्राचीन धर्म पुस्तक कहती है कि ब्राह्मण के हाथ का भोजन ठीक है किन्तु स्वास्थ्य विज्ञान कहता है कि गन्देपन, बीमार या बुरी आदतों के कारण अमुक व्यक्ति के हाथ का भोजन न करना चाहिए तो हम आपको स्वास्थ्यविज्ञान के निर्णय को मानने की ही सम्मति देंगे । नल का पानी, कच्ची-पक्की रसोई, छुआछूत इन बातों में स्वास्थ्य शास्त्र का आदेश ही माननीय है । अध्यात्म शास्त्र इन मामलों में बहुत उदार है और वह अकारण अधिक प्रतिबन्ध एवं संकीर्णता में मनुष्य जाति को फँसाने की इच्छा नहीं करता ।

इसी प्रकार लड़की-लड़कों का विवाह किस उम्र में करना चाहिए यह प्रश्न स्वास्थ्य से ही सम्बन्ध रखता है । जिस आयु में सन्तानोत्पादन की स्वाभाविक आवश्यकता होती है, उस उम्र में विवाह होना चाहिए । जिस आयु में काम विकारों का भड़काने की नहीं वरन् बालकों को उससे बचाने की आवश्यकता होती है, उस आयु में विवाह करने की आज्ञा कोई धर्मशास्त्र नहीं दे सकता ।

दाम्पत्य जीवन किस प्रकार व्यतीत करना चाहिए, इसका उत्तर समाजशास्त्र के अन्तर्गत होगा, विवाहित स्त्री और पुरुष यदि एक दूसरे से सन्तुष्ट न रहें तो उन में कलह पैदा होगा और कलह पड़ोसियों पर बुरा प्रभाव डालेगा एवं सन्तान को घृणास्पद बनावेगा । ऐसी सन्तान भार रूप ही होगी । समाज की शान्ति और सुव्यवस्था इसी पर निर्भर है कि स्त्री-पुरुष आपस में सन्तुष्ट रहें, एक-दूसरे से प्रेम रखें । पतिव्रत और पत्नीव्रत का व्रत पूर्ण रूप से पालन किया जाय । दुराचार की कोई इच्छा तक न करे । यदि एक व्यक्ति दुराचार की इच्छा करता है तो अपनी वासना के लिये दूसरे को तैयार कर लेता है तो उन दोनों के सोच-विचार दूसरों में वैसे ही भावनाएँ उपजाते हैं । यह अवांछनीय सम्बन्ध जब प्रकट होते हैं तो घृणा, द्वेष, अपमान, तिरस्कार आदि के भाव पैदा होते हैं, जिससे समाज का बड़ा अनिष्ट होता है । यह सब बातें बतलाती हैं कि समाजशास्त्र की दृष्टि से स्त्री पुरुषों को पतिव्रत और पत्नीव्रत पालन करना चाहिए, एक स्त्री का एक ही पुरुष से सम्बन्ध होना चाहिये ।

परन्तु उपर्युक्त नियम अपरिवर्तनशील नहीं हैं । पर्वतीय प्रदेशों में जहाँ लड़कियाँ कम और लड़के अधिक उत्पन्न होते हैं, वहाँ ऐसे रिवाज पाये जाते हैं कि एक पिता के जितने पुत्र हों वे सम्मिलित रूप से एक लड़की के साथ विवाह कर लेते हैं । इसी प्रकार वह एक स्त्री चार-छह पति वाली होती है । उन प्रदेशों में यह प्रथा सर्वथा धर्मसम्मत है । पाँच पांडवों की एक स्त्री द्रौपदी का होना प्रसिद्ध है । इस प्रकार जिन प्रदेशों में स्त्रियाँ अधिक और पुरुष कम होते हैं वहाँ एक पुरुष को कई विवाह करने की अनुमति है । इस्लाम धर्म वाले मानते हैं कि एक-एक पुरुष को चार स्त्रियाँ तक रखने की ईश्वरीय आज्ञा है । ईसाई सभ्यता के अनुसार दाम्पत्य सम्बन्ध स्थापित करने का कार्य स्त्री-पुरुषों को स्वयं करना होता है । इसलिये वे बहुतों में से एक को चुनते हैं । इस चुनाव कार्य में यदि कई-कई सम्बन्ध बनाने-बिगाड़ने पड़ते हैं तो उस समाज के अनुसार यह कार्य कुछ भी अनुचित नहीं है । सन्तानोत्पादन का अभाव या वंश मर्यादा का नाश होने पर प्राचीन पुस्तकों में कुछ छूटें दी गई हैं जैसा कि महाभारत के कथनानुसार व्यासजी की वंश रक्षा के लिये परस्त्री गमन निषेध का अपवाद उपस्थित करना पड़ा था। यह छूटें समाज विभिन्नता, स्थिति विशेष और कारण विशेष के कारण कभी-कभी होती हैं और साधारणतः मनुष्य जाति का सुरक्षा का मार्ग यही है कि दाम्पत्य जीवन आदर्श हो और एक-दूसरे से सर्वथा सन्तुष्ट रहें ।

अफ्रीका की कुछ असभ्य जातियों में अब तक ऐसी रिवाज मौजूद हैं कि यदि किसी पुरुष की स्त्री की मृत्यु हो जाय तो उस पुरुष को भी स्त्री के साथ जला दिया जाता है । फिलीपाइन द्वीपों की एक जाति में ऐसा रिवाज थी कि विधुर पुरुष को कोई छूता नहीं वह जीवन भर मुँह पर कपड़ा ढाँके रहता है जिससे कोई उस पापी का मुँह न देखे । तिब्बत में मृत पत्नी के पति को फिर कोई स्त्री नहीं छूती, यहाँ तक कि माता और पुत्री भी उसे स्पर्श तक नहीं करतीं । दूसरी स्त्री का उसके साथ विवाह होने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता । ठीक इसी प्रकार की प्रथा भारतवर्ष की सवर्ण कही जाने वाली जातियों में प्रचलित है जिसके अनुसार विधवा स्त्रियों को इसी दशा में रहना होता है जैसा कि अफ्रीका, तिब्बत और फिलीपाइन की कुछ असभ्य जातियों में पुरुषों को रहना पड़ता है। योगशास्त्र ऐसी रीति-रिवाजों को वर्तमान समय से बहुत पीछे की

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

समझता है । स्त्री-पुरुष वास्तव में दो स्वतन्त्र सत्ताएँ हैं । एक-दूसरे को आगे बढ़ने के कार्य में सहायता दें, ईश्वर ने इस उद्देश्य से दो भिन्न लिंग पैदा किये हैं । वे एक स्वतन्त्र सहयोगी हैं, एक के न रहने से दूसरे का उन्नत क्रम रुद्ध कर दिया जाय । यह कोई मुनासिब बात नहीं है । संयम, ब्रह्मचर्य बड़ी सुन्दर वस्तुएँ हैं कोई व्यक्ति बाल ब्रह्मचारी रहे तो भी ठीक है, विधवा या विधुर होने पर कामवासना को त्याग सके तो भी अच्छा है, परन्तु यह ऐच्छिक प्रश्न है । बलपूर्वक कराया गया संयम असल में कोई संयम नहीं है । इस प्रकार लोक-व्यवहार के दैनिक कार्यों में मित्रता, शत्रुता, विवाह बन्धन आदि के सम्बन्ध में धर्म-शास्त्र बहुत उदार है । वह मनुष्य जाति की एकता, अखण्डता, व्यापकता, समानता को स्वीकार करता है, भाई से भाई को जुदा करने की, मनुष्य को मनुष्य से अलग हटाने की रूढ़ियों के संकुचित दायरे में बाँधने की, उन्नति के मार्ग में बाधा डालने की और आत्मिक स्वतन्त्रता में प्रतिबन्ध लगाने की धर्म कदापि इच्छा नहीं करता । आप धर्म को ग्रहण करिये और अधर्म के अज्ञान को कूड़े की तरह झाड़ू से बुहार कर घर से बाहर फेंक दीजिये ।

धर्म-संकट

अनेक बार मनुष्य के जीवन में ऐसे अवसर उपस्थित होते हैं, जब वह धर्म-संकट में पड़ जाता है । सामने दो ऐसे मार्ग आ जाते हैं, जो दोनों ही अरुचिकर होते हैं, उनमें से किसी को भी करने की इच्छा नहीं होती, फिर भी ऐसी परिस्थिति सामने होती है कि एक को किये बिना गुजारा नहीं-(१) एक ओर खाई दूसरी ओर खन्दक, (२) भई गति साँप छछूँदर केरी (३) मुँह में भरा गरम दूध न पीते बने न उगलते (४) मूसल निगलो या वृत्ति छोड़ो, आदि अनेक कहावतें जन-समाज में प्रचलित हैं जो यह सूचित करती हैं कि ऐसी द्विविधाएँ अक्सर सामने उपस्थित होती हैं और उनके हल ढूँढ़ने में बुद्धि विचलित हो जाती है।

धर्मग्रन्थ, लोकमत, उदाहरण, अभिवचन और भावुकता के आधार पर कुछ निर्णय करते हुए मस्तिष्क चकरा जाता है । मान लीजिये कि एक सिंह गाँव में घुस आवे और ग्रामवासियों को खाने लगे, ऐसे समय में धर्म ग्रन्थ टटोलने पर परस्पर विरोधी मन्तव्य प्राप्त होते हैं । एक स्थान पर लिखा होगा कि-"किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिये । सभी जीव ईश्वर के हैं, जिस प्राणी को हम बना नहीं सकते उसे मारने का हक नहीं है" दूसरे स्थान पर ऐसा लिखा होगा कि-आततायी को मार डालना चाहिए । दोनों ही व्यवस्थाएँ एक-दूसरे के विरोध में हैं, धर्मग्रन्थ के अवलम्बन करने पर जो धर्म-संकट उपस्थित हुआ उसका निराकरण हो सकना बहुत कठिन है । मित्रों से पूछा जाय तो वे अपनी विचार मर्यादा के अनुसार उत्तर देंगे । जैनी मित्र से पूछें तो कहेगा-चाहे जो होता रहे सिंह पर हाथ नहीं छोड़ना चाहिए । वेदान्ती कहेगा-संसार मिथ्या है, स्वप्न समाज है, तुम तो देखते मात्र रहो । गीताधर्म वाला कहेगा-"कर्त्तव्य पालन करो, आताताई को मारो, सिंह है या गाय इसकी विवेचना मत करो।" पीड़ित गाँववासी सिंह को अविलम्ब मार डालने की पुकार करेंगे । इस प्रकार लोकमत भी एक नहीं मिल सकता, कबूतर खाने में तरह-तरह की चिड़ियाँ अपनी-अपनी बोली बोलती हैं, किसकी बात बुरी कही जाय किसकी अच्छी ? कोई वस्तु चाहे कितनी अच्छी क्यों न हो उसके सब लोग समर्थक नहीं हो सकते । स्वराज्य जैसे सर्वोपयोगी जीवन तत्व के भी विरोधी आज अनेक भारतीय दृष्टिगोचर होते हैं । कसाई के कुत्ते अपने टुकड़े से अधिक उत्तमता और किसी वस्तु में नहीं देख सकते । इस प्रकार लोकमत भी किसी बात का सर्वसम्मति से समर्थन नहीं कर सकता, चाहे वह कितनी ही उत्तम हो, वैसे ही बुरी से बुरी बात का पक्ष लेने वाले लोग मिल जाते हैं । उदाहरण तो किसी भी बात के अनुकूल मिल सकते हैं । साधारण मनुष्यों की बात छोड़िये । बड़े से बड़े में बुराइयाँ ढूँढ़ी जा सकती हैं । ब्रह्माजी अपनी पुत्री पर आसक्त होकर उसके साथ बलात्कार करने को तैयार हो गये, चन्द्रमा गुरु पत्नी पर डिग गया, इन्द्र का अहिल्या के साथ कुकर्म करना प्रसिद्ध है, विष्णु ने जालन्धर की स्त्री का छलपूर्वक पतिव्रत नष्ट किया, व्यासजी का मछुए की लड़की पर, विश्वामित्र का मेनका वेश्या पर आसक्त होने का वर्णन मिलता है । रामायण पढ़ने वालों ने नारद मोह की कथा पढ़ी होगी कि वे भक्ति-भाव छोड़कर किस प्रकार विवाह के लिए व्याकुल फिरे थे । राक्षसों का पक्ष समर्थ करने वाले एवं सहायक शुक्राचार्य और कौरवों के सहायक द्रौणाचार्य जैसे विद्वान थे । बलि को वामन भगवान ने छला, बालि को राम ने आड़ में छिपकर अनीतिपूर्वक मारा, इस प्रकार बड़े-बड़ों में जहाँ दोष हैं वहाँ अत्यन्त छोटी श्रेणी के व्यक्ति भी उच्चचरित्र का पालन करते देखे जाते हैं । इतिहास एक समुद्र है । इसमें हर बुरे-भले कार्य के पक्ष में तगड़े उदाहरण मिल सकते हैं, फिर इनमें से किसका अनुकरण किया जाय ? दुर्भिक्ष में अन्न न मिलने पर प्राण जाने का संकट उपस्थित होने पर विश्वामित्र ने चाण्डाल के घर से माँस चुराकर खाया था और उपस्ति ने अन्त्यज के झूठे उड़द खाकर प्राण रक्षा की थी, किन्तु विलोचन का ऐसा भी उदाहरण मौजूद है कि अभक्ष खाने का अवसर आने पर उसने प्राणों का परित्याग कर दिया था । इनमें से किसका पक्ष ठीक माना जाय किसका गलत? यह निर्णय करना साधारण बुद्धि वाले व्यक्ति के लिये बहुत कठिन है । अभिवचनों का भी यही हाल है कि एक विद्वान एक सिद्धान्त का प्रतिपादन बड़े प्रचण्ड तर्कों से करता है, किन्तु दूसरा उससे भी उग्र प्रमाणों द्वारा उस सिद्धान्त का खण्डन कर देता है । प्रजातन्त्र, कम्यूनिज्म, फासिज्म, पूँजीवाद, आदि के प्रतिपादन में जो तर्क आधार उपस्थित किये जाते हैं, उनके बीच में से सच्चाई ढूँढ़ निकालना साधारण प्रज्ञा का काम नहीं है । फिर भावुकता

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

का तो कहना ही क्या। आँखों के सामने जो असाधारण अनुभूति करने वाले प्रसंग आते हैं, उनसे तरंगित होकर हृदय एक प्रवाह में बह जाता है और छोटी घटना को भी अत्यन्त महान समझकर उसके निराकरण में बड़े से बड़ा कार्य करने को तैयार हो जाता है । फिर चाहे उतने ही कार्य में अनेक गुने महत्त्वपूर्ण कार्य छूट जावें । साम्प्रदायिक दंगे हमारे देश में आये दिन होते हैं, इनकी तह में कोई बड़ी भारी जटिल पेचीदगी नहीं होती किन्तु भावुकता का प्रवाह होता है । मुसलमान सोचता है कि नमाज के समय बाजा बजाने से खुदाबन्द करीम की तौहीन होती है, हिन्दू सोचता है रामचन्द्रजी की बारात का बाजा बन्द हो जाना ईश्वर का अपमान है । दोनों पक्ष खुदा की तौहीन और ईश्वर का अपमान न होने देने के लिए छुरी कटार लेकर निकल पड़ते हैं और खून से पृथ्वी लाल कर देते हैं । तत्वतः बाजे के कारण न तो ईश्वर का अपमान होता था और न खुदा की तौहीन । पर दोनों पक्ष अपनी-अपनी भावुकता के प्रवाह में बह गये और छोटी घटना को ऐसा बड़ा समझने लगे मानो यदि जीवन-मरण का प्रश्न है । यही भावुकता की उड़ान पर विवेक का नियन्त्रण होता तो वह रक्तपात होने से बच जाता। मुहम्मद गोरी अपनी सेना के आगे गायों का झुण्ड करके बढ़ा! पृथ्वीराज ने गौओं पर हथियार चलाने की अपेक्षा पराजय होने की भावुकता अपना ली । चन्द गायें उस समय बच गईं पर आज उसी के फलस्वरूप मिनट-मिनट पर सहस्रों गायों की गर्दन पर छुरी साफ हो रही है । ईद की कुर्बानी पर एक गाय को लेकर दंगा हो जाता है पर सूखे माँस के व्यापार में जो अगणित गौ-बध होता है उसकी ओर किसी की दृष्टि नहीं जाती । इस प्रकार भावुकता के प्रवाह में सामने वाली छोटी बातों को तूल मिल जाता है और पीछे-पीछे रहने वाली जीवन-मरण की समस्या जहाँ की तहाँ उपेक्षित पड़ी रहती है ।

उपर्युक्त पंक्तियों में हमने यह बताने का प्रयत्न किया है कि धर्मग्रन्थ, लोकमत, उदाहरण, अभिवचन और भावुकता के आधार पर धर्म-संकट का सही हल निकालने में बहुत ही कम सहायता मिलती है और गड़बड़ में पड़ जाने की आशंका अधिक रहती है । हो सकता है कि सामने वाले दो मार्गों में से छोटी बात बड़ी मालूम पड़े और बड़ी का महत्त्व छोटा समझ में आवे । जैसे बालक के फोड़ा निकल रहा है, उसे चिरवाना आवश्यक है । आपरेशन के चाकू को देखकर बालक भयभीत होकर करुण-क्रन्दन करता है, पिता की भावुकता उमड़ पड़ती है, वह बालक को अस्पताल से उठाकर यह कहता हुआ चल देता है-"इतना करुण-क्रन्दन मैं नहीं देख सकता ।" घर आने पर फोड़ा बढ़ता है, सड़ने पर पैर गलकर नष्ट हो जाता है, बालक का जीवन निरर्थक हो जाता है । यहाँ तत्वज्ञानी की दृष्टि से पिता की भावुकता अनुचित ठहरती है, जिसके प्रवाह में वह आपरेशन के समय बह गया था । यदि उस समय उसने धैर्य, विवेक और दूरदर्शिता से काम लिया होता तो बालक की जिन्दगी क्यों बर्बाद होती? पिता की सहृदयता पर किसी को आक्षेप नहीं, उसने जो किया था अच्छी भावना से किया था पर भावुकता की मात्रा विवेक से अधिक बढ़ जाने के कारण वह उचित मार्ग से भटक गया और अनिष्टकर परिणाम उपस्थित करने का हेतु बन गया । जब पिता अस्पताल से बच्चे को उठाकर लाया था तब चाहता तो अनेक ऐसे सूत्र, लोकोक्ति, उदाहरण, तर्क इकट्ठे कर सकता था जो उसके कार्य का औचित्य सिद्ध करने ही के पक्ष में होते ।

सामने एक भला मार्ग हो और दूसरा बुरा तो यह निर्णय आसान है कि इस मार्ग पर चलना उचित है । पर जब दोनों ही मार्ग बुरे हैं तो क्या किया जाय ? यह निश्चित करना कठिन है । इसी प्रकार अच्छे दो मार्गों में से किसे चुना जाय यह भी पेचीदा प्रश्न है । इन पेचीदा मार्गों को धर्म-संकट कहते हैं ।

अब उन धर्म-संकटों के बारे में विचार करना है, जो स्वयं अपनी निज की समस्याओं के सम्बन्ध में उपस्थित होते हैं, हम बड़े परिश्रम से पैसा कमाते हैं फिर उस पैसे से कपड़े बनवा लेते हैं, क्योंकि पैसे से कपड़ा अधिक लाभदायक है । शरीर को शीत धूप से बचाने के लिए कपड़े पहनते हैं, क्योंकि कपड़ों से शरीर-रक्षा अधिक मूल्यवान है । शरीर सुख के लिए अन्य मूल्यवान पदार्थों को खर्च कर देते हैं कारण यही है कि वे मूल्यवान पदार्थ शरीर सुख के मुकाबले में हेटे जँचते हैं । लोग शरीर सुख की आराधना में लगे हुए हैं परन्तु एक बात भूल जाते हैं कि शरीर से भी ऊँची कोई वस्तु है । वस्तुतः आत्मा शरीर से ऊँची है । आत्मा के आनन्द के लिए शरीर या उसे प्राप्त होने वाले सभी सुख तुच्छ हैं । अपने दैनिक जीवन में पग-पग पर मनुष्य 'बहुत के लिये थोड़े का त्याग' नीति को अपनाता है, परन्तु अन्तिम स्थान पर आकर यह सारी चौकड़ी भूल जाता है । जैसे शरीर सुख के लिए पैसे का त्याग किया जाता है वैसे ही आत्म-सुख के लिए शरीर सुख का त्याग करने में लोग हिचकिचाते हैं, यही माया है ।

पाठक इस बात को भली भाँति जानते हैं कि अन्याय, अनीति, स्वार्थ, अत्याचार, व्यभिचार, चोरी, हिंसा, छल, दम्भ, पाखण्ड, असत्य, अहंकार आदि से कोई व्यक्ति धन इकट्ठा कर सकता है, भोग पदार्थों का संचय कर सकता है, इन्द्रियों को कुछ क्षणों तक गुदगुदा सकता है परन्तु आत्म-सन्तोष प्राप्त नहीं कर सकता। इन पाप कर्मों का आध्यात्मिक प्रतिक्रिया से जो असह्य भार अन्तःकरण के ऊपर जमा होता है, उसमें बनी हुई आत्मा हर घड़ी कराहती रहती है और वेदना, उद्विग्नता एवं अशान्ति का अनुभव करती रहती है । पापी मनुष्य बाहर वालों को सुखी एवं भाग्यवान भले ही दिखाई पड़े परन्तु उसकी भीतरी स्थिति से परिचय रखने वाले जानते हैं कि वह गरीब और अभावग्रस्त लोगों की अपेक्षा बहुत ही नीची श्रेणी का

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

जीवन व्यतीत कर रहा है। सोते-जागते उसे घड़ी भर भी चैन नहीं, पाप वृत्तियाँ, पिशाचनियाँ उसके मन-मरघट में खून भरे खप्पर पी-पीकर नाचती हैं और उस ताण्डव नृत्य को देख-देखकर पाप पीड़ित व्यक्ति की घिग्घी बँध आती है। अपने रचे हुए कुम्भीपाक नरक में वह स्वयं ही बिलबिलाता है । अपनी खोदी हुई बैतरणी में वह स्वयं ही डूबता-उतरता रहता है। अशान्ति, हाहाकार, चिन्ता, व्याकुलता, उद्विग्नता बस यही उसका परिवार होता है। उन्हीं के बीच में वह जीवन को घुला देता है। आत्म-सन्तोष, आत्म-आनन्द को वह अभागा जान भी नहीं पाता।

पाप कर्म मनुष्य योनि को उपयुक्त नहीं वरन् श्वान, सिंह, सर्प आदि नीच योनि वाले जीवों का आहार है । मानव अन्त:-करण पाप कर्मों से प्रफुल्लित नहीं होता वरन् दिन-दिन दु:खी, दुर्बल होता जाता है । उसका स्वाभाविक भोजन वे आचार-विचार हैं जिन्हें सात्विक, पुण्यमय, निष्पाप, पवित्र एवं परमार्थ कहते हैं इसी आहार से आत्मा की भूख बुझती है और बल प्राप्त करके वह अपनी महान यात्रा को आगे बढ़ाता है ।

एक ओर पाप कर्मों द्वारा शरीर सुखों की प्राप्ति होती है, दूसरी ओर मनुष्य कर्मों द्वारा आत्म-सुख का लाभ होता है । विवेक बुद्धि कहती है 'बहुत के लिये थोड़े का त्याग करो ।' नाशवान शरीर की क्षणिक लालसाओं को तृप्त करने की अपेक्षा स्थायी, अनन्त, सच्चे आत्म-सुख को प्राप्त करो । शरीर को भले ही कष्टों की स्थिति में रहना पड़े परन्तु सद्प्रवृत्तियों द्वारा प्राप्त होने वाले सच्चे सुख को हाथ से मत जाने दो । ठीकरी को छोड़ो और अशर्फी को ग्रहण करो ''बहुत के लिये थोड़े का त्याग करो ।''

बहुत के लिये थोड़े का त्याग

द्विविधा पूर्ण गुत्थी को सुलझाने के लिये ''बहुत के लिये थोड़े का त्याग'' की नीति बहुत ही उपयुक्त है । किसान जब बीज बोता है तो फसल पर विशाल अन्न राशि प्राप्ति करने की इच्छा से घर में रखा हुआ अन्न खेत में बखेर देता है । व्यापारी अपना कारोबार आरम्भ करता है, लाभ की आशा से नकद पूँजी को माल-असबाब में फँसा देता है, महाजन सूद की आशा से अपना रुपया कर्जदार को दे देता है । कारण यह है कि हर एक बुद्धिमान व्यक्ति इस नीति से भली प्रकार परिचित है कि अधिक लाभ के लिये थोड़ी जोखिम उठाना भी आवश्यक है । बीमार होने पर सोने-चाँदी के जेवर बेचकर भी दवा-दारू कराई जाती है, यद्यपि सोना-चाँदी प्रिय वस्तुएँ हैं तो भी जिन्दगी के मुकाबले में उनका मूल्य कम है, इसलिए अधिक मूल्य की वस्तु के लिये कम मूल्यवान वस्तु खर्च कर दी जाती है । नामबरी के कार्यों में, धर्म-कार्यों में, गाढ़ी कमाई का पैसा खर्च कर दिया जाता है क्योंकि यश से, पुण्य कर्म से मन को जो आनन्द मिलता है, वह पैसा जमा करने के आनन्द की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण होता है । घाव में कीड़े पड़ गये हैं । डॉक्टर देखता है कि यदि कीड़े जीवित रहेंगे तो रोगी मर जायेगा । उसके सामने धर्म संकट आता है कि कीड़ों को मार दूँ या रोगी को मरने दूँ ? बुद्धि कहती है कीड़ों की अपेक्षा संसार के लिये मनुष्य अधिक उपयोगी है, डॉक्टर घाव पर विषैली दवा लगाता है । बच्चे के पाँव में काँटा घुस गया है, निकालने के लिए उस स्थान को छूते ही बालक दर्द के मारे चिल्लाता है । माता सोचती है निकालने में इसको कष्ट होता है पर यदि काँटा लगा रहेगा तो कष्ट की मात्रा अनेक गुनी बढ़ जायेगी इसलिए वह जबरदस्ती करती है, बच्चे के हाथ-पाँव पकड़कर काँटा निकालती है, बच्चा चीखता-चिल्लाता है पर वह तो निकाल कर ही मानेगी कारण यह है कि माता का विवेक उससे कहता है कि बड़े कष्ट का निवारण करने के लिए छोटा कष्ट देने में कोई हर्ज नहीं है । समाज के लिए हानि पहुँचाने वाले हिंसक, हत्यारे, डाकू लोग अदालत द्वारा मृत्यु-दण्ड पाते हैं । एक आदमी की जान जा रही है पर उससे असंख्य व्यक्तियों की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष कठिनाई का निवारण होता है । अतएव जज उस हिंसा की परवाह नहीं करता जो मृत्युदण्ड देने में होती है । बहुत के लाभ के लिए थोड़ी हानि भी उठाई जा सकती है ।

त्यागी, साधु पुरुष अन्य लोगों को सुखी बनाने के लिए अपना जीवन अर्पण कर देते हैं, वे स्वयं कष्टपूर्वक निर्वाह करते हुए भी अन्य लोगों को सुखी बनाने का प्रयत्न करते हैं । क्योंकि वे समझते हैं कि हमारे अकेले के कष्ट से यदि अनेक प्राणियों को सुख मिलता है तो वही अधिक लाभ है । वीर क्षत्राणियाँ अपने पतियों को युद्ध-भूमि में प्रसन्नतापूर्वक भेज देती हैं और वैधव्य को स्वीकार कर लेती हैं, क्योंकि सुहाग सुख की अपेक्षा कर्त्तव्य को वे ऊँचा मानती हैं । सतीसाध्वी महिलाएँ सतीत्व की रक्षा के लिए प्राणों पर खेल जाती हैं, उनका विश्वास होता है कि शरीर की अपेक्षा सतीत्व का महत्त्व अधिक है । श्रेष्ठ पुरुष अपमान की जिन्दगी से आबरू की मौत पसन्द करते हैं क्योंकि वे जिन्दगी से आबरू को बड़ा मानते हैं ।

दार्शनिक हीगल ने अपने ग्रन्थों में धर्म की व्याख्या करते हुए ''अधिक लोगों के अधिक लाभ'' को प्रधानता दी है । जिस काम के करने से समाज की सुख-शान्ति में वृद्धि होती हो उसके लिए थोड़े लोगों को कुछ कष्ट भी दिया जा सकता है । करोड़ों गरीबों को भोजन देने के लिए यदि पूँजीवादी व्यवस्था बदलनी पड़े और उससे थोड़े पूँजीपतियों को कुछ कष्ट होता हो तो वह सहन करना पड़ेगा । पशु-बध बन्द होने से कसाई के कुत्तों को भूखा रहना पड़े तो उसे बर्दास्त कर लिया जायेगा । बड़े कष्ट का निवारण करने के लिए छोटा कष्ट देना पड़े तो वह एक सीमा तक क्षम्य है । एक मनुष्य भूखा मर रहा हो और दूसरा आवश्यकता से अधिक भोजन लादे फिरता हो तो भूखे की प्राण रक्षा के लिए दूसरे से थोड़ा अन्न बलपूर्वक छीन करके भी दिया जा सकता है।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

धर्म के दस लक्षण

सत्य को तथ्य की स्थिति तक पहुँचाया जाय

सत्य को धर्म का प्रथम लक्षण माना गया है । पर उसका अर्थ मात्र सच बोलने तक ही सीमित नहीं किया जाना चाहिए । मोटेतौर पर सच बोलने के अर्थ में प्रयुक्त होता है । जो बात जैसी सुनी या समझी है, उसे उसी रूप से कह देना सच बोलना माना जाता है । सामान्य से प्रसंगों में यह ठीक भी है । इस नीति को अपनाने वाले भरोसेमंद माने जाते हैं । उनके कथन सुनने के उपरान्त असमंजस विश्वास नहीं रह जाता है और उस सन्दर्भ में जो किया जाता है उसे बिना असमंजस में पड़े जो करना है, उसे कर लिया जाता है । सामान्य व्यवहार को सरल बनाये रहने का यह अच्छा तरीका है, सभी लोग सच बोलें तो अविश्वास-की सन्देह की जो ऊहापोह चलती रहती है, यथार्थता जाँचने के लिए जो खोजबीन करनी पड़ती है, उस झंझट में ढेरों समय बर्बाद करने का, मन को शंकास्पद स्थिति में रखे रहने का अवसर न आये । सभी एक-दूसरे पर विश्वास करें और व्यवहार की सरलता से सभी को सुविधा रहे ।

इतने पर भी सत्य को एक सद्गुण मानते हुए भी उसे धर्म-स्तर पर सार्वभौम स्तर पर मान्यता मिलने में कठिनाई भी कम नहीं है । हर अवसर पर नग्न सत्य हर किसी के सामने नहीं बोला जा सकता । घर में कितना पैसा है, कहाँ रखा है, इसका विवरण यथावत् बता देने पर अनेक संकट खड़े हो सकते हैं । चोर, उधार माँगने वाले, चंदा वसूल करने वाले आदि धावे बोलते रहते हैं और यथार्थता विदित होने पर अच्छी स्थिति वाले के ऊपर लगातार घात लगती रहती हैं । अपने से कोई व्यभिचार जैसे कोई पाप कर्म बन पड़े हों तो उसका उल्लेख हर किसी से करने पर अपनी बदनामी तो होती ही है साथ ही दूसरे सहयोगी पक्ष को भी कम नीचा नहीं देखना पड़ता । जबकि उसे यह विश्वास रहा है कि इसकी चर्चा अन्यत्र कहीं नहीं की जायेगी । इतने पर भी उसे कह दिया जाना एक प्रकार का विश्वासघात है ।

राष्ट्रपति से लेकर सरकार के सभी उच्च पदाधिकारियों को गोपनीयता की शपथ लेनी पड़ती है । शासन-व्यवस्था के सभी निर्धारण यदि समय से पहले ही प्रकट होते रहें तो उनका अनुचित लाभ शत्रु पक्ष के प्रतिद्वन्द्वियों को दाँव-पेंच चलाने वालों को मिलेगा और व्यवस्था लड़खड़ाने लगेगी । गुप्तचर विभाग वाले अपना परिचय स्पष्ट देने लगें तो उनके हाथ कहीं से भी कोई गुप्त भेद न लगे । सेनापति यदि अपनी कूच एवं मोर्चेबंदी का विवरण पहले से ही बता दे तो उस रहस्य को जानकर शत्रु पक्ष इस प्रकार आक्रमण करेगा जिससे बनाई हुई योजना को पराजय का मुँह देखना पड़े । दलाल, वकील आदि के धंधे ही ऐसे हैं, जिनमें कुछ न कुछ नमक-मिर्च मिलानी पड़ती है । अपनी शेखी बघारने में भी लोग कम झूठ नहीं बोलते । बच्चों को बिल्ली-बन्दर की वार्तालाप वाला कथानक सुनाना सरासर गलत है क्योंकि जानवरों की कोई भाषा ही नहीं होती । फिर दूसरी जाति के पशु-पक्षियों के लिए तो वार्तालाप करना और भी अधिक कठिन है । फिर भी अभिभावक छोटे बच्चे को पशु-पक्षियों के वार्तालाप की, परियों की, अजूबों की ऐसी कहानियाँ सुनाया करते हैं, जिनमें यथार्थता कम और आलंकारिक कल्पना की भरमार होती है । कथा-पुराणों में भी ऐसे प्रसंग कम नहीं आते ।

इन सब पर विचार करने से प्रतीत होता है कि सत्य का यथासम्भव निर्वाह तो किया जा सकता है, पर उसे धर्म-धारणा में यथारूप प्रमुखतापूर्वक सम्मिलित नहीं किया जा सकता । धर्म के लक्षण सभी शास्त्रकारों ने अपने-अपने ढंग से गिनाये हैं । उनके नामों में अन्तर है । पर सत्य की सभी ने मान्यता दी है । ऐसी दिशा में विचार करना होगा कि सत्य का वास्तविक स्वरूप और आधार क्या हो सकता है ।

सत्य का समानान्तर अर्थबोधक शब्द है-'तथ्य' । तथ्य अर्थात् सच्चाई-यथार्थता । हमारी जानकारियों में से अधिकांश ऐसी होती हैं जिन्हें माना, अपनाया जाता है । पर वे किम्बदन्तियों की अन्धपरम्पराओं के ऊपर आधारित होती हैं । उनके पीछे कोई आधार नहीं होते, जिससे उनका बुद्धिसंगत कारण बताया अथवा तर्क एवं तथ्यों के सहारे उनका औचित्य सिद्ध किया जा सके । फिर भी वे समाज में चिरपुरातन प्रचलन के रूप में मान्यता प्राप्त हैं । सन्देह करने वाले भी लोकमत के विरुद्ध अपना सन्देह प्रकट करने में डरते हैं । विरोध तो प्रायः कर ही नहीं पाते। हिन्दू धर्म में खर्चीली विवाह-शादियाँ, दहेज, जाति-पाँति, ऊँच-नीच, पर्दा प्रथा, मृतक-भोज, भिक्षा-व्यवसाय, भाग्यवाद, जादू-टोना आदि ऐसी प्रथाएँ जड़ जमाये बैठी हैं जिनके कारण लाभ तो कुछ होता नहीं । हानियाँ पग-पग पर उठानी पड़ती हैं ।

ऐसे अवसरों पर सत्य को जानने की, उसे पहचानने की और साहसपूर्वक यथार्थता को अपनाने की आवश्यकता पड़ती है । ऐसे ही अवसर पर वह परीक्षा हो सकती है कि सत्यनिष्ठ कौन है ? सत्य को धर्म मानकर उसे अपनाने की हिम्मत किस में है ?

सत्य बोलना धर्म का एक छोटा अंग है । वास्तविक सत्य वाणी तक सीमित न रहकर जीवन की समस्त विधि-व्यवस्थाओं में समाहित होता है । चिन्तन, चरित्र और

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

व्यवहार उससे पूरी तरह प्रभावित हो रहा हो तो समझना चाहिए कि सत्य को पहचाना और अपनाया गया ।

बहुधा आवेश में व्यक्ति अपनी ही मान्यताओं पर अड़ जाता है । प्रतिपक्षी के तर्क, तथ्य, प्रभाण अकाट्य होते हुए भी उन पर ध्यान नहीं देता और अपनी ही बात के औंधे-सीधे कारण बताकर शोर करता रहता है । साम्प्रदायिक दंगे प्राय: इसी आधार पर होते हैं । विभेदों और विग्रहों का मूल कारण कट्टरता होती है । यदि लोग तर्कों और तथ्यों के सहारे यथार्थता तक पहुँचने का प्रयत्न करें तो विग्रहों का आधार ही समाप्त हो जाय । लोग सभी धर्मों में से सर्वोपयोगी अंश अपनाने और शेष मान्यताओं की असामयिक, अप्रासंगिक समझकर उनकी उपेक्षा करने लगें तो ऐसी दशा में साम्प्रदायिक विभिन्नता गुलदस्ते में सजे हुए विभिन्न रंगों के फूलों का समन्वय होने पर सुन्दर दीखने लगेंगी ।

संसार में अनेक विचारधाराएँ हैं । अनेक दर्शन एवं प्रथा-प्रचलन हैं, जो जिसका अनुयायी है वह उसे अकाट्य मानता है । अतिवाद इस श्रेणी तक जा पहुँचता है कि अन्य सभी मतानुयायी झूठे प्रतीत होने लगते हैं । सत्य का निर्णय तो तभी हो सकता है जब किसी निष्पक्ष न्यायालय द्वारा यह निर्णय कराया जाये कि किसके कथन में कितना औचित्य है, कितना अनौचित्य । यदि सभी के औचित्य वाले अंश एकत्रित कर लिए जाएँ तो उनके समन्वय से एक 'विश्व धर्म' या 'एक विश्व सत्य' सामने आ सकता है । पर इसके लिए कोई तैयार होता नहीं दीखता जब 'मेरा मत ही सच तथा अन्य सब झूठे' मानने का दुराग्रह भूत की तरह सवार हो तो फिर सत्य की खोज कर सकने जैसी मनोभूमि ही नहीं बनती ।

सामान्य लड़ाई-झगड़ों में भी प्राय: गलतफहमियाँ ही विग्रह का मूल कारण होती हैं । यदि दोनों पक्ष ईमानदारी से वस्तुस्थिति को समझें और भ्रान्तियों के साथ खुले मन से निपटें तो प्रतीत होगा कि तिल का ताड़ होने जैसी घटना घटी है । हमें निष्पक्ष न्यायाधीश जैसा मन लेकर अपनी और दूसरे की वस्तुस्थिति परिस्थिति एवं गलतफहमी को समझने का प्रयत्न करना चाहिए । जो इतना कर सकेंगे उन्हें सच्चाई के निकट तक पहुँचने में कठिनाई न पड़ेगी । यदि भूलों को सुधारने का मन हो तो कोई कारण नहीं कि विग्रह टिक सकें और विद्वेष पनप सकें ।

इन दिनों यों बुद्धिवाद और प्रत्यक्षवाद का युग कहा जाता है तो भी बात बिल्कुल उल्टी है । जितनी भ्रान्तियाँ अनगढ़ लोगों ने अपना रखी हैं, उससे अधिक मात्रा में अपने ढंग की भ्रान्तियाँ तथाकथित प्रगतिशील भी अपनाये हुए हैं । आहार-व्यवहार, चिन्तन, चरित्र, इच्छा, आशंका कल्पना के जो प्रवाह बह रहे हैं, उनमें से अधिकांश ऐसे हैं जो सच्चाई से प्रतिकूल दिशा में जाते हैं । यदि उनका परिशोधन किया जाय तो हम उस सच्चाई के निकट पहुँच सकते हैं, जो हँसते-हँसाते जीने और मिल-बाँट कर खाने की सन्तोष और शान्त भरी परिस्थितियों तक हम सबको सहज ही पहुँचा सकती है । सच बोलना तो ठीक है ही, प्रयत्न हमारा यह भी होना चाहिए कि हर मान्यता की नये सिरे से जाँच-पड़ताल करें और उस स्थिति तक पहुँचे जिसे तथ्य अथवा सत्य के नाम से धर्म में प्रमुख स्थान दिया गया है ।

विवेक का अनुशासन मानें

बच्चों की आदत तत्काल के आकर्षण पर मचलने की होती है । उनमें दूरगामी परिणामों की कल्पना कर सकने जैसी क्षमता नहीं होती । यही कारण है कि उनकी रोकथाम और डाँट-डपट करनी पड़ती है । छोटे बच्चे साँप, बिच्छू, आग जैसी चमकदार वस्तुओं को पकड़ने की चेष्टा कर सकते हैं । कारण कि उनके लिए सुहावनी या अजीब लगने वाली वस्तु ही सब कुछ होती है, वे उसकी लाभ-हानि समझे बिना उसे ही पकड़ने की कोशिश करते हैं । कई बार तो अखाद्य वस्तुओं को भी मुँह में रख लेते हैं ।

यह बचपना शरीर के बड़े हो जाने पर भी मानसिक क्षेत्र में यथावत् बना रहता है और व्यक्ति तात्कालिक लाभ को ही सब कुछ समझता रहता है । यह अनुमान उससे लग नहीं पाता कि सुहावने लगने वाले कार्य आगे चलकर कितने अनिष्टकर सिद्ध हो सकते हैं । स्वादिष्ट खाद्य पदार्थ आने पर प्राय: आवश्यकता से अधिक मात्रा में खा लिया जाता है । फलत: कुछ ही समय में उदरशूल, अपच, उल्टी, दस्त आदि की प्रतिक्रिया आरम्भ हो जाती है । खाते समय स्वाद की अधिकाधिक पूर्ति ही ध्यान में रहती है और यह अनुमान गले नहीं उतरता कि उसका प्रतिफल क्या हो सकता है । कामुकता का अति उत्साह भी ऐसे ही अनर्थ करता है । शरीर खोखला हो जाता है, जीवनी-शक्ति घट जाती है, मानसिक कुशाग्रता विदा हो जाती है । साथ ही पत्नी का स्वास्थ्य और बच्चों का भविष्य अन्धकारमय बनता है । यदि इस अनुमान को सही रीति से जाना जा सकना सम्भव हो सके तो उसके परिणामस्वरूप व्यक्ति अपनी समर्थता और प्रखरता का भण्डार भरे रह सकता है । ओजस् और तेजस् को अक्षुण्ण बनाये रह सकता है ।

आलस्य और प्रमाद में श्रम की कठिनाई से बचाव होता है । दीर्घसूत्रता इसलिए अच्छी लगती है कि उसमें नियमितता का बन्धन नहीं बँधता । यह आदतें अभ्यास में आते रहने पर परिपक्व भी हो जाती हैं और फिर छुटाये नहीं छूटतीं । बहुमूल्य समय ऐसे ही आवारागर्दी में निकल जाता है । यदि समझदारी से काम लिया गया होता और समय का तत्परतापूर्वक सदुपयोग किया गया होता, तो उतने ही समय में उतनी प्रगति हो सकती थी कि योग्यता भी बढ़ती और सम्पन्नता की भी कमी न रहती । समय का सदुपयोग समझने और करने वाले उतने ही समय में महामानवों जैसे कृत्य कर गुजरते हैं, जितने में आलसी लोग

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

जीवन की गाड़ी को जिस-तिस प्रकार खींच पाते हैं । कोल्हू के बैल की तरह चलते हुए निरर्थक जीवन बिताते हैं ।

कुमार्ग पर चलने, कुकर्म करने की आदत भी उन्हीं को पड़ जाती है, जो उनके परिणामों की भावी सम्भावना को आँखें खोलकर देख नहीं पाते । जिनमें समझदारी का उदय हो जाता है, वे भविष्य का अनुमान सही स्तर पर लगाते हैं और जो कुकर्म करने से पहले ही सावधान हो जाते हैं, जिनका शुभारम्भ सत्परिणामों की सम्भावनाओं को ध्यान में रखते हुए होता है, उन्हें आरम्भ में थोड़ा कष्ट भले ही उठाना पड़े, वे अन्त में आनन्द भरा जीवन जीते और निरन्तर प्रगति पथ पर अग्रसर होते हैं ।

किसान को खेत में कड़ा परिश्रम करना पड़ता है । घर में रखा हुआ बीज खेत में बिखेरना पड़ता है । इसके बाद भी खाद-पानी लगाने का सिलसिला चलता रहता है । इन आरम्भिक श्रम साधना को देखते हुए कोई अदूरदर्शी इस प्रयास को निरर्थक भी कह सकता है । पर वह समय आता है, जब फसल पकती है और अनाज से घर की बड़ी-बड़ी कोठी भरती हैं । विद्यार्थी को भी यही मार्ग अपनाना पड़ता है । वे स्नातक बनने के लिए चौदह वर्ष का अध्ययन तप करते हैं । पुस्तकों को खरीदने, फीस चुकाने जैसे प्रयास में प्राण-पण से लगे रहते हैं। पढ़ाई के दिनों का यह श्रम उन दिनों बेकार लग सकता है, किन्तु समय आता है जब वह कालेज की पढ़ाई पूरी करके निकलता और बड़ा अफसर बनता है। आरम्भिक दिनों में जो समय लगाना, श्रम करना और धन खर्च करना पड़ता था । वह समय पर फल देता है और समझा जाता है कि आरम्भिक दिनों में तत्परतापूर्वक पढ़ने का जो निर्णय किया गया था वह निरर्थक नहीं गया। दूरदर्शिता निष्फल नहीं गयी । व्यायामशाला में प्रवेश करके जो वर्षों कड़ी कसरत की गई थी, वह उस समय तो तात्कालिक प्रतिफल नहीं देती थी । उल्टे पौष्टिक खुराक, तेल मालिश, ब्रह्मचर्य पालन जैसी आवश्यकताओं को पूरा करने की माँग करती थी । बाद में जब वह व्यक्ति पहलवान बनकर कुश्ती पछाड़ता यशस्वी बनता और विजेता को मिलने वाले पुरस्कार जीतता है, तो प्रतीत होता है कि आरम्भिक दिनों का परिश्रम निरर्थक नहीं गया ।

बीज गलता है और वृक्ष बनता है । यह सिद्धान्त अकाट्य है, पर इसके साथ इतना और जुड़ा हुआ है कि बोने के दिन से फल लगने के बीच लम्बा फासला होता है । जो उतना धैर्य रख पाते हैं, वे माला-माल बनते हैं । व्यापारी कारखाने में पूँजी लगाते हैं । आरम्भ में तो घर की सारी पूँजी खप जाती है वरन् आवश्यकता पड़ने पर बैंक आदि से उधार लेकर उस आवश्यकता की पूर्ति करनी पड़ती है । उस समय घाटा ही घाटा दीखता है, पर यह आरम्भिक पूँजी निवेश कुछ ही समय तक का दबाव रहता है, इसके बाद न केवल वह मूलधन वरन् ब्याज समेत लाभ अर्जित होने लगता है ।

भविष्य की सही सम्भावनाओं का पता तो केवल भगवान को रहता है । पर उनका अस्सी प्रतिशत अनुमान उदाहरणों के सहारे लगाया जा सकता है । यदि ऐसा न होता तो कृषि, पशुपालन, व्यवसाय, अध्ययन आदि के कार्यों में आरम्भिक घाटा देखते हुए उन्हें करने के लिए कोई भी तैयार न होता । भविष्य का अनुमान हर व्यक्ति अपने विवेक द्वारा लगा सकता है । इसी को तीसरा नेत्र या ज्ञानचक्षु कहा गया है । इसको यदि सही सन्तुलित आदर्शों का पक्षधर बना लिया जाय तो वह देवदूत का काम करता है और ऐसे मार्ग पर चलाता है, जिसमें श्रेय और सुख-शान्ति का भण्डार बढ़ता रहे ।

सुमार्ग के सत्परिणामों की तरह कुमार्ग के दुष्परिणामों का पूर्वाभास भी विवेक के आधार पर ही हो सकता है । नशेबाजी अपनाने पर आरम्भिक दिनों में तो फुर्ती और मस्ती का हल्का-सा अनुभव होता है । पर जब वह बुरी आदत नागपाश की तरह गले में बँध जाती है, तो फिर उसे छुड़ाना कठिन पड़ता है । शरीर दिन-दिन क्षीण होता जाता है, मस्तिष्क पर विक्षिप्तता चढ़ दौड़ती है । आर्थिक दृष्टि से दिवालिया बनने की नौबत आती है । परिवार हर दृष्टि से टूट जाता है । बदनामी होने पर कोई विश्वास नहीं करता । तिरष्कृत-बहिष्कृत की तरह अकेलेपन से घिरा हुआ जीवन बिताना पड़ता है ।

यदि तात्कालिक क्षणिक लाभ पर अंकुश रखा जा सके और दूरगामी परिणामों पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जा सके, तो हर व्यक्ति दुष्प्रवृत्तियों के दुष्परिणामों से बच सकता है । सत्प्रवृत्तियों के सत्परिणामों का भरपूर लाभ उठा सकता है । मनुष्य को अपने भाग्य का स्वयं निर्माता कहा जा सकता है । यह तथ्य इस बात पर निर्भर है कि विवेक के निर्धारण को अपनाया गया या नहीं । उसे जो न करने के लिए कहा था, उस पर न चलने का निश्चय किया गया या नहीं । विवेक का तिरस्कार करना अपने उज्ज्वल भविष्य की सम्भावनाओं का बहिष्कार करना है ।

'विवेक' नीर-क्षीर को विवेक कहते हैं, उचित या अनुचित के अन्तर को । यह विशिष्टता आत्मिक प्रौढ़ता के साथ जुड़ी हुई है । जब तक मनुष्य बचपने जैसी बचकानी बुद्धि अपनाये रहता है तब तक उसे तात्कालिक लाभ ही सब कुछ दीखता रहता है । इस स्थिति में रहने वाले आमतौर से जोखिम ही उठाते हैं ।

क्रोध में मनुष्य अन्धा हो जाता है । न कहने योग्य कहने और न करने योग्य करने लगता है । लोभ के वशीभूत होकर चोरी, छल, प्रपंच, हत्या, विश्वासघात आदि कुछ भी करने लगता है । तात्कालिक लाभ के लिये कुछ भी दुष्कर्म करने पर उतारू हो जाता है । इस आधार पर जो मिला है वह तो टिकता नहीं, मात्र भर्त्सना, प्रताड़ना, भुगतते रहना ही पल्ले बँधता है । अविवेकी ही अपना परलोक बिगाड़ते हैं । निरर्थक प्रपंचों में अपनी शक्ति गँवाते रहते हैं । ओछी वाहवाही के लिए अनेक

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

आडम्बर खड़े करते रहते हैं । यह सब इसलिए बन पड़ता है कि मन पर चंचलता ही हावी रहती है । बुद्धि उसका समर्थन करती रहती है । यदि विवेक जाग्रत हो तो उसका प्रतिबन्ध एक भी अनर्थ नहीं करने देता और भविष्य हर प्रकार उज्ज्वल बना रहता है ।

संयम बरतें सुखी रहें

गाय कितना ही दूध क्यों न देती हो, यदि उसे फूटे पात्र में दुहा जायेगा तो वह नीचे गिरता जायेगा । दुहने वाले के कपड़े चिकने हो जायेंगे और जिस जगह वह फैलेगा वहाँ मक्खियाँ भिनकने लगेंगी । मनुष्य ने कितनी ही, किसी प्रकार की भी शक्ति अर्जित क्यों न की हो, पर यदि उसे सँभाल रखने का प्रबन्ध नहीं किया जा सकता तो वह ऐसे ही अस्त-व्यस्त होकर बिखर जायेगी और उनसे लाभ मिलना तो दूर उल्टे हानि उठाने का दुर्भाग्य सामने आवेगा ।

असंयमों में इन्द्रिय असंयम को प्राथमिकता दी जाती है । इसका शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य से सीधा सम्बन्ध है । जिह्वा इन्द्रिय असंयमी होने पर चटोरी हो जाती है । चित्र-विचित्र स्वादों के लिए लालायित रहती है । प्राकृतिक स्वाद तो हर खाद्य पदार्थ में अपना-अपना है ही, पर ऊपर से नमक-मिर्च, खटाई, मिठाई, चिकनाई आदि मिलाकर उसे इतना उत्तेजक बना लिया जाता है कि पेट की गुंजाइश का ध्यान न रखकर आवश्यकता से अधिक मात्रा में खा लिया जाता है । एक तो मिलावट वाले मसाले, दूसरे उनका तला-भुना जाना जायका तो बढ़ाता है पर उतना ही वह दुष्पाच्य होता जाता है । मात्रा अधिक, साथ ही दुष्पाच्य दोनों अवांछनीयताएँ मिलने से पेट में कब्ज रहने लगता है । अपच सड़ता है । सड़न विषाक्तता उत्पन्न करती है । वह हानिकारक तत्त्व जहाँ भी अपने लिए जगह पाता है वहीं जम जाता है, और अनेकों बीमारियाँ पैदा करता है । यह क्रम चलते रहने पर पाचन-तंत्र गड़बड़ा जाता है । दुर्बलता बढ़ती है । रुग्णता छाई रहती है और समय से बहुत पहले अकाल मृत्यु से मरना पड़ता है ।

जिह्वा का एक कार्य बोलना भी है । यदि वाणी में कर्कशता, कठोरता, मिथ्या भाषण, निन्दा, चुगली व्यंग्य-उपहास आदि दोषों का समावेश रहने लगे तो कलह, मनोमालिन्य बढ़ता है । मित्रता-शत्रुता में बदल जाती है । होना यह चाहिए कि सीमित बोला जाय । तथ्यपूर्ण कहा जाय । अपनी ओर से नम्रता और दूसरों के प्रति सम्मान का भाव जताया जाय । वाणी का असंयम ऐसे दुष्परिणाम उत्पन्न करता है, जिससे अपने पराये हो जाते हैं और बदले में वैसे ही कटुवचन सुनने पड़ते हैं ।

कानों से, नाक से, आँख से, अपने-अपने स्वादों की माँग होती है । यदि उनकी सरसता पर मुग्ध रहा जाय तो समय की बर्बादी भी होती है, व्यसनी प्रकृति भी बन जाती है और जो शक्ति इनके द्वारा ज्ञानार्जन जैसे उपयोगी कामों में लगनी चाहिए, वह हेय प्रयोजनों में खपने लगती है ।

इन्द्रियों में स्वाद के बाद दूसरी प्रबलता कामेन्द्रियों की मानी जाती है । इसका अतिवाद बरतने पर जीवनी-शक्ति का असाधारण रूप से क्षरण होता है । शरीर पीला और मन खोखला हो जाता है । बुद्धि की तीक्ष्णता घट जाती है । स्मरण शक्ति में कमी आ जाती है और मन्दबुद्धि मूर्खों जैसा विचार प्रवाह मस्तिष्क में छाया रहता है । यह काया को क्षीण करने वाला दुर्व्यसन है । सन्तानोत्पादन में वृद्धि होती है और उसके कारण परिवार की सारी व्यवस्था चरमरा जाती है । पत्नी का स्वास्थ्य पति से भी अधिक गिर जाता है । अनगढ़ परिस्थितियों में पले बच्चे शरीर और मन दोनों ही प्रकार से दुर्बल होते हैं, उनमें आवारागर्दी जैसे अनेकों दुर्व्यसन आरम्भ से ही पलने और बढ़ने लगते हैं । इनके द्वारा उत्पन्न समस्याएँ उन्हें भुगतनी पड़ती हैं जिन्होंने कामुकता की सीमा का उल्लंघन करके अपने लिए काँटे बोये ।

चार प्रमुख संयम में से इन्द्रिय संयम के अतिरिक्त तीन हैं-(१) अर्थ संयम (२) समय संयम (३) विचार संयम । अर्थ संयम का तात्पर्य है कि औसत नागरिक स्तर का निर्वाह अपनाना । 'सादा जीवन उच्च विचार' का सिद्धान्त व्यवहार में उतारना । विलासिता, प्रदर्शन, व्यसन आदि में कितना ही खर्च किया जा सकता है । कपड़ों की फैशन, जेवरों की सजधज, शौक-मौज, आवारागर्दी में वह पैसा चुटकियों में उड़ जाता है, जिसे सदुपयोग में लगाकर अपनी परिवार की योग्यताएँ बढ़ाई जा सकती हैं । दूसरों की सहायता हो सकती है । फिजूलखर्ची के दुर्व्यसन में फँसे हुए व्यक्ति आर्थिक तंगी भुगतते और कर्जदार रहते हैं । बचत के नाम पर ऐसा कुछ छोड़ नहीं पाते जो बुढ़ापे में काम आये । आश्रितों की गाड़ी पार लगाये । मितव्ययता ऐसा सद्गुण है, जिसके सहारे व्यक्ति अनेक दोष-दुर्गुणों से बचा रहता है और आड़े समय में किसी के सामने हाथ नहीं पसारता ।

समय संयम का तात्पर्य है, एक भी क्षण व्यर्थ के कामों में खर्च न होने देना । व्यस्त दिनचर्या बनाकर योग्यता बढ़ाने वाले, उपार्जन की आवश्यकता पूरी करने वाले, जनकल्याण के कामों में निरत रहना । संसार के प्रगतिशील मनुष्यों में से प्रत्येक ने समय का श्रेष्ठतम सदुपयोग किया है । खाली समय गँवाने पर कुचेष्टाएँ ही बन पड़ती हैं । "खाली दिमाग शैतान की दुकान" वाली उक्ति में बहुत कुछ तथ्य है । निठल्ले समय में शैतानी ही सूझती रहती है । बुद्धिमानी इसी में है कि जीवन सम्पदा को समय के हीरे-मोतियों से गुँथी हुई कड़ी समझा जाय और उसके छोटे से छोटे भाग को भी सत्प्रयोजनों में लगाया जाय ।

शरीर की समर्थता, रक्त की शुद्धता और बहुलता पर निर्भर है । मस्तिष्क की सम्पदा विचार है । विचार हर घड़ी उठते रहते हैं, पर यदि उन पर नियंत्रण न रखा जाय

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

तो उनका स्तर हेय ही बना रहेगा । यह स्वाभाविक गति है । पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति हर पदार्थ को ऊपर से नीचे खींचती है । पतन सरल है, उत्थान कठिन। असंयम सरल है । संयम कठिन । नदी का बहाव नीचे की ओर बहता है और अन्ततः अत्यधिक गहरे एवं खारे समुद्र में जा मिलता है । यह क्रम चिन्तन का भी है। उसे लिप्सा-लोलुपता, लालसा अपनी ओर खींचती है क्योंकि तात्कालिक सरसता उन्हीं में दीखती है। इसलिए सहज रुझान उसी दिशा में चल पड़ता है। किन्तु यदि ऊँची दिशा में चलता हो तो उसके लिए पर्वतारोहण जैसी व्यवस्था तथा हिम्मत जुटानी पड़ती है ।

अनुकरण मनुष्य का स्वभाव है । बहुलता पतनोन्मुख लोगों की ही है । चारों ओर उन्हीं के उदाहरण फैले हुए दीख पड़ते हैं । साथ ही यह भी प्रतीत होता है कि जिसने पतन को अपनाया वे हाथों-हाथ लाभ उठाने की शेखी भी बघारते और चतुरता भी बखानते हैं । इन उदाहरणों का प्रभाव सामान्यजनों पर यही पड़ता है कि जब इतने लोग स्वार्थसिद्धि में लगे हुए हैं, हाथों-हाथ लाभ उठा रहे हैं तो हमें भी क्यों न उसी मार्ग पर चलना चाहिए । यही है वह तर्क जो मनुष्य को सहज सुहाते और अपनी राह पर घसीटते हैं । इसलिए अधिकांश लोग असंयम अपनाते और पतन के मार्ग पर चलते हैं । पीछे भले ही उन्हें उसके दुष्परिणाम भुगतने पड़ें । तात्कालिक लाभ की बात सोचकर चिड़िया और मछलियाँ जाल में फँसकर अपनी जान गँवाती हैं । पतंगे दीपक पर जल मरते हैं । साँप और हिरन वीणा की मधुर तान सुनकर पकड़े जाते हैं । असंमय अपनाने और तत्काल दीखने वाला आकर्षण भी ऐसा ही है, जो मनुष्य को अपने जाल में फँसा लेता है और साथ ही उस कुमार्गगामिता का प्रतिफल भी अगले ही दिनों दिखाना आरम्भ करता है ।

कर्म का मूल विचार है । जो जैसा सोचता है वह वैसा बन जाता है । ललक-लिप्साएँ पहले मस्तिष्क में प्रवेश करती हैं । सरस कल्पनाएँ बनकर घटाओं की तरह मानसिक आकाश में उमड़ती हैं । कुछ ही समय में वे घनीभूत होकर बरसने लगती हैं । कर्म के रूप में उनका परिणाम प्रकट होता है । मनःक्षेत्र असंयम से घिर जाने पर गुण-कर्म-स्वभाव सब उसी ढाँचे में ढलने लगते हैं । व्यक्तित्व का स्वरूप ही ऐसा बन जाता है, जिसमें हेय विचारों को हेय कार्यों में परिणत होते हुए देखा जा सके । अधिकांश लोग मानसिक असंयम अपनाते और कुकर्मों के गर्त में गिरते हैं ।

जिन्हें उत्कर्ष के मार्ग पर चलना है, उन्हें सर्वप्रथम अपने विचारों का परिमार्जन करना होता है । चिन्तन में, दृष्टिकोण में जो क्षुद्रता बस गई है उसका आदि से अन्त तक परिमार्जन करना होता है । कुविचारों को आदर्शवादिता की बुहारी से बुहारना पड़ता है । तभी वे कर्म बन पड़ते हैं । जो ऊँचा उठाते और सर्वतोमुखी अभ्युदय के लक्ष्य तक पहुँचते हैं ।

कर्त्तव्य पालन का पुण्य-परमार्थ

सभी अपने अधिकारों की माँग करते हैं । पर यह भूल जाते हैं कि इसके साथ ही कर्त्तव्य-पालन भी जुड़ा हुआ है । कर्त्तव्यों की उपेक्षा की जाय और अधिकार को उस माप की तुलना में कहीं अधिक मात्रा में माँगा जाय तो, खींचा-तानी आरम्भ हो जाती है, मनोमालिन्य बढ़ता है और संघर्ष आरम्भ हो जाता है । यही वह विष वृक्ष का बीजारोपण है, जिसका प्रतिफल कटु, कर्कश और दुष्परिणामों से भरा-पूरा होता है ।

गाय को घास खिलाते हैं, बदले में वह दूध देती है। श्रमिक को वेतन देते हैं, बदले में वह परिश्रम करता है। खेत को खाद, पानी और बीज देते हैं, बदले में उससे धन-धान्य की फसल मिलती है । शरीर को पोषण का निर्वाह देते हैं। बदले में वह जीवित रहता और सौंपे हुए कामों को सम्पन्न करता है । यदि उपर्युक्त कर्त्तव्य-पालनों को बन्द कर दिया जाय तो निश्चय ही बदले में मिलने वाले सत्परिणामों का मिलना भी बन्द हो जायेगा, भले ही पीछे उसकी शिकायत ही क्यों न करते रहें । दोषारोपण भले ही लगाते रहें ।

अन्य जीव-जन्तु अपने लिए सुविधाएँ तो चाहते हैं और उतने भर के लिए दौड़-धूप भी करते हैं । पर उन्हें यह ज्ञान नहीं होता कि इसके बदले क्या कर्त्तव्य-पालन करना चाहिए । फल यह होता है कि उनकी सभी उपलब्धियाँ अनिश्चित रहती हैं । आकाश वृष्टि से जो कुछ हाथ लग जाय, उसी पर सन्तोष करना पड़ता है । वे अनिश्चित परिस्थितियों में ही अपना समय गुजारते हैं ।

मनुष्य अपने आपको कर्त्तव्यों से बँधा हुआ अनुभव करता है । उन्हें पालने के लिए यथासम्भव प्रयत्नशील भी रहता है । यही कारण है कि उसे आदान-प्रदान का समुचित लाभ मिलता रहता है । परिवार के सदस्यों से, मित्रों से, सम्बन्धियों से, अनेक प्रकार के प्रसन्नतादायक सहयोग मिलते रहते हैं । उनके आधार पर सुविधा भी मिलती है, प्रसन्नता भी । किन्तु यह भी स्मरण रखा जाना चाहिए कि यह उसके कर्त्तव्य-पालन का प्रतिफल है । यों दीन-दुःखियों की निस्वार्थ सेवा, सहायता भी की जाती है । बदले में वे असहाय कुछ प्रत्यक्ष प्रतिदान नहीं दे पाते तो भी दाता को अनुभव होता है कि अपने सत्पात्रों की सेवा करके पुण्य कमाया और सन्तोष का लाभ उठाया । यह भी एक प्रकार का प्रतिदान ही है । किसी के द्वारा ठगे जाने पर प्रसन्नता के स्थान पर रोष उत्पन्न होता है । क्योंकि ठग न तो सत्पात्र था और न भाव-भरी कृतज्ञता व्यक्त करने की स्थिति में ही था । प्रतिदान की उपेक्षा तभी की जा सकती है, जब अनुदान में कोताही न की जाय । अनुदान कर्त्तव्य है और प्रतिदान उसका प्रतिफल । इस तथ्य को सुनिश्चित रूप से समझ ही लिया जाना चाहिए ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

अन्य प्राणियों की तरह मनुष्य भी स्वतन्त्र है । उसे भी स्वेच्छाचार बरतने की छूट है, किन्तु मानवी गरिमा ने उसे स्वच्छन्द नहीं रहने दिया है । महिमा, महत्ता और गरिमा के अनुरूप उसे कितने ही दायित्वों से भी लादा है । इनके परिपालन से ही उस गौरव का रसास्वादन कर सकना सम्भव होता है, जो ईश्वर ने अपने युवराज के रूप में उसे सौंपा है ।

बन्दूक का लाइसेन्स हर किसी को नहीं मिलता । जिन्हें मिलता है उन्हें यह जिम्मेदारी भी सौंपी जाती है कि उसका दुरुपयोग न होने पाये । लूट, डकैती, हत्या आदि में उसे प्रयुक्त न होने दिया जाय । साथ ही उस लाइसेन्स लेने वाले से यह भी आशा की जाती है कि यदि गाँव-मुहल्ले पर डकैतों का दल आक्रमण करे तो उनका मुकाबला करने के लिए उस अस्त्र को साहसपूर्वक काम में लाया जाय । इस दुहरी जिम्मेदारी के साथ ही बन्दूक के अधिग्रहण का अधिकार मिलता है । यदि उनका परिपालन न किया जाय वरन् जो प्रतिबन्ध थे उन्हें तोड़ा जाय, तो सरकार उस लाइसेन्स को रद्द कर देगी और बन्दूक को जब्त कर लेगी । यही बात मनुष्य जीवन के सम्बन्ध में भी है। यह सुरदुर्लभ शरीर ऐसे ही नहीं दे दिया गया है । इतनी विशेषताओं से भरा-पूरा यह कलेवर प्रदान करते हुए नियन्ता ने कुछ आशाएँ भी रखी हैं, कुछ जिम्मेदारियाँ भी सौंपी हैं । उनका निर्वाह ठीक तरह बनता रहे तो समझना चाहिए कि इस सुयोग की सार्थकता हुई अन्यथा जिम्मेदारियाँ तोड़ने के अपराध में उन प्रताड़नाओं का क्रम सहना पड़ता है जो जिम्मेदारियों की उपेक्षा करने पर अपराधी की गणना में गिने जाने पर सहन करनी पड़ती हैं।

पशु-पक्षियों पर कोई नैतिक या सामाजिक बन्धन नहीं है । वे किसी के भी खेत में घुसकर पेट भर सकते हैं । अपनी जाति में किसी से भी यौन सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं । किन्तु मनुष्य ऐसा नहीं कर सकता । करेगा तो चोरी के, व्यभिचार के अपराध में भर्त्सना और प्रताड़ना सहन करेगा । मनुष्य सामाजिक प्राणी है । उसे अधिकांश सुविधाएँ अनेकानेक व्यक्तियों के सहयोग से ही उपलब्ध होती हैं । बदले में उसका भी कर्त्तव्य हो जाता है कि समुदाय को सुखी-समुन्नत, सुव्यवस्थित बनाने के लिए समुचित श्रम, सहयोग प्रस्तुत करे और लोकमंगल के निमित्त अपने बढ़-चढ़कर अनुदान प्रस्तुत करे । उसी कर्त्तव्य भावना के निर्वाह को देशभक्ति, समाजसेवा, पुण्य-परमार्थ, उदार-अनुदार आदि नामों से प्रशंसनीय माना जाता है । इसी आधार पर यश, सम्मान और सहयोग भी मिलता है । यह अनुदान का प्रतिदान है ।

किसान को फसल पर ढेरों अनाज मिलता है । इस सबको वह लम्बे समय तक सुरक्षित नहीं रख सकता । जगह घिरेगी, कीड़े लगने का भय रहेगा । बदले में जो अन्य आवश्यक वस्तुएँ खरीदी जा सकती हैं वह रास्ता रुक जायगा । इसलिए किसान उसमें से खाने लायक मात्रा रखकर शेष को बेच देता है । इससे दूसरे जरूरतमन्दों का काम चलता है और किसान को जो कीमत मिली, वह उसके बदले में अन्य वस्तुएँ खरीद सकता है । व्यवसाय कर सकता है, बैंक में जमा कर ब्याज ले सकता है। इसी प्रकार मनुष्य जन्म जिन्हें पूर्व कृत पुण्य से या दैव अनुग्रहों से उपलब्ध हुआ है, उसका कर्त्तव्य है कि उपलब्ध श्रम, कौशल एवं मनोयोग को सत्प्रवृत्ति सम्बर्द्धन में, गिरों को उठाने में, उठों को बढ़ाने में नियोजित करें । इस प्रकार वह अनुदान पुण्य-परमार्थ की पूँजी के रूप में जन्मा होता है और बदले में अन्य प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त करने का सुयोग मिलता है, यही तरीका बुद्धिमत्ता पूर्ण है । जो किसान अपना अनाज अपने लिए ही सुरक्षित रखेगा वह कई प्रकार की हानियाँ ही सहन करेगा । उसकी संकीर्णता उनसे अन्यान्य प्रकार के लाभ उठाने से वंचित ही रखे रहेगी ।

बहुमूल्य वस्तुएँ प्राप्त करने के उपरान्त उन्हें चोर-उचक्कों से बचाने के लिए तिजोरी आदि में सुरक्षित रखने की व्यवस्था बनानी पड़ती है । मनुष्य को स्वास्थ्य, आयुष्य, विचार-विवेक, कौशल, प्रतिभा-पुरुषार्थ आदि ऐसी उपलब्धियाँ मिली हैं, जो अन्य प्राणियों के भाग्य में नहीं हैं। इन उपलब्धियों की बर्बादी न होने पाये यह मौलिक कर्त्तव्य बनता है । यदि इनके दुरुपयोग होने लगे तो अनेक दुर्व्यसन पीछे पड़ेंगे, अनेक दुर्गुण उपजेंगे और पापकर्म बन पड़ेंगे । इसलिए हर घड़ी यह सर्तकता बरतनी चाहिए कि अपनी क्षमताओं में से किसी का भी रंचमात्र दुरुपयोग न होने पाये । दुरुपयोग न होने देने का सीधा अर्थ है, उनका सदुपयोग किया जाना । सदुपयोग का एक ही उपाय है, पुण्य-परमार्थ । अपनी निज की विशेषताओं की अभिवृद्धि करना पुण्य कहलाता है और उन्हें दूसरों की सेवा-सहायता में लगाना परमार्थ । इन दोनों के कमाने में कुछ भी घाटा नहीं है । उनका प्रतिफल किन्हीं दूसरे रूपों में मिलकर रहता है ।

कदाचित् कहीं से तत्काल अनुदान का प्रतिदान न भी मिले तो भी चिन्ता जैसी कोई बात नहीं है । मनुष्य बदला चुकाने में असमर्थ रहे अथवा आना-कानी करे तो इसमें गृहीता को ही घाटा पड़ेगा । दाता की पूँजी तो सर्वथा सुरक्षित है । उसका आत्म-सन्तोष और यश-सम्मान तो निश्चित रूप से बढ़ेगा । यह प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष है तो भी उनके लाभ प्रकारान्तर से मिलते हैं । यह सामान्य को असामान्य बनाते हैं । इन लाभों को देखते हुए कर्मयोगी कभी घाटे में नहीं रहता । उसे अपने सद्भाव प्रदर्शन के लिए पश्चात्ताप नहीं करना पड़ता ।

अनुशासन और संगठन

मर्यादाओं को समझना और उनका परिपालन करना उनके लिए अनिवार्य होता है, जो अपने को मानवीय गरिमा से सुसज्जित अनुभव करते हैं । विचारशीलों को तो अपनी समस्त क्षमताओं को अनुशासन के अनुबन्धों में बाँधना पड़ता है । इसी आधार पर वे अपनी क्षमताओं का

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

सही सदुपयोग करते हुए प्रगति-पथ पर आगे बढ़ते हैं । अपने संकल्पों को सफल बनाने में समर्थ होते हैं ।

उच्छृंखलता नटखट बालकों द्वारा अपनाये जाने पर क्षमा की जा सकती है । पर जिनकी आयु बड़ी हो चुकी अथवा जो समझदारी का दावा करते हैं, उनके लिए यही उचित है कि अनुशासन में रहें और अपने सम्बन्धित परिकर को अनुशासनबद्ध रखने के लिए प्रमाणित, प्रशिक्षित करें ।

सैनिकों का अनुशासन कितना भला लगता है । वे पंक्तिबद्ध चलते हैं । अंग संचालन में समस्वरता रखते हैं । आदेश मिलते ही बिना एक क्षण की देर लगाये उसका परिपालन करते हैं । इससे उस समूह की एकता का भान होता है । उस शृंखला का प्रत्येक घटक एक सम्मिलित शक्ति का प्रतीक परिचायक होता है । मेलों में धक्का-मुक्की करते चलने वाली और सड़कों पर भेड़ों की तरह बिखरी हुई चलने वाली भीड़ में और सैनिकों की टोली में कितना अन्तर होता है, इसे कोई भी व्यक्ति आँखों से देखकर स्थिति का अन्तर समझ सकता है ।

अनुशासन का अर्थ है-मनस्वरूप क्रमबद्धता । यह जीवन के सभी पक्षों में प्रयुक्त किये जाने योग्य है । समय का अनुशासन सर्वोपरि महत्त्व का माना जाता है । विचारपूर्वक दिनचर्या बनाई जाय और उस पर निश्चयपूर्वक चला जाय तो यही चौबीस घंटे के दिन का समय किसी को भी प्रगति पथ पर आश्चर्यजनक दूरी तक आगे बढ़ा ले जा सकता है ।

अनगढ़ लोग आलस्य, प्रमाद में समय गँवाते रहते हैं । जो काम तत्परतापूर्वक किये जाने पर जितने समय में पूरा हो सकता है, प्रमादी लोग उसमें कई गुनी देरी लगाते हैं । आधे-अधूरे मन में ढील-पोल और आलस्य अपनाते हुए जो काम किये जाते हैं, वे कहीं अधिक देरी में होते हैं और आधे, अधूरे, फूहड़, कुरूप रहते हैं । किन्तु उसी को यदि तत्परता, तन्मयता अपनाते हुए नियत-क्रम से नियत समय पर किया जाता रहे तो यह क्रमबद्धता प्रगति और सफलता के ढेर लगा देती है । संसार के प्रगतिशील मनुष्यों में से प्रत्येक ने अपने समय को अनुशासन में बाँधा है । क्रमबद्ध कालक्षेप करने का अभ्यास किया है । एक पल को भी व्यर्थ बर्बाद नहीं किया है । मिनटों और घंटों को हीरे-मोती की तरह माना और उन्हें बहुमूल्य समझते हुए योजनाबद्ध रूप में निर्धारित कार्यों में नियोजित किया है ।

समग्र की भाँति ही अन्यान्य शक्तियों के सम्बन्ध में भी उसी प्रकार सोचा जाना चाहिए । विचारों को उच्छृंखल न रहने दिया जाय । शेखचिल्ली जैसी निरर्थक कल्पनाएँ न करने के लिए मन को अभ्यस्त किया जाय । उसे वही सोचने के लिये बाधित किया जाय जो अभ्यस्त है । सामने प्रस्तुत उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक ताना-बाना बुनने में जिनका मन लगता है, चिन्तन नियोजित रहता है, वे अपनी बुद्धिमत्ता को अनेक गुना अधिक बढ़ा लेते हैं । साथियों की तुलना में कहीं आगे निकल जाते हैं । किन्तु जिनकी कल्पनाएँ बे-सिर पैर की उड़ानें उड़ती रहती हैं, उन्हें मानसिक क्षमता का अपव्यय करते रहने पर पिछड़ापन ही हाथ लगता है । ऐसे व्यक्ति बुद्धिमत्ता के क्षेत्र में काफी पिछड़ जाते हैं ।

आहार-विहार की नियमितता अपना विशेष महत्त्व रखती है । आहार की मात्रा यदि सीमित रखी जाय तो उसके लिए पेट के पाचक रस न केवल नियत समय पर रिसने लगते हैं वरन् उनकी मात्रा भी उतनी ही हो जाती है जिससे पाचन ठीक प्रकार हो सके । जिनके भोजन का समय नियत नहीं रहता, मात्रा भी न्यूनाधिक करते रहते हैं, उनका पाचनतन्त्र इस अनियमितता के कारण गड़बड़ा जाता है । भले ही पदार्थों को समझ-बूझकर ही क्यों न चुना गया हो । सोने का समय निर्धारित रहने पर नींद ठीक प्रकार आती है और आँख खुलने का समय भी नियमित हो जाता है । नींद सम्बन्धी शिकायत उन्हें रहती है, जो कभी किसी समय, कभी किसी समय सोते-जागते रहते हैं ।

दफ्तरों, कारखानों, स्कूलों का एक नियमित अनुशासन होता है । उनमें सम्मिलित होने वाले यदि ठीक समय पर पहुँचते हैं, व्यवस्थापूर्वक मन लगाकर काम करते हैं, तो उन संस्थानों को भी श्रेय मिलता है और कार्यकर्त्ताओं की कुशलता भी बढ़ती जाती है। पर जहाँ अनुशासनहीनता का दौर रहता है, कार्यकर्त्ता समय का ध्यान न रखकर आगे पीछे पहुँचते हैं, आधे-अधूरे मन से काम करते हैं, निर्धारित क्रम को बिगाड़ते रहते हैं, वहाँ घाटा ही घाटा पड़ता है । कार्यकर्त्ता भी अयोग्य साबित होते हैं और अपयश के भागी बनते हैं ।

जिन परिवारों में पारस्परिक व्यवहार में अनुशासन रहता है । खर्च, बजट, आमदनी तथा आवश्यकता के साथ तालमेल बिठाते हुए बनता है, वहाँ कम आमदनी होने पर भी, बड़ा परिवार होने पर भी सदस्यों के एक तन्त्र में बँधे रहने के कारण समूचा ढर्रा सुव्यवस्थित बना रहता है । स्नेह-सद्भाव में कमी नहीं आती और किसी सदस्य को अव्यवस्था का शिकार भी नहीं होना पड़ता । परिवारों का प्रगतिशील होना सुविधा-साधनों की अधिकता पर निर्भर नहीं है वरन् इस बात पर अवलम्बित है कि उनके बीच व्यवस्था और अनुशासन के सम्बन्ध में कितनी निष्ठापूर्वक निर्वाह होता है ।

सामाजिक अनुशासन नीति, धर्म, कानून, प्रचलन आदि के नाम पर स्थापित किये जाते हैं । जहाँ उनमें समयानुसार उचित संशोधन होता रहता है, जहाँ मर्यादाओं के परिपालन में श्रद्धा-विश्वास का समुचित समावेश रहता है, वहाँ संगठन में कोई कमी नहीं आने पाती । जहाँ संचालक का आदेश शिरोधार्य होता है, वहाँ सभी एकजुट होकर काम करते हैं, एक दिशा में चलते हैं । वह समाज छोटा और अभावग्रस्त होने पर भी सशक्त बनकर रहता है । उसकी क्षमता अव्यवस्थित समुदायों की अपेक्षा कहीं बढ़ी-चढ़ी रहती है । समाजों के उत्थान-पतन इस बात पर

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

निर्भर रहे हैं कि वे कितनी एकता बनाये रह सकें अथवा कितनी फूट-फिसाद में निरत होकर अपनी शक्ति का अपव्यय करते रहें । जातियों के इतिहास बने या बिगड़े हैं । संगठित समुदाय उठते और विशृंखलित लोग गिरते रहे हैं ।

एकता की शक्ति सर्वोपरि मानी जाती है । संघ शक्ति को अन्य सब शक्तियों की तुलना में अधिक समर्थ बताया गया है । वह संगठन भीड़ को इकट्ठा कर लेने से नहीं वरन् एकनिष्ठ और अनुशासनबद्ध लोगों के परस्पर एकजुट होने पर ही बन पड़ता है । ऐसे थोड़े से लोग भी कठिन और बड़े काम सरलतापूर्वक करते हुए देखे गये हैं, जबकि अपनी-अपनी बात चलाने वाले महत्त्वाकांक्षी लोग संकीर्ण-स्वार्थपरता की परिधि में सोचते रहते हैं । संगठन को बिगाड़ते हैं और जिस डाली पर बैठा गया है, उसी को काटने वाले मूर्खों की तरह जमीन पर गिरते हैं । इतना बड़ा घाटा उठाते हैं, जिसकी क्षतिपूर्ति कदाचित ही भी न हो सके ।

शरीर के सब अंग-अवयव एक-दूसरे को सहयोग देते और मिल-जुलकर काम करते हैं । इसीलिए जीवन-यात्रा ठीक प्रकार चलती रहती है । यदि वे अलग-अलग अपने स्वार्थ की बात सोचें, अपनी-अपनी महत्त्वाकांक्षा पूरी करने के लिए खींचतान करें तो एक दिन भी वह तन्त्र कार्यरत रहने में समर्थ न रह सकेगा । यह बात प्रत्येक क्षेत्र की है । उनमें जहाँ जितनी मात्रा में अनुशासन रहेगा उतनी ही प्रगति होगी । पौराणिककाल के देवता समर्थ होते हुए भी दैत्यों से इसलिए हारते रहे कि वे एक-दूसरे की उपेक्षा करते थे, अपने अहंकार की पूर्ति में ही निरत रहते थे । इस पराजय का निराकरण तब हुआ, जब उसकी संगठन शक्ति ने दुर्गा का रूप धारण करके सम्मिलित रूप से प्रहार किया । यह उदाहरण भी हर समुदाय और कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में समान रूप से लागू होता है ।

आदर्श-निर्वाह व्रतशीलता से

मनुष्य कई तरह के विचार करता है । इनमें से कुछ निश्चय स्तर के भी होते हैं । किन्तु देखा गया है कि उनमें से कुछ ही निभते हैं । जो निभते हैं वे भी अधिक दिन नहीं टिकते । उत्साह थोड़े दिन तो उभरा रहता है, पर जैसे-जैसे मनोबल क्षीण होता जाता है, वैसे ही उत्साह ठंडा होता जाता है । पुराने संस्कार फिर उभरने लगते हैं । नया निश्चय ठंडा होता जाता है और अन्त में वह दिन आता है जिसमें आदर्शवादी निश्चय प्रायः समाप्त हो जाता है । उसकी स्मृति मात्र शेष रह जाती है । पुराना ढर्रा फिर वापिस आ जाता है । कदम बढ़ाने और उसे पीछे हटा लेने की बात पर मन सकुचाता तो है, पर उसे ज्यों-त्यों करके समझ लिया जाता है । परिस्थिति से समझौता कर लिया जाता है । कितने ही तर्क ऐसे ढूँढ़ लिये जाते हैं, जिनके कारण उस उत्साह को ठंडे होने, निश्चय के टूटने का औचित्य सिद्ध हो सके । कारण केवल मनोबल की कमी, निश्चय की न्यूनता का होता है, पर अपने को दोषी कैसे ठहराया जाय ? दुर्बलता को स्वीकार कैसे किया जाय ? इसलिए मानवीय स्वभाव कोई न कोई कारण ऐसा ढूँढ़ता है, जिससे परिस्थिति को निमित्त ठहराया जा सके ।

ऐसे समय बार-बार आते रहते हैं, जिनमें श्रेष्ठता अपनाने के लिए उत्साह उभरे । ऐसा प्रायः प्रेरणास्पद स्वाध्याय या उत्तेजक सत्संग से होता है । किन्हीं महापुरुषों के जीवन की आदर्शवादी घटनाएँ भी यदा-कदा सामने आती हैं । जब कभी चित्रों फिल्मों में कुछ ऐसा देखने को मिलता है, जिसे उच्चस्तरीय कहा जा सके तो अनुकरण करने की उत्कंठा उठती है । आवेश उसका समर्थन करता है और भावोत्तेजना की मनःस्थिति से तय कर लिया जाता है कि अगले दिन से ही उसका श्रीगणेश किया जाय । कर भी लिया जाता है । कुछ दिन वह चलता भी रहता है, किन्तु वह सब उतावली में किया गया होता है । यह सोचने का प्रयत्न नहीं चला होता कि इसे निर्वाह में क्या कुछ कठिनाइयाँ आवेंगी और उनका सामना कैसे किया जायेगा ? फलतः जब मनोबल शिथिल पड़ने लगता है तो कठिनाइयाँ छोटी होने पर भी दीखने लगती हैं । लाभ जो सोचे गये थे वे भी नगण्य होने जैसी बातें सूझने लगती हैं । जिस मार्ग पर चला गया है, उसे छोड़कर कोई दूसरी राह अपनाने के विकल्प सामने आने लगते हैं । शिथिलता बढ़ते-बढ़ते इस स्तर तक पहुँचती है कि क्रम टूटने लगता है । किसी दिन किया, किसी दिन छोड़ा का सिलसिला चलते-चलते गिरावट की विजय होने लगती है । जो निश्चय किया गया था, उसमें लाभ कम और कठिनाई बढ़ी-चढ़ी दीखने लगती है । कुछ दिन यह मानसिक झंझट चलता है और अन्ततः उस उत्साह की समाप्ति ही हो जाती है । कालान्तर में फिर कुछ नई सूझ-सूझती है । नया निश्चय होता है । कुछ दिन चलता है और फिर पहले वाले क्रमानुसार उसका भी अन्त हो जाता है ।

जितनी बार निश्चय टूटते हैं, उतना ही मनोबल कम होने लगता है । अन्त में स्थिति यह हो जाती है कि कोई नया आदर्शवादी निश्चय करने के लिए साहस ही नहीं होता । आत्म-विश्वास उठ जाता है और लगता है अपने बलबूते की यह सब है नहीं । निराशा के साथ-साथ आत्म-ग्लानि भी होने लगती है । कहा जाने लगता है कि यह सब तपस्वी, मनस्वी लोगों का कार्य है । अपने संस्कार ही ऐसे नहीं । फिर कदम बढ़ाने से क्या लाभ ?

ऐसा प्रायः जप, तप, ध्यान, धारणा, व्रत, उपवास, स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य, अस्वाद जैसे सन्दर्भों में होता है । पूर्व अभ्यास तो रहा नहीं होता । अड़चनों की भी पूर्व कल्पना नहीं होती । संचित कुसंस्कार किस प्रकार आड़े आते हैं, इसका भी अनुभव नहीं रहता । ऐसी दशा में उत्साह का स्तर आवेश जैसा ही रहता है । आवेश स्थाई नहीं होते। जब शोक, क्रोध, ललक, लिप्सा जैसे भावावेश संयम के साथ ठंडे पड़ने लगते हैं । घनिष्ट मित्रता परिचय मात्र

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

बनकर रह जाती है तो आदर्शवादी निश्चयों का चिरस्थाई बने रहना कैसे सम्भव हो ?

कुटेवें जड़ पकड़ लेती हैं । नशेबाजी जैसी आदतें अभ्यास में उतर जाएँ तो उनमें दृढ़ता बनी रहती है । अन्य व्यसन भी पतनोन्मुख होने के कारण स्वभाव का अंग बन जाते हैं । उनकी निरन्तर पुनरावृत्ति भी होती रहती है । पौधे में पानी लगते रहने पर उसकी जड़ें गहराई में घुसती जाएँ तो आश्चर्य ही क्या ?

आदर्शवादिता के किसी भी पक्ष पर कदम बढ़ाना हो तो उस सम्बन्ध में पहले पक्ष और विपक्ष के सम्बन्ध में गहराई तक विचार करना चाहिए । पक्ष तो स्पष्ट है । उत्कृष्टता की दिशा में चलने वाले का सदा हित-साधन ही हुआ है । धनवान भले ही न बन सका हो पर उसे ओजस्वी, तेजस्वी, वर्चस्वी बनने का अवसर मिला है । स्वास्थ्य सुधरा है । सन्तोष मिला है । परिवार में सद्भाव बढ़ा है । परिचितों से सम्पर्क बढ़ा है । साथियों का सहयोग मिला है । प्रसन्नता बढ़ी और शान्ति मिली है । इन लोगों को देखते हुए आत्म-सुधार के लिए प्रयत्न करना और सद्गुणी बनने के लिए कदम बढ़ाना सब प्रकार श्रेयस्कर ही है । कठिनाई थोड़ी-सी ही सामने आती है । संचित कुसंस्कार, सुधार प्रयासों के लिए सहमत नहीं होते । उसे झंझट कहते हैं । परिवार वाले भी अनुमान लगाते हैं कि अतिरिक्त आमदनी घट जाने से सादगी का जीवन व्यतीत करना पड़ेगा, धन-सम्पत्ति जमा न हो सकेगी। मौज उड़ाने के अवसर न मिलेंगे । साथियों के बीच अपनी अमीरी की डींग हाँकने की बात न बन पड़ेगी । बच्चों की ऊँची पढ़ाइयाँ, खर्चीली शादियाँ करने पर जो बड़प्पन मिलता है, वह न मिलेगा । सादगी को देखकर अमीरी जताने वाले उपहास करेंगे । यदि इन कटौतियों को स्वीकार किया जा सके तो आदर्शवादी जीवन में लाभ अधिक हैं । जो घाटा दीखता है, वह उसकी तुलना में तुच्छ है । पुण्य और परमार्थ का आनन्द तो सज्जनता की रीति-नीति अपनाने में ही है । आत्म-परिष्कार ऐसा लाभ है, जिससे लोक और परलोक दोनों ही सुधरते हैं । अतएव दूरदर्शिता इसी में है कि उस राह पर कदम बढ़ाये जायें, जिस पर कि महामानव चले हैं और पीछे वालों के लिए अनुकरणीय पद-चिन्ह छोड़कर धन्य हुए हैं । सरलता इसमें पड़ती है कि छोटे-छोटे व्रत 'अणुव्रत' लिये जाएँ और उन्हें हर हालत में पूरा करके रहा जाय । जैसे उपवास का अभ्यास करना है तो पहले सप्ताह में आधे दिन का व्रत रखा जाय । जब वह पूरा हो जाय तो स्वयं अपने साहस को सराहा जाय और कुछ दिन तक वह प्रक्रिया ठीक तरह चलती रहे तो एक दिन का फलाहार समेत व्रत किया जाय । वह क्रम चल पड़े तो पानी, छाछ, शाकों का रस आदि लेकर उस व्रतशीलता को महत्त्वपूर्ण स्तर तक पहुँचाया जाय । इसी प्रकार वर्तमान काल के कामसेवन क्रम में एक-एक दिन बढ़ाते रहकर उस स्थिति तक पहुँचा जाय जिसमें महीनों संयम-पूर्वक रहा जा सकता है । यह व्रतशीलता का अनुबन्ध है । बड़ी छलाँग लगाने की अपेक्षा थोड़ा-बढ़ाते हुए उसे अधिकता की ओर बढ़ाया जाय । उपासना के लिए आवश्यक नहीं कि आरम्भ में ही कई घंटे बैठने की बात सोची जाय । श्रीगणेश पाँच मिनट से भी किया जा सकता है । फिर जैसे-जैसे मन लगने लगे, उसमें अभिवृद्धि करते रहा जाय ।

दुर्गुणों को छोड़ने के सम्बन्ध में भी यही बात है । बीड़ी, सिगरेट पीने की लत हो तो दैनिक प्रयोग में एक-एक करके उसे कम करते चला जाय और अन्त में उसे पूरी तरह छोड़ दिया जाय । लोकमंगल के लिए अनुदान निकालने में भले ही आरम्भ में न्यूनतम राशि से शुभारम्भ किया जाय, पर उसे दैनिक एवं नियमित रखा जाय । नागा होने या भूल पड़ने की स्थिति में उसका प्रायश्चित्त करने के रूप में अपने को छोटा-मोटा शरीर-दण्ड या अर्थ-दण्ड दिया जाय । नियमितता बनी रहने पर मनोबल बढ़ता है और बड़े कदम उठा सकना, उनका निर्वाह चलते रहना सम्भव एवं सरल हो जाता है ।

स्नेह-सौजन्य की मोदभरी प्रक्रिया

आत्म-केन्द्रित व्यक्ति को अपने ही लाभ एवं वर्चस्व का ध्यान रहता है । दूसरों के प्रति भी अपने कुछ कर्त्तव्य हैं, इसे तो वह एक प्रकार से भूल ही जाता है । स्वार्थपरता की मात्रा स्वभाव में जब बढ़ने लगती है, तो उसका परिपोषण करने के लिए दूसरों के प्रति उपेक्षा, अवज्ञा का व्यवहार ही बन पड़ता है । ऐसे व्यक्ति अवांछनीय तत्त्वों में गिने जाते हैं ।

स्वार्थ के साथ-साथ अहंकार भी बढ़ता है । अहमन्यता का परिपोषण तभी बन पड़ता है, जब दूसरों को छोटा समझा जाय । तुच्छता की दृष्टि से देखा जाय । उचित मात्रा का स्वार्थ तो आदान-प्रदान के रूप में चरितार्थ हो सकता है, पर जब आपा-धापी ही सब कुछ बन गयी है, तो दूसरों के अधिकारों का ध्यान कौन रखे ? दूसरों की आकांक्षा का अनुमान कौन लगाये ? आत्म-केन्द्रित व्यक्ति मात्र अपना ही ध्यान रखते हैं । दूसरों के प्रति अपनी भी कुछ जिम्मेदारी है, इसका आभास भी नहीं हो पाता । स्वार्थ की बढ़ी हुई मात्रा अहंकार में परिणत होती है और उस स्थिति में दूसरों के प्रति दुर्व्यवहार करने तक में कोई बुराई नहीं दीख पड़ती । ऐसे लोग भले ही अपराध करने की सीमा तक आगे न बढ़ें, पर वे शिष्टाचार तो भूल ही जाते हैं । स्नेह, सद्भाव का प्रदर्शन तो बन ही नहीं पड़ता । नीरसता और निष्ठुरता की मात्रा बढ़ती चली जाती है ।

मानवीय स्वभाव संरचना एवं गौरव के अनुरूप व्यवहार तभी बन पड़ता है, जब उसमें आत्मीयता का समावेश समुचित मात्रा में हो । अपनेपन का दायरा

www.awgp.org
www.vicharkrantibooks.org

केवल अपने शरीर-पोषण और मन के पोषण तक सीमित रहे । सज्जनता की वह पहचान नहीं है । आत्म-केन्द्रित व्यक्ति यह सब नहीं कर पाता । उसकी निजी लिप्सा-लालसा ही इतनी बढ़ी-चढ़ी होती है कि समूची विचारणा और क्रिया-पद्धति उसी में नियोजित होकर रह जाती है ।

किसी को छोटी-सी कोठरी में कैद रहना पड़े, तो निश्चय ही उसे असन्तोष भी रहेगा और मन मसोसने जैसी पीड़ा भी सहन करनी पड़ेगी । स्वार्थ की सीमित परिधि में अपना व्यक्तित्व सीमाबद्ध रखने पर भी इसी स्थिति का सामना करना पड़ता है । आनन्द और उत्साह तब उभरता है, जब विस्तृत क्षेत्र से अपनी क्रिया परिधि बनाई जाय । बच्चे खुली जगह में दौड़ लगाने के लिए उत्सुक रहते हैं । पशु-पक्षी भी एक जगह बैठे नहीं रहते, उन्हें खुला सुरक्षित आकाश चाहिए । इसी प्रकार मनुष्य को भी दूसरों के साथ हिल-मिलकर रहने की सुविधा चाहिए । मात्र शरीरों के साथ रहने से काम नहीं चलता, वरन् औरों के सुख-दुःख की भागीदारी भी आवश्यक प्रतीत होती है । जिसके मन में दूसरों के प्रति उपेक्षा भाव छाया रहता है, उन्हें एक प्रकार से घुटन की स्थिति में पड़ना पड़ता है । मन की कली तब खिलती है, जब सम्पर्क क्षेत्र बढ़े और उसमें स्नेह-सौजन्य का आदान-प्रदान चलता रहे । दूसरों की प्रसन्नता के आधार पर अपनी प्रसन्नता बढ़ा लेना सरल है । दूसरों की सफलता एवं प्रगति को अपनी मान लेने पर सहज उल्लास मिलता है । उसकी कोई कीमत नहीं चुकानी पड़ती । किन्तु यदि स्व-उपार्जित सम्पदा, सफलता, प्रगति को ही सन्तोष का केन्द्र मानना हो तो उसके लिए लम्बे समय तक भारी प्रयत्न करना पड़ेगा और जब तक अभीष्ट उपलब्धि हस्तगत न हो, तब तक धैर्य रखना पड़ेगा और प्रतीक्षा करनी होगी । किन्तु यदि दूसरों के साथ अपनापन जोड़ लिया गया है, तो उसके सहारे दूसरों को प्रसन्न होते देखकर अपनी प्रसन्नता बढ़ाई जा सकती है । इसी को आत्मभाव का विस्तार कहते हैं । इसका सुखद परिणाम हाथों-हाथ मिलता है ।

अपने कष्ट में दुःखी होना स्वाभाविक है, उसमें व्यथा और बेचैनी भी जुड़ी होती है, पर यदि दूसरों के दुःख में दुःखी होने की प्रवृत्ति जग पड़े तो इसे दया एवं करुणा का उदय-उद्भव कहा जायेगा । इसके आधार पर सेवा-सहायता करने का अवसर मिलता है । इसमें पुण्य भी है और सन्तोष भी । प्रशंसा मिलती है और सज्जनता उभरती है । इन लाभों के अतिरिक्त अन्तराल में मानवता का स्रोत भी फूट पड़ता है । आदिकवि वाल्मीकि ने क्रोंच पक्षी को आहत देखा, उससे उनकी करुणा की धार फूटी और वही आगे चलकर काव्य सरिता के रूप में प्रवाहित होने लगी । यदि उन्होंने आहत प्राणी की व्यथा को अपनी व्यथा न माना होता, तो उस लाभ से वंचित रहना पड़ता, जो उन्हें आदि कवि के रूप में गौरव प्रदान करने में समर्थ हुआ ।

आत्म-भाव का विस्तार करने की प्रतिक्रिया यह होती है कि व्यवहार में सहज सौजन्य का समावेश होने लगता है । स्नेह की सरिता भी इसी आधार पर प्रवाहित होती है । प्यार उसी के साथ बन पड़ता है, जिसके साथ विशेष रूप में आत्मीयता जुड़ जाती है । आत्मीयता का क्षेत्र विस्तृत करने का अर्थ है-प्रियजनों की संख्या बढ़ाना । यह संख्या जितनी बड़ी होती है, उसी अनुपात में सद्भाव का विस्तार होता है और आत्मोत्कर्ष का आधार मिलता है । इसकी प्रतिक्रिया भी होती है । निस्वार्थ भाव से, सहज भाव से किया गया स्नेहसिक्त सद्व्यवहार अपनी प्रतिक्रिया लेकर बढ़े-चढ़े रूप में वापस लौटता है । अनुदान का प्रतिदान मिलता है । जिन्हें अपना माना गया है, वे सर्वथा कृतघ्न नहीं रह सकते । बदले में उनकी उदारता एवं सद्भावना भी ब्याज समेत वापस लौटती है । यह लाभ ऐसा है, जिसे मात्र सदाशयता के बदले इतना बढ़-चढ़कर पाया जा सकता है कि उसे बहुमूल्य आँका जा सके । स्नेह के बदले स्नेह खरीदा जा सकता है और सौजन्य के बदले सौजन्य । इसे कीमत चुकाकर प्राप्त करने का प्रयास किया गया होता तो बार-बार उपहार देने के मूल्य चुकाने की आवश्यकता पड़ती रहती । तब कहीं उतना सुखद वातावरण बन पाता । पर आत्मीयता की भाव-चेतना का विस्तार ही उतने लाभों का समुच्चय बटोर लाता है, जिसे प्राप्त करके अपनी अन्तरात्मा पुलकित हो सके ।

अपनी नम्रता दूसरे को प्रफुल्लित होने के लिए उत्साहित करती है । विनम्र व्यक्ति अपनी सीमा समझता है और अहंकार से बचता है । दूसरों को सम्मान देकर बदले में सम्मानित हुआ जा सकता है । इस संसार की संरचना इस प्रकार की है कि अपना ही व्यक्तित्व दूसरों के चेहरे पर दर्पण की तरह प्रतिबिम्ब दीख पड़े । जब हम निष्ठुर, कर्कश होते हैं, तो दूसरे भी उसी प्रकार की प्रतिक्रिया व्यक्ति करने लगते हैं । गुम्बद में अपनी ही आवाज गूँजती है और प्रतिध्वनि के रूप में सुनाई पड़ती है । अपना आत्मभाव संकुचित हो तो दूसरे भी संकीर्ण स्वार्थपरता का व्यवहार करने लगते हैं, पर यदि उदार आत्मीयता अपनाई गयी है तो उसका प्रतिफल भी न्यूनाधिक मात्रा में उसी के अनुरूप मिलने लगेगा ।

सम्पर्क क्षेत्र एक प्रकार का खेत है, जिसमें अपने व्यवहार के बोये जाने पर उसकी बढ़-चढ़कर प्रतिक्रिया वापस लौटती है । एक व्यक्ति अपना सौजन्य हजारों पर बिखेर सकता है, पर जब हजारों का सौजन्य लौटकर वापिस आता है, तो वह प्रतिदान बोये गये अनुदान की अपेक्षा हजार गुना अधिक होता है ।

धर्म-धारणा में स्नेह-सौजन्य को भी एक महत्त्वपूर्ण घटक माना गया है । अपने चिन्तन, स्वभाव एवं व्यक्तित्व में यदि सज्जनता की मात्रा बढ़ी-चढ़ी हो, उसी के अनुरूप व्यवहार बन पड़ रहा हो तो निश्चित रूप से यह देखा और पाया जायेगा कि सब ओर से सौजन्य अपने ऊपर बरसता है ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

पराक्रम करें–पुरुषार्थ अपनायें

संसार में प्रचुर परिमाण में वैभव भरा पड़ा है, पर उसे प्राप्त पराक्रम के सहारे ही किया जा सकता है । परिश्रम और मनोयोग का समन्वय ही पराक्रम कहलाता है । यह पराक्रम ही है, जिसके सहारे अभीष्ट उपलब्धियाँ प्रचुर परिमाण में उगाई और अर्जित की जाती हैं । किसान कृषि कर्म में परिश्रमपूर्वक संलग्न होते हैं और बदले में धनधान्य की भरी-पूरी फसल से कोठे भरते हैं । माली अपने बगीचे में परिपूर्ण परिश्रम करता है और बदले में फल-फूलों से लदा हुआ उद्यान खड़ा देखकर गौरवान्वित होता है । हस्तगत हुए लाभ से अपने को सुसम्पन्न और सम्मानित अनुभव करता है ।

इस संसार में बढ़ी-चढ़ी सम्पदायें और विभूतियाँ विद्यमान हैं, पर वे हर किसी को हस्तगत नहीं होतीं । मात्र पुरुषार्थी-पराक्रमी ही उन्हें उपलब्ध करते हैं । आहार से शक्तिदायी रक्त बनता है, पर यह अनायास ही नहीं हो जाता । समूचे शरीर को इसके लिये अपने-अपने स्तर के प्रयास करने पड़ते हैं । भूमि में उर्वरता विद्यमान है, उसी के गर्भ से अनेकानेक खनिज, वृक्ष, पौधे, खाद्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं । इस उत्पादन का श्रेय धरती को ही है । किन्तु यह अनायास ही कहाँ हस्तगत होता है ? उसके लिए उपार्जनकर्त्ता को समुचित प्रयास और परिश्रम करना पड़ता है । जो उससे बचते हैं, वे खाली हाथ रहते हैं । आलसी और कामचोर दरिद्र ही बने रहते हैं । अभाव और दुर्भाग्य का रोना ही रोते रहते हैं ।

अवसर हर किसी के सामने है । समय सबको समान रूप से मिला हुआ है । यह अपनी इच्छा के ऊपर निर्भर है कि समय के साथ श्रम का सुनियोजन करें और उसके बदले विभिन्न प्रकार की उपलब्धियाँ अर्जित करें । संसार में बहुत कुछ है । सब कुछ है, पर वह उन्हीं के लिए सुरक्षित है, जो पुरुषार्थ का महत्त्व समझते हैं । जीवन की सार्थकता प्रबल पुरुषार्थ के साथ जोड़ने पर विश्वास करते हैं ।

समय को आलस्य-प्रमाद में भी गँवाया जा सकता है । उसे आवारागर्दी, यारवासी और दुर्व्यसनों में भी गँवाया जा सकता है । अव्यवस्थित रीति-नीति अपनाकर अपनी शारीरिक और मानसिक क्षमताओं का अपव्यय भी किया जा सकता है । बहुत से लोग ऐसा करते भी हैं । उन्हें खाली हाथ रहना पड़ता है । निराश रहना और भाग्य को कोसना पड़ता है । वस्तुतः पुरुषार्थ का नाम ही सौभाग्य और आलस्य-प्रमाद ही दुर्भाग्य है ।

यह हो सकता है कि परिस्थितिवश किए हुए प्रयास का इच्छित प्रतिफल न मिले । अवरोध मार्ग में अड़ें और सफलता को दूर घसीट ले जायें । इससे आर्थिक लाभ में कमी हो सकती है । आशा में कटौती भी हो सकती है, किन्तु इतने पर भी वह लाभ तो निश्चित रूप से मिलता ही है, जिसको व्यक्तित्व की प्रखरता के रूप में स्थायी रूप में पाया जा सकता है । असफलतायें मात्र यह बताती हैं कि उस कार्य के लिये जितने पुरुषार्थ की आवश्यकता थी उसमें कमी रही । इस कमी को नये सिरे से, नये उत्साह के साथ, नये प्रयत्न करके पूरा किया जाना चाहिए ।

सूक्ति है कि प्रयत्नरत चींटी पर्वत को लाँघ लेती है, किन्तु निठल्ला बैठा रहने वाला द्रुतगामी गरुड़ एक कदम भी नहीं चल पाता । लक्ष्मी पुरुष सिहों को वरण करती है । यहाँ सिंह से तात्पर्य पराक्रम से है । आक्रामकता से नहीं । संसार के सफल मनुष्यों के जीवन पर दृष्टिपात करने से एक ही सुनिश्चित निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि उन्होंने अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए पुरुषार्थ में कमी नहीं रखी । इसी आधार पर सफलता उनके समीप खिंचती चली आई ।

परिस्थितियाँ अनुकूल होने पर भी कई प्रमादी जहाँ के तहाँ पड़े रहते हैं । साधन-सम्पन्नों की सुविधा उनकी प्रगति का कोई द्वार नहीं खोल पाती, किन्तु जिनमें लगन है, जीवट है, वे अपने साहस के बलबूते प्रतिकूलताओं को भी अनुकूल बनाते देखे गये हैं । अभावों की स्थिति में रहकर भी उन्होंने अपने पराक्रम का परिचय दिया । धैर्य और साहस को अपनाये रखा । इस आधार पर उन्हें आगे बढ़ने के लिए मार्ग मिल गया और साधनों का सुयोग जुटता गया । साहसी को सहायता मिलती है । मनस्वी लोग बीहड़ों में अपनी राह बनाते हैं । कठिन दीखने वाले काम तभी तक कठिन रहते हैं, जब तक कि उनका सामना नहीं किया गया । सामना करने पर कठिन से कठिन कार्य हल हो जाते हैं । प्रगति के पथ पर चलने वाले देर-सबेर अपना लक्ष्य प्राप्त करके ही रहते हैं ।

यह सोचना उचित नहीं कि बैठे-ठाले रहने में सौभाग्य है । कम काम करना या आराम की जिन्दगी गुजारना सुयोग है । वस्तुतः इसे दुर्भाग्य ही समझना चाहिए कि पुरुषार्थ के करने की क्षमता होते हुए भी उस सामर्थ्य को बर्बाद करते रहा जाय । निर्वाह के लिए पूर्व अर्जित सुविधा-साधन हैं तो भी यह उचित नहीं कि उन्हीं को खर्च करते रहा जाय । उसमें अभिवृद्धि न की जाय । सम्पदा, विद्या, स्वास्थ्य, प्रतिभा, कला आदि की उपलब्धियों को निरन्तर बढ़ाया जाना चाहिए और उस अभिवृद्धि को गिरों को उठाने में, उठों को बढ़ाने में लगाया जाना चाहिए । परमार्थ में उन सभी साधनों को नियोजित करते रहना चाहिए जो अपने निर्वाह के अतिरिक्त बच जाते हैं । परमार्थ वह धन है जो जन्म-जन्मान्तरों तक साथ जाता है । सुसंस्कारों की जमा-पूँजी बढ़ाता है । यह पूँजी ऐसी है जिसके सहारे उज्ज्वल भविष्य का सरंजाम जुटता है ।

पुरुषार्थ सर्वत्र सराहा जाता है । चींटियाँ, मधु-मक्खियाँ मात्र अपने गुजारे भर तक सीमित नहीं रहतीं, वरन् समय की सार्थकता व्यस्त रहने में अनुभव करती हैं । बया पक्षी कितना सुन्दर घोंसला बनाती है । इन तुच्छ प्राणियों से यह सीखा जा सकता है कि श्रमशीलता अपनाने पर कितना आनन्द मिलता है और कितना उत्साह

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

बना रहता है । तत्परता, तन्मयता और स्फूर्ति अपने आप में उल्लास का स्रोत है । मनुष्य को तो उसे अपनाना ही चाहिए और हर क्षण को व्यस्तता के साथ जोड़कर उसे सार्थक बनाना चाहिए । आवश्यक नहीं कि अभावग्रस्त ही परिश्रम अपनायें । उत्साह और साहस की अभिवृद्धि के लिए भी किन्हीं रचनात्मक कार्यों में अपने को संलग्न रखा जा सकता है । इस आधार पर साधन बढ़ सकते हैं । सुसंस्कार विकसित हो सकते हैं । कौशल में अभिवृद्धि की जा सकती है और सम्पर्क क्षेत्र में ऐसी परम्परा चलाई जा सकती है जिससे प्रभावित होकर अन्य लोग भी अनुकरण करें । उपयोगी कार्यों में अपने आपको व्यस्त रखें । सामूहिक और राष्ट्रीय प्रगति इस बात पर निर्भर है कि उसके नागरिक कितने पुरुषार्थ-परायण हैं । आवश्यक नहीं कि प्रयास निजी लाभ के लिए या परिवार को समृद्ध बनाने की सीमा तक ही सीमित रखे जाएँ । लोकमंगल के, सत्प्रवृत्ति सम्वर्धन के लिए, पुण्य-परमार्थ के लिए इतने काम करने पड़े रहते हैं, जिनका ध्यान रखने वाले को यह नहीं कहना पड़ता कि हमारी आवश्यकता तो पूरी हो जाती है, फिर परिश्रम किस निमित्त करें ?

सीमित धन से काम चल सकता है, पर ज्ञान का समुद्र अथाह है । उसमें से जितना अधिक सम्भव हो, अर्जित करने में निरत रहना चाहिए । भौतिक जीव में अनेक प्रकार के कला-कौशल का महत्त्व है । आत्मिक जीवन को सुसम्पन्न बनाने के लिए साधनात्मक, तपश्चर्यापरक प्रयास करने पड़ते हैं । सद्गुणों को बढ़ाते हुए दूसरों को लाभान्वित करने का मार्ग तो ऐसा है, जिसमें जन्म-जन्मान्तरों तक लगे रहा जा सकता है। पुरुषार्थ मानव जीवन की सफलता का प्रधान अंग है ।

सहकारिता के अधिकाधिक विस्तार की आवश्यकता

सृष्टि के अनेकानेक प्राणियों में मनुष्य सबसे अधिक समुन्नत स्थिति में है । उसने समस्त प्राणियों पर अपना अधिकार जमा रखा है । धरातल की समस्त सम्पदाएँ उसके कब्जे में हैं । समुद्र और आकाश पर उसका आधिपत्य है । प्रकृति के रहस्यों को उसने खोज निकाला है । इसका कारण उसका मानसिक विकास है । यों शारीरिक दृष्टि से वह कितने ही जीवों से पिछड़ा हुआ है । हाथी, सिंह आदि की बलिष्ठता मनुष्य से अधिक है । पक्षियों की तरह वह आकाश में उड़ नहीं सकता । जलचरों की तरह वह पानी में भी नहीं रह सकता । बन्दरों की तरह पेड़ों पर भी उसका निवास नहीं । फिर भी वह समस्त जीवों में सर्वोपरि है । इसका कारण इसकी बुद्धिमत्ता को समझा जाता है, किन्तु यदि गहराई में उतरा जाय तो प्रतीत होगा कि यह बुद्धिमत्ता भी इसका भौतिक गुण नहीं है ।

यह सहकारिता की देन है । एकाकी स्थिति में तो वह गई-गुजरी स्थिति में ही रह पाता है । आदिम जन-जातियाँ इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं ।

आदिकाल का मनुष्य वनमानुषों जैसा गुजारा करता था । विकासवादी उसे बन्दर की औलाद बताते भी हैं । ऐसा न भी हो तो भी देखा जाता है कि वनवासी कबीले अभी भी सभ्यता और साधनों की दृष्टि में प्रगतिशीलता की तुलना में गया-बीता जीवन ही जीते हैं । उनकी स्थिति पशु और मनुष्यों के मध्यवर्ती जैसी है । इसका कारण यह है कि उन्हें पिछड़े वर्ग का अंग बनकर ही रहना पड़ा । भेड़ियों की माद में पले हुए कितने ही मनुष्य बालक समय-समय पर पकड़े गए हैं । उनकी स्थिति अपने बालकों जैसी ही पाई गई । यदि मनुष्य प्रकृतितः बुद्धिमान होता तो सर्वत्र मनुष्य एक जैसे ही बुद्धिमान होते, पर ऐसा देखा नहीं जाता । जिन्हें जैसे वातावरण के सान्निध्य में रहना पड़ता है, वे वैसे ही ढाँचे में ढल जाते हैं । इससे प्रकट है कि मनुष्य की मौलिक विशेषता सहकारिता है । इसे वह जिस सीमा तक विकसित कर लेता है, उतना ही बुद्धिमान बन जाता है । इसके उपरान्त ही वह प्रगति के अनेक साधन जुटा पाता है । भाषा, लिपि, कृषि, पशुपालन, अग्नि प्रयोग, पहिया, औजार आदि प्रारम्भिक आविष्कार उसने मात्र बुद्धि के सहारे नहीं कर लिए । इनमें पारस्परिक सहयोग ने महती भूमिका निवाही । एक के ज्ञान अनुभव का लाभ दूसरे को मिला । इस प्रकार ज्ञान सम्पदा बढ़ती चली गई । अनुभवों और आविष्कारों का लाभ साथियों को, पीढ़ियों को मिलता रहा और वह बौद्धिक सम्पदा आविष्कारों सहित आगे बढ़ती चली आई। यदि सहकारिता का मौलिक गुण उसमें न रहा होता, तो अन्य प्राणियों की तरह अभी भी मनुष्य मात्र शरीर सम्पदा के आधार पर गुजारा कर रहा होता और अन्य जीवों की तरह पिछड़ी हुई स्थिति में ही रह रहा होता। बुद्धिमत्ता उपलब्ध करने में मनुष्य की मौलिक विशेषता के रूप में सहकारिता ही प्रत्यक्ष सौभाग्य की तरह उसे हस्तगत हुई है।

जीवन निर्वाह में अनेक वस्तुओं की आवश्यकता होती है । उन्हें कोई एकाकी रहकर उपार्जित-विनिर्मित नहीं कर सकता । सहकारिता के आधार पर लोग मिल-जुलकर काम करते हैं । पारस्परिक आदान-प्रदान का क्रम अपनाकर सुविधा-साधनों का सुयोग बनाते हैं । इस सहकारिता का एक प्रत्यक्ष प्रमाण परिवार संचालन है । मनुष्य की तरह अन्य कोई प्राणी परिवार नहीं बसाता । उसका सुव्यवस्थित तंत्र नहीं चलाता । यदि परिवार बनाने-चलाने की सूझ-बूझ न उपजी होती तो मनुष्य का सारा समय शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति में ही खप जाता । वह बौद्धिक, भौतिक एवं वैज्ञानिक प्रगति के सम्बन्ध में न कुछ सोच पाता और न कुछ कर सकने में ही समर्थ होता। परिवार का ही विश्व रूप समाज है । समाज को सुव्यवस्थित बनाने में राजतंत्र और धर्मतंत्र के ढाँचे खड़े

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

हुए और सुरक्षित, सुव्यवस्थित रूप से रह सकना, प्रगति पथ पर आगे बढ़ सकना तब ही सम्भव हुआ है । इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि बुद्धिमत्ता से भी अधिक मानवीय प्रगति में उसकी सहकारी प्रवृत्ति ने वह सुयोग प्रदान किए हैं, जिसके सहारे बढ़ते-बढ़ते वह आज की समुन्नत परिस्थितियों तक पहुँच सकने में समर्थ हुआ है ।

सहकारिता को जीवन की सफलता एवं सुव्यवस्था में महती भूमिका निबाहते हुए देखा जा सकता है । जहाँ इस विभूति का जितना अधिक उपयोग हुआ है, वहाँ उसी अनुपात में प्रगति का वातावरण बना है । यदि आगे और भी अच्छी स्थिति प्राप्त करने का मत हो तो इस दैवी वरदान जैसी सहकारी प्रवृत्ति को अधिकाधिक विकसित करना चाहिए ।

संगठन की संयुक्त शक्ति का चमत्कार हर क्षेत्र में देखा जा सकता है । पतली सींकें मिलकर बुहारी बनती हैं और घर-आँगन को बुहारने का काम करती हैं । तिनकों से मिलकर मजबूत रस्सा बनता है । धागों से मिलकर कपड़ा बनता है और तन ढाँकने के काम आता है । कारखाने संयुक्त श्रम के आधार पर चलते हैं । सेना संगठन का ही एक रूप है । निर्माणों के बड़े-बड़े प्रयास सामूहिक श्रम द्वारा ही सम्भव होते हैं, शासन तंत्र विभिन्न स्तर के घटक ही मिल-जुलकर अपना दायित्व निबाहते हैं । यदि वह ढाँचा खड़ा न किया होता तो चारों ओर अराजकता का बोलबाला रहता । जिसकी लाठी तिसकी भैंस वाला जंगल का कानून चल रहा होता तो कोई भी निश्चित एवं सुरक्षित न रह पाता । अच्छा ही हुआ कि मनुष्य सहकारिता का महत्त्व अधिकाधिक गम्भीरतापूर्वक समझता आया । उसे समुचित उत्साह के साथ कार्यान्वित करता रहा और आज के प्रगतिशीलता से लाभान्वित हो सका, दूसरों को भी कर सका ।

तथ्यों पर विचार करते हुए वर्तमान उपलब्धियों को सुरक्षित रखने और भविष्य में और भी अच्छी स्थिति प्राप्त करने के लिए मिल-जुलकर रहने, मिल-बाँटकर खाने, हँसते-हँसाते जीने की रीति-नीति को और भी अधिक तत्परतापूर्वक अपनाना चाहिए । सहयोग का आधार अधिकाधिक बढ़ाना चाहिए ।

संकीर्ण स्वार्थपरता का पाप अपराधों में सबसे प्रमुख है । उसी के कारण अनेक प्रकार के अनाचार अपराध बन पड़ते हैं । अनेकों विग्रह उसी कारण उत्पन्न होते हैं । बिखराव का क्रम जहाँ भी चल पड़ता है, वहाँ अवगति ही होती जाती है । इसके विपरीत जहाँ समन्वय की एकता का आदर्श पलता है, वहाँ पुण्य-परमार्थ की झड़ी लग जाती है । स्नेह, सद्भाव, पुण्य-परमार्थ, सेवा-सहायता आदि सत्प्रवृत्तियों के पीछे सहकारिता की मनोवृत्ति ही काम करती है । उदारचेता महामानव मूलतः सहकारिता को ही प्रधानता देते हैं, संगठित रहते हैं । व्यवहार-व्यवसाय का ढाँचा इस प्रकार खड़ा करते हैं, जिसमें सभी एक-दूसरे की सहायता करें । संयुक्त को विकसित करते हुए अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकें ।

समस्याओं, उलझनों, विग्रहों, विपत्तियों का मूल उद्गम तलाशा जाय तो प्रतीत होगा कि इस प्रकार के संकट किसी की या किन्हीं की संकीर्ण स्वार्थपरता के कारण ही उत्पन्न हुए हैं । सामूहिक हित-साधन की अपेक्षा जहाँ भी मनुष्य संकीर्णता अपनाना आरम्भ करता है, निजी स्वार्थों को प्रधानता देना आरम्भ करता है, वहीं विग्रह का आधार खड़ा हो जाता है, यदि अपने वैभव का, समर्थता का लाभ अन्यान्यों को देते रहने की उदारता का क्रम चलता रहे तो सुख और दुःख भी मिल-बाँटकर इस स्थिति में रखे जा सकते हैं कि किसी को भी अनावश्यक भार न वहन करना पड़े ।

व्यक्तिगत जीवन से लेकर समाज व्यवस्था और विश्वशान्ति के समस्त आधार इस तथ्य पर निर्भर हैं कि मिल-जुलकर रहने, संयुक्त रूप से काम करने और एक-दूसरे को अपनी क्षमताओं से लाभान्वित करने की रीति-नीति किस सीमा तक अपनाई गई ? हमें प्रगति के मूल उद्गम सहयोग का महत्त्व समझना चाहिए और हर प्रयोजन में सहकारिता की अधिकाधिक अभिवृद्धि करनी चाहिए ।

परमार्थ की उदारता

उच्चकोटि के स्वार्थ को परमार्थ कहते हैं । मोटी दृष्टि से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि परमार्थ में अपने को पड़ता घाटा है और दूसरे लाभ उठाते हैं, पर वास्तविकता यह है कि इसमें दोनों पक्ष लाभ उठाते हैं, जबकि स्वार्थ साधन में वह व्यक्ति भी घाटे में रहता है, जो तात्कालिक उपलब्धि को देखकर अपने को लाभान्वित हुआ एवं नफे में रहा मानता रहता है ।

सत्प्रयोजनों के लिए सज्जनों के माध्यम से यदि कुछ आर्थिक, परमार्थपरक या भावनात्मक अनुदान दिया जाय, तो वह व्यर्थ नहीं जाता, वरन् अनेक गुना होकर वापस लौटता है । इसमें बीज का उदाहरण सबसे अधिक फिट बैठता है । बीज गलता है, अंकुर बनकर फूटता है । जिसके खेत में उगता है, वह उसकी भावी परिणति का अनुमान लगाता है और सींचने, खाद देने का प्रबन्ध करता है । इसके बाद पौधा बढ़ता, विकसित होता चला जाता है और फल-फूलों से लदा वृक्ष बनता है । जो फल आते हैं, उनमें कई-कई बीज होते हैं । एक बार में सैकड़ों की संख्या में फल आते और उनमें हजारों की संख्या में बीज होते हैं । इन सबको भी यदि बोया, उगाया जा सके, तो एक वृक्ष से उसके जीवन में उत्पन्न वृक्ष की बीजों की संख्या लाखों तक पहुँच सकती है, यदि बीज गलना स्वीकार न करता, तो अपनी सामान्य स्थिति भी चिरकाल तक बनाये नहीं रह सकता था । उसमें घुन जैसे कीड़े लग जाते और खोखला बनाकर समाप्त कर देते । यही उदाहरण सर्वत्र लागू होता है । उपकारी प्रवृत्ति व्यक्ति की

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

गरिमा बढ़ाती है । उसकी उदारता सम्पर्क क्षेत्र में सभी को प्रभावित करती है । यह सहज अनुमान लगाया जाता है कि यह व्यक्ति स्वार्थ को परमार्थ पर निछावर कर सकता है, तो इसका चरित्रवान होना भी स्वाभाविक है । जिसे चरित्रवान समझा जाता है, उसकी प्रामाणिकता पर सहज विश्वास होता है । उसके साथ व्यवहार करने के लिए सभी उत्सुक रहते हैं । इसलिए अनेकों साथी-सहयोगी उसे अनायास ही मिलते रहते हैं ।

हर मनुष्य साथी-सहयोग चाहता है । अपना परिकर मित्र-मंडल बढ़ाना चाहता है, पर साथ ही वह संदेह भी करता रहता है कि कहीं खोटे के साथ पाला न पड़े और ठगे जाने की नौबत न आये । इसलिए सज्जनों की तलाश रहती है । व्यक्तिगत सज्जनता की परख कैसे हो ? मोटी पहचान वाणी से होती है । अपनी नम्रता और दूसरों की प्रशंसा करने वाले मन भाते और सज्जन समझे जाते हैं, पर यह आडम्बर तो छली लोग और भी अच्छी तरह बना लेते हैं । ऐसी दशा में यह संदेह बना ही रहता है कि मधुरभाषी दीखने वाला कहीं कपटी न हो । इस संदेह का निवारण उसके उदार-व्यवहार को देखकर ही होता है, क्योंकि उदारता उसी से बन पड़ती है, जो स्वार्थ-त्याग के लिए उद्यत होता है । निजी लाभ में कटौती किये बिना परमार्थ बन ही नहीं सकता । नि:स्वार्थ सेवा-साधना करने के लिए हृदय की विशालता चाहिए । जो दूसरों के दु:ख से दु:खी और दूसरे के सुख से सुखी हो सकता है, उसी के लिए सम्भव है कि उदारता बरते, दूसरों की सहायता करे । इसके लिए अपनी सुविधाओं में कटौती करके ही वह बचत की जा सकती है, जो परमार्थ के काम आये । अपनी सुविधाओं में कटौती कर सकना किसी आदर्शवादी के लिए ही सम्भव है । जिसमें आत्मसंयम अपनाने का साहस है, वही यह भी कर सकता है कि अपने समय, श्रम, ज्ञान, साधन दूसरों को देने के लिए कदम बढ़ा सके । यह शृंखला जहाँ चरितार्थ होती है; वहाँ सज्जनता के प्रति सहज विश्वास होता है । इतनी जानकारी के प्रति विश्वस्त हो जाने पर लोग उसके साथ मित्र-भाव स्थापित करते हैं , प्रशंसक बनते हैं और साथ ही मैत्री बढ़ाते हैं । मैत्री में स्वभावत: यह होता है कि जिसके साथ सद्भाव स्थापित हुआ है, उनके कामों में भी हाथ बँटाया जाय । आवश्यकतानुसार उसे सहयोग दिया जाय । उदारचेता देखते हैं कि उन्होंने थोड़े लोगों के साथ आत्मीयता बरती और सेवा-सहायता की, पर उसके बदले उन्हें अन्य लोगों से वैसा ही उदार व्यवहार मिलना आरम्भ हो गया । इस प्रकार एक अनाज का दाना बोने पर सौ दाने उत्पन्न होने वाला उदाहरण सहज ही चरितार्थ होता है । उदारता का व्यवहार कभी घाटे का सौदा नहीं होता । कुछ के साथ बरती गई उदारता अनेकों का सहयोग, सद्भाव लेकर वापस लौटती है । इस प्रकार व्यावसायिक दृष्टि से भी उदारता घाटे का सौदा सिद्ध नहीं होती । परमार्थ की दृष्टि से तो उसका अपना विशिष्ट महत्त्व है ही । उससे आत्मबल बढ़ता है, सन्तोष मिलता है और चरित्र में निखार आता है । इस प्रकार सेवा-साधना का महत्त्व समझने वाले और उसे चरितार्थ करते रहने वाले कभी घाटे में नहीं रहते । यदि आर्थिक दृष्टि से कुछ हानि उठानी भी पड़े, तो उसकी भरपाई उस प्रक्रिया से हो जाती है, जो कुछ की सहायता के बदले बहुतों की सद्भावना साथ लेकर वापस लौटती है ।

स्वार्थी अनुदार होता है । वह अपना ही लाभ सोचता है । इस ललक में वह दूसरों को होने वाली हानि का अनुमान नहीं लगा पाता । उचित आदान-प्रदान तो सहज स्वभावत: होता रहता है । उसकी गाड़ी व्यावसायिक आधार पर ही चलती रहती है, किन्तु यह हर किसी से नहीं बन पड़ता कि जरूरतमंदों की आवश्यकता, अपनी आवश्यकता से बढ़कर समझे और निज की सुविधा को घटाकर उस बचत से दूसरों के अभाव की पूर्ति करे । जो ऐसा कर पाते हैं, वे उदार हृदय समझे जाते हैं और उनका व्यक्तित्व प्रामाणिक गिना जाता है । अनेकों उसके प्रशंसक एवं सहयोगी बनते हैं । साथ ही उसके कार्यों में हाथ बँटाने के लिए भी तैयार रहते हैं । महामानवों के उत्कर्ष के पीछे यही विद्या काम करती हुई दिखाई देती है । जिन्होंने सेवा का व्रत लिया, प्रामाणिकता सिद्ध की, सहयोग पाया और जन-समर्थन से ऊँचे पद पर जा पहुँचे, विशिष्ट व्यक्तियों में गिने गये और सेवा के बदले सहयोग का क्रम चलते-चलते वे उन्नति के उच्च शिखर तक जा पहुँचे, प्रख्यात हुए और अपना उदाहरण अनेकों के लिए अपनाये जाने योग्य बनाकर छोड़ गये ।

समाज का गठन इसी आधार पर हुआ है । इसमें उदारता का बढ़ा-चढ़ा परिचय देने वाला दूसरों का विश्वासपात्र बनता है और उनके बीच मैत्री सरलता और सघनतापूर्वक चलने लगती है । उदारता के आधार पर परिवार से लेकर मित्र परिकर एवं समाज के बीच संगठता उत्पन्न होती है । उसकी दृढ़ता और आदर्शवादिता के प्रभाव से सम्बद्ध परिवार भलीप्रकार प्रभावित होता है और वह परम्परा ही एक प्रकार से चल पड़ती है, जिससे अनेकों को अनेक प्रकार से लाभान्वित होने का अवसर मिलता है ।

उदारता वहाँ अनर्थकारी सिद्ध होती है, जब वह कुपात्रों के हाथ कुकृत्यों के लिए थमाई जाय । ऐसे लोगों की कमी नहीं, जिनका स्वभाव एवं व्यवसाय ही दूसरों को ठगना है । वे अपने दोष-दुर्गुणों के कारण हेय स्थिति में पहुँचते हैं और कठिनाई के आकस्मिक होने का बहाना बनाकर करुणा उपजाते और उस उभरी हुई भाव-सम्वेदना का अनुचित लाभ उठाने के प्रयत्न में सफल होते रहते हैं । ऐसे लोगों से सतर्क रहने की आवश्यकता है, अन्यथा ठगी की घात लग जाने पर अन्यान्यों को उसका पता चलते ही अविश्वास का विस्तार होता है । दूसरे, वास्तविक आवश्यकता वालों को भी इस अविश्वास के माहौल में वंचित रहना पड़ता है ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

उदारता के बदले मिलने वाला आत्म-सन्तोष स्वयं अपने आप में एक दैवी वरदान है । अन्त:करण की प्रसन्नता प्रकारान्तर से व्यक्तित्व के अनेक पक्षों को विकसित करती है । यह लाभ इतना बड़ा है कि बदले में अनुदान का प्रतिदान ना भी मिले, तो भी कोई घाटा प्रतीत नहीं होता । सत्प्रवृत्ति सम्वर्द्धन के लिए यदि अपना उदाहरण प्रस्तुत किया जा सके, तो उस परम्परा से भी बहुमूल्य लोकहित होते हुए देखा जा सकता है ।

अध्यात्म जगत के पंचशील

पंचशीलों के कितने ही प्रकार हैं । उन्हें विभिन्न महापुरुषों ने विभिन्न प्रकार से व्यक्त किया है । वे सभी अपने-अपने कार्यक्षेत्र और समय के अनुरूप हैं । पर इनमें से सभी ऐसे नहीं हैं, जिन्हें हर वर्ग का व्यक्ति कार्यान्वित कर सकने की स्थिति में हो । ऐसी दशा में यह देखना होगा कि सर्वजनीन हित-साधन की दृष्टि से उनमें से किसका ऐसा चयन किया जाना चाहिए, जो आज की परम्पराओं के अनुकूल हो ।

भगवान् बुद्ध के पंचशील उनके अनुचरों बौद्ध भिक्षुओं को प्रधान लक्ष्य मानते हुए निर्धारित किए गये थे । वे हैं-(१) किसी का जीवन नष्ट न करो अर्थात् पूर्ण अहिंसा बरतो । (२) जो तुम्हें न दिया गया हो, उसे मत लो । अर्थात् चोरी से, छल से कुछ भी अर्जित न करो । (३) ब्रह्मचर्य पालो अर्थात् इन्द्रियों का संयम रखो । (४) कम बोलो, यथार्थ बोलो, धर्म के समर्थन को ध्यान में रखकर बोलो । (५) नशा मत करो । यह निर्धारण इसलिए किए गए थे कि धर्मोपदेशकों को, श्रद्धास्पद स्थान पर बैठने वाले लोगों को सामान्यजनों की तुलना में अपना स्थान ऊँचा रखना ही चाहिए अन्यथा सामान्य लोगों जैसा स्वभाव रखते हुए उच्च आदर्शों के सम्बन्ध में प्रवचन करते बन न पड़ेगा । जो करेगा उसका प्रभाव न पड़ेगा । पण्डित नेहरू और चीन के शासनाध्यक्षों ने मिलकर राजनैतिक पंचशीलों की घोषणा की थी । उन्होंने इस माध्यम से राष्ट्रों के बीच उत्पन्न होने वाली समस्याओं का समाधान खोजा था, वे थे- (१) राष्ट्र एक-दूसरों की क्षेत्रीय अखण्डता का सम्मान करें तथा सार्वभौम हित का भी ध्यान रखें । (२) विवादों में आक्रमण की नीति न अपनायें, पारस्परिक विचार-विनिमय तथा पंच निर्णय के आधार पर उनका समाधान खोजा जाय । (३) एक-दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करें । (४) समानता और अपने सद्भाव का निर्वाह करें । (५) शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की बात सोचें । यह पाँच बातें ऐसी हैं, जिन्हें राष्ट्राध्यक्षों के आपसी सम्बन्धों को सही रखने की दृष्टि से निर्धारित किया गया था । सब जानते हैं कि इनका परिपालन न हो पाया व युद्ध की स्थिति बन गई । अत: इन्हें उन्हीं लोगों द्वारा अपनाया जा सकता है, जो निष्ठापूर्वक निबाहने हेतु उद्यत हों । जनसाधारण इस संदर्भ में कुछ कर नहीं सकता । मात्र अपने शासकों से इसके लिए अनुरोध या आग्रह कर सकता है ।

गाँधीजी ने सत्याग्रह के दिनों में विशिष्ट पंचशील की घोषणा की थी । उस समय की आवश्यकताओं को देखते हुए देशभक्तों के लिए इन्हें अपनाना आवश्यक था । वे इस प्रकार हैं-(१) निर्भयता, (२) शारीरिक श्रम, (३) अस्वाद (४) सर्वधर्म समभाव, (५) अस्पर्शता निवारण । यह सभी वैसे हर समय में भी हर किसी के लिए कार्यरूप में अपनाये जाने योग्य हैं, पर सत्याग्रही स्वयं सेवकों के लिए तो उस समय की विशिष्ट आवश्यकताओं को देखते हुए उपयोगी थे ही । महर्षि पतंजलि ने पाँच कर्त्तव्यों को पाँच यमों का नाम दिया है- (१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) ब्रह्मचर्य, (५) अपरिग्रह । यह पाँचों उनके लिये आवश्यक हैं, जो आत्मिक प्रगति के मार्ग पर चलना चाहते हैं । योग साधनायें करने के साथ ही इन अनुबन्धों का पालन करना आवश्यक निर्धारित किया गया है ।

एक पंचशील सेवाभावी उदारचेता लोगों के लिए अपनाये जाने योग्य है । उनकी गणना इस प्रकार है- (१) अपने सम्पर्क क्षेत्र के उत्कर्ष में आस्था, (२) मानवता के आदर्शों में आस्था, (३) स्वतंत्र अभिव्यक्ति में आस्था (४) सामाजिक न्याय में आस्था, (५) ईश्वर में आस्था ।

ये पंचशील ऐसे हैं जिन्हें जनसाधारण के लिए उपयोगी माना जा सकता है । इन्हें जनसाधारण द्वारा अपनाया और कार्यान्वित किया जा सकता है । हममें से प्रत्येक को इन्हीं सर्वोपयोगी पंचशीलों को धर्म-चेतना का सार समझते हुए अपनाने में अपना विश्वास एवं उत्साह व्यक्त करना चाहिए ।

सम्पर्क क्षेत्र की देशभक्ति

क्षेत्रीय प्रगति में आस्था का तात्पर्य यह नहीं है कि मात्र अपने समीपवर्ती लोगों तक ही सेवा-सद्भाव एवं सहयोग को केन्द्रित किया जाय, सार्वभौम स्थिति का, दूरवर्ती लोगों की समस्याओं का ध्यान ही न रखा जाय।

मनुष्य का व्यावहारिक सम्पर्क एक सीमित क्षेत्र तक ही रहता है । दूरवर्ती क्षेत्रों में बार-बार आना-जाना नहीं हो सकता । वहाँ की कठिनाइयों, समस्याओं तथा बदलती परिस्थितियों का अनुमान लगाते रहना भी सरल नहीं है । भाषा सम्बन्धी कठिनाइयाँ भी आड़े आती हैं । प्रचलन और परम्पराओं में भी थोड़ी-थोड़ी दूरी पर अन्तर पड़ जाता है । इन कठिनाइयों के कारण विश्व-सेवा की उदात्त भावना भी व्यवहार रूप में सीमित लोगों तक ही समेटनी पड़ती है । उसी परिधि की समस्याओं का समाधान करते भी सरल पड़ता है । सेवाधर्म करते हुए घर-परिवार की, उपार्जन-व्यवसाय की देखभाल हो सकती है । इसलिए सुविधा-सरलता इसी में है । इसी को विश्व सेवा की, अपने हिस्से की इकाई मानना चाहिए ।

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

जिनके पीछे घर-परिवार के भारी उत्तरदायित्व नहीं, जो पारिवारिक बन्धनों से स्वतन्त्र हैं, जिन्हें गुजारे का प्रबन्ध करने में अधिक समय नहीं लगाना पड़ता, उनके लिए यह उचित है कि वे वानप्रस्थ स्तर का जीवन जियें, परिव्राजक बनकर परिभ्रमणपरक योजना अपनायें अथवा अपने लिए ऐसा कार्य चुनें, जो अधिक पिछड़ा हुआ हो, जहाँ पहुँचने की आवश्यकता अधिक दृष्टिगोचर होती हो, जहाँ डेरा डालकर रहा जा सकता हो । जिनकी क्षमता निरन्तर परिभ्रमण के उपयुक्त है और जो अनेक स्थानों पर जाकर बादलों की तरह बरसते रह सकते हैं, उनके लिए उसी प्रकार की कार्यविधि अपनानी चाहिए, किन्तु जिन्हें घर-परिवार की जिम्मेदारियों का निर्वाह करना पड़ता है ऐसे लोग ही अधिकतर होते हैं । उनके लिए यही उचित है कि अपने क्षेत्र में रहकर ही काम करें ।

देशभक्ति किसी समय कोई बड़ी बात मानी जाती थी, पर जब वह अन्य देशों की उपेक्षा करने के स्तर तक जा पहुँची, तो उसे साम्प्रदायिक कट्टरता के स्तर की माना जाने लगा । इन दिनों उसकी परिभाषा मात्र अपने समुदाय की समुचित सेवा करना न रहकर दूसरे देशों पर आधिपत्य जमाना, साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद तक अपनाना बन गया है । अपने देश को लाभ पहुँचाने के लिए दूसरे क्षेत्रों के अधिकारों का अपहरण करना भी बन गया है । पिछले दिनों देश-देशों के बीच युद्ध छिड़ते रहे हैं और दोनों ओर के लड़ाकू अपने-अपने देशों की आन-बान-शान की दुहाई देते रहे हैं । अपने लाभ के लिए दूसरों को हानि पहुँचाना जैसे व्यक्तिगत जीवन में अनैतिक आचरण हैं । उसी प्रकार अपने समुदाय के लिए दूसरे देशों के स्वत्वों हितों का अपहरण भी अनुचित है । किन्तु देशभक्ति के नाम पर यह प्रवृत्ति भी अपनाई जाने लगी है। इसलिए प्रान्तवाद, भाषावाद, जातिवाद, सम्प्रदायवाद की तरह ही देशवाद की कट्टरता भी अनुचित समझी जाने लगी ।

दुनिया अगले दिनों एक विशाल परिवार की तरह बनने जा रही है । इसके बिना वर्तमान विग्रहों से छुटकारे का और कोई मार्ग नहीं । देशभक्ति के स्थान पर अब विश्वभक्ति को महत्त्व देना होगा । अपने-अपने देशों की जय बोलने के स्थान पर विश्वभक्ति का नारा लगाना होगा। विश्व का कल्याण हो । धर्म की जय हो । यही आज की सार्वभौम भावना होनी चाहिए । सभी धर्मों, सभी वर्गों, सभी देशों को मिल-जुलकर सार्वभौम सद्भावना का अभिवर्धन करना चाहिए ।

देश-भक्ति का अर्थ हमें ऐसा करना चाहिए, जिसमें अन्य देशों के उचित हितों के साथ किसी प्रकार का टकराव न होता हो। न कोई अनीति करे न अनीति सहे, यह माहौल भाई-चारे की भावना अपनाने से ही सम्भव है । हम इस सीमा तक ही देशभक्त रहें कि अपने सीमावर्ती क्षेत्र की अधिक सुविधापूर्वक जितनी अधिक सेवा बन पड़े, करें । उसके लिए सरलता को ध्यान में रखते हुए अधिकाधिक तत्परता बरतें । यह कार्य निजी कार्यों की व्यस्तता के साथ-साथ चल सकता है । अपने घर की तरह अपने पड़ोस के क्षेत्र की सफाई के लिए भी प्रयत्न हो सकता है । जिस प्रकार अपने परिवार को शिक्षित बनाने के लिए सुसंस्कारी-सम्पन्न बनाने के लिए प्रयत्न किया जाता है, उसी प्रकार जितने अधिक व्यापक क्षेत्र का ध्यान रखना, सेवारत होना सम्भव हो, उसमें भी कमी न रहने देनी चाहिए ।

समीपवर्ती क्षेत्र में जैसा वातावरण होता है, वैसा प्रभाव अपने निज के या परिवार के ऊपर भी पड़ता है । यदि चोर, उचक्के, बेईमान, व्यभिचारी अपने इर्द-गिर्द रह रहे हैं, तो उनके अनाचारों से अपने घर वाले भी किसी न किसी प्रकार कभी न कभी प्रभावित हो सकते हैं । इसलिए अपने घर की तरह सम्पर्क क्षेत्र को भी सुधारने का प्रयत्न किया जाना चाहिए । अपनी बढ़ी-चढ़ी सम्पन्नता समीपवर्ती दरिद्र लोग सहन नहीं कर सकते । उनमें स्वभावतः ईर्ष्या भड़केगी और इस आक्रोश में वे ईर्ष्यावश किसी न किसी प्रकार की हानि पहुँचाये बिना न रहेंगे । इसलिए अपनी सम्पन्नता को सुरक्षित रखने के लिए, समीपवर्ती क्षेत्रों की समृद्धि बढ़ाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए । अपने बालक सुशिक्षित हों, किन्तु पड़ोसी अशिक्षित, अनगढ़ रहें तो उस विषमता का प्रभाव पड़े बिना न रहेगा । इसीलिए समता, स्वस्थता, स्वच्छता सुसंस्कारिता, सम्पन्नता का प्रयत्न अपने या अपने परिवार तक ही सीमित न रखकर उसे जितने अधिक क्षेत्र में बढ़ाया जा सकता हो बढ़ाना चाहिए । अपनेपन की परिधि जितने बड़े क्षेत्र में बढ़ाई जा सकती हो, उतनी बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए ।

विश्व कल्याण का भाव तो मन में रखा जा सकता है, लोकमंगल की भावनाओं को तो संसार भर के लिए व्यापक बनाया जा सकता है, पर उसका व्यावहारिक स्वरूप नहीं बन सकता । जहाँ तक अपना पहुँचना नहीं हो सकता, जहाँ की भाषा नहीं समझी जाती, जो अपने से परिचित नहीं हैं, उनके साथ भी भावनात्मक सद्भाव तो रखा जा सकता है, पर व्यावहारिक यही है कि अपने कार्यक्षेत्र को सीमित बनायें और उसी में सेवा-सहायता के लिए तत्परतापूर्वक जुटें । देशभक्ति का व्यावहारिक स्वरूप यही हो सकता है ।

निजी कार्यों पर जितना ध्यान दिया जाता है, अपने लाभ का जितना ध्यान रखा जाता है, उस परिधि को बढ़ाया जाना चाहिए और अधिक बड़े क्षेत्र में वहाँ के निवासियों में अपनी कार्यक्षमता का प्रयोग करना चाहिए । संकीर्ण और कृपण लोग ही निजी स्वार्थों की परिधि में सीमाबद्ध रहते हैं । जिनका हृदय उदार है, वे अपनी ही तरह दूसरों का भी ध्यान रखते हैं और उनके उत्कर्ष की बात सोचते हैं । इसका सत्परिणाम प्रकारान्तर से अपने को भी मिलता है । समीपवर्ती क्षेत्र में हरीतिमा उगी हुई हो तो उस हरियाली से नेत्रों को शीतलता और शुद्ध वायु का

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

लाभ मिलता है । इसके विपरीत यदि चारों ओर गन्दगी फैली हो, दुर्गन्ध उठती हो तो उसका प्रभाव अपने घर-परिवार तक पहुँचे बिना न रहेगा ।

एक की देखा-देखी जिस प्रकार उदारता की प्रवृत्ति दूसरों में भी पनपती है, उसी प्रकार संकीर्ण स्वार्थपरता का भी अनुकरण होता है । यदि अपना व्यवहार रूखा, नीरस, और उपेक्षापूर्ण हो, तो उसकी प्रतिक्रिया पड़ोसियों पर भी होगी । वे भी उसी रीति-नीति को अपनायेंगे । इस पर ऐसा वातावरण बनेगा जिसमें सभी अपने मतलब से मतलब रखें, कोई किसी के दु:ख-दर्द में सहायता न करें, आड़े वक्त में काम न आये । इस प्रकार का माहौल बनने न पाये, इसके लिए पहल समझदारों को ही करनी चाहिए और उन्हें सम्पर्क क्षेत्र में सेवा-सद्भावना का वातावरण बनाना चाहिए । देशभक्ति इसी को कहते हैं ।

मानवी गरिमा के प्रति आस्था

मानवता में आस्था पंचशील का दूसरा चरण है । मनुष्य शारीरिक संरचना और मानसिक तीक्ष्णता के कारण ही प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ नहीं बना है, वरन् उसकी सबसे बड़ी विशेषता नीतिनिष्ठा है । उसे अपनी गरिमा का बोध रहता है । इस क्षेत्र में समग्रता उपलब्ध कर लेने पर ही यह कहा जा सकता है कि उसने भावनात्मक विशेषता भी प्राप्त कर ली, जिसके बिना सब कुछ सूना-अधूरा ही रहता है ।

कल्पना मन का और विचारणा बुद्धि का काम है । मन और बुद्धि मिलने से किसी लाभदायक मार्ग पर चलने का, स्वार्थ साधने का अनुबन्ध बनता है । इससे ऊँचा स्तर है, भावना का । जिसकी भाव सम्वेदनाएँ जितनी कोमल हैं, समझना चाहिए कि उसने मानवीय गरिमा के उतने ही ऊँचे सोपान पर चढ़ने में सफलता प्राप्त कर ली ।

जो जितने ऊँचे पद पर होता है, उसकी प्रतिष्ठा उसी अनुपात से बढ़ी-चढ़ी मानी जाती है; पर यह सब अनायास ही उपलब्ध नहीं हो जाता। इसके लिए उसे आवश्यक उत्तरदायित्व निबाहने होते हैं। जो उन्हें जिस तत्परता के साथ निभा पाता है, उसको सच्चे अर्थों में गौरवशाली माना जाता है। उसी की गरिमा सराही जाती है ।

अन्य प्राणी पेट-प्रजनन और आत्म-रक्षा के त्रिविधि शरीर से सम्बन्धित क्रिया-कलापों में लगे रहते हैं । उनकी सूझ-बूझ उसी सीमा तक विकसित हुई होती है । उन्हें अपने लिए आवश्यक सुविधा-साधन जुटाने की ही इच्छा और चिन्ता रहती है । दूसरे सजातियों के साथ वे इसलिए सम्पर्क-सान्निध्य बनाते हैं कि सर्वथा एकाकी रहने में उन्हें खतरा भी रहता है और सरसता भी उपलब्ध नहीं होती । इस अभाव को दूर करने के लिए ही उनमें यत्किंचित सहयोग पाया जाता है । विपत्ति के समय तो वे अपनी-अपनी जान ही बचाते हैं । सहयोगी-साथियों की कठिनाइयों में हाथ बँटाने के लिए उनका सहयोग नगण्य जितना ही रहता है । इसे भाव-सम्वेदनाओं का अभाव ही कह सकते हैं । इसी कारण वे किसी प्रकार अपना अस्तित्व भर कायम रख सके हैं । सृष्टि के आरम्भ से लेकर अब तक का लम्बा समय बीत गया, पर प्रगति की दिशा में कुछ उत्साह भरे कदम उनके अभी तक नहीं उठ सके ।

मनुष्य की स्थिति उन सबसे भिन्न है । उसे भाव-सम्वेदनाओं का एक नया आयाम मिला हुआ है, जो विकृत हो जाने पर परास्त करने, ईर्ष्या पर उतर आने, अपराधी कृत्यों में अपना दर्प जताने में भी प्रवृत्त होते देखा गया है, पर यह दिग्भ्रान्त स्थिति है । स्वाभाविक गरिमा तभी विकसित होती है, जब भाव-सम्वेदनाएँ आदर्शों के साथ जुड़ी रहें । अपनी वास्तविक स्थिति को वह ऊँचा बनाये रखें । इसके लिए उसे प्रत्यक्ष घाटा उठाना पड़े, तो भी उसे उठाता है । सामान्यतया इस प्रवृत्ति को सहायता या सेवा के रूप में देखा जा सकता है । सहकार-सहयोग भी उसे कहा जा सकता है; पर यह उसका प्रत्यक्ष स्वरूप है । प्रत्यक्ष के पीछे अप्रत्यक्ष काम करता है । शरीर के भीतर प्राण रहता है । प्राण न रहे तो शरीर लाश बन जाता है । इसी प्रकार भाव न रहे, तो क्रिया मात्र हलचल बनकर रह जाती है । सामाजिक व्यक्ति तो वे लोग भी कहे जाते हैं, जो बहुतों से सम्पर्क रखते हैं । सामूहिक उत्सवों में अग्रिम पंक्ति पर चेहरा चमकाते दीखते हैं, पर उनमें से कितने ही मात्र लोकेषणा से प्रेरित होते हैं । वह अवसर उनके हाथ से चला जाय तो फिर मुँह मोड़कर भी नहीं देखते कि सामूहिक आयोजनों में भाग लें या नहीं, उनमें सहयोग दें या नहीं । ऐसे लोगों को भाव-सम्वेदना युक्त नहीं माना जा सकता और न उससे किसी बड़े कार्य की महत्त्वपूर्ण योजना निभ सकेगी, ऐसी आशा की जा सकती है ।

मनुष्य की विकसित महानता का चिह्न यह है कि उसके अन्तराल में आदर्शवादी भाव-सम्वेदना उठती है या नहीं । करुणा, दया, आत्मीयता, ममता जैसा लगाव अन्यान्य लोगों के साथ है, तो वह देखा जाना चाहिए कि वे दूसरों की गई-गुजरी स्थिति में आगे बढ़कर हाथ बँटाते हैं या नहीं ? अपने आपको संयमशील बनाकर समय, श्रम, धन प्रभाव की बचत करते हैं या नहीं ? उस बचत को लोकमंगल के लिए लगाते हैं या नहीं ? यह बन पड़ना उन्हीं से सम्भव है, जो भावनाशील है । जिसे दूसरों का दर्द, अभाव अपने ऊपर बीतता हुआ प्रतीत हो, इस अन्तरंग भावना से जो द्रवीभूत हो, उसे अपनी सुख-सुविधा में कटौती करके वह बचत करनी होगी, जिससे पिछड़ों को उठाना और उठे हुओं को आगे बढ़ाना सम्भव हो सके। यह मानवीय गरिमा का प्रतीक है । जिसकी मानवता में आस्था होगी, वह अपना जीवन निर्वाह इस तरह करेगा, जिससे दूसरे को प्रेरणाएँ मिल सकें, अन्यान्य उस आचरण को देखकर प्रभावित हो सकें और अनुकरण के लिए उत्साहित होकर स्वयं भी उसी मार्ग पर चल पड़ने की प्रेरणा प्राप्त कर सकें ।

मानवी गरिमा का प्रारम्भ शिष्टाचार से होता है । अपने बारे में नम्रता प्रदर्शन और दूसरों को सम्मान देने, सहयोग करने के लिए तत्पर रहने में महानता का प्रमाण मिलता है । अपना दृष्टिकोण ऊँचा रखना एवं जीवनक्रम को सज्जनोचित-अनुशासित बनाना भी ऐसी प्रक्रिया है, जिससे व्यक्ति की मानवता का विकास होता है । इसके अतिरिक्त दूसरा आधार यह है कि मिल-बाँटकर खाया जाय । जो ईश्वर ने दिया है-अपने पुरुषार्थ से उपार्जित

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

किया है, उसका लाभ अकेले ही न उठाया जाय, वरन् जिन्हें सत्पात्र समझा जाय, उनकी कठिनाइयाँ हल करने में उन्हें सहयोग, मार्गदर्शन देकर ऊँचा उठाया जाय । यह दोनों ही बातें मानवीय गरिमा की प्रतीक मानी जाती हैं, जो इन्हें जिस मात्रा में कार्यान्वित कर पाता है, वह उसी अनुपात से गौरवशाली बनता है ।

चिन्तन का दृष्टिकोण ऊँचा रहना चाहिए । जो भी विचार उठें उनमें क्षुद्रता नहीं महानता का समावेश होना चाहिए, जिसे देखकर किसी के भी मन में वैसा बनने का उत्साह उत्पन्न हो । बड़ों की, वरिष्ठों की नकल करने की इच्छा सभी को होती है ।

मर्यादाओं का परिपालन और वर्जनाओं का अनुल्लंघन, यह दो तथ्य ऐसे हैं, जिनका जीवनचर्या में समुचित समावेश किये रहने पर मानवता के प्रति आस्थावान बने रहा जा सकता है । सोने का खरापन कसौटी पर कसने और आग में तपाने से जाना जाता है । मानवी गरिमा को किसने किस सीमा तक अपनाया, इसका परिचय भी इसी आधार पर मिलता है कि किसने कर्त्तव्यों का परिपालन कितनी निष्ठा के साथ किया ।

जिम्मेदारियों को भावनाशील ही अनुभव करते हैं । उनके प्रति निष्ठावान रहते हुए अपने ऊपर संयम का नियंत्रण स्थापित करते हैं । जिन्हें अपनेपन का, आत्म-गौरव का बोध नहीं, उन्हें पशुओं और पिशाचों जैसा आचरण करते पाया जाता है । जो मर्यादाओं की जिम्मेदारी नहीं समझते, हर क्षेत्र में स्वेच्छाचार बरतते हैं, उन्हें पशु कहा जाता है और जिन्हें वर्जनाओं को तोड़ने में अहंकार की पूर्ति अनुभव होती है, उन्हें पिशाच कहा जाता है । इन्हें किसी पृथक् योनि में भी देखा जा सकता है और मनुष्यों के बीच नर-तन रूपी चोले में भी ।

देवता वे हैं, जो अपने अधिकारों, साधनों को दूसरों के लिए उत्सर्ग करते हुए प्रसन्नता अनुभव करते हैं, उन्हें दूसरों का दुःख अपना प्रतीत होता है, जो दूसरों का सुख बढ़ाने में प्रसन्न होते हैं और उसके लिए उदारतापूर्वक प्रयत्न भी करते हैं । गरिमाशील मनुष्य ही वस्तुतः देवता हैं । उन्हीं के व्यक्तित्व और कर्तृत्व से संसार में सुख-शान्ति बढ़ती है और मानवता धन्य होती है ।

मौलिक अधिकारों की माँग उभरे

स्वतंत्रता के प्रति आस्था रखना, पंचशील का तीसरा चरण है । मनुष्य के कुछ मौलिक, सार्वभौम अधिकार हैं जिसे-(१) वाणी की स्वतंत्रता, (२) लेखनी की स्वतंत्रता । इन्हें विचारों की अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में अपने अधिकार प्रकट कर सकना कहते हैं । धार्मिक स्वतंत्रता अर्थात् इच्छानुसार जिस भी धर्म में आस्था हो उसे अपना सकना । मतदान की स्वतंत्रता अर्थात् नागरिक के अधिकारों का समान रूप से उपयोग कर सकना । जाति और लिंग के आधार पर किसी को छोटा-बड़ा समझने या उस स्थिति में रहने के लिए विवश करना भी एक प्रकार की परतंत्रता है । नर-नारी परस्पर सहयोगपूर्वक साथ रहें- यह उनकी इच्छा पर निर्भर रहना चाहिए। कोई किसी को दास-दासी की तरह बाधित रहने के लिए विवश न करें ।

मध्यकाल के अन्धकार युग में सामन्ती व्यवस्था जिन दिनों चल रही थी, उन दिनों समर्थ लोग असमर्थों को अपनी इच्छानुसार चलाते थे । उन्हें पशुओं की तरह प्रतिबन्धित जीवन जीना पड़ता था । "जिसकी लाठी तिसकी भैंस" वाला जंगली कानून चलता था । जिस प्रकार मनुष्य पशुओं को पालते और उनकी शरीर सम्पदा का लाभ उठाते हैं वैसा ही व्यवहार समर्थजन असमर्थों के साथ करते थे । उन्हें न विरोध करने का अवसर मिलता था, न अपनी कठिनाई बताने का । अनीति को मिटाने, जूझने के प्रयास में वे असफल ही रहते थे । यह सिलसिला लम्बी अवधि तक चला । दुर्बलों को असंगठितों को, असंगठित जनों के समर्थकों को विविध-विधि अनाचार सहने पड़े । तब इन दुर्व्यवहारों को सामाजिक मान्यता भी मिली हुई थी । पति का अधिकार था कि पत्नी से चाहे जैसा व्यवहार करे । उसे चाहे जिस स्थिति में रहने के लिए विवश करे । परित्याग कर दे अथवा मार भी डाले । नारी कुछ कर नहीं सकती थी । विरोध की उसमें हिम्मत न थी । दूसरों को इसमें दखल देने का अधिकार न था । ऐसी दशा में विवशता को शिरोधार्य करते रहने के अतिरिक्त असमर्थों, असंगठितों के पास कोई चारा भी न था । जो भोगना पड़ता था, उसे भाग्य-विधान कहकर अनदेखा किया जाता था । यही भारत की उन दिनों मानसिकता थी ।

दास-दासी प्रथा उन्हीं दिनों धड़ल्ले से चली थी। समर्थ अपने शस्त्र-बल, शरीर-बल और सैन्य-बल के सहारे किन्हीं को भी बलात् पकड़ लेते थे । उन्हें बन्धनों में बाँधकर इच्छानुसार चलाते, बेचते, खरीदते, दान देते रहते थे।

प्रजा पर राजा का अधिकार था । प्रजाजन राजा की सम्पत्ति माने जाते थे । उनकी सम्पदा को जब चाहे तब जब्त कर सकते थे या जितना भाग लेना चाहें, उतना कर रूप में जबरदस्ती वसूल कर लेते थे ।

इसे आतंक का राज कह सकते हैं । राजा, सामन्त, सेनापति, अमीर, जागीरदार, जमींदार, साहूकार अपने चंगुल में फँसे हुए लोगों के साथ चाहे जैसा व्यवहार करते थे । न्याय भाव जैसी कोई बात न थी । राजा का धर्म ही प्रजा का धर्म बन जाता था, व्यक्तियों को स्वेच्छापूर्वक अपने लिए धर्म चुनने या बदलने, छोड़ने जैसा अधिकार न था । इस दयनीय स्थिति में मनुष्य जाति के दुर्बल पक्षों को पिछले दिनों लम्बी अवधि तक रहना पड़ा है ।

समय ने करवट बदली । युग बदला, विवेक जगा और शक्ति सामन्तों के हाथ से निकलकर सामान्य जनों के हाथ आई । इसमें अनेक प्रकार के परिवर्तन सामने आये । इनमें सबसे बड़ी बात हुई-मानवी मौलिक अधिकारों को मान्यता मिलना । न्याय और औचित्य को प्रश्रय मिला ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

असमर्थों में बदला लेने की या अपने बलबूते चलती हुई मनमर्जी को रोक सकने की प्रत्यक्ष सामर्थ्य तो थी नहीं, तो भी लोकचेतना ने ऐसा वातावरण बनाया जिससे विवेक और न्याय के औचित्य की आवश्यकता समझी और समझाई जाने लगी । प्रजाजनों के संख्याबल के औचित्य को अपनाए जाने का दबाव पड़ने से हर क्षेत्र में, हर देश में ऐसी हवा बही कि न कोई मुकद्मा चला, न कोई संघर्ष हुआ पर न्याय के समर्थकों की एक समर्थ सेना सर्वत्र एकत्र उठ खड़ी हुई और उसने अपने ढंग से संघर्ष भी किये और परिवर्तनों का भी माहौल बनाया ।

इन दिनों मनुष्य के मौलिक अधिकारों का उपयोग कर सकने के प्रचलन चल पड़े हैं । वाणी की, लेखनी की, अभिव्यक्ति की, धर्म की, मानवी समता की मान्यतायें मिल गई हैं, मिल रही हैं । मतदान द्वारा सरकारें बनाने के भी प्रवाह सर्वत्र चलता देखा जा सकता है । जिनकी दाढ़ों में आधिपत्य का चस्का लगा हुआ है वे उस जनाधिकार को निरस्त करने के भी कम प्रयत्न नहीं कर रहे हैं । सफलता को असफलता की दिशा में घसीटने के लिए प्रतिक्रियावादी कमजोर नहीं लग रहे हैं । फिर भी बहती प्रचण्ड धारा को देर तक रोके रह सकना किसी के भी वश की बात नहीं है । दक्षिण अफ्रीका के नस्लवादी संघर्ष को इस परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है ।

सर्वसाधारण को युगचेतना के उभार और अवलोकन से परिचित कराया जा रहा है कि मनुष्य मात्र को समानता अपनाते हुए सहयोगपूर्वक रहना चाहिए । "जियो और जीने दो" का सिद्धान्त अपनाना चाहिए । अपने को किसी से बढ़कर नहीं मानना चाहिए और किन्हीं की विवशताओं का अनुचित लाभ नहीं उठाना चाहिए । परम्पराओं की दुहाई देकर पिछली भूलों पर चलते रहे, अनौचित्यों को पूर्ववर्ती प्रथा-प्रचलन कहकर युगचेतना के कार्य में अवरोध उत्पन्न नहीं करना चाहिए ।

जहाँ अनौचित्य की भूली-विसरी स्मृतियों को फिर से कार्यान्वित करने के लिए प्रतिगामी प्रयास किये जा रहे हों वहाँ आगे बढ़कर रोकथाम करनी ही चाहिए । अनौचित्य का विरोध किया जाना चाहिए । उसे असफल बनाने के लिए असहयोग से लेकर संघर्ष तक के यथासम्भव कदम उठाने चाहिए । दुर्बल पक्ष अनीति का शिकार हो रहा हो तो उसे साहस प्रदान करना चाहिए तथा समर्थन भी । समता और एकता का सार्वभौम प्रचलन भली प्रकार स्थिर हो सके और अपने पैर इतनी मजबूती से जमा सके कि उन्हें उखाड़ सकना किसी के लिए भी सम्भव न हो सके । इसी के निमित्त अपना नैतिक और क्रियात्मक प्रत्यक्ष सहयोग प्रदान करना चाहिए । यही है समय की पुकार, युग की माँग, औचित्य की गुहार । उसे भली प्रकार सुना व समझा जाना चाहिए ।

मानवी अधिकारों के हनन में जहाँ अत्याचारी वर्गों की ज्यादतियाँ काम करती रही हैं, वहाँ एक कारण यह भी रहा है कि उत्पीड़ितों ने बहुसंख्यक होते हुए भी अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता प्रकट नहीं की । उस मान को, उस गौरव को भी उसने भुला दिया । यदि उन्होंने अपने को, अपनी शक्ति को, मौलिक अधिकार भावना को अपने अन्दर जगाया होता तो इतने भी से अनाचारियों के सीने उनके होते और भावी विद्रोह की सम्भावना को समझते हुए सुधार परिवर्तन की नीति अपनाई होती । भले ही वह धीमी रही होती, पर दबाव तो उससे निश्चित रूप से हल्का हुआ होता ।

संसार के विभिन्न भागों पर राजतन्त्र का, साम्राज्यवाद का, पूँजीवाद का बोलबाला रहा है । इसका अनौचित्य उत्पीड़क और पीड़ित दोनों ही समझते रहे हैं, पर लम्बे समय तक यथास्थिति बनी रही । कारण एक ही था कि शोषित वर्ग ने या तो आवाज उठाई ही नहीं या उठी तो वह धीमी एवं असंगठित थी । जैसे ही साहस उभरा और अनीति के प्रति विद्रोह पर उतारू हुआ, वहाँ परिस्थितियाँ तुरन्त बदलीं । भले ही आरम्भ में शोषकों ने दमन का आश्रय लिया हो, पर वह दबाव बहुत समय तक जारी नहीं रह सका । दुर्बल होते हुए भी नीति पक्ष जीता और अपने अधिकार वापस लेकर रहा । जागरूकों को सफलता मिल चुकी है । आवश्यकता इस बात की है कि मानवीय मौलिक अधिकारों की यथार्थता एवं आवश्यकता से जन-जन को अवगत कराया जाय । इसी प्रकार शोषित जागेंगे और शोषक दबेंगे ।

न्यायनिष्ठा को क्षति न पहुँचे

आदान-प्रदान में जब तक एक-दूसरे के हितों का ध्यान रखा जाता है-अधिकार जताने के साथ-साथ कर्त्तव्य का पालन किया जाता है, तब तक औचित्य निभता रहता है और सहयोग का क्रम बिना टकराव के अपने ढंग से चलता रहता है, किन्तु जब इस मर्यादा का उल्लंघन होता है और कोई पक्ष अपने लिए विशेष सुविधा-साधनों के लिए आग्रह करता है, तो दूसरे को उसका खामियाजा उठाना पड़ता है । नीयत अपनी स्थिति स्वयं प्रकट करती है । ऐसी दशा में हानि उठाने वाला पक्ष अन्यमनस्क होता है, अरुचि दिखाता और उपेक्षा बरतने लगता है । वह उत्साह ठंडा हो जाता है, जो दोनों पक्षों के अपने-अपने स्थान पर नीतिनिष्ठा बने रहने पर पनपता है । एक बैल अपने हिस्से का भार न खींचे तो दूसरे को अधिक वहन करना पड़ेगा अथवा समूचा व्यवस्था तन्त्र गड़बड़ाने लगेगा और लाभ के स्थान पर घाटे का क्रम चल पड़ेगा ।

सहयोग आवश्यक है, किन्तु उसे द्विपक्षीय होना चाहिए, न्यायोचित रहना चाहिए । एक की भलमनसाहत या दुर्बलता की स्थिति का अनुचित लाभ उसे नहीं उठाना चाहिए, जो चतुर या समर्थ है । दबाव देकर या फुसलाकर इस प्रकार उठाया गया लाभ तत्काल तो लाभदायक प्रतीत होता है, किन्तु अन्त में धीरे-धीरे सम्बन्ध बिगड़ते जाते हैं और स्थिति अलगाव की आ जाती है । चाहे वह अन्यमनस्कता के रूप में हो अथवा अपना आधा कारोबार

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

अलग कर लेने के रूप में । यह स्थिति उत्पन्न होना दुर्भाग्य की बात है । इससे जहाँ तक बन पड़े बचना चाहिए ।

छोटी इकाइयों के रूप में अलग-अलग निर्वाह करना घाटे का सौदा है । संयुक्त परिवार के लाभ अब समझदार वर्ग में भली प्रकार समझे जाने लगे हैं । छोटा परिवार रखकर काम चलाने की प्रथा नये स्वेच्छाचार और संकीर्णतावाद ने पनपाई थी, पर अनुभव ने बताया है कि सुविधा और प्रगति की दृष्टि से एकाकीपन असुविधाजनक भी है और घाटे का सौदा भी । समाज विज्ञान के कर्णधार अब छोटा परिवार बसाकर असुविधा में जीने की अपेक्षा संयुक्त परिवार प्रणाली को समर्थन देने लगे हैं । उसी का सुधरा हुआ रूप 'कम्यून' कहलाता है ।

परिवार संचालन हो अथवा उद्योग व्यवसाय-घर के सभी लोग मिल-जुलकर करते हैं, तो काम भी अधिक होता है और व्यवस्था भी अधिक रहती है, पर यह सहकारिता का लाभ मिलता तभी है, जब पारस्परिक व्यवहार में न्यायनिष्ठा का समुचित समावेश रहे । सभी को उनका हक उचित रीति से मिलता रहे । इसके लिए माँग करने और लड़ने-झगड़ने का अवसर न आने पावे इसका ध्यान आरम्भ से ही रखा जाना चाहिए । अनीति का प्रवेश समुदाय के बीच किसी भी प्रकार नहीं होना चाहिए । अन्याय करने की, सहने की स्थिति आने ही नहीं देनी चाहिए ।

यह विवशता है कि काम मिल-जुलकर ही करना पड़ता है । अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता । अकेली सींक बुहारी का काम नहीं कर सकती । एक तिनके से घोंसला नहीं बन सकता । कोई व्यक्ति अकेले अपने बलबूते कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकता, यहाँ तक कि सुविधापूर्वक दैनिक क्रिया-कलाप भी नहीं चला सकता । इसलिए सभी यह प्रयत्न करते हैं कि उद्योग व्यवसाय में अनेक लोग मिलकर काम करें और उस संयुक्त शक्ति के बल पर अधिक लाभ उठावें ।

पर यह सम्भव तभी है, जबकि सभी सहकर्मी यह अनुभव करें कि उन्हें सहयोग के बदले न्याय भी मिल रहा है । जहाँ अन्याय चलेगा वहाँ असन्तोष से बढ़कर विरोध का वातावरण बनेगा । विग्रह खड़ा होने, पृथक् होने से पूर्व मनोमालिन्य बढ़ेगा, असन्तोष उभरेगा और काम के प्रति समुचित दिलचस्पी लेने के सन्दर्भ में निरन्तर कमी होती चली जायेगी । फलतः कारोबार की साख और प्रगति में निश्चित रूप से कमी आने लगेगी और उसका परिणाम प्रायः उन सभी को घाटे के रूप में दृष्टिगोचर होने लगेगा, जो उस तन्त्र के अंग बनकर काम कर रहे थे । परिवार इसी आधार पर बिखरते हैं । कारोबार पूँजी और परिस्थिति अनुरूप होने पर भी घाटा देने लगते हैं । निरन्तर घाटा जहाँ होगा, वह कार्य अन्ततः समाप्त होकर ही रहेगा ।

संयुक्त परिवार या संयुक्त व्यवसाय के अतिरिक्त और भी अनेक क्षेत्र ऐसे हैं जिनमें किसी न किसी सीमा तक मिल-जुलकर काम करना पड़ता है । सामाजिक ढाँचा ही ऐसा है, जिसमें किसी न किसी प्रकार पारस्परिक सहयोग की आवश्यकता पड़ती है, पर इन सभी सहयोगियों के बीच उत्साह तभी रहता है, जब उचित न्याय नीति का निर्वाह ठीक तरह होता रहे । जहाँ स्वार्थपरता की अति अपनाई जाने लगेगी, वहाँ सहयोग में कमी होती जायेगी । इसका प्रतिफल विलगाव के, बिखराव के रूप में ही उपस्थित होगा । किया हुआ अन्याय जितना लाभ आरम्भ में देता है, कुछ दिन उपरान्त उसका प्रभाव अधिक घाटा होने के रूप में दीखने लगता है ।

सामान्यतया भी अनेक प्रयोजनों के लिए एक-दूसरे के साथ सम्पर्क बनता रहता है । उन छोटे अवसरों पर भी जितना थोड़ा-बहुत सम्पर्क बने, उसमें न्यायनिष्ठा का इतना समावेश तो रहना चाहिए जिसे ईमानदारी कहा जा सके । अन्याय, छल, विश्वासघात, चोरी, बेईमानी, उत्पीड़न, शोषण आदि बड़े रूप में ही होता हो, यह अनिवार्य नहीं । गलत सलाह देकर, गलत समर्थन देकर अनीति को प्रोत्साहन देकर अपने अभिमत द्वारा भी अन्याय किया जा सकता है । चुनाव में सत्पात्रों को मत देने की अपेक्षा अपने आदमी को, अनुपयुक्त को, जाति-पाँति या किसी प्रलोभन के वशीभूत होकर विजयी बनाने में संलग्न होना भी एक अन्याय है । इससे देश, समाज के प्रति जो जिम्मेदारी है, उसमें अवरोध उत्पन्न होता है ।

हर व्यक्ति को स्वतंत्र बुद्धि से, अपने निर्णय से काम करते रहने देना चाहिए । उस पर प्रलोभन या दबाव प्रत्यक्ष रूप से भले हो, पर इसका स्वरूप ऐसा होना चाहिए जिससे कि मात्र अपना ही स्वार्थ न सधे, अपितु दूसरे को भी यह अनुभव करने का अवसर मिले कि उसे ठगाया, बहकाया नहीं गया है । किसी प्रपंच में फँसाकर उसके साथ अन्याय नहीं किया गया है । यह हम सबका सामान्य व्यवहार होना चाहिए । नीति और प्रीति इसी प्रकार पलती है, पारस्परिक सहयोग इसी आधार पर चिरस्थायी बनता और लाभदायक रहता है ।

जहाँ बात बढ़ गई हो, तर्क, तथ्य, प्रमाण, उदाहरण प्रस्तुत करने पर भी गुत्थी न सुलझ रही हो वहाँ न्यायालय में जाकर कानूनी ढंग से फैसला करने में लम्बा समय और धन खर्च करने की अपेक्षा यही उचित है कि किन्हीं दोनों ओर के विश्वास प्राप्त व्यक्ति को मध्यस्थ या पंच बनाकर किसी प्रकार फैसला करा लिया जाय ताकि आगे के लिए दोनों पक्षों के मन उद्विग्न न रहकर अपने-अपने कामों में निश्चिन्ततापूर्वक संलग्न हो सकें । इस प्रयोजन के लिए पिछले समय में समझदार, अनुभवी वयोवृद्ध लोगों की पंचायतें बन जाती थीं । वे सामने आये झंझटों का निराकरण करती ही थीं, इसके अतिरिक्त उनकी निज की चेष्टा यह भी होती थी कि जहाँ मनोमालिन्य चल रहा है, सहयोग का वातावरण नहीं बन रहा है, वहाँ अपनी ओर से समस्या को समझें, निराकरण करें और एक सा माहौल तैयार करें, जिसमें असन्तोष-सन्तोष के रूप में बदले और

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

प्रतिपक्ष में रुका हुआ व्यवधान रास्ते से हटकर उद्विग्नता को सहयोग व्यवस्था में बदले । देखा गया है कि भाई-भाई के बीच, पति-पत्नी के बीच ऐसे विग्रह अधिक पनपते हैं । घनिष्टता जहाँ भी होती है, वहाँ स्वभावत: अधिक सद्व्यवहार की आशा रखी जाती है, पर ऐसे सम्बन्धों में गलतफहमी या अनीति चल पड़े तो उसका परिणाम बहुत बुरा होता है । पंचजनों को आगे बढ़कर ऐसे अवरोध को स्वयं दूर करना चाहिए । यही न्यायनिष्ठा का तकाजा है ।

आत्मोत्कर्ष के लिए ईश्वर आस्था

ईश्वरनिष्ठा को पंचशीलों में प्रमुख माना गया है । उसका प्रत्यक्ष रूप तो पूजा-अर्चा है, पर दार्शनिक रूप यह है कि ईश्वर की सत्ता पर परिपूर्ण विश्वास किया जाय । उसकी नियम व्यवस्था को अटूट एवं अकाट्य माना जाय । उसका सर्वव्यापी और न्यायनिष्ठ होना यदि हमारी भावनाओं की गहराई में पहुँच सके, तो उसका परिणाम यह होगा कि कोई स्वेच्छाचार अनाचार न बरत सकेगा । उसे यह विश्वास बना रहेगा कि सत्कर्मों का सुखद परिणाम और दुष्कर्मों का दु:खद प्रतिफल मिलकर रहेगा ।

किसान और माली जानते हैं कि जो बोया जाता है, सो काटा जाता है । करनी अपना प्रतिफल देकर रहती है । लोगों की आस्था प्राय: इसीलिए डगमगा जाती है कि किये हुए का तत्काल प्रतिफल नहीं मिलता । उसमें विलम्ब हो जाता है और व्यक्ति समझने लगता है कि यही 'बे बूझ राजा की अन्धेर नगरी' है । कर्मफल से विश्वास उठ जाने का ही यह कारण है कि लोग अनाचार में प्रवृत्त होते कुकर्म करते पाये जाते हैं । यदि यह विश्वास दृढ़तर हो कि नियन्ता की सृष्टि सुव्यवस्था में क्रिया की प्रतिक्रिया होने का विधान सुनिश्चित है, तो लोग पाप कर्म करते हुए डरें । पुण्य के सत्परिणामों को समझें । सन्मार्ग पर चलें और पुण्य-परमार्थ की दिशा अपनाएँ ।

क्रिया की प्रतिक्रिया उत्पन्न होने में कुछ देर लगती है । खाये अन्न का रक्त बनने में कुछ समय लगता है । किसान को बोई फसल काटने में कई महीने लगते हैं । आज का जमाया दूध कल दही बनता है । बरगद के अंकुर को समर्थ वृक्ष बनने में लम्बा समय लग जाता है । इतने पर भी कोई अविश्वास नहीं करता कि जो किया है, उसका प्रतिफल न मिलेगा । यदि ऐसा होता तो कोई किसान कृषि न करता । कोई माली बगीचा न लगाता । कोई विद्यार्थी कालेज की पढ़ाई तक पढ़ने में लगा न रहता, क्योंकि इन कृत्यों का तत्काल फल तो मिलता नहीं । उनकी परिणति उत्पन्न होने में देर लग जाती है ।

इस अधीरताजन्य अविश्वास को दूर करने के लिए ईश्वर की न्यायशीलता पर गहरा विश्वास होना आवश्यक है । जीवन मरने के बाद ही समाप्त नहीं हो जाता है । वह बाद में भी विद्यमान रहता है । कर्मफल परलोक में भी भुगते जा सकते हैं और पुनर्जन्म में भी । इसलिए ईश्वर की सर्वव्यापकता, न्याय-निष्ठा, कर्मफल प्रक्रिया तीनों ही ऐसी हैं जिन्हें हर आस्तिक को मानना चाहिए । मानना ही नहीं उन पर विश्वास करना चाहिए । इतने भर से व्यक्ति के निजी जीवन में तथा समाज की सद्परम्पराओं में नीति और न्याय का प्रचलन बना रहता है । इसके फलस्वरूप यह हो सकता है कि लोग कुकर्मों से डरें और सन्मार्ग पर चलने में ही अपना हित अनुभव करें ।

एक अनर्थमूलक मान्यता ईश्वर के सम्बन्ध में यह बन चली है कि जो उसका स्तवन करता है, पूजा-पाठ के साथ-साथ भोग-प्रसाद अर्पण करता है उससे ईश्वर प्रसन्न होता है और उसकी मनोकामनाएँ पूर्ण करता है । यह एक प्रकार से ईश्वर को बदनाम करना है, उसे प्रशंसा की मनुहार और भेंट-पूजा के उपहारों से, अहंकारियों, रिश्वतखोरों की तरह प्रसन्न किया जा सकता है । प्रलोभनों और दबावों के आधार पर उसे कठपुतली की तरह नचाया जा सकता है । ऐसी मान्यता अनेकों की है । इन दिनों ऐसे ही प्रशंसा के भूखे और उपहारों के प्यासे भगवान का बोलबाला है । इस मान्यता से तो लोग और भी अधिक ढीठ बनते व सोचते हैं कि मात्र देवदर्शन करने भर से भोगों से निवृत्ति मिल सकती है और छुट-पुट कर्मकाण्डों के बलबूते स्वर्ग में रहने के लिए स्थान निश्चित किया जा सकता है, पर वस्तुत: ईश्वर ऐसा तुच्छ नहीं है कि कोई भी क्रिया-कुशल व्यक्ति उसे अपनी उँगलियों पर नचा सके ।

गुप्त रूप से किये गये कर्म, चिन्तन क्षेत्रों में विचरण करते संकल्प भी परमेश्वर से छिपे नहीं रहते । घट-घटवासी सब जानता है । बाहर के लोगों को तो किसी चतुरता के सहारे धोखे में रखा जा सकता है । वस्तुस्थिति उनसे छिपाई जा सकती है । सरकार की, समाज की दण्ड व्यवस्था से तो बचा भी जा सकता है किन्तु जो घट-घट का वासी है, सर्वत्र समाया हुआ है उसकी जानकारी में सब कुछ है । ऐसी दशा में यह कैसे सम्भव हो सकेगा कि गुप्त कुकर्मों या अविज्ञात विचारों की हीनता उसकी दृष्टि से बची रहे और उस प्रमाद के घपले में अपने पाप कर्मों को गया-आया कर सकने का दाँव चूक जाय ।

ईश्वर मान्यता से व्यक्तिगत चरित्र की पवित्रता, प्रामाणिकता और समाज में सुव्यवस्था बनी रह सकती है । चरित्रनिष्ठा और समाजनिष्ठा के उभयपक्षीय सत्परिणाम व्यापक रूप से मिलते रह सकते हैं । उसका इतना लाभ मिल सकता है, जिसे देखते हुए शासकीय दण्ड व्यवस्था भी हल्की दिखाई पड़ती है । सरकार तो सबूत मिलने पर ही किसी को अपराधी ठहराती और दण्ड की व्यवस्था करती है, पर ईश्वर की नजर तो सर्वत्र है । उससे किसी के कर्म और विचार छिपे नहीं रहते । साथ ही उसकी परिणाम व्यवस्था में भी किसी के साथ राग-द्वेष करते

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

जाने की गुंजाइश नहीं है । इसी रूप में यदि ईश्वर पर विश्वास किया जा सके तो व्यक्ति और समाज को सुसंस्कृत, सुव्यवस्थित रखे जाने के समस्त अवरोध दूर हो सकते हैं ।

स्वर्ग और नरक को मरणोत्तर जीवन में कर्मों का प्रतिफल मिलने की पुनर्जन्म वर्तमान के कृत्यों के अनुरूप मिलने की आस्था को जितना सुनिश्चित और जितना गम्भीर बनाया जा सके तथा उसी सीमा तक सर्वसाधारण को नीतिवान, चरित्रवान बनाया जा सके तो सर्वत्र ईश्वर निष्ठा में स्थिरता दृष्टिगोचर हो सकती है । यह सर्वसाधारण के लिए इतना अधिक महत्त्वपूर्ण है कि इस आधार पर विश्व-शान्ति के लिए सर्वजनीन सुख-शान्ति और प्रगति के लिए बहुत कुछ किया जा सकता है । भूतकाल में जिस प्रकार आस्तिकता ने भारत भूमि को "स्वर्गादपि गरीयसी" बनाया था, उसकी पुनरावृत्ति फिर हो सकती है । यदि ईश्वर का वास्तविक स्वरूप और उसका अनुशासन सर्वसाधारण के अन्तराल में गहराई तक जमाया जा सके, तब ही यह सम्भव है ।

ईश्वर ने मनुष्य जीवन अपने कोष के सर्वोपरि उपहार के रूप में प्रदान किया है । इस अनुग्रह के साथ-साथ उसने यह भी आशा की है, इस अनुदान का उपयोग मात्र सत्प्रयोजनों में किया जायगा । सत्प्रयोजनों में मुख्यतः दो गिनाये गये हैं-एक आत्मोत्कर्ष, दूसरा लोकमंगल । आत्मोत्कर्ष का प्रमुख साधन है, संयम । संयमों में इन्द्रिय संयम, समय संयम, अर्थ संयम और विचार संयम इन चार की गणना होती है । लोकमंगल में संसार को समुन्नत और सुसंस्कृत बनाने की प्रक्रिया आती है । इन्हीं दोनों को पुण्य-परमार्थ भी कहा गया है । ईश्वर भक्ति इसी ढाँचे में अपने को ढालने से बन पड़ती है । इसी पर उसकी प्रसन्नता एवं अनुकम्पा अवलम्बित है । मनुष्य पद से ऊँचा उठकर महामानव, देवात्मा, अवतार स्तर तक मनुष्य अपने स्तर के अनुरूप प्रगति इसी राजमार्ग पर चलकर पाता है । उपासना का उद्देश्य परमात्मा और आत्मा की पारस्परिक एकता और आदान-प्रदान की व्यवस्था का स्मरण करना है । स्मरण का प्रयोजन तथ्य को निरन्तर हृदयंगम करते रहना और जीवन के सभी पक्षों को उच्चतर बनाते चलना सभी गतिविधियों का उत्कृष्टतम बनाकर रहना ।

जीवन को अवांछनीयताओं से बचाये रहना और औचित्य को अधिकाधिक अवधारणा करना, यही है ईश्वर की उपलब्धि एवं समीपता का सुनिश्चित सोपान । माता बच्चे को तभी गोदी में उठाती है, जब उसे मूत्र में सना होने पर नहला-धुलाकर स्वच्छ कर लेती है । मलीनता से सने होने पर तब तक दूर ही रखती है, जब तक उसकी स्वच्छता ठीक प्रकार सम्भव नहीं हो जाती । पवित्रता और प्रामाणिकता ही वे आधार हैं, जिन्हें अपनाकर ईश्वर तक पहुँचा जा सकता है । जीव की तुच्छता ब्रह्म की महानता के साथ समन्वित होकर तदनुरूप बन जाती है । इसी को ब्राह्मी स्थिति कहते हैं ।

एक-एक दिन को आदर्श बनाकर सम्पूर्ण जीवन को आदर्शमय बनाया जा सकता है । एक-एक कदम बढ़ाने पर ही लम्बी मंजिल पूरी होती है । प्रातः सोकर उठते ही यह भावना करनी चाहिए कि आज एक दिन का नया जन्म मिला इसका श्रेष्ठतम् सदुपयोग करना है । रात्रि को उस एक दिन के जीवन का लेखा-जोखा लिया जाय कि उसमें क्या अच्छा बन पड़ा और क्या कमी रही । इस समीक्षा के आधार पर दूसरे दिन का और भी अधिक सतर्क कार्यक्रम बनाया जाय । उपासना का यह सर्वसुलभ मार्ग है । इसके अतिरिक्त भगवान् के साथ आत्मसम्बन्ध को प्रगाढ़ बनाने के लिए नित्य प्रभु स्मरण भी करना चाहिए, प्रभु स्मरण के लिए अपने-अपने अनेक ढंग के अनेक विधि-विधान एवं क्रिया-कलाप हैं, जिनमें से किन्हीं को भी अपनाया जा सकता है ।

* * *

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

सभ्यता, सज्जनता और सुसंस्कारिता का अभिवर्द्धन

सम्पन्नता नहीं, आदर्शवादिता को सम्मान मिले

किसी भी मनुष्य अथवा समाज की उन्नति का लक्षण है सुख-शान्ति और सम्पन्नता । यह तीनों बातें एक दूसरे पर उसी प्रकार निर्भर हैं जिस प्रकार किरणें सूर्य पर और सूर्य किरणों पर निर्भर है । जिस प्रकार किरणों के अभाव में सूर्य का अस्तित्व नहीं और सूर्य के अभाव में किरणों का अस्तित्व नहीं, उसी प्रकार बिना सुख-शान्ति के सम्पन्नता की सम्भावना नहीं और बिना सम्पन्नता के सुख-शान्ति का अभाव रहता है ।

यदि गम्भीर दृष्टि से देखा जाय तो पता चलेगा कि आरामदेह जीवन की सुविधाएँ सुख-शान्ति का कारण नहीं हैं, बल्कि निर्विघ्न तथा निर्द्वन्द्व जीवन प्रवाह की स्निग्ध गति ही सुख-शान्ति का हेतु है । जिसका जीवन एक स्निग्ध तथा स्वाभाविक गति से बहता जा रहा है, सुख-शान्ति उसी को प्राप्ति होती है । इसके विपरीत जो अस्वाभाविक एवं उद्वेगपूर्ण जीवनयापन करता है व दुःखी और अशान्त रहता है । विविध प्रकार के कष्ट और क्लेश उसे घेरे रहते हैं । ऐसा व्यक्ति एक क्षण को भी सुख चैन के लिए कलपता रहता है । कभी उसे शारीरिक व्याधियाँ व्यस्त करती हैं तो कभी मानसिक यातनाओं से पीड़ित होता है ।

जो बेचैन है, अशान्त है, पीड़ित है वह सम्पन्नता उपार्जित करने के साधन जुटा ही नहीं सकता । उसे यातनाओं से संघर्ष करने से अवकाश ही नहीं मिलेगा । फिर भला वह सम्पन्नता का स्वप्न किस प्रकार पूर्ण कर सकता है । जो शान्त है, स्थिर है निर्द्वन्द्व है, वही कुछ कर सकने में समर्थ हो सकता है । यदि परिस्थितियोंवश अथवा संयोगवश किसी को सम्पन्नता प्राप्त हो जाये तो अशान्त एवं व्यग्र व्यक्ति के लिए उसका कोई उपयोग नहीं, जो वस्तु किसी के काम नहीं आती उसका होना भी उसके लिए न होने के समान ही है । अस्तु सम्पन्नता प्राप्त करने के लिए शान्तिपूर्ण परिस्थितियों की आवश्यकता है और सुख-शान्ति के लिए सम्पन्नता की अपेक्षा है ।

इस सम्पन्नता का अर्थ बहुत अधिक धन-दौलत से न होने पर भी आवश्यकताओं की सहजपूर्ति से तो है ही । जो नितान्त निर्धन है, दरिद्री है वह सुख-शान्ति के लिए कितना ही मानसिक उद्योग क्यों न करे ? उसे प्राप्त नहीं कर सकता । जब भूख लगेगी तब वह किसी साधन, समाधि अथवा भजन-पूजन से दूर न होगी । उसके लिए तो भोजन की आवश्यकता होगी । क्षुधित मनुष्य कब तक अपना मानसिक संतुलन बनायें रखेगा ? कब तक उसका विवेक उसे विकल होने से बचा सकेगा ? एक सीमा के बाद प्रज्ञावान से प्रज्ञावान व्यक्ति भी विचलित हो उठेगा । उपयुक्त आवश्यकताओं की समुचित पूर्ति और मनुष्य का अपना सन्तोष दोनों मिलकर किसी भी बुद्धिमान व्यक्ति के लिए सम्पन्नता ही है । जो निःस्वार्थ, निर्लोभ और अलोलुप है, वही वास्तव में सम्पन्न है, इसके विपरीत जो लालची है, अतिकाम है, लिप्सालु है, वह धनवान होने पर भी दरिद्री है, असम्पन्न है ।

अच्छे-बुरे उपायों से, जिस प्रकार भी सम्भव हो, उसी प्रकार लोग धन अर्जित करने के लिए क्यों लालायित रहते हैं ? इसलिए कि इन दिनों धनवान होना तथा सम्मान और प्रतिष्ठा प्राप्त करने का माध्यम बन गया है । किसने कैसे कमाया ? इसका कहीं विश्लेषण नहीं किया जाता । देखा यह जाता है कि कौन कितना सम्पन्न है ? किसके पास विलासिता और ऐश्वर्य के कितने साधन उपलब्ध हैं ? कसौटी पर जो धन-सम्पन्न दिखाई देता है, लोग उसी का आदर करने लगते हैं तथा उसी का दबदबा मानने लगते हैं । धन और सम्पन्नता को मिलने वाली प्रतिष्ठा देखकर वे लोग भी भले-बुरे उपायों से अर्थोपार्जन करने लगते हैं, जो कम सम्पन्न हैं या जिनकी आर्थिक स्थिति दुर्बल है ।

सम्पन्नता को सम्मान मिलना बुरी बात नहीं है । इसका होना इस बात का द्योतक है कि व्यक्ति परिश्रमी, उद्यमी, पुरुषार्थी और साहसी है । लोग उसके इन गुणों का आदर करें, यह उचित है, परन्तु जब केवल सम्पन्नता को ही सम्मान का एकमात्र आधार मान लिया जाता है तो अनर्थ वहीं से होने लगता है । वैसे सम्पन्न व्यक्ति को प्रतिष्ठा अर्जित करने, सम्मान और यश प्राप्त करने का कोई विशेष अधिकार नहीं है । सम्पन्न व्यक्ति अपने पुरुषार्थ से धन कमायें और उससे मौज उड़ायें, इसी से उनके पुरुषार्थ का पुरस्कार मिल जाता है, जो पर्याप्त है । उन्हें थोड़ा-बहुत आदर दिया जा सकता है, किन्तु सम्पन्नता की चकाचौंध से चकित होकर जो व्यक्ति ऐसे लोगों को किसी बहाने विशेष सम्मान या यश देने का प्रयत्न करते हैं, वे देवग्रास को देवताओं से छीनकर कौरवों को देने जैसी विडम्बना रचते हैं । इसी प्रकार सम्पन्न व्यक्ति केवल अपने वैभव के आधार पर ही प्रतिष्ठा प्राप्त करने का प्रयत्न करता है तो वह भी अनुचित है ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

स्मरण रखा जाना चाहिए कि सम्मान एक प्रकार का प्रोत्साहन है और यह लोगों को उस दिशा में प्रयत्नशील होने के लिए उत्तेजित करता है जिसमें कि यश मिलता है । प्रत्येक व्यक्ति के मन में यह ललक छिपी रहती है कि उसे सम्मान मिले, यश प्राप्त हो, लोग उसे सराहें तथा आदर की दृष्टि से देखें । जब किसी को सम्मान मिलता है, तो लोग देखते हैं कि यह आदर किसलिए दिया जा रहा है । उनमें भी वही कुछ करते और वैसा बनने की उमंग उठती है, जिससे कि सम्मान प्राप्त हुआ । दुर्भाग्य से इन दिनों धन सम्मान और प्रतिष्ठा का मापदण्ड बना हुआ है, इसलिए हर किसी में धनवान बनने की होड़ मची हुई है । सम्पन्नता के लिए प्रयत्न करना अनुचित नहीं है, अनुचित है इसके लिए भले-बुरे सभी तरह के उचित-अनुचित उपायों को अपनाया जाना और जब धन को प्रतिष्ठा मिलने लगी तो नैतिक मूल्यों को भी ताक पर रखा जाने लगा है ।

मध्यकाल में विजेता, सामन्त, जागीरदार यश और सम्मान के पात्र समझे जाते थे । उन्होंने अपनी यशगाथाएँ लिखाईं और इसके लिए भाटों, चारणों को आजीविका दी । प्रशंसकों को पैसे के बल पर खरीदा । आदर्श के लिए युद्ध करना और उसमें विजय प्राप्त करना अथवा खेत रहना तो अभिनन्दनीय हो सकता है, पर दूसरे पड़ोसी को निर्बल पाकर उसकी सम्पदा लूटने तथा युवा लड़कियों को, कुल-वधुओं को अपहृत कर ले जाने, प्रजा को रौंद डालने, स्वस्थ नर-नारियों को पकड़ कर ले जाने तथा उन्हें गुलाम बनाकर रखने की प्रवृत्ति हर दृष्टि से गर्हित ही है, किन्तु उनकी प्रशंसा में जब काव्य लिखे जाने लगे, यशोगान गाये जाने लगे तो सामान्यजनों में भी वैसी ही दुष्प्रवृत्तियाँ पनपीं । परिणामस्वरूप मध्यकाल का अन्धकार युग आया, जिसमें भारतीय समाज हर दृष्टि से दीन-दुर्बल बना । कई कुरीतियाँ पैदा हुईं और लोगों के नैतिक एवं चारित्रिक स्तर में गिरावट आई ।

सम्मान एक प्रकार का मूल्यांकन है और उपहार भी । मूल्यांकन इस बात का कि उस सम्मान का आदर्श क्या है और उपहार उसके लिए जिसने बिना कोई प्रत्यक्ष लाभ उठाये यह काम किया जिसके लिए वह सम्मानित हुआ । प्राचीनकाल के स्वर्णयुग में सम्मान न तो विजेता, सामन्तों या सम्राटों को दिया जाता था और न ही धनिकों को । मनीषियों ने उन दिनों यह परम्परा निर्धारित की थी कि अभिनन्दन केवल साधु-ब्राह्मणों का ही किया जाये । साधु अर्थात् पारमार्थिक प्रयोजनों के लिए पूर्णतया समर्पित लोकसेवी और ब्राह्मण अर्थात् चरित्रवान मानवीय आदर्श का प्रतिनिधि । इन दो के अतिरिक्त क्षत्रिय और वैश्य लोक सम्मान या अभिनन्दन की दृष्टि से निषिद्ध ही रहे हैं ।

शासक के पास सत्ता है, पद है, भय और लोभ से दूसरों को प्रभावित करने की सामर्थ्य है । उसके लिए बस इतना ही पर्याप्त है । लोक-अभिनन्दन प्राप्त करने के लिए उसे लालायित नहीं होना चाहिए और न ही विचारशील व्यक्तियों को उसे अभिनन्दित करने की चेष्टा करनी चाहिए । धनिकों के लिए भी यही बात लागू होती है । कोई व्यक्ति अमीर बना, सम्पत्ति कमाई, धनवान और भाग्यवान कहलाया, उस अर्जित सम्पदा से उसके अहंकार की पूर्ति हुई, विलास-वैभव के साधन मिले । इसमें यश की क्या बात ? कोई उसकी प्रशंसा क्यों करे ? उनसे कोई क्यों प्रभावित हो ? उन्होंने जो कुछ पुरुषार्थ किया, उसका लाभ उन्हें मिल गया ।

सम्मान उन्हें दिया जाना चाहिए जिन्होंने अपनी भौतिक महत्त्वाकांक्षाओं से मुँह मोड़कर परमार्थ प्रयोजनों के लिए अपनी सामर्थ्य जुटा दी । जिन्होंने अपनी सारी सामर्थ्य, महत्त्वाकांक्षा तथा सम्भावनाओं को परमार्थ के लिए लुटा दिया अभिनन्दन उनका किया जाना चाहिए । जिनका पुरुषार्थ अपने निज के लिए नहीं, दूसरों के लिए काम आया और उच्च आदर्शों के लिए जिन्होंने स्वयं को खाली हाथ रखने के लिए तैयार रखा उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त कर कम से कम कुछ तो यह भार हल्का किया जाना चाहिए । यह इस बात का भी द्योतक होगा कि जनमानस में उत्कृष्टता के लिए कम से कम श्रद्धा दे सकने की वृत्ति तो जीवित है । इससे उन त्यागी, परमार्थ-परायण नर-शार्दूलों को भी सन्तोष होगा कि उनकी सेवा-साधना और निष्ठा-समर्पण को स्वीकारा तथा महत्त्व दिया गया है ।

इस तथ्य को ध्यान में रखा जाना चाहिए कि आदर्शवादिता को जीवित रखने के लिए उसका उपहार लोकश्रद्धा के रूप में पूर्णतया सुरक्षित रहना चाहिए । सम्मान और प्रतिष्ठा केवल उन्हें ही मिले जिन्होंने मानवीय आदर्शों को जीवित रखने के लिए अपनी महत्त्वाकांक्षाओं का गला घोंटा । कहा जा चुका है कि सम्मान एक प्रोत्साहन है जो प्रस्तुत दिशा में अग्रसर होने की प्रेरणा देता है । इसके लिए आदर्शवादिता को अभिनन्दित करने की परिपाटी चलानी चाहिए तथा ऐसे आयोजनों का व्यापक प्रचलन करना चाहिए, जिनमें आदर्शों को अपनाने वाले व्यक्तियों का सम्मान किया जाय ताकि अन्य लोगों को भी इस दिशा में बढ़ चलने की प्रेरणा मिल सके ।

समृद्धि भी अनिवार्य, पर उपार्जन नीतियुक्त हो

जनमानस में एक भ्रान्ति यह बैठी हुई है कि नीति और ईमानदारी के मार्ग पर चलने वाला भौतिक दृष्टि से घाटे में रहता है, जबकि बेईमानी अनीति की आड़ में अधिक कमाया जा सकता है । यह प्रतिपादन उन अदूरदर्शी व्यक्तियों का है, जो भौतिक प्रगति के शाश्वत् नियमों से अपरिचित हैं अथवा बेईमानी को लाभदायक ठहराने का समर्थन वे करते हैं, जो आलसी और प्रमादी हैं । कठोर श्रम से जी चुराते हैं । ऐसे व्यक्ति सम्पन्नता हासिल करने के लिए 'शार्टकट' के रूप में बेईमानी को ही आदर्श बना लेते हैं और यह कहते फिरते हैं कि आज

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

न तो ईमानदारी का युग रहा है और न ही ईमानदार व्यक्तियों का । सचमुच ही ऐसे व्यक्तियों को अदूरदर्शी ही कहा जायगा ।

यह तथ्य भली-भाँति हृदयंगम कर लेना चाहिए कि मात्र करते रहने भर से, बेईमानी की बातों का समर्थन भर करने से अभीष्ट परिणाम में सफलता नहीं मिल जाती । प्रामाणिकता, श्रमनिष्ठा तथा कार्य-कुशलता भौतिक प्रगति के लिए आवश्यक विशेषताएँ ईमानदारी के अभिन्न अंग हैं । जहाँ कहीं भी जिस दिशा में इनका प्रयोग किया जायेगा, चमत्कारी परिणाम निकलेंगे और समृद्धि का पथ प्रशस्त होगा । बाजार में निकलते ही हर व्यक्ति ऐसी दुकान की खोजबीन करता है, जहाँ वस्तुएँ सही कीमत पर टिकाऊ और अच्छे स्तर की मिलें । ऐसी ही दुकानें चलती भी हैं जहाँ वस्तुएँ प्रामाणिक एवं उचित कीमत पर मिलती हैं । कितने ही दुकानों के नाम टाइटिल लाखों-करोड़ों रुपयों में बिक जाते हैं । इसका कारण दुकानदार द्वारा उपार्जित की गई प्रामाणिकता की वह 'साख' होती है जो 'टाइटिल' के खरीददार के लिए विशेष लाभकारी सिद्ध होती है ।

ईमानदारी का मार्गावलम्बन व्यक्ति और समाज दोनों ही के लिए लाभप्रद है, इस सत्य को समाजशास्त्र एवं अर्थशास्त्र के नियमों द्वारा भी समझा जा सकता है । घटिया स्तर की अनुचित कीमत पर वस्तुएँ बेचने वाले दुकानदार अथवा निर्यात करने वाली फर्में कुछ समय तक ही दूसरों को धोखा दे सकती हैं । ठगे गये व्यक्ति उनसे दुबारा वस्तुएँ नहीं खरीदते, जबकि अपनी प्रामाणिकता का सिक्का जमा लेने वालों की बिक्री दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाती है । इस तरह बेईमान दुकानदार जहाँ अधिक कीमत लेकर सीमित वस्तुओं की बिक्री कर पाता है, उचित लाभांश लेने वाला ईमानदार दुकानदार अधिक बेच लेता है और कुल आर्थिक लाभ की दृष्टि से नफे में रहता है । उसे अतिरिक्त फायदा यह होता है कि ग्राहकों की संख्या बढ़ती जाती है । प्रकारान्तर से उसे समाज-सेवा एवं देश सेवा का श्रेय भी मिल जाता है । उचित कीमत पर प्रामाणिक एवं ऊँचे स्तर की वस्तुएँ समाज को उपलब्ध करा देना एक व्यवसाय होते हुए भी समाज सेवा ही कही जायेगी । किसी भी देश की भौतिक प्रगति भी इस बात पर अवलम्बित है कि देश में उत्पादन का स्तर कैसा है तथा उनमें कितनी अधिक प्रामाणिकता जुड़ी हुई है । इस तरह ईमानदारी के अवलम्बन पर ही व्यक्ति, समाज और राष्ट्र तीनों ही की प्रगति एवं समुन्नति निर्भर करती है । इस तथ्य की जितनी उपेक्षा होगी वह समाज एवं देश उतना ही पिछड़ जायेगा ।

व्यक्ति, समाज और राष्ट्र तीनों ही की प्रगति में ईमानदारी कितनी अधिक लाभकारी हो सकती है, इसे एक छोटे से देश जापान में देखा जा सकता है । ११ करोड़ की जनसंख्या तथा १,४३,५७४ वर्गमील के क्षेत्रफल वाले इस देश को द्वितीय विश्वयुद्ध ने बर्बाद कर दिया था । देश की आर्थिक व्यवस्था चरमरा-सी गई थी, पर अपने कठोर पुरुषार्थ द्वारा मात्र तीन दशकों में ही जापान विश्व के मूर्धन्य सम्पन्न राष्ट्रों में जा खड़ा हुआ है । विश्व बाजार में दिनोंदिन जापान की साख देशवासियों की श्रमनिष्ठा एवं प्रामाणिकता के कारण बढ़ती ही जा रही है । अन्तर्राष्ट्रीय साझा बाजार में सर्वाधिक माँग एवं खपत जापान की विनिर्मित वस्तुओं की है । यह ख्याति उसे यों ही नहीं मिली वरन् उसने इसके लिए पूरी-पूरी कीमत चुकाई है । विश्व के मूर्धन्य व्यावसायिक राष्ट्रों के विशेषज्ञों ने जापान की व्यापारिक एवं आर्थिक सफलता का रहस्योद्घाटन करने पर एक ही तथ्य पाया कि उनकी श्रमनिष्ठा एवं ईमानदारी ही बढ़ती हुई लोकप्रियता का प्रमुख कारण है ।

दूसरे महायुद्ध के बाद लड़खड़ाई औद्योगिक स्थिति को पुनः स्थापित करने के लिए वहाँ के व्यापारियों एवं उद्योगपतियों ने विश्वभर के पेटेण्ट्स तथा टेक्नालॉजियों को छान मारा । लक्ष्य था-कम से कम कीमत पर बढ़िया से बढ़िया स्तर की टिकाऊ वस्तुएँ किस तरह विनिर्मित की जा सकती हैं ? जापानवासी हर नई सर्वोत्तम तकनीकी को सीखने, जानने के लिए सदा उत्सुक एवं तत्पर रहते हैं । उनके क्रियान्वयन के लिए वे कठोर श्रम करते हैं । व्यक्तियों की उन्नति समाज की सामूहिक उन्नति पर निर्भर है, हर व्यक्ति का यह सुदृढ़ विश्वास है । मूर्धन्य व्यवसाइयों एवं उद्योगपतियों की नीति अपने देश की भाँति यह नहीं रहती कि शेयर होल्डरों को कितना अधिक लाभांश दिया जा सकता है । अपितु यह रहती है कि लम्बे समय तक बाजार में तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपनी व्यावसायिक प्रतिष्ठा कैसे कायम रखी जा सकती है । इसके लिए वे वस्तुओं का स्तर बढ़ाने, सुन्दर एवं टिकाऊ बनाने के लिए हर सम्भव प्रयास करते हैं । लाभांश कम से कम लेने से वस्तुओं की माँग विश्व-बाजार में अधिक होगी यह ध्यान रखते हुए ही उनके मूल्य का निर्धारण किया जाता है । विनिर्मित वस्तुओं का 'क्वालिटी कन्ट्रोल' जापान का प्रमुख लक्ष्य है । हर कर्मचारी, हर मजदूर अपना नैतिक कर्त्तव्य मानता है और उसके लिए तन-मन से प्रयत्नशील रहता है ।

अपनी तकनीकी विशेषताओं के लिए कभी अमेरिका, फ्रांस, इंग्लैण्ड, जर्मनी जैसे देश विश्वविख्यात थे । वे अधिक से अधिक वस्तुओं का निर्यात भी करते थे । अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में इन्हीं का पहले बोलबाला था, किन्तु जापान ने इन सभी औद्योगिक राष्ट्रों को अब पीछे धकेल दिया है । स्वस्थ व्यावसायिक प्रतिस्पर्धा में वह सबसे आगे निकल गया है । स्थिति यहाँ तक जा पहुँची है कि उपरोक्त देशों में विनिर्मित वस्तुओं की माँग एवं निर्यात कम हो जाने से उनकी आर्थिक व्यवस्था लड़खड़ा गई है । अमेरिका एवं ब्रिटेन जैसे औद्योगिक देशों में भी जापान में बनी वस्तुओं की माँग निरन्तर बढ़ती जा रही है । एक आँकड़े के अनुसार अकेले अमेरिका में प्रतिदिन छह

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

हजार जापानी मोटरगाड़ियों का आयात होता है । अमेरिकी कार बाजार में २३ प्रतिशत का साझीदार है । बेल्जियम के एक तिहाई बाजार पर जापान ने कब्जा कर रखा है । 'ग्रेट ब्रिटेन' तथा स्वीडेन की हर छह गाड़ियों में से एक जापानी है । टोयोटा, माजदा, होंडा जैसी मोटरगाड़ियों की माँग जापान से विश्व भर में बढ़ती जा रही है ।

अन्य छोटी-छोटी जापान की बनी वस्तुएँ सर्वोत्तम एवं सर्वाधिक प्रामाणिक मानी जा रही हैं । टेलीविजन, कैमरा, मोटर पार्ट्स, मशीनें, घड़ियाँ तथा इलैक्ट्रॉनिक्स के सामान निर्यात करने में जापान अग्रणी है । विश्व का कोई भी देश ऐसा नहीं है जो स्तर की दृष्टि से जापान का मुकाबला कर सके । कम कीमत और ऊँचे स्तर के कारण ही यूरोपीय आर्थिक समुदाय के द्वारा जापान प्रतिदिन सात लाख टेलीविजन सैट बेचता है । प्रतिवर्ष अकेले पश्चिम जर्मनी लगभग १५ लाख टेलीविजन सैट जापान से आयात करता है । उल्लेखनीय है कि कभी पश्चिम जर्मनी इन वस्तुओं से निर्यात के लिए विश्वविख्यात था । यूरोपीय साझा बाजार के पर्यवेक्षण से प्राप्त एक रिपोर्ट के अनुसार यूरोप के देश ६० प्रतिशत मशीनें जापान से खरीदते हैं । वर्ष १९८० में यूरोप में जापानी मोटरगाड़ियों की माँग कुल खपत की ५ प्रतिशत थी, अब वह २५ प्रतिशत जा पहुँची है । कई यूरोपीय देशों ने तो अपनी औद्योगिक स्थिति सन्तुलित बनाये रखने के लिए उच्च जापानी सामानों के आयात पर कड़ा प्रतिबन्ध लगाना आरम्भ कर दिया है । व्यावसायिक प्रतिस्पर्धा में भाग लेने वाले कितने ही पश्चिमी व्यापारियों ने जापान की बढ़ती ख्याति को देखकर उसे 'जायन्ट कार्टेल' कहकर पुकारना आरम्भ कर दिया है । इस वाक्य का अर्थ है कि समूचे विश्व के उद्योग तन्त्र पर जापान हावी होता जा रहा है तथा उससे प्रतियोगिता करना असम्भव है ।

यूरोपीय आर्थिक समुदाय जापान की बढ़ती लोकप्रियता से चिन्तित हो उठा है । कारण यह है कि जापान स्वयं तो वस्तुओं का दूसरा देशों से कम से कम आयात करता है, पर अपनी वस्तुओं का अधिक से अधिक निर्यात विकसित, औद्योगिक देशों को भी करने लगा है, जिनकी कीमत तो कम होती ही है, उनका स्तर भी अधिक उत्तम होता है अपेक्षाकृत उन देशों में बनने वाली वस्तुओं के । इस तरह इन देशों द्वारा उत्पादित सामानों की तुलना में वे ही वस्तुएँ आयातित जापानी सामानों की गुणवत्ता एवं कम कीमत के कारण अधिक लोकप्रिय बन रही हैं ।

अपने कठोर श्रम और बेमिसाल ईमानदारी के कारण जापान ने मात्र तीन दशकों से कुछ ही अधिक वर्षों में ही आसाधारण भौतिक प्रगति की है । सामूहिक प्रगति में, देश की उन्नति में अपनी भी उन्नति सन्निहित है । जापानवासियों ने इस तथ्य को भली-भाँति समझा और उसके लिए प्रयत्न किया है । काम के प्रति अटूट निष्ठा और ईमानदारी का अवलम्बन ही समाज एवं देश की प्रगति का स्थाई आधार है, इस सत्य को जापानवासियों ने पूरी तरह साकार कर दिखाया है, परिणाम सामने है । हर व्यक्ति की व्यक्तिगत आय भी बढ़ी है । द्वितीय महायुद्ध के बाद जापान के लिए भोजन एवं वस्त्र की व्यवस्था जुटा पाना भी कठिन पड़ रहा था । आज प्रतिव्यक्ति वार्षिक आय ५ हजार डालर है । समृद्धि के साथ-साथ अपनी प्रामाणिकता के कारण जापान ने असाधारण ख्याति अर्जित की है ।

देश ही नहीं विश्व के मूर्धन्य समृद्ध व्यक्ति भी अपनी ईमानदारी के कारण ही आगे बढ़े हैं । टाटा, बाटा, फोर्ड, राकफेलर जैसे विश्व के विख्यात उद्योगपतियों ने प्रामाणिकता एवं श्रमशीलता को अपना अभिन्न सहचर बनाया और क्रमशः भौतिक क्षेत्र में आगे बढ़े । आज भी भौतिक सफलता के ये सिद्धान्त शाश्वत् हैं । प्रगति का मार्ग हर किसी के लिए खुला पड़ा है बशर्ते कि वह कीमत चुकाने के लिए तैयार हो ।

बेईमानी के शार्टकट द्वारा सम्पन्न बनने की अदूरदर्शिता हर दृष्टि से हानिकारक है । ऐसे व्यक्ति नीति-अनीति का भी ध्यान नहीं रखते । एक बार में ही अधिक कमाने की ललक उनसे कितने ही ऐसे कृत्य करा देती है, जिन्हें अपराध की श्रेणी में रखा जा सकता है । मिलावट के धन्धे के कारण कितने ही निरपराधों को जीवन तक से हाथ धोना पड़ता है । अन्ततः लाभ उनका भी नहीं होता । अप्रामाणिकता की पोल खुलते ही हर व्यक्ति उनसे घृणा करता है और एक न एक दिन व्यवसाय ठप्प पड़ जाता है । यही बात अधिक कीमत लेने वाले वस्तुओं के निर्माण का स्तर गिराने वाले के साथ लागू होती है । भौतिक क्षेत्र में स्थाई रूप से वे ही आगे बढ़ते हैं जो प्रामाणिक तथा ईमानदार हैं, श्रमशीलता जिनका आदर्श है । अपने देश के भौतिक क्षेत्र में पिछड़ेपन का कारण भी यही है कि श्रम की अवमानना तथा प्रामाणिकता का अभाव । दुकानदार, कर्मचारी, व्यवसायी, उद्योगपति भी अपने सामाजिक दायित्वों का निर्वाह ठीक प्रकार करने लगें तो कोई कारण नहीं है कि देश की समृद्धि न बढ़े । व्यक्ति की भौतिक प्रगति भी इस लक्ष्य की पूर्ति पर ही निर्भर करती है ।

नीति-सदाचार की घटनाओं को भी प्रकाश में लाया जाय

चोरी, डकैती, हत्या, बलात्कार और ठगी की घटनाएँ समाचार पत्रों में इतनी बड़ी संख्या में छपती हैं कि इस समय जो कुछ भी हो रहा है, जहाँ-तहाँ जो भी घट रहा है, वह गर्हित ही गर्हित है । समाज में बुराइयों के अलावा कहीं भी कुछ ऐसा नहीं दिखाई देता, जिसे शुभ और उज्ज्वल कहा जा सके, जिस पर गर्व और गौरव किया जा सके । किसी भी दिन का समाचार पत्र उठा कर देख लीजिए, इस तरह के समाचार होंगे या राजनीति की उठा-पटक बयानबाजी का विश्लेषण । इन समाचारों, विवरणों और विश्लेषणों को पढ़कर मन में यही प्रतिक्रिया होती है

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

कि सर्वत्र अन्धेरा ही अन्धेरा छाया हुआ है । प्रश्न उठता है कि क्या सचमुच दुनिया में लूटमार, चोरी-डकैती, ठगी और जाल-साजी के अलावा कहीं कुछ भी ऐसा नहीं घटता जिसे शुभ कहा जा सके ।

लोग अक्सर शिकायत करते हैं कि जमाना बड़ा खराब आ गया है । इतना खराब समय है कि किसी का विश्वास नहीं किया जा सकता । जो लोग प्रतिदिन समाचार पत्र पढ़ते हैं, उनकी दृष्टि से निम्न प्रकार के शीर्षक अक्सर गुजरते होंगे-निराश प्रेमी ने अपनी प्रेमिका को छुरा भोंक दिया और खुद भी आत्महत्या कर ली पत्नी ने प्रेमी से मिलकर पति को जहर दे दिया अथवा गुण्डों से मरवा दिया । पति ने पत्नी की हत्या कर दी या नाक काट ली क्योंकि उसे पत्नी के चरित्र पर सन्देह हो गया था । डाकुओं के एक दल ने गाँव पर हमला कर दिया और १६ व्यक्तियों को जिनमें स्त्रियाँ तथा बच्चे भी थे गोली से उड़ा दिया । इसके बाद सभी लूटमार कर चलते बने । अमुक व्यक्ति ने अपनी संस्था के अधिकारियों के जाली हस्ताक्षर बना कर इतने हजार रुपये बैंक से निकलवा लिये ।

अब तो ऐसी पत्रिकाएँ भी बड़ी संख्या में छपने लगी हैं, जिनमें हर तरह के अपराधों और अपराधियों के चरित्र व जीवन विवरण को बहुत ही चटखारे लेकर छापा जाता है । इस तरह के प्रकाशित होने वाले मासिक तथा पाक्षिक पत्रों की संख्या करीब १००० बताई गई है । इनमें से कई की प्रसार संख्या ४०-५० हजार से लेकर २-३ लाख तक है । एक प्रसिद्ध पत्रकार ने प्रकाशन नीति के इस परिवर्तन की ओर इंगित करते हुए लिखा था पिछले कुछ महीनों में अधिकांश मासिक पत्रिकाओं की दृष्टि ने जो करवट बदली है, वह चिन्ताजनक है । इन पत्रिकाओं से प्रकाशित कहानियों और अन्य सामग्री का चयन प्राय: विदेशी पत्र-पत्रिकाओं के आधार पर किया जाता है । उनका भारतीयकरण किया जाता है और यह सत्य बताने की कोशिश की जाती है कि ये सारी घटनाएँ सत्य हैं । इन कहानियों का नायक आमतौर पर कोई अपराधी होता है और अपराध कथाओं को रोमांचक बनाकर वीरता की शक्ल दी जाती है ।

हो सकता है इस तरह की कहानियाँ किन्हीं सच्ची घटनाओं के आधार पर ही लिखी जाती हों, लेकिन प्रश्न यह है कि क्या अब प्रकाशित करने के लिए इसी तरह की सामग्री बची है । इसके अतिरिक्त सचमुच कहीं कुछ ऐसा नहीं घटता जो अनुकरणीय और अभिनन्दनीय है । क्या भारतीय दर्शन और अध्यात्म हमारे सामाजिक जीवन को रत्ती भर प्रभावित करने में असमर्थ हो गया है ? इन दिनों निश्चित ही ऐसा बहुत कुछ घट रहा है जिसे अनुचित, अवांछनीय और अपराधपूर्ण कहा जाय, समाज पूरी तरह तमसाच्छादित नहीं हो गया है । जीवन में अन्धेरा है तो उजाला भी कम नहीं है । बहुत कुछ अशुभ अवांछनीय घट रहा है तो ऐसी घटनाएँ भी कम नहीं हैं जिन पर गर्व और गौरव किया जा सके तथा यह कहा जा सके कि मनुष्य जीवित है, धरती पर धर्म और नैतिकता, सहायता तथा मानवता जीवित है ।

फिर इस पक्ष को सामने क्यों नहीं लाया जाता ? जीवन और जगत में अन्धकार तथा आलोक दोनों ही अस्तित्व विद्यमान हैं तो क्या कारण है कि आलोक को उपेक्षित छोड़ दिया जाता है तथा अन्धकार को इतना महत्त्व दिया जाता है । इसका एक कारण तो समझ में आता है कि जो स्वाभाविक होता है, उसकी प्राय: उपेक्षा ही होती है । कोई कुत्ता आदमी को काट ले तो ये कोई खबर नहीं बनती किन्तु कोई आदमी कुत्ते को अपने से काटने लगे तो खबर बन जाती है । कहीं कोई मानवीय सम्वेदना को स्पर्श करने वाली घटना घटती है, तो उसे अधिक से अधिक पाँच-सात लाइन में छापकर इतिश्री मान ली जाती है जबकि अपराध घटनाओं को लम्बे-चौड़े विवरणों के साथ प्रकाशित किया जाता है । यह नीति आलोक और अन्धकार में असन्तुलन उत्पन्न करती है, परिणामस्वरूप दुनिया उससे भी ज्यादा बुरी दिखाई देने लगती है जितनी कि वह है और अच्छाई उससे भी कम अनुभव होती है, जितना कि उसका अस्तित्व है ।

आवश्यकता इस बात की है कि इस असन्तुलन को सन्तुलन में बदला जाय और अपराधों का जितना लम्बा-चौड़ा विवरण छापा जाता है, उतना ही विस्तृत विवरण मानवीय आदर्शों को प्रेरणा तथा प्रोत्साहन देने वाली घटनाओं को भी प्रकाशित किया जाए । एक बार यदि अन्धेरे पक्ष की उपेक्षा भी कर दी जाए तो कोई विशेष हानि नहीं होगी । जबकि आलोक पक्ष की उपेक्षा करने से बड़ी भारी क्षति हो रही है । कहा जाय कि इस अति से लोग मनुष्यता के प्रति अपनी आस्था टूटी-सी अनुभव करने लगे हैं तो भी यह अत्युक्तिपूर्ण नहीं होना चाहिए ।

जीवन के इस उज्ज्वल पक्ष को सामने लाने का सिलसिला यदि चल पड़े तो सचमुच ही अनेकों असंख्यों व्यक्तियों को वह आलोकपूर्ण पथ अपनाने की प्रेरणा मिलेगी । यह नहीं भूलना चाहिए कि आलोक अन्धकार को दूर करता है और जीवन को जीने योग्य बनाता है । सुबह की रोशनी में रात की कालिमा धुल जाती है । जीवन का उज्ज्वल पक्ष यदि सामने आने लगे तो मनुष्यता के प्रति आस्था को नया जीवन और नया प्राण मिलता है । फिर यह दुनिया उतनी बुरी नहीं दिखाई देती और उसमें रस बना रहता है । प्रकाश की सुनहरी किरणें किसे अच्छी नहीं लगतीं, वसन्त की बयार किसे स्फूर्त नहीं करती ।

जीवन के उज्ज्वल पक्ष को सामने लाने की आवश्यकता समझ लेने के बाद प्रश्न यह उठता है कि इसके लिए किया क्या जाए ? प्रेस और प्रकाशन तो स्वतन्त्र हैं । सबकी अपनी-अपनी नीतियाँ हैं और वे इन नीतियों के अनुसार ही संचालित हैं । इसलिए उन्हें बदलना तो अपने हाथ की बात नहीं, किन्तु पाठक उन पर दबाव तो डाल ही सकते हैं । प्रत्येक जागरूक और विचारशील व्यक्ति को

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

चाहिए कि वे अपने क्षेत्र में प्रचलित समाचार पत्रों के सम्पादकों से प्रेरणा और प्रकाश प्रदान करने वाली घटनाएँ प्रकाशित करने का अनुरोध करें । एकाध दो व्यक्ति इस तरह का अनुरोध करें तो इसे टाला भी जा सकता है, जब बड़ी संख्या में पाठक इस तरह का अनुरोध करेंगे तो सम्पादकों के लिए इसकी उपेक्षा कर पाना लगभग असम्भव ही होगा । आखिर सम्पादक इसी बहाने से तो इस तरह की घटनाओं को महत्त्व देते हैं कि पाठक यही माँगता है । पाठक जब इसके विपरीत अनुरोध करेंगे तो सम्पादकों के भीतर विद्यमान नैतिक चेतना अनुकूल स्थिति उत्पन्न करेगी ।

जो पत्रिकाएँ केवल अपराध कथाओं पर ही जिन्दा हैं, उनको पढ़ने मँगाना या अपने परिवार के किसी सदस्य के हाथ में जाने देना एकदम रोका जाना चाहिए । उनसे भी अनुरोध किया जा सकता है कि वे अपराध कथाओं के स्थान पर आदर्शवादी, चरित्र निर्माण की प्रेरक कथाएँ प्रकाशित किया करें । उससे किसी की ग्राहक संख्या घटेगी नहीं । प्रमाण के तौर पर अपने मिशन की पत्रिकाओं का उदाहरण दिया जा सकता है ।

आदर्शवादी प्रेरणाएँ प्रदान करने वाली घटनाओं को सामने लाने के लिए सहकारी आधार पर स्थानीय प्रकाशन योजनाएँ भी बनाई जा सकती हैं । प्रस्तुतीकरण ठीक बन पड़े तो उनकी सफलता में जरा भी सन्देह नहीं है, फिर और लोग भी उसका अनुकरण कर सकते हैं । इस प्रकार जीवन का उज्ज्वल पक्ष सामने लाने के लिए कई प्रयास किये जा सकते हैं । ये आवश्यक भी हैं, क्योंकि जीवन का उज्ज्वल पक्ष मन को स्फूर्ति देता है और हृदय में उर्मियाँ उत्पन्न करता है । वह अन्तःकरण की मन्द ध्वनि को मुखर करता है । आवश्यकता केवल इसी बात की है कि इसके महत्त्व को समझा जाए और उस आलोक को प्रस्तुत किया जाय जिसमें अन्धकार को निगलने की अखण्ड शक्ति भरी हुई है ।

लोकरंजन को सत्प्रवृत्ति सम्वर्द्धन में नियोजित किया जाय

जर्मनी में शासन-सत्ता की बागडोर सँभालते ही हिटलर ने शिक्षाशास्त्रियों, राजनेताओं, विचारकों तथा मनोवैज्ञानिकों का एक सम्मेलन बुलाया । लक्ष्य था-देश को एक निश्चित तरह की विचारधारा में रँगने के लिए कौन-सा माध्यम प्रभावशाली हो सकता है ? इस विषय में परामर्श लेना । घण्टों विचार-विमर्श होता रहा । अन्ततः सभी निष्कर्ष पर पहुँचे कि कम समय में जनमानस में एक विशेष प्रकार की विचारधारा भरने के लिए सबसे सशक्त और सफल मनोवैज्ञानिक माध्यम वह हो सकता है जो दृश्य घटनाक्रमों पर आधारित हो । तब तक विश्व रंगमंच पर सिनेमा लोकरंजन के लिए एक लोकप्रिय तन्त्र के रूप में आ चुका था और दिन-प्रतिदिन उसके प्रति लोगों का आकर्षण बढ़ता ही जा रहा था । हिटलर को ऐसा लगा जैसे जिस बात के लिये वह चिन्तित था, उसका समाधान मिल गया हो । उसने सिनेमा के राष्ट्रीयकरण के लिए तुरन्त आदेश दे दिया । देश के निर्माण की उसकी जैसी परिकल्पना थी, क्रियान्वयन के लिए उसने सिनेमातन्त्र का भरपूर उपयोग किया । दृश्य, श्रव्य सभी माध्यमों से पूरे जर्मनी में नाजीवाद की उपयोगिता सिद्ध करने के लिए सर्वत्र प्रयास चल पड़े । जिस कार्य में उसे कई दशक लग सकते थे, वह कुछ वर्षों में पूरा हो गया । ऐसा मनोवैज्ञानिक वातावरण बनकर तैयार हुआ कि जर्मनी का बच्चा-बच्चा नाजीवाद के रँग में रंग गया । हिटलर ने जैसा चाहा कुछ ही समय में देश को वैसा बनाने में सफल हो गया ।

विश्व में पहली बार यह अनुभव किया गया कि लोकरंजन के सीमित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रयुक्त होने वाला यही साधन इतना समर्थ और नवनिर्माण की भूमिका सम्पन्न कर सकने में सफल हो गया तब से लेकर अब तक विभिन्न देशों ने दृश्य माध्यमों एवं सिनेमा तंत्र का उपयोग समय-समय पर विभिन्न प्रयोजनों के लिए किया है । कम्युनिस्ट देश ब्रेनवाशिंग हेतु-कम्युनिज्म के विचारों में राष्ट्र को रँगने के लिए अनेकों प्रकार के प्रयास इस तन्त्र के माध्यम से करते हैं और पूँजीवादी देश पूँजीवाद की सार्थकता सिद्ध करने के लिए तद्नुरूप वातावरण बनाने का प्रयत्न करते हैं । अनेकों देशों में शिक्षा को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए टेलीविजन, सिनेमा आदि का प्रयोग होने लगा है । रूस ने तो अपने देश से अशिक्षा का निवारण ही इसी के द्वारा किया ।

भारत ही एक ऐसा देश है, जहाँ सिनेमा मात्र लोकरंजन का साधन बनकर रहा है । लोकरंजन भी ऐसा जिससे कोई प्रेरणा, कोई दिशा नहीं मिल पाती है । उल्टे सिनेमा से दुष्प्रवृत्तियों को बढ़ावा अधिक मिला है । इस सत्य से कोई भी विचारशील इन्कार नहीं कर सका कि देश के किशारों, युवा पीढ़ी को दिग्भ्रान्त करने में सिनेमा ने अहम् भूमिका निभाई है । मूर्धन्य विभूतियाँ इस क्षेत्र में काम कर रही हैं । विद्वानों, कलाकारों की एक फौज सिनेमा निर्माण के कार्यों में संलग्न है । चाहती तो देश के नवनिर्माण में भी भारी सहयोग दे सकती थी, पर संकीर्ण स्वार्थों में लिप्त होने के कारण देश को उस योगदान से वंचित रहना पड़ रहा है ।

अनुमानतः पूरे देश में १० हजार सिनेमाघर हैं तथा प्रतिदिन लगभग एक करोड़ व्यक्ति सिनेमा देखते हैं । भारत में सिनेमा की लोकप्रियता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि विश्व का एक गरीब राष्ट्र होते हुए सर्वाधिक फिल्में यहाँ बनती हैं । कभी यह श्रेय जापान और अमेरिका को प्राप्त था, पर वे भी इस दिशा में भारत से पीछे रह गये हैं, जबकि उनकी आर्थिक स्थिति अपने देश की तुलना में कई गुनी अच्छी है । उनके समक्ष रोटी

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

जैसी उदर पोषण के अनिवार्य साधनों की कमी नहीं है । अपने यहाँ ५० प्रतिशत व्यक्तियों को एक समय ही भोजन उपलब्ध हो पाता है । अमेरिका में प्रतिव्यक्ति औसत वार्षिक आय सात हजार आठ सौ नब्बे डालर है तथा जापान में पाँच हजार डालर है, इसकी तुलना भारत में प्रति व्यक्ति औसत वार्षिक आय मात्र १२,०० रुपये (लगभग १३० डालर) है, जिससे पेट भरना भी मुश्किल पड़ता है । ऐसी स्थिति में विरोधाभास यह कि अपना देश फिल्मों के निर्माण में सबसे आगे है ।

अपने यहाँ १९ प्रमुख भाषाओं में फिल्में बनती हैं–हिन्दी, अँग्रेजी, बंगला, भोजपुरी, गुजराती, पंजाबी, मराठी, नेपाली, उड़िया, सिन्धी, तमिल, मलयालम, कोंकणी, डोंगरी, मणिपुरी, तेलुगु, असमिया तथा कन्नड़ । ६० हजार व्यक्ति सिनेमा उद्योग में लगे हैं । १९५० के बाद फिल्म निर्माण की दिशा में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है । सन् १९५० से लेकर १९७९ के विभिन्न वर्षों में बनने वाली फिल्मों की संख्या इस प्रकार थी–१९५१ में २१९, १९५६–२९५, १९६१ में ३०३, १९६६ में ३१६, १९७१ में ४३३, १९७६ में ५०७, १९७७ में ५५७, १९७८ में ६१९ तथा १९७९ में ७१४ (अर्थात् प्रतिदिन २) भारत के उपरोक्त आँकड़ों के अनुसार यह स्पष्ट हो जाता है कि फिल्म निर्माण की दिशा में हर वर्ष वृद्धि हो रही है । ये फिल्में १९ भाषाओं में विनिर्मित तथा पूरे देश में प्रदर्शित होती हैं ।

अधिक परिमाण में फिल्में बनना सार्थक तब सिद्ध होता है, जब वे नवसृजन की प्रेरणाएँ उभारतीं–देश के समक्ष प्रस्तुत अनेकानेक सामाजिक, आर्थिक, पारिवारिक समस्याओं के समाधान में सहयोग देतीं । पर इस दृष्टि से देखने पर निराशा ही हाथ लगती है । मूर्धन्य विशेषज्ञों का मत है कि इतनी दिशाविहीन–निरुद्देश्य फिल्में किसी भी देश में नहीं बनतीं, जितनी कि भारत में । ऐसा अनुमान है कि भारत में बने चलचित्रों में से ९५ प्रतिशत ऐसे होते हैं जिनसे दर्शकों को कोई सृजनात्मक प्रेरणा नहीं मिलती । इनमें से अधिकांश मानवीय कुत्साओं को भड़काते–दुष्प्रवृत्तियों को उभारते हैं । दर्शकों में से बहुतायत ऐसों की होती है, जिनमें मौलिक चिन्तन का अभाव होता है । इनमें भी अपरिपक्व मस्तिष्क वाले किशोरों तथा युवा पीढ़ी की संख्या अधिक होती है । जिनमें जोश तो होता है, पर होश नहीं । अपना भला–बुरा सोचने तथा उपयोगी, अनुपयोगी विचारों के बीच चुनाव की क्षमता न होने से अन्ततः भटकाव ही हाथ लगता है । मनुष्य की सहज प्रवृत्तियाँ निम्नगामी होती हैं । अभीष्ट प्रेरणा पाकर उन्हें पतन की ओर बढ़ने में सहयोग मिलता है । युवा मस्तिष्क अधिक संवेदनशील होता है । जैसी उसे प्रेरणा मिलती है, उसी ओर वह चल पड़ता और वैसी ही गतिविधियाँ अपनाने लगता है । युवा वर्ग में अपराध की प्रवृत्ति बढ़ रही है । नैतिकता का बुरी तरह अवमूल्यन हुआ है कहना न होगा कि सिनेमातंत्र ही इस अवमूल्यन के लिए सबसे अधिक दोषी है ।

नैतिक और चारित्रिक पतन का यह एक पक्ष हुआ, जिसके लिए सिनेमा सर्वाधिक जिम्मेदार है । हानि के अन्य पक्षों पर तो कम व्यक्तियों का ही ध्यान जा पाता है । मनीषियों ने समय को सर्वोपरि सम्पदा माना है । प्रतिदिन देश की एक करोड़ जनशक्ति सिनेमा देखती है । लगभग तीन घण्टे फिल्म देखने में लगते हैं । घर से आने-जाने में भी एक घण्टे से कम समय नहीं लगता है । इस तरह एक फिल्म देखने में चार घण्टे का समय आसानी से खर्च हो जाता है अर्थात् ८ घण्टे श्रम दिन के हिसाब से आधा दिन । एक-बार सिनेमा जाने में एक व्यक्ति अपना आधा श्रम दिन बेकार गँवाता है । एक करोड़ व्यक्ति प्रतिदिन के हिसाब में लगभग ४ घण्टे प्रतिदिन (श्रम के घण्टे) अर्थात् ५० लाख श्रम दिनों की बर्बादी होती है ।

सिनेमा देखने वालों में से हर स्तर के व्यक्ति होते हैं–अच्छे पदों पर काम करने वाले भी तथा छोटे-बड़े कर्मचारी, मजदूर और विद्यार्थी भी । योग्यता के अनुरूप किसी के समय की कीमत अधिक हो सकती है और किसी की कम भी । औसतन एक व्यक्ति की दैनिक मजदूरी २० रुपये भी मानी जाय तो प्रतिदिन सिनेमा देखने में गँवाये गये ५० लाख श्रम दिनों की कीमत १० करोड़ रुपये होती है । न्यूनतम सिनेमा देखने का खर्च प्रति व्यक्ति तीन रुपये भी माना जाय तो एक करोड़ व्यक्तियों का प्रतिदिन तीन करोड़ रुपया और भी जुड़ जाता है अर्थात् प्रतिदिन नकद पैसों तथा समय की क्षति जोड़ने पर १३ करोड़ रुपये होते हैं । इस तरह एक करोड़ व्यक्तियों के सिनेमा देखने से लगभग १३ करोड़ रुपये प्रतिदिन व्यर्थ जाते हैं । एक माह में यह खर्च तीन अरब ९० करोड़ तथा एक वर्ष में लगभग ४६ अरब ८० करोड़ रुपये आता है । प्राप्त आँकड़ों के अनुसार सिनेमा उद्योग से वर्ष १९७५ में २ अरब २५ करोड़ की आमदनी हुई । प्रचलित मान्यता के अनुसार आमदनी को नकद पैसे के रूप में लाभ कहते हैं पर अर्थशास्त्रियों का मत है कि पैसे और समय की बचत कर लेना भी लाभ के अन्तर्गत आता है । सिनेमातंत्र से जितनी आमदनी होती है, उसकी तुलना में समाज की हुई बर्बादी का औसत कई गुना अधिक है । उस बर्बादी को रोक लिया जाय तो आमदनी का नया स्रोत धन की बचत और समय के सदुपयोग द्वारा निकल सकता है ।

सिनेमा इस युग में एक नये जादू की तरह आया है । उसने कोमल भावना वाले उदीयमान नवयुवकों को अपने सम्मोहन पाश में कसकर जकड़ा है । यह सस्ता मनोरंजन जन-साधारण को अच्छा लगा है और एक प्रकार से सर्वत्र उसका स्वागत हुआ है । संगीत सम्मेलन, कवि-सम्मेलन, अभिनय, नृत्य, नाटक आदि के क्षेत्र सिकुड़ते-सिकुड़ते मरणासन्न होते जा रहे हैं, सब की आत्मा धीरे-धीरे सिनेमा में समाती चली जा रही है । विज्ञान का यह जादू जन-मानस पर सीधा प्रभाव डाल रहा है और उसकी गहरी छाप पड़ रही है । कला की चर्चा करनी हो तो अब सिनेमा को प्रमुख स्थान देना पड़ेगा । नई पीढ़ी की

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

मनोभूमि कोमल तो होती ही है, जिस प्रकार उसे ढाले जाने का प्रयास किया जाता है, उसी ढाँचे में ढलती चली जाती है । सिनेमा आज यही कर रहा है । नेता की अपेक्षा अभिनेता बनने का आकर्षण नई पीढ़ी में प्रबल होता जा रहा है ।

स्पष्ट है कि सिनेमा यदि आदर्शवादी विचारणाओं और भावनाओं को ही चित्रित कर रहा होता तो स्वस्थ मनोरंजन के साथ लोकमंगल की आशाजनक सम्भावनाएँ प्रस्तुत कर सकता था । पर 'मरे के मारे शाह मदार' वाला दुर्भाग्य यहाँ भी आ विराजा । हजार वर्ष की पराधीन, पिछड़ी और पथभ्रष्ट कौम को स्वस्थ मार्गदर्शन देने की अपेक्षा सिनेमा उल्टी दिशा में ही घसीटने लग पड़ा । अपने फिल्मों में जो कथानक, अभिनय, गायन, नृत्य होते हैं उनमें प्रेरक प्रसंग तो यदाकदा ही दिखाई देंगे । अधिकतर कामुकता, अश्लीलता, उग्रता, उच्छृंखलता एवं पशु प्रवृत्ति को भड़काने वाले प्रसंग ही मिलेंगे । इन्हें रुचिपूर्वक देखने वाली जनता किधर चल रही है, इसे सहज ही परखा जा सकता है । सर्वसाधारण में विशेषतया नवयुवक, नवयुवतियों में जो चर्चा न करने योग्य दुष्प्रवृत्तियाँ आँधी-तूफान की तरह पनप रही हैं और जिनकी प्रतिक्रिया अगले दिनों प्रचुर मात्रा में घटित होने वाली हैं, अवांछनीय घटनाओं के रूप में सामने आ रही हैं, उसे हमारा एक दुर्भाग्य ही कहना चाहिए । रेडियो दिन भर सिनेमा के गीत गाता है, हम सब उन्हीं को गुनगुनाते हैं, लाउडस्पीकरों से यह सुनाई पड़ता है । सिनेमा संगीत ही वस्तुतः आज का युगगायन बन गया है ।

अतः सिनेमा माध्यम की उपेक्षा नहीं की जा सकती । उसने लोकरंजन के प्रधान माध्यम की स्थिति प्राप्त कर ली है । वह अति सशक्त 'मास-मीडिया' बन गया है । गरीब-अमीर, देहाती-शहरी, पढ़े, बिना पढ़े सभी उस मनोरंजन का लाभ लेना चाहते हैं ।

क्या उस माध्यम द्वारा लोकरुचि का परिष्कार हो रहा है । नहीं, वह कामुकता और शृंगार की दुष्प्रवृत्तियों को उद्दीप्त कर मनुष्य की पशु-प्रवृत्तियों को भड़का रहा है । मध्ययुगीन सामन्तवाद इसके लिए बदनाम रहा है, पर उन दिनों वह विकृति खुले रूप में अमीर-उमरावों, सत्ताधारियों के बीच ही प्रचलित और प्रतिष्ठित थी, अब वह इस प्रकार सीमित नहीं, सिनेमा उसे विशाल पैमाने पर फैला रहा है ।

सभी फिल्मों में और चाहे जो कुछ कथानक या अन्य नाम मात्र को रहे, किन्तु कामुकता भड़काने वाले अंश उनमें अनिवार्य रूप से जुड़े होंगे । इससे बाल-वृद्ध नर-नारी सभी प्रभावित होते हैं और वासना तथा विदूषता के शिकार होते हैं । उससे शारीरिक और मानसिक व्यभिचार की लहर उमड़ती है । इस असंयम का प्रभाव शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक सन्तुलन, नर-नारी के बीच शालीनता की दृष्टि, पारिवारिक निष्ठा, लोकमर्यादा आदि सभी पर अत्यन्त ही विघातक पड़ता है । कामुकता का उद्दीपन वस्तुतः नारी की उत्कृष्टता का वीभत्स तिरस्कार है । एकान्त मिलन के गुह्य कक्ष में जो हाव-भाव, सम्भाषण, गायन, अभिनय, क्रिया-कलाप पति-पत्नी तक सीमित रखे जाने चाहिए, खेद है कि वह गुप्त प्रकरण चौराहे पर दिखाये और सुनाये जाने का विषय बन गया है । जो प्रसंग, सम्वाद अपनी संस्कृति में गुह्य माने गये हैं और जिन्हें छोटे-बड़े के साथ बैठकर शालीनतापूर्वक नहीं देख सकते, अब वे निर्लज्ज अभिव्यंजना के लिए खुले छोड़ दिये हैं । बाप-बेटी, बहिन-भाई साथ-साथ उन्हें देखते हुए संकोच नहीं करते । यह संकोच व्यतिरेक न जाने पारिवारिक परिजनों के रिश्ते भी जीवित रहने देगा कि नहीं । मर्यादाएँ टूटी तो पशुता उभरी, पशुओं में बाप-बेटी, भाई-बहिन, माँ-बेटे के बीच प्रजनन का कोई बन्धन नहीं । मनुष्य ने शालीनता और मर्यादा की पवित्रता पर प्रतिबन्ध अपने ऊपर लागू करके पशुओं से ऊँची समाज बनाई है । यदि उसे इस तरह तोड़ा जाता रहा, जैसा कि आज का सिनेमा तोड़ रहा है, तो अगले दिनों उन मर्यादाओं का कुछ अस्तित्व बचा रहेगा या नहीं यह कहना कठिन है ।

लोकरंजन के इन माध्यमों का प्रवाह निम्नगामी होकर अगणित समस्याओं को जन्म दे सकता है । विगत दिनों एक ऐसा ही उदाहरण सामने आया, पेरिस का ओलम्पिया म्यूजिक हॉल श्रोताओं से खचाखच भरा था । संगीत का कार्यक्रम आरम्भ हुआ । मधुर स्वर लहरी के मादक प्रभाव से श्रोतागण झूमने लगे । अचानक एक विलक्षण घटना घटी । संगीत की ध्वनि बदली । म्यूजिक कार्यक्रम में उस धुन को बजाये जाने का वह पहला अवसर था । शान्तचित दर्शक जो संगीत प्रोग्राम को सुनने में तल्लीन थे, उस परिवर्तित धुन को सुनकर बेचैनी अनुभव करने लगे । उनकी उत्तेजना बढ़ती ही गई और अनियन्त्रण की स्थिति में जा पहुँची । पागलों की तरह श्रोता अपनी-अपनी कुर्सियों को छोड़कर एक-दूसरे से संघर्ष पर उतारू हो गये । हाल की कुर्सियाँ उन्होंने फाड़ एवं तोड़ डाली और खिड़कियों में लगे शीशों को चकनाचूर कर दिया । प्रोग्राम सुन रही महिलाएँ भी अपना मनःसन्तुलन खो बैठीं और उत्तेजना की स्थिति में स्वयं अपने वस्त्र फाड़ने-चीड़ने लगीं । निर्वस्त्र अवस्था में उनके चीखने-चिल्लाने से हॉल गूँज उठा । देखते ही देखते म्यूजिक हाल में अच्छा-खासा हंगामा खड़ा हो गया । आक्रामक आचरण के कारण श्रोताओं में से अधिकांश घायल हुए । संगीत आयोजकों को बिगड़ती हालत पर काबू पाने के लिए मदद के लिए पुलिस बुलानी पड़ी । तब कहीं जाकर स्थिति पर नियन्त्रण पाया जा सका । घायल व्यक्तियों को अस्पताल की शरण लेनी पड़ी ।

घटना के कारणों की खोजबीन आरम्भ हुई । संगीत आयोजकों के ऊपर घायलों के सगे-सम्बन्धियों ने हर्जाने के लिए मुकद्मा दायर किया, जाँच-पड़ताल के दौरान संगीत की धुन की परीक्षा की गयी तो मालूम हुआ कि सारी घटनाओं के लिए जिम्मेदार वह उत्तेजक धुन थी जो पहली बार प्रयोग के तौर पर बजायी गई थी । रॉक एण्ड

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

पॉप के सम्मिलित स्वरूप से बनी उस संगीत धुन को बजाने पर शासन द्वारा पाबन्दी लगा दी गयी ।

ध्वनि विज्ञान के विशेषज्ञों ने अपना निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए कहा कि मनुष्य के स्नायु संस्थान को असाधारण रूप से उत्तेजित करने में वह धुन समर्थ है, जिस पिच और फ्रिक्वेन्सी पर वह धुन तैयार की गयी है, वे मन एवं मस्तिष्क पर भारी दुष्प्रभाव डालते हैं । आक्रामक एवं कामुक मनोवृत्ति को भड़काने में वह विशेष रूप से सहायक है । इस घटना से वैज्ञानिकों को संगीत विद्या पर गहन शोध की प्रेरणा मिली । तालबद्ध, लयबद्ध अनेकानेक ध्वनियों एवं धुनों का प्रयोग-परीक्षण किया गया तो मालूम हुआ कि उनमें दोनों तरह की सामर्थ्य विद्यमान है । संगीत शारीरिक स्वास्थ्य और मनःविकास का श्रेष्ठ माध्यम बन सकता है और मानसिक असन्तुलन का कारण भी । ताल, लय के उतार-चढ़ाव फ्रिक्वेन्सी तथा धुन में परिवर्तन करके संगीत द्वारा रचनात्मक और ध्वंशात्मक दोनों ही तरह के प्रयोजन पूरे किये जा सकते हैं ।

संगीत आदिकाल से ही मनुष्य के साथ जुड़ा हुआ है तथा मानसिक तुष्टि का लक्ष्य अपने सुमधुर तरंगों द्वारा पूरा करता रहा है । दैनन्दिन अन्य आवश्यकताओं की भाँति आन्तरिक परितृप्ति में संगीत का असाधारण महत्त्व है । बाँसुरी, बीन, शहनाई, सितार की मादक धुन अनायास ही हर किसी को आकर्षित करती तथा उनके मन मस्तिष्क और हृदय को पुलकित, प्रमुदित करती है । पर्व, त्यौहारों संस्कारों से लेकर जीवन के हर खुशी एवं शोक के अवसर पर गायन एवं वादन की परम्परा है । यह स्वस्थ परम्परा मनुष्य की मानसिक शक्तियों के विकास में सहायक है ।

कहा जा चुका है कि लोकरंजन का यह सशक्त माध्यम रचनात्मक ध्वंसात्मक दोनों ही प्रयोजन पूरा कर सकता है । साहित्य, चित्रकला की भाँति संगीत जैसे तन्त्र का पिछले कुछ दशकों से भारी दुरुपयोग हो रहा है । पश्चिमी देशों का बढ़ता हुआ प्रभाव संगीत के उस स्वस्थ और सृजनात्मक स्वरूप को नष्ट कर रहा है जो मानवी विकास में विशेष रूप से सहायक सिद्ध हो सकता है । पश्चिमी देशों में कुत्सित भावना को भड़काने वाला संगीत अत्यन्त लोकप्रिय हुआ है जिसने युवा पीढ़ी को उच्छृंखल स्वेच्छाचारी बनाने में विशेष भूमिका निभायी है । दो दशक पूर्व अमेरिका में सर्वप्रथम विल हेले एण्ड कॉमेट्स नामक नृत्य संगीत की एक मण्डली तैयार हुई जिसने ऐसी संगीत की परम्परा आरम्भ की । दिगभ्रान्त युवकों, युवतियों ने उसे विशेष रूप से पसन्द किया । आविष्कारक हेले की ख्याति बढ़ी । वह रेडियो स्टेशन पर इलैक्ट्रिक गिटार तथा सैक्सोफोन नाम का वाद्य यन्त्र पर संगीत की शिक्षा देने लगा । नाम के अनुरूप सैक्सोफोन वाद्ययन्त्र की यह विशेषता है कि वह सैक्स भावना असाधारण रूप से बढ़ा देता है, क्रमशः इस उत्तेजक संगीत की लोकप्रियता बढ़ती ही गयी और कुछ ही समय में अमेरिका की गली-गली में उसकी धूम मच गई । पॉप-पॉप की तेज आवाज के कारण यह संगीत पॉप संगीत के नाम से विख्यात हुआ, जबकि इसका वास्तविक नाम है 'वैवापालु पॉप ।'

इस संगीत की बढ़ती हुई लोकप्रियता को देखकर ओहिया राज्य के एक संगीतज्ञ ने एक नयी तर्ज बनायी और उसका नाम दिया 'मून डॉग रक एण्ड रॉल' जिसमें युवा वर्ग अपनी सुध-बुध भुलाकर स्वच्छन्द आचरण एवं वीभत्स चेष्टाएँ करते हुए नृत्य करते थे । युवकों में बढ़ती उद्दण्डता, उच्छृंखलता तथा स्वेच्छाचार की प्रवृत्ति ने अमेरिका के विचारशील वर्ग का ध्यान आकर्षित किया, पर उनके अनेकों प्रकार के प्रयासों के बावजूद भी उन पर रोकथाम नहीं हो सकी । संगीत के माध्यम से स्वच्छन्दता वाद का जो स्वरूप एक बार प्रकट हुआ वह फूलता और फलता गया । उससे निकले विष बीज देश की सीमाओं को लाँघकर अन्य प्रगतिशील देशों में जा पहुँचे और जनमानस की प्रसुप्त हीनवृत्ति का खाद पाकर अंकुरित विकसित होने लगे । पश्चिमी देशों में शरीर और मन में उत्तेजना भरने वाले संगीत की इन दिनों धूम है । फिल्में तो इसके बिना सफलता नहीं प्राप्त करतीं ।

पिछले कुछ वर्षों में भारतीय सिनेमा निर्माताओं ने भी फिल्मों को सफलता एवं धनोपार्जन के लिए उस संगीत नृत्य एवं वादन का अन्धानुकरण आरम्भ कर दिया है, जो जनमानस की हीन वृत्तियों को जगाने और उत्तेजित करने की भूमिका निभाते हैं । एक रिपोर्ट के अनुसार विगत दो वर्षों में भारत में जितने सिनेमा बने उनमें से नब्बे प्रतिशत में किसी न किसी रूप में ऐसे संगीत एवं नृत्य का समावेश था । अब वह संगीत सिनेमा जनता तक ही सीमित नहीं रहा है । भारत के बड़े शहरों में कितने ही नाइट ब्लैक एसोशिएशन, बार खुल चुके हैं जिनकी रोजी-रोटी मात्र ऐसे उत्तेजक अश्लील गायन, वादन एवं नृत्यों के द्वारा चल रही है ।

अपने देश का संगीत नाद ब्रह्म की साधना का प्रयोजन पूरा करता रहा है । उसकी सुमधुर, सौम्य स्वर लहरी शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक विकास में आज भी सहायक हो सकती है, पर तब, जबकि संगीत का पावन स्वस्थ स्वरूप प्रचलन में रहे, मनोरंजन के नाम पर अश्लीलता को बढ़ाने वाले आधुनिक उत्तेजक, वीभत्स गायन, वादन और नृत्य की रोकथाम हो । इस दिशा में उन स्वर साधकों और कला के पुजारियों का भी सहयोग आवश्यक है, जो मात्र पैसे के लिए संगीत की शक्ति को अश्लीलता अभिवृद्धि में नियोजित कर रहे हैं, उनका भी कर्त्तव्य है कि अपनी कुचेष्टा को रोकें ।

'संगीत की प्रभावोत्पादक क्षमता सर्वविदित है । मनुष्य तो क्या पशु-पक्षी तक संगीत की सुमधुर ध्वनि पर थिरकने लगते हैं तथा उस प्रभाव से प्रकृतिप्रदत्त स्वभाव के विपरीत आचरण करते देखे जाते हैं । इतिहास की प्रख्यात घटना है कि मुगल शासक अकबर किसी कारण से तत्कालीन प्रसिद्ध लोककवि माघ से क्रुद्ध हो गया था । आवेश की

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

स्थिति में उसने सेनापति को आदेश दिया कि माघ को दूसरे दिन भरे दरबार के सामने मदमस्त हाथी से कुचल दिया जाय । सभासदों को राजा का निर्णय अनुचित जान पड़ा, पर विरोध कौन करता ? विरोध का अर्थ था, स्वयं के लिए आपत्ति मोल लेना, पर राजा के अनुचित निर्णय से एक बेगुनाह और देश का महान् कवि मारा जाय सभासदों को उचित न लगा । महामन्त्री सहित सभासदों की एक गुप्त सभा राजा की अनुपस्थिति में हुई । माघ के बचाव के लिए क्या किया जाना चाहिए, राज्य के मूर्धन्य सदस्यों ने विचार-विमर्श किया । लम्बी मंत्रणा के बाद आम सहमति इस बात पर हुई कि संगीत सम्राट तानसेन की मदद ली जाय । योजना गुप्त रखी गयी तथा यह निश्चय हुआ कि जिस समय क्रुद्ध हाथी माघ को मारने के लिए छूटे ठीक उसी समय तानसेन अपनी संगीत लहरी छेड़ें । निर्धारित समय पर दूसरे दिन हाथी हुँकार भरते माघ को मारने चला । इसी बीच विलक्षण घटना घटी । तबले के ध्रुपदताल की तरंगति ध्वनि लहरी ने हाथी को सम्मोहित कर दिया । बढ़ते हुए उसके कदम रुक गये । वह उसी स्थान पर शराबी की भाँति झूमने और नृत्य करने लगा । आये दर्शक भी मन्त्रमुग्ध बने इस अविश्वसनीय दृश्य को देख रहे थे, पर जब तक संगीत चलता रहा हाथी अपने स्थान से टस से मस नहीं हुआ । अकबर को पूरी बात मालूम हुई । साथ ही अपने गलत निर्णय का भान भी हुआ । संगीत की चमत्कारी शक्ति के कारण पागल हाथी से महान् कवि की रक्षा हुई ।

बैजू-बावरा के सम्बन्ध में प्रख्यात है कि जब वह रागिनियाँ छेड़ता था, तो तपती धूप में भी घने बादल आकाश में मँडराने लगते और वर्षा आरम्भ हो जाती थी । दीपकराग की उच्चस्तरीय सिद्ध के अभ्यास से बुझे हुए दीपकों को भी अपने आप जल उठना होता था । अब तो वे घटनाएँ मात्र किम्बदन्ती बनकर रह गयी हैं । ऐसे नादयोगी अब कहीं नहीं मिलते तो भी संगीत की शक्ति का अस्तित्व भले-बुरे रूपों में एक शक्ति के रूप में आज भी संसार में मौजूद है ।

अन्तःसम्वेदनाओं को उभारने में कला-साहित्य भाषण उद्बोधन की अपेक्षा संगीत कहीं अधिक समर्थ होता है । विचार अभिव्यक्ति के अन्य माध्यम विचार जगत् को प्रभावित कर पाते हैं, पर संगीत की पहुँच अन्तःकरण के मर्मस्थल तक है । समस्त कलात्मक विभूतियों में उसे सर्वश्रेष्ठ माना गया है । बीन की मधुर ध्वनि हर किसी को आकर्षित करती है । विषैले सर्प तक उस आवाज से मन्त्र-मुग्ध होकर दौड़ते हुए चले आते हैं । रणभेरी की आवाज सुनकर सैनिकों में ही नहीं सामान्य मनुष्यों में भी वीरता एवं साहस के भाव संचरित होने लगते हैं । शहनाई की भावुकता प्रख्यात है । विवाह जैसे पुनीत अवसर पर वाद्य यन्त्रों की तुलना में उसे अधिक महत्त्व दिया जाता है । संगीतशास्त्र के मर्मज्ञों का मत है कि शहनाई की मादक ध्वनि नये जीवन में प्रविष्ट करने वाले युगल की भावनाओं को तरंगित करती तथा जीवनपर्यन्त परस्पर एक अविच्छिन्न सूत्र में बँधे रहने के लिए सूक्ष्म प्रेरणा तथा प्रभाव छोड़ती है । स्वर के उतार-चढ़ाव, गति एवं क्रम को बदल देने से कितना आश्चर्यजनक परिवर्तन हो जाता है यह संगीत में देखा जा सकता है । शहनाई विवाह के सुअवसर पर बजायी जाती और मृत्यु जैसे शोकावसर पर भी, पर एक में नवजीवन का उत्साह-उमंग उमड़ता है, जबकि दूसरे में सभी शोकातुर हो उठते हैं । मृत्यु पर बजने वाली शहनाई कितनों को रुला देती है ।

संगीत न केवल विद्या है वरन् एक महाशक्ति है । मन-मस्तिष्क की परितृप्ति के अनेकानेक दृश्य-अदृश्य साधन हैं स्वाध्याय, दृश्यावलोकन आदि । पर सम्भावनाओं की तृप्ति संगीत के माध्यम से होती है । प्राचीनकाल में संगीत के बल पर प्राकृतिक शक्तियों को भी मनचाही दिशा में मोड़ा जा सकना सम्भव था । वह नाद ब्रह्म की साधना थी, उथले मनोरंजन का माध्यम नहीं । जब तक संगीत साधना का विषय रहा, तब तक न केवल उसका प्रभाव मनुष्य पर देखा गया वरन् पशुओं को मुग्ध करने, साँपों का शमन करने, पागल, जंगली हाथियों को वश में करने से लेकर फूल खिला देने, पत्थर पिघला देने जैसे असम्भव कार्य तक सम्पन्न कर सकना सम्भव था, पर कालान्तर में संगीत साधना न रहकर मात्र मनोरंजन का विषय भर बनकर रह गया तो भी उसकी प्रभावोत्पादक क्षमता कम नहीं हुई । उसका प्रत्यक्ष प्रभाव आज भी देखा और अनुभव किया जा सकता है । मधुर गीत और संगीत सुनकर लोग झूमने लगते हैं । अनचाहे भी अधिकांश व्यक्ति उस धारा में बहने लगते हैं, जो स्वर साधक ने बहा दी हो ।

सिनेमा आज संगीत के बलबूते ही इतनी अधिक लोकप्रियता प्राप्त कर रहा है । संगीत को यदि उसमें से निकाल दिया जाय तो उसकी लोकप्रियता दिन-प्रतिदिन घटती जायेगी । अब तो वैज्ञानिक भी स्वीकार करने लगे हैं कि संगीत न केवल भावना को तरंगित करता है, वरन् शारीरिक स्वास्थ्य पर भी उसका असाधारण प्रभाव पड़ता है । साउण्ड थेरेपी चिकित्सा जगत में नयी उपचार पद्धति के रूप में विकसित हो रही है । मनोरोगों में तो संगीत चिकित्सा रामबाण समझी जा रही है । कितने ही देशों में इस पर गहन अनुसन्धान चल रहे हैं ।

प्राचीनकाल में इन सूक्ष्म विशेषताओं के कारण ही संगीत कला को सर्वाधिक ख्याति मिली थी । दृष्टा-ऋषि उन सूक्ष्म प्रभावों से सुपरिचित थे, जहाँ आज के वैज्ञानिकों के निष्कर्ष पहुँच रहे हैं । यही कारण है कि हर महत्त्वपूर्ण पक्ष में संगीत का समावेश किया था । अपने यहाँ लगभग समस्त महत्त्वपूर्ण धार्मिक साहित्य काव्यमय हैं । वेदों की ऋचाएँ छन्दबद्ध हैं । सामवेद को तो संगीत विद्या का प्रणेता ग्रन्थ समझा जाता है । पुराण काव्यमय है । राम एवं कृष्ण के जीवन वृत्तान्त काव्यमय हैं । देवी-देवताओं की स्तुति में गाये जाने वाले स्तोत्र-स्तवन, भजन-कीर्तन

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

तथा आरतियाँ संगीतमय हैं । हिन्दू धार्मिक वाङ्मय का लगभग नब्बे प्रतिशत भाग काव्यमय है ।

संगीत के पतन एवं पराभव का युग मुगल काल से आरम्भ हुआ । देश में उनका आधिपत्य होते ही संगीत ने शृंगारपरक रूप धारण कर लिया और कुत्सा भड़काने का एक माध्यम बन गया । कहते हैं कि तत्कालीन हिन्दू राजाओं का अधःपतन उस समय से आरम्भ हुआ, जब वे शृंगारिकता में अत्यधिक रस लेने लगे । जनमानस भी आलसी, अकर्मण्य, निर्बल और अस्वस्थ बनता गया । फलतः वीरोचित पुरुषार्थ जाता रहा । जीवट के अभाव से पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ना पड़ा । समीक्षकों का मत है कि मुगलों के हाथों से भारत की सत्ता छीन लेने में अँग्रेज इसलिए सफल हुए कि मुगल शासकों ने भी वही गलती दुहरायी जो हिन्दू शासकों ने की थी, अन्ततः अँग्रेज भी उसी चपेट में आये । अपनी सक्रियता, जागरूकता तथा कूटनीति के कारण उन्होंने भारत में अँग्रेजी शासन की नींव डाली, पर विलासिता के कारण उनका मनोबल जाता रहा और भारतीय जनमानस की जाग्रत चेतना उन पर दौड़ी । फलतः उन्हें यहाँ से भागना पड़ा ।

पर एक बार जो संगीत की दुर्दशा आरम्भ हुई वह रुकी नहीं । व्यावसायिक क्षेत्रों में भी इस शक्ति का धड़ल्ले से उपयोग हो रहा है । बीड़ी, सिगरेट, साबुन, तेल, पाउडर तथा सौन्दर्य प्रसाधनों का प्रचार संगीत के माध्यम से होता है । बड़े शहरों से लेकर छोटे देहातों तक सड़कों और गलियों में विभिन्न कम्पनियों के प्रचारक भौंड़े-भद्दे और अश्लील गीत गाते, बजाते-घूमते देखे जा सकते हैं । संगीत की सहोदरा नृत्यकला है । उसका दुरुपयोग खुले रूप से देखा जा सकता है । विज्ञापन प्रचार के लिए नारियों के अभद्र, अश्लील और नग्न भाव भंगिमाएँ देखकर सिर शर्म से झुक जाता है । किसी भी विचारशील की आत्मा इस कला की दुर्दशा देखकर दुःखी हुए बिना नहीं रहती । रेडियो, सिनेमा, टेलीविजन जैसे संचार तंत्रों ने तो लगता है कि यह संकल्प ले लिया हो कि संगीत की शक्ति का नियोजन जन-मानस की कुत्सा भड़काने में ही करेंगे ।

इस शृंखला में कितनी ही अश्लील कड़ियाँ जुड़ती जा रही हैं । कहा जा चुका है कि सौम्य, सुमधुर संगीत की स्वर लहरियाँ शरीर, मन और आत्मा के विकास में सहायक सिद्ध होती हैं, पर दुरुपयोग चल पड़े तो संगीत अधःपतन का कारण बन सकता है । पश्चिम की भौतिकवादी सभ्यता का प्रभाव देश की सुरक्षित युवा पीढ़ी पर पड़ा है । संगीत कला भी उससे प्रभावित हुई है । यूरोपीय देशों में उत्तेजक गायन-वादनों को इन दिनों सर्वाधिक महत्त्व मिल रहा है । पिछले कुछ दशकों में रॉक एण्ड रॉल पॉप, तथा 'डिस्को' जैसे कितने ही नृत्य सम्मिलित संगीत का आविष्कार हुआ है जिनके विषय में मनःशास्त्र विशारदों का कहना है कि वे मानवीय कुत्साओं को भड़काने में सर्वाधिक सहायक सिद्ध हो रहे हैं । पश्चिमी संगीत परम्परा में सुरीली धुन या गायन को महत्त्वपूर्ण नहीं समझा जाता । आमतौर पर वाद्य यन्त्रों के साथ गायन का सामंजस्य स्थापित करके उत्तेजक रसानुभूति पैदा कर देना ही सबसे बड़ी उपलब्धि मानी जाती है । मुक्ति और स्वच्छन्दता का जो मुखर स्वर पॉप में सुनने को मिलता है, वह अन्य प्रकार के संगीत में नहीं है ।

रॉक एण्ड रॉल नृत्य के आविष्कारक एल्विल प्रेस्ले को भारी सफलता पश्चिमी देशों में मिली । स्वच्छन्दवादी विचारधारा के समर्थक युवा पीढ़ी ने उसका भरपूर स्वागत किया । बढ़ती हुई लोकप्रियता को देखते हुए रॉक एण्ड रॉल का सम्राट् कहा जाने वाले प्रेस्ले के मन में यह विचार आया कि किसी नयी पद्धति की खोज करनी चाहिए जो और भी उत्तेजक हो तथा सैक्स भावना को भड़काती हो । इस विचार से प्रेरित होकर उसने शब्द विज्ञान का विशद् अध्ययन किया तथा संगीत के साथ उसके प्रभावों का परिचय प्राप्त किया । पॉप संगीत की रचना उसने तत्पश्चात् की । संगीत शास्त्र के विशेषज्ञों का मत है कि रॉक एण्ड रॉल पर बोली जाने वाली ध्वनि ऊ ऊ ऊ की कराहें सेक्स भावना को असाधारण रूप से बढ़ा देती हैं । इसमें टीन कनस्तर पीट-पीटकर गला फाड़कर चिल्लाने लगना तथा फूहड़ ढंग से कूल्हे मटकाने जैसा क्रम और जुड़ गया जिसने पॉप को जन्म दिया । इस संगीत ने स्वेच्छाचार को अत्यधिक बढ़ावा दिया ।

दुर्भाग्यवश भारत में भी उस फूहड़ संगीत की लोकप्रियता बढ़ रही है, जो यूरोपीय देशों के चारित्रिक अधःपतन का कारण बन रही है । कैबरे नृत्य को प्रत्येक सिनेमा की सफलता के लिए आवश्यक समझा जा रहा है । व्यावहारिक सफलता के लिए चलचित्र निर्माता उन सारे गुणों को अपना रहे हैं, जिनसे जनमानस की निकृष्ट भावना को पोषण मिलता हो । निस्सन्देह यह युवा पीढ़ी को पतन की ओर ढकेलने की एक मनोवैज्ञानिक साजिश है जो मनोरंजन के नाम पर चलचित्रों में भारी लोकप्रियता प्राप्त कर रही है ।

यहाँ न तो संगीत रूपी लोकरंजन के स्वरूप को अनुपयोगी ठहराया जा रहा है और न ही सिनेमा जैसे सशक्त तंत्र को निरर्थक ही कहा जा रहा है, वरन् उन तथ्यों पर प्रकाश डाला जा रहा है, जिनके कारण अपने देश में लोकरंजन के ये माध्यम अपनी उपादेयता नहीं सिद्ध कर पा रहे हैं । कहा जा चुका है कि जनमानस में भली-बुरी प्रेरणाएँ भरने का यह सबसे सशक्त मनोवैज्ञानिक माध्यम है, जिसका सदुपयोग कितने ही देशों ने नवनिर्माण के लिए किया है तथा कितने ही कर रहे हैं । समय और धन के रूप में बर्बादी की गणना इसलिए की जा रही है, क्योंकि सिनेमा जैसा तन्त्र अपने देश में जन-कुत्सा भड़काने

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

में संलग्न होकर पतनोन्मुखी गतिविधियों को ही बढ़ावा दे रहा है । दोष तन्त्र का नहीं उस पर आधिपत्य रखने वाले उन समर्थ सम्पन्न व्यक्तियों का है, जो धन की संकीर्ण स्वार्थपरता से अभिप्रेरित होकर कला के देवता को कीचड़ में धकेलने में तत्पर हैं । समाज और देश की जिन्हें थोड़ी भी चिन्ता नहीं है । पैसा ही उनका इष्ट है जिसके लिये वे सामाजिक हितों की बलि देने में थोड़ा भी नहीं हिचकते ।

अपेक्षा इनसे कुछ विशेष नहीं की जा सकती । अपवादों की बात अलग है, पर मात्र उससे बात नहीं बनती । बहुतायत जो सिनेमा तन्त्र पर आधिपत्य रखने वाले ऐसे व्यक्तियों की है, जो संकीर्ण स्वार्थपरता के दलदल से निकलने को तैयार नहीं हैं । ऐसी स्थिति में प्रयास जन-स्तर पर ही करना होगा । यह तरीका यह हो सकता है कि सिनेमा उद्योग के समानान्तर एक नया ऐसा सिनेमा तन्त्र खड़ा कर दिया जाय जिसका एकमात्र लक्ष्य हो-नवसृजन की, समाज की एवं देश के सर्वांगीण विकास की प्रेरणाएँ उभारना । इसके लिए धन-शक्ति और प्रबुद्ध जनशक्ति की आवश्यकता पड़ेगी । थोड़े से भावनाशील ऐसे निकल आयें जो इस कार्य के लिए पूँजी लगाने के लिए तैयार हो जाएँ और थोड़े प्रतिभावान ऐसे मिल जायँ जो अपनी विभिन्न प्रकार की क्षमताओं को इसमें नियोजित कर सकें तो शुभारम्भ की बात बन सकती है ।

मात्र कोसते रहने से समाधान नहीं निकलता, कुछ ठोस कदम उठाने से निकलेगा । गाँधीजी का खादी ग्रामोद्योग आन्दोलन विदेशी सामानों के विरोध में उभरकर सामने आया, जन-जन में लोकप्रिय हुआ । उत्कृष्टता हर किसी को प्रिय है, पर ऐसी प्रेरणा देने के लिए सशक्त आधार चाहिए । मनोरंजन मनुष्य की एक आवश्यक माँग है । जनमानस की इस माँग की आपूर्ति प्रचलित सिनेमा तन्त्र भली-बुरी प्रेरणाओं के साथ कर रहा है । उत्कृष्ट फिल्मों का निर्माण होने लगे तो कोई कारण नहीं है कि नवनिर्माण का महान् प्रयोजन पूरा न होता रह सके । बुराई को देखकर बुराई पनपती और अच्छाई से सत्प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलता है । अच्छी फिल्मों के निर्माण के लिए तन्त्र खड़ा होते ही पुराने सिनेमा निर्माताओं को अपना ढर्रा बदलने के लिए विवश होना पड़ेगा । लोकरंजन का यह समर्थ माध्यम यदि स्वस्थ मनोरंजन के साथ-साथ सत्प्रवृत्ति सम्वर्द्धन की प्रेरणा उभारने में जुट जाय तो देश की प्रगति में असाधारण सहयोग मिल सकता है ।

अवांछनीयताएँ किसी भी स्थिति में हावी न होने पायें

महत्त्व निर्माण का ही है । उपलब्धियाँ उसी पर निर्भर हैं । इतना होते हुए भी पहले से ही जड़ जमाकर बैठी हुई अवांछनीयता निरस्त करने पर सृजनात्मक कदम उठाने की सम्भावना बनती है । खेत में कंकड़, पत्थर, झाड़-झंखाड़ जड़ जमाये बैठे हों तो उपयुक्त बीज बोने पर भी फसल न उगेगी । इस प्रसंग में सर्वप्रथम जोतने, उखाड़ने, बीनने और साफ करने का काम हाथ में लेना होगा । पहलवान बनने से पूर्व बीमारियों से छुटकारा पाना आवश्यक है । बर्तन में पानी भरने का प्रयत्न करने से पूर्व उसके छेद बन्द करने चाहिए । उद्यान लगाने वालों को पौधे के चर जाने वाले पशुओं और फल कुतरने वाले पक्षियों से रखवाली का प्रबन्ध भी करना होता है ।

अवतारों को पहले दुष्ट दमन करना पड़ा है, तभी धर्म स्थापना का उपक्रम बना है । लंका विजय, महाभारत ही नहीं, व्यक्ति विशेष को भी इसी मार्ग में चलना होता है । दुष्प्रवृत्तियाँ जड़ जमाये बैठी रहें तो सदाशयता को पनपने का अवसर ही न मिलेगा ।

जीवन-साधना में सर्वप्रथम यह देखना होता है कि चिन्तन और व्यवहार में अवांछनीयताओं ने कहाँ-कहाँ अपने घोंसले बना रखे हैं ? इन मक्कड़ जंजालों को सफा करना ही चाहिए । भोजन बनाने से पूर्व रसोईघर की, पात्र-उपकरणों की सफाई आवश्यक होती है अन्यथा गन्दगी घुस पड़ने से खाद्य सामग्री विषैली हो जायेगी और पोषण के स्थान पर स्वास्थ्य संकट उत्पन्न करेगी ।

मलीनता साफ करने के उपरान्त ही बात बनती है । प्रात: उठते ही शौच, स्नान, मंजन, कंघी, साबुन, बुहारी का काम निपटाना पड़ता है, तब अगली गतिविधियाँ अपनाने का कदम उठता है । जन्मते ही बालक गन्दगी में लिपटा आता है, सर्वप्रथम उस जंजाल से मुक्त कराने की व्यवस्था बनानी पड़ती है, सुन्दर कपड़े पहनाना उसके बाद होता है । त्योहार मनाने का पहला काम है, साफ-सफाई । पूजा-उपचार का भी प्रथम चरण यही है । प्रगतिशील स्थापनाओं का एक पक्ष दुष्ट-दुरभिसंधियों से निपटना भी है अन्यथा 'अन्धी पीसे कुत्ता खाय' वाली उक्ति चरितार्थ होती रहेगी । पानी खींचने में पहले कुआँ खोदना पड़ता है । नींव खोदना पहला और दीवार चुनना दूसरा काम है । अनुपयुक्त से न निपटा जाय तो उपयुक्त प्राण-प्रतिभा हो नहीं सकेगी । बौद्धों की एकांगी अहिंसा को मध्य एशिया के बुतरे मुट्ठी भर आक्रमणकारी किस प्रकार देखते-देखते चटकर गये इसका स्मरण इतिहास में हर विद्यार्थी को होगा ।

मक्खी, मच्छर, खटमल, पिस्सू, घुन, मकड़े, चूहे आदि कृमि-कीटकों से न निपटा जाय, घरों में रहने वाले कनखजूरे, साँप, बिच्छू आदि से आत्मरक्षा के उपाय न बरते जाएँ तो अच्छे-खासे घर में भी जाना कठिन हो जायेगा । पूजा कक्ष में अगरबत्ती जलाना अच्छी बात है पर नाली पर फिनायल छिड़कने की भी तो उपेक्षा नहीं करनी चाहिए ।

दुर्व्यसनों, दुर्गुणों, उच्छृंखलताओं एवं बुरी आदतों से उत्पन्न होने वाली हानियाँ इतनी अधिक हैं कि उनकी आग में उपार्जन, स्वास्थ्य, सम्मान, सन्तुलन, भविष्य, परिवार सभी कुछ ईंधन की तरह जलते और समाप्त होते देखा जा

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

सकता है । इसलिए प्रगति की योजनाएँ बनाते समय यह भी ध्यान रखना चाहिए कि दुष्प्रवृत्तियों ने कहाँ-कहाँ डेरे-तम्बू गाढ़ रखे हैं । अनुपयुक्त आदतों की विष-बेलें कितनी गहराई तक अपनी जड़ें जमाती जा रही हैं । इस उखाड़-पछाड़ के बिना सुखद सम्भावनाओं का बीजारोपण हो नहीं सकेगा ।

प्रत्यक्ष शत्रुओं से निपटना आसान है । चोर, उचक्कों की सुरक्षा चौकीदारी से हो सकती है, किन्तु उन दुष्प्रवृत्तियों से निपटना तो दूर उनको ढूँढ़ निकालना और होने वाली हानियों का अनुमान लगाना तक कठिन पड़ता है । अदृश्य को कैसे देखा जाय ? अप्रत्यक्ष को कैसे पकड़ा जाय ? सूक्ष्मदर्शी विवेक का माइस्क्रोप ही इन विषाणुओं का अता-पता बता सकता है जो दुर्गुणों के रूप में विषाणुओं की भूमिका निभाते और सर्वनाश का ताना-बाना बुनते रहते हैं ।

अपने गुण, कर्म, स्वभाव में किस हेय स्तर की दुष्प्रवृत्तियाँ अधिकार जमाती हैं, इनका तीखा निष्पक्ष पर्यवेक्षण करना चाहिए । शरीर क्षेत्र का शत्रु नम्बर एक-आलस्य है और मन:क्षेत्र का-प्रमाद । आलसी और प्रमादी प्रकारान्तर से आत्महत्यारे हैं । वे अपने इन बहुमूल्य यन्त्रों को जंग लगाकर मोंथरे, अनुपयोगी एवं अपंग बना देते हैं । पक्षाघात पीड़ित जीते तो हैं किन्तु अशक्त और असमर्थ, अर्द्ध मृतक की तरह रहकर । जिनके शरीर पर आलस्य का शनिश्चर छाया है, वे काम से जी चुराते और परिश्रम में बेइज्जती अनुभव करते देखे जाते हैं । प्रमादी मस्तिष्क पर जोर नहीं डालते । उचित-अनुचित के पक्ष-विपक्ष पर माथा-पच्ची नहीं करते जो चल रहा है उसी ढर्रे पर बेपैंदी के लोटे की तरह लुढ़कते रहते हैं । न समय की परवाह होती है न हानि-लाभ की । किसी तरह दिन काटते चलना ही अभीष्ट होता है । सुख-सुविधाओं की कल्पना भर करते हैं, उन्हें प्राप्त करने के लिए किस प्रकार योजनाबद्ध कदम उठाना और साहस जुटाना आवश्यक है, इसके लिए दिमाग पर जोर नहीं डालते । वस्तुस्थिति समझने और तदनुरूप सोचने-करने की सूझ-बूझ न रहने, ऐसे ही शेखचिल्ली की सनक सनकते रहते हैं । श्रमबिन्दुओं में लक्ष्मी रहती है और सुव्यवस्थित संकल्पों में प्रगति । आलसी और प्रमादी इन दोनों से वंचित रहते हैं । पराक्रम रहित शरीर अपंग है और उत्साह-रहित मस्तिष्क मूढ़मति । ऐसी दीन-दयनीय स्थिति मनुष्य की अपनी बनाई होती है । यदि दिनचर्या बनाकर समय के एक-एक क्षण का उपयोग करने के लिए दिन भर के भविष्य के कार्य निर्धारित कर लिये जायें और उन्हें प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाकर श्रमशील तत्परता और रुचि रस से भरीपूरी तन्मयता का संयुक्त नियोजन किया जा सके तो सफलता चरण चूमेगी और प्रगति पथ पर सरपट दौड़ने वाली चाल चौगुनी-सौगुनी बढ़ती दीखेगी ।

न शरीर पर आलस्य का शनिश्चर चढ़ा रहने देना चाहिए और न मस्तिष्क पर प्रमाद का राहु-केतु । समय, श्रम और मनोयोग का ऐसा समन्वय किया जाय कि प्रगतिशील, सफल सौभाग्यवानों की राह अपनाने का श्रेय गौरव उपलब्ध हो सके ।

स्वभाव में कटुता, कर्कशता, उतावली, अधीरता, उत्तेजना की उद्दण्डता भी उतनी ही घातक है जितनी कि दीनता, भीरुता, निराशा, कायरता । यह दोनों ही असन्तुलन भिन्न प्रकार के होते हुए भी हाईब्लड प्रेशर, लो ब्लड प्रेशर की तरह अपने-अपने ढंग से हानि पहुँचाते हैं । स्वभाव को सहिष्णु, धैर्यवान, गम्भीर, दूरदर्शी, सहनशील बनाने का प्रयत्न यदि निरन्तर जारी रखा जाय तो शिष्टता, सज्जनता के ढाँचे में प्रकृति ढलती जाएगी और हर किसी की दृष्टि में अपना मूल्य बढ़ेगा ।

ईमानदारी, सच्चाई, सहकारिता, उदारता, मिल-जुलकर रहना मिल-बाँटकर खाना, हँसने-हँसाने की हल्की-फुल्की जिन्दगी जीना जैसी आदतें यदि अपने चरित्र का अंग बन सकें तो इसमें घाटा कुछ भी नहीं लाभ ही लाभ है । बेईमान, झूठे, ईर्षालु, स्वार्थान्ध, विद्वेषी, मनहूस प्रकृति के लोग अपनी चतुरता औरअहंमन्यताकाढिंढ़ोरा भर पीटते हैं । वस्तुत: वे कुछेक चापलूसों और अनाड़ियों को छोड़कर हर समझदार की दृष्टि से ओछे, बचकाने और घिनौने प्रतीत होते हैं । ऐसों से न किसी को सहानुभूति होती है और न आड़े वक्त में कोई साथ देता है । वह बात उन ढोंगियों के सम्बन्ध में है जो वस्त्र, आभूषण, शृंगार, ठाट-बाट की फिजूलखर्ची पर पैसा उड़ाते, कार्टून बनते इधर-उधर मटकते फिरते हैं । सज-धज में समय और पैसा गँवाना न अमीरी है, न सभ्यता । बड़प्पन दिखाने के लिए रचा गया यह ढकोसला कितनों की आँखों में धूल झोंकने, चकाचौंध उत्पन्न करने में सफल हुआ यह कहना कठिन है । वस्तुत: ऐसे लोग जोकर भर समझे और अप्रामाणिक ठहराये जाते हैं । आमतौर से ऐसे लोग अविश्वस्त और चरित्रहीन समझे जाते हैं । फिजूलखर्ची, बड़प्पन, बेईमानी, गरीबी के गर्त में गिरने की पूर्व सूचना है । ऐसी आदतें अपने में थोड़ी मात्रा में भी पनपी हों तो उन्हें छोटी दीखने वाली उस चिनगारी को लात से मसलकर बुझा ही देना चाहिए ।

ऐसे-ऐसे और भी अनेक दोष-दुर्गुण हैं जो विभिन्न व्यक्तियों में विभिन्न प्रकार की अनुपयुक्त आदतों के रूप में प्रकट होते हैं । एक सभ्य, सुसंस्कारी मनुष्य की प्रतीक प्रतिमा मन में बसानी चाहिए और उसकी तुलना में अपनी जो भी कमियाँ दीखती हों, उन्हें संकल्प और साहस के सहारे उलटने का प्रयत्न करना चाहिए । उलटने का तरीका एक ही है कि अनौचित्य के स्थान पर उसका प्रतिपक्षी औचित्य अपनाया जाय । उसे अपने दैनिक जीवनक्रम में सम्मिलित रखते हुए, धीरे-धीरे स्वभाव को ही उस ढाँचे में ढाल लिया जाय । बुराई कोसते रहने से नहीं मिट जाती उसकी प्रतिपक्षी भलाई को प्रयोग में लाने की नियमित कार्यपद्धति अपनानी होती है । काँटे को काँटे से निकालते हैं और दुष्प्रवृत्तियों को हटाने के लिए

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

सत्प्रवृत्तियों को उनसे जूझने के लिए मोर्चे पर खड़ा करते हैं ।

जीभ का चटोरपन अनावश्यक मात्रा में अभक्ष्य पेट पर लादता है और क्रमशः अपच, रक्त-दूषण बढ़ाते-बढ़ाते समूची स्वास्थ्य सम्पदा को ही बर्बाद करके रख देता है । इसी प्रकार कामुक चिन्तन में निरत रहने वाले पाते तो कुछ नहीं अपनी एकाग्रता और चिन्तन की शालीनता गिराते-गिराते, घटाते-घटाते खोखला बनाने वाली दुश्चरित्र के मानसिक मरीज बन जाते हैं । ऐसे लोग बौद्धिक दृष्टि से तो दुर्बल होते ही जाते हैं । शरीरबल, मनोबल और चरित्र-बल की दृष्टि से भी गई-गुजरी स्थिति में जा पहुँचते हैं । इन्द्रिय-संयम, समय-संयम, धन-संयम, विचार-संयम के महत्त्व को न समझने वाले, महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों की बर्बादी अपने पैरों कुचल मारने की तरह करतें हैं । आरम्भ की उच्छृंखलता कुछ ही दिनों में पहले सिरे की मूर्खता सिद्ध होने लगती है ।

व्यक्तित्व को खोखला करने वाली दुष्प्रवृत्तियों को अपने चिन्तन, स्वभाव और व्यवहार में ढूँढ़ते रहा जाय साथ ही उन्हें संक्रामक बीमारी मानकर समय रहते उन्मूलन का उपाय किया जाता रहे तो यह अपने आपे से स्वयं लड़ते रहने की शूरता, किसी सफल सेनापति को विजयश्री मिलने जैसी मानी जायेगी । "जो अपने को जीतता है वह विश्व-विजयी बनता है" इस उक्ति को सर्वथा सारगर्भित समझा जाना चाहिए । गीता में ऐसे ही धर्मक्षेत्र, कर्मक्षेत्र में अर्जुन को लड़ने का उपदेश भगवान् ने दिया था । वह हर विचारशील के लिए सदा-सर्वदा अनुकरणीय है ।

यह व्यक्तिगत सुधार परिधि की-गुण, कर्म, स्वभाव की चर्चा हुई । अब एक कदम और आगे बढ़ना चाहिए । परिवार एवं समाज में प्रयुक्त होने वाले प्रचलनों को भी इसी दृष्टि से देखना चाहिए और खोजना चाहिए कि संर्वत्र न सही अपने निज के व्यवहार तथा सम्बद्ध परिवार में ऐसी क्या अवांछनीयताएँ हैं, जो व्यक्तिगत क्षेत्र में पनपने पर भी समूचे समाज के लिए घातक सिद्ध होती हैं । टिड्डी दल किसी कन्दरा में जन्मता है, पर जब उड़ने लगता है तो दूर-दूर तक के खेत-खलिहानों को उजाड़ता चला जाता है । हैजा, प्लेग के विषाणु आरम्भ में किसी छोटे क्षेत्र में होते हैं पर छूत की बीमारी बनकर दूर-दूर तक फैलते और असंख्यों का प्राणहरण करते चले जाते हैं । मूढ़मान्यताएँ, कुरीतियाँ और अनैतिकताएँ एक प्रकार से चरित्र एवं समाज क्षेत्र की बीमारियाँ हैं । यह जहाँ पनपती हैं, उतने ही क्षेत्र में तबाही नहीं करतीं वरन् अपनी चपेट में सुविस्तृत क्षेत्र को जकड़ती और पतन-पराभव का वातावरण बनाती चली जाती हैं । तालाब में एक जगह ढेला फेंकने पर उससे उत्पन्न होने वाली लहरें समूचे सतह को हिलाने, उछालने लगती हैं ।

मूढ़मान्यताओं के क्षेत्र में ऐसी अनेकों बातों का समावेश है जो अभ्यास में आ जाने से निर्दोष भी लगती हैं और रुचिकर भी, पर उनमें आदि से अन्त तक अवास्तविकता ही भरी रहती है, जादू-टोना, भूत-पलीत, दई-देवता, भविष्य कथन, भाग्यवाद, फलित-ज्योतिष के कुचक्र में कितने ही अपनी शान्ति गँवाते, भ्रम-जंजालों में उलझते, विग्रह मोल लेते, जिस-तिस पर लांछन लगते और भूल सुधारने के स्थान पर भाग्य को कोसते देखे जाते हैं । यदि इन भ्रम-जंजालों से निकला जा सके तो भ्रान्तियों से उत्पन्न होने वाली विकृतियों एवं क्षतियों से बड़ी मात्रा में बचा जा सकता है ।

आहार-विहार सम्बन्धी कितनी मूढ़-मान्यताएँ इस विज्ञान के युग में भी बुद्धिमानों की मूर्खता बनकर रह रही हैं । आहार को स्वाभाविक रूप में लेने की अपेक्षा लोग उसे भूनते-तलते, मसालों, जायकों से विकृत करते हैं । फलतः खाद्य-अखाद्य बन जाता है और खाद्य का कोयला खाकर किसी प्रकार जीवित रहना पड़ता है । कामुकता में इन्द्रिय उत्तेजना कम और दिमागी खुराफात के रूप में विकसित हुई-काल्पनिक शृंगारिकता मुख्य है । इसे कला का व्यभिचार कह सकते हैं, अन्यथा नर-नारी के बीच साधन सहयोग तो समझ में आता है, पर उस कामुकता के घटाटोप में कोई सार नहीं दीखता, जो इन दिनों हर आदमी को भूत-पिशाच की तरह जकड़े हुए है । नशेबाजी-माँसाहार को अपनाने वाले तथ्यों के समर्थक नहीं वरन् प्रचलन के साथ जुड़े हुए तथाकथित सभ्यता के अभिशाप ही समझे जा सकते हैं । इन मान्यताओं का यदि नये सिरे से परीक्षण किया जा सके तो प्रतीत होगा कि आदिमकाल के अन्ध-विश्वासी मनुष्य में आज के सभ्यताभिमानियों की विचारशीलता में कोई विशेष अन्तर नहीं आया है । कम से कम प्रचलनों और मान्यताओं के क्षेत्र में तो अभी भी अन्धविश्वासों का बोलबाला है । चिकित्सा क्षेत्र में तो अभी भी टोना-टोटका की तरह ही अभी भी अन्धेरे में पत्थर फेंके जाते हैं । इसमें तथाकथित मूर्धन्य चिकित्साशास्त्री भी सम्मिलित हैं ।

कुरीतियों की दृष्टि से यों और समाज भी अछूते नहीं हैं, पर अपना देश तो इसके लिए संसार भर में बदनाम है । विवाह योग्य लड़के-लड़कियों के उपयुक्त जोड़ों का विवाह कर दिया जाय और सार्वजनिक घोषणा के रूप में उनका पंजीकरण करा देने या घरेलू त्यौहार जैसा कोई हलका सा हर्षोत्सव कर देना यही औचित्य की मर्यादा है, पर अपने यहाँ उसे युद्ध जीतने या पहाड़ उठाने जैसा बना लिया गया है । उस घमात में पैसे की समय की जितनी बर्बादी होती है, उसका हिसाब लगाने पर प्रतीत होता है कि आजीविका का एक-तिहाई अंश इसी कुप्रचलन में होली की तरह जल जाता है । खर्चीली शादियाँ हमें किस तरह दरिद्र और बेईमान बनाती हैं । कितने ही परिवारों की सुख-शान्ति और प्रगति किस प्रकार इस नरभक्षी पिशाचिनी की बलिवेदी पर नष्ट होती है, इसे अधिकांश लोग समझते भी हैं और कोसते भी । फिर भी आश्चर्य यह है कि छोड़ते किसी से नहीं बनता, इसे

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

कुरीतियों का मायाजाल ही कहना चाहिए जो तोड़ने का दमखम करने वालों को भी अपने शिकंजे से छूटने नहीं देता ।

जाति-पाँति के नाम पर प्रचलित ऊँच-नीच की मान्यता के पीछे न कोई तर्क है, न तथ्य, न प्रमाण, न कारण । फिर भी अपने समाज में ब्राह्मण-ब्राह्मण के, ठाकुर-ठाकुर के, अछूत-अछूत के बीच जो ऊँच-नीच का भेदभाव चलता है उसे देखते हुए लगता है कि यह सवर्ण-असवर्ण के मध्य चलने वाला विग्रह नहीं है वरन् हर बिरादरी वाले अपनी ही उपजातियों में ऊँच-नीच का भेद बरतते-बरतते इस प्रकार बँट गये हैं मानो उनका कोई एक देश, धर्म, समाज या संस्कृति रह ही नहीं गई हो । हर जाति, उपजाति ने अपने छोटे गड्ढे घरौंदे बना लिये हैं और उतने से दायरे में कूप-मंडूकों की तरह अपने को सीमाबद्ध किये बैठे हैं । इसी विलगाव का कारण है कि अपना कोई धर्म-समाज बन ही नहीं पाता । इस दुर्विपाक से सभी परिचित हैं, सभी विरुद्ध हैं । फिर भी कुरीतियों का कुचक्र तो देखिए कि बरताव में सुधारक भी पिछड़े लोगों की तरह ही आचरण करते हैं ।

नर-नारी के बीच बरता जाने वाला भेदभाव कुरीतियों की दृष्टि से और भी घिनौना है । इसने पर्दे के प्रतिबन्ध में आये जनसमुदाय को दूसरे दर्जे के नागरिक की नजरबन्दी कैदी की स्थिति में ले जाकर पटक दिया है । नारी आज की स्थिति में देश की अर्थव्यवस्था में-सामाजिक प्रगति में कुछ योगदान दे सकने की स्थिति में रही ही नहीं । अशिक्षा, उपेक्षा, अयोग्यता, पराधीनता, अस्वस्थता के बन्धनों में जकड़ी हुई, अन्धाधुन्ध प्रजनन के प्राणघातक भार अत्याचार से लदी हुई नारी अपने आपके लिए नरसमुदाय के लिए-समूचे समाज के लिए भारभूत बनकर रह रही है । कन्या और पुत्र के बीच बरता जाने वाला भेदभाव कितना कष्टकर है । उसके रहते सन्तान और अभिभावक के बीच बरते जाने वाली सद्भावना का एक प्रकार से समापन ही हो जाता है ।

भिक्षा व्यवसाय, मृतक भोज, बाल-विवाह, कन्या विक्रय, वर-विक्रय, पत्नी-त्याग आदि अनेकानेक प्रचलन ऐसे हैं जो औचित्य की कसौटी पर किसी भी प्रकार खरे सिद्ध नहीं होते, फिर भी हमारे गले में फाँसी के फन्दे की तरह कसे हुए हैं । इन कुरीतियों को इसी प्रकार सहते रहा गया, उनका मोह न छोड़ा गया तो समझना चाहिए कि हम दिन-दिन गलते, फिसलते, पिछड़ते और घटते, गिरते ही चले जायेंगे ।

अनैतिकताओं का तो कहना ही क्या ? समय का पालन, वचन का पालन, विश्वास का पालन घटता जा रहा है । व्यवसाय, आचरण, कर्त्तव्य, उत्तरदायित्व के क्षेत्रों में तनिक-तनिक-सी बात पर मनुष्य ऐसी कलामुण्डी खाता है मानो नीति, मर्यादा पालन की नहीं, कहने-सुनने भर की बात रह गई है । कामचोरी, हरामखोरी, करचोरी, रिश्वत, धोखाधड़ी, छल, स्वार्थान्धता, नागरिक कर्त्तव्यों की अवहेलना आदि की अवांछनीयताएँ अब सामान्य व्यवहार का, चातुर्य कौशल का अंग बनती जा रही हैं । लगता है मनुष्य अपनी गरिमा का परित्याग कर प्रेत, पिशाच जैसी अपनाई जाने वाली दुष्टता, भ्रष्टता अपनाने के लिए तेजी से अग्रसर हो रहा है ।

ऊपर की पंक्तियों में कुछ ऐसी अवांछनीयताओं की चर्चा है जो प्रचलन का अंग बनती जा रही है । अपना परिवार, परिकर भी सर्वव्यापी छूत से बचा हुआ नहीं है । नौकरी के लिए पढ़ाई की अब कोई उपयोगिता रह नहीं गई है, फिर भी लोग घर फूँककर तमाशा देखते और बालकों को उच्च शिक्षा के नाम पर ऐसी स्थिति में पटक देते हैं जिनमें से नौकरी न मिलने पर किसी काम के नहीं रहते । सन्तानोत्पादन की अब कोई तुक नहीं रही । परिवार के लोगों को स्वावलम्बी, सुसंस्कारी भर बनाने की बात किसी के समझ में नहीं आती । उत्तराधिकारियों को मुफ्त में खाने के लिए कुबेर जितनी सम्पदा छोड़ मरने की हर किसी योग्य-अयोग्य के सिर पर सनक सवार है ।

यह कथा-पुराण की चर्चा नहीं है । हम सबके व्यवहार में आये दिन प्रयुक्त होने वाली अनुपयुक्तताएँ हैं, जिन्हें एक दिन के लिए भी सहन नहीं किया जाना चाहिए । कूड़े-करकट की तरह बुहार कर सड़ने को किसी गड्ढे में दबा दिया जाना चाहिए । किन्तु हम हैं जो मरे बच्चे को छाती से चिपकाये फिरने वाली बन्दरिया की तरह उन्हें आत्मसात किये बैठे हैं । उन्हें छोड़ने का नाम नहीं लेते ।

जनमानस से यह आशा तो नहीं की जा सकती कि चक्रव्यूह तोड़ने वाले अभिमन्यु की भूमिका निभायें । पर इतनी आशा तो की ही जा सकती है कि वे अपने निजी जीवन में, परिवार के क्षेत्र में, जो मूढ़-मान्यताएँ, कुरीतियाँ, अवांछनीयताएँ पनपती देखें उन्हें समय रहते उखाड़ने का प्रयत्न करें । कम से कम इतना तो हो ही सकता है कि उनका समर्थन न करें, उनकी प्रशंसा न भी न करें । विरोध बन पड़े तो करें पर यदि वैसा साहस न हो तो कम से कम असहमति और असहयोग की स्थिति तो बनाये ही रखें । यह भी गाँधीजी का बताया हुआ व्यक्तिगत सत्याग्रह का एक छोटा रूप है । उसे तो अपनाया जा सकता है ।

निजी जीवनक्रम और परिवार क्षेत्र हर व्यक्ति का अपना है । उस पर प्रभाव का रहना भी असंदिग्ध है । एक क्षेत्र में दुष्प्रवृत्तियों को पनपने से रोका जा सकता है और उन्हें उखाड़ने में सफल भी रहा जा सकता है । यदि सत्यनिष्ठा उमगे, औचित्य के प्रति श्रद्धा जगे तो उसे साहस भरे संघर्ष के रूप में परिणत करना चाहिए और जितना सम्भव हो उतना विरोध अथवा असहयोग जारी रखना ही चाहिए । इतनी प्रखरता यदि जीवन्त रखी जा सकती तो उतने से भी अनौचित्य के असुर का मनोबल टूटेगा और देवत्व पनपेगा ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org
www.vicharkrantibooks.org

नीति-निष्ठा की स्थापना अवांछनीयता उन्मूलन से ही सम्भव

अन्य देशों की भाँति पिछले दिन तीन दशकों में अपने देश ने भी भौतिक क्षेत्र में प्रगति की है । ज्ञान-विज्ञान एवं तकनीकी दृष्टि से स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व जो स्थिति थी, उसकी तुलना में हम कहीं बहुत आगे हैं । जिन वस्तुओं के लिए हमें कभी दूसरे देशों पर निर्भर रहना पड़ता था, वे आज अपने यहाँ ही बनने लगी हैं, यह प्रसन्नता की बात है, किन्तु दूसरे देशों की भाँति एक भूल अपने यहाँ भी हुई है । भौतिक प्रगति की अन्धी दौड़ में जिस प्रकार पाश्चात्य देश उच्चस्तरीय मानवीय आदर्शों एवं सिद्धान्तों की उपेक्षा करके अनेकानेक समस्याओं का सामना कर रहे हैं, वही भूल अपने यहाँ भी हो रही है । फलस्वरूप अवांछनीयताएँ बढ़ती जा रही हैं ।

इन दिनों नीति-निष्ठा-सामाजिक उत्तरदायित्वों एवं मानवीय आदर्शों एवं सिद्धान्तों के प्रति उच्चस्तरीय आस्थाएँ दिनोंदिन गिरती जा रही हैं । आस्थाओं के विकृत होने से चिन्तन निकृष्ट बनता और अवांछनीयता, अनैतिकता को बढ़ावा मिलता है । अवांछनीय अनैतिक गतिविधियों में प्रकारान्तर से नीति एवं आदर्शों के प्रति विकृत आस्थाएँ ही काम करती दृष्टिगोचर होती हैं, जिसकी फलश्रुति बेईमानी, निष्ठुरता, उच्छृंखलता, अनुशासनहीनता के रूप में प्रकट होती है ।

अनैतिकताओं का आरम्भ आलस्य, अपव्यय, असंयम, दुर्व्यसन, अशिष्टता, अनुशासनहीनता, नागरिक कर्त्तव्यों की अवहेलना जैसे छोटे समझे जाने वाले अवगुणों से होता है और इस उपक्रम में उद्धत होकर वह आक्रामकता का, दुष्टता एवं निष्ठुरता का स्वरूप ग्रहण कर लेता है । चोरी, ठगी, रिश्वत, मिलावट, अपहरण, चोरबाजारी, बलात्कार, लूट-डकैती, हत्या जैसे अपराध उद्धत अनैतिकता के अन्तर्गत ही आते हैं । जिस तेजी से इनमें अभिवृद्धि हो रही है । उसे देखते हुए लगता है, प्रगति के नाम पर हम अवगति की ओर अग्रसर हो रहे हैं ।

अनैतिकता स्वार्थपरायणता एवं कृतघ्नता की उस संकीर्ण मनोवृत्ति से पनपती है, जिसके कारण मनुष्य अपने सामाजिक दायित्वों की उपेक्षा करने लगता है । परिवार एवं समाज से अनेकों प्रकार की सुविधाएँ एवं सहयोग हर मनुष्य को प्राप्त हैं । जो अनुदान उसे प्राप्त हुए हैं प्रतिदान स्वरूप अपनी योग्यता, प्रतिभा एवं क्षमता का एक भाग समाज के लिए अर्पित करना नैतिक कर्त्तव्य है जिसके निर्वाह करते रहने से ही समाज की सुव्यवस्था बनी रहती और सहयोग और सहकार के कारण प्रगति का क्रम अवरुद्ध नहीं होने पाता । संकीर्ण स्वार्थों के वशीभूत होकर अधिकांश व्यक्ति अपने इन नैतिक दायित्वों का निर्वाह नहीं करते । ये ऐसे अपराध हैं जो कानून की पकड़ में नहीं आते, किन्तु इनके कारण समाज को भारी क्षति उठानी पड़ती है । असमर्थ, असहाय, बूढ़े माता-पिता की सेवा न करना, अपने आश्रितों के निर्वाह की व्यवस्था न जुटाना प्रकारान्तर से अपराध की ही श्रेणी में आता है । समाज से अनेकों प्रकार के सहयोग मिलते रहते हैं । समर्थ और समक्ष होते हुए भी असमर्थों, जरूरतमन्दों को सहयोग न देना नैतिक अपराध है, जिसकी रोकथाम के लिए कोई कानूनी व्यवस्था नहीं है, किन्तु इनसे होने वाली हानियाँ अपराधों की तुलना में कम नहीं हैं ।

दूसरी श्रेणी के अन्तर्गत वे अपराध आते हैं, जिसमें सामाजिक मर्यादाओं का उल्लंघन किया जाता है । अनुशासनहीनता, उच्छृंखलता, अशिष्टता जैसी असामाजिक प्रवृत्तियों से समाज की सुव्यवस्था नष्ट होती तथा अराजकता फैलती है । नागरिक कर्त्तव्यों का पालन न करने से दूसरों को कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, इसे सर्वत्र देखा जा सकता है । लाइन में लगकर टिकट न लेना, रेल में बैठने वाली सीट पर सो जाने जैसी बातें छोटी लगती हैं, किन्तु इनसे दूसरों को भारी असुविधा होती है । कितनी बार तो टकराव एवं संघर्ष की, झगड़े-फसाद की परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं । यातायात में ऐसी घटनाएँ अक्सर घटती रहती हैं । कटुभाषिता, आवेशग्रस्तता, अशिष्टता से अपनी क्षति तो होती ही है, दूसरे के ऊपर कुप्रभाव पड़ता तथा सन्तुलन बिगड़ता है । अपनी बातों अथवा व्यवहार द्वारा इसको उत्तेजित अथवा असन्तुलित कर देना भी छोटे अपराधों की श्रेणी में आता है । अपनी सुविधा के लिए अन्य व्यक्तियों के अधिकारों का हनन आन्तरिक निष्ठुरता का परिचायक है, जो बढ़ते-बढ़ते बड़े अपराधों का रूप ले लेता है ।

तीसरे प्रकार में ऐसे अपराध होते हैं, जिन्हें कानून द्वारा जघन्य घोषित किया गया है । जुआ, लाटरी, ठगी, धोखा-धड़ी, चोरी, अपहरण, आक्रमण, मिलावट, रिश्वत, लूट, डकैती, बलात्कार, हत्या जैसे अपराध उद्धत अनैतिकता के नाम से सम्बोधित किये जाते हैं । आरम्भिक संकीर्ण स्वार्थपरता असामाजिकता और कालान्तर में आक्रामकता का रूप लेकर उपरोक्त अनेकों प्रकार के अपराधों को जन्म देती है । प्रकारान्तर से नीतिनिष्ठा एवं उच्च स्तरीय मानवीय आदर्शों के प्रति आस्था की गिरावट से ही सभी प्रकार की अनैतिकताओं का जन्म होता है ।

अपने देश में सर्वाधिक अपराध मिलावट के होते हैं । चावल, दाल, आटा, तेल, घी, मिर्च, मसाले, दूध जैसे खाद्यान्नों में तो मिलावट एक सामान्य-सी बात हो गई है । आये दिन समाचार पत्रों में ऐसी खबरें छपती रहती हैं कि अमुक वस्तु में विषाक्त वस्तु की मिलावट होने से उपयोग करने वाले कितने ही व्यक्ति मारे गये, कितने ही अपंग हो गये । जितनी घटनाएँ प्रकाशन में आती हैं, उनसे बड़ी संख्या अप्रकाशित ही पकड़ में न आने वाली घटनाओं की होती है । देश में प्रतिवर्ष अन्धे, अपंगों की संख्या में तीव्रता से वृद्धि हो रही है । इस बढ़ोत्तरी में एक बड़ा योगदान

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

खाद्यान्नों में मिलावट का है । दूध और देशी घी जैसी वस्तुएँ शुद्ध शायद ही कहीं मिल पाती हों । इनका सेवन करना लोगों ने कम कर दिया है । विश्वास उठ जाने तथा इनका प्रचलन कम हो जाने के कारण गौ पालन, पशुपालन जैसे उपयोगी व्यवसाय भी बन्द होते जा रहे हैं । देश का दुग्ध उत्पादन प्रतिवर्ष घटता जा रहा है । पशुपालन के प्रति घटता हुआ उत्साह प्रकारान्तर से दूध, घी में होने वाले मिलावट से उत्पन्न अविश्वास की फल श्रुति मात्र है । इस मिलावट को कड़ाई से नहीं रोका गया तो पशुपालन उद्योग की सरकारी योजना भी सफल न हो सकेगी और दूध उत्पादन के घटने से देश की जनता के स्वास्थ्य पर भारी कुप्रभाव पड़ेगा ।

मिलावट खाद्यान्नों तक ही सीमित है । मशीनरी सामानों, रेडियो, ट्रांजिस्टर, घड़ी आदि के कलपुर्जों की प्रामाणिकता सदा संदिग्ध ही बनी रहती है । दूसरे प्रगतिशील देशों में वस्तुओं का निर्माण प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाकर किया जाता है । जापान जर्मनी की बनी वस्तुएँ संसार भर में लोकप्रिय और सबसे प्रामाणिक मानी जाती हैं । अपने यहाँ का दुर्भाग्य है कि निर्माणकर्त्ता अपने तात्कालिक स्वार्थ साधनों एवं अधिकाधिक लाभ अर्जित करने के फेर में वस्तुओं के स्तर की ओर ध्यान नहीं देते । फलस्वरूप वे टिकाऊ नहीं हो पातीं और कुछ ही दिनों बाद बेकार हो जाती हैं । दूसरे प्रगतिशील देशों में हत्या, आत्महत्या, चोरी, डकैती, बलात्कार के अपराध तो अधिक होते हैं, किन्तु वस्तुओं में मिलावट के अपराध भारत की तुलना में कम होते हैं । इस क्षेत्र में अपना देश सबसे आगे है ।

अन्य प्रकार के अपराधों की संख्या में भी तीव्रता से वृद्धि हो रही है । प्राप्त आँकड़ों के अनुसार भारत में प्रति मिनट होने वाले विभिन्न प्रकार के गम्भीर अपराधों की संख्या वर्ष १९७७ में दी थी जिसमें चोरी, डकैती, उठाईगीरी, धोखाधड़ी, तस्करी, हत्या, अपहरण, बलात्कार जैसे सभी प्रकार के अपराध सम्मिलित थे । तीन वर्षों बाद सन् १९८० में इनकी संख्या बढ़कर चार गुनी हो गई । सन् १९८० में प्रति मिनट किये जाने वाले अपराधों की संख्या आठ हो गई । सन् १९७७ में प्रति दो घण्टे में एक हत्या होती थी, यह संख्या सन् १९८० में चार तक जा पहुँची अर्थात् हर आधे घण्टे में एक हत्या । इस औसत से वर्ष भर का हिसाब जोड़ने पर कुल हत्याओं की संख्या सत्तरह हजार पाँच सौ बीस तथा विभिन्न अपराधों की इकतालीस लाख चार हजार आठ सौ होती है । ये आँकड़े प्रकाशन में आई घटनाओं के हैं । समाचार पत्रों में अप्रकाशित घटनाओं की संख्या इससे भी अधिक होगी ।

अपराध महानगरों में सर्वाधिक होते हैं । कलकत्ता, मद्रास, बंगलौर, कानपुर, अहमदाबाद, हैदराबाद, बम्बई जैसे नगरों में सन् ८० के प्रथम पाँच हजार से लेकर आठ हजार की संख्या में चोरी, उठाईगीरी, डकैती, अपहरण-बलात्कार की घटनाएँ प्रकाशन में आयीं ।

पिछले एक दशक में बाल-अपराधों की संख्या में द्रुतगति से वृद्धि हुई है । वर्ष १९६७ में भारतीय दण्ड संहिता के अन्तर्गत दर्ज किये जाने वाले कुल अपराधों में किशोर अपराधियों की भागीदारी २.६ प्रतिशत थी, जो कि सन् ८० में बढ़कर लगभग दुगुनी पाँच प्रतिशत तक जा पहुँची । इनमें से अधिकांशतः सोलह और इक्कीस वर्ष के मध्य आयु वाले थे । वर्ष १९७६ में किशोरों द्वारा किए विभिन्न प्रकार के अपराधों की संख्या इस प्रकार थी । कुल लगभग ४५ हजार मामले पुलिस रिकार्ड में अंकित हुए , जिसमें चोरी के १६ हजार, सेंधमारी के ६ हजार ६ सौ, दंगे फसाद के ५ हजार, हत्या के ८५०, डकैती के ७०० और शेष जुआ तस्करी राहजनी की घटनाएँ थीं । बाल अपराध की दृष्टि से विभिन्न प्रमुख प्रान्तों का क्रम इस प्रकार था, महाराष्ट्र मध्य प्रदेश, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश, गुजरात, पंजाब और राजस्थान । सबसे कम बाल अपराध केरल में होते हैं ।

इन अपराधों के अतिरिक्त रिश्वत, तस्करी, घरों में चोरी जैसे अपराध ऐसे हैं जो कम ही प्रकाशन में आते हैं । सरकारी दफ्तरों की स्थिति ऐसी बन गई है कि बिना रिश्वत के शीघ्रता से काम नहीं हो पाता । विभिन्न कार्यों को रोकने के लिए रिश्वत की रकम बँधी बँधायी होती है । जो देने में आना-कानी करता है उसका काम लम्बे समय तक पेन्डिग लिस्ट में पड़ा रहता है । सामूहिक प्रतिरोध के अभाव में यह अनैतिक व्यापार इन दिनों सर्वत्र चलते देखा जा सकता है और दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है ।

अपराधशास्त्री, मनोवैज्ञानिक, विचारक बढ़ती हुई अवांछनीयता, अनैतिकता के विभिन्न कारण बताते हैं । अमेरिका के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डॉ० जॉन कैलिहन भारत में बढ़ते हुए अपराधों का सम्बन्ध जनसंख्या की बढ़ोत्तरी और घनी आबादी से जोड़ते हैं । उनका कहना है कि घनी आबादी एवं भीड़ भाड़ वाले बड़े-बड़े नगरों में मानसिक, भावनात्मक एवं आर्थिक दबावों के कारण अपराधों में निरन्तर वृद्धि हो रही है ।

पेनसिलवानिया विश्वविद्यालय के प्रो० लैटीग्रास सिनेमा एवं टेलीविजन को अपराधों का एक बड़ा कारण मानते हैं । उनका विचार है कि सिनेमा के घटनाक्रमों में जीवन की समस्याओं का वास्तविक समाधान करने वाली बातों का मात्र एक प्रतिशत समावेश होता है । ९९ प्रतिशत दृश्य कोरी कल्पना पर आधारित तथा अव्यावहारिक होते हैं । अपराध, हिंसा आदि को बढ़ावा देने वाली फिल्में ९९ प्रतिशत होती हैं । इलिनाय विश्वविद्यालय के मनोविज्ञान के प्रो० लियोनाडिसरन बच्चों एवं किशोरों में बढ़ती हुई अपराधवृत्ति में फिल्मों का बहुत बड़ा योगदान मानते हैं । उनके अनुसार अपरिपक्व मस्तिष्कों को सिनेमा एवं घटिया साहित्य सबसे अधिक प्रभावित करते हैं ।

जनसंख्या वृद्धि, बेरोजगारी, सिनेमा, घटिया साहित्य, गरीबी आदि का अवांछनीयता को बढ़ावा देने में एक

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

सीमा तक सहयोग हो सकता है किन्तु ये मूल कारण नहीं हैं । सबसे अधिक बड़ा कारण है, नीति-आदर्शों एवं उच्चस्तरीय सिद्धान्तों के प्रति आस्थाओं का विकृत हो जाना । अनेकों प्रकार की विकृतियाँ इसी से उत्पन्न होती हैं । परिवारों में बढ़ती हुई संकीर्ण स्वार्थपरता, कृतघ्नता और समाज में फैलती हुई अनुदारता, उच्छृंखलता, अनुशासनहीनता, आस्थाओं की विकृति की ही फलश्रुति है जो उद्धत बनकर गम्भीर अपराधों को जन्म देती हैं

इस दिशा में अभीष्ट सुधार एवं रोकथाम करने के लिए शासकीय एवं सामाजिक स्तर पर अनेकों प्रकार के प्रयास चलते रहते हैं । शासन कानून बनाता है और दण्ड की व्यवस्था न्यायालयों के माध्यम से करता है । सामाजिक संस्थाएँ अपने स्तर पर प्रयत्नरत रहती हैं । किन्तु इसके बावजूद भी विशेष सुधार होता दिखाई नहीं पड़ता । समाज में अवांछनीयता घटने के स्थान पर बढ़ती ही जा रही है । कानून की पकड़ में न आने वाले कितने ही ऐसे अपराध होते हैं, जिनकी जानकारी नहीं मिल पाती किन्तु उनसे भारी क्षति उठानी पड़ती है । परिवार में वृद्ध माता-पिता की देखरेख, सेवा, पत्नी के प्रति स्नेह-सहयोग के अभाव में उन्हें कितना कष्ट सहना पड़ता है, इसका अनुमान तो भुक्तभोगी ही लगा सकते हैं । उपेक्षा, तिरस्कार एवं समुचित देख-रेख न होने से उनमें कितनों को घुटन से भरे जीवन के दिन पूरे करने पड़ते हैं । पति की प्रताड़ना एवं उपेक्षा से आये दिन कितनी ही नारियाँ आत्महत्या तक करती देखी गई हैं, जिनकी रोकथाम करने के लिए कानून के पास प्रत्यक्ष कोई व्यवस्था नहीं है । समर्थ और सम्पन्नों की अनुदारता से पिछड़े एवं गरीबों को सहयोग नहीं मिल पाता । फलतः वे अविकसित एवं विपन्नता की स्थिति में पड़े रहते हैं । शासन और कानून इस अनुदारता की मनोवृत्ति को रोक पाने में अक्षम है । जिसके कारण पिछड़े गरीबों की स्थिति और भी अधिक बदतर होती जा रही है और शोषण एवं संचय के कारण सम्पन्न और भी अधिक अपनी झोली भरते जा रहे हैं । ये ऐसे परोक्ष रूप से किये जाने वाले अपराध हैं जो कानून की पकड़ में नहीं आते किन्तु उतनी ही हानि पहुँचाते हैं जितनी कि चोरी, ठगी और डकैती जैसे गम्भीर अपराध ।

इस स्थिति को बदलने के लिए बहुस्तरीय प्रयास करने होंगे । मात्र शासन पर निर्भर रहने से काम नहीं चलेगा, उसका सहयोग इस प्रयास में मिल सकता है-नीति-निष्ठा और चरित्रनिष्ठा को, उच्चस्तरीय आदर्शों एवं सिद्धान्तों को सर्वोपरि महत्त्व देना होगा । इन दिनों बुद्धि और धन को सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त है । उसके स्थान पर नीति, सदाचार, मानवी आदर्शों एवं सिद्धान्तों को प्रमुखता देनी होगी । सम्पन्नता और विद्वत्ता को तभी सम्मानित किया जाना चाहिए, जब वह उदारता एवं उदात्तता को अपनाये हुए हो । अनुदार सम्पन्न और चरित्र से रहित विद्वान को प्रतिष्ठा नहीं मिलनी चाहिए । पिछले दिनों यही भूल हुई है । अपनी संस्कृति ने चरित्र निष्ठा को जितना महत्त्व दिया उतना अन्य किसी विशेषता को नहीं । इस तथ्य की उपेक्षा हुई, चरित्रनिष्ठा गौण होती गई और बुद्धिबल, धन बल को मिला, सम्मानित हुआ । फलस्वरूप मानवी विशेषताओं की अवमानना हुई और चरित्रनिष्ठा के अभाव में आस्थाएँ विकृत होती चली गईं । अपनी चारित्रिक विशेषताओं के लिए यह देश कभी विश्वविख्यात था । इतिहास में एक से बढ़कर एक अनुकरणीय उदाहरण मिलते हैं । उसी देश के निवासी सदाचार की दृष्टि से दिन-प्रतिदिन कमजोर होते जा रहे हैं । अपनी चारित्रिक गरिमा खोकर हमने गँवाया ही अधिक है । सर्वविदित है किसी भी समाज अथवा देश की वास्तविक सम्पत्ति भौतिक वस्तुएँ नहीं, उसमें रहने वाले श्रेष्ठ व्यक्तित्व हैं, जिनके सहारे राष्ट्र ऊँचा उठता है । साधनों की सुसम्पन्नता घटिया व्यक्तित्व होने पर प्रगति का नहीं अवगति का मार्ग प्रशस्त करती है । इसके विपरीत साधनों की दृष्टि से पिछड़े किन्तु व्यक्तित्वों की दृष्टि से भरे-पूरे देश को प्रगति करते देरी नहीं लगती ।

इस तथ्य की जितनी उपेक्षा होगी, देश की प्रगति का मार्ग उतना ही अवरुद्ध होता जायेगा । विकास के लिए बनने वाली अनैतिकता की बाढ़ कहीं उच्चस्तरीय आदर्शों को, नैतिक विशेषताओं को बहा न ले जाय, इसके लिए अविलम्ब कदम उठाने होंगे । देशवासियों में नीति एवं आदर्शों के प्रति आस्था उत्पन्न करने के लिए हर सम्भव प्रयास करने होंगे । सरकारी एवं गैरसरकारी दोनों ही स्तरों पर प्रचार तन्त्रों, रचनात्मक कार्यक्रमों के माध्यम से चरित्रनिष्ठा को उभारा एवं प्रोत्साहित किया जाय । अनीति के मार्ग पर चलने वाले, पारिवारिक, सामाजिक उत्तरदायित्वों के निर्वाह के प्रति कन्नी काटने वालों की भर्त्सना एवं सामाजिक बहिष्कार किया जाय । कानून ऐसे अनुदारों को प्रताड़ित करने के लिए दण्ड की व्यवस्था अपने स्तर पर करे और समाज ऐसे व्यक्तियों के प्रति उपेक्षा, तिरस्कार द्वारा विरोध प्रकट करे । सर्वत्र नीतिवानों, चरित्रवानों को प्रोत्साहित किया एवं सम्मान दिया जाय । सम्पत्ति एवं योग्यता से भी अधिक चरित्रबल को महत्त्व दिया जाय । इस दिशा में सर्वत्र प्रयास चल पड़ें तो कोई कारण नहीं है कि वर्तमान अवांछनीय प्रवाह को उलटा न जा सके । अपनी गौरव-गरिमा को प्राप्त करने के लिए हमें उच्चस्तरीय आदर्शों की पुनर्प्रतिष्ठा जन-जन के भीतर करनी होगी । अवांछनीयता की रोकथाम और समाज की सर्वांगीण प्रगति का मार्ग इसी प्रकार प्रशस्त होगा ।

प्रामाणिकता की जीवन के हर क्षेत्र में अनिवार्यता

धन की महत्ता, सार्थकता तब है, जबकि उसे नीतियुक्त मार्ग से कमाया गया हो । अनीतिपूर्वक उपार्जित धन भर्त्सना का पात्र है । चोरी, उठाईगीरी, डकैती, झूठ-फरेब आदि अनैतिक माध्यमों से भी उपार्जन करना सम्भव है । पर सिद्धान्ततः कोई भी विचारशील ऐसे उपार्जन माध्यमों

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

का समर्थन नहीं करेगा । यहाँ तक कि चोर और डकैत भी नहीं चाहते कि उनके बच्चे बड़े होकर उनका धन्धा करें । आशय यह है ईमानदारी का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से समर्थन हर कोई करता, सैद्धान्तिक तौर पर दिखाई पड़ता है । फिर बेईमानी क्यों बढ़ती है ? मिलावट का बाजार क्यों अधिक गरम होता जा रहा है ? आर्थिक अपराध क्यों बढ़ते जा रहे हैं ? भ्रष्टाचार को आश्रय कहाँ से मिलता है ? इन प्रश्नों पर गम्भीरता से विचार करने तथा कारणों के मूल में जाने पर महत्त्वपूर्ण सूत्र हाथ लगते हैं ।

अन्यों की तुलना में कम समय में अधिक उपार्जन कर लेने की आतुरता ही आर्थिक अपराधों के पीछे प्रधान कारण होती है । दुर्भाग्यवश अन्य चारित्रिक विशेषताओं की अपेक्षा धन को अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त है । जन-सामान्य की मनोभूमि सम्पन्नता को अतिशय महत्त्व देती है । श्रमशीलता एवं प्रामाणिकता की कीमत पर अर्जित की गयी समृद्धि की परम्परा को प्रोत्साहित एवं अभिनन्दित किया जाना चाहिए, यह तो उचित है तथा समाज एवं देश के विकास के लिए आवश्यक भी, पर अनीति के मार्ग से बढ़ायी गयी समृद्धि की अभ्यर्थना की जाय, यह बात विवेक के गले नहीं उतरती । सम्पन्नता किस तरह हासिल की गई तथा किस काम आई, इन दो कसौटियों पर कसने के उपरान्त किसी व्यक्ति विशेष को महत्त्व दिये जाने अथवा उपेक्षित किये जाने की परम्परा चल पड़े तो बढ़ते हुए आर्थिक अपराधों की रोकथाम में सहयोग मिल सकता है और नीतियुक्त उपार्जन की स्वस्थ परम्परा को प्रश्रय मिल सकता है ।

समाज में प्रामाणिकता की तुलना में सम्पन्नता को अधिक महत्त्व मिलते देखकर अधिकांश व्यक्ति तो यह सोचते हैं कि जैसे भी हो सम्पन्न बनना चाहिए । ऐसी विचारधारा बचपन से ही पारिवारिक वातावरण से लेकर समाज में सर्वत्र उसे मिलती है । वह परिपक्व होती रहती तथा आगे चलकर सम्पन्न बनने के शॉर्टकट मार्ग, बेईमानी पर उतारू होने के लिए प्रेरित करती है । आर्थिक अपराध शास्त्र का यही मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है जो छोटे-बड़े विविध प्रकार के अर्थ अपराधों की ओर मनुष्य को उन्मुख करता है । एक जमाना था जब बुद्धि का इतना अधिक विकास नहीं हुआ था । सीमित प्रकार के आर्थिक अपराध होते थे । चोरी, डकैती, उठाईगीरी आदि द्वारा दूसरों का धन हड़पने का प्रयास अपराधी करते थे, पर बुद्धि के साथ-साथ ऐसे ही अपराधों में वृद्धि हुई जो कानून की पकड़ में तो शीघ्रता से नहीं आते, पर समाज को भारी क्षति पहुँचाते हैं । परोक्षतः ये अपराध चोरी, डकैती आदि से कहीं अधिक खतरनाक हैं ।

मिलावट एक ऐसा ही आपराधिक कृत्य है, जिसमें चोरी और डकैती की भाँति प्रत्यक्ष धन शोषण की हानि तो नहीं दिखाई पड़ती, पर कितने ही भयंकर दुष्परिणाम छोड़ती है । लाखों व्यक्ति इस कुटिल व्यापार के कारण प्रतिवर्ष अकाल मृत्यु के ग्रास बनते हैं । मिलावट युक्त वस्तुओं के उपभोक्ताओं में से करोड़ों को कितने ही गम्भीर रोगों का शिकार बनना पड़ता है । जन-जीवन को इतनी अधिक क्षति अन्य किसी से नहीं पहुँचती जितनी कि मिलावट के कुकृत्य से ।

पैसे के लोभ में कितना घिनौना कृत्य मनुष्य कर सकता है, यह मिलावट के विभिन्न तरीकों-तरीकों को देखकर पता चलता है । खाद्यान्नों में यह व्यापार धड़ल्ले से चल रहा है । चावलों में सफेद कंकड़ आसानी से नहीं दिखायी देता । कुछ दिनों पूर्व पश्चिम बंगाल की एक चावल फैक्ट्री में छापा मारकर हजारों बोरियाँ कंकड़ की पकड़ी गयीं जो चावलों के साथ मिलाकर बोरियों में भरी जा रही थीं । कुछ वर्षों पूर्व आटे में साफ्ट स्टोन पीसकर मिलाने का कुकृत्य मिलावट के व्यापारी करते थे, पर कंकड़ों के मँगाने एवं पीसने का खर्च बाद में बढ़ गया । इसलिए वे अधिक सस्ती वस्तुओं की खोज में लग गये । उल्लेखनीय है कि साफ्ट स्टोन सम्पर्क से दाँत शीघ्र गिरते हैं । इस विजातीय द्रव्य के कारण पेचिस तथा अतिसार रोगों का जन्म होता है । अब आटे में कितने ही व्यवसायी भूसी व बारीक चूर्ण मिलाते पकड़े गये हैं । बेजिटेबिल घी में तेल, चर्बी की मिलावट तो एक सामान्य बात हो गयी है । शुद्ध देशी घी की तो मात्र अब कल्पना की जा सकती है अन्यथा बाजारों में दुकानों पर लगे लम्बे-चौड़े बोर्ड को मात्र देखकर सन्तोष किया जा सकता है । उपलब्ध घृत भण्डार की शुद्धता संदिग्ध है । सरसों के तेल में एक विशेष प्रकार का जंगली बीज का रस आसानी से घुल मिल जाता और सुगमता से पकड़ में नहीं आता । इन दिनों सरसों के तेल में व्यापक स्तर पर इस तरह की मिलावट हो रही है । जंगली बीज का मिला हुआ वह रस बेरी-बेरी जैसे भयानक रोगों को जन्म देता है ।

मसालों के क्षेत्र में तो मिलावट के विशेषज्ञों ने अति कर दी है । स्वेच्छाचारिता सबसे अधिक मसालों की मिलावट में है । सड़ी-गली, व्यर्थ हो गयी हल्दी को रँगने के लिए उसे तरोताजा और चमकीली बनाने के लिए क्रोमोट का घोल चढ़ाया जाता है । पिसी हुई हल्दी में भी उस घातक रसायन के अतिरिक्त घोड़े की लीद जैसी वस्तुएँ मिलायी हुई कितने ही स्थानों पर पकड़ी गयी है । लेड क्रोमेट यकृत तथा आँतों के लिए अत्यन्त हानिकारक है । जीरा में आजकल बड़े पैमाने पर लकड़ी का बुरादा मिलाया जाता है । पपीते के बीज को बिना चखे काली मिर्च में पहिचानना आसान नहीं है । साबूदाना, पान में प्रयोग होने वाला कत्था भी शुद्धता की दृष्टि से निरापद नहीं रहा ।

खाद्यान्नों का रंगों से सीधा सम्बन्ध है । रंग-बिरंगे विविध प्रकार के व्यंजनों में रंगों का प्रयोग किए जाने की परम्परा है । पर खाने वाले रंग तथा वस्तुओं को रंगने के लिए प्रयुक्त होने वाले रंगों में भारी अन्तर होता है । दोनों के निर्माण की प्रक्रियाएँ अलग-अलग हैं । मीठा खाने का रंग वस्तुओं की रँगाई के काम में आने वाले रंगों की अपेक्षा कहीं अधिक महँगा पड़ता है । किन्तु बाजार में

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

बिकने वाली मिठाइयों में दुकानदार सस्ते रँगों का प्रयोग करने लगे हैं । कुछ समय पूर्व कानपुर नगरपालिका के स्वास्थ्य विभाग ने खोमचों एवं दुकानों पर बिकने वाली मिठाइयों के नमूने की जाँच की तो मालूम हुआ कि अधिकांश में कपड़ा रँगने वाले विविध रंगों का व्यापक पैमाने पर प्रयोग हुआ है । सर्वाधिक मिलावट आइसक्रीम तथा ठण्डे पेयों के रंगों की पायी गयी । भारत सरकार ने कुछ विशेष सिंथेटिक रंगों को ही खाद्य पदार्थों की अनुमति दी है । शीतल पेयों, मिठाइयों, आइसक्रीम, औषधियों तथा सौन्दर्य प्रसाधनों आदि में मुख्यत: जिन रंगों को मिलाने की छूट दी गयी है वे हैं फास्टरेड, पौंस्यू ४ आर, एरीथ्रोंसीन-एमरेंसनसेटयेलो (एफ. सी. एफ.)टारट्रेजीन, कारमोइसीन, इंडिगोकारमीन ।

ये रंग अत्यन्त महँगे हैं । अत: इनके स्थान पर औरामीन, सूडान, लेडक्रोमेट, मैलेकाइट ग्रीन, मेटेनिलयेलो अखाद्य रंगों का व्यापक स्तर पर प्रयोग किया जाने लगा है । अमेरिका के स्वास्थ्य अनुसंधान विभाग से प्रकाशित एक रिपोर्ट में यह कहा गया कि एमरेंथ के प्रयोग से कैंसर होने की सम्भावना अधिक रहती है । गर्भवती महिलाओं के भ्रूण को उसके प्रयोग से क्षति पहुँच सकती है । रिपोर्ट में सजग होकर अमेरिकी सरकार ने एमरेंथ पर पाबन्दी लगा दी । अन्यान्य विषैले रंग कितने ही प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक रोगों को जन्म देते हैं । लेड क्रोमेट अकार्बनिक रसायन से एनीमिया होने का डर रहता है । बढ़ती हुई विकलांगता, कैंसर, तिल्ली एवं जिगर के रोगों को जन्म देने में इन अखाद्य रंगों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है ।

गन्ना उत्पादन में विश्व का मूर्धन्य राष्ट्र होते हुए भी देश में चीनी की कमी बराबर बनी रहती है । खुले बाजार में उपलब्ध चीनी का भाव अत्यन्त ऊँचा है । ऐसी स्थिति में कितने ही दुकानदार लुक-छिपकर मिठाइयों तथा अन्य मीठे खाद्यान्नों में सेकरीन का प्रयोग करने लगे हैं । सैकरीन एक ऐसा कृत्रिम रसायन है जिसमें चीनी की अपेक्षा ५५० गुनी अधिक मिठास होती है । गत दशक में विभिन्न देशों में हुए शोधों का निष्कर्ष है कि यह स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त हानिकारक है । सन् १९७३ में अमरीकी 'फैडरलड्रग' एजेन्सी ने सैकरीन के प्रभाव को जानने के लिए एक प्रयोग किया । कुछ चूहों को उनके आहार में सैकरीन की निश्चित मात्रा नियमित रूप से दी गई । अध्ययन में पाया गया कि उनमें से पचास प्रतिशत कैन्सर से तथा पच्चीस प्रतिशत ब्लैडट्यूमर से ग्रस्त हो गये । सैकरीन के हानिकारक प्रभावों को देखते हुए जापान, अमेरिका, कनाडा आदि देशों में उसके प्रयोग पर सख्ती से रोक लगा दी है । किन्तु अपने देश में ऐसी पाबन्दी अभी तक न लगने के कारण व्यवसायी वर्ग अधिक लाभ के लिए उसका उपयोग विपुल परिमाण में करते हैं ।

यों तो मिलावट का जन्म तभी से हुआ माना जा सकता है, जब से मनुष्य ने कच्चा आहार लेना बन्द कर उसे पकाने का तरीका अपनाना आरम्भ किया । जब कभी अपक्व भोजन किया जाता होगा, आहार में केवल फल, शाक और अनाजों का ही प्रयोग किया जाता होगा तब तो किसी प्रकार मिलावट का प्रश्न ही नहीं रहता, पर जब से भोजन को पकाना आरम्भ किया गया और उसे पकाने योग्य बनाकर बेचने का क्रम चला तब से उसमें मिलावट की सम्भावना उत्पन्न हुई । अब तक तो केवल अनाज, दालों और बने बनाये खाद्य पदार्थों में ही मिलावट की गुंजायश रहती थी, पर जब से श्रम की बचत और समय की मितव्ययता के ख्याल से रेडीमेड मसाले, बेसन और आटा, तेल, घी और बनी बनायी खाद्य वस्तुओं का प्रयोग होने लगा तब से मिलावट की गुंजायश और बढ़ गयी । गृहिणियाँ आलस्यवश ही सही बाजार से पिसे-पिसाये मसाले और बनी बनायी दालें खरीदने लगीं और इस क्षेत्र में धन-लोलुप सफेदपोश अपराधियों ने घुसपैठ की तभी से मिलावट अधिक बढ़ने लगी ।

मिलावट अपराध है, यह सभी कोई जानते हैं । दण्ड और कानून के उल्लंघन की सजा की तलवार तो मिलावट करने वालों पर हमेशा लटकती रहती है पर वे जैसी कि आशा करते हैं, अधिक पैसा और मुनाफा मिलेगा ही पूरी नहीं होती । अर्थशास्त्र का सामान्य सिद्धान्त है कि कम मुनाफा लिया जाय और अधिक खपत की जाय तो ज्यादा लाभ होता है, अपेक्षाकृत अधिक मुनाफा कमाने के चक्कर में कम खपत करने वाले ग्राहकों को प्रामाणिक वस्तु न मिलने के कारण उनका विश्वास उठ जाने से बिक्री घटेगी यह तो साधारण सी बात है । जिसे हर कोई समझता है । मिलावट करने वाला व्यापारी या दुकानदार अनैतिक व्यक्ति और अपराधी ही नहीं होता व्यापारिक दूरदर्शिता की दृष्टि से भी अन्धा ही सिद्ध होता है ।

किसी भी वस्तु में कोई घटिया चीज मिलाते समय इस बात का ध्यान नहीं रखा जाता कि उसे खाने वाले के स्वास्थ्य पर क्या प्रभाव पड़ता है । दुकानदार को तो अपने मुनाफे से ही मतलब होता है । उन्हीं चीजों को घर के लोग भी प्रयोग में लाते हैं, जिससे मिलावट कर कमाया गया मुनाफा दवाओं और रोग के उपचारों में बराबर होता रहता है । कदाचित बेचने की अलग और घर पर प्रयोग करने की चीजें अलग-अलग रखी जाती हों तो भी यह नैतिक, व्यापारिक और कानूनी दृष्टि से अवांछनीय, अदूरदर्शी और अपराधपूर्ण होता ही है ।

विरोध , सहयोग और बहिष्कार के साथ-साथ हमें रचनात्मक दृष्टिकोण से भी सोचना चाहिए । वस्तुएँ शुद्ध और मिलावट रहित मिलें इसके लिए उपभोक्ता अपने सहकारी भण्डार और दुकानें चालू कर सकते हैं । सरकार से भी इस दिशा में सहयोग मिल सकता है । स्वास्थ्यप्रद ताजी और शुद्ध वस्तुएँ जनता को उपलब्ध कराने की व्यवस्था बनाना भी एक उत्कृष्ट समाज सेवा है । मिलावट करने वाले व्यापारियों और उद्योगपतियों को सहयोग तथा प्रोत्साहन हमीं से मिलता है । मजदूर और नौकर के साथ उपभोक्ता भी तो हम ही हैं । यदि हम ही सहयोग न करें

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

और न ऐसी वस्तुएँ खरीदें तो दुकानदारों और व्यापारियों को क्या मजाल कि वे जबरन अपनी चीजें हमारे गले मढ़ दें । यदि हम उन्हें सहयोग न दें और उनका विरोध करें, सहयोग बन्द कर दें तो अकेला विक्रेता क्या कर सकता है ।

मिलावट की समस्या का एक व्यवहारी समाधान यह भी हो सकता है कि उत्पादन का क्षेत्र व्यक्तिगत न रहकर सामाजिक बना दिया जाय । क्योंकि व्यक्तिगत क्षेत्र में इसका मुख्य उद्देश्य अधिक से अधिक मुनाफा रहता । ऐसी स्थिति में कई बार आवश्यकता से अधिक वस्तुएँ तैयार कर इकट्ठी कर ली जाती हैं । जो समय पर बिक नहीं पातीं और काफी देर पड़े रहने से सड़ती-गलती जाती हैं । सड़ने-गलने से बचने के लिए कई रासायनिक तरीके अपनाये जाते हैं । उन्हें सड़ने से भले ही बचा लें पर उनमें वासीपन और विषाक्तता तो आ ही जाती है । व्यक्तिगत उत्पादन केन्द्रों में मिलावट करने की सुविधा भी काफी रहती है । क्योंकि यह सब परोक्ष में ही चलता है ।

इसके विपरीत उत्पादन को सामूहिक क्षेत्र में ले जाने में सब सम्भावनाएँ निर्मूल हो जाती हैं क्योंकि सामूहिक क्षेत्रों में उत्पादन लाभ के लिए किया जाता है । जहाँ लाभ ही नहीं उपादेयता ही दृष्टिकोण हो वहाँ सड़ने-गलने योग्य वस्तुएँ बनायी ही नहीं जातीं । उपभोक्ताओं की माँग के अनुसार ही उत्पादन होता है और इतना तो होना ही चाहिए कि उत्पादन में लगी लागत किसी पर व्यक्तिगत रूप से न आये । सभी उपभोक्ता उसका व्ययभार उठायें । वही लाभ कमाने का दृष्टिकोण कहा जा सकता है, लागत खर्च निकालने का ।

कुछ विचारशील और पढ़े-लिखे उपभोक्ता मिलकर इस प्रकार की व्यवस्था आसानी से बना सकते हैं । सामान्य जनता को भी ऐसे संस्थानों से प्रामाणिक शुद्ध, ताजी वस्तुएँ उचित दर पर मिलने का विश्वास हो जायगा तो कालान्तर में घाटे या आमदनी से अधिक खर्च का प्रश्न ही नहीं उठ सकता । इस प्रकार की व्यवस्था के लिए थोड़े-बहुत विचारशील व्यक्तियों को जनहित की भावना से प्रेरित होकर आगे भर आने की आवश्यकता है ।

प्रयोजनीय और अखाद्य वस्तुओं से मिलावट रोकने के लिए लोकमत जाग्रत करने, मिलावट करने वालों का विरोध, असहयोग, बहिष्कार करने तथा सहकारी उपभोक्ता स्टोर खोलने की आवश्यकता है और इससे भी आवश्यक है दृढ़ विश्वास, लगन, उत्साह और नुकसान उठाने का साहस करने की । तभी जनजीवन को रुग्ण बनाने वाले इस शोषण से बचाया जा सकेगा ।

विश्व के अन्य देशों की तुलना में औसत आयु दर अपने देश की निम्नतम है । प्राप्त सर्वेक्षण की रिपोर्ट के अनुसार देश के नागरिक की औसत आयु पचास वर्ष है । अमेरिका में यह औसत ६०, रूस में ७० है । कुछ स्वास्थ्य विशारदों का मत है कि खाद्यान्नों में मिलावट से उत्पन्न होने वाली विषाक्तता धीरे-धीरे स्वास्थ्य की जड़ें खोखली करती हैं और निरन्तर मिलावटी खाद्यान्नों के खाते रहने से शरीर की जीवनी-शक्ति कमजोर पड़ती जाती है । शुद्ध आहार न मिल पाने के कारण कितने ही रोगों का प्रादुर्भाव होता है । आयु दर निम्नतम होने का कारण मिलावट को भी माना जाता है ।

मिलावट के सन्दर्भ में वीकली न्यूज नामक एक अमेरिकी पत्र लिखता है कि यह धन्धा भारत में अधिक प्रश्रय पा रहा है । कारण पत्र के सम्पादक ने बताया है कि शासकीय एवं गैरशासकीय सामूहिक स्तर पर मिलावट के विरुद्ध जिस सख्ती से कदम उठाया जाना चाहिए वह नहीं है । सामान्यतः इसे इतना बड़ा अपराध नहीं माना जाता जितना कि चोरी और डकैती को । जब मिलावट के कारण हजारों-लाखों व्यक्ति प्रतिवर्ष अकाल मृत्यु से मरते हैं । करोड़ों को शारीरिक तथा मानसिक व्याधियों से ग्रसित होना पड़ता है । हत्या आदि की घटनाओं में कुछ व्यक्तियों की मृत्यु होती है पर खाद्य पदार्थों में विजातीय द्रव्यों के सम्मिश्रण से लाखों को तिल-तिल तड़प कर मरना पड़ता है । उस अपराध को जघन्य अपराधों की श्रेणी में रखकर वैसी ही दण्ड व्यवस्था बनायी जानी चाहिए । जैसा कि डकैती एवं हत्या के अपराधों के लिए है । मिलावट के धन्धे पर रोकथाम कर सकना भारत में तभी सम्भव है ।

कानूनी एवं प्रशासकीय स्तर पर तो ऐसी कठोर व्यवस्था बननी ही चाहिए । जनस्तर पर भी मिलावट के धन्धे में लगे व्यवसाइयों की भर्त्सना की जानी चाहिए । साथ ही ऐसी वैचारिक क्रान्ति की आवश्यकता है कि जनमानस अनीति से कमायी गयी सम्पन्नता की अपेक्षा ईमानदारी को अधिक प्रतिष्ठा दे । सम्मान यदि दिया ही जाय तो उन सम्पन्नों को, जिन्होंने श्रमशीलता के आधार पर उपार्जन किया है तथा उसका सदुपयोग सदुद्देश्यों में कर रहे हैं मिलावट ही नहीं उपार्जन के उन सभी अनैतिक स्रोतों को तिरस्कृत और हतोत्साहित किया जाना चाहिए जो समाज और देश के लिए हानिकारक हैं । श्रम और ईमानदारी से उपार्जित प्रामाणिक सम्पदा जो लोकहित में काम आये उसको ही सम्मानित किया जाना चाहिए ।

विदेशी वस्तुओं का उपभोग, हमारी मानसिक पराधीनता

भारत जब अँग्रेजों का गुलाम था तब यहाँ अँग्रेज व्यापारी अपने देश के निर्मित सामान लाकर बेचा करते थे । ऊँचे दामों पर घटिया माल भी हो तो भारतीय जनता को खरीदना पड़ता, शासक वर्ग अपने देश की बनी वस्तुओं के आगे भारतीय चीजें टिकने नहीं देते थे और वह सारा पैसा विदेश चला जाता । इस शोषण चक्र को बन्द करने के लिए ही जागरूक और विचारशील लोगों ने स्वाधीनता संग्राम छेड़ा । विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया जाने लगा । विदेशी कपड़ों की होलियाँ जलाई गयीं, लोगों ने भारत के बाहर बनी हुई वस्तुओं का बहिष्कार

किया । केवल इसलिए कि विदेशी व्यापार को निरुत्साहित किया जाये और गरीब देश का पैसा देश में ही रहे ।

हालांकि इन सब आन्दोलनों का ध्येय भारत को स्वतन्त्र कराना था, परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति का सबसे बड़ा लाभ भी यही आँका गया था कि हमारे देश का धन हमारे ही राष्ट्र को समृद्ध और उन्नत बनाने में प्रयुक्त हो सके । विदेशी शासन के शोषण चक्र को नष्ट करना एवं राष्ट्र की समृद्धि और विकास के नये द्वार खोलना स्वतन्त्रता का प्रमुख लाभ था ।

स्वतन्त्रता प्राप्त हुई । हमें अपने विकास और समृद्धि का आत्माधिकार मिला परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद देशवासियों की जिस दिशा में प्रवृत्ति बढ़ी उसे देखकर कहा जाय कि हम अपने प्रयत्न और पुरुषार्थ से प्राप्त की गयी उपलब्धि का लाभ नहीं उठा सके तो कोई आश्चर्य जनक बात नहीं है । स्वाधीनता प्राप्त कर लेने के बाद विदेशी वस्तुओं के प्रति जो मोह भारतीय नागरिकों में जागा है, उसे देखकर तो यही लगता है कि स्वाधीनता का परिणाम विपरीत, हानिकारक ही रहा । पहले लोग शायद किसी दबाव में आकर बाहर की बनी चीजें खरीदा करते थे परन्तु अब स्वेच्छा से और वह भी शान समझकर विदेशी माल का उपयोग किया जाता है ।

हमारे देश का उत्पादन दूसरे देश की मण्डियों में महत्त्वपूर्ण स्थान लेता जा रहा है । वहीं एक भारतीय का विदेशी माल के प्रति मोह उसे बौद्धिक दृष्टि से भी और नैतिक दृष्टि से भी बौना बना देता है ।

इसका अर्थ यही है कि हम राजनैतिक दृष्टि से भले ही स्वतन्त्र हो गये हैं मानसिक दृष्टि से अभी भी पराधीन हैं, दास हैं । इस दासता से चिपके रहने की ही चेष्टा करते रहना और स्वतन्त्रता तथा स्वराज्य की प्रशंसा करना ये दोनों ही असंगतियाँ हर दृष्टि से हास्यास्पद ही लगती हैं । एक ओर जहाँ भारतीय साड़ियाँ और वस्त्र विदेशों में लोकप्रिय हो रही हैं । कांजीवरम और बनारस के जरीदार परिधान जन चर्चा का विषय बने हुए हैं, कश्मीरी हैण्ड एम्बरायड्री के पीछे दुनिया दीवानी होती जा रही है । वहीं फ्रेंच शिफोन और यूरोपीय टेरीलिन, टेरीकॉट तथा नाईलोन की इच्छा करना कितने छोटे और ओछे मस्तिष्क की उपज है ।

नेपाल और तिब्बत की सीमा पर, बम्बई, कलकत्ता व मद्रास के बन्दरगाह पर खुलेआम चल रहा बढ़ रहा, तस्कर व्यापार इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि हम विदेशी वस्तुओं के प्रति कितने आसक्त हैं । इस व्यापार के कर्णधार कभी तो कस्टम अधिकारियों की आँखों में धूल झोंकते हैं, कभी पैसे का प्रलोभन देकर उनको अपनी तरफ मिला लेते हैं । यह एक प्रत्यक्ष देशघाती तस्कर व्यापार का धन इस प्रकार चोरी-छुपे विदेश जाता रहता है । जो काम अँग्रेज सन् १९४७ के पूर्व बलपूर्वक करते थे उसे ही आज हम स्वेच्छा से कर रहे हैं । यह कितनी शर्म की बात है ।

इस तस्कर व्यापार को प्रश्रय देता है, दैनन्दिन जीवन में विदेशी वस्तुओं का उपयोगी करने वाला आम आदमी । जिन कलाइयों पर विदेश में निर्मित घड़ियाँ बँधती हैं उनमें से अधिकांश तस्करी द्वारा इस देश में लाई गयी हैं । जिन कन्धों पर विदेशी ट्रांजिस्टर झूल रहे हैं उनका एक बड़ा प्रतिशत इस अपराधी पद्धति से भारत में लाया गया है ।

कहा यह जाता है कि विदेशी माल का प्रयोग हम इसलिए करते हैं कि अपने देश में बनी चीजें मजबूत और टिकाऊ नहीं होतीं । इस समस्या का समाधान दूसरा भी हो सकता है । प्राय: देखा गया है कि ऐसी वस्तुओं में विलासिता के उपकरण ही ज्यादा होते हैं । दैनन्दिन जीवन में उपयोग आने वाली सभी वस्तुएँ या तो गाँव और शहर में ही निर्मित होती हैं अथवा क्षेत्रीय उत्पादन से ही उन आवश्यकताओं को पूरा किया जा सकता है । कुछ समय के लिए ऐसी वस्तुओं का उपयोग ही रोक दिया जाय जो अपने देश में मजबूत नहीं बनती तो उनकी निर्माता कम्पनियाँ शीघ्र ही मनोवांछित उत्पादन देने लगेंगी ।

दूसरे यह धारणा भी भ्रम मात्र है कि हमारे देश में मजबूत व ऊँची श्रेणी का सामान नहीं बनता । जिन देशों की वस्तुएँ हम अच्छी समझते हैं वे भी यहाँ की बनी हुई चीजें अपने यहाँ मँगवाते हैं । हमारे देश के हाथकरघे से बने वस्त्रों की बराबरी दुनिया में कोई दूसरा देश नहीं कर सकता । सूती कपड़े ब्रिटेन भारत से मँगवाता है और ये वहाँ उस भाव में बिकते हैं, जितने दाम में कि हम यहाँ टेरीलिन और नायलोन के कपड़े खरीदते हैं । इसके अतिरिक्त भारतीय साइकिलें, सिलाई की मशीनें, बिजली के पंखे, स्टील की चादरें भारी मात्रा में दूसरे देश से मँगवाते हैं । कलात्मकता में भारतीय माल की होड़ दूसरा कोई कर ही नहीं सकता । यही कारण है कि यहाँ के खण्डहरों की मूर्तियाँ भी विदेशी लोग लाखों रुपये में खरीदते हैं ।

फिर अपने देश की चीजों में यदि कुछ कमी भी है, तो उसका सुधार उनका प्रयोग करने पर ही होगा । एक दम सर्वोत्तम चीज बना लेना सम्भव नहीं । दूसरे राष्ट्र जो उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचे हैं, उनकी प्रगति का राज सर्वोत्तम चीजें नहीं वहाँ के नागरिकों के हृदय में बसने वाली स्वदेशी वस्तुओं के प्रति प्रेम है । विदेशी राष्ट्रों का फैशन और विलासिता के अनुकरण की अपेक्षा यदि हम उन सद्गुणों को सीख पाते जिनके बल पर उन लोगों ने अपने देश को ऊँचा उठाया है तो हमारा राष्ट्र स्वाधीनता के चालीस वर्षों में उन्नति के न जाने किस स्तर को छू लेता ।

यह स्मरण रखा जाना चाहिए कि राष्ट्र प्रेम के गीत गाकर ही कोई देश ऊँचा नहीं उठा है, वह ऊँचा उठा है तो वहाँ के देशवासियों की लगन, निष्ठा और ईमानदारी के बलबूते पर । यहाँ की मिट्टी की जय बोलकर राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों की इतिश्री नहीं हो जाती । देश, जाति और समाज के जिसमें कि हम रहते हैं उसके प्रति हमारे अनेक उत्तरदायित्व हैं और उन्हें पूरा करने के लिए स्वेच्छया होने देने वाले शोषण के इस क्रम को बन्द करना पड़ेगा ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

धर्मतंत्र से लोक-शिक्षण की प्रक्रिया

धर्म का मंदिर, आस्था की ज्योति

आधुनिक मनोविज्ञान ने परम्परागत अध्यात्म के इस अनुभव की पुष्टि कर दी है कि मानवीय-चेतना विविध स्तरों पर एक साथ क्रियाशील रहती है । उन सभी स्तरों पर सक्रिय जीवन अपने आप में अखण्ड है । जीवन को विभाजित रूप में नहीं देखा-समझा जा सकता । चेतना किस क्षेत्र में, किस रूप में सक्रिय होगी, यह इस पर निर्भर है कि उस क्षेत्र की किन प्रवृत्तियों के प्रति उसकी आस्था है । अतः स्पष्ट होता है कि चेतना की क्रियाशीलता का स्वरूप मुख्यतः आस्था से निर्धारित, निर्देशित होता है । यह बात जितनी अन्य क्षेत्रों के लिए लागू होती है, उतनी ही धर्मतन्त्र के लिए भी । धर्मतन्त्र भी उसी स्थिति में कल्याणकारी, उपयोगी और श्रेयप्रद होता है, जब उसके साथ प्रतिपादित जीवन मूल्यों में गहन आस्था हो । जब आस्था उन जीवन मूल्यों में न होकर स्वयं को धार्मिक कहलाने-दिखलाने और लोक-श्रद्धा को ठगने-फुसलाने में हो जाती है तो वही धर्मतन्त्र हानिकर, विकृत, पतनकारक भी बन सकता है ।

आस्था ही पाषाण-प्रतिमा में परमेश्वर के दर्शन सम्भव बनाती है । आस्था के अभाव में धर्मतन्त्र के विशाल कर्मकाण्डों का अनुशीलन भी निष्फल ही रहता है ।

भिन्न-भिन्न मानसिक संस्कार के लोगों में किसी विषय के प्रति आस्था का स्वरूप एवं स्तर भिन्न होता है । जिन व्यक्तियों की शरीरबल पर आस्था है, वे उसके दुरुपयोग को देखकर भी अपनी आस्था नहीं गँवाते । क्योंकि उनकी दृष्टि में दुरुपयोग से भी शरीरबल का महत्त्व तो प्रकट होता ही है। यदि किसी व्यक्ति की कवित्व शक्ति पर आस्था है तो किसी कवि की मद्यपी या अपव्ययी प्रकृति से उसकी आस्था कवित्व शक्ति के प्रति नहीं घटेगी।

इस दृष्टि से विचार करें तो आज भी धर्मतन्त्र के प्रति जनसाधारण में जो उल्लास, उत्साह उमड़ता दीखता है, उससे प्रबुद्धजनों के विचलित होने का कोई कारण नहीं। धर्मतन्त्र के प्रति उमड़ती लोकश्रद्धा इस तथ्य का संकेत है कि उसके द्वारा मानवीय अन्तःकरण के परिष्कार एवं समाज के कल्याण की सम्भावना के प्रति भारतीय जन में गहन आस्था है। यह अलग बात है कि इस आस्था के निरन्तर दोहन किये जाने एवं बदले में जनमानस को समुचित मार्गदर्शन न दिये जाने से अब यह आस्था छीज चली है ।

आस्था अकारण ही नहीं जगती और न अकारण ही उखड़ती है । धर्मतन्त्र के प्रति जन-जन व्यापी आस्था का आधार मनीषी-पूर्वजों द्वारा लम्बे समय तक किये जाते रहे, वे प्रयत्न उपचार हैं, जिनके द्वारा यह धर्मतन्त्र देव-मानवों के भव्य उत्पादन में समर्थता और चारों ओर सुख-शान्ति भरे वातावरण की पृष्ठभूमि बनाता था । इसी प्रकार आज यदि वह आस्था कुछ घट रही है तो इसका कारण पिछली कुछ शताब्दियों से धर्मतन्त्र के प्रतिभाशालियों द्वारा उपेक्षा और उस पर प्रतिगामी तत्त्वों का एकाधिपत्य है। इसके कारण ही उसमें विकृतियों की भरमार हो चली। जहाँ-तहाँ धर्माध्यक्षों का रूप बनाकर अपने स्वार्थों को पूरा करने की तिकड़म चल पड़ी समाज के श्रम, धन और सम्मान का शोषण होने लगा । प्रतिगामी लोगों ने धर्मतन्त्र के माध्यम से जन-साधारण को दीं-कल्पनालोक की निरर्थक उड़ानें, मूढ़-मान्यताएँ, अन्धविश्वास, भाग्यवाद, देववाद, पलायनवाद की हानिकर धारणाएँ। जिस आदर्शवादी दृष्टिकोण का परिष्कार धर्मतन्त्र की स्थापना का उद्देश्य था, वह तो विस्मृत, विलुप्त ही होता चला गया । फैलता गया वह विकृत दृष्टिकोण जिसके अनुसार नदी स्नान, देवदर्शन जैसे छुटपुट कर्मकाण्डों से पाप के दण्ड भुगतने से छुटकारा मिल जाता है या अमुक पूजा-विधान से स्वर्ग-मुक्ति की, देव-अनुग्रह से मनोकामना पूर्ति की सिद्धि मिल सकती है। अनैतिकता एवं अकर्मण्यता को बढ़ावा देने वाली ये मान्यतायें धर्मतन्त्र पर लम्बे समय से छाई हैं और उस मृग-मरीचिका में भटक रही जनता श्रान्त-क्लान्त हो चली है। इसलिए अब विचारशील वर्ग में धर्मतन्त्र के प्रति आस्था वैसी अविचल नहीं रही। वे धर्मतन्त्र की उपयोगिता को संशय के दृष्टिकोण से देखने लगे हैं, किन्तु यह तो निषेधात्मक दृष्टि है ।

विचारणीय यह है कि भारत के लोकमानस में मानवतावादी, सद्भावना एवं सत्प्रवृत्तियों की स्थापना किस पृष्ठभूमि पर हो सकती है । उपयोगी गतिविधियाँ अपनाने के लिए जन-सामान्य को सहमत करने की सर्वाधिक सुगम प्रक्रिया क्या होगी ?

अशिक्षित, देहाती भारत की कठिनाई यह है कि उसकी पूर्व जानकारी प्रधानतया धार्मिक स्रोतों से सम्बद्ध है । वे ही विचार, वे ही मान्यतायें उस तक सहजता से सम्प्रेषित हो सकती हैं, जो धर्म के कलेवर से जुड़ी हों । उसी सिलसिले को आगे बढ़ा कर बात ठीक से समझाई जा सकती है । धर्म भारतीय जनता का प्रिय विषय है । धार्मिक कलेवर का उपयोग विवेकपूर्ण विचारों के शिक्षण के लिए करने से वे गहराई तक सरलता से जम सकते हैं । धार्मिक आयोजनों में जो भावनात्मक वातावरण बनता है, उस ऊष्मा का उपयोग श्रेष्ठ मान्यताओं, उत्कृष्ट धारणाओं के प्रस्थापन के लिए किया जा सकता है । आज भी जनता के धन, समय और मनोयोग का बहुत बड़ा अंश

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

धर्मतन्त्र के लिए स्वेच्छा से समर्पित होता रहता है । अतः उस शक्ति का सदुपयोग करना एक महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक कर्त्तव्य-कर्म है । धर्म-कलेवर में नये प्राण फूँकना भारत में एक राष्ट्रीय कर्त्तव्य है ।

धर्मतन्त्र द्वारा ही लोकमानस का परिष्कार-परिमार्जन सम्भव है । प्राणी भी पदार्थों की ही तरह प्रकृतितः अनगढ़ ही होते हैं । जिस प्रकार पदार्थों को पकाना, गलाना, ढालना, खरादना आवश्यक होता है, तभी वे कांतिमान, सुन्दर, सुडौल और उपयोगी बन पाते हैं, उसी प्रकार प्राणियों को भी प्रशिक्षित, परिष्कृत करना होता है । जिस प्रकार पेड़-पौधों की कटाई, छटाई, गुड़ाई, निराई, सिंचाई आदि करने पर ही सुन्दर, आकर्षक उद्यान तैयार होता है, उसी प्रकार प्राणियों की प्रवृत्तियों को भी परिष्कृत, विकसित कर उन्हें अधिक उपयोगी, अधिक सुन्दर बनाया जाता है । परिष्कृत, प्रशिक्षित मनुष्य ही सुसंस्कृत कहलाता है ।

मनुष्य को सुसंस्कृत बनाने की प्रक्रिया द्विपक्षीय है । उसका दर्शन पक्ष अध्यात्म कहलाता है और व्यवहार पक्ष का नाम धर्म है । धर्मतन्त्र का काय-कलेवर संस्कृति के व्यावहारिक प्रशिक्षण के लिए ही खड़ा किया गया है। एक लम्बी अवधि से इस धर्मतन्त्र का भीषण दुरुपयोग होता रहा है और वह मनुष्य के लिए हानिकारक विकृतियों का पोषण केन्द्र बनता रहा है । इस पर भी धर्मतन्त्र के प्रति लोक-आस्था शेष है। आस्था की इस ज्योति को स्वास्थ्यप्रद प्राणवायु से प्रखर, प्रदीप्त बनाया जाना चाहिए । यह दायित्व उन लोगों का है, जो लोकमानस के परिष्कार एवं प्रशिक्षण का महत्त्व समझते हैं और राष्ट्रीय सन्दर्भ में उसके उपयुक्त माध्यम के रूप में धर्मतन्त्र की उपादेयता भी समझते हैं । धर्मतन्त्र रूपी मन्दिर में जल रही जन-आस्था की ज्योति को बुझा देने से मिलेगा कुछ नहीं, घाटा ही घाटा होगा । धर्म-भावना का अभ्यासी मानस इससे विभ्रान्त दिङ्मूढ़ हो जायेगा । अतः आवश्यकता इसी की है कि आस्था की उस ज्योति को प्राणवायु पर्याप्त रूप में पहुँचाई जाय । भावनाशील अन्तः-करण, उत्कृष्ट चिन्तन एवं श्रेष्ठ आचरण वाले जीवन्त देव मानव एवं प्रबुद्ध जन इस क्षेत्र में आगे आयें और धर्मतन्त्र को परिमार्जित, परिशोधित, नवनिर्धारित कर आस्था की ज्योति को जाग्रत रखें । आस्था ही मानवीय अन्तः-करण को आनन्दित, पुलकित, प्रफुल्लित रख सकती है और प्रगति पथ पर बढ़ते रहने का पाथेय जुटाती रह सकती है ।

धार्मिक वातावरण की आवश्यकता समझें

सामाजिक नैतिकता की इन दिनों सर्वत्र चर्चा है, किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि धार्मिक, आस्तिक मान्यताओं के बिना सामाजिक नैतिकता का ठोस आधार नहीं विनिर्मित हो सकता । मन में नास्तिकता रहे, इहलोक और यह देह ही सब कुछ है । यह धारणा फलीभूत रहे तो अचेतन मन में चाहे जिस कीमत पर अधिकतम सुख का उपभोग करने की लालसायें जगी रहेंगी और नैतिकता दिखाऊ नारा या ढोंग बनकर रह जायेगी । सामाजिक विषमतायें ताकालिक आवेश तो पैदा करेंगी, पर फिर उन्हें अन्तहीन जानकर तथा स्वयं की आदर्शवादिता निष्फल ही देखकर परलोक तथा कर्मफल पर विश्वास न करने वाला स्वयं चालाकी पर उतर आयेगा और दुष्कर्मों द्वारा सुख संचय में हिचकेगा नहीं । आस्तिकता परलोक में आस्था, सत्कर्मों से भगवतकृपा कर्मफल की अनिवार्यता जैसे सिद्धान्त एवं मान्यताएँ ही अचेतन मन में नैतिकता का अंकुश रखने में समर्थ हैं । इसीलिए परिवार तथा समाज में धार्मिकता का वातावरण आवश्यक है ।

आध्यात्मिक अनुभूतियाँ, योग, साधना, एकाग्र भक्ति, ध्यान आदि धार्मिकता के व्यक्तिगत पक्ष हैं । इसका दूसरा पहलू है, सामूहिक धर्मतन्त्र, जो समाज में धार्मिक वातावरण तथा क्रिया-कलापों को गतिशील रखता है। दोनों ही पक्ष महत्त्वपूर्ण हैं और किसी की भी पूर्ण उपेक्षा अनुचित है ।

धर्मतंत्र सामूहिक नैतिक दबाव पैदा करने का तंत्र है । इसमें व्याप्त प्रतिगामिताओं के कारण उस तंत्र की ही उपेक्षा अनुचित तो है ही, हानिकर भी सिद्ध होगी । धर्मतंत्र मानवीय आवश्यकताओं से उत्पन्न हुआ है और यदि जागरूक जन उसकी उपेक्षा करेंगे तो धूर्त, ठग और प्रतिगामी असामाजिक तत्त्व उस क्षेत्र में छाते ही चले जायेंगे, इससे समाज में अन्ततः नैतिक अराजकता और नैतिक पतन का ही प्रसार होगा ।

अतः परिवार एवं समाज में धार्मिक वातावरण को जीवन्त बनाने का प्रयास अवश्य ही किया जाना चाहिये । धर्मतंत्र मनुष्य के अवचेतन में जिन संस्कारों का उन्नयन, आरोपण एवं सम्वर्द्धन करता है, वे स्कूली शिक्षण द्वारा सम्भव नहीं हैं, इसीलिए धार्मिकता के वातावरण का महत्त्व भली-भाँति समझा जाना चाहिए । एक ओर जहाँ सामाजिक स्तर पर उस हेतु प्रयास अपेक्षित हैं, वहीं घर-परिवार में भी श्रेष्ठ धार्मिक परम्पराओं का प्रचलन आवश्यक है । इसके सात मुख्य कारण हैं-

(१) प्रत्येक घर में उपासना कक्ष हो या उपासना का निश्चित स्थान हो । परिवार का प्रत्येक सदस्य स्नान के उपरान्त कुछ देर उपासना अवश्य करे, जिस दिन अधिक समय न हो उस दिन भी उपासना स्थल पर जाकर चित्र प्रतीक के समक्ष प्रणाम करना और कम से कम पाँच बार गायत्री मंत्र का जप करना तथा प्रभु स्मरण एवं ध्यान करना आवश्यक है । जो लोग प्रातः स्नान न कर पायें वे मुँह-हाथ धोकर ही पहुँचें, पर नाश्ता तथा दिन भर के मुख्य कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व प्रभुवंदन का कार्य अवश्य किया जाय ।

(२) घर में स्वस्थ, सुन्दर, प्रेरक चित्रों, प्रतीकों, देवताओं या अन्य प्रेरणाप्रद दृश्यों के चित्रों को स्थान दिया जाय । अश्लील उत्तेजक चित्र कदापि न रखे जायें । ऐसे चित्र रखना अपने ही ओछे होने का विज्ञापन है ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

(३) सत्संस्कारों का जैसे-स्नान के उपरान्त ही भोजन किया जाय, गुरुजनों को प्रणाम किया जाय, हवन बलिवैश्व देव, गौग्रास आदि का अभ्यास अवश्य कराया जाय ।

(४) सम्भव हो तो प्रातः सायं दोनों समय अन्यथा कम से कम सायंकाल उपासना स्थल के समक्ष सामूहिक एकत्रीकरण हो । इसमें जहाँ श्रद्धा दृढ़ होगी, वहीं पारस्परिक आत्मीयता सघन होगी तथा अभिवादन आदि के द्वारा भावनात्मक सामीप्य बढ़ेगा, कटुता पनपने-बढ़ने की सम्भावना घटेगी ।

(५) श्रद्धा के विकास का महत्त्व समझा जाय । उस दिशा में किस घर में क्या-क्या किया जा सकता है, यह देखा, सोचा जाय तथा किया जाय । मात्र उपयोगिता ही सब कुछ नहीं, भावनात्मक उत्कर्ष भी महत्त्वपूर्ण है, यह समझा जाये तथा सामान्य दृष्टि से निरुपयोगी या कम उपयोगी प्रतीत होने वाली, किन्तु भावनात्मक परिष्कार की प्रेरणा देने वाली क्रियाओं का महत्त्व समझकर उन्हें परिवार की नियमित दिनचर्या का अंग बनाया जाय ।

(६) हर घर में धर्मघट की स्थापना हो, जिसमें प्रत्येक सदस्य नियमित रूप से पाँच या दस पैसे डाले । घर के बड़े स्वयं यह कृत्य नित्य करें, बच्चों से करायें तथा जिस दिन वे भूल जायें, उन्हें टोकें, समझाएँ ताकि यह कार्य नियमित रूप से होता रहे । धर्मघट के संचय से श्रेष्ठ सत्साहित्य का क्रय किया जाय । क्योंकि श्रेष्ठ विचार, उत्कृष्ट भावनाएँ तथा भव्य कल्पनाएँ अच्छी पुस्तकों में ही उपलब्ध हो सकती हैं और जीवन को विकास तथा प्रगति की दिशा में अग्रसर बनाये रखने के लिए परिवार के हर सदस्य में स्वाध्याय की प्रवृत्ति विकसित होनी चाहिए ।

(७) काम-धन्धे से निबटने के बाद रात में हर परिवार में कहानियाँ कहने की प्रथायें पुनः प्रचलित होनी चाहिए । इस हेतु सरस तथा आदर्श, प्रेरक कथायें चुनी जाएँ और उन्हें सुनाने का हर सदस्य को अभ्यास कराया जाय । साथ ही, यह ध्यान अवश्य रखा जाय कि कथाओं में प्रतिगामिता को उकसाने वाले अंश न रहें और पुराकथाओं में ऐसे प्रसंग आ जाएँ तो उन्हें तूल न दिया जाय, अपितु उनकी उपेक्षा की जाए । प्रेरक प्रसंगों को उभारते हुए कथा-गोष्ठियाँ चलाई जाएँ ।

इसी प्रकार सामाजिक स्तर पर भी निम्नवत् सात प्रयास किये जाने चाहिए-

(१) मन्दिर सामूहिक प्रार्थना स्थल बनाया जाय । इसी में उनकी सार्थकता है । वहाँ प्रातः तथा सायं सामूहिक प्रार्थनाएँ हों । समूह प्रशिक्षण का यह अति श्रेष्ठ मनोवैज्ञानिक प्रभावक्षम कार्यक्रम है, जो सामूहिक जागरण हेतु आवश्यक है । ब्रह्ममुहूर्त में एवं गोधूलि वेला में शंख घंटे जैसे वाद्यों, प्रतीक-प्रतिमा की भावपूर्ण मुद्रा तथा आरती की दीपशिखा के बिम्बों का सम्युजन और उस भावभूमि में सामूहिक स्वरों में भावनापूर्ण वन्दना का प्रभाव अवचेतन मन पर गहराई से अंकित होता है । इसीलिए मन्दिरों की सार्थकता उनके सामूहिक प्रार्थना घर बनने तथा सामूहिक कल्याण कार्यक्रमों व विचार-जाग्रति के केन्द्र बनने में ही है ।

(२) सामूहिक अभियान छेड़कर स्वास्थ्य प्रेरणाप्रद चित्रों की स्थापना तथा अश्लील चित्रों के हटाने के कार्यक्रम चलें ।

(३) कीर्तन, सहगान, भजन के सामूहिक कार्यक्रम समय-समय पर नियमित रूप से हों ।

(४) धार्मिक कथाओं, रामायण, भागवत आदि के सामूहिक आयोजन हों जिनमें पुराण कथाओं की प्रगतिशील प्रेरक व्याख्याएँ हों ।

(५) संस्कारों के सामूहिक आयोजन हों । जन्मदिन, नामकरण संस्कार, विद्यारम्भ संस्कार आदि मुहल्लों में सामूहिक रूप से मनाए जाएँ उनको सही ढंग से आयोजित किया जाय तथा धार्मिक क्रियाओं में अन्तर्निहित संकल्प एवं प्रेरणाएँ समझी-समझाई जाएँ । यह स्पष्ट किया जाय कि पूजा-उपचार कोई जाल-जंजाल या अन्धविश्वास नहीं है । वैसा करने पर वे पूजा नहीं ठगी बन जाती हैं । पूजा की सार्थकता तभी है, जब वह श्रेष्ठता का संकल्प जगाए-बढ़ाए ।

(६) सामूहिक जप, साधना, यज्ञ, हवन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया जाय, उनकी महत्ता समझाई जाय । साधना सामूहिक होने पर अधिक फलप्रद, अधिक परिणामकारी होती है, यह बताया जाय ।

(७) सामूहिक धर्म चर्चाएँ हों, जिनमें धर्म तत्त्व का विचार मात्र ही न हो । पुण्य-प्रयोजनों के लिए नियमित अंशदान का विग्रह किया जाए, उत्साह बढ़ाया जाय । श्रेष्ठकार्यों के लिए सामूहिक प्रयास हों । इनमें सत्साहित्य से समृद्ध पुस्तकालयों की स्थापना से लेकर समाज सुधार के विभिन्न कार्यक्रमों के क्रियान्वयन एवं कुरीतियों के विरोध-बहिष्कार सम्बन्धी निर्णय लिए जाएँ और उनके क्रियान्वयन सम्बन्धी नियमित समीक्षा की जाय ।

इस प्रकार पारिवारिक एवं सामाजिक दोनों ही स्तरों पर धार्मिक वातावरण के निर्माण, उत्कर्ष तथा परिष्कार के प्रयास चलाये जाने अत्यावश्यक हैं । सामाजिक नैतिकता की स्थापना के लिए सामूहिक अवचेतन में उन मान्यताओं की प्रस्थापना आवश्यक है, जो विश्वव्यापी न्याय-विधान, नीति-नियामक सत्ता, कर्मफल की सुनिश्चित प्रक्रिया एवं जीवन की अविच्छिन्नता अर्थात् पूर्वजन्म जैसी आस्थाओं को जाग्रत करें । तभी सत्कर्म की सच्ची प्रेरणा, उनके सत्परिणामों की प्राप्ति पर अटल विश्वास तथा दुष्कर्मों से हानि का भय उत्पन्न होगा । यही आधार सामाजिक नैतिकता की सुदृढ़ पृष्ठभूमि बन सकते हैं । इसी दृष्टि से धार्मिक वातावरण की आवश्यकता व महत्त्व समझकर उस दिशा में प्रयास किये जाने चाहिए ।

विनाश से बचने के लिये धर्म-चेतना जगायें

पिछले दिनों ऐसा समय भी रहा है, जबकि धर्म को जादू-टोने या अन्ध-विश्वासों का घर बना दिया गया । लोग देवी-देवताओं की, भूत-पलीतों की, ग्रह-नक्षत्रों के परावलम्बन की मान्यताओं के साथ धर्म का सम्बन्ध जोड़ते रहे हैं और धार्मिक कर्मकाण्डों का इसलिए प्रयोग करते रहे हैं कि उनके माध्यम से किन्हीं अदृश्य और रहस्यमयी

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

सत्ताओं को प्रलोभित या वशवर्ती करके उनसे वे सहायतायें प्राप्त की जायें, जिनकी हमारे दैनिक जीवन में आवश्यकता रहती है और जिन्हें हम आसानी से पूरा कर नहीं पाते ।

धर्म के साथ देवी-देवताओं का एक विशाल कलेवर इसीलिए जुड़ा है, उनकी प्रसन्नता के लिए बहुत श्रमसाध्य एवं व्ययसाध्य प्रतीकों का ढाँचा इसीलिए खड़ा किया गया है कि उन तथाकथित परोक्ष सत्ताओं की अनुकूलता का समुचित लाभ प्राप्त किया जा सके । इस प्रवृत्ति ने अगणित स्वभाव और स्वरूप के देवताओं का सृजन किया । धर्माधिकारी नेताओं ने अपने को उन देवताओं को वशवर्ती करने वाले मन्त्रों का ज्ञाता और अधिकारी बताया, जिनके द्वारा स्वल्प प्रयत्न से अभीष्ट मनोरथ सहज ही सिद्ध होते हैं । चूकि: धर्माधिकारी बनना अति सरल और उसका लाभ अपरिमित था । इसलिए अपनी प्रभुता को अग्रणी बनाने के लिये अपने-अपने पंथ चलाये और उस भिन्नता का पक्ष समर्थन करने के लिए पूर्व परम्पराओं में कुछ ऐसे फेर-बदल किये कि जिससे लोगों को उस नये धर्म के प्रति अधिक आकर्षण उत्पन्न हो सके । सम्प्रदायों के भेद-प्रभेद बढ़ने और उनकी शाखा-प्रशाखा फूटने के कारणों में प्राय: यही मानवीय दुर्बलता काम करती रही है ।

जिस प्रक्रिया का मूल प्रयोजन ऊँचा न हो उसके परिणाम अच्छे हो ही नहीं सकते । सम्प्रदाय-सम्प्रदाय के बीच दीवार ही खड़ी नहीं की गई वरन् इतनी कटुता भी भर दी गई कि एक धर्मानुयायी ने दूसरे धर्मानुयायी को पथ-भ्रष्ट, दुष्ट, शत्रु और यहाँ तक कि उसे वध करने योग्य करार दे दिया । इतिहास के कितने ही रक्तरंजित पृष्ठ इसी दुर्भाग्यपूर्ण धर्मावेश से भरे पड़े हैं, जिनके कारण अगणित व्यक्तियों को मृत्यु दण्ड की अथवा वैसी ही कष्टकारक अपार यन्त्रणायें इसलिए दी गईं चूँकि वे लोग किसी दूसरे धर्म सम्प्रदाय पर विश्वास करते थे । अभी भी यह साम्प्रदायिक उन्माद इतना सजीव है कि बिना कारण लोगों के बीच इसी आधार पर घृणा और बैर बढ़ता रहता है कि दूसरे लोगों ने दूसरा धर्म क्यों माना ? इस तथाकथित धर्म मान्यता ने न जाने कितना विसंगठन फैलाया और कितनों को ऐसे अकारण उत्पीड़न का शिकार बनाया जिसका वास्तव में कोई कारण या आधार नहीं था ।

इन दुर्भाग्यपूर्ण धर्म विकृतियों को देखते हुए विचारशील लोगों में यदि धर्म के प्रति अश्रद्धा और खीज उत्पन्न हुई हो तो उसे अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता । आज धर्म-प्रेमी और संकीर्णतावादी दोनों को एक ही अर्थ में लिया जाता है । कर्मकाण्डों के माध्यम से बड़ी-बड़ी उपलब्धियाँ प्राप्त करने के स्वप्न देखने वालों को यदि अन्धविश्वासी कहा जाने लगे और उनका उपहास किया जाने लगे तो इसमें कुछ आश्चर्य की बात नहीं है ।

विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या वास्तव में धर्म का प्रयोजन यही है जो आजकल फैला दिखाई पड़ता है ? गहराई तक खोजने-समझने से विदित होता है कि वर्तमान में चारों ओर छितरे पड़े धर्म कलेवरों की मूल धर्म भावना में काफी अन्तर है । वस्तुत: धर्म का मूल स्वरूप इतना आवश्यक एवं उपयोगी है कि यदि उसे व्यक्तिगत जीवन तथा समाज व्यवस्था की रीढ़ कहा जाय तो कुछ अत्युक्ति न होगी ।

धर्म शब्द का अर्थ है-धारणा । यहाँ धारणा से तात्पर्य उन आदर्शों की अन्तरंग में प्रतिष्ठापना से है जो व्यक्ति और समाज को श्रेष्ठता और सद्भावना की दिशा में प्रेरित करते हैं । धर्म का दूसरा अर्थ है-'अभ्युदय और निश्रेयस्' अर्थात् उन गतिविधियों को अपनाया जाना जो कल्याण एवं प्रगति का शालीनतायुक्त पथ-प्रशस्त कर सकने वाली आस्था हो, स्मृतिकारों ने धर्म को कर्त्तव्यपालन के अर्थ में लिया है । कर्त्तव्य से तात्पर्य उन उत्तरदायित्वों से है जो निजी तथा सामाजिक जीवन में सौम्य सामंजस्य बनाये रखने की दृष्टि से किया जाय और जिसमें स्वार्थ की अपेक्षा परमार्थ का, अधिकार की अपेक्षा जिम्मेदारी पर ज्यादा ध्यान दिया जाय । इन अर्थों के प्रकाश में इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि धर्म की मूल प्रेरणा व्यक्ति को सदाचारी, संयमशील, सद्भावनासम्पन्न एवं समाजनिष्ठ बनाये रखने की है । वस्तुत: यह प्रेरणायें ही वे आधारशिला हैं जिन पर व्यक्ति की समर्थता एवं समाज की सुव्यवस्था पूर्णतया निर्भर है ।

कहा जाता है कि आसुरी और दैवी तत्त्वों के, शैतान और भगवान् के, तम और सत् के सम्मिश्रण से मनुष्य की रचना हुई है । उसमें श्रेष्ठता भी पर्याप्त है, पर निकृष्टता भी कम नहीं । जब श्रेष्ठता का उभार आता है तो व्यक्ति संत, सज्जन, महामानव, भू-सुर एवं नर-नारायण जैसा दीखता है, पर जब निष्कृष्टता उफनती है तो उसकी दुष्प्रवृत्तियाँ इतनी भयावह हो उठती हैं, कि पशु और पिशाच भी उससे बहुत पीछे रह जाते हैं । इन उफानों का सन्तुलन एवं नियन्त्रण बनाये रखने के लिए अन्त:करण में जिस निष्ठा अंकुश की आवश्यकता पड़ती है, उसी नियामक तत्त्व दर्शन की, आस्था शिलारोपण की, दृष्टिकोण को धर्म कहा जा सकता है । आन्तरिक आस्था के अतिरिक्त मनुष्य जैसे अदभुत् बुद्धि एवं विलक्षण सूझ-बूझ वाले प्राणी को और किसी तरह कुमार्ग से बचाने और सन्मार्ग पर प्रेरित करने के लिए अन्य कोई आधार हो ही नहीं सकता । कानून, दण्ड, लोक-निन्दा आदि से बच निकलने के लिये उसके पास इतनी पगडंडियाँ मौजूद हैं तथा निकलती रहती हैं कि अनीति से रोका जा सकना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है । असुरता के उफान को रोकने और देवत्व की अभिलाषा को प्रोत्साहित करने के लिए जिस सर्वतोमुखी भावनात्मक निष्ठा को, धर्म-धारणा को, तत्त्वदर्शियों और महामनीषियों ने गढ़ा है, निस्सन्देह उन्होंने विश्व मानव की महान् सेवा की है ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

६.५ धर्म तत्त्व का दर्शन और मर्म

विश्व व्यवस्था का क्रम संचालन ठीक तरह चलता रहे और व्यक्ति अपनी नैतिक मर्यादाओं का उल्लंघन न करने पावे, इस प्रयोजन के लिए विनिर्मित की गई धर्म की मूल मान्यतायें निस्सन्देह हमारे लिए नितान्त उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण हैं । धर्म की दार्शनिक व्याख्या में नैतिक एवं सामाजिक उत्कृष्टता की भावनाओं और प्रवृत्तियों का ही समावेश है और उन्हें कोई सम्प्रदाय झुठला नहीं सका है । मत-मतान्तर के अन्तर्गत आने वाले क्रिया-कृत्यों अथवा रीति-रिवाजों में कितना ही अन्तर क्यों न हो, नैतिक मूल्यों के बारे में प्राय: सर्वत्र एकता और रूपता पाई जाती है । सत्य, प्रेम, न्याय, संयम, दया, उदारता, सहिष्णुता, सज्जनता, निर्मलता जैसे सद्गुणों को धर्म की आत्मा कह सकते हैं । सम्प्रदाय व्यवस्थाओं को तो उनका वस्त्र परिधान मात्र कहा जा सकता है । इन आवरणों पर अधिक ध्यान न दिया जाय, विशेषतया उन सन्दर्भों को नजरअन्दाज कर दिया जाय जो अनैतिकता के अतिरिक्त केवल बाह्य मान्यताओं के कारण दूसरों के प्रति कठोर, असहिष्णु बनाना सिखाती हैं । उसी प्रकार अदृश्य शक्तियाँ देवी-देवताओं की मनौती-चुनौती को भी व्यक्तिगत रुचि की बात मान लिया जाय और उस पर सैद्धान्तिक रूप से कुछ झंझट न खड़ा किया जाय तो सम्प्रदाय के विषैले, विकृत अंश से बचा जा सकता है और उसके उपयोगी अंश से लाभान्वित हुआ जा सकता है ।

आज की परिस्थितियों में धर्म तत्त्व की मूल भावनाओं के अभिवर्द्धन और परिपोषण की जितनी अधिक आवश्यकता है, उतनी पहले कभी नहीं रही । बौद्धिक, आर्थिक और वैज्ञानिक विकास के कारण जिन सुविधा-साधनों की वृद्धि हुई है, उन्होंने मनुष्य को अधिक लालची, अधिक विलासी और साथ ही अधिक धूर्त बना दिया है । फलस्वरूप कम काम करने, अधिक लाभ उठाने और नीति-अनीति का विचार किये बिना जैसे भी स्वार्थ सिद्ध होता है, पूरा कर लेने की हविश बेतरह जाग पड़ी है । धर्म का अंकुश न रहने से यह दुष्प्रवृत्तियाँ इतनी अधिक पनपीं कि उन्हें अब एक परम्परा एवं सहज स्वाभाविकता माना जाने लगा है । किसी को दूसरों की इन दुष्प्रवृत्तियों से हानि पहुँचे तब तो वह जरूर चेंचें करेगा अन्यथा समाज में इस सन्दर्भ में बढ़ रही अवांछनीयता, हलचलों से किसी को कोई शिकायत नहीं है । अनैतिकता का सामाजिक विरोध इसलिए समाप्त हो गया, क्योंकि इसे सर्वजनीन स्वाभाविक रीति-नीति मान लिया गया । अपराधों के प्रति शासकीय नियन्त्रण एक तो वैसे ही प्रजातन्त्र में बहुत ढीला होता है, अपराधियों को दण्ड प्रतिशोध के भय से भी मुक्ति मिल गई है । जेल आदि को सुधार गृह बनाकर अपराधियों को और भी अधिक सुविधा देने के प्रयास चलते रहते हैं । अतएव वे एक बार जेल हो आने के बाद तो उस भय से भी निवृत्त हो जाते हैं और सुख-सुविधा भरी ससुराल मानने लगते हैं । ऐसी दशा में जबकि सामाजिक और शासकीय प्रतिबंधन बुरी तरह ढीले हों तो बढ़ती हुई अवांछनीयता को कौन रोके ? दुष्प्रवृत्तियों से नष्ट होने वाली मानवीय प्रतिष्ठा एवं सम्पदा को विनाशकारी मार्ग से बचाकर प्रगति की रचनात्मक दिशा में कौन नियोजित करे ? यदि इस दिशा में कुछ न किया जा सका तो दुष्प्रवृत्तियाँ व्यक्ति, समाज, शासन और अन्तर्राष्ट्रीय घटनाक्रमों को जिस प्रकार प्रभावित कर रही हैं, उसका परिणाम सर्वनाश ही हो सकता है । कूटनीतिक, धूर्तता और संहारक अस्त्रों की घुड़दौड़ एक दिन मनुष्य जाति को सामूहिक आत्म-हत्या के लिए विवश कर सकती है ।

अन्धकारमय भविष्य की इन आशंका भरी सम्भावनाओं के बीच एक ही प्रकाश की किरण शेष रह जाती है कि धर्म बुद्धि को, धर्म वृत्ति को फिर से सजग और समर्थ बनाया जाय । जन-मानस में उन मूल्यों के प्रति निष्ठा उत्पन्न की जाय जो मानवीय गरिमा एवं श्रेष्ठता के मूलभूत आधार हैं । जन-आकांक्षाओं में सुख-साधनों की सत्ता, अधिकार की, आतंक और अहंकार की जिस उद्धतता ने अधिकार जमा लिया है, उसका परिमार्जन करके यदि आत्मगौरव के लिए आदर्श चरित्र की आवश्यकता का भाव जगाया जाय तो ही दिशा परिवर्तन की आशा की जा सकती है और उस परिवर्तन से ही अन्धकार को प्रकाश की ओर मुड़ चलने की सम्भावना सोची जा सकती है । यह परिवर्तन ही सर्वग्राही विनाश के पथ पर दौड़ती चली जा रही दुनिया को बचा सकने में समर्थ हो सकता है । कहना न होगा कि धर्म श्रद्धा के पुनरुत्थान बिना यह प्रयोजन पूरा नहीं हो सकने की ओर कोई उचित राह दिखाई नहीं पड़ती । दूसरी राह उस अधिनायकवाद की है, जिससे व्यक्तिगत स्वाधीनताओं का अन्त करके मनुष्य को सोचने से दूर मात्र कार्य-कर्त्री लौह मशीन के रूप में प्रस्तुत कर दिया जाना है । वह स्थिति तो आज की विडम्बना भरी दुर्दशा से भी अधिक भयावह सिद्ध होगी । अधिनायकवादी सर्वतोमुखी पराधीनता तो ऐसी है जिसमें एक बार फँस जाने पर त्राण पाना अशक्य नहीं तो दुस्तर अवश्य हो जाता है, जिसे भावनाशील और विचारशील लोगों में से कोई भी पसन्द न करेगा ।

मानवीय अन्त:करणों में कुमार्गगामिता और उसकी प्रतिक्रिया-विद्वेष से ऐसी आग जला करती है जिसमें वैयक्तिक जीवन का आनन्द-उल्लास एक प्रकार से नष्ट ही होता चला जा रहा है । साधन सम्पन्न होते हुए सुख-शान्ति की झलक किसी के जीवन में नहीं है । सर्वत्र अशान्ति, उद्वेग और असंतोष की ही आग सुलगती और धुएँ जैसी घुटन पैदा करती दिखाई देती है । सामाजिक जीवन में अपराध, अनाचार, छल, असहयोग एवं अविश्वास की बाढ़-सी आ रही है और फलस्वरूप पग-पग पर विग्रह और रागद्वेष के ज्वालामुखी फूट रहे हैं । न व्यक्ति को सुख है, न समाज में शान्ति । नारकीय विद्रूपता इस संसार को अपंग और कुरूप बनाने पर तुली हुई है । इन परिस्थितियों में एक ही रास्ता शेष रह जाता है कि धर्म भावनाओं के

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

पुनः मानवीय अन्तःकरण में गहन श्रद्धा के रूप में पुनः प्रतिष्ठापित किया जाय और प्राचीनकाल जैसी धर्म-परायणता को वापस लाने के लिए भागीरथ प्रयत्न किया जाय । हमें धर्म की रक्षा के लिए कटिबद्ध होना चाहिए ताकि धर्म हमारी रक्षा करने में समर्थ सिद्ध हो सके ।

धर्म-दर्शन कैसे आचरण में उतरे ?

कार्य में श्रेष्ठता की अभिव्यक्ति होना तभी सम्भव है, जब उसके मूल में चिन्तन की उत्कृष्टता हो । क्रिया-कलाप मूल्यवान अवश्य हैं, किन्तु उनके पीछे लगे चिन्तन के महत्त्व को भी अस्वीकारा नहीं जा सकता । करने के महत्त्व का आधार वह अव्यक्त चिन्तन ही है जो अपने प्रेरणा प्रवाह के सातत्य से इसे जीवन्त बनाता है ।

क्रिया का विश्लेषणात्मक विवेचन करने पर स्पष्ट होता है कि इसका स्वरूप एक वृक्ष के सदृश है जिसकी जड़ें चिन्तन परिक्षेत्र में गहरी जमी होने के कारण अदृश्य होती हैं । दीख पड़ने वाला कार्य तने और टहनियों के सदृश है । इसके परिणाम ही वह फूल-फल हैं जो उद्देश्यों का स्वरूप अभिव्यक्त करते हैं ।

आज मानवीय क्रिया-कलापों में एक मूल्यात्मक ह्रास की अनुभूति हो रही है, विश्व के विभिन्न चिंतक समाज विज्ञानी इसी उधेड़बुन में पड़े हैं कि मानव के वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन को श्रेष्ठ कैसे बनाया जाय ? मनोअध्येता एरिक फ्राम ने इस संकट को मानव मन का संकट कहकर निरूपित किया है ।

निश्चित ही वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन में श्रेष्ठता की प्रतिष्ठापना तभी सम्भव है, जब चिन्तन में व्याप्त विकृति को दूर किया जा सके । चिन्तन परिक्षेत्र बंजर हो जानेके कारण कार्य भी नागफनी, बबूल जैसे हो रहे हैं । इनसे मानवता का कष्ट पीड़ित होना स्वाभाविक ही है । स्थिति का मूल्यांकन करते हुए अध्यात्मविदों ने इसे 'आस्था-संकट' का नाम दिया है । उद्योग, विज्ञान एवं तर्कवाद की विकृति ने मानव मन से श्रेष्ठता का मूलोच्छेद करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी है । फलतः पशु प्रवृत्तियाँ संचित कुसंस्कार भी भड़के हैं और समूची मानव जाति को स्वार्थान्धता की विडम्बना ग्रसित करती चली जा रही है ।

इसका परित्राण तभी सम्भव है, जबकि श्रेष्ठता का प्राण इसमें संचारित हो । किन्तु इसे व्यापक होना भी अनिवार्य है । व्यापकता के साथ इसके सयुग्मन को ही अध्यात्मवादियों ने आस्तिकता का नाम दिया है । आस्तिक होने का सीधा तात्पर्य है कि सर्वज्ञ परिव्याप्त श्रेष्ठ तत्त्व की धारणा कर तदनुरूप ही जीवन जिया जाय ।

धर्म ऐसी ही जीवन-प्रणाली का विस्तृत विवेचन है, जिसे सूत्रमय भाषा में 'शालीनता' और 'नीतिमत्ता' कहकर निरूपित किया जा सकता है । इसकी पूर्ति उच्चस्तरीय आस्थाओं के सहारे ही बन पड़ती है । दैनिक जीवन में प्रत्येक क्रिया-कृत्य के साथ सज्जनता और उदारता के तत्त्वों को सँजो देने की विचारपद्धति ही अध्यात्म है । आध्यात्मिकता का समूचा चक्र आस्तिकता की धुरी के इर्द-गिर्द घूमता है । आध्यात्मिकता, आस्तिकता और धर्म सभी एक दूसरे से गहनता से सम्बद्ध हैं । इन सभी का एक-दूसरे से तारतम्य है। एक कड़ी तोड़ देने से यह समूची जंजीर ही बिखर जाती है । वैयक्तिक जीवन में जिसे नीतिमत्ता कहा जाता है, वही सामूहिक रूप से विकसित होने के उपरान्त सामाजिक सुव्यवस्था बन जाती है । नीति क्या है ? इसकी मीमांसा करना सरल नहीं है । उसका स्वरूप विभिन्न विचारकों ने अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत किया है । सिजविक अपने ग्रन्थ 'मैथड्स ऑफ इथिक्स' में लिखते हैं कि अधिक लोगों के अधिक सुख का ध्यान रखते हुए नीति निर्धारण किया जाना चाहिए । लेस्ली स्टीफेन का अपने ग्रन्थ 'साइन्स ऑफ एथिक्स' में मानना है कि किसी के कार्य के स्वरूप का बाह्य अवलोकन करके उसे नीति या अनीति की संज्ञा नहीं दी जा सकती । कर्त्ता की नीयत और कर्म के परिणाम की विवेचना करने पर ही उसे स्पष्ट किया जा सकता है ।

लेस्ली का कथन यथार्थ ही है । सम्भव है कोई व्यक्ति भीतर से छली होने पर भी बाह्यतः धार्मिकता का आवरण ओढ़े हो । यह भी हो सकता है कि कोई धार्मिक प्रक्रियाओं से उदासीन रहकर चरित्र और चिन्तन की दृष्टि से बहुत ऊँची स्थिति में रह रहा हो । व्यक्ति की गरिमा का आकलन मात्र उसकी आन्तरिक आस्थाओं को देखकर ही किया जा सकता है । नीयत सच्ची, ऊँची रहने पर यदि व्यवहार में भूल अथवा भ्रम से कोई ऐसा काम बन पड़े जो देखने वालों को भला न लगे तो भी यथार्थता जहाँ की तहाँ होगी । व्यवस्था में गड़बड़ फैलाने के कारण उसे दण्डित तो अवश्य किया जा सकता है, किन्तु इतने पर भी उसकी उत्कृष्टता अक्षुण्ण बनी रहेगी । व्यक्तित्व और कर्तृत्व की सही परख उसकी आस्थाओं को समझे बिना नहीं हो सकती । धर्म तत्त्व की गहन गति इसीलिए कही गई है कि उसे मात्र क्रिया के आधार पर नहीं जाना जा सकता । नीयत या ईमान की व्यापक श्रेष्ठता ही उसका प्राण भूत मध्य बिन्दु है ।

इसका निरीक्षण, परीक्षण, विवेचन तथा विश्लेषण आप्तवचनों व शास्त्र सूत्रों के मार्गदर्शन में किया जा सकता है, पर ऐसा करना तभी सम्भव है, जबकि मन पूर्वाग्रहों से मुक्त हो, अन्यथा उनकी व्याख्याएँ इस प्रकार तोड़ी-मरोड़ी जाने लगेंगी कि तर्क की दृष्टि से चमत्कारी कहा जाने वाला प्रतिपादन भी शास्त्रकारों एवं आप्तपुरुषों एवं शास्त्रकारों के मूल मन्तव्य की वास्तविकता को कुबड़ा बनाने वाला ही होगा ।

धार्मिकता के इतिहास में सदियों यही होता आया है । होना यह चाहिए था कि प्राज्ञ पुरुष अथवा ग्रन्थ के अनुरूप चिन्तन एवं क्रिया की संरचना तथा कार्यविधि को ढाला जाता है । किन्तु हुआ यह कि महापुरुषों के वचनों, आर्षग्रन्थों के प्रतिपादनों की अपने-अपने पूर्वाग्रहों के अनुसार चित्र-विचित्र व्याख्याएँ की गईं । फलतः स्वयं की भी आस्थाओं का परिष्कार-परिमार्जन न हो सका और लोक मानस भी भ्रम में पड़ा ।

उपनिषदकार ऋषि इसी भाव को स्पष्ट करता हुआ कहता है **'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्य न मेधया न बहुना**

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

श्रुतेन ।' अर्थात् परम सत्य की प्राप्ति न बहुत भाषण देने से होती है और न ही बौद्धिक तार्किकता अथवा लगातार सुनते रहने से होती है । इसके लिए स्वयं की मनोभूमि का परिष्कार करना होगा । चिन्तन क्षेत्र में व्यापक श्रेष्ठता के तत्त्व की प्रतिष्ठापना के साथ कार्यों में इसकी बाह्याभि व्यक्ति का उत्कट प्रयास करना होगा ।

समूचा अध्यात्मवादी तत्वदर्शन इन्हीं उच्चस्तरीय आस्थाओं के प्रति निष्ठावान रहने को प्रेरित करता है । धर्म व दर्शन की उपयोगिता इसी में है कि वह मानवीय चिन्तन के स्तर को ऊँचा उठाए, उसे आत्मगौरव की अनुभूति के साथ-साथ सज्जनता को व्यवहार में उतारने का साहस भी प्रदान करे । वस्तुतः न तो नीत्शे का व्यक्तिवाद ही व्यावहारिक है और न ही मार्क्स का समाजवाद । उनमें से प्रथम व्यक्ति को ही सब कुछ मानता है। द्वितीय समाज को, किन्तु व्यावहारिकता की कसौटी दोनों को ही असफल सिद्ध करती है ।

एकमात्र अध्यात्मवादी चिन्तन ही ऐसा है जो इन दोनों के मध्य सुरुचिपूर्ण ढंग से सामंजस्य का संस्थापन करता है, जहाँ वैयक्तिक उन्नति की ऊँचाइयों को आत्मा के शीर्षस्थल पर ले जाता है, वहीं यह भी उपदिष्ट करता है कि व्यक्ति और कुछ नहीं समष्टि का एक अभिन्न अंश है ।

मानव के मानसिक संकट अथवाआस्था संकट के इस दुष्कर काल में अध्यात्मवादी चिन्तन की आवश्यकता मरुभूमि में बरसात के सदृश है, किन्तु इस तथ्य को हृदयंगम करने के लिए आवश्यक है कि मनोभूमि उदार चिन्तन से युक्त तथा पूर्वाग्रहों से मुक्त हो । औचित्य को प्रधानता देकर मानवीय आदर्शों को सर्वोपरि रखा जाना चाहिए । यह एक ऐसी संजीवनी है, जो शालीनता, नीतिमत्ता को पुनर्जीवित कर सकती है । प्रगति व शान्ति का वातावरण सुरक्षित रख सकती है । आवश्यकता इस बात की है कि इस हेतु हर क्षेत्र से प्रबल प्रयत्न किया जाय । ऐसे सुव्यवस्थित प्रयत्नों को ही तत्वदर्शियों ने धर्म-धारणा का नाम दिया है । वर्तमान को सुखद और भविष्य को उज्ज्वल बनाने के लिए उसकी आज सबसे बड़ी आवश्यकता भी तो है ।

धर्म्माविरोधीयोधर्म्मः स धर्म्मः सत्यविक्रमः

संसार में कितने ही सदग्रन्थ हैं, कितने ही धर्म और दर्शनशास्त्र हैं, कितने ही मत, पंथ और सम्प्रदाय हैं । अधकचरे ज्ञानी अथवा सर्वथा अज्ञानी मनुष्यों के मन इन सबमें ऐसी अनन्य बुद्धि और आवेश से अपने आपको बाँधे हुए हैं कि जो कोई जिस ग्रन्थ या मत को मानता है, उसी को सब कुछ जानता है । यह देख भी नहीं पाता कि उसके भी परे कुछ है । वह अपने चित्त में ऐसा हठ पकड़े रहता है कि बस यही या वही ग्रन्थ भगवान् का सनातन वचन है और बाकी सब ग्रन्थ या तो केवल ढोंग हैं या यदि उनमें कहीं कोई भगवत्प्रेरणा या भाव है तो वह अधूरा है।

इसी निषेधात्मक चिन्तन के कारण अधिकांशतया धार्मिक होने के नाम पर इधर-उधर भटकते और अँधेरे में ठोकरें खाते फिर रहे हैं । बड़े मजे की बात तो यह है कि बड़े-बड़े बुद्धिमान लोग भी प्रायः इन पक्षपातपूर्ण आग्रहों और व्यर्थ के झगड़ों में पड़कर इन्हें पुष्टि देते रहे हैं । कोई तमोभाव ही उनके बौद्धिक प्रकाश में मिलकर उसे अहंकार या आध्यात्मिक अभिमान से ढककर भटकाता रहा है ।

इस निषेधात्मक चिन्तन पूर्वाग्रही बौद्धिकता से कैसे उबरा जाय ? क्या कोई ऐसा सूत्र है, जो विविध धर्ममतों, सम्प्रदायों तथा दर्शनों के मूल तत्त्व को अपने में पिरोता है ? ये प्रश्न ऐसे हैं जिनके समाधान से विश्व मनीषा को नूतन दृष्टि मिलेगी । चिन्तन के नए आयाम का विकास होगा । एक ऐसा सेतु विनिर्मित होगा जिसके सहारे सभी पार हो सकेंगे ।

ऐसे आधार के लिए जिसमें '**सर्वमिदं प्रोक्त**' हो, आर्यावर्त के चिन्तनागार में दृष्टि डालनी होगी । इस आगार की सर्वाधिक मूल्यवान मणि भगवद्गीता आज भी अपने स्निग्ध प्रकाश में मानवता का पथ-प्रदर्शन कर सकने में सक्षम है । महर्षि कृष्ण द्वैपायन द्वारा सम्पादित यह ग्रन्थ काल की दृष्टि से भले ही लगभग ५,००० वर्ष प्राचीन हो गया है, किन्तु उसमें पूर्व की ही भाँति आज भी समन्वय-सामंजस्य की अद्भुत क्षमता विद्यमान है ।

इस समन्वय क्षमता के कारण ही विश्व चिन्तन के अनेकानेक उड़गनवृन्दों के मध्य शशि के सदृश वह सुशोभित है । इसमें साम्प्रदायिक, जातिगत, देशगत कट्टरता की प्रखरता न होकर सामंजस्य की स्निग्ध छटा है। इसका दिव्य सन्देश सार्वभौमिक रूप से उपादेय है । पूर्व में आचार्य शंकर के पूर्ववर्ती चिन्तक बोधायन उपवर्ष टेक, सुन्दरपाण्ड्येय से लेकर परवर्ती अध्येता पद्मपाद, वाचस्पति, मधूसूदन अरविन्द आदि ने एकमत से उसकी उपादेयता को स्वीकारा है ।

इसका समन्वयात्मक सूत्र न केवल अपने में भारतीय षड्दर्शनों के मूल तत्त्वों को पिरोता है, अपितु मसीही-इस्लाम आदि धर्मों के मूल तत्त्व भी इसमें उत्कृष्टता के साथ गुँथे हुए हैं । इसी कारण पश्चिमी जगत के डील्स, काण्ट, फिक्ते, शेलिंग, हेगल, डायसन तथा राल्फ वाल्डो, इमर्सन आदि चिन्तक अपने धर्म के मूल तत्त्व तथा उसकी गवेषणात्मक पद्धति को पाकर कृतकृत्यता की अनुभूति कर सके ।

इस्लाम धर्म के अनुयायी तथा मुगल युवराज दाराशिकोह ने अपने धर्म के मूल तत्त्वों को पाने के कारण ही फारसी में इसको अनूदित कराया था । इसमें प्रकारान्तर से मोतजला, करामी, अशअरी सम्प्रदायों के आधार समाए हुए हैं । इतिहास के अधिकारी विद्वानों ने इसी कारण इस्लामी दर्शन पर अरस्तू, फिलो, प्लोटिनस, जोरोस्टर,

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

भनी के विचारों का प्रभाव स्वीकारने के साथ वेदान्त के साथ सामंजस्य बिठाने में भी संकोच नहीं किया है ।

कुरान में परमात्मा के सर्वज्ञत्व की चर्चा करते हुए कहा गया है कि परमात्मा की दृष्टि से अपने को कोई बचा नहीं सकता । (कुरान सूरा ८९ १६ सूरा ५७, ६, १०) परमात्मा के सर्वज्ञत्व का विचार गीता **हृदि सर्वस्य विष्ठितम्** कहकर प्रतिपादित करती है । इसमें परमात्मा के सर्वज्ञत्व का प्रतिपादन विशेष रूप से मिलता है । ब्रह्म को एकमात्र परमार्थिक सत्ता स्वीकार करते हुए जगत को अनित्य बताया गया है । भाष्यकार शंकर ने जगत की उपमा इन्द्रजाल से की है । इसी प्रकार कुरान में भी एक स्थल पर कहा गया है कि जान लो कि यह सांसारिक जीवन खेल-तमाशा है । यहाँ का बाह्य आडम्बर अन्दर से मिथ्या अहं को जन्म देने वाला है ।

परमात्मसत्ता की ही तरह जीवसत्ता का भाव भी गीता के अनुरूप ही है । इस्लामी दर्शन का प्रसिद्ध दार्शनिक गजाली (१०५३-११११ ई०) जीव का लक्षण बतलाते हुए कहता है-"**व लेसल्-वदनो मिन कदाये जातेका-फ हन्हा दाम ले-वदने लय अद्योका**" अर्थात् शरीर तेरे अपने लक्षणों में नहीं है, इसलिए शरीर का नष्ट होना तेरा नष्ट होना नहीं है । जीव के अविनाशत्व का भाव गीता '**अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे**' कहकर प्रतिपादित करती है ।

गजाली का परवर्ती दार्शनिक इब्नरोश्द परम विज्ञान की अवस्था का वर्णन करते हुए मात्त्वाद तबइयात में स्पष्ट करता है कि ईश्वर का ज्ञान, ज्ञान के ज्ञान का नाम है, क्योंकि उस अवस्था में ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञाता में विभेद नहीं रहता । गीता इसी को ज्ञानज्ञेय-ज्ञानगम्यं कहकर स्पष्ट करती है । ईश्वर प्राप्ति के सम्बन्ध में गीता तर्क के स्थान पर श्रद्धा को महत्त्व प्रदान करती है । इसी तरह दार्शनिक अबुल हुसैन अलनूरी का कथन है कि ईश्वर को तर्क द्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता। उसे ईश्वर द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है । अलनूरी की ही तरह खल्दून का भी यही विचार है कि तर्क ज्ञान को उत्पन्न नहीं करता ।

गीता में जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीया इन चार अवस्थाओं को निरूपित किया गया है । इस्लामी दर्शन में यही चार अवस्थाएँ चार मंजिलों के नाम से प्रसिद्ध हैं । पहली जाग्रत अवस्था को इस्लामी दर्शन में नासूत, स्वप्नावस्था को 'मलकूत', सुषुप्ति को 'जबरूत' और तुरीया को 'लाहूत' कहा गया है । तुरीयावस्था की अभेद स्थिति का अनुभव इस्लामी दार्शनिक की चौथी मंजिल लाहूत का अवलहक का अनुभव है ।

इस प्रकार गीता एवं इस्लामी दर्शन में विभेद मात्र नाम का ही है। तत्त्व एवं सिद्धान्त की दृष्टि से सर्वथा अभेद ही है । उदाहरणार्थ, गीता का अद्वैत इस्लाम में तौहीद, गीता का परम सत्य इस्लाम का मुतलक, गीता का सत्यस्य सत्यम, इस्लाम में हकीकत उलहकाहक और गीता की ज्योतिषां ज्योतिः, इस्लाम में नूर अल नूरिन के नाम से प्राप्त है । गीता जिसको मिथ्या और माया मानती है, इस्लामी दर्शन में उसे मअलूय इम अदम और मौजूद, इमौहूय कहते है । जिस प्रकार इसमें ईश्वर को व्यक्ताव्यक्त, सर्वव्यापी एवं अन्तर्यामी कहा गया है, उसी प्रकार इस्लामी दर्शन में ईश्वर को 'बातिन' और 'जाहिर' 'मुदीत' और 'सादी' बताया गया है ।

उपर्युक्त विवेचन इस तथ्य को उजागर करता है कि इस्लाम के मूल तत्त्व किस तरह गीता के सामंजस्य सूत्र में पिरोए हैं । यह साम्य इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों की प्राचीनता को स्पष्ट करता है । इसी के आधार पर डा० राममूर्ति शर्मा ने अपने शोध प्रबन्ध 'अद्वैत वेदान्त' में बताथा है कि इस्लामी दर्शन पर गीता का किस कदर स्पष्ट प्रभाव है । इसीलिए ब्राउन, मेक्स, हार्टिल, गोल्ड, जीहर आदि पाश्चात्य विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में स्पष्ट घोषित किया है कि इस्लाम की विचारधारा के प्रमुख तत्व भारतवर्ष से लिए गए हैं ।

गीता का तात्पर्य प्रभाव से नहीं है । न ही यह अपने द्वारा प्रदान किए विचारों का बदला माँगती है । इसका सूत्र तो प्रेमयोग में अन्तर्निहित है, इसी को अपनी भाषा में "**मयि सर्वमिदं प्रोक्तं सूत्र मणि गणाहिवा**" कहकर घोषित करती है ।

इसमें निरूपित जीवन दर्शन के सिद्धान्तों को यदि हम सब व्यवहार में ला सकें, हमारे अपने जीवन में आचरण, व्यवहार तथा सिद्धान्त की एकरूपता स्थापित हो सके तो जिस गीता के सामंजस्य सूत्र में सभी धर्म-दर्शनों के मूल तत्त्व पिरोए हैं, उसी प्रकार सिद्धान्त और व्यवहार के एकरूपता के सूत्र में समूची मानव जाति आबद्ध हो जाएगी । साम्प्रदायिक कट्टरता की दीवार ढह जाएगी । हिन्दू-मुस्लिम का विभेद समाप्त हो जाएगा । कट्टरता और इसमें विभिन्न उपद्रवों की कालिख से पुता धर्म का विकृत स्वरूप पुनः अपना वास्तविक सौन्दर्य प्राप्त कर सकेगा । इसी वास्तविकता को प्राप्त करने, अपनाने के लिए गीता अपने शतशती मन्त्रों से निरन्तर सन्देश सुना रही है ।

धर्माचरण का मर्म

मनीषियों ने जीवन जीने की कला को धर्म का नाम दिया है । ऐसी कला जिसको सीखकर जीवन की सारी विकृतियों, कुरूपताओं का निवारण कर इसे सर्वांग सुन्दर और सुरुचिपूर्ण बनाया जा सकता है ।

इसके स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करते हुए मैथ्यू अरनाल्ड ने इसे 'भावनामय नैतिकता' का नाम दिया है । उनके द्वारा दिया गया यह नाम निश्चित रूप से उचित लग सकता है । अकेली नैतिकता तब तक अधूरी है, जब तक इसमें भावनाओं का संयोग न हो । इसके बिना यह कठोर नियन्त्रण बनकर रह जाती है ।

मानव जीवन को श्रेष्ठ व उन्नत बनाने के लिए प्रारम्भिक समय से लेकर आज तक लगातार प्रयत्न होते

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

रहे हैं । समय-समय पर विभिन्न मूल्यों एवं मर्यादाओं की रचना की गई है । इन्हें मान्यता भी मिली है, पर इनको वही ठीक-ठीक अपना सके हैं, जिन्होंने भावनाओं को उभारने में सफलता पायी है । बाकी के पूरी तरह सफल न होने का कारण इनसे विलग रहना ही है ।

जीवन जीने की शैली का निर्धारण मुख्यत: दो ढंग से हुआ है । एक वह जिसमें सुख-भोग को प्रधानता दी गई है । इसकी व्याख्या भारत में चार्वाक तथा पश्चिम में बैंथम हाब्स, मिल आदि ने की है । दूसरी वह जिसमें भोगों की निन्दा कर आदर्श को प्रमुख बताया गया है । इसको बतलाने वाले स्टोडक, काण्ट, शोपेनहावर आदि हैं, किन्तु जन-सामान्य इसे ठीक तरह से अपना नहीं सका । उलटे इसे कठोरतावाद का नाम दिया । इसकी ओर उसकी स्वाभाविक अभिरुचि भी नहीं हुई ।

इसके कारणों पर विचार करने पर स्पष्ट होता है कि उसके मर्म को छुआ ही नहीं गया । भाव-सम्वेदनाओं को उभारा ही नहीं गया । मनुष्य का यह एक स्वाभाविक गुण है । कोई विचार वह तब तक नहीं अपनाता, जब तक उसके बुद्धिगत सारे सवालों का जवाब न मिल जाय । आदर्श का मार्ग त्याग की बात तो कहता है, किन्तु बदले में क्या मिलेगा, इसे वह बुद्धि को समझा नहीं पाता । गीता ने इसी तथ्य को व्यावसायत्मिका बुद्धि अर्थात् 'बुद्धि का व्यवसायीपन' कहकर समझाया है । आदर्श की कठोरता उसे न रुचे, यह स्वाभाविक ही है । यहाँ तक कि जो इसे किन्हीं तर्कों से मजबूर होकर स्वीकार लेते हैं, उनके द्वारा भी इसे किसी ऐसी चीज के रूप में देखा जाता है, जो विजातीय है और किसी खास वर्ग के लोगों के लिए है ।

भाव-सम्वेदनाओं का क्षेत्र बुद्धि से ऊपर है । इसमें व्यवसायीपन नहीं है । धर्म एवं व्यावहारिक अध्यात्म इन्हीं के उद्‌गम स्रोत हैं । भावनाएँ भीतर से उमड़ती हैं । ये अन्त:करण का उत्पादन हैं । इनसे प्रेरित व्यक्ति दूसरों की व्यथा, वेदनाओं को अनुभव कर सकता है । यही नहीं, इनको दूर करने के लिए बड़े से बड़ा त्याग करने में नहीं हिचकिचाता । प्रेम, सेवा, करुणा, उदारता जैसी आत्म-सम्वेदनाएँ इसी से उपजती हैं । इन दिव्य सम्वेदनाओं से संचालित होकर लोग खुशी-खुशी कष्ट सहते हैं, अपने लाभों का परित्याग करते हैं, भौतिक दृष्टि से घाटा उठाते हैं । आदर्शवादिता द्वारा किसी न किसी रूप में अपने स्वार्थों की बलि दी जाती है । उदार व्यवहार में भी कुछ न कुछ त्याग करना ही पड़ता है । भौतिक लाभ जैसी कोई बात इसमें दिखाई नहीं पड़ती । इतने पर भी भावनाओं के सम्बल के आधार पर इस राह पर चलना सहज बन पड़ता है । इस तथ्य को बुद्धिवादी गणित से नहीं सुलझाया जा सकता । यह भाव-सम्वेदना के क्षेत्र की उर्वरता की परिणति है, जो समस्त तर्कों व बौद्धिकता से ऊपर जाकर जीवन को आदर्शोन्मुखी बनाती है ।

किन्तु भाव-सम्वेदनाओं के अकेलेपन में अक्सर एक गड़बड़ी होती है । वह यह कि इससे प्रेरित होकर अधिकांश लोग भावनाशील होने की जगह भावुक अधिक हो जाते हैं । इसी को भ्रमवश भावनाशीलता मान ली जाती है । इस भावुकता की स्थिति में उन्हें ठगा और परेशान किया जाता है । चालाक किस्म के लोग उनके भोलेपन को लाभ उठाकर उन्हें कठिनाई में डाल देते हैं । इसी कारण इन भाव-सम्वेदनाओं पर परिष्कृत नीतियों का अंकुश अनिवार्य है । इसी के आधार पर इन्हें व्यवहार में उतारा जा सकता है । श्रीरामकृष्ण ने इसकी आवश्यकता पर बल देते हुए एक भावुक शिष्य से कहा था कि आध्यात्मिक बनना है तो आध्यात्मिक बन, बुद्धू नहीं । उनका कहना था कि भगवान् ने विवेक दिया है, उसे काम में लाना चाहिए । विवेकयुक्त व्यवहार ही नैतिकता है, सच्ची धार्मिकता है ।

एफ० एच० ब्रैडले ने अपनी पुस्तक 'एपियरेन्स एण्ड रियल्टी' में इस बात को अच्छे ढंग से समझाया है । उनके अनुसार जब नैतिकता एक ऊँचे और शुभ स्तर तक पहुँचती है, तब उसका योग भाव-सम्वेदनाओं से होता है । इस स्थिति में यह धर्म बन जाती है । इसे उन्होंने जीवन जीने का परिष्कृत दृष्टिकोण कहा है । ब्रैडले की इस बात में यथार्थता है । अधिकांशतया व्यक्ति इस तत्त्व को गहराई से न जानने के कारण ही इसकी उपेक्षा-सी करते हैं । धर्म को कुछ कर्मकाण्डों का पर्याय भर मान लिया गया है, फलत: वे जिन क्रिया-कृत्यों को ग्रहण करते हैं, उसी में सीमित होकर रह जाते हैं अथवा यों कहें रूढ़िग्रस्त होकर धर्म के मार्ग से भटक जाते हैं ।

मनीषियों के अनुसार भावनामय, नैतिकता जीवन जीने की परिष्कृत दृष्टि है । इसके आधार पर जिन्दगी व्यतीत करने पर मानवीय मूल्यों का संरक्षण और प्रसार होता है । धार्मिक होने का अर्थ है अन्तराल में पवित्रता, हृदय में सबके प्रति मैत्री भाव, मन में शान्ति, अपने पास विद्यमान साधनों में सन्तोष करने की प्रवृत्ति का होना । यही नहीं, व्यक्ति को कर्मनिष्ठ, श्रमशील एवं सहनशील होना चाहिए । इसी को सही अर्थों में धर्माचरण का पर्याय समझा जाता है ।

इसके लिए न तो जाति, देश, काल का कोई बन्धन है और न ही किसी प्रकार की बाहरी योग्यता जरूरी है । संसार में प्राय: सभी काम ऐसे हैं, जिन्हें करने के लिए कुछ परिस्थितिजन्य बन्धन होते हैं । एक निश्चित योग्यता और निश्चित स्थिति का व्यक्ति ही इन्हें कर सकता है । उदाहरण के लिए यदि डाक्टर, इंजीनियर अथवा प्रशासक का काम करना हो तो निर्धारित योग्यता होनी ही चाहिए, साथ ही इस योग्यता को पाने के लिए उपयुक्त धन भी चाहिए ।

किन्तु अध्यात्मवादी होने के लिए ऐसी कोई बात नहीं । धनहीन और बिना पढ़े-लिखे कबीर और रैदास भी अध्यात्मवादी बन सकते हैं और संत एकनाथ के गुरु जनार्दन पन्त तथा रामकृष्ण परमहंस के शिष्य डॉ० रामचन्द्र दत्त जैसे पढ़े-लिखे और धनवान भी । इसके लिए अलग से समय और स्थान की भी जरूरत नहीं, अपितु प्रत्येक व्यक्ति जिस

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

समय जो काम कर रहा है, उसी में भावनामय नैतिकता को मिला देने से वह धर्माचरण बन जाता है ।

जो लोग धर्माचरण को सिर्फ पूजा की कोठरी तक सीमित कर लेतें हैं, उन्हें समझाते हुए जे० कृष्णमूर्ति का अपनी कृति 'मेडिटेशन' में कहना है कि २४ घण्टों में एक दो घण्टे मन उच्च भावों में रखने से काम नहीं चलेगा । रात-दिन के प्रत्येक क्षण में भाव-सम्वेदनाओं व नैतिकता का समावेश करके इन्हें धर्माचरण के रूप में परिवर्तित करना चाहिए ।

इस स्थिति को जीवन की व्यावहारिकता में उतारना ही सच्चे अर्थों में धार्मिक बनना है । शुरू में सम्भव है इसमें कठिनाई अनुभव हो, पर महर्षि पतंजलि के शब्दों में **''दीर्घकाल नैरन्तर्य सेवितो दृढ़ भूमिः ।''** अर्थात् लम्बे समय तक लगातार इसका अभ्यास करने पर परिपक्वता सहज सम्भव बन जाती है ।

इसी स्थिति को बताते हुए आचार्य शंकर का 'उपदेश सहस्री' में कहना है कि फिर समूचा जीवन ही धर्म-धारणा से भरा हो जाता है । धर्म की यही यथार्थ प्रक्रिया हम सभी के आचरण में लायी जानी चाहिए । गीताकार के शब्दों में **'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्'** अर्थात् भावनामय नैतिकता रूपी धर्म का सही ढंग से किया गया थोड़ा-सा आचरण भी व्यावहारिक जीवन की तमाम सारी कठिनाइयों को दूर करने वाला है ।

राज्यकर की तरह धर्मकर भी

यों मनुष्य अपने आप में बीज की तरह प्रगतिशील है । अवसर मिले तो वह एक से सौ बन सकता है । उगने और विकसित होने की यह सामर्थ्य उसे जन्मजात रूप से प्राप्त है तो भी इसके लिए इसे कुछ साधन चाहिए । उनके अभाव में वह जहाँ का तहाँ रखा रहेगा, जैसे का तैसा बना रहेगा । इतना ही नहीं नमी, सीलन और कीड़ों का आहार बनकर अपनी सत्ता भी खो बैठेगा । खाद और पानी की उपयुक्त मात्रा उसे चाहिए ही । बीज की प्रगतिशीलता इन साधनों पर अवलम्बित है ।

शासनसत्ता और धर्म सत्ता को मनुष्य समाज के लिए खाद तथा पानी की तरह समझा जाना चाहिए । इसलिए समर्थ और दूरदर्शी शासन की अपेक्षा की जाती है । उसके मिलने पर प्रजा सुख-चैन से रहती है और समृद्ध बनती है । अभाव में लुंज-पुंज हो जाती है । इसलिए विज्ञजन इस बात का ध्यान रखते हैं कि शासन समर्थ भी रहे और क्रिया-कुशल भी । जहाँ इतना बन पड़ेगा वहाँ का जन-समुदाय हर दृष्टि से बीज की तरह फूलेगा-फलेगा ।

ठीक इसी के समानान्तर धर्म पक्ष है । प्रजाजनों को नीति, धर्म, सदाचार, विवेक, सहयोग जैसे सद्गुणों से सम्पन्न होना चाहिए । यही धर्म है । लोग साम्प्रदायिक प्रचलन परम्पराओं को ही धर्म मान बैठते हैं और उनके क्रिया-कृत्यों की चिह्न पूजा कर लेने पर सोचते हैं कि धर्म कृत्य पूरा हो गया, पर बात ऐसी है नहीं । धर्म का सीधा सम्बन्ध गुण, कर्म, स्वभाव से है । वह चिन्तन, चरित्र, व्यवहार और उत्कृष्टता का समावेश करता है । प्रथा-प्रचलन तो उनके परिपोषण के लिए है । नागरिकता, सामाजिकता, समूहनिष्ठा जैसे सद्गुण धर्म के अंग हैं । सदाचार और सहकार उसकी पुष्टि करते हैं । जहाँ यह गुण-धर्म न हो, केवल क्रिया-कर्म से कट्टरता भर हो वहाँ समझना चाहिए कि धर्म का कलेवर भर ओढ़ा गया है, उसमें प्राण संचार नहीं हुआ । घुना बीज किस काम का । मरा बैल किस प्रकार हल जोतेगा । परम्पराओं का अपना महत्त्व है, पर जब तक सद्गुणों का समावेश नहीं, तब तक वहाँ धर्म-धारणा का लाभ न मिल सकेगा । राज्य शासन किसी मुकुटधारी व्यक्ति फरमानों पर निर्भर नहीं है । किला, शासन, शस्त्र भी उसकी शोभा बढ़ाते हैं उद्देश्य की पूर्ति नहीं करते । शासक वर्ग में दूरदर्शिता, नीतिमत्ता, चातुर्य, दृढ़ता जैसे गुण होने चाहिए । इस आधार पर छोटे शासक भी बड़ी-बड़ी सफलताएँ प्राप्त करते हैं । अभाव में विशाल कलेवर भी खोखला सिद्ध होता है और तनिक-सी अड़चन के सामने झाग की तरह बैठ जाता है ।

शासन को सुदृढ़ रखने के लिए प्रजा को आर्थिक तथा अनुशासनपरक सहयोग देना होता है । प्राचीनकाल के उपार्जन का दसवाँ भाग प्रजाजन प्रसन्नतापूर्वक राज्यकर चुकाते थे । अब तो वह अंश और भी अधिक हो गया है । उनकी प्रत्यक्ष और परोक्ष विधियाँ कितनी ही चल पड़ी हैं । कारण कि शासनतन्त्र भारी होता जा रहा है ।

धर्मतन्त्र के सम्बन्ध में शास्त्र व्यवस्था है कि दसवाँ अंश स्वेच्छापूर्वक दिया जाना चाहिए । शासन को दसवाँ भाग यदि कोई न दे तो उसे प्रताड़ना सहनी पड़ती है । बलपूर्वक वसूली होती है, पर धर्म कर के सम्बन्ध में यह विषय स्वेच्छा पर निर्भर रखा गया है । हर किसी को उसे स्वेच्छापूर्वक देना चाहिए और इस सम्बन्ध में प्रतिस्पर्धा भी करनी चाहिए कि किसने कितना अनुदान प्रस्तुत किया ।

धर्म का सीधा सम्बन्ध यों गुण, कर्म, स्वभाव से है, पर उनकी उत्कृष्टता सिद्ध करने के लिए साधनों की भी आवश्यकता पड़ती है । इसलिए उपार्जन का दसवाँ भाग धर्म प्रयोजन के निमित्त खर्च करने की मर्यादा है । इस मर्यादा के परिपालन के निमित्त दो आधार निश्चित किये गये हैं । एक उन समर्थों में स्वावलम्बन की समर्थता लाने के लिए । दूसरा सत्प्रवृत्तियों का सुयोग बिठाने वाले आयोजनों के लिए । आयोजनों से प्रचारपरक उत्तेजना उत्पन्न होती है और अपंग, असमर्थों की सहायता करने से उनका स्वाभिमान बना रहता है । सम्मानपूर्वक जीवन धारण किये रहते हैं । साथ ही स्वावलम्बन के लिए कोई उपाय ढूँढ़ने में भी समर्थ होते हैं । अपंग, असमर्थों को निर्वाह सहायता पहुँचाना, धर्मप्रेमी समर्थ व्यक्तियों का काम है । इसके अतिरिक्त धर्म का दूसरा पक्ष वह रह जाता है जिसमें सत्प्रवृत्तियों के लिए उत्तेजना मिले । कथा, कीर्तन, यज्ञ, पाठशाला, आरण्यक जैसे आयोजनों में होने

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

वाले धन व्यय को धर्म इसलिए माना गया है कि इसके बिना लोगों में धर्म उत्तेजना उत्पन्न नहीं होती । उत्तेजना के बिना सत्प्रयोजन बन नहीं पड़ते । दुष्प्रवृत्तियाँ तो बिना किसी दूसरे के सिखाये भी स्वभाव का अंग बन जाती हैं । पानी नीचे की ओर सहज ही बहने लगता है, पर उसे ऊँचे उठाना हो तो इसके लिए कई प्रकार के प्रयत्न करने पड़ते हैं । यही बात मनुष्य की प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में भी है । श्रेष्ठता का वातावरण बनाने वाले आयोजन धर्म-धारणा के अंग माने गये हैं ।

शास्त्रकारों से विपद् वारणाय और यज्ञार्थाय में दो प्रयोजन दान के बताये हैं, जिससे संकटग्रस्त व्यक्ति सामयिक सहायता प्राप्त करके स्वावलम्बन की ओर चल सकें । वे विपद् वारणाय श्रेणी में आते हैं और विद्यालय साधना श्रम, आरण्यक, कथा प्रसंग यज्ञ जैसे कृत्यों को 'यज्ञार्थाय' कहा गया है । यह कार्य ऐसे होने चाहिए जिनसे प्रसुप्त सत्प्रवृत्तियों को उत्तेजना मिले ।

इन दो मर्यादाओं के अतिरिक्त किया गया दान प्रवंचना की श्रेणी में आता है । तीज-त्योहार, दान-दहेज जैसे ठाट-बाटों में खर्च किया जाने वाला पैसा भी लोग दान मान लेते हैं । कितने ही प्रकार के ठग-प्रवंचक कुछ न कुछ बहाने गढ़कर पैसा झपट ले जाते हैं उन्हें भी दान नहीं कहा जा सकता । कितने ही मेले-ठेले, नाच-तमाशे खड़े किये जाते हैं । होता तो उनमें मनोरंजन मात्र है पर नाम के लिए किसी देवता का नाम जोड़ दिया जाता है ।

यज्ञार्थाय दान के लिए पुरातन परम्परा में साधु और ब्राह्मण का परिपोषण प्रधान माना गया है । ब्राह्मण वे जो औसत भारतीय स्तर का निर्वाह स्वीकार करके लोक-मानस के परिष्कार में निरत रहते हैं । ऐसे लोग स्थिर विद्यालय, आरण्यक, सीमित क्षेत्र का प्रचार अभियान एवं सम्पर्क प्रयोजन चलाते हैं । साधु वे जिन्हें लम्बे प्रवास पर रहना पड़ता है । जहाँ सर्वसाधारण की पहुँच नहीं होती वहाँ पहुँचने के लिए जो चल पड़ते हैं और बिना आमंत्रण की प्रतीक्षा किये उपेक्षित स्थानों में नवजीवन का संचार करते हैं । बादलों की तरह बरसने में जो लम्बे प्रवास करते हैं । जो पवन की तरह सम्पर्क साधते और नव-चेतना सँजोते हैं । सूर्य की तरह गर्मी, रोशनी, चन्द्रमा की तरह शान्ति, शीतलता बिखेरना जिन्हें प्रिय है ऐसे चरित्रवान प्रतिभावानजनों को साधु कहा जाता है ।

साधु और ब्राह्मण दोनों ही वर्ग ऐसे हैं, जिन्हें निजी व्यवसाय करके धन उपार्जन की सुविधा नहीं होती । यदि करें तो अधिकांश समय उसी में खप जाय । पूरे मन से तत्परतापूर्वक अनिश्चित कार्यक्रमों में निरत रहना उन्हीं के लिए सम्भव है जिनके लिए अन्न-वस्त्र और मार्ग व्यय की सुविधा हो। यह कहाँ से हो इसका उत्तर वह दशांश दान उपक्रम ही देता है जो धर्म-धारणा का आवश्यक अंग माना गया है ।

धर्मप्रचारकों को प्रायः पूरा समय ही जनसम्पर्क और लोककल्याण के कामों में निरत रहते हुए देना पड़ता है । उसी आधार पर कितने ही प्रकार के आयोजन बन पड़ते हैं । जो इस व्रत में संलग्न होने के लिए व्रतशील हैं उन्हें भी अन्न-वस्त्र तो चाहिए ही । वह समय पर उपलब्ध न हो तो भूखा, नंगा विद्वान भी अपना कार्य लम्बे समय तक लगातार सम्पन्न नहीं कर सकता । इन आवश्यकताओं को देखते हुए शास्त्रकारों ने प्रत्येक धर्म प्रेमी को अपनी आजीविका का दसवाँ अंश धर्म प्रयोजन के लिए निकालने के लिए कहा है । इसमें साधु और ब्राह्मण की अन्नपूर्णा प्रधान है ।

ब्रह्मभोज की महिमा धर्मशास्त्रों में विस्तारपूर्वक बताई गई है, पर वह इस प्रकार नहीं होती जैसी कि इन दिनों चल पड़ी है । काम-धन्धे में लगे हुए सुसम्पन्न ब्राह्मण जाति के लोगों को निमंत्रित न करके मिष्ठान्न-पकवान्नों से प्रीतिभोज कराना उस उद्देश्य की पूर्ति नहीं करता, जिससे कि कोई व्यक्ति साधु अथवा ब्राह्मण बनता है और मिले हुए दान के सहारे निर्धारित ब्रह्म कर्मों को पूरा करने में समर्थ होता है ।

मुरझाई धर्म परम्परा को पुनर्जीवित करने की आवश्यकता है । इस सन्दर्भ में कृपणता नहीं बरती जानी चाहिए, पर साथ ही यह भी देखा जाना चाहिए कि निकाला हुआ धन अभीष्ट उद्देश्यों में, पूर्ति में लगा या नहीं । यदि वह भद्दे लोगों के हाथ पड़ेगा तो उसका परिणाम वैसा ही होगा जैसा सर्प को दूध पिलाने पर होता है । साधु-ब्राह्मण को इनके गुण, कर्म के आधार पर परखा जाना चाहिए वंश या वेश के आधार पर नहीं ।

पिछड़े हुए असमर्थ, अपंगों की सहायता एक आवश्यक कार्य है । मानवता का तकाजा है कि जो कारणवश अंगविहीन, परावलम्बी हैं, उन्हें दुर्गतिग्रस्त न होने दें । एक-एक रोटी के टुकड़े के लिए मुहताज हों और जिस-तिस के सामने हाथ पसारें इस पर भी दुत्कारे जायें । भूखे सोयें तो यह समूची मनुष्यता के लिए लज्जा की बात है । होना यह चाहिए कि माँगने से पूर्व ही उनके लिए हम ऐसी व्यवस्था करें कि उन्हें रोटी-कपड़े के लिए मुहताज न होना पड़े । उदार लोग स्वयं ही इसके लिए सोचें और प्रबन्ध करें । बिना माँगे ही उन्हें निर्वाह मिलता रहे, यह मनुष्यता का तकाजा है । माँगने पर भी दुत्कारे जायें और खाली हाथ भूखे पेट रहें, तो यह हम सभी के लिए लज्जा का विषय है ।

ठीक इसी प्रकार लोकमंगल के लिए, सत्प्रवृत्ति सम्वर्द्धन के लिए पैसे की जब जरूरत पड़े तब पात्र-कुपात्र के सामने दाँत निपोरने पड़ें, इन्कारी और अपमान सहना पड़े । महत्त्वपूर्ण कार्य पैसे के अभाव में रुके पड़े रहें । उन्हें आरम्भ करने या उठाने बढ़ाने वाले लोग पैसे के अभाव में निराश रहें तो यह भी कम लज्जा की बात नहीं है । होना यह चाहिए कि इन सत्प्रयोजनों के लिए पैसा बिना माँगे ही मिलता रहे । यह तभी हो सकता है, जबकि प्रत्येक उदार चेता मनुष्य दान को अपना आवश्यक धर्म-कर्त्तव्य समझे । नित्य कर्म की तरह दैनिक आवश्यकता में सम्मिलित रहने

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

और उनकी पूर्ति के लिए दैनिक आवश्यकता पूरी करने की तरह स्वयमेव ध्यान रखे । इसके लिए उनके पास माँगने के लिए किसी को न जाना पड़े ।

धर्म के प्रति जन-साधारण में भावना न हो ऐसी बात नहीं । उदारता का समापन हो गया हो ऐसी बात भी नहीं, किन्तु होता यह है कि उस उदारता को पाखण्डी लोग किसी न किसी बहाने अपहरण कर ले जाते हैं । जिन्होंने भिक्षा को व्यवसाय बना लिया है वे किसी न किसी बहाने ठगते रहते हैं और जिन्हें वस्तुतः आवश्यकता है वे वंचित रह जाते हैं ।

होना यह चाहिए कि उदारता के साथ विवेकशीलता का भी समावेश हो । हर व्यक्ति उदार बने । पिछड़ेपन की सहायता करने पर सत्कर्मों को अग्रगामी बनाने के लिए बिना याचना किये ही सत्पात्रों तक अपनी सहायता पहुँचाने का प्रयत्न करे । उसे अपना कर्त्तव्य समझे और पालन करने में कृपणता न बरते ।

जिस प्रकार राज्यकर बलपूर्वक देना पड़ता है, उसी प्रकार यह भी आवश्यक है कि धर्मकर स्वेच्छापूर्वक प्रदान करें । न केवल प्रदान करें वरन् यह भी ध्यान रखें कि उसकी एक-एक पाई सत्पात्रों के लिए, सत्प्रयोजनों के लिए नियोजित होती रहे ।

जराजीर्ण धर्म-कलेवर का कायाकल्प हो

बहुत पुरानी इमारतों की जड़ों में सीलन और लौनी लगने लगती है । फलतः उसकी जड़ें खोखली होती जाती हैं । उन्हें यदि ऐसे ही उपेक्षित स्थिति में पड़ी रहने दिया जाय, तो खोखली जड़ें गिरना शुरू कर देती हैं और किसी समय की भव्य एवं उपयोगी इमारतें भी खण्डहर बन जाती हैं । पुरातत्ववेत्ता जब कीमती और उपयोगी इमारतों को सुरक्षित रखना चाहते हैं तो उनकी मरम्मत कराते रहते हैं । विशेषतया खोखली जड़ों के स्थान पर मरम्मत का ऐसा नया मसाला भरते रहते हैं, जिससे उनके गिरने का खतरा टल जाय ।

यदि स्थिति बहुत जीर्ण हो जाती है और लगता है कि इनकी आयु पूरी हो गई तो दो ही उपाय रह जाते हैं कि या तो उसी नींव पर उसी डिजाइन की दूसरी इमारत खड़ी कर दें या फिर उसे गिराकर ऐसा खण्डहर बना देते हैं, जिससे अचानक गिरने पर टूट-फूट की कुरूपता न दीखे और बेतुकेपन से जमीन न घिरे ।

सृष्टि का नियम है कि अच्छी चीजें भी अपनी आयु पूरी करके जराजीर्ण और कुरूप हो जाती हैं । जो शरीर जवानी में हट्टे-कट्टे दिखते थे, वे समय आने पर बूढ़े होते-होते मरणासन्न स्थिति में जा पहुँचते हैं । स्रष्टा उस कुरूपता और दुर्बलता को देर तक देखना पसन्द नहीं करते और नया जन्म देने की व्यवस्था करते हैं । जन्म, तरुणाई, बुढ़ापा और मरण का क्रम न केवल शरीर पर लागू होता है, न केवल इमारतों का यह हश्र होता है वरन् वृक्ष-वनस्पति, जीव-जन्तु सभी इस परिवर्तन-चक्र में भ्रमण करते हैं । संस्कृतियों पर भी यह नियम लागू होता है । वे भी जरा-जीर्ण होती हैं । उनमें भी कितनी ही विकृतियाँ घुस पड़ती हैं । ऐसी दशा में यदि उनकी ओर से उपेक्षा बरती जाय तो वे कुरूप खण्डहर हो जाती हैं और ढहकर ढेलों के रूप में बिखर जाती हैं । यदि उनकी देखभाल करने वाले जागरूक होते हैं तो समय रहते उसकी साज-सम्भाल कर लेते हैं । तब वे गिरने, बरबाद होने की अपेक्षा मरम्मत हो जाने के कारण जिन्दगी बढ़ा लेती हैं । बर्बादी से जो बिखराव और कुरूपता आनी चाहिए वह नहीं आती । यह बात संस्कृतियों के सम्बन्ध में भी लागू होती है । किसी समय जिनकी संरचना बहुत सोच-समझकर की गई थी, उपयोगिता हेतु ढेरों तत्त्वों का समावेश किया गया था समय बीत जाने पर उनमें भी कितनी ही कुरीतियाँ और विकृतियाँ घुस पड़ती हैं ।

हिन्दू धर्म अति प्राचीन धर्म है । प्राचीनता गुण भी है और दोष भी । गुण इस अर्थ में कि ऋषियों, मनीषियों और आप्तजनों ने बहुत सोच-विचार कर उसमें श्रेष्ठताओं का समावेश किया । दोष इस अर्थ में कि जितनी जो वस्तु पुरानी होती जाती है, उसमें से जीवन तत्त्व उतना ही कम होता जाता है और ढकोसला उतना ही लदता जाता है । पुराने वृक्षों की जड़ें कमजोर होती जाती हैं और तने में ढेरों खोखले बढ़ते जाते हैं । आँधी-तूफान के जोरदार झोंके सहन करने की उसमें शक्ति नहीं रह जाती ।

हिन्दू धर्म वर्णाश्रम धर्म है । किसी समय यह बहुत ही उपयुक्त व्यवस्था थी । हर आदमी का काम बँटा हुआ था । हर किसी को निश्चिन्तता थी कि उसे जीवनचर्या किस क्रम से बितानी है । निर्धारित कार्यपद्धति में सब कुछ निर्धारित, सीमित रहता था । फिर वंश परम्परा के अनुरूप छोटी आयु से ही अभिभावकों के माध्यम से एक निर्धारित कार्यपद्धति अभ्यास ही बनती जाती है । आजीविका के लिए भी और जीवनलक्ष्य की पूर्ति के लिए भी ऐसे क्रिया-कलाप अपनाने चाहिए जिससे समाज की सभी आवश्यकताएँ पूरी होती चलें । शिक्षा, सुरक्षा, आजीविका और शिल्प फिर यह चारों ही काम अपने-अपने महत्त्व के हैं । चारों में से किसी की भी उपयोगिता कम नहीं है । वर्ण धर्म को अपनाने से समाज की सर्वांगीण सुव्यवस्था रहती है । श्रमिक और व्यवसायी इतना उपार्जन कर लेते हैं कि शिक्षा एवं सुरक्षा में लगे हुए लोगों को रोटी की चिन्ता न करनी पड़े, ये दोनों ही वर्ग पूरी निश्चिन्तता से, पूरे मन से पूरा समय अपने काम में लगे रहें । वर्ण धर्म यह कठिनाई नहीं उत्पन्न होने देता कि एक काम छोड़ दूसरा पकड़ा जाय । दूसरा छोड़कर तीसरा तलाश किया जाय । इससे अव्यवस्था फैलती है, अनिश्चिन्तता बनती है और वंश परम्परा के अभ्यास में जो प्रवीणता आनी चाहिए वह भी नहीं आने पाती ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

६.१३ धर्म तत्त्व का दर्शन और मर्म

जब तक वर्ण धर्म अपने निर्धारित क्रम में चलता रहा, तब तक समाज का हर महत्त्वपूर्ण पक्ष अपने-अपने कार्यों को सही तरह अंजाम देता रहा, किन्तु उस पुरातन परम्परा की अब केवल चिह्न पूजा ही शेष रह गई है । पुरखे क्या करते थे इसका स्मरण रखा जाता है, पर वह ड्यूटी हमको भी पूरी करनी है, यह किसी को ध्यान नहीं रहता । चमड़े की दुकान करने वाले, हजामत का सैलून चलाने वाले भी अपने आपको पण्डित जी, शर्मा जी कहते हैं । यह अनुचित है । किसी के दादा कलेक्टर थे, डाक्टर थे तो अब उसके परिवार के नाती-पोते भी अपने को कलेक्टर, डाक्टर आदि कहें तो उसकी क्या तुक है ? वर्णों के साथ ही कार्य भी निर्धारित हैं । यदि उन्हें नहीं करना है तो वर्ण भी बदल लेना चाहिए । गीताकार ने स्पष्ट लिखा है कि चारों वर्णों का निर्धारण, गुण, कर्म स्वभाव के आधार पर हुआ है । इस क्षेत्र में चलती हुई गड़बड़ी को दूर किया जाना चाहिए । जो जिस व्यवस्था को करते हैं, उनका वह वर्ण भी बदल जाना चाहिए । यह सुधार न किया जाय तो यह समाज व्यवस्था की गलती है । अपने को उसी वर्ण का माना जाय, जिस तरह का कार्य या व्यवसाय बदला गया है । जन्म-जाति की मान्यता नितान्त गलत है । फिर उसमें भी ऊँच-नीच का भेद-भाव करना और भी गलत है । मनुष्य मात्र एक है । सभी व्यवसायों का समान सम्मान होना चाहिए । ऐसी दशा में ऊँच-नीच का, छूत-अछूत का कोई प्रश्न नहीं उठता फिर आज का प्रचलन तो विचित्र ही चल पड़ा है । सवर्ण-सवर्णों में ऊँच-नीच, अछूत-अछूतों में ऊँची-नीच का भेद भाव चल पड़ने से पूरा समाज बुरी तरह विभाजित हो गया है । रोटी-बेटी का प्रश्न आने पर यह जाति उपजाति का, नीच-ऊँच का भेदभाव सबसे पहले देखा जाता है । वर्ण विभाजन का मूल सिद्धान्त तो उठाकर ताक पर रख दिया गया है । उसके स्थान पर जन्म-जाति का, उसमें भी ऊँच-नीच का भेदभाव चल पड़ा है । इसका परिणाम यह हुआ है कि एक जाति एक धर्म में रहकर हम सैकड़ों हिस्सों में बँट गए हैं । इसमें सुधार की भारी एवं तुरन्त आवश्यकता है, अन्यथा पूर्वजों की चलाई एक उपयोगी परम्परा उलटी हानिकारक सिद्ध होती रहेगी ।

यह बात आश्रम विभाजन के सम्बन्ध में है । योग्यता सम्वर्द्धन और आजीविका उपार्जन के लिए ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रम हैं । इसके बाद आधा जीवन वानप्रस्थ और संन्यास के रूप में लोकमंगल की अनेकानेक सत्प्रवृत्तियों में संलग्न रहने के लिए है । जब तक यह प्रचलन ठीक स्थिति में रहा, अनुभव अपरिग्रही लोकसेवी हर कार्य के लिए पर्याप्त मात्रा में मिलते रहे । आज चारों वर्णों का सफाया हो गया है । एक नया वर्ण बाबा लोगों का उपज पड़ा है । ६० लाख के करीब बाबा लोग हैं । उनके निर्वाह, व्यसनों एवं सनकों का खर्च जनता को ही वहन करना पड़ता है । लोक-हित के सेवा कार्यों से इनका दूर का भी सम्बन्ध नहीं है । भारत में ७ लाख गाँव हैं और ६० लाख बाबा लोग । एक गाँव के पीछे साढ़े आठ बाबा आते हैं । यदि यह शिक्षा प्रसार, कुरीति निवारण जैसे कार्यों में लगे होते तो देश की स्थिति ही दूसरी हुई होती । मात्र वेश के आधार पर संन्यास रह गया है, जबकि ऋषियों ने उस परम्परा का निर्धारण समाज को सुयोग्य और अपरिग्रही कार्यकर्त्ता बड़ी संख्या में देने के लिए किया था । यदि उसे चलना है तो ठीक तरह चले अन्यथा उसे पूरी तरह बदल दिया जाय ।

बहुत-सी प्रथाएँ किसी समय बड़ी उपयोगी थीं । आज उनका स्वरूप कुछ से कुछ हो गया है । पिता कन्या के विवाह के अवसर पर उत्तराधिकार में जो देना होता था दे देता था । आगे भी समय-समय पर देता रहता था । यह हर आदमी की अपनी पारिवारिक व्यवस्था एवं सुविधा के ऊपर निर्भर था । आज तो दहेज का ऐसा मोलभाव होता है मानो कोई जानवर खरीदा-बेचा जा रहा है । गरीबों का अमीरों जैसा स्वांग बनाकर हैसियत से बहुत अधिक खर्च करा लेना, यही इन दिनों विवाह का स्वरूप है । आए दिन दहेज कम लाने की वजह से नव-वधुओं को जलना पड़ता है । पुरातनकाल की उत्तम प्रथाओं का वास्तविक स्वरूप नष्ट हो गया । उसके स्थान पर सड़न भर शेष रह गई है । किसी समय का उत्तम भोजन भी विकृत होने पर विष्ठा बन जाता है । किसी समय ऋषियों ने उत्तम प्रथाएँ प्रचलित की थीं । वे अपनी उपयोगिता खो बैठी हैं, तो उन्हें पूरी तरह बदल डालने की आवश्यकता है । यदि उन्हें जारी रहना है तो उस रूप में चलें जिसमें कि वे आरम्भ हुई थीं । यह निश्चय कर ही डालना है ।

श्राद्ध का तात्पर्य कभी यह था कि पूर्वजों की छोड़ी सम्पत्ति को परमार्थ प्रयोजनों के लिए लगा दिया जाय । हर आदमी अपने हाथों की कमाई खाय । हराम का पैसा कोई अंगीकार न करे, भले ही वह उत्तराधिकार के रूप में ही क्यों न मिल रहा हो । उस लोकोपयोगी श्राद्ध प्रथा का रूप बदलकर अब मृतक भोज बन गया है । खुशी के समय दावत होने की बात समझ में आती है, पर जिसके घर में मृत्यु हो उसके यहाँ लोग दावत उड़ाने का जमघट लगाएँ, यह कैसी विचित्र बात है ? प्रथाओं को उलट देना और फिर उनके विकृत रूप को धर्म के नाम पर प्रचलित करना कैसी अचरज भरी बात है । पुरानी प्रथाएँ भी सुधारी और बदली जानी चाहिए, जब तक वे अपने उपयोगी रूप में रहें, तभी तक उनका सम्मान होना चाहिए, अन्यथा बदल देने में ही बुद्धिमानी है । पुरानी प्रथा को तभी तक अपनाया जाना चाहिए, जब तक कि वह अपने असली एवं उपयोगी रूप में स्थिर रहे ।

जाति-पाँति की, ऊँच-नीच की तरह ही नर और नारी का भेद-भाव चल पड़ा है । कन्या का जन्म दुर्भाग्य और बेटे का जन्म सौभाग्य माना जाता है । पर्दा-प्रथा के अन्तर्गत स्त्रियों को घर के छोटे से पिंजरे में कैद रहना पड़ता है । सन्तान न होने पर या कन्यायें उत्पन्न होने पर

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

स्त्रियों का अपमान होता है । आधे समाज को कैदी की तरह बन्द रहना पड़ता है । उनकी योग्यता एवं कुशलता का कोई उपयोग नहीं हो पाता । इस प्रकार हमारी स्वाधीनता ही अधूरी रह गई है । जिस समाज के आधे मनुष्य घूँघट ओढ़कर रहते हों, घरों में उपेक्षित स्थिति में समय काटते हों उसको आधी स्वाधीनता ही मिली समझी जानी चाहिए । संसार के सभी प्रगतिशील देशों की स्त्रियाँ पुरुषों के कंधे से कंधा मिलाकर काम करती हैं । उनके श्रम एवं कौशल का पूरा-पूरा लाभ मिलता है । एक अभागा भारत है, जहाँ नारी को बन्दी, तिरस्कृत तथा अपाहिज की तरह जीवनयापन करना पड़ता है । कभी सामन्तवादी युग में जब स्त्रियों के अपहरण का जोर था, तब उनकी सुरक्षा के लिए बाल-विवाह और पर्दा-प्रथा जैसे प्रचलन चले होंगे, पर आज तो वैसी स्थिति नहीं है । फिर भी उन हानिकारक प्रचलनों को क्यों छाती से बंदरिया के मरे बच्चे की तरह चिपकाए रहा जाय ?

एक ही नहीं ढेरों की ढेरों कुरीतियाँ अपने समाज में प्रचलित हैं । भिक्षा एक व्यवसाय बन गया है । देवी-देवताओं के नाम पर, तीर्थ-कर्मकाण्डों के नाम पर जिस-तिस प्रकार भिक्षा व्यवसाय के अनकों तरीके प्रचलित हो गए हैं । विचारपूर्वक देखा जाय तो प्रतीत होगा कि हमारे दूरदर्शी ऋषि-मुनियों ने ऐसी परम्परा कैसे व क्यों कर चलायीं । यह सोचना मूर्खता ही होगी कि उन्होंने यह प्रथा वर्तमान रूप में चलाई ताकि महान हिन्दू धर्म का उपहास हो और सारे समाज को क्षति पहुँचे ।

किसी समय के भव्य एवं उपयोगी भवन जब जरा-जीर्ण हो जाते हैं, उनके गिरने का खतरा खड़ा हो जाता है तो फिर दो ही उपाय रह जाते हैं । एक यह कि जहाँ-जहाँ टूट-फूट हो गई है उसकी मरम्मत करके उन्हें कामचलाऊ बनाया जाय और यदि वे मरम्मत लायक नहीं रह गए हों तो उन्हें नए सिरे से सामयिक आवश्यकताएं एवं उपयोगिता देखते हुए जमींदोज करके पुनर्निर्माण किया जाय । महान् हिन्दू धर्म अत्यधिक पुराना हो गया है उसमें विकृतियों का समावेश हो जाना स्वाभाविक है । बुद्धिमानी इसी में है कि समय रहते आवश्यक सुधार-परिवर्तन अब कर ही लिया जाय ।

धर्म ही रक्षा करेगा और कोई नहीं

यह जीवन इस तरह विनिर्मित हुआ है कि इसमें संघर्ष, परिस्थितियों के उतार-चढ़ाव, दैन्यता, कुटिलता आदि के अप्रत्याशित आक्रमण सभी को सहन करने पड़ते हैं। परेशानियों, कष्ट और मुसीबतों की आँधी आती है तो मनुष्य को झकझोर कर रख देती है, उसकी शक्तियाँ कुण्ठित हो जाती हैं। बुद्धि ठीक तरह काम नहीं करती, निराशा आ घेरती है। ऐसे समय एक चाह उत्पन्न होती है-कौन हमारी रक्षा करे? कौन हमारा उद्धार करे? सही पथ का ज्ञान कौन करावे ?

शास्त्रकार-समुद्यत हुआ, उसने बताया:-

यो धर्म जगदाधारः स्वाचरणे तमानय ।
मा विडम्बय तं स तु ह्येकामार्गे सहायकः ।।

अर्थात्-"हे मुनष्यो ! जो धर्म सारे संसार का आधार है, तुम उसी का आचरण करो । धर्म से विमुख मत बनो । तुम्हारा एकमात्र सहायक धर्म ही है ।"

यह सच है कि संसार के सम्पूर्ण क्रिया, व्यवसाय, धर्म के कारण ही टिके हैं । सुख और शान्ति की परिस्थितियों का जन्मदाता धर्म है । लोक-जीवन में वह आज भी किसी न किसी रूप में विद्यमान है । जिस दिन धर्म का पूर्णतया लोप हो जायेगा, उस दिन संसार को सर्वनाश से कोई बचा न सकेगा ।

इस युग में जो अधर्माचरण बढ़ रहा है, उससे मनुष्य की नैतिक अवस्था, सुख और शान्ति में बड़ा व्याघात उत्पन्न हो रहा है । किसी के मन में सन्तोष नहीं है । सर्वत्र स्वार्थ, भोग और शोषण का जाल फैला है । इस जंजाल में ग्रसित मनुष्य बुरी तरह छटपटा रहा है, पर त्राण का कोई रास्ता उसे सूझ नहीं रहा है ।

राह एक ही है-धर्म । वेद, उपनिषद्, स्मृति, पुराण आदि धर्मशास्त्रों में इसी तत्त्व का निरूपण हुआ है । जिस युग में धर्म की प्रधानता रही, वह युग 'सतयुग' कहलाया । सतयुग में सुख और सम्पन्नता का आधार धर्म होता है । इसकी विकृति और विडम्बना ही कलियुग में दु:ख, क्षोभ और अशान्ति का कारण बनती है ।

किसी भी अवस्था में मनुष्य की रक्षा धर्म ही करता है । भगवान् राम वन जाने के लिए तैयार हुए तो जीवन रक्षा की कामना से उन्होंने माता से आशीर्वाद माँगा । विदुषी कौशल्या ने कहा:-

यं पालयसि धर्म त्वं प्रीत्या च नियमेन च ।
स वै राघवशार्दूल धर्मस्त्वामभिरक्षतु ।।

अर्थात्-हे राम ! तुमने जिस धर्म की प्रीति और नियम का पालन किया है, जिसके अनुसरण से तुम वन जाने को तत्पर हुए हो, वही धर्म तुम्हारी रक्षा करेगा ।

धार्मिक कर्मकाण्ड, दान-पुण्य, पूजा-पाठ, अर्घ्य-अंजलि आदि धर्म के साधन और बाह्य प्रतीक मात्र हैं, यथार्थ धर्म तो परोपकार, दूसरों की सेवा, सच्चाई, संयम और कर्त्तव्य-पालन को कहते हैं । धर्म पर चलने का अर्थ है, इन बातों का पालन करना । इन्हें अपने व्यवहार और आचरण में आश्रय देना ।

यह नियम ही सर्वश्रेष्ठ हैं, इनसे मनुष्य जीवन में एक प्रकार का विलक्षण आह्लाद भरा रहता है । धर्म मनुष्य जीवन की अग्नि शिखा है, जो प्रकाश भी उत्पन्न करती है और उसकी क्रियाशीलता भी जाग्रत रखती है । धर्मशील पुरुष के अन्त:करण में वह बल होता है, जो हजारों विघ्नों, करोड़ों प्रतिद्वन्द्वियों को परास्त कर देता है । भगवान् राम वन में अकेले थे, विपदायें आईं, विरोध

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

उत्पन्न हुए, किन्तु उनकी मर्यादा पर कोई आँच नहीं आई । सत्य हरिश्चन्द्र ने धर्म की रक्षा के लिए स्त्री-पुत्र, राज्य आदि सर्वस्व परित्याग कर दिया, पर अन्त में महर्षि विश्वामित्र को उनके समक्ष घुटने टेकने ही पड़े। **'यतोधर्मस्ततो कृष्ण:'** इस वचन का समर्थन स्वयं भगवान कृष्ण ने किया है:-

मम प्रतिज्ञां च निबोध सत्यां,
वृणे धर्ममृताजीविताच्च ।
राज्यं च पुत्राश्च यशो, धनं च
सर्वं च सत्यस्य कलामुपैति ।

अर्थात्- मेरी प्रतीक्षा अटल है । मैं जीवन और मोक्ष से धर्म को श्रेष्ठ मानता हूँ । राज्य, पुत्र, यश और धन ये सब सत्य अर्थात् धर्म की एक कला के भी बराबर नहीं हैं ।

किन्तु देखते हैं-इस युग में पाप और अधर्म ही अधिक बढ़ रहा है । धर्म के नाम पर जो अधर्माचरण का इन्द्रजाल फैला हुआ है, उससे धर्म का सही रूप ही विलुप्त हो चला है । इसे लोगों ने ठगी का मार्ग बना लिया है, पर इससे कुछ लाभ नहीं होता । धर्म का फल पाना है, तो इसे अपने जीवन में घुला डालो । आपके प्रत्येक रोम-रोम में, विचार और कर्म में सर्वत्र ही धर्म समाविष्ट हो तो आप एक अलौकिक आनन्द से प्रत्येक क्षण भरे-पूरे रहेंगे ।

धर्म अनादि तत्त्व है । यह एक प्रकार का दैवी सन्देश है । जिस समय लोगों में भाषा, साहित्य और विचार-प्रदर्शन की क्षमता नहीं थी, उस समय मनुष्य के समक्ष धर्म-अधर्म का प्रश्न उपस्थित हुआ । तब लोग अपने अन्त:करण की आध्यात्मिक प्रेरणा को प्रमाण मानते थे और उसी के अनुसार आचरण करते थे । इससे यह प्रकट होता है कि धर्म, मानव समाज का नियम या प्रतिबन्ध नहीं है, वरन् यह वह दृढ़तम विचार है, जो सम्पूर्ण संसार की भलाई को ध्यान में रखकर परमात्मा द्वारा प्रस्फुटित किया गया है ।

इसलिए उन नियमों को, जिनमें सार्वभौमिकता की उदार भावना सन्निहित हो, पालन करना ही धर्म माना जाता है । स्वार्थ और भय के कारण इन नियमों का उल्लंघन करना ही अधर्म है । परपीड़न, द्वेष, निन्दा, छल, कपट, झूठ, बेईमानी आदि बुराइयाँ मनुष्य की स्वार्थपूर्ण संकीर्णताओं के कारण होती हैं । इनसे 'सर्वजन हिताय' की सामूहिक भावना का अतिक्रमण होता है, जिससे दूसरों को दु:ख मिले या औरों के हितों पर आघात पहुँचे, वह धर्म नहीं कहा जा सकता । धर्म का श्रेष्ठ स्वरूप वह है, जिसमें मनुष्य सबके कल्याण के लिए अपने को घुलाता है । दूसरों को सुखी देखने के लिए अपने थोड़े से सुखों का भी परित्याग कर देता है । सबकी रक्षा के लिए जो अपने प्राण हवन कर देता है, वह सच्चा धर्मनिष्ठ कहलाने का अधिकारी है ।

धर्म परस्पर भेदभाव करना नहीं सिखाता । वह तो मनुष्य में प्रेम और प्रतीति उत्पन्न करता है । सबको भाई मानना और सबके साथ समानता का व्यवहार करना ही उसे प्रिय है । वह जाति-पाँति के, जीव-जीव के शारीरिक भेद को नहीं मानता । आत्मा सर्वत्र प्रकाशमय है, वही सम्पूर्ण प्राणियों में समाया है, फिर एक प्राणी की दूसरे प्राणी के साथ विलगता कैसी ? यह दुराव क्यों हो, जब तात्विक दृष्टि से हममें कोई भेद नहीं है । धर्म एक आध्यात्मिक तत्त्व है, वह निर्मल है, पवित्र है और जिस मनुष्य के पास रहता है, उसे भी निर्मल अन्त:करण वाला बना देता है । कहते हैं-सोहागे से सोने के रंग-रूप में निखार आता है, मनुष्य में निखार और तेजस्विता धर्म जगाता है । धर्म ही मनुष्य जीवन का प्राण है ।

सुखी जीवन का एकमात्र आधार-धर्म

जीवन का अर्थ है-संघर्ष, परिस्थितियों का आरोह-अवरोह, जिसे परिवर्तन भी कहा जा सकता है । अर्थात् परिवर्तन ही जीवन है और जीवन ही परिवर्तन । जीवन में दैत्यता, कुटिलता के आकस्मिक एवं अप्रत्याशित आक्रमणों को सहन करना अस्वाभाविक नहीं । परेशानियों, कष्टों और आपदाओं की आँधी आती है तो मानव शक्ति को कुण्ठित कर देती है, फलस्वरूप बुद्धि निष्क्रिय हो जाती है, नैराश्यपूर्ण मानसिकता मनुष्य को किंकर्त्तव्यविमूढ़ बना देती है, ऐसी विषम परिस्थिति में, असहाय, निरुपाय व्यक्ति यह चिन्तन करता है कि हमारा सहायक कौन हो सकता है ? हमारी रक्षा कौन कर सकता है ? हमारा उद्धार कौन कर सकता है ? साथ ही सत्पथ ज्ञान कौन करा सकता है ? उत्तर एक ही है-धर्म । सुख-शान्ति की परिस्थितियों का जनक भी धर्म है । कहना न होगा कि जिस दिन इस जगत से धर्म की समाप्ति हो जाएगी, उस दिन सर्वनाश को कोई न रोक सकेगा । पाश्चात्य मनीषी थामसन अपनी समष्टि दृष्टि से धर्म को परिभाषित करते हुए कहता है कि "सम्पूर्ण विश्व मेरा देश, सम्पूर्ण मानवता मेरा बन्धु है और सम्पूर्ण भलाई ही मेरा धर्म है ।"

वर्तमान युग में धर्म के प्रति लोगों की अनास्था बढ़ रही है, जिसका परिणाम यह हो रहा है कि नैतिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों, मान्यताओं में भी अवमूल्यन निरन्तर होता जा रहा है । अधर्माचरण के कारण मनुष्य की सुख-शान्ति भंग होती जा रही है, सर्वत्र असन्तोष का वातावरण व्याप्त है ।

चतुर्दिक भटकने के उपरान्त दृष्टि में एक ही उपाय परित्राण में सहायक सिद्ध हो सकता है-'धर्म' । वेद, उपनिषद्, स्मृति, पुराण आदि धर्मशास्त्रों में इसी तत्त्व का निरूपण हुआ है । धर्म प्रधान युग अर्थात् सत्प्रवृत्तियों की बहुलता वाला युग 'सतयुग' कहलाता है, सतयुग में सुख और सम्पन्नता का आधार धर्म होता है ।

जो व्यक्ति धर्म का पालक, पोषक होता है, वही सच्चा धर्मात्मा कहलाने का अधिकारी है । धर्मनिष्ठ व्यक्ति के अन्त:करण में वह शक्ति होती है जो असंख्य विघ्न-

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

बाधाओं, प्रतिगामी शक्तियों को पराजित कर देती है । धार्मिक मनुष्य के जीवन में एक विशेष प्रकार का विलक्षण आह्लाद भरा रहता है, वह सर्वत्र सौरभ बिखेरता चलता है, उसकी उमंग एवं उल्लास से आस-पास का वातावरण भी प्रभावित होता है । धर्म की प्राणवत्ता निर्जीव को भी सजीव बनाने में समर्थ होती है । 'जीवट' सच्चे धार्मिक का प्रधान लक्षण होता है । वस्तुतः धर्म मनुष्य का वह अग्नि तेज है, जो प्रकाश उत्पन्न करता है, उसमें क्रियाशीलता एवं जिजीविषा जाग्रत रखता है । धर्मशील व्यक्ति विभिन्न विपदाओं, विघ्न-बाधाओं में भी हिमालय के समान अटल एवं समुद्र के सदृश धीर-गम्भीर रहता है । संक्षेप में कहा जाय तो धर्म जीवन का प्राण और मानवीय गरिमा का पर्याय है, उससे ही मानव जाति की सुख-शान्ति और व्यवस्था अक्षुण्ण रह सकती है ।

अधर्म और पापाचार से बचिए

सुख-शान्ति ही मनुष्य की मूलभूत आकांक्षा है । उसका सारा जीवन प्रायः इसी के प्रयत्न में बीतता है । जिस वस्तु, परिस्थिति में मनुष्य को सुख दिखाई देता है, उसी की प्राप्ति में ही उसकी सारी प्रवृत्तियाँ, सारी चेष्टायें काम किया करती हैं, पर अधिकांश व्यक्ति सुख प्राप्ति के सच्चे उपाय को जान नहीं पाते हैं । अज्ञानवश वह तात्कालिक सुखोपभोग की कामना से प्रायः दूसरों के हित का भी ध्यान नहीं रखते । अधर्मी लोग सुख प्राप्ति स्वार्थपूर्ण दृष्टिकोण के द्वारा ही करते हैं, किन्तु इससे कठिन समस्याएँ विवाद और बुराइयाँ उठ खड़ी होती हैं, फलस्वरूप मूलभूत आकांक्षा का पतन हो जाता है । सुख ढूँढ़ने चलते हैं, फँस जाते हैं विपत्तियों के जंजाल में ।

सुख का आधार धर्म और सदाचार है । इसके बिना मनुष्य वास्तविक सुख प्राप्त नहीं कर सकता । शास्त्रकार का उपदेश है:-

सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः ।
सुखं च न बिना धर्मात् तस्माद्धर्मपरो भवेत् ।।

अर्थात् "सुख सभी चाहते हैं, सबकी प्रवृत्तियाँ भी इसीलिए होती हैं, पर यह कम ही जानते हैं कि धर्म के बिना सुख प्राप्त करना असम्भव ही है ।" इसलिये अपनी चेष्टाओं की बड़ी सावधानी से देख-रेख करते रहना चाहिए ।

पाप वृत्तियाँ और देवत्व दोनों ही मनुष्य के अन्तः-करण में निवास करते हैं । आसुरी शक्तियों में आकर्षण और तात्कालिक प्रलोभन का भाव अधिक होता है, इससे मनुष्य बलात् बुराइयों की ओर खिंच जाता है । यह बुराइयाँ जब स्वभाव में गहराई तक प्रवेश कर जाती हैं तो वे संस्कार बन जाती हैं । यह कुसंस्कार ही मनुष्य को जन्म-जन्मान्तरों तक जन्म-मरण और सांसारिक दुःखों में आवृत्त किए रहते हैं । मनुष्य बार-बार पाप करता है । बार-बार दुःख पाता है । इस भ्रम-जाल में वह अपने वास्तविक लक्ष्य को भूल जाता है, परिणाम यह होता है कि मनुष्य जीवन मिलने पर भी वह सामान्य प्राणियों जैसे ही आचरण करता रहता है । उसका विचार, उसका विवेक, उसकी सद्बुद्धि अधर्माचार के कारागार में बँधी पड़ी रहती है । बेचारा जीव तरह-तरह के दुःख सहन करता हुआ भाग्य और ईश्वर को दोष लगाता रहता है ।

विषयों में प्रवृत्ति के कारण ही प्रायः लोग पापकर्म करते हैं । इसलिए भगवान् कृष्ण ने यह निर्देश किया है:-

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ।।
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।

अर्थात् "अपने अन्तःकरण में उठने वाली दुष्प्रवृत्तियों के वशीभूत न होकर, स्वच्छ अन्तःकरण वाले बनिए । जब तक ऐसा नहीं करेंगे, राग-द्वेष से तब तक निवृत्ति नहीं होंगे । जब तुम इन्द्रियों का स्वामित्व प्राप्त कर लोगे, तभी प्रसन्नता प्राप्त होगी । इस दिव्य आनन्द के द्वारा ही जीवन का सच्चा सुख प्राप्त कर सकोगे ।"

पाप और अधर्म की दुष्प्रवृत्तियों से जो समय रहते सावधान हो गया, वही सच्चा साधक, सच्चा अध्यात्मवादी कहा जा सकता है । मोह-माया के क्षुद्र जीवन से ऊपर उठने के लिए सदाचार आवश्यक है जो केवल अपरिपक्व, अस्थिर, क्षुद्र और छोटी-छोटी बातों में ही जीवन गँवाते रहते हैं, उन्हें अज्ञानी ही माना जायेगा । उनको इस लोक में दुःख भोगने पड़ते हैं और पारलौकिक अनुभूतियों से भी वंचित रहना पड़ता है ।

प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान बर्थेलो ने एक बार अपने प्रवचन में कहा-"मनुष्य जाति की सर्वोपरि प्रेरक शक्तियाँ हैं-शक्ति और धर्म । आत्मा का अस्तित्व इन्हीं से जाना जा सकता है ।" मनुष्य को जिस सुख की कामना है, वह यथार्थ में कोई बाह्य वस्तु या परिस्थिति नहीं है । मनुष्य अपनी रुचि के अनुसार जिन वस्तुओं में तृप्ति देखता है, उन्हीं को सुख का साधन मान लेता है । यहाँ यह भूल जाते हैं कि हमारा मूल विषय निजत्व का ज्ञान प्राप्त करना है । अर्थात् हम तब तक सुख प्राप्त नहीं कर सकते जब तक यह नहीं जान लेते कि हम क्या हैं, कौन हैं और हमारा शाश्वत् स्वरूप क्या है । यह अज्ञानता ही दुःख का कारण है, क्योंकि लोग पाप और दुष्कर्म अज्ञानवश ही करते हैं । आत्मा को सही स्थिति का ज्ञान होते ही मनुष्य की चित्तवृत्तियाँ शुद्ध और पवित्र होने लगती हैं, इसीलिए सुख प्राप्ति के लिए शुद्ध जीवन की आवश्यकता पर अधिक जोर दिया जाता है ।

दुःख जिसे कोई नहीं चाहता, वह मनुष्यों के अधर्म और पाप कर्मों का ही परिणाम होता है । सुख की प्राप्ति सुयोग्य आचरण से होती है और पाप-सम्पादन से त्रास बढ़ता है, पर मनुष्य सदैव इससे विपरीत ही आचरण करता है, इसलिए शास्त्रकार ने निर्देश किया-

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नैच्छन्ति मानवाः ।
न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः ।।

अर्थात् ''मनुष्य सुखों की, पुण्य फल की इच्छा तो करता है, किन्तु स्वयं पुण्य अर्जित नहीं करता है । पाप के दुष्परिणामों से डरता है, किन्तु यत्नपूर्वक करता दुष्कर्म ही है ।'' ऐसी स्थिति रहते हुए भला किसी को सुख मिल सकता है ? आम का फल आम होता है बबूल नहीं । इसलिए सुख वही प्राप्त कर सकते हैं, जिनकी प्रवृत्तियाँ भी सन्मार्गगामी होती हैं ।

मनुष्य संकुचित दृष्टिकोण के कारण पाप करता है । तत्काल के लाभ प्राप्त करने के लिए जब दूरगामी परिणाम दिखाई नहीं देते, तभी मनुष्य दुष्कर्म करता है । चोरी करने वाला यदि यह जान ले कि उसे इसके बदले में जेल जाना पड़ेगा, पकड़े जाने पर तरह-तरह के दण्ड दिए जा सकते हैं, तो यह सम्भव है कि उस दुष्कर्म से बच जाय । किन्तु संकुचित दृष्टिकोण के कारण वह यह समझता है कि उसे कोई नहीं देखता, किन्तु उसका हृदयस्थ आत्मा इस दुष्कृत्य को देखता रहता है, जो बाद में उसके पश्चात्ताप, ग्लानि और विक्षोभ का कारण बनता है । भगवान् मनु ने लिखा है:-

मन्यन्ते वै पापकृतो न कश्चित्पश्यतीति नः ।
तांस्तु देवाः प्रपश्यन्ति स्वस्यैवान्तरपूरुषः ।।

अर्थात्-''पाप करने वालो ! यह न समझो कि तुम्हें कोई देख नहीं रहा है । तुम्हारे हृदय में बैठी हुयी तुम्हारी आत्मा ही सब कुछ देख रही है ।'' अतः मनुष्य सबसे प्रथम इस सत्य को स्वीकार करे कि संसार के सभी मनुष्य समान हैं । सबके लिए न्याय का बर्ताव करना चाहिए । जब तक ऐसी धर्म बुद्धि नहीं तब तक मनुष्य बुरे कर्म ही करता है और उनके दुष्परिणाम भोगता रहता है ।

सच्चे धर्म के सिद्धान्त सभी के लिए इतने स्वाभाविक हैं कि जैसे ही उन्हें लोगों के आगे रखा जाता है, लोग उन्हें इस प्रकार स्वीकार कर लेते हैं, जैसे इससे बहुत समय से परिचित रहे हैं । धर्म आत्मा की आध्यात्मिक प्यास है । उसे धर्म में ही सुख मिलता है । इसलिए जब भी वह अपने शुद्ध स्वरूप को समझ पाता है, तभी से उसके शुद्ध जीवन की प्रशस्ति प्रारम्भ हो जाती है । सम्प्रदायवाद की विविधता में भी धर्म का स्वरूप अविच्छिन्न है । धर्म वह है जो मनुष्य को क्षुद्र जीवन से उठाकर महान् और आत्मदर्शी बनाता है ।

भले-बुरे कर्मों के द्वारा मनुष्य अपने ईश्वरीय अंश को चाहे तो बढ़ा ले, चाहे घटा ले । ईश्वरीय ज्योति को विकसित करने के लिए वासनाओं का दमन करना पड़ता है और अपने अन्दर प्रेम-भाव, अहिंसा और उदारता के सद्गुणों का जागरण करना होता है । यह सिद्धान्त पूर्णतया सर्व-धार्मिक और सार्वभौमिक है । मत-मतान्तर का इसमें किसी प्रकार झगड़ा नहीं है ।

धर्म सिखाता है कि मनुष्य का और संसार के समस्त पदार्थों का परमात्मा से क्या सम्बन्ध है । धर्म मनुष्य की आन्तरिक शक्तियों को जगाता है । सही ज्ञान और आन्तरिक शक्तियों के समन्वय से ही मनुष्य का जीवन सर्वांगपूर्ण बनता है ।

मना पापसंकल्प सोडूनि द्यावा ।
मना सत्यसंकल्प जीवी धरावा ।।

अर्थात् हे मन ! तू अपने पाप-संकल्पों को त्याग कर सत्य-संकल्प धारण कर । यह निर्विवाद सत्य है कि हमारा जीवन लक्ष्य बाह्य सुखोपभोग तक ही सीमित नहीं है । अपना एक सात्विक लक्ष्य भी है-वह है, आत्म-ज्ञान और आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति । इस लक्ष्य को पूरा करना हो तो अधर्म और पापाचार से बचकर सत्य-संकल्पों को ही जीवन में प्रथम स्थान देना होगा ।

परिष्कृत धर्मतंत्र ही समाज को सशक्त बना सकता है

राजतन्त्र व धर्मतन्त्र समाज की दो समर्थ शक्तियाँ हैं । किसी समाज अथवा राष्ट्र की सर्वांगीण प्रगति इन्हीं दो शक्तियों के आपसी सहयोग पर निर्भर करती है । प्राचीनकाल में धर्मतन्त्र प्रत्यक्ष रूप से तो नहीं, परन्तु परोक्ष रूप से सदा राजतन्त्र के कार्यों में सहकारी भूमिका निभाता रहा है । साथ ही राजतन्त्र भी उससे हाथ से हाथ मिलाकर चलता रहा है और इस प्रकार निर्विघ्न समाज को प्रगति की राह पर अग्रसर कराता रहा है ।

गुरु वशिष्ठ का राजा दशरथ को तथा चाणक्य का गुप्त साम्राज्य को सदा परामर्श, मार्गदर्शन मिलता रहा । शिवाजी समर्थ गुरु रामदास की छत्रछाया में पलकर छत्रपति कहलाये । गाँधीजी ने एक आध्यात्मिक व्यक्ति होते हुए भी राजनीतिक क्रान्ति का सूत्रपात किया । तिलक, मालवीयजी, स्वामी श्रद्धानन्द सबने इस क्रान्ति में अग्रणी भूमिका निभाई । अशोक तो स्वयं राजपाट छोड़कर बौद्ध संगठन में शामिल हो गया था तथा अपने पुत्र व पुत्री को भी इस संगठन में दीक्षित करवाया था । गुरुनानक सदा 'एक हाथ में माला, एक हाथ में भाला' की घोषणा धर्मतन्त्र तथा राजतन्त्र के समन्वय के रूप में करते थे । बन्दा वैरागी सतत् राजनीतिक सुधार हेतु प्रयत्नशील रहे । महाभारत में द्रोणाचार्य ने तो इस तथ्य को और भी स्पष्ट किया है कि-

अग्रतः चतुरो वेदा पृष्ठतः सशरं धनु ।
इदं ब्राह्मं इदं क्षात्रं शास्त्रादपि शरादपि ।।

अर्थात्-हम वेदों को आगे रखकर लोगों को समझाने और सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करते हैं । साथ ही पीठ पर धनुष-बाण भी रखते हैं । यह धर्म शिक्षा 'ब्रह्म' है और यह शस्त्र धारण क्षात्र है । दोनों शक्तियों के समन्वय से ही समस्याएँ सुलझती हैं ।

इतिहास साक्षी है कि जब तक इन दोनों समर्थ शक्तियों में आपसी सहकार बना रहा तब तक समाज में अव्यवस्था तथा अनाचार का कहीं अंकुरण न हो सका ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

इन दोनों की घनिष्टता की परिणति ही 'रामराज्य' के रूप में देखी गई थी । चोरी, डकैती तथा दूसरों को सताये जाने का भ्रष्ट कर्तृत्व कहीं देखने को न मिलता था । सभी वर्ग के लोग अमन-चैन की जिन्दगी जीते थे । सामाजिक क्षेत्र में आपसी सहयोग व संगठन देखते ही बनता था ।

समय परिवर्तन के साथ-साथ सब कुछ बदल गया । हर चीज विकृतिग्रस्त होती चली गई, सो राजतन्त्र व धर्मतन्त्र के साथ भी यही हुआ । इन दोनों के उत्कृष्ट विचारों में भी पतन आरम्भ हो गया । दोनों अपने-अपने आदर्शों, नीति-निर्धारणों को भूलकर अपनी खिचड़ी अलग-अलग पकाने लगे । जब स्वयं एक पक्ष के अन्त: में दुर्भावना होती है तो अन्य सभी में दोष-दुर्गुण ही नजर आने लगते हैं । राजतन्त्र व धर्मतन्त्र में भी जब वैज्ञानिक विकृति उत्पन्न हुई तो दोनों एक-दूसरे के ऊपर कीचड़ उछालने लगे तथा स्वयं को पवित्र व श्रेष्ठ घोषित करने लगे ।

गम्भीर पर्यवेक्षण के आधार पर मनीषा धर्मतन्त्र को ही अधिक दोषी ठहराती है, क्योंकि बालक यदि कोई गलती करता है तो वह क्षम्य हो सकता है, परन्तु अभिभावक द्वारा की गई गलती दण्डनीय होती है । सामान्यत: छात्र यदि कोई गलत कार्य करता है तो छुटपुट सजा अथवा चेतावनी से काम चला लिया जाता है, परन्तु शिक्षकों द्वारा उठाया गया गलत कदम सर्वथा निन्दनीय तथा कड़ी से कड़ी सजा के योग्य होता है । धर्मतन्त्र का कार्य भी वस्तुत: शिक्षक एवं अभिभावक का ही है, जबकि राजतन्त्र उसके कुशल निर्देशन में काम करने वाला बालक अथवा शिष्य है । धर्मतंत्र यदि स्वयं सशक्त, समर्थ व आदर्शनिष्ठ बना रहे तो निश्चित है कि समाज में अव्यवस्था नाम की चीज नहीं पनप सकती ।

आधुनिकता की बाढ़ में धर्मतन्त्र के वास्तविक स्वरूप पर भी धब्बा लगे बिना न रहा । जिस क्षेत्र का कभी एक मात्र लक्ष्य परमार्थपरायणता तथा लोकशिक्षण था, उसमें भी अवांछनीयता की घुसपैठ होती चली गई । पूजा के नाम पर आडम्बर व रूढ़िप्रचलन का वह एक माध्यम बनकर रह गया, पूजा जो कभी आत्म-परिष्कार के लिए की जाती थी, मात्र स्वार्थसिद्धि तथा मनोकामनापूर्ति का कृत्य मात्र रह गई । धार्मिक व्यक्ति नैतिकता की परवाह न करके वेश-भूषा एवं बाह्य प्रदर्शन को ही अपने सम्मान एवं अहंपूर्ति का केन्द्र बनाने लगे । दूसरों की सेवा का उद्देश्य भूलकर स्वयं दूसरों से सेवा-सत्कार व पूजा की आकांक्षा रखने लगे ।

अनगढ़, अशिक्षित तथा पिछड़े लोगों को तो ये धर्मतन्त्र के ठेकेदार मूँड़ते तथा अपना उल्लू सीधा करते रहे, परन्तु समझदार, सुशिक्षित, बौद्धिक वर्ग को इनका कुकृत्य हृदयग्राह्य नहीं हो सका । परिणामस्वरूप इस वर्ग ने धर्म की इस विकृति को सहन नहीं किया । सुधारने के प्रयास चलने चाहिए थे, वे भी नहीं चले । मात्र निन्दा ही की जाती रही । यह स्थिति किसी एक देश में नहीं वरन् समस्त विश्व में बन गई । चारों ओर से धर्मतन्त्र के ऊपर गालियों की बौछार पड़ने लगी । कितनों ने इसे सामान्य व भोली-भाली जनता का शोषकतन्त्र घोषित किया, तो अन्यान्यों ने इसे 'अफीम की गोली' की उपाधि प्रदान की । समाजशास्त्रियों ने इसे 'जनता की स्वाधीनता लूटने तथा पराधीन बनाने वाला' बताया ।

राजतन्त्र का धर्मतन्त्र से बिलगाव जो हुआ, उसका परिणाम और भी बुरा हुआ । अब तो उसे समझाने-बुझाने तथा उसके ऊपर अंकुश रखने वाला कोई न रह गया । परिणामस्वरूप वह सत्ता का पुजारी भर रह गया, सर्वाधिकार अपने ही हाथों देखकर निरंकुश बन बैठा । औचित्य-अनौचित्य की सूझ-बूझ उसकी जाती रही । कर्त्तव्य की तनिक परवाह किये बिना अधिकारवादी मनोवृत्ति के चलते इसमें उच्छृंखलता समाविष्ट होती चली गयी । परिणाम यह हुआ कि दो की लड़ाई में पार्टियाँ अनेकानेक बनती चली गईं, परन्तु देश व समाज की स्थिति बद से बदतर होती चली गई हैं । नैतिक पतन, भ्रष्ट आचरण, कामचोरी, रिश्वतखोरी, धन लोलुपता आदि अनेकानेक व्यक्तिगत, पारिवारिक व सामाजिक समस्यायें उभरती चली गई हैं । दिन दहाड़े किसी का कत्ल तथा लूट-मार तो अब आम बात हो गई है ।

सामाजिक क्षेत्र के लोगों द्वारा सभी समस्याओं की वृद्धि के लिए राजनीति को दोषी ठहराया जाता है । वर्द्धमान सत्तारूढ़ पार्टी को गैर-जिम्मेदार तथा अनुपयोगी घोषित करके पार्टी बदलना ही उनका एकमात्र लक्ष्य होता है । विश्व स्तर पर प्रजातन्त्र के नाम पर यही हो रहा है । व्यक्ति तथा पार्टियाँ अनवरत बदलती रहती हैं, परन्तु फिर भी परिणाम निराशाजनक ही हाथ लगता है । वस्तुत: यह कोई समग्र प्रक्रिया है भी नहीं । परिवर्तन सचमुच ही अभीष्ट हो तो सर्वप्रथम समस्याओं के मूल कारण को ढूँढ़ना तथा उसे सुधारना, सँवारना होगा, अन्यथा सभी प्रयास जलते तवे पर बूँदें छिड़कने के समान असफल ही सिद्ध होंगे ।

समस्याओं का वास्तविक कारण क्या है ? इसके उत्तर में गहन पर्यवेक्षण के आधार पर यही मन बनता है कि जनता में नैतिकता का अभाव तथा परावलम्बन का स्वभाव ही वर्तमान समस्याओं की जड़ है । हजारों वर्ष तक यह देश गुलामी की जंजीर में जकड़ा रहा, जिसके परिणामस्वरूप लोग दास मनोवृत्ति के आदी बन चुके हैं, उनकी आशा यह बन गई है कि सब काम दूसरे ही कर डालेंगे । इस आशा के अनुसार बहुसंख्य व्यक्ति यह सोचते हैं कि राजनीति के सूत्र-संचालक जिन्हें उन्होंने चुना है, ही उनकी समस्त समस्याओं को हल करेंगे । इस दुर्बल आशा के कारण वे स्वयं गिरी हुई नैतिकता, आलस्य, प्रमाद व संकीर्णता के शिकार बने हुए हैं । उन्हें सामाजिक नव-निर्माण में अपनी उपयोगिता समझ में आती नहीं तथा उसकी आवश्यकता का भी भान नहीं होता ।

जनता स्वयं सोती रहे तो उसके घर चोरी होने में विलम्ब नहीं होता । प्रगति के लिए जनता को पूर्णत:

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

जाग्रत तथा सशक्त व समर्थ बनाना अनिवार्य होगा । हमारे देश में प्रजातन्त्रीय शासन व्यवस्था है । इसमें प्रजा ही सब कुछ होती है, परन्तु साथ ही इस व्यवस्था के अन्तर्गत जनता को सुशिक्षित, जाग्रत तथा चरित्रपरायण होना भी आवश्यक होता है । समस्त समस्याओं का निराकरण जाग्रत जन मानस द्वारा ही सम्भव है । इसके लिए सामाजिक, नैतिक, बौद्धिक, क्रान्ति अब अनिवार्य हो गयी है । इस त्रिवेणी में नहाकर ही समाज के कलंक को धोने व स्वयं उबरने की आशा बँधती है ।

गाँधीजी ने समस्याओं के मूल कारण को जानकर उसका सर्वोत्तम व प्रभावशाली निराकरण ढूँढ़ा था । उन्होंने कांग्रेस संघ की स्थापना लोक सेवी संस्था के रूप में की थी । उनके शब्दों में 'कांग्रेस' कोई पार्टी नहीं वरन् लोक सेवियों का एक संगठन था । उनका लक्ष्य इस संगठन के माध्यम से जन जागरण अभियान छेड़ने का था । गाँव-गाँव वे नैतिकता प्रेरित बुनियादी शिक्षा को प्रसारित करना तथा जन-जन को स्वावलम्बी बनाना चाहते थे । हस्त कर्घा उद्योग का प्रचलन उन्होंने इसी उद्देश्य से किया था । राजनीति का पद भार किन्हीं अन्य लोगों को सौंप कर कांग्रेस के श्रेष्ठ नेताओं को वे इसका कुशल निर्देशन एवं ट्रस्टी बनाना चाहते थे ।

गाँधीजी की इच्छा सर्वमान्य न हो सकी । राष्ट्र नेताओं ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त भी जन जागरण के महत्त्व को नहीं समझा । उनका विश्वास था कि देश में समृद्धि बढ़ते ही सब समस्यायें हल हो जायेंगी तथा सब लोग सुखी जीवन व्यतीत करने लगेंगे, परन्तु हुआ ठीक इसका उल्टा ही । देश की समृद्धि तीव्र गति से बढ़ने के बावजूद भी समस्याओं का जंजाल जटिल से जटिलतम बनता चला गया । बाद में असमंजस की सी स्थिति में पाश तोड़कर फेंक सकना तो सम्भव न था । अब यही नेतागण किसी तरह गद्दी बचाने की भाई-भतीजावाद की लूट खसोट में लगे हुए हैं ।

आज भारत में ७० प्रतिशत लोग अशिक्षित हैं । गाँवों में तो यह प्रतिशत अत्यधिक है । उनके अनपढ़, अज्ञानी होने के काण प्रजातन्त्र का महत्त्व उनकी दृष्टि में शून्य के समान है । जनता को अपने वोट की कीमत, राजनेता का उत्तरदायित्व तथा राष्ट्र निर्माण में अपनी उपयोगिता पूरी तरह समझाई जानी चाहिए । राजनेता उनकी नादानी का लाभ उठाते हुए ही उन्हें चुनाव के समय कपोल कल्पित सब्जाबाग दिखाकर वोटों की राजनीति चलाते हैं । ऐसी स्थिति में समाज के अपराधी वर्ग के तथाकथित भ्रष्ट लोग ही प्रायः चुनाव के मैदान में दंगल के लिए उतरते हैं । सत्ता संयुक्त पद प्राप्त करने का एकमात्र लक्ष्य लेकर उन्हें अग्रसर होते देखा जा सकता है ।

परिवर्तन सुधार राजनीति का कार्य नहीं, धर्मनीति का है । राजनीति कानून बना सकती है, परन्तु अन्दर की भ्रष्टता बनी रहे तो कानून कभी सफल नहीं हो सकता । भीतर घुसी दुष्प्रवृत्तियों, स्वार्थों तथा अहमन्यताओं को धोना धर्मक्षेत्र का कार्य है । कभी इसके ऊपर गन्दगी की परत चढ़ गई थी और इसका दमकता स्वरूप भी धूमिल पड़ गया था । दुरुपयोग तो किसी भी चीज का घातक होता है । दूध हो अथवा पानी, दुरुपयोग से प्राणलेवा बन जाता है । विद्युत सर्वोपयोगी है, परन्तु दुरुपयोग से वह जान भी ले लेती है ।

परिवर्तन कैसे हो ? कौन इसके लिए आगे आए ? यह प्रश्न अहम् है । राजतन्त्र कानून व सुरक्षा के लिये जिम्मेदार माना जाता है, पर भ्रष्ट व्यक्तियों के हाथों कानून कभी सुरक्षित नहीं रह सकता । उल्टे उनके भ्रष्ट आचरणों पर पर्दा डालने का कार्य यह करता है । समाज में संव्याप्त दुष्प्रवृत्तियों, स्वार्थ से जुड़ी मान्यताओं व अहमन्यताजन्य विडम्बनाओं से जूझना धर्मतन्त्र का कर्त्तव्य है । जागरूक सुशिक्षित पुरोहित ही ऐसी स्थिति में राष्ट्र के लिए सचेतक की भूमिका निभा सकते हैं । युगों-युगों से यह दायित्व धर्मतन्त्र के सूत्रधार ही उठाते रहे हैं । आज की परिस्थितियों में उन्हें अपने ऊपर छायी कलंक की तमिस्रा को मिटाकर युग नेतृत्व हेतु आगे आना होगा, समाज सेवा ही वास्तविक उपासना-आराधना है । जन-जागरण से बढ़कर सामयिक समाज सेवा आज कोई और नहीं हो सकती । जनशक्ति का दैत्य जब जाग उठेगा तो विकृतियाँ स्वयमेव नष्ट होती चली जाएँगी ।

धर्म की सच्ची भावना का प्रवर्तन हो

आज के संसार की अशान्ति का मूल कारण धार्मिक अनास्था है । एक नई बर्बरता जिसने प्राचीन धर्म और संस्कृति को पदच्युत कर दिया है, के कारण मंगलमय विश्व अमंगलकारी परिस्थितियों से पूरित हो रहा है । लोगों ने 'शक्ति के अधिकार में सब कुछ' की पाशविक धारणा बना ली है, इसी कारण छल, शोषण, अत्याचार वर्गभेद और न जाने कितने दुराचार बढ़ गये हैं, आज की परिस्थिति में उद्धार का एक ही उपाय है और वह यह कि धर्म की सच्ची भावना का प्रवर्तन हो ।

विश्व में जो भी वैभव, विकास की विभूतियाँ हैं, वे सब धर्म के किसी न किसी अंश को ही लेकर जन्मी हैं । विचारों की कोई भी गम्भीर साधना, विश्वासों की कोई भी खोज, सद्गुणों के अभ्यास का कोई भी प्रयत्न यह सब उन्हीं स्रोतों से उत्पन्न होते हैं, जिनका नाम धर्म है ।

धर्म का बड़ा व्यापक अर्थ है । धर्म का अस्तित्व उन सभी परिस्थितियों में विद्यमान रहता है, जिनमें शाश्वत् की झाँकी होती हो । मन के द्वारा सौन्दर्य, शिवत्व और सत्य की खोज धर्म है । बच्चा माता के स्तनों का दूध पीता हुआ चपलता से कभी इधर, कभी उधर देखता है, कभी अधिकारपूर्वक किसी अंग को पकड़ता, झकझोरता है, उसमें जो पवित्रता और निष्कलुषता होती है वह धर्म है ।

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

जंगल में बैठा हुआ अशिक्षित व्यक्ति आकाश की ओर देखता है और प्रयोगशाला में बैठा हुआ वैज्ञानिक एक तत्व का ध्यानमग्न परीक्षण करता है । एक अज्ञान से, दूसरा ज्ञान से परमात्मा की सृष्टि के प्रति आश्चर्यचकित होता है । स्थिति और अवस्था में भेद होते हुए भी दोनों ही धर्ममय स्थिति में हैं । जहाँ शाश्वत् की खोज, जहाँ निष्कलुष आनन्द की सृष्टि, जहाँ उद्दात्त जीवन की निष्ठा है, वहाँ धर्म मूर्तिमान है । यह धर्म ही मनुष्य को ऊँचे उठाता है और समाज तथा संसार में शान्ति का सृजन करता है ।

वाल्ट डिज्ने लिखते हैं-''एक बार मैं अपनी 'मरुस्थल' फिल्म बना रहा था तो पशु-पक्षियों के साथ मेरी मैत्री ऐसी प्रगाढ़ हो गई मानो उनका सारा जीवन मेरे लिये एक खुली पुस्तक है । हमारे आपके भीतर पशु-पक्षियों की जो आदतें आज भी देखने में आती हैं, वे स्पष्ट करती हैं कि पशुत्व से मनुष्यत्व तक की मंजिल बरसों के हिसाब से लम्बी रही हो, फासले के नाम पर कुछ ही इंचों की है । कल जो पशु था आज वही मनुष्य है । विकास की इस गति को कोई नहीं रोक सकता, किन्तु मेरे लिये दुःख की सबसे बड़ी बात यह है कि पशु को हम अपने से हीन समझते हैं । इसके विपरीत बात असल में यह है कि पशु व मनुष्य में सिर्फ शरीर परिवर्तन का ही अन्तर होता है । गुण या अवगुण का नहीं । कई बार तो मैंने देखा है कि पशु-पक्षियों के जो गुण मनुष्य में आज विद्यमान हैं, वे ऐसे विकृत हो गये कि पशुओं को भी, मेरी तो धारणा है, मनुष्यों से नफरत होती होगी । ''

मनुष्य में जो विशेषता है वह प्राणिमात्र में आत्मीयता, प्रेम और विश्वास का आदान-प्रदान है । इसी का नाम धर्म है, यदि मनुष्य उससे वंचित है तो वह मनुष्य नहीं । मनुष्यता का गौरव केवल धार्मिकता है ।

शिकारी रेनाल्ड ने लिखा है-''मेरे सामने एक रेगिस्तानी शेर का उदाहरण है । रेगिस्तानी शेर बड़ा खूँख्वार होता है । मरुस्थल के जीवन में स्वार्थपरता और क्रूरता स्वाभाविक से हो गये हैं, किन्तु मैंने देखा कि बलवान से बलवान जानवर भी प्रेम, दया और भाईचारे की मर्यादा नहीं तोड़ता । शेर पानी पीने गया । धूप और गर्मी का तो नाम ही रेगिस्तान है और भी छोटे-छोटे जीव पानी के लिये दौड़े आ रहे थे । शेर कुण्ड से काफी दूर छिपकर बैठ गया, यद्यपि वह बहुत प्यासा था । जब सब जानवर पानी पी गये तो वह कुण्ड के पास आया । थोड़ा पानी बचा था उससे प्यास नहीं बुझ सकती थी । थोड़े से पानी पर दृष्टि डालकर उसने चारों ओर देखा, अजीब-सी तृप्ति उसकी आँखों से चमक रही थी । अब कोई जानवर पानी पीने के लिये शेष नहीं रहा, जब उसे यह विश्वास हो गया तो उसने उतने पानी से गला सींच लिया । जंगल के राजा ने अपने प्राणों की अपेक्षा धर्म को प्यार किया और शक्ति का, सम्पन्नता का तकाजा भी तो यही है कि उसकी छाया में दूसरे फले-फूलें ।''

हमारे सामने यह बड़ा अनोखा उदाहरण है । मनुष्य समाज में शान्ति और स्थिरता का आधार भी यही है कि मनुष्य में दूसरों की आवश्यकताओं को पहचानने और प्राथमिकता देने में संकोच न करे, उसे अपने हित से बड़ा माने । धर्म के बाह्याडम्बर की आवश्यकता नहीं है । संत, पैगम्बर और सिद्ध-महापुरुष बनने की आवश्यकता नहीं यदि मनुष्य हृदय की निर्मल भावनाओं को ही परिष्कृत और प्रसारित कर लेता है, तो यह बहुत बड़ी उपलब्धि है । इसी का नाम धर्म है, इसी का नाम धारण करना, जीवन लक्ष्य को प्राप्त करना, सत्य में समाहित होना आदि-आदि है । धर्म कोई वर्ग, सम्प्रदाय, कुल, जाति अथवा गोत्र की उच्चता, निम्नता का माप-दण्ड नहीं, वह अन्तरात्मा के परिष्कार का माध्यम और सुखी समाज का साधन है, जिसमें किसी का अहित न हो ।

सच्चे अर्थों में धार्मिक व्यक्ति का धर्म बिल्कुल सीधा-सादा होता है, जिसमें धर्म-विश्वासों, धर्म-सिद्धान्तों के मनोभावों या आधिदैविक तत्त्वों की बेड़ियाँ नहीं होतीं । यह उस आत्मा की वास्तविकता का प्रतिपादन करता है, जो काल और देश से ऊपर व्याप्त है । वह मानव-मात्र को प्रेम, एकता, आत्मीयता से रहने, व्यवहार करने, बढ़ने और फलने-फूलने का समान अवसर प्रदान करता है । अपनी व्यावहारिक अभिव्यक्ति के लिये धर्म की सूक्ति है 'जो भी भला करता है वह भगवान् का है' न्यायपूर्वक आचरण करना, सौन्दर्य से प्रेम करना और सत्य की भावना के साथ विनम्रतापूर्वक चलना यही सबसे ऊँचा और वास्तविक धर्म है । यह अनुभव किसी एक जाति या एक प्रदेश तक सीमित नहीं है ।

गाँधीजी के जीवन में इसी विशेषता के दर्शन होते हैं । उन्होंने धर्म का दिखावा नहीं किया, वरन् उसे जीवन की व्यावहारिकता में ढाला, इसीलिये वे एक महान् आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित हुए । वे सच्चे अर्थों में धार्मिक भावना को ग्रहण करने के लिये हमें प्रेरणा देते हैं, इसीलिये वे हमें मान्य हैं । उनकी घोषणा है कि प्रेम मनुष्य की प्रकृति के अनुकूल है, यदि हम अपनी सामाजिक चेतना के ऊपर प्रेम और सर्वात्म-भाव का प्रभाव पड़ने दें तो इसी से स्वतन्त्रता और सामाजिक उन्नति हो सकती है । इस घोषणा के आधे हिस्से को सफल करके उन्होंने अनूठा उदाहरण भारत ही नहीं समग्र विश्व को दिखा दिया । संसार उसे चमत्कार मानता है, पर यह धर्म की ही शक्ति थी, जिसने इतने भारी काम को इतना सरल बनाकर दिखा दिया । पीड़ा यह है कि सामाजिक उन्नति के दूसरे लक्ष्य की प्राप्ति के लिये उनका शरीर ही नहीं रहा । यह काम तो अब वर्तमान पीढ़ी को पूरा करना है ।

स्वामी विवेकानन्द जी का कथन है-''भारत की संस्कृति अक्षय-अमर इसलिये रह सकी है कि उसने नीति को नहीं, धर्म को ही अपने जीवन में अनुप्राणित किया है। नीति ऐसी कन्या है, जो वरमाला लेकर प्रेम के मण्डप में खड़ी पति की प्रतीक्षा करती रहती है किन्तु धर्म प्राणिमात्र

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

को अपने गन्तव्य पर पहुँचाने वाला अविफल महायान है, वह धारण करता है, किसी के सहारे का भिखारी नहीं ।"

प्रश्न यह है कि धर्म-शास्त्र मनुष्य के लिये हैं या मनुष्य धर्म-शास्त्र के लिये ? हमारा उत्तर स्पष्ट है । हम किसी परम्परा के अन्ध-भक्त नहीं, किसी नियम के सेवक नहीं । अनेक दवाओं में जो सही होती है, जो डाक्टर स्वास्थ्यकारक बताता है उसे ग्रहण कर लेते हैं, शेष उससे बढ़िया और कीमती होने पर भी हम नहीं खाते । जो सबके लिये हानिरहित और स्वास्थ्यकारी हो, वही औषधि ग्रहणीय है । एक दूसरे के साथ न्याय के आधार पर काम करना, औरों की सहायता करना, सब पर दयादृष्टि रखना, शाश्वत् सत्य की उपासना करना, सर्वमैत्री, सबसे प्रेम की भावना रखना यह बातें सबके लिये संतोषदायक, हितकर और आनन्ददायी हैं । इन्हें स्वीकार करने में कभी किसी भी मनुष्य को आपत्ति नहीं हो सकती । इन्हीं का नाम है-धर्म-जीवन । जब ऐसे मानव-जीवन का प्रवर्तन होगा, तभी सच्ची सुख-शान्ति के दर्शन उपलब्ध होंगे ।

उत्पातों की जड़ को काटिए

आज देश का साम्प्रदायिक वातावरण जितना घृणा, द्वेष, अविश्वास, भय, आशंका से आच्छादित है उतना कई शताब्दियों और पीढ़ियों से नहीं देखा गया । हिन्दू-मुस्लिम विद्वेष के लोमहर्षक समाचार चारों ओर से आ रहे हैं । सैकड़ों-हजारों बहुमूल्य जीवन छुरों के घाट उतर गये । अनेक निरपराध बालक, वृद्ध तथा बहिन-बेटियों को इस पशुता पर बलि चढ़ना पड़ा । त्राहि-त्राहि करते हुए अनेकों कातर मानव प्राणी शैतानों की राक्षसी डाढ़ों के नीच कुचल कर नष्ट हो गये । तेजाब फेंककर रास्ता चलते बगल में छुरा भोंक कर जिस आततायीपन का आज नंगा प्रदर्शन हो रहा है उससे पशुता लज्जित हो जाती है ।

इस प्रकार की नारकीय अग्नि एक स्थान से दूसरे स्थान में छूत की बीमारी की तरह उड़-उड़कर पहुँच रही है और नित नये काण्ड प्रस्तुत कर रही है । आग लगा देना सुगम है, पर उस पर काबू पाना मुश्किल है । नादिरशाह और चंगेज खाँ को मात कर देने और खून की नदी बहा देने की धमकी देने वाले विगत कई वर्षों से निरन्तर घृणा और विद्वेष का प्रचार कर रहे थे । साम्प्रदायिकता का विषैला वातावरण तैयार करने में उन्होंने ऐड़ी से चोटी तक का पसीना एक कर दिया था । कट्टरता, अनुदारता असहिष्णुता और धर्मान्धता पर ही उनकी लीडरी टिकी हुई थी, सेवा-त्याग और बलिदान से कोसों दूर रहने वाले ये मजहबी लीडर धर्मान्धता, विद्वेष और घृणा फैलाकर अपनी लीडरी कायम किये हुए थे, उसे मजबूत बनाने के लिये उन्होंने अपने हथकंडों को और भी उग्र कर दिया । 'सीधी कार्यवाही' का आरम्भ जिस तरीके से हुआ उससे प्रत्येक समझदार व्यक्ति सन्न रह गया है ।

घृणा से घृणा की उत्पत्ति होती है । द्वेष से द्वेष बढ़ता है । अविश्वास से अविश्वास की और आक्रमण से आक्रमण की उत्पत्ति होती है । तालाब में पत्थर फेंकने पर छींटे पड़े बिना नहीं रह सकते, कुएँ में जैसी आवाज की जाती है उसकी प्रतिध्वनि तुरन्त ही आती है । रास्ते में असहाय पड़ी हुई धूलि भी लात मारने पर ऊपर उड़ती है और सिर पर चढ़ने का प्रयत्न करती है । दबी हुई चींटी भी काट लेती है । यह ऐसी सच्चाइयाँ हैं जिनसे इन्कार नहीं किया जा सकता । छुरे का जवाब देने के लिए लाठी निकल ही आती है । नोआखाली में जो संगठित, व्यापक विस्तृत एवं दिल-दहला देने वाली पशुता बरती गई उसकी प्रतिक्रिया बिहार में हुई । उसी बर्बरता का नंगा रूप वहाँ भी देखने को मिला । चिनगारी एक स्थान से दूसरे स्थान को उड़ रही है और गढ़मुक्तेश्वर, डारला, मेरठ, दिल्ली, आगरा, इलाहाबाद आदि से साम्प्रदायिक उपद्रवों के समाचार आ रहे हैं । इन उपद्रवों का देश के सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक जीवन पर कितना बुरा प्रभाव पड़ रहा है यह किसी से छिपा नहीं है । भविष्य के सम्बन्ध में आशंकाओं की कल्पनाओं से लोगों के चित्त विचलित हो रहे हैं ।

आग लगाने वालों को विवेक-बुद्धि की चुनौती है कि वे अपनी विषैली नीति की निस्सारता सोचें । घृणा से घृणा बढ़ेगी, द्वेष से द्वेष उत्पन्न होगा । इससे किसी का कोई हित नहीं हो सकता । आततायीपन से न तो किसी को शक्ति प्राप्त होती है और न सफलता । इस प्रकार घृणा का प्रचार करने से मनुष्य अपने विश्वासियों की सबसे बड़ी कुसेवा करता है, क्योंकि अन्त में सभी दृष्टियों से उसे ही घाटे में रहना पड़ता है जो अनौचित्यपूर्ण आक्रमणात्मक नीति अपनाता है ।

आज के अशान्त वातावरण में नेताओं की बहुत बड़ी जिम्मेदारी है, विशेष रूप से उनकी जिन्होंने ऐड़ी से चोटी का पसीना बहाकर अपने अनुयायियों को उत्तेजना एवं घृणा से भरा है और आक्रमण के लिए तैयार किया है । कुछ वर्ष पूर्व तक हिन्दू मुसलमान प्रेमपूर्वक सच्चे पड़ोसी की तरह भाई-भाई की भाँति रहते चले आ रहे थे, दोनों एक दूसरे के सुख-दुःख में साथ रहते थे, झगड़े-फसाद की कोई बात न थी । सन् १९२१ में साम्प्रदायिक एकता का जो सुन्दर वातावरण था वह आँखों से ओझल नहीं हुआ है पर आज दूसरे ही दृश्य देखने में आ रहे हैं । वारांगना के समान रूप बदलने वाली राजनीति के हथकंडों ने कुछ का कुछ कर दिया है ।

वर्तमान साम्प्रदायिक अशान्ति को कुछ गुण्डों की शैतानी कहकर नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता । उसके पीछे उस राजनीतिज्ञ का हाथ है जिसने विद्वेष की चिन्गारियाँ फैलाने का भयंकर खेल अपने हाथ में लिया है। इस प्रकार की नीति का यही परिणाम हो सकता है, जो आज चारों ओर देखने में आ रहा है ।

अशान्ति एवं उत्पातों को दबाने के लिये पुलिस और फौज को काम में लाया जा रहा है, पर इतने से ही काम

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

न चलेगा । उन उत्पातों की जननी वह विचारधारा है जो कट्टरता, द्वेष, घृणा और उत्पातों को प्रोत्साहन देती है । जब तक उस नीति को रोका न जायेगा, तब तक शान्ति स्थापित होना कठिन है । लोगों को उत्तेजित करने वाले और लड़ाने वाले नेता मौज से आराम कुर्सियों पर बैठे रहते हैं और उनके नासमझ अनुयायी अपनी या दूसरों की हानि करते हैं । वे खुद खून में हाथ रँगते और रँगाते हैं । ये ही लोग पकड़े जाने पर कठोर राजदण्ड पाते हैं या बदले की प्रतिक्रिया के शिकार होते हैं ।

स्वस्थ वातावरण स्थापित करने के लिए घृणा, धमकी, आक्रमण, विद्वेष उत्पन्न करने वाला प्रचार करने वालों पर नियंत्रण करना होगा । इस कोढ़ को मरहम लगाकर अच्छा न किया जा सकेगा । इसके लिए रक्त-शोधक चिकित्सा की आवश्यकता है । किसी भी देश की उत्तरदायी सरकार का यह पहला फर्ज है कि वह ध्यानपूर्वक देखे कि वे कौन लोग हैं जो घृणा का वातावरण तैयार करने में लगे हुए हैं, उनकी गतिविधि को रोकना होगा, चाहे वे कितने ही बड़े आदमी क्यों न हों, अशान्ति उत्पन्न कराने वाले मौज से ऐश उड़ावें और बेचारी भोली जनता आपस में कट मरे, इस स्थिति को जारी रखना सर्वथा अवांछनीय है । इस स्थिति के रहते स्वस्थ वातावरण उत्पन्न होना बहुत कठिन है ।

जिनके हाथ में शक्ति हो, उनसे लड़कर छीनने की बात समझ में आ सकती है, पर जिनके हाथ में कोई सत्ता नहीं है, उन निरपराध भोले-भाले नर-नारियों पर आक्रमण करना और उन्हें गाजर-मूली की तरह कतर डालना नीचातिनी कुकृत्य एवं कसाईपन है । इस कसाईपन को जो लोग अपनाते हैं वे शैतान हैं, पर उन्हें क्या कहा जाय जो इस शैतानी के लिए खुलेआम गुण्डों को उभाड़ रहे हैं । नादिरशाह और चंगेजखाँ का अनुकरण जिस प्रकार हो रहा है और उसकी प्रतिक्रिया से जो बदले के आक्रमण हो रहे हैं, उससे किसी का भी हित नहीं हो सकता ।

अखण्ड ज्योति देश के विचारकों से, राजनीतिज्ञों से, नेताओं से, शासकों से एवं जन-साधारण से अपील करती है कि इन शैतानी साम्प्रदायिक उत्पातों के भस्मासुर को रोको, यह काबू से बाहर हुआ जा रहा है । आग लगाने वाले तमाशा देख रहे हैं और इस भस्मासुर के प्रकोप से निरीह जनता भुनी जा रही है । यदि इस दावानल का अन्त करना है तो तात्कालिक रोकथाम के अतिरिक्त उन लोगों को भी काबू में किया जाना चाहिए, जिन्होंने मनुष्यता को कलंकित करने वाली यह आग लगाई है ।

भ्रान्तियाँ ही सम्प्रदायगत विद्वेषों का मूल कारण

किसी विद्यालय में तीन छात्रों को उनके सदाचरण और उत्कृष्ट चरित्र के लिये पुरस्कृत किया गया । पुरस्कार में तीनों को सम्मिलित रूप से एक सिक्का दे दिया गया कि वे जाकर उसे आपस में बाँट लें । छात्रों में से एक भारतीय था, दूसरा पारसी, तीसरा अँग्रेज । एक दूसरे की भाषा समझ पाने में असमर्थ थे । सिक्के का बँटवारा करने में समस्या खड़ी हुई । अँग्रेज लड़के ने अपनी भाषा में कहा-मुझे अपने हिस्से का वाटरमेलन चाहिए, पारसी ने अपनी भाषा में कहा-हिन्दुवाना होना और भारतीय लड़के की माँग थी कि मुझे तरबूज मिलना चाहिए, एक दूसरे की भाषा से अपरिचित होने के कारण तीनों अपनी-अपनी माँग के लिए रट लगाते रहे । आपसी विवाद बढ़ता गया ।

उनकी बातें मार्ग से गुजरने वाला एक ऐसा व्यक्ति सुन रहा था जो अँग्रेजी, पारसी तथा हिन्दी तीनों ही भाषाओं का विद्वान था । उस व्यक्ति ने वह सिक्का अपने हाथ में ले लिया और बाजार से एक बड़ा तरबूज खरीद कर तीनों के सामने रख दिया । तीनों प्रसन्न थे कि उनकी मनचाही वस्तु मिल गयी, पर अपनी इस अज्ञानता पर कि वस्तुतः तीनों की माँग एक थी, पर एक दूसरे की भाषा न समझ सकने के कारण वे आपस में लड़ रहे थे, मन ही मन पश्चात्ताप करने लगे ।

साम्प्रदायिक मतभेदों एवं विवादों में प्रायः इसी प्रकार की भ्रान्तियाँ काम करती हैं तथा आये दिन अनेकानेक समस्याओं का कारण बनती हैं । प्रचलित सभी धर्म-सम्प्रदायों का लक्ष्य एक है । वह है-मानवीय व्यक्तित्व को परिपूर्ण बनाना तथा जीवन-लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक बनना। यह धर्म के शाश्वत् सिद्धान्तों को हृदयंगम करने तथा आचरण में उतारने से ही सम्भव हो पाता है । सम्प्रदाय धर्म का वह कलेवर है जो समय-समय पर देश-काल की विभिन्न परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं के अनुरूप अनेकों रूपों में विकसित हुआ है । यह परिवर्तनशील है । अपरिवर्तनीय, शाश्वत् तत्त्व धर्म के वे सिद्धान्त हैं जो हर काल में एक जैसे रहते हैं तथा सभी धर्म-सम्प्रदायों में एक से पाये जाते हैं । सम्प्रदायों का विशालकाय कलेवर इसीलिए चुना गया होता है कि वे उच्चस्तरीय सिद्धान्तों के परिपोषण में अपना योगदान दें । धर्म के इस महान् लक्ष्य की उपेक्षा-अवहेलना होने अथवा उपरोक्त तथ्य को न समझ पाने के कारण ही साम्प्रदायिक मतभेदों, मनमुटावों, विवादों एवं विग्रहों का सूत्रपात होता है ।

विभिन्न धर्मों के लिए प्रयुक्त किए जाने वाले सम्बोधन भी धर्म के वास्तविक लक्ष्य पर प्रकाश डालते हैं। 'इस्लाम' शब्द 'सल्म' से निकला है जो शान्ति या अमन का पर्याय है। अर्थात् इस्लाम का लक्ष्य है-संसार में शान्ति की स्थापना। वैदिक धर्म अर्थात् ज्ञान का धर्म मानव मात्र को आत्मसत्ता का एक अविच्छिन्न अंग मानने वाला धर्म। बौद्ध धर्म अर्थात् बुद्धि-विवेक का धर्म । क्रिश्चियनेटी शब्द 'क्रिस्टास' शब्द से बना है जिसका अर्थ है 'ईश्वरीय ज्ञान में नहाया हुआ अर्थात् मानव मात्र में एक सत्ता देखने वाला।' जापान का पुराना धर्म शिन्तो है । शिन्तो का अर्थ 'सब आत्माओं का एक परम पथ' होता है । प्रचलित धर्म 'ताओ' का अर्थ भी सर्वश्रेष्ठ रास्ता है । इन सबमें कहीं भी धर्म शब्द संकुचित साम्प्रदायिक अर्थों में प्रयुक्त नहीं हुआ है । प्रकारान्तर से सभी यही कहते हैं कि जो समस्त मानव जाति को एकता के सूत्र में आबद्ध करे, उन्हें सद्भाव पर चलने की प्रेरणा दे वही सच्चा धर्म है ।

फिर आये दिन विभिन्न धर्मानुयाइयों में मतभेद क्यों दिखायी पड़ते हैं ? साम्प्रदायिक दंगे क्यों छिड़ते हैं ? उत्तर

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

स्पष्ट है-'धर्म के शाश्वत् लक्ष्य की उपेक्षा होना तथा बाह्य कलेवरों तथा क्रिया-कृत्यों को अधिक महत्त्व देने लगना।' अमुक धर्म बड़ा और अमुक छोटा, यह प्रतिपादन वे ही करते हैं जो धर्म के वास्तविक स्वरूप से अपरिचित हैं । भ्रान्तियाँ फैलाने एवं परस्पर एक-दूसरे के प्रति वैमनस्य पैदा करने में भी ऐसे ही दिग्भ्रान्त व्यक्तियों की प्रमुख भूमिका होती है । धर्म का जीवन्त रूप आचरण में श्रेष्ठ व्यक्तित्व के रूप में परिलक्षित होता है । जब वह प्रकट होता है तो अपने प्रकाश से अनेकों हृदयों को आलोकित करता है, नवजीवन का संचार करता है । धर्म की साक्षात् जीवित प्रतिमा के रूप में जहाँ भी ऐसे व्यक्ति अवतरित होते हैं, उनकी निकटता-सान्निध्य प्राप्त करने के लिए हर किसी का मन ललचाता है । सम्प्रदाय और मजहब की दीवारें उन्हें संकीर्ण परिधि में नहीं बाँध पातीं । अपनी सत्ता सबमें और सबको अपने में देखने वाले बुद्ध, ईसा, महावीर को कैसे किसी सम्प्रदाय विशेष का प्रतीक प्रतिनिधि माना जा सकता है । यह सच है कि इन महापुरुषों ने एक सम्प्रदाय विशेष में जन्म लिया पर उतना ही सच यह भी है कि उन्होंने साम्प्रदायिक बन्धनों को कभी स्वीकार ही नहीं किया । सदा विवेक का अवलम्बन लिया और विभिन्न धर्मों को एक धर्म के रूप में स्वीकार किया । एक विशेष पन्थ का अनुयायी होते हुए सदा सार्वभौम सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया और समस्त मानव जाति को एकता के सूत्र में आबद्ध करने का प्रयास किया । 'आत्मवत् सर्वभूतेषु वसुधैव कुटुम्बकम्' इन महानुभावों का मूलभूत मन्त्र रहा है ।

एक प्रसिद्ध सन्त का कहना है कि-"हमारा धर्म, हमारा मजहब, हमारे चेहरे पर ऐसी मुस्कराहट के रूप में दिखायी पड़ना चाहिए जो दूसरों के हृदय को जीत ले । हृदय में ऐसी उमंग पैदा करे कि हर किसी को अपने अंचल में समेट ले । जब कभी दूसरों में अपनी खुशियाँ बाँटने और दूसरों के दु:ख-दर्द में हिस्सा बँटाने की आकांक्षा उभरे तो समझना चाहिए कि धर्म ही प्रत्यक्षत: जीवन में अवतरित हो रहा है ।" इन विशेषताओं से सुसम्पन्न व्यक्ति किसी पन्थ विशेष, धर्म अथवा मजहब के अनुयायी न होते हुए भी सच्चे अर्थों में धार्मिक कहे जायेंगे । इसके विपरीत, जहाँ कहीं भी भ्रम, आशंका और घृणा-द्वेष का ऐसा वातावरण तैयार हो रहा हो जिससे मनुष्य-मनुष्य के बीच टकराहट पैदा होती हो समझा-जाना चाहिए कि वहाँ धर्म की आड़ में अधर्म को, विद्वेष को पोषण मिल रहा है तथा साम्प्रदायिकता का विष-वृक्ष पनप रहा है ।

एक धर्मप्राण देश होने के कारण अपने देश में धर्म में आस्था रखने वालों की संख्या अधिक है । सम्प्रदाय-पन्थों की संख्या भी उतनी ही अधिक है । धर्म के सम्बन्ध में भ्रान्तियों की भी कमी नहीं है । जितने साम्प्रदायिक झगड़े यहाँ होते हैं, उतने शायद ही विश्व के अन्य किसी देश में होते हों । हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सिख, बौद्ध, पारसी आदि विभिन्न धर्मों के मानने वाले एक साथ इस देश में निवास करते हैं । विभिन्न मत-मतान्तरों के मानने वाले इस देश में पहले भी एक साथ रहते थे, पर अपने-अपने सम्प्रदायों में रहते हुए भी वे सदा मनुष्य जाति को एकता के सूत्र में बाँधने एवं समता, शुचिता एवं सहिष्णुता का पाठ हृदयंगम करने के लिए ही प्रयासरत रहते थे । भारतीय धर्म एवं संस्कृति को विश्व में असाधारण गौरवमय स्थान इसीलिए प्राप्त था । कालान्तर में धर्म के प्रमुख लक्ष्य के गौण बन जाने तथा सम्प्रदाय को धर्म का पर्याय हो जाने से मतभेद बढ़ने लगे । जिस देश ने कभी विश्व को अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं से अनुप्राणित किया था, आज साम्प्रदायिक मतभेदों के कारण विघटन के कगार पर खड़ा है । ऐसे में विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों का नेतृत्व करने वाले मूर्धन्य व्यक्तियों का यह नैतिक कर्त्तव्य होता है कि देश की अखण्डता एवं सबको एकता के सूत्र में बाँधने के लिए धर्म को साम्प्रदायिक संकीर्णता से बाहर निकालें और उसके स्वरूप एवं लक्ष्य को सही रूप में प्रस्तुत करें ।

धर्म और सम्प्रदाय अलग-अलग हैं

धर्म और सम्प्रदाय को परस्पर न गूँथा जाय तो ठीक है । धर्म जीवनयापन की एक पद्धति है जिसमें मानवीय गरिमा को ध्यान में रखते हुए इस प्रकार जिया जाता है, जिसके प्रकाश में जनसाधारण को श्रेष्ठता की दिशा में चलने की प्रेरणा मिले । सम्प्रदाय समय और परिस्थितियों के अनुरूप गतिविधियाँ अपनाने की ऐसी विधि-व्यवस्था है, जो अनेक बार बदली और समय-समय पर बदली जाती रहेगी । वह अस्थिर इसलिए है कि समय के प्रवाह में वह घिसती-टूटती रहती है । इसलिए नाव की तरह उसकी बार-बार मरम्मत करनी पड़ती है ।

धर्म को कर्त्तव्य का पर्यायवाचक माना गया है । धर्म-कर्म शब्द से प्रतीत होता है कि दोनों सहोदर रहे हैं । जो कर्त्तव्य को समझता है और उसका निष्ठापूर्वक परिपालन करता है, वह धर्मात्मा है । जिसे अब उचित-अनुचित का भेद करना नहीं आता, जो नीति अपनाने और अनीति से बचने का दृढ़ निश्चयी नहीं है, उसे अधर्मी ही कहा जायेगा भले ही वह धर्माध्यक्ष या धर्मोपदेशक का आवरण ही क्यों न ओढ़े हो । धर्म वह लक्ष्मण रेखा है जिसमें मात्र अपने ही कर्त्तव्य का ध्यान रखा जाता है और यह भुला दिया जाता है कि उसका बदला मिलेगा या नहीं ।

जहाँ प्रतिफल का लेखा-जोखा रखा जाता है, वहाँ वह व्यवसाय बन जाता है । देवता को प्रसन्न करने, स्वर्ग में प्रवेश पाने या कीर्ति-प्रतिष्ठा के निमित्त जो कार्य किए जाते हैं, उन्हें धर्म-कर्म का नाम भले ही दिया जाता रहे, पर वस्तुत: वे वैसे होते हैं नहीं । प्रलोभन में प्राय: दिशा-धारा हाथ से चली जाती है और मनुष्य कुकृत्य तक करने

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

में नहीं चूकता । धर्म के नाम पर पशुबलि जैसे प्रचलनों में उसे अविवेक की गन्ध आती है कि औचित्य का परित्याग करके देवता को प्रसन्न करने की नीति अपनाई गई । मनोरथ पूरा करने के लिए तंत्र-मंत्र वाले प्रायः ऐसे ही कुकृत्यों को अपनाते देखे गये हैं । धर्मानुष्ठान इस प्रकार हो ही नहीं सकते । उनमें तो आदि से अन्त तक नीति, सौजन्य और करुणा का समावेश होना चाहिए ।

धर्म में जीवन की समग्रता के तत्त्व हैं । उसे भावानुशासन भी कह सकते हैं । दिग्भ्रान्ति होने पर उसे ध्रुव तारे की तरह मार्गदर्शक बनाया जा सकता है । धर्म वह है जिससे बुद्धि में पवित्रता और आचरण में प्रखरता उत्पन्न होती है । धर्म वह राजमार्ग है, जिस पर चलते हुए हम चरम लक्ष्य तक सरलतापूर्वक पहुँच सकने में समर्थ होते हैं ।

कलह सम्प्रदायों के बीच होती है। आग्रह-आग्रह से टकराता है। सत्य की आराधना और उपलब्धि लक्ष्य हो तो साथ चलने और भूल सुधारने और सहयोग करने का ही प्रयास रहेगा। ऐसी दशा में टकराहट की कोई गुंजाइश नहीं रहती। धर्म में मात्र नीति-अनीति भर का आग्रह है। प्रचलनों के सुधारने-बदलने की परिपाटी तो तभी से चलती आ रही है, जब से धर्मचेतना का शुभारम्भ हुआ।

पिछले दिनों साम्प्रदायिक धर्म-धारणाओं में ऐसे अनौचित्य का समावेश भी रहा है, जिसका आज के विकसित दृष्टिकोण के साथ तालमेल नहीं खाता । नर और नारी के बीच बरती जाने वाली असमानता, जन्म के आधार पर मानी जाने वाली ऊँच-नीच, अमुक कर्मकाण्डों के फलस्वरूप देवता की प्रसन्नता जैसी अगणित मान्यताएँ कभी धार्मिक कट्टरता का अंग रही हैं, पर उन्हें उस रूप में आश्रय नहीं मिल सकता जैसा कि अतीत में धर्म परम्पराओं का अंग माना जाता रहा है ।

धर्म शाश्वत् है । मानवीय गरिमा के अनुरूप अपनाई जाने वाली धर्म-धारणा ऐसी है कि सार्वभौम एवं अपरिवर्तनीय कहा जा सके, जबकि सम्प्रदायों में परिवर्तन, परिशोधन का उपक्रम सदा से चला और सदा चलता रहेगा ।

धर्म बनाम साम्प्रदायिकता

धर्म का रूप प्रेम है और अधर्म का रूप है द्वेष । मानव-समाज में शान्ति सद्भावना और भ्रातृत्व को अक्षुण्ण बनाए रखना ही धर्म का ध्येय है । जो लोग साम्प्रदायिकता के चक्कर में पड़कर इसके विपरीत उपदेश करते हैं, परस्पर दुर्भावना और वैमनस्य फैलाते हैं, वे संसार में धर्म की सेवा नहीं प्रत्युत पाप को पुष्ट करते हैं । सच पूछिए तो मानव मात्र के लिए धर्म एक ही है । जितने मुण्ड उतने धर्म, यह साम्प्रदायिकता का ही परिणाम है । आज धर्म के नाम पर जैसी धाँधली मची हुई है, उसे देखकर मानव समाज का एक वर्ग धर्म का अस्तित्व ही मिटाने पर तुल गया है । उसकी धारणा यह है कि यदि धर्म से मानवीय प्रेम, एकता और बन्धुत्व के बदले परस्पर द्वेष-दुर्भाव और लड़ाई-झगड़े होते हैं तो उसका जितना शीघ्र लोप हो जाये, मनुष्य समाज के लिए उतना ही कल्याणकारक होगा । वास्तव में धर्म वह चीज है जो आत्मा को परमात्मा का बोध कराती है, किन्तु आज संसार की विचित्र दशा है । धर्म के नाम पर अनेक सम्प्रदाय बन गए हैं, एक सम्प्रदाय अपने को दूसरे सभी सम्प्रदायों से श्रेष्ठ समझता है और अपने अनुयायियों को यह शिक्षा देता है कि उसके द्वारा ही ईश्वर और मोक्ष की प्राप्ति होगी और अन्य सम्प्रदाय वाले नरक में जायेंगे । इसीलिए तो स्व० मौलाना मुहम्मद अली जैसे विद्वान तक का विचार था कि नीच से नीच मुसलमान भी महात्मा गाँधी से श्रेष्ठ है । इस प्रकार की संकुचित साम्प्रदायिक भावना से ही परस्पर संघर्ष होता रहता है ।

लोग यह नहीं देखते कि किस मनुष्य का चरित्र कितना ऊँचा है । उसने साधना द्वारा कितनी आत्मोन्नति कर ली है, प्रत्युत साम्प्रदायिकता की दूरबीन चढ़ाकर वे अपने-अपने मजहबी ट्रेडमार्क को ही सर्वोपरि कहने में बद्धपरिकर रहते हैं । कभी-कभी उसका वीभत्स रूप देखकर सहसा हृदय से यह उद्‌गार निकल पड़ता है कि यदि यही धर्म है तो अधर्म की परिभाषा क्या होगी ?

साम्प्रदयिकता के इस गर्हित रूप को देखकर हमारे देश के कुछ विवेकशील नवयुवकों को धर्म से घृणा हो रही है और वे उसकी हस्ती मिटाने पर तुल गये हों इसमें विस्मय की बात ही क्या है ? पुरातनकाल में जहाँ धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह, धीः, विद्या, सत्य और अक्रोध को जीवन में घटाना ही धर्म समझा जाता था, वहाँ आज नाना प्रकार के सम्प्रदायों की सृष्टि हो जाने के कारण अशान्ति, कलह, उपद्रव और पारस्परिक विग्रह ही मजहबी दीवानों का धर्म बना हुआ है । संसार में ऐसे कौन से कुकृत्य हैं, जो धर्म के नाम पर नहीं हुए । यूरोप की साम्प्रदायिकता का इतिहास खूनी घटनाओं से रँगा हुआ है । जब वहाँ पर आडम्बर और अन्धविश्वास के विरुद्ध कुछ विवेकशील व्यक्तियों ने विरोध की आवाज उठाई तो उनको जीते जी आग में नृशंसता से जलाया गया, जिसका वर्णन पढ़कर रोम-रोम काँप उठता है । इस बीसवीं सदी में भी कुछ दिन पहले अफगानिस्तान में एक ऐसी घटना घटी थी, जिसे सुनकर सारी दुनिया दंग रह गई कुरान शरीफ पर अविश्वास करने के कारण दो आदमियों का आधा शरीर जमीन में गाड़ दिया गया और फिर जो कोई उस रास्ते गुजरता उन अधगड़े व्यक्तियों पर पत्थर मारते-मारते जाना सबाब समझता था । इस प्रकार उनके शरीर पर पत्थरों का ढेर लग गया । इस नृशंसता की महात्मा गाँधी ने बड़ी आलोचना की थी । मजहब के नाम पर इस नृशंस कृत्य को मानवीय नहीं, दानवीय बताया था ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

अब संसार के विवेकशील पुरुष यह समझने लगे हैं कि धर्म का सम्बन्ध आत्मा से है और शरीर का सम्बन्ध समाज से और इसलिए वे देश समाजहित के कार्यों में धर्म का दखल देना उचित नहीं समझते । हमारे पड़ोस जापान में भी इसी नीति का अवलम्बन किया जाता है । एक ही परिवार में एक भाई बौद्ध है तो दूसरा कन्फ्यूशस, तीसरा ईसाई है तो चौथा नास्तिक, किन्तु इससे उनकी राष्ट्रीयता और पारस्परिक प्रेम में कोई अन्तर नहीं आता । मुस्तफा कमाल, बतातुक ने तो टर्की का रूप ही बदल दिया, खिलाफत का जनाजा निकला और यह घोषणा कर दी कि राज्य से धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है, इसका परिणाम यह हुआ कि टर्की यूरोप का मरीज समझा जाता था, आज वही अपने शौर्य, साहस और शक्ति से संसार को विस्मय में डाल रहा है । मिस्र, ईरान, ईराक और चीन की अवस्था भी बिल्कुल बदल चुकी है । वहाँ भी राष्ट्रवाद के समक्ष धर्म को गौण माना जाता है । अमानुल्ला ने अफगानिस्तान को भी नए साँचे में ढालने का प्रयत्न किया था, किन्तु विदेशियों के दलालों ने मदान्धों को उकसाकर उनकी मुराद पूरी न होने दी । इस प्रकार इस समय विश्व का नक्शा ही बदल गया है । हर देश और राष्ट्र जमाने की दौड़ में सबसे आगे रहना चाहता है, किन्तु हमारा अभागा देश अटल चट्टान की भाँति अपने पुराने स्थान से जरा हिलना-डुलना नहीं चाहता । दासत्व ने उसे नितान्त अकर्मण्य और चेतनारहित बना दिया है । प्रायः यह देखने में आता है कि पराधीन राष्ट्रों में ही मजहबी मामलों में ज्यादा दिलचस्पी ली जाती है । उनके ऊपर उत्तरदायित्वों का कोई कार्य होता ही नहीं । विदेशी शासक राजतन्त्र का संचालन करते हैं । इसलिये दास प्रजा प्रायः धर्म के नाम पर तर्क और वितर्क और लड़ाई-झगड़े करने में ही मशगूल रहती है ।

हम धर्म के नाम पर धर्म-द्रोह का कटुफल काफी मात्रा में चख चुके हैं और अब भी चख रहे हैं । इसने हमें सहिष्णुता के स्वर्गीय सरोवर से निकाल कर नरक की नाली में नहलाया है, कल्याण पथ से हटाकर कुमार्ग का पथिक बना दिया है, स्वाधीनता के स्वर्ग से ढकेलकर गुलामी के गर्त में गिराया है, सद्भाव की सुगन्धि के बदले द्वेष की दुर्गन्ध में बोर दिया है । सौहार्द की सुधा छुड़ाकर वैर-विरोध का विष पिलाया है । हम अपनी साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के कारण दुनिया में बुरी तरह से बदनाम हो रहे हैं । विश्व की प्रजा हमें नफरत की निगाह से देखती है और सोचती है कि हम सदा गुलाम रहने योग्य हैं । अब भी समय है, सजग हो जाना चाहिये, धर्म के असली रूप को पहचानना चाहिए । धर्म का यह धन्धा नहीं है कि वह मानव समाज में फूट डाले और वैर फैलावे, वह तो स्नेह-सद्भावना, सहनशीलता, सौहार्द और सात्विक सिद्धान्तों का स्रोत है, वह मानव जीवन को उच्च और पवित्र बनाने का साधन है । जब हम धर्म के विशुद्ध रूप को जानकर तदनुकूल जीवन व्यतीत करने का संकल्प कर लेंगे और संकुचित साम्प्रदायिकता को त्यागकर मनुष्य का मूल्य उसके आचरण से आँकेंगे, तभी हम राष्ट्रीय भावनाओं को पुष्ट कर सकेंगे, जातीय जीवन की ज्योति जगमगा सकेंगे । ध्यान रहे कि गुलाम प्रजा का कोई धर्म नहीं होता । धर्म और दासता में उतना ही अन्तर है जितना कि परमात्मा और पिशाच में । परमात्मा हमारे देश को सच्चे धर्म से ओतप्रोत कर दे, यह मेरी कामना है ।

धर्म और सम्प्रदायों का अन्तर

'धर्म' शब्द ऐसा है जिसे मान्यता देने में किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए । धर्म अर्थात् नीतिनिष्ठा, न्याय-शीलता, संयम, सदाचार, उदारता आदि । इन सद्गुणों को ही धर्म कहा गया है । भगवान् मनु ने हिन्दू धर्म की व्याख्या में जो दस लक्षण बताये हैं वे प्रकारान्तर में उपरोक्त सद्गुणों के रूप में इस महान् तत्वज्ञान को प्रस्तुत करते हैं ।

ईश्वर को मध्यवर्ती, साक्षी, न्यायाधीश बनाने की आवश्यकता भी इसीलिए पड़ी कि वह मानवीय गरिमा के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़े हुए इन सदाचरणों का निरीक्षण-परीक्षण करता है । सर्वव्यापी होने के कारण वस्तुस्थिति को समझने में उससे भूल भी नहीं होती । उसके दण्ड-पुरस्कार तथा शाप-वरदान इस बात पर निर्भर हैं कि कौन धर्मपरायण रहकर उसकी भक्ति करता है और कौन अधर्म को अपना कर उसकी अवज्ञा करता है ।

ईश्वर के अवतार धर्म की स्थापना और अधर्म के नाश हेतु होते हैं । परलोक यदि होता है तो वहाँ स्वर्ग-नरक इसी जाँच-पड़ताल के आधार पर मिलता है कि किसने किस स्तर का जीवन जिया । इन समस्त मान्यताओं का तात्पर्य यह है कि ईश्वर किसी के साथ न प्रेम करता है और न द्वेष । उसे किसी की मनुहार या उपहार की भी आवश्यकता नहीं है । क्योंकि सृष्टि के समस्त प्राणी ईश्वर को तो नहीं जानते और न उसका भजन-पूजन करते हैं, किन्तु उसके निर्धारणों के अनुरूप प्रकृति प्रेरणा अपनाकर अपने-अपने कर्त्तव्यों में निरत रहते हैं । यह प्रकारान्तर से ईश्वर की पूजा ही तो हुई, जिसके फलस्वरूप वे सभी प्रसन्न रहते हैं और नीरोग तथा परिपूर्ण जीवन जीते हैं ।

मनुष्य को अतिरिक्त बुद्धि मिली है । यदि वह उसका सदुपयोग करे । अपनी गरिमा एवं अन्तःप्रेरणा को ध्यान में रखते हुए जीवनयापन करे तो वह भी आत्मसन्तोष, लोक-सम्मान और दैवी अनुग्रह का अपेक्षाकृत अधिक भागी बन सकता है । ईश्वर के स्वरूप एवं अनुशासन तत्वज्ञान की इसी निमित्त कल्पना की गई है कि व्यक्ति अपनी बुद्धिमत्ता का दुरुपयोग न करने पाये । वही सोचे और वही करे जो उसे करना चाहिए । अवज्ञा करने पर उसे नरक के दुःख, शोक के कष्ट सहन करने पड़ते हैं ।

इस तत्वज्ञान के पीछे यह तथ्य स्पष्ट समाहित है कि धर्म प्रधान है । ईश्वर की अनुकम्पा उसी के आधार पर उपलब्ध होती है ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

यहाँ तक कि वह इस सम्बन्ध में उत्पन्न हुई अव्यवस्था को सँभालने के लिए दौड़ा-दौड़ा चला आता है और व्यवस्था को सँभालने के उपरान्त पुनः अपने सर्वव्यापी निराकार रूप में लौट जाता है ।

मनुष्य मात्र का धर्म एक है और वह एक ही रहना चाहिए, उसमें मतभेद की कहीं कोई गुंजाइश नहीं है । फिर धर्म कलह तथा अनाचार का निमित्त कारण क्यों बनता है ? इसके उत्तर में एक ही बात कही जा सकती है कि वह धर्म के स्थान पर चल पड़े । यह सम्प्रदायवाद की विकृति है, जो अपनी मनमर्जी की बातें ईश्वर के ऊपर थोपती है और शास्त्रकारों तथा पीर-पैगम्बरों के मुँह से कहलाती है, अन्यथा जिस ईश्वर ने सभी प्राणियों को सृजा है और सब को अपने कर्त्तव्यों का बोध प्रकृति प्रेरणा के अनुरूप कराता है, वह मनुष्य के साथ ही ऐसा व्यतिरेक क्यों करता कि किसी वर्ग को कुछ और दूसरों को अन्य प्रकार के आदेश दे ।

धर्म संस्थापकों में से प्रायः सभी सुधारवादी हुए हैं, उन्होंने पुराने प्रचलनों को बदला और उनके स्थान पर नई परम्पराओं की स्थापना की है । ईसा को सुधारवाद अपनाने के कारण ही उसे पुराने मतावलम्बी यहूदियों ने मृत्युदण्ड दिया । उन पर भी दोष यही मढ़ा, क्योंकि वे ईश्वर की स्थापनाओं के विरुद्ध बगावत करते हैं । लगभग ऐसे ही आरोप उन सभी पर लगाये गये जिन्होंने नये धर्म सम्प्रदायों को प्रारम्भ किया था और अपनी बात को ईश्वर का संदेश कहा था ।

विचारणीय है कि ईश्वर को ऐसी क्या पड़ी कि एक समय में एक प्रकार की मान्यता चलाई और कुछ दिन बाद ही उसमें परिवर्तन करने के लिये नये सुधारक भेजे ?

वास्तविकता यह है कि धर्म अनादि और अनन्त है । मनुष्य के लिए उसमें ऐसे निर्धारणों का समावेश है, जिनके आधार पर वह सज्जन, सच्चरित्र एवं दूसरों का सहायक, सहयोगी बनकर रहे । उसमें प्रेम और करुणा को, संयम और सेवा को प्रश्रय दिया गया है । सभी धर्मों में इन महान् सिद्धान्तों का समावेश है, इसलिए उन्हें ही धर्म की आत्मा माना जाना चाहिए । उनमें छल, दंभ, निष्ठुरता, क्रूरता एवं अपराधी दुष्प्रवृत्तियों के लिए कहीं कोई गुंजाइश नहीं है ।

सम्प्रदायों के बीच ऐसा दुराग्रह पाया जाता है कि हमारी मान्यताएँ एवं प्रथा-परम्पराएँ ही सही हैं । इसके अतिरिक्त और सब झूठे हैं । अपनी पुस्तकों में जो कुछ कहा गया है, वही ईश्वर का वचन है और जिसकी मान्यता इससे भिन्न है, वे सभी नास्तिक हैं और इस योग्य हैं कि उन्हें प्रताड़ित किया जाय, धरती पर से मिटा दिया जाय । ऐसे प्रतिपादन ईश्वरकृत नहीं हो सकते । वे सम्प्रदायों के दुराग्रह हैं । इसी के कारण खून-खराबी होती है और घृणा से द्वेष की, परायेपन की भावना फैलती है ।

प्रथा-परम्परायें बनती रही हैं : साम्प्रदायिक अनुबन्धों में अन्तर पड़ता रहा है, पर मानव र्म का मूलभूत आधार सदा एक ही रहा है । उसमें अन्तर आने की कोई गुंजाइश भी नहीं है ।

प्रथा-परम्पराएँ समय के साथ चलती हैं । दर्शन, तत्व ज्ञान, धर्मशास्त्र की भिन्नता ऐसी ही है जैसी कि एक उद्यान में उगे हुए विभिन्न रंग और गन्धों वाले फूलों की विभिन्नता । उसके कारण बगीचे की शोभा बढ़ती ही है, घटती नहीं । विभिन्न विशेषताओं वाले पुष्प एक-दूसरे के शत्रु नहीं होते और न अपने अतिरिक्त और सब को उखाड़ देने की बात कहते हैं । यही बात दर्शनशास्त्रों और आचार-संहिताओं के सम्बन्ध में है । वे समय-समय पर इसलिए प्रकट हुई हैं कि पुरानी मान्यताओं में जिन विकृतियों का समावेश हो गया है, उनका निराकरण किया जाय । यह अपने-अपने ढंग के तर्क और प्रतिपादन हैं । इनकी विचित्रता है या नहीं है । हलवाई की सभी मिठाइयाँ मीठी होती हैं । यह अपनी रुचि की बात है कि उनमें से किसे चुना जाय, किसे नहीं । इतने पर भी इस बात की कोई गुंजाइश नहीं है कि हमारे स्वाद की अपेक्षा जिनकी पसंदगी किसी और स्वाद में है उनसे लड़ा-झगड़ा जाय और यह कहा जाय कि हमारी पसंदगी ही सर्वमान्य होनी चाहिए । जब विभिन्न प्रकार की पोशाकें पहनने वाले एक रेलगाड़ी में सफर कर सकते हैं तो मजहबों की भिन्नता रहते कोई किसी पर हावी हो इसकी तनिक भी आवश्यकता नहीं है ।

मानवीय गरिमा के अनुरूप श्रेष्ठ आचरण ही धर्म है और उनके सम्बन्ध में सर्वजनीन मान्यता एक जैसी है । उसी सार तत्व को हमें अपनाना चाहिए ।

धर्म, सम्प्रदाय का कारागार न बने

साम्प्रदायिकता एक भयानक अमरबेल के समान उसी धर्म में से अपना आहार लेती रहती है जिसके अनुसार वह अपना रंग ग्रहण करती है और उसे इस ढंग से बिल्कुल समाप्त कर देती है कि उसे (जिस धर्म को) यह बात विदित नहीं होने पाती कि रस के चूस लिये जाने के कारण कब उसकी प्राणशक्ति सूख गई है । यह अपने निकटवर्ती लोगों के द्वारा विश्वसनीय मानी जाने वाली बातों से बहुत अधिक घृणा करती हुई उस धर्म की मरी हुई खाल का उपयोग अपने निवास स्थान के रूप में करती है तथा उसी के द्वारा लड़ने-झगड़ने की, अपनी अपवित्र भावना की और अपनी पवित्रता की झूठी प्रशंसा की रक्षा करती है ।

जब किसी विशेष धर्म के मानने वाले साम्प्रदायिक भक्तों को अपने भाइयों के प्रति किये जाने वाले उस विषम व्यवहार के लिए जो मानव जाति को बहुत अधिक आघात पहुँचता है तथा उसे अपमानित करता है, जवाब देने को मजबूर किया जाता है, तब वे तुरन्त ही धर्मग्रन्थों में से न्यायशील और मनुष्य में विद्यमान देवत्व का उपदेश

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

देने वाले उत्तम उद्धरणों को पेश करके औरों के मन को दूसरी ओर फेर देने का प्रयत्न करने लगते हैं, किन्तु यह देखकर हँसी आती है कि उन्हें इस बात का ज्ञान नहीं होता कि ये ही सब बातें उनकी बुद्धि के प्राय: बने रहने वाले ढंग में बहुत अधिक हानि पहुँचाने वाली गड़बड़ी उत्पन्न करती हैं ।

अपने धर्म के अभिभावक बनते समय-एक ओर तो वे ऊपरी रीति-रिवाजों को, जो प्राय: पुराने समय के होते हैं, झूठ-मूठ स्थायी महत्त्व देकर भौतिक सम्पत्तिवाद को तथा दूसरी ओर नैतिक औचित्य से रहित जन्म और सादृश्य के आधार पर बनाये हुए विशेष सुविधाओं के मजबूत घेरे के भीतर अपने पूजा के ढंगों को पवित्रता का रूप देकर नैतिक सम्पत्तिवाद को उस धर्म पर आक्रमण करने देते हैं । इस प्रकार का पतन किसी एक ही विशेष धर्म में नहीं, वरन् किसी न किसी मात्रा में सभी धर्मों में पाया जाता है और इसके अपवित्र कारनामों का इतिहास भाइयों के खून से लिखा गया है तथा उसमें उन पर किये गये तमाम अत्याचारों की मुहर लगा दी गई है ।

मनुष्य के समस्त इतिहास में यह बात दु:खद रूप में स्पष्ट है कि धर्म, जिसका उद्देश्य जीवात्मा को मुक्त कर देना है, किसी न किसी रूप में सदा मन की स्वतन्त्रता को और यहाँ तक कि नैतिक अधिकारों को भी शिथिल करने के साधन रहे हैं । अयोग्य हाथों में पड़कर सत्य का अधिकार वह सत्य जो मानव-जाति को पशुता के अंधकारमय प्रदेश से बाहर निकाल कर उसकी आर्थिक और नैतिक उन्नति करने के लिए बनाया गया था, समुचित दण्ड देने लग गया है और इस प्रकार हम देखते हैं कि धार्मिक कुटिलता के कारण जितनी अधिक तर्क-शून्यता और नैतिक विवेकहीनता फैल रही है उतनी हमारी शिक्षा में पाई जाने वाली किसी अन्य कमी के कारण नहीं ।

इसी प्रकार जब विज्ञान के द्वारा बतलाये हुए सत्य का प्रयोग बुरे व्यापारों में किया जाने लगा है, तब वह हमें विनाश करने की धमकी दे रहा है । मनुष्य के लिए ये बड़े दु:खदाई अनुभव हैं कि सभ्यता से उत्पन्न होने वाली सर्वोच्च वस्तुओं का ऐसा दुरुपयोग देखा जाय तथा धर्म के अभिभावक एक तरफ से हत्याकाण्ड तथा दासत्व की स्थापना करने के लिए उद्यत और शस्त्रसज्जित लौकिक शक्ति को आशीर्वाद देते हुए पाये जाएँ तथा विज्ञान भी उन्हीं विचारहीन शक्तियों के उपद्रवों से युक्त घातक जीवन में भाग ले ।

जब हम इस बात में विश्वास करने लगते हैं कि हमने किसी विशेष सम्प्रदाय को मानने के कारण ही परमात्मा को प्राप्त कर लिया है, तब तो हमें इसी बात से पूर्ण शान्ति मिल जाती है कि अब आगे और भी ज्यादा जोर के साथ उन लोगों के, जिनका ईश्वर सम्बन्धी मत सौभाग्य से या दुर्भाग्य से हमारे ईश्वर सम्बन्धी मत से सिद्धान्तों में भिन्न है, खोपड़ों को फोड़ना ही ईश्वर की एकमात्र सेवा है ।

इस प्रकार प्रत्येक धर्म जो कि बन्धन से छुड़ाने वाले के रूप में आरम्भ होता है, अन्त में एक विशाल कारागार बन जाता है । उसके संस्थापक के त्याग की नींव के आधार पर उसकी इमारत खड़ी होती है, किन्तु उसके पुरोहितों के हाथ में पड़कर वह एक संग्रह करने वाली संस्था बन जाती है और विश्वजननी होने का दावा करते हुए वह मतभेद और झगड़ों का एक सक्रिय केन्द्र बन जाती है । धीरे-धीरे बहने वाली एक धारा के समान मनुष्य की आत्म-शक्ति सड़ती हुई कीचड़ से भर जाती है और उन छोटी-छोटी छिछली तलैयों में विभक्त हो जाती है, जो केवल मूर्खता के घातक कुहरे को ही उत्पन्न करने का काम करती हैं । यह विचारान्धता के अनुसार पवित्र है, किन्तु आध्यात्मिक नहीं है । यह तब शून्यता की उन कल्पित भावनाओं से घिरी रहती है जो धर्म के भद्दे अनुकरण के द्वारा दुर्बल मन में अपना अड्डा जमा लेती हैं ।

यही साम्प्रदायिक भावना है जो धर्म जैसी दिखाई पड़ती है, पर वस्तुत: धर्म तत्त्व से कोसों दूर है । साम्प्रदायिकता तो धर्म की सड़ी हुई विकृत भक्ति ही कही जा सकती है ।

हम धर्मनिष्ठ हैं-सम्प्रदायवादी नहीं

युग-निर्माण-योजना जिन आधारों पर कार्य कर रही है, उनमें से धर्म भी प्रधान आधार है । विभिन्न गतिविधियाँ भिन्न-भिन्न रूपों में चलायी जा रही हैं, किन्तु उनके संचालन में भी धर्मबुद्धि, धर्मनिष्ठा अथवा धर्मभावना काम कर रही है, यह कहना कोई अत्युक्ति नहीं और न हीं ऐसा कहने या कहे जाने में योजना को कोई आपत्ति है ।

परन्तु जन-दृष्टिकोण कुछ ऐसा हो गया है कि धार्मिकता को साम्प्रदायिकता से परे देख समझ ही नहीं पाता । युग-निर्माण परिवार के परिजनों से लोग बहुधा प्रश्न भी कर बैठते हैं कि आप लोग कौन-सा धर्म मानते हैं? वस्तुत: प्रश्न का भाव होता है कि आप लोग किस सम्प्रदाय में आस्था रखते हैं ।

यह प्रश्न भी किसी से व्यक्तिगत रूप से ही किया जा सकता है, समग्र युग-निर्माण परिवार के लिए यह पूछना कोई अर्थ नहीं रखता । सैनिकों के शिविर में खेलना अनिवार्य होता है । किसी सैनिक से तो यह पूछा जा सकता है कि वह कौन सा खेल-खेलता है, पर यह कोई प्रश्न नहीं कि सैनिकों को कौन सा खेल खिलाया जाता है । सैनिक तो अपनी-अपनी रुचि के अनुसार अनेक खेल खेलते हैं । उन सबका उद्देश्य शरीर को स्वस्थ तथा स्फूर्तिवान बनाये रखना है । कोई भी खेल खेलें, किन्तु सैनिक चुस्ती, स्फूर्ति तथा बलिष्ठता बनाये रखें । इस

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

शिविर के, इस सेना के सैनिक क्या खेलते हैं ? इस प्रश्न का सही उत्तर तो यही हो सकता है कि "सैनिक खेल खेलते हैं" थोड़ी जगह है तो वॉलीबाल खेलते हैं, अधिक हो तो फुटबाल खेल लेते हैं । साधन न हो तो कबड्डी खेलने में कोई झिझक नहीं । घोड़े हों तो 'पोलो' खेल सकते हैं और तालाब मिल जाये तो 'वाटर पोलो' भी खेल सकते हैं, पर सब मिलाकर बात वही है कि "सैनिक खेलते हैं ।" सच्चे उत्साह से खेलते हैं, मात्र दिखावा नहीं करते । कोई देखकर प्रसन्न होता तो उपेक्षा करे तो करे और प्रेरणा लेकर खेलना सीखे तो सीख ले, पर वे तो अपनी स्फूर्ति बनाये रखने पर विश्वास रखते हैं, इसलिए खेलते हैं ।

पुस्तकालय के सदस्य पढ़ते हैं । उनके लिए पढ़ना अनिवार्य है, यह भी कहा जा सकता है, किन्तु अधिक प्रामाणिक बात यही होगी कि वे सब पढ़ते हैं, अपनी रुचि से अपने बौद्धिक विकास के लिए पढ़ते हैं । कौन-सा विषय पढ़ते हैं, कौन-सी पुस्तक पढ़ते हैं ? यह प्रश्न किसी पाठक से व्यक्तिगत रूप से पूछा जा सकता है । पुस्तकालय के सदस्य तो सभी पढ़ते हैं । स्वाध्याय करते हैं । अलग-अलग पुस्तकें पढ़ते हैं, किन्तु एक ही पुस्तकालय से सम्बद्ध हैं तथा एक ही महान् उद्देश्य के लिए पढ़ते हैं । बौद्धिक विकास के लिए पढ़ते हैं । समाज में ज्ञान के प्रसार के लिए पढ़ते हैं । भिन्न-भिन्न पुस्तकें पढ़ते हैं परन्तु व्यवस्थित, योजनाबद्ध तथा सही ढंग से पढ़ते हैं । उससे प्राप्त ज्ञान का सही उपयोग भी करते हैं ।

युग निर्माण परिवार के सम्बन्ध में भी सैनिकों के खेल अथवा स्वाध्यायशीलों के अध्ययन जैसी ही बात कही जा सकती है । विभिन्न खेल खेलने वालों की तरह सभी सम्प्रदायों के व्यक्ति शामिल हैं, हो सकते हैं । सच्चे अर्थों में धार्मिकता को जीवन में उचित स्थान देने की बात उन सब भिन्न दिखने वालों पर एक जैसी लागू हो सकती है । धर्म तत्त्व अपनी सही परिभाषा के अनुसार एक रूप है । उसकी अभिव्यक्ति विभिन्न सम्प्रदायों में विभिन्न ढंगों से हुई है । किन्तु उससे क्या ? धर्म तो अपने आप में पूर्ण तथा स्वतंत्र रूप में ही रहेगा । धर्म के शाश्वत तत्त्वों में परिस्थिति और पात्रों के अनुरूप विभिन्न आचरणों में बाँधने के प्रयास में विभिन्न सम्प्रदायों का रूप बन गया । यदि उनका मूल प्रयोजन जीवन में धार्मिकता का समावेश करके मानवीय गरिमा को बढ़ाना, ध्यान में रखा जाये तो बाह्याचरण की भिन्नता आन्तरिक एकानुभूति में बाधक नहीं बन सकती । युग-निर्माण परिवार में ऐसा ही हो भी रहा है ।

कहा जा सकता है अनेक सम्प्रदायों में अनेक भिन्नतायें हैं, अनेक विकृतियाँ हैं । यह कथन ठीक भी हो सकता है, पर इसे महत्त्व वे दें जो साम्प्रदायिकता को महत्व देते हैं । हम तो धार्मिकता को महत्त्व देते हैं और हर सम्प्रदाय में उसी आधार पर उन पक्षों को देखते हैं जिनके सहारे धार्मिकता जीवन में समावेश पा सके । साम्प्रदायिक दृष्टिकोण के व्यक्ति आचरण भेद को महत्त्व देते हुए उसी की तू-तू, मैं-मैं लगे रहेंगे और धार्मिक दृष्टिकोण वाले व्यक्ति भावनात्मक समानता देखकर उसी को विकसित करते हुए चले जायेंगे ।

सर्वव्यापी, सर्वसमर्थ, सर्वज्ञ परमात्मा को एक रूप में ही मानना अच्छी बात है, अब इसे कोई **'एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति'** कहकर स्मरण रखे या **'लाइलाहाइल्लिल्लाह'** कहकर याद रखे, इसमें बुराई कहाँ है ? ईश्वरीय प्रकाश जाग्रत आत्माओं में प्रस्फुरित होता है, वह समयानुकूल मार्ग-दर्शन देते हैं, यह तथ्य स्मरणीय है, इसे चाहे **'तब-तब प्रभु धरि मनुज शरीरा'** के रूप में सोचें या **'मोहम्मद रसूलिल्लाह** के रूप में समझें....। उसका उद्देश्य युग पुरुषों के मार्गदर्शन का लाभ उठाना है तो क्या हानि है । किसी के सम्मान के लिए कोई टोप उतार कर सिर उघाड़ दे तो क्या या सिर पर रूमाल ही डालकर सिर ढक ले तो क्या, भाव तो सम्मान करने का ही है । लौकिक बाह्य क्रिया-भेद उस भावनात्मक एकता के आगे अधिक महत्त्व नहीं रखते ।

युग-निर्माण परिवार के सभी सदस्य धार्मिक आस्थावान होते हैं, होने चाहिएं । सम्प्रदाय भेद से परे धार्मिक चेतना को परखने, जाग्रत करने तथा उसके गौरव के अनुकूल उसका उपयोग करने की क्षमता यह अर्पित करते चलते, बढ़ाते चलते हैं । बाह्य भेद नहीं विचारों और भावनाओं की समानता समीपता उनका लक्ष्य रहता है ।

ऊपर के उदाहरणों में जिस प्रकार सैनिक खेलता है, राष्ट्र रक्षा की दृष्टि से शरीर को स्वस्थ, चुस्त तथा फुर्तीला बनाये रखने के लिए उसी भावना से धर्माचरण द्वारा व्यक्तित्व को विकसित करने, उसमें निखार लाने की बात मानवता की रक्षा के लिए सोची जानी चाहिए । जिस प्रकार स्वाध्यायशील पढ़ता है । ज्ञान सम्वर्द्धन के लिए, समाज को अज्ञानजनित कष्टों में पिसने से बचाने के लिए, उसी प्रकार धार्मिक चेतना जागरण की बात सोची जानी चाहिए, मनुष्य को सदाचरण की मर्यादा में रहकर गौरवपूर्ण सार्थक जीवन जीने की स्फुरणा प्राप्त करने के लिए ।

यह सब सम्भव है, बहुत कठिन भी नहीं है । युग-निर्माण परिवार के परिजन इसी आधार पर चल भी रहे हैं और सफलतापूर्वक चल रहे हैं । साम्प्रदायिक रूढ़िवादिता के फंदों में फँसकर अपने को धर्म का ठेकेदार मानें या भ्रमवश धर्म शब्द से परहेज करने लगें उससे धर्म का सदुपयोग करने वालों का रास्ता बन्द नहीं होता । ऐसे उलझे हुए लोगों को धार्मिकता का लाभ पहुँचाने में समय लग सकता है, पर स्वयं कोई विवेकी धार्मिकता का लाभ लेना चाहे तो हाथों हाथ ले सकता है । उसमें न कोई बाधा है और न कठिनाई ।

युग-निर्माण योजना यही विश्वास लेकर चल रही है। इ. परिवार से सम्बद्ध हर परिजन मनुष्य को उदाहरण की मर्यादा में रखने तथा आदर्शवादिता की ओर गतिशील बनाने में धर्मभावना को सक्षम मानता है । इसीलिए वह

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

धर्म पर निष्ठा रखता है । धर्म के नाम पर पाखण्डवाद का समर्थक नहीं है । धर्म के नाम पर अनाचार होता देखकर किन्हीं जिन्दादिलों को धर्म शब्द से चिढ़ हो गयी हो तो भले ही वह उसे कोई दूसरा नाम दे लें । जिस प्रकार अन्य विषयों में बाह्य अन्तर महत्त्व नहीं रखता, उसी प्रकार शब्दों के अन्तर को भी हम महत्त्व नहीं देते, परन्तु धार्मिकता के पीछे जो भावना है उसे समझकर उसके पालन में तत्परता बरती जानी चाहिए ।

धार्मिक कहलाने वाले हों न हों सही अर्थों में धर्माचरण करने वाले व्यक्ति हमारे परिजन कहला सकते हैं, भले ही वह अपने को नास्तिक ही क्यों न कहते हों ।

धर्म-भावना अपने शुद्ध रूप में लोकमंगल की अनुपम सामर्थ्य रखती है । कहीं उसका दुरुपयोग हुआ इससे न तो हम उसे तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं और न उन लोगों को बुरा कहते हैं जो आचरण की शुद्धता पर विश्वास रखते हैं, पर धार्मिक कहलाना पसन्द नहीं करते । केवल सम्प्रदायवाद और धर्मनिष्ठा का अन्तर स्पष्टतः समझते रहना आवश्यक है ।

मान्यताओं का निष्पक्ष निर्णय किया जाए

आज का मानव-समुदाय देश, धर्म, जाति, वर्ण, पंथ, सम्प्रदाय, भाषा व प्रदेश आदि के आधार पर टुकड़े-टुकड़े होकर बिखरा हुआ है । एक ही परमात्मा के पुत्र और एक ही धरतीमाता की सन्तानों के बीच यह बिखराव बड़े खेद का विषय है, किन्तु इससे भी अधिक खेद का विषय यह है कि मानव समुदाय की यह टूट-फूट भयानक रक्त-पात का कारण बनती है ।

पिछले हजारों वर्षों से इसी टूट-फूट के कारण क्या यौरोप, क्या एशिया, क्या अमेरिका और क्या अफ्रीका आदि सारे महाद्वीपों की धरती मनुष्य के रक्त से लाल होती चली आ रही है । साम्प्रदायिक संघर्ष और धर्म के नाम पर होने वाले नर-मेध ने संसार के सम्पूर्ण मानव समुदाय को बुरी तरह त्रस्त कर दिया है ।

यह सही है कि कुछ पिछड़े हुये देशों एवं जातियों को छोड़कर प्रगतिशील देशों और जातियों ने धर्म के नाम पर रक्तपात बन्द कर दिया है, तो भी उनमें वर्गवाद और रंग-वाद के आधार पर संघर्ष चलता रहता है और किसी न किसी बहाने खून बहता ही रहता है । साथ ही संसार में राष्ट्रवाद का एक ऐसा उन्माद फैल गया है जिसने क्या प्रगतिशील और क्या पिछड़े सभी देशों को एक-दूसरे का दुश्मन बना रखा है ।

संसार के सारे नेता, विचारक एवं शासक मानव समुदाय की इस टूट-फूट से होने वाली अपरिमित हानियों को देख रहे हैं और अनुभव कर रहे हैं कि संसार में स्थायी सुख-शान्ति के लिये एक विश्ववाद एवं एक मानव-समाज की अनिवार्य आवश्यकता है किन्तु वे कतिपय कमजोरियों के कारण युग की इस आवश्यकता को पूरा करने के लिये एक स्वर से एक विश्ववाद एवं एक मानव-समाज का सन्देश नहीं दे पा रहे हैं ।

मानव-समुदाय की एकता प्रतिपादित करने में जो कमजोरी सबसे अधिक आड़े आ रही है वह है, मनुष्यों की अपनी-अपनी मान्यताओं के प्रति पक्षपात अथवा दुराग्रह । मनुष्यों के बीच मान्यताओं के प्रति दुराग्रहपूर्ण पक्षपात की यह जहरीली तलवार इस तरह तनी हुई है कि आवश्यकता होते हुए भी वह उनको एक-दूसरे के समीप नहीं आने दे रही है और जब तक यह तीव्र तलवार तनी रहेगी संसार में यों ही संघर्ष होता रहेगा और सुख-शान्ति के शुभ-दिन कभी न आ सकेंगे ।

मान्यताओं के प्रति पक्षपात मनुष्य की बौद्धिक कमजोरी है जो उसे परम्परागत मिलती है । सुविधापूर्वक जीवनयापन के लिये व्यक्तियों, परिस्थितियों एवं देश-काल के अनुरूप जीवन को एक क्रम तथा पद्धति प्रदान करने के लिये समय-समय पर जो नियम निर्माण किये जाते हैं, वे चलते-चलते कालान्तर में मान्यताओं का रूप धारण कर लेते हैं। निसर्ग-नियमों की तरह शाश्वत न होते हुए भी उपयोगिता के अनुसार मानवीय मान्यताओं की एक आयु तो होती ही है और युग, समय अथवा परिस्थितियों के सर्वथा बदल जाने तक उनकी कुछ न कुछ उपयोगिता बनी भी रहती है।

परिवर्तन संसार का अनिवार्य नियम है, किन्तु इसकी गति इतनी मन्थर होती है कि नित्यप्रति होने वाला परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं होता है । यदि यह धीरे-धीरे होने वाला परिवर्तन क्रम ठीक से दिखाई देता रहे तो उसी अनुपात से मनुष्य अपनी मान्यताएँ भी बदलता चले । स्थूल एवं स्पष्ट रूप से दृश्यमान होने में परिवर्तन एक लम्बा समय लेता है । तब तक मनुष्य की मान्यतायें उसके मस्तिष्क में गहरी जड़ पकड़ लेती हैं और तब अपनी उन चिर-संगनियों को उखाड़ फेंकने में एक मोह, एक ममता और एक पीड़ा सी होने लगती है । चिरसम्पर्क से ममत्व हो ही जाता है और ममत्व तोड़ते समय पीड़ा होना स्वाभाविक ही है, किन्तु मनुष्य की विवेकशीलता इसी में है कि वह अपने किसी ममत्व पर दया न करे जो उसकी वांछनीय सुख-शान्ति एवं प्रगति में बाधा बनती हो ।

मनुष्य जिस समाज, राष्ट्र, वर्ग अथवा वंश में पैदा होता है, परम्परागत उसकी अपनी कुछ मान्यतायें भी होती हैं, जिनको किसी समय सुख-सुविधा के अनुसार परिस्थितियों के अनुकूल बनाया गया होता है। अब चूँकि सामाजिक नियम बच्चों के घरौंदों की तरह न तो रोज-रोज बनाये बिगाड़े जा सकते हैं और न मानव-जीवन क्रम की परिस्थितियाँ ही जल्दी-जल्दी बदलती रहती हैं जिससे कि आज की मान्यताओं की उपयोगिता कल ही खत्म हो जाये। इसलिये उनको काफी समय तक चलते रहने का अवसर मिल जाता है । इसी बीच, जब तक सामाजिक जीवन को

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

उपयोगी मोड़ देने के लिये, उपस्थित परिस्थितियों का, अनुपयोगी मान्यतायें बदलने का तकाजा तेज होता है, वे मानव-मस्तिष्क को इस सीमा तक प्रभावित कर चुकी होती हैं कि वह उनका दुराग्रहपूर्ण पक्षपाती बन जाता है और यही उसकी बौद्धिक कमजोरी है ।

साधारण मानव-मस्तिष्क की यह सहज दुर्बलता है कि वह एक बार जिस विचार-चक्र पर चढ़ जाता है फिर जल्दी उससे उतरना नहीं चाहता । उसे नवीन विचारधारा में उतरते बड़ा अटपटा लगता है । इसीलिये जन्म से जीवन में समाई हुई मान्यताओं को छोड़ते उसे हिम्मत नहीं होती और जब कोई उसे उनकी निरुपयोगिता से होने वाली हानियों की ओर संकेत करता हुआ त्यागने का परामर्श देता है, तब वह अपनी इस कमजोरी को छिपाने के लिये उनका पक्षपात करने लगता है ।

अपनी-अपनी मान्यताओं के प्रति इसी अन्धपक्षपात के कारण मनुष्य के बीच रक्तपातपूर्ण संघर्ष को स्थान मिलता है । मात्र मान्यताओं के खण्डन-मण्डन के आधार पर कट-मरना मनुष्य जैसे विवेकशील प्राणी को किसी प्रकार भी शोभा नहीं देता ।

अपनी-अपनी मान्यताओं के प्रति संसार में जब सबको ही समान रूप से मोह है और पक्षपात के कारण कोई किसी की आलोचना, परामर्श एवं सुझाव सुनना ही नहीं चाहता बल्कि आत्म-प्रतिष्ठा और आत्म-गौरव के नाम पर दूसरों की अपेक्षा अपनी मान्यताओं को श्रेष्ठ सिद्ध करने की जिद पकड़े हुये हैं, तब इस समस्या का समाधान भी आखिर किस प्रकार हो ?

इसका केवल एक ही उपाय है, वह यह कि सारा मानव समाज अपनी-अपनी मान्यताओं को निष्पक्षता की तुला पर तौल कर देखे कि उनमें सत्य के साथ मानव-जीवन के लिये कितना लाभकर अंश है । इस कसौटी पर जो-जो मान्यतायें खोटी सिद्ध हों उन्हें सड़ी-गली चीज की तरह तुरन्त त्याग दे । इस प्रकार के त्याग में राष्ट्रीय प्रतिष्ठा अथवा आत्म-गौरव जैसे भावुकतापूर्ण प्रश्नों को जोड़ना बुद्धिमानी नहीं है ।

बहुत बार हो सकता है कि मोह के कारण किसी को अपनी मूढ़ से मूढ़ मान्यताओं में दोष न दिखाई दे । इसके लिये दूसरों की विवेचना, आलोचना तथा मूल्यांकन को अपने निर्णय में सहायक समझकर तटस्थता की स्थिति में होकर सुनने का साहस रखना चाहिए ।

अब चूँकि संसार का सम्पूर्ण जन-साधारण न तो स्वयं निर्णय कर सकता है और न वह उसका उचित अधिकारी ही है । यह काम है विश्व के विचारकों, समाज को नेतृत्व देने वालों और विवेकशील विद्वानों का, जो अपनी मानव-जाति के प्रति शुभेच्छा एवं करुणा रखते हों और उसकी सुख-शान्ति का उत्तरदायित्व अपने कंधों पर समझते हों । परमात्मा ने उनको विशेष विद्या-बुद्धि देकर इसीलिये आगे बढ़ाया है कि इस सृष्टि को नरक बनने से रोकें और स्वर्ग बनाने का प्रयत्न करें और जन-साधारण का कर्त्तव्य है कि वह उनके निर्णय में विश्वास करे और आस्थापूर्वक उसका पालन करे ।

जन-साधारण की भाँति भावुक होकर संसार के उत्तरदायी व्यक्तियों का अपनी मूढ़ एवं हानिकारक मान्यताओं का प्रतिपादन करने में अपनी विद्या-बुद्धि का दुरुपयोग करना उनके व्यक्तित्त्व के अनुरूप नहीं है । उन्हें चाहिए कि वे निष्पक्ष रूप से विवेक के प्रकाश में बैठकर आपस में निर्णय करें कि इस विशाल मानव-समुदाय को एक समाज का रूप देने के लिये किन पुरानी मान्यताओं को निकाल फेंकना है और कौन-सी नई मान्यताओं को स्थापित करना है जिनके आधार पर राष्ट्र, धर्म, सम्प्रदाय, वर्ग, वर्णवाद अथवा जाति-पाँति के नाम पर होने वाला संघर्ष सदा-सर्वदा के लिये मुँह काला कर जाय और संसार में स्थायी सुख-शान्ति की परिस्थितियाँ प्रवेश करें ।

पूर्वाग्रही मान्यताओं से चिपके न रहें

भूतकाल में जो जाना जा चुका है या कहा जा चुका है, वही यथार्थ है या पर्याप्त है ऐसा नहीं सोचा जाना चाहिए । ज्ञान अनंत है । भूतकाल में जितने साधन उपलब्ध थे, उसी आधार पर सोचा, कहा या माना गया था । वह उस समय की परिस्थिति में सर्वथा औचित्यपूर्ण था एवं सामयिक सत्य भी। तत्कालीन शोधकर्ताओं एवं प्रतिपादन प्रस्तुतकर्त्ताओं के परिश्रम की इस दृष्टि से प्रशंसा ही करनी पड़ेगी कि उन्होंने अपने समय में अपने ढंग से जो कुछ सोच सकना और कर सकना सम्भव बन पड़ा, वह पूरी सावधानी और ईमानदारी से प्रस्तुत किया ।

इतने पर भी ज्ञान के कपाट कभी बन्द नहीं हो सकते । मानव ने क्रमिक उन्नति की है । भूत के अनुभव, वर्तमान के प्रयास और भविष्य की सम्भावनाओं का समन्वय करके ही तो प्रगति का समग्र आधार बनता है । क्रमिक विकास की दिशा में मानव जाति चिरअतीत से चली आ रही है और चिरअनंत तक चलती जायेगी । सत्य की शोध का मार्ग असीम सम्भावनाओं से भरा पड़ा है, उस पर चलने वालों को खुला मस्तिष्क लेकर ही चलना पड़ता है ।

भूतकाल में जो समझा-जाना गया था, वही शाश्वत सत्य था, यह मान बैठने से सत्य की शोध का मार्ग ही अवरुद्ध हो जाता है और क्रमिक विकास की सम्भावनायें ही समाप्त हो जाती हैं । हमें न पूर्वाग्रही होना चाहिए न दुराग्रही । अधिक सत्य को समझने के लिये मस्तिष्क पूरी तरह खुला रखना चाहिए । यदि पूर्व मान्यताओं से बढ़कर कोई अधिक प्रामाणिक तथ्य सामने आते हों तो उन्हें स्वीकार करने के लिये तैयार रहना चाहिए ।

भूतकाल में जो कहा जाता रहा है, वह प्रस्तुत सत्य को स्वीकार करने से तिरस्कृत होगा, यह सोचना चिन्तन की संकीर्णता का परिचय देता है । बचपन में हमारी जो

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

गतिविधि और मन:स्थिति थी, वह प्रौढ़ता के दिनों में उससे कहीं अधिक विकसित हो गयी । इसमें बचपन का तिरस्कार कहाँ ? पूर्वकाल के लोग सर्वज्ञ थे, यह मानकर चलना संकीर्ण दृष्टिकोण का परिचय देना है । इसी प्रकार यह मान लेना कि जो आज समझा गया है, वही भविष्य में मान्य रहेगा, व्यर्थ है । सत्य की शोध की दिशा में क्रमिक विकास ही एक शाश्वत् सत्य है, जिसे अपनाये बिना हमें विवेक विज्ञान की शुद्ध दृष्टि नहीं मिल सकती । अरुणोदय की इस वेला में हमें सूर्य की अधिक प्रखर किरणों के स्वागत के लिये सहर्ष तैयार होना चाहिए ।

ज्ञान का विस्तार प्रत्येक क्षेत्र में हो रहा है । ग्रह-नक्षत्रों को ही देखें तो प्रतीत होगा कि भूतकाल की कल्पनाओं से बढ़कर हम बहुत आगे चले आये हैं । निकटवर्ती चन्द्रमा के ही सम्बन्ध में जो नवीनतम जानकारियाँ मिली हैं, वे भूतकाल की मान्यताओं को देखते हुए विचित्र लग सकती हैं, तो भी उन्हें स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं है । किसी समय चन्द्रमा की गणना सौर-मण्डल के नवग्रहों में से एक के रूप में की जाती थी । पीछे उसे पृथ्वी का उपग्रह मानकर एक दर्जा नीचे उतार दिया गया । इससे न तो चन्द्रमा का अपमान हुआ और न ही भूतकालीन अन्वेषकों की अवमानना हुई । यह सत्य की दिशा में एक और कदम बढ़ चलने की सफलता मिलने के रूप में सराहनीय उपलब्धि ही समझी जायेगी ।

चन्द्रमा के सम्बन्ध में चिरअतीत से कितनी सुखद कल्पनायें की जाती रही हैं । उसे भारतवासी अमृत वृष्टि करने वाला, शान्ति और शीतलता का देवता मानते रहे हैं । पाश्चात्य देशों में उसे रूपवान अप्सरा समझा जाता रहा है । कवियों ने उसे विरह और प्रेम के बीच का एक सुखद सेतु माना है । योगी और भोगी उसे अपनी-अपनी भावनाओं के अनुरूप अपने कार्य में सहायक और बाधक मानते रहे हैं । ज्योतिषियों के लिये चन्द्र दशा की गणना के आधार पर विविध मनुष्यों पर उनका भला-बुरा प्रभाव आता जाता, गिना जाता है । ये सारे प्रतिपादन आज की वैज्ञानिक शोधों ने एक कोने में उठाकर रख दिये हैं ।

वर्तमान शोध स्पष्ट करती है कि चन्द्रमा में दिन और रातें होने एवं पृथ्वी की परिक्रमा करने के अतिरिक्त कोई हलचल नहीं है । न वहाँ हवा है न सरोवर। ऊबड़-खाबड़ चट्टानों एवं धूल के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है । सर्वत्र नीरवता एवं भयानक सुनसान ही वहाँ भरा पड़ा है ।

वहाँ पृथ्वी के पन्द्रह दिन जितने समय तक प्रकाश रहता है और उतने ही समय तक अँधेरा । धूप निकलती है तो पानी को उबाल सकने जितनी गर्मी पड़ती है । दिन का तापमान २२० फारेनहाइट रहता है । रात में इतनी सर्दी पड़ती है कि यदि धरती पर उतनी सर्दी पड़े तो पहाड़ों को भी फाड़ देने जैसा संकट उत्पन्न हो जाये । रात को तापमान ० सेण्टीग्रेड से भी २५० सेण्टीग्रेड नीचे चला जाता है । विशाल पहाड़ एवं बड़ी-बड़ी खाई एवं पत्थर की भूमि का रेगिस्तान ही वहाँ है ।

जैसे धरती पर चन्द्रमा निकलता है, उसी प्रकार रात को चन्द्रमा पर पृथ्वी चमकती है । चन्द्रमा की चमक जितनी हम देखते हैं, उसकी तुलना में चन्द्रमा पर पृथ्वी ६० गुना अधिक चमकती है । १००० हजार किलोवाट पावर के बल्ब की रोशनी जितनी २२ गज पर नजर आती है । चन्द्रमा की धरती पर पृथ्वी की रोशनी उतनी ही होती है । उस प्रकाश में किताबें पढ़ने का काम बड़े मजे में हो सकता है । हमें चन्द्रमा जितना बड़ा दिखाई देता है, उससे चार गुने आकार की हमारी पृथ्वी चन्द्रलोक पर दिखाई पड़ती है । आकाश वहाँ नीला दिखाई न देकर काला दिखाई देता है । ऐसे अनेकों नवीन तथ्य सामने आये हैं, जिनसे भूतकालीन चन्द्र मान्यताओं को आघात पहुँचा है । भले ही भावुक व्यक्ति अपने पूर्वाग्रहों को झुठलाया जाता देखकर खिन्न होता रहे, किन्तु स्वीकार तो सत्य और तथ्य को ही करना होगा ।

यह तथ्य केवल चन्द्रमा तक सीमित नहीं है, वरन् जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में रीति-नीति पर लागू होते हैं । जीवन के बाह्य एवं आन्तरिक दोनों ही क्षेत्रों में पूर्वाग्रही हठवादिता को छोड़कर स्वस्थ मन:स्थिति से कार्य करने की आवश्यकता है । ऐसा होते ही जहाँ बाह्य जगत में पनप रहे सम्प्रदायवाद की कट्टरता, मूढ़मान्यतायें, कुप्रथायें स्वत: समूल नष्ट होंगी, वहीं अन्तर्जगत में अन्तराल की संरचना व क्रिया-पद्धति का अध्ययन कर सत्यान्वेषण सहज ही सम्भव हो सकेगा, किन्तु यह तभी शक्य हो सकता है, जब हम पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर वैज्ञानिक मानसिकता अपनायें ।

परिवर्तन के लिये तैयार रहें

बचपन की आवश्यकता अलग होती है और युवावस्था की अलग । नवजात शिशु माँ के स्तनपान पर जीवित रहता है अथवा उसे बाहरी दूध दिया जाता है । उसका पाचन संस्थान इस योग्य नहीं होता कि अन्न आदि को पचा सके । बड़ा होने पर वह अन्न को पचा सकने में समर्थ हो जाता है । बचपन में जो शिक्षा दी जाती है, वह आगे चलकर छूट जाती है । बाल्यावस्था के कपड़े किशोरावस्था में काम नहीं आते । परिस्थितियों के अनुरूप हर वस्तु की अपनी महत्ता है । उनमें अन्तर आते ही जो कभी उपयोगी थी, अनुपयोगी सिद्ध होती है। बदली हुई परिस्थितियों के अनुरूप पुरातन को छोड़ना एवं नई व्यवस्था बनाने के लिये तैयार होना पड़ता है विकास क्रम को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये यह परिवर्तन आवश्यक है और उपयोगी भी । यही बात प्रथा-परम्पराओं, रीति-रिवाजों के लिए भी लागू होती है ।

जो बातें आज के समाज के लिए प्रथाएँ अथवा परम्पराएँ बनी हुई हैं वे वास्तव में कभी के समाज के लिए ऐसे नियम रही होंगी, जिनको अपनाये बिना समाज की व्यवस्था न बन रही होगी ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

यह अनिवार्य नहीं कि आज की बदलती हुई परिस्थितियों में कल की वे बातें पूर्ववत् हितकारी हों । कल जो नियम हमारे पूर्व पुरुषों ने बनाये थे, वे उस समय की परिस्थितियों के अनुसार ही बनाये थे । ऐसा करते समय उन्होंने कोई ऐसी व्यवस्था अथवा आदेश नहीं दिया था कि यदि यह नियम आगे चलकर हितकर सिद्ध न भी हों तब भी इन्हें अपनाये रहना चाहिए । इसी प्रकार आज की परिस्थितियों के अनुसार जो नियम हम बनायेंगे वे आगे आने वाली पीढ़ियों के लिए आज की तरह ही हितकारी होंगे, यह आवश्यक नहीं ? परिवर्तन जहाँ अनिवार्य है, वहाँ वांछनीय भी ।

यह सही है कि रूढ़ि बन गई परम्पराओं को अवश्य त्याग देना चाहिए । प्राचीन प्रचलित किसी बात को अपनाए रहने के लिए कोई शर्त नहीं, किन्तु यह भी सत्य नहीं कि कोई बात पुरानी होने से त्याज्य ही है ।

संग्रह अथवा त्याग की कसौटी, नवीनता अथवा प्राचीनता नहीं है, बल्कि इन दोनों में रहने वाला हितकारक तत्त्व है । आज अनेकों ऐसी पुरानी बातें, परम्पराएँ, प्रथाएँ, विश्वास, सिद्धान्त एवं विचारधाराएँ हैं, जिनको त्याग देने से अतुलनीय हानि हो सकती है । यहाँ तक कि मनुष्य, मनुष्यता से मीलों दूर जा सकता है । साथ ही अनेकों ऐसी नवीनताएँ हैं, जिनको अपनाये बिना मनुष्य का एक कदम बढ़ सकना असम्भव हो जायेगा । नवीनता और प्राचीनता को अपनाने अथवा त्याग करने में कोई दुराग्रह नहीं करना चाहिए, बल्कि किसी बात को विवेक एवं अनुभव के आधार पर अपनाया अथवा छोड़ा जाना चाहिए ।

समाज की सुव्यवस्था, सुविधा और हित के लिए जो नियम बहुत पहले बनाये गये थे, वे आज के परिवर्तित समाज के लिए भी हितकारी हों, यह आवश्यक नहीं । किसी भी नियम की उपयोगिता की एक साधारण कसौटी यह है कि पूर्व नियम जिस प्रकार समाज के विकास और उसकी उन्नति में सहायक होता था, आज भी हो रहा है या नहीं । यदि वह पहले की अपेक्षा आज की उपयोगिता खो चुका है, तो वह आवश्यकता एवं समयानुसार परिवर्तनीय अथवा त्याज्य है । उसे त्याग कर नये हितकारी नियम अपनाना चाहिए । इसमें संकोच करने का अर्थ है, स्वयं अपनी प्रगति में रोड़े अटकाना ।

अनुपयोगी परम्पराओं से चिपटा रहना इस बात का प्रमाण है कि अमुक व्यक्ति अथवा समाज में नव-जीवन का अभाव हो गया है । जागरूक तथा जीवित समाज का यह एक निश्चित लक्षण है कि वह अवांछनीय अथवा असामाजिक प्राचीनता को त्याग कर उसके स्थान पर एक नवीन प्रगतिशीलता को स्थान देता है ।

कोई भी विचारशील व्यक्ति किसी अविवेकपूर्ण प्रथा को इसलिए अपनाये नहीं रह सकता कि वह बहुत समय पूर्व से चली आ रही है । किसी बात की प्राचीनता ही उसकी उत्तमता की कसौटी नहीं । प्रथाएँ और परम्पराएँ कोई ईश्वरीय आदेश नहीं होतीं । ये प्रगति, समुन्नति तथा सुव्यवस्था के लिए ही मानव समाज द्वारा बनायी जाती हैं । जब इनका उक्त उद्देश्य नष्ट हो जाये तो इन्हें भी किसी प्राचीन तथा निर्जीव वस्तु की भाँति त्याग देना चाहिए ।

यदि हम सड़ी-गली, पुरानी रूढ़ियों को हानि उठाकर भी प्राचीनता के लोभ में अपनाये रहेंगे, तो अवश्य शीघ्र ऐसा समय आ सकता है कि हम जमाने के इतने पीछे रह जायेंगे कि हमसे पीछे रहने वाले भी आगे बढ़ जायेंगे । किसी की प्रगति अथवा उन्नति से ईर्ष्या न करते हुए हमें स्वयं अपनी उन्नति का पथ-प्रशस्त करना है और यह होता तभी है, जब हम अपनी विवेक-बुद्धि का समुचित उपयोग करेंगे । जब तक हम आँख मूँदकर रूढ़ियों के पीछे चलते रहेंगे और विवेक की पुकार की उपेक्षा करेंगे तब तक बढ़ते हुए समय के साथ चल न सकेंगे ।

कोई एक नियम किसी एक समय में प्रगति में सहायक हो सकता है, वही कालान्तर में बन्धन का रूप धारण कर सकता है । बन्धन बनते हुए नियम का त्याग ही हितकर है । अनेक व्यक्ति परम्पराओं के अंधभक्त होते हैं और अनेक उनके कट्टर विरोधी । एक पक्ष परम्पराओं को यथावत् बनाये रखना चाहता है, फिर चाहे वे मानव विकास में अवरोध ही क्यों न बन गयी हों तो दूसरा पक्ष उन्हें जड़-मूल से नष्ट कर देना चाहता है फिर चाहे वे कितनी ही उपयोगी क्यों न हों । यह दोनों बातें औचित्यपूर्ण नहीं हैं । इनमें जहाँ एक में जड़ता है वहीं दूसरी में अविवेक ।

परम्परा अतीत की देन होती है और परिवर्तन भविष्य का प्रतीक । मनुष्य का जितना सम्बन्ध वर्तमान से होता है, उतना भूत अथवा भविष्य से नहीं । मनुष्य को वर्तमान में ही जीना पड़ता है । अतीत का वैभव उसका कोई कार्य सम्पादित नहीं कर पाता और भविष्य के स्वप्न भी कुछ काम नहीं आते । मनुष्य को अपने वर्तमान का ही निर्माण करना चाहिए, किन्तु इस निर्माण के लिए आवश्यक सामग्री वर्तमान में नहीं होती, उसके लिए उसे अतीत के अनुभवों और भविष्य की कल्पनाओं का भी अवलम्बन लेना पड़ता है । वर्तमान का भवन भूत और भविष्यत् की आधार-शिलाओं पर बनाया जा सकता है ।

परिवर्तन संसार का एक अपरिवर्तनीय नियम है । जो कल था वह आज बदल गया है और जो आज है वह कल बदल जायेगा । संसार के विकास में परिवर्तन का बहुत बड़ा हाथ रहता है । यदि परिवर्तन न हो, संसार में एक जैसी परिस्थितियाँ सदैव बनी रहें तो यह संसार नीरस और निःसार बनकर रह जायेगा ।

अतीत के अनुभव भविष्य के निर्धारण के लिए आवश्यक हैं, किन्तु प्रचलित ढर्रे में हेर-फेर करना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है । पुरातन के प्रति न तो किसी प्रकार का दुराग्रह होना चाहिए और न ही नवीनता के प्रति अत्यधिक मोह । परिवर्तन आवश्यक तो है पर उसमें विवेक-दृष्टि का होना आवश्यक है । कितनी ही परम्पराएँ ऐसी भी हो सकती हैं, जो वर्तमान परिवेश में भी उपयोगी हों । उसे मात्र पुरातन होने के कारण नहीं ठुकराया जा

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

सकता । परिवर्तन एवं आधुनिकता के नाम पर कई बार ऐसी त्रुटि हो जाती है । ऐसी स्थिति में हर प्रचलन को विवेक की कसौटी पर कसना चाहिए । सन्तुलित दृष्टि हो तो परिवर्तन प्रगति क्रम में उपयोगी सिद्ध हो सकता है ।

साम्प्रदायिकता के विष-बीज को कुचल डालें

मनुष्य जीवन को सफल तथा समाज को सभ्य एवं सुसंस्कृत बनाने की जो सर्वोच्च आचार-संहिता थी उसे प्राचीनकाल में धर्म के नाम से जाना जाता था । धर्मवेत्ता उसे माना जाता था जो सर्वश्रेष्ठ मानवीय गुणों से सुसम्पन्न होता था तथा समस्त मानव जाति को एक परमात्मा की सन्तान मानता था। देश एवं काल के परिवर्तन से परिस्थितियों में भी अन्तर आता है । उनके अनुरूप नयी रीति-नीति निर्धारित करनी पड़ती है तथा उन आचार-सूत्रों में भी परिवर्तन करना पड़ता है । विभिन्न सम्प्रदायों की उत्पत्ति ऐसी ही संधिवेला में हुई । भौगोलिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियाँ भी उनकी विभिन्नता का कारण बनीं, पर जितने भी सम्प्रदाय बने हैं उनके स्वरूप में पारस्परिक भिन्नता होते हुए भी एक ही लक्ष्य है-मनुष्य को पूर्णता प्राप्ति की ओर प्रेरित करना, उस पथ पर अग्रसर करना ।

हिन्दू, मुस्लिम, सिख, पारसी, ईसाई, बौद्ध, ताओ, कन्फ्यूशियस जैसे कितने ही धर्म-सम्प्रदाय संसार में हैं तथा उनकी समाज के बहुमुखी विकास में किसी न किसी समय में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है । अपने मूलरूप में सभी श्रेष्ठ तथा उपयोगी हैं, पर समस्या तब खड़ी होती है, जब उनमें विकृतियाँ भर रह जाती हैं । साम्प्रदायिकता का विद्वेष इनमें सबसे बुरा, सबसे नृशंस है । पैदा तो यह अज्ञानता के गर्भ में से होता है पर अगणित प्रकार की ऐसी समस्याओं को जन्म देता है जिससे मानवीय एकता को खतरा उत्पन्न हो जाता है । साम्प्रदायिकता के विष-बीज को पोषण या तो अज्ञानी धर्मान्धों से मिलता है अथवा निहित स्वार्थी साम्प्रदायिक असामाजिक तत्त्वों द्वारा, पर साम्प्रदायिक विद्वेष की परिणति अत्यन्त भयंकर होती है ।

साम्प्रदायिक दंगों में सन् १९७९ में विभिन्न प्रान्तों में मारे जाने वालों की संख्या इस प्रकार थी-आन्ध्र प्रदेश २०, आसाम २०, दिल्ली ५, गुजरात ३५, कश्मीर २०, कर्नाटक १५, म० प्र० २०, महाराष्ट्र २५, प० बंगाल १००, उ० प्र० ३००, बिहार २५०, अन्य १०० । वर्ष १९८१ में दंगों की संख्या तथा मारे जाने वालों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई । अनुमान है कि पूरे देश भर में विभिन्न स्थानों पर हुए साम्प्रदायिक दंगों के कारण हजार व्यक्तियों से भी ऊपर मारे गये । इनमें निरीह बच्चों तथा महिलाओं की संख्या अधिक बतायी जाती है । वर्ष १९८२ तथा सितम्बर ८३ तक ऐसी वारदातों में डेढ़ हजार से भी ऊपर लोग अपने प्राणों से हाथा गँवा चुके हैं । सितम्बर ८३ में हैदराबाद में विभिन्न सम्प्रदायों के बीच हुए संघर्षों के कारण पचास से भी ऊपर लोग मारे गये, सैकड़ों बुरी तरह जख्मी हुए । नगर के विभिन्न हिस्सों में महीनों तक कर्फ्यू लगाना पड़ा ।

इन दंगों के कारणों का गम्भीरता से अध्ययन करने वाले विचारकों का मत है कि इनमें से अधिकांश व्यक्तिगत संकीर्ण स्वार्थों अथवा राजनीतिक स्वार्थों की सिद्धि के लिए कुत्सित व्यक्तियों द्वारा कराये गये, जिनका सही अर्थों में धर्म से कोई सम्बन्ध न था । घुसपैठियों की तरह उन्होंने विशेष सम्प्रदाय की शरण ली, जबकि अधिकांश भीड़ को उस वास्तविकता की जानकारी नहीं होती । भावावेश में धर्म अथवा मजहब के उत्तेजक नारे में वे बहक जाते हैं तथा उन दंगों में अनायास ही सम्मिलित हो जाते हैं । दंगों की चपेट में भी ऐसे ही भावुक जन-निरपराध व्यक्ति ही अधिक आते हैं ।

जिसने भी धर्म का सही स्वरूप और प्रयोजन समझा होगा वह कभी भी साम्प्रदायिकता का समर्थक न होगा । मुस्लिम धर्म में भी ऐसे अनेकों मत हुए हैं, जिन्हें सही अर्थों में धार्मिक कहा जा सकता है । शाहजहाँ का सबसे बड़ा पुत्र दाराशिकोह उनमें से एक था । अजमेर के मोइनउद्दीन चिश्ती तथा सीकरी के शेख सलीम चिश्ती जैसे पीरों का उस पर गहरा प्रभाव था । इन सूफी सन्तों के साथ-साथ वह अब्दुल कादिर जीलानी से भी प्रभावित था जो धार्मिक सद्भाव के लिए प्रख्यात थे ।

दारा का यह सुदृढ़ विश्वास था कि ईश्वर एक है; उसी का ही वर्णन विभिन्न धर्मग्रन्थों में विभिन्न रूपों में हुआ है । धर्मतंत्र को गहराई से समझने के लिए उसने हिन्दू धर्म ग्रन्थों (वेदों एवं उपनिषदों) का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया । बनारस के तत्कालीन विद्वान जगन्नाथ मिश्र तथा कवीन्द्राचार्य के सहयोग से उसने हिन्दू धर्म ग्रन्थों के अध्ययन के लिए संस्कृत भाषा सीखी । उपनिषदों के उदात्त भावों ने उसके जीवन में एक दिव्य मस्ती भर दी । उपनिषदों से वह इतना अधिक प्रभावित हुआ कि फारसी भाषा में उनका अनुवाद कराने का निश्चय किया । 'सिरे अकबर' नामक फारसी ग्रन्थ में उसने ५२ उपनिषदों का अनुवाद बनारस के पण्डितों के सहयोग से छह माह में पूरा कराया । 'योग वासिष्ठ' ग्रन्थ का भी फारसी में अनुवाद दारा के प्रयत्न से ही हुआ । न केवल ग्रन्थों का अनुवाद बल्कि हिन्दू मुस्लिम एकता एवं सौहार्द बढ़ाने के लिए दारा की भूमिका प्रशंसनीय रही है ।

साम्प्रदायिक सद्भाव के लिए अब्दुल रहीम खान खाना द्वारा अपने समय में किये गये प्रयास उल्लेखनीय हैं । संस्कृत, हिन्दी, उर्दू और फारसी भाषा के वे उद्भट विद्वान थे । उन्होंने इन सभी भाषाओं में कविताएँ कीं । उनने भक्तिरस की धाराएँ बहायीं । हिन्दुओं और मुसलमानों को यह बताया कि जब सभी ही परमात्मा की सन्तान हैं तो भेदभाव किस बात का ?

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

जहाँगीर भी साम्प्रदायिक दुर्भावना का विरोधी था । उसकी दृष्टि में सभी धर्म समान थे । सबका वह समान आदर करता था । उसने अगणित संस्कृत धार्मिक ग्रन्थों का अनुवाद फारसी भाषा में कराया । कहा जाता है कि महाभारत तथा रामायण जैसे ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद जहाँगीर द्वारा ही कराया गया । उसके ही काल में गीता, योग वासिष्ठ तथा पंचतन्त्र के अनेकों फारसी संस्करण निकले । जहाँगीर ने हिन्दू-मुस्लिम एकता तथा सद्भाव पैदा करने के लिए भी सराहनीय प्रयत्न किये ।

सिख पंथ की स्थापना ने हिन्दू समाज में पुनर्जागरण की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई । हिन्दू धर्म का यह एक अभिन्न अंग रहा है तथा अखण्ड भारत का महान् प्रहरी । सिख धर्म के प्रवर्तक गुरुनानक माने जाते हैं । इस पंथ को अधिक स्पष्ट स्वरूप देने का श्रेय पंथ के दसवें गुरु गोविन्द सिंह को है । गुरु गोविन्द सिंह ने खालसा पंथ की स्थापना की तो लक्ष्य किसी नये सम्प्रदाय को जन्म देना कदापि न था, वरन् यह था कि समाज को सुरक्षित एवं संगठित रखने के लिए ऐसे लोगों को संगठित किया जाय जो समय पड़ने पर मानवता के लिए सर्वस्व बलिदान कर सकें । वे स्वयं भी राष्ट्रीय अखण्ड भावना के अग्रदूत थे तथा यही पाठ अपने अनुयायियों को भी पढ़ाना चाहते थे, पर आज उन्हीं के अनुयायी कतिपय व्यक्ति देश की अखण्डता की कुर्बानी चढ़ाने को कटिबद्ध हैं ।

पर इसके बावजूद भी हिन्दू-सिख सम्बन्ध इतने सघन और गहरे हैं कि उन्हें आसानी से नहीं तोड़ा जा सकता । आज भी हिन्दू और सिख एक भारतीय संस्कृति से अभिन्न रूप में जुड़े हुए हैं । लाखों हिन्दू गुरुग्रन्थ साहब के प्रति उतनी ही श्रद्धा रखते हैं जितनी कि वैदिक ग्रन्थों, गीता एवं रामायण के प्रति । दोनों के पर्वों में भी एकरूपता है । दीपावली, वैशाखी पर्व हिन्दू-सिख मिलकर मनाते हैं ।

आज आवश्यकता है कि देश की अखण्डता एवं एकता के लिए सभी सम्प्रदायों के बीच धार्मिक सद्भाव हो । दूसरे प्रगतिशील देशों में विभिन्न संस्कृतियों, सम्प्रदायों तथा मान्यताओं के लोग एक साथ हिल-मिलकर रहते हैं । पारस्परिक सम्बन्धों में साम्प्रदायिक विद्वेष कभी आड़े नहीं आता । चीन में बौद्ध , मुस्लिम, ताओ धर्म को मानने वाले एक साथ रहते हैं, पर ऐसा कभी नहीं सुना गया कि साम्प्रदायिक विद्वेष के कारण उनमें संघर्ष की स्थिति आयी हो और उसके कारण रक्तपात हुआ हो । इण्डोनेशिया तथा मलेशिया भी साम्प्रदायिक सद्भाव के आदर्श उदाहरण हैं । वहाँ भी बौद्ध धर्मानुयायी तथा मुस्लिम धर्म को मानने वाले परस्पर प्रेम से रहते हैं ।

भारत की मिट्टी का हर कण धर्मतत्त्व से अनुप्राणित है । साम्प्रदायिक दंगे उस महान् गरिमा पर लगे कलंक हैं । आवश्यकता इस बात की है कि जो अपने को सही अर्थों में धार्मिक मानते हैं वे समस्त सम्प्रदायों के बीच सद्भाव पैदा करने के लिए आगे आयें तथा धर्म के सही स्वरूप एवं लक्ष्य से जन-जन को अवगत करायें ।

भारत में धर्म-परिवर्तन अभियान का कुचक्र

जहाँ तक विवेक और श्रद्धा के आधार पर धर्म परिवर्तन के लिए किसी को सहमत किया जाय वहाँ तक औचित्य समझा जा सकता है, पर जब संस्कृति और धर्म के आधार पर विदेशी वफादारी उत्पन्न करके उस देश में अपने पंचमार्गी उत्पन्न करने का प्रयास किया जाय तो इसे राजनैतिक कुचक्र ही मानना पड़ेगा । भारत में हो रहे धर्म परिवर्तन के लिए अन्य देश वाले जिस तरह दिलचस्पी ले रहे हैं और धन का प्रवाह बहा रहे हैं, उसके पीछे इस खतरे को स्पष्ट देखा जा सकता है ।

धर्म-प्रचार के लिए सर्वत्र छूट होनी चाहिए और जनमानस पर अन्तरात्मा की पुकार एवं विवेक का मार्गदर्शन अपनाने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए, पर यह तो देखना ही पड़ेगा कि यदि धर्म-परिवर्तन की आड़ में दुरभिसन्धियाँ चल रही हों और उस आधार पर राष्ट्र की नींव ही हिल सकती है तो समय रहते उससे सतर्क रहना ही होगा । धर्म के नाम पर राष्ट्रीय वफादारी को तिलांजलि देकर किस प्रकार विदेशियों की कठपुतली बना जाता है इस कटुअनुभव को भारत चालीस वर्ष से निरन्तर अनुभव करता रहा है । अब उसके लिए नये स्रोत नहीं खोले जाने चाहिए ।

इन दिनों ईसाई मिशनरियों द्वारा धर्म-परिवर्तन का अभियान पूरी तेजी से चलाया जा रहा है । अँग्रेजी राज्य के जमाने में यह प्रयास जिस गति से चल रहा था अब उसमें और भी अधिक तेजी आ गई है । खतरा इस सीमा तक बढ़ता जाता है कि यदि इस ओर ध्यान नहीं दिया गया तो भारत के पिछड़े वर्ग को हम कुछ ही दिन बाद ईसाई धर्मानुयायी पायेंगे ।

भारत को स्वतंत्रता प्राप्त होने तक अँग्रेजी शासनकाल के २०० वर्षों में कुल ७० लाख ईसाई बने थे, किन्तु इन चालीस-पचास वर्षों में उनकी संख्या दो करोड़ से ऊपर चली गई है । असम राज्य के पहाड़ी क्षेत्रों में ४१ प्रतिशत तक ईसाई हैं । कई क्षेत्रों में तो बुद्धि का अनुपात सौ प्रतिशत तक पहुँचा है । मिशनरियों द्वारा सक्रिय कार्यक्षेत्र के रूप में ३६ हजार वर्ग मील का इलाका चुना गया है । इसमें ११ हजार वर्ग मील असम, ५ हजार वर्ग मील बिहार, उड़ीसा और ३ हजार वर्गमील उत्तर भारत में है । यहाँ मिशनरियों की गतिविधियाँ दैनिक और नियामत चलती हैं । आन्ध्र, मद्रास और मैसूर की जनता का २५ प्रतिशत ईसाई बन चुका है और केरल में यह अनुपात २८ प्रतिशत जा पहुँचा है ।

ईसाई मिशनरियों द्वारा चलाई जाने वाली संस्थाओं की संख्या इस प्रकार है-प्राइमरी स्कूल ३०००, मिडिल स्कूल १२२८, उच्च विद्यालय ८८९, कॉलेज ५९, छात्रावास ४३७, अस्पताल ७१०, अनाथालय ५५७ । इनमें ९७२७ पुरुष

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

और २५००० महिला कर्मचारी काम करते हैं । इसके प्रशिक्षण के लिए ५७ हजार प्रचारक प्रशिक्षण कालेज अलग से चलाते हैं । समूचे विश्व में ईसाई धर्म प्रचार के लिए योरोपीय और अमेरिकी मिशन पैसा खर्च करते हैं । उसका एक-तिहाई अकेले भारत पर खर्च किया जाता है ।

रोमन कैथोलिकों को छोड़कर अकेले प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदाय का कार्य भारत में इस प्रकार है-

गिरजाघर २४४९४, पूजा वेदियाँ २९५८३, इनमें काम करने वाले वैतनिक मिशनरी ५४ हजार हैं ।

प्रोटेस्टेण्ट चर्च की एक रिपोर्ट से उनके क्रिया-कलाप का विवरण इस प्रकार प्राप्त होता है-कृषि बस्तियाँ ९४, सहकारी समितियाँ ४०, प्रेस ४४, साहित्य वितरण केन्द्र ११२, उद्योगशालाएँ ३३, कालेज ४३, उच्च विद्यालय ३४५, माध्यमिक विद्यालय ५१२, अध्यापक प्रशिक्षण विद्यालय १०९, औद्योगिक विद्यालय ८९, धर्म प्रचारकों के बच्चों को पढ़ाने वाले विद्यालय १२, ईसाई धर्म विद्यालय ८१, बाइबिल पत्र व्यवहार कोर्स ४८, आश्रम ३१, अस्पताल २६६, डिस्पेन्सरी २२३, कुष्ठ चिकित्सालय ४९, क्षय चिकित्सालय १३, अन्ध-बधिर विद्यालय ९, महिला आश्रम २९, अनाथालय १४१, समाज कल्याण संस्थान १२३, धर्म प्रचारक शिक्षण संस्थायें २५, अध्ययन केन्द्र ३ ।

इस प्रयास में मिशनरियों को आशातीत सफलता मिली है । जनसंख्या के अनुपात में जिस प्रकार वृद्धि होनी चाहिए, उसमें भारी अन्तर आया है । ईसाई धर्मानुयायी तेजी से बढ़े हैं । फलतः हिन्दू धर्मानुयायियों का वृद्धि अनुपात भयावह रीति से गिरता चला जा रहा है ।

गणना विशेषज्ञों के अनुसार सन् २००० में भारत की जनसंख्या ९० करोड़ होगी । धर्मों के हिसाब से उस समय ४० करोड़ हिन्दू, ३५ करोड़ मुसलमान और १५ करोड़ ईसाई होंगे । आदिवासी एवं पिछड़े वर्ग के लोगों की संख्या इस समय १० करोड़ के करीब है । यदि वे धर्म परिवर्तन की दिशा में बढ़ते झुकते चले गये तो भारत में हिन्दू धर्मानुयायी बहुमत से बदलकर अल्पसंख्यक बन जायेंगे ।

अमेरिका के भूतपूर्व विदेशमन्त्री डलेस के इशारे पर पादरी विली फ्रेंक ग्राह्म ने भारत को ईसाई बनाने की एक सुविस्तृत योजना बनाई थी । उसकी चर्चा करते हुए ग्राह्म ने अमेरिकी जनता के नाम अपील प्रचारित करते हुए कहा था यदि कम्युनिज्म का सामना करना है तो बूढ़े हिन्दू धर्म को उखाड़कर हमें भारत में ईसाई धर्म की स्थापना करनी ही होगी ।

स्वतन्त्रता प्राप्त होने से पूर्व सन् १९४७ तक भारत में विदेशी मिशनरियों की संख्या १०६८ थी, सन् १९६४ में एक प्रश्न का उत्तर देते हुए तत्कालीन उपगृह मन्त्री ने बताया कि इस समय भारत में विदेशी मिशनरी ६८८७ हैं, जिनमें अकेले अमेरिका की २२७१ हैं । स्पेन, इटली, ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, बेलजियम, कनाडा, स्विट्जरलैण्ड, डच आदि ५४ देशों के विदेशी धर्मप्रचारक भारत में हैं, उन्हें प्रायः ५० करोड़ रुपया इस प्रचार कार्य के लिए हर साल विदेशों से मिलता है ।

अर्थशास्त्री जे० सी० कुमारप्पा ने एक बार कहा था- "पाश्चात्य देशों के पास चार आक्रमणात्मक शक्तियाँ हैं- जल सेना, थल सेना, नभसेना और चर्च । सरकारों द्वारा जिन धर्म प्रचार केन्द्रों को पैसा दिया जाता है उनका उपयोग वे परोक्ष रूप से राजनैतिक उद्देश्य के लिए करती हैं ।"

चर्च ने भारत को अपने प्रभाव में लेने के लिए अलग-अलग क्षेत्रों में बाँट रखा है । बम्बई प्रान्त स्पेनीयाई मिशन के लिए है । पटना, जमशेदपुर, दार्जिलिंग का समीपवर्ती क्षेत्र अमेरिकनों का है । बंगाल और उत्तर प्रदेश को बेलजियम वाले सँभालते हैं । कर्नाटक, मंगलौर, बंगलौर, मालाबार इटालियनों के लिए सुरक्षित है । मद्रास, मदुराई, चिली फ्रांसीसियों का है । पूना और बेलगाँव पर जर्मन तथा स्विस मिशनरियों का आधिपत्य है । स्वतन्त्रता के बाद सन् १९४७ से तो ईसाई मिशनों की हलचलें चार गुनी बढ़ गयी हैं ।

उपनिवेशवादी शक्तियों की धारणा है कि जो काम सेना नहीं कर सकती उसे मिशन पूरा करते हैं । अमेरिका के रेड इण्डियनों, अफ्रीका के हब्शियों, भारत के नागरिकों को मिशनों ने उसी ढाँचे में ढाला जैसा कि साम्राज्यवादी चाहते थे ।

जस्टिस नियोगी ने भारत में चल रहे धर्म परिवर्तन आन्दोलन पर अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करते हुये लिखा था- "भारत में धर्म-परिवर्तन स्वेच्छा से नहीं होता, वरन् अनेकानेक प्रलोभनों द्वारा अवांछित प्रभाव उत्पन्न करके कराया जाता है । जन-जातियों को विशेष रूप से ईसाई धर्म-प्रचार का प्रायः इसी प्रकार शिकार होकर धर्म परिवर्तन करना पड़ा है ।"

ईसाई मिशनरियों का वर्तमान धर्म-परिवर्तन आन्दोलन राजनीतिक दुरभिसन्धियों के कुचक्र के साथ जुड़ा हुआ है । इस तथ्य को संसार भर में समझा गया है और उन्हें विभिन्न देशों से षड्यन्त्र के प्रमाण मिलने पर बहिष्कृत-निष्कासित किया है ।

रूसी क्रान्ति के बाद ब्रिटेन ने उस देश को टुकड़ों में कर देने की चाल चली थी । वह चाहता था कि यूक्रेन, साइबेरिया, काकेशश, क्रीमिया, बोल्गा आदि अनेक टुकड़ों में रूस बँट जाय । इस षड्यन्त्र को सफल बनाने के लिए उसने प्रशिक्षित ईसाई मिशनरियों के सुसम्पन्न दल भेजे । दुरभि सन्धिप्रकाश में आई तो रूसियों ने सभी विदेशी मिशनरियों को अपने देश से निकाल बाहर किया । सूडान में भी यही घोटाला खड़ा किया गया था । उस देश ने भी ३०० विदेशी मिशनरियों को निष्कासित किया । घाना ने और भी कड़ा कदम उठाया, उसने सेंसिल पेटरसन, विशप रिचर्ड सरीखे प्रभावशाली लोगों को देश से बाहर कर दिया । हैटाटी सरकार ने भी यही कदम उठाया । कांगो

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

(अफ्रीका) में वहाँ की जनता ने २८ विदेशी पादरियों की हत्या कर डाली, शेष एक हजार से ऊपर पादरी अपने आप पलायन कर गये । नेपाल ने १९६३ में कानून बनाकर धर्म-परिवर्तन पर प्रतिबन्ध ही लगा दिया । सीलोन और बर्मा ने उनकी गतिविधियों पर कड़े प्रतिबन्ध लगाये हैं । पाकिस्तान में याह्या खाँ शासन ने मिशनरी स्कूलों में भी इस्लाम की शिक्षा अनिवार्य करके उनके कुचक्र का गुड़-गोबर ही कर दिया ।

अंगोला में ईसाई मिशनरी षड्यन्त्र करते पाये गये और उन्होंने पुर्तगाली पादरियों को कड़ा दण्ड दिया । इस सन्दर्भ में १७ पादरी मरे, ३० कैद हुए और ६० का पता नहीं चला । केवल २९ सुरक्षित बचे । चर्च और उनके स्कूल तो पूरी तरह नष्ट हो गये । क्यूबा में भी इन मिशन वेशधारी विदेशी ऐजेण्टों को इसी प्रकार निष्कासित किया गया । हवाना में ६०० पादरियों को घटाकर केवल१५०कोरहने दिया गया ।

रूसी प्रभाव के योरोपीय देशों में भी ऐसे ही कदम उठाये गये हैं । हंगरी में अधिकांश चर्चों पर कड़े प्रतिबन्ध हैं । करीब एक दर्जन को षड्यन्त्र के आरोप में १२ वर्ष तक की सजा मिली है । पोलैण्ड में भी ऐसी ही कड़ी निगरानी है । यही हाल अन्य देशों का भी है ।

भारत में ईसाई मिशनरियों द्वारा येनकेन प्रकारेण पिछड़े वर्ग को धर्म-परिवर्तन के लिए घसीट लेने की गतिविधियों को गम्भीरतापूर्वक देखा समझा जाना चाहिए और समय रहते ऐसे कदम उठाये जाने चाहिए जिससे इस राष्ट्रीयता की नींव को खोखला करने वाली विभीषिका से समय रहते निपटा जा सके ।

धर्म–आदर्शवादिता और एकता का प्रतीक बने

एक पन्थ का साधु या पुरोहित दूसरे सम्प्रदाय वालों को अमान्य होता है, क्योंकि उस धार्मिकता का आधार बाह्य परिचर्या के साथ जुड़ा हुआ था । वस्त्रों का रंग, वेश, तिलक, छाप और अमुक पैगम्बर अथवा पुस्तक की दुहाई देने वाले, मान्य परम्पराओं का परिपोषण करने वाले लोग ही अन्ध-श्रद्धालु जनता में मान्यता प्राप्त करते हैं । यह धर्म की अन्ध-परम्परा हुई । दुर्भाग्य से इसी का प्रचलन बहुत है । फिर भी सार्वभौम-धर्मतत्त्व को सर्वथा विस्मृत नहीं कर दिया गया है, उसकी सर्वत्र अवज्ञा, अवहेलना नहीं है । विचारशील लोग सोचते हैं, जब धरती-आसमान एक हैं, एक ही सर्दी-गर्मी सबको प्रभावित करती है, हवा और पानी का एक ही तत्त्व सबका पोषण करता है और मनु की समस्त सन्तानें एक ही मनुष्य एवं मानव नाम से पुकारी जाती हैं तो फिर समस्त विश्व का एक ही धर्म क्यों नहीं हो सकता ? जब विज्ञान की मान्यताएँ सर्वत्र एक ही रूप में मानी जाती हैं तो फिर ज्ञान को भी अविच्छिन्न क्यों नहीं रहना चाहिए? धर्म तत्त्व में देश और जाति के कारण अन्तर क्यों आना चाहिए ? जब प्रेम, सत्य, संयम, औदार्य जैसे सद्गुण और क्रोध, छल, आलस्य आदि दुर्गुण सर्वत्र एक ही कसौटी पर कस कर भले और बुरे घोषित किये जाते हैं, तो धर्म की अन्यान्य मान्यताएँ क्यों ऐसी नहीं होनी चाहिए जिन्हें मानवीय विवेक, बिना किसी हिचकिचाहट के अंगीकार कर सके ?

यह कैसी विडम्बना है कि मोक्ष का, उन्मुक्त अन्तः-स्थिति का समर्थन करने वाले धर्म ही किस प्रकार एक सम्प्रदाय के लोगों को दूसरे सम्प्रदाय के लोगों के साथ एकता स्थापित करने में दीवारें खड़ी करते हैं । अपने और दूसरे पक्षधरों के बीच असमानता ही नहीं, अन्याय करने का भी प्रोत्साहन करते हैं । छोटी-छोटी मान्यताओं, परम्पराओं एवं कृपा-कृत्यों के कारण प्रस्तुत मतभेदों को उभार कर वे भयंकर विग्रह उत्पन्न करते हैं और धर्मयुद्ध के, जिहाद के नाम पर उन कुकृत्यों का सृजन करते हैं, जिन्हें देखकर 'अधर्म' भी स्तब्ध रह जाय । वह धार्मिकता कैसी जो मानवीय सद्गुणों को बढ़ाने की अपनी मूल प्रकृति को छोड़कर मतान्तरवाद के सहारे अमानवीय कृत्यों और दुष्कर्मों को बढ़ावा देने लगे ?

सम्प्रदाययुक्त धर्म ही मान्य-धर्म हो सकता है । सम्प्रदायों को धर्म मान बैठने से ही सारी गड़बड़ी उत्पन्न होती है । धर्म शब्द के साथ जो सहज श्रद्धा और शाश्वत समर्थन जुड़ा हुआ है, उसका शोषण सम्प्रदायवादी करते हैं और जब मतान्तरवादी दुराग्रहों पर अंकुश किया जाता है तो 'धर्म खतरे में है' के नारे लगाकर भावुक जनता की भावनाएँ भड़काते हैं । सम्प्रदायों को भोजन-वस्त्र की रुचि भिन्नता की तरह वैयक्तिक अभिरुचि का विषय माना जा सकता है । उसके लिए छूट दी जा सकती है, किन्तु धर्म के सर्वोच्च सिंहासन पर उसे नहीं बिठाया जा सकता । इसकी पात्रता तो उनमें तब उत्पन्न होगी, जब समस्त सम्प्रदाय मिलकर एक विश्व सम्प्रदाय अथवा मानव पन्थ का रूप धारण करेंगे । जब तक वे एक-दूसरे के रक्त-पिपासु बने हुए हैं, अपने को सही और दूसरों को गलत सिद्ध करने में अड़े हुए हैं, तब तक 'धर्म' शब्द को अपने साथ जोड़ने की चेष्टा अनधिकारपूर्वक कर रहे ही कहे जायेंगे । एकांगी दृष्टिकोण पक्षपात का दुराग्रह धर्म कैसे हो सकता है? विवेक और औचित्य को यदि आधार माना जाय तो प्रायः सभी सम्प्रदाय वालों को अपने-अपने पन्थों में से ढेरों कूड़ा-करकट बुहारना पड़ेगा । एक समय की उपयोगिता दूसरे समय में अनुपयोगिता बनती रहती है। यह दृष्टि रखकर यदि सफाई पर निकला जाय तो हर सम्प्रदाय में ऐसा बहुत कुछ है, जिसकी अब कोई जरूरत नहीं रही। इसी प्रकार यदि दोष-दर्शन हटाकर गुण-ग्राहक दृष्टि को विकसित किया जाय तो अन्य सम्प्रदायों में ऐसा बहुत कुछ मिलेगा, जिसे अपने धर्म में मिला लेने से उसकी हेटी नहीं होगी, वरन् सर्वांगपूर्णता में ही अभिवृद्धि होगी ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

धर्म-शासन का क्षेत्र निहित स्वार्थों का केन्द्र बना तो भिन्नतावादी प्रवृत्ति पनपी और राज्य तथा धर्म को अलग करने के आन्दोलन चले । योरोप में कई शताब्दियों तक इसी आधार पर गृहयुद्ध की स्थिति बनी रही । रोमन कैथोलिक चर्च के विरुद्ध प्रोटेस्टेण्ट खड़े हुए । मार्टिन लूथर के नेतृत्व में प्रचण्ड आन्दोलन उठा । अन्ततः धर्म और शासन की पृथकता स्वीकार कर लेने पर समझौता हुआ । अब योरोप के प्रायः सभी राज्य धर्म निरपेक्ष हैं ।

एकता को अनेकता में बिखेर कर हमने पाया कम, खोया बहुत । प्राचीनकाल में एक ईश्वर था और एक धर्म । पृथकतावादी निहित स्वार्थों ने अपना लाभ इसमें देखा कि उनका एक विशेष सम्प्रदाय बने और उसके अनुयायी अन्यायों से पृथक् होकर एक विशेष वर्ग बनायें और दूसरों से लड़ें । उनका व्यक्तिगत वर्चस्व इसी में बनता था । प्रतिभाशाली अग्रगामी जन-समाज को अपने पीछे घसीट ले चलने में सदा से ही बहुत कुछ सफल होते रहे हैं । अस्तु, पृथकतावाद पनपता गया । अनेक सम्प्रदाय, अनेक देवता, अनेक ग्रन्थ, अनेक विधि-निषेध गढ़े गये और बिलगाव की जड़ें मजबूत होती चली गईं । इससे केवल पुरोहित वर्ग का स्वार्थ सधा । बाकी सब लोग भ्रान्तियों के जंजाल में फँसकर अपना समय, धन और विवेक गँवाकर घाटे में ही रहते रहे ।

विवेक की माँग है कि इस अनेकता को घटाया और मिटाया जाय । एक धर्म, एक ईश्वर, एक दर्शन, एक आचार, एक जाति की भावनात्मक एकता स्थापित की जाय और उसका व्यावहारिक स्वरूप एक राष्ट्र में, एक भाषा में विकसित किया जाय । पृथकता के लिए आग्रह बनाये रखकर हम हर दृष्टि से घाटे में रहेंगे ।

प्राचीनकाल में धर्म और शासन एक था । बाद में एक दूसरे के पूरक होकर रहते रहे । यही स्थिति पुनः स्थापित करनी पड़ेगी । धर्म के हाथ में शासन रहना चाहिए और शासन को धर्म की प्रतिष्ठापना एवं सुरक्षा का उत्तरदायित्व निवाहना चाहिए । राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि मानने की भारतीय मान्यता के पीछे धर्म और शासन का समन्वयात्मक संचालन का ही दृष्टिकोण रहा है । पूर्वकाल में राजा और धर्माचार्य की भूमिका एक ही व्यक्ति निवाहता था । धर्म-व्यवस्था और शासन का सूत्र-संचालन एक ही व्यक्ति करे, इसमें उन दिनों सुविधा समझी गई । मुस्लिम इतिहासकारों ने बादशाहों को 'जिले अल्लाह' (ईश्वर का प्रतीक) लिखा है । डेनमार्क की माताएँ अपने नवजात बच्चों का स्पर्श राजा से कराने के लिए ले जाती थीं और किसान अपना अनाज तब खाते थे जब राजा उसे छूकर 'निर्दोष' बना देता था । उनका विश्वास था कि इस प्रकार के स्पर्श से कल्याण होता है । ब्रिटेन में यह मान्यता बहुत समय तक बनी रही कि रोग-मुक्ति के लिए राजा का स्पर्श चमत्कारी उपचार है। तिब्बत में प्रमुख मठाधीश 'लामा' को अवतार माना जाता रहा है । धर्माचार्य और शासनकर्त्ता की दोनों ही भूमिकाएँ उन्होंने निभाई हैं ।

योरोप में एक समय ईसाई धर्म के लिए भावुक मान्यता थी, तब 'रोमन कैथोलिक चर्च' ईसाइयों की सर्वोच्च संस्था थी । राजाओं पर तथा जन-साधारण पर उनका समान प्रभाव था । तेरहवीं शताब्दी में आठवें पोप बोनीफेस ने चर्च को सर्वशक्तिमान घोषित कर दिया था । ब्रिटेन, फ्रांस आदि देशों के शासक पोप के अधीन माने जाते थे ।

धर्म और शासन को पृथक् इसलिए होना पड़ा कि उसमें पृथकतावादी-दुराग्रहों ने अड्डा जमा लिया । यदि धर्म केवल भावनात्मक-एकता, चरित्र-निष्ठा और लोक-कल्याण की सत्प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करे, व्यक्ति और समाज की उत्कृष्टता बढ़ाने में सहायता करे तो कोई कारण नहीं कि उसे सर्वमान्य सम्मान पुनः प्रदान न किया जा सके ।

धर्म में मानवीय-चेतना को आस्थाओं के साथ बाँधने की क्षमता है । व्यक्ति को सुव्यवस्थित और समाज को समुन्नत बनाने की दृष्टि से यह क्षमता का अत्यधिक महत्त्व है । उसे यदि अपने यथार्थ स्वरूप में रहने दिया जाय और चिन्तन तथा कर्तृत्व को परिष्कृत बनाने के लिए दूर-दर्शिता के साथ प्रयुक्त किया जाय तो निस्सन्देह सर्वतोमुखी प्रगति और सुख-शान्ति के अभिवर्द्धन में धर्म की महती भूमिका हो सकती है । आज की विकृत दुर्दशा की कीचड़ से धर्म को निकाल कर उसे आदर्शवादी उत्कृष्टता के साथ जोड़ना मानवीय हित-साधना की दृष्टि से अतीव आवश्यक कार्य माना जाना चाहिए ।

साम्यवादी चर्च

चर्च और साम्यवादी में कुत्ते-बिल्ली का सा बैर माना जाता है । दोनों एक दूसरे के दोष बखानते हैं और बताते हैं कि हम सही हैं । दूसरा समाज के लिए हर दृष्टि से हानिकारक है ।

इस मान्यता का विकल्प सिद्ध करने के लिए साम्यवादी ईसाइयत का नया प्रयोग निकारागुआ में हुआ है । वहाँ के चर्च ने ईसाइयत की ऐसी व्याख्या की है जो साम्यवादी सिद्धान्तों से पूरी तरह तालमेल खाती है । ईसाइयत में साम्यवादी सिद्धान्त घुले हुए हैं और साम्यवादी सिद्धान्त चर्च की विचारधारा के साथ पूरी तरह तालमेल खाते हैं ।

इस मान्यता को सही सिद्ध करने के लिए निकारागुआ के चर्च ने बहुत-सी पुस्तकें प्रकाशित की हैं । इस सुधारवादी साम्यवाद का बोलशेविकों ने विरोध नहीं किया है, वरन् अपने को बचाने की कोशिश की है । यह एक नया प्रयोग ही है कि जो वर्ग बात-बात पर आपस में टकराते थे उन्होंने अब मिल-जुलकर काम करने का मध्यवर्ती रास्ता निकाला है ।

अरनोस्ट कार्डविल वहाँ के पादरी हैं । उन्होंने क्रान्ति में हिस्सा बँटाया और साम्यवादी सरकार स्थापित करने में पूरी कोशिश की । उधर साम्यवादियों ने भी चर्च को दुश्मन नहीं माना वरन् इस बढ़ाये हुए सहयोग के

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

हाथ का स्वागत किया । ईसाई लोग अपने पूजा-पाठ की पद्धति जारी रखते हुए साम्यवादी विचारधारा को अपनाते हैं तो इस मध्यवर्ती मार्ग में उन्हें कोई बुराई प्रतीत नहीं हुई ।

सुधारवादी साहित्य के प्रकाशन पर निकारागुआ सरकार ने उन्हें अभिनन्दन पत्र भेजा है । साथ ही एक लाख दस हजार का पुरस्कार भी । आर्नोस्ट उस देश के शिक्षा मन्त्री भी बनाये गये हैं । इस प्रकार वे सरकार चलाने में भागीदार भी हैं । साम्यवादी प्रत्यक्षत: चर्च के कार्यक्रम में तो भागीदार नहीं हुए हैं, पर चर्च को साम्यवादी विचारधारा में सम्मिलित होते देखकर उन्होंने आधी सफलता मानी है और इस बढ़ाये हुये हाथ को झटका नहीं, वरन् स्वागत ही किया है ।

यह तरीका प्रयोग रूप में ही निकला हो पर है अच्छा । विचार लादने के लिए बल प्रयोग करने का तरीका पिछले दिनों चला है । तलवार की धार पर अपनी बात स्वीकृत करना या फिर भय, लोभ लालच देकर अपने धर्म में दीक्षित करने की बात बुरी है । उसमें अनीति और अत्याचार है । मनुष्य विवेकशील है । उसकी समझदारी को और भी प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए । इच्छानुसार यदि कोई विचार या सम्प्रदाय बदलता हो तो उसमें हर्ज नहीं ।

चीन में चांग काई शेक के जमाने में ऐसी ही विचार स्वतंत्रता थी । पिता मुसलमान, माता बौद्ध, बेटे ईसाई हों तो इसमें किसी को कोई ऐतराज नहीं होता था । कपड़ों का फैशन बदलने की तरह घर के कई लोग कई प्रकार के विचार रखें तो इसमें विचार स्वतंत्रता का ही प्रमाण मिलता है ।

इन दिनों धर्म और साम्यवाद के नाम पर चर्च में विचारशीलता अधिक है । राजनीति में, साम्यवाद में पैनापन है । दोनों को समीप लाने का प्रयत्न किया जाय तो इसका प्रभाव यह पड़ेगा कि अन्य धर्मों में जो भारी कट्टरता दृष्टिगोचर होती है वह हल्की होने लगेगी । घर, सम्प्रदायों अथवा राजनीति में चल रहे वादों की कट्टरता ही कलह की जड़ है । यदि विचारशीलता, सहिष्णुता और विचार स्वतंत्रता का दौर चल पड़े तो इससे कल्याण ही होगा ।

धर्मों के बीच सद्भाव और सहयोग का वातावरण बने

पुरातनयुग में जब मनुष्य का विस्तार सीमित क्षेत्र में ही हुआ था तब बौद्धिक क्षेत्र के सारे समाधान धर्मतन्त्र के माध्यम से ही पूर्ण हो जाते थे । पीछे उसकी स्वतंत्र शाखाओं का विकास हुआ । तत्त्व-दर्शन इसीलिए सृजा गया । ब्रह्म विद्या के अन्तर्गत चेतना की सत्ता, क्षमता एवं प्रगति के प्रसंगों पर मंथन हुआ । योगाभ्यास के आधार पर भावना और विचारणा के परिष्कार की प्रक्रिया बनी। तपश्चर्या द्वारा उत्पन्न ऊर्जा का उपयोग प्रसुप्त क्षमताओं को जगाने, परिष्कृत करने के लिए हुआ । इतना ही नहीं संगीत, साहित्य, कला के तीनों क्षेत्र भी इसी छत्रछाया में विकसित होते चले गये । पुरातन धर्म-धारणा की व्याख्या-परिभाषा के लिए आज के उन सभी वर्गों को सम्मिलित करना पड़ा जो किसी न किसी रूप में व्यक्ति के चिन्तन एवं चरित्र को प्रभावित करते हैं । सामाजिक प्रचलन और पारस्परिक व्यवहार की परिधि भी इसी के अन्तर्गत आती है । प्रगतिक्रम में जब बैल की सवारी से आगे बढ़ते-बढ़ते साइकिल से वायुयान तक के अनेकानेक वाहनों का आविष्कार हो गया तो धर्म का शिशु समयानुसार सुसम्पन्न, प्रौढ़ परिपक्व रूप में अपना विस्तार क्यों न करेगा ।

नागरिकशास्त्र, समाजशास्त्र, दर्शनशास्त्र, नीतिशास्त्र, आदि अनेकों सर्वांगपूर्ण निर्धारण वस्तुत: पुरातन धर्मसूत्र की व्याख्या-विवेचना में ही लिखे गये हैं । भावनाओं को उभारने की सामर्थ्य जिन तंत्रों में पायी जाय उन्हें भी धर्म तत्व का विस्तार-उपचार ही मानना होगा । कला के सभी पक्ष इसी परिधि में आते हैं । चित्रकला, मूर्तिकला, अभिनय, नृत्य, गीत, वाद्य ही नहीं लेखनी और वाणी के वे सभी पक्ष, सारे तत्त्व के उपकरण हैं जो चिन्तन की दिशा देते और चरित्र के लिए धारा विनिर्मित करते हैं । संक्षेप में भावना और विचारणा को प्रभावित करने वाले सभी छोटे-बड़े उपाय-उपचारों के सम्मिलित स्वरूप से ही समग्र धर्म तत्त्व की आवश्यकता पूर्ण होती है । यों सम्प्रदाय प्रथा, पूजा को ही लोग धर्म का नाम देते हैं और प्रचलन में ईसाई धर्म, मुस्लिम धर्म, हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म आदि शब्दों का प्रयोग होता है । इतने पर भी किसी ने यह दावा नहीं किया कि धर्म इतने छोटे दायरे तक ही सीमित है ।

सम्प्रदायवादी भी प्राय: धर्म तत्त्व की यथार्थता, गम्भीरता का वर्णन-विवेचन करते समय उच्चस्तरीय आस्था और नीति-मर्यादाओं को ही लक्ष्य रखते हैं । वस्तुत: यही उसका शाश्वत स्वरूप भी है ।

सम्प्रदायों की स्थिति सामान्य या उपेक्षणीय नहीं है, क्योंकि उनके प्रभाव में साम्यवादी समुदाय को छोड़कर अन्य सभी लोग किसी न किसी रूप में रह ही रहे हैं । जाति, भाषा, देश जैसी विभाजन रेखाओं की तरह ही सम्प्रदाय भी एक प्रकार के अघोषित संगठन बनकर रह रहे हैं । अनुयायी अपने-अपने सम्प्रदायों के प्रति सहानुभूति रखते, झुकते देखे जाते हैं । साथ ही दूसरों के प्रति विरोध न सही उपहास-उपेक्षा का भाव तो रहता ही है ।

विग्रह की पूर्व भूमिका विभेद है । यह विष-बीज न्यूनाधिक मात्रा में हर सम्प्रदाय में पाया जाता है । यों अपनी मान्यता भी विवेक की कसौटी पर कसे जाने के उपरान्त ही स्वीकारी जानी चाहिए, पर समाधान के लिए इतना भी माना जा सकता है कि अपनी मान्यताओं के प्रति निष्ठावान रहने की बात व्यक्तिगत स्वतंत्रता में सम्मिलित

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

है, पर दूसरों को भी वैसा ही अधिकार है । यह सहिष्णुता भी तो रहनी चाहिए । यथार्थता का निर्णय तो विश्व मनीषा के न्यायालय में ही हो सकता है । जब तक वैसी स्थिति न आये हर सम्प्रदाय के सदस्य की औचित्य मर्यादा यहीं तक रहती है कि वह अपनी मान्यताओं को अपनाये रहे, किन्तु दूसरों के मन्तव्यों का तब तक विरोध न करे जब तक कि वे मानवीय आचार-संहिता की नीति-मर्यादा का उल्लंघन न करते हों । किन्तु प्रचलन उससे सर्वथा भिन्न है । पूर्वाग्रहों से प्रेरित हठवादिता ही साम्प्रदायिक सच्चाई बनकर रह रही है । परम्पराओं को ही धर्म माना जाता है, भले ही वे कितनी ही असुविधाजनक या अनुचित अवांछनीय ही क्यों न हों । साम्प्रदायिक हठवादिता अपने समुदाय को न्याय-औचित्य की तुलना में परम्परा अपनाये रहने के लिए ही बाधित करती है ।

धर्म-धारणा की श्रेयस्कर और सृजनात्मक शक्ति इस प्रकार सामुदायिक हठवादिता की पक्षधर बने, बिलगाव और विग्रह उत्पन्न करे, विवेक और औचित्य की तुलना में परम्पराओं पर जोर दे तो समझना चाहिए कि वह उपयोगी प्रतिष्ठापना अपनी गरिमा गँवा बैठी और हेय प्रचलनों-प्रतिपादनों की बिरादरी में जा सम्मिलित हुई । आज की यही स्थिति है ।

प्रस्तुत साम्प्रदायिक विडम्बना की उपेक्षा करने या उथला विरोध करने से काम नहीं चलेगा वरन् दुष्परिणामों को ध्यान में रखते हुए उसे दुर्घटना स्तर का समझकर सुधार-उपचार का प्रयत्न करना होगा । धर्मधारणा के लाभों का परित्याग और उसकी स्थानापन्न दुरभिसन्धियों का दुष्परिणाम, यह दुहरा घाटा नहीं ही रहा जाना चाहिए । इस महामारी का उपचार होना ही चाहिए ।

मनीषा का सामयिक उत्तरदायित्व है कि वह धर्म तत्त्व की आत्मा के प्रकाश को जिन भ्रान्तियों और विकृतियों ने इन दिनों आन्दोलित किया हुआ है उनके सम्बन्ध में यह बतायें कि मूलभूत प्रतिष्ठा के जो अनुरूप हैं, उन्हीं को मान्यता मिले । धार्मिकता का तात्पर्य आदर्शों के प्रति आस्था, दृष्टिकोण की उत्कृष्टता, चरित्र की पवित्रता और व्यवहार की प्रखरता ही हो सकती है, जो इन नीति मर्यादाओं को जितने अंश में अपनाता है, वह उसी अनुपात में धार्मिक है । इस तथ्य को भली प्रकार हृदयंगम कर लेना चाहिए ।

सम्प्रदायों को स्थानीय एवं सामयिक आवश्यकताओं के अनुरूप बनी प्रक्रिया के रूप में सिद्ध किया जाना चाहिए, ऐसी प्रक्रियाएँ जो परिस्थिति बदलने के साथ-साथ बदलती रही हैं और बदलती रहनी चाहिए । नीति-मर्यादाओं को छोड़कर किसी प्रथा-परम्परा को पत्थर की लकीर न माना जाय । सुधारक हर सम्प्रदाय में होते रहे हैं । सत्य की दिशा में मनुष्य की शोध क्रमिक गति से बढ़ी है । पुरातन प्रतिपादनों के स्थान पर जब भी अधिक यथार्थवादी तथ्य सामने आये हैं तो उन्हें प्रसन्नतापूर्वक सुधारा अपनाया जाता रहा है । यह क्रम अपनाये रहने के लिए हर सम्प्रदाय में मान्यता विकसित की जाय । पुरातन के प्रति कट्टरता, हठवादिता का जो इन दिनों गहरा नशा छाया है उसका आवेश हल्का किया जाय ।

प्रचलित अन्यान्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता और सहकारिता का भाव रहे । नैतिक सिद्धान्तों से प्रायः सभी धर्म एक मत हैं, एक लक्ष्य की दिशा में कई रास्तों से पहुँचने वाले इन सभी यात्रियों के प्रति सद्भावना होनी चाहिए । इतना ही नहीं मानवीय गरिमा के अनुरूप व्यक्तियों और समाज को बनाने वाली प्रेरणाओं को सभी धर्म मिल-जुलकर प्रोत्साहित करें । इस प्रकार से सभी एक दूसरे का सहयोग-समर्थन करने की विद्या अपनायें जिससे उनके बीच निकटता एवं सहकारिता बढ़ेगी । एक दूसरे का सम्मान करेंगे और जिस धर्म में जितने सर्वोपयोगी सर्वसम्मत तथ्य हैं, उन्हें मिल-जुलकर उभारने में प्रयत्नरत रहेंगे । जहाँ मतभेद हैं उन्हें पीछे कभी अनुकूल वातावरण बनने पर सुलझाने के लिए छोड़ देंगे । मतभेदों के आधार पर विग्रह बढ़ाना, एक दूसरे से टकराना इस विषम वेला में सर्वथा छोड़ ही दिया जाना चाहिए । मान्यताओं के पक्ष में तर्क, तथ्य तो प्रस्तुत किये जाएँ पर लोभ या भय के आधार पर उन्हें किसी पर लादा न जाय ।

सभी धर्म-सम्प्रदाय अपने-अपने क्षेत्र में ऐसी रचनात्मक, सुधारात्मक प्रवृत्तियाँ खड़ी करें जिससे शालीनता उभरे और प्रचलित दुष्प्रवृत्तियों का उन्मूलन सम्भव हो सके । प्रौढ़ शिक्षा, स्वाध्याय मंडल, वृक्षारोपण, नशा निवारण, अपव्यय की रोकथाम, सत्प्रयोजनों के लिए श्रमदान, अवांछनीयताओं का प्रतिरोध, स्वच्छता अभियान, जैसी अनेकों प्रवृत्तियाँ हैं, जिन्हें सभी सम्प्रदाय अपने-अपने क्षेत्र में विकसित करने के लिए अनुयायियों को अग्रसर कर सकते हैं । यह कार्य मिल-जुलकर सम्भव हो सके तो और भी अच्छा ।

धर्म रचनात्मक शक्ति है, उसे विपरीत दिशा में भटकने न दिया जाय । लोकशिक्षण एवं लोकनिर्माण में ही उसकी प्रत्येक तरंग का उपयोग हो । पिछले अन्धकार युग में अहमन्यता और हठवादिता ने जो खाई खोदी है उसे इन दिनों पाटने का प्रबल प्रयत्न किया जाय । एक दूसरे के निकट आने पर विवेक दृष्टि से समझने का अवसर दिया जाय । सर्वसम्मत सत्प्रयोजनों के अभिवर्द्धन में सभी सम्प्रदायों को नियोजित करके उनकी रचनात्मक क्षमता से सर्वसाधारण को अवगत-अभ्यस्त कराया जाय ताकि बढ़ती हुई अनास्था पर अंकुश लग सके । साथ ही उत्कृष्टता उभारने का मूलभूत धर्म प्रयोजन भी प्रत्यक्ष बन सके ।

उपरोक्त वातावरण बनाने के लिए नवयुग की मनीषा को सभी धर्म सम्प्रदायों में से ऐसे उदाहरण, कथा प्रसंग ढूँढ़ निकालने होंगे, जिनकी प्रेरणाएँ प्रगतिशीलता, समन्वयवादी प्रवृत्तियों को उभारती हैं । ऐसी सामग्री प्रत्येक सम्प्रदाय में प्रचुर परिमाण में विद्यमान है, उपेक्षित पड़ी है । कट्टरता पर ही जोर दिया जाता है । मतभेदों को उभारने और दूसरों को हेय सिद्ध करके उन्हें नीचा दिखाने

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

पर मंच द्वारा जोर दिया जाता है । अस्तु, वही उभरकर ऊपर भी आये हैं और रूप ऐसा बन गया है जिससे प्रतीत होता है कि इनमें से कोई एक सत्य तो अन्य सभी असत्य हैं । इस माहौल में जब विरोधी को अनैतिक उपायों से भी दबाने की बात कही जाने लगे तब तो उसकी प्रतिक्रिया मनुष्य समाज के लिए हर दृष्टि से हानिकारक ही सिद्ध होती है ।

इन सभी तथ्यों की सर्वसाधारण को प्राय: नहीं के बराबर ही जानकारी है । गहराई में उतरकर सभी समुद्रों में से मणिमुक्तक ढूँढ़ निकालने और उनकी ऐसी सुन्दर माला बनाने की आवश्यकता है जिसको पहनाकर उसे अतीव सौन्दर्यवान बनाया जा सके । धर्म के निमित्त जो श्रमशक्ति, भावनाशक्ति एवं जनशक्ति प्रचुर परिमाण में खर्च होती है उसे सत्प्रवृत्ति सम्वर्द्धन जैसे कार्यों में नियोजित किया जाना चाहिए ताकि श्रद्धा की सार्थकता सिद्ध हो सके । उसे मात्र पूजा प्रयोजनों में ही अस्त-व्यस्त होते न रहने दिया जाय । यह प्रयत्न सफल हो सके तो लगभग राजतन्त्र के समान क्षमता वाली एक नई शक्ति का उदय-आविर्भाव होगा और उसकी सहायता से प्रस्तुत अवांछनीयताओं से जूझना-समय की आवश्यकता को पूर्ण कर सकना सम्भव हो सकेगा ।

समय की माँग है कि धर्म मात्र पूजा-उपचार या प्रथा प्रचलनों तक सीमित न रहकर साहित्य, संगीत, कला के उन सभी क्षेत्रों में प्रवेश करे जो जनमानस, जनजीवन को प्रभावित करते हैं । यह क्षेत्र इन दिनों अवांछनीय तत्त्वों के हाथ में है । वे खुलकर खेल रहे हैं जो लोकप्रवाह में अवांछनीयताओं की भरमार किये दे रहे हैं । आवश्यकता इस बात की है कि धार्मिकता न केवल व्यक्तिगत जीवन में पवित्रता, प्रखरता का सम्वर्द्धन करे वरन् लोकचिन्तन के हर क्षेत्र पर अपनी छाप छोड़े, उसे अवांछनीयता से विरत करके सत्प्रवृत्तियाँ अपनाने के लिए तोड़े-मरोड़े । धर्म की आध्यात्मिक और भौतिक शक्ति को इन दिनों इसी दिशा में अग्रसर किये जाने की महती आवश्यकता है ।

उपरोक्त प्रयोजनों के लिए इन दिनों हर धर्मक्षेत्र की मान्यताओं, परम्पराओं और कथा-गाथाओं का संकलन किया जाना चाहिए । उसे जन-जन तक पहुँचाया जाना चाहिए । साथ ही प्रचारकों की ऐसी मंडलियाँ भी तैयार की जानी चाहिए जो अपने-अपने प्रभाव क्षेत्र में वातावरण बनाएँ । यह और भी अच्छा होगा कि वे प्रचार मंडलियाँ एक ही मंच से अपने-अपने धर्मों को इस रूप में प्रस्तुत करें जिससे जन-समुदाय के मन में सभी के लिए सम्मान, सद्भाव उत्पन्न हो । बहुरूपता के बीच एकता ढूँढ़ निकालना कठिन नहीं है । बिखराव को एकत्रित करना और बहुमुखी खींचतान को एक सुनिश्चित श्रेय मार्ग पर अग्रसर कर सकना कठिन तो है, पर असम्भव नहीं । धर्म के सृजनात्मक उपयोग की दिशा में युग मनीषा को गम्भीरतापूर्वक सोचना है । न केवल सोचना है, वरन् बौद्धिक तथा रचनात्मक ढाँचा भी ऐसा खड़ा करना है जो उपरोक्त प्रयोजन की पूर्ति भली प्रकार कर सकने में समर्थ हो सके ।

साम्प्रदायिक अनेकता से धार्मिक एकता की ओर

धर्मतन्त्र भी राजतन्त्र की तरह एक समर्थ शक्ति है। भौतिक जगत के व्यवस्थाक्रम के सँभालने में अब राजतन्त्र की क्षमता दिन-रात बढ़ती जाती है । धर्मतन्त्र में व्यक्ति के दृष्टिकोण और समाज के भाव प्रवाह को ऊँचा-बनाये रखने की पूरी सामर्थ्य है, भौतिक साधनों से आन्तरिक स्तर और मनोबल की शक्ति असंख्य गुनी अधिक है । आत्मबल की समुचित मात्रा होने पर साधन हीन व्यक्ति भी ऋषि-मुनियों जैसा महान् व्यक्तित्व बनाये रह सकता है, किन्तु पर्याप्त साधन सम्पन्न व्यक्ति यदि आन्तरिक दृष्टि से गया-गुजरा हो तो न केवल अपने लिये वरन् दूसरों के लिये भी शोक-संताप का कारण बना रहेगा । हेय व्यक्ति की सम्पदा उसके लिये उल्टी विपत्ति ही बढ़ाती है ।

धर्मतन्त्र का समर्थ और परिष्कृत रहना विश्व-शांति और मानवीय प्रगति के लिए आवश्यक है । उसके प्रभाव क्षेत्र में आदर्शवादिता और उत्कृष्टता के साथ-साथ सुख-शान्ति की स्थिर सम्भावना भी बनी रह सकती है । अस्तु, हमें धर्म को उपयोगी, समर्थ और व्यापक बनाये रखने का प्रयत्न करना चाहिए ।

आज सभी क्षेत्रों में विकृतियाँ भर जाने की तरह धर्म तन्त्र भी अवांछनीयताओं और मूढ़ताओं से घिर गया है, अन्यथा धार्मिक मान्यताओं और परम्पराओं को अपनाकर लोग उच्चस्तरीय देवोपम जीवन जी रहे होते ।

धर्म क्षेत्र में घुसी विकृतियाँ उसकी उपयोगिता को नष्टकर भ्रान्तियों-भ्रष्टताओं, संकीर्णताओं, द्वेष-दुर्भावों को बढ़ाने की विपत्तियाँ उत्पन्न कर रही हैं । धर्म का ऐसा स्वरूप अनुपयोगी ही सिद्ध होगा जो मनुष्य को ऊँचा उठाने की अपेक्षा नीचा गिराने लगे । आज उसका ढाँचा कुछ ऐसा ही बन गया है, फलस्वरूप सर्वसाधारण के मन में उसके प्रति अश्रद्धा उत्पन्न होती चली जाती है । यह स्थिति दुर्भाग्यपूर्ण है कि मानव जाति की प्रगति और सुख-शान्ति के लिये अतीव महत्त्वपूर्ण धर्मतन्त्र इस प्रकार अपनी उपयोगिता खो बैठे और लोग उससे लाभ उठाने की अपेक्षा दूर रहने की बात सोचें ।

यों धर्म एक है । मानवीय कर्त्तव्यों और आदर्शों को ही धर्म कहते हैं, सद्भावनायें और सत्प्रवृत्तियाँ धर्म की ही दो उपलब्धियाँ हैं । समस्त विश्व के समस्त मानव प्राणियों का धर्म एक है, पर देश-काल पात्र के भेद से उन धार्मिक सिद्धान्तों को कहाँ, कब, किस हद तक, कैसे कार्यान्वित किया जाय इसमें परिस्थिति के अनुसार भेद करना पड़ता है । इससे उसके बाह्य स्वरूप में भेद दिखाई पड़ता है और उस भिन्नता के आधार पर अलग सम्प्रदाय

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

बन जाते हैं । धर्म सिद्धान्तों को परिस्थिति भेद से प्रयुक्त करने में जो भेदभाव करना पड़ा उसी ने सम्प्रदायों को जन्म दिया । इतना होते हुए भी उसके मूल सिद्धान्त सार्वभौम एवं सर्वजनीन ही बने रहेंगे ।

पिछले दिनों अन्धकार युग के प्रभाव ने अपना रंग धर्म क्षेत्र पर भी कम नहीं डाला है और उसे कम भ्रष्ट नहीं किया है । स्थिति ऐसी आ गई है कि अब या तो उसे सुधारना पड़ेगा या समाप्त करना पड़ेगा । यथास्थिति नहीं चल सकती । वर्तमान स्वरूप बनाये रहने पर तो वह अपनी मौत मरेगा । नैतिक, सामाजिक और बौद्धिक क्रांति के सारे आधार धर्मतन्त्र को परिष्कृत करने से बन जाते हैं । श्रेष्ठ मनुष्य और उत्कृष्ट समाज बनाने की सारी सम्भावनायें धर्म तत्त्व की मूल मान्यताओं के साथ भली प्रकार जुड़ी हुई हैं । इसलिये हमें धर्म क्षेत्र की विकृतियों को दूर करने के लिये प्रयत्न करना चाहिए और उसे अपने मूल स्वरूप में विकसित कर इस योग्य बनाना चाहिए कि व्यक्ति और समाज को परिष्कृत बनाने की युग आवश्यकता को वह भली प्रकार पूरा कर सकने में समर्थ हो सके ।

हमने युग-निर्माण योजना के अन्तर्गत हिन्दू सम्प्रदाय के क्षेत्र में फैली हुई धर्म विकृतियों के संशोधन का और धर्म तत्त्व का परिष्कृत रूप प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है । इस आधार पर नवयुग के सृजन में हमें बड़ी सहायता मिलती दिखाई दे रही है । अपनी गतिविधियों का प्रभाव यों सर्वत्र पड़ रहा है, पर उससे हिन्दू धर्म को प्रगतिशील बनाने में अधिक सहायता मिली है, यह एक तथ्य है ।

हमारी भावना एक सीमित क्षेत्र या वर्ग तक अपनी गतिविधियाँ सीमित करने की कभी नहीं रही । हम हर बात को सार्वभौम और सार्वजनीन दृष्टि से देखते-सोचते हैं । किसी धर्म या सम्प्रदाय से हम बँधे नहीं हैं । विश्व मानव में देवत्व का उदय करने का अपना कार्यक्रम सार्वभौम है । फिर हमारी गतिविधियाँ हिन्दू समाज को ही प्रधानता क्यों दे रही हैं । हम मुसलमान, ईसाई, फारसी, आदि धर्मों के क्षेत्र में क्यों प्रवेश नहीं करते और उनके सुधार का आन्दोलन क्यों नहीं चलाते ? यह एक प्रश्न सहज ही किया जा सकता है ।

इसका कारण यह है कि हमारा प्रभाव-परिचय, ज्ञान तथा सम्पर्क हिन्दू समाज से है । हमारा जन्म हिन्दू समाज में होने से वैसा होना स्वाभाविक भी था । जहाँ जिसका प्रभाव-परिचय होता है वह उसी क्षेत्र में ठीक तरह काम कर सकता है । सुधार के लिये कटुआलोचनायें लोग अपनों की ही सुन सकते हैं । विराने समझे जाने वाले दूसरे वर्ग सम्प्रदाय या देश के लोग दूसरे को सुधारने-समझाने का काम करें तो उससे लोग अपना अपमान समझते हैं और उसकी बात सुनने को तैयार नहीं होते । इस जन-समाज की मनोवैज्ञानिक कमजोरी को देखते हुए यही ठीक पड़ता है कि अपने-अपने वर्ग, क्षेत्र, सम्प्रदाय का सुधार करने के लिए उसी वर्ग के कार्यकर्त्ता आगे आयें। सुधार के आदर्श और सिद्धान्त एक रहें । दिशा एक ही निर्धारित हो पर काम करने का क्षेत्र, कार्यकर्त्ता लोग अपनी सुविधा और सम्पर्क को बाँट लें ।

चीनी भाषा जानने वाला ही चीन की जनता को कुछ समझा सकता है । हिन्दी भाषी के बहुत सिर पटकने पर भी उस क्षेत्र की जनता का हितसाधन कर सकना कठिन है। इसी प्रकार सुधार अपने देश, क्षेत्र, धर्म की परिधि में जितनी अच्छी तरह अपना श्रम सार्थक कर सकते हैं, वैसा दूसरे क्षेत्रों में नहीं । कुछ समय पूर्व अमेरिका की एक महिला मिस मेयो ने भारत की सामाजिक, नैतिक अवांछनीयताओं का चित्रण करते हुए एक पुस्तक 'मदर इण्डिया' लिखी थी । उस पुस्तक का भारत में विरोध हुआ । उसके जवाब लिखे गये और उसे दुर्भावपूर्ण कहा गया । मुसलमानों द्वारा हिन्दू देवी-देवताओं पर आक्षेप करने वाली कुछ पुस्तकें छपी थीं । उनका बहुत विरोध हुआ, जप्त कराई गई हैं और जवाब में इस्लाम धर्म की निन्दा की गई । दूसरी ओर आर्य समाजी भी हिन्दू धर्म के पुराणों, देवी-देवताओं, अवतारों तथा सम्प्रदायों के विरुद्ध बहुत अधिक कडुआ बोलते रहते हैं, कुरीतियों और भ्रान्तियों की समीक्षा बहुत उग्र होकर करते रहते हैं । वे कई बार मुसलमानों के आक्षेप से भी आगे बढ़ी-चढ़ी होती हैं और अमेरिकन महिला मेयो ने जो लिखा है उसमें बहुत अधिक कटु चित्रण अपने समाज सुधारक करते रहते हैं पर आर्य समाजियों या सुधारकों का इतना विरोध नहीं होता, जितना कि अन्य धर्म या देश के लोगों द्वारा कहे या लिखे जाने पर होता है । लोग जिन्हें अपना समझ लेते हैं उनकी कटु बात भी सहन कर लेते हैं और उनके प्रयासों को सद्भावनापूर्ण मानते हैं, जबकि दूसरों की सच्ची बातें भी दुर्भाग्यपूर्ण लगती हैं ।

बात कुछ अटपटी है । सही बात किसी के द्वारा भी अन्य वर्ग वाले द्वारा भी कही जाय, स्वीकार किया जाना चाहिए और गलत बात चाहे अपने लोग कहें तो भी न माना जाय, पर अब कुछ मानसिक स्थिति ही उलटी हो गई है । कोई वैश्य, ब्राह्मण समाज को बुरा-भला कहे तो ब्राह्मण चिढ़ जायेंगे पर यदि ब्राह्मण ही अपने समाज के दोषों को अधिक कडुए शब्दों में कहे तो उस वर्ग के लोग कुपित न होंगे । हम भारतीय अपने देश की दुर्दशा पर अपने लोगों को जी भरकर कोसते रहते हैं, पर कोई विदेशी वैसा कहे तो बहुत बुरा लगता है । बी०बी०सी० का दफ्तर इसलिये हिन्दुस्तान से उठाना पड़ा कि उसने हिन्दुस्तान की आन्तरिक दुर्दशा के कुछ चित्र टेलीविजन पर दिखाये थे । वैसे हम स्वयं भी उससे अधिक ही कटु चित्रण करते हैं, तब अपने को इस तरह नहीं रोका जाता । कभी आर्यसमाजी मुसलमान धर्म की नुक्ता-चीनियाँ करते थे । भले ही उसका उद्देश्य उस वर्ग के लोगों पर सच्चाई प्रकट करना हो और बुराई छोड़ने की प्रेरणा जैसा ही रहा हो, पर उसे बहुत बुरा माना गया और परस्पर कटुता ही बढ़ी, लाभ कुछ नहीं निकला ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

इन औंधे-तिरछे तथ्यों को ध्यान में रखते हुए अपने काम करने की शैली बहुत सोच-विचारकर बनानी चाहिए और जनमनोविज्ञान को ध्यान में रखकर कदम उठाने चाहिए । यही किया भी गया है । चूँकि हम हिन्दू हैं, भारत निवासी हैं, इसलिए अपने धर्म और क्षेत्र की स्थिति को सामने रखकर सुधार की आवश्यकताओं को तलाश करते हैं और तदनुरूप कार्यशैली निर्धारित करते हैं। धर्म के सिद्धान्तों से इस देश तथा धर्म में कहाँ-कहाँ विकृतियाँ आई हैं और उनमें क्या-क्या सुधार करके धर्म तत्त्व के मूल आदर्शों को जनमानस में प्रतिष्ठापित किया जा सकता है इस निष्कर्ष पर ही अपनी गतिविधियाँ विनिर्मित हो रही हैं ।

यही क्रिया-कलाप हर धर्म, हर देश, हर क्षेत्र और हर संस्कृति में अपनाया जाना चाहिए और उस कार्य को उसी वर्ग के लोग अपने हाथ में लें और अपने क्षेत्र में जिन विकृतियों का उभार देखें उनका विरोध करने का कार्यक्रम बनायें। किन आदर्शों की, किस वर्ग में, किस हद तक उपेक्षा-अवहेलना हो रही है उसे देख-समझकर उस वर्ग के लोग अपने आन्दोलन और कार्यक्रम का निर्धारण करें और उसके लिए वैसे ही प्रयत्न करें जैसे हम हिन्दू धर्म की, भारतीय समाज की परिस्थितियों को ध्यान में रखकर कर रहे हैं ।

हिन्दुओं में दहेज, मृत्युभोज, नीच-ऊँच जैसी सामाजिक विकृतियाँ भारी अहित कर रही हैं । मुसलमान समाज में इनमें से कोई कुप्रथा नहीं है, इसलिये उस वर्ग के लिये इस प्रकार के आन्दोलन व्यर्थ हैं । उस वर्ग में पुरुषों को चार पत्नी रख सकने की छूट, पर्दा प्रथा में अधिक कड़े प्रतिबन्ध, माँसाहार का निषेध न होना जैसी बुराइयों के विरुद्ध आन्दोलन होने चाहिए । ईसाई, पारसियों में दूसरी तरह की सामाजिक बुराइयाँ और दार्शनिक अवांछनीयतायें हो सकती हैं । उन्हें उसी वर्ग के लोगों द्वारा अधिक अंच्छी तरह समझा और सुधारा जा सकता है ।

अपनी योजना यह है कि हर देश में ऐसे देशभक्त निकलें जो अपने राष्ट्र को धार्मिक और आध्यात्मिक आदर्श पर चलने के लिये प्रेरित करें और इस मार्ग में अड़े हुए अवरोधों को हटाने के लिए प्रबल प्रयत्न करें । युग-निर्माण योजना हर धर्म, हर सम्प्रदाय में ऐसे कार्यकर्त्ता, मार्गदर्शक, लोकसेवी जननेता खड़े कर रही है जो अपने धर्म-सम्प्रदाय के ग्रन्थों, सन्तों, आदर्शों, परम्पराओं का सहारा लेकर सृजन और सुधार का समान ढाँचा खड़ा करें और उस धर्म के अनेक लोगों को साथ लेकर वैसा ही-उसी स्तर का आन्दोलन चलायें, जैसा कि हिन्दू धर्म का आधार लेकर इस क्षेत्र, वर्ग की जनता को आगे बढ़ाने के लिए हमने चलाया है । समस्त जन-समाज को एक ही आदर्श, सिद्धान्त, दृष्टिकोण एवं रीति-नीति का अनुयायी बनाने का लक्ष्य रहेगा तो अन्ततः यह सभी आन्दोलन विभिन्न नदियों द्वारा एक ही समुद्र की जलराशि बढ़ाने की तरह एक ही लक्ष्य के पूरक सिद्ध होंगे ।

हम अनेकता को हटाकर एकता उत्पन्न करने जा रहे हैं । मनुष्य मात्र का एक धर्म हो, एक संस्कृति, एक अध्यात्म, एक लक्ष्य, एक दिशा और एक मनःस्तर हो । धर्म ऐसी एकता का पूर्णतया प्रतिपादन करता है, उसमें 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की सर्वात्मभाव की ही प्रेरणा है । मनुष्य की व्यक्तिगत संकीर्णता ने धर्म को भी अपने स्तर के अनुरूप संकीर्ण बनाया है । अब जबकि तात्विक धर्मनिष्ठा को पुनः सजीव किया जा रहा है तो वह भिन्नता के बीच एकता का आदर्श स्थापित करने में सहायक ही होगी । आरम्भ इसी प्रकाश का उपयुक्त है कि एक आदर्श और एक लक्ष्य को लेकर विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों के लोग अपने वर्ग क्षेत्र की विकृतियों को सुधारने और दुर्बलताओं को हटाने में लग जायें । युग-निर्माण योजना हिन्दू धर्म तक सीमित नहीं है, उसमें हमारे जैसे अनेक व्यक्ति अपने-अपने क्षेत्रों में प्रचण्ड अभियान आरम्भ करने के लिए तत्पर हो चुके हैं ।

अनावश्यक सत्य भी क्यों बोलें ?

अज्ञान और अविवेक से तमसाच्छन्न मनोभूमि के रजोगुणी और तमोगुणी प्रकृति के मनुष्य ही आजकल संसार में अधिक मात्रा में देखने में आते हैं । वे सत्यवादी की भलमनसाहत का अनुचित लाभ उठाकर अपनी दुष्टता को और भी तीव्र कर सकते हैं और अपने दुष्ट मनोरथ में और भी अधिक आसानी से सफल हो सकते हैं । इसलिए व्यावहारिक सत्यवादी को अपनी नीयत शुद्ध रखते हुए भी, सत्य के प्रति निष्ठा रखते हुए भी यह ध्यान रखना पड़ता है कि उसकी सत्यवादिता का कहीं दुरुपयोग न हो । जहाँ ऐसा खतरा होता है, वहाँ वह सोच-समझकर मुँह खोलता है और नपी-तुली उतनी ही बात कहता है जिस से काम भी चल जाय और कुपात्रों को आवश्यक लाभ भी प्राप्त न हो ।

व्यावहारिक सत्य भाषण के मूल में परहित की, विश्व कल्याण की भावना रहनी चाहिए । कई बार ऐसे धर्म संकट सामने आ खड़े होते हैं कि बोलने से दुष्ट लोग उसका अनुचित लाभ उठाते हैं और निर्दोषों को सताने तथा अपनी स्वार्थ-साधना का प्रयोजन सिद्ध करते हैं । ऐसे अवसरों पर भाषण को नहीं भावना को, उसके परिणाम को ही सत्य का आधार माना जायेगा ।

योग-दर्शन में इस गुत्थी को भी सुलझाया गया है । २।३० के व्यास भाष्य में कहा गया है कि-

ऐषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय यदि चैवमप्यभिधीय माना भूतोपघातैव स्यात् न सत्यं भवेत् पापमेव । तेन पुण्यासेन पुण्य प्रतिरूपेण कष्टं तमः प्राप्नुयात्, तस्मात् परीक्ष्य सर्वभूत हित सत्यं ब्रूयात् ।

अर्थात्- सत्य का प्रयोग जीवों के हित के लिए करना चाहिए, अहित के लिए नहीं । जिसके बोलने से प्राणियों

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

की हानि होती हो, वह सत्य होते हुए भी असत्य एवं पाप ही माना जायेगा । ऐसा अविवेकपूर्ण सत्य बोलने में दूसरे निर्दोषों को कष्ट उठाना पड़ता है और वक्ता को पाप लगता है । इसलिए परिस्थितियों का भली प्रकार विचार कर विवेक का सहारा लेकर सबके लिए कल्याणकारक हो ऐसी वाणी ही बोलें ।

कसाई के हाथ से छूट कर गाय भागी जा रही हो और पीछे ढूँढ़ता हुआ कसाई आ जाय । पूछे कि गाय किधर है ? तो सत्य बोलने पर गो-हत्या होती है और कसाई के पाप भार में और भी अधिक बढ़ोत्तरी होती है । गाय को वध की पीड़ा और भी अधिक नरक कष्ट मिलने का दुष्परिणाम । ऐसा सत्य बोलना किस काम का ? इस लिए विवेक और परिणाम का ध्यान रखकर ही ऐसे अवसरों पर सत्य बोलना चाहिए ।

ऐसे धर्म संकटों के अवसर पर शास्त्रकार भी भावना सन्निहित सत्य को ही प्रधानता देता है और शब्द सन्निहित सत्य की उपेक्षा करते हैं –

सत्यं न सत्यं बलु यत्र हिंसा,
दयान्वितचानृतमेव सत्यम् ।
हितंराणां भवतीह येन,
तदेव सत्यं न चान्यथैव ।।

जिससे हिंसा की वृद्धि होती हो वह सत्य, सत्य नहीं । जिससे दया-धर्म का पोषण हो, वह असत्य ही सत्य है । जिससे प्राणियों का हित होता हो वही सत्य है जिससे अहित होता हो वह सत्य होते हुए भी असत्य ही है ।

नीतिकारों ने स्थान-स्थान पर इसी तथ्य की पुष्टि की है:–

ना पृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्नचान्यायेन पृच्छतः ।

बिना पूछे या अनीतिपूर्ण उद्देश्य के लिए पूछने पर सत्य भी न कहना चाहिए ।

कोई चोर पूछे कि आपके पास कितना धन और कहाँ रखा है, तो सत्य बोलने पर अपना धन चले जाने और उस चोर की दुष्टता का पोषण होने का खतरा है । इसी प्रकार सेना के गुप्त भेदों को कोई सैनिक यदि सत्य बोलने के नाम पर प्रकट कर दे तथा उससे लाभ उठाकर शत्रु पक्ष आक्रमण कर दे तो यह सत्यभाषण अपराध एवं पाप की श्रेणी में ही माना जायगा । इस प्रकार का सत्य बोलने वालों को सैनिक न्यायालय में कठोर दण्ड की व्यवस्था होती है । राजकीय गुप्तचर विभाग के कर्मचारी बड़े-बड़े पापों अपराधों और षड्यन्त्रों का पता लगाने के लिए छद्मवेश बनाकर, छद्म परिचय देकर भेदो का पता लगाते हैं । भेदों के मालूम होने से न्याय तथा धर्म की रक्षा होती है, इसलिए इन्हें प्रशंसनीय ही ठहराया जाता है ।

योगी अरविन्द ने लिखा है–

"जिन्हें हमारी प्रवृत्तियों एवं योजनाओं को जानने का कोई प्रयोजन नहीं है, जो उन्हें समझते भी नहीं, जो उस जानकारी को प्राप्त कर अपनी हानि ही करेंगे, उन्हें अपनी प्रवृत्तियों एवं योजनाओं को बताने की क्या आवश्यकता? आध्यात्मिक रहस्यों को प्रायः गुप्त रखा जाता है यह उचित भी है । अपने आश्रम के क्रिया-कलापों के बारे में हम बाहरी लोगों को पता नहीं लगाने देते, इसका अर्थ यह नहीं कि हम कोई झूठ बोलते हैं । बहुधा योगी लोग अपने आध्यात्मिक अनुभवों को, विशेष अधिकारी व्यक्तियों के अतिरिक्त और किसी को नहीं बताते । यह गोपनीयता आहयात् का एक चिर प्राचीन नियम है । ऐसा कोई धार्मिक या नैतिक नियम नहीं है जो अपनी हर बात को हर किसी के सामने प्रकट कर ही देने का आदेश देता है ।"

असत्य नहीं हमें सदा सत्य ही बोलना चाहिए, पर इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि अपनी प्रत्येक बात हर किसी से कह ही देनी चाहिए । आवश्यकतानुसार मौन रह कर या उत्तर देने में इन्कार करके आवश्यक तथ्यों को छिपाने की अनुमति है । क्योंकि जिनकी मनोभूमि का समुचित विकास नहीं हुआ है, वे उस गोपनीय तथ्य का दुरुपयोग कर सकते हैं, उसे विकृत करके हानिकारक बना सकते हैं ।

अणु-बम आदि के रहस्य प्रायः छिपाकर रखे जाते हैं । फौजी जानकारियाँ तो प्रायः गुप्त ही रखी जाती हैं । राजकीय बजट पेश होने से पूर्व यदि उसका भेद फूट जाय तो चतुर लोग उस आधार पर व्यापार करके करोड़ों रुपया कमा सकते हैं और जिन बेचारों को उस प्रकार की पूर्ण सूचना उपलब्ध नहीं हुई है वे अकारण भारी हानि उठा सकते हैं । इसलिए बजट के भेदों को समय से पूर्ण प्रकट किया जाना इसी प्रकार का अपराध माना जाता है ।

महाभारत में भीष्म का कौशल अपराजेय था । पाण्डव उससे बहुत घबराये, तब युधिष्ठिर ने किसी प्रकार बातों ही बातों में चतुरतापूर्वक भीष्म से उनकी युद्ध नीति को पूछ लिया । उन्होंने बता दिया कि–"मैं शस्त्र-त्यागी, घायल होकर पृथ्वी पर पड़े हुए, भागते हुए, शरणार्थी, अंग-भंग, स्त्री तथा नपुंसक पर हथियार नहीं चलाता ।" इस जानकारी का पाण्डवों ने पूरा-पूरा लाभ उठाया । शिखण्डी नामक नपुंसक को भीष्म के सामने लड़ने खड़ा कर दिया । भीष्म उस पर शस्त्र चला नहीं रहे थे । उधर अर्जुन ने शिखण्डी के पीछे छिपकर भीष्म पर बाण चलाये और उन्हें मार डाला । सत्य को अनावश्यक रूप से प्रकट कर देने पर कई बार सत्यवादी को इस प्रकार की हानि भी उठानी पड़ती है, जैसी भीष्म को उठानी पड़ी ।

सत्य वचन ही उचित है । सत्य का पालन ही उचित है । व्यावहारिक सत्य का आचरण करना हो तो भी कुछ उच्च उद्देश्यों के लिए यदा-कदा आवश्यक शब्द-कौशल को छोड़कर शेष साधारण जीवन में सही सत्य ही बोलना चाहिए। सत्य में निष्ठा रखनी है । सत्य नारायण का रूप है जो सत्य का उपासक है, वह प्रकारान्तर में सत्यनारायण भगवान् की ही आचारोत्मक पूजा करता है, जो केवल भावात्मक पूजा से ही कहीं अधिक श्रेष्ठ है, कहीं अधिक उच्च है ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

सत्य बनाम तथ्य

सत्य का अर्थ है, यथार्थता । जो बात जैसी है उसे उसी रूप में समझना, मानना और प्रयुक्त करना सत्य की साधना है । दुर्भाग्य से हम इन दिनों बनावट, विडम्बना, भ्रान्ति, दुर्बुद्धि से भरे युग में रह रहे हैं । अज्ञान भरे अन्धकार युग ने कुछ ऐसा कृत्रिम वातावरण बना रखा है, जिसने बरसात की काली घटाओं में छिपे हुए सूर्य की तरह सत्य को एक प्रकार से छिपा-सा ही दिया है । छल और कृत्रिमता का दूसरा नाम ही सभ्यता पड़ गया है, जो जितनी कृत्रिमता बरत सकता है, कुछ को कुछ बनाकर दिखा सकता है वह उतना ही बड़ा सभ्य और कलाकार माना जाता है । पिछली शताब्दियों और सहस्राब्दियों से असत्य एवं कृत्रिमता की आराधना में मानवीय मस्तिष्क संलग्न रहे हैं और अब वह उपार्जन इतना विशालकाय, इतना सघन और प्रचलित हो गया है कि आमतौर से उसे ही सत्य माना जाने लगा है । आज सामान्य बुद्धि के लिए यह ढूँढ़ निकालना अति कठिन है कि प्रचलित मान्यताओं, प्रथा-परिपाटियों, विश्वासों, रीति-नीतियों एवं विचारणाओं में सत्य का कितना अंश है ।

जिस कसौटी पर यथार्थता को कसा जा सकता है, वह है विवेक । विवेक उस साहस का नाम है जिसके आधार पर बहुप्रचलित मान्यताओं की उपेक्षा करके भी सच्चाई को ढूँढ़ निकालने की भावना उत्पन्न होती है । यही भावना है जिसके आधार पर कोई व्यक्ति सत्य का दर्शन कर सकता है । जो यह सोचता है कि 'समाज का वर्तमान प्रचलन ही ठीक है और उसी का समर्थन ठीक है' तो फिर उसके लिए सोचने और ढूँढ़ने के सारे रास्ते ही बन्द हो जाते हैं । प्रचलन के ढर्रे से लुढ़कते-लुढ़कते अभ्यास परिपाटी के प्रति मनुष्य को मोह उत्पन्न हो जाता है, उसी के साथ पक्षपात जुड़ जाता है । अपनी यह दुर्बलता समझ में भी नहीं आती । लगता है हम जो सोचते हैं वही सत्य है, जो करते हैं वही सत्य है, जिस रास्ते पर चल रहे हैं वही सत्य है । विभिन्न व्यक्ति अपनी प्रचलित परिपाटियों और रीति-नीतियों को सत्य मानने लगते हैं । चूँकि सत्य का निरूपण तो किसी ने किया नहीं, अपनी-अपनी परिपाटियों को ही सत्य मान लिया है, इसलिए उनकी मान्यताएँ स्वभावतः एक-दूसरे से भिन्न अथवा विपरीत होती हैं । इस भिन्नता एवं विपरीतता को स्वभावतः वे वर्ग नापसन्द करते हैं, कई बार घृणा भी करते हैं और यदि असहिष्णुता की मात्रा अधिक हुई तो परस्पर संघर्ष भी खड़ा हो जाता है । एक-दूसरे को असत्यवादी मानते हैं और अपने को सत्यनिष्ठ समझते हैं । उनकी लड़ाई का आधार तो सत्य का समर्थन और असत्य का निवारण होता है, पर वस्तुतः दोनों ही असत्य का समर्थन और सत्य की हत्या कर रहे होते हैं, क्योंकि वास्तविक सत्य को ढूँढ़ने की किसी ने चेष्टा ही नहीं की । अपने चारों ओर घिरे मानसिक अथवा सामाजिक वातावरण को ही सही माना, जबकि वस्तुतः वह एक पक्षपात मात्र था । इतिहास के अगणित पृष्ठ इसी सत्य के आवरण में छिपे पक्षपात से लाखों-करोड़ों मनुष्यों के श्रोणित तर्पण की करुण कथा से कलंकित हो रहे हैं । हमारे देशवासियों को ऐसे नर-संहार की स्मृति अभी भी भूली नहीं है । गौरी, गजनवी, नादिरशाह, औरंगजेब, चंगेजखाँ आदि ने धर्म की सेवा के नाम पर क्या नहीं किया था । ईसाई और गैर-ईसाई, मुसलिम और गैर मुसलिम, आर्य और अनार्य आदि को भिन्नताओं ने कितनी नृशंसतायें उपस्थित कीं, इसका लम्बा इतिहास पढ़ने पर लगता है कि मनुष्य सत्य के अवलम्बन की डींग मात्र हाँकता है वस्तुतः सत्य से अत्यधिक दूर है ।

आज के इस तमसापन्न युग में यह नितान्त आवश्यक है कि सत्य और असत्य का नये सिरे से विश्लेषण किया जाय और उसको आचार, विवेक, न्याय एवं औचित्य को माना जाय । दूसरों के प्रति जो व्यवस्था लागू की जा रही है, वही यदि अपने लिए भी लागू हो-तो कैसा लगे ? इस कसौटी पर न्याय-अन्याय का निरूपण आसानी से हो सकता है । उसी प्रकार यदि यह मानकर चला जाय कि संसार के बहुसंख्यक व्यक्ति अनुपयुक्त विचारणा और क्रिया-पद्धति के अभ्यस्त हैं, उनकी गतिविधियों में अनौचित्य की मात्रा ही अधिक है तो फिर तथाकथित लोकभय से मुक्ति पाई जा सकती है और स्वतन्त्र चिन्तन के लिए उपयुक्त दिशा मिल सकती है । अपनी मनोभूमि के पक्षपात को भी समझना चाहिए और ध्यान रखना चाहिए कि हम जिस परम्परा में जन्मे, पले और बड़े हुए हैं स्वभावतः उसी के समर्थन में बुद्धि काम करेगी । इसलिए स्वतन्त्र चिन्तन और सत्य का अन्वेषण करने के लिए इतना साहस भी एकत्रित करना होगा कि अपनी अभ्यस्त बुद्धि की भी उपेक्षा करके विश्व-व्यापी सत्य का निरूपण कर सकने की भावना सही रूप से अपना काम कर सकने में समर्थ हो सके ।

'हमारा सो सही आपका सो गलत' आज सही-गलत की यही मात्र परख है । अपनी जाति, भाषा, देश, वंश, परिवार, सम्प्रदाय, रहन-सहन, रीति-रिवाज एवं विचार-पद्धति का जो अनावश्यक पक्षपात है, उसे हटाया जाना चाहिए और निष्पक्ष विश्व के निष्पक्ष नागरिक की तरह, एक न्यायनिष्ठ जज की तरह हमें हर प्रचलित रीति-नीति और विचारणाओं पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए । न तो प्राचीन के प्रति मोह रहे और न नवीन के प्रति द्वेष । प्राचीन हो या नवीन इससे यथार्थता में कोई अन्तर नहीं आता । किसी सड़ी-गली मृतप्राय वस्तु को इसलिए सँजोकर नहीं रखा जा सकता कि वह पुरानी है ।

जिस प्रकार दूसरे लोगों के बारे में 'गलत राह अपनाने वाला' सोचा जा सकता है उसी प्रकार बहुत सम्भव है कि विवेक की कसौटी पर अपनी मान्यताएँ अथवा गतिविधियाँ जब परखी जायें तो वे असत्य निकलें । ऐसी दिशा में हमें इतनी निष्पक्षता तो अपने भीतर उत्पन्न कर ही लेनी चाहिए

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

कि जो सत्य होगा उसे ही स्वीकार करेंगे । अपने और पराये का, प्राचीन और नवीन का कोई भेद-भाव एवं पक्षपात पैदा न होने देंगे । इतना आधार यदि तैयार हो जाय तो ही आशा की जा सकती है कि सत्य का अवतरण सम्भव हो सकेगा अन्यथा हर व्यक्ति अपनी मान्यताओं और रीति-नीतियों को सही मानकर दूसरों के प्रति घृणा, तिरस्कार, द्वेष और दुर्भावों की धारणा बनाये बैठा रहेगा । इससे अशान्ति ही बढ़ेगी ।

हमें सत्य की शोध करनी चाहिए, सत्य का आश्रय लेना चाहिए, सत्य पर आरूढ़ होना चाहिए और सत्य के ही समीपवर्ती वातावरण में प्रतिष्ठापना करने के लिए कटिबद्ध होना चाहिए । किन्तु ध्यान यह भी रखा जाय कि हमारा सत्य तथ्य पर आधारित है । केवल पूर्व मान्यताओं तथा परम्पराओं के आधार पर ही किसी बात को सत्य न मान बैठें ।

नैतिकी एवं पारिस्थितिकी परस्पर अन्योन्याश्रित

मानव-जीवन आन्तरिक एवं बाह्यत: सुखी, समुन्नत एवं शांतिपूर्ण संचालित होता रहे, इसके लिए आवश्यक है कि वह औचित्यपूर्ण नीतियों तथा मर्यादाओं का नियंत्रण एवं संरक्षण स्वीकार करे । यह नियम दैनन्दिन जीवन में घटित होते देखा जा सकता है । पटरी का अनुशासन तथा राह की सावधानियों की मर्यादाओं का पालन करने वाली रेलगाड़ी ही अपने गन्तव्य पर सकुशल पहुँचती है । इन मर्यादाओं का उल्लंघन उसे मात्र राह से ही विचलित नहीं करता, अपितु नष्ट भी कर देता है । ठीक यही तथ्य मानव विशेष तथा मानव समुदाय पर घटित होता है । यदि कोई व्यक्ति अकेला मर्यादाओं व नीतियों का उल्लंघन करे, तो भी इससे होने वाली हानि उसके स्वयं के जीवन को नष्ट करने के साथ परिवेश को क्षति पहुँचाने वाली होती है, पर यदि मानव समुदाय ही मर्यादाओं, नीतियों का उल्लंघन करने पर उतारू हो जाय तो परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाली भयावह स्थिति की कल्पना भी दुष्कर होगी ।

वर्तमान समय लगभग ऐसी ही स्थिति से गुजर रहा है । बुद्धिवाद के युग में तथा मात्र वर्तमान की सोचने की अदूरदर्शिता ने स्थिति को जटिल बना दिया है । आज मनुष्य अपनी बुद्धि को इसी दिशा में प्रयुक्त कर रहा है कि अधिक से अधिक सुख-सुविधाएँ कैसे जुटाई जाएँ । वह तकनीकी ज्ञान तथा उसका प्रयोग कैसे सम्भव बन पड़े, जो जादुई छड़ी की तरह सारी वासनाओं की पूर्ति करने के साथ मालामाल कर दे । प्रचलित अर्थों में आज की बुद्धि ने इसे ही सृजनात्मकता या रचनात्मकता का नाम दिया है ।

बुद्धि के इस स्वरूप को देखकर सुप्रसिद्ध दार्शनिक डेविड ह्यूम की वह उक्ति सटीक प्रतीत होती है, जिसे उसने अपनी चिन्तनीय ग्रन्थ 'ट्रीटाइज ऑन ह्यूमन नेचर' स्कन्ध दो के भाग द्वितीय के तीसरे अनुभाग में उल्लेखित करते हुए कहा है –''बुद्धि वासनाओं की दासी है ।'' किन्तु यदि यह बुद्धि-वासनाओं के जाल-जंजाल में फँसकर मानव समुदाय के अस्तित्व को ही विनष्ट करने पर उतारू हो जाए तो उसे क्षम्य तो नहीं माना जा सकता ।

अस्तित्व के विनाश की स्थिति अद्यतन समय में मानव और पर्यावरण के मध्यवर्ती सम्बन्धों को देख सहज अनुमानित की जा सकती है । 'सिस्टमैटिश-जियोबार्टेनिशेज इन्स्टीट्यूट देर यूनिवर्सिटेट गोटिन जैन' के प्राध्यापक जर्मन अध्येता डा० हेन्ज एलनबर्ग ने इन बिगड़ते जा रहे सम्बन्धों तथा पर्यावरण नीति में अवमूल्यन के कारण उत्पन्न स्थिति की एक झलक दिखाते हुए 'ब्रिटिश इकोलाजिकल सोसाइटी' में पढ़े हुए शोध पत्र 'मेन्स इन्फ्लूयेन्स ऑन ट्रापिकल माउन्टेन इकोसिस्टम्स इन साउथ अमेरिका' में बताया है–''पेड़-पौधे हमारे स्वाभाविक मित्र हैं, वे हमसे भी अपनी ही जैसी मित्रता की अपेक्षा करते हैं । उन्होंने आगे स्पष्ट करते हुए कहा है कि–''मनुष्य ने स्वार्थपरता की अति के कारण पर्यावरण सम्बन्धी जो परिवर्तन किए और करता जा रहा है उसे नि:सन्देह घातक ही मानना चाहिए । पारिस्थितिकी तन्त्र में जल असन्तुलन, खनिज सम्पदा का असाधारण दोहन तथा प्राणियों, पादपों तथा सूक्ष्मजीवों की जनसंख्या गति का निरन्तर कम होना मानवीय भविष्य को खतरे में ही डालने वाला सिद्ध होगा।''

उन्होंने पेरू, न्यूजीलैण्ड, अफ्रीका, अमेरिका आदि अन्य देशों के लिए सर्वेक्षण के आधार पर बताया कि मात्र वन-सम्पदा ही नहीं नष्ट हुई, पादपों के साथ जन्तुओं का विनष्टीकरण भी हुआ । स्थिति को स्पष्ट करते हुए वे बताते हैं कि कई वन तो नाम मात्र ही वन थे, क्योंकि उनमें वृक्षों एवं जन्तुओं की स्थिति दयनीय थी ।

अन्य देशों की तरह यही स्थिति स्वयं भारत की भी है । वन-सम्पदा तथा सुखद पर्यावरण के लिए अपना विशिष्ट स्थान रखने वाले इस देश में लगातार बढ़ते शहरीकरण तथा औद्योगीकरण ने वनों को कुल भूमि के मात्र २२.७ प्रतिशतवें भाग में समेट दिया है । कृषि के लिए उपजाऊ भूमि भी मात्र १,५४७ लाख हेक्टेअर या ४७ प्रतिशत ही बची है । बढ़ता शहरीकरण तथा उद्योग इसको भी विनष्ट करने पर उतारू है ।

मानवीय चिन्तन जब संकीर्णता तथा स्वार्थपरता में फँस जाता है तो उसे यही यथार्थ व औचित्यपूर्ण भासने लगता है । इसी आभास के कारण विचलित और दिशाहीन बुद्धि तरह-तरह के ऐसे चित्र-विचित्र सिद्धान्त गढ़ने प्रारम्भ करती है, जो किए गए कार्यों का समर्थन करें। जे० बेन्थम 'प्रिन्सिपल्स ऑफ मारल्स एण्ड लेजिस्लेशन' में ऐसे ही सुखवाद का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं । उनके अनुसार प्रत्येक वस्तु सुख का साधन मात्र है, सुख ही हमारा स्वाभाविक लक्ष्य है इसे पूरा किया ही

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

जाना चाहिए । सिरनेक्स, एपीक्यूसिस मिल खुले हृदय से इसका समर्थन करते हैं । उपरोक्त सिद्धान्त की समीक्षा करते हुए जे० सेथ का 'ए स्टडी ऑफ इथिकल प्रिन्सिपल्स' में कहना है बेपरवाह, विचारहीन जीवन ही इनका आदर्श है । कर्लाइल ने इसी कारण इसको शूकर दर्शन कहा है ।

आज पृथ्वी के प्रत्येक भू भाग में इसी शूकर दर्शन को व्यवहार में लाया जा रहा है । जिन्होंने तटस्थ भाव से इसके विपरीत औचित्यपूर्ण कहने का प्रयत्न किया, उसकी बात को कठोरतावाद का नाम देकर उपहास किया गया । यूनान के प्रख्यात विचारक एण्टीस्थीनीज ने ऐसे सुखों को मूर्खता का जीवन माना है । नीतिशास्त्री तथा आदर्शवादी जीवन के प्रवक्ता काण्ट ने सदिच्छा को शुभ तथा ईश्वर के लिए जीवन जीने को श्रेष्ठ माना है । वह पारस्परिक सहयोग की नीति को उच्च मानता है ।

सुखों के पीछे भागते मनुष्य समुदाय को आदर्शवादी बातें समझ में आने से रहीं । उसे तो नीत्शे का कथन 'तथ्य नैतिक नहीं होते' ही भाता है । उसे तो जंगत की प्रकृति भी अनैतिक प्रतीत होती है ।

यही निषेधात्मक चिन्तन अन्य भागों की तरह सांख्य एवं वेदान्त के प्रवर्त्तक भारत में भी व्यवहार में लाया जा रहा है । इसी चिन्तन में ओत-प्रोत हो जाने के कारण प्रकृति का संरक्षण तथा उसके साथ सामंजस्य का तथ्य पूरी तरह विस्मृत ही नहीं अनौचित्यपूर्ण भी लगता है ।

रसियन चिन्तक अन्टोली गोरेलोव तथा अलेक्जेण्डर शातालोव मानव की समझ पर तरस खाते हुए 'प्रॉब्लम्स ऑफ द कन्टेम्पोरेरी वर्ल्ड' नामक पुस्तक में 'मैन एण्ड दि इन्वायरन्मेण्ट मेथडोलजिकल एस्पेक्ट्स ऑफ दि प्राब्लम' शीर्षक के अन्तर्गत कहते हैं-'प्रकृति का सौन्दर्य नष्ट करने के साथ मनुष्य अपने वर्तमान और भविष्य को भी नष्ट कर रहे हैं ।' पर्यावरण संरक्षण के औचित्य की महत्ता व आवश्यकता बताते हुए वे कहते हैं-वह तकनीकी एवं वैज्ञानिक प्रगति जो पर्यावरण का विनाश करती है, पूर्णतया अनैतिक है ।

उनके अनुसार, मनुष्य के और प्रकृति के मध्य सम्बन्धों की समस्या भौतिक न होकर दार्शनिक और नैतिक है। प्रकृति को पूर्णतया जड़ न मानकर इसके भावनात्मक स्वरूप और सम्बन्ध का ध्यान भी रखना चाहिए । मास्को से प्रकाशित 'फ्रॉम अर्ली वर्क्स' में मार्क्स व एंजेल्स भी स्पष्ट करते हैं कि मनुष्य प्रकृति के द्वारा जीता है। इस कारण उसे मृत्यु की अपेक्षा जीवन का भरण करने के लिए अपने एवं प्रकृति के मध्य सम्बन्धों को मधुर बनाना चाहिए।

गोरेलोव और शातालोव बताते हैं कि मानवीय व्यक्तित्व मात्र जैविक एवं सामाजिक आयामों में ही नहीं सिमटा है उसका एक इकोलॉजिक आयाम भी है । इसकी स्वाभाविक अभिन्नता के कारण इसके सुप्रभाव व कुप्रभाव भी अभिन्न ही होंगे । मनुष्य ने जिस तरह जैविक एवं सामाजिक आयाम में अपने स्वरूप को निखारने का प्रयत्न किया है, उससे कहीं अधिक आवश्यकता इस बात की है कि पर्यावरण सम्बन्धी आयाम को सुविकसित और सौन्दर्यवान बनाया जाय ।

इस महत्त्वपूर्ण कार्य के सम्पादन के लिए वे पर्यावरण नीतिशास्त्र के गठन तथा उसके परिपालन की सलाह देते हैं । उनके अनुसार यह नीतिशास्त्र, चिकित्सा नीतिशास्त्र से भी अधिक पवित्र और भावनायुक्त होना चाहिए । चिकित्सा नीति की जो संकटपूर्ण स्थिति है उससे कहीं अधिक ऊपर उठकर विचार किया जाना चाहिए । मनुष्य के जीवन-रक्षण से भी अधिक महत्त्वपूर्ण वनस्पतियों तथा प्रकृति के अन्य घटकों का रक्षण करना है । लाभ की दृष्टि से भी प्रकृति के यह घटक कहीं अधिक उपकारी हैं । ऐसे सुहृदों को संरक्षण तथा पोषण न प्रदान कर उनका वध करना कितना हेय और निन्दनीय है इसकी कल्पना ही की जा सकती है ।

आंग्लदेशीय सी० जे० स्टार्स भी 'एनवायरन्मेण्टल इथिक्स एण्ड बियान्ड' में उपरोक्त मत का समर्थन करते हुए कहते हैं, मनुष्य ने अपने धर्म तथा व्यवहार को मात्र अपने स्वार्थ तक सीमित कर लिया है । इसे वह Anthropocentric (मानव केन्द्रित) का नाम देते हैं। उनके अनुसार प्रकृति के विभिन्न घटकों से भी इसी स्तर का व्यवहार किया जाना चाहिए ।

आंग्लदेश के ही लन्दन निवासी मनीषी जॉन जे० काम्पटन 'साइन्स एण्ड गाड्स एक्शन इन नेचर' में प्रतिपादित करते हैं कि प्रकृति ईश विनिर्मित है, जिसे स्वार्थान्ध विज्ञान ने ध्वस्त किया है । इसके पीछे मानवीय विचारहीनता ही झाँकती है । मनुष्य को अपने विचारों को परिष्कृत पर्यावरण के साथ वैसा ही सदय और सुहृद व्यवहार करना चाहिए जैसा वह अपने सगे-सम्बन्धियों के साथ करता है । अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त चिन्तक बट्रेण्ड रसेल अपने ग्रन्थ, साइन्टिफिक आउटलुक में बताते हैं कि एक नये नैतिक मूल्य की आवश्यकता है, वह यह कि मनुष्य प्रकृति के विभिन्न घटकों के साथ सम्मान और सहयोग का व्यवहार करे ।

इसी तथ्य को कनाडा के पर्यावरणशास्त्री नारमन एवं मोर्सन कनाडियन इनवायरन्मेण्टल एडवाइजरी काउन्सिल में पढ़े गए अपने शोध पत्र 'इन्वायरन्मेण्टल इथिक्स इट्स: फंक्शन एण्ड इम्प्लीकेशन' को प्रतिपादित करते हुए बताया है कि पश्चिमी संस्कृति में हमने अपनी नैतिकता का दायरा मनुष्यों तक ही सीमित कर लिया है । सीमाबद्धता की यह संकीर्णता ही आज की सबसे बड़ी समस्या है, जिससे ग्रसित होकर प्रकृति के साथ हम अपने सम्बन्धों एवं दायित्वों को भुला बैठे हैं । अब वह समय आ गया है कि जब हमें अपने इन मधुर सम्बन्धों का स्थापन कर लेना चाहिए । हमें ऐसे नीतिशास्त्र का निर्माण करना चाहिए जिसके आधार पर हम इन मधुर सम्बन्धों को चिरस्थायी बना सकें ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

अमेरिका की काउन्सिल ऑन इन्वायरन्मेण्टल क्वालिटी एण्ड दि डिपार्टमेण्ट ऑफ स्टेट, न्यूयार्क के जी० ओ० बारनी तथा उनके सहयोगियों ने राष्ट्राध्यक्ष को प्रस्तुत अपनी रिपोर्ट 'ग्लोबल-२०००' में उल्लेखित किया है कि हमारा वर्तमान नीतिशास्त्र हमें पर्यावरण को गाली देना व विनष्ट करना ही सिखा रहा है। इसी कारण हम केवल प्रकृति घटकों से डकैती भर डालते हैं । इससे जो हानियाँ हुई हैं, उसके कारण सारे स्रोत समाप्त होते जा रहे हैं । इसी कारण हमने जल प्रदूषित किया, वन समाप्त हुए, हवा खराब हुई तथा जंगली जानवरों का खात्मा हुआ । अपनी इसी रिपोर्ट में वह आगे बताते हैं कि हम केवल मनुष्यों की जनसंख्या बढ़ा रहे हैं । इसके परिणामस्वरूप प्रति कैपिटा जनसंख्या के अनुसार पर्यावरण उसकी आवश्यकताएँ नहीं पूरी कर पाएगा । उससे जो कुछ मिलेगा भी वह सभी जहरीला होगा। इस संकटपूर्ण स्थिति के निवारण के लिए पर्यावरण और मनुष्य के बीच नैतिक सम्बन्धों का स्थापन तथा दृढ़ता से परिपालन होना चाहिए ।

इन नैतिक सम्बन्धों का आधार एवं स्वरूप क्या हो ? किस तरह उनका स्थापन किया जाय ? यह समस्या वर्तमान विश्व के सामने है । इस समस्या का औचित्यपूर्ण समाधान करते हुए अमेरिका में न्यूयार्क के अध्येता इवान जी० बारबर 'टेक्नॉलाजी व एन्वायरनमेण्ट एण्ड ह्यूमन वैल्यूज' में कहते हैं कि इसका सरल समाधान अध्यात्म विशेषत: भारतीय अर्थों में अभिप्रेत अध्यात्म है । प्रथमत: इस विधि के द्वारा मनुष्य स्व-व्यक्तित्व को सुरक्षित बनाये रख सकता है । द्वितीय, यह मनुष्य को यथार्थ और आदर्श का समन्वित रूप समझाते हुए प्रकृति को भी चेतना सत्ता का स्वरूप समझने पर बल देता तथा उसके प्रति सदय व स्नेहयुक्त व्यवहार की प्रेरणा देता है । तृतीय, जहाँ धर्म विहीन तकनीकी ज्ञान हमें अपने को नष्ट करने की शक्ति प्रदान करता है, वहीं अध्यात्म सौम्यता तथा स्वार्थपरता से मुक्ति सिखाता तथा स्वयं के साथ अपने परिवेश जिसे मानव मानवेत्तर प्राणी व प्रकृति के घटक सम्मिलित हैं, के साथ सहयोग व सद्भाव का व्यवहार सिखाता है ।

श्री बारबर का यह कथन भले ही किसी को उपहासास्पद या अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतीत हो, किन्तु उपरोक्त तथ्य पर गम्भीर मनन, नीति विषयक क्षेत्र में भारतीय अध्यात्म का गौरव व महत्त्व स्वीकारे बिना नहीं रह सकता । वैदिक ऋषि इस नीति के कितने मर्मज्ञ थे, प्रकृति के साथ उन्होंने कितना सौजन्यपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किया था, इसे वैदिक वाङ्मय के अवलोकन से जाना जा सकता है । यजुर्वेद के १३वें मण्डल के २७ सूक्त की एक ऋचा के अनुसार जो चिरन्तर नियम (सौजन्यतापूर्ण नीति) का पालन करेगा उसके लिए वायु मधुरता से भरी होगी, नदियाँ उसे मधुरता प्रदान करेंगी । सारी वनस्पति उसके लिए मधुर होगी ।

इस नीति को और अधिक स्पष्ट करते हुए मुण्डक उपनिषद् का ऋषि द्वितीय मुण्डक के ७वीं श्रुति में कहता है कि मनुष्य के साथ पशु-पक्षी वनस्पतियाँ सभी परम सत्ता द्वारा ही उपजाए हैं । इसी कारण पारम्परिक सहयोग का भाव ही अपेक्षित है । इसी भाव से भावित वातावरण को संरक्षण प्रदान करता हुआ ऋग्वेद का ऋषि इसके पाँचवें मण्डल ४१वें सूक्त के ११, १२वें मंत्र (आपो औषधी स्याद्रे) में वातावरण से मानव समाज की कल्याण कामना करता हुआ कहता है-"पौधे-वृक्ष हमें संरक्षण प्रदान करें ।"

वैदिक वाङ्मय में इसी तरह अनेकों मंत्र हैं जो पर्यावरण नीति को स्पष्ट करते हैं । गुलेफ विश्वविद्यालय कनाडा के प्राध्यापक डा० ओ० पी० द्विवेदी वर्ल्ड हेल्थ आर्गनाइजेशन साउथ ईस्ट एशिया रीजन के लिए ३० सितम्बर, १९८५ को तैयार की गई अपनी रिपोर्ट 'प्रपोज्ड नेशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ इन्वायरन्मेण्ट एण्ड रीजनल सेन्टर्स एण्ड दि स्टेट ऑफ इन्वायरन्मेण्टल ऐजूकेशन इन दि स्टेट ऑफ उत्तर-प्रदेश इण्डिया' में कहते हैं कि पर्यावरण के सन्तुलन के लिए मानविकी तथा समाज विज्ञान के ही सदृश पर्यावरण नीतिशास्त्र के अध्ययन को प्रारम्भ करना चाहिए । साथ ही इन नीतियों का व्यापक स्तर पर प्रचार तथा परिपालन होना चाहिए । डा० द्विवेदी इन्टरनेशनल रिव्यू ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन सर्विसेज के वाल्यूम ४० में प्रकाशित अपने एक शोध पत्र 'इण्डिया वॉल्यूशन कण्ट्रोल पालिसी एण्ड प्रोग्राम' में अपना मन्तव्य स्पष्ट करते हैं कि "औद्योगीकरण के बल पर विकसित कहे जाने वाले राष्ट्रों की तकनीक उधार लेकर प्रदूषण का सुधार करना भारत के लिए लाभदायक नहीं है ।"

नि:सन्देह डाक्टर द्विवेदी के कथन में यथार्थता है । शहरों के विकेन्द्रीकरण तथा बड़े उद्योगों के स्थान पर कुटीर उद्योगों को स्थान दिए बिना पर्यावरण के सन्तुलन की आशा दुराशा ही होगी । मानव की सामाजिक तथा पर्यावरण सम्बन्धी नीति का आधार प्रस्तुत करते हुए गीताकार इसके तीसरे अध्याय का ११वें श्लोक में कहता है-

"देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ।। ११ ।।"

अर्थात् प्रकृति पर्यावरण के विभिन्न घटक रूप देवताओं जल (वरुण), वायु (मरुत), पृथ्वी की तुम सब उन्नति करो । वे तुम लोगों की उन्नति करेंगे । इस प्रकार आपस में कर्त्तव्य समझकर उन्नति करते हुए तुम सब परम कल्याण को प्राप्त होंगे ।"

निश्चित है सर्वनीतियों का परम आधार गीता के उपरोक्त श्लोक में है । इसको अपनाकर मानव व्यक्ति व समुदाय बाह्य समृद्धि व उन्नति तथा आन्तरिक शान्ति एवं आनन्द सहज ही प्राप्त कर सकता है । सुखभोगवाद की नीति तथा बुद्धिवाद की दिशाहीनता से जो अस्तित्व संकट तथा अंधकारपूर्ण भविष्य की काली छाया दिखाई पड़ रही है, उसके दूर होने के आसार निश्चित रूप से सम्भव बन सकते हैं । इक्कीसवीं सदी अनेकों सम्भावनाएँ सामने लेकर आ रही है। इसमें नैतिकी को परिस्थितिकी को दिशा

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

देनी होगी ताकि पर्यावरण से की गई खिलवाड़ का प्रायश्चित किया जा सके । ऐसा हो सका तो ही हम सतयुगी व्यवस्था की आधारभूमि खड़ी कर सकेंगे ।

पारस्परिक सहकार ही सुव्यवस्था का आधार

कथा है कि एक बार देवता और असुर अपने बड़प्पन का निर्णय कराने ब्रह्माजी के पास पहुँचे । उन्होंने परीक्षा के उपरान्त अपना अभिमत बताने की बात सुरक्षित रखी । दूसरे दिन दोनों वर्गों को पृथक्-पृथक् स्थानों पर भेज दिया गया । जब खाने की घड़ी आई तो ब्रह्माजी ने दोनों पंक्तियों की कोहनियाँ न मुड़ने का मन्त्र पढ़ दिया । अब खाना कैसे जाय, मुँह से हाथ तो बहुत दूर होता है । असुरों ने हाथ ऊपर उठाकर मुँह में ग्रास पटके, पर वे इधर-उधर गिरे, मुँह में एकाध ग्रास ही पहुँचा । मुँह तथा कपड़े बुरी तरह खराब हुए । दूसरी ओर देवताओं ने इस स्थिति में सहयोग बरता । एक ने अपनी थाली का भोजन अपने हाथ से दूसरे को खिलाया । दूसरे ने तीसरे को । इस प्रकार सभी का पेट भर गया । जबकि संकीर्ण स्वार्थपरता की आपाधापी में निमग्न सभी असुर भूखे उठ गये । निर्णय हो गया । परमार्थी देवता श्रेष्ठ घोषित हुए । यही सहयोग चक्र सदा-सर्वदा से मनुष्यों के बीच कार्यान्वित होता रहा है । इसी आधार पर सार्वजनिक प्रगति सम्भव हुई है । इसमें व्यवधान पड़े तो फिर आदिम काल की ओर लौटने के अतिरिक्त और कोई चारा न रहेगा ।

कथा से सार यह निकला है कि वास्तविक सहयोग पर ही सुव्यवस्था निर्भर है । इस सहयोग तन्त्र को हम हर ओर क्रियाशील देख सकते हैं । प्रकृति की सन्तुलित प्रक्रिया का एक पक्ष कर्मफल भी है । क्रिया की प्रतिक्रिया इसी को कहते हैं । परिश्रम करने पर पसीना निकलता है । दौड़ने पर दम फूलता है । विष खाने पर मरण संकट आ सकता है । यह क्रिया का प्रतिक्रिया का सामान्य क्रम है । भले-बुरे विचारों की परिणति भी उत्थान-पतन के रूप में दृष्टिगोचर होती है । इतिहास के पन्ने-पन्ने पर 'करना सो भोगना' का प्रमाण विद्यमान है । बुरा करते हुए भी कोई यह नहीं चाहता कि उसे उस बुराई का प्रतिफल मिले, किन्तु नियति की विधि-व्यवस्था हर किसी को उसके लिए विवश करती है । भले यदि भलाई के बदले का सत्परिणाम नहीं भी चाहें नहीं भी माँगें तो भी वह उनके पल्ले अनायास ही बँध जाता है । जन्म और मरण का, दिन और रात का, जिस प्रकार युग्म है, उसी प्रकार इस संसार में करने और भोगने की क्रिया-प्रक्रिया का निर्धारित क्रम यथावत् चलता रहता है ।

कर्मफल की सुव्यवस्था में किसी बाहरी नियन्त्रण की आवश्यकता नहीं पड़ती, यह सब कुछ स्वसंचालित प्रक्रिया के आधार पर अनायास ही सम्पन्न होता रहता है । अनाचार का आरम्भ विकृत विचारों से होता है । मनोविकारों का चेतना क्षेत्र से विग्रह खड़ा करना, अन्तर्द्वन्द्व उभारना सर्वविदित है । इससे दुरावजन्य ग्रन्थियाँ बनती हैं । भय, लज्जा, संकोच की आत्मप्रताड़ना शरीर और मन के मध्य चल रहे व्यवस्था तन्त्र को लड़खड़ा देती है । फलतः चित्र-विचित्र प्रकार के शरीर एवं मन के रोग असन्तुलन उत्पन्न करते हैं । इन आधि-व्याधियों के फलस्वरूप व्यक्तित्व भौंड़ा पड़ता है । न चिन्तन सही रह पाता है, न व्यवहार की शालीनता स्थिर रहती है । फलतः अविश्वास और असन्तोष का वातावरण भीतर भी दीखता है और बाहर भी । ऐसी दशा में मनुष्य के ऊपर दुःख दारिद्र्य ही लदेंगे । मनोविकारों की इस परिणति का मनः-शास्त्र पूरी तरह समर्थन करता है और अनेकानेक प्रमाणों से सिद्ध करता है कि सरल, सात्विक, सौम्य, सदाचारी चिन्तन चरित्र के सहारे ही व्यक्तित्व सुसंयत बना रह सकता है । उसे अपनाने में ही भलाई है । जो अनीति की राह पर चलेंगे वे अपने पैरों आप कुल्हाड़ी ही मारेंगे ।

कर्मफल के दण्ड-पुरस्कार का शासन तन्त्र में पूरा विधान है । समाज में भी निन्दा-प्रशंसा, सहयोग-असहयोग का दौर इसी आधार पर चलता है । प्रामाणिकों को समर्थन मिलता है और वे आगे बढ़ते हैं, जबकि अनाचारी-अप्रामाणिक व्यक्ति घृणा तिरस्कार के भाजन बनते और असहयोग-प्रतिरोध के कारण गई-गुजरी स्थिति में पड़े दिन गुजारते हैं । जिसका अहित किया है, उसके द्वारा प्रतिशोध लिये जाने की सम्भावना तो रहती है । इस समूची व्यवस्था पर दृष्टिपात करने से सिद्ध होता है कि कर्मफल की सुव्यवस्था प्रकृति की कार्य-पद्धति का एक सुनिश्चित अंग है ।

रावण, कुम्भकरण, मेघनाद, मारीच, अहिरावण आदि की समर्थता चतुरता में कोई कमी नहीं थी । किसी विरोधी का सामना करने की उनमें शक्ति भी कम न थी । शरीर बल, शस्त्र बल, वैभव बल की दृष्टि से भी वे कमजोर नहीं पड़ते थे । इतने पर भी उनकी अनीति उन्हें ले बैठी । कुकर्मों का प्रतिफल मिला । यह दण्ड व्यवस्था प्रकृति ने स्वयं की । रीछ, वानर और सामान्य स्तर के मनुष्य तो उनके नित्य के आखेट थे । वे उन्हें क्यों कर परास्त करते । मत्स्य न्याय ही यहाँ सब कुछ रहा होता तो इन दुर्द्धर्ष लोगों की तूती बोलती, इस प्रकार परिवार समेत नष्ट होने का अवसर ही न आता ।

इससे पूर्व भी समय-समय पर ऐसे ही दुर्दान्त महाबली हो चुके हैं, जिनकी मनमानी को चुनौती देने वाला कोई नहीं था । हिरण्यकश्यपु, हिरण्याक्ष, वृत्रासुर, महिषासुर, भस्मासुर, रक्तबीज जैसे कितने ही नाम जिनकी बलिष्ठता और क्रूरता असीम थी उनके विनाश का उन दिनों कोई आधार या साधन भी नहीं था । फिर भी ऐसे निमित्त कारण बने जो देखने में नगण्य, उपहासास्पद लगते थे पर उन्होंने अपराजेय समझी जाने वाली शक्तियों को धराशायी कर दिया । हिरण्याक्ष को एक बाराह वेशधारी ने ही अपने

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

दाँतों से क्षत-विक्षत कर दिया । दूसरी ओर के अमोघ अस्त्र एक कोने में रखे रह गये । यह विश्वव्यापी कर्मफल व्यवस्था ही है, जो भले-बुरों को यथोचित प्रतिफल देने की व्यवस्था इस या उस प्रकार बनाती रहती है ।

गाँधी, बुद्ध, नानक, चाणक्य, विवेकानन्द आदि सत्पुरुषों के पास साधनों का अभाव था, पर समय ने उनको साधनों की कमी नहीं रहने दी, न सहयोग कम पड़ा, न अवरोध ही देर तक आड़े आये । वे जिस महान् पथ पर बढ़ रहे थे, उसमें कोई ऐसा व्यतिरेक उत्पन्न नहीं हुआ जिसके कारण वे लक्ष्य तक पहुँच न पाते । उन्हें भरपूर सफलता मिली । जापान के गाँधी, कागाबा, फ्लोरेंस नाइटिंगेल, ब्रेडन पाबेल आदि के उपयोगी प्रवास विश्वव्यापी बने और आश्चर्यजनक रीति से सफल हुए । विनोबा, बाबा साहेब आम्टे, हीरालाल शास्त्री, कमला हास्पेट, कर्वे आदि के द्वारा आरम्भ किये गये छोटे-छोटे शुभारम्भ किस प्रकार अनायास सहायता के सहारे अग्रगामी बने और सफलता की मंजिलें पार करते हुए कहाँ से कहाँ जा पहुँचे यह किसी से छिपा नहीं है, यह क्रिया की प्रतिक्रिया है, जो सदाशयता का अविज्ञात सूत्रों से परिपोषण करती और उन्हें सफल बनाने में योगदान करती है ।

व्यक्तियों की तरह भले-बुरे वातावरण का भी तदनुरूप प्रभाव होता है । जिस प्रकार सड़न के ढेर से किसी क्षेत्र का वायुमण्डल दुर्गन्धित विषाक्त हो जाता है और वहाँ हैजा जैसी छूत की बीमारियों का दौर चल पड़ता है, उसी प्रकार व्यापक वातावरण की भी वैसी ही स्थिति होती है । जिन दिनों सज्जनता, सद्भावना, सहकारी शालीनता का प्रचलन होता है उन दिनों व्यापक वातावरण भी सर्वसाधारण के लिए सुख-शान्ति से भरा रहता है । प्रकृति अनुकूल रहती है और धन-धान्य, वर्षा, ऋतु प्रभाव आदि में किसी प्रकार का व्यतिक्रम नहीं होने देती । सतयुग में सज्जनता का बाहुल्य था तब वृक्ष फलों से, खेत फसलों से, बादल विद्युत जल से भरे रहते थे और किसी को किसी प्रकार का अभाव या कष्ट अनुभव नहीं होने देते थे । न अकाल मृत्युएँ होती थीं और न रोग, शोक, विग्रह जैसी विपत्तियाँ ही दृष्टिगोचर होती थीं ।

पारस्परिक स्नेह-सहयोग इस दृष्टि का स्वाभाविक क्रम है, इसी आधार पर सारी विश्व-व्यवस्था सुनियोजित ढंग से चल रही है । इसमें जहाँ भी व्यतिक्रम होता है वहीं सन्तुलन डगमगाता और व्यवस्था बिगड़ने पर विग्रह खड़े होते हैं । इस दृष्टि से शरीर चक्र, जल चक्र, वनस्पति चक्र दृष्टव्य है । हाथ कमाता है । उस कमाई को भोजन रूप में मुँह को देता है । मुँह चबाने का श्रम जोड़कर उसे पेट के सुपुर्द करता है । पेट उसमें अपने पाचक-रस मिलाकर आँतों की, गुर्दों की ओर धकेलता है, वहाँ से वह उपार्जन, हृदय में रक्त बनकर पहुँचता है ।

जलचक्र भी ऐसा ही है । समुद्र से बादलों को, बादलों से धरातल को, धरातल से नदी नालों, कुएँ, तालाबों को मिलता है । इसके बाद वह घूमता-फिरता फिर समुद्र में जा पहुँचता है । यह पारस्परिक स्नेह-सहकार का भाव भरा आदान-प्रदान है ।

जमीन से वृक्ष-वनस्पतियों का परिपोषण । वनस्पतियों से प्राणियों का निर्वाह । प्राणियों के मलमूत्र से धरती की उर्वरता । उस उर्वरता के सहारे फिर वनस्पति उगने का उपक्रम । इस क्रम की कोई कड़ी बीच में टूटे तो समझना चाहिए कि वनस्पतियों और प्राणियों में से एक का भी जीवित रहना सम्भव न होगा । यह वनस्पति चक्र है । मनुष्य कार्बन गैस उगलता है, उसे वृक्ष खाते हैं । वृक्ष ऑक्सीजन उगलते हैं, उससे मनुष्यों को प्राणवायु उपलब्ध होती है ।

इकॉलाजी के सारे सिद्धान्त इसी एक नाभिक के चारों ओर घूमते हैं कि प्रत्येक वस्तु का एक दूसरे से सघन सम्बन्ध है । जो देता है, वह पाता है, जो जैसा करता है, वह वैसा भोगता है । प्रकृति जगत में मनुष्य द्वारा किया गया असन्तुलन विभीषिका के रूप में उसी के ऊपर संकट बनकर आता है । निर्वनीकरण, औद्योगीकरण में जन्म-चक्र का जो असन्तुलन बना है, उसका प्रतिफल मनुष्य ने ही भोगा है । यही असन्तुलन जब व्यक्तिगत या सामाजिक जीवन में आ धमकता है तो अपनी प्रतिक्रिया उन्हीं पर दिखाता है जो इसके कर्त्ता होते हैं ।

मनुष्य की स्वाभाविक प्रतिक्रिया कारणों को बहिरंग में और कहीं ढूँढ़ने की होती है । अपने शरीरगत रोगों व मनोविकारों के लिये जैसे वायरस एवं परिस्थितियों को दोषी ठहराया जाता है, उसी प्रकार प्रकृतिगत अव्यवस्था के लिये ही अन्तर्ग्रही असन्तुलन, दैवी विपत्ति को प्रमुख कारण बता दिया जाता है । वस्तुतः ये मनुष्य के दुष्कर्म ही हैं जो दुर्गति के रूप में असाध्य व्याधि, असमय जरा, अकाल मृत्यु के रूप में निकलते हैं । मनोरोगों का मूल कारण अपना ही दुश्चिन्तन है । समष्टिगत दुष्प्रवृत्तियों का प्रतिफल ही प्रकृति का रौद्र रूप है । यह इकॉलाजी सिद्धान्त की एक ऐसी शाश्वत् नियम व्यवस्था है जो अटल, सुनिश्चित है । इससे मुक्त कोई नहीं । सुव्यवस्थित प्रकृति के अनुकूल निर्धारित जीवन-क्रम होते हुए हर कोई सुख-शान्ति का रसास्वादन लेते रह सकता है । यही विधाता को अभीष्ट भी है ।

सहयोग-सहकार पर निर्भर जीवन व्यापार

इस विश्व में कोई भी पूर्णतया एकाकी अपने बलबूते समर्थ सक्षम नहीं है । पारस्परिक सहयोग पर ही प्रगतिक्रम निर्भर है । विज्ञान की अनेकानेक विधाएँ भी एक दूसरे से अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई हैं । यदि इन्हें अलग-अलग कर दिया जाय तो सर्वांगपूर्ण प्रगति पूर्णतया असम्भव है । सृजेता का यह शाश्वत् विधान है एवं अस्तित्व हेतु एक अनिवार्य शर्त है कि सभी में पारस्परिक सहयोग एवं तालमेल हो ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

प्रकृति, जन्तु एवं वनस्पति परस्पर एक दूसरे से घनिष्टतापूर्वक सम्बन्धित हैं । पृथ्वी, जल-वायु तथा अगणित जीवनोपयोगी पदार्थ प्रकृति के घटक हैं । प्राणियों तथा वनस्पतियों के रूप में गतिशील जीवन का इन सबके आपसिक सहयोग एवं सन्तुलन के आधार पर ही अपना अस्तित्व है । प्रतीत भर होता है कि सभी घटक अलग-अलग हैं, पर सच्चाई यह है कि एक अभिन्न चक्र से सभी जुड़े हैं । एक ही माला के दाने हैं । एक ही गति स्थिति से समूचा चक्र प्रभावित होता है और तदनुरूप प्रतिक्रिया दर्शाता है । इकॉलाजी के विशेषज्ञों का मत है कि प्रकृति चक्र की अपनी स्वसंचालित प्रक्रिया है । यदि उसमें छेड़खानी न की जाए तो वह सतत् गतिमान रहते हुए भी अनेकानेक अनुदानों से जीव-जगत की सेवा करता रह सकता है ।

प्रकृति जगत के उदाहरणों की ही शृंखला में वातावरण में घुली गैसों को देखें । गैस रूप में विद्यमान ये रासायनिक तत्त्व जीवधारियों के द्वारा अवशोषित होकर पोषक तत्त्वों में बदल जाते हैं । कार्बन-डाइ-ऑक्साइड-कार्बोहाइड्रेट में तथा नाइट्रोजन प्रोटीन में बदल जाती है । आहार-चक्र के अन्तर्गत अन्यान्य अंग-अवयवों से गुजरते हुए वे अपने मूल स्वरूप में उत्सर्जन श्वसन के माध्यम से वापस कर दिये जाते हैं । भूमिगत रासायनिक तत्त्वों का चक्र भी इसी प्रकार संचालित होता रहता है । वहाँ विद्यमान बैक्टीरिया की भूमिका भी उसी प्रकार की है ।

पत्थरों के अपक्षयन से खनिज उत्पन्न होते हैं, जो लवणों के रूप में मिट्टी अथवा समुद्र झरना, नदी आदि में मिल जाते हैं और जल चक्र के अभिन्न अंग बन जाते हैं । पौधे, प्राणी इन खनिज लवणों को ग्रहण करते हैं और फिर आहार-चक्र की शुरूआत हो जाती है । अवशिष्ट पदार्थों के नियोजन तथा अंगों के अपक्षयन से खनिज तत्त्व पुनः लवण एवं जल के रूप में वातावरण को हस्तान्तरित कर दिये जाते हैं । इस प्रकार यह चक्र सतत् चलता रहता है । कभी भी इसमें कोई व्यतिक्रम नहीं आता ।

इस 'बायोजियो केमिकल साइकिल्स' द्वारा जीव जगत से उत्पन्न अवशेषों का प्रयोग दूसरे समुदाय द्वारा कर लिया जाता है यह और भी महत्त्वपूर्ण है । एक का अवशिष्ट पदार्थ दूसरे का ऊर्जा स्रोत अथवा आहार बन जाता है । प्राणियों के अवशिष्ट पदार्थों में मिली नाइट्रोजन जीवाणुओं का आहार बन जाती है । जीवाणु भूमि को उपजाऊ बनाते हैं । मिट्टी से पौधे पोषण प्राप्त करते हैं । पौधों से पशुओं को आहार मिलता है । जीवों द्वारा उत्सर्जित विष के समान कार्बनडाइ-ऑक्साइड पौधों का जीवनाधार है । यह इस प्रकार एक अविराम गतिचक्र बनता रहता है ।

इसी प्रकार प्रजनन, पोषण, अभिवर्धन, परिशोधन एवं सन्तुलन का स्वसंचालित गति चक्र प्रकृति में चलता रहता है, जो प्रकृति के विभिन्न घटकों के पारस्परिक सहयोग पर आधारित है । जन्म एवं विकास की तरह मृत्यु एवं विनाश भी उस जीवन चक्र के गति एवं सन्तुलन के लिए आवश्यक है । पदार्थों के गतिचक्र में दृष्टिगोचर सहयोग सहकार तथा उनसे उत्सर्जित होने वाले ऊर्जा प्रवाह पर ही जीवों का जीवन अवलम्बित है । जड़ समझे जाने वालों में भी यह सहयोग चक्र गतिशील है । जल के वाष्पीकरण, जमाव तथा पत्थरों के उद्भव एवं कटाव के रूप में भी इसी सहजीवी चक्र की क्रियाशीलता नजर आती है ।

प्रत्येक जीवनदायी पदार्थ में जलीय अंश होता है । जीवधारी जब उन्हें ग्रहण करते हैं तो उसका जल कार्बन, हाइड्रोजन, प्रोटीन, फास्फोरस एवं सल्फर को कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन, वसा तथा अन्य पोषक तत्त्वों में बदल देता है । पौधे मिट्टी से पोषक तत्त्वों के रूप में नाइट्रेट, अमोनिया एवं सल्फेट आदि प्राप्त करते हैं । वे प्रकाश संश्लेषण की प्रक्रिया से ऑक्सीजन को वायुमण्डल में छोड़ते रहते हैं । वातावरण में प्रचुर मात्रा में पायी जाने वाली नाइट्रोजन एक निष्क्रिय गैस है, जो जीवधारियों द्वारा सीधे प्रयोग नहीं की जा सकती, जबकि यह जीवन की प्रमुख इकाई है । पर पारस्परिक सहयोग की महत्ता एवं प्रकृति की व्यवस्था विलक्षण है । एक अन्य प्रक्रिया से इस गैस को प्रयोग योग्य बना देती है । जीवाणुओं की कुछ जातियाँ तथा एल्गी की कुछ जातियाँ इस गैस को उपयोग में लाती हैं तथा वायुमण्डल से खींचकर मिट्टी में छोड़ देती हैं । मिट्टी के जीवाणु नाइट्रोजन को अमोनिया में बदल देते हैं ।

इस तरह प्रकृति में विभिन्न प्रकार के सहयोग चक्र सतत् चलते रहते हैं । अपनी अलग-अलग भूमिका सम्पन्न करते हुए भी वे परस्पर एक दूसरे से अन्योन्याश्रित रूप से जुड़े हुए हैं । जल का भी एक सहयोग चक्र है, जो पृथ्वी, सूर्य और समुद्र के सहयोग से गतिशील है । पृथ्वी एवं समुद्र का जल सूर्य के प्रकाश से वाष्पीभूत होकर वायुमण्डल में पहुँचता, घनीभूत होकर बादलों में बदलता तथा पुनः वर्षा के रूप में पृथ्वी एवं नदियों को लौटा दिया जाता है, जो पुनः समुद्र में जा पहुँचता है । जल के विश्वव्यापी वितरण का लेखा-जोखा लिया जाय तो ज्ञात होगा कि जलवृष्टि से पृथ्वी को प्राप्त जल की मात्रा-वाष्पीकृत जल के ही समतुल्य होती है । आस्ट्रेलिया एवं अफ्रीका में सूखे की स्थिति बनी रहने का कारण यह है कि वहाँ वर्षा के जल का तीन-चौथाई भाग वाष्पीभूत हो जाता है ।

जल एवं गैसों के अतिरिक्त ऊर्जा का भी सहयोग चक्र सर्वत्र सक्रिय है । गति अथवा विकास के लिए चेतन, प्रेरणा एवं शक्ति पादप एवं जंतु उसी से प्राप्त करते हैं । इस चक्र के अध्ययन की तकनीकी भी रेडियो, आइसोटोप, माइक्रो कैलोरीमैट्री स्पेक्ट्रोफोटोमैट्री, कम्प्यूटर साईंस एवं एप्लायड गणित के सम्मिलित सहयोग से ही विकसित हुई है । ऊर्जा का प्रमुख स्रोत सौर विकिरण है । इसका कुछ अंश आटोट्राय प्रक्रिया द्वारा जैविक पदार्थ में बदल दिया जाता है, जिससे समस्त भूमण्डल की आवश्यकता की पूर्ति होती है । आहार चक्र में जीवधारियों के एक

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

समुदाय की आहार ऊर्जा परिवर्तित रूप में दूसरे समुदाय को हस्तान्तरित कर दी जाती है ।

प्रकृति के इन विभिन्न चक्रों के युग्म एवं पारस्परिक सहयोग से सृष्टि में जीवन विविध रूपों में अठखेलियाँ कर रहा है । एक की गति-स्थिति में परिवर्तन का सीधा प्रभाव समूचे इकॉलाजिकल चक्र पर पड़ता है । पादपों, जन्तुओं, सूक्ष्म जीवाणुओं, मनुष्यों तथा सम्बन्धित पर्यावरण के सह अस्तित्व एवं सम्मिलित जटिलतम प्रणाली को इकोसिस्टम कहा जाता है । इस सन्तुलन के कारण ही प्रकृति के सभी व्यापार ठीक ढंग से चलते हैं । प्रत्येक इकॉलाजिकल सिस्टम हजारों-हजार जैविक समुदायों के सहयोग से मिलकर बना है जो ऊर्जा रासायनिक द्रव्यों का हस्तान्तरण सुनियोजित ढंग से एक से दूसरे में करता रहता है ।

प्रकृति ही नहीं समस्त मानव जाति भी परस्पर सहकार के जीवन-चक्र में बँधी हुई है । एक की स्थिति दूसरे को प्रभावित करती है। सब की सुख-शान्ति, प्रगति, उन्नति इसी बात पर आधारित है कि हर व्यक्ति अपने को विराट परिवार का अभिन्न अंग माने, उसके विकास-अभिवर्द्धन में सहयोग दे। व्यक्तिगत स्वार्थ की भी स्थायी रूप से आपूर्ति तभी सम्भव है, जब समाज सर्वतोमुखी विकास की ओर चले । संकीर्णता जहाँ कहीं भी अंकुरित होगी विलगाव का विषवृक्ष ही पुष्पित, पल्लवित होगा। हिल-मिल कर रहने, सहयोग-सहकार की रीति-नीति अपनाने तथा उपलब्धियों के आदान-प्रदान को उदारता बरतने का संदेश मानव मात्र को प्रकृति सतत् देती रहती है।

सहयोग-सहकार से ही सम्भव है अभ्युदय

किसी प्राणी में चेतना क्षेत्र के अविकसित, अनगढ़ होने की एक ही पहचान है कि क्या वह समूहगत अनुशासन में रहने की अपेक्षा अलग रहने की, अलग पहचान बनाये रखने की चेष्टा करता है ? सम्भवत: उसको यह विदित नहीं होता कि सहयोग देने का आनन्द कितना बड़ा है और सहयोग लेने पर प्रगति का लाभ कितना अधिक मिलता है ? एकाकी रहते हुए किसी भी जीवधारी की शक्ति नगण्य होती है । वह आत्मरक्षा तक में भली प्रकार सफल नहीं हो पाता, किन्तु सम्मिलित शक्ति का लाभ मिलने लगने पर उसकी अपनी समर्थता अनेक गुनी बढ़ जाती है । एक दूसरे के कौशल से लाभ उठाते हुए शृंखला के हर घटक को असाधारण श्रेय और लाभ मिलता है ।

माला का महत्त्व तभी है, जब उसके सभी दाने एक सूत्र में पिरोये हुए हों । उनके एक-एक करके विलग हो जाने पर वे जहाँ-तहाँ बिखरने लगते हैं । उनकी संख्या बिखराव के कारण घटने लगती है और कुछ ही समय में वे खो जाते हैं । घट तो निश्चित रूप से जाते हैं ।

केंचुए अकेले रहते हैं । अपने लिए आप ही घर बनाते हैं । बिल के ऊपर मिट्टी जमा करके अपने लिए स्मारक भी आप बनाते हैं । उधर फुदकने वाली चिड़ियों के पेट में वे अकेले ही चले जाते हैं । उनके अंश-वंश का कोई रोने-गाने के लिए शेष नहीं रहता । वे अपनी जिन्दगी जीते और अपनी मौत मरते हैं । इसे कहते हैं इक्कड़ जिन्दगी । कई वन्य पशु समूह में बागी होकर इसी नीति को अपनाते हैं । फलत: उनकी निराशा-खीज बढ़कर आक्रामक निष्ठुरता में परिणत हो जाती है । वे जिसे भी सामने पाते हैं उसी पर चढ़ दौड़ते हैं । इस अंधाधुंध आक्रमण में वे सदा विजयी ही नहीं होते, बहुत बार प्रत्याक्रमणी से अपने प्राण भी गँवा बैठते हैं । मनुष्यों में से बहुतों को यही राह अपनाते देखा गया है । वे अपने मतलब से मतलब रखते हैं । किसी के काम आते नहीं तो उन्हीं की कौन सहायता करेगा ? अपने बलबूते जितना कुछ कर पाते हैं उसी से निर्वाह चलाते हैं । मिल-जुलकर रहने और आदान-प्रदान का उपक्रम चलाने का मन होता ही नहीं ? फिर आनन्द कहाँ ? उल्लास कैसा ? अभ्युदय का सुयोग बन पड़े तो क्यों कर ?

चिड़ियाँ समूह में रहती और साथ-साथ चलती हैं । उनके पराक्रम से गाँव के गाँव काँप जाते हैं । बन्दर मनुष्य के लिए हानिकारक होते हुए भी अपनी सामूहिकता के बल पर ही अपना अस्तित्व अक्षुण्ण रखे हुए हैं, जबकि सिंह जैसे बलिष्ठ अपने प्रतिद्वन्द्वी को किसी प्रकार सहन नहीं करते । फलत: वे आपस में ही लड़-कटकर समाप्त होते रहते हैं । संसार में सिंहों की संख्या तेजी से घट रही है । वह दिन दूर प्रतीत नहीं होता जब उनके दर्शन दुर्लभ हो जायेंगे । कोई कितना बलिष्ठ क्यों न हो पर सामूहिकता का अवलम्बन लिये बिना न तो प्रगति कर सकता है और न स्थिर ही रह सकता है । सिंह इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है । जड़-जगत में धागे मिलाकर कपड़ा बनाने का, दुर्बल सींकों के एकत्रित होने पर समर्थ बुहारी बनाने का, तिनके बँटे जाने पर रस्सी बनाने का उदाहरण सभी को विदित है ।

एक प्रकृति के लोग मिलकर संगठन बनाते हैं और वे सैनिकों की तरह कड़े मार्गों पर विजय पाते हैं । संगठनों के आधार पर वे कार्य सम्पन्न होते हैं, जो एकाकी प्रयास से किसी प्रकार सध नहीं पाते चाहे वह पुरुषार्थी कितना ही समर्थ क्यों न हो । राम को समुद्र पर पुल बनाने के लिए वानरों का सहयोग जुटाना पड़ा था । कृष्ण ने गोवर्द्धन उठाते समय ग्वाल-बालों का समर्थन अर्जित किया था । बुद्ध, गाँधी, ईसा जैसे महामानवों ने असाधारण रूप से लोकहित सम्पन्न किये, पर यह सब भी बन पड़ा, जब उनके साथ बड़ी संख्या में जनसहयोग प्राण-पण से जुटा था। संयुक्त परिवारों की परिपाटी निर्धन समुदायों के लोगों की भी नाव पार लगाती है । एकाकी व्यक्ति तो अपने निजु के लिये तक आवश्यक सामग्री नहीं जुटा सकता । कभी वन पर्वतों में ऋषि मुनि कंद-मूल-खाकर रहते थे । वेदियों

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

में अग्नि सुरक्षित रखकर शीत समस्या से, हिंस्र पशुओं से जूझते थे, पर अब इस प्रगति युग में वह भी सम्भव नहीं रहा । इतनी भूमि कहाँ है जिस पर कोई अकेला व्यक्ति बीज बिखेर कर अन्न का भंडार भर सके ? न कहीं इतने चरागाह शेष रहे हैं, जिनसे कोई एक गोचारण करके अपने परिवार की गुजर चला सके । पति पत्नी का सहयोगी न बने तो परिवार कैसे बने ? एक पहिए की गाड़ी कितनी दूर चले ?

संयुक्त परिवार से विलग होकर अपना अलग घर बनाने वाले आरम्भ में ही कुछ सुविधाएँ सोचते हैं, पर पीछे आड़े समय में जब अन्य सहायकों की आवश्यकता पड़ती है तब वे अपने को असहाय अनुभव करते हैं । भारी कठिनाई का सामना करते हैं, जबकि संयुक्त परिवार के लोग एक दूसरे का हाथ बँटाते, सहारा लगाते, दुर्दिन को काट लेते हैं और सहयोगजन्य आनन्द, अभ्युदय का निरन्तर लाभ लेते रहते हैं ।

सार्वजनिक संस्थाओं में भी यही बात देखी गई है । उसके सदस्यों के बीच जब तक घनिष्टता बनी रहती है तब तक लक्ष्य की दिशा में प्रगति भली प्रकार होती रहती है, प्रतिष्ठा बढ़ती है और सहयोग की कमी नहीं रहती । पर यह सब होता तभी तक है जब तक सदस्यों में से कोई अपने निज के लिए श्रेय नहीं चाहता, स्वार्थ नहीं साधता, पर जब आपाधापी का भूत सवार होता है, निजी श्रेय की आतुरता बढ़ती है, तो विघटन आरम्भ हो जाता है । प्रतिष्ठा पाने के लिए लोलुपता बरतने वाले साथियों को गिराकर अपनी गरिमा सिद्ध करना चाहते हैं । पद पाने के लिए कुचक्र रचते हैं । वरिष्ठ सिद्ध करने के लिए अपनी निजी शक्ति का प्रदर्शन करते हैं । मिलजुल कर सम्पन्न हुए कामों को अपना कौशल बताते हैं । इससे उन्हें कितनी गरिमा, कितनी प्रतिष्ठा हस्तगत होती है, इसे तो चिराग लेकर ढूँढ़ना पड़ेगा पर इतना निश्चित है कि परस्पर असन्तोष विद्रोह की चिन्गारी सुलगने लगती है । समय आते ही भयंकर विस्फोट की तरह फूट पड़ती है । उसकी चपेट में भले-बुरे, छोटे-बड़े सभी कार्यकर्त्ता आकर घाटा उठाते हैं और संगठन, अपयश का शिकार होकर अपनी समर्थता गँवा बैठता है । अनेक अच्छे-भले संगठनों को इसी कारण नष्ट होते देखा गया है कि उनके कुछ सदस्य वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षाओं के शिकार होकर आपाधापी करने और अलग पहचान बनाने लगे थे ।

गाँधीजी काँग्रेस पर इसलिए हावी रहे कि उन्होंने उस संगठन का कोई पद पाने के लिए प्रयास नहीं किया । इस कारण वे उस समूचे परिवार के अंत तक श्रद्धाभाजन बने रहे । जनता पार्टी के हाथ आया हुआ शासन समय से पहले इसलिए छिन गया कि उसमें सम्मिलित नेतागण अपनी निजी छवि बनाने के लिए आतुर हो चले थे ।

ईसाई मिशन का एक केन्द्रीय संगठन है । उसके माध्यम से संसार भर में उस अभिमत का विस्तार सफलतापूर्वक होता है । इसके विपरीत हिन्दू धर्मानुयायी अपने-अपने अलग-अलग सम्प्रदाय खड़े करने, अपने-अपने मंदिर बनाने के लिए आतुर देखे जाते हैं । जिनकी पीछे मरम्मत भी नहीं हो पाती । इसमें संस्थापकों की व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं का कौतुक देखा जाता है । हिन्दू समाज की दुर्बलता का यह एक बड़ा कारण है । जिस समुदाय में व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा सीमा से बाहर उभरती है, उसके महत्वाकांक्षी स्वयं तो नष्ट होते ही हैं, साथ ही जो एकीभूत बड़ा संगठन बन सकता था उसके मार्ग में भी आड़े बनकर खड़े होते हैं ।

सार्वजनिक सेवा के क्षेत्र में जिन्हें भी उतरना हो, उन्हें पद, अधिकार, लालच एवं यश लिप्सा से आरम्भ में ही मुँह मोड़ लेना चाहिए अन्यथा जलती माचिस स्वयं तो जलती ही है समीपवर्ती वस्तुओं का भी सफाया करती है ।

स्वर्गीय वातावरण सृजनात्मक प्रयत्नों से बनेगा

मनुष्य की मूलसत्ता सहयोगपरायण और सृजनात्मक है, इन्हीं दो मूल प्रवृत्तियों को प्रगति का आधारभूत कारण कह सकते हैं, अन्यथा शारीरिक दृष्टि से अन्य कितने ही प्राणियों की तुलना में उसका पिछड़ापन स्पष्ट है । मानसिक विकास सहकारिता का परिणाम है; अन्यथा चतुरता और कुशलता की दृष्टि से सहस्रों जातियों के प्राणी उससे आगे हैं और कितनी ही क्षमताओं में बाजी मारते हैं ।

सहकारिता की प्रवृत्ति ने मिल-जुलकर कबीले बनाये, परिवार बसाये, समाज की संरचना की, उत्पादन बढ़ाया, अर्थतन्त्र खड़ा किया और शासन की स्थापना की । सुरक्षा, कृषि, उद्योग, शिक्षा, संस्कार आदि कितनी ही गतिविधियों का सृजन संचालन हुआ । ज्ञान-विज्ञान के अनेकों स्रोत उभरे और उपार्जन के अनेकों स्रोत उभरे, विनोद, कला, धर्म, अध्यात्म, भाषा, साहित्य आदि को सहकारिता का ही अनुदान कहा जा सकता है ।

सृजन की वैसी सुविकसित प्रवृत्ति और किसी प्राणी में नहीं पाई जाती जैसी कि मनुष्य में । अन्य प्राणी अपने निवास स्थल का निर्माण करने भर की सीमा में इस प्रवृत्ति का यत्किंचित परिचय दे पाते हैं; किन्तु मनुष्य ने शरीर-सुविधा से आगे बढ़कर अनेकों प्रकार के सृजन प्रस्तुत किये हैं; । भाषा, साहित्य, संगीत, कला जैसे कार्य ऐसे नहीं हैं जिनके बिना उसका दैनिक निर्वाह सम्पन्न न हो सके । विज्ञान के छोटे-बड़े आविष्कार, शोध प्रयोजनों में संलग्न रहकर उसने प्रकृति की सूक्ष्म शक्तियों को खोज निकाला है और थल से आगे बढ़कर जल में, आकाश में अपनी गति बनाई है । आदिमकाल की ऊबड़-खाबड़ धरती आज सुरम्य उद्यान की तरह सजी पड़ी है । प्रकृति के सौन्दर्य को निखारने और उसे कामधेनु की तरह अनेकानेक अनुदान देने की वर्तमान स्थिति तक पहुँचाने में मानवीय श्रम एवं

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

कौशल का ही नियोजन हुआ है । उद्योग, व्यवसाय, समाज, शासन, शिक्षा, कला, विज्ञान, संचार, वाहन जैसे अनेकों ऐसे क्षेत्र प्रगति के उच्च शिखर पर जा पहुँचे हैं, जिनका आदिम काल में अता-पता भी नहीं था । तब इनकी कल्पना तक सम्भव नहीं थी । यह सब मानवीय सृजन शक्ति का चमत्कार ही कहा जा सकता है ।

सहयोग और सृजन के आधार पर साधनों की असीम अभिवृद्धि हुई है । वे इतने समर्थ हैं कि जहाँ भी उनका उपयोग किया जायगा, वहीं चमत्कार उत्पन्न होगा । इस तथ्य को समझते हुए हमें इस निर्णय पर पहुँचना चाहिए कि इन्हें मात्र साधन सम्वर्द्धन तक सीमित न रखकर उस क्षेत्र के लिए भी प्रयुक्त किया जाय जो सुख-शान्ति का वास्तविक आधार है । मनुष्य साधन नहीं, साधन तो उसकी सुविधा के लिए प्रयुक्त होते हैं । सुविधाओं का जो उपयोग करता है, वह चेतन ही मनुष्य की मूल सत्ता है । इसे सुविकसित बनाये रहने के लिए कुछ ऐसी आधारभूत आवश्यकताएँ हैं, जिनकी पूर्ति होनी ही चाहिए, अन्यथा साधनों का सदुपयोग होने के स्थान पर दुरुपयोग होने लगेगा और सम्पत्ति सम्वर्द्धन के लिए किया गया श्रम उलटा शोक-सन्ताप उत्पन्न करने लगेगा । चेतना का स्तर परिष्कृत करने का तात्पर्य है मनुष्य की आस्थाओं, आकांक्षाओं एवं विचारणाओं को उत्कृष्टता के आदर्शों के साथ जोड़ देना । इस विकास के सहारे ही उसकी दिशा-धारा बनती है ।

'दि कन्स्ट्रक्शन ऑफ ह्यूमनिटी' के लेखक विचारक पितिरिम सोरोकिन ने लिखा है "जनचेतना का प्रवाह जिस दिशा में बह रहा है, उसे उलटना अपने युग की सबसे बड़ी आवश्यकता है । मनुष्य की स्वार्थान्धता उसे उन नैतिक मूल्यों से विरत कर रही है जिनके कारण व्यक्ति का सुसंस्कृत और समाज का समुन्नत बने रह सकना सम्भव हुआ है । नैतिक मूल्यों को गँवा देने के उपरान्त प्रस्तुत साधनों का सदुपयोग सम्भव न हो सकेगा । वैभव विपत्ति उत्पन्न करेगा । बढ़ी हुई बुद्धि भ्रम और अनाचार फैलाने के काम आयेगी । विलास और अहंकार द्वारा विनिर्मित वातावरण ऐसा होगा, जिसमें पशुता भर जीवित रह सकती है, मनुष्यता का दम ही घुट जायेगा ।"

दार्शनिक बट्रेण्ड रसेल इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मनुष्य के चिन्तन और रुझान में आमूल-चूल परिवर्तन होना चाहिए । प्रचलित मान्यताओं में बहुत थोड़ी ऐसी बच गई हैं, जिनमें बदली हुई परिस्थितियों को देखते हुए प्रगति में सहायक और शान्ति की संरक्षक कहा जा सके । यदि इस पुनर्निर्माण की ओर ध्यान न दिया गया तो वैयक्तिक विद्वेष और सामाजिक कलह बढ़ते ही चले जायेंगे । इन अवांछनीयताओं की अभिवृद्धि से विनाश ही प्रस्तुत होगा । बढ़े हुए सुख-साधनों से भी पतन की दुःखदायी प्रतिक्रिया को रोका न जा सकेगा ।

पुनर्निर्माण का अर्थ है-चिन्तन और रुझान का परिवर्तन । अनौचित्य के परित्याग और औचित्य को स्वीकार करने का नये सिरे से साहस भरा प्रयास । अपराध और अनाचार का वातावरण बनाने वाली बुद्धि के लिए क्या यह सम्भव नहीं कि वह अपनी गतिविधियाँ सुधारे तो मनोयोग तथा श्रम प्रयत्न को उन कामों में लगाये जिनसे वैचारिक श्रेष्ठता और व्यावहारिक शालीनता का अभ्यास प्रयोग में आने लगे । जिस प्रकार आज एक-दूसरे से निष्कृष्टता का प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं, उसी तरह बदली हुई परिस्थितियों में एक-दूसरे की सद्भावना का भी अनुकरण करने के लिए उत्साह ग्रहण कर सकते हैं । भुखमरी, बेकारी, बीमारी, अशिक्षा एवं पिछड़ेपन से ग्रसित असंख्य मानवों को सुयोग्य एवं सम्पन्न व्यक्तियों की सहायता पग-पग पर चाहिए । क्या सृजन और सहयोग का द्वार उनके लिए नहीं खुल सकता?

संहारक मानव बढ़ रहा है । ध्वंस के लिए साधन झोंक रहा है और बुद्धि कौशल को पूरी तरह उसमें जुटाया गया है । क्या सृजन का देवता उस संहारक को चुनौती नहीं दे सकता ?

आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य को इस बात का बोध कराया जाय कि उसकी क्षमताएँ निर्वाह के साधन जुटाने तक सीमित नहीं हैं । उसमें सृजनात्मक सामर्थ्य के अकूत भण्डार भरे पड़े हैं । उन्हें प्रसुप्त से जाग्रत स्थिति में लाना है । बिखराव को समेटना है और अस्त-व्यस्तता को क्रमबद्ध बनाना है । सुख की आकांक्षा स्वाभाविक है, पर उसकी उपलब्धि का स्तर ऊँचा उठाना चाहिए । हममें इन्द्रिय तृप्ति, संग्रह की कृपणता और दूसरों को छोटा सिद्ध करके बड़प्पन पाने की अहंता यही है । वह अभिलाषाएँ जिन्हें पूरा करने में सुखानुभूति मिलने की बात सोची जाती है । सोचने का स्तर ऊँचा उठाया जा सके तो दृष्टिकोण में आदर्शवादी उत्कृष्टता समन्वित करने का गौरव अनुभव किया जा सकता है । यह सन्तोषजनक भी होगा और दूसरों का भाव भरा सहयोग प्राप्त करने में समर्थ भी । दृष्टिकोण में इस प्रकार का परिवर्तन हो सके तो सुख के लिए प्रतीक्षा न करनी पड़ेगी, वरन् प्रस्तुत स्थिति में ही तत्काल आनन्दानुभूति की मात्रा बढ़ती दिखाई देगी ।

सबसे बड़ी बात है, सृजनात्मक चिन्तन और जीवन को उसके सम्पर्क क्षेत्र को अधिक समुन्नत बनाने वाले प्रयासों एवं साधनों का अभिवर्द्धन । मानवीय गतिविधियों का प्रवाह यदि अपव्यय से हटाकर सृजन में नियोजित किया जा सके तो समय की कुरूपता को भविष्य के स्वर्गीय सौन्दर्य में बदल देना सहज सम्भव हो सकता है ।

देश, धर्म, समाज और संस्कृति के लिए कुछ करें

वे वयोवृद्ध व्यक्ति जिनके ऊपर से कमाने-धमाने की जिम्मेदारी चली गई है, बच्चे परिवार की व्यवस्था सँभाल लेते हैं उन्हें अपने अधिकांश समय को राष्ट्रीय जागरण के लिए लगाना चाहिए । आज की परिस्थितियों में ईश्वर की सबसे उत्तम भक्ति और आत्म-कल्याण की सर्वश्रेष्ठ साधना यही हो सकती है कि इस देवभूमि भारत को धरती का स्वर्ग बनाने के लिए जन-जन में विवेकशीलता एवं आदर्शवादिता की भावनाएँ उत्पन्न की जायें । इस साधना में लगे हुए वयोवृद्ध व्यक्ति अपना लोक-परलोक सुधारेंगे, आत्म-कल्याण और ईश्वर प्राप्ति का लाभ प्राप्त करेंगे तथा

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

देश, धर्म, समाज एवं संस्कृति के पुनरुत्थान में योगदान देकर अक्षय पुण्य अर्जित करेंगे ।

यों घर में कुछ न कुछ काम तो सदा ही लगा रहता है, पर राष्ट्र के नवनिर्माण का कार्य भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है । इस आड़े समय में तो सब काम छोड़ कर भी उसे प्रधानता दी जानी चाहिए । फिर अवकाशप्राप्त वयोवृद्ध तो घर वालों की बिना कुछ हानि किये ही अपने अनुभवी व्यक्तित्व का बहुत कुछ लाभ जनता को दे सकते हैं ।

जो कई भाई हैं, उनमें से एक को समाज-सेवा के लिये देना चाहिए । शेष भाई उसके पारिवारिक उत्तरदायित्वों का वहन करें और उसे निश्चिन्ततापूर्वक समाज-सेवा करने दें । जिस प्रकार युद्ध के लिये कितने ही परिवारों ने अपने यहाँ से एक-एक सैनिक दिया है, उसी प्रकार धर्म-परायण लोग भी अपने घरों से एक-एक सुयोग्य प्रतिभाशाली व्यक्ति धर्म-सेना में भर्ती होने के लिये दें । जिनका धर्म से सीधा सम्बन्ध नहीं है, वे शौर्य और देशभक्ति से प्रेरित होकर अपने घरों के नौनिहालों को गोलियों का सामना करने के लिये भेज सकते हैं, तो जो लोग धर्म, ईश्वर, अध्यात्म, ज्ञान, वैराग्य आदि की लम्बी-चौड़ी बातें करते हैं, उन्हें गोली के सामने न सही तो समाज-सेवा के लिये तो अपने परिवारों से एक-एक व्यक्ति देना ही चाहिए ।

जिन लोगों के पास आजीविका के साधन मौजूद हैं, जमीन या पैसा किराये पर उठाकर जो लोग अपना खर्च चलाने की स्थिति में हैं, उनके लिये यही उचित है कि अब अधिक कमाई के संग्रह करने, जोड़ने और बढ़ाने के कुचक्र में न फँसें । अगला समय ऐसा आ रहा है, जिसमें वैयक्तिक धन अधिक मात्रा में किसी के पास भी न रहेगा । गुजारे-भर के लिये सामान्य लोगों की सी साधन-सामिग्री रह जायेगी, ऐसी दशा में जो लोग पूँजी बढ़ाने और भविष्य के लिये दौलत जोड़ने की सोचते हैं, वे भारी भ्रम में हैं । शहद की मक्खी की तरह अनावश्यक श्रम दूसरों के लिये धन कमाने में खर्च किया जाय तो इसकी अपेक्षा यही उत्तम है कि जब गुजारे की व्यवस्था है तो अपना समय और श्रम लोक-मंगल के लिये ही क्यों न खर्च किया जाय ?

साधु-ब्राह्मणों का तो यह एक परम पवित्र कर्त्तव्य है कि इस समय जिस धर्म का आश्रय लेकर वे अपनी आजीविका चलाते हैं और पूजा सम्मान प्राप्त करते हैं, उस धर्म की रक्षा के लिये उन्हें कुछ काम भी करना चाहिए, कुछ कष्ट भी उठाना चाहिए । आज जबकि धर्म संकट में है, देश की सुरक्षा एवं प्रगति का प्रश्न है, तब तो उन्हें उन आदर्शों को परिपुष्ट करने के लिये अपना समय लगाना ही चाहिए । ऐसी विषम परिस्थितियों में भी वे दक्षिणा बटोरने और पैर पुजाने का ही धन्धा करते रहे, कर्त्तव्यों को तिलांजलि दिये बैठे रहे तो आगामी पीढ़ियाँ उन्हें क्षमा न करेंगी । उन्हें धर्मध्वजी होने का सम्मान तो दूर, सामान्य नागरिक स्तर पर भी उन्हें न गिना जायेगा । उनकी आज की अकर्मण्यता भविष्य में साधु-ब्राह्मण संस्था का ही महत्त्व एवं गौरव समाप्त कर देगी । इसलिये उन्हें तो समय रहते चेत ही जाना चाहिए ।

हर नागरिक के पास कुछ समय रहता है । आजीविका कमाने और शरीर यात्रा के दैनिक कार्यों के अतिरिक्त हर व्यक्ति के पास कुछ समय बचता है । यदि बचता न होता तो गपशप, यारबाजी, सिनेमा, शतरंज, ताश, यात्रा, मेले-ठेले आदि के लिए समय कहाँ से मिलता है ? लेखा-जोखा लेने पर हर आदमी के पास कुछ न कुछ ऐसा समय जरूर मिलेगा, जिसे वह नित्य-कर्म और रोटी कमाने के अतिरिक्त अपनी मन-मर्जी के कामों में लगाता है । यह मन-मर्जी यदि हलके और ओछे कामों में न लगे, जन-जागरण और नव-निर्माण के रचनात्मक कामों में लगे तो व्यस्त से व्यस्त व्यक्ति भी इतना कार्य कर सकता है, जिस पर वह आत्म-सन्तोष और आत्म-गौरव अनुभव कर सके । आवश्यकता केवल अभिरुचि बदलने भर की है । दूसरों को उपदेश करने या आलोचना करने की अपेक्षा अब अपने को रचनात्मक कार्य करने में संलग्न करना चाहिए और अपनी आदर्शवादिता की सच्चाई को प्रमाणित करना चाहिए । जिनमें आदर्शवादिता के प्रति आस्था एवं ममता है, जो उसे बढ़ते और आकर्षित होते देखना चाहते हैं, उन्हें अपने समय का एक अंश राष्ट्रीय पुनरुत्थान के लिये, कुछ करने के लिये लगाना ही चाहिए। साधारण नागरिक होने पर भी यदि कुछ भावना हो, तो हर व्यक्ति बहुत कुछ कर सकता है और आज ऐसा समय है जबकि कुछ न कुछ हर व्यक्ति को करना ही चाहिए ।

अखण्ड-ज्योति परिवार में जितने भी व्यक्ति हैं, उनमें से उपरोक्त परिस्थितियों के कितने ही व्यक्ति होंगे । उन्हें अब अलसाये मन से नहीं वरन् भावनापूर्वक वस्तुस्थिति को समझना चाहिए और देश-काल को देखते हुए अपना समय और शक्ति का कुछ न कुछ भाग लगाने के लिये कटिबद्ध हो ही जाना चाहिए ।

यों समस्त देशवासियों के सामने अपनी देश-भक्ति का परिचय देने का अवसर है, पर अखण्ड-ज्योति परिवार से सम्बद्ध व्यक्तियों ने गत वर्षों में जो शिक्षा प्राप्त की है, उसे वस्तुत समझा अपनाया है या नहीं ? इसकी परख का ठीक यही वक्त है । प्रस्तुत समय की चुनौती को अस्वीकार कर हमें अपना खोखलापन प्रमाणित नहीं करना चाहिए ।

ईसाई धर्म की जड़ें गहरी कैसे जमीं ?

धर्म-संस्थापकों एवं प्रचारकों में ईसा का अपना अनोखा स्थान है । उनकी जीवनी पर गम्भीरतापूर्वक दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि उन्होंने पारलौकिक काल्पनिक लाभों की विवेचना में अपना बहुत समय नहीं लगाया और न उस सम्बन्ध में विशेष रूप से प्रवचन-परामर्श ही दिया वरन् सामयिक प्रचलन में जो दुष्प्रवृत्तियाँ

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

भरी पड़ी थीं उनके विरुद्ध उन्होंने जनमानस को जगाया और सम्पर्क क्षेत्र के प्रभावित लोगों को उन बुराइयों से बचने और जूझने की प्रेरणा दी ।

यही कारण था कि रूढ़िवादी, प्रतिगामी, अनाचारी धर्म के लोग उन्हें तरह-तरह की धमकियाँ देते रहे और भर्त्सना भरा विरोध करते रहे । यों उन्होंने अपनी ओर से ऐसा कुछ नहीं किया था जिससे दूसरों को चोट पहुँचती हो, पीड़ा पहुँचती हो । नम्रता और सज्जनता को भली प्रकार अपनाये रहने वाला व्यक्ति ऐसा कुछ कर ही नहीं सकता, जिसमें आक्रमण, प्रतिशोध एवं द्वेष का समावेश हो । ईसा का व्यक्तित्व इन सभी दोष-दुर्गुणों से बचा हुआ था । उनका आचार, व्यवहार ऐसा नहीं था, जिसमें जादू-चमत्कारों का समावेश करके लोगों को अपनी ओर आकर्षित करने की कला का समावेश हो । उन्होंने लोक-सेवा का व्रत अपनाया और उसी में आजीवन लगे रहे ।

ईसाई धर्म के आदि संस्थापक महाप्रभु ईसा अत्यन्त निर्धन और विपन्न स्थिति में जन्मे । कुमारी माता के पेट से जन्मने के कारण वे लोकापवाद का निमित्त कारण भी बने हुए थे । अत: बचपन में माता-पिता के साथ जहाँ-तहाँ घूमना पड़ा । इन विपन्न परिस्थितियों में उन्हें शिक्षा की सुविधा भी न मिली । सुख-सुविधा के साधन तो ऐसी दशा में मिलते ही कहाँ से ? समझा जाता है कि उन्हीं कारणों से व्यक्ति सरलतापूर्वक उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँचते हैं । ईसा इसके अपवाद थे । उन्होंने अपनी सत्यनिष्ठा, व्रतशीलता, सादगी, मिलनसारी और सेवा-भावना के आधार पर सम्पर्क क्षेत्र की जनता के मन में असाधारण स्नेह और सद्भाव के अंकुर उगाये ।

ईसा ने धर्म प्रचार के लिये लम्बी यात्राएँ नहीं कीं। वे अपने जन्म स्थान से प्राय: दो सौ मील की परिधि में ही क्रियारत रहे । सत्य-अहिंसा जैसे उच्च आदर्शों के प्रति उनके अन्तराल में इतनी गहरी निष्ठा थी कि उनके द्वारा किया जाने वाला प्रत्येक कार्य अनुकरणीय एवं अभिनन्दनीय ही होता था । उनका चरित्र बोलता था । वाणी के हर शब्द में शालीनता ही टपकती थी । उसे जो भी सुनता प्रतिपादनों को स्वीकार करने की तुलना में उनके व्यक्तित्व का अनन्य भक्त बन जाता ।

ईसा पारिवारिक झंझटों में नहीं फँसे । उनने माता-पिता को भी स्वावलम्बी जीवन के लिए समुचित दबाव देकर तैयार किया। विवाह की बात उन्होंने सोची ही नहीं। इतना अवकाश भी न था कि परिवार के निर्वाह के लिए अनेकानेक आवश्यकताओं को जुटाते रहें और साथ ही वंश वृद्धि का कुम्हार के चाक जैसा चाक घुमाते रहें ।

उन दिनों संसार के अन्य प्रदेशों की तरह ईसा के कार्य-क्षेत्र में भी नशेबाजी का बोलवाला था । उस कुटेव से बाल-वृद्ध सभी ग्रसित थे । ईसा ने इस दुष्प्रवृत्ति के कारण होने वाली हानियों का इस भाव सम्वेदना के साथ प्रचार किया कि अभ्यस्त आदमियों में ऐसे भी असंख्यों थे, जिन्होंने अपनी उस कुटेव को सदा सर्वदा के लिए छोड़ देने का साहस दिखाया । यह समझदारी एक से दूसरे को पकड़ती गई और नशेबाजी के विरुद्ध एक समर्थ मुहिम खड़ी हो गई ।

सामन्ती अधिनायकवाद में आये दिन लड़ाइयाँ होती थीं । उनका कारण समस्यापरक न था । लुटेरों का गिरोह बनाकर समीपवर्ती क्षेत्र पर वे अधिनायक चढ़ दौड़ते थे जो राजा-प्रजा की सम्पदा को मार-काट का आतंक मचाते हुए लूट लेते थे । इसी में युवकों और युवतियों को पकड़ लाना भी एक काम था । यह पकड़े हुए युवक-युवती सरे बाजार जानवरों की तरह बेचे जाते थे । गुलाम-प्रथा का बोलबाला था । पालतू पशुओं जैसा काम उनसे लिया जाता था । इस कुप्रचलन के विरुद्ध भी ईसा ने वातावरण तैयार किया । गुलामों को आजाद करने और दूसरों से कराने का कार्य ईसा ने जनसाधारण का भाव सम्वेदन जगाकर ही बहुत हद तक पूरा कर लिया था, जबकि बिना विद्रोह किए आक्रमण का जवाब आक्रमण में देने के अतिरिक्त सामान्यजनों को कोई और उपाय सूझ नहीं पड़ रहा था । ईसा का भावनात्मक उभार उन कठोर तरीकों की अपेक्षा कहीं अधिक कारगर सिद्ध हुआ ।

रोगियों की, पीड़ितों की, सताए हुए लोगों की सेवा करने में, उनके घावों पर मरहम लगाने की उन्हें व्यावहारिक औपचारिक ही नहीं भावनात्मक क्रिया-प्रक्रिया का भी उन्हें ज्ञान था । अपनी इस विभूति का उन्होंने भरपूर प्रयोग किया । रोगी उनके पास दौड़ते हुए चले आते। वे जहाँ उनकी दयनीय दुर्दशा सुन पाते दौड़े जाते । जो उपाय सूझता उसे करते । श्रद्धा विश्वास की अपनी प्रतिक्रिया प्रकट होती । प्रयोक्ता की करुणा भरी सेवा भी अपना चमत्कार दिखाती । इसका परिणाम यह होता कि उनके सम्पर्क में आने वालों में से अधिकांश रोग मुक्त हो जाते । जो लाभान्वित होते, वे दूसरों से प्रशंसा करते । फलस्वरूप उस सेवा भरी चिकित्सा परिचर्या की ख्याति फैलती गई और वे 'मसीहा' (त्राता) समझे जाने लगे । अगणित व्यक्ति थोड़े ही समय में उनके अनुयायी बन गये । यों विधिवत् दीक्षा लेने वालों में से तो थोड़े ही व्यक्ति थे । उनमें से भी एक ने लोभवश धोखा दिया और झूठी चुगली करके जेल में बन्द करवा दिया ।

उन्होंने अमीरों को गरीबों की तरह रहने के लिए सहमत किया और अपनी दौलत वहाँ लगाने के लिए उद्यत किया, जहाँ उसकी आवश्यकता थी । अमीर और गरीब के बीच के भेदभाव की किस प्रकार अभिलाषा भड़कती है और ईर्ष्या का दौर पड़ता है । यह दोनों ही पक्षों के लिए हानिकारक है । वजन से लदा हुआ जानवर जिस प्रकार दबता, खिंचता और कराहता है उसी प्रकार दौलत जिस पर लदती है, उसको चिन्ताओं-व्यसनों में डुबा देती है । इसलिए उसका वितरित करते रहना ही उत्तम है । ईसा के उन प्रवचनों ने जादू जैसा काम किया और व्यस्त लोगों को स्वार्थ प्रयोजनों में जकड़े हुए लोगों को धर्मपरायण और लोकसेवी बना दिया ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

ईसाई पादरियों और महिला ननों की परम्परा ईसा की उसी शिक्षा का प्रतिफल है । इन दिनों इन दोनों प्रकार के धर्म प्रचारकों की संख्या लाखों में है । वे विश्व के कोने-कोने में फैले हुए हैं । उन्होंने पिछड़े दरिद्र लोगों के बीच डेरे डाले हैं । उन्हें शिक्षित और सुयोग्य बनाने के लिए भरपूर काम किया है । जो जहाँ बैठा वह वहाँ मन लगाकर जड़ें जमाकर रहा है । ईसाई धर्म की वर्तमान प्रगति का यही कारण है। उसका उत्थान न राजाश्रय से हुआ न डराधमका कर धर्म-परिवर्तन के लिए विवश किया गया । इतने पर भी विस्तार होने की तूफानी गति को देखते हुए यही कहा जा सकता है कि इन धर्म प्रचारकों के निजी जीवन की पवित्रता और उपदेशों के साथ सेवा-सहायता का सम्मावेश वह तथ्य है जिसके कारण लोगों के मनों में उस क्षेत्र के कार्यकर्त्ताओं के प्रति गहरी सहानुभूति है । भले ही वे उनके धर्म में दीक्षित न हुए हों । विज्ञ समाज में ईसा का ईश्वर पुत्र होना और समुदाय में प्रवेश करने वालों के पाप ओढ़ना उतना प्रामाणिक नहीं है जितना कि समय और सेवा की परम्परा का क्रियान्वयन । किसी भी धर्म सम्प्रदाय तथा संस्कृति के प्रतिपादकों का निजी जीवन कैसा होना चाहिए, यह ईसा के उदाहरणों से सीखा जा सकता है ।

धर्म की विडम्बना नहीं सच्ची सेवा करें

पश्चिम जर्मनी में चर्चों के केन्द्रीय सहायता ब्यूरो की २४वीं वर्षगाँठ मनाते हुए चांसलर हेलमूट के मिशन के प्रति समर्पित जीवन की प्रशंसा की गई और उनका सार्वजनिक अभिनन्दन किया गया ।

द्वितीय महायुद्ध के बाद ब्यूरो ने संसार के पिछड़े लोगों की सहायता के लिए इस संस्था की स्थापना की। ईसाई धर्म की अभिवृद्धि परोक्ष प्रयोजन था । प्रत्यक्ष कार्यों में लोकहित के कार्यों को ही आगे रखा गया और निर्धारित क्षेत्र में उन योजनाओं को अग्रगामी बनाने के लिए प्राय: चार हजार कार्यक्रम बनाये गये, इन सभी के लिए सेवाभावी लोकसेवी पादरियों के रूप में आगे आये। वे सभी सुशिक्षित वर्ग से आये थे और सस्ता गुजारा लेकर काम करने के लिए व्रतशील थे । इनकी संख्या प्राय: एक लाख थी ।

इन योजनाओं के लिए धनराशि का भी समुचित प्रबन्ध किया गया और वह यथोचित रूप में खर्च भी हुई ।

प्रस्तुत विवरण के अनुसार मात्र पश्चिम जर्मनी के द्वारा जो कार्य हुआ उनका विवरण तथा खर्च हुई राशि का ब्यौरा बताया गया । इसके अनुसार तीसरी दुनिया के पिछड़े वर्ग के लिए ६०० करोड़ मार्क अर्थात् २४०० करोड़ रुपया इन योजनाओं की पूर्ति के लिए खर्च किया गया । इसमें से २२० करोड़ मार्क (८८० करोड़ रुपया) पश्चिम जर्मन सरकार ने दिया और शेष जनता से एकत्रित किया गया। यह राशि स्वास्थ्य, शिक्षा, चिकित्सा, बाल कल्याण, महिला कल्याण, गृह उद्योग जैसे रचनात्मक कार्यों में खर्च की गई । ईसाई धर्म का प्रचार कार्य तो परोक्ष रूप में इन कार्यक्रमों के साथ जुड़ा रहा । केवल चर्च या प्रचार के लिए नियुक्त पादरियों पर खर्च की गई राशि अन्य कार्यक्रमों की तुलना में बहुत न्यून थी ।

सम्मेलन में उपस्थित लोगों ने इन कार्यों का स्वरूप और क्षेत्र बढ़ाने के लिए अधिक साधन जुटाने और अधिक परिश्रम करने का वचन दिया । पश्चिम जर्मनी सरकार के प्रतिनिधि ने अपनी सरकार की कठिनाइयों का विवरण बताते हुए कहा वह इन समस्याओं के रहते हुए भी इस सहायता को न केवल जारी रखेगी वरन् और भी अधिक राशि देने का प्रयत्न करेगी ।

कहना न होगा कि मिशन के इन कार्यों से धर्म का उच्च उद्देश्य जनसाधारण की समझ में आता है । वरन् इस निमित्त खर्च किये गये दान धन के सदुपयोग पर हर्ष भी होता है और गर्व भी ।

विचारणीय है कि द्वितीय महायुद्ध में परास्त और विभाजित एक देश ने धर्म का वास्तविक स्वरूप किस प्रकार जनसाधारण के सम्मुख उपस्थित किया और तीसरी दुनिया के देशों की सेवा करते हुए सहानुभूति अर्जित की । यह एक देश का विवरण है । अन्य ईसाई देशों में धर्म के नाम पर नहीं धर्म के निमित्त जो श्रम समय, मनोयोग तथा धन खर्च किया जा रहा है वह इससे अलग है ।

अपने देश की स्थिति का अवलोकन और मूल्यांकन किया जाय तो धर्म मात्र गाल बजाने की वस्तु रह गया है और तथाकथित सत्संगों तथा सम्मेलनों के नाम पर अधिकांश धन व्यय होता है । तीर्थ-यात्रा, पूजा पाठ के नाम पर किये गये दान का आधा भाग खर्च हुआ समझा जा सकता है । यहाँ अपने देश में पादरियों (धर्मजीवियों) की संख्या ६० लाख है । अर्थात् पश्चिम जर्मनी की तुलना में साठ गुनी अधिक । देश छोटे देहातों में बिखरा हुआ है इसमें गाँवों की संख्या ७ लाख है । एक गाँव के पीछे साढ़े आठ पादरी आते हैं । इनका काम अपने निज के लिए धन और सम्मान बटोरते रहना है । यह रंगीन कपड़े पहन लेने, घर- परिवार की जिम्मेदारियाँ छोड़ देने, भजन करने की आड़ में सारा समय आलस्य और प्रमाद में बिता देने के निमित्त खर्च होता है । प्रवचन भी कभी करते हैं तो निरुद्देश्य कथा-कहानियाँ सुनाकर जनता को यह बताते हैं कि इनके मुँह से मात्र भगवान् की कृपा बरसेगी ।

पश्चिम जर्मनी द्वारा अनेक देशों में सेवा-सहायता कार्यों के लिए जो राशि खर्च की जाती है भारत में उससे कहीं अधिक धन धर्म के नाम पर खर्च होता है । तीर्थयात्रा और मन्दिरों की पूजा-पत्री को ही अपने यहाँ धर्म माना जाता है और भगवान् की प्रसन्नता उपलब्ध कराने के नाम पर उनके एजेण्ट बनने वाले गुलछर्रे उड़ाते और सम्पर्क में आने वालों को भ्रम-जंजाल में फँसाते हैं । इतने पर भी धर्मभीरु जनता बिना विवरण और प्रतिफल का लेखा-

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

जोखा लिए मुक्त हस्त से धन खर्च करती रहती है और उसे दान-पुण्य मानती है ।

अपने देश में रचनात्मक काम करने के लिए इतने अधिक काम पड़े हैं कि किसी धर्म-प्रेमी को एक साँस खाली बिताने और निरर्थक गाल बजाने के लिए नहीं मिलनी चाहिए । अपने देश का अनुसूचित वर्ग तो अब क्रमशः अपने पैरों खड़ा होता जा रहा और साधारण ग्रामीण कृषकों के स्तर का जीवन बिता सकने की स्थिति में पहुँचता जा रहा है, पर तीन करोड़ के करीब वनवासी अभी भी ऐसे हैं जो खरगोश, कबूतर मारने और लकड़ी घास बेचने जैसे काम करके गुजारा करते हैं । उनके पास सही खाना और सही कपड़ा पहनने तक का प्रबन्ध नहीं है । वे समाज में घुलते नहीं, समाज उन्हें घुलाता नहीं फलतः आदिकाल जैसे रहन-सहन से ऊँचा उठ पाना उनके लिए सम्भव नहीं हो पाता । इनके साथ लगने वाले कुछ लोग हों तो निर्वासिनी की अपेक्षा साधारण ग्रामीण स्तर का निर्वाह करने योग्य इन्हें बनाया जा सकता है ।

अपने देश में मात्र ३० प्रतिशत शिक्षित हैं । ७० प्रतिशत अशिक्षित हैं । इनमें अधिकांश प्रौढ़ हैं । अशिक्षा और गरीबी के कारण ही गई-गुजरी स्थिति में जीते हैं । इन्हें शिक्षित करने के लिये पुरुषों की रात्रि पाठशालाएँ और महिलाओं की अपरान्ह शालाएँ चलाई जा सकें तो अशिक्षा का अभिशाप सहज ही दूर हो सकता है । गाँवों में तनिक-सा बुढ़ापा आते ही शिक्षित लोग इधर-उधर बैठने, गपबाजी करने में समय बिताते हैं । उनसे दो-दो घण्टे का समय इन प्रौढ़ पाठशालाओं में पढ़ाने के लिए अनुरोध करके सहज ही प्राप्त किया जा सकता है । गाँव-गाँव व्यायामशालाएँ चल पड़ें तो नई पीढ़ी में स्वास्थ्य के प्रति नया दृष्टिकोण आ सकता है और लाठी चलाने जैसी शिक्षा साथ रहने से साहस का संचार हो सकता है ।

देश में एक करोड़ के करीब अन्धे और ५० लाख के करीब कोढ़ी हैं । इनके लिए चिकित्सा की थोड़ी व्यवस्था हो सके तो अन्धे लोग ठीक हो सकते हैं । जो ठीक नहीं हो सकते उन्हें एक जगह रहकर छोटा-मोटा काम करा के स्वावलम्बी बनाया जा सकता है । इनके लिए आर्थिक व्यवस्था में जो कमी पड़े, वह साधन-सम्पन्न लोगों से एकत्रित की जा सकती है । बाबा साहब आम्टे अपंगों के लिए अपने प्रयत्न से एक शानदार संस्था चला रहे हैं । शेखावाटी के स्वामी विवेकानन्द ने मुट्ठी-मुट्ठी अनाज संग्रह करके उस समूचे क्षेत्र में पाठशालाएँ खुलावाई थीं । स्वामी ब्रह्मानन्द तथा बाबा दूधाधारी अपने-अपने क्षेत्र में माँग-जाँचकर ही कालेज खुलवा चुके हैं । गुजरात के मोटा महाराज ने प्राथमिक पाठशालाएँ खुलवाने में आश्चर्यजनक सफलता पाई थी ।

जब भीलों के गुरु गहरबी बाबा ने पुश्तों से अभ्यस्त आदिवासियों का मद्य-माँस छुड़ाकर उन्हें कण्ठी पहना दी तो कोई कारण नहीं कि धूमधाम के विवाहों को दहेजों को मिटाने के लिए प्रबल आन्दोलन खड़ा न किया जा सके और इस कारण समूचे समाज की जो भयंकर बर्बादी हो रही है उससे पीछा छुड़ाया जा सके । गाँधीजी ने विदेशी वस्त्र और शराब की दुकान पर धरना धरने का आन्दोलन चलाया था । आज दहेज वाले विवाह के विरुद्ध उससे भी बड़ा आन्दोलन खड़ा करने की आवश्यकता है । मृतक भोज भी इसी किस्म की कुरीति है जिसे मिटाया जाना चाहिए । कानून बन जाने पर भी बाल विवाह चल रहे हैं, उन्हें बन्द कराया जाना चाहिए ।

सशक्त आन्दोलन की बात ही यदि हाथ में लेनी हो तो जाति-पाँति के सहारे चलने वाली ऊँच-नीच और स्त्रियों को पर्दे के पिंजड़े में कैद रखे जाने की प्रथा भी ऐसी है, जिन्हें अपने समाज का अभिशाप ही कहना चाहिए । हट्टे-कट्टों का धर्म के नामं पर अपनाया जाने वाला भिक्षा व्यवसाय भी ऐसा है जिसे झंझट उठाकर भी समाप्त करना चाहिए ।

वन कटते जाने से लेकर प्रदूषण तक की खराबियाँ बढ़ रही हैं । हजारों किसानों ने अपने बलबूते बिहार में एक हजार आम के उद्यान लगा दिये तो कोई कारण नहीं कि समाजसेवा या धर्मसेवा का व्रत लेकर हम इन कार्यों में प्रगति न कर सकें । ईंधन के अभाव में गोबर गैस जैसी सस्ती व्यवस्था हर गाँव में कराई जा सकती है और ईंधन का खर्च जो लगभग अनाज जितना ही पैसा खर्च करा लेता है उसे नितान्त सस्ता बनाया जा सकता है । घरों में शाकवाटिका लगाने का आन्दोलन यदि चल पड़े तो न केवल आर्थिक लाभ हो वरन् कुपोषण के कारण जो दुर्बलता एवं रुग्णता फैलती है, उससे छुटकारा पाया जा सकता है ।

जिनके पास समय है, उनसे श्रमदान की माँग करके तालाब गहरे करने जैसे ग्रामोपयोगी कार्य सहज ही पूरे कराये जा सकते हैं । मनुष्य के मल-मूत्र को खाद में बदलने का काम कहने-सुनने से महत्त्वहीन प्रतीत होता है, पर उतने भर से कृषि को बढ़िया खाद मिलने के कारण उपज में भारी वृद्धि हो सकती है ।

जनसंख्या अंधाधुन्ध बढ़ते जाने के कारण जननी का स्वास्थ्य, पिता का दारिद्र, बच्चों का भविष्य सर्वथा बिगड़ता है । परिवार तथा समाज के सामने असंख्यों समस्यायें उत्पन्न होती हैं । विश्व संकट की दृष्टि से परमाणु युद्ध के ठीक समतुल्य आबादी बढ़ने की समस्या है । इससे सम्बन्धित तथ्यों को यदि घर-घर जाकर समझाया जा सके तो मानव जाति की सचमुच महती सेवा हो सकती है ।

पश्चिम जर्मनी के ईसाई ब्यूरो से हम सब कुछ सीख सकें तो धर्म की शक्ति का अर्थ समझ सकते हैं । धर्म के नाम पर चल रही विडम्बना को रोका जाना चाहिए और उसका मुँह उस दिशा में मोड़ा जाना चाहिए, जिससे मानवीय कल्याण की प्रक्रिया में योगदान मिल सके ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

सेवा से ऊब क्यों ? उससे अरुचि किसलिये ?

मैंने इतना तो कर लिया, क्या अब सदा मैं ही करता रहूँगा । दूसरों को सेवा कार्य करना चाहिए । ऐसा सोचना उचित नहीं । सेवा कार्य आत्मा की आवश्यकता का पोषण है । उसको निरन्तर और निर्बाध गति से करते रहना इसलिए आवश्यक है कि हम जीवित रहें, हमारी आत्मा और उसकी सुरुचि जीवित रहे । किसी पर एहसान करने के लिए दूसरों के सहायक और उपकारी बनने के लिए, अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए भी नहीं, यश के लिए भी नहीं, सेवा का प्रयोजन आत्मा की गरिमा का अक्षुण्ण रखने और उसका जीवन साधन जुटाये रखने के लिए है।

जो सेवा की आवश्यकता और महत्ता को समझता है, उसे उससे कभी भी ऊब नहीं आती । जो ऊबता हो समझना चाहिए, अभी उसे सेवा का रस नहीं आया । जब एक बार उस परम-धर्म का रसास्वादन कर लिया जाता है, तो उसे छोड़ सकना सम्भव ही नहीं होता । फूलों में कैसा रस है इसे मधुमक्खी जानती है और वह जन्म से लेकर मरणपर्यन्त अनवरत रूप से उसी मधुरिमा में निमग्न रहती है । न थकती है, न ऊबती है और कभी यह नहीं सोचती कि इतना लम्बा समय मधु संचय के प्रयोजन में लग गया अब कोई धन्धा ढूँढ़ेंगे । विश्राम करेंगे । वह ऐसा सोच इसलिए नहीं सकती कि उसकी अन्तरात्मा उस क्रिया-कलाप की गरिमा को समझ ही नहीं स्वीकार भी कर चुकी है ।

भ्रमर का आशय और कहाँ है ? पराग से विमुख होकर वह और क्या खोजे ? तितली को अपने सौन्दर्य के समतुल्य पुष्प के अतिरिक्त और कुछ दीखता भी नहीं । आखिर वह जाय भी कहाँ ? बैठे भी कहाँ ? करे भी तो क्या ? जिनका दृष्टिकोण उत्कृष्टता का अभ्यस्त हो गया, उन्हें निकृष्टता की दुर्गन्ध में साँस ले सकना सम्भव भी नहीं है । सेवा धर्म छोड़कर अन्यत्र आत्मा की गरिमा के अतिरिक्त और कोई कार्य है भी तो नहीं ।

हम साँस आजीवन लेते रहते हैं । इतने दिन साँस लेते रहे, अब हम विश्राम करेंगे, दूसरों का यह भार उठाना चाहिए । कोई हमी ने ठेका लिया है । बात ठीक है । मन न करे तो साँस लेना कभी भी बन्द किया जा सकता है, पर यह स्मरण रखना चाहिए कि यह विचार जिस क्षण कार्य रूप में परिणत होगा उसी क्षण दम घुट जायेगा ।

अन्न बहुत दिन खाया, अब नहीं खायेंगे । पानी इतने दिन से पीते चले आ रहे हैं अब नहीं पियेंगे । स्वतन्त्र कर्तृत्व के धनी मनुष्य के ऊपर फल पाने का ही बन्धन है, कर्म करने का नहीं । सो अन्न, जल ग्रहण करना छोड़ा भी जा सकता है, पर यह भूलना न चाहिए कि यह ऊब जीवन के प्रति ऊब ही सिद्ध होगी । यह अनशन हमें विश्राम का आनन्द नहीं लेने देगा, मृत्यु के मुख में धकेल देगा ।

हृदय, मस्तिष्क, फेफड़े, गुर्दे, जिगर आदि भी विश्राम की माँग कर सकते हैं । जब तक कहते-सुनते भर रहे तब तक तो काम चल सकता है, पर जब अड़कर विश्राम करने ही बैठ जाएँ तो फिर सारा सरंजाम ही विश्राम करेगा। इनका विश्राम, चिरनिद्रा की अखण्ड-शान्ति श्मशान जैसी नीरवता में परिणत होगा ।

सूर्य ने कब छुट्टी मानी, चन्द्रमा ने कब विश्राम लिया, पृथ्वी का चलना कब बन्द हुआ है, हवा कब रुकी, समुद्र कब शान्त हुआ । जीवन इसीलिए जीवित है कि वह अनवरत रूप से चल रहा है । सौर-मण्डल की तरह परमाणुमण्डली भी अथक रूप से कार्य संलग्न है । क्षुद्रता सो सकती है, पर महानता के लिए जागरण के अतिरिक्त दूसरा विकल्प नहीं । सूर्य का अन्धकार के साथ तालमेल बैठ ही नहीं सकता । सेवा आत्मा का स्वभाव है । गुण है, इसलिए वह कर्म में स्वभावतः परिणत होता रहेगा, फूल और गंध पृथक् नहीं हो सके । मछली पानी के बिना रह ही नहीं सकती है । आत्मा का स्वभाव है-प्रेम और प्रेम की परिणति है सेवा । उससे छुट्टी कैसी ? उससे ऊब क्यों ? उसे छोड़ा कैसे जा सकता है ?

सेवा-साधना निज की प्रगति के लिए भी अनिवार्य

मनुष्य का शारीरिक और मानसिक अभ्यास जैसा होगा, उसी के अनुसार उसके बाह्य जीवन का निर्माण होता है । दूसरों के अहित का विचार करने वाले, दूसरों के लिये बुरे, हानिकारक दुष्कृत्य रचने वाले व्यक्तियों के जीवन में इन्हीं तत्त्वों की प्रधानता हो जाती है । उनका स्वयं का जीवन भी बुराई, अहित एवं हानि की भावना से प्रभावित होता चला जाता है । यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है ।

सेवा का आधार जितना स्वार्थ मुक्त होगा, वास्तव में दूसरों के परमार्थ का, त्याग का होगा, उतना ही बड़ा सत्परिणाम भी मनुष्य को प्राप्त होगा, किन्तु सेवा ढोंग बना देने पर परमार्थ नहीं, दूसरों के साथ धोखादेही, छल-कपट, चालाकी और स्वार्थ-साधन मात्र बनकर रह जाती है । बाहर से ऐसी सेवा का आडम्बर कितना ही बड़ा क्यों न हो, कर्त्ता को उसका रत्ती भर भी वास्तविक सत्परिणाम नहीं मिल सकता । लोगों से प्रशंसा प्राप्त करने या कुछ कमाई कर लेने मात्र तक ही ऐसे सेवा आडम्बरों का लाभ सीमित रह जाता है ।

सेवा के लिये कोई स्थूल नियम नहीं बनाये जा सकते । दूसरों के लिये कोई उपयोगी काम करके, उससे प्रेम करने के अभ्यास को बढ़ाया जा सकता है । दूसरों की सेवा करके अपने सद्भावों को विकसित किया जा सकता है, दूसरों के दुःख-दर्द को अपना ही दुःख-दर्द मानकर उसको दूर करने के लिये पूरा-पूरा प्रयत्न करना,

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

अभावग्रस्तों की अभावपूर्ति में योग देना, दूसरों के दु:ख सुनना, उनकी उन्नति कल्याण में योग देना, दूसरों की हर तरह की सेवा करने के लिए एक सेवक की तरह तैयार रहना, आत्म-सुधार के लिये आवश्यक है। जो दूसरों के लिये जितना अपने आपको घुला देगा, वह इतना ही आत्म-सुधार के क्षेत्र में सफलता प्राप्त कर सकेगा । इस तरह की सेवा से सच्चे प्रेम का उदय होता है । यह मनुष्य के सब कलंकों को धो देता है । अंतर्बाह्य जीवन को निर्मल बना देता है । सेवा के साथ संतोष की वृत्ति हमेशा बनी रहती है ।

सेवा जितनी बने उतनी करते हुए स्वयं अपनी सेवा करने की क्षमताओं का भी विकास करते रहना आवश्यक है । क्षमताओं के अभाव में सेवा का परिणाम और प्रतिफल स्वल्प ही रहेगा । जितनी व्यापक सेवा होगी उसके लिये उतनी ही व्यापक क्षमता और शक्ति की आवश्यकता पड़ेगी । सेवा से सम्बन्धित अपनी क्षमताओं का विकास करना भी सेवा का ही एक अंग है । हम चाहते हैं कि गरीबों को भोजन-वस्त्र दें, किन्तु हमारे पास देने को होगा तभी तो हम ऐसा कर सकते हैं । हम चाहते हैं कि देश को उन्नति, विकास एवं कल्याण की दिशा में आगे बढ़ायें, किन्तु तत्सम्बन्धित क्षमताओं पर ही तो इसकी पूर्ति निर्भर है । हम चाहते हैं अधिकाधिक लोगों को सद्ज्ञान देकर जीवन लाभ करायें, किन्तु पहले हमारे पास ज्ञान की कमाई पूँजी का होना भी तो आवश्यक है ।

सेवा परिणाम और फल का ध्येय रखना सेवक के लिये आवश्यक नहीं, उसके लिए प्रयत्न करने का आनन्द ही पर्याप्त है । परिणाम और फल की आसक्ति सेवा के आनन्द और स्वरूप को नष्ट कर देती है । फिर तो वह अन्य सांसारिक कार्यों की तरह एक व्यवसाय बन जाती है ।

संवेदनशीलता का जागरण ही दूसरों की सेवा-सहायता-सहानुभूति का मूल आधार है । यह गुण जिसमें जितना होगा, वह उतना ही दूसरों की सेवा करने का अधिकारी बनता चला जाता है । सत् तत्त्व की स्थापना और हृदय की शुद्धि से ही संवेदनशीलता का जन्म होता है । अत: सेवक को प्रारम्भ में अपने हृदय की शुद्धि और स्वयं सत् तत्त्व की स्थापना के लिये प्रयत्न करना आवश्यक मानना चाहिए ।

दयावान, सहानुभूतिशील, संवेदनशील होना हर लोक-सेवी के लिये आवश्यक है । संवेदनशीलता का अर्थ यह भी नहीं कि कोई दु:ख से रो रहा हो तो उसके पास बैठकर हम भी रोने लग जाएँ । इससे क्या लाभ ? आवश्यकता तो रचनात्मक संवेदनशीलता की है जो रोने वालों को हँसा सके, गिरे हुओं को उठा सके । इसी का विकास करने के लिए संसार रूपी कर्मक्षेत्र बना हुआ है । हमें याद रखना चाहिए कि परमार्थ किए बिना कभी स्वार्थ सधता नहीं । यदि हम अपनी प्रगति चाहते हैं तो हमें औरों की सेवा-सहायता के निमित्त समाज का ऋण चुकाने के लिए सतत् तत्पर रहना चाहिए । यही मानव धर्म है ।

लोकसेवा के निमित्त संघबद्ध प्रयास

एकाकी प्रयास कुछ न कुछ परिणाम प्रस्तुत करते ही हैं, पर सरलता एवं अधिक सफलता मिल-जुलकर काम करने में ही रहती है । सहकारिता की संघ-शक्ति के माहात्म्य का जिन्हें ज्ञान है, वे जानते हैं कि मानवीय प्रगति का समूचा ढाँचा सहकारी प्रयासों के आधार पर ही ठीक बना है । परिवार गठन और सामाजिकता के अधिग्रहण ने ही उसे उस स्तर तक ऊँचा उठने, आगे बढ़ने में समर्थ बनाया है, जिसमें कि वह आज है । अकेलेपन का मानस बनाकर यदि वह अपने क्रिया-कलापों को सीमित बनाये रहा होता, जो नरवानर् या वनमानुष की स्थिति से कदाचित् ही कुछ ऊँचा उठ सकने में समर्थ हुआ होता ।

मधुमक्खियों ने अपने वर्ग में अधिक श्रेय पाया है कि उनमें मिल-जुलकर काम करने की प्रवृत्ति पायी जाती है । तितलियों में यह प्रवृत्ति न होने से वे अपनी जिन्दगी जीते हैं और अपनी मौत मरती रहती है, झुण्ड बनाकर रहने वाले हाथी और समुदाय को सुरक्षित रखते और निश्चिन्तातापूर्वक अपने क्षेत्र में विचरते हैं । कुत्ते इसलिए बदनाम हैं कि अपनी बिरादरी का कोई अन्य मुहल्ले में आ पहुँचने पर धरती-आसमान सिर पर उठा लेते हैं । बन्दरों को इसलिए नमन किया जाता है कि वे साथ चलते, साथ रहते और आपत्ति के समय आक्रमणकारी पर मिलजुल कर हल्ला बोल देते हैं ।

संगठित समुदायों ने सदा प्रगति की है और दुर्गति के भाजन वे बने हैं, जिन्हें विघटन की नीति अपनाकर स्वेच्छाचार बरतने में रुचि रही है । अपने देश की लम्बी समय की गुलामी मात्र एक तथ्य का परिचय देती है कि हम परस्पर जाति कबीले के नाम पर, जागीरों, ठिकानों के नाम पर एक-दूसरे की उपेक्षा करते रहे । इसी कारण मुट्ठी भर आक्रमणकारियों का सामना न कर सके ।

कहते हैं कि अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता । ढाई चावल की खिचड़ी नहीं पक सकती । डेढ़ ईंट से मस्जिद खड़ी नहीं हो सकती । कमजोर तिनकों से मिलकर मोटा मजबूत रस्सा बन जाता है जिससे हाथी को भी बाँधा जा सके । धागे मिलकर कपड़े बनते हैं, छोटी-मोटी ईंट मिलकर भव्य भवन खड़े होते हैं । अकेले सैनिक का महत्त्व ही कितना है ? पर जब वह सेना का अंग बन जाता है तो एक बड़ी शक्ति का उदय होता है । सन्त भी अखाड़े आश्रम बनाकर रहते और बड़े काम सम्पन्न करते हैं । प्रतिभा-परिष्कार के इच्छुकों को आत्मशोधन का प्रयत्न तो एकाकी स्तर पर करना चाहिए, पर जहाँ तक लोक-सेवा के द्वितीय पथ का सम्बन्ध है, वहाँ सामूहिकता की नीति ही अपनानी चाहिए । राम ने रीछ-वानरों को, कृष्ण ने ग्वाल-बालों को, गाँधी ने सत्याग्रहियों को, बुद्ध ने परिव्राजकों को एक सूत्र में बाँधा और उनकी संयुक्त शक्ति

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

से महान् लक्ष्य को प्राप्त किया था । यही इन दिनों भी किया जाना है । युगपरिवर्तन का प्रकाश पर्व अब अति निकट है । इक्कीसवीं सदी उज्ज्वल भविष्य के साथ जुड़ी हुई है । इस युगसन्धि के समय में तैयारियाँ भी बहुत करनी हैं और प्रस्तुत तथा निकटवर्ती कठिनाइयों के साथ टक्कर भी जोरदार लेनी है । इसके लिए आवश्यक है कि जिनके भीतर महानता के बीजाकुंर मौजूद हों, वे एक सूत्र में बँधकर योजनाबद्ध रूप से काम करें । यह एक उच्चस्तरीय तप है तथा आपत्ति धर्म भी । इसको अपना निजी कार्यक्रम मानकर यदि नवसृजन की साधना में जुटा जाए, तो प्रतिभा परिष्कार का लाभ मिलना सुनिश्चित है। यह किसी के वरदान-अनुदान मात्र से प्राप्त नहीं हो सकता है । कोई पूजा-पाठ भी इस प्रयोजन की पूर्ति नहीं कर सकता । इसके लिए सामयिक साधना यही हो सकती है कि नवसृजन के लिए विनिर्मित कार्यक्रमों को अपनी योग्यता स्थिति के अनुरूप चुना और उनमें पूरी तत्परता के साथ जुट जाया जाय ।

हिन्दू गौरव को जगाने हेतु धर्म-धारणा के विस्तार की आवश्यकता

देव-संस्कृति के पुरातन स्वरूप और इतिहास पर दृष्टि डालने पर ज्ञात होता है कि इस राष्ट्र के तैंतीस कोटि देव मानव क्यों समस्त संसार में देवता कहलाए और यह भारत भूमि क्यों स्वर्गादपि गरीयसी कहलाई । स्पष्ट है कि लोक-मानस के परिष्कार में निरन्तर निरत ब्राह्मण और सत्प्रवृत्ति सम्वर्द्धन में प्राणप्रण से जुटे हुए साधुजन अपने उज्ज्वल चरित्र, कठोर श्रम और निरन्तर अलख जगाने की परिव्रजा परम्परा के कारण सारी धरित्री पर आलोक वितरण करते थे। अन्य देशों में धन-सम्पदा का वैभव बढ़ा-चढ़ा रहा होगा, पर भारत का विशिष्ट गौरव था, जिसके कारण नर में नारायण की झाँकी मिलती रही। यह नन्दन वन साधु-ब्राह्मणों द्वारा ही बोये, उगाये और लहलाये गये । आज वे सृजेता निरस्त होते गये और भारत भूमि मानवीय गरिमा से वंचित हो निर्धन होती चली गयी।

पुरातन की गौरव गाथा गाते रहने के स्थान पर यदि आज स्थिति का पर्यवेक्षण किया जाय तो प्रतीत होगा कि हिन्दू संस्कृति क्रमशः किस प्रकार पतन-पराभव की दिशा में गिरती चली जा रही है । ब्रह्मज्ञान एवं अध्यात्म दर्शन की चर्चा अपनी जगह उचित है, किन्तु व्यावहारिक जीवन में धर्म-संस्कृति के क्रमशः विलुप्त होते चले जाने से अनास्थावाद किस तेजी से आ रहा है, इसकी बानगी कुछ आँकड़े और ऐसे उद्धरण देते हैं, जिनसे साम्प्रदायिक विद्वेष का राष्ट्रीयता के समग्र ढाँचे के चरमराने का संकेत मिलता है ।

प्राप्त आँकड़ों के अनुसार विश्व में एकमात्र हिन्दू राष्ट्र नेपाल है । भारत जो मूलतः देव संस्कृति प्रधान रहा है, अब राजनीति के कुचक्रों एवं बहुरंगी राष्ट्रीय नीति के कारण क्रमशः मुस्लिम प्रधान राष्ट्र होता चला जा रहा है । 'आर्गेनाइजर' साप्ताहिक पत्र के अनुसार भारत में बसने वाले मुसलमानों की अनिर्बन्धित जन्मदर एवं बाहरी देशों से भारी घुसपैठ के कारण आज की नीति के चलते सन् २००० ई० से पूर्व ही वह एक मुस्लिम बहुलराष्ट्र हो जायेगा । सरकारी आँकड़ों का हवाला देते हुए यह पत्र लिखता है कि आज से ४५ वर्ष पूर्व १९५१ में भारत की कुल जनसंख्या ३६ करोड़ ११ लाख थी, जिनमें हिन्दू ३३ करोड़ एवं मुस्लिम ढाई करोड़ थे । जन्म दर प्रतिबन्ध एवं परिवार कल्याण कार्यक्रम हिन्दुओं तक ही सीमित रहा जबकि दूसरे सम्प्रदाय पर ऐसी कोई नीति नहीं आरोपित की गयी । दबाव द्वारा धर्मान्तरण एवं धर्मदिग्गजों की उपेक्षा के कारण क्रमशः हिन्दुओं की संख्या घटती एवं मुस्लिमों की बढ़ती चली गयी है । १९८१ के आँकड़े बताते हैं कि भारत की ६८ करोड़ ५९ लाख जनसंख्या में से हिन्दुओं की संख्या ४६ करोड़ के लगभग है एवं मुस्लिमों की साढ़े तेरह करोड़ ।

यह प्रसन्नता की बात है कि धर्म निरपेक्ष इस राष्ट्र में जिसे मुस्लिम बहुलता की दृष्टि से दूसरा स्थान विश्व में प्राप्त है, साम्प्रदायिक सद्भाव अभी तक एक सीमा तक बना हुआ है, लेकिन यदि एक पक्ष कमजोर बना रहे एवं दूसरा सम्प्रदायवाद की दुहाई देते हुए अपनी दुरभिसंधियाँ रचता रहे तो उससे राष्ट्रीय एकता को अपार क्षति पहुँच सकती है । स्थिति ऐसी विस्फोटक है कि यह समय शीघ्र ही आ सकता है जब भारत में ही हिन्दू अल्पमत में होंगे ।

वस्तुतः असंगठित सांस्कृतिक समुदाय ही ऐसे वर्ग का शिकार होता है जो स्वयं अल्पमत में रहते हुए भी अपनी स्वार्थ सिद्धि पूरी कर ले । जहाँ तैंतीस कोटि देवता निवास करते थे, वे सारे विश्व को अपनी प्रेरणाओं से प्रभावित करते थे, वहाँ वही समुदाय अब इतना कमजोर, दीन-हीन होता चला जाय कि उसे नगण्य माना जाने लगे, यह एक विडम्बना का विषय है । वर्ष १६ जनवरी, १९८४ को समाचार पत्रों में एक समाचार छपा कि भारत में एक 'मुस्लिम नेशनल फ्रण्ट' का गठन किया गया है जो सत्तारूढ़ राजनैतिक दलों से वोटों के विषय में समझौता करेगा । इस फ्रण्ट को अरबों पेट्रोडालर की सहायता मिली हुई है एवं इनकी योजना है कि पूरे भारत का इस्लामीकरण कर उसे मुस्लिम राष्ट्र बना दिया जाय । हर गाँव में एक मस्जिद हो तथा एक स्कूल तथा वोट देते समय यह ध्यान रखा जाय कि चुना गया प्रतिनिधि मुस्लिम हितों का ध्यान रखेगा।

इस नीति का बढ़-चढ़कर प्रतिपादन करने वाले कतिपय व्यक्तियों ने पिछले दिनों बड़े उत्तेजक वक्तव्य दिये हैं। मुगलसराय के एक मुस्लिम प्राध्यापक डॉ० सागिर आलम ने ऐसे ही एक प्रकाशित भाषण में कहा-"हमें

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

अब अल्पसंख्यक बनकर, अपमानित बनकर नहीं रहना है । अल्लाह की मेहरबानी से हमने अपनी पूरी सुरक्षा की व्यवस्था कर ली है । हम अपने ईसाई प्रतिद्वन्द्वियों से इस दिशा में कहीं आगे हैं एवं किसी भी स्थिति में हिन्दुओं को अल्पमत में लाकर छोड़ेंगे । किसी भी मुसलमान के लिये अल्लाह द्वारा किया गया सर्वप्रमुख कर्त्तव्य यह है कि वह सभी सम्भव उपायों से दारुलइस्लाम की सीमाएँ बढ़ाए । हम इस कार्य को बिना किसी रुकावट के करते जा रहे हैं हालांकि हमारे विरोधी इसे गलत रूप में बड़े पैमाने पर बच्चे पैदा करने, घुसपैठ, सामूहिक धर्मान्तरण की संज्ञा देते हैं । हमारा धर्म हमें निर्देश देता है कि हम अधिक से अधिक काफिरों को, धर्मान्तरण कर इस्लाम में लाएँ । हम साढ़े तीन करोड़ से बढ़कर तीस वर्षों में ही सोलह करोड़ हो गए हैं जो कि भारत की एक-चौथाई आबादी है । हिन्दू विभाजित हैं, दब्बू हैं । उनमें इतनी हिम्मत नहीं कि हमें अपने मजहब पर चलने से रोक सकें यही स्थिति हिन्दू कम्युनिस्टों पर पूँजीपतियों की है । ''

मुस्लिम नेताओं ने समय-समय पर ऐसे उत्तेजक वक्तव्य दिये हैं जिनसे ज्ञात होता है कि असम, पश्चिम बंगाल, त्रिपुरा, बिहार, केरल, राजस्थान, पश्चिमी-पूर्वी उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, तमिलनाडु एवं जम्मू-काश्मीर में अनेकों जिले पहले ही मुस्लिम बहुल बनाए जा चुके हैं । इनका कथन है कि स्थायी शान्ति तभी आएगी जब सारा भारत दारुलइस्लाम का भाग बन जाएगा ।

यह स्वर बताते हैं कि इसमें सौजन्य-सद्भाव का कहीं दूर-दूर तक नाम नहीं है । देखा जाय तो सद्भाव-सर्वधर्म-समभाव के नाम पर ख्याली पुलाव भर रचे गए हैं । कोई सशक्त कार्यक्रम राष्ट्रीय एकता की नींव रखी जाने के पूर्व ही दूसरे पक्ष द्वारा तोड़-मोड़ दिया गया ।

सऊदी अरब में पिछले वर्ष बनाई गई एक योजना के अन्तर्गत लगभग एक लाख धर्मप्रचारकों की फौज भारत में इस्लाम धर्म के प्रचार के लिये तैयार की जा रही है तथा इस कार्य के लिये लगभग एक हजार करोड़ रुपया इस वर्ष भारत में आ भी चुका है । यह सनसनीखेज समाचार १३ जून, १९८४ में दैनिक हिन्दुस्तान पत्र में हि० स० संवाद एजेन्सी के हवाले छपा है । प्रो० योगेन्द्रकंचन जो उ० प्र० हिन्दू जागरण मंच के महामंत्री हैं, ने इस सम्बन्ध में तथ्य प्रस्तुत करते हुए कहा है कि सरकार की मुस्लिमों को सन्तुष्ट करने की नीति ही यह घातक परिणाम ला रही है । अभी लगभग दो करोड़ हिन्दू बंगला देश में रह रहे हैं एवं ६ लाख से भी अधिक पाकिस्तान में । बंगलादेश द्वारा लागू शत्रु सम्पत्ति अधिग्रहण अधिनियम के कारण वहाँ रह रहे सारे हिन्दुओं को अपनी सम्पत्ति एवं आवास से वंचित हो निर्वासित होना पड़ सकता है, जबकि हमारे अपने देश की एकांगी धर्म निरपेक्ष नीति के कारण हिन्दुओं को अपने ही राष्ट्र में अल्पमत में जाना पड़ सकता है ।

प्रश्न मात्र दो सम्प्रदायों का ही नहीं है । संस्कृति की प्रतिमा को विखण्डित करने के प्रयास सभी ओर से हो रहे हैं । त्रिपुरा में बंगालियों और पहाड़ियों की, मणिपुर में वैष्णव हिन्दुओं और आदिवासियों की, पारस्परिक टकराहट कई बार साम्प्रदायिक भारत विरोधी शक्ल में हो चुकी है । हमारे अपने ही राष्ट्र के एक प्रदेश मेघालय की राजधानी शिलाँग और मिजोरम की राजधानी आइजोल में ऐसे दंगे हो चुके हैं, जिनका लक्ष्य था कि कोई भी बाहर वाला हमारे प्रान्त में न आ बसने पाए । भारत को तोड़ने की धार्मिक आधार पर कोशिश जनरल अयूबखाँ ने १९६५ में सीमा पार मुजाहिद भेजकर की थी ताकि कश्मीर को कब्जे में लिया जा सके । यह प्रयत्न विफल कर दिया गया। पर छुटपुट प्रयास जारी रहे हैं एवं उसकी चरम परिणति पंजाब में देखने को मिली है । भारत की एकता और अखण्डता की लड़ाई में जो भी बाधक तत्त्व हैं, उनसे जूझने हेतु राजतंत्र-सुरक्षातंत्र जो कर सकता है, कर रहा है, लेकिन इस राष्ट्र की सांस्कृतिक धरोहर मूल निवासी-हिन्दू जाति को भी कुछ करना है, इस विषय में कहीं कोई जाग्रति नजर नहीं आती ।

एक आँकड़े के अनुसार भारत में आज भी पुराने नये मिलाकर ३४ लाख मठ और मन्दिर हैं । लगभग ८५ लाख साधू-संन्यासी, संतमहात्मा इस देश में वास करते हैं। जब भी कभी पर्वायोजन होता है, लाखों की भीड़ पुण्य कमाने हेतु जुट पड़ती है । कुम्भ का मेला चार स्थानों पर बारह वर्ष के अन्तर पर लगता है । हर तीसरी वर्ष कुंभ या अर्धकुम्भ पर उज्जैन, नासिक, प्रयाग, हरिद्वार में से कहीं एक स्थान पर सारे भारत के धर्म प्रेमी एकत्र होते हैं । हर वर्ष उत्तराखण्ड की यात्रा पर लाखों व्यक्ति जाते हैं । साढ़े दस हजार फुट की ऊँचाई पर अवस्थित बद्रीनाथ धाम में इतनी भीड़ इन पंक्तियों के लिखे जाने तक है कि इसे अर्द्ध कुम्भ की उपमा दी गयी है । सारे महामण्डलेश्वर वहाँ डेरा डाले ब्रह्मज्ञान का उपदेश दे रहे हैं एवं धर्मप्रेमी-जनसमुदाय यमुनोत्री-गंगोत्री, केदारनाथ, बद्रीनाथ इन स्थानों पर टूटा पड़ रहा है, गंगास्नान, अमावस्या, पूर्णिमा जैसे ऐसे अनेकों आयोजन हैं जिनमें एक साथ गंगा के किनारे लाखों व्यक्ति एकत्र होते हैं । यदि यही समुदाय, अपनी धर्म-संस्कृति की जाग्रति हेतु उठ खड़ा होता, स्वकेन्द्रित न रहकर अन्यान्यों को धर्मधारणा से अनुप्राणित करता तो वह स्थिति न आती कि प्रलोभनवश कोई एक सम्प्रदाय छोड़कर दूसरा अपना ले एवं उसके पीछे भी जाति-भेद, अलगाववाद की मोहर लगी हो ।

बलात् धर्म-परिवर्तन, इस्लामीकरण की इस लहर से सांस्कृतिक गौरव तो धूमिल हुआ ही है, अनास्था भी तेजी से फैली है । जिस संस्कृति की गरिमा का गुणगान विद्वान पाश्चात्य दार्शनिकगण समय-समय पर करते आए हैं, उस पर आज कुहासा छाया हुआ है । नवीनतम आँकड़ों के अनुसार सारे विश्व में अब मात्र ३५ करोड़ हिन्दू रह गये हैं जबकि मुस्लिमों की संख्या बढ़कर ९० करोड़ से भी अधिक तथा ईसाइयों की दो अरब से भी अधिक हो गयी

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

है । मात्र भारत में ही १९४८ की जनसंख्या का ८८ प्रतिशत हिन्दू समुदाय अब घटकर ६८ प्रतिशत रह गया है । मद्रास से प्रकाशित समाचार पत्र 'हिन्दू' के अनुसार इसके साथ-साथ मुसलमानों की संख्या में पचास प्रतिशत वृद्धि हुई है इसी गति से धर्मान्तरण, बहुपत्नी प्रथा व परिवार नियोजन का बहिष्कार तथा विदेशों में बस रहे मुस्लिमों की घुसपैठ यदि जारी रही तो कुछ ही वर्षों में हिन्दू जाति का अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा ।

डा० हमीद दलबई ने अपनी पुस्तक 'मुस्लिम पॉलिटिक्स इन सिक्युलर इण्डिया' में लिखा है कि "जिस तरह कनाडा में बसने वाले प्रोटेस्टेण्ट अँग्रेज परिवार कल्याण की नीति अपनाने के कारण अल्पमत में चले गए एवं फ्रैंच कैथॉलिक इसकी अवमानना कर बढ़ते चले गए, क्यूबेक रूस में नये प्रान्त की उन्होंने माँग आरम्भ कर दी उसी तरह हमें भी भारत में एक और नया मुस्लिम राष्ट्र बनाना है ।"

प्रश्न सामान्य बुद्धि के व्यावहारिक सुनियोजन का है । क्या देव संस्कृति के उत्थान हेतु हम एक लाख प्रचारक तैयार नहीं कर सकते, जो गाँव-गाँव, घर-घर पहुँचें एवं अलख जगाएँ । आवश्यकता विस्मृति से उबरने की है । अज्ञानान्धकार में भटकी हिन्दू मानसिकता को नया प्रकाश दिखाने की है । प्रज्ञा अभियान मिशन ने यही बीड़ा अपने हाथ में लिया है कि हर गाँव में धर्मतंत्र से लोकशिक्षण की विधि-व्यवस्था द्वारा देव संस्कृति को पुनर्जीवित किया जाए । तीर्थयात्रा परिव्रजा के माध्यम से गायत्री के रूप में महाप्रज्ञा के तत्त्वदर्शन को एवं यज्ञ के रूप में भारतीय संस्कृति के प्राण को जनमानस में फूँकने के लिये पुरातन काल की तरह ही घर-घर आलोक वितरण हेतु पहुँचा जाय । यज्ञायोजनों, प्रज्ञा सम्मेलनों द्वारा यही प्रयोजन पूरा किया जाना है ताकि देवसंस्कृति की गरिमा को अक्षुण्ण बनाये रखा जा सके । समय रहते चेतने में ही बुद्धिमत्ता है । अभी तक जितने प्रयास चले हैं, उनमें मिली सफलता से यह आशा और भी बलबती होती है कि पुरातन गौरव को पुनः प्रतिष्ठित किया जा सकेगा ।

लोक-शिक्षण हेतु धर्मतन्त्र ही एकमेव सशक्त माध्यम

भारत की ७० प्रतिशत से अधिक जनसंख्या निरक्षर है और लगभग ८० प्रतिशत जनता गाँवों में रहती है । असली भारत यही है । छोटे-छोटे देहातों में शिक्षा का अभाव, यातायात के आधुनिक साधनों से रहित आबादी, पिछड़ेपन का वातावरण इस प्रकार की विषम परिस्थितियों में राजनीतिशास्त्र अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र जैसे आधारों पर दी गई शिक्षा भारतीय जन-मानस को प्रभावित कर सकने में सक्षम नहीं, ८० प्रतिशत जनता तो उसे हृदयंगम ही नहीं कर सकेगी । भारतीय जनता की आस्था धर्म प्रधान है । उसकी चिन्तन शक्ति धार्मिकता के साथ गुँथी हुई है । अस्तु, उसे उसकी परम्परागत मनोभूमि-धर्मरुचि के सहारे ही प्रभावित किया जा सकता है । धर्मतन्त्र के माध्यम से ही अनुपयुक्त मान्यताओं, रूढ़ियों, अन्धविश्वासों एवं अवांछनीय गतिविधियों को बदला जाना सम्भव है । जन-मानस से परम्पराओं, सत्प्रवृत्तियों की स्थापना एवं सम्वर्द्धन भी धर्मधारणा के द्वारा सरलतापूर्वक किया जाना सम्भव है ।

लोकमानस को प्रभावित करने और उसे किसी दिशा में नियोजित करने में दो शक्तियाँ प्रमुख हैं । एक राजसत्ता या शासनसत्ता और दूसरी धर्मसत्ता । शासनतन्त्र के पास धनशक्ति एवं दण्ड व्यवस्था रहती है, राजसत्ता इनके द्वारा लोगों को प्रभावित एवं नियन्त्रित कर अपने साधनों से मनचाही दिशा में चलने को विवश कर सकती है । कानून, पुलिस, कचहरी, जेल आदि के भय से लोगों को सही दिशा में चलाने का प्रयास किया जाता है । धन का आकर्षण और दण्ड का भय इन दो माध्यमों ने शासन के हाथों में यह शक्ति समाहित कर दी है, जिसके उपयोग से वह जन-प्रवृत्तियों को जिधर चाहे उधर मोड़ सकता है । दुष्प्रवृत्तियों को रोकने हेतु शासन के पास जनबल, धनबल, शस्त्रबल सभी कुछ होता है ।

हिटलर ने अपने समय में देश के नागरिकों के चिन्तन प्रवाह को मोड़ने में महत्त्वपूर्ण सफलता प्राप्त की थी । उसने विश्व-विजय का स्वप्न साकार करने के लिए जर्मन पीढ़ियों में जातीय श्रेष्ठता और विश्व शासन की विशेष योग्यता प्रत्येक जर्मन नागरिक के मन में भरने का निश्चय किया और तदनुसार शासन सत्ता के समस्त साधनों को झोंक दिया । विशेष प्रकार की शिक्षा पद्धति विनिर्मित की गई थी । उसे पूरे जर्मनी में आनन-फानन लागू किया गया, उसको इसमें सफलता भी मिली । उस समय हिटलर की भाँति ही जर्मन प्रजा भी विश्व विजय के उन्माद में उमड़ने लगी थी । शासन शक्ति द्वारा उसने जन-मनोवृत्ति एवं लोक-आकांक्षा को अपने साँचे में ढाल दिया । गलत उद्देश्यों के कारण युद्धों में हार जाने से उसका पतन हो गया, यह बात दूसरी है । यह तो युद्ध विद्या के दाँवपेचों का प्रश्न था । जहाँ तक जनआकांक्षा और मनोवृत्ति का सवाल है, उसमें उसको अपने अनुसार ढालने में पूरी सफलता मिली थी ।

भारत में भी यह प्रयोग हुआ था । अँग्रेजों के शासन काल में उन्हें क्लर्कों, बाबुओं की आवश्यकता हुई । लार्ड मैकाले ने शिक्षा-पद्धति का आधार इसी आवश्यकता की पूर्ति करने लायक व्यक्ति उत्पन्न करना बनाया । उसने शिक्षा का ढाँचा इसी प्रकार तैयार किया । कॉलेजों से निकलने वाले अधिकांश छात्र तदनुरूप बनते-ढलते चलते गये । लगभग वही शिक्षा-पद्धति अपने देश में अभी चल रही है । बालक के व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास का प्रयोजन-शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य उससे पूरा नहीं हो रहा है । यह राजसत्ता की शक्ति के उपयोग की बात है । शासनसत्ता अपने में एक महत्त्वपूर्ण शक्ति है । उसके साधनों का उपयोग यदि सही दिशा में, सही तरीके से

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

किया जा सके तो उससे व्यक्ति और समाज की परिस्थितियों में अभीष्ट परिवर्तन लाया जा सकता है ।

जनमानस को प्रभावित करने वाली दूसरी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शक्ति धर्मसत्ता की है । इन दिनों धर्म शब्द को सुनकर बुद्धिजीवी वर्ग नाक-भौं सिकोड़ने लगता है । उसे अन्धविश्वासी, मूढ-मान्यताओं एवं ठग-विद्या का जाल-जंजाल भर मानता है । बुद्धिजीवी वर्ग की इस मान्यता को इस समय अनुचित एवं अनुपयुक्त भी नहीं कहा जा सकता । धर्म-कर्म में निरत पण्डा-पुजारियों के आचरण एवं क्रिया-कलापों को देखकर ऐसी धारणा बन जाना असंगत नहीं । धर्मक्षेत्र में आज जितनी विकृति समाविष्ट है उतनी सम्भवत: अन्य किसी क्षेत्र में नहीं होगी । धर्मक्षेत्र में संव्याप्त विकृतियों के प्रति प्रबुद्ध वर्ग का तिरस्कार एवं आक्रोश हो सकता है, अन्यथा धर्म की मूलसत्ता से इन्कार कर सकना, उसे अनुपयोगी एवं अनावश्यक ठहरा सकना किसी के लिए भी सम्भव नहीं । 'धर्म' मानवीय अन्तराल की स्वाभाविक प्रकृति है, उसे अलग कर देने से तो मानवता ही नष्ट हो जायेगी । मानवीय अन्त:करण यदि आग है तो धर्म उसकी गर्मी । अग्नि और ऊष्मा को पृथक् किया भी कैसे जा सकता है ।

धर्म मनुष्य के अन्त:करण को प्रभावित करता एवं अनुशासित रखता है । व्यक्ति में उत्कृष्टता अपनाने एवं आदर्शों को कार्यान्वित करने की उमंग भरता है । धर्म का शासन मानव के गहन अन्तराल पर जाकर प्रतिष्ठित होता है, जबकि राजसत्ता में मनुष्य के बाह्य जीवन को ही प्रभावित, आकर्षित एवं नियन्त्रित कर सकने की क्षमता है । धर्म व्यक्ति में उदात्त भावनायें, उदार दृष्टिकोण एवं उमंगें भरता है, जबकि राजतन्त्र की कठोरता आतंक प्रस्तुत कर सकती है । यहाँ यह नहीं कहा जा रहा कि एक अधिक महत्त्वपूर्ण है; दूसरा निरर्थक अथवा एक उत्कृष्ट है, दूसरा निकृष्ट । वस्तुत: दोनों एक दूसरे के पूरक हैं । दोनों के क्षेत्र अलग-अलग होने पर भी एक के द्वारा दूसरे के प्रयोजन सफल होने में सहायता मिलती है । धर्मतन्त्र और शासनतन्त्र के समन्वय से तो रामराज्य जैसी सुखद सम्भावनाओं की भी आशा की जा सकती है ।

शासनतन्त्र के पास भौतिक उत्तरदायित्व भी कम नहीं, घरेलू राष्ट्रीय एवं विदेशी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं की कमी नहीं । शिक्षा के क्षेत्र में लगे हुए कर्मचारी तो निर्धारित पाठ्यक्रम ही पूरा कराते रहते हैं । उनके द्वारा भावनात्मक नवनिर्माण में योगदान नहीं के बराबर है । आस्थाओं के परिष्कार, भावनाओं को उदात्त एवं उत्कृष्ट बनाने का महान् कार्य धर्मसत्ता के माध्यम से ही भली प्रकार सम्पन्न हो सकता है । लोकमानस के मर्मस्थल को स्पर्श करने एवं उनका परिष्कार करने के लिए धर्मतन्त्र का ही उपयोग करना होगा । इसी के माध्यम से जन-भावनाओं को उभारा, मोड़ा, सुधारा और उठाया जा सकता है । समाज की काया पलटकर रख देने वाले महामानव धर्मक्षेत्र के उद्यान में ही उपजे हैं । प्राचीनकाल के अवतार, देवदूत, ऋषि मनीषी, सन्त-ब्राह्मण मानव जाति का मस्तक ऊँचा करते रहे हैं और उन्होंने जनसमुदाय को सर्वतोमुखी प्रगति के पथ पर अग्रसर करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है । पूरे विश्व के महामानवों का गौरवमय इतिहास धर्मक्षेत्र का अनुदान है । राजसत्ता व्यक्ति के मस्तिष्क को प्रभावित कर सकती है, हृदय को नहीं छू सकती । यह प्रयोजन धर्मतन्त्र ही पूरा कर सकता है ।

मानव व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिए गुण, कर्म, स्वभाव में सुसंस्कारिता की नितान्त आवश्यकता है । उसकी ओर ध्यान न दिया गया, इसका प्रबन्ध न किया गया तो समझना चाहिए कि बच्चे बड़े होकर सम्पन्न भले ही बन जाएँ, बड़े आदमी भले ही कहे जा सकें, पर सुसंस्कारिता की दृष्टि से वे ओछे, दीन-हीन एवं पिछड़े ही बने रहेंगे । मनुष्य के लिए सुसंस्कारिता से बढ़कर और कोई सम्पदा इस संसार में हो नहीं सकती । सफल जीवन की समस्त सम्भावनायें उसी पर केन्द्रित रहती हैं, पर यह हो कैसे ? इस प्रकार की गतिविधियाँ कौन चलाये ? आधुनिकता से रँगे वातावरण में ऐसा कहीं होता दिखाई नहीं पड़ता । किसी जमाने में ऋषियों के आश्रमों में चलने वाले गुरुकुल यह कार्य सम्पन्न करते थे, पर आज वैसी व्यवस्था कहाँ है ? मँहगे शिक्षा-संस्थानों में शिष्टाचार एवं रहन-सहन का स्तर तो अवश्य आकर्षक रहता है, किन्तु वह आत्मीयता दीख नहीं पड़ती, जो व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक होती है । ऊँची-ऊँची डिग्रियाँ एवं पद प्राप्त कर लेने पर भी अधिकांश उस सुसंस्कारिता से वंचित ही बने रहते हैं जो केवल उच्चस्तरीय वातावरण में ही विकसित होती है ।

आज की परिस्थितियों में सुसंस्कारिता का वातावरण विनिर्मित करने के लिए सर्वसुलभ, सम्भव एवं व्यावहारिक उपाय यही है कि प्राचीन धार्मिक संस्कारों, पर्व-त्योहारों को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में मनाने की सत्परम्पराओं की प्रतिष्ठा हो, घर-घर में बच्चों के जन्मदिन मनाये जाएँ, संस्कार आयोजन सम्पन्न किये जाएँ और इस माध्यम से उन्हें समूचे परिवार को यह सिखाया जाय कि बालकों के भविष्य को यदि सचमुच ही उज्ज्वल बनाना हो तो उन्हें सुसंस्कारिता की खुराक देनी आवश्यक है । यह उपलब्धि शालीनता भरे वातावरण में ही हो सकती है । इसके लिए न केवल माता-पिता वरन् परिवार के सभी सदस्यों को अपना कर्त्तव्य पालन करना होता है । यह कैसे करना चाहिए ? किसको क्या करना चाहिए ? इसकी सैद्धान्तिक शिक्षा इन संस्कारों के आयोजनों के सहारे उस घर के प्रत्येक व्यक्ति को दी जा सकती है ।

पुंसवन संस्कार में गर्भवती महिला के पूरे परिवार को यह शिक्षा दी जाती है कि घर का वातावरण उल्लास भरा बनायें, जिससे गर्भस्थ शिशु पर सुसंस्कारिता की छाप पड़ती रहे । नवागन्तुक पर सुसंस्कारिता की छाप डालने का यह सबसे उपयुक्त अवसर होता है । इसी प्रकार बच्चे के नामकरण, अन्नप्राशन, मुंडन एवं विद्यारम्भ संस्कार आयोजनों से परिवार का वातावरण सहज ही उल्लास भरा रहता है । इन अवसरों पर बहुत ही सस्ते में सम्पन्न हो सकने वाले धर्म कृत्यों के सहारे पारिवारिक प्रशिक्षण का क्रम चलता रह सकता है । संस्कार आयोजनों का कार्य यदि विज्ञजनों के द्वारा सम्पन्न कराया जाने लगे तो निश्चय ही उससे घर के वातावरण को उत्कृष्ट बनाने का पथ प्रशस्त होगा । प्रबुद्ध लोगों द्वारा अब संस्कार आयोजनों को मनाने की सत्परम्परा को बड़ी तेजी से

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

अपनाया जा रहा है । हजारों-लाखों परिवारों की निकृष्ट गतिविधियों की दिशा उत्कृष्टता की ओर मुड़ चुकी है ।

संस्कारों में यज्ञोपवीत, विवाह, वानप्रस्थ, जन्मदिन, विवाह दिन, पूर्वजों का श्राद्ध-पर्व आदि ऐसे आयोजन हैं जो परिवार के लोग ही मिल-जुलकर मना सकते हैं । सुविधानुसार मित्रों, पड़ोसियों को भी आमन्त्रित किया जा सकता है । इन अवसरों पर भावनायें उमड़ती हैं और आत्म-निर्माण एवं परिवार-निर्माण के अनेकों सूत्र लोगों के गले आसानी से उतर जाते हैं । अनेकों व्यक्ति दुष्प्रवृत्तियाँ त्यागते और सत्प्रवृत्तियाँ अपनाते हैं ।

समाज निर्माण के लिए सामूहिक प्रशिक्षण पर्व और त्योहारों के माध्यम से बहुत ही सरलता एवं प्रखरता के साथ सम्पन्न हो जाता है । सभी जानते हैं कि दिवाली आर्थिक सन्तुलन का, बसन्त पंचमी विद्या बुद्धि का, शिवरात्रि श्रेय साधना का, होली सामूहिक स्वच्छता-श्रमदान का, गायत्री जयन्ती भागीरथ तप-साधना का, गुरु पूर्णिमा अनुशासन का, श्रावणी सुरक्षा तथा संगठन का, विजयादशमी शक्ति सम्वर्द्धन का पर्व है । रामनवमी-मर्यादा पालन की प्रेरणा पाने और कृष्ण जन्माष्टमी गीतोक्त कर्मयोग को आचरण में उतारने के पर्व हैं । रामायण कथा, भागवत कथा, सत्य नारायण कथा आदि के माध्यम से भी समय-समय पर स्थान-स्थान पर लोकशिक्षण के क्रम चलाये जाते हैं और उनका प्रभाव भी पड़ता है । पूर्वी उत्तर प्रदेश में अँग्रेजी शासन काल में बाबा राघवदास ने रामायण की एक चौपाई से क्रान्ति की लहर फैला दी थी । ब्रिटिश सरकार ने उस एक चौपाई को अकेले कहे जाने, गाये जाने पर प्रतिबन्ध लगा दिया था ।

अपने देश के विभिन्न भागों में विभिन्न पर्वों का महत्त्व अलग-अलग ढंग से है । जहाँ जिसका प्रचलन अधिक है वहाँ उसे उभार कर भावनात्मक परिष्कार का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित हो सकता है । देश की छोटे-छोटे देहातों में बिखरी हुई जनता का भावनात्मक नव-निर्माण धर्मतन्त्र के द्वारा ही सम्भव है । भारत का इतिहास साक्षी है कि सुधार आन्दोलनों को सफल बनाने में धर्मतन्त्र ही कारगर सिद्ध हुआ है । आज भी नैतिक, बौद्धिक एवं सामाजिक परिवर्तन के लिए जिस विचार क्रान्ति की आवश्यकता है, वह धर्मतन्त्र के सहारे ही सम्भव होगी ।

प्रयोजन अति महान—आरम्भ अति सरल

असुरता की शक्तियाँ इन दिनों अपने पूरे वेग से उफन रही हैं । यह क्रम कुछ समय और चलता रहा तो मनुष्य का नैतिक स्तर इतना गिर जायेगा कि सर्पिणी की तरह माँ अपने अण्डे-बच्चों को खाने लगे और खूनी भेड़ियों की तरह पुरुष एक-दूसरे के रक्त पिपासु बन सकते हैं । पहले शत्रुओं पर लोग घात करते थे, अब मित्र घात का ही प्रचलन है । मैत्री बढ़ने लगे तो समझना चाहिए कोई घात होने वाली है । क्या शिक्षित, क्या अशिक्षित, क्या गरीब, क्या अमीर दोनों ही वर्ग के लोग अपने-अपने ढंग से ऐसे पैंतरे बदलते रहते हैं कि उनके सम्पर्क सान्निध्य में रहने वाला चारों खाने चित्त हो जाय । उदारता और कर्त्तव्यपरायणता का संयम और सदाचार का बुरी तरह लोप हो रहा है और दुष्टता, सफेद अथवा मैले कपड़े पहनकर अपना विस्तार सुरसा के मुँह की तरह करती चली आ रही है ।

दुष्टता बढ़ेगी तो विपत्ति के रूप में उसकी प्रतिक्रिया उत्पन्न हुए बिना भी न रहेगी । आज चारों ओर रोग, शोक, सन्ताप, क्लेश, कलह, अभाव, दारिद्र्य, रोष, असंयम की बाढ़ आई हुई है । अपराध और पाप जिस तेजी में पनप रहे हैं उसे देखते हुए लगता है कहीं संसार मनुष्यों के न रहने योग्य तो नहीं बन जायेगा । विज्ञान और राजनीति के कदम जिस दिशा में बढ़ रहे हैं वे मानव जाति को सामूहिक आत्म-हत्या करने के लिये विवश करेंगे ।

यह सुन्दर संसार भगवान् का बनाया हुआ है । उसने बड़ी आशा और तन्मयता के साथ इस दुनिया को रचा है । अपनी इस महान् कृति को वह ऐसे ही नष्ट नहीं होने दे सकता । असुरता जब बढ़ती है, तब उसका नियन्त्रण करने और सन्तुलन न बिगड़ने देने के लिये वह स्वयं व्यवस्था करता है । गीता में दिया हुआ उसका आश्वासन है कि धर्म के प्रति ग्लानि और अधर्म का अभिवर्द्धन होने पर मैं साधुता की रक्षा और दुष्टता का शमन करने के लिये सन्तुलन स्थापित करने वाली शक्तियों को अवतरित करता हूँ । ऐसी ईश्वरीय शक्तियाँ एक विचार प्रवाह एवं कार्य प्रवाह के रूप में अवतरित होती हैं । उसमें असंख्यों का सहयोग होता है । नेतृत्व का श्रेय किसी को मिले । अवतार की प्रक्रिया एक ही है-जन-मानस में अवांछनीयता के प्रति विद्रोह । अवतार का यही वास्तविक स्वरूप है । इसमें कोटि-कोटि व्यक्ति संलग्न होते हैं । राम-कृष्ण, बुद्ध, गाँधी आदि ने अपने समय की विकृतियों के समाधान का नेतृत्व अवश्य किया पर उनके पीछे वस्तुतः अपार जन-शक्ति थी । जन-शक्ति ही वह चण्डी है, जो असुरता का समग्र वध करने में समर्थ है ।

अब फिर उसी प्रक्रिया का प्रत्यावर्तन हो रहा है । महाकाल अपना डमरू निनाद आरम्भ करने वाले हैं और उनके ताण्डव नृत्य की थिरकन आरम्भ होने वाली है । आवश्यक नहीं कि जनसंहार, युद्ध और विपत्ति से ही सुधार हो । बुद्ध और गाँधी की तरह उसका सृजनात्मक स्वरूप भी हो सकता है । दवा से बीमारी अच्छी न हो तभी आपरेशन की जरूरत पड़ती है । नियति की गतिविधियाँ इन दिनों इस प्रक्रिया में संलग्न हैं कि सुधार में विद्रोह से काम न लिया जाय और उसकी प्रिय मनुष्य जाति को सर्वनाशी सर्वग्राही विपत्तियों से बचने का अवसर मिल जाय ।

ईश्वरीय प्रेरणा ने इन दिनों एक ऐसे ही युग-निर्माण आन्दोलन का सृजन किया है जिसका उद्देश्य जनमानस की

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

विपन्न विचार-शैली को बदलकर फिर विवेक और औचित्य के आधार पर सोचने और करने का अवसर मिले। जड़ विचारणा में सन्निहित है, पर विचारों के साथ क्रिया सम्बद्ध है और क्रिया सुधरे तो परिस्थितियों के सुधरने में कुछ देर नहीं लगती । अस्तु, विचार परिवर्तन का एक विश्वव्यापी अभियान इन दिनों आरम्भ हुआ है । यद्यपि उसका स्वरूप असुरता के विशाल कलेवर की तुलना में नगण्य जैसा है, पर जो सच्चाई की शक्ति जानते हैं उन्हें यह विश्वास करने में कठिनाई नहीं होती कि छोटे से प्रकाश के आगे अन्धकार का विशाल कलेवर गल जाता है और छोटी सी चिन्गारी सुविस्तृत वनों को जलाकर राख कर देती है । विवेकशीलता का तेल और औचित्य के कचड़े को लेकर मशाल जलाई गई है, वह यों ही बुझ जाने वाली नहीं है । यह अपने युग की महत्तम आवश्यकता एवं ईश्वरीय इच्छा पूरी होने तक जलती ही रहेगी ।

इस सम्बन्ध में अखण्ड-ज्योति परिवार को किसी समय के रीछ, वानरों की तरह अग्रिम मोर्चे पर अड़ने का अवसर मिला है । शक्ति और साधन स्वल्प होने पर भी काम बहुत होने वाला है । स्मरण रखने योग्य यही है कि वास्तविक शक्ति दैवी प्रेरणा और ईश्वरीय अनुग्रह की होती है । इस शक्ति का अवतरण उत्कृष्ट व्यक्तियों में होता है और वे शरीरगत व्यक्तित्व से ऊँचे उठकर आगे बढ़कर दैवी प्रयोजन की पूर्ति के लिए आगे आते हैं । ऐसे अनुगामी कदम परिवर्तन की महती आवश्यकता को ऐसी खूबी के साथ सम्पन्न करते हैं कि उनके कर्तृत्व पर स्वयं उन्हें आश्चर्य होता है और संसार चकित रह जाता है । महामानव और युग-निर्माता बनने का सौभाग्य ऐसी ही जाग्रत आत्माएँ पाती हैं । संसार में तीन सर्वोच्च पद और सर्वोत्तम सम्पन्न हैं-(१)सन्त, (२)सुधारक, (३)शहीद । जाग्रत आत्माएँ समय-समय पर ईश्वरीय प्रकाश का अनुकरण करती हुई आगे बढ़ती हैं और महामानवों को उपलब्ध होने वाले उपर्युक्त तीन महान् पदों एवं सम्मानों का पात्रत्व अपनी कर्मठता और सहृदयता के आधार पर सिद्ध करती हैं ।

इन दिनों सूक्ष्म जगत में यह सब हो रहा है । ब्राह्म-मुहूर्त में साधक और तपस्वी जग जाते हैं और उस पुण्य वेला में साधनारत होते हैं, जबकि विषयी लोग इसी समय अधिक गहरी नींद का मजा लेते हैं । इन दिनों ब्रह्ममुहूर्त है । असुरता भरी तमसाछन्न निशा का अब अन्त होने जा रहा है और उसके स्थान पर ज्योतिर्मय प्रभात के उदय की सम्भावनाएँ उग चली हैं । यह संधिकाल प्रभात की उषा लेकर आया है । मन्दिरों में शंख निनाद हो रहा है कि सजग आत्माएँ जगें और अपने पुनीत धर्म कर्त्तव्य में संलग्न हों । युग-निर्माण योजना एक शंख निनाद है, जो संस्कारी व्यक्तियों को जगाने और उन्हें प्रभातकालीन कर्त्तव्यों में जुटने का उद्बोधन कर रहा है ।

अखण्ड-ज्योति परिवार के परिजनों में अधिकांश बहुत सुसंस्कारी आत्माएँ हैं । उन्हें प्रयत्नपूर्वक ढूँढ़ा और परिश्रमपूर्वक एक टोकरी में संग्रह किया गया है । वही हमारा परिवार है । इससे नव-निर्माण की भूमिका सम्पादन करने की, अग्रिम मोर्चा सँभालने की हमारी आशा-अकारण नहीं है । उसके पीछे एक तथ्य है कि उत्कृष्ट आत्माएँ कैसे ही मलीन आवरण में फँस न जायें, समय आने पर वे अपना स्वरूप कर्त्तव्य समझ लेती हैं और दैवी प्रेरणा एवं सन्देश को पहचानकर सामयिक कर्त्तव्यों की पूर्ति में विलम्ब नहीं करतीं । फायर बिग्रेड वाले वैसे महीनों पड़े सोते रहें, पर जब कहीं आग लगने की सूचना मिलती है तो उनकी तत्परता देखते ही बनती है। अपने परिवार को भी यही सब करना है ।

ऐसी सजग आत्माओं को कुछ तीक्ष्ण उद्बोधन करने के लिये यह पंक्तियाँ विशेष रूप से प्रस्तुत की गयी हैं। घण्टों अँगड़ाई लेते रहने में वक्त की बर्बादी होती है । सोने का समय चला गया। जगना-उठना पड़ेगा ही। फिर व्यर्थ करवटें बदलते रहने और अँगड़ाई मात्र लेते रहने और समय गँवाते रहने से क्या लाभ ? जब जग ही गये तो उठ खड़ा होना ही उचित है। जो काम प्रतीक्षा कर रहे हैं उन्हें समय पर निपटा लेने में ही खूबसूरती और प्रशंसा है। रोते-झींकते देर-सबेर में जब करना ही पड़ेगा तो आत्म-ग्लानि और लोकनिन्दा का कलंक ओढ़ने की क्या आवश्यकता? असामयिक आलस्य-प्रमाद को छोड़ ही क्यों न दिया जाय।

ईश्वरीय इच्छा प्रेरणा के अनुवर्ती तो बनना ही होगा, पर साथ ही हमारी एक आकांक्षा की तृप्ति भी लगे हाथों हो जाय तो और भी अच्छा है । हमारा जन-सम्पर्क कार्यकाल समाप्त हो चला । इस बीच हमारी अभिलाषा एक ही है कि निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर अपने प्रत्येक परिजन के कुछ कदम बढ़ने लगें और प्रत्येक में सक्रियता दिखाई देने लगे । मरने से पहले अपने समर्थ बच्चों के विवाह-शादी अपनी आँखों देख जाने की एक ललक रहती है । हमारी भी आकांक्षा अपने परिजनों में प्रबुद्धता, सजगता और सक्रियता की मात्रा प्रत्यक्ष परिलक्षित होते देखने की है । सो उसी के लिए कुछ अधिक तत्परतापूर्वक चेष्टा कर रहे हैं कि अपने बगीचे में कुछ फल-फूल दीखने लगें तो अपना चित्त और अधिक प्रसन्नता अनुभव करता हुआ विदाई का स्वागत करे ।

सम्पर्क क्षेत्र जितना ही व्यापक बनेगा उतने ही अधिक परिमाण में प्रबुद्ध व्यक्तियों की और अधिक खोज करना और उनमें सक्रियता उत्पन्न करना सम्भव होगा । इसी के लिये उपर्युक्त दो योजनाएँ हैं । सम्पर्क को सक्रियता में बदलने के लिये जन्म दिवसोत्सव, विवाह दिवसोत्सव, पर्वों के सामूहिक आयोजन, परिवार शिक्षण के लिये संस्कारों का पुनर्जागरण, गीता एवं रामायण कथाओं के माध्यम से जन-मानस का उद्बोधन, आस्तिकता एवं उपासना में अभिरुचि उत्पन्न करना जैसे छोटे-छोटे काम जोड़ दिये गये हैं । इनसे संगठन मजबूत होगा । लोगों की सक्रियता दिखाई देगी और विचार-क्षेत्र अधिक व्यापक

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

बनेगा । तात्पर्य यह कि इस प्रस्तुत योजना द्वारा प्रेस और प्लेटफार्म के माध्यम से कुछ हलके से रचनात्मक कार्यक्रमों के साथ जन-जाग्रति परिचय क्षेत्र का विस्तार एवं सम्बद्ध लोगों को कुछ हलकी-सी हलचलें आरम्भ करने के लिये तत्पर करना है । चूँकि नव-निर्माण धार्मिक एवं आध्यात्मिक आधार पर ही होता है, इसलिये योजना को मूलतः धर्म प्रक्रियाओं के साथ जोड़ रखा गया है ।

चूँकि हम हिन्दू हैं । हमारा सम्पर्क क्षेत्र हिन्दू समाज है । इसलिये योजना को हिन्दू दर्शन और हिन्दू प्ररम्पराओं के साथ जोड़ा गया है । अपने आदमी संसार के हर धर्म, हर क्षेत्र एवं हर देश में वहाँ की जनता की मनोभूमि के अनुरूप इसी आधार पर पृथक् योजनाएँ बना रहे हैं । पृथकता के बीच यह एकता का लक्ष्य जुड़ा हुआ है कि अपने-अपने क्षेत्र के लोगों को क्रमशः अधिक उदार और अधिक विचारशील बनाते हुए अन्ततः सार्वभौम एकता एवं 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के केन्द्र पर इकट्ठा कर लिया जाय ।

युग-निर्माण के लिये अगले ही दिनों हमें अनेक रचनात्मक और संघर्षात्मक प्रक्रियायें, हलचलें आरम्भ करनी पड़ेंगी । उसके लिये ऐसे कर्मठ, भावनाशील, प्रतिभाशाली और प्रबुद्ध व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ेगी जो अपना सारा जीवन ही इस पुण्य-प्रयोजन के लिये समर्पित करें और सारी विचारणा एवं आकांक्षा उसी केन्द्र पर केन्द्रीभूत कर दें। अपने आपको और अपने संकीर्ण स्वार्थों को भूलकर विश्व मंगल के लिये अपने को उत्सर्ग करने में गर्व गौरव अनुभव करें । ऐसी प्रबुद्ध आत्माओं से रहित भारत भूमि नहीं है, वे हैं-उन्हें जगाया, उठाया और लगाया जायेगा । इस महान् अभियान का आरम्भ इन पंक्तियों में प्रस्तुत विचार क्रान्ति आन्दोलन से कर रहे हैं । आग्रह और अनुरोध हर परिजन से है कि वह इस प्रक्रिया को आलस्य और प्रमाद, झिझक और कृपणता छोड़कर श्रद्धा एवं तत्परता के साथ आरम्भ करें । ताकि अगली महान सम्भावनाओं के उपयुक्त महान् कर्मवीरों की शोभा और एकत्रीकरण यथासमय सम्भव हो सके।

वर्तमान की विपन्नता का तात्विक पर्यवेक्षण

इन दिनों प्रवाह कुछ ऐसा चल रहा है, जिसमें लोकमानस को अचिन्त्य चिन्तन, कुकृत्य कर्तृत्व में निमग्न देखा जा सकता है । पेट और प्रजनन से आगे की बात किसी को सूझती ही नहीं । संकीर्ण स्वार्थपरता की खुमारी ऐसी चढ़ी है कि लोभ और मोह की खाई पाटने के अतिरिक्त और कोई लक्ष्य सामने रह ही नहीं गया है । बड़प्पन की एक ही परिभाषा है-दूसरों की आँखों में चकाचौंध उत्पन्न करके अपनी विशेषता सिद्ध करना और अहंता की, दर्प की आत्मप्रवंचना से मन बहलाना । नीति और अनीति का विचार छोड़कर जिस प्रकार भी जितना भी संग्रह सम्भव हो करते रहना, उसे ठाट-बाट के प्रदर्शन, वैभव-विलास एवं दुर्व्यसनों में जी खोल कर उड़ाना । इतने पर भी कुछ बच रहे तो मात्र वंशजों के लिए छोड़ मरना, भले ही उनके पास निर्वाह की कोई कमी न हो । प्रस्तुत परिवार के प्रति उत्तरदायित्व न निभ पाने पर भी आये दिन सन्तानें जनना अपना अर्थ सन्तुलन, पत्नी का स्वास्थ्य, बच्चों का भविष्य और देश की व्यवस्था-क्रम मटियामेट करना ।

इस आसुरी रीति-नीति को अपनाने पर मनुष्य का अन्तराल निष्ठुर, निकृष्ट होना स्वाभाविक है । पिछड़ापन इसी को कहते हैं । स्तर का गया-गुजरापन शिक्षित, अशिक्षित, धनी-निर्धन किसी में भेदभाव नहीं करता और सब पर समान रूप से लदा रहता है । इस सड़न भरे वातावरण में घिनौने व्यक्तित्व वाले अपराधी, निर्मम, दुष्ट और भ्रष्ट स्तर के लोग ही पनपते हैं या फिर हेय, हीन, आलसी, प्रमादी ऐसे नर-पशुओं की संख्या बढ़ती है जिनके भार के सहन करने में धरती भी बहुत कष्ट अनुभव करती है । वे जिस समाज में जन्मते हैं, उसके लिए भारभूत होकर रहते हैं । विग्रह और विक्षोभ उत्पन्न करने, अव्यवस्था फैलाने, घृणा-जुगुप्सा का वातावरण बनाने, चैन की साँस न लेने देने की विडम्बना ही वे रचते हैं । उनके जीवित रहने से समाज और राष्ट्र का सन्तुलन बिगड़ता और गौरव नष्ट होता है ।

गहराई के साथ पर्यवेक्षण करने पर चित्र-विचित्र कलेवरों में इस निकृष्ट स्तर के व्यक्तित्व अपनी विविध गतिविधियों में संलग्न पाये जाते हैं । क्षुद्र लोगों का उद्देश्य रहित चिन्तन और आदर्श रहित चरित्र ही ऐसे घृणित वातावरण का सृजन करता है, जिसे पुरातन भाषा में नरक कहा जाता था। नरक की परिणति पीड़ा और पतन में ही होती है । जहाँ वरिष्ठ और कनिष्ठ सभी मानवीय गरिमा को तिलांजलि देकर भूत-प्रेतों जैसे उद्धत आचरण में निरत हों, वहाँ शान्ति कहाँ ? प्रगति कहाँ ? स्नेह कहाँ ? न्याय कहाँ ? प्रगति कहाँ ? जहाँ दैवी विभूतियों को बहिष्कृत कर दिया गया हो वहाँ समस्याओं, विपत्तियों, विभीषिकाओं की भी कमी कहाँ रहने वाली है । पतन की ढलान ही ऐसी है जिस पर लुढ़कने वाले त्रास देते, त्रास सहते, अन्ततः महाविनाश के गर्त में गिरते, आत्म-हत्या का कलंक ओढ़ते हैं ।

आश्चर्यचकित करने वाली विडम्बना यह है कि एक ओर भौतिकी, औद्योगिकी और बौद्धिकी की तूफानी प्रगति ने सुविधा-साधनों के पर्वत खड़े कर दिये हैं । इतने पर भी मनुष्य क्रमशः भीतर से खोलता और बाहर से ढोल-ढकोसला मात्र क्यों बनता जा रहा है । उसकी जीवट, उमंग, तुष्टि, तृप्ति, शान्ति का बेतरह पलायन क्यों होता जा रहा है । अणु-आयुधों की सैन्य सज्जा ने इन्द्रवज्र को पीछे छोड़ दिया फिर सर्वत्र असुरक्षा का, आशंका का-

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

अनिश्चितता का, आतंक का वातावरण क्यों ? प्रगति के लिए हर दिशा में बनने वाली योजनाओं, तैयारियों और व्यवस्थाओं और उपलब्धियों को देखकर लगता है कि अब अभाव-दारिद्र्य का कहीं कोई अस्तित्व रहने वाला नहीं है । फिर भी निष्कर्षों तक पहुँचते-पहुँचते प्रतीत हो गया है कि किसी बेताल ब्रह्मराक्षस ने आशाओं के अम्बार फूँक से उड़ाकर अन्तरिक्ष में विलीन कर दिये ।

उपचार अपनी जगह पर, क्षरण और मरण का क्रम अपनी गति पर, दोनों के मध्य कोई तालमेल नहीं । इसे अनहोनी ही कहना चाहिए । यह बेबूझ पहेली पकड़ से बाहर की भूल-भूलैया किसी तिलस्म महल-सी लगती है। प्रतीत होता है कि मानवीय अस्तित्व अभिमन्यु की तरह किसी ऐसे विचित्र चक्र-व्यूह में फँस गया है, जहाँ से बच निकलना कदाचित् अब शक्य रह नहीं गया है । आये दिन भविष्यवक्ताओं, मनीषियों, वस्तुस्थिति के आकलनकर्त्ताओं, दूरदर्शियों के कथन प्रतिपादन सुनने को मिलते रहते हैं कि दुर्दिन तेजी से बढ़ता आ रहा है और अपने विकराल मुख में इस धरातल की संचित शोभा-सुषमा को निगल जाने की तैयारी पूर्ण कर चुका है । बढ़ता हुआ प्रजनन, प्रदूषण, पर्यावरण विकरण है । प्रकृति सम्पदा के असन्तुलित दोहन के फलस्वरूप पदार्थ सम्पादन का समापन ऐसे तथ्य हैं जो निकट भविष्य में जीवन मरण जैसे संकट की पूर्व सूचना देते हैं । प्रत्यक्ष सुविधा संपदान के लिए जब आदर्शों और भावनाओं को तिलांजलि देने की परम्परा चल पड़ी तो फिर स्नेह-सौजन्य का क्या काम ? उदार आत्मीयता को जीवन्त रखने के लिए तो आत्म-संयम और सेवा-साधना करनी पड़ती है । जहाँ स्वार्थान्धता का बोलबाला हो वहाँ इन श्रद्धासिक्त सत्प्रवृत्तियों के पैर कैसे टिकें ? उनका अस्तित्व समाप्त हो जाने पर जिस प्रकार सोचा जाता है, जो किया और कराया जाता है उसकी तुलना पिशाच-कृत्यों से ही की जा सकती है । जहाँ पिशाचों की भरमार हो, उसे मरघट ही कहा जायेगा । वहाँ जलने-जलाने, डरने-डराने, रोने-रुलाने के अतिरिक्त और किसी माहौल की आशा कैसे की जाय ?

यही है उन विसंगतियों का रहस्योद्घाटन जिनके कारण एक हाथ से भौतिक उत्कर्ष दूसरी ओर आत्मिक अपकर्ष का जादुई हेर-फेर चलता दृष्टिगोचर होता है । जब तक यही स्थिति बनी रहेगी प्रवाह, माहौल, वातावरण ऐसा ही बना रहेगा जिसमें घुटन, संकट, असन्तुलन, विभ्रम, विग्रह के अतिरिक्त और कहीं कुछ न दीखे, न सूझे । फिर क्या किया जाय ? अच्छा तो यही लगता है कि अपने काम से काम रखा जाय । दुनिया का लेखा-जोखा लेकर सुधार-सँभाल की चिन्ता का भार किसी पर न लादा जाय, किन्तु कठिनाई यह है कि बात इस प्रकार भी तो नहीं बनती । चारों ओर अग्निकाण्ड की लपटें उठें, सारा मुहल्ला धूँ-धूँ जले तो अपने मध्यवर्ती घर की सुरक्षा कहाँ बन पड़ती है ? गाँव में महामारी फैले तो अपने परिवार का निश्चिन्त रहना कैसे सम्भव है ? गुण्डे-बदमाशों का समुदाय किसी क्षेत्र में छाया हो तो अपने घर के लोगों को उनके कुचक्र से कैसे विरत रखा जाय ? गेहूँ के साथ घुन पिसता है । दुर्जनों का बाहुल्य हो तो मुट्ठी भर सज्जनों की भी खैर नहीं । प्रश्न समृद्धि की कमी का नहीं भावनाओं के दुर्भिक्ष का है । मनुष्य हाड़-माँस का पुतला नहीं, भावना और आस्था का पुंज है । उसका जैसा भी अन्तराल होगा, वैसी ही उसकी आदतें ढलेंगी, इच्छाएँ उठेंगी, गतिविधियाँ चलेंगी । फलतः मनः-स्थिति के अनुरूप ही यह परिस्थितियाँ सृजन करता और उनमें जकड़ता चला जायगा । यही है आज की वस्तुस्थिति का सूक्ष्म निरीक्षण, शवच्छेद और विश्लेषण ।

विपन्नता को उलटने के लिए एक ही प्रयास करना होगा कि व्यक्तित्वसम्पन्न मानवों को ढूँढ़ा, उभारा, उछाला और लोक-मानस को प्रभावित करने वाली भूमिका निभाने के लिए अग्रिम मोर्चे पर खड़ा किया जाय । इतना बन पड़े तो उन समस्त समस्याओं का हल सम्भव और सरल है जो लाख प्रयत्न करने पर भी सुलझने का नाम नहीं ले रही हैं। सवाल न तो कोई सम्पदा की कमी का है और न साधनों के बिना कोई काम रुका पड़ा है । मनुष्य का श्रम और कौशल ही सम्पत्ति का उत्पादन-उपार्जन करता है । वह पिछड़े स्तर का हो तो दरिद्रता से, विपन्नता से छुटकारा नहीं । वह प्रखर हो तो बालू से तेल निकालने, लात मार कर पाताल से पानी निकालने की बात सम्भव हो सकती है । फरिहाद का कोह खोद कर नहर निकालना एकाकी संकल्प के सहारे सम्भव हो सका । कल-परसों एक हजारी किसान ने बिहार में एक हजार आम्र उद्यान लगाकर उस इलाके को हजारी बाग का श्रेयाधिकारी बना दिया ।

महामानवों की समूची इतिहास शृंखला इसी प्रकार की है । शंकराचार्य, बुद्ध, गाँधी, विवेकानन्द, दयानन्द, कबीर, दादू, नानक, समर्थ, केशव, प्रताप, सुभाष आदि की गाथाएँ यही प्रमाणित करती हैं कि सफलताएँ सदा मनस्वी के चरण चूमती रही हैं । ओजस् आगे बढ़ा है जो उसके तूफानी पराक्रम के साथ अनुयायियों के अनगिनत पत्ते-तिनके अनायास ही पीछे दौड़ते चले आये हैं । प्रवाह उत्पन्न करने में व्यक्तित्व ही समर्थ रहे हैं-हैं और रहेंगे । आज के पतन-पराभव का सृजन भी उन्होंने किया है ।

उदाहरण के लिये साहित्य, कला, अभिनय, संगीत को ही लें । इस अकेली धारा ने कोटि-कोटि मानवों के मनः-क्षेत्रों को कलुष-कालिमा से भर दिया है । पतन प्रवाह को सर्वनाश की भूमिका निभाने के लिए स्वच्छन्द गति से बढ़ते चलाने, जो भी लपेट में आये उसे निगलते चलने के लिए स्वच्छन्द छोड़ दिया है । यदि इस कला क्षमता को सृजन प्रयोजन में आदर्शों के लिए प्रोत्साहन में प्रयुक्त किया गया होता, तो उसकी स्थिति आज से सर्वथा भिन्न होती । लोकमानस के पतनोन्मुख बनाने में कला क्षेत्र के मूर्धन्यों की सम्पदा, बुद्धि और कुशलता नियोजित हो सकी होती तो निश्चित रूप से आज सतयुग के दृश्य उपस्थित हुए

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

होते । शक्ति तो शक्ति है । उसे दुधारी तलवार की संज्ञा दी गई है । वह सुरक्षा-दुष्ट दमन, बाल वध, आतंक, आत्महत्या आदि किसी भी भले-बुरे काम में प्रयुक्त की जा सकती है । जो बात कला के सम्बन्ध में कही जा रही है वही विज्ञान, शिक्षा, शासन, उत्पादन, व्यवसाय, गठन प्रचलन आदि सभी क्षेत्रों के लिए समान रूप से लागू होती है ।

न प्रकृति सम्पदा की कमी है, न बुद्धि कौशल की । मानवीय, पशु समुदाय का, भाप, तेल, विद्युत का, बल वैभव की कम नहीं । उन उपलब्धियों का यदि सही दिशा में सुनियोजन सदुपयोग किया जा सके तो विश्वास किया जाना चाहिए कि वर्तमान साधनों से ही व्यक्ति का, समाज का, विश्व का काया-कल्प हो सकता है । संव्याप्त हाहाकारी विपन्नता का स्थान सुख-शान्ति से भरी-पूरी सुसम्पन्नता ग्रहण कर सकती है । इसके लिए किसी विप्लव विद्रोह जैसी भयावह मारकाट या उथल-पुथल की भी आवश्यकता न पड़ेगी । दुर्बुद्धि को सन्मति में बदल लेना इतना कठिन काम नहीं है जितना कि महायुद्धों का नियोजन । जब अन्तरिक्ष युद्ध से महाप्रलय के नियोजन की, अणु-आयुधों से धरती की धज्जियाँ उड़ा देने की, प्रदूषण विकरण से प्राणि समुदाय का दमघोट देने की, श्रम साध्य, व्ययसाध्य, असम्भव जैसी लगने वाली योजनाएँ सम्भव हो सकती हैं तो कोई कारण नहीं कि मानवीय संकल्प दुर्बुद्धि को सद्बुद्धि में बदल देने अवांछनीय की दिशा में बहने वाले प्रचलन प्रवाह को मोड़ने-मरोड़ने में सफल न हो सके । संकल्प, साहस और पुरुषार्थ का समन्वय जब भी जहाँ भी जिस प्रयोजन के लिए भी हुआ है, वहाँ असम्भव को सम्भव में बदलने का चमत्कार उत्पन्न होता रहा है । यदि सृजन सोचा गया होता, उत्कर्ष लक्ष्य रहा होता । दूरदर्शी विवेक को प्रश्रय मिला होता तो आज वह स्थिति सामने न आई होती, जिसमें कुछेक को छोड़कर हर व्यक्ति खिन्न, असन्तुष्ट, विपन्न, निराश एवं भयभीत दिखाई पड़ रहा है ।

यों धरती पर सदाशयता भी विद्यमान रहती है । बीज नाश तो प्रलयकाल में भी नहीं होता । सज्जन अभी भी मौजूद हैं । सत्प्रवृत्तियों की इतिश्री हो गई हो सो बात भी नहीं है। सृजन की बात सोचने वाले और उसके लिए अपनी नगण्य-सी सामर्थ्य से छुटपुट कुछ-कुछ करते रहने वाले भी ढूँढ़ने पर मिल ही सकते हैं, पर उनकी गणना लंका में विभीषण की, दाँतों के बीच जीभ जितनी ही हो सकती है। बाहुल्य और बहुमत को ही प्रधानता देनी होती है और मूल्यांकन उसी का होता है। इस दृष्टि से आज की मनः स्थिति और परिस्थिति पर से चमकदार पर्दा उठाते ही जो दीखता है उसे एक शब्द में विघातक ही कहा जा सकता है। प्रश्न एक ही है कि आधारभूत कारण को समझने-समझाने, प्रवाह को मोड़ने-मरोड़ने, गुत्थी को सुलझाने के लिए कटिबद्ध होने की तैयारी की जाय या जो हो रहा है, होने जा रहा है उसे मूकदर्शक की तरह देखते रहा जाय?

विभीषिका से जूझने कौन आगे आये ?

विश्व विचित्रताओं में एक अद्भुत विडम्बना यह भी है कि पतन सरल है और उत्कर्ष कठिन । कुकृत्यों के सूत्र-संचालक और सहभागी अनेकानेक बनते, गिरोह बनाते, षड्यन्त्र रचते और बड़े-बड़े दाँव चलाने में सफल रहते हैं, जबकि सत्प्रवृत्तियों के पक्षधर अपनी एकाकी टण्ट-घण्ट करते रहते हैं । सन्त-सज्जनों का समुदाय इस संसार में न हो ऐसी बात नहीं, पर न जाने क्यों उनमें मिल-जुलकर बड़े प्रयास करने की उत्कंठा ही नहीं जगती है । ऐसी दिशा में अकेला चना क्या भाड़ फोड़े, डेढ़ चावल की खिचड़ी कैसे पके ? ढाई ईंट की मसजिद कैसे बने ? प्रवाह तो सामुदायिक प्रयत्नों से ही बनते हैं । सज्जन भी यदि दुर्जनों की तरह एकत्रीकरण का महत्त्व समझें और मिलजुल कर सृजन, उत्थान की योजना बनायें, उपलब्ध साधनों को जुटायें तो कोई कारण नहीं कि पतन का माहौल बनाने वालों की तुलना में उत्थान का सरंजाम जुटाना सम्भव न हो सके ।

सृष्टा की इस अनुपम कलाकृति विश्व-वसुन्धरा पर जब-जब भी महाविनाश की घटाएँ छाई हैं, तब असन्तुलन को सन्तुलन में बदलने की प्रतिक्रिया अदृश्य अन्तरिक्ष से अवतरित होती रही है । परिवर्तन के ऐसे क्रान्तिकारी तूफान आये हैं जिन्होंने सज्जनता को सृजनात्मक पराक्रम के लिए उत्साहित किया है। वे कटिबद्ध हुए हैं तो 'सत्य में हजार हाथी के बराबर बल होता है,' यह उक्ति अक्षरशः सत्य सिद्ध होती रही है । पाप दुर्बल है, पर वह पराक्रम के कन्धे पर बैठकर उचकता-मचकता रहता है । पुण्य समर्थ है, पर वह किसी कोने में न निरहंकारिता, अनाशक्ति आदि की चादर ओढ़कर मात्र कल्पनालोक की बिना पंखों वाली उड़ानें उड़ता रहता है । लोकहित के लिए पुरुषार्थ क्षेत्र में उतरने की माँग होती है तो बगलें झाँकने और किसी बहाने जान बचाने का उपक्रम करता देखा जाता है। यों पुण्य की यह मूल प्रवृत्ति नहीं है, पर जब वह सज्जनता का लबादा ओढ़कर भीरुता से आक्रान्त लोगों के पल्ले बँधता है तो उसकी भी दुर्गति होती है । आज पुण्य और पलायन लगभग एक ही वस्तु के दो नाम माने-जाने लगे हैं, पर वस्तुतः वैसा है नहीं । पुण्य में तथ्यतः प्रचण्ड पराक्रम का भी समावेश है, जो समय आने पर अपने वास्तविक रूप में प्रकट भी होता है ।

विघातक विपन्नता की परिस्थितियों को उलटने की विश्व-व्यवस्था का नाम 'अवतार' है । व्यापक असन्तुलन को निरस्त करने में उस परम्परा का प्रकटीकरण बार-बार, समय-समय पर होता रहा है । **'यदा यदाहि धर्मस्य'** की परिस्थितियों में उसकी प्रतिभा **'तदात्मानं सृजाम्यहम्.....'** की पूरी होती रही है । उस तूफान ने **'परित्राणाय साधूनां.....'** वाली परिवर्तित परिस्थिति

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

उत्पन्न करके ही चैन लिया है। यदि यह प्रतिक्रिया विश्व-व्यवस्था का अंग न रही होती तो अब तक यह दुनिया न जाने कब की-दुष्कृत्यों और दुष्प्रवृत्तियों की असुरता निगल गई होती ।

अतीत का इतिहास ऐसी महाक्रान्ति से भरा पड़ा है, जिनमें साधनों का, समर्थों का अभाव रहते हुए भी ऐसे उत्साह उभरे हैं, जिन्होंने विपन्नताओं को देखते-देखते उलट कर रख दिया । अनौचित्य की भी प्रतिक्रिया होती है । शरीर में उभरने वाले भयानक रोग-शरीर में संचित विषाक्तता को उखाड़ फेंकने की प्रतिक्रिया, नियति व्यवस्था के अनुरूप उभरने वाले विद्रोह ही हैं । समाज, शासन, अर्थव्यवस्था, मान्यता, परम्परा आदि के क्षेत्रों में भी ऐसी प्रतिक्रियाएँ समय-समय पर उभरी हैं, जिनमें प्रचलित अवांछनीयताओं को उखाड़ फेंकने में आश्चर्यजनक कीर्तिमान स्थापित किये गये हैं । अब राजसिंहासन कहाँ बचे हैं ? दास-दासियों का क्रय-विक्रय कहाँ होता है ? सामन्तों का पड़ोसियों पर चढ़ दौड़ना और जो हाथ लगे हाऊहड़प कर जाना आज की न्याय व्यवस्था में उतना सरल नहीं रहा । अब भूमि और प्रजा किसी राजा की व्यक्तिगत सम्पदा नहीं समझी जाती । मृत राजाओं के साथ न तो जीवित रानियों, बाँदियों, नौकरों-चाकरों, विपुल सम्पदा आदि के दफनाये जाने का प्रचलन ही अब रहा है । विधवा को मृत पति के साथ सती होने के लिए भी अब विवश नहीं किया जाता । स्वर्ग निवास का प्रमाण पत्र अब धर्मावलम्बी पुरातन काल की तरह बेचते नहीं हैं । यहाँ तक कि जन्म जाति के आधार पर चलने वाली ऊँच-नीच प्रथा भी मात्र पिछड़े क्षेत्रों में ही अपनी साँसें गिन रही है । यह सब अनायास ही नहीं हो गया । इनके विरुद्ध विद्रोह उभरे हैं, माहौल बने हैं और छोड़ने के लिए दबाव पड़े हैं । भले ही वे मारकाट की प्रधानता न होने के कारण घटनाओं के रूप में ऐतिहासिक अभिलेखन में स्थान न पा सके हों ।

अवतार इसी रूप में होते हैं । उन्हें अनौचित्य के विरुद्ध-औचित्य का नियति समर्पित विद्रोह कहा जा सकता है । वे तूफान की तरह आते हैं और अपने साथ असंख्यों तिनके-पत्ते और धूलिकण साथ उड़ाते ले चलते हैं । जो पददलित थे, वे आसमान पर छाये दीखते हैं । साथ ही गर्वोन्नत मस्तक वाले विशालकाय वृक्षों को बात की बात में धराशायी होते देखा जाता है । युग अवतार ऐसे ही होते हैं । उनमें भी अग्रगामियों को स्वाभाविक श्रेय मिलता है, इतने पर भी वह प्रचण्ड प्रतिक्रिया किसी व्यक्ति विशेष पर केन्द्रित नहीं मानी जा सकती । अवतार को व्यक्ति के रूप में मानना भूल है । वह एक औचित्य के पक्षधर प्रचण्ड-प्रतिक्रिया भर होती है जो अनौचित्य की उस प्रकार कमर तोड़ देती है कि देखने-सुनने वालों को सहसा अपने आँखों और कानों पर विश्वास नहीं होता । किशोर कृष्ण का दुर्दान्त कंस को, उसके चारुण, कुवलियापीड़ जैसों को धराशायी कर देना ऐसी घटना है, जिस पर सामान्य विधि-व्यवस्था को देखते हुए सहसा विश्वास नहीं होता । गोवर्धन को उँगली पर उठाना, समुद्र पर पुल बाँधना ऐसे ही कथानक हैं जिनमें अवतारी क्रान्ति प्रवाह द्वारा असम्भव को सम्भव कर दिखाने के तथ्य पर विश्वास करने के लिए कहा जाता है । यह आश्चर्य तब और भी अधिक बढ़ जाता है, जब वह साधनविहीन स्वल्प शक्ति-सामर्थ्य के द्वारा हलके दर्जे के थोड़े से सहयोगियों के सहारे कर दिखाये गये । ग्वाल-बालों और रीछ-वानरों का मूल्यांकन इसी रूप में हो सकता है ।

जिन्हें पौराणिक गाथाएँ अविश्वास और अरुचिकर लगती हों, वे इन्हीं प्रतिपादित तथ्यों को इतिहास के पृष्ठों पर महान् क्रान्तियों के रूप में पढ़ सकते हैं । उनमें भी स्वल्प साधनों से मनस्वी लोगों द्वारा आगे बढ़कर ऐसी चिंगारी जलाने का उल्लेख है जो आगे चलकर विशालकाय दावानल के रूप में परिणत हुई और यह सिद्ध करके रही कि एक सत्य में, एक हजार हाथियों के बराबर बल होता है । स्रष्टा अपनी इस अनुपम कलाकृति विश्व-वसुधा का सौन्दर्य नष्ट कर डालने, अस्तित्व मिटा डालने की छूट किसी दैत्य-दानव को नहीं दे सकता । यहाँ दैत्य-दानव का तात्पर्य ऐसे कुप्रचलन को समझा जाना चाहिए जिसमें भ्रष्ट-चिन्तन एवं दुष्ट आचरण का बोलबाला रहता है ।

यह पंक्तियाँ प्रस्तुत अवांछनीयता के निराकरण को ध्यान में रखते हुए लिखी जा रही हैं और कहा जा रहा है कि परिस्थितियों की विषमता को देखते हुए किसी को निराश होने की आवश्यकता नहीं है । ऐसे अवसरों पर सहज ही क्रान्ति प्रतिक्रान्ति का नियत चक्र चलता है और अनाचार के विरुद्ध न्याय पक्ष सीना तानकर मोर्चे पर आ खड़ा होता है । साधनों की कमी वाली आशंका एक कोने पर रखी रह जाती है और स्रष्टा की इच्छा, नियति व्यवस्था अपना सन्तुलन आप बिठा लेती है । हाँ, इतना अवश्य होता है वह कृत्य कुछेक अग्रगामी व्यक्तित्वों के हाथों सम्पन्न होता है । वे साधनहीन होते हुए भी हनुमान, अर्जुन की तरह श्रेयाधिकारी ही बनते हैं ।

इतिहास चक्र का हर प्रकरण इस बात का साक्षी है कि समय-समय पर असन्तुलन को सन्तुलन में बदलने वाली प्रक्रिया उभरी है और स्वल्प साधनों के रहते हुए भी सफल होती रही है । इस बार भी इन दिनों भी, उसी प्रक्रिया की पुनरावृत्ति होने जा रही है और हो रही है । यदि वैसा न होता तो मात्र सर्वनाशी, महाप्रलय जैसा विनाश ही शेष रह जाता है । इस सम्भावना की आगाही प्रामाणिक सूत्रों से समय-समय पर मिलती भी रही है । ईसाई धर्म में 'सेविन्थ टाइम्स' की, इस्लाम धर्म में 'चौदहवीं सदी' की, भविष्य पुराण में 'खण्ड प्रलय' की विभीषिका का इन्हीं दिनों दैवी प्रकोप के रूप में उबरने की चर्चा है । सूरदास की भविष्यवाणी प्रसिद्ध है । संसार भर के मूर्धन्य दिव्यदर्शी और खगोलवेत्ता अपने-अपने कारणों को प्रमाण रूप में प्रस्तुत करते हुए विनाशकारी

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

सम्भावनाओं की पूर्व सूचना देते रहे हैं । धरातल के ऋतु चक्र का पर्यवेक्षण करने वाले ध्रुव क्षेत्र की बर्फ पिघलने से समुद्र में बाढ़ आने और उससे थल क्षेत्र का बड़ा भाग पानी में डूब जाने की आशंका व्यक्त करते हैं । दूसरी ओर पृथ्वी की धुरी में अन्तर पड़ने से हिम युग की सम्भावना इन्हीं दिनों साकार होने की बात कही जाती है । परिस्थितियों के आकलनकर्त्ता बढ़ती हुई जनसंख्या, खनिज-सम्पदा की इतिश्री, भूमि की उर्वरता का समापन, बढ़ते हुए प्रदूषण, विकिरण, कोलाहल के आधार पर विषाक्तता की घुटन जैसे संकटों की भयावह परिणति समीप बताते हैं । अणु युद्ध की नंगी तलवार किस प्रकार कच्चे धागे पर झूल रही है इसे सभी जानते हैं । सामान्य नागरिक से लेकर शासनाध्यक्षों द्वारा अपनाई गई संकीर्ण स्वार्थपरता और आक्रामक उद्दण्डता का अन्त कहाँ जाकर होगा ? इसका अनुमान लगाना किसी भी दूरदर्शी के लिए कठिन नहीं है । विकल्प सुनिश्चित रूप से यही है, यदि समय रहते रोक-थाम के कारगर उपाय न किये गये, तो आगे आने वाले समय में स्थिति भयावह हो जायेगी ।

सन्तुलन बनाने वाले सृजनात्मक संकल्प एवं प्रयोग कब होंगे ? किस रूप में होंगे ? कौन करेगा ? इसकी प्रतीक्षा न करके हम में से प्रत्येक जाग्रत आत्मा को युग प्रहरी के नाते अनिष्ट से जूझना चाहिए और प्रसुप्तों द्वारा सौंपी गई या अनायास ही कन्धे पर आई जिम्मेदारी को वहन करना चाहिए । 'जाग्रत आत्मा' से तात्पर्य उन सभी भावनाशीलों से है जो अन्तराल की वरिष्ठता उपलब्ध होते ही युग धर्म को समझने और उसके निर्वाह का कष्टसाध्य साहस करने से चूकते नहीं । ऐसे लोग कहाँ हैं ? कौन हैं ? अब क्या करेंगे ? यह ढूँढ़ने की अपेक्षा यही अच्छा है कि अखण्ड-ज्योति परिवार के प्रज्ञा परिजन अपने आपको इसी वर्ग में सम्मिलित कर लें और वर्तमान परिस्थितियों में पतन-पराभव से जूझने, उज्ज्वल भविष्य की हरीतिमा का बीजारोपण करने के लिए उभयपक्षीय प्रयत्नों में जितनी सम्भव हो उतनी भूमिका निभाने के लिए कमर कस लें ।

इस सन्दर्भ में अपनी साधनहीनता, अयोग्यता, व्यस्तता, अनुभवहीनता आदि अनेक व्यवधान सामने आते हैं और लगता है कि उतना बड़ा बोझ उन लोगों के लिए वहन करना कठिन है, जो अपनी निजी समस्याएँ तक सुलझा नहीं पा रहे हैं । तर्क की दृष्टि से असमंजस ठीक है, पर तथ्य पर ध्यान दें तो वह अशक्तता, असमर्थता, काल्पनिक, कृपणताजन्य ही प्रतीत होती है । ऐसे ही असमंजस महाभारत में अर्जुन के सामने, समुद्र लाँघते समय हनुमान के सामने भी थे । उन दिनों उनका समाधान तत्कालीन मार्गदर्शकों ने किया था । कृष्ण ने अर्जुन से कहा-कौरव मर चुके, महाभारत जीता जा चुका, तुझे तो मात्र श्रेय भर लेना है । यही बात प्रकारान्तर से जामवन्त ने हनुमान से कही थी और छलाँग लगाने के लिए उन्हें साहस से भर दिया था । जिन्हें स्रष्टा की सन्तुलन प्रक्रिया का तूफानी प्रवाह के सामयिक अवतरण होने पर विश्वास है, वे जानते हैं कि नियति को परिवर्तन अभीष्ट है, वह होकर रहेगा । प्रश्न उस दूरदर्शिता के होने न होने का है, जो समय का लाभ लेने के लिए श्रेयाधिकारी अग्रगामियों को पंक्ति में ला खड़ा करती है। यदि वह अपने भाग्य में हो तो फिर समझना चाहिए कि सभी असमंजसों का समाधान निकल आया। जाग्रत आत्माओं की, युग सृजेताओं की भूमिका हममें से प्रत्येक अपने-अपने ढंग से निभा सकता है । इसमें न व्यस्तता बाधक होगी, न अभावग्रस्तता, न अयोग्यता, न अक्षमता ।

शबरी, केवट, गिलहरी, गिद्ध से अधिक अशक्त हम में से कोई नहीं । ग्वाल-बालों से अधिक अयोग्यता किसी की नहीं । टिटहरी का समुद्र सुखाने का संकल्प अगस्त्य के सहयोग से पूरा हो सका, भगीरथ गंगा को धरती पर उतारने में शिव का समर्थन-सहयोग अर्जित कर सके, तो कोई कारण नहीं कि अखण्ड-ज्योति परिवार के प्रज्ञा परिजन प्रस्तुत युग विभीषिका से जूझने में अपने को अक्षम समझें और कुछ भी न कर सकने की कृपणता व्यक्त करें ।

दो हाथों से ताली बजेगी- दो पहियों से गाड़ी चलेगी

युग विभीषिकाएँ जिन स्रोतों से उभरी हैं, उन सभी को दृष्टि में रखना होगा और सभी छिद्रों को बन्द करने की बात को महत्त्व देना होगा । उपचार का श्रीगणेश कहाँ से किया जाय, यह बात दूसरी है, पर अन्ततः छेद तो सभी बन्द करने होंगे अन्यथा एक द्वार भी खुला रखने से चोरों के आवागमन का क्रम यथावत् बना रहेगा ।

अवांछनीयता से जूझने और औचित्य की प्राण-प्रतिष्ठा नये सिरे से करने के दुहरे मोर्चे पर लड़ने वालों को यह देखना होगा कि प्रस्तुत विभीषिकाओं को इस स्तर तक पहुँचाने में किन क्षेत्रों की कौन-कौन विकृतियाँ, किस अनुपात में किस प्रकार क्या भूमिका निभाती रही हैं । निदान सही बन पड़े तो उपचार में सरलता होती है, अन्यथा चिकित्सा पर हुआ व्यय और श्रम निरर्थक ही चला जायगा ।

यों एक शब्द में बात समाप्त करनी हो तो इस प्रकार भी कह सकते हैं कि व्यक्ति के मन में दुर्बुद्धि उपजी, कुकर्मों पर उतारू हुआ, दुष्प्रवृत्तियाँ पनपीं और परिस्थितियाँ विषम होती चली गईं । इसलिए परिस्थितियों को सुधारने के लिए समाज-व्यापी दुष्प्रवृत्तियों को उखाड़ना चाहिए । चूँकि समाज व्यक्तियों के समुच्चय का नाम है । इसलिए जन-जन की नीति-निष्ठा बनाने के लिए चिन्तन को परिष्कृत किया जाय । इसके लिए लोकमानस में उत्कृष्ट आदर्शवादिता को प्रतिष्ठित करने वाली विचार-क्रान्ति को प्रखर किया जाय । इसके लिए नव-जागरण

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

का अलख घर-घर जगाया जाय । जन-जन के मन-मन तक नवचेतना का आलोक पहुँचाया जाय। मान्यताओं और परम्पराओं का नये सिरे से दूरदर्शी विवेकशीलता के सहारे नया निर्माण-निर्धारण किया जाय । इसी सार-संक्षेप को प्रकारान्तर से युग निर्माण योजना द्वारा पिछले लम्बे समय से कहा और लिखा जाता रहा है ।

समय आया है कि बारीकी में उतरा जाय और ध्वंस को निरस्त करने और सृजन को गति देने के लिए नये सिरे से व्यापक दृष्टिकोण लेकर सम्बन्धित सभी पक्षों पर विचार किया जाय और देखा जाय कि व्यक्ति के स्वाभाविक प्रगतिक्रम को अग्रगामी बने रहने में व्यवधान कौन उत्पन्न करता है । किस प्रकार अड़चनें खड़ी करता और गतिरोधों की चट्टानें अड़ाता है । साथ ही कौन से ऐसे क्षेत्र हैं जो मानवीय व्यक्तित्व, वर्चस्व, कौशल, स्वभाव, वैभव एवं बल-विवेक को प्रखर बनाने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं । इस सन्दर्भ में शिक्षा, साहित्य, कला, विज्ञान, उत्पादन, चिकित्सा क्षेत्र, खेल, विनोद आदि अनेकों की उपयोगिता और क्षमता का उल्लेख किया जा सकता है और यह सिद्ध किया जा सकता है कि उनमें सुधार-परिष्कार बन पड़े तो व्यक्ति और समाज की स्थिति आज की तुलना में कल कहीं अधिक अच्छी हो सकती है ।

उपरोक्त सभी आधारों की वरिष्ठता स्वीकार करते हुए भी यदि यह वर्गीकरण छोटा करना हो और जिनके अंचल में अनेक प्रसंग सिमट सकते हैं, उन्हें खोजा जाय तो फिर शक्तिमान तथ्य दो ही रह जाते हैं । अन्य सन्दर्भ उनकी शाखा-प्रशाखा के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं । इन दो में से एक है-शासन, दूसरा है धर्म । दोनों ही क्षेत्रों में विकृतियाँ तो अगणित घुस पड़ी हैं फिर भी सम्भवतः आश्रय उन्हीं का लेना होगा । सुधार-समीक्षा के लिए कोसने, खीजने में हर्ज नहीं, किन्तु तथ्यतः यही दो शक्तियाँ हैं जो मनुष्य के भाग्य भविष्य को बनाने-बिगाड़ने की भूमिका निभाती हैं और निभाती रहेंगी । इनमें से एक को भी निषिद्ध नहीं ठहराया जा सकता है और किसी भी स्थिति में इनसे विमुख रहने, पीछा छुड़ाने की बात बन पड़नी सम्भव नहीं । इसलिए अच्छा हो कि इन दो की खामियों को सुधारने की बात सोची जाय और उनके परिष्कृत स्वरूप के साथ उत्पन्न होने वाले प्रभाव परिस्थितियाँ सुधारने में प्रयुक्त किया जाय ।

मानवीय सत्ता दो भागों में विभक्त है-एक पंच भौतिक प्रकृति पदार्थों से विनिर्मित शरीर । दूसरा आस्था-भावना, विचारणा वाला चेतन । उसकी प्रेरणा का अनुगमन करते हुए काया विभिन्न प्रकार की गतिविधियाँ कठपुतली की तरह सम्पादित करती रहती है । जड़ और चेतन के सम्मिश्रण से यह समूचा संसार बना है । ब्रह्माण्ड की ही छोटी अनुकृति पिण्ड भी है । उसका प्रत्यक्ष रूप पदार्थ से बना है, वह पदार्थों की सहायता से ही जीवित रहता है, पदार्थों में ही रमण करता है । उसका दूसरा परोक्ष रूप चेतन है जिसमें भाव-सम्वेदनाएँ, आस्थाएँ और विचारणाएँ अपने-अपने ढंग से काम करती हैं । इन्हें भी तृप्ति, तुष्टि, शान्ति चाहिए । वे कर्त्तव्य-पालन, मर्यादा निर्वाह एवं स्नेह-सौजन्य अपनाने से उपलब्ध होती हैं । दूसरे शब्दों में इन्हीं को उत्कृष्ट चिन्तन, आदर्श कर्तृत्व के नाम से जाना जाता है ।

शरीर का अस्तित्व और उसका निर्वाह भौतिकी द्वारा होता है । भौतिकी के इस पक्ष का नियमन-निर्धारण राज्य सत्ता द्वारा होता है । उत्पादन, वितरण, परिवहन, संचार, स्वास्थ्य, चिकित्सा, शिक्षा, नियमन, व्यवस्था, अनुशासन, न्याय सुरक्षा जैसे विषय मनुष्यों के निर्वाह क्रम के साथ ही जुड़ते हैं । इसलिए शासन को मनुष्य की वैयक्तिक एवं सामूहिक निर्वाह व्यवस्था के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ समझा जा सकता है । अभाव, अशक्ति, अज्ञान जैसी कठिनाइयों का समाधान करने की आशा, अपेक्षा शासन में रखी जा सकती है ।

यों अब पुरातन वर्गीकरण ढीले पड़ गये और शासन के हाथ में चिन्तन को प्रभावित करने वाली प्रचार क्षमता भी चली गई है । फिर भी उसका प्रमुख विषय प्रज्ञाजनों के निर्वाह क्रम में सन्तुलन बिठाये रहना ही है । रेडियो, टेलीविजन, सरकारी प्रेस, प्रकाशन, समाज कल्याण, जन-सम्पर्क, स्कूली पाठ्यक्रम आदि विभागों के माध्यम से यों सरकारें लोकचिन्तन को भी एक सीमा तक प्रभावित करती हैं फिर भी उनका वह मूल विषय है नहीं । जहाँ तक नैतिक प्रश्नों का, व्यक्तित्व का, परिष्कृत करने वाले सन्दर्भों का, परम्पराओं के प्रवाह का सम्बन्ध है वे किसी नीति-निष्ठा तन्त्र से प्रसारित होने पर ही प्रभावी बनती हैं अन्यथा चिह्न पूजा जैसी विडम्बना बनकर रह जाती हैं । शासनतन्त्र और अर्थतन्त्र दोनों ही लाग-लपेटों से भरे, कुचक्रों से सने रहते हैं । उनकी कूट-नीति प्रमुखता को सभी जानते हैं, इसलिए इस मंच से किये गये प्रचार को सही होने पर भी सन्देह की दृष्टि से देखते हैं और किसी प्रयोजन विशेष में छिपे होने की गन्ध सूँघते हैं । स्पष्ट है कि सरकारी प्रचारतन्त्र लोगों को उपयोगी जानकारियाँ देने तक अपनी प्रभाव क्षमता की इतिश्री कर लेता है । उसमें इतना दमखम नहीं है कि व्यक्ति या समाज की पतनोन्मुख दिशा-धारा को उलट कर उसे आदर्शवादिता के अन्तरिक्ष में उछाल सके । यह कार्य विशुद्ध रूप से धर्मतन्त्र का है ।

धर्म का स्वरूप आज पूजा-पाठ, रीति-रिवाज, कर्म-काण्ड, कथा-प्रवचन, जप, तप तक सीमाबद्ध होकर, अनेकानेक सम्प्रदायों में बँट गया है । पूर्वाग्रह ही उसकी पूँजी है । अपनी बात सच तथा दूसरे की झूठ मान बैठने की हठवादिता उन्हें परस्पर एकत्रित तक होने नहीं देती । विचार-विनिमय से किसी निष्कर्ष पर पहुँचने की, मिल-जुलकर धर्मोद्देश्य की दिशाधारा अपनाने की बात तो दुराग्रह के रहते बनती ही नहीं । धर्मध्वजियों के निहित स्वार्थों ने भावुक जनता को अपने-अपने जाल-जंजालों में इस प्रकार जकड़ रखा है कि वे शोषकों के शोषण बने

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

रहने वाले निरीह प्राणियों से अधिक कुछ रह ही नहीं जाते । औंधी-सीधी रंग-बिरंगी कल्पनाओं में उड़ते रहने, निरर्थक विडम्बनाओं में धन और समय गँवाकर स्वर्ग मुक्ति झटक लेने, देवताओं को उँगली के इशारे पर नचाने के मनसूबे ही यह तथाकथित धर्म प्रेमी बाँधते रहते हैं। ''राम मिलाई जोड़ी, एक अन्धा एक कोढ़ी'' की उक्ति इन धर्म-ध्वजी और स्वर्ग प्रेमी लोगों के साथ इसी प्रकार बैठी रहती है जैसे रिश्वत देने वाले, जुआ खेलने-खिलाने वाले, नशा-पिलाने वाले, रंडी-भडुए आपस में तालमेल बिठा लेते हैं। उनके व्यवसाय निषिद्ध होने पर भी चिरकाल से अपनी पटरी पर निर्बाध गति से चल रहे हैं । ठीक इसी प्रकार धर्म व्यवसाय भी अपनी मंडी में अपने ग्राहकों के सहारे सर्वत्र लुढ़कता-दौड़ता देखा जा सकता है ।

राजतन्त्र अधिकारियों में घुसी हुई विकृतियों को छीछलेदारी अखबारों, हिस्सेदारी से वंचित राजनीतियों द्वारा किस प्रकार होती रहती है, इसे अखबारों के पाठक और वैसी सभाओं में पहुँचने वाले सम्पर्क में आने वाले आये दिन पढ़ते-सुनते रहते हैं । ऐसी दशा में भी कोई यह नहीं सोचता कि शासन को समाप्त कर दिया जाय । यह और भी बुरी बात होगी । भला-बुरा जैसा भी कुछ ढाँचा बना हुआ है उसे मान्यता तो मिली हुई है । अनुशासन की लकीर तो बनी हुई है । सुधार की आशा तो है, पर यदि शासनतन्त्र रहा ही नहीं तो अराजकता फैलेगी, जंगल का कानून चलेगा और बड़ी मछलियाँ सभी छोटी कमजोरों को उदरस्थ करके रहेंगी । इसलिए शासन की खामियों को कोसते हुए भी कोई यह नहीं सोचता कि उस ढाँचे को समाप्त कर दिया जाय । ठीक यही बात धर्मतन्त्र के सम्बन्ध में भी है । उसे सुधारने की बात ही सोची जानी चाहिए । अभी वह स्थिति नहीं आई कि फोड़े वाले हाथ को ही काट कर फेंक दिया जाय । अभी छोटे आपरेशन और मरहम फुल्टिस से काम चलने की गुंजायश है । शासन और धर्म दोनों ही रुग्ण हो गये हैं । उनका उपचार होना चाहिए और बीमारी को मारने, बीमार को बचाने की गति अपनानी चाहिए । संव्याप्त अव्यवस्था को नियन्त्रण तक में लाने के लिए उज्ज्वल भविष्य का उद्यान उगाने के लिए जिस मार्ग पर चलना है उसके लिए शासनतन्त्र और धर्मतन्त्र के दोनों कदम क्रमबद्ध सुनियोजित रूप से तालमेल बिठाते हुए उठने चाहिए । विभीषिकाओं से मुक्ति पाने और सुनहरे लक्ष्य तक जा पहुँचने के लिए इन्हीं दोनों कदमों को प्रगति-पथ पर अग्रसर करना होगा । दोनों असम्बद्ध रहेंगे, एकाकी अहम्मन्यता में डूबे रहेंगे तो एक पहिये की गाड़ी किस प्रकार परिवहन का उद्देश्य पूरा करेगी ? लँगड़ी दौड़ से कितनी दूरी कितनी गति से पार हो सकेगी ? यों काम तो एक हाथ वाले भी चलाते हैं, पर छैनी, हथौड़े का कारगर प्रयोग करने वाले जानते हैं कि दोनों हाथों के बिना कुछ कारगर परिणाम बन नहीं पड़ता । कोसने, झिड़कने की भी उपयोगिता है, पर उसका सन्तुलित प्रयोग होना चाहिए । सम्बन्ध सूत्र तोड़ बैठने की बात सोची जाय तो पति-पत्नी का विग्रह घर-परिवार की सारी व्यवस्था ही गड़बड़ा देगा । दोनों की अपनी क्षमता उपयोगिता है, उसका चमत्कार तभी देखा जा सकता है जब सघन सहयोग का आधार बना रहे । बिजली के दो तार मिलने से ही करेन्ट प्रवाहित होता है । राजतन्त्र और धर्मतन्त्र का स्वरूप और कार्य क्षेत्र भले ही पृथक् रहे, दोनों अपने-अपने उत्तरदायित्व अपने-अपने ढंग से निवाहें, पर साथ में यह भी ध्यान रखें कि एक के बिना दूसरा अपूर्ण रहेगा । उस प्रयोजन की पूर्ति न कर सकेगा, जो सन्तुलन बना रहने पर सरलतापूर्वक सम्भव हो सकता है । हमारा चिन्तन सब कुछ या कुछ नहीं का रहा है । वैर और प्रीति के बीच का मध्यवर्ती मार्ग तालमेल बनाये रहना भी हो सकता है, उस दिशा में गम्भीरतापूर्वक सोचा ही नहीं जाता । संघर्ष और सहयोग का समन्वय हो सकता है । एक आँख दुलार की, दूसरी सुधार की बनी रहे तो विकृतियों का उन्मूलन और सत्प्रवृत्तियों का सम्वर्धन साथ-साथ चल सकता है । कुशल माली यही करते हैं। निराई और सिंचाई का परस्पर विरोधी सिलसिला साथ-साथ चलाते रहते हैं और इसे विसंगति नहीं पूरक प्रक्रिया मानते हैं । जिन्हें साथ-साथ जीना-मरना और रहना है, उन्हें सुधार और सहकार की रीति-नीति अपनानी चाहिए ।

प्रस्तुत विकृतियाँ उपरोक्त दोनों ही क्षेत्रों के गड़बड़ाने से उत्पन्न हुई हैं । गाड़ी को फिर से पटरी पर लाने के लिए दोनों ही लाइनों में जो टूट-फूट हुई है उसे सुधारने की आवश्यकता है । सोचा जाना चाहिए कि यह विश्व समाज, जन-समुदाय जड़ और चेतन के समन्वय से बना है । जहाँ तक मानवीय व्यवस्था का सम्बन्ध है, वहाँ भौतिक क्षेत्र को समुन्नत, सुसन्तुलित बनाने का काम शासन-तन्त्र को सँभालना चाहिए और चेतना की भावना, मान्यता, विचारणा, दृष्टिकोण में उत्कृष्ट आदर्शवादिता को, शालीन सुसंस्कारिता को प्रखर बनाये रहने का उत्तरदायित्व धर्मतन्त्र को सँभालना चाहिए । इसके बिना उस लक्ष्य तक पहुँचना सम्भव न हो सकेगा जिसमें दुष्प्रवृत्तियों का उन्मूलन और सत्प्रवृत्तियों का सम्वर्धन अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है ।

धर्मतन्त्र की उपेक्षित, किन्तु मूर्धन्य शक्ति-सामर्थ्य

समझा यह जाता रहा है कि धर्म कुछेक भावुक भक्तजनों, पुरातनपंथियों, पूर्वाग्रहग्रस्तों की रंग-बिरंगी कल्पना उड़ानों का समुच्चय है । व्यक्तिवादी संकीर्णता का, परावलम्बन का, पलायनवाद का दर्शन ही प्रकारान्तर से धर्म-धारणा का प्रतिपादन और कार्यक्षेत्र है । उसके प्रभाव चक्र में फँसकर व्यक्ति यथार्थता का पर्यवेक्षण करने में असमर्थ हो जाता है । फलतः भ्रम-जंजालों में उलझता-

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

उलझाता ऐसी रीति-नीति अपनाता है कि जो सार्वजनिक हितसाधन की दृष्टि से निरर्थक जैसी बनकर बैठ जाती है। आमतौर से विज्ञ समाज की मान्यताएँ धर्म के सम्वर्धन में इसी से मिलती-जुलती पाई जाती हैं और वे उसे कूड़ा-करकट समझकर उपेक्षा से मुँह मोड़ लेते हैं । अच्छा होता वे उसे सुधारने का प्रयास करते और अवांछनीय आधिपत्य एवं प्रचलन को निरस्त करके सुधारक का स्थान ग्रहण करते । पर ऐसा हुआ नहीं, होता नहीं, कारण यह है कि धर्मतन्त्र की शक्ति एवं उपयोगिता के सम्बन्ध में गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं किया गया और उसे कूड़ा-करकट समझकर मनीषा और प्रतिभा द्वारा मुँह मोड़ लिया गया । यदि उस क्षेत्र की क्षमता, व्यापकता और उपयोगिता को समझा गया होता तो ऐसी सड़ने और दुर्गति न होने देने के लिए विज्ञजनों ने निश्चय ही कुछ गम्भीर सोचा और ठोस कदम उठाया होता ।

प्राचीनकाल में हर क्षेत्र का विस्तार कार्यक्षेत्र एवं प्रयोगतन्त्र सम्मिलित था । धर्म शब्द के अन्तर्गत ही उन सभी का समावेश होता था जो मानवीय चेतना को परिष्कृत, प्रगतिशील बनाये रहने के लिए आवश्यक थे । अब वैसी बात नहीं रही । जब विचारणा और व्यवस्था के सभी क्षेत्रों में विस्तार हुआ है तो धर्म के क्षेत्र विस्तार को भी पृथक्-पृथक् धाराओं में बहते हुए और अन्त में एक सरोवर के रूप में जा मिलते हुए देखा जा सकता है । चेतना को, चिन्तन को प्रभावित करने वाले तन्त्रों में साहित्य, संगीत, कला की क्षमता सर्वविदित है । दर्शन से व्यक्ति और समाज के चिन्तन को दिशा मिलती है । भाव सम्वेदनाओं और आस्था मान्यताओं को किसी बिन्दु पर एकत्रित करना उसी का काम है । उत्कृष्टतावादी दर्शन को अध्यात्म कहते हैं । धर्म तत्त्व का बौद्धिक पक्ष यही है ।

दूसरा पक्ष कर्म है । इसमें प्रचलन परम्परा का समावेश है । कर्मकाण्डों से लेकर रीति-रिवाजों तक की श्रद्धा इसी में केन्द्रीभूत है । इसी व्यवहार पक्ष को इन दिनों धर्म माना जाता है । वह विभिन्न समयों पर विभिन्न परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुरूप जहाँ-जहाँ जिस-जिस रूप में पनपा, उस विधि-व्यवस्था को सम्प्रदायों का रूप मिलता चला गया है । कहना न होगा कि मनुष्य की क्षुद्रता जहाँ भी अवसर पाती है, वहीं घुस-पैठ किये बिना नहीं चूकती । धर्म-धारणा का, सम्प्रदायों का दुराग्रही रूप बना और अध्यात्म स्वरूप चेतना के सुनियोजित आस्था विज्ञान के आधार पर लोकमानस को उत्कृष्टता का पक्षधर बनाने वाला न रहकर देवाश्रित बनाने जैसी विडम्बना में उलझ गया । पर्यवेक्षण से प्रतीत होता है कि धर्म की मूल सत्ता विशुद्ध वैज्ञानिक है, उसमें लोक- चिन्तन की शालीनता को सहकारिता के प्रति निष्ठावान बनाना है । पूजा, उपासना, शास्त्र, कथा-सत्संग, दान-पुण्य, तीर्थ, भजन आदि क्रिया-कृत्यों के पीछे मूलभूत उद्देश्य एक ही है कि मानवीय चिन्तन, पतनोन्मुख प्रवृत्तियों से विरत होकर पवित्रता और प्रखरता अपनाये, संयमी और उदारचेता बने । चरित्रनिष्ठा और समाजनिष्ठा के सभी महत्त्वपूर्ण तथ्य उसमें कूट-कूट कर भरे हैं । चिथड़ों में लिपटा हुआ हीरा भी ग्राह्य है । प्रस्तुत विकृतियों के ढकोसले को उघाड़कर यदि अन्तराल तक पहुँचने और वस्तुस्थिति का पता लगाने का प्रयत्न किया जाय तो पता चलेगा कि धर्म मानवीय उत्कृष्टता का जीवन प्राण है ।

मनुष्य की काय संरचना, पशु वर्ग के अन्य जीवधारियों से भिन्न नहीं है । विकासवादियों के अनुसार वह वानर वंश का है । यदि वैसा है तो मानना पड़ेगा कि पूर्वजों ने एक पेड़ से दूसरे पर उछल जाने की क्षमता भी क्रमशः गँवा दी और लम्बी वाली सुशोभित पूँछ से भी हाथ धो बैठा । इस प्रकार पूर्वजों की तुलना में उत्तराधिकारी घाटे की दिशा में ही चले हैं, पर वस्तुतः वैसा है नहीं । निश्चित रूप से हम आगे बढ़े हैं । इस अभिवृद्धि में उनका बौद्धिक पक्ष ही प्रमुख भूमिका निभाता रहा है । व्यक्ति आचार संहिता, समाज संगठन, शिक्षा, परिवार, विज्ञान, अर्थतन्त्र, शासन, चिकित्सा आदि अगणित उपयोगी अवलम्बनों के सहारे ही मनुष्य समर्थ, सुसम्पन्न एवं सुसंस्कृत बन सका है। प्रकृति पर उसके आधार की चर्चा गर्वपूर्वक की जाती है ।

वैज्ञानिक आविष्कारों ने उल्लेखनीय भूमिका निभाई है । यह सारा चमत्कार मानवीय चेतना के प्रगतिशील दिशाधारा में बहने का सत्परिणाम है । तात्पर्य एक ही है मानवीय सत्ता में प्रमुखता उसके चेतना पक्ष की है । शरीर तो औजार, उपकरण, वाहन मात्र माना जाता है । शरीर की सुडौलता, समर्थता, सक्रियता का भी आधारभूत कारण चिन्तन-चेतना ही है । यदि वह गड़बड़ाने लगे तो भली-चंगी काया को रुग्ण, अदक्ष, कुरूप बनाने और अकाल मृत्यु का ग्रास बनने में देर न लगे । हर दृष्टि से चेतना की ही गरिमा, वरिष्ठता सिद्ध होती है । इसी दशा में जो विज्ञान-दर्शन, निर्धारण-प्रवाह उसे सुनियोजित दिशाधारा प्रदान करता है, उस धर्म तत्त्व की महिमा उपयोगिता इतनी ऊँची ठहरती है कि उसे एक शब्द में मनुष्य का भाग्य विधाता कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है । यदि उसका अस्तित्व उभर कर आगे न आया होता तो शारीरिक संगठन एवं मानसिक संरचना की दृष्टि से अनेकों प्राणियों की तुलना में ओछा पड़ने वाला आदमी इतना ऊँचा न उठ सका होता जितना कि इन दिनों जा पहुँचा है ।

साधन-सामग्री का अपना महत्त्व है, पर वह है शरीर के लिए, सुविधाएँ उसी को चाहिए । पंच तत्त्वों का बना शरीर पदार्थों पर निर्वाह करता है । पदार्थों में ही मोद मनाता है । उसकी सत्ता एवं प्रकृति अपने सजातीय को चाहती समेटती है तो यह स्वाभाविक है । वैज्ञानिक उपलब्धियाँ, अर्थतन्त्र के आधार पर मिलने वाली सुविधाएँ और शासन द्वारा की जाने वाली व्यवथाएँ मिल-जुलकर काय-कलेवर का, सामुदायिक विकास का आधार खड़ा करती हैं । यह आवश्यक तो है, पर पर्याप्त नहीं । अन्तः-चेतना का स्तर गया-गुजरा हो । उसमें आदर्शों का,

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

मर्यादाओं का समावेश न हो तो पशु जगत की तरह हर समर्थता अपने से छोटों के लिए संकट ही उत्पन्न करती चली जायगी । पशुओं में प्रकृति ने मर्यादा अनुशासन की चेतना रखी है, इसलिए वे विनाश भी सीमित हो कर पाते हैं । यों समर्थ स्वच्छन्द मनुष्य की उच्छृंखलता तो सर्वनाश ही करके रख सकती है । उद्दण्ड मनुष्य अपना और दूसरों का अहित ही अहित करेगा । पशुता पैशाचिकता की दुष्प्रवृत्तियों से विरत करने और उसे पवित्रता, प्रखरता प्रदान करते हुए सर्वजनीन विकास में सहभागी बनने की प्रेरणा धर्मतत्त्व के अतिरिक्त और कहीं से नहीं मिल सकती ।

साधनों के उत्पादन में विज्ञान, अर्थतन्त्र, शासन की समन्वित भूमिका ने मनुष्य को साधन सम्पन्न बनाया है । उपभोग में विग्रह खड़ा न हो, समृद्धि का सही उपयोग हो, यह उत्तरदायित्व शासन वहन करता है । इतने पर भी मूल प्रश्न जहाँ का तहाँ बना रहता है कि यदि चेतना का स्तर गया-गुजरा रहा तो फिर जो कुछ हाथ में होगा, उसे दुर्व्यसनों में, दुष्प्रयोजनों में ही नियोजित किया जा सकेगा । फलतः परिणाम ऐसे भयंकर होंगे जो दरिद्रता की तुलना में कहीं अधिक कष्टकारक सिद्ध होंगे ।

इन पंक्तियों में यह कहा जा रहा है कि मानवीय चिन्तन के साथ उत्कृष्टता का जुड़ा रहना ही साधनों को सार्थक बना सकता है । चिन्तन ऊँचा हो तो ऋषियों की तरह स्वल्प साधनों में भी बादशाहों से बढ़कर सुखी, सम्पन्न एवं शानदार जीवन जिया जा सकता है । इसके विपरीत, यदि आन्तरिक निकृष्टता का बोलबाला तो समझना चाहिए, वैभव का वैसा ही दुष्परिणाम होगा जैसा कि रावण, कंस, हिरण्यकश्यपु, जरासिन्धु, वृत्तासुर आदि को अपने समुदाय समेत भुगतना पड़ा था । महत्ता, सम्पदा को समर्थता को तो मिलनी चाहिए पर यह नहीं भुला दिया जाना चाहिए कि दूरदर्शी, विवेकशीलता मेधा प्रज्ञा के अनुभव से वह सारी विभूतियाँ बन्दर के हाथ पड़ने वाली तलवार का काम करेंगी और उस पुरुषार्थ-सौभाग्य का परिणाम हितकर न बनकर विनाशकारी ही सिद्ध होगा । तथ्य को समझा जा सके तो चिन्तन की उत्कृष्टता ही सर्वोपरि ठहरती है, उसे विकसित करने के एकमात्र अवलम्बन धर्म-तन्त्र को इस विश्वव्यवस्था में सर्वोपरि स्थान, सम्मान मिलता है ।

फिर उसकी उपेक्षा क्यों हुई ? उत्तर एक ही है कि उसका स्वरूप, प्रभाव एवं विनियोग ठीक प्रकार समझा नहीं गया। यदि वैसा होता तो शासन सत्ता को, अर्थ-व्यवस्था को, वैज्ञानिक उपलब्धियों को महत्त्व देने वाले यह भी सोचते हैं कि यदि चेतना को परिष्कृत कर सकने में एकमात्र समर्थ सत्ता धर्म को पिछड़ी स्थिति में छोड़ दिया गया तो फिर अन्यान्य सभी उपलब्धियाँ निरर्थक बनकर ही नहीं रह जायेंगी, वरन् उनका दुरुपयोग होने पर वे विघातक भी सिद्ध होंगी ।

बुद्धितन्त्र को बहुत महत्त्व दिया जाता है । शिक्षा के स्कूली अभ्यासी, परमार्थ प्रधान अनुभव सम्बन्धित कितने अवलम्बन अपनाये जाते हैं और समझा जाता है कि जो जितना बुद्धिमान होगा वह उतना ही उपयोगी सिद्ध होगा, उतना ही समर्थ-सम्पन्न होगा । यह मान्यता भी आंशिक रूप से ही सत्य है । बुद्धि के सहारे वैभव कमाया जाता है, उसमें सन्देह नहीं, पर उस वैभव का श्रेष्ठतम सदुपयोग करके उसका वास्तविक, परिपूर्ण एवं श्रेयस्कर लाभ कैसे उठाया जा सकता है ? इसका निर्धारण उस प्रज्ञा के बिना सम्भव नहीं जो धर्म-धारणा के सहारे ही उत्पन्न एवं परिपक्व की जाती है ।

यह धर्मतन्त्र की दार्शनिक गरिमा हुई । उसका एक दूसरा पक्ष भी है-धर्मतन्त्र का प्रस्तुत स्वरूप सरंजाम का जनता पर प्रभाव और साधनों का बाहुल्य । यह दोनों ही शक्ति स्रोत ऐसे हैं जिनके सहारे व्यक्ति और समाज की परिस्थितियों को जमीन से आसमान तक उछाला जा सकता है । नरक से विरत करके स्वर्ग के साथ जोड़ा जा सकता है ।

आज धर्म के प्रति उपेक्षा, अवमानना का दौर है । फिर भी उसके जीण-शीर्ण कलेवर को यथावत् बनाये रहने में कितनी धनशक्ति और जनशक्ति नियोजित होती है, इसे देखकर आश्चर्य होता है । तीर्थ स्थानों के दर्शन, पर्व स्नान, चित्र-विचित्र कर्मकाण्ड, पण्डा-पुरोहितों को मिलने वाला दान, साठ लाख साधु बाबाओं का महँगा निर्वाह, मन्दिर मठों की प्रचुर आजीविका, धर्म संस्थानों के भव्य-भवन, उत्सव समारोह, कुम्भ पर्व, क्षेत्रीय धर्म स्थानों के मेले आदि में निरन्तर लगने वाली जनशक्ति और धनशक्ति का यदि लेखा-जोखा तैयार किया जाय तो प्रतीत होगा कि देश में शिक्षा और चिकित्सा पर होने वाले खर्च की तुलना में वह कहीं अधिक है । इसी प्रकार शादियों पर होने वाले, मृतक भोज में लगने वाले धन का विवरण बने तो पता चले कि औसत भारतीय की एक तिहाई आमदनी इन्हीं प्रचलित परम्पराओं में खप जाती है जिन्हें प्रकारान्तर से धर्म प्रथा का ढंग ही कहा जा सकता है । यह तो प्रत्यक्ष एवं सामूहिक रूप से धर्म प्रयोजनों के लिए नियोजित होने वाली श्रम, सम्पदा की चर्चा हुई । व्यक्तिगत रूप से कितने लोग कितना जप, तप पूजा-पाठ, व्रतदान आदि इस निमित्त करते रहते हैं । उस सबका भौतिक आकलन किया जा सके तो प्रतीत होगा कि राजतन्त्र में नियोजित शक्ति तो दबाव देकर वसूल की जाती है, किन्तु धर्मतन्त्र के लिए वह स्वेच्छा, श्रद्धा के आधार पर समर्पित किया जाता रहता है । विचारणीय है कि जब कलेवर के लिए इतना हो सकता है तो जीवन्त धर्म के लिए कितना कुछ जनसहयोग अर्जित हो सकता है और उसके सुनियोजन से उज्ज्वल भविष्य की संरचना में कितना बड़ा योगदान सम्भव हो सकता है ।

मुहीम-युग मनीषा को सँभालनी होगी

कभी व्यक्ति की निर्वाह परिधि छोटी थी, समाज की समस्याएँ भी नगण्य थीं । चिन्तन और दर्शन का विस्तार एक सीमित क्षेत्र में ही हुआ था । संसार के सुदूर क्षेत्र संचार एवं परिवहन माध्यमों के अनुरूप इतने निकट नहीं आये थे । भौगोलिक कठिनाइयों ने हर क्षेत्र को अपनी परिधि में सीमाबद्ध कर रखा था । तब धर्म का स्वरूप भी छोटा ही था । शास्त्रों का वाचन, पाठन-साधना, उपचार,

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

जप-तप, पूजा-अर्चा, कर्मकाण्ड, तीर्थ, व्रत आदि का जितना विस्तार था, उतने में ही काम चल जाता था । तत्त्वदर्शन प्रायः ईश्वर जीव, प्रकृति के निरूपण तक ही अपनी दौड़ लगाता था । उतने से ही भली प्रकार काम चल जाता था । निर्धारित आचार-संहिता और परम्परा जिनसे निभती थी वे अपने को धर्मात्मा मान लेते थे, पर अब वैसा नहीं रहा । अन्तरिक्षविज्ञानियों के अनुसार इस ब्रह्माण्ड का क्रमशः फुलाव विस्तार हो रहा है। ज्ञान-विज्ञान के सम्बन्ध में भी यही बात है । किसी समय आग जलाने, अन्न उगाने, पशु पालने, वस्त्र बुनने जैसे आविष्कार भी मनुष्य का सिर उतना ही गर्वोन्नत करते थे जितना कि आज अणु शक्ति, लैसर, होलोग्राफी एवं रॉकेट, कम्प्यूटर निर्माता, अन्तरिक्षीय उड़ान, पनडुब्बी, रेडियो, टेलीविजनों के निर्माता करते हैं । इस दृष्टि से विश्व के विकास-विस्तार की उपलब्धि असंदिग्ध है। असमंजस तो मात्र एक ही स्थान पर अड़ गया है कि बुद्धिमत्ता का पग-पग पर प्रमाण देने वाले मनुष्य का हृदय क्यों सिकुड़ता जा रहा है । उसकी भावना, आकांक्षा, आस्था, विचारणा क्यों पतनोन्मुखी हो रही है। आत्मीयता का सुविस्तृत क्षेत्र क्यों संकीर्ण स्वार्थपरता में बँधता-जकड़ता जा रहा है । गतिविधियों में निकृष्टता का समावेश कैसे सहन हो सका और क्यों स्वभाव का अंग बनता चला गया ?

धर्म की परिधि में नागरिक कर्त्तव्य, समाज संगठन, विचार विज्ञान, भाव-सम्वेदना, नीति शास्त्र, शिक्षा, कला, दर्शन, लोकाचार जैसे उन सभी प्रसंगों को एक साथ समेटकर चलना होगा जो चेतना को प्रभावित करते हैं । चिन्तन और कर्तृत्व की दिशाधारा निर्धारित करते और पृष्ठभूमि बनाते हैं। जब विज्ञान ने मत्स्यावतार की तरह अपनी परिधि को इतना विशाल व्यापक बना लिया है तो धर्म को सभी साम्प्रदायिक प्रथा-पूजा की सीमाओं में जकड़ कर रखे रहना सम्भव नहीं है । युग धर्म, विश्व धर्म, चेतना धर्म आदि शब्दों में ही धर्म की वर्तमान दायरे की व्याख्या-विवेचना करना और उसके भावी स्वरूप निर्धारण के सन्दर्भ में विचार कर सकना सम्भव हो सकता है । इसमें सम्प्रदायों को अपने-अपने ढंग से सोचने और अपनी रुचि को कार्यान्वित करने का नागरिक अधिकार है । उसे मनुष्य के मौलिक अधिकारों के कारण अपने ढंग से अपनी गतिविधियाँ चलाते रहने की छूट है, पर उस क्षेत्र के इस दावे को मान्यता नहीं मिल सकती कि वे जो सोचते हैं वही सत्य तथ्य या उचित है । ऐसा करने से ही फिर अन्य सभी प्रतिपादन मिथ्या हो जायेंगे और किसी प्रसंग पर नये सिरे से चर्चा-समीक्षा करने की गुंजाइश ही नहीं रहेगी। ऐसा गतिरोध उत्पन्न करने का किसी धर्म सम्प्रदाय को इस व्यापक दृष्टिकोण वाले युग में दुस्साहस नहीं करना चाहिए । वस्तुतः धर्म को ऐसी ही कट्टरता ने बदनाम किया है और इसी कारण अब उसे सम्प्रदाय कहकर काम चलाना पड़ रहा है, अन्यथा पूर्वकाल की तरह अभी भी अध्यात्म दर्शन और आचार धर्म का सम्मिलित स्वरूप मानव धर्म' 'विश्व-धर्म' के नाम से प्रतिष्ठित होता ।

प्रस्तुत समस्याएँ दीखती तो पदार्थपरक हैं, पर वस्तुतः वे हैं चिन्तन से सम्बन्धित । यदि ऐसा न होता तो वस्तुओं के वर्तमान बाहुल्य एवं स्तर में देखते हुए उसे अभूतपूर्व माना जाता और इतने से ही सर्वत्र सुख-शान्ति का, प्रगति एवं प्रसन्नता का वातावरण बन गया होता । विकृतियाँ चिन्तन क्षेत्र में घुसी हैं । दृष्टिकोण गड़बड़ाया है । आस्था क्षेत्र में दुर्भिक्ष पड़ा है । रुझान में निकृष्टता को प्रश्रय मिला है । फलतः संकीर्ण स्वार्थपरता, वासना, तृष्णा की तूती बोलने लगी है । उपलब्धियों का दुरुपयोग हुआ है और अमृत की दुर्बुद्धि ने विष बनाकर रख दिया है । वस्तुओं का बाहुल्य और भी बढ़ सकता है । व्यवस्था और कड़ी हो सकती है । शासन के लिए इतना ही सम्भव है, पर बात तो इससे कहीं अधिक आगे की, कहीं अधिक गहरी है । सुधार-परिष्कार तो चिन्तन चरित्र का होना है । इसके लिए उत्कृष्टता का पक्षधर जीवन दर्शन पुनर्जीवित करना होगा । उसे जन-जन के व्यवहार में उतारने, प्रचलन में सुनिश्चित स्थान बनाने वाले प्रचण्ड प्रयत्न करने होंगे । यह कार्य विशुद्ध रूप से 'धर्म' का है । अध्यात्म दर्शन की, आदर्श निर्वाह की दिशाधारा फिर से इस प्रकार ढालनी होगी जिसमें मानवीय गरिमा अक्षुण्ण रह सके और विश्व शांति का सुनिश्चित वातावरण बना रहे । यही अपने युग का सबसे बड़ा काम है । इसे 'युग मनीषा' के अतिरिक्त और कोई सम्पन्न नहीं कर सकता । यह न शासन के हाथ की बात है और न समृद्धि के माध्यम से इसे जुटाया जा सकता है । उन दोनों का समर्थन, प्रोत्साहन, सहयोग एवं पृष्ठपोषण भर मिलता चले तो बहुत है । उत्तरदायित्व तो मनीषा का है । अपना भार उसे ही वहन करना होगा ।

यहाँ युग मनीषा से तात्पर्य किसी व्यक्ति विशेष या संगठन समुदाय विशेष से नहीं वरन् उस समुदाय से है जो मात्र निर्वाह को ही सब कुछ नहीं मानता । अपने तक ही चिन्तन और श्रम को नियोजित नहीं रखे रहता, वरन् अपने समाज को एक अविच्छिन्न घटक मानकर उसके उत्थान-पतन की भी चिन्ता करता है । दुःख बँटाने, सुख बाँटने में सन्तोष अनुभव करता है । युग मनीषा, जिसे नव- सृजन का भार उठाना है, ऐसे ही भावनाशील, आदर्शवादी लोगों के समुदाय को कहा जायगा । एक शब्द में इन्हें 'जाग्रत आत्मा' नाम दिया जाता है। दूसरे तो **'पीत्वामोह-मयी मदिरा उन्मुक्त भूत्वा जगत्'** की श्रेणी में आते हैं, जिन्हें अपनी ही आपाधापी से फुरसत नहीं, वे तथाकथित बुद्धिजीवी कहलाते हुए भी इस समुदाय में सम्मिलित नहीं हो सकते । बुद्धिमानों की कमी नहीं, वे जिधर भी रस लेते हैं, बातों का बतंगड़ खड़ा कर देते हैं । देश, धर्म में उनका मस्तिष्क रस लेने लगे तो समझना चाहिए कि उस सन्दर्भ में धुआँधार बोलते, लिखते देखे जा सकते हैं, पर होता यह सब विनोद-व्यसन की तरह ही है, जिसमें करना

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

कुछ न पड़े, वाक्विलास से ही उबाल की इतिश्री हो जाय, समझना चाहिए कि खोखलेपन के अतिरिक्त यहाँ कुछ है नहीं । मस्तिष्कीय श्रम करने वाले वर्ग में यह प्रतिभा भी सहज ही हथेली पर सरसों की तरह उग आती है कि वे दिल्लगीबाजी की तरह देश धर्म के सम्बन्ध में जो लच्छेदार बकवास करने में अपनी प्रवीणता प्रदर्शित कर सकें । बहुपठित और बहुश्रुत, बातूनी आदमी तो और भी जल्दी इस प्रकार धुआँधार मचाते रह सकते हैं। यह इसलिए लिखा जा रहा है कि बुद्धि व्यवसायी वर्ग और युग मनीषियों का पृथक्करण सम्भव हो सके । जिन्हें समाज और संस्कृति की समस्याओं में गहरी दिलचस्पी हो और उसके लिए जो उपयुक्त हो वह निजी जीवन में उतारने और दूसरों पर अपनाने के लिए दबाव डालने का उभार अन्तराल में उमगे तो यह समझा जा सकता है कि युग मनीषा का उदय हुआ। ऐसी ही जाग्रत आत्माओं को प्राचीनकाल में धर्मात्मा कहा जाता था । आज तो कोई भी ऐरा-गैरा नत्थू खैरा उस पद का दावेदार दीखता है ।

शासन और धर्म की तुलना की गई है । उसमें शासन को कनिष्ठ और धर्म को वरिष्ठ माना जाता है, क्योंकि धर्म का कार्यक्षेत्र चेतना को सुसंस्कृत बनाना है जबकि शासन की पहुँच पकड़ सम्पन्नता के क्षेत्र तक ही सीमित रह जाती है । चेतना वरिष्ठ है, सम्पदा कनिष्ठ । व्यक्तित्व का मूल्यांकन श्रद्धापूर्वक होता है, जबकि पुरुषार्थ को सराहा भर जाता है । सर्वतोमुखी प्रगति में शासन से भी बढ़ी-चढ़ी भूमिका धर्म को निभानी पड़ती है । अस्तु स्वभावतः शासकों की तुलना में मनीषियों की गरिमा वरिष्ठ मानी गई है । वशिष्ठ-दशरथ, याज्ञवल्क्य-जनक, विश्वामित्र- हरिश्चन्द्र, चाणक्य, चन्द्रगुप्त, शंकराचार्य मान्धाता, समर्थ-शिवा, गाँधी-नेहरू जैसे युग्मों में यह स्पष्ट है कि धर्म ने नेतृत्व किया है और शासन ने निर्वाह । यह ऐतिहासिक दृष्टि से प्रमाणित संस्मरण हैं । दर्शन के क्षेत्र में अध्यात्म और धर्म के परिवार में वरिष्ठता और भी स्पष्ट है । जब कभी चेतना को, चिन्तन-चरित्र को प्रखर परिष्कृत करने की आवश्यकता पड़ी है, तब मनीषा को ही आगे आना पड़ा है । अपने समय के अवरोधों में भी इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं । शासन अपना काम करे, पर यह उचित नहीं कि मनीषा का उत्तरदायित्व भी उसी पर लद पड़े । इस दिशा में शासन रेडियो, टेलीविजन, प्रकाश आदि के द्वारा जो कर लेता है, उतने को भी न कुछ से कुछ कहकर सन्तोष किया जा सकता है । साहित्य और कला की विकृतियों पर अंकुश लगाने का कुछ कारगर कदम भर उठने लगे तो फिल्म एवं प्रकाशन उद्योग की विकृतियाँ फैलने से रोकने का आग्रह भी प्रस्तुत किया जा सकता है। युगदर्शन को शासन का सहयोग न सही समर्थन भर मिलता रहे तो काम चलेगा । अवरोध उत्पन्न करना भी प्रकारान्तर से समर्थन ही माना जायगा ।

लोकशक्ति के उदय की चर्चा समय-समय पर होती रहती है । उसके गुणगान किये जाते हैं और समर्थ बनाने पर जोर दिया जाता है । देखना होगा कि यह प्रत्यक्ष शासन शक्ति के समतुल्य परोक्ष लोकहित आखिर है क्या ? उसे जाग्रत आत्माओं का समुच्चय कह सकते हैं, भले ही वे मुट्ठी भर ही क्यों न हों । लोक-शक्ति का अर्थ जन-साधारण नहीं है । सर्वविदित है कि बहुमत में तो अवांछनीयता ही रहती है । अधिकांश लोगों को भ्रष्ट चिन्तन और दुष्ट आचरण में संलग्न पाया जाता है । यदि समूचे जन-समुदाय को समेटने की बात हो तो फिर लोगों का जैसा स्तर है वैसा ही संगठन भी बनेगा । उसके माध्यम से बन पड़ने वाले कार्यों से भी उत्कृष्टता की पक्षधर विधि-व्यवस्था बन पड़ने की आशा नहीं की जा सकती । सृजनात्मक उच्चस्तरीय कार्य तो सदा से वरिष्ठ लोग ही हाथ में लेते और सम्पन्न करते रहे हैं । उसी की पुनरावृत्ति इसी विषम वेला में भी होनी है । जाग्रत आत्माओं को ही नवसृजन की मुहीम सँभालनी है, उन्हें ही अग्रिम पंक्ति में खड़ा होना है । आवश्यक नहीं कि वे मतदान से चुने गये ही हों । गणमान्य प्रतिभाएँ जिस मार्ग पर चलती हैं, उस पर अनुगमन करने वालों की भी कमी नहीं रहती । इंजन चलता है, डिब्बे लुढ़कते हैं। अन्धड़ आता है, तिनके और धूलिकण बिना बुलाये ही साथ उड़ते हैं । प्रतिभावान दुष्ट-दुराचारियों ने समय-समय पर अपने ढंग की परम्पराएँ चलाने में सफलता पाई है तो कोई कारण नहीं कि युग-मनीषियों का समुच्चय विचारशील जन-समुदाय को साथ लेकर न चल सके । वस्तुतः भावनाशील आदर्शवादी और परमार्थपरायण व्यक्ति ही वास्तविक लोकशक्ति होते हैं । सृजनात्मक प्रयोजनों में उसी की भूमिका प्रमुख होती है । संख्या बल की तुलना में सदा मनोबल का, आत्मबल का पलड़ा भारी रहा है । अल्पमत में रहने पर भी सूर्य-चन्द्र असंख्य तारागणों से भरे-पूरे आकाश में अपनी गरिमा अक्षुण्ण बनाये रहते हैं । जाग्रत आत्माओं में पनपने वाली युगमनीषा के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है । प्रभाव उनका नहीं पड़ता जो बकवास तो बहुत करते हैं, पर स्वयं उस ढाँचे में ढलते नहीं । जिनने चिन्तन और चरित्र का समन्वय अपने जीवन-क्रम में किया है उनकी सेवा-साधना सदा फलती-फूलती रही है । चरित्रवान उपदेष्टा ही जन-मानस पर शासन करते, उसे सुधारते और तोड़ते-मरोड़ते देखे गये हैं । सेवा की जिनने सस्ती वाहवाही लूटने और दूसरों की आँखों में चकाचौंध करने को ही अपनाया है, निराशा उन्हीं के हाथ लगती है । जो दूसरों से कहे जाने वाले प्रसंगों का निजी जीवनचर्या की प्रयोगशाला में परख कर खरा सिद्ध करते हैं, उनके निर्धारण कभी असफल नहीं हुए । पवित्रता और प्रखरता शालीनता और उदारता के कदम सदा से लक्ष्य तक पहुँच कर ही रुके हैं । युग मनीषा यदि नवसृजन का समय के परिवर्तन का संकल्प चरितार्थ करने में कटिबद्ध होती है तो उज्ज्वल भविष्य की संरचना में कोई सन्देह रह नहीं जायेगा ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

जन-जागरण के लिये मनीषा का नेतृत्व

शासनाध्यक्षों, सामन्तों, सेनापतियों द्वारा लड़े गये युद्ध के दाँव-पेचों, रण-कौशल एवं जय-पराजय को इतिहासकारों ने विस्तारपूर्वक लिखा है और जनसाधारण ने भय, कौतूहल एवं आतंक भरे मनोयोग से पढ़ा है । इतने पर भी उन सब का कोई ऐसा उत्साहवर्द्धक परिणाम सामने नहीं आया जिससे उन आतंककृत्यों से कोई कारगर निष्कर्ष निकलने जैसी उपलब्धि हाथ लग सके । ये युद्ध क्यों हुए और क्या परिणाम उदाहरण छोड़कर गए इसका पर्यवेक्षण करने पर कुछ ऐसा हाथ नहीं लगता जिससे उनकी उपयोगिता की सफलता का मूल्यांकन हो सके । असंख्यों को त्रास देने और विनाश करने वाले युद्धों के मूल कारण में कहीं व्यक्तिगत दर्प-अहंकार का नग्न नृत्य दीखता है, कहीं विपुल वैभव के अधिष्ठाता बनने की ललक द्वारा वह कुकृत्य सँजोया हुआ दीखता है । जो कारण विज्ञापन के रूप में प्रस्तुत किये जाते रहे, उनमें तथ्य कम प्रचार अधिक प्रतीत होता है । वे कारण प्रायः गलतफहमियों पर निर्भर रहे हैं । मिल-जुलकर बैठने, परस्पर विचार-विनिमय करने और अवरोधों का ईमानदारी से हल खोज निकालने की दिशा में यदि बुद्धि दौड़ी होती और चेष्टा चली होती तो निश्चय ही भूतकालीन युद्धों में से अधिकांश के लड़े जाने की आवश्यकता ही न पड़ती ।

मतभेदों और विग्रहों के कारणों का सहज निवारण विज्ञजनों की पंचायत द्वारा निकल सकता है । न्यायपीठों के प्रचलन इसी प्रयोजन के लिए हुए हैं । वे घरेलू, गली-मुहल्ले के कार्यक्षेत्र के झंझट निपटा सकती हैं तो कोई कारण नहीं कि बड़े विग्रहों का हल उनके द्वारा न निकल सके । इसके लिए पंचायतों को इतना सशक्त, इतना सामर्थ्यवान बनाना पड़ेगा कि उनका दबाव मानने के लिए दोनों पक्षों को विवश होना पड़े । इसके लिए शासकीय स्तर की प्रताड़ना सम्भव न हो सके तो भी वे पंचायतें अपनी प्रतिष्ठा के बल पर जनसमुदाय को असहयोग, बहिष्कार का अहिंसात्मक आदेश दे सकती हैं । उसका परिपालन चल पड़े तो बड़े से बड़े दुराग्रही आतंकवादी को चीं बोलने के लिए विवश किया जा सकता है ।

इस दिशा में प्रयत्न नहीं हुए और भयानक युद्ध लड़े गये । उनके कारण परिस्थितियाँ सुधरी नहीं, वरन् बिगड़ी ही हैं । अच्छा होता, उन दिनों भी दूरदर्शिता, विवेकशीलता, न्यायनिष्ठा जीवन्त रही होती । जनविवेक समर्थ रहा होता और आगे बढ़कर आक्रान्ताओं से स्वयं मल्ल युद्ध करके अपने दर्प को चरितार्थ करने की छूट देता। उनके अहंकार, अविवेक, औद्धत्य की चक्की में निरीह लोगों को पिसने से रोकता, पर लगता है जनशक्ति ने उन दिनों इतना शौर्य, साहस सँजोया नहीं था, जिसके सहारे उद्धत उन्मत्तों के हाथ मरोड़ना और पीछे धकेल देना सम्भव हो सकता ।

प्रागैतिहासिक काल से लेकर आद्यावधि लड़े गये छोटे-बड़े अगणित युद्धों में हुए विनाश एवं रक्तपात के स्थान, कारण, स्वरूप कुछ भी क्यों न रहे हों, उनके पीछे अविवेक और दर्प की प्रधान भूमिका रही है । इसका प्रत्यक्ष दोष तो उन सत्ताधारियों पर ही जाता है, जिसे 'बन्दर के हाथ तलवार पड़ जाने' जैसा संयोग मिल गया और वे वधिक सैनिकों तथा भिन्न-भिन्न आयुधों की सहायता से विनाशलीला निर्बाध रूप से रच सके । यदि उनके ऊपर मनीषा का अंकुश रहा होता, जनमत का दबाव आड़े आता तो इस संदर्भ में जो होता रहा है उसका शतांश भी न हो पाता। ध्वंस में नियोजित हुई धनशक्ति, जनशक्ति एवं बुद्धि, प्रतिभा का उपयोग यदि सृजन कृत्यों में हुआ होता तो खाई खोदने में लगी शक्ति का दीवार चुनने जैसा उपयोग हो सका होता, तब नजारे कुछ दूसरे ही दीख पड़ते । पतन का नरक बनाने में जिन शक्तियों ने महाविनाश के सरंजाम जुटाये वे ही यदि लोकमंगल में निरत रही होतीं तो फिर इतिहास दूसरे ही ढंग से लिखा जाता ।

जिन मानवीय प्रयत्नों ने इस ऊबड़-खाबड़ खाई-खण्दकों वाली, झाड़ियों और टीलों से विद्रूप स्तर की धरती को समतल, उपजाऊ और हरी बनाया, वही यदि अपने प्रयास ठीक उसी दिशा में नियोजित रखे रहते तो फिर मनःस्थिति और परिस्थितियों में सुखद सम्भावनाओं का निरन्तर बढ़ते चलना न कठिन रहता, न असम्भव दीखता । अतीत में जिन दिनों सभी की समझदारी काम कर रही थी उन दिनों मुट्ठी भर मूर्धन्यों ने इसी धरती पर सतयुगी वातावरण बनाया, स्वर्ग उतारा और स्वल्प साधनों से ही सुख-शान्ति की मोदमयी परिस्थितियों का निर्माण किया था । वह न तो दैवी चमत्कार था और न जादुई प्रकरण । मात्र मानवीय क्षमता का सही दिशा में-सही उपयोग होने से ही यह सब कुछ बन पड़ा था । उसे मूर्धन्य मनीषियों की प्रतिभा का सही सदुपयोग बन पड़ने का प्रतिफल ही कहा जा सकता है । जब एक प्रयोग-परीक्षण एक समय में सफल सिद्ध हो सका तो दूसरी बार उसकी पुनरावृत्ति में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए ।

युद्ध लड़ने में जिन तथाकथित शूरवीरों का पराक्रम काम करता दीखता है, जो बलपूर्वक सत्ता सम्पदा हथियाये रहने में समर्थ रहने का कारण प्रख्यात होते और मूर्धन्य माने जाते रहे हैं, उन शासकों का प्रत्यक्ष दर्प-वैभव कितना ही बढ़ा-चढ़ा क्यों न रहा हो, उनमें एक मौलिक कमी-कमजोरी रही है कि लोककल्याण की भाव गरिमा से विरत रहने के कारण वे कभी लोकश्रद्धा के भाजन न बन सके । स्वेच्छा जनसहयोग उन्हें कभी नहीं मिला । जो कुछ अर्जित करते रहे उसके पीछे प्रलोभन और भय-आतंक का दबाव रहा, ऐसी दशा में वे सृजनात्मक प्रयोजनों के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक जन-साधारण का भाव सहयोग अर्जित करने में सर्वथा असफल रहे । तब फिर सामन्ती क्षमता का

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

उपयोग प्रगति प्रयोजनों में बन ही कैसे पड़ा होता ? इसी बात को यों भी कहा जा सकता है कि जिनके मन में लोकमंगल जैसी कोई धारणा ही न थी, जो वैसा प्रचार विज्ञापन मात्र करते रहने से अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान बैठते थे, जिन्हें देवी-देवताओं का अनुग्रह प्राप्त होने का प्रचार ही अपने को धर्मात्मा सिद्ध करने के लिए पर्याप्त था, वे लोकमंगल की बात गहराई से सोचते भी क्यों ? इस सब का परित्याग यह हुआ कि सर्वशक्तिमान समझे जाने वाले शासक पक्ष ने युद्धों के अतिरिक्त ऐसा कुछ किया नहीं जिससे सर्वजनीन सुख-शान्ति का स्तर ऊँचा उठता, मनः-स्थिति और परिस्थिति में उत्कृष्टता का, प्रगतिशीलता का कारगर अभिवर्धन सम्भव हो सका होता ।

वस्तुतः सर्वतोमुखी प्रगति का उत्तरदायित्व जाग्रत जनशक्ति का है । विशालकाय जनसमुदाय की खदान में सदा ऐसे नररत्न निकलते रहे हैं जो जनकल्याण की भावना अपनाकर सर्वजनीन प्रगति और सुख-शान्ति की बात सोचते रहते हैं । मात्र सोचते ही नहीं अपनी प्रतिभा को इस निमित्त नियोजित भी करते हैं । इस समुदाय को मुनि-मनीषी, ऋषि-तपस्वी, साधु-ब्राह्मण, भूदेव-पुरोहित आदि नामों से पुकारा और श्रेय-सम्मान दिया जाता रहा है । यही है वह कार्य जो दूरदर्शी विवेकशीलता अपनाता, उत्कृष्ट आदर्शवादिता के तत्त्वदर्शन से चिन्तन सँजोता और गतिविधियों को लोकमंगल की सत्प्रवृत्तियों में नियोजित किये रहता है । संक्षेप में यह जनसमुदाय की प्राण-ऊर्जा रीढ़ एवं जीवनी-शक्ति, जो स्वयं आगे रहती और अनेकों को प्रभावित, आकर्षित करके अनुकरण के लिए कटिबद्ध करती है । इसी के नेतृत्व में सामान्यजनों ने सभी गतिविधियाँ अपनाई हैं, जिनके कारण इस संसार की बहुमुखी प्रगति क्रमिक गति से होती रही है ।

इन पंक्तियों में युद्ध और सृजन के अद्यावधि इतिहास का पर्यवेक्षण किया जा रहा है और पाठकों को इस तथ्य से अवगत कराया जा रहा है कि सत्ता और मनीषा में से किसकी और क्या भूमिका रही है । फलतः उनमें से किसकी उपयोगिता, कितनी गरिमा, कितनी किस स्तर की सिद्धि होती रही है । यों तो शासन का प्रधान कार्य सुव्यवस्था, सुरक्षा और समृद्धि, प्रगति की योजनाओं को समर्थ सफल बनाना है । इस क्षेत्र में उस क्षेत्र से कुछ भी न हुआ हो सो बात भी नहीं है, पर जो कुछ हुआ है उसे जलते तवे पर कुछ बूँदें छिड़कने जितना स्वल्प ही कहा जा सकता है । यदि वैसा कुछ हुआ होता तो इतिहास में वैसी कुछ चर्चा अवश्य मिलती । राजा और युद्ध एक प्रकार से पर्यायवाचक रहे हैं । उनका यशोगान भी इसी रूप में होता रहा है कि ध्वंस की दिशा में किसका पुरुषार्थ कितना बढ़ा-चढ़ा रहा । जब विनाश के लिए और कुछ सामने न रहा तो फिर वन प्रदेशों पर चढ़ दौड़े और शिकार रूपी मनोरंजन के नाम पर धरती को खून से रँगते रहे । पूजा-पाठ की ओर मन मुड़ा तो भी उन्हें पशुबलि के अतिरिक्त और कुछ सूझ नहीं पड़ा । बात बढ़कर नरबलि तक भी जा पहुँचती रही है । इस समुदाय ने कभी सृजन की बात सोची भी तो मकबरे, शिवालय ऐसे बनाये जिनसे उनकी समृद्धि की गुण-गाथा चिरकाल तक देखी, दिखाई और गाई सुनाई जाती रहे ।

ध्वंस का, उत्पीड़न का, पतन का इतिहास गढ़ने में भूतकाल के किस वर्ग की क्या भूमिका रही इसे समझने के साथ ही हमें यह भी समझना होगा कि सृजन की बहुमुखी विधि-व्यवस्था बनाने में मनीषा का कितना योगदान रहा है । श्रम करने की क्षमता तो पशुओं की भी मनुष्य से कम नहीं है, पर वह सुनियोजित न हो तो फिर उससे उदरपूर्णा के अतिरिक्त और कुछ भी बन नहीं पड़ता। प्रकृति प्रेरणा से प्रजनन और उन्माद उभारने पर विनाश-विग्रह जैसे कुछ अनगढ़ प्रयास ही उपलब्ध श्रमशक्ति के सहारे बन पड़ते हैं । मनीषा ही है जो दूध में घी की तरह जनसमुदाय के मध्य घुली रहती है और अपनी विशिष्टता के आधार पर आगे बढ़ती और अनुयायी उत्पन्न करती और रचनात्मक प्रयत्नों का सूत्र संचालन करती है ।

श्रम शक्ति की तरह ही जनसमुदाय की दूसरी क्षमता मनःशक्ति है, जिससे मान्यताओं, आस्थाओं, भावनाओं, आकांक्षाओं का आधार बनता है और गतिविधियों का प्रवाह बनता है । मनःशक्ति में उत्कृष्टता के बीज तत्व तो हैं, पर उन्हें अंकुरित-पल्लवित, फलित करने के लिए जिस प्रकार किसान या माली के प्रयास काम करते हैं, उसी प्रकार मनीषियों द्वारा लोकचिन्तन में मानवीय गरिमा के अनुरूप आस्थाओं का बीजारोपण एवं अभिवर्धन होता है । मनीषा ही है जो जनशक्ति के बिखराव को समेटती, अनगढ़, पिछड़ेपन की प्रगतिशील सुसंस्कारिता में बदलती है । इसी आधार पर मानवीय प्रगति की सभ्यता एवं संस्कृति का सुखद और गौरवपूर्ण इतिहास गढ़ा गया है । प्रगति, समृद्धि और सुव्यवस्था के नाम पर जो कुछ इस संसार में दीख पड़ता है, उसे जनशक्ति के सृजन पक्ष का ही चमत्कार कहना चाहिए । एक कदम और आगे बढ़ना हो तो इसे मनीषा द्वारा मानवीय विशिष्टता को उभारने और सत्प्रयोजनों के लिए नियोजित करने की ऋषि परम्परा भी कहा जा सकता है ।

समस्या के हल करने में सत्तावानों के द्वारा अपनाया गया ध्वंस, दमन और उत्पीड़न का एक इतिहास है, जिसे शीत युद्ध या रक्तयुद्ध के नाम से जाना जाता है । जनशक्ति द्वारा मनीषा के नेतृत्व में किया गया सृजन प्रयास जिसने न केवल प्रकृति को बहुमूल्य अनुदान प्रदान करने के लिए बाधित किया वरन् शिक्षा, कला, चिकित्सा, शासन, विज्ञान, शिल्प आदि के क्षेत्रों में ऐसे चमत्कार प्रस्तुत किये जिनके कारण कभी का नर-वानर आज सृष्टि का मुकुट-मणि बनकर रह रहा है ।

समर्थता जब अहंकारियों के हाथ पहुँची है तो उसने दुरभिसंधियाँ रची हैं, किन्तु जब उसका जितना अंश जनशक्ति को दिशा दे सकने वाले मनीषियों के हाथ लगा

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

तो उन्होंने अभ्युदय और समाधान के लिए उसका प्रयोग किया है । आज की स्थिति में अगणित समस्यायें सामने हैं । उनका समाधान सत्ता के आधार पर हो या मनीषा के माध्यम से, उन्हें करने दिया जाय, यही आज की प्रमुख समस्या है । उसका अन्तिम निर्णय जनविवेक को ही करना होगा और उसे करने का ठीक यही समय है ।

प्रबुद्धजनों को समय की पुकार

जन्म से मनुष्य एक कोरे कागज की तरह होता है, जिस पर परिस्थितियों और वातावरण के संस्कार लिखे जाते हैं । इस बात को यों भी कहा जा सकता है कि मानवीय व्यक्तित्व आरम्भ में केवल एक कोरा आर्ट पेपर होता है, जिस पर जैसी भी चाहे तस्वीर बनाई जा सकती है, या वह एक प्रस्तर खण्ड होता है जिसकी कोई देव प्रतिमा भी बनाई जा सकती है तथा कोई जानवर, राक्षस या पशु की मूर्ति भी । आखिर किन बातों से प्रभावित होकर बच्चे का व्यक्तित्व किसी दिशा विशेष में ढलना आरम्भ होता है ? इस सम्बन्ध में प्रथम तो माता-पिता का नाम ही लिया जा सकता है । बच्चा शैशव काल में अपने माता-पिता का प्रभाव लेता है, उनके अनुकरण से सीखता है और शैशवावस्था से आगे बढ़ने पर, किशोर आयु में अपने परिवेश से प्रभावित होता है । सम्पर्क, वातावरण और परिवेश जिस स्तर के होंगे, बच्चे का या किशोर का, युवक का व्यक्तित्व भी उसी दिशा में ढलना-गलना आरम्भ हो जाएगा । जो बातें मनुष्य को सर्वाधिक प्रभावित करती हैं वे हैं उसके आस-पास का परिवेश, सामाजिक परिस्थितियाँ, सामयिक प्रवाह आदि । यथा आज का युवा वर्ग सिनेमा, नाटक, संगीत, अभिनय साहित्य आदि से जितना प्रभाव ग्रहण करेगा और उनसे जैसी प्रेरणाएँ ग्रहण करेगा, उसको उसी दिशा में बहुत कुछ अग्रसर होने की सम्भावना रहती है । विश्लेषण किया जाय तो प्रतीत होगा कि युवा वर्ग इन उपकरणों से जैसी प्रेरणाएँ ग्रहण कर रहा है, जिस तरह प्रभावित हो रहा है, उन्हें बहुत अच्छा नहीं कहा जा सकता । चारों ओर अश्लीलता व कामुकता से लेकर दुर्व्यसनों, दुष्प्रवृत्तियों तथा अवांछनीयताओं का जो नग्न-नर्तन दिखाई देता है, वह इसी बात का प्रमाण परिचायक है, वर्तमान विचारतंत्र इन दिशाओं में धकेल कर युवकों के सम्मुख एक प्रकार से दिशाहीनता की परिस्थितियाँ ही पैदा करता है । काश यह तंत्र और इस तंत्र के शीर्षस्थ व्यक्तियों का उपयोग सदाचार, कर्त्तव्यपालन आदर्शवाद और स्नेह-सेवा जैसी धर्म भावनाओं के प्रोत्साहन में किया जाता तो लोगों को न केवल अच्छा सोचने और अच्छा करने की प्रेरणाएँ मिलतीं, बल्कि उस आधार पर समाज में शुभ परिवर्तनों की आशा भी की जा सकती थी ।

इस तंत्र के अधिपति वर्ग को प्रबुद्ध वर्ग ही कहा जाना चाहिए । सिनेमा, नाटक, संगीत, साहित्य आदि का निर्माण करने, विचारों की प्रेरणा देने वाला वर्ग प्रबुद्ध व्यक्तियों का वर्ग ही कहा जाएगा और इसमें कोई संदेह नहीं है कि किसी भी समाज का प्राण प्रबुद्ध वर्ग होता है, किन्तु खेद है कि आज का प्रबुद्ध वर्ग अपनी शक्ति और क्षमता का उपयोग शुभ प्रेरणाओं के उत्कर्ष और सत्प्रवृत्तियों के प्रोत्साहन करने की अपेक्षा व्यावसायिक मनोवृत्ति से ही कर रहा है । ऐसे लोगों की संख्या नगण्य है जो अपना उत्तरदायित्व समझते हैं तथा उसे पूरा करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं, अधिकांश तो अपनी क्षमता का उपयोग दोनों हाथों से धन बटोरने और अधिक से अधिक नाम व यश कमाने में ही करते हैं ।

समाज में प्रबुद्ध व्यक्तियों का स्थान निर्धारित करते समय यह तथ्य भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि मनुष्य अपनी बौद्धिक क्षमता के कारण ही अन्य प्राणियों से विशिष्ट स्थिति में है । अन्यथा ऐसा कोई कारण नहीं है जो उसे अन्य प्राणियों से विशेष स्थान पर पहुँचाते । यदि उसमें बुद्धि न रही होती तो न वह सभ्यता का निर्माण कर पाता और न ही आज की तरह प्रगति कर उपलब्धियों का गगनचुम्बी ढेर लगा सकता था । इसी आधार पर कहा जा सकता है कि उसकी समस्त वैयक्तिक एवं सामाजिक प्रगति की सम्भावनाएँ उसकी विचारणाओं और कार्यपद्धति की दिशा पर निर्भर करती हैं। विचारणाएँ बुद्धि का ही वह सूक्ष्म रूप है जो उसकी दिशा निर्धारित करती है ।

व्यक्ति और समाज इन दिनों जिस तरह की अगणित समस्याओं तथा विपदाओं से त्रस्त है उसका कारण अनुभव की प्रेरणाओं का आधार गड़बड़ा जाना ही है । व्यक्तिगत जीवन में कोई बीमारी से घिरा है, तो कोई पारिवारिक चिंताओं से । आर्थिक तंगी से, बच्चों के विवाह की समस्या, जहाँ के तहाँ ही पड़े रहने और कोई प्रगति न कर पाने का मलाल है तो किसी को पारिवारिक जीवन में या मित्रों के सम्बन्ध में संदेह । कहने का आशय यह कि प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी समस्या से उलझन में त्रस्त है । पारिवारिक जीवन में ही नहीं सामाजिक जीवन में भी कितनी ही समस्याएँ व्याप्त हैं । कारण है समाज उन्हीं व्यक्तियों से तो बना है जो विभिन्न चिंताओं और उलझनों से ग्रस्त कुण्ठित होकर जी रहे हैं । ऐसे व्यक्ति जो स्वयं ही दु:खी और समस्याग्रस्त हैं स्वस्थ और सुखी समाज का निर्माण किस आधार पर कर सकेंगे ?

स्थिति पर गम्भीरतापूर्वक मनन किया जाए और कारणों को ढूँढ़ा जाय तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि इन समस्याओं के कारण बौद्धिक या वैचारिक नहीं है। यदि मनुष्य के विचार सही दिशा में विकसित होकर आस्थाओं का रूप ले सके तो उसकी रीति-नीति और क्रिया-कलापों का निर्धारण उन्हीं के अनुसार होने

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

लगेगा । विचार ही व्यक्ति की आस्थाओं का निर्माण और जीवन-दिशा का निर्धारण करते हैं । यदि अच्छे विचारों से सम्पर्क रहेगा तो अच्छी आस्थाएँ विकसित होंगी तथा विचारों का स्तर और सम्पर्क निचले स्तर का होगा तो उसकी रीति-नीति तथा कार्यपद्धति भी उसी के अनुसार होगी । इसलिए बुरे कार्यों में प्रवृत्त और कर्मों में लिप्त लोगों को दुर्बुद्धिग्रस्त कहा जाता है । अन्याय, अपराध, आलस्य, असंयम और आवेश मनुष्य को पथभ्रष्ट करते हैं, जबकि उसकी बुद्धि पतनोन्मुख हो जाती है। दुर्भाग्य से आज विश्व में इसी स्तर के लोग अधिक हैं और यह आशंका दिन-प्रतिदिन बलवती होती जा रही है कि यदि यही स्थिति बनी रही तो वह दिन दूर नहीं जब अणु-आयुधों द्वारा मनुष्य सामूहिक आत्महत्या कर लेगा ।

इन स्थिति में विचारशील व्यक्तियों का, बुद्धिजीवियों का, प्रबुद्ध व्यक्तियों का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे ऐसी कोई पहल करें जिससे जनमानस के चिन्तन और विचार की दिशाधारा उपयोगी तथा शुभ परिणाम प्रस्तुत करने में समर्थ हो सके । जनसाधारण में तो वह क्षमता होती नहीं कि वह अपने लिए स्वयं दिशाओं का निर्धारण कर सके । इसका एक कारण तो उनमें बौद्धिक क्षमताओं का अभाव है, दूसरे उनमें जितनी भी बौद्धक सामर्थ्य होती है वह रोटी कमाने और बच्चों के होने से आगत जिम्मेदारी का वहन करने में ही लग जाती है । आज की स्थिति में जीवनयापन कितना जटिल हो गया यह किसी से छिपा नहीं है । वैसे भी महँगाई कम नहीं है, फिर लोगों की आवश्यकताएँ नित-निरन्तर बढ़ती रहती हैं । उन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ही उस वर्ग के स्वल्प-साधन तथा थोड़ी सी योग्यता खर्च हो जाती है । इस स्थिति में इस वर्ग के लिए आदर्शवादी लक्ष्य बनाने और देश तथा समाज की बात सोचने का अवकाश कहाँ रह जाता है ? बुद्धि और मन की सारी परिधि ही जब जीवन निर्वाह तथा पारिवारिक उत्तरदायित्वों को पूरा करने, रिश्ते-नाते निभाने में लग जाती हो तो उनसे आगे बढ़कर देश, जाति तथा समाज के लिए दिशा देने की आशा करना व्यर्थ होगा ।

जहाँ इस वर्ग के पास ऐसी क्षमताएँ नहीं हैं कि वह देश समाज को नई दिशाएँ दे सके, वहीं यह वर्ग अनुकरण की दृष्टि से बढ़-चढ़कर है । अपने से ऊँची और अच्छी स्थिति में लोगों को वह जैसा सोचते और करते हुए देखता है, उसकी नकल करने के लिए तत्काल होड़ लगा लेता है । यह वर्ग या तो अपने से बुद्धिमानों की नकल करता है अथवा अपने से धनवानों की । धनवानों की नकल कर पाना कठिन ही है, इसलिए बुद्धिमान उन्हें शीघ्र ही प्रभावित कर सकते हैं । एक तो प्रबुद्ध वर्ग आर्थिक दृष्टि से भी उनकी अपेक्षा कुछ अच्छी और ऊँची स्थिति में रहता है, दूसरे लोग अपनी समस्याओं का हल ढूँढ़ने और परामर्श लेने के लिए भी प्रायः उन्हीं के पास जाते हैं । गाँव और मुहल्लों में जहाँ लगभग सभी लोग अशिक्षित रहते हैं वहाँ थोड़े पढ़े-लिखे और समझदार व्यक्ति उनका नेतृत्व करते हुए आसानी से हर कहीं देखे जा सकते हैं, इसका यही कारण है ।

प्रबुद्ध वर्ग समाज का कर्णधार है, यह कहने और मानने में राई-रत्ती भर संकोच या संदेह की गुंजाइश नहीं है, लेकिन इस वर्ग के सदस्यों की प्रखर प्रतिभा तभी सार्थक कही जा सकती है, जब वह अपनी आकांक्षाओं और स्वार्थों की सीमा से आगे बढ़कर देश, धर्म, समाज तथा संस्कृति के सम्बन्ध में भी सोचने और करने लगे । यह बात अलग है कि कौन कितने प्रभावशाली ढंग से सोचता है और किसके क्या कुछ करने का कोई प्रभाव होता है । किन्तु उनका कुछ भी सोचना और कुछ भी करना महत्त्व रखता है । प्रबुद्ध जन यदि इस तथ्य को गम्भीरतापूर्वक समझने लगें और यह मानने लगें कि हम देश और समाज के कर्णधार हैं तो उन्हें सार्थक तथा उपयोगी चिंतन की आवश्यकता अनिवार्य लगने लगेगी ।

इतिहास के पन्नों को उलटा जाय तो ढेरों ऐसे प्रमाण मिल सकते हैं जिनके द्वारा बड़े परिवर्तनों में प्रबुद्धजनों की महत्त्वपूर्ण भूमिका सिद्ध हो सकती है । संसार में जितने भी परिवर्तन हुए-राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक क्षेत्र में जितनी भी क्रान्तियाँ हुईं उनके मूल में थोड़े से प्रबुद्ध लोगों की प्रतिभा ही काम करती रही है । वैज्ञानिक अन्वेषणों का सारा श्रेय इसी वर्ग को जाता है । इतना ही नहीं, वैचारिक क्रान्ति के भी ढेरों उदाहरण देखने को मिल सकते हैं । थोड़े से प्रबुद्ध व्यक्तियों ने समय की माँग को समझा, जो स्वार्थ और विलास को ठोकर मारकर कुछ हजार भिक्षु उठे तथा देखते ही देखते पूरे एशिया में विवेक-बुद्धि की विजय पताका फहराने लगी । दो हजार वर्ष में विश्व की एक-तिहाई जनता को ईसाई धर्म में दीक्षित कर लेने का श्रेय ईसा के कुछ प्रबुद्ध शिष्यों को ही है । थोड़े से प्रबुद्ध व्यक्तियों ने भारतीय स्वतंत्रता के बीज बोए और देखते ही देखते वे बीज अंकुरित हो उठे । महात्मा गाँधी ने अपने कुछ थोड़े से साथियों को लेकर देश भर में ऐसी प्रचण्ड हलचल मचा दी कि समर्थ अँग्रेजों को यहाँ से भागना ही पड़ा । मार्क्स जब मरे तो उनके अन्तिम संस्कार के समय पाँच दस व्यक्ति ही उपस्थित थे, किन्तु जब प्रबुद्ध व्यक्तियों ने उनके विचारों का महत्त्व समझा तो विश्व का बहुत बड़ा भू-भाग साम्यवादी हो गया । गैर-साम्यवादी देशों में भी इस विचारधारा के प्रति कितना आकर्षण है, यह कोई कहने बताने की बात नहीं है ।

कोई भी देश कला-कौशल या शिक्षा-साधन के बल पर समृद्ध नहीं बनता है और न आर्थिक स्थिति के आधार पर ऊँचा उठता है, वह समृद्ध होता है-देश के प्रबुद्ध व्यक्तियों की सामर्थ्य और दिशा पर। भारत के निर्माण में ऐसे लोगों का किसी न किसी रूप में हाथ रहा है, पर इतिहास का निर्माण कुछ गिने-चुने प्रबुद्ध व्यक्तियों ने ही किया है। उन्हीं ने उस धारा का सूत्रपात किया जिसमें बहकर असंख्यों व्यक्ति राष्ट्र निर्माण के क्षेत्र में आगे आए।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

इन दिनों प्रबुद्ध व्यक्तियों की कमी पड़ रही हो सो बात नहीं है । प्रबुद्धजनों का आज भी अभाव नहीं है । अभाव है तो उनमें निखरे और सुलझे दृष्टिकोण का । आवश्यक यह है कि वे अपने हृदय में समाज निर्माण की कसक उत्पन्न करें तथा अपनी शक्ति और प्रतिभा को समाज की विभिन्न गुत्थियाँ सुलझाने में नियोजित करें । उन्हें अनुभव करना चाहिए, अपना दायित्व पूरा करने के लिए समाज उन्हें पुकार रहा है । वे अपनी क्षमताओं और शक्तियों के बल पर जनमानस को सही दिशा दें तथा अपने माध्यम से उदाहरण प्रस्तुत कर जनसामान्य को आदर्शों की दिशा में अग्रसर करें, तभी वे परमात्मा की दी गई विभूतियों के साथ न्याय कर सकेंगे ।

मनीषा सामयिक समाधान खोजें

वर्तमान समय को विनाश-विग्रह की वेला कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी । जिधर भी दृष्टि दौड़ती है उधर ही निराशाजनक स्थिति दीखती है, आशंकाओं और विभीषिकाओं से भरी हुई ।

प्रकृति विपर्यय को देखते हुए जी काँपता है और लगता है कि यह कहीं उन्हीं सम्भावनाओं का पूर्व रूप तो नहीं है, जिन्हें भविष्यवक्ताओं ने खण्ड प्रलय के रूप में प्रतिपादित किया है । देश और विदेश में घटित हो रही प्रकृति प्रकोपों की घटनाओं पर दृष्टि डालते हैं तो उन आशंकाओं की पुष्टि होती है, जिन्हें निकट भविष्य में घटित होने वाली बताया गया है । बाढ़, तूफान, भूकम्प, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष, सूखा, महामारी, दुर्घटना आदि के रूप में आये दिन ऐसे समाचार मिलते रहते हैं जिनसे अपना समय असाधारण विपदाओं से घिरा हुआ प्रतीत होता है ।

ज्योतिषशास्त्र की दृष्टि से बारह महीनों के भीतर दो अधिक मासों का होना, एक मास क्षय होना, एक महीने में दो ग्रहण पड़ना, ऐसे योग हैं जिनका परिणाम अशुभ होना चाहिए । धूमकेतु अगले दिनों उदय होगा ।

बढ़ते प्रदूषण से मानवी स्वास्थ्य की बर्बादी और खाद्यों की विषाक्तता की चर्चा होती रहती है । तापमान बढ़ने से ध्रुव प्रदेशों की बर्फ पिघलने, समुद्र में उभार आने और तटवर्त्ती क्षेत्रों के जलमग्न होने की आशंका वातावरण विशेषज्ञों द्वारा बताई जाती रहती है । हिमयुग की निकटता के लक्षण उभरते आ रहे हैं । ऐसे अन्यान्य कारण और भी हैं जिनसे भावी अन्धकार का आभास मिलता है । बढ़ता हुआ रेगिस्तान, कटते हुये जंगल, जनसंख्या की अप्रत्याशित वृद्धि, खाद्यान्नों की कमी जैसे कारण यह बताते हैं कि प्रकृति प्रवाह अनुकूलता की ओर नहीं प्रतिकूलता की ओर बढ़ रहा है ।

कोढ़ में खाज की तरह मनुष्यों में दुर्भावनाओं का दौर, आवेश, उन्माद बढ़ता जा रहा है । अपने देश में नजर दौड़ाने पर पंजाब, आसाम और दक्षिण भारत में उभरती अराजकता और अवांछनीय उत्तेजना को देखते हुये लगता है कि प्रगति की आकांक्षा करते और योजना बनाते हुये भी अवगति की ओर चल रहे हैं । तोड़-फोड़ में जितना विनाश होता है और विग्रहों की रोक-थाम में साधनों का जितना अपव्यय होता है, उसे देखने से प्रतीत होता है कि उज्ज्वल भविष्य की संरचना के लिए जितने साधनों की आवश्यकता है उन्हें बचाना और कमाना कठिन होता जा रहा है ।

यह सामूहिक गतिविधियों का, परिस्थिति प्रवाह का पर्यवेक्षण हुआ । व्यक्तिगत स्तर पर दृष्टिपात करने से स्थिति और भी अधिक निराशाजनक दीखती है । अब पेट और प्रजनन में संलग्न रहने का पशु स्तर भी लोगों को स्वीकार नहीं । एक पीढ़ी और उतरकर आसुरी विलास और दर्प जन-जन पर उन्माद की तरह चलता जा रहा है । क्रमशः उच्छृंखलता ही प्रगतिशीलता बनती जा रही है, और जो जितना उद्दण्ड, अपराधी, अनाचारी, आततायी है, वह उतना ही बड़ा पराक्रमी, साहसी होने का दम भरता है । तूती भी ऐसों की ही बोलती है । मनुष्य बेतरह संकीर्ण स्वार्थपरता के दायरे में अधिकाधिक सिकुड़ता जा रहा है । दूसरों के अधिकारों की, अपने कर्त्तव्य की बात कहीं सुनने को नहीं मिलती । हर किसी को अपनी ही अपनी पड़ी है । समर्थों को कुछ भी कर गुजरने के हौंसले बढ़ रहे हैं । दुर्बल अधिकाधिक दुर्बल और दीन-हीन होते जा रहे हैं । विषमता की खाई बढ़ती ही दीखती है और उसमें अधिक चौड़ी दरारें बढ़ती जा रही हैं ।

टकराव घर-घर में पनप रहा है । विद्वेष में कमी नहीं हो रही वरन् विलगाव का माहौल बन रहा है। स्नेह-सद्भाव घटता जा रहा है और झड़पने-हड़पने में एक दूसरे से आगे निकल जाने की बाजी लगी है। मित्र-घात, विश्वासघात ही इन दिनों सरल और सफल व्यवसाय बन चला है । लड़कर गिरने वाली युद्ध कला के दिन लद गये, अब मित्र बनाकर शत्रु का कौशल प्रकट करने की कला में हर कोई प्रवीण-पारंगत बनने का प्रयत्न कर रहा है ।

इन परिस्थितियों के बीच रहने वाले मनुष्य का भविष्य क्या है ? इस पर विचार करने पर आँखों के आगे अँधेरा छाने लगता है । मनुष्य हिमयुगों, दुर्भिक्षों और संकटों से लड़ता और विजयी होता रहा है, पर यादवी गृहयुद्धों ने उसका सर्वनाश कर दिया । अनाचार ने सोने की लंका को ढहा दिया और रावण, कुम्भकरण जैसे बलशाली धराशायी हो गये । कौरव-पाण्डवों का कुलनाश, कंस, बालि, जरासंध आदि का पराभव बताता है कि जब आदमी भीतर से गिरता है तो उसे उठाने वाला और कोई होता नहीं । प्रकृति प्रकोप और परिस्थितिपरक विग्रह का मानवी दुर्बुद्धि के साथ सीधा सम्बन्ध है । इस तथ्य को जितनी जल्दी समझा जा सके उतना ही अच्छा । प्रस्तुत

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

परिस्थितियाँ बहुमुखी हैं । वे अपने-अपने अलग-अलग समाधान माँगती हैं । इतने पर भी एक बात ध्यान रखने की है कि चेतना की सत्ता सर्वोपरि है । मानवीय चिन्तन और उसके स्तर एवं प्रवाह की क्षमता ऐसी है जिसकी तुलना और किसी से भी नहीं हो सकती । समृद्धि बढ़ाकर सुख-सुविधाओं का सम्वर्धन आज हर किसी को अभीष्ट है । गरीबी हटाओ के प्रयत्न जोर-शोर से चल रहे हैं, वे उचित भी हैं और आवश्यक भी । उन्हें अपनाने में कोई शिथिलता नहीं बरती जानी चाहिए, पर साथ ही यह ध्यान भी रहना चाहिए कि लोकचिन्तन का स्तर यदि गया-बीता बना रहा तो समृद्धि के बढ़ने पर भी उसका सदुपयोग सम्भव न हो सकेगा । दुर्व्यसनों में लगने वाले साधनों से जितनी हानि होती है उतनी अभावग्रस्त स्थिति में नहीं होती ।

साधनों का अपना महत्त्व है, पर समझा जाना चाहिए कि साधनों का अभाव मनुष्य के आलस्य, प्रमाद से ही होता है, अन्यथा पराक्रमी मनुष्य अपने लिए निर्वाह साधन न कमा सके ऐसा हो ही नहीं सकता । गरीबी मनुष्य के पिछड़े व्यक्तित्व की निशानी है, वह बनी रहे तो गरीबी हटने पर उसका स्थान दुष्प्रवृत्ति ग्रहण कर लेगी । फलतः संकट घटेगा नहीं, दूसरे आवरण में दूसरे प्रकार की विपत्ति में ग्रसित दिखाई देगा ।

सम्पदा कम है या अधिक । यह मूल प्रश्न नहीं है । महत्त्वश्रमयुक्त उपार्जन और विवेकयुक्त सदुपयोग का है । उसके रहते मनुष्य जैसे समर्थ प्राणी को न दरिद्र रहना पड़ता है और न समस्याओं-संकटों से घिरे रहने जैसी कोई कठिनाई सामने आती है । कम साधनों में भी उनका सही वितरण, समुचित निर्धारण और न्यायोचित वितरण हो सके, तो उपलब्ध साधनों में भी सब लोग हँसती-हँसाती जिन्दगी जी सकते हैं और जो है उसी को मिल-बाँटकर खाते हुए सुख-शान्तिपूर्वक रह सकते हैं। इसके विपरीत विपुल वैभव होते हुए भी दुर्बुद्धि का बाहुल्य रहने पर मध्यकालीन सामन्त युग जैसा अनाचार छाया रहेगा । न कोई चैन से बैठेगा और न दूसरे को बैठने देगा ।

इन दिनों बुद्धिमत्ता की दृष्टि से आदमी पूर्वजों की तुलना में कहीं अधिक समुन्नत है । साधनों की दृष्टि से भी उसकी सुविधायें पिछले समय की अपेक्षा कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी हैं, किन्तु परिस्थितियाँ ऐसी हैं, जिनकी तुलना पौराणिक नरक से की जाय तो अत्युक्ति न होगी । स्वास्थ्य, सन्तुलन, सौजन्य, सहयोग के क्षेत्रों में मनुष्य दिन-दिन अधिक कठिनाइयों में घिरता जा रहा है । सुख-चैन घटता जा रहा है और आकांक्षा भरे भविष्य का अन्धकार दिन-दिन सघन होता जा रहा है । प्रकृति प्रकोप, परिस्थिति विपर्यय, पारस्परिक विग्रह, व्यक्तिगत पतन, साथ ही गरीबी का अभिशाप यह एक पूरा चक्रव्यूह है, जिससे निकलने के लिए छुट-पुट प्रयत्न काम न देंगे । एकाकी साहस सँजोना पड़ेगा और वह उपाय अपनाना होगा, जिससे उस दुर्मति से पीछा छूटे जो इन दिनों असंख्य समस्याओं का उद्भव केन्द्र बनकर रह रही है ।

अर्थशास्त्री, राज्याधिकारी, वैज्ञानिक मिल-जुलकर यह सोचें कि साधनों की दृष्टि से मनुष्य को अधिक समर्थ और सम्पन्न कैसे बनाया जा सकता है, किन्तु मनीषा के धनी मात्र एक ही बात सोचें और एक ही उपाय अपनायें कि मनुष्य को उस दुर्बुद्धि से त्राण कैसे मिले जो प्रकृति, परिस्थिति, व्यक्ति और भविष्य को अधिकाधिक विपन्न बनाती चली जा रही है ।

महत्त्व लोकमानस के परिष्कार का भी समझें

रोजी-रोटी का प्रश्न कितना ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, पर हर किसी को वही सर्वोपरि मानने और उसी एक प्रयोजन को पकड़कर बैठने से काम नहीं चलेगा, यदि ऐसा ही सीमा-बन्धन कस लिया जाय तो फिर चिकित्सा, वैज्ञानिक अनुसंधान, सैन्य-सज्जा, शिक्षा, कला, संगीत, संस्कृति जैसे उन सभी प्रयोगों को तिलांजलि देनी होगी जो प्रत्यक्षतः रोजी-रोटी उपार्जन में सहायता करते प्रतीत नहीं होते । परोक्ष में रोजी-रोटी की समस्या हल करने में तो तत्त्वदर्शन की भी महती भूमिका देखी जा सकती है । श्रमशील, मितव्ययी, सद्गुणी, सुसंस्कृत जीवनक्रम अपनाने से भी रोजी-रोटी के प्रश्न का उतना ही सम्बन्ध है, जितना कि कृषि उद्योगों के माध्यम से दैनिक आवश्यकता की सामग्री उगाने का । दुर्गुणी व्यक्ति तो रोजी-रोटी का बाहुल्य होने पर भी उससे अपने लिए और दूसरों के लिए मात्र संकट ही उत्पन्न करते रहते हैं ।

रोजी-रोटी के प्रश्न की उपेक्षा, अवहेलना, अवमानना न करते हुए भी यह समझना होगा कि चिन्तन में उत्कृष्टता का समावेश पेट भरने से कम महत्त्व का नहीं है । शरीर को जीवित रहना चाहिए, यह ठीक है, पर यह भी गलत नहीं है कि आत्मा को तो न मरने-सड़ने देना चाहिए और न व्यक्तित्व का पतित-पिछड़ा, गया-गुजरा रहना ही सहन होना चाहिए । प्रयत्न होना चाहिए कि दोनों को ही स्वस्थ समर्थ रहने का अवसर मिले ।

प्रमुखता व्यक्तित्व को परिष्कृत करने, अन्तराल को सद्गुणों से सम्पन्न करने, जीवनचर्या की आदर्शवादिता अपनाते हुए गौरवान्वित करने की बात को मिलनी चाहिए। इसलिए यदि कुछ युगमनीषी उसी को अपना कार्यक्षेत्र चुनें और रोजी-रोटी का प्रश्न राजनीतिज्ञों, धनाध्यक्षों, वैज्ञानिक तथा अगणित क्रिया-कुशल लोगों के लिए छोड़ दें तो हर्ज नहीं । सैनिक जिस महत्त्वपूर्ण सुरक्षा कृत्य में संलग्न हैं, उसे देखते हुए उन पर कोई यह लांछन नहीं लगा सकता कि वे धन सम्पदा कमाने और कृषि उद्योग बढ़ाने में क्यों नहीं लगते ? सैनिक उत्तर भले ही न दें पर दूरदर्शिता कह सकती है कि यदि सैनिकों के अभाव में सुरक्षा पंक्ति कमजोर होगी तो शत्रुओं के आक्रमण अन्तःविग्रह जैसे

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

संकट खड़े होंगे और जो कमाया जा चुका है वह भी हाथ से चला जायगा । इसलिए उत्पादन बढ़ाने की तरह ही सुरक्षा पंक्ति को मजबूत करने के लिए सेना में भर्ती होना और युद्ध कौशल में प्रवीण होना भी आवश्यक है । ठीक यही बात युगमनीषा पर लागू होती है । उसके लिए लोकमानस के परिष्कार को अपनी गतिविधियों का केन्द्र बनाने और एकात्म भाव से उसमें तन्मय-तत्पर होने के लिए अनुरोध करने में ही दूरदर्शिता है ।

किया क्या जाय ? इसका उत्तर एक ही है कि मानवी अन्तराल में आदर्शवादी आस्थाओं का बीजारोपण-अभिवर्धन करने की बात को सामयिक समस्याओं का समाधान मानकर चला जाय । सड़ी कीचड़ से ही मक्खी, मच्छर, कृमि-कीटक, दुर्गन्ध भरे विषाणु उत्पन्न होते हैं । उनमें से एक-एक को बीन-बीनकर मारते रहने का, थकाने और निराश करने वाले काम हाथ में लेने की अपेक्षा यही अधिक अच्छा है कि हिम्मत करके एक बार सड़ी नाली को पूरी तरह बुहार दिया जाय । आहार-विहार का असंयम न छूटा तो रुग्णता और दुर्बलता भी पल्ले बँधी ही रहेगी । भले ही टॉनिकों और इन्जेक्शनों पर पर्वत जितनी धनराशि खर्च की जाती रहे । अन्यान्य प्राणी प्रकृतिपरायण मर्यादित जीवन जीते और स्वस्थ प्रसन्न जीवन जीते हैं, यही बात यदि मनुष्य के गले उतारी जा सके तो वह गरीबी में भी वनवासी, आदिवासियों की तरह परिपुष्ट दीर्घजीवन सहज ही उपलब्ध कर सकता है । अन्यान्य समस्याओं के सम्बन्ध में यही बात है । मानसिक असन्तुलन, उद्वेग, तनाव परिस्थितियों के कारण नहीं मनः-स्थिति की विपन्नता के कारण उत्पन्न होता है । दरिद्रता स्वनिर्मित है । आलसी, प्रमादी, अपव्ययी ही प्रायः आर्थिक कठिनाइयों का रोना रोते देखे जाते हैं । पुरुषार्थी तो पहाड़ की चोटियों पर धान उगाते और चट्टानें तोड़कर जलस्रोत उभारते देखे गये हैं । पारिवारिक कलह में कुसंस्कारी वातावरण और गलत रीति-नीति का अवलम्बन ही प्रमुख कारण होता है । हर परिजन को यदि आरम्भ से ही सुसंस्कारी, स्वावलम्बी, शिक्षित और कर्त्तव्यनिष्ठ बनाने वाले ढाँचे में ढाला जाय तो कोई कारण नहीं कि कुटुम्बी जन हिल-मिलकर रहने, एक दूसरे को स्नेह, सम्मान, सहयोग प्रदान करने में कोताही दिखाये । समाज में प्रचलित भ्रष्ट परम्पराएँ और अवांछनीय दुष्प्रवृत्तियाँ जड़ें तभी जमाती हैं, पैर वहीं अड़ाती हैं, जहाँ कुकर्मी और कायर लोग उन्हें सहन करते, समर्थन देते हैं । जहाँ चरित्रनिष्ठा जीवन्त होगी, वहाँ सामाजिक कुप्रचलनों को उगने-पलने की नौबत ही न आयेगी ।

इस दृष्टि से व्यक्ति और समाज के सम्मुख उपस्थित सभी समस्याओं का एक ही कारण सिद्ध होता है-व्यक्ति का ओछा दृष्टिकोण और घिनौना चरित्र । यदि इस मर्मस्थल को सुधारा जा सके तो समझना चाहिए कि समस्त समस्याओं का हल मिल गया । "एक ही साधे सब सधे, सब साधे सब जाय" वाली उक्ति इस प्रसंग में शत-प्रतिशत सही सिद्ध होती है । यदि आस्था संकट से निपटा जा सके तो समझना चाहिए कि हर क्षेत्र को विपन्न बनाने वाले पतन-पराभव से, शोक-सन्ताप से सदा सर्वदा के लिए पीछा छुड़ाने वाला हल मिल गया । इस सन्दर्भ में प्रत्यक्षतः क्या-क्या किया जाना चाहिए ? व्यावहारिक कदम क्या उठने चाहिए? कार्य का बीजारोपण, अभिवर्धन और उपलब्धियों का संग्रह संकलन किस क्रम से होना चाहिए ? इन प्रश्नों का उत्तर एक ही हो सकता है कि उन सभी अवलम्बनों को अपनाया जाय जो मानवी चिन्तन को प्रभावित करके, दृष्टिकोण एवं स्वभाव बनाने की भूमिका सम्पन्न करते हैं ।

जन-जन को यह सुझाया जाना चाहिए कि वह किसान, विद्यार्थी, व्यापारी, पहलवान से यह शिक्षा ग्रहण करे कि भविष्य की सुखद सम्भावना को महत्त्व दिया जाय और इसके लिए प्रारम्भ में कुछ बोना, लगाना, सहना पड़ता है, उसे प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार किया जाय । वह आतुरता न बरती जाय जिसके कारण चिड़िया जाल में, मछली काँटे में, चींटी चासनी में फँसती और बेमौत मरती है ।

यह समझदारी कैसे उगे ? इसका एक ही उपाय है कि भले और बुरे दोनों पक्षों को सामने रखकर यह समझने का अवसर दिया जाय कि उनके दूरगामी परिणाम क्या होते हैं ? सच तो यह है कि दो में से एक को चुनने का इन दिनों अवसर ही नहीं रहा। सर्वत्र एक ही प्रकार की विडम्बना का साम्राज्य है । आदर्शवाद का, सुखद सम्भावनाओं को समझने-समझाने का जब कोई आधार ही नहीं रहा तो फिर अभ्यस्त अनाचार के दुष्परिणामों की ओर ध्यान ही क्यों हो । अभ्यास तो ऐसी बुरी बला है कि मनुष्य सड़न और घुटन तक को छोड़ने में आनाकानी करता है । युग-मनीषा को अवांछनीयता के प्रति लोकमान्यताओं के दुराग्रह के विरुद्ध व्यापक मोर्चा खड़ा करना है ।

चिन्तन को, दृष्टिकोण को प्रभावित करने के लिए जिन आदर्शवादी प्रतिपादनों की आवश्यकता है उन्हें चार माध्यमों से प्रस्तुत किये जाने की परम्परा है । यदि उनका निर्वाह ठीक तरह बन पड़े तो फिर हृदयंगम करने में भी बहुत हद तक सफलता मिल सकती है । यह चार आधार इस प्रकार हैं-(१) प्रवचन परामर्श, (२) साहित्य अध्ययन (३) दृश्य घटनाक्रम, (४) अनुरूप कृत्यों में सम्मिलित होने में हाथ बँटाने का उपक्रम । यह चारों अपने-अपने स्थान पर अपने-अपने स्तर की महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं और व्यक्ति को किसी भी दिशा में तोड़ने-मरोड़ने में बहुत हद तक सफल होकर रहते हैं ।

वाणी को मुखर करें

मनुष्य कोरे कागज की तरह है । वह उसी प्रवाह में बहता है जो उसके इर्द-गिर्द बहता है । मनुष्य स्वच्छ दर्पण की तरह है, जिसमें सामने खड़ी छवि अंकित होती चली जाती है । इन दिनों प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में मनुष्य

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

की अवांछनीयता का समर्थन और प्रदर्शन ही चारों ओर दीखता है । फलतः उसी की छाप उसके अचेतन पर पड़ती है और सहज ही प्रवाह के साथ-बह चलना बन पड़ता है । प्रतिपक्षी रोकथाम आड़े आये तो रुकने, ठहरने का, वस्तुस्थिति पर पुनर्विचार करने का अवसर मिले । आज ऐसे दबाव का घोर अभाव है जो अपनाई गई रीति-नीति के दुष्परिणाम और युगचेतना के अनुरूप ढलने के सत्परिणाम हल्के-फुल्के ढंग से नहीं वरन् इस प्रकार समझा सकें जिससे दबाव पड़े और परिवर्तन .की बात सोचने के लिए बाधित होना पड़े । जन-जन के सामने इन दिनों ऐसे ही प्रखर परामर्श प्रस्तुत करने की प्रथम आवश्यकता है ।

प्राचीनकाल में यह परामर्श ही लोकचेतना को जागरूक, प्रबुद्ध, समर्थ बनाये रहने और उसे उत्कृष्टता के साथ जुड़े रहने के लिए सहमत बाधित करता था । यह परामर्श बाजारू नहीं, श्रद्धासिक्त होता था । धर्म प्रवचन के रूप में कथा-पुराण शैली से व्यास पीठों पर बैठकर अधिकारी व्यक्तित्वों द्वारा वह दिया जाता था ।

यहाँ लोकमानस को उत्कृष्टता की दिशा में प्रभावी सत्परामर्श देने की चर्चा हो रही है और कहा जा रहा है कि यदि उसका दूरगामी परिणाम देखना हो तो फिर वह बाजारू ढंग से नहीं चलना चाहिए । चारों ओर घिरा हुआ वातावरण, अपनी भाषा में अपने ढंग से अनैतिक चिन्तन और आचरण अपनाने की प्रेरणा देता है । उसकी काट कर सकने के लिए कैंची-उस्तरे से नहीं कुल्हाड़े-फरसे से काम चलेगा । सत्परामर्श के लिए प्रामाणिक व्यक्तियों को श्रद्धा-सिक्त वातावरण में तर्क और प्रमाण, उदाहरण प्रस्तुत करते हुए ऐसा परामर्श देना होगा जिसमें अपनाई गई अवांछनीयता के दूरगामी दुष्परिणाम गिनाये जा सकें साथ ही शालीनता की रीति-नीति आरम्भ से अनाकर्षण लगाने पर भी व्यक्ति और समाज को सुसम्पन्न बनाने वाले आधार पर किस प्रकार खड़े करती है, उसका हर पहलू ऐसी शैली में समझाया जाना चाहिए जो अन्तराल की गहराई तक उतर सके, हृदयंगम हो सके और नये सिरे से सोचने के लिए विवश कर सके ।

परामर्शों का सिलसिला अभी भी धीमी गति से नहीं चल रहा है । सरकारी तन्त्र में रेडियो, टेलीविजन, प्रकाशन, स्कूली पाठ्यक्रम से जो दिशा दी जाती है, उसमें सत्परामर्शों की न्यूनता और शिथिलता तो पाई जाती है, पर सर्वथा अभाव नहीं होता । कोई चाहे तो उससे भी लाभ उठा सकता है । पर बात पत्र-पत्रिकाओं के सम्बन्ध में भी है । उनके प्रतिपादन में भी आदर्शों का समर्थन पक्ष कुछ न कुछ रहता ही है । इसके अतिरिक्त सभा, सम्मेलनों, गोष्ठियों में धुआँधार भाषण चलते रहते हैं । पंडिताऊ-कथा, वार्त्ता की भी लकीर पिटती रहती है । यह वाणी द्वारा दिये जाने वाले आदर्शवादी परामर्श का प्रचलित स्वरूप है । यह कुल मिलाकर भी इतना प्राणवान नहीं बन पाता कि कौतूहल मनोरंजन से आगे बढ़कर श्रवणकर्त्ताओं को तिलमिला दे और वातावरण द्वारा निरन्तर मिलने वाली अवांछनीय प्रेरणा के विरुद्ध तनकर खड़ा हो जाने का साहस उत्पन्न कर सके । प्राचीनकाल में सत्संगों का स्वरूप और स्तर यही रहता था । वे उपस्थित समुदाय का विवेक जगाते थे । ऐसा सम्भव तभी होता था जब कथनकर्त्ता अपने प्रतिपादन के प्रति निजी निष्ठा का प्रमाण प्रस्तुत कर सके । क्या कहा जा रहा है, इसका महत्त्व नहीं । प्रभावोत्पादक क्षमता के लिए यह आवश्यक समझा जाता है कि उसे कौन कह रहा है । यहाँ आकर गुब्बारे से हवा निकल जाती है । परामर्शदाता, प्रवचनकर्त्ता निजी जीवन क्षेत्र में जब छूँछ होते हैं तो वे सामान्य जानकारी मात्र दे सकते हैं, वैसा कुछ नहीं कर सकते जिससे लोकमानस को पतन प्रवाह से मोड़कर आदर्शवादिता की दिशा में उलटने के लिए भाव-विभोर किया जा सके ।

सत्परामर्श आज के लोकमानस को परिष्कृत करने के लिए नितान्त आवश्यक है, पर इसके लिए क्या कहा जाय? हृदयस्पर्शी कैसे बनाया जाय ? इसके लिए जहाँ अनेक तथ्यों का समावेश करना होगा, वहाँ एक कार्य और भी करना होगा कि इस सत्संग प्रक्रिया का सूत्र-संचालन करने वाले उसे धर्म मंच से प्रयुक्त करें और अपना स्तर व्यास पीठ पर बैठ सकने जैसा बनायें ।

इसके लिए जन-समुदाय को एकत्रित करके सभा-सम्मेलन करने का वर्तमान प्रचलन में इतना सुधार और करना होगा कि उसे प्रवचनकर्त्ता के स्तर तथा श्रद्धा-सिक्त वातावरण से भी युक्त बनाया जाय, अन्यथा ग्रामोफोन रिकार्डों की तरह उससे बाजारू जानकारी भर मिलेगी और आयोजन में लगाया गया श्रम, धन एक विशेष प्रकार का मनोरंजन भर बनकर रह जाएंगा । वातावरण से तात्पर्य कथा-मंच या पुरातन कर्मकाण्डों का समावेश करने से ही नहीं है, वरन् उसके लिए उस प्रक्रिया को जोड़ने की ओर भी संकेत है, जो प्राचीनकाल में तीर्थसेवन के रूप में प्रयुक्त होती थी । धर्मप्रेमी घर से दूर प्रकृति की गोद में बने किसी ऐसे शान्तिदायक स्थान में पहुँचते थे जहाँ ऋषि-मनीषियों के आश्रम आगन्तुकों की निजी परिस्थिति का पर्यवेक्षण करते और उसे सुधार परामर्श देने के साथ साधनाएँ भी कराते थे । साधना, व्यक्ति जीवन का श्रद्धा समारोह है । उसके द्वारा ऐसी विशेष मनःस्थिति बनती है जिसमें स्वाध्याय-सत्संग को चिन्तन-मनन के रूप में विकसित किया जाय और फिर किसी भाव-भरे निष्कर्ष निर्धारण पर स्वेच्छापूर्वक पहुँचा जा सके, साधना के माध्यम से ऐसी संकल्प शक्ति उभरती है कि वह उत्कृष्टता का न केवल पक्ष समर्थन करे, वरन् उसे आत्मसात् करने, जीवन व्यवहार में उतारने के लिए आवश्यक श्रद्धा-सिक्त साहसिकता भी उभार सके । सूत सौनिक की कथा-पुराण शैली की तरह साधना के साथ योग वाशिष्ठ को हृदयंगम कराने वाले तीर्थसेवन को भी समान महत्त्व मिलता था । इन दिनों भी पुरातन सतयुग की वापसी के लिए उन चिर

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

परीक्षित प्रयोगों की आज की आवश्यकता एवं प्रक्रिया के साथ नये सिरे से पुनर्जीवित करने की आवश्यकता है । यही प्रयोजन प्रकारान्तर से घरेलू संस्कार प्रक्रिया एवं गाँव, मुहल्ले की पर्व, परिपाटी के साथ भी भली प्रकार निभाना है। जन्म-दिवसोत्सव, विवाह-दिवसोत्सव, विद्यारम्भ, उपनयन, वानप्रस्थ आदि वैयक्तिक संस्कारों का कर्मकाण्ड पद्धति में वे तत्त्व विद्यमान हैं जो उस छोटे आयोजन को पारिवारिक ज्ञान गोष्ठी में परिणत कर सकें और वातावरण के धार्मिक होने के कारण उपस्थित लोगों को आदर्शवादिता के पक्ष में सहमत कर सकें ।

परामर्श क्या दिये जाएँ? इसके लिए नये निर्धारण करने पड़ेंगे । प्राचीनकाल में न नैतिक अनाचार था और न सामाजिक भ्रष्टाचार का बाहुल्य, न विग्रहों की भरमार थी न भटकाव का व्यामोह । उन दिनों तत्त्वदर्शन के विभिन्न पक्ष के लाक्षणिक प्रतिपादनों भर से काम चल जाता था, पर अब वैसी स्थिति है नहीं । इन दिनों जनसंख्या वृद्धि, दहेज जैसी अगणित विकृतियाँ उपजी हैं जिनका उन दिनों अता-पता भी नहीं था । सामयिक अवांछनीयताओं को निरस्त करने वाले और इन दिनों भावनात्मक नव-निर्माण की दृष्टि से जो आवश्यक एवं सम्भव है उसी को परामर्श प्रवचन का विषय बनाना पड़ेगा । श्रद्धासिक्त वातावरण में प्रज्ञावानों द्वारा कर्त्तव्यनिष्ठा का उपदेश देना यह पुरातन परिपाटी अक्षुण्ण रखते हुए भी आज का लोकशिक्षण उन तथ्यों से भरा-पूरा होना चाहिए, जो समय की विकृतियों से जूझने और उज्ज्वल भविष्य की संरचना में व्यावहारिक योगदान दे सके । इसके लिए मात्र दर्शन नहीं तर्क, तथ्य और प्रमाण, उदाहरण भी चाहिए । वे आधुनिक हों तो भी हर्ज नहीं और यदि पुरातन इतिहास में से उन्हें ढूँढ़ा जा सके तो फिर सोना सुगन्ध जैसी बात बनेगी ।

संक्षेप में यही है वह पृष्ठभूमि जिस पर युगान्तरीय चेतना को व्यापक बनाने के लिए धर्ममंच से लोकशिक्षण की क्रिया-प्रक्रिया सम्पन्न की जानी चाहिए । युगमनीषा को इसके लिए सर्वतोमुखी ऐसा प्रचार तन्त्र खड़ा करना होगा जो उपरोक्त सभी आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकने वाली शृंखला की सभी कड़ियाँ ठीक प्रकार से जोड़ सके । बाजारू भाषण प्रक्रिया से इतना भार उठेगा नहीं । जो विडम्बना इन दिनों मंचों और लाउडस्पीकरों पर धुआँधार करते सुनी देखी जाती है, वह खोखली होने के कारण विनोद-कौतुक की ही एक पद्धति बनकर रह जायगी ।

इन सन्दर्भ में जहाँ युगमनीषा से बड़े प्रयोजन के लिए बड़े मोर्चे सँभालने और बड़े सरंजाम जुटाने के लिए कहा जा रहा है, वहाँ सुझाव के साथ एक छोटा प्रयोग भी सामने प्रस्तुत किया जा रहा है । इन दिनों शान्तिकुंज के सृजनशिल्पी अपने-अपने घरों, क्षेत्रों में प्रज्ञापुराण के प्रथम खण्ड की कथा कहते हैं । कथन के साथ-साथ श्रद्धासिक्त वातावरण भी बनाते हैं । पुराण में कथानक तो पुराने एवं पौराणिक हैं, पर उनमें उन सभी समस्याओं के सामयिक समाधान समाहित हैं जो इन दिनों व्यक्ति और समाज को बेतरह संत्रस्त, अस्त-व्यस्त किये हुए हैं । युग धर्म को पहचानने वाले क्षेत्रों में पुरातन और नवीन का यह दूरदर्शितापूर्ण प्रतिपादन बहुत ही लोकप्रिय हुआ है । आशा बँधी है कि प्रज्ञा-पुराण के अगले ४ खण्डों में अभीष्ट परिवर्तन की समग्र प्रक्रिया को इस माध्यम से जन-जन के गले उतारना सम्भव हो जायगा ।

युगप्रवक्ताओं की वाणी कैसे मुखर हो इसके लिए प्रज्ञापुराण और स्लाइड प्रोजैक्टर की चित्र विवेचना में जहाँ दार्शनिक तथ्यों का समावेश है वहाँ प्रवचन की उस अभिनव शैली का भी प्रशिक्षण है जिसे अपनाकर भाषण कला के अनभ्यस्तों को भी मुखर बनने का अवसर मिलता है । इस प्रकार जीवनदानी, युगशिल्पी, प्रज्ञा-पुत्रों की, युगप्रवक्ताओं की संख्या दिन-दिन बढ़ती जा रही है । वे सत्संग के प्राचीन माहौल को नये परिवेश में पिछड़े देहातों और अशिक्षित देश बान्धवों तक पहुँचाने का प्राण-पण से प्रयत्न कर रहे हैं । यह छोटा प्रयोग-परीक्षण है। इसे बड़े लोगों द्वारा बड़े पैमाने पर व्यापक बनाने का प्रयत्न होना चाहिए, ताकि संसार के पाँच अरब जन समुदाय तक न सही सत्तर करोड़ देशवासियों तक परिवर्तन की अनिवार्यता और सम्भावना से भली प्रकार परिचित प्रभावित किया जा सके ।

एकान्त परामर्श को मनन-चिन्तन के माध्यम से हृदयंगम करने वाले तदनुकूल वातावरण और तप-साधना का समन्वय भी साथ-साथ चलना चाहिए । यह प्रयोग शांतिकुंज को गायत्री तीर्थ के रूप में विकसित करके, कल्प-साधना सत्रों के रूप में वह प्रयोग चल रहा है, जिसमें सम्मिलित होने वाला जीवन दर्शन बदल सके । भविष्य के लिए आदर्शवादी निर्धारण साथ लेकर वापस लौट सके । प्राचीनकाल में मात्र तीर्थयात्रा ही नहीं होती थी, उस प्रयास का तीर्थसेवन प्रमुख अंग था, जिसका अर्थ था तेजस्वी वातावरण में, मनस्वी ऋषियों के संरक्षण में, साधना के साथ-साथ उत्कृष्टता को आत्मसात् करना। इन दिनों तो पर्यटकों की भगदड़ ही तीर्थयात्रा के ध्वंसावशेषों का परिचय देती है । पुरातन निर्धारण तो लगता है तिरोहित ही हो गये । प्रयत्न उसके पुनर्जीवन का किया गया है । इस दृष्टि से शांतिकुंज की तीर्थ प्रयोगशाला और उसमें चल रही कल्प साधना, जीवन साधना की विधि-व्यवस्था दृष्टव्य है । साधनों के अभाव में छोटे परीक्षण ही सम्भव हैं, वे ही चल भी रहे हैं । यह प्रस्तुतीकरण इसलिए किया गया है कि युगमनीषा को इस प्रक्रिया का स्वरूप और परिणाम समझने की सुविधा मिले । आवश्यक नहीं कि इसे इसी रूप में लिया जाय उसमें परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए आवश्यक हेर-फेर भी करने पड़ेंगे । इतने पर भी मूल तथ्य यथावत् रहेंगे । अभ्यस्त अवांछनीयता से लोकमानस को विरत करने और दूरदर्शी विवेकशीलता अपनाने के लिए ऐसा प्राणवान प्रशिक्षण चाहिए जो न केवल जन-जन के गले उतर सके वरन् औचित्य के पक्षधर युग चिन्तन को अपनाने में भी साहस भरा उत्साह प्रकट कर सके ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

तथ्य, तर्क और प्रमाणों से भरे-पूरे युगसाहित्य का सृजन

सत्परामर्शों की उपयोगी आवश्यकता समझने वालों को यह भी देखना होगा कि जानने वाले भी अनजान क्यों हैं ? दूसरों को शिक्षा देने वाले उन्हें स्वयं क्यों अपने व्यवहार में नहीं उतारते ? प्रतिपादन ऐसा होने चाहिए जो तर्क, तथ्य, प्रमाण, उदाहरण के सहारे यथार्थवादी एवं व्यावहारिक सिद्ध किये जा सकें । इस युग में बुद्धिवाद का दौर है । क्यों और कैसे का प्रश्न हर प्रसंग में किया ही जाता है । साथ ही यह भी देखा जाता है कि जो कहा जा रहा है उसमें अवास्तविकता की रंगीली उड़ानें ही तो काम नहीं कर रही हैं ? उन्हें अपनाया भी जा सकता है या नहीं ? लोग कठिन काम भी कर गुजरते हैं, पर उन्हें विश्वास होना चाहिए कि जिस मार्ग पर चलने के लिए कहा जा रहा है वह लक्ष्य तक पहुँचता भी है या नहीं ?

विचार क्षेत्र में पिछले दिनों असाधारण उथल-पुथल हुई है । अगले दिनों उससे भी बढ़कर होने वाली है । विज्ञान ने मनुष्य को चलता-फिरता पौधा बताया और प्रकृतिक्रम से जीवन का क्रम निचक्र-निरुद्देश्य भ्रमण करने की बात कही । उसके पक्ष में उनने विज्ञान, दर्शन और प्रत्यक्ष की साक्षी भी प्रस्तुत की । फलतः नीति-मर्यादाओं का, धर्म और आध्यात्मिकता का पक्ष डगमगा गया । संकीर्ण स्वार्थपरता, आपाधापी पनपी और मत्स्य न्याय के समर्थक उपयोगितावाद ने लोक-मानस पर अपना आधिपत्य कर लिया । पशु प्रवृत्तियों का पूर्वाभ्यास इसमें और भी सहायक हुआ । तात्कालिक लाभ भी इसी में लगा । भविष्य को देखने-सोचने की दृष्टि एक प्रकार से कुंठित ही होती चली गई । यही वह प्रत्यक्षवाद, बुद्धिवाद, स्वेच्छावाद है जिसके प्रवाह में जाने-अनजाने, शिक्षित-अशिक्षित, पिछड़े, प्रगतिशील समान रूप से बहते चले जा रहे हैं । नीति-मर्यादा का प्रत्यक्ष विरोध करने पर बदनामी होने के रूप में कोई कुछ कहता तो नहीं, पर उनके पालन का उत्साह दिन-दिन घटता जा रहा है । इस माहौल को नीति-क्षेत्र की, आस्था क्षेत्र की प्रतिक्रान्ति या अराजकता भी कह सकते हैं । यही है अपने समय का दार्शनिक विश्लेषण । यही है चिन्तन का वह प्रवाह प्रचलन जिसने व्यक्ति और समाज को अनौचित्य का पक्षधर बनाकर वहाँ ला पटका जहाँ सर्वनाशी संकट का सामना करना पड़ रहा है ।

मानवी सत्ता को यदि अपने अस्तित्व की रक्षा करनी है तो प्रस्तुत निर्धारण प्रचलन पर नये सिरे से पर्यवेक्षण करना होगा और देखना होगा कि अति उत्साह से प्रगतिशीलता के नाम पर जिस कूड़े-कचरों को जोश-खरोश के साथ गले बाँध लिया गया है वह कहीं भूतकाल की प्रतिगामिता से भी अधिक अवांछनीय तो नहीं है । जो हो, मानवी गरिमा के सनातन केन्द्र तक लौटने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं । विकल्प केवल यह सर्वनाश ही है जिसकी घोषणा स्थिति की गम्भीरता को समझने वाले हर क्षेत्र में कर रहे हैं ।

वापसी का रास्ता भी अब सरल नहीं रहा । जिस बुद्धिवाद के सहारे आस्था से अनास्था तक पहुँचा गया है, उसी सीढ़ी से उलटे पैर रखते हुए नीचे उतरना होगा । इन परिस्थितियों में काँटे से काँटा निकालने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं । बुद्धि की बुद्धि से ही मुठभेड़ कराई जाती है । तर्क को तर्क से ही निरस्त किया जायगा । प्रमाण, उदाहरण मात्र अनाचार की सफलता के पक्ष में ही साक्षी नहीं देते, उनसे बड़े आधार ऐसे प्रस्तुत किये जा सकते हैं जो आदर्शों की गरिमा आत्मिक शान्ति से भी बढ़कर भौतिक प्रगति में योगदान करने की बात सिद्ध कर सके । सत्य को तथ्य और श्रेयस्कर सिद्ध करने पर किसी का आग्रह हो तो उसे उस रूप में प्रमाणित करने वाली मनीषा ने चुनौती स्वीकार करने का निश्चय कर लिया है।

धर्म तत्त्व के शाश्वत सिद्धान्तों को बुद्धिवाद की कसौटी पर कसे जाने के उपरान्त मान्यता मिले, यह लगता तो बड़ा अटपटा है, पर बालहठ के सामने कोई क्या करे । मचले बच्चे को बहलाने के लिए बाबा को यदि घोड़ा बनना पड़े तो उसे प्रतिष्ठा का प्रश्न नहीं बनाया जाता । यदि विज्ञान और बुद्धिवाद ने तर्क, तथ्य, प्रमाण, उदाहरण के आधार पर ही किसी प्रतिपादन को स्वीकारने की बात ठानी है तो उसमें शैली बदलने भर की कठिनाई पड़ेगी । नये आधार ढूँढ़ने का झंझट नहीं है । लोक-मानस को यदि आदर्शवादिता की ओर पीछे लौटने के लिए बुद्धिवाद की सवारी चाहिए तो इसके लिए उसे निराश नहीं होना पड़ेगा, थोड़ा झंझट तो है पर बात असम्भव नहीं। एक भाषा बोलने वाले को यदि दूसरी बोलने और सीखने के लिए विवश किया जाय तो यह झंझट भरा काम भी किसी प्रकार पूरा किया ही जायेगा । इसमें असम्भव जैसा तो कुछ है ही नहीं ।

लोकमानस को अभ्यस्त अवांछनीयता से विरत करने के लिए जिन परामर्शों की आवश्यकता है उनका स्वरूप विज्ञान, तर्क और प्रमाण पर आधारित हो यदि इतनी छोटी बात पर गाड़ी अड़ गई है तो उसे आस्तीनें चढ़ाकर आगे धकेल देने में किसी बड़े असमंजस का सामना नहीं करना पड़ेगा । युगमनीषा यह कर लेगी । परामर्श के प्रतिपादन चाहिए । वाणी से जो कहा जाना है वह लेखनी के माध्यम से सुस्थिर होना चाहिए । ऋषियों ने लिखा है, मुनियों ने उसे फैलाया है । युगप्रवक्ताओं की मुनि बिरादरी सृजनशिल्पियों के रूप में मोर्चा सँभालने जा पहुँची । अब उनकी पेटियाँ कारतूसों से भरने का काम शेष है । यह ऋषि को करना होगा । युगसाहित्य का सृजन इसी प्रक्रिया का नाम है । उसकी अपनी विशेषता इतनी ही है जो शास्त्रकार, आप्तपुरुष प्राचीनकाल की श्रद्धा शैली को

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

प्रतिपादित करते रहे हैं, उसे अब वैज्ञानिक की, वकील की, दार्शनिक की शैली में नये ढंग से क्रमबद्ध करना पड़ेगा । युगलेखनी को इस तौर-तरीके से व्यक्ति और समाज से सम्बधित प्राय: हर समस्या पर नये सिरे से प्रतिपादन प्रस्तुत करना पड़ेगा ।

जर्मनी, एशिया, चीन, ईरान आदि की अधिनायकवादी सरकारों ने ब्रेनवाशिंग का लक्ष्य रखकर स्कूली पाठ्यक्रम एक वर्ष की अवधि में बदल दिये थे । साहित्य और सिनेमा की क्षमता का उपयोग शासकों की इच्छानुकूल हुआ था । उन लोगों ने चिन्तन को प्रभावित करने वाले हर क्षेत्र को इच्छित प्रयोजन के लिए प्रयुक्त किया । अपने देश में वैसा तो नहीं हो सकता और न वैसी आवश्यकता ही है । नीति और धर्म का पक्ष इतना सशक्त है कि यदि उसे बुद्धिवादी शैली में प्रस्तुत करने के लिए युगमनीषा कमर कस ले तो बिना शासन की सहायता के भी जन स्तर पर वैसा हो सकता है और जन-जन को युग चिन्तन के हर पक्ष का समर्थन करने वाला साहित्य मिल सकता है । जो सत्य है, जो श्रेष्ठ है, जो श्रेय है, उसे उसी रूप में प्रत्यक्षवाद की कसौटी पर भी खरा सिद्ध किया जा सकता है । इस प्रकार के लेखन प्रतिपादन में मात्र मनीषा को संकल्पपूर्वक कटिबद्ध भर होना है । प्रकाशन और विस्तार का काम भी मनस्वी लोग सँभालेंगे ही । थोड़े दिनों की अड़चन के बाद वस्तुस्थिति को समझने के बाद ऐसा साहित्य प्रकाशन और विक्रय की अपनी व्यवस्था आप बना लेगा । समर्थ की सहायता के बिना बुद्ध, शंकराचार्य, मार्क्स, तुलसी, रूसो, सूर आदि के प्रतिपादन बिना छपे, बिना बिके कहाँ रहे ।

नवयुग के अनुरूप, मनुष्य की समस्त समस्याओं और आवश्यकताओं को समुचित समाधान प्रदान करने वाला बुद्धिवादी साहित्य सृजन आज की महती आवश्यकता है । समर्थ लोग उसे ईसाई मिशन की तरह बड़े रूप से सोचें और करें यह समय की माँग है । इसे पूरा करने के लिए कौन प्रतिभाएँ कब आगे आयें ? इसकी प्रतीक्षा न करके युगान्तकारीय चेतना ने इस महान् प्रयोजन को अपने छोटे साधनों का संकोच न करते हुए बिना समय गँवाये आरम्भ कर दिया है । इस प्रयास में टिटहरी और गिलहरी के समुद्र सुखा देने वाले संकल्प से महती प्रेरणा मिली है ।

शांति-कुंज के ब्रह्मवर्चस् शोध संस्थान के अन्तर्गत इसी सन्दर्भ में अनुसंधान कार्य पिछले दिनों से चल रहा है । उसका विज्ञान पक्ष जितना सशक्त है उसमें से अधिक दर्शन को भी महत्त्व दिया गया है । जहाँ विज्ञान और दर्शन को अध्यात्म की धुरी के साथ दो पहियों की तरह जोड़ने और प्रगति रथ को लक्ष्य की दिशा में दौड़ाने में प्रयत्न चला है, वहाँ इस प्रयास में भी कोताही नहीं की गई तो धर्मतत्त्व को तर्क के आधार पर जन-जन के गले उतारने योग्य बनाया जाय । इस सन्दर्भ में अखण्ड-ज्योति का तथा उसकी सहयोगी अन्य पत्रिकाओं का लेखन सामने है । आर्ष साहित्य से लेकर प्रचुर परिमाण में छोटा-बड़ा साहित्य लिखा और छपा है । इसकी लाखों प्रतियाँ छपती हैं और करोड़ों की संख्या में पढ़ी जाती हैं । इतने पर भी यह कहा जा सकता है कि मानव समुदाय की व्यापकता और आवश्यकता को देखते हुए यह जलते तवे पर कुछ बूँदें पड़ने के समान नगण्य है ।

प्रस्तुत विचारणा पद्धति की खामियों, भ्रान्तियों और दु:खदायी प्रतिक्रियाओं से जनसाधारण को प्रभावी ढंग से समझाया जा सके तो दिशा भूल का पता चलने पर मनुष्य तत्काल लौट पड़ता है । इसी प्रकार उज्ज्वल सम्भावनाओं से भरे-पूरे तथ्यों का यदि विश्वास दिया लिया जा सके तो उसे अपनाने के लिए बौड़मों का मन चलता है । युगसाहित्य इसी स्तर का लिखा जायगा । इसलिए उसकी तैयारी के लिए विश्वकोश का निर्माण करने जैसे मनोयोग और अध्यवसाय की आवश्यकता पड़ती है । यही सब प्रशिक्षण शिविरों में अधिकाधिक मात्रा और गहराई के साथ शिक्षार्थियों के अनुभव अभ्यास में उतारा जा रहा है ।

प्रभावी परामर्श प्रवचनों के लिए भी तथ्य चाहिए । विचारक्रान्ति का प्रयोजन पूरा कर सकने वाले तथ्याश्रित साहित्य की तो हर पंक्ति में सन्दर्भ भरे रहने चाहिए । शांति-कुंज ने इस प्रक्रिया का छोटा शुभारम्भ करके युग-मनीषा को उकसाया है कि जब छोटे साधन इतना दुस्साहस कर सकते हैं तो जिनके लिए बड़े साधन जुटा सकना, बड़े कदम उठा सकना शक्य है, वे बड़े स्तर की बड़ी बात क्यों न सोचें ? बड़ी योजना क्यों न बनायें ? युग परिवर्तन का अर्थ है-विचार परिवर्तन । इस महाक्रान्ति के लिए लाखों शस्त्र सज्जा सजाने की पर्वत जैसे अवरोधों को कुचल डालने वाली रणनीति अपनानी पड़ेगी । महाप्रज्ञा के बरद-पुत्र समय की इस माँग को भी पूरा करके रहेंगे ।

लेखन की एक मंजिल पूरी होते-होते विशद् प्रकाशन तन्त्र खड़ा करने की, प्रस्तुत बुकसेलरों के ढर्रे में फिट न बैठ सकने के कारण स्वतन्त्र विक्रय का प्रबन्ध करने की योजना भी हाथ लेनी पड़ेगी । प्रस्तुत पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से भी विचार का यह सिलसिला चल सकता है । यह साधन पक्ष हुआ । प्रसार की दृष्टि से वह भी कम महत्त्व का नहीं है । आशा की जानी चाहिए कि सृजन का सिलसिला चलाने के लिए मनीषी अपनी श्रद्धा प्रखर करेंगे तो साधन-सम्पन्नों की दुनिया भी नितान्त कृपण बनकर न बैठेगी । प्रकाशन और प्रसार की आवश्यकता पूरी कर सकने वाले साधन भी किसी न किसी प्रकार आसमान से धरती पर उतरेंगे ।

लोकरंजन के साथ लोक-मंगल का समन्वय

मनुष्य की कोई वास्तविक सेवा हो सकती है तो एक ही है कि उसके दृष्टिकोण, स्वभाव एवं व्यक्तित्व को परिष्कृत करने में सहारा दिया जाय । ऐसा बन पड़े तो अपंग व्यक्ति भी स्वावलम्बी, सम्मानित एवं श्रेयाधिकारी जीवन जी सकते हैं । इस प्रकार के प्रमाणों के लिए

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

इतिहास के पन्ने पलटने की आवश्यकता नहीं, उतना तो अपने इर्द-गिर्द ही दृष्टि दौड़ाकर प्रमाण, उदाहरणों का ढेर ढूँढ़ा जा सकता है । मुसीबत के समय एक-दूसरे की सहायता करना मनुष्य का धर्म है, पर जहाँ तक सेवा सहायता और पुण्य-परमार्थ के स्तर का सम्बन्ध है वहाँ एक ही निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि चिन्तन प्रवाह को पतन-पराभव से मोड़ कर उसे उत्कृष्टता के साथ नियोजित कर दिया जाय । इतने भरे से वह अभावग्रस्त परिस्थितियों में रहते हुए भी महानता के उच्च शिखर पर पहुँच सकता है और विपन्न परिस्थितियों में रहते हुए भी असंख्यों के लिए प्रेरणाप्रद एवं अनुकरणीय जीवन जी सकता है ।

सामयिक समस्याओं का कारण और निवारण भी इसी क्षेत्र में ढूँढ़ा जाना चाहिए । विपन्न परिस्थितियों के निराकरण के लिए आर्थिक, बौद्धिक, शासकीय प्रयत्न से सुविधा सम्वर्द्धन का उपक्रम चलना ही चाहिए, किन्तु बात इतने से भी बनने वाली नहीं । फुंसियों पर मरहम लगाते समय यह भी ध्यान रखना चाहिए कि रक्तशोधन के स्थायी उपचार को भी नजरअन्दाज न किया जाय । वस्तुतः यही समस्याओं का उद्गम है और यही समाधान भी खोजा जाना चाहिए । मूर्धन्यों में से सब न सही कम से कम मनीषा वर्ग को तो अपने जिम्मे लेना ही चाहिए । उनका चिन्तन इस केन्द्र पर वशीभूत रहना चाहिए कि किस प्रकार लोकमानस में घुसी हुई भ्रान्तियों, विकृतियों एवं दुष्प्रवृत्तियों का उन्मूलन किया जाय । उनके स्थान पर किस प्रकार दूरदर्शी विवेकशीलता को, शालीन सुसंस्कारिता को प्रतिष्ठित किया जाय ? इतना बन पड़े तो समझना चाहिए कि अर्थशास्त्रियों, वैज्ञानिकों, समाजसेवियों-अपराध नियामकों, चिकित्सकों, शासकों का तीन-चौथाई भार हलका हो सकता है ।

लोकमानस को परिष्कृत करना है तो कठिन, पर युग मनीषा की मूलभूत क्षमता को देखते हुए उसे असम्भव किसी भी प्रकार नहीं कहा जा सकता। संकल्प उठते हैं तो साधन भी जुटते हैं, इस शाश्वत सत्य पर जिनका अटूट विश्वास है वे 'एकला चलो रे' गुनगुनाते हुए सूर्य, चन्द्र की तरह अपना पथ बनाने और अपने पैरों चल पड़ने से भी हिचकते नहीं। इन विपन्न परिस्थितियों में अनेकानेक विभीषिकाओं से एक ही मोर्चे पर लड़ा जा सकता है। लोकमानस के परिष्कार का, विचार क्रान्ति का, प्रज्ञा अभियान का महत्त्व यदि समझा जा सके तो उस एक ही काम को हाथ में लेने से समस्त समस्याओं का हल सुनिश्चित रूप से निकल सकता है। प्रबुद्ध व्यक्तित्व अपनी सामान्य गतिविधियों से ही कठिनाइयों के घटाटोप को देखते-देखते तिरोहित कर सकते हैं। छोटे से प्रकाश के सम्मुख सुविस्तृत सघन अन्धकार के भी पैर टिक नहीं पाते।

चिन्तन को प्रभावित करने वाले चार प्रयोजनों की चर्चा पिछले पृष्ठों पर हो चुकी है । इस सन्दर्भ में वाणी-लेखनी का प्रयोग किस प्रकार होना चाहिए, इसके कुछ सुझाव प्रयासों का उल्लेख भी हुआ है । अब तीसरे 'दृश्य' और चौथे 'कृत्य' प्रयोजन पर प्रकाश पड़ने की आवश्यकता है । वाणी-लेखनी का किस पर कितना प्रभाव पड़ा, इसमें वक्ता एवं लेखक की भूमिका ही सब कुछ नहीं है । उसमें श्रोता एवं पाठक की मनोभूमि का, कोमलता, कठोरता को भी अपना रौल अदा करती है । आदर्शवादी प्रतिपादनों का हृदयंगम करा सकना वहीं सफल होता है जहाँ भाव-सम्वेदनाओं की, विवेक एवं औचित्य की उर्वरता पहले से ही विद्यमान हो, पाषण हृदय, दुष्ट दुराग्रही, असुर आतंकवादी श्रेष्ठता का समर्थन सुन तो सकते हैं, पर उसे हृदयंगम करने लिए अहंकारी अहंमन्यता को लाँघने के लिए सहमत नहीं हो सकते, ऐसे लोगों के लिए एक कदम आगे बढ़कर 'दृश्य' उपक्रमों के साथ कड़वी गोली चीनी लपेट कर देनी पड़ती है । स्पर्श का, दृश्य का प्रभाव स्वाध्याय और सत्संग से भी अधिक पड़ता है । उसे बाल-बुद्धि और कठोर मनोभूमि के लोग भी अपेक्षाकृत अधिक सरलता से हृदयंगम कर सकते हैं ।

चित्र कथाएँ बालकों को कितनी प्रिय होती हैं । समूचा फिल्म उद्योग इसी मानवीय प्रकृति पर टिका हुआ है कि लोग घटनाक्रम देखना अधिक पसन्द करते हैं । अभिनय नाटकों की लोकप्रियता सर्वविदित है । संगीत, समारोहों में समा बँधता है और बाल-वृद्ध, नर-नारी सभी उन्हें सुनने के लिए दौड़ पड़ते हैं । महँगे टिकट खरीद कर भी उनमें स्थान सुरक्षित कराते हैं । ऐसे आयोजन खुले में, बिना किसी टिकट के हों तो भीड़ का बारापार नहीं रहता । रीछ-बन्दरों का, मदारी-सपेरे और बाजीगरों का तक का तमाशा देखने के लिए रास्ता चलते लोग काम छोड़कर धूप-छाँव की परवाह न करते हुए मजमा लगा लेते हैं । जुलूसों में बच्चे तक घुसते हैं और अर्थ न समझने पर भी दूसरों द्वारा बोले गये नारे खुद भी जोर-शोर से लगाते हैं । बाजारों में बारात निकलती है तो लोग रुककर देखते हैं । मेले, ठेले, रामलीला, नौटंकी, कठपुतली, ख्याल, स्वाँग, दंगल-प्रतियोगिता, कवि सम्मेलन, मुशायरे, प्रदर्शनी सरकस जब लगते हैं तो उन्हें देखने को कितनों का मन मचलता है और बिना बुलाई भीड़ का जमघट लग जाता है । दर्शनीय स्थानों को देखने लोग पैसा खरचते और समय निकालते हैं । तीर्थयात्रा, पर्यटन प्रवास की योजना बनाते समय पुण्य का कम और अनदेखे दृश्य देखने का उत्साह अधिक रहता है । मनुष्य की सहज स्वाभाविक प्रवृत्ति यह बताती है कि उसे दृश्य देखने में सहज रुचि होती है । टहलने, घूमने में लोग स्वास्थ्य सम्वर्द्धन की दृष्टि से कम, चित्र-विचित्र दृश्य देखने का आनन्द लेने की उत्सुकता अधिक रहती है ।

दृश्य मात्र विनोद मनोरंजन ही नहीं है । उसका दर्शक पर प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव भी पड़ता है । भूकम्प, बाढ़, अग्निकाण्ड, दुर्भिक्ष जैसी दुःखद दुर्घटनाएँ देखकर कठोर लोगों का भी हृदय द्रवित हो उठता है, और वे सेवा-सहायता के लिए अनायास ही अन्तःप्रेरणा से दौड़ पड़ते हैं ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

विवाह-शादियों की धूमधाम में सम्मिलित रहने का उत्साह सभी को रहता है । घर खाना एक बात है और प्रीतिभोज में सम्मिलित होना दूसरी । सभा, सम्मेलनों में लोग मात्र ज्ञानवर्द्धन के लिए ही नहीं पहुँचते, उपस्थित जन-समुदाय की चित्र-विचित्र शक्ल-सूरत को देखने का चोर भी मन में छिपा रहता है । विज्ञापनों में आकर्षक आकृतियों को इसलिए जोड़ा जाता है कि लोग उन्हें देखने के साथ-साथ विज्ञापित वस्तु का परिचय भी प्राप्त कर लें । इन्हीं तत्त्वों को देखते हुए स्वाद और यौन कर्म की तरह दृश्य देखने में रस लेने वाली नेत्र इन्द्रिय को भी प्रमुख माना गया है । लोग अपने को वस्त्राभूषणों से, शृंगार साधनों से इसीलिए सजाते हैं कि उन पर दृष्टि खिंचने के साथ-साथ अपना परिचय भी लोगों को मिलता या बढ़ता चले । यह तथ्य ऐसे हैं जिन्हें मानव-प्रकृति का अंग ही माना जा सकता है । इतना ही नहीं, उनके भले-बुरे प्रभाव पड़ने की गम्भीरता से भी इन्कार नहीं किया जा सकता ।

इस तथ्य को लोकमानस की परिष्कार प्रक्रिया में भी सम्मिलित किया जाना चाहिए और अधिक लोगों को अधिक प्रभावित करने की बात को ध्यान में रखते हुए इस प्रकार के सरंजाम खड़े करने चाहिए । लोकमंगल को गले उतारने के लिए उसके साथ लोकरंजन भी गुँथना चाहिए । इस माध्यम से शिक्षित-अशिक्षित, पिछड़े, प्रगतिशील सभी को आकर्षित किया और उपस्थित देखा जा सकता है। यह दृश्य तन्त्र यदि उद्देश्यपूर्ण है और उसमें वर्तमान विकृतियों से जूझने, सत्प्रवृत्तियों को उभारने की ललक हो तो उसे न केवल प्रचार की तरह प्रयुक्त किया जा सकता है, वरन् व्यवसाय के स्तर पर आर्थिक स्वावलम्बन भी रखा जा सकता है। छोटे देहातों में भी फेरी वाले 'आडियो-विजुवल' उपकरण सिर पर लिये घूमते रहते हैं । नट और मदारी अभी भी जीवित हैं । सिनेमा और नाटकों के भारी पूँजी वाली स्थापनाएँ अभी भी रामलीला, रासलीला को प्रतिद्वन्द्विता में पछाड़ नहीं सकी हैं । भारत पिछड़ी एवं विरल क्षेत्रों में बसा हुआ अशिक्षित लोगों के बाहुल्य वाला देश है । ७० प्रतिशत लोग इसी में निवास निर्वाह करते हैं । यही असली भारत है । शहरों की दर-गुजर की जा सके और देहात को अपने कल्पना चित्र से प्रमुखता दी जा सके तो उसे युग-चेतना से अवगत प्रभावित करने के लिए इस 'दृश्य' माध्यम को नये सिरे से गठित किया जा सकता है। आवश्यक नहीं कि वह फिल्म उद्योग की तरह मुट्ठी भर पूँजीपतियों के हाथ में ही रहे । उसे छोटी पूँजी वाले सरकारी मण्डली की सहायता से हर जगह स्थानीय प्रतिभाओं के सहारे गठित किया जा सकता है। स्वसंचालित विशालकाय कारखानों की प्रतिद्वन्द्विता का सामना करते हुए यदि चरखा और करघा जीवित रह सकता है तो कोई कारण नहीं कि लोकरंजन के साथ लोकमंगल का समन्वय योजनाबद्ध रूप से आगे न बढ़ाया जा सके। पारमार्थिक न सही व्यावसायिक आधार पर भी इस तन्त्र को खड़ा करने और सफल बनाने की अपने देश में पूरी-पूरी गुंजाइश है।

बड़ी और व्यापक योजनाएँ बड़े लोग, बड़े साधनों से खड़ी करने में सफल रहते हैं, पर इसका अर्थ यह तो नहीं है कि बड़े आगे बढ़ें और छोटे रुके रहें । प्रगतिशील प्रयत्नों में गतिरोध तो नहीं अड़ना चाहिए । छोटे शुभारम्भ से भी चिंगारी की स्थापना ज्वाल माला के रूप में विकसित हो सकती है । न कुछ से कुछ करने की नीति अपनाना ही अधिक श्रेयस्कर है ।

जाग्रत आत्माओं की समयदान-अंशदान श्रद्धाञ्जलि

यह क्यों किया जाय ? कैसे किया जाय ? इसकी एक झलक झाँकी पिछले पन्नों पर पढ़ चुकने के उपरान्त देखना होगा कि क्या इतने भर से काम चल जायेगा और अभीष्ट लक्ष्य तक पहुँचने पर प्रयोजन सध जायेगा ? इसके उत्तर में यही कहा जायेगा कि यह सभी प्रयास नितान्त आवश्यक होने पर जिसे साथ लिये बिना अपूर्ण अपंग बनकर रह जाते हैं उसका नाम है 'कृत्य' । उसी को अभ्यास कहते हैं । संचित अनुभव को प्रखर परिपक्व करना हो तो उसे कृत्य रूप में परिणत करना होता है, अन्यथा जानकारी हवा में तैरती रहेगी, स्वभाव का अंग न बन सकेगी ।

विचार और कर्म मिलकर संस्कार बनते हैं । चेतना को किसी ढाँचे में ढालने और उस खाँचे में दृढ़तापूर्वक खिंचे रहने में इन संस्कारों की ही प्रधान भूमिका होती है । वे आदतों के रूप में विकसित होते हैं और जैसे भी भले-बुरे हैं, अपने साथ जीवनचर्या और गतिविधियों को घसीटे फिरते हैं । इन संस्कारों का समुच्चय ही व्यक्तित्व है । वह अपनी जगह अड़ा रहता है और प्रतिपक्षी वातावरण में भी अभ्यस्त ढर्रे को यथावत् बनाये रहने के लिए दृढ़ता का परिचय देता रहता है । अन्तराल को इसी स्थिति का पर्यवेक्षण करते हुए किसी व्यक्ति के स्तर का पता चलता है ।

कथन, श्रवण दोनों ही क्षणिक एवं हवाई हैं । वे एक क्षण उत्साह भरते और दूसरे क्षण बबूले की तरह समाप्त होते भी देखे जा सकते हैं । चिरकाल तक जिस प्रकार के कृत्य किये जाते हैं, स्वभाव का अंग बन जाने पर वे हटने का नाम नहीं लेते । नशेबाजों की विवशता इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है ।

मनःसंस्थान की बनावट विचित्र है । वह दुमुही की तरह उलटा और सीधा दोनों तरफ चलता है । आकांक्षाओं के अनुरूप मन और शरीर को काम करने पड़ते हैं। इस तथ्य से सभी परिचित हैं, किन्तु इसी रहस्य की एक कड़ी यह भी है कि निरन्तर के कृत्य अपने अनुरूप मन को ढाल लेते हैं । वातावरण का प्रभाव इसी को कहते हैं । इसमें गतिशील प्रभाव प्रवाह ही नहीं, अपना निजी क्रिया-कलाप भी सम्मिलित होता है तो स्वभाव उस ढाँचे में ढल जाता

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

है । आदतें उसी प्रचलन को पकड़ लेती हैं । कसाई कालान्तर में इतनी कठोर मनोभूमि के हो जाते हैं कि उनमें दया, करुणा नाम की कोई चीज शेष रह नहीं जाती । अपना कृत्य वे बिना किसी भय-संकोच के करते रहते हैं । यह उन्हें सहज लगता है, जबकि दया धर्म की मनोभूमि वाले के लिए उस वीभत्स को देखने तक में ही दिल दहलता है, साँस रुकती है ।

दुष्ट-दुराचारी आरम्भ से ही असमंजस करते हैं । वेश्याएँ कुछ दिन ही झिझकती हैं । डाकुओं, तस्करों, ठगों को अपना व्यवसाय सहज मनोरंजन एवं सामान्य कृत्य जैसा लगता है । कृत्य से अन्तस् ढालने की बात यहाँ प्रत्यक्ष है, यही बात पुण्य-परमार्थ के, चरित्र-संयम के सम्बन्ध में भी लागू होती है । कुछ दिन उस मार्ग पर चलने वाले अड़चन, अवरोध, असमंजस, विरोध, अनख जैसा अनुभव करते हैं, किन्तु जैसे-जैसे समय बीतता है उनका उस मार्ग पर चलते रहना स्वभाव का अंग बन जाता है और फिर उसमें शौर्य, साहस, त्याग, बलिदान जैसा विशिष्ट कुछ भी नहीं लगता । पटरी पर गाड़ी अपने क्रम से लुढ़कती रहती है । साधुओं की अपने ढंग की मनोभूमि और दिनचर्या होती है । दूसरे लोग उसे अपनाने में भी भारी असुविधा अनुभव करते हैं, पर अभ्यस्तों के लिए वह ढर्रा ही प्राणप्रिय बन जाता है । इसमें आदर्श की कम और स्वभाव की भूमिका अधिक होती है । देशभक्तों, समाजसेवियों के कई परिवार ऐसे होते हैं जो अन्य व्यवसायियों की तरह सीधे-सादे अभ्यास को सहज स्वाभाविक रीति से अपनाये रहते हैं । भौतिक तथा आत्मिक सभी क्षेत्रों में यह बात समान रूप से लागू होती है ।

लोकमानस के परिष्कार में व्यक्तिगत पवित्रता-प्रखरता पर जोर दिया जाता है और समाजगत न्याय-निष्ठा एवं उदार सहकारिता को प्रोत्साहित किया जाता है । यह मात्र चिन्तन ही नहीं कृत्य भी है । ताने-बाने के दोनों धागे मिलकर इस कपड़े को बुनते हैं । आवश्यक है कि जहाँ दूरदर्शी विवेकशीलता अपनाने का समग्र लोकशिक्षण दिया जाय वहाँ यह भी न भुला दिया जाय कि उस स्तर के कुछ न कुछ कृत्य भी साथ में जुड़े रहने चाहिए । बीजारोपण को अंकुरित-पल्लवित करने के लिए इसी खाद की आवश्यकता पडती है ।

प्रयत्न यह चलना चाहिए कि देश धर्म को आत्मा-परमात्मा का गौरव और उत्तरदायित्व समझने वाले प्रत्येक व्यक्ति को ऐसा कुछ नियमित रूप से करते रहने के लिए तत्पर किया जाय जिसमें लोकमंगल को सत्प्रवृत्तियों में प्रत्यक्ष सहयोग मिलता हो । कार्य छोटा ही क्यों न हो, पर यदि वह नियमित रूप से चलेगा तो उस दिशा में प्रगति होगी और परिपक्वता बढ़ेगी । जैन धर्म के एक तीर्थंकर कथा है कि वे आरम्भिक जीवन में बहेलियों का धन्धा करते थे । दीक्षा लेने आये तो अहिंसा पालन का व्रत लेने के लिए कहा गया । इसमें आजीविका चले जाने का, संकट न सह सकने का तर्क देते हुए उनने स्वल्प अहिंसा की सरलता बना देने का अनुरोध किया । सोच-विचार के बाद में वैसी सुविधा मिली और कौए की हत्या न करने का संकल्प लेकर हल निकाला गया । वे अहिंसा की महिमा पर कौए पर दया दिखाने के माध्यम से विचार करते रहे और अन्ततः अहिंसा धर्म के परिपालक ही नहीं प्रवक्ता भी बन गये । यही अणु व्रत है । थोड़ा शुभारम्भ भी भविष्य की महती सम्भावनाओं का विश्वास दिलाता है ।

युगान्तरीय चेतना को अग्रगामी बनाने के लिए हर जाग्रत आत्मा को स्वाध्याय, सत्संग, चिन्तन, मनन, पूजन, भजन तक सीमित न रहकर कुछ ऐसा करने के लिए भी कहा जाना चाहिए जिसमें उसे श्रम करना और सहयोग देना पड़ता हो । यही प्रज्ञा अभियान में सम्मिलित होने का व्रत धारण है । प्रज्ञा परिजनों को इस देव परिवार का सदस्य बनने के लिए न्यूनतम एक घण्टा समय और दस पैसा नित्य की अपने क्षेत्र में रचनात्मक प्रवृत्तियों को गतिशील बनाने के लिए नियमित रूप से देना होता है । इससे कम में किसी को प्रज्ञा परिजन कहलाने का अधिकार नहीं मिलता । यह समय अपने समीपवर्ती क्षेत्र में मिशन की बीस सूत्री योजना में लगाना पड़ता है । प्रौढ़ शिक्षा, वृक्षारोपण, स्वच्छता अभियान, गृह उद्योग, अपव्यय की रोकथाम, स्वास्थ्य सम्वर्द्धन, नशा निषेध, दहेज विरोध, जाति और लिंग के नाम पर चलने वाली असमानता का उन्मूलन जैसे कितने ही रचनात्मक कार्य इस योजना में सम्मिलित हैं । व्यक्ति-निर्माण, परिवार निर्माण, समाज निर्माण के लिए नैतिक, बौद्धिक एवं सामाजिक क्रान्ति के लिए बहुत कुछ करने के लिए योजनाबद्ध कदम उठाये गये हैं । एक घण्टा नित्य समय इन्हीं कार्यों में हर प्रज्ञा-परिजन को लगाना पड़ता है । हर दिन न बन पड़े तो सप्ताह में सात घण्टे या महीने में तीस घण्टे सुविधानुसार लगाने का भी विकल्प रहता है । इसके अतिरिक्त दस पैसा नित्य की राशि भी उन्हें निकालनी पड़ती है । इसका उपयोग युग साहित्य अपने घर-परिवार में तथा पास-पड़ोस में पढ़ाने के लिए भी इस पैसे का उपयोग होता है ।

बात छोटी-सी है, पर उसे एक कृत्य व्रत के रूप में अपनाने और उज्ज्वल सम्भावनाओं से भरे पूरे शुभारम्भ के लिए स्वभाव अभ्यास बनता है । देखने में यह समयदान अंशदान नगण्य जितना है फिर भी उसका संयुक्त प्रभाव कितना बड़ा होता है इसका अनुमान लगाने पर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है । दस लाख प्रज्ञा परिजन एक घण्टा समय निकाल कर दस लाख घण्टे का श्रमदान करते हैं । काम के घण्टे ७ माने गये हैं । दस लाख घण्टे के प्रायः डेढ़ लाख श्रम दिन होते हैं । इतना श्रम समय निरन्तर सृजनात्मक सत्प्रवृत्तियों में संलग्न रहे तो अनुमान लगाया जाता है वे लोग अपने-अपने क्षेत्रों में जितना कुछ उत्साहवर्द्धक कर रहे होंगे । दस पैसा प्रतिदिन की राशि भी दस लाख व्यक्तियों के लिए एक लाख रुपया प्रतिदिन होती है । इस अंशदान के उपरान्त सत्प्रवृत्तियों के लिए आवश्यक खर्च का, पूरा समय देने वाले

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

कार्यकर्त्ताओं का निर्वाह, स्वाध्याय, साहित्य, प्रज्ञा संस्थानों का दैनिक खर्च सरलतापूर्वक चल जाता है । यह ही बूँद-बूँद से घड़ा भरने की कहावत का प्रत्यक्ष प्रमाण उदाहरण है। उसे व्यापक क्षेत्र में बड़े रूप में चरितार्थ किया जा सके तो नव-सृजन के लिए श्रम साधन जुटाने में कहीं भी अवरोध असमंजस न दीख पड़े । सरकारी सहायता माँगने एवं धनिकों के सम्मुख नाक रगड़ने की फिर कहीं किसी को आवश्यकता न पड़ेगी । भावनाशील परमार्थ परायणों के मुट्ठी-मुट्ठी समय दान अंशदान में नवसृजन की वे योजनाएँ सहज सम्पन्न हो सकती हैं, जो आज साधनों के अभाव में अवरुद्ध बनी पड़ी हैं ।

भारत की देव संस्कृति का व्यवहार निर्धारण वर्णाश्रम के रूप में हुआ है । चार आश्रमों में पूर्वार्द्ध के दो (ब्रह्मचर्य और गृहस्थ) निजी प्रयोजनों के लिए हैं और उत्तरार्ध के दो (वानप्रस्थ और संन्यास) परमार्थ प्रयोजनों के लिए । पचास वर्ष की अधेड़ आयु पूरी कर लेने के बाद प्रायः पारिवारिक उत्तरदायित्व बड़े लड़के सँभाल लेते थे और पिता को परमार्थ प्रयोजनों के लिए छुट्टी मिल जाती थी । इन चारों में वानप्रस्थ को संस्कृति का मेरुदण्ड माना गया है । अनुभवों से परिपक्व, भावना से निवृत्त व्यक्ति अपनी निजी खर्च संचित सम्पदा से चलते और निरन्तर लोकमंगल में निरत रहते थे । इस प्रकार सुयोग्य लोकसेवी प्रचुर परिमाण में अवैतनिक रूप से मिलते थे । अपनी निस्पृहता, चरित्रनिष्ठा एवं परमार्थ भावना से जन-जन का हृदय जीतते और उन्हें सन्मार्ग पर अग्रसर किये रहने में सफल होते थे । यही था प्राचीनकाल का गौरव-गरिमा का सबसे बड़ा स्रोत और रहस्य । पिछले अन्धकार युग में यह पुण्य परम्परा समाप्तप्राय हो गई और पलायनवादी तथाकथित साधु-संन्यासी विपुल संख्या में भ्रान्तियाँ फैलाते, निर्धन जनता पर भार रूप लदते-विचरने लगे । दुर्गति के कारणों में एक बड़ा हेतु यह भी है । प्रज्ञा अभियान में उस पुण्य परम्परा को पुनः जीवित किया गया है और लोकसेवी वानप्रस्थों को परिव्राजक रूप में व्रतशील बनाकर घर-घर अलख जगाने, जन-जन से सम्पर्क साधने और युगान्तरीय चेतना से अनुप्राणित करने के लिए भेजा है । यही प्रक्रिया प्राचीनकाल में तीर्थयात्रा, धर्म-प्रचार की पदयात्रा के नाम से प्रख्यात थी, तीर्थों के नाम पर चलने वाली विडम्बना के पीछे जो निहित स्वार्थ जुड़ गये हैं उन्हें वर्तमान परिस्थितियों में विलग करना कठिन है । दूसरा उपाय एक ही था युग-तीर्थों की स्थापना । प्रज्ञापीठों के रूप में पिछले दिनों वे चौबीस के लगभग बने हैं । उन्हें रचनात्मक गतिविधियों का केन्द्र बनाकर-समयदानी वानप्रस्थों, परिव्राजकों के माध्यम से जन-जागरण का नवसृजन के उल्लास का वातावरण बनाया गया है । यह प्रयोग आशातीत ढंग से सफल भी हो रहा है ।

कम्बोडिया के बौद्ध मठों में पिछले दिनों एक वर्ष के संन्यास के लिए धर्म प्रेमी लोगों को तैयार किया गया था। वे मठों में रहकर साधना भी करते थे और योग्यता के अनुसार लोकमंगल के कामों में भी निरत रहते थे । उन दिनों इस परम्परा ने उस क्षेत्र को सुख-शान्ति का भण्डार बनाकर रख दिया था । प्रज्ञा अभियान के अन्तर्गत एक वर्ष के संन्यास की घर से बाहर रहकर लोकमंगल के कार्यों में निरत रहने की परम्परा आरम्भ की जा रही है । यह परिव्राजक दो-दो की टोलियों में साइकिल सवारी के साथ सुदूर देहातों में पहुँचेंगे और जन-जन को संगीत के माध्यम से अनुप्राणित करते हुए सृजनात्मक सत्प्रवृत्तियाँ अपनाने के लिए सहमत करेंगे । समय बतायेगा कि लोक- मानस के परिष्कार की भूमिका निभाने में शांतिकुंज के यह प्रयत्न कितने सफल होते हैं और नवयुग की पृष्ठभूमि बनाने में कितना बड़ा योगदान करते हैं ।

यह एक संगठन के सीमित प्रयत्नों की चर्चा है । ये प्रकटीकरण इसलिए आवश्यक समझा गया कि युगमनीषा जन-जागरण का लक्ष्य सामने रखकर जब भाषण, लेखन दृश्य को आधार मानकर योजनाबद्ध बड़े कदम उठायें, तब यह न भूलें कि जाग्रत आत्माओं को नियमित रूप से सेवा-कृत्य का भी व्रत लेना पड़ेगा । समयदान और अंशदान का व्यापक उत्साह उत्पन्न करने से ही उस समय लोकशक्ति का उद्भव होगा जो प्रस्तुत विपन्नताओं को उलट देने और उज्ज्वल भविष्य का अभिनव सृजन करने में सफल हो सके ।

नैतिक, बौद्धिक और सामाजिक क्षेत्र की समग्र क्रान्ति

नैतिक, बौद्धिक और सामाजिक क्षेत्रों में घुसी हुई भ्रान्तियाँ अपने-अपने क्षेत्रों में चित्र-विचित्र प्रथा-परम्परा बनकर रही हैं और प्रचलन में इतनी गुँथ गई हैं कि उनकी अनुपयुक्तता के बारे में सन्देह करने तक की आवश्यकता नहीं समझी जाती ।

मानवी सत्ता, सृष्टा की अनुपम कलाकृति है उसे इसलिए सृजा जाता है कि अपनी विशिष्टता और वरिष्ठता के सहारे इस विश्व उद्यान को सुरभित, समुन्नत रखे । औसत नागरिक की तरह सादगी भरा निर्वाह करे, उत्कृष्ट चिन्तन और आदर्श चरित्र की गौरव गरिमा बनाये रहे, पवित्रता एवं प्रखरता पर आधारित व्यक्तित्व समर्थ रखे तथा ऐसी योजना बनाकर चले जिसका अनुकरण करने वाले निरन्तर ऊँचे उठते, आगे-बढ़ते रहें । संक्षेप में यही है मनुष्य की नीति-मर्यादा का सार संक्षेप । इसका जो जितना परिपालन करता है वह उतना ही नीतिवान है । इस निर्धारण को जो जितना तोड़ता है, जो लोभ, मोह और अहंकार के लिए ही मरता-खपता है, जिसे वासना, तृष्णा के अतिरिक्त और कुछ सूझता ही नहीं, जिसे संकीर्ण स्वार्थपरता में आगे की बात सोचने की फुरसत ही नहीं,

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

जिसके मन में लोकमंगल के उत्तरदायित्व निभाने के लिए उल्लास उठता ही नहीं, उसे अनैतिक कहना चाहिए । उद्धत अपराधों की तरह संकीर्ण स्वार्थपरता भी तत्त्व-दर्शियों द्वारा अनीति ही मानी गई है । देखा जाना चाहिए कि अनीति ने व्यक्तिगत रुझान और सामुदायिक प्रचलन में कितनी गहरी जड़ें जमाई हैं । इन्हें उखाड़ने के लिए उतनी ही गहरी खुदाई करने की आवश्यकता पड़ेगी । हर व्यक्ति को समझाया जाना चाहिए कि प्रस्तुत प्रवाह में बहने पर किस प्रकार हर दृष्टि से घाटे ही घाटे में रहता है । समझना होगा कि यदि आदर्शवादिता अपनाई जा सके तो उसमें पूरी तरह लाभ ही लाभ है ।

बौद्धिक क्षेत्र में अन्ध-विश्वासों के उलूकों ने कितने घोंसले बना रखे हैं और वे कितनी निश्चिन्ततापूर्वक बस गये हैं, यह देखकर आश्चर्य होता है । आहार को ही लें भूना, तला, मसाले वाला स्वादिष्ट समझा जाने वाला अभक्ष्य ही हम सब उदरस्थ करते हैं । नशा पीते हैं । यह भूलते ही जा रहे हैं कि मानवी आहार में शाक-भाजी की प्रमुखता कितनी आवश्यक है । अन्न लेना हो तो उबाल लेना ही पर्याप्त है । माँस मानवी आहार में किसी दृष्टि से फिट नहीं बैठता । खारी नमक, सोडियम क्लोराइट एक प्रकार का विष है । इसी प्रकार शीरा निचोड़ देने के बाद चीनी भी मीठा जहर सिद्ध होती है । पर कौन किसे समझाये कि वर्तमान पाक विद्या एवं स्वाद लिप्सा प्रकारान्तर से धीमी हत्या ही सिद्ध होती है । यदि आहार क्षेत्र में विचार क्रान्ति का समावेश हो सके तो दावे के साथ कहा जा सकता है कि प्रस्तुत दुर्बलता और रुग्णता से आधा छुटकारा अनायास ही मिल सकता है । इसी प्रकार सोने-जागने, श्रम करने, धूप-हवा के सम्पर्क में रहने, कम कपड़े पहनने, ब्रह्मचर्य पालने जैसे मोटे-मोटे प्रकृति निर्देशों को पाला जा सके तो मनुष्य भी अन्य स्वच्छन्द जीवन जीने वाले प्राणियों की तरह निरोग एवं दीर्घजीवी रह सकता है । यदि आहार-विहार का प्रचलित प्रवाह उलटा जा सके तो समझना चाहिए कि पीड़ा सहने, चिकित्सा में धन गँवाने, अशक्त रहने, अनुपयोगी बनने, कुसमय बेमौत मरने जैसे अगणित संकटों से सहज छुटकारा मिल गया ।

मानसिक विक्षोभों का प्रधान कारण है-निषेधात्मक चिन्तन । जो उपलब्ध है उसका सन्तोष आनन्द लेने की अपेक्षा, जो नहीं है उसी की सूची बनाये फिरना, अधिक सम्पन्नों के साथ तुलना करके दरिद्र अनुभव करना । तुलना ही करनी हो तो पिछड़ों के साथ करके अपने सौभाग्य को सराहा क्यों न जाय ? चारों ओर जो उत्साहवर्धक भरा पड़ा है, जिसे देखने, सोचने, स्मरण करने से कृतज्ञता, प्रसन्नता की अनुभूति होती है, उसी पर ध्यान केन्द्रित क्यों न किया जाय ? मनोकामनाओं के पर्वत सिर पर लादने की अपेक्षा निर्वाह में सन्तोष करने की आदत क्यों न डाली जाय ? अभीष्ट प्रतिफल की ललक में आकुल-व्याकुल रहने की अपेक्षा कर्त्तव्य पालन में निरत रहने और उतने भर में गर्व-गौरव अनुभव करने की आदत क्यों न डाली जाय ? हार-जीत की परवाह न करते हुए भी खिलाड़ी जब प्रसन्नतापूर्वक खेल का आनन्द ले सकते हैं तो जीवन नाटक के आने वाले उतार-चढ़ावों में अपना ही सन्तुलन क्यों बिगाड़ा जाय ? हर कोई हमारी मर्जी पर चले इसका आग्रह क्यों हो ? अपनी जैसी विचार स्वतन्त्रता दूसरों को क्यों न अपनाने दी जाय ? आदि प्रश्न ऐसे हैं जिन पर यदि ठण्डे मन से विचार किया जा सके और चिन्तन के अभ्यस्त ढर्रे में विवेकयुक्त परिवर्तन किया जा सके तो तनाव, खीज, चिन्ता, आशंका, आवेश जैसे कितने ही मनोविकारों द्वारा निरन्तर झुलसते रहना समाप्त हो सकता है ।

हँसने -हँसाने की हल्की-फुल्की चिन्तन प्रक्रिया एक आदत भर है जिसका अनुकूलता या प्रतिकूलता से कोई गहरा सम्बन्ध नहीं है । मस्तिष्क सभी को उपलब्ध है । भाव-सम्वेदना से भरा-पूरा अन्तःकरण किसके पास नहीं है । उस क्षीर-सागर, कैलाश जैसे पुण्य क्षेत्र में भ्रष्टता और दुष्टता से सने कषाय-कल्मष भर लेने का ही परिणाम है कि ऋषि कल्प सम्भावनाओं वाली देवात्मा चेतना निकृष्ट नारकीयता से आबद्ध होकर रह जाती है । इसे उलटना हर विवेकशील के लिए सम्भव है । वाल्मीकि, अंगुलिमाल, विल्वमंगल जैसे जब दृष्टिकोण बदलते ही कुछ से कुछ हो सकते हैं तो अन्य किसी के लिए वैसा आत्म-परिवर्तन क्या कठिन हो सकता है ।

परिवार एक भला-चंगा उद्यान है । उसे स्रष्टा की अमानत समझकर कर्त्तव्यनिष्ठ माली की तरह सुसंस्कृत स्वावलम्बी बनने का प्रयत्न चले । पत्नी के साथ मित्र साथी भर मानकर चला जाय । यौनाचार की अति करके उसके शारीरिक, मानसिक स्वास्थ्य को क्षत्-विक्षत् न किया जाय, अनावश्यक प्रजनन से हर किसी के लिए सिर दर्द उत्पन्न न किया जाय । लड़की-लड़के में भेदभाव करने की कुटिलता से बचा जाय, हर सदस्य के प्रति एक आँख प्यार की तथा दूसरी सुधार की रखी जाय तो वह भ्रष्टाचार न पनपेगा, जिसमें प्रसन्न करने के लिए अनुचित उपहार देने की रीति-नीति अपनाई जाती है। उत्तराधिकारियों के स्वावलम्बी होते हुए उन्हें पूर्वजों की सम्पत्ति मिले यह कानून प्रचलन चोरों ने चोरों के लिए बनाया है । हर समर्थ व्यक्ति को अपनी कमाई खानी चाहिए। पूर्वजों का छोड़ा धन सत्प्रवृत्ति-सम्वर्धन में लगाना चाहिए । आलस्य-प्रमाद, विलास, अपव्यय, उपेक्षा, असहयोग के विष वृक्ष यदि परिवार के खेत में न पनपने दिये जाएँ तो कोई कारण नहीं कि अपने इन्हीं घर-घरोंदों को नर-रत्नों की खदान के रूप में परिणत न किया जा सके । नये परिवार बनते और पुराने टूटते जा रहे हैं । खण्डहरों और मरघटों का विस्तार हो रहा है । ऐसी दशा में परिवारों को भटियारों की सराय तथा भेड़ों के बाड़े जैसा कुरुचिपूर्ण देखा पाया जा रहा है तो आश्चर्य ही क्या है ।

शरीर, मस्तिष्क, परिवार की तरह ही अर्थव्यवस्था का भी जीवनतन्त्र पर भारी प्रभाव पड़ता है । आज हर

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

धनी-निर्धन पर हावी हर किसी की आर्थिक आवश्यकता बढ़ी-चढ़ी है और तंगी अनुभव होती रहती है । संचय और अपव्यय के लिए तो कुबेर का खजाना भी कम पड़ता है । अनीति, उपार्जन, अपराध, ऋण, रिश्वत, बेईमानी का दौर आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के नाम पर चलता है । इस कमी की पूर्ति उस तरह नहीं हो सकती जिस तरह कि लोग चाहते हैं । लोभ लिप्सा को न पटने वाली खाई और न बुझने वाली आग कहा गया है । रावण, हिरण्यकश्यपु, वृत्तासुर, सिकन्दर जैसे धनाध्यक्षों को जब वैभव के पहाड़ हाथ लगने पर भी सन्तोष न मिल सका तो सामान्य स्तर वालों की बात ही क्या है । ऐसी दशा में अर्थ सन्तुलन बिठाने के लिए दृष्टिकोण परिवर्तन का नया आधार अपनाना पड़ेगा । औसत देशवासियों के स्तर का निर्वाह-जितनी लम्बी सौर तेते पाँव-सादा जीवन उच्च विचार वाले, विलास और अपव्यय में कटौती जैसे दूरदर्शितापूर्ण सिद्धान्त अपना लेने पर इस सम्बन्ध की समस्याएँ सहज ही हल हो जाती हैं । आलस्य-प्रमाद छोड़ा, श्रमशील बना, काम को प्रतिष्ठा का प्रश्न माना और योग्यता वृद्धि में उत्साह रखा जाय तो स्तर के अनुरूप आजीविका बढ़ भी सकती है । प्रश्न विस्तार से कम, सदुपयोग से अधिक सम्बन्धित है । थोड़े से साधनों का भी यदि श्रेष्ठतम सदुपयोग बन पड़े तो गरीबी में भी अमीरी से बढ़कर आनन्द के साथ जिया जा सकता है । परिश्रम और ईमानदारी की कमाई ही फलती-फूलती है इस सिद्धान्त को ध्यान में रखकर उपार्जन और उपभोग का सन्तुलन बिठाया जाय तो अर्थ-संकट इस तरह किसी को भी न सताये जैसा कि अपव्ययी, दुर्व्यसनी और सामाजिक कुरीतियों की मूढ़-मान्यताओं से ग्रसित लोगों को निरन्तर भुगतना पड़ता है ।

इच्छित सम्पदा उपलब्ध कराने के लिए गढ़ा खजाना, लाटरी का नम्बर, लक्ष्मी सिद्धि, ठगी चोरी के फेर में पड़े रहने की उपेक्षा यह अधिक अच्छा है कि सोचने का तरीका उलट दिया जाय और सामर्थ्य भर कमाने, आवश्यकता भर खर्चने की सुसन्तुलित नीति अपनाई जाय । अध्यात्मवादी और साम्यवादी दोनों इस निर्धारण पर समान रूप से सहमत हैं । लिप्सा और तृष्णा को नियन्त्रित किया जा सके तो निर्वाह में औचित्य की मर्यादाओं को ध्यान में रखते हुए बचत को सत्प्रवृत्ति-सम्वर्धन में लगाया जा सके तो उतने भर से दरिद्रता का युग समाप्त हो सकता है और साधनों से हर दिशा में हर्ष-उल्लास बरस सकता है ।

शिक्षितों का असन्तोष देखते ही बनता है । कुछेक को छोड़कर अधिकांश को बेकारी या आत्म-आजीविका की शिकायत है । हर कोई ठाट-बाट की नौकरी चाहता है । श्रम कम-से-कम, आजीविका अधिक से अधिक आमतौर से शिक्षितों पर यही भूत चढ़ा रहता है । सभी को ऐसी ही ठाट-बाट की नौकरियाँ चाहिए । वे सभी को मिलें कैसे ? उन्हें रखे कौन ? अभी तो देश में शिक्षा मात्र ३० प्रतिशत है । जब अधिकांश शिक्षित होंगे और सभी ठाट-बाट की नौकरी माँगेंगे, तब उनका मनोरथ पूरा होने में और भी विग्रह उत्पन्न होगा । शिक्षा का लक्ष्य मात्र नौकरी ही रहा तो संकट और भी अधिक बढ़ेगा । फलतः उस वर्ग का असन्तोष विग्रह ऐसे संकट खड़े करेगा जैसे कि बिना पढ़े रहने पर उत्पन्न न होते ।

यहाँ शिक्षा की निन्दा नहीं की जा रही, न उसे अनुपयोगी बताया जा रहा है, वरन् कहा यह जा रहा है कि सामान्य ज्ञान की मैट्रिक स्तर की जीवनोपयोगी प्रारम्भिक शिक्षा सर्वसुलभ हो । उसके बाद कॉलेज से प्रवेश करने से पूर्व हर अभिभावक अपने बच्चों का आजीविका का लक्ष्यनिश्चित करे । यह मानकर चले कि नौकरी हर वर्ष के छात्रों में से कठिनाई से १०-५ प्रतिशत को मिलेगी । शेष को अन्य आधार अपनाकर अपने पैरों पर खड़ा होना होगा । जो भी धारा जिसे अनुकूल पड़े वह उस स्तर की औद्योगिक शिक्षा प्राप्त करे । जिन्हें किसी विषय का विशेषज्ञ बनना हो वे उसमें पारंगत होने की दृष्टि से लम्बे अध्ययन की योजना बनायें इसमें हर्ज नहीं, पर भेड़िया धसान की तरह नौकरी के लिए कॉलेज की खर्चीली पढ़ाई के लिए धकापेल मचाना सर्वथा अबुद्धिमत्तापूर्ण है । नई पीढ़ी के लिए सहकारी उद्योग के सहारे उत्पादन तन्त्र खड़े करने और उसमें कठोर श्रम करने के लिए उद्धत रहने की बात मस्तिष्क के हर कोने में बिठा दी जाय तो शिक्षितता की जिस घुटन में घुटते और अवांछनीय दिशा में चल पड़ने का जो संकट खड़ा है उससे छुटकारे का मार्ग मिल सकता है ।

शिक्षा व्यवस्था बनाने वालों का उत्तरदायित्व है कि वे पिछले दिनों से चले आ रहे घपले को बन्द करें । असन्तोष उत्पन्न करने वाली शिक्षा-पद्धति को बदलें और ऐसा कुछ पढ़ायें जिससे जीवनोपयोगी सामान्य ज्ञान के अतिरिक्त आजीविका उपार्जन का भी पथ-प्रशस्त होता हो । कोसने से नहीं, ढर्रे पर लुढ़कते रहने से भी नहीं, बात तब बनेगी जब छात्र, अभिभावक एवं शिक्षातन्त्र के निर्माता व्यावहारिक नीति अपनाने और पढ़ने-पढ़ाने का समूचा ढाँचा नये सिरे से निर्धारित करें ।

व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित समस्याओं में अब अध्यात्म दर्शन का, आस्तिकता का, आध्यात्मिकता का, धार्मिकता का, मात्र भक्ति और कर्मयोग का क्षेत्र बना रहता है । बौद्धिकता का दायरा तो बहुत बड़ा है, पर उसे स्वास्थ्य, सन्तुलन, अर्थ परिवार के अतिरिक्त धर्म-दर्शन को और जोड़कर जीवन-साधना के पंचशीलों से समेटा जा सकता है । दर्शन क्षेत्र की मान्यताओं को इस कसौटी पर कसा जाना चाहिए कि वे मनुष्य को अधिक सुसंस्कृत, अधिक पराक्रमी, अधिक उदार समाजनिष्ठ बनने में किस हद तक सहयोग देती हैं । विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों के अन्तर्गत अगणित मान्यताओं और परम्पराओं का ऐसा उलझा हुआ जाल-जंजाल है कि एक को सच ठहराते ही शेष सभी को झूठ ठहराना पड़ता है । एकात्मता की ओर ले चलने वाले नैतिक सूत्र उनमें हैं तो पर प्रत्यक्षतः ऐसी

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

मान्यताओं और परम्पराओं का ही घटाटोप है जो एक दूसरे से तालमेल बिठाने में सर्वथा असमर्थ हैं। ऐसी दशा में किसी धर्म दर्शन को सर्वांश में मान्यता देने की अपेक्षा यह अधिक अच्छा है कि उनमें जो भी प्रतिपादन व्यक्ति को पवित्र, प्रखर बनाने में समर्थ हों, मनुष्य मात्र पर समान रूप से लागू होते हों उन्हें अपनाया जाय और शेष का खण्डन-मण्डन करने की अपेक्षा उसे उपेक्षा में डाल दिया जाय ।

देवता को मनुहार, उपहार के सहारे प्रसन्न करके बिना उपयुक्त मूल्य चुकाये, कुछ भी मनोरथ पूरा करा लेने की मान्यता का अस्त होना चाहिए । देवत्व का अवलम्बन अन्तराल में दिव्य प्रेरणाएँ उभारने की सम्वेदनात्मक प्रक्रिया के रूप में अपनाया जाय । पूजा-उपासना की, आत्मपरिष्कार की अध्यात्म विज्ञानसम्मत प्रणाली माना जाय । उतने भर से पापदण्ड भुगतने से छुटकारा मिलने या कोई विलक्षण चमत्कार प्रकट होने जैसी बात कल्पनाओं से निरस्त किया जाय । कथा-पुराणों के सुनने सुनाने से नहीं उनमें वर्णित नीति भाव को हृदयंगम करने से बात बनती है । परम्पराएँ अनादि काल से समय-समय पर बदलती रही हैं और भविष्य में भी यह क्रम चलता रहेगा । इसलिए प्रथा-प्रचलनों के सम्बन्ध में किसी को भी पूर्वाग्रहग्रसित नहीं होना चाहिए । नीति-मर्यादाओं को छोड़कर सभी प्राचीन निर्धारणों को इसी कसौटी पर कसा जाना चाहिए कि उनमें से कितने तर्क, तथ्य, प्रमाण के अतिरिक्त सामयिक समाधान से किस हद तक सहायक होते हैं । तत्त्वदर्शन की असंख्य परस्पर विरोधी धाराएँ और मान्यताएँ प्रचलित हैं । इनमें सब को तो मान्यता नहीं दी जा सकती । विवेक के आधार पर उनकी परिणति को ध्यान में रखते हुए युगदर्शन को नया रूप मिलना चाहिए । बौद्धिक क्रान्ति का प्रयोजन इसी प्रकार पूरा होता है ।

सामाजिक क्रान्ति में ऐसे प्रचलनों को निरस्त किया जाना चाहिए जो विषमता, विघटन, अन्याय, अनौचित्य के पृष्ठपोषक हैं । पारस्परिक स्नेह, सौमजस् सहयोग का विस्तार करने वाली वसुधैव कुटुम्बकम् की, आत्मवत् सर्वभूतेषु की दृष्टि पोषक प्रथा-प्रचलनों को ही मान्यता मिले और शेष को औचित्य की कसौटी पर खरी सिद्ध होने पर कूड़ेदान में बुहारा फेंका जाय ।

अपना समाज सहकारी सहायक बने । उसकी अभिनव संरचना में कौटुम्बिकता के शाश्वत् सिद्धान्तों का समावेश किया जाय । न जाति लिंग की विषमता रहे और न आर्थिक दृष्टि से किसी को गरीब, अमीर रहने दिया जाय । न कोई उद्धत अहंकारी, धनाध्यक्ष बने न किसी को पिछड़ेपन की पीड़ा भर्त्सना सहन करनी पड़े । अपराध करने की गुंजाइश ही न रहे यदि कहीं कोई उपद्रव उभरे तो उसे लोकशक्ति द्वारा इस प्रकार दबोच दिया जाय कि दूसरों को वैसा करने का साहस ही शेष न रहे । मिल-बाँटकर खाने और हिल-मिलकर रहने की समाज संरचना के अन्तर्गत ही मनुष्य को सुख-शान्ति से रहने का अवसर मिल सकता है ।

पाँच अरब मनुष्यों में पाई जाने वाली भ्रान्तियों, विकृतियों, दुष्प्रवृत्तियों से जूझना कठिन लगता भर है । युग-मनीषा यदि उसे कर गुजरने के लिए तत्परता प्रकट करे तो सत्य में हजार हाथी का बल होता है इस उक्ति के अनुसार श्रेष्ठता का वातावरण भी इसी प्रकार बन सकता है जिस प्रकार कि मुट्ठी भर लोगों ने अग्रगामी होकर दुष्टता भरे प्रचलनों से लोकमानस को भ्रष्ट करके रख दिया है ।

युगमनीषा कहाँ पायें, कहाँ खोजें, कहाँ पुकारें ?

धन, शस्त्र, शासन, ज्ञान, विज्ञान और संघ की शक्तियाँ इन दिनों विभिन्न क्षेत्रों में अपने चमत्कार दिखाती और मोर्चा फतह करते देखी जाती हैं । इनकी महत्ता और उपयोगिता में किसी प्रकार का सन्देह न करते हुए भी सोचना यह पड़ेगा कि समस्त समस्याओं के प्रमुख कारण चिन्तन के भटकाव को रास्ते पर लाने का उत्तरदायित्व कौन सँभाले ? कौन आगे बढ़े और कौन उसका सहयोगी रहकर व्यापक प्रयोजन को पूरा करे ?

जहाँ तक आस्था-संकट का प्रश्न है वहाँ तक उस गहराई तक पहुँच सकने की क्षमता मात्र धर्म में ही दीखती है । धर्म शब्द से जिन्हें चिढ़-एलर्जी है उन्हें युग-मनीषा शब्द से उस तथ्य को समझना चाहिए अन्तराल के मर्मस्थल तक उपरोक्त छह प्रमुख शक्तियों में से एक भी एकाकी बलबूते समर्थ नहीं हो सकती । उनका संयुक्त प्रभाव भी सीमित परिणाम ही प्रस्तुत कर सकता है।

युगसमस्या के समाधान में युगमनीषा को अग्रिम पंक्ति में खड़ा होना चाहिए । कृष्ण आगे थे; पाण्डवों के सहयोग से महाभारत में विजय मिली । राम आगे थे, वानर सेना ने लंका को जीता । वशिष्ठ के नेतृत्व में रघुवंशियों की पीढ़ियाँ सतयुगी व्यवस्था बनाती रहीं । चाणक्य ने चन्द्रगुप्त के सहयोग से भारत को चक्रवर्ती बनाया । समर्थ के नेतृत्व में शिवाजी छत्रपति बने । सप्तऋषियों ने अपने समय में समस्त संसार को प्रगति और समृद्धि की ओर धकेला और जगद्गुरु की भूमिका निभाई । शंकराचार्य को मान्धाता का, बुद्ध को हर्षवर्धन, अशोक का समर्थन मिला और बड़े काम सम्पन्न हुए । सहयोग सभी का चाहिए । भौतिक क्षेत्र की हर सामर्थ्य का भी इतने पर भी जनमानस के अन्तस् की भाव-श्रद्धा का स्पर्श करते उसे भ्रान्तियों की तमिस्रा से उबार कर अरुणोदय के आलोक से सम्बद्ध करने का काम मनीषा के हिस्से में रहता है । उसके द्वारा उपेक्षा बरतने पर समाधान मिलेगा नहीं और बिल्ली के गले में घण्टी बाँधने में असमर्थ चूहों की सभा बिना किसी निर्णय के विसर्जित होगी ।

पिछले दिनों संसार में चमत्कारी परिवर्तन हुए हैं । उसमें दृश्यमान भूमिका किसी की भी क्यों न रही हो, श्रेय किसी को क्यों न मिला हो । परोक्ष पृष्ठभूमि बनाने में

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

मनीषा ने ही अपनी गरिमा और प्रखरता का परिचय दिया है । कार्लमार्क्स की भूमिका के बिना वर्तमान साम्यवादी विस्तार की कल्पना भी नहीं की जा सकती । नीत्से का दर्शन ही जर्मनी, इटली आदि को नाजी बनाने का निमित्त कारण था । दो महायुद्धों की जिम्मेदारी तत्वतः ऐसे ही दार्शनिक प्रतिपादनों के हिस्से में आती है । रूसो के प्रतिपादन ने विश्व-मानव के चिन्तन को प्रभावित न किया होता तो प्रजातन्त्र की अभूतपूर्व कल्पना इतनी तूफानी गति से संसार के अधिकांश भाग को अपनी लपेट में न ले पाती । अपने समय में मेजिनी के प्रतिपादन पीड़ित पक्ष को तनकर खड़ा होने का साहस प्रदान करते रहे हैं । बुद्ध ने विचार क्रान्ति की मशाल की भी तो समर्थ सहयोगियों की कमी रही होती, यह नेतृत्व न मिलता, तो अन्य माध्यमों से समय को उलट देने वाले उस बुद्धिवाद का कोई आधार ही खड़ा न होता । प्रश्न श्रेय-सहयोग का नहीं वह किसी को भी मिल सकता है, किसी का भी हो सकता है पर उन चिंगारियों को भुलाया नहीं जा सकता जो चमकी-भड़की और अपनी लपेट में वन प्रदेशों को ईंधन बनाकर दावानल की तरह गगनचुम्बी बनाती चली गईं ।

सुकरात, अफलातून, अरस्तू जैसे मनीषियों के परोक्ष अनुदानों के गुणगान मुकुटधारियों जैसे ढोल, तासे बजाकर नहीं होते फिर भी तथ्य बताते हैं कि उनकी भूमिकाएँ शत सहस्र शासकों से बढ़कर रही हैं । जापान के गाँधी कागावी मूलतः समाजनिष्ठ सेवाभावी सन्त थे । समय ने सहयोग दिया और वे जापान के पतित वर्ग के मसीहा बन गये । ऐसे तो भारत में भी कबीर, विवेकानन्द, दयानन्द, गुरु गोविन्द सिंह, विनोबा आदि की भूमिकाएँ भी अविस्मरणीय हैं । महत्त्वपूर्ण सेवा-संस्थान खड़े करने में बाबा साहब आम्टे, हीरालाल शास्त्री, श्रद्धानन्द, स्वामी केशवानन्द, राजा महेन्द्र प्रताप, महामना मालवीय आदि के व्यक्तित्व और कर्तृत्व को चिरकाल तक स्मरण रखा जायेगा । ये प्रतिभाएँ वस्तुतः युगमनीषियों की श्रेणी में ही आती हैं । लेखनी, वाणी, संगठन आदि जिसे जो उपाय सूझा उसने वह अपनाया किन्तु लक्ष्य एक ही रहा- दिगभ्रान्त लोकमानस को आदर्श उत्कृष्टता अपनाने के लिए साहसिक उमंगों से भर देना ।

धन, कौशल, बाहुबल आदि की कमी पहले भी नहीं थी, अभी भी नहीं है । शासन भूतकाल में भी सामर्थ्यवान रहे हैं । जनता की लोकशक्ति पहले भी विद्यमान थी, पर उन्हें दिशा न मिलने के कारण भटकाव की स्थिति बनी रही और उपरोक्त शक्ति स्रोतों का अवांछनीय अपव्यय, दुरुपयोग होता रहा । उस बिखराव को समेट कर एक बुहारी में कस देने और उसे सुनियोजित सृजन प्रयोजन में लगा देने की व्यवस्था यदि बनी होती तो साधनों के अभाव का, प्रतिकूलता का रोना रोना पड़ता है और स्वल्प साधनों में ही शान्ति, समृद्धि और स्नेह-सहकारिता का भरा-पूरा स्वर्गीय वातावरण आज की स्थिति में भी बना हुआ होता । अभाव उस प्रखरता का है जिसे न केवल उच्चस्तरीय प्रतिपादन प्रस्तुत करने पड़ते हैं, वरन् निज की आदर्शवादिता का परिचय देते हुए जन-साधारण को आश्वस्त भी करना पड़ता है । युग-मनीषा की यह दुहरी भूमिका निभाते हुए लोक-शिक्षण की वास्तविक क्षमता अर्जित करनी पड़ती है ।

बुद्धिवाद एक बात है और मनीषा दूसरी । बुद्धिवादी तो अपनी प्रखरता और चतुरता के बलबूते धुआँधार भाषण देने से प्रदर्शन जुलूस के घटाटोप खड़े करने में देखते-देखते सफल हो सकते हैं । प्रतिभावान सम्पन्नों का गला पकड़ कर इच्छित धनराशि एकत्रित कर सकते हैं और उसके सहारे आदर्शवादी ढकोसले भी कागजी रावण की तरह खड़े कर सकते हैं । यह चित्र-विचित्र तमाशे रोज ही देखने को मिलते हैं । अहम्मन्यता, यशलिप्सा साथ ही धन अपहरण के अनेकों क्षेत्रों में यह दरबार लगाये रहने वाले मजमेबाज अपने को अभिनेता स्तर का नेता सिद्ध करने वाले कौतूहल रचते रहते हैं । यह विडम्बनाएँ सायंकाल के लाल-पीले अम्बर-डम्बर की तरह सुहावनी तो लगती हैं, पर उनके बलबूते वैसा कुछ ऐसा बन पड़ने की आशा नहीं बँधती, जिसमें उज्ज्वल भविष्य के स्वप्न साकार होते हैं ।

बुद्धि व्यवसायियों की बिरादरी एक है । युगमनीषियों की दूसरी । बुद्धिवाद मानसिक विलक्षणता है । वह नट गायक की तरह अपनी कला का चमत्कार दिखाता और चकाचौंध भरा आकर्षण उत्पन्न करता है । मनीषा न केवल आदर्शवादी प्रतिपादन करती है, न केवल लोक-शिक्षण में निरत होती है, पर साथ ही इस बात की आवश्यकता सर्वोपरि समझना है कि आदर्शवादी लोक-शिक्षण के लिए प्रवक्ता का चरित्र ऋषि-कल्प होना चाहिए । उसे अपनी स्थिति सन्देहों से परे और प्रामाणिकता की हर कसौटी पर खरी सिद्ध करनी होती है । जो दूसरों से कहा जा रहा है, उसे अपने निजी चरित्र-चिन्तन में पूरी तरह उतारने के उपरान्त ही दूसरों को यह विश्वास दिलाया जा सकता है कि प्रतिपादन शक्य एवं व्यावहारिक भी है या नहीं । क्या कहा जा रहा है, इस पर मनोरंजन स्तर का भी ध्यान जाता है । प्रभाव तब पड़ता है जब कौन कहता है वाली बात का समाधान मिल सके । भौतिक क्षेत्र में प्रतिभा, सम्पन्नता, सुन्दरता, चतुरता, समर्थता एवं कला-कौशल का बखान करने से भी प्रभावोत्पादक बन पड़ता है, पर आस्थाओं को उछालने की सामर्थ्य उन्हीं व्यक्तित्वों में उत्पन्न होती है जो न केवल आदर्शवादी प्रतिपादन करते हैं, वरन् अपने उज्ज्वल चरित्र, सेवा-साधना तथा त्याग-बलिदान की दृष्टि से ही अपनी वरिष्ठता सिद्ध करते हैं । युगमनीषा के नाम से इसी वर्ग का उल्लेख किया जा रहा है । उन्हें युग ऋषि भी कहा जा सकता है । बकवासी वाचालता की कीमत बाजार में कुछ भी क्यों न हो, पर जब वह आदर्शवादी लोकशिक्षण के क्षेत्र में प्रवेश करेगा तो अपने व्यवसाय, निर्वाह, संचय, स्वभाव आदि के निजी स्वरूप का बहीखाता भी खोलकर जनता के

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

सामने प्रस्तुत करना पड़ेगा । इसके अभाव में नेता अभिनेता की हैसियत प्राय: एक जैसी बनकर रह जाती है ।

महाकाल ने युगमनीषा को पुकारा है । इसे कहाँ पाया, कहाँ बुलाया जाय । यह खोजने पर आँखों के सामने अँधेरा छाता है, धर्मोपदेशकों, देशभक्तों, साधु-संन्यासियों का क्षेत्र ढूँढ़ते हैं-कलाकारों, साहित्यकारों का दरवाजा खटखटाते हैं, धर्म-सम्प्रदायों, मठ-मन्दिरों, तीर्थों को खोजते हैं, तो भी कुछ वैसा नहीं मिलता, जिससे युग-मनीषा की आवश्यकता पूरी होती हो । सेवा-संस्थानों की कमी नहीं, धर्मस्थान नित नये बनते हैं । इसमें आश्रय पाने वाले लगते तो धर्म-ध्वजियों जैसी आकृति के हैं, पर नंगे उघाड़ कर देखते हैं तो लबादे के नीचे वही सब दीखता है जिससे निराशा ही नहीं होती वरन् मर्मभेदी पीड़ा भी होती है । फिर क्या कहा जाय ? किससे पूछा जाय ? खोई हुई संस्कृति-सीता का अता-पता भी तो कोई नहीं बताता । सभी स्तब्ध हैं । सर्वत्र असमर्थता का माहौल है ।

ऐसी दशा में एक ही उपाय सूझता है कि अपने निजी परिवार को लेकर समथ की माँग को टूटे-फूटे साधनों से पूरा करने के लिए हिम्मत तो दिखाई जाय । सम्भव है इस श्रीगणेश के उपरान्त समर्थों का साहस उभरे तो सेतुबन्ध बँधते समय कहाँ से कुशल नल-नीलों का समुदाय आ टपके । गुरुगोविन्द सिंह ने अपने पुत्रों की बलि चढ़ाई थी । 'पाँच प्यारे' भी वही थे जिन्होंने बलिदान के लिए तलवार के सामने सिर झुकाया । बुद्ध के सहयोगियों में उनका पुत्र राहुल भी था । अशोक की बेटी संघमित्रा भी संन्यासिनी बनी थी । विवेकानन्द की शिष्या निवेदिता ने भी हाथ बँटाने का निश्चय किया था । आवश्यक नहीं कि परिवार में वंशजों को ही गिना जाय । आदर्शों के क्षेत्र में हाथ बँटाने वाले, अनुगमन करने वाले सहयोगी भी वंशजों की श्रेणी में गिने जाते हैं । ऋषि गोत्रों का प्रचलन वंश परम्परा से ही नहीं शिष्य परम्परा के आधार पर ही हुआ है ।

दूसरों पर अपना क्या बस ? विरानों पर अपना क्या अधिकार ? उन्हें तो उपदेश ही दिये जा सकते हैं । बहुत हुआ तो अनुरोध आग्रह तक बढ़ा जा सकता है, पर अपनों पर तो अपेक्षाकृत अधिकार होता है और आवश्यकता पड़ने पर उसका उपयोग भी किया जाता है । हरिश्चन्द्र ने अपनी पत्नी को भी बेच दिया था । नारद ने अपने चारों पुत्र सनक, सनादन, सनातन और सरत कुमार भक्तिप्रसार के क्षेत्र में धकेल दिये थे । नचिकेता ने अपने पिता वाजिस्रवा से पूछा कि-गायों के उपरान्त एक मैं ही शेष रह गया हूँ, मुझे भी किसी को दान दे दीजिए न । व्यंग्य उपालम्भ की परवाह न करते हुए पिता ने उसे हाथ पकड़ कर आचार्य यम के हवाले कर दिया । कहीं लोग शिष्य पुत्र होने की बात कहते हैं और 'कुछ आदेश कीजिए' पूछते हैं तो इच्छा होती है कि यदि इन पर अधिकार चले तो नचिकेता की तरह इन्हें किसी महान् उद्देश्य के लिए समर्पित कर दिया जाय । शुकदेव अपने पिता के इकलौते थे । पिता ने उन्हें रोका नहीं वरन् उकसाया । कुन्ती ने भी अपने पुत्रों को विलासी नहीं, देव मानव बनाया और वैसे ही कुछ कराने के लिए कृष्ण के हाथ में सौंपा । नारद के दर्शन तो असंख्यों ने किये थे, पर उनके शिष्य ध्रुव, प्रह्लाद, वाल्मीकि जैसे कुछेक ही निकले । रामकृष्ण परमहंस के भी एक ही शिष्य था । बिरजानन्द के भी एक ही । यों वे दोनों तथाकथित सहस्रों शिष्यों से सदा ही घिरे रहते थे, पर काम के उन्हें भी कहाँ मिले ।

नजर अखण्ड-ज्योति परिवार पर है, उसमें आस्थावानों की संख्या कम नहीं लगती । मन आता है कि उन्हीं में से कुछ को युगमनीषा की छुटपुट भूमिका निभाने और रीछ-वानरों के संयुक्त प्रयास से बन पड़े महान् पुरुषार्थ की पुनरावृत्ति का प्रयत्न किया जाय ।

विशिष्ट प्रयोजन के लिये, विशिष्ट आत्माओं की विशिष्ट खोज

नवयुग सृजन का बड़ा काम है । उसके लिए सहयोगी तो गीध, गिलहरी भी हो सकते हैं, पर महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्वों को निभाने के लिए अंगद, हनुमान जैसे वानरों और नल, नील जैसे रीछों की आवश्यकता पड़ती है । गौ चराने, गेंद खेलने और गोवर्धन उठाने में लाठी का सहयोग देने के लिए तो ग्वाल-बाल भी अपनी उपयोगिता सिद्ध कर सके, किन्तु महाभारत जीतने में भीम, अर्जुन से ही काम चला । स्वतन्त्रता संग्राम के जीतने में भी सत्साहसियों की जेल यात्रा को ही सराहा जायगा, पर नेहरू, पटेल जैसी हस्तियाँ आगे न आतीं तो महान् प्रयोजन कदाचित् ही पूर्ण हो पाता, महान् परिवर्तनों में योगदान तो असंख्यों का रहा है, किन्तु उसका सूत्र-संचालन महामानव ही करते रहे हैं । छप्पर तो बाँस-बल्लियों पर भी खड़े रहते हैं, पर नदी या नाले का पुल बनाने में ऐसे मजबूत पाये लगाने पड़ते हैं, जो उस परिवहन का भार सह सकें ।

युगसृजन में सहयोगी कोई भी हो सकता है यह उसका उत्तरदायित्व कंधों पर ओढ़ने वाले सृजनशिल्पियों को नल-नील जैसा प्रबुद्ध एवं परिपक्व होना चाहिए । ऐसी भूमिका निभा सकना हर किसी के बस की बात नहीं है । सिखाने- पढ़ाने से थोड़ा-सा काम तो चलता है, पर प्रखरता मौलिक एवं संस्कारगत होनी चाहिए । लोहे की मजबूती उसकी संरचना में ही सन्निहित है । कारखानों में ढालने, खरादने का काम होता है, कृत्रिम लोहा नहीं बन सकता और न उसका स्थानापन्न किसी अन्य धातु को बनाया जा सकता है ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

प्रशिक्षण, वातावरण एवं सम्पर्क का प्रभाव तो पड़ता है, पर महामानव इतने से ही नहीं बन जाते । उनके लिए संस्कारगत मौलिकता एवं संचित प्रखरता की आवश्यकता होती है । विश्वामित्र ने राम-लक्ष्मण को आग्रहपूर्वक माँगा था और उन्हें बला-अतिबला विद्याएँ सिखाकर महान् परिवर्तन के लिए उपयुक्त क्षमतासम्पन्न बनाया था । चाणक्य ने चन्द्रगुप्त, समर्थ रामदास ने शिवजी, बुद्ध ने आनन्द, मछीन्द्रनाथ ने गोरखनाथ, रामकृष्ण परमहंस ने विवेकानन्द को बड़ी कठिनाई से ढूँढ़ा था । आगन्तुकों की भारी भीड़ में से इन सभी शक्तिसम्पन्नों को कोई काम का न लगा । बड़ी कठिनाई से ही वे अपने थोड़े से अनुयायी उत्तराधिकारी ढूँढ़ने में सफल हुए । विवेकानन्द ने निवेदिता से कहा था मुझे मात्र तुम्हारे लिए योरोप की यात्रा करनी पड़ी ।

अवतार के समय देवता उसकी सहायता करने आते और देह धारण करते हैं । सामान्य मनुष्यों की मनःस्थिति नरपशुओं जैसी होती है । वे पेट और प्रजनन के लिए मरते-खपते हैं तथा लोभ, मोह, अहंकार की लिप्साओं से बने कोल्हू में पिलते रहते हैं । यही उनकी प्रवृत्ति और नियति होती है । उनमें थोड़ा-सा उत्साह तो भरा जा सकता है और एक सीमा तक प्रगतिशील भी बनाया जा सकता है, किन्तु बहुत प्रयत्न करने पर भी देव भूमिका निभा सकने में सफल नहीं हो पाते । इसके लिए संचित संस्कारों की आवश्यकता है, खिलौने बालू के नहीं चिकनी मिट्टी के बनते हैं । हथौड़े की चोट जंग लगे लोहे नहीं, फौलादी इस्पात सह पाते हैं ।

युगसृजन के आरम्भिक चरण बाल-कक्षा जैसे हैं । उनमें हर स्तर के व्यक्ति के लिए कुछ न कुछ कर सकने योग्य-शत सूत्री कार्यक्रम बनाये गये हैं । जनआन्दोलन इसी प्रकार का होता है । गाँधीजी ने स्वतन्त्रता आन्दोलन को सर्वसुलभ बनाने की दृष्टि से नमक सत्याग्रह, विदेशी वस्त्र एवं शराब की दुकानों का धरना, प्रतिबन्ध उल्लंघन जैसे कार्यक्रम बनाये थे । वे व्यापक भी हुए थे । इतने पर भी उस आन्दोलन का सूत्र-संचालन कर सकने की क्षमता, नेहरू, पटेल, जैसे मुट्ठी भर लोगों में ही थी, स्पष्ट है कि यदि उच्चस्तरीय हस्तियाँ बागडोर न सँभालतीं तो जेल आन्दोलन को उतनी जल्दी और उतनी आश्चर्यजनक सफलता न मिल पाती जैसी कि उसमें मिल सकी । महामानव ही किसी देश, समाज या युग की वास्तविक सम्पदा होती है । प्रखर व्यक्तियों का कुशल नेतृत्व ही उफनती नदी में नाव खेता और तूफानों में टकराते हुए जहाज को किनारे लगाता है ।

युगसृजन के अनेक महत्त्वपूर्ण कामों में सबसे प्रमुख है-उस प्रयोजन को पूरा कर सकने में समर्थ क्षमताओं को ढूँढ़ निकालना और उन्हें प्रशिक्षित-परिपक्व करना । यह कार्य धीमी गति से तो अभियान के प्रथम दिन से ही चल रहा है, पर अब उसमें अधिक तीव्रता लाने की आवश्यकता पड़ रही है । क्योंकि उत्तरदायित्व क्रमशः अधिक भारी होते चले जा रहे हैं । सामान्य भारवहन सामान्य क्षमता के सहारे भी होता रहता है । जब-जब अधिक उठाना, अधिक ढोना एवं अधिक दौड़ना हो तो वाहन तथा साधन उसी स्तर के जुटाने होंगे । आरम्भिक चरण में जाग्रत आत्माओं से भी काम चलता रहा है, पर अब अधिक क्षमतासम्पन्नों की आवश्यकता पड़ रही है, अस्तु, ढूँढ़ने का प्रयास अधिक सुविस्तृत किया जा रहा है । उपयुक्त प्रतिभाओं से सम्पर्क साधना, उन्हें तत्पर तथा सक्षम बनाना एवं कार्यक्षेत्र में उतर सकने की सामर्थ्य से सुसम्पन्न करना ही इन दिनों मिशन की परोक्ष गतिविधियों का मूर्धन्य प्रयास है । प्रत्यक्ष कार्यक्रम तो पूर्ववत् हैं । व्यक्ति, परिवार और समाज के नवनिर्माण की जो रचनात्मक प्रवृत्तियाँ चल रही हैं, उनमें हेर-फेर कुछ नहीं करना है । मात्र उनका स्तर ही बढ़ाना है । प्रत्यक्ष क्रिया-कलापों में इतना अभिवर्धन होगा किन्तु परोक्ष ढूँढ़-खोज के लिए उन प्रयासों पर विशेष ध्यान दिया जायगा जो समर्थ प्रतिभाओं को ढूँढ़ने और उछालने की सामयिक माँग पूरी कर सकें ।

एक जैसी शक्ल-सूरत और समान परिस्थिति वाले व्यक्तियों के मध्य भी कई बार स्तर की दृष्टि से जमीन-आसमान जैसा अन्तर पाया जाता है । यह उनकी उस आन्तरिक संरचना का होता है, जो जन्म-जन्मान्तरों के संचित संस्कारों से बनती है । यह सम्पदा किस के पास है, यह जाँचना, जन-जन की तलाशी लेने के समान है । तलाशी ऐसी भी नहीं जो चोरों, जमाखोरों के यहाँ पुलिस द्वारा छापा मार कर पकड़ने की तरह सरल हो । वस्तुएँ तो पकड़ी जा सकती हैं, पर अन्तस् की प्रवृत्तियों की जाँच-पड़ताल और खोजबीन करना कठिन है । लोग भीतर कुछ होते हैं और बाहर कुछ बनते रहते हैं । दंभ बहुत और तथ्य कम वाले बहुरूपियों, अभिनेताओं और बाजीगरों से जनमानस भरा पड़ा है । इनकी गहराई में कैसे उतरा जाय ? खारी जल राशि से भरे समुद्र में गहरी डुबकी मारकर मोतियों को किस तली तलहटी में ढूँढ़ा जाय । उन क्षेत्रों में पाये जाने वाले मगरमच्छों से बचने और जूझने की कुशलता के बिना कोई गोताखोर सफल नहीं हो सकता । इस प्रयास में भी ऐसी ही तैयारी करनी पड़ रही है ।

युगपरिवर्तन सृष्टि के इतिहास में अभूतपूर्व अवसर है। पिछले दिनों दुनिया बिखरी थी। स्थानीय समस्याओं का सामयिक समाधान करना ही तत्कालीन महामानवों का छोटा-सा उत्तरदायित्व रहता था। रावण, कंस, दुर्योधन आदि के अनाचार सीमित क्षेत्र में थोड़े से व्यक्तियों के द्वारा होते हैं। अधिक होने से उसके समाधान भी लंका युद्ध, महाभारत जैसे उपचारों से निकले और मुट्ठी भर प्रतिभाओं ने वे कार्य सम्पन्न कर दिये । वैसी स्थिति अब नहीं है । दुनिया सिकुड़ कर बहुत छोटी हो गई है । हवा का प्रभाव एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँचता है । ६०० करोड़ मनुष्य अब एक दूसरे को प्रकारान्तर से प्रभावित करते हैं ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

इन विषम परिस्थितियों में बहुमुखी समस्याओं की जड़ें लोकमानस में अत्यन्त गहराई में घुसी हुई होने के कारण, युगपरिवर्तन अतीव कठिन है । गुण, कर्म, स्वभाव लोकधारा को उलटना-समुद्र के खारी जल को हिमालय की सम्पदा बना देना कितना कठिन है उसे हर कोई नहीं समझ सकता । उसे भुक्तभोगी बादल ही जानते हैं उसमें कितना साहस करने, कितना भार ढोने, कितना उड़ना और कितना त्याग करना पड़ता है । युगपरिवर्तन के भावी प्रयासों को लगभग इसी स्तर का माना जाना चाहिए ।

युगसन्धि की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मध्य वेला सन् १९८० से २००० तक की है । इन बीस वर्षों में महान् परिवर्तन होंगे और विकट समस्याओं का समाधान करना होगा । बुझते दीपक की लौ, प्रभात से पूर्व की सघन तमिस्रा, मरणासन्न की साँस, चींटी के उगते पंख, हारे जुआरी के दाँव को देख कर, मरता सो क्या न करता की उक्ति को चरितार्थ होते प्रत्यक्ष देखा जा सकता है । असुरता अपनी अंतिम घड़ियों में जीवन-मरण की लड़ाई लड़ेगी और संकट-विग्रह अपेक्षाकृत अधिक बढ़ेंगे । इसी प्रकार देवत्व की प्रतिष्ठापना के लिए भी बीजारोपण के साथ प्रचंड उत्साह के साथ काम करने वाले किसान जैसी भूमिका भी दर्शनीय होगी । दोनों पक्ष एक दूसरे से सर्वथा विपरीत होते हुए भी परम साहसिकता का परिचय देंगे । एक दूसरे के साथ टकराने से भी पीछे न हटेंगे । साँड़ लड़ते हैं तो खेत खलिहानों को तोड़-मरोड़ कर रख देते हैं । युगपरिवर्तन प्रसव पीड़ा जैसे कष्टकारक होते हैं । उसमें डाक्टरों, नर्सों को पूर्णतया जागरूक रहना पड़ता है । प्रसूता की तो जान पर ही बीतती है । उसकी सुरक्षा सांत्वना के अतिरिक्त इन लोगों को नवजात शिशुओं के लिए आवश्यक सुविधाएँ भी पहले से ही जुटानी होती हैं ।

युगसंधि में दुहरे उत्तरदायित्व जाग्रत आत्माओं को सँभालने पड़ते हैं । विनाशकारी परिस्थितियों से जूझना और विकास के सृजन प्रयोजनों को सोचना । किसान और माली को भी यही करना पड़ता है । खर-पतवार उखाड़ना, बेतुकी डालियों को काटना, पशु-पक्षियों से फसल को रखाना जैसी प्रतिरोध सुरक्षा की जागरूकता दिखाने पर ही उनके पल्ले कुछ पड़ेगा, अन्यथा परिश्रम निरर्थक चले जाने की आशंका बनी रहेगी । उन्हें एक मोर्चा सृजन का भी सँभालना पड़ता है । बीज-बोना, खाद देना, सिंचाई का प्रबन्ध करना रचनात्मक काम है । इसकी उपेक्षा की जाय तो उत्पादन की आशा समाप्त होकर ही रहेगी । इसे दो मोर्चों पर दुधारी तलवार से लड़ने के समतुल्य माना जा सकता है । युगसंधि में जाग्रत आत्माओं को यही करना पड़ता है । समस्या ६०० करोड़ मनुष्यों की है । वे एक स्थान पर नहीं समस्त भू-मंडल पर बिखरे हुए बसे हैं । अनेक भाषा बोलते हैं । अनेक धर्म सम्प्रदायों का अनुसरण करते हैं । शासन पद्धतियों और सामाजिक परम्पराओं में भिन्नता है । मनःस्थिति और परिस्थिति में भी भारी अन्तर है । इतना होते हुए भी उन सबसे सम्पर्क साधना है । युगचेतना से परिचित और प्रभावित करना है। इतना ही नहीं सम्पर्क प्रशिक्षण और अनुरोध को इतना प्रभावी बनाना है जिसके दबाव से लोग अपनी आदतों, इच्छाओं और गतिविधियों में अभीष्ट परिवर्तन कर सकने के लिए सहमत ही नहीं तत्पर भर हो सकें । यह कार्य कहने-सुनने में सरल प्रतीत हो सकता है, पर वस्तुतः उतना कठिन और जटिल है । ऐसा उत्तरदायित्व उठाने वालों को कैसा होना चाहिए इसका अनुमान लगाने पर यही कहना पड़ता है कि उसकी मजबूती लहराती नदियों पर मीलों लम्बे पुल का उस पर दौड़ने वाले वाहनों का बोझ उठा सकने वाले पायों जैसी होनी चाहिए ।

आवश्यक नहीं कि हर व्यक्ति को समाज की संरचना के लिए आन्दोलनपरक कार्य ही करना पड़े । वह क्षेत्र छोटा होता है और उसमें थोड़े से व्यक्ति ही खप सकते हैं, सृजन प्रयोजन बहुत बड़ा है । उसके असंख्यों पक्ष हैं । उनमें से जो जिसे कर सके वह उसे सँभाले । कला, साहित्य, विज्ञान, उत्पादन, व्यवसाय, शिक्षा, स्वास्थ्य जैसे अनेकों क्षेत्र ऐसे हैं जिनमें बिना अधिक जन-सम्पर्क साधे भी अभीष्ट प्रयोजनों में निरत रहा जा सकता है और आन्दोलनकारियों से भी अधिक महत्त्व का ऐसा कार्य किया जा सकता है जो नवयुग की आवश्यकता में अपने ढंग से पूरा करने में असाधारण योगदान कर सकें । युद्ध जीतने में सभी को तलवार नहीं चलानी पड़ती । वे लोग भी द्वितीय पंक्ति के सैनिक ही हैं जो युद्ध सामग्री बनाते अथवा सैनिकों पर पड़ने वाले खर्च को अपने परिश्रम से जुटाते हैं । आन्दोलनकारियों, प्रचारकों की तरह ही वे लोग भी उपयोगी हैं जो उनके लिए साधन-सामग्री जुटाने अथवा कार्यक्षेत्र बनाने में तत्पर रहते हैं । ऐसे लोगों का घर रहकर काम करना भी परिव्राजकों की ही तरह महत्त्वपूर्ण कार्य है । हर व्यक्ति की मानसिक संरचना एवं परिस्थिति परिव्राजकों की भूमिका निभाने की नहीं होती । होती भी हो तो उसे कार्य के लिए सीमित संख्या में ही सुयोग्य व्यक्ति चाहिए । अधिक सृजन शिल्पी तो अपने-अपने ढंग से उत्तरदायित्व सँभालते हुए अपने निर्वाह की व्यवस्था चलाते हुए समन्वित प्रक्रिया अपनायेंगे और लक्ष्य की प्राप्ति में अपने ढंग का ऐसा योगदान करेंगे, जिसकी महत्ता को किसी प्रकार कम सराहनीय नहीं कहा जा सकता । जन्म समय के आधार पर यह निर्धारण भी किया जाता है कि कौन प्रतिभा किस प्रयोजन में लगे, जिससे उसका सांसारिक निर्वाह भी चलता रहे और युग सृजन में भागीदार बनने का सौभाग्य भी मिलता रहे ।

ऐसे जागरूकों को युगप्रयोजनों के सही रूप में कर सकने की क्षमता एवं कुशलता विकसित करने की आवश्यकता अनुभव की गई । इसके लिए प्रशिक्षण की आवश्यकता थी । बिना ट्रेनिंग पाये कोई महत्त्वपूर्ण कार्य किसी से भी नहीं बन पड़ता । रेल, मोटर आदि वाहन, कल-कारखाने के संयंत्र यहाँ तक कि टाइपराइटर जैसे छोटे उपकरणों को चलाने के लिए ट्रेनिंग लेनी पड़ती है ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

अध्यापक, सैनिक, शिल्पी, कलाकार बिना प्रशिक्षण पाये शक्ति-सामर्थ्य होते हुए भी अपना कार्य सफलतापूर्वक नहीं कर सकते । फिर युगसृजन जैसा काम ही हर कोई कैसे कर लेता ? युगशिक्षण के लिए आवश्यक तंत्र खड़ा किया गया है । गायत्री तपोभूमि एवं अखण्ड ज्योति से युगसाहित्य का सृजन हो रहा है और शान्तिकुंज में युगान्तरीय चेतना को क्रियात्मक करने का समग्र शिक्षण विधिवत् चल रहा है । रचनात्मक और सुधारात्मक कार्यक्रम सन्तोषजनक ढंग से चल रहे हैं और उनका गतिचक्र निरन्तर द्रुतगामी बन रहा है ।

इतने पर भी एक आवश्यकता यथावत् बनी हुई है, देव आत्माओं में पायी जाने वाली विशिष्टता का अवतरण । विशिष्ट समय पर ऐसी ही विशिष्ट आत्माओं का अवतरण होता है । वे जन्मजात रूप से ऐसी धातु के बने होते हैं कि उनका उपयोग विशेष प्रयोजनों के लिए सम्भव हो सके । अणु शक्ति उत्पन्न करने के लिए यूरेनियम जैसे रासायनिक पदार्थों की जरूरत पड़ती है । यह नकली नहीं बन सकता । सोने की अपनी मौलिक विशेषता है । स्वर्णकार उसे आभूषणों में गढ़ तो सकता है, पर कृत्रिम सोना अभी तक बनाया नहीं जा सका । यों नकली नग ही जेवरों में प्रयुक्त होते हैं, पर उनका निर्माण भी बहुत होता है फिर भी असली मणि-माणिक अभी भी विशेषता के कारण अपना मूल्य और महत्त्व यथास्थान बनाये हुए हैं । महामानवों की ढलाई, गढ़ाई के लिए शान्तिकुंज की फैक्टरी अनवरत तत्परता के साथ लगी हुई है । उसके उत्पादन का स्तर भी बढ़ रहा है और परिमाण भी । इस प्रगति को सन्तोषजनक रहते हुए भी उत्साहवर्धक नहीं कहा जा सकता । उस विशिष्टता की मात्रा अभी भी कम ही दृष्टिगोचर हो रही है, जिसे देव स्तर की प्रतिभा कहा जाय । जो महामानवों की भूमिका निभा सकने के लिए अभीष्ट सुसंस्कारिता की पूँजी अपने साथ लेकर जन्मी हो ।

कृषि कार्य में किसान का पुरुषार्थ ही सब कुछ नहीं है, उपयुक्त भूमि और सही बीज का भी उसकी सफलता में कम योगदान नहीं होता । शिल्पियों की कुशलता कितनी ही बढ़ी-चढ़ी क्यों न हो उन्हें भी उपयुक्त उपकरण चाहिए । कच्चा माल सही न हो तो कारखाने बढ़िया चीज कैसे बनायें ? बालू से कोई कुम्हार टिकाऊ बर्तन नहीं बना सकता । चिकित्सकों के उपचार रोगी की जीवनी-शक्ति के आधार पर सफल होते हैं । कच्चे लोहे की तलवार से मोर्चा जीतना बलिष्ठ योद्धा के लिए सम्भव नहीं होता । मौलिक विशिष्टता की अपनी आवश्यकता है । खरादा तो उसी को जा सकता है जिसमें अपनी कड़क हो । तेल तिली में से निकलता है, आग ईंधन के सहारे जलती है । तिली का प्रबन्ध न हो तो बालू से तेल निकालने में कोल्हू कैसे सफल हो ? पानी मथने के लिए कितना ही श्रम क्यों न किया जाय, मक्खन निकालने में सफलता न मिलेगी । ईंधन के बिना आग की लपटों का दर्शन होने और अभीष्ट गर्मी उत्पन्न करने का प्रयोजन नहीं ही सध सकता ।

युग-परिवर्तन की इस ऐतिहासिक वेला में ऐसी देवात्माओं की विशिष्ट आवश्यकता अनुभव की जा रही है, जिनमें मौलिक प्रतिभा विद्यमान है । सामान्य स्तर की श्रेष्ठता हर मनुष्य में मौजूद है । उसे सीमित समय में सीमित मात्रा में उभार सकना ही सम्भव हो सकता है । कम समय में, कम परिश्रम से जिन्हें महान् उत्तरदायित्वों को वहन कर सकने के लिए उपयुक्त बनाया जा सके ऐसी प्रतिभाएँ सर्वज्ञ उपलब्ध नहीं हो सकतीं और न उनसे बड़े पुरुषार्थ की आशा की जा सकती है जैसी कि इस विषम वेला में आवश्यकता पड़ रही है । इसके लिए विशेष रूप से खोज-बीन करने की आवश्यकता पड़ेगी ।

मोती पाये तो समुद्र में ही जाते हैं, पर उन्हें निकालने के लिए पनडुब्बी को गहरी डुबकी लगाने की और सुविस्तृत क्षेत्र की खोज-बीन करनी होती है । मोती न तो इकट्ठे मिलते और न तो किसी किनारे पर जमा रहते हैं । बहुमूल्य वस्तुएँ सदा से इसी प्रकार खोजी जाती रही हैं । प्रकृति के अन्तराल में बिजली, ईथर आदि तत्त्व अनादि काल से भरे पड़े थे, पर उनसे लाभान्वित हो सकना तभी सम्भव हुआ जब उन्हें खोजने के लिए वैज्ञानिकों ने असाधारण श्रम किया । जंगलों में बहुमूल्य जड़ी-बूटियाँ पुरातनकाल में भी उगती थीं और अब भी । उनकी संजीवनी क्षमता यथावत् मौजूद है, पर उन्हें हर कोई हर जगह नहीं पा सकता । चरक ने दुर्गम स्थानों की यात्रा की और उस परिभ्रमण में वनस्पतियों के गुण-धर्म खोजे । इस शोध का परिणाम ही चिकित्सा विज्ञान के रूप में सामने आया और उसका लाभ समूची मानव जाति ने उठाया । चरक यदि यह प्रयास न करते तो बूटियाँ अपने स्थानों पर बनी रहतीं और रोग अपनी जगह । उनका आपस में सम्बन्ध ही न बनता तो दोनों ही घाटे में रहते । न जड़ी-बूटियाँ यश पातीं और न मनुष्यों को रोग निवृत्ति का अवसर मिलता ।

भू-गर्भ में खनिज सम्पदा के अजस्र भण्डार अनादि काल से भरे पड़े हैं, पर उनका उत्खनन और दोहन जिस लगन के आधार पर सम्भव हो सका, उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की जाती रहेगी । धातुएँ, गैसें, तेल जैसी अनेकों बहुमूल्य वस्तुएँ भू-गर्भ की गहरी खोज-बीन करने से ही सम्भव हुईं । पौराणिक गाथा के अनुसार समुद्र मन्थन से चौदह रत्न निकाले गये और उनसे देवताओं तथा मनुष्यों ने सौभाग्यशाली बनने का अवसर पाया । यदि मंथन प्रयास न किया जाता तो समुद्र की सम्पदा उसके गहन अन्तराल में ही धँसी रहती । लाभ उठाना तो दूर उनका किसी को पता तक नहीं चलता ।

ज्ञान और विज्ञान की सुविस्तृत सम्पदा ही मनुष्य को समर्थ, सम्पन्न, कुशल बना सकी है । यह उपलब्धियाँ बादलों से नहीं बरसतीं वरन् अनवरत अध्यवसाय के द्वारा ही एक-एक मंजिल पार करते हुए इन्हें खोज निकालना

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

सम्भव हुआ है । यदि शोध प्रयासों को मानवीय प्रवृत्ति में स्थान न मिला हो तो आग जैसी क्रान्तिकारी उपलब्धियाँ करतलगत न होतीं और आदिम मनुष्यों की पीढ़ियाँ अभी भी अपने वानर वर्ग के अन्य साथियों के साथ गुजर कर रही होतीं । कोलम्बस ने अमेरिका को खोज निकाला और संसार के विकास-विस्तार में एक नये अध्याय का समावेश हुआ । खोजियों ने अन्तरिक्ष खोजा है और उसमें से उतना पाया है जितना कि रत्नाकर कहे जाने वाले समुद्र से भी न मिल सका । कहते हैं कि खोजने वालों ने ही भगवान् को ढूँढ़ निकाला अन्यथा वह क्षीर सागर में शेषनाग के ऊपर चादर ताने गहरी नींद में सो रहा था । मनुष्येतर प्राणियों के लिए वह अभी भी उसी तरह अविज्ञात स्थिति में पड़ा हुआ है । आत्मा का अस्तित्व मनुष्य ने ही खोजा है, अन्यथा अन्य जीवधारी अपनी सत्ता शरीर तक ही सीमाबद्ध किये रहते । धर्म और अध्यात्म मनुष्य की अपनी खोज है ।

अपने समय में एक बहुत बड़ा काम युगमानवों को खोज निकालना है । बड़े काम के लिए बड़ी हस्तियाँ ही चाहिए । उन्हें एक सीमा तक ही शिक्षा और परिस्थितियाँ विकसित कर सकती हैं । नेपोलियन और सिकन्दर किसी सैनिक संस्था द्वारा विनिर्मित नहीं किये जा सके । वशिष्ठ और विश्वामित्र किस आश्रम में किस साधन के सहारे विनिर्मित किये जा सके । इसका पता लग नहीं पा रहा है । अंगद और हनुमान, भीम और अर्जुन, चाणक्य और कुमारजीव, बुद्ध और महावीर, गाँधी और पटेल, शिवाजी और प्रताप किस प्रकार तैयार किये जाएँ इसका कोई उपाय अभी भी सूझ नहीं पड़ रहा है । ईसा, जरथुस्त्र-अरस्तु और सुकरात, लिंकन और वाशिंगटन-विवेकानन्द और गोविन्दसिंह, नानक और कबीर किस प्रकार तैयार किये जाएँ, इसका कोई मार्ग मिल नहीं रहा है, शतरूपा, कौशल्या, सीता, सावित्री, मदालसा, शकुन्तला उपलब्ध करने के लिए क्या किया जा सकता है, इसके लिए भारी माथापच्ची के बाद भी कुछ हाथ नहीं लगता । अरविन्द और रमण, रामकृष्ण परमहंस और विरजानन्द जैसी हस्तियाँ ही युग-निर्माण जैसे महाप्रयोजन को पूरा करने में अग्रिम भूमिका निभा सकती हैं । काम बड़ा है तो उसके अनुरूप व्यक्तित्व भी चाहिए । यह आवश्यकता जब भी जितनी मात्रा में पूरी हुई तब उसी अनुपात से व्यापक समस्याओं के समाधान सम्भव हुए हैं । जनसाधारण के लिए तो कर्त्तव्य पालन ही सम्भव होता है । वे अपनी निज की समस्याओं को सुलझाने में ही अधिकांश क्षमता खो बैठते हैं, जो बचती है उससे लोकमंगल का प्रयोजन एक सीमा तक ही पूरा कर पाते हैं । यों बूँद-बूँद से भी घड़ा भरता है, पर उन बूँदों का संचय करने और उस संचय का सदुपयोग करने की प्रतिभा भी तो किसी में चाहिए ।

नव-निर्माण में असंख्य दिशाधाराएँ हैं, विकृतियों से जूझने के लिए असंख्य मोर्चे हैं, पाटने के लिए अनेक खाई, खन्दक और बनने के लिए अनेकों पुल बाँध सामने हैं । इनके लिए जितनी साधन-सामग्री चाहिए उससे अनेक गुनी आवश्यकता उन हस्तियों की है जो मौलिक विशेषताओं से संचित सम्पदाओं की दृष्टि से सम्पन्न एवं समर्थ कही जा सकें । उथले लोग गुब्बारे की तरह फूलते और बबूले की तरह फूटते रहते हैं ।

युगसृजन के लिए सम्पदा, प्रतिभा, शिक्षा, श्रमशीलता जैसी विभूतियाँ प्रचुर परिमाण में चाहिए ही, पर उससे भी अधिक आवश्यकता उन देवात्माओं की है जिनमें आन्तरिक वर्चस् विपुल परिमाणों में भरा पड़ा है । वर्चस् ही आत्मबल है । ओजस्वी, मनस्वी, तेजस्वी व्यक्ति वही होते हैं जिनमें इस आन्तरिक वैभव की दैवी अनुदान की समुचित मात्रा विद्यमान हो ।

इस खोज को इन दिनों सबसे अधिक महत्त्व दिया जाना है । कठिन उत्तरदायित्व सामने हैं उन्हें निभाने योग्य प्रतिभाओं के आगे आने और लाने की आवश्यकता ऐसी है जिसे एक क्षण के लिये भी आगे नहीं टाला जा सकता ।

जन-शक्ति ध्वंस में नहीं, सृजन में लगे

शिक्षा, चिकित्सा-कृषि, पशुपालन, व्यवसाय, कला-विज्ञान आदि के अनेकों उपयोगी प्रसंग ऐसे हैं जिन्हें मनुष्य जाति के वर्ग विशेषों ने अपने रुझान-कौशल को तत्परतापूर्वक नियोजित किये रहकर खोजा और समुन्नत बनाया है । सम्भवतः शास्त्रकार ने इसी कारण यह उद्घोष किया है कि एक रहस्य बताते हैं मनुष्य से बढ़कर इस संसार में और कुछ नहीं । और कुछ नहीं शब्द से यह ध्वनि भी निकलती है कि परमेश्वर भी नहीं, परमेश्वर ने यह विश्व-ब्रह्माण्ड सृजा है यह सही है, पर गलत यह भी नहीं है कि परमेश्वर को वर्तमान स्तर की मान्यता प्रदान करने में मानवीय कल्पना एवं स्थापना को ही श्रेय दिया जायेगा, अन्यथा वह विश्व-व्यवस्था की एक अदृश्य एवं अविज्ञात शक्ति भर बना रहता । संसार में गतिशील सत्प्रवृत्तियों के रूप में परमेश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन किया जाता है । यह भी मनुष्य की अपनी संरचना शक्ति का एक महान् उपहार है ।

इस प्रसंग पर जितना अधिक विचार किया जाय, उतना ही यह तथ्य उभरता आता है कि मानवीय सृजन क्षमता अद्भुत है । उसका जितना गुणगान किया जाय उतना ही कम है । न केवल सत्प्रवृत्तियों के रूप में वरन् दुष्प्रवृत्तियाँ उभारने में भी उसी ने कमाल किया है । उदाहरण के लिए, जीभ का चटोरापन, कामुकता का दर्शन, छल-प्रपंचों का कुचक्र, आक्रामकता का विधान भी उसी का अपना चमत्कार है । मात्रभाषा, कला, दर्शन, धर्म, सम्प्रदाय ही उसने नहीं सृजे हैं, पदार्थ विज्ञान की तरह अध्यात्म विज्ञान का ढाँचा खड़ा करने और उसके प्रयोगों को क्रियान्वित करने में प्रयुक्त हुए मानवीय पुरुषार्थ को भी शतमुख से सराहा जायेगा । वंदनीय भगवान् ही

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

नहीं हैं मनुष्य का सृजन-कौशल भी है । सामर्थ्य की दृष्टि से भी वह कुछ हल्का पड़ता है । सृष्टा ने यह धरती बनाई, यह सही है, पर परमाणु युद्ध की जैसी तैयारी चल रही है उसे देखते हुए यह कहने में भी अतिशयोक्ति नहीं है कि वह प्रस्तुत विनाश साधनों का प्रयोग करके कुछ ही क्षण में इस भूलोक को धूलि के रूप में परिणत कर सकता है और अन्तरिक्ष के किसी कोने में धुएँ का बादल बनकर भ्रमण करने लगने के लिए विवश कर सकता है । यह स्रष्टा की समता न सही प्रतिद्वन्द्विता तो हो गयी न ?

मानवीय गरिमा की प्रशंसा में एक और उदाहरण शासन-तन्त्र खड़ा करने का है । अस्त-व्यस्तता को व्यवस्था में बदलने, प्रगति के द्वार सुनिश्चित ढंग से खोलने तथा उद्दण्डता पर अंकुश रखने जैसे प्रगति और शान्ति के लिए आवश्यक कार्यों में सरकार का असाधारण योगदान रहता है । सुधार का आक्रोश व्यक्त करने वाले भी यह जानते हैं कि अराजकता का न तो प्रतिपादन हो सकता है और न उस स्थिति में निर्वाह चल सकता है । शास्त्र की उपयोगिता और क्षमता से सभी परिचित हैं, फलतः आलोचक भी उसमें प्रवेश पाने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं । सरकार से अनेकानेक अपेक्षायें की जाती हैं, किन्तु उसकी अपनी सीमाएँ और दुर्बलताएँ हैं फलतः सृजन और सुधार की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की शत-प्रतिशत पूर्ति के लिए उसी का आश्रय ताकते रहने से काम नहीं चलेगा ।

ऐसे भी सब काम सरकार कहाँ करती है । किसका गृह प्रबन्ध करती है ? किसकी दिनचर्या में उसका हस्तक्षेप होता है ? विवाह-शादियाँ सरकार थोड़े ही करती है ? भली या बुरी राह अपनाने के लिए सरकार किस-किस को कंधे पर बिठाये फिरती है । स्वच्छता, आजीविका, प्रजनन, रुझान, स्वभाव, अभ्यास मनुष्य की अपनी मर्जी पर निर्धारित रहते हैं । इन्हीं प्रयासों में दुष्प्रवृत्तियों का उन्मूलन और सत्प्रवृत्तियों का सम्वर्धन भी सम्मिलित है । जनमानस को समर्थन, उत्साह की न्यूनाधिकता से ही उसमें घटोत्तरी-बढ़ोत्तरी होती रहती है । अतिक्रमण का नियमन ही सरकार का काम है । अधिक से अधिक यह हो सकता है कि वह सुविधा सम्वर्धन के कुछ ढाँचे खड़े कर सरंजाम जुटाये पर उसकी सफलता का श्रेय भी जनसहयोग पर निर्भर रहता है । वह न मिले तो अकेले अफसर ही सारा काम कहाँ कर सकेंगे ।

बढ़ती हुई सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए जाग्रत जनमानस को अपनी भूमिका निभानी चाहिए और जनशक्ति को उस प्रसंग के लिए उत्साहित एवं संगठित करना चाहिए । स्मरण रहे सूर्य, पवन जैसे प्रकृति उपहारों की तरह जनशक्ति का रुझान एवं प्रवाह भी तूफानी क्षमता से भरा-पूरा है । उपेक्षा होती रहे तो बात दूसरी है अन्यथा उसके सहारे कठिन से कठिन कार्य सरल हो सकते हैं । बिखरी रहे तो वह अस्त-व्यस्त भी रह सकती है । ध्वंस में लगे तो वह विनाश के घटाटोप भी खड़े कर सकती है । साथ ही यह भी तथ्य है कि यदि उसे सृजन प्रयोजनों में लगा दिया जाय तो देखते-देखते सतयुग जैसे दृश्य खड़े कर सकती है । मनुष्य का देवत्व उभारने का प्रवाह यदि वह चले तो धरती पर स्वर्ग जैसे वातावरण के अवतरण में तनिक भी संदेह न रहे ।

इसके लिए किसी व्यक्ति विशेष या तन्त्र पर निर्भर नहीं रहा जा सकता है । शक्ति के उद्गम का आश्रय लेना पड़ेगा । यह उद्गम और कुछ नहीं जन-समुदाय के रुझान एवं प्रयास का समन्वय भर है। यही है दुर्दान्त दैत्य । यही है विभूतिवान देव । यह दोनों ही जन-शक्ति के प्रवाह भर हैं। उनकी सामर्थ्य प्रचण्ड तूफानों से बढ़कर है । उन्हें वर्षा, शीत, ग्रीष्म जैसे मौसम कहा जा सकता है जो देखते-देखते परिस्थितियों को उलट-पुलट कर रख दें । महान् क्रान्तियों के इतिहास इसी बाजीगर की भूमिका निभाते हैं और कठपुतली के चित्र-विचित्र तमाशे दिखाते पाया गया है ।

आज दुष्प्रवृत्तियों के उन्मूलन का एक महायुद्ध लड़ने जैसा प्रसंग सामने है । नई आवश्यकताओं के अनुरूप नये सृजन उपक्रमों को बड़े परिमाण में खड़े किये जाने का काम भी युग-चुनौती के रूप में प्रस्तुत है । उन्हें लंका-कांड और महाभारत के समतुल्य माना जा सकता है । गोवर्धन उठाने और समुद्र पर सेतु बाँधने से यह किसी प्रकार भी कम नहीं है । ऐसे-ऐसे अनेक प्रयोजनों के लिए जिस अवतार की आवश्यकता है, वह जन शक्ति की सृजनात्मक क्षमता का उभार ही हो सकता है । इसी के अवतरण की अभ्यर्थना जाग्रत आत्माओं को मिल-जुलकर करनी चाहिए । समूची विश्व-व्यवस्था को प्रभावित करने वाले महान प्रयोजन इससे कम में नहीं सध सकते । यह हस्तगत हो सके तो समझना चाहिए कि असंभव नाम की कोई बात इस दुनिया में रह नहीं गई । मनुष्य समुद्र की लहरों और सूर्य की किरणों की सामर्थ्य से संसार की ऊर्जा-आवश्यकता जुटा लेने की बात सोचता है । उसे यह भी सोचना चाहिए कि जन-शक्ति का प्रवाह दिशा विशेष में मोड़ देने भर से समुद्र मन्थन जैसी पुनरावृत्ति हो सकती है और एक से एक बढ़कर सुखद सम्भावनाओं के बहुमूल्य रत्न निकाले जा सकते हैं । जहाँ-तहाँ भटकने की अपेक्षा हमें इसी कल्पवृक्ष का आश्रय लेना चाहिए और प्रस्तुत विभीषिकाओं से निबटने के लिए जनशक्ति के वरिष्ठ पक्ष का द्वार खटखटाना चाहिए ।

शासन-तन्त्र खड़ा करने में आवश्यक साधन जनता ही टैक्स देकर जुटाती है । उसकी सामर्थ्य इतनी सीमित नहीं है कि टैक्स देने के अतिरिक्त और कुछ बनता ही नहीं । धर्म का स्वरूप भले ही विडम्बना जैसा रह गया हो, फिर भी उसके लिए पिछले देश में अरबों-खरबों की धनराशि हर साल लगती है । साठ लाख साधु बाबाओं का तो धर्म ही व्यवसाय है । मन्दिरों, मठों, पंडों, पुरोहितों, अनुष्ठान समारोहों का खर्च इसके अतिरिक्त है । जनता इसे

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

स्वेच्छापूर्वक वहन करती है । यह भार शासन पर होने वाले व्यय जितना ही जा पहुँचता है ।

इसके अतिरिक्त नशेबाजी का लेखा-जोखा किया जाय तो उस निमित्त भी प्राय: उतनी धनशक्ति और जनशक्ति का नियोजन होता है जितना कि सरकार चलाने में, अन्ध-विश्वासों और अवांछनीयताओं के निमित्त लगने वाली जन-शक्ति का मूल्यांकन करने पर प्रतीत होता है कि इनका खर्च भी असाधारण है । इस स्वेच्छापूर्वक अपनाये और उठाये जाने वाले भार को जनशक्ति प्रसन्नतापूर्वक अभ्यस्त ढर्रे के अनुरूप अनायास ही वहन करती रहती है । उसमें इसके अतिरिक्त भी इतनी गुंजाइश है कि नवसृजन के लिए जिन साधनों की आवश्यकता है उन्हें तनिक-सा दिशा निर्देश मिलने और उत्साह उभारने पर सहज ही प्रस्तुत कर सके ।

जनशक्ति अपने ढंग से अस्त-व्यस्त दिशा में बहती रहती है । हवा के झोंके उसे हल्के पत्ते की तरह इधर उधर उड़ाते-भगाते रहते हैं, पर यदि उसे कोई मूर्धन्य चेतना उपयुक्त दिशा दे सके तो समझना चाहिए कि वह गोली की तरह सनसनाती हुई लक्ष्य बेधने में निश्चित रूप से सफल रहेगी । मनस्वियों ने समय-समय पर लोक मानस को दिशा दी है । समुदाय इसी आधार पर बने हैं । संस्कृतियों का सृजन किन्हीं मूर्धन्यों के नेतृत्व में हुआ है । राज्यक्रान्तियों के लिए किसी ने सिगनल गिराये और इंजन दौड़ाये हैं । प्रचलित कुप्रथाओं और अवांछनीयताओं का इतिहास खोजना हो तो प्रतीत होगा कि इसके पीछे भी कुछ ऐसे बाजीगर छिपे बैठे हैं जिन्होंने जनमानस को उकसाया और रीछ-वानरों की तरह नचाया है । यदि दुष्प्रयोजनों के लिए यह सब हो सकता है तो कोई कारण नहीं कि सृजनात्मक सत्प्रयोजनों के लिए उस प्रवाह को न मोड़ा-मरोड़ा जा सके ।

कुछ तात्कालिक आवश्यकतायें ऐसी हैं जो अनिवार्य स्तर की हैं और अविलम्ब अपना हल माँगती हैं- (१)निरक्षरता निवारण, (२)दरिद्रता का निष्कासन, (३)हरीतिमा अभिवर्धन, (४)स्वास्थ्य सम्वर्धन, (५)सहकारिता प्रचलन । इनके लिए कुछ सृजनात्मक प्रयास इन्हीं दिनों आरम्भ करने होंगे । प्रौढ़ पाठशालाओं की स्थापना, गृह उद्योगों की सहकारी व्यवस्था, घरेलू शाक-वाटिका से लेकर धान्य उत्पादन एवं वृक्षारोपण तक में उत्साह, व्यायामशालाओं से लेकर स्वच्छता, सुव्यवस्था का अभियान, सहकारी प्रवृत्तियों का विस्तार, श्रमदान संगठन के सृजन तन्त्र जैसे कार्यों को इन्हीं दिनों हाथों में लिया जाना है। यह सभी कार्य कोई एकाकी नहीं कर सकता। जनता के विज्ञपक्ष की सद्भावनायें उभार कर उन्हें सृजन सेवा तन्त्र के अन्तर्गत संगठित और साधनरत किया जा सकता है ।

उन्मूलन के क्षेत्र में नशेबाजी, खर्चीली शादियाँ, जातिगत ऊँच-नीच, नर और नारी के मध्यवर्ती खाई, मूढ़-मान्यताओं, अनीतिजन्य विभीषिकाएँ जैसे कितने ही मोर्चे ऐसे हैं जिन पर अविलम्ब मोर्चा खोलने की आवश्यकता है । स्मरण रहे सृजन और उन्मूलन की उभयपक्षीय विधि-व्यवस्था ऐसी है जिसके लिए सरकार तथा सम्पन्न विद्वान अपनी सीमित सामर्थ्य के आधार पर सम्पन्न कर सकते हैं । इसके लिए लोकचेतना के सृजनात्मक तत्त्वों को ढूँढ़ना-उभारना और जुटा देना यदि बन पड़े तो समझना चाहिए कि निराशा को आशा में बदल देने वाली व्यवस्था बन गई । तमिस्रा को निरस्त करने वाली प्रभात बेला आ गयी । इससे कम में छुट-पुट प्रयासों से स्थानीय एवं सामयिक समस्याओं के तात्कालिक हल भले ही निकलते रहें स्थायी समाधान सम्भव न हो सकेंगे ।

दफ्तरों में बैठकर कागजी योजनाएँ बनाने और लिखने-बोलने के साथ कर्त्तव्यों की इतिश्री कर लेने की विडम्बना लम्बे समय से चलती रही है । इस विडम्बना की विडम्बना भी सर्वविदित है । फिर क्यों उसी पिसे को पीसते रहा जाय ? क्यों न जन-सम्पर्क में उतरा जाय ? क्यों न पुरातनकाल जैसी घर-घर अलख जगाने वाली प्रक्रिया को पुनर्जीवित किया जाय ? यह हो सकता है । यही होना भी चाहिए । प्रश्न एक ही रह जाता है कि उसे करे कौन ? इसका उत्तर पाने के लिए जिस-तिस की मनुहार करने की आवश्यकता नहीं । कार्तिकी अमावस्या की तमिस्रा दूर करने के लिए जब सूर्य चन्द्र ने उपेक्षा दिखाई तो छद्म मूल्य वाले दीपकों ने जलने का व्रत लिया था और दीवाली के पुण्य पर्व का शुभारम्भ किया था । जाग्रत आत्माएँ क्यों उस उत्तरदायित्व का वहन नहीं कर सकतीं ? इतने महान् प्रयोजन के लिए लोभ और व्यामोह की क्षुद्रता पर थोड़ा अंकुश क्यों नहीं लग सकता ? समय की समस्याओं के समाधान में जनशक्ति जुटाने की भागीरथी साधना में हमें स्वयं ही संलग्न होना चाहिये ।

सृजन प्रयासों में धर्मतंत्र का शासन के साथ सहकार

धर्म और शासन की समानान्तर गरिमा का प्रतिपादन करते हुए कहा जा चुका है कि उपलब्ध अनेकानेक शक्ति स्रोतों में यही दो प्रमुख हैं। क्षत्-विक्षत् स्थिति में होते हुए भी वे कम से कम अपना स्वरूप तो स्थिर रखे हुए हैं और इसके प्रभाव से ग्रसित न सही उभय क्षेत्रीय अराजकता की रोकथाम तो हो ही रही है। भौतिक क्षेत्र की शासन और चेतना क्षेत्र की धर्म जिम्मेदारी उठाये यही इनकी अपनी मर्यादाएँ हैं। मनुष्य जड़ शरीर और चेतन अन्त:करण का समुच्चय है ।

शासन की शक्ति असाधारण है । वह चाहे तो अपने तन्त्र का इस प्रकार उपयोग कर सकती है जिससे आदर्शवादी चिन्तन और उच्च चरित्र के निर्माण में कारगर साहसिकता मिल सके । इसके लिए उसे अपने स्वरूप, कार्यक्रम एवं निर्धारण में अपेक्षाकृत अधिक बड़े और तेज कदम उठाने चाहिए । अपने भारतीय शासन में ऐसी अपेक्षा

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

की जाती है कि वे गाँधीजी की परम्परा को जीवन्त एवं अग्रगामी बनाने के लिए उससे भी अधिक प्रयत्न करें, जैसे कि किये जा रहे हैं ।

जिन कर्मचारियों के द्वारा शासन-तन्त्र चलता है, उन्हें केवल क्रिया-कुशल वरन् चिन्तन और चरित्र की दृष्टि से भी ऐसा होना चाहिए, जिससे उन्हें जन-साधारण का विश्वास, समर्थन और सहयोग मिल सके । उनकी नियुक्ति मात्र शिक्षा पर आधारित नहीं वरन् पिछले अनुभवों और प्रयत्नों की भी वरिष्ठता माना जाय । छोटी आयु के लड़के उच्च पदों पर आसीन न किये जायें । इसके लिये कार्य-पद्धति इतनी सरस बनाई जाय कि बिना पेचीदगीयों में उलझी पारस्परिक सहयोग पर निर्भर बिना समय गँवाये और खीज उत्पन्न किये, सरलतापूर्वक सम्पन्न होते रहें । कार्य-पद्धति में प्रस्तुत पेचीदगीयों को सरल किया जाना चाहिए ताकि वे लम्बी अवधि न गँवाकर काम को जल्दी निपटा दिया करें । अधिकारियों के हाथ में हैरान करने की क्षमता न रहे तो रिश्वतखोरी के कारण अपंग बने शासनतन्त्र को नवजीवन प्राप्त हो सकता है और उपयोगी योजनाओं में जनता का सहयोग मिल सकता है । यों यह कार्य दोनों पक्षों का है । अधिकारी और नागरिक दोनों ही अपने-अपने पथ के कर्त्तव्य निभाने के लिए उत्तरदायी हैं ।

चुनाव में सही और श्रेष्ठ प्रतिनिधि चुने जा सकें इसलिए वोट का अधिकार सर्वजनीन न रहकर समझदारी एवं ईमानदारी की कुछ शर्तें पूरी करने वालों को ही दिया जाय । इसी प्रकार प्रतिनिधित्व के लिए हर किसी को खड़ा होने का अधिकार न हो । इसकी वरिष्ठता इससे पूर्व ही प्रमाणित होनी चाहिए । जनता को यह अधिकार रहे कि गुटबन्दी के कारण, भ्रान्त प्रचार के कारण तो नहीं, पर यदि भ्रष्टाचार-रत पाया जाय तो उन्हें वापस भी बुला सके । चुनाव में इन दिनों जैसा दुष्प्रचार चलता है, जैसा जितना धन व्यय होता है, उस पर कड़ा अंकुश लगे ।

जनता को भी मौलिक अधिकारों की तो छूट रहे, पर उस बहाने स्वेच्छाचार बरतने की गुंजाइश न रहने दी जाय । कर्त्तव्य पालन के लिए हर किसी को वापस किया जाय । मात्र अधिकार और सुविधा की ही रट लगती रहे । उच्छृंखलता और अवरोधों का आरम्भ ही न हो सके ऐसा वातावरण बने । गुण्डागर्दी का आचरण भी अपराधों में गिन लिया जाय और उसकी रोकथाम के लिए किसी के द्वारा मुकदमा चलाये जाने की प्रतीक्षा न करके सहकारी हस्तक्षेप का ही विषय बने । अपराधियों को सुधारा तो जाय पर साथ ही दण्ड की कठोरता में कमी न की जाय । इस क्षेत्र में बरती गई सरलता से अपराध घटते नहीं बढ़ते हैं । व्यक्तिगत, पारिवारिक जीवन में अनैतिक आचरण की रोकथाम करने के लिए पुरानी सामाजिक पंचायतों की परम्परा को पुनर्जाग्रत किया जाय । अवज्ञा करने वालों को वे पंचायतें सरकारी प्रताड़ना भी दिला सकें ।

शिक्षा स्वावलम्बी बनाई जाय । मैट्रिक स्तर का जीवनोपयोगी सामान्य ज्ञान सबको सरलतापूर्वक उपलब्ध हो । पर आगे की शिक्षा व्यवस्था में फूँक-फूँक कर कदम उठे । नौकरी उद्देश्य न रहे । स्वावलम्बन के लिए उद्योगों का शिक्षा के साथ समावेश रहे । सरकारी नौकरियों की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए उतने ही छात्र भर्ती किये जाएँ जो न केवल स्तरीय हों वरन् खप भी सकें । उपयोगी विषयों के विशेषज्ञ बनने की इच्छा वालों को ज्ञानार्जन की अतिरिक्त सुविधा रहे । पाठ्यक्रम बहुत बोझिल न हो । साथ ही उसमें चरित्रनिष्ठा और समाजनिष्ठा के आदर्शों को हृदयंगम कराने वाली प्रेरणा भरी रहे ।

उद्योगों का विकेन्द्रीकरण हो । वे छोटी इकाइयों में बँटें और सुदूर देहातों तक फैले हों । सहकारिता के आधार पर चलें । बड़ी मिलों को कुटीर उद्योगों के प्रति स्पर्धा न करने दी जाय । टूट-फूट की मरम्मत एवं पुराने को नया बनाने की व्यवस्था को अतिरिक्त प्रोत्साहन दिया जाय । शहरों की आबादी बहुत न बढ़ने दी जाय । कस्बों को विकसित किया जाय ताकि वे समीपवर्ती छोटे देहातों की प्रगति एवं सुविधा में सहायक सिद्ध हो सकें । विलासिता के साधनों का उत्पादन घटाया जाय और दैनिक आवश्यकता की वस्तुएँ सर्वत्र सुलभ हों, औद्योगिक नीति का आधार ऐसा ही बने ।

सहकारिता का हर क्षेत्र में प्रवेश हो । संयुक्त परिवार की आवश्यकता पूरी करने वाले सुनियोजित कम्यून चलें । विवाहों पर सामाजिक नियन्त्रण हो और वे पंजीकृत हों । जाति, लिंग तथा आर्थिक आधार पर पनपने वाली विषमता को देर तक सहन न किया जाय । कुरीतियों पर होने वाले अपव्यय निषिद्ध रहें । विद्यालयों की तरह पुस्तकालयों की भी स्थापना हो । साहित्य और कला को उच्छृंखल न बनने देने के लिए उनके निर्माताओं को सुरुचिपूर्ण सृजन की शर्त पालन करनी पड़े । मौलिक अधिकारों के नाम पर किसी को भी ऐसे काम को करने की छूट न मिले जिसमें वह सार्वजनिक हित के विरोध में काम करे । नशा उत्पादन जैसे कार्यों की रोकथाम अंकुश कड़े करने से ही हो सकती है । अर्थ संग्रह की सीमा हो । उसी प्रकार निजी खर्च पर भी अंकुश रहे । इसके बिना दुर्व्यसनों और कुप्रचलनों की रोकथाम न हो सकेगी ।

ऐसे सुझाव और भी हो सकते हैं, जो स्थायी, सामयिक एवं स्थानीय आवश्यकता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हों । यह चरित्रनिष्ठा, समाजनिष्ठा में सहायक एवं व्यक्तित्वों को विकसित करने वाली विधि-व्यवस्था की ओर कुछ संकेत हैं । इन्हें अपनाने के लिए शासन को सहमत तथा प्रोत्साहित किया जाना चाहिए ताकि वह पनपने वाली अनीति अव्यवस्था की रोकथाम में अपनी समुचित भूमिका निभा सके ।

वस्तुतः यह कार्य राजनीतिज्ञों और उस क्षेत्र की पेचीदगियाँ, बारीकियाँ समझने वालों का है । सुधार और दबाव का कार्य उन्हीं के हाथ छोड़ देना चाहिए । प्रज्ञा अभियान की नीति लोकमंगल के सभी कार्यों में सरकारी प्रयत्नों में सहयोग देने और भाग लेने की है । शिक्षा प्रसार,

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

वृक्षारोपण, स्वास्थ्य, समाज कल्याण, परिवार नियोजन, बचत आन्दोलन, सहकारिता, कुटीर उद्योग, नशा निषेध, अपराध नियमन जैसे लोकमंगल से सम्बन्धित सभी सरकारी कार्यों में भरपूर सहयोग देने की है । इसके बदले न श्रेय लेना है और न पारिश्रमिक। श्रेय अफसरों को मिले, पुरस्कार अन्य उपयोगी कामों में लगे । इसी में धर्मतन्त्र की गरिमा है । न आश्रित रहा जाय न असहयोग किया जाय, बिना टकराये जितना सहयोग सम्भव हो अपनी ओर से करते रहा जाय । साथ ही धर्म क्षेत्र की विकृतियों को देखते हुए किसी अतिरिक्त सहयोग अनुदान की भी आशा न रखी जाय । जब सरकार जनता से वांछित सहायता अर्जित कर सकती है तब कोई कारण नहीं कि अपनी वरिष्ठता और उपयोगिता सिद्ध करके उसी जनता से भावभरा स्वेच्छा-सहयोग अर्जित न किया जा सके, जिसकी सहायता से सरकार अपना खर्चीला तन्त्र चलाती है । प्रज्ञा अभियान का तथ्य सृजन है उसमें सहयोग और सद्भावना की ही प्रधान भूमिका हो सकती है । यही अपनी सुस्पष्ट नीति है । जन-साधारण की तरह शासन तन्त्र के साथ भी अपनी ओर से सम्बन्ध इसी आधार पर मधुर सम्बन्ध रखने की है; विग्रह की नहीं । अच्छा है शासन भी धर्म के प्रति ऐसा ही सहकारी सद्भाव बरते ।

नवसृजन का पूर्वार्द्ध जो हो चुका

जनमानस के परिष्कार का प्रज्ञा अभियान आरम्भ करने वालों ने इस तथ्य का पूरी तरह ध्यान रखा है कि लेखनी, वाणी, दृश्य आदि के सहारे लोकशिक्षण करने के साथ-साथ ऐसे रचनात्मक कार्यों का भी समावेश रखा जाय जो पुरोहित और यजमान को साथ-साथ धर्मानुष्ठान में जुटाये रहें । व्यक्ति का निर्माण हो या समाज का, उसे परामर्श प्रस्तावों तक सीमित रखा जा सकता है । जो कहा जा रहा है उसे कार्यान्वित करने की योजना भी साथ-साथ जुड़ी रहनी चाहिए । सेवा धर्म की विशेषता यही है कि जहाँ उस माध्यम से परमार्थ होता है वहाँ स्वार्थ भी कम नहीं सधता । अनेकों सद्गुण इस प्रक्रिया के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़े हुए हैं । स्नेह, सद्भाव, उदारता, त्याग, संयम आदि विषमताएँ सेवा का अवलम्बन लेने के साथ-साथ ही बढ़ने लगती हैं । दूसरों के लिए मेंहदी पीसने वाले के हाथ अनायास ही रच जाते हैं । सदाशयता का बीजारोपण करने वाले अभीष्ट फसल काटने में तभी सफल होते हैं, जब पौधों की सिंचाई का सुप्रबन्ध रखें । सेवा को सिंचाई कह सकते हैं । ईसाई धर्म के प्रचारकों ने अपने धर्म का विस्तार करने में प्रचलनों का कम और सेवा-सहायता के माध्यम से सहानुभूति अर्जित करने के प्रयास को प्रमुखता दी है । प्रज्ञा अभियान को भी लोकमानस के परिष्कार का लक्ष्य पूरा करने के लिए अपनी योजना में जन-सेवा का सघन समावेश करके आगे बढ़ने के अतिरिक्त और कोई चारा है नहीं ।

प्रचार प्रयोजनों में हर शिक्षित को घर बैठे नित्य नियमित रूप से युग साहित्य की एक पुस्तिका पहुँचाने, वापस लेने की स्वाध्याय प्रक्रिया व्यापक रूप से चल रही है । इस योजना के अन्तर्गत ३६० दिन के लिए ३६० पुस्तिकाएँ ज्ञानरथ में सँजोकर घर-घर उन्हें पहुँचाने का प्रावधान है । इसी की सहयोगी दूसरी योजना है-हर मुहल्ले स्लाइड प्रोजैक्टर के माध्यम से मुहल्लों में मनोरंजन चित्र, प्रकाश, चित्र-प्रदर्शन कार्यक्रम रखना । चित्रों की व्याख्या करते हुए युगान्तरीय चेतना जन-जन के गले उतारना यह सत्संग प्रचलन हुआ । स्वाध्याय और सत्संग की यह समन्वित प्रक्रिया हर दिनों हजारों-लाखों को अभिनव प्रेरणा देती और दूरदर्शी विवेकशीलता अपनाकर नये ढाँचे में ढालने के लिए गरम करती है । तीर्थयात्रा, धर्म प्रचार की पदयात्रा पर निकलने वाली टोलियाँ, साइकिलों पर सामान लादकर चलतीं और ढपली, तिकोन के सहारे युगगायनों को सुनाती घर-घर अलख जगाती आगे बढ़ती हैं । प्रचार तन्त्र का यह छोटा किन्तु अत्यन्त प्रभावी उपक्रम देखने ही योग्य है । उसकी परिणति प्रतिक्रिया को जिन्होंने निकट से भीतर घुसकर देखा है वे यही कहते पाये गये हैं कि साधनहीन तन्त्र द्वारा जीवट के बलबूते इतना दुस्साहस कर बैठना और संकट को इतना आगे घसीट ले जाना अद्भुत है । इसे ग्वाल-बालों की सहायता से गोवर्धन उठाने जैसा-अपने समय का चमत्कार कहा जा सकता है ।

इस प्रचार प्रक्रिया को प्राणवान बनाने में सेवा धर्म का, रचनात्मक कार्यक्रम का, समावेश अनिवार्य रूप से आवश्यक था । इसके लिए कुछ देखने में छोटे किन्तु परिणाम में महान् प्रयास हाथ में लिये गये हैं । निरक्षरता अपने समाज पर लदा गरीबी जैसा अभिशाप है । पिछड़ेपन के कारणों में दरिद्रता एवं अशिक्षा भी कम कष्टकारक नहीं है । ७० प्रतिशत देशवासियों को शिक्षित बनाना सरकार के बलबूते से बाहर है । स्कूली शिक्षा में कुछ लाख बच्चों का प्रबन्ध ही उसके लिए कठिन पड़ता है फिर ७० करोड़ में से जहाँ ४७ करोड़ नर-नारियों को पढ़ाने का प्रश्न हो वहाँ उतना भार किसी सरकार पर भी नहीं लद सकता । इसे उदार लोकचेतना द्वारा सम्पन्न किया जाना चाहिए । प्रज्ञा परिजनों की संख्या दस लाख के लगभग है । उनके द्वारा दो-दो घण्टा समय अपने-अपने गली-मुहल्ले में छोटी प्रौढ़ कक्षाएँ लगाने में जुटाये गये हैं और आशा की गई है कि निरक्षरता के अभिशाप से इस आधार पर जूझना सम्भव हो जायेगा । इस योजना के अन्तर्गत जहाँ व्रतशील युगशिल्पी स्वयं कार्य करते हैं, वहाँ घर-घर जाकर भावनाशील शिक्षितों से सम्पर्क साधते हैं और उन्हें विद्या ऋण चुकाने के लिए थोड़ा समयदान करते रहने के लिए सहमत करते हैं । इस प्रकार अध्यापकों की एक बड़ी सेना दिन-दिन सुविस्तृत होती चली जा रही है

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

और उस माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित किये गये प्रौढ़ नर-नारियों को साक्षर बनाने की योजना अत्यन्त उत्साहपूर्वक, आश्चर्यजनक सफलता के साथ आगे बढ़ती चली जा रही है ।

शिक्षा प्रचार की तरह ही घर-घर में शाक-वाटिका उगाने और कुपोषण से राहत पाने के लिए आँगन, छत-छप्पर पर शाक-भाजी, चटनी के लिए धनिया, पोदीना, अदरक, हरी मिर्च आदि उगाने की प्रतिस्पर्द्धा खड़ी कर देना, देखने में तो एक मजाक जैसा काम है पर उतने भर से जो आर्थिक बचत तथा आहार सन्तुलन की आवश्यकता पूरी होती है उसका व्यापक परिणाम पर्वत जितना बड़ा होता है । सबसे बड़ी बात है हाथ पर हाथ रखे बैठे रहने की अपेक्षा उत्पादन की आवश्यकता अनुभव करने की प्रवृत्ति । यह दिशा पकड़े तो फिर आगे की बात भी सूझेगी और संव्याप्त आलस्य-प्रमाद से राहत मिलेगी । वृक्षारोपण तो वही कर सकते हैं जिनके पास भूमि है, पर जिन्हें किराये की कोठरियों में रहना पड़ता है वे भी वायु प्रदूषण के दुष्प्रभाव से बचने के इस प्रयास में तो सम्मिलित हो ही सकते हैं ।

इस दिशा में अगला कदम गृह उद्योगों के ऐसे प्रयासों का नम्बर आता है, जिन्हें घर बैठे ठाले लोग खाली समय में चलाते रह सकते हैं और हर हाथ को काम की आवश्यकता किसी अपने-अपने बलबूते आगे बढ़ा सकते हैं । इसे सुचारु रूप से चलाने के लिए सहकारी पद्धति अपनाई जा रही है और हिल-मिलकर करने और मिल-बाँटकर खाने के सिद्धान्त का घर-घर में प्रचलन किया जा रहा है ।

सामूहिक श्रमदान के सहारे स्वच्छता अभियान चलाना, मलमूत्र से लेकर कूड़े-करकट तक की गन्दगी को बहुमूल्य खाद के रूप में बदलना ऐसा काम है जिसमें सभ्यता, स्वच्छता, सेवा, समाजनिष्ठा, नागरिक जिम्मेदारी, सहकारिता जैसी अनेकों सत्प्रवृत्तियों को जन-जीवन में विकसित होने का अवसर मिलता है । सामूहिक श्रमदान की तरह आजीविका के एक अंश को नियमित रूप से मुट्ठी फण्ड के रूप में निकालने का जो उत्साह उत्पन्न किया गया है उसके सहारे पुस्तकालय, व्यायामशाला, खेलकूद, पार्क, उद्यान, तालाबों को गहरा करना, रास्ते सही करना, गलियाँ सुधारना जैसे अनेकों प्रयास स्वेच्छा-सहयोग के सहारे चल पड़े हैं, जिन्हें सहकारी प्रयत्नों द्वारा किये जाने पर लाखों-करोड़ों की आवश्यकता पड़ती ।

निषेधात्मक प्रयत्नों में नशा विरोध, दहेज, शादियों की धूमधाम, छुआछूत, पर्दा प्रथा, भिक्षा व्यवसाय, मृतक भोज, बाल-विवाह जैसी कुरीतियों का डटकर मुकाबला करना। इनके विरुद्ध वातावरण बनाना, छोड़ने की शपथ लेना, दूसरे करते हों तो उनमें भागीदार न बनना जैसे काम उठाये जा रहे हैं । उसमें सामूहिक रूप से गुण्डागर्दी, मिलावट आदि अनाचारों के विरुद्ध लोहा लेना भी सम्मिलित है । अन्धविश्वासों की अपने देश में कमी नहीं । भूत-पलीत, टोना-टोटका, भाग्यवाद, शकुन-मुहूर्त आदि की इतनी भ्रान्तियाँ अपने समाज में प्रचलित हैं कि उन्हें देखते हुए मूढ़मान्यताओं पर हँसी आती है और उनके कारण जिस भय, आतंक, विद्वेष, अपव्ययजन्य हानि होती है, उसे देखते हुए कष्ट होता है । लगे हाथों इन कुप्रचलनों के विरुद्ध भी मोर्चा अड़ा दिया गया है ।

प्रज्ञा अभियान के अन्तर्गत हर भावनाशील को दुष्प्रवृत्ति उन्मूलन और सत्प्रवृत्ति-सम्वर्द्धन की दृष्टि से दिये गये वे काम हैं जो देखने में छोटे-छोटे होने पर भी बूँद-बूँद से घड़ा भरने की उक्ति को चरितार्थ करते हैं और उनके संयुक्त प्रयत्नों की प्रतिक्रिया दूरगामी होती है । अवसाद एक दुष्प्रवृत्ति है जिसके कारण हीनताजन्य पिछड़ेपन के परिपोषक अनेकों कुप्रचलन पनपते हैं । उसे उखाड़ा जा सके और नवसृजन के प्रति उत्साह उत्पन्न किया जा सके तो उस शृंखला में एक के बाद दूसरी कड़ी जुड़ती जाती है और बात बढ़ते-बढ़ते कहीं से कहीं जा पहुँचती है । इन प्रयत्नों से जुलूस, रैली, हड़ताल, घिराव, उद्घाटन समारोह जैसी धूमधाम तो नहीं है, पर उनके पीछे रेडक्रॉस, फर्स्ट एड, होम नर्सिंग, स्काउटिंग, भूदान, सर्वोदय, एन सी. सी. जैसी रचनात्मक सत्प्रवृत्तियाँ नर्सरी रूप में उगती देखी जा सकती हैं और विश्वास किया जा सकता है कि उन रचनात्मक प्रयत्नों के शान्त, सौम्य रहते हुए भी परिणाम उतने श्रेयस्कर होंगे जिसे सृजन की पक्षधर समग्र क्रान्ति कहा जा सके ।

इन्हीं प्रयत्नों को हर क्षेत्र में विस्तृत करने के लिए पिछले दिनों २४०० प्रज्ञा संस्थानों की इमारतें बनी हैं । इन सभी में औसतन दो कार्यकर्त्ता काम करते हैं । एक स्थानीय गतिविधियाँ चलाने के लिए, दूसरा समीपवर्ती सात गाँवों में एक-एक दिन का कार्यक्रम बनाकर जन-सम्पर्क साधने और युगान्तरीय चेतना का वातावरण बनाने के लिए । प्रज्ञा संस्थानों की दिनचर्या में प्रौढ़ शिक्षा-बाल शिक्षा की कक्षाएँ चलाने, कथा-कीर्तन के माध्यम से लोकमानस में सृजन परिवर्तन की उमंगें उत्पन्न करने का नियमित प्रशिक्षण चलता है । व्यायामशाला तथा गाँव में पौध बाँटने की नर्सरी भी इन छोटे संस्थानों में चलती है । इन कार्यकर्त्ताओं का निर्वाह व्यय महिलाओं द्वारा धर्मघटों में नित्य एक मुट्ठी अन्न डाले जाने वाले धर्मघटों के सहारे चलता है । प्रचारात्मक तथा रचनात्मक गतिविधियों में मार्ग व्यय तथा अन्य साधनों का व्यय प्रज्ञा परिजनों के द्वारा ज्ञानघट में डाली जाने वाली नित्य दस पैसा अनुदान की राशि से चल जाता है । कार्यकर्त्ताओं में से अधिकांश समयदानी, आत्मदानी, वानप्रस्थ, परिव्राजक, ब्रह्मचारी ही अधिक हैं जिनमें से अधिकांश अवैतनिक कार्य करते हैं । जिनके पास अपने निर्वाह साधन नहीं हैं ऐसे सृजन शिल्पियों को ही ब्राह्मणोचित परिवार निर्वाह देने की व्यवस्था चलती है ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

यह प्रयास के उस पूर्वार्द्ध का परिचय है, जो अब तक हो चुका । इसे एक शब्द में उत्साहवर्द्धक, आशाप्रद और अपने ढंग की अनुपम प्रक्रिया कहा जा सकता है । अनुपम इसलिए कि अब तक ऐसे-ऐसे प्रयत्न सरकारी या गैर-सरकारी समाज कल्याण संगठनों के अन्तर्गत ही होते रहे हैं । धर्मतन्त्र का इस प्रकार के प्रयत्नों में मुहल्लों से कभी कोई योगदान नहीं रहा । ईसाई चर्चों में ही अपने धर्म परिवर्तन योजना में इस प्रकार के प्रयासों में मात्र सेवा-सहानुभूति वाला पक्ष क्रियान्वित किया है । लोकमानस के परिष्कार के लिए योजनाबद्ध प्रयास में इस प्रकार का उदाहरण ढूँढ़ने के लिए हमें ढाई हजार वर्ष पुराने इतिहास पृष्ठ उलटने होंगे । बुद्ध का धर्म चक्र प्रवर्तन प्रायः इसी पृष्ठभूमि पर आधारित था जिसे कि अब प्रज्ञा अभियान के अन्तर्गत सामाजिक परिस्थितियों के साथ तालमेल बिठाते हुए नये परिवेश में नये सिरे से आरम्भ किया गया ।

बौद्धकालीन धर्मचक्र प्रवर्तन का इतिहास बताता है कि एकाकी प्रयत्न से सीमित साधनों वाली वह प्रक्रिया धीमी गति से छोटे क्षेत्र में चलती रही, किन्तु जब उसे समूचे सहयोगियों और उपयुक्त साधनों का बल मिला तो बात कहीं से कहीं जा पहुँची । बचपन प्रौढ़ता से जा जुड़ा, पुष्प वाटिका सुरम्य उद्यान में विकसित हुई और रिमझिम ने घटाटोप बनकर जल-थल एक कर देने वाले बवण्डर की तरह बरसना शुरू कर दिया । नालन्दा और तक्षशिला विश्वविद्यालयों के खण्डहर अपनी भाषा में अभी भी यह बताते हैं कि यह प्रयास देखते-देखते किस द्रुतगति से आगे बढ़े होंगे और किस प्रकार एशिया क्षेत्र से आगे बढ़कर समस्त भू-मण्डल को नवचेतना प्रदान करने में सफल हुये होंगे । कितनी प्रतिभाओं ने उसमें अपना कितना बड़ा श्रमदान, अंशदान प्रस्तुत किया होगा ।

इतिहास की पुनरावृत्ति भी होती रहती है । लगता है वैसा ही कुछ इन दिनों भी होने जा रहा है, **धम्मं शरणं गच्छामि-संघं शरणं गच्छामि-बुद्धं शरणं गच्छामि** का बीज मन्त्र जिस धर्म-धारणा, देव संगठन एवं प्रबुद्ध विचारणा का उद्घोष करते थे लगभग उन्हीं मन्त्रों का नयी वेदी पर नया धर्मानुष्ठान प्रज्ञा अभियान के अन्तर्गत हो रहा है । सम्भव है वैसी ही प्रतिभाएँ भी उसमें सहभागी बनें और नये युग का नया अध्याय नये ढंग से सृजें ।

युग-परिवर्तन का उत्तरार्द्ध जो क्रियान्वित होना है

पिछले पृष्ठों पर प्रज्ञा अभियान की उस रचनात्मक प्रक्रिया का उल्लेख हुआ है, जिसमें भावनाशीलों को छोटे-छोटे सरल सुलभ सेवा कार्य अपनाकर अपने समर्थकों को जीवन्त स्तर का सिद्ध करने का अवसर मिले । निःसन्देह वे आरम्भिक हैं । सीधे, सरल और स्वल्प श्रमसाध्य हैं । पर उन्हें प्राथमिकता इसलिए दी गई है कि जिनमें आदर्शवादी प्राण प्रतिभा होगी, वे न केवल समर्थन करेंगे वरन् सहयोगी बनने के लिये आरम्भिक कदम बढ़ायेंगे । यह युगमनीषा की प्राथमिक परीक्षा है ।

अब तक की कार्य-पद्धतियाँ सृजनात्मक वातावरण बनाने की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं और उसमें युग परिवर्तन के बीजांकुर पूरी तरह विद्यमान हैं । गाँधी का चरखा और नमक अभियान कितना नगण्य लगता था, पर जब उस शुभारम्भ की परिणति कहाँ से कहाँ पहुँची यह सभी ने प्रत्यक्ष देखा है । प्रज्ञा अभियान के प्रथम चरण में पूर्वार्द्ध में उन्हीं कार्यक्रमों का समावेश है, जो सर्वसाधारण के लिए सरल सुगम हैं । चयन में इतनी-सी जाँच पड़ताल भर से काम चल जाता है । प्रखरता उत्पन्न करने के लिए तो पीछे तेज भट्टी में गलाई-ढलाई होती है । पूर्वार्द्ध की सफलता उत्साहवर्द्धक है । उस प्रक्रिया से परिवर्तन का माहौल बना है, प्रवाह चला है और विश्वास बँधा है कि इस दिशा में चलते हुए कुछ ऐसा बन पड़ेगा जिसे महत्त्वपूर्ण क्रान्तिकारी एवं ऐतिहासिक कहा जा सके ।

बड़े कामों के लिए, बड़े कदम उठाने पड़ते हैं । बड़े साहस जुटाने होते हैं । बड़े साधन जुटाये जाते हैं । उपलब्ध युग मनीषा को उत्तरार्द्ध में इसी की तैयारी करनी चाहिए । यों उस संसार में एक से एक बड़े विभूतिवान भरे पड़े हैं । वे चाहें तो नवसृजन का विशालकाय तन्त्र देखते-देखते खड़ा कर सकते हैं, पर उन तक पहुँच कैसे हों ? वे इस मिशन से परिचित कैसे हों ? फिर उनकी अपनी योजनाओं की तुलना में युगान्तरीय चेतना की गरिमा को वरिष्ठ कैसे सिद्ध किया जाय ? अन्यत्र वैसा कुछ दृष्टिगोचर न होने पर भी एकाकी अग्रसर होने के लिए कैसे सहमत किया जाय ? यह अति कठिन प्रश्न हैं जिनके कारण नवयुग के शिलान्यास की दृष्टि से नितान्त आवश्यक अनिवार्य कार्यों को अविलम्ब अग्रसर करने पर गाड़ी रुक जाती है । लम्बी अवधि के भावभरे प्रयत्नों से जिस देव परिवार का सृजन किया गया है उसी के परिजनों को लेकर अगले दिनों के भारी-भरकम कार्यों को भी हाथ में लिया जायगा । जब विभूतियाँ विश्वास करेंगी और बड़े प्रयत्नों के लिए बड़ा साहस करेंगी, अभी उस समय की दूरी कुछ अधिक लम्बी दीखती है । इसलिए जो हाथ में है, जो साथ है, उसी के सहारे अगले बड़े कदमों का श्रीगणेश भी उसी प्रकार किया जाना है । जिस प्रकार कि छोटे प्रयत्न का ताना-बाना छोटे सहयोग से बुनते हुए छोटों का बड़ा काम सर्वसाधारण के सामने प्रस्तुत कर सकने में सफल मनोरथ हुआ गया है ।

कहा जा चुका है कि विचारणा को प्रभावित करने में लेखनी, वाणी और दृश्य शक्ति की प्रमुखता मानी गई है । इनके लिए हमें लेखन, प्रकाशन और विक्रय का ऐसा समर्थ तन्त्र खड़ा करना चाहिए जो व्यक्ति और समाज से सम्बन्धित सभी समस्याओं के निषेधात्मक और विधेयात्मक पक्षों से जन-जन को अवगत कराये और नैतिक, बौद्धिक और सामाजिक क्रान्ति की सर्वतोन्मुखी पृष्ठभूमि बनाये ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

इसका विस्तार सभी प्रमुख भाषाओं के क्षेत्र तक इस प्रकार होना चाहिए जैसा कि ईसाई मिशन और साम्यवाद के अन्तर्राष्ट्रीय विस्तार ने किया है ।

वाणी को मुखर करने के लिए ऐसे वक्ता गायक बड़ी संख्या में प्रशिक्षित किये जाने हैं । जो जनसम्पर्क साधें, घर-घर अलख जगायें, विचार-गोष्ठियों में उन तथ्यों से, जन-जन को अवगत करायें जो भले-चंगे, सुखी-सम्पन्न मनुष्य को सामूहिक आत्महत्या की दिशा में घसीटे लिये जा रहे हैं । साथ ही यह भी बताना होगा कि किन उपायों के अवलम्बन से विनाश की विभीषिकाओं से बचा जा सकता है । किन प्रयोजनों में मानवीय प्रयत्न नियोजित करने पर उज्ज्वल भविष्य का सुनिश्चित सृजन हो सकता है । ऐसे आदर्शवादी प्रचारक अनुभवी भी हों, सुयोग्य और सेवाभावी भी । इसके लिए वानप्रस्थ परम्परा पुनर्जाग्रत करनी होगी । अधेड़ों में लोभ-मोह से विरत होकर लोक-मंगल से संलग्न होने की भाव चेतना जगानी होगी । थोड़ा-थोड़ा समय देने वाले समयदानियों की दूसरी पंक्ति खड़ी होगी । एक वर्ष का संन्यास लेने और उस अवधि में मात्र सृजन प्रयोजन में संलग्न रहने की एक नई परम्परा चलानी होगी । ऐसे ही प्रयत्नों से युगमनीषा का प्रचारक परिव्राजक वर्ग उभरेगा । उसे कार्य-क्षेत्रों में उतरने और स्थानीय परिस्थितियों को समझते हुए कार्य-पद्धति अपनाने के लिए नालन्दा और तक्षशिला जैसे विश्वविद्यालय खड़े करने होंगे । छोटे संघाराम और बौद्ध-विहारों की अनुकृति भी हर व्यवसायी क्षेत्र को ध्यान में रखते हुए विनिर्मित करनी होगी ।

कहना न होगा कि यह वाणी प्रधान प्रचार तन्त्र भी लेखनी वाले प्रकाशन तन्त्र की तरह खर्चीला है । कार्यकर्त्ताओं को भोजन, वस्त्र, मकान तो चाहिए ही । बाहर जाने का मार्ग व्यय भी लगता है । प्रशिक्षण में पुस्तकों तथा संगीत उपकरणों की आवश्यकता पड़ेगी । इस प्रकार लेखन का न सही प्रकाशन के लिए कागज छपाई की पूँजी तो चाहिए ही । उपरोक्त दोनों ही कार्य साधनों की अपेक्षा रखते हैं उनके लिए पैसा न मिले तो समझना चाहिए बिना पानी वाले तालाब की स्थिति रही । खिले कमलों वाले सुरम्य शीतल सरोवर का दृश्य देखना है, तैराकी से लेकर सिंचाई तक का लाभ उठाना है तो कागजी चित्र सरोवर से काम नहीं चलेगा। उसमें जलराशि भरते रहने वाले निर्झरों को भी उस सुखद सम्भावना में भागीदार बनने के लिए सहमत करना होगा ।

प्रचार प्रकाशन के समतुल्य ही कला का क्षेत्र है । उस पर इन दिनों फिल्म उद्योग का आधिपत्य है । पत्र-पत्रिकाओं के पाठकों से भी कहीं अधिक संख्या सिनेमा दर्शकों की रहती है । अभिनय, संगीतयुक्त कथानक अपने पीछे जो प्रभाव सँजोये रहते हैं उसका प्रभाव सीधे चिन्तन और चरित्र पर पड़ता है । प्रचलित प्रवाह को सिनेमा संस्कृति की देन कहें तो अतिशयोक्ति न होगी । उसने अपना प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से जन-जन के मन-मन पर छोड़ा है उसकी तुलना और किसी माध्यम से नहीं की जा सकती । इस महाशक्ति को पतन-पराभव से रोकने में यों उनके निर्माता और सरकारी सेन्सर भी सक्षम हो सकता है फिर भी यह आवश्यकता तो बनी ही रहेगी कि दिशा परिवर्तन की, अभिनव निर्माण की जिम्मेदारी कोई दूसरा उठाये । अन्धों को रास्ता दिखाने में कोई आँख वाला भी चाहिए ।

आवश्यकता यह अनुभव की जानी चाहिए कि पुरातन सतयुगी वातावरण को आज की स्थिति में अवतरित कर सकने वाले कथानकों की कम से कम एक फिल्म शृंखला तो चल ही पड़े । मार्गदर्शन और पथ-प्रशस्त होने पर दूसरे लोग भी उसका अनुकरण करेंगे । यह बड़ी पूँजी का उद्योग है । एक फिल्म बनाने से नहीं एक शृंखला चलाने से काम बनेगा । इस शृंखला शुभारम्भ के अपने निजी साधन बनाने होंगे । इसमें न्यूनतम पचास लाख की पूँजी चाहिए । करोड़ों की लागत वाले मिल कारखाने खड़े कर देने वालों के लिए यह लाभदायक न सही, हानिरहित उद्योग में हाथ डालने का उत्साह उत्पन्न किया जाना चाहिए ।

मध्यवर्ती प्रज्ञा परिजन भी रामलीला, रासलीला स्तर की अभिनय मण्डलियाँ खड़ी कर सकते हैं । एक्शन साँग, एकांकी, नाटक, संगीत मण्डली आदि छोटे तन्त्र बड़ी संख्या में खड़े किये जा सकें तो भी उनका प्रभाव उन देहाती क्षेत्रों में उत्साहवर्द्धक होता है, जहाँ भी सिनेमा का आधिपत्य नहीं हुआ है । सोलह मिलीमीटर के चलते-फिरते सिनेमा भी जनरेटर की सहायता से उन क्षेत्रों में पहुँच सकते हैं और इस स्तर का एक मिनी सिनेमा उद्योग भी बड़ों के समानान्तर से खड़ा हो सकता है। इसमें पूँजी भी कम लगेगी । इस क्षेत्र में कठपुतली के तमाशे-जादू के खेल जैसे कौशल भी उद्देश्यपूर्ण आधार अपनाकर लोकरंजन के साथ लोकमंगल का आधार खड़ा कर सकते हैं ।

कला के क्षेत्र में चित्र प्रकाशन का अपना विशिष्ट स्थान है । चित्र प्रदर्शनियों के इन दिनों कितने ही रूप प्रचलित हैं। उनमें से कुछ को नवसृजन का वातावरण बनाने में प्रयुक्त किया जा सकता है। छोटी चित्र-पूजा तो आदर्शवाक्य, चित्र वाले प्रकाशन और चित्र प्रदर्शनी आयोजनों के रूप में चल भी रहा है । उपरोक्त सभी प्रयत्नों को बड़े काम में, बड़ी पूँजी में, संगठित रूप में किये जाने की आवश्यकता है । कला को दुष्प्रयोजनों में प्रयुक्त करने के फलस्वरूप लोकप्रवाह में विषाक्तता का समावेश हुआ है। यदि उसे सदुद्देश्यों के लिए प्रयुक्त करने वाली कोई बड़ी योजना कार्यान्वित हो सके तो उसका प्रभाव निश्चित रूप से वातावरण में अमृत भर देने के रूप में दृश्यमान होगा ।

कृत्यों में प्रगतिशील शिक्षा तन्त्र जनसहयोग से खड़ा किया जाना चाहिए । जीवन साधना के-लोक व्यवहार के असंख्य पथ ऐसे हैं, जिनका अभाव शिक्षितों और

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

अशिक्षितों में समान रूप से पाया जाता है । आदतें, विचारणाएँ, प्रथाएँ, गतिविधियाँ, अवांछनीय स्तर की होने पर किस प्रकार सर्वनाश रचतीं और विवेकशील दूरदर्शिता युक्त होने पर किस प्रकार दैवी अनुकम्पा की तरह प्रगति और समृद्धि बरसाती हैं-यह विषय मात्र स्वाध्याय का ही नहीं है उसका विधिवत् पाठ्यक्रम एवं प्रशिक्षण भी होना चाहिए । ऐसे पूरे या अधूरे समय के फीस तथा बिना फीस के विद्यालय जगह-जगह पर चलने चाहिए जिनमें आजीविका उपार्जन, स्वास्थ्य संरक्षण एवं व्यवहार-कौशल की शिक्षा का समावेश है । प्रगतिशील देशों में सरकारी शिक्षा की परिधि में सीमित और निजी प्रयासों से चलने वाली शिक्षण संस्थाएँ अपेक्षाकृत कहीं अधिक हैं । इससे वहाँ के नागरिकों को अपनी मर्जी के बिना, अपनी अनुकूलता के समय में पढ़ने की सुविधा उपलब्ध होती रहती है । हमें सरकारी शिक्षा का स्वागत और सहयोग करते हुए भी उन प्रसंगों के पाठ्यक्रम बनाने और विद्यालय चलाने चाहिए जो योग्यता सम्वर्धन के साथ-साथ प्रतिभा निखारने व्यक्तित्व उभारने और प्रगतिशील सुखी-समुन्नत जीवनक्रम बनाने में कारगर सहायता दे सकें ऐसी लोकशिक्षा-सरकारी शिक्षा के समान्तर चल सकती है और समग्र शिक्षण की पूरक बन सकती है ।

इन पंक्तियों में उन प्रयत्नों का उल्लेख नहीं किया गया है, जिनसे पिछड़े, दुःखी वर्ग को राहत पहुँचाने, बेकारी गरीबी को दूर करने, अनीति से जूझने की दृष्टि से बहुत कुछ किया जाना बाकी है । इन पृष्ठों पर उनका उल्लेख न करने का तात्पर्य यह नहीं है कि वे महत्त्वहीन या उपेक्षणीय हैं । उन्हें दूसरे अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री, शासन अधिकारी अपने ढंग से अपने साधनों से सम्पन्न करें । यहाँ मात्र प्रज्ञा अभियान के उस पक्ष पर प्रकाश डाला गया है जो लोकमानस की दिशाधारा बदलने के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं । युगमनीषी अपने जिम्मे इस सीमित काम को सम्भालें और अगणित कार्यों को विभिन्न क्षेत्रों की अगणित प्रतिभाएँ अपने-अपने साधनों और अनुभवों के अनुसार करती रह सकती हैं । शासन सुधार की बात को यहाँ जान-बूझकर छोड़ दिया गया है कि जब उस क्षेत्र की सूझ-बूझ वाले ही धकापेल मचाये हुए हैं तो अछूते किन्तु अति महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व को युगमनीषा क्यों न अपने कन्धों पर उठायें ।

उपरोक्त चारों तन्त्रों को छुटपुट रूप से अलग-अलग संगठनों के अन्तर्गत भी किया जा सकता है, पर प्रारम्भिक स्थिति में पूर्व अनुभव और दूरदृष्टि के अभाव में भटकाव की आशंका है। सभी जानते हैं कि जंक्शन पर खड़ी गाड़ियों में कोई निर्धारित पटरी के स्थान पर दूसरी पर चढ़ चले तो कुछ ही समय में यह भटकाव हजारों मील का अन्तर पड़ जाता है और शक्ति एवं समय का भारी अपव्यय पल्ले बँधता है । अच्छा हो उपरोक्त चारों प्रयासों का प्रथम चरण शान्तिकुंज के तत्त्वावधान में हो । इस सुयोग से युगमनीषा को दिव्य प्रेरणाओं से सुसम्पन्न होने का अवसर मिलेगा । उनके उत्तरार्द्ध प्रयास, पूर्वार्द्ध प्रयासों की तुलना में असंख्य गुने सत्परिणाम प्रस्तुत कर सकने में समर्थ होंगे । ऐसे सत्परिणाम जिनके सहारे मनुष्य में देवत्व के उदय और धरती पर स्वर्ग के अवतरण का सतयुग इन्हीं आँखों के आगे प्रभातकालीन अरुणोदय के रूप में सुखद सम्भावनाओं के साथ उदीयमान दृष्टिगोचर हो सके ।

हमीं एक कदम और आगे बढ़ें

युगान्तरीय चेतना से परिचित, प्रभावित, प्रशंसक, समर्थक प्रज्ञा-परिवार को एक कदम आगे बढ़कर अब सघन सहयोग की भूमिका में प्रवेश करना होगा । उन्हें अपना एक विशिष्ट स्तर एवं स्वरूप विनिर्मित करना होगा । समय के परिवर्तन में उनकी भावभरी भूमिका होनी चाहिए । ऐसी भाव-भरी जो उन्हें महामानवों की, युगपुरुषों की पंक्ति में खड़ा कर दें । ऐसी भावभरी जिसमें त्याग, बलिदान और सेवा-साधना का गहरा पुट हो । जो विचार समर्थन से आगे बढ़कर कर्मभूमि में उतरे और ऐसा कुछ करे जिससे समूचे सम्पर्क क्षेत्र को नवजीवन मिले । ऐसा नवजीवन जिसे उपलब्ध करने वाले कृत-कृत्य होकर रहें और कृतज्ञतापूर्वक अगणित पीढ़ियों तक स्मरण, नमन, वन्दन करते रहें ।

बात दूसरे स्तर के साहस भर की है । मानव जीवन दुस्साहसियों से भरा है । इसमें पग-पग पर जोखिम है । त्याग और संयम की विवशता भी बनी ही रहती है। इच्छा से नहीं, अनिच्छा से प्रकृति-प्रेरणा से करना तो वही पड़ता है । प्रश्न इतना भर है कि क्या यह सब ढर्रे से बाधित होकर करने की अपेक्षा विवेकपूर्वक, अन्तःप्रेरणा से, आदर्शों के निमित्त किया जा सकता है ? बाधित होकर या स्वेच्छापूर्वक-व्यामोह के दबाव से या विवेक भरे उत्साह से चयन इन्हीं दो में से एक करना पड़ता है । जोखिम दोनों में समान है। न चाहने पर भी जो करने के लिए प्रकृति बाधित करती है उसी को यदि अन्तःप्रेरणा से आपत्तिकालीन युगधर्म की पुकार पूरी करने के लिए किया जा सके तो एक शब्द में उसे विवेक भरी साहसिकता और मानवीय गरिमा को गौरवान्वित करने वाली साहसिकता ही कहा जायेगा । समय आ गया कि इस परीक्षा की घड़ी में अपने चयन चुनाव में राजहंसों जैसी उत्कृष्टता का परिचय देना होगा । इस विषम वेला में उन्हें प्रेय का नहीं श्रेय का वरण करना चाहिए ।

मनुष्य कमाता बहुत है, पर प्रकृति उसमें से थोड़ा-सा ही खाने की छूट देती है । चार रोटी ही पेट में प्रवेश कर पाती हैं । चाहने पर भी कोई अधिक उदरस्थ नहीं कर सकता । तन ढकने के वस्त्र, सोने का बिस्तर औसत लम्बाई से अधिक के प्रयुक्त नहीं हो सकते । जो खाया-खर्चा उसके उपरान्त का बचत भाग किन्हीं दूसरों के लिए छोड़ना ही पड़ता है । मरने के बाद तो सिकन्दर कुछ न ले

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

जा सका और ताबूत से बाहर खुले हाथ निकलवाकर ऐसे ही रोता-कलपता चला गया । प्रश्न इतना भर है कि उस बचत की अनावश्यक रूप में कुटुम्बियों पर ही लादा जाय या उस स्वाँति-बूँद की तरह असंख्य प्यासों पर बरसा दिया जाय ? चुना किसे गया इसी में अपनी सूझ-बूझ है। स्वयं के लिए तो सीमित उपयोग ही सम्भव है । यह संयम साधना, यह उदारता अपनाने के लिए प्रकृति ने हर किसी को बाधित किया है। बात इतनी भर है कि व्यामोह की जकड़न ही सब कुछ रही, या आदर्शवादी विवेकशीलता अपनाने वाली आत्म-प्रेरणा से भी कुछ करते-धरते न बन पड़ा ।

यह सोचना मात्र भ्रम है कि आदर्शवादी गतिविधियों में भाग लेने से, परमार्थ प्रयोजनों में सहयोग करने से घाटा पड़ता है और घर वालों की सुविधा में कमी पड़ती है। इस चिन्तन के पीछे मिथ्या अपडर मात्र है । महामानवों में से प्रत्येक की जीवनचर्या पर गम्भीरतापूर्वक दृष्टिपात करने से एक ही निष्कर्ष निकलता है कि ढर्रा बदलते समय की थोड़ी-सी असुविधा के अतिरिक्त उनमें से किसी को भी घाटे में नहीं रहना पड़ा। बुद्ध ने क्या खोया ? गाँधी को कितना घाटा पड़ा ? शंकराचार्य, चाणक्य आदि अन्यान्यों की तरह गोरखधन्धे में उलझे रहने को बुद्धिमानी और आदर्शवादी साहस अपनाने की मूर्खता माने बैठे रहते तो उनकी गणना पेट-प्रजनन के कोल्हू में पिलने वाले नरपामरों से अधिक न रही होती । दुनियादार कबीर, नानक, दादू, रैदास, ज्ञानेश्वर, चैतन्य महाप्रभु वह न बन सके होते जो कृपणता का परित्याग करने के उपरान्त बन गये ।

गीताकार ने योगी की व्याख्या करते हुए उसकी पहचान दिन में सोने तथा रात में जगने की बताई है । इस अलंकारिक निरूपण का तात्पर्य है, दुनियादारी की रीति-नीति को मूर्खतापूर्ण मानकर अपने एकाकी विवेक के आधार पर स्वतन्त्र निर्णय करना । भले ही वे लोकप्रचलन के साथ तालमेल न खाते हों । ऐसा कर गुजरना किसी के लिए भी सम्भव है । न इसमें घाटा है न मूर्खता । बहुत लोगों द्वारा अपनाये गये ढर्रे को उचित मान बैठना सही नहीं है । अन्धी भेड़ों के पीछे-पीछे चलने की अपेक्षा रबीन्द्र का वह उद्‌बोधन मार्मिक है जिसमें एकला चलो रे का सूर्य-चन्द्र जैसा साहस अपनाने और ज्वलनशील दीपक का अनुकरण करने की प्रेरणा दी गई है । चिन्तन का यह मर्म बिन्दु ही ऐसा है जिसको गर्त में गिरने या आकाश में उछलने की दिशाओं में से किसी एक का वरण किया जा सकता है ।

युगमनीषियों की श्रेणी में सम्मिलित होने के लिए किसी उच्च शिक्षित होने की तनिक भी आवश्यकता नहीं है । उसके लिए कबीर जितना अक्षर ज्ञान भी पर्याप्त है । बड़े कुचक्र षड्‌यन्त्र रचते रहने वाले बहुपथिता को इस देवमानवों की बिरादरी में उनकी डिग्री के कारण सम्मिलित नहीं किया जा सकता । जिस विद्यालय में इन मनीषियों को पढ़ना है उसमें अपना उदाहरण प्रस्तुत करने की एकमात्र योग्यता ही काम करती है । बकवासी वाचालता का काम तो अब टैप रिकार्डर से भी मजे में लिया जा सकता है। आवश्यकता तो स्वल्प शिक्षित बुद्धि की है जिसके अनुगमन के लिए कोई-कोई अन्तःकरण उमड़ पड़े । इन दिनों तिलक चाहिए, सुभाष, पटेल, विनोबा, दयानन्द, विवेकानन्द जैसे धुनि के धनी । यहाँ वाचलता या चतुरता की नहीं बड़े दिल, बड़े साहस और उदात्त दृष्टिकोण भर की आवश्यकता है । वह जितना जिस अनुपात में होगा वे उतने ही ऊँचे स्तर के युगमनीषा गिने जा सकेंगे और युग की पुकार पूरी करने में महती भूमिका निभाते हुए अपने को कृत-कृत्य कर सकेंगे। इस दिशा में तथाकथित व्यस्त और अभावग्रस्त लोग भी यदि ईमानदारी की यथार्थता अपनायें तो देखेंगे कि प्रतिकूलताओं के बीच भी वे बहुत कुछ कर सकते हैं। बड़ा न सही छोटा योगदान तो गिलहरी से भी बन पड़ा था। मनुष्य अपने को सर्वथा असमर्थ कहे यह बात हजार बार दुहराने पर भी किसी के गले नहीं उतरती है । आदर्शवादिता के क्षेत्र में आन्तरिक कृपणता के अतिरिक्त और कोई व्यवधान नहीं है। उसी के कारण तो अर्जुन, वकीलों जैसी दलीलें प्रस्तुत करता चला जा रहा है । उसी प्रवंचना को धमकाते हुए गीताकार ने कहा था-**प्रज्ञावांदाश्च भाषसे** ।' वाचालों की छल भरी भाषा मत बोल । वस्तुस्थिति को समझ और मन की आँखें खोल ।

प्रज्ञा परिजनों को इन दिनों ऐसे ही असमंजस भरे व्यामोह से जूझना पड़ेगा । अच्छा हो वे जोखिम उठायें, छलाँग लगायें और हनुमान जैसा दुस्साहस अपनायें । इससे कम में बात बनेगी नहीं, दल-दल में फँसी हुई गाड़ी आगे बढ़ेगी नहीं । परमार्थ के सम्मुख स्वार्थ को सिकोड़ने का ठीक यही समय है । लोभ और मोह में कटौती करते ही ऐसा उपाय निकल आता है जिसमें निर्वाह और परिवार की उचित व्यवस्था पर बिना किसी प्रकार का आन्तरिक दबाव डाले युगधर्म की पुकार सुनने वाले उसके लिए कुछ करने वाले प्राणवानों के साथ-साथ चला जा सके ।

इस सन्दर्भ में सबसे बड़ी आवश्यकता भाव-सम्वेदना की है । वह उमगे तो प्रचलित ढर्रे में हेर-फेर करने का उत्साह उमगे तथा साहस उभरे । जहाँ ऐसी अन्तःप्रेरणा उठेगी वहाँ बुद्धि के सामने उसकी व्यवस्था बनाने में फिर कोई कठिनाई न रहेगी । अभीष्ट अनुकूलता मिलने पर हाथ खाली होने वाली कल्पना ऐसी है जिसकी कम से कम इस जन्म में तो पूरी होने की आशा नहीं ही की जानी चाहिए । विवेक दूसरे उपाय ढूँढ़ता है और उन प्रस्तावों की लड़ी लगा देता है जिनमें से किसी को भी अपनाकर युग देवता के चरणों में भावभरी श्रद्धाञ्जलि प्रस्तुत करने की सुविधा सरलतापूर्वक निकल आती है । इच्छित परिस्थितियों में इच्छित काम की बात सोचते रहना अवास्तविक है । जो सामने है उसी में हेर-फेर करके तालमेल बिठा लेने का तरीका ही ऐसे अवसरों पर काम देता है । ललक, लिप्सा और महत्त्वाकांक्षाओं में कटौती हो सके, परिवार को सुविधाओं से लादने की अपेक्षा स्वावलम्बी भर बनाने का

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

विवेक जगे तो इतने भर से हममें से अधिकांश की वह स्थिति हो सकती है, जिसमें महाकाल की समयदान याचना का उत्साहपूर्वक उत्तर दिया जा सके ।

आदर्शवादी बीजारोपणों को संकल्प और साहस का खाद-पानी मिले तो उनके उगने, लहराने और देखते-देखते पुष्पित-फलित होने में फिर कोई कठिनाई शेष न रहे। संकट परिस्थितिजन्य नहीं, मन:स्थिति में घुसी हुई कृपणता का है । चोर पकड़ा और हटाया जा सके तो समझना चाहिए कि प्रज्ञा परिजनों में से हर किसी को बहुत कुछ कर गुजरने का सुयोग-सौभाग्य उपलब्ध हो गया।

श्रम, समय की इन दिनों महती आवश्यकता है । जन-जागरण के लिए जन-सम्पर्क साधने और युगचेतना से अवगत कराने वाले प्रयास प्रारम्भ करने होंगे । यह बन पड़े तो जन समर्थन और जन-सहयोग की कहीं कोई कमी न रहेगी । बीमा एजेण्टों और वोट बटोरने वालों जैसी ललक हो तो जन-सम्पर्क में निकलने में लगने वाले संकोच, असमंजस देखते-देखते हवा में उड़ जायेंगे । कथनी और करनी का समन्वय ही प्रज्ञा अभियान की गतिविधियों को आगे बढ़ाता है । परामर्श देने से ही छुटकारा नहीं मिलता कुछ ऐसा भी करना पड़ता है, जिसमें समय लगे और पसीना बहे। ज्ञान रथ चलाने, स्लाइट प्रोजैक्टर दिखाने जैसे प्रारम्भिक काम तक जब श्रम माँगते हैं तो उन बड़े कामों के लिए तो और भी बड़े प्रयास परिश्रम की आवश्यकता पड़ेगी । खादी प्रचार के दिनों पं० नेहरू और टन्डन धकेल गाड़ी लेकर निकलते और खादी बेचते थे । लगन हो तो हममें से अधिकांश की वह स्थिति है कि स्वाध्याय और सत्संग को सर्वसुलभ बनाने वाले उपरोक्त तीनों उपकरणों को अपने एकाकी बलबूते अपने सम्पर्क क्षेत्र में चलाते और उत्साहवर्द्धक आलोक वितरण करते रह सकें। बात एक कदम और आगे बढ़े तो शिक्षा प्रचार, हरीतिमा सम्वर्द्धन, स्वच्छता अभियान जैसे कितने ही सेवा कार्यों में कुछेक घनिष्ठ साथियों को लेकर जुटा जा सकता है। स्वयं संकल्पपूर्वक आगे बढ़ने पर सहयोगी अनुयायियों की कभी कमी नहीं पड़ती । इन्जन दौड़ेगा तो डिब्बे भी पीछे-पीछे घिसटते चलेंगे ही । प्रज्ञा अभियान के अन्तर्गत असंख्यों प्रचारात्मक, सुधारात्मक और रचनात्मक कार्यक्रम हैं जिनमें से योग्यता और सुविधा के अनुरूप स्थानीय परिस्थितियों-आवश्यकताओं के अनुसार कुछ भी चुना जा सकता है । लक्ष्य एक ही है, लोकमानस का परिष्कार । सुविधा-सम्वर्द्धन से अधिक महत्त्व इन दिनों विचार परिवर्तन को दिया जाना है । यह तथ्य हममें से किसी को भी भुला नहीं देना चाहिए ।

यह सर्वसाधारण की बात हुई । विभूतिवानों को, प्रतिभाओं को कुछ बड़े कदम उठाने चाहिए और अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत करने चाहिए । भावनाशील, बुद्धिमान, धनवान, प्रतिभाशाली लोग इन कामों में हाथ बँटा सकते हैं । जो किये जा रहे हैं या किये जाने हैं, उनकी चर्चा हो चुकी है । इनमें सच्चे मन से रुचि ली जा सके तो यह खोजने में कठिनाई न पड़ेगी कि स्वयं क्या किया और दूसरों से क्या कराया जा सकता है । कई बार मनुष्य की अपनी क्षमताएँ ही इतनी बड़ी होती हैं कि एकाकी बलबूते महत्त्वपूर्ण काम करने में उनके लिए साधन जुटाने में कीर्तिमान स्थापित किया जा सके । कई बार स्वयं की तो वैसी स्थिति नहीं होती, पर दूसरे समर्थों को प्रोत्साहित करके उतना कुछ कराया जा सकता है जिसे चमत्कार कहा जा सके । युगसाहित्य के प्रकाशन, प्रचारकों के निर्वाह अन्यान्य कार्यक्रमों के लिए साधन उपकरण जुटाने में ढेरों पैसा चाहिए । इसका भी प्रबन्ध हो सके तो ईंधन मिलने पर चिंगारी की ज्वलन्त ज्वाल माला बनने का अवसर मिल सकता है। उमंग उठे, साहस जगे और चिन्तन मुड़े तो हजार उपाय, हजार मार्ग ऐसे सामने अनायास ही प्रस्तुत होने लगेंगे, जिनके सहारे नवसृजन अभियान को आगे बढ़ाया जा सके । स्वयं करने के साथ-साथ दूसरों से कराने की बात का भी उतना ही महत्त्व है । जामवन्त स्वयं समुद्र लाँघने की स्थिति में नहीं थे पर उन्होंने हनुमान को प्रोत्साहन देकर वह कार्य करा लिया । परिणामत: यह प्रयास जामवन्त के स्वयं समुद्र लाँघने के समतुल्य ही श्रेयस्कर सिद्ध हुआ ।

जिनके पारिवारिक उत्तरदायित्व हलके हैं, जिनके पास गुजारे के साधन हैं वे परिव्राजकों की भूमिका निभा सकते हैं, अपने समय को पुरातन वानप्रस्थों की तरह लोक-मंगल के लिए लगा सकते हैं । इसमें निकटवर्ती प्रज्ञापीठों के माध्यम से सुव्यवस्थित कार्य करना अधिक सरल और सफल हो सकता है। एक वर्ष का वानप्रस्थ लेकर जन- जागरण की तीर्थयात्रा पर निकल पड़ना अपने आप में एक मनोरंजक, अनुभव सम्पादन, तप साधन एवं उच्चस्तरीय पुण्य परमार्थ है । साइकिलों पर तीर्थ-यात्रा और ढपली पर युगगायन के लिए निकलने वाली दो-दो की टोलियाँ जो काम कर सकती हैं, उसका मूल्यांकन असाधारण या अद्‌भुत के रूप में ही कहा जा सकता है । जिनसे बाहर जाना न बन पड़े, वे अपने समीपवर्ती क्षेत्र में ही नित्य दो घण्टे लगाकर प्रज्ञा अभियान के निर्धारित कार्यक्रमों में हाथ बँटाते रह सकते हैं ।

समयदान की तरह ही देव परिवार की जाग्रत आत्माओं को अंशदान का भी प्रबन्ध अपने ही स्रोतों से करना होगा । सुसम्पन्नों से न तो अपना सीधा सम्पर्क है, न उन पर कोई प्रभाव है । नाक रगड़ने और जिस-तिस के सामने पल्ला पसारने की आदत नहीं । मिशन के कार्य विस्तार के साथ-साथ साधनों की आवश्यकता भी बढ़ रही है । उसकी पूर्ति भी बाहर का कौन करेगा ? उदारता इस दिशा में भी अपेक्षित है । अपने बदले का सेवा कार्य दूसरों से कराया जा सकता है और बदले में उनके निर्वाह का उत्तरदायित्व उठाया जा सकता है । इन दिनों युगशिल्पियों के निर्वाह तथा मार्ग व्यय आदि पर औसत एक रुपया घण्टा खर्च आता है । स्वयं समयदान न दे सकने वाले, अपने स्थान

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

पर दूसरों से कराने की बात सोच सकते हैं और अपने उपार्जन में से महीने में एक दिन की आजीविका इस पुण्य प्रयोजन के लिए लगाते रह सकते हैं ।

दस पैसा का दैनिक अनुदान तो न्यूनतम प्रतीक मात्र है । उतने भर से बड़े काम कहाँ बन पड़ेंगे ? उदारचेता अपने परिवार का एक सदस्य 'प्रज्ञा अभियान' को उसके सूत्र-संचालन तन्त्र को भी गिने और निजी परिवार के अन्य लोगों में एक संख्या और बढ़ाकर उसकी साझेदारी भी स्वीकार करे, तो काम चले । बात उदारता सिकोड़ने-फैलाने भर की है अन्यथा परिवार में एक बच्चा और बढ़ जाय तो उसके भरण-पोषण की गुंजाइश निकलेगी ही । शिक्षा, विवाह एवं उत्तराधिकार की व्यवस्था बनेगी ही । ऐसा ही कुछ निर्धारण युगसृजन अभियान के सम्बन्ध में भी सोचा जा सके तो अनुदान इतना हो सकता है जिसके सहारे उन कार्यों को आगे बढ़ाया जा सके, जिन्हें साधनों के अभाव में मन मसोसकर रोके रहना पड़ रहा है । प्रज्ञा परिजनों का उदात्त दृष्टिकोण और उदार सहयोग ही भावी बड़े क्रिया-कलापों को उसी प्रकार आगे बढ़ायेगा जैसा कि पिछले दिनों छोटे सहयोग से सम्पन्न किया जाता रहा है ।

हमारी नसों में उष्णता उत्पन्न होकर रहेगी

भगीरथ ने कठिन तपश्चर्या स्वर्ग से गंगा को धरती पर उतारने के लिए की थी । उसके पीछे दो उद्देश्य सन्निहित थे । एक सर्वसाधारण को जल की शीतलता और सरसता का लाभ मिलना, दूसरे उनके शाप पीड़ित पूर्वजों का नरक से उद्धार । अपनी जीवन-साधना के साथ भी कुछ ऐसे ही प्रयोजन जुड़े हुए हैं । विश्व मानव को सुख-शान्ति के पथ पर अग्रसर करने के लिए उसका भावनात्मक स्तर ऊँचा उठाया जाना आवश्यक है । इसके लिए विवेकशीलता की स्वतन्त्र चिन्तन की ज्ञान गंगा का अवतरण आवश्यक । हमने अपना अब तक का सारा जीवन इसी के लिए तपाया और जलाया है । इस महान् अवतरण की कल्पना एक आशा मात्र थी पर अब तो वह गंगोत्री से एक छोटी किन्तु निर्मल धारा के रूप में प्रवाहित हो चली । द्रुतगति से विश्व-शांति के महासागर तक पहुँचने के लिए यह धारा धावमान् हो रही है । लगता है कि जन-मानस में देवत्व की सरसता, शीतलता उत्पन्न करने का लक्ष्य ज्ञान-गंगा आज नहीं तो कल पूरा करके रहेगी ।

दूसरा प्रयोजन अपने शाप पीड़ित पूर्वजों, ६० हजार सगर सुतों का उद्धार करना, नरक से स्वर्ग भेजना भी है । लक्ष्य थोड़े लोगों तक सीमित भले ही हो, पर है वह भी अति महत्त्वपूर्ण । हमारे साथी, सहचर जो सभी हमारे दिन रात के सहचर थे, कदम-से-कदम मिलाकर चलते थे, अपूर्णता को पूर्णता में परिवर्तन करने के लिए अपनी सतत् साधना में संलग्न थे-महान लक्ष्य की पूर्ति ही जिनकी एक मात्र आकांक्षा थी, लोभ, मोह के बन्धनों को जिन्होंने काफी ढीला कर लिया था, जिन पर हमें भारी हर्ष और गर्व था, वे अब न जाने किससे शापित होकर नरक में जा गिरे और अपने पूर्वजन्मों की स्थिति, परिस्थिति एवं प्रवृत्ति को बुरी तरह भूल गये । जिसके जीवन दीप अपने आप में प्रकाशवान थे-दूसरों को प्रकाशार्थ थे, अब वे लगभग बुझ गये । बत्ती के अग्रभाग पर जहाँ दीप्तिमान् ज्योति जलती रहती थी, वहाँ अब कालिमा का अवशेष मात्र चिह्नित है ।

उच्च आत्मायें जो अपने को प्रकाशवान् कर चुकी हैं और जिनके प्रकाश का लाभ सुदूर क्षेत्रों में व्याप्त होने की आशा थी वे बुझ जाएँ, तो यह एक बड़ी दुर्घटना एवं भयंकर सार्वजनिक हानि की बात है । लोभ-मोह के जाल-जंजाल से जकड़ा हुआ जड़ जीवन नर-पशुओं के लिए क्षम्य हो सकता है, जिनकी मनुष्यता जाग गई उनके लिए वह स्तर ऐसे ही उपहासास्पद है, जैसे कि कोई बड़ी आयु का व्यक्ति बालकों जैसे खिलौनों से खेले, घुटनों के बल चले और वैसी ही बोली बोले । प्रबुद्ध आत्मायें धर्म और ब्रह्मज्ञान की वाचालता नहीं दिखाती फिरतीं, वे उन आदर्शों को जीवन क्रम में उतारती हैं । वेदान्त जिनकी जीभ तक सीमित रह गया, व्यावहारिक जीवन में न उतरा, समझना चाहिए कि वे प्रगति के पथ पर न बैठ सके, विडम्बना के दल-दल में फँस गये ।

हमारे साथी-सहचरों की, सच्चे अर्थों में माने जाने योग्य कुटुम्बियों की यही दुर्गति हुई है । जिन्हें आज देश का, विश्व का नेतृत्व करना था, युग परिवर्तन की प्रभु इच्छा के अनुरूप उनके संकेतों पर कुछ बड़े काम करने के लिए तत्पर होना था, इस विश्व संकट के दिनों में ऐतिहासिक भूमिका का सम्पादन करना था, उनकी गतिविधियाँ इतनी ओछी संकीर्ण एवं कृपण हो जाएँ कि पेट एवं प्रजनन के दो ही लक्ष्य शेष रहें, तो समझना चाहिए कि एक भयंकर दुर्घटना हो गई । आध्यात्मिक जगत् में एक भारी व्यवधान उत्पन्न हो गया ।

यह एक स्पष्ट सच्चाई है कि अखण्ड-ज्योति परिवार में हमने चुन-चुनकर, गिन-गिनकर, परख-परखकर मणिमुक्ता खोजे हैं और उन्हें एक शृंखला सूत्र में आबद्ध किया है । जिनकी पूर्व तपश्चर्यायें और उत्कृष्ट भावनायें बहुत थीं, जो हमारे साथ थे, उन्हें हम पहचानते हैं, वे भले ही भूल गये हों । यों भूले तो वे भी नहीं, अनायास ही आत्मीयता उमड़ते देखकर सोचते तो वे भी यही हैं कि सामान्य परिचय से किसी विद्वान साधक एवं सुधारक के साथ उतनी घनिष्ट-आत्मीयता यकायक नहीं उमड़ सकती जैसी कि उनके मन में हमें देखते ही उमगती होती, उमड़ती है । आश्चर्य तो होता उन्हें भी है कि इस असाधारण भाव प्रवाह और चिर-परिचित सी लगने वाली आत्मीयता एवं विश्वसनीयता का कारण कुछ तो होना ही

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

चाहिए । निश्चित रूप से यह सब अकारण नहीं है । अनेक जन्मों तक चले आ रहे साधन-सम्बन्ध आदि की अति आत्मीयता भरी समीपता केवल चोला बदल लेने से समाप्त नहीं हो जाती । अन्तर्मन में सूक्ष्म अनुभूतियाँ जमी रहती हैं और कई बार अपरिचित से परिचित होने जैसी अनुभूति होती है । अपने साथ भी यही बात है । जिन आत्माओं का हमारे साथ अति घनिष्ट सम्बन्ध लगातार कितने ही जन्मों तक रहा है और जो एक ही धारा में लगातार हमारे साथ बहते रहे हैं, वे अब भले ही बिछुड़ गये हैं, उन पूर्व अनुभूतियों को सर्वथा विस्मृत नहीं कर सकते । फलतः अपना नगण्य-सा परिचय सान्निध्य उन्हें ऐसा लगता है कि हम चिर-परिचित और चिर-सहचर अब भी हैं या हो जायेंगे । हमारी स्थिति अलग है, हम उनके पूर्व चित्र और चरित्रों को भी जानते हैं, इसलिए वन से लौटती हुई गाय जैसे अपने बछड़े को देखते ही रंभाती, चाटती है, लगभग वैसा ही कुछ मन अपना भी करता है । संकोची स्वभाव और लोकाचार, शिष्टाचार का प्रतिबन्ध यदि बाधक न हो तो हमारा मन इन सहचरों को छाती से लगाने, बगल में सुलाने और साथ खिलाने को मचलने लगे । इस उछाह को हमें भी किसी प्रकार काबू में करना पड़ता है । स्वजन भी सामान्य परिचय की बात ध्यान में रखते हुए अपने मन की बात कहने में खुल नहीं पाते, पर क्रम निश्चित रूप से यही चलता रहता है ।

कहना न होगा कि हमें अपने छोटे परिवार के सान्निध्य सम्पर्क से कितना अधिक सुख-सन्तोष, हर्ष और उल्लास है । चिरसंचित आत्मीयता की स्मृतियाँ जब एक ही जन्म में सघन हो गईं तो हमको उन्होंने स्वजनों के प्रति भाव-विभोर बना दिया और इन थोड़े से ही दिनों में विरल समीपता रहते हुए भी भारी उल्लास प्रदान किया । अब जबकि २० महीने बाद सदा-सर्वदा के लिए बिछुड़ जाने के दिन निकट आ चले हमारा भावुक हृदय न जाने कैसा-कैसा रूठता-मचलता है । प्रेम ही तो हमारे जीवन की सरसता है, उसे ही तो हम परमेश्वर मानते हैं । प्रेम में समीपता का आनन्द है तो वियोग का दर्द भी । यह दर्द कभी-कभी गुर्दे के दर्द की तरह पेट को बुरी तरह मरोड़ता है और पथरी की तरह कहीं ऐसा अड़ जाता है कि साँस लेना भारी पड़ता है । अखण्ड-ज्योति अंकों में ऐसी ही कुछ चर्चा करके जी हल्का किया था । पीछे उसे बन्द कर दिया क्योंकि इस व्यथा से हम काफी उद्विग्न हैं, साथी, सहचरों को भी अपने साथ क्यों घसीटें, उन्हें भी क्यों रुलायें । जो होना ही है उसे शांतिपूर्वक होने देना चाहिए । विवेक यही कहता है, सो हम अपनी भावुकता के घोड़ों पर अति कड़ाई के साथ इन दिनों नियन्त्रण कर रहे हैं । लगाम खींचते-खींचते अपने हाथ घायल हुए जा रहे हैं । जो भी हो, नियति का क्रम जारी रहना ही है । हमें अपने निर्धारित क्रम करने ही हैं और मन को अन्ततः समझाया जाना ही है, नहीं तो वह प्रयोजन जिसके लिए हमें घर छोड़कर वन जाना पड़ रहा है, सधेगा कैसे ?

बीस महीने बाद हम अपनी राह चले जायेंगे और परिजन भी कुछ दिन इस संदर्भ की चर्चा का ऊहापोह करते हुए इन प्रसंगों को विस्मरण कर देंगे, पर एक बात शूल की तरह चुभती ही रह जायगी कि सह-यात्रा का जन्म-जन्मान्तरों से चला आने वाला क्रम बुरी तरह टूट गया । कोई ऐसा अन्धड़ तूफान आया कि साथी उखड़ गये और हम मरघट के पीपल की तरह एकाकी दूँठे बने खड़े रहे । कैसा मजा आता यदि यह मित्र-मंडली साथ-साथ चल रही होती और हँसी-विनोद करते हुए हर्ष, उल्लास के साथ लम्बी और कठिन मंजिल को खेलते-कूदते पार कर रहे होते ।

दुर्दैव को क्या कहा जाय, जिसने शरीरों से बिछुड़ने से भी हजार गुना दुःख मंजिल बिछुड़ने का दिया है । शरीर से भले ही कोई पास रहे, पर दिशायें अलग-अलग हों तो उसे समीपता क्यों न कह लें, सान्निध्य तो उसे कहते हैं, जिसमें शरीरों की दूरी भले ही बनी रहे, पर आत्मायें एक साथ, एक सम्वेदना, एक अनुभूति और अविच्छिन्न आत्मीयता के साथ हर दिशा में चलती रहें । इस कसौटी पर कसकर हम देखते हैं तो शरीर सम्पर्क के साथी ही बहुत दीखते हैं, जिनमें आत्मिक एकता, लक्ष्य, दिशा, गति की एकता भी बनी हुई हो ऐसे स्वजन, परिजन अँगुलियों पर गिनने लायक रह गये हैं । यह क्षति कई बार हमें उद्विग्न और विक्षिप्त जैसा कर देती है, लगता है हम बहुत मान-सम्मान परिचय और परिवार पाकर भी सब कुछ खो बैठे, दिवालिया हो गये । दुर्बल से इन्सान होने के नाते ऐसी दशा में हमारा दिल बुरी तरह टूटता है और कसक इतनी उठती है कि कई बार गुर्दे में घाव और पथरी वाले मरीजों को होने वाले दर्द से भी वह बहुत अधिक बढ़ जाती है ।

हमने एकांगी प्रेम करना सीखा है । प्यार किया तो सदा के लिये उसे निबाहा । बात-बात पर मैत्री, बात-बात पर उपेक्षा और बात-बात पर लड़ाई करना हमें नहीं आता । जो किया सो किया । शुरू किया तो निबाहा । क्षण-क्षण में बदलने की अपनी आदत नहीं । कारण कुछ भी हो हम उनसे विलग नहीं हो सकते, जिनके प्रति हमारे मन में अनन्य आत्मीयता के भाव हैं । अपने परिवार से हमें बड़ी-बड़ी आशायें थीं । उनके आध्यात्मिक बीजांकुरों को फलता-फूलता देखने का अपना मन था । भजन-पूजन को हम आध्यात्मिकता का एक औजार उपकरण मात्र मानते हैं । किसी में अध्यात्म का प्रकाश आया या नहीं इसकी दो ही परख हो सकती हैं कि आत्म-निर्माण के लिये उसके प्रयत्न कितने तीव्र हुये और उसकी उदारता लोक-मंगल की दिशा में कितनी विकसित हो सकी ? जो आध्यात्मिकता पूजा-पाठ, तिलक-छापे और कर्मकाण्डों तक सीमित रह जाय, उसे निर्जीव एवं निष्फल ही कहा जायगा । ऐसी निर्जीव विडम्बना भरी पूजा, उपासना में उलझे हुये अपने कितने ही साथी हैं, जो धार्मिक कर्मकाण्डों में तो बहुत समय लगाते हैं, पर जिन्होंने भावनात्मक आत्म-निर्माण के लिये कुछ भी नहीं किया ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

आत्म-परीक्षण और आत्म-सुधार की दिशा में जिनकी रुचि नहीं बढ़ी और लोकमंगल के लिये त्याग, बलिदान करने के लिये जिनमें कोई उत्साह पैदा नहीं हुआ । ऐसी निर्जीव आध्यात्मिकता में संलग्न किसी को देखते हैं, तो इतना ही सोचते हैं, बेचारा कुमार्गगामी कार्यों से बच कर इस गोरख-धन्धे में लग गया तो कुछ अच्छा ही है । अच्छाई का नाटक भी अच्छा । इस दृष्टि से जो है, सो ठीक है । पर काम तो इतने मात्र से चलता नहीं । प्रखर और सजीव आध्यात्मिकता तो वह है, जिसमें अपने आपका निर्माण दुनिया वालों की अंधी भेड़चाल के अनुकरण से नहीं, वरन् स्वतन्त्र विवेक के आधार पर कर सकना सम्भव हो सके । सच्ची आध्यात्मिकता तो वह है, जो वासना, तृष्णा की परिधि से साधक को ऊपर उठा दे और वैयक्तिक ही नहीं सामूहिक कर्त्तव्यों के पालन में शौर्य और साहस की पर्याप्त मात्रा उत्पन्न कर दे । ऐसी प्रखर आध्यात्मिकता अपने कितने साथियों में उगी, बढ़ी और परिपुष्ट हुई ? इसका लेखा-जोखा लेने बैठते हैं तो चित्त में भारी निराशा उत्पन्न होती है, पर इस निराश स्थिति में क्षुब्ध होकर हम हतप्रभ नहीं हो सकते । खिन्न होकर नियत कर्त्तव्यों को छोड़ देना भी हमें नहीं आता। जिन्हें प्यार करते रहे हैं उन्हें अन्त तक प्यार करेंगे और मित्रता का कर्त्तव्य-'कुपथ निवारण सुपथ चलाना' वाली उक्ति को सदा निबाहेंगे और अपनी मित्रता को 'बल अनुमान सदा हित करहीं' के स्तर की बनाये रहेंगे ।

मनुष्य का वास्तविक हित इस बात में नहीं है कि उसे धन, मान, स्त्री, पुत्र आदि के सुख-साधन मिल जाएँ, वरन् इसमें है कि उसकी अन्तरात्मा सद्गुणों की विभूतियों से सम्पन्न होकर अपना ही नहीं असंख्यों का कल्याण करती हुयी पूर्णता के परम लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ हो । हम अपने स्वजनों के सच्चे हितैषी और सच्चे हितवादी बन कर रहेंगे । उन्हें उनकी वर्तमान गतिविधियों, विचारणाओं और प्रक्रियाओं तक सीमित न रहने देंगे । वासना और तृष्णा की कीचड़ में बिलखते हुये और पेट-प्रजनन के जाल-जंजाल में फड़फड़ाता हुआ उन्हें न छोड़ेंगे । सहायता करेंगे कि वे ऊँचे उठें और प्रकाश के अधिकाधिक सम्पर्क में आकर अपने को ज्योतिर्मय बनाते हुये विश्व आकाश में अपनी ज्योतिर्मयी प्रभा देर तक, दूर तक फैलाये रहने में समर्थ हों ।

तप करने की अगली हमारी योजना का लक्ष्य यही है । स्पष्ट है कि हमें स्वर्ग जाना नहीं है । स्वयं हम पा चुके और हमारे दृष्टिकोण में पूरी तरह व्याप्त है । हमें मुक्ति नहीं चाहिए । उसे हम पा चुके । तृष्णा और वासना के लोभ और मोह के अहंकार और अज्ञान के बन्धन कट जाने पर जीव सर्वथा मुक्त है । मरने और जीने के मोक्ष का कोई सम्बन्ध नहीं है । हम जीवित हैं तो भी किसी बन्धन में बँधे नहीं हैं । जब बन्धन ही नहीं तो मोक्ष से क्या प्रयोजन ? हमें सिद्धियाँ भी नहीं चाहिए । चमत्कारों से हमें घृणा है, उन्हें सदा से बाल बुद्धि का मोद, क्रीड़ा कौतुक मात्र मानते रहे हैं और कहते रहे हैं कि उच्च स्तरीय लोगों के लिये चमत्कारी होना हास्यास्पद है । ईश्वर के आलस्य चमत्कारों की पग-पग पर जिन्हें अनुभूति नहीं होती, वे ही मनुष्य के छुटपुट चमत्कारों को महत्त्व देते हैं और ओछे लोग ही इन ओछे आधारों पर नासमझ लोगों की श्रद्धा बटोरते हैं । ऊँचे लोगों का रास्ता दूसरा है । हमें ऋद्धि-सिद्धियों के प्रति कोई आकर्षण नहीं । आत्मा की उत्कृष्टता संसार की सबसे बड़ी सिद्धि है, उसके अन्तर्गत सब कुछ आ जाता है । उसके प्रभाव क्षेत्र से कुछ भी बाहर नहीं। अपनी इन मान्यताओं के कारण हमें अपनी भावी क्रिया-पद्धति में स्वर्ग, मुक्ति अथवा सिद्धि के लिये कुछ भी करना अभीष्ट नहीं । अपनी आगामी उग्र तपश्चर्या का उद्देश्य तो बिल्कुल दूसरा है और वह नितान्त स्पष्ट है ।

हम अपने पूर्वजों, परिजनों, साठ हजार सगर पुत्रों को नरक से निकालकर स्वर्ग में पहुँचाने के लिये गंगावतरण की तप साधना करेंगे । भगीरथ से पूछेंगे कि आपने क्या किया था, हमें भी बताया जाय और हमें भी इस योग्य बनाया जाय कि अपने सगोत्र लोगों की दयनीय परिस्थिति बदल कर शांति भरी सुषमा प्राप्त करा सकें । स्वजनों का हित अपना हित है । इनका स्तर ऊँचा उठाना अपनी उन्नति से बढ़कर आनन्द और सन्तोष की बात है । हमारी एकमात्र अभिलाषा, आकांक्षा, कामना एक ही शेष है और उसकी पूर्ति के लिए अब इन साँसों के चलने का अन्तिम क्षण आने तक उसी के लिए तप-साधना अथवा जो कुछ बन पड़ेगा सब कुछ करेंगे ।

अपना परिवार तो हमने इतना बड़ा इकट्ठा कर लिया पर उन्हें कुछ मोटी बातें समझा सकने में सफल न हो सके । हम उनके मन पर यह छाप न छोड़ सके कि-"उत्कृष्टता और आदर्शवादिता की गतिविधियों को अपनाना किसी प्रकार भी घाटे का सौदा नहीं है ।" यह प्रक्रिया स्वास्थ्य सुधारती है, दीर्घजीवन प्रदान करती है, दाम्पत्य प्रेम में भारी उल्लास भर देती है, बच्चे सुसंस्कृत बनते हैं, पैसे की तंगी नहीं रहती, मनोविकारों और उद्वेगों में नहीं जलना पड़ता, यश मिलता है, सच्चे और सज्जन मित्र मिलते हैं और उसकी मित्रता निभती है । दूसरों का सहयोग मिलता है, प्रगति का पथ प्रशस्त होता है, असफलताएँ क्षुब्ध नहीं करतीं, चित्त में प्रसन्नता उमड़ती रहती है, आत्म-सन्तोष मिलता है और ईश्वर के अनुग्रह एवं सान्निध्य का हर घड़ी अनुभव होता और भी असंख्य लाभ हैं । हानि केवल इतनी ही है कि अपनी मूढ़ मान्यताओं, अन्ध परम्पराओं और बुरी आदतों से हाथ धोना पड़ता है । लोभ-मोह की जलन और वासना, तृष्णा की उद्विग्नता भी कम हो जाती है । दुष्टता भरा अहंकार घट जाता है, इसके अतिरिक्त और कुछ भी हानि नहीं है । लाभ इतना अधिक है कि सामान्य मनुष्य महामानवों की श्रेणी में जा पहुँचता है और उपेक्षणीय व्यक्तित्व सब की सिर आँखों पर जा विराजता है ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

यदि इतनी मोटी बात और अक्षरश: तथ्यपूर्ण उस सच्चाई को हम परिजनों को समझा सके होते तो उनकी तथाकथित आध्यात्मिकता पूजा-पाठ और कथा-वार्त्ता तक सीमित होकर न रह गई होती । उसे जीवन व्यवहार में भी स्थान मिला होता और उनका स्वरूप वैसा न रहता जैसा आज है । वे अपेक्षाकृत बहुत सुखी और संतुष्ट होते और समाज को उनके व्यक्तित्व से भारी प्रकाश एवं बल मिल रहा होता । ईश्वर जाने कि (१) इस युग का अन्धकार उतना सघन है अथवा (२) परिजनों का विवेक एवं शौर्य मर गया अथवा (३) अपने समझाने वाली क्षमता इतनी न्यून है कि उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता । तीनों में से जो भी कारण हो अथवा तीनों ही कारण हों उपाय तो करना ही होगा । परिजनों को मोह-शोक में डूबे हुए नहीं छोड़ सकते । वे अपनी अच्छी स्थिति का गर्व करते रहें । हमारी दृष्टि में आत्म-कल्याण की साधना और लोकमंगल की प्रवृत्ति से उदासीन व्यक्ति की आत्मिक स्थिति अति दयनीय है । अपने इन पूर्वजों, स्वजनों के उद्धार के लिए हम भागीरथ तप करें और इसी उर्वर क्षेत्र में हरीतिमा उगायेंगे जिससे सारा उपवन सुशोभित हो उठे ।

शरीर यात्रा के लिए निर्वाह व्यवस्था सब को करनी पड़ती है । हम सब उसे भी करते रहें ? इसे कौन रोकता है, पर यदि लोक-मंगल के लिए कुछ करने की कर्त्तव्य बुद्धि जाग पड़े तो इसी प्रक्रिया के चलते-चलते इतना समय, मस्तिष्क और पैसा बच सकता है कि उतने भर से ही बहुत कुछ ही नहीं सब कुछ हो सकता है । एक-दो घण्टे का नित्य समय नहीं निकाल सकता ऐसा शायद ही कोई ईमानदार आदमी कह सके । समय की बर्बादी के अभ्यस्तों के लिए जब समय का मूल्य ही मालूम नहीं, कोई क्रम व्यवस्था ही नहीं तो फुरसत मिले भी कहाँ से ? पर जो समय को क्रमबद्ध कर सकते हैं, उनके लिए एक-दो घण्टा का समय लोक-मंगल के लिए निकाल देना रत्ती भर भी असुविधाजनक नहीं हो सकता । उसी प्रकार दस पैसा रोज अर्थात् एक-रोटी, अथवा आधा कप चाय, अथवा एक पान की कीमत लोक-मंगल जैसे बहुमूल्य कार्य के लिए खर्च करना क्या कुछ कठिन हो सकता है ? क्या अन्य निरर्थक कामों में कमी करके इतनी बचत नहीं हो सकती ? क्या इतने मात्र से आर्थिक स्थिति पर प्रभाव पड़ सकता है ? बहाना कुछ भी बनाया जा सकता है, पर वस्तुत: उतने में किसी को राई भर की असुविधा नहीं हो सकती । अब एक कदम और बढ़ाने को कहा जा रहा है, जिसमें एक महीने की आमदनी बीस महीने तक खर्च करके आन्दोलन में एकदम तेजी लाने को कहा गया है । थोड़े दिन के लिए थोड़ा-सा ही भार बढ़ाना है । जिसमें भावना और श्रद्धा हो उसके लिए यह बायें हाथ का खेल है अन्यथा पहाड़ की बराबर भारी और समुद्र की तरह दुस्तर तो यह कार्य है ही । ऐसा बहाना कोई भी कर सकता है और झूठा आत्म-संतोष करने तथा मिथ्या सफाई देने का उपक्रम भी कर सकता है । जिन कार्यों को हम आवश्यक समझते हैं, उनके लिए इससे भी कई गुना समय और धन हम खर्च कर डालते हैं, पर यदि मन उन्हें निरर्थक मानता है तो फिर भी बहाना बताया जा सकता है और किसी भी असुविधा की चर्चा करके अपनी असमर्थता प्रकट की जा सकती है ।

हम भोले जरूर हैं पर इतने मूर्ख नहीं जो वस्तुस्थिति को समझते न हों । आत्म-कल्याण और लोकनिर्माण की सम्मिश्रित कार्य-पद्धति को भी जीवन में कुछ स्थान देने की बात हम कहते हैं और उसे यों ही मजाक में उड़ा दिया जाता है तो हमें भारी कष्ट होता है । इसे हम किसी की मजबूरी नहीं मान सकते । इसमें विशुद्ध उपेक्षा अन्यमनस्कता और अश्रद्धा छिपी हुई है । वह असत्य है। किसी समय के बहुत आगे बढ़े-चढ़े व्यक्ति नगण्य से सामयिक कर्त्तव्य की, ऐसी उपेक्षा करें हमें यह बहुत कष्टकारक लगता है । लगभग वैसा ही अनुभव होता है, जैसा भगीरथ को अपने पूर्वजों की दयनीय स्थिति के बारे में होता था । कोई घी से रोटी खाता है या रेशमी कपड़ा पहनता है, यह देख कर हम उसे प्रसन्न चित्त नहीं मान सकते । आत्मिक दृष्टि से जो दरिद्र है, उसे असंख्य प्रकार की जलन जलाती रहेगी और वह नरक का भी अनुभव करता रहेगा । इस स्थिति में हम अपने स्वजनों को नहीं रहने दे सकते, हम उन्हें प्यार करते हैं, मित्र मानते हैं, इसलिए हमें अथक् प्रयत्न करना होगा कि उन्हें ऊँचा उठायें और समुन्नत करें ।

इन पंक्तियों में प्रस्तुत विचार-क्रांति का प्रथम चरण सर्वसुलभ योजना के साथ उपस्थित किया गया है कि उसे अपनाया जाय और अपने महान् कर्त्तव्यों की पूर्ति के लिए भी कुछ करना आरम्भ किया जाय । इस अभ्यास से हमारी आध्यात्मिक प्रगति में गति आ सकती है । अच्छा होता हमारा तप अन्य कार्यों में खर्च होता और स्वजन अपनी विवेकशीलता और अन्त:प्रेरणा से ही अपने युग कर्त्तव्य को पहचान कर अपने कदम बढ़ाते, पर यदि वे ऐसा नहीं कर सकते तो उनमें शौर्य और साहस का उदय करने के लिए हम अपने आपको अधिक तपायेंगे और आशा करेंगे कि सम्भवत: इस गर्मी से उनके रक्त में कुछ उष्णता पैदा होगी और प्रस्तुत महान कर्त्तव्य की चुनौती को पूरा करने के लिए वे कुछ साहसपूर्ण कदम उठाने में समर्थ होंगे ।

यह सुयोग व्यर्थ न जाने पाये

समर्थ शक्तियों का परिवर्तन प्रत्यावर्तन संक्रांति काल कहलाता है । राज्य पलटते हैं तो भारी उथल-पुथल मचती है । दिन और रात्रि का मिलना-बिछुड़ना संध्या काल कहलाता है । उन घड़ियों की अनेक दृष्टियों से अपनी महत्ता है । संध्याकाल को आत्मिक और बौद्धिक दृष्टि से असामान्य ही माना जाता है । शताब्दियों का परिवर्तन भी प्रकारान्तर से युग परिवर्तन जैसी सम्भावनाओं से भरा-पूरा होता है । प्रसवकाल में पीड़ा और प्रसन्नता का कैसा

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

अद्भुत संयोग रहता है, इसे सभी जानते हैं । देवासुर संग्राम की अपने समय में आश्चर्यचकित करने वाली प्रतिक्रिया होती रही है । उन दिनों महाकाल को अवतार लेकर समस्या का समाधान करना पड़ा था । अवतार धारण करने की समर्थ सत्ता की ऐसे ही अवसरों पर आवश्यकता पड़ी है ।

लंका को परास्त करने और रामराज्य के रूप में सतयुग की वापसी सम्भव करने के लिए जो मध्यान्तर था, उसमें जिनको भी प्रमुख भूमिका निभानी पड़ी वे अजर-अमर हो गये । हनुमान की अपनी औकात क्या थी ? इसे देखना हो तो सुग्रीव के सेवक के रूप में ऋष्यमूक पर्वत पर रहने के दिनों की परिस्थितियों का आकलन किया जा सकता है । साथ ही यह भी देखा जा सकता है कि रामकाज में निरत होने पर उन्हें समुद्र छलाँगने, लंका जलाने, पर्वत उखाड़े जाने जैसी कितनी दिव्य विभूतियाँ हस्तगत हो गई थीं । हनुमान ही नहीं केवट, शबरी, गिलहरी जैसे नगण्य स्तर वाले भी इतिहास में स्वर्णिम अक्षरों में लिखे जाने योग्य बन गये थे । द्रौपदी के चीर हरण के समय पर असहाय से बने अर्जुन द्वारा किसी महान् शक्ति का प्रयोजन पूरा करने के लिए कटिबद्ध होने पर महाभारत विजेता की गौरव-गरिमा उपलब्ध हुई थी । उनके सारथी बनने में कृष्ण ने अपने को धन्य माना था ।

संधि वेला की महत्ता, प्रेरणा एवं आवश्यकता को जिनने भी समझा उन्हें दैनिक सुख-सुविधा में कटौती करनी पड़ी । प्रतिकूलताओं से भी टकराना पड़ा, पर इसके फलस्वरूप उनने जो पाया उसे अविस्मरणीय ही कहा जा सकता है । बुद्ध, गाँधी, लेनिन, दयानन्द आदि क्रान्तिकारियों की सूझबूझ ने ठीक काम दिया । साहस प्रदर्शन के लिए उपयुक्त समय चुना । समय पर बोई गई फसल ठीक प्रकार उगी और उसने उन पराक्रमों को ही नहीं अपने समय के वातावरण को भी प्रेरणाप्रद बनाकर रख दिया ।

प्रस्तुत समय युग संधि का है । भ्रान्तियों और विकृतियों से भरी बीसवीं सदी विदा हो रही है और इसके स्थान पर उज्ज्वल भविष्य से भरी पूरी इक्कीसवीं सदी का आगमन हो रहा है । मध्यान्तर के यह थोड़े से वर्ष हैं जिनमें कि हम सब जी रहे हैं । विशेष समय सामान्य जीवधारियों की तरह पेट-प्रजनन के लिए खपा देने भर के लिए नहीं होते । उनमें दूरदर्शी विवेकशीलों को युगधर्म को स्वीकारने और समय की चुनौती को स्वीकारने के लिए साहस जुटाना होता है । इसमें कुछ घाटा जैसा तो प्रतीत होता है, पर वह वस्तुतः थोड़ा-सा बीज बोकर सैकड़ों गुना काटने जैसा दूरदर्शितापूर्ण ही होता है ।

भगवान् अभीष्ट परिवर्तन के लिए समुचित योजना बना चुके हैं । साधन भी जुटा चुके हैं, पर वे उस क्रिया-प्रक्रिया को सम्पन्न करने का श्रेय ऐसे लोगों को देना चाहते हैं, जो आदर्शों के प्रति निष्ठावान होने की प्रतिभा एवं प्रामाणिकता का परिचय दे सकें । बदले में क्या मिल सकेगा, इसे सामान्य से ऊँचा उठकर असामान्य बने महामानवों की जीवन गाथाओं का स्मरण करते हुये सहज ही समझा जा सकता है । समय को पहचानना और अवसर को न चूकना ही जाग्रतों-जीवितों के लिए अभीष्ट है । इस सुयोग को हाथ से न जाने देने में ही बुद्धिमत्ता है ।

अवसर प्रमाद बरतने का है नहीं

चतुरता और बुद्धिमत्ता को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है । एक वह है जो दुनिया और क्रिया-कलापों में किसी भी प्रकार सफलता प्राप्त कर दिखाती है । इसके ऊपर नीति-अनीति का दबाव प्रायः नहीं के बराबर होता है । जिस प्रकार भी अपना उल्लू सीधा होता है उसी को बहिरंग पक्ष ग्राह्य मानता है, और बिना किसी हिचक के कर दिखाने के लिए जमीन आसमान के कुलाबे मिलाता है ।

मनुष्य का अन्तरंग पक्ष वह है, जिसमें नीति, मर्यादा को प्रमुखता मिलती है । समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी, बहादुरी की कसौटी पर कसने के उपरान्त कोई निर्णय किया तथा कदम उठाया जाता है । इसमें अपनी ही तरह दूसरों के हितों का भी ध्यान रखा जाता है और इस संदर्भ में आत्मा का परमात्मा का अभिमत भी सुना जाता है ।

इन दिनों बहिरंग पक्ष को ही प्रमुखता मिल रही है। गौरवर्ण, युवावय और साज-सज्जा यदि आकर्षक हो तो यह देखने की आवश्यकता नहीं समझी जाती कि पर्दे के पीछे एड्स, सिफिलिस टी०वी०, कैन्सर जैसे रोगों के विषाणु सम्पर्क में आने वाले पर छूत का आक्रमण करने को तैयार तो नहीं बैठे हैं । चालाक और उद्दंड व्यक्ति हर कहीं रौब गाँठते और किसी को भी डराने-दबाने में सफल होते हैं । सम्पन्नों में भी अधिकांश लोगों की सम्पदा औचित्य के सहारे ही कमाई हुई नहीं होती । नेतृत्व स्तर की आदर्शवादी स्पीचें झाड़ने वाले बहुधा रँगे सियार और बगुला भगत पाये जाते हैं ।

इसके ठीक विपरीत ऐसे लोग भी होते हैं, जो प्रामाणिकता और प्रखरता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए बड़े से बड़ा कष्ट सहने और ऊपर से दूनी कीमत चुकाने के लिए भी तैयार होते हैं । उनकी काया नहीं, चरित्र प्रेरणा का स्रोत बनता है और असंख्यों को ऊँचा उठाने आगे बढ़ाने में सफल होता है । महामानवों को इसलिए ऐसे ही लोग गढ़ते और मानवीय उत्कृष्ट आदर्शवादिता की रक्षा करते हैं । अनुकरणीय और अभिनन्दनीय बनकर वे ही रहते हैं ।

किन्तु उन अनगढ़ों को क्या कहा जाय जो चतुरता, विडम्बना और ठाटबाट की सज्जा के अतिरिक्त और किसी का लोहा मानने के लिए तैयार ही नहीं होते । उन्हें न देवता की जय बोलने में आपत्ति है और न दैत्य की

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

अभ्यर्थना करने में । समर्थ से कुछ पाने या उसके दबाव से हैरान न होने का ताना-बाना बुनते रहने में ही उन्हें अपनी खैर दीखती है । बहुमत इसी विडम्बना का होने से लोगों का झुकाव भी उन्हीं की ओर पाया जाता है । इसलिए तथाकथित लोकमत को न तो मान्यता दी जा सकती है और न उसके अनुसरण से गरिमा की रक्षा ही होती है ।

बड़ों का विस्तार देखकर चमत्कृत होने की अपेक्षा औचित्य इसी में है कि महानता का अवलम्बन अभिवन्दन किया जाय । भले ही वह दुर्बल या पराजित ही क्यों न रह रहा हो ।

यहाँ चर्चा बड़ों की नहीं की जा रही, क्योंकि वे पानी के बबूले की तरह उबलते और तनिक-सी उछलकूद दिखाकर अदृश्य के गर्त में समा जाते हैं । यहाँ विवेचन उनका हो रहा है, जिन्हें धरती खण्ड या समुद्र में दीप्तिमान प्रकाश स्तम्भ कहते हैं । शेषनाग फन पर धरती को धारण किये हैं या नहीं , इसमें मतभेद हो सकता है, पर यह बात निर्विवाद है कि मनुष्यता की गरिमा और महिमा मात्र उन आदर्शवादियों के कंधे पर टिकी हुई है, जिनसे चिरस्थायी शान्ति और प्रगति की आशा की जा सकती है । विचारशील और विवेकवान इन्हीं को कहा जा सकता है ।

चतुर लोग प्रचलित क्रिया-कलापों में अपनी विशिष्टता का परिचय देते और जिस-तिस प्रकार लाभ अर्जित कर दिखाते हैं, किन्तु विवेकवानों को तो वही सोचना एवं करना पड़ता है जिससे मर्यादाएँ निभती रहें और शालीनता की उमंगें उभरती रहें । इन्हीं गौरवशाली मान्यता के धनी लोगों के सामने तीन समस्याएँ प्रमुख रहती हैं । एक यह कि अन्य प्राणियों के लिए सर्वथा सुलभ इतना कलात्मक जीवन स्रष्टा ने किस प्रयोजन के लिए प्रदान किया और उस विशिष्ट अनुदान का अधिकारी समझा ? दूसरा यह कि जो आवश्यक साधन एवं वैभव प्राप्त है उसका आज की परिस्थितियों में सर्वश्रेष्ठ उपयोग क्या हो सकता है ? तीसरा यह कि जन्म की तरह मरण निश्चित है । वह कल भी हो सकता है और परसों भी । तब जिस परिवार में हाजिर होना होगा, वहाँ किस प्रकार किस रूप में अपनी जीवनचर्या का निर्धारण प्रस्तुत करना पड़ेगा ? इन तीन प्रश्नों का सही उत्तर देने के लिए जो परीक्षार्थी विद्यार्थी की तरह तैयारी करता रहता है जो सही उत्तर देकर ससम्मान उत्तीर्ण होता है । उसी के बारे में समझा जाना चाहिए कि उसने मनुष्य जीवन का महत्त्व समझा और तदनुरूप व्यवहार करके उपलब्धियों को सार्थक कर दिखाया ! ऐसे लोग संख्या में भले ही थोड़े हों पर प्रतिभा, प्रखरता और प्रामाणिकता से सम्पन्न उन्हें ही कहा जायगा ।

जिन्हें इन प्रश्नों से कुछ लेना देना नहीं है, जो इस तरह कभी सोचते नहीं, सोचने की आवश्यकता नहीं समझते, फुरसत नहीं पाते, उन्हें मनुष्य समुदाय के एक घटक तो कह सकते हैं, पर हैं वे वस्तुतः किसी अन्य लोक के प्राणी । उन्हें पृथ्वी के यक्ष, गन्धर्व, किन्नर भले ही कह सकते हैं । फूहड़ शब्दों में इन्हें बड़े आदमी चतुरता के धनी, बहेलिये, कलावन्त भी कह सकते हैं । सफलताओं के तमगे तो वे अनेकों लटकाये फिरते हैं, पर वस्तुतः वे अपने आप में ही तन्मय, एकाग्र, समाधिस्थ बने रहते हैं । इन्हें दीन-दुनिया से कुछ लेना देना नहीं । वे अपनी चतुरता के बल पर खोटे सिक्के की तरह दाँव लगाने पर चल तो जाते हैं, पर मनुष्यता की हर कसौटी पर अनुपयुक्त ही सिद्ध होते हैं । खरे सोने वे हैं जो कसौटियों पर कसे जाने और आदर्शों की आग में तपने पर भी अपनी गरिमा अक्षुण्ण बनाये रहते हैं । यही तो पवन की तरह प्राण बाँटते हैं, बादलों की तरह बरसते और सूर्य की तरह स्वयं प्रकाशवान गतिशील रहकर हर कहीं आभा-ऊष्मा बखेरते है, इन्हीं के लिए उन तीन प्रश्नों का उत्तर सही रूप से दे सकना सम्भव होता है कि जीवन किसलिए मिला ? उसके साथ किन कर्त्तव्य उत्तरदायित्वों का अनुबंध जुड़ा ?

साधारण समय में साधारण रीति से भी सोचा और धीमा कदम उठाया जा सकता है, किन्तु कभी-कभी ऐसे समय भी आते हैं, जिनमें निर्णय तुरन्त करने और कदम अविलम्ब उठाने पड़ते हैं । पड़ोस में अग्निकाण्ड भड़क रहा हो और उसकी चिंगारियाँ अपने छप्पर तक पहुँच रही हों तो ऊँघते नहीं रहा जा सकता । रेल प्लेटफार्म पर खड़ी हो, गार्ड की सीटी बजने वाली हो तो चढ़कर अपनी जगह पकड़ने में फुर्ती ही दिखानी पड़ती है । परीक्षा की अवधि में पूरी एकाग्रता से पर्चे हल करने पड़ते हैं । उन क्षणों में कुकल्पनाओं में निरत रहना भारी घाटे का सौदा होता है । दुर्घटना घटित होने पर आहत का उपचार तुरन्त करना पड़ता है, अन्यथा रक्त स्राव न रुकने पर प्राण-संकट का खतरा स्पष्ट है । इन दिनों ऐसा ही समय है, उसमें एक पैर उत्थान की ओर तथा दूसरा पतन की नाव पर खड़ा है । दोनों में से एक का चयन करने में विलम्ब नहीं किया जा सकता, अन्यथा विपरीत दिशा में जाने वाली नौकाएँ असमंजस वाले मुसाफिर का कबाड़ा ही बनाकर रख देंगी । गया समय फिर वापस लौटता कहाँ है? हनुमान ने, विभीषण ने, अर्जुन ने, बुद्ध ने अपने निर्णय तत्काल कर लिए थे ।

यदि वे बात को फिर कभी के लिए टालते रहते तो उस सुयोग से वंचित ही रह जाते जो उन्हें समय पहचान लेने के कारण सरलतापूर्वक उपलब्ध हो सका । फसल के बोने और काटने की कुछ दिन की अवधि निर्धारित रहती है जो उसे गँवा देते हैं उनके हाथ से फसल की आधी कमायी निकल जाती है । प्रमाद यों सदा ही अतिशय घाटे का निमित्त कारण है, पर कई बार अलभ्य अवसर सामने होता है और वे अन्यमनस्कता तनिक भी सहन नहीं करते । घुड़दौड़ में अच्छे घोड़े वाला भी यदि अस्तव्यस्त गति का हो तो उसके हाथ पराजय के अतिरिक्त और क्या लगने वाला है । नारद का परामर्श मानने में जिनने आना-कानी नहीं की वे ध्रुव, प्रह्लाद, उमा, सावित्री की तरह अजर-अमर हो गये अन्यथा मूढ़मति

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

बहुमूल्य संकेतों और संदेशों को भी इस कान सुनते और उस कान निकालते रहते हैं । ज्ञान की सार्थकता कर्म के साथ जुड़ने पर ही बन पड़ती है । इस प्रयोजन को चरितार्थ करने का ठीक यही समय है ।

यह समय चूकने का नहीं है

आमतौर से भक्तजन भगवान् को पुकारते और उनकी सहायता के लिए विनयपूर्वक गिड़गिड़ाते रहते हैं, पर कभी-कभी ऐसे समय भी आते हैं, जब भगवान् उन भक्तजनों से आवश्यक याचना करते हैं और बदले में उन्हें इतना महत्त्व देना पड़ता है, जो उनकी अपनी महत्ता से भी बढ़-चढ़ कर होता है ।

हनुमान की वरिष्ठता के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने पर राम-लक्ष्मण उन्हें खोजने ऋष्यमूक पर्वत पर पहुँचे थे और येन-केन प्रकारेण उन्हें सीता की खोज में सहायता करने के लिए सहमत किया था । गंगाघाट पार करने के लिए केवट की सहायता आवश्यक हो गई थी । इसलिए केवट को उन्होंने आग्रहपूर्वक सहायता करने के लिए किसी प्रकार मनाया । आड़े समय में काम आने वाले जटायु को छाती से लगाकर कृतज्ञता व्यक्त की, उसकी अनुभूति हर सुनने वाले को भाव-विभोर कर देती है । समुद्र पर पुल बाँधने में जिन निहत्थे रीछ-वानरों ने सहायता की, उनकी उदार चेतना को हजारों-लाखों वर्ष बीत जाने पर भी कथाकारों ने भुलाया नहीं है ।

महाभारत अभीष्ट था । उसकी बागडोर सँभालने के लिए अर्जुन जैसे मनस्वी की आवश्यकता थी । अर्जुन से पूछा गया तो वह अचकचाने लगा । कभी भीख माँग कर खा लेने, कभी कुटुम्बियों पर हथियार न उठाने का सिद्धान्तवाद तर्क रूप में प्रस्तुत करने लगा । भगवान् ने उसके मन की कमजोरी पढ़ी और भर्त्सनापूर्वक कटु शब्दों में दबाव डाला कि उसे कठोर कार्य में उद्यत होना ही चाहिए । यों भगवान् सर्वशक्तिमान होने से महाभारत को अकेले भी जीत सकते थे, पर अर्जुन को श्रेय देना था जो सच्ची मित्रता का तकाजा था । उसे यशस्वी भी तो बनाना था । इसलिए संग्राम के मध्य खड़े होकर अर्जुन को सुविस्तृत दर्शनशास्त्र समझाते हुए अपने प्रयोजन में भागीदार बनने के लिए सहमत करना ही पड़ा, अर्जुन घाटे में नहीं नफे में ही रहा ।

सुदामा बगल में दबी चावल की पोटली देना नहीं चाहते थे, सकुचा रहे थे, पर उन्होंने उस दुराव को बलपूर्वक छीना और चावल देने की उदारता परखने के बाद ही द्वारिकापुरी को सुदामा पुरी में रूपान्तरित किया । भक्त और भगवान् के मध्यवर्ती इतिहास की परम्परा यही रही है । पात्रता जाँचने के उपरान्त ही किसी को कुछ महत्त्वपूर्ण मिला है । जो आँखें मटकाते, आँसू बहाते, रामधुन की ताली बजाकर बड़े-बड़े उपहार पाना चाहते हैं, उनकी अनुदारता खाली हाथ ही लौटती है । भगवान् को ठगा नहीं जा सकता है । वे गोपियों तक से छाछ प्राप्त किये बिना अपने अनुग्रह का परिचय नहीं देते थे । जो गोवर्धन उठाने में सहायता करने की हिम्मत जुटा सके, वही कृष्ण के सच्चे सखाओं में गिने जा सके ।

यह समय युग-परिवर्तन जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य का है । आदर्शवादी कठोर सैनिकों के लिए परीक्षा की घड़ी कहा जाय तो इसमें कुछ अत्युक्ति नहीं समझी जानी चाहिए । पुराना कचरा हटता है और उसके स्थान पर नवीनता के उत्साह भरे सरंजाम जुटते हैं । यह महान् परिवर्तन की महाक्रांति की वेला है । इसमें कायर, लोभी, डरपोक और भाँड़ आदि जहाँ-तहाँ छिपे हों, तो उनकी ओर घृणा, तिरस्कार की दृष्टि डालते हुए उन्हें अनदेखा भी किया जा सकता है । यहाँ तो प्रसंग हथियारों से सुसज्जित सेना का चल रहा है । वे ही यदि समय की महती आवश्यकता को न समझते हुए, जहाँ-तहाँ मटरगस्ती करते फिरें और समय पर हथियार न पाने के कारण समूची सेना को परास्त होना पड़े, तो ऐसे व्यक्तियों पर तो हर किसी का रोष ही बरसेगा जिन्होंने आपात स्थिति में भी प्रमाद बरता और अपना तथा अपने देश के गौरव का मटियामेट करके रख दिया ।

जीवन्तों, जाग्रतों और प्राणवानों में से प्रत्येक को अनुभव करना चाहिए कि यह ऐसा विशेष समय है जैसा कि हजारों-लाखों वर्षों बाद कभी एक बार आता है । गाँधी के सत्याग्रही और बुद्ध के परिव्राजक बनने का श्रेय, समय निकल जाने पर अब कोई किसी भी मूल्य पर नहीं पा सकता । हनुमान और अर्जुन की भूमिका हेतु फिर से लालायित होने वाला कोई व्यक्ति चाहे कितने ही प्रयत्न करे, अब दुबारा वैसा अवसर हस्तगत नहीं कर सकता । समय की प्रतीक्षा तो की जा सकती है, पर समय किसी की भी प्रतीक्षा नहीं करता । भागीरथ, दधीचि और हरिश्चन्द्र जैसा सौभाग्य अब उनसे भी अधिक त्याग करने पर भी पाया नहीं जा सकता ।

समय बदल रहा है। प्रभातकाल का ब्रह्ममुहूर्त अभी है। अरुणोदय के दर्शन अभी हो सकते हैं । कुछ घण्टे ऐसे हैं जिन्हें यदि प्रमाद में गँवा दिये जाएँ, तो अब वह गया समय लौटकर फिर किस प्रकार आ सकेगा ? युग परिवर्तन की वेला ऐतिहासिक, असाधारण अवधि है। इसमें जिनका जितना पुरुषार्थ होगा, वह उतना ही उच्चकोटि का शौर्य पदक पा सकेगा। समय निकल जाने पर, साँप निकल जाने पर लकीर को लाठियों से पीटना भर ही शेष रह जाता है ।

इन दिनों मनुष्य का भाग्य और भविष्य नये सिरे से लिखा और गढ़ा जा रहा है । ऐसा विलक्षण समय कभी हजारों-लाखों वर्षों बाद आता है । इसे चूक जाने वाले सदा पछताते ही रहते हैं और जो उसका सदुपयोग कर लेते हैं, वे अपने आपको सदा सर्वदा के लिए अजर-अमर बना लेते हैं । गोवर्धन एक बार ही उठाया गया था । समुद्र पर सेतु भी एक ही बार बना था । कोई यह सोचता रहे कि ऐसे समय तो बार-बार आते ही रहेंगे और हमारा जब भी मन करेगा, तभी उसका लाभ उठा लेंगे, तो ऐसा

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

समझने वाले भूल ही कर रहे होंगे । इस भूल का परिमार्जन फिर कभी कदाचित ही हो सके ।

लोग अपने पुरुषार्थ से तो अपने अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न करते ही रहते हैं, पर भगवान् के उपायों का श्रेय मनुष्य को अनायास ही मिल जाय, ऐसा कदाचित ही कभी होता है । अर्जुन का रथ एक बार ही कृष्ण ने चलाया था । वे उसके केवल मात्र सारथी नहीं थे कि जब हुकुम चलाया, तभी उनसे वह काम करा लिया । भगवान् राम और लक्ष्मण को कंधों पर उठाये फिरने का श्रेय हनुमान को एक ही बार मिला था । वे जब चाहते तभी हनुमान हठी बनकर उन्हें कंधों पर बिठाते और सैर कराते, ऐसे अवसर चाहे कभी भी मिल जाते रहेंगे, ऐसी आशा सदा सर्वदा किसी को भी नहीं करनी चाहिए ।

ब्रह्मा ने सृष्टि एक बार ही रची थी । उसके बाद तो वह ढर्रा ज्यों-त्यों करके अपने ढंग से चलता ही आ रहा है । नए युग का सृजन इन्हीं दिनों हो रहा है । समुद्र मंथन एक बार ही हुआ और १४ रत्न एक बार ही निकले थे । वैसी घटनाएँ जब मन आये तभी घटित कर दी जायेंगी यह आशा नहीं ही करनी चाहिए ।

अवांछनीयता के पलायन का, औचित्य की संस्थापना का ब्रह्ममुहूर्त यह एक बार ही आया है । फिर कभी हम लोग इसी मनुष्य जन्म में ऐसा देख सकेंगे, इसकी आशा करना एक प्रकार से अवांछनीय ही होगा । अच्छा यही हो कि ऐसी पुण्य वेला का लाभ उठाने में आज के विचारशील तो चूक करें ही नहीं ।

अवसर को पहचानने की सूझ-बूझ

सच्चे मित्र, सच्चे परिजन एवं हृदय से जुड़े सम्बन्धी कितने हैं ? इसकी एक ही कसौटी है, विपरीत परिस्थिति आने पर कितनों ने साथ दिया, सहायता की, गिरतों को ऊँचा उठाया एवं उठतों को उछालने में किनने अपनी शक्ति का प्रयोग किया । यों स्वार्थी मित्रों, परिजनों एवं तथाकथित अपने कहलाने वालों की कमी नहीं है, जो अपना उल्लू सीधा करने तक लम्बी-चौड़ी डींग हाँकते रहते हैं एवं आड़े समय में दुम दबाकर ऐसे भाग खड़े होते हैं, मानो दूर-दूर तक उनका उनसे कोई सम्बन्ध ही नहीं, सोचते हैं इस झंझट में कौन पड़े । वृथा परेशानी होगी, कष्ट उठाना पड़ेगा । यह तो इसका एक पक्ष है पर एक दूसरा उज्ज्वल एवं महत्त्वपूर्ण भी पक्ष है, जिसमें वैसे ही लोगों की सराहना होती है, प्रामाणिक माने जाते और समाज में आदर व सम्मान पाते हैं जो किसी ऐतिहासिक समय के आड़े अवसर पर भागीदारी निभाते हैं । चिरस्मरणीय, अभिनंदनीय एवं वंदनीय वही बन पाते हैं ।

आज ऐसा ही समय आ उपस्थित हुआ है। महाकाल हमें पुकार-पुकार कर इसमें अपनी भागीदारी निभाने और अपना नाम शुनःशेपों में लिखा लेने का आमंत्रण दे रहा है । इतिहास साक्षी है जिसने भी आड़े समय में साथ दिया, वह घाटे में नहीं रहा है । भगवान् राम के आड़े समय में काम आने वाले रीछ, वानर, भालू, गिलहरी, गीध धन्य हो गये और ऐतिहासिक श्रीराम के सच्चे सम्बन्धी कहलाये । उस काल में बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं का भी अस्तित्व था, किन्तु राम के सुखी समय तक ही अपना उल्लू सीधा करने के लिए वे हाँ में हाँ मिलाते रहे एवं आवश्यकता पड़ने पर उन्होंने मुँह फेर लिये ।

गाँधीजी के स्तवंत्रता आन्दोलन को भी आपत्ति काल के नाम से पुकारा जाता है । इसी गहरायी तमिस्रा में दीपक की तरह जलने वाले एवं अपनी आहुति देने वाले धन्य बन गये । उनके नाम स्वर्णाक्षरों में अब भी अंकित हैं । वास्तव में उन्होंने समय को पहचान कर विपरीत परिस्थितियों में भी सत्य का साथ दिया । बुद्ध के धर्मचक्र प्रवर्तन आन्दोलन के समय भी अनेक धनवान एवं सम्पन्न लोग थे, किन्तु आगे आने वालों में अम्बपाली, अशोक, अंगुलिमाल जैसे गिने-चुने सर्वस्व दान कर परिस्थितियों को बदल देने में समर्थ हुए । प्रताप के प्रतिकूल समय में काम आने वाले भामाशाह की तरह उन्हीं दिनों कितने ही लोग थे, किन्तु भामाशाह के आगे आने पर लोग भामाशाह को आज भी याद करते हैं एवं प्रेरणा ग्रहण करते हैं । इतिहास इन्हें ही महापुरुष, देवमानव, महामानव, शहीद, सूरमा जैसे उपनामों से अलंकृत करता है । इनके व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व सामान्य प्रचलन एवं प्रवाह से हटकर होते हैं । ये प्रवाह में हवा के रुख में नहीं बहते, वरन् एक ऐसा रास्ता तैयार कर देते हैं, जिसे नूतन एवं साहसिक कदम की संज्ञा दी जा सके । फिर उनका अनुगमन करने वाले अनेकों तैयार हो जाते हैं एवं उस पथ पर चलकर श्रेय और सौभाग्य के अधिकारी बनते हैं ।

रात्रि में जीव-जन्तु चर-अचर प्रगाढ़ निद्रा में सोते हैं, उस वक्त समय का प्रवाह ऐसा कुछ होता है, जिसके कारण न चाहते हुए भी व्यक्ति को सोना पड़ता है जबकि इस समय चोर-उचक्कों से सावधान एवं सचेत रहना अत्यन्त अनिवार्य होता है । इन परिस्थितियों में जो चौकीदारी का कार्य करते हैं, उनकी महत्ता सामान्य लोगों से अधिक मानी जाती है, उन्हें अधिक वेतन भी मिलता है एवं उनकी ईमानदारी, जिम्मेदारी और बफादारी को देखते हुए समय-समय पर उपहार-पुरस्कार से सम्मानित किया जाता है ।

सुरक्षा बल में कुछ ऐसे विभाग होते हैं जिन्हें रिजर्व बल की संज्ञा दी जाती है । इन्हें सामान्य सिपाही की अपेक्षा अधिक सुविधा-साधन उपलब्ध रहता है । प्रश्न उठता है आखिर क्यों ? इसका एकमात्र उत्तर है सामान्य प्रचलन से हटकर चलने का पुरस्कार । २४ घण्टे में वे हमेशा तैयार मिलते हैं । इन्हें रात में चैन नहीं मिलता, जब चाहें तब इन्हें कही भी मोर्चे पर भेजा जा सकता है । इनकी प्रतिभा, पराक्रम एवं जीवटता सामान्य सिपाहियों से बढ़-चढ़कर होती है । अवरोधों से लड़ना एवं खतरों से

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

टकराना इनके स्वभाव का एक अनिवार्य अंग होता है। भारतीयों की इसी प्रखरता को देखकर इंग्लैण्ड के प्रधान मंत्री बोल पड़े थे-"यदि भारत के सैनिक हों एवं इंग्लैण्ड की रसद, फिर हमें दुनिया की कोई ताकत हरा नहीं सकती ।" यह है ढर्रे के जीवन से उलटा चलने का इनाम-इकराम ।

यही बात औद्योगिक क्षेत्र में भी लागू होती है । जापान एवं जर्मनी इतने महाविनाश के बाद भी ऊँचाई के सर्वोच्च शिखर पर कैसे पहुँचे ? इसका एक ही उत्तर है-अपनी जीवट का परिचय देकर । औद्योगिक क्षेत्र में सामान्यतया लोग ८ घण्टे श्रम करते हैं । शेष समय यूँ ही बेकार भुगतने में गुजार देते हैं, किन्तु जापान एवं जर्मनीवासियों ने देशभक्ति का परिचय इस रूप में दिया कि देश के लिए अधिक से अधिक उत्पादन करने के लिए जी जान से जुट पड़ा जाय । उन देशों के उस काल में श्रमशीलता को देखने से पता चलता है कि प्रत्येक उद्योग चौबीसों घण्टे चला करते थे । विषम परिस्थिति में सीमित जनशक्ति द्वारा उत्पादन बढ़ाने का यही एकमात्र उपाय था । इसके साथ ही उन्होंने अपनी प्रामाणिकता और राष्ट्र के प्रति निष्ठा बरकरार रखी । फलतः जापान जिसकी द्वितीय विश्वयुद्ध के समय एक प्रकार से कमर टूट चुकी थी पुनः अपने धवल रूप में उभरा और आज स्थिति यह है कि अमेरिकी अर्थव्यवस्था को उसने बुरी तरह चरमरा दिया है । यह आड़े समय की जागरूकता-सक्रियता और सच्ची निष्ठा का प्रतिफल है ।

ब्रह्ममुहूर्त के स्वर्णिम काल में समस्त प्राणियों को मंगल प्रभाती सुनाकर विहान की पूर्व सूचना देने वाले मुर्गे की महत्ता क्या कम उल्लेखनीय है । भले ही इनका यह उपक्रम मोटी दृष्टि से नगण्य-सा लगता हो, पर ग्रामीण जानते हैं कि उनके लिए मुर्गे की बाँग कितनी महत्त्वपूर्ण और उपयोगी है । जिस समय को आम लोग 'सुखद निद्रा' का समय मानते हैं, उस काल में भी सजग रहते हुए अपने त्याग का परिचय देकर जागरण के आह्वान का दायित्व निभाते हैं । क्या कोई अन्य पक्षी यह कष्ट उठाने को तैयार होता है, कदाचित नहीं । इसीलिए मुर्गे की भाँति प्यारा, दुलारा और पालतू शायद अन्य कोई नहीं बन पाता ।

वनस्पतियों पर दृष्टिपात करें, तो वहाँ भी ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं, जो समय की प्रतिकूलता को पहचानते हुए भी अपनी सुरभि लुटाने में कोताही नहीं बरतते और धन्य बन जाते हैं । 'रात की रानी' ऐसा ही फूल है । दिन में तो सभी पुष्प अपनी सुगन्ध चहुँओर बिखेरते हैं किन्तु जब रात्रि में वातावरण को सुरभित करने का प्रश्न आया तो सभी फूल पीछे हट गये, आगे आई 'रातरानी' और उसने संकल्प लिया कि रात में ही वह अपनी सुगन्ध से समूचे वातावरण को सुवासित करेगी । चाहे कितना ही प्रतिकूल समय क्यों न हो, उसने अपने इस शाश्वत् संकल्प को डिगने नहीं दिया, फलतः विशेष सम्मान की अधिकारी बनी । लोग विशेष रूप से इसका रोपण घरों के आसपास करते हैं एवं इसकी सुगन्ध से पुलकित होते रहते हैं ।

मनुष्य जब भी अपनी मनःस्थिति में ऐसा कुछ परिवर्तन लाता है, जिसमें सामान्य प्रवाह से विपरीत असाधारण कार्य सम्पन्न हो तो उसकी सराहना की जाती है । वर्तमान काल को हम आड़े समय की संज्ञा दे सकते हैं, जिसमें मनुष्य को पेट और प्रजनन में निरत रहना शोभा नहीं देता । आने वाली पीढ़ी उन्हें धिक्कारेगी, कोसेगी और लांछित करेगी कि उन्होंने क्षुद्रता को बन्दर के मरे बच्चे की तरह अपनाकर महानता को पहचाना नहीं और संकीर्ण स्वार्थपरता की पूर्ति के जाल-जंजाल में उलझकर वासना, तृष्णा और अहंता की पूर्ति को ही तुष्टि, तृप्ति एवं शान्ति की संज्ञा देते रहे ।

यह संधिकाल भी मनुष्य जाति के लिए सोने का नहीं बल्कि जागरण गीत गाने का है । जब मुर्गे जैसे सामान्य जीव, रातरानी जैसी वनस्पति ऐसे अवसरों को पहचानकर अपने सामान्य क्रिया-कलापों में हेर-फेर कर सकते हैं तो कोई कारण नहीं कि मनुष्य इन परिस्थितियों को समझ न पाये । भले ही वह व्यस्तता की दुहाई देकर दूसरों की आँखों में धूल झोंकने का प्रयत्न करे, किन्तु यह सुविदित तथ्य है कि ऐसे व्यक्ति सदा घाटे में ही रहते हैं और उस श्रेय-सम्मान से वंचित बने रहते हैं जिसे सहजता से उपलब्ध किया जा सकता है । अच्छा हो आड़े समय की महत्ता को समझें और ऐसा कुछ कर दिखायें जिसे अनुपम अलौकिक एवं अविस्मरणीय कहा जा सके ।

युग-परिवर्तन के छोटे किन्तु महान शस्त्रागार

युग-परिवर्तन का अर्थ है-वर्तमान मानवीय दृष्टिकोण का परिष्कार । नवनिर्माण का तात्पर्य है-मानव जीवन का उद्देश्य, आदर्श एवं स्तर में उत्कृष्टता का समावेश । परिस्थितियाँ और घटनाएँ दीखती भर महत्त्वपूर्ण हैं, पर वस्तुतः उनका मूल कारण मनुष्य की विचारणा भर होती है । जैसा हम सोचते हैं, वैसा करते हैं । आज की असंख्य विकृतियाँ, समस्यायें, विपन्नतायें, उलझनें हमारी दुर्बुद्धि और दुर्भावनाओं की देन हैं । उन्हें बाहर से नहीं सुधारा जा सकता । सुधारना हो तो मूल कारण का समाधान करना होगा ।

अस्पताल रोगों का निवारण नहीं कर सकते, बीमारियों से छुटकारा पाना हो तो आहार-विहार का क्रम बदलना पड़ेगा । पुलिस, जेल-कानून और कचहरी अपराधों को घटा नहीं सकतीं । मनुष्य, मनुष्य की धूर्तता पर प्रतिबन्ध से बच निकलने की राह ढूँढ़ सकता है, पर अपराधों का निवारण ईश्वर, परलोक, कर्मफल और पुण्य-पाप के दैवी दण्ड विधान पर आस्था उत्पन्न करने से ही होगा । पैसे की तंगी, आमदनी बढ़ाने से दूर नहीं हो

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

सकती, इसके लिये विलासिता, व्यसन और फिजूलखर्ची की प्रवृत्ति रोकना जरूरी है । संघर्ष और द्वेष जब तक नहीं मिटेंगे, जब तक सब में अपनी ही आत्मा देखने और विश्व प्रेम का दर्शन हृदयंगम न किया जा सके । गृह-कलह की समस्याएँ उदारता के अभिवर्धन से दूर होंगी । बच्चों के कुसंस्कार तब तक घर वालों को त्रास ही देते रहेंगे जब तक वह अपने आज उच्च आदर्शों के अनुरूप जीवन जीकर उनके अनुकरण का पथ प्रशस्त न करे । नेतृत्व बदलने या संस्थाएँ बदलने से राजनैतिक समस्याएँ न सुलझेंगी, उज्ज्वल चरित्र एवं लोभ, मोह की तृष्णा से बचे हुए व्यक्तियों के हाथ में नेतृत्व पहुँचने से ही राष्ट्रीय उलझनों का समाधान होगा । विश्व संकट का निवारण भी ऐसी ही मूर्धन्य हस्तियाँ कर सकती हैं, जिनमें कूटनीतिक चातुर्य बल ही न हो, अपने महान् व्यक्तित्व से दूसरों को प्रभावित करने की उत्कृष्टता परिपूर्ण हो । धर्म और अध्यात्म की, कला और साहित्य की दुर्गति केवल इसलिये हो रही है कि उन क्षेत्रों में निकृष्ट स्तर की भीड़ घुस पड़ी । उच्चस्तरीय चरित्र की आत्माएँ यदि इन क्षेत्रों को हाथ में लिये हुए होतीं तो आज इसी धरती पर स्वर्ग लौटता दिखाई पड़ता ।

बात घूमकर वहीं आ गई कि समस्त समस्याओं का हल एक ही होगा कि मानवीय दृष्टिकोण में भरी स्वार्थपरता, संकीर्णता, अविवेक एवं मूढ़ता के तत्त्वों को हटाया जाय और उनके स्थान पर आदर्शवादिता एवं उत्कृष्टता की स्थापना की जाय । इसके लिये करना तो बहुत कुछ और बहुत तरह होगा, पर एक प्राथमिक कार्य है कि सर्वसाधारण को अविवेकजन्य हानियों और विवेक की महान् सम्भावनाओं से परिचित कराया जाय । असल में हुआ यह है कि मुद्दतों से हम यह भी भूल गये हैं कि विचार भी कोई तत्त्व है और उसका मानव जीवन पर कोई प्रभाव पड़ता है । इस विस्मृति का ही कारण है कि हम जीवन-निर्माण और मनुष्य के सामने उपस्थित ज्वलन्त समस्याओं के बारे में न कभी कुछ सोचते हैं, न कहते हैं और न पढ़ते-सुनते हैं । ऐसी चर्चा हमें वैसी ही निरर्थक लगती है जैसे भील बाला (भीलनी) को रत्न राशि की कीमत एवं उपलब्धि की चर्चा । जो जिस विषय में अपरिचित है वह भला उसमें रस ले भी कैसे सकता है ? मानव जीवन की सर्वोपरि शक्ति और सम्पत्ति-उत्कृष्ट विचारणा के सम्बन्ध में जब हमें किसी ने कुछ कहा, बताया ही नहीं तो आखिर उसकी जानकारी होती भी कैसे ? अस्तु, हम विचार निर्माण के क्षेत्र से एक प्रकार से सूने अछूते ही हैं । ऐसा साहित्य भी यदा-कदा ही दीख पड़ता है । इन विषयों पर चर्चा प्रवचन करने वाले ढूँढ़े नहीं मिलते ।

धर्म चर्चा के नाम पर कथा-कहानियों के घटाटोप सजे दीखते हैं । अध्यात्म के नाम पर सातवें आसमान पर उड़ने, नीचे जमीन पर चलने लायक कुछ दिखाई नहीं देता । राजनीति में एक दूसरे पर कीचड़ उछालने भर का गर्जन-तर्जन देखा जा सकता है-नेतागीरी उठाईगीरों की तरह एक जादू भरी कला बन गई है । साहित्य के नाम पर वासनायें भड़काने वाला और अपराधी प्रवृत्ति उत्पन्न करने वाला अश्लील एवं जासूसी कूड़ा-कबाड़ा लाखों टन कागज रोज नष्ट करता हुआ लालची जेबकटों के कोठे सोने-चाँदी से भर रहा है । स्वस्थ मनोरंजनों की छाती रौंदता हुआ सिनेमा सबके मत्थे सवार हो गया है और उसके सृजनकर्त्ता मनुष्य की पशु-प्रवृत्तियों को भड़काकर अपनी पाँचों ऊँगली घी में डुबोये हुए हैं ।

जनमानस को प्रभावित करने वाले यह सभी तन्त्र जब गलित कुष्ठ से विषाक्त होंगे, तब सर्वनाश की इन घड़ियों में केवल एक ईश्वर ही रक्षक है । इस भयानक तमसाच्छन्न अमावस्या की गहन निशा में हमें अपनी स्वल्प शक्ति को देखते हुए छोटा-सा दीपक जलाकर छोटे-छोटे क्षेत्रों में थोड़ा-थोड़ा उजाला करना होगा । बात तो अकिंचन एवं उपहार जैसी है, पर जब स्मरण आता है कि कार्तिकी अमावस्या की रात्रि को छोटे-छोटे मृत्तिका-पात्र नगण्य से दीपक प्रकाशवान एवं शोभायमान बना देते हैं, तब अपनी हिम्मत बँध जाती है और सोचते हैं हम थोड़े से लोग अखण्ड-ज्योति परिवार के सदस्य अपने-अपने क्षेत्रों में थोड़ा-थोड़ा प्रकाश फैलाने लगें तो आखिर कुछ तो हो ही सकता है।

इसी साहस ने युग-निर्माण साहित्य में बहुत छोटे-छोटे ट्रैक्ट छापने की व्यवस्था बनाई। स्वल्प साधनों से ऐसा ही हो सकता था । दुनिया में पैसा बहुत है और साधन भी बहुत हैं, पर वे तथाकथित बड़े लोगों की बड़ी विडम्बनाओं के लिए हैं । हम छोटे लोग तो उपहास, आशंका और तिरस्कार के पात्र हैं । बिना बड़ा आवरण बनाये सहयोग पाना इस युग में असम्भव है । इस कला में अपनी प्रवीणता नहीं तो अपने साधनों और तुच्छ व्यक्तियों को इकट्ठा करके ही कदम बढ़ाने पड़ें । दो वर्ष में लगभग ३०० छोटी ट्रैक्ट पुस्तिकायें लिखीं और प्रकाशित की गईं । उनमें कितनी आभा है, कितनी रोशनी है, कितनी मौलिकता है और कितनी शक्ति है, यह कहने की नहीं, अनुभव करने की बात है । जिन्होंने इन्हें पढ़ा तड़पकर रह गये । रोते हुए आँसुओं की स्याही से जलते हृदय ने इन्हें लिखा है, सो इनका प्रभाव होना ही चाहिये, हो रहा है और होकर रहेगा । यह सस्ता और नगण्य-सा साहित्य पुस्तक विक्रेताओं द्वारा सर्वथा उपेक्षित है, क्योंकि इसमें उन्हें लम्बा-चौड़ा कमीशन नहीं मिलने वाला है। यह साहित्य सरकारी बड़े अफसरों की दृष्टि में अपने छोटे कलेवर के कारण उपेक्षणीय है । रेलवे बुक-स्टालों ने इन्हें छूने से इन्कार कर दिया । बाजारू माल न हो तो आखिर कोई छुये भी क्यों ? सरकारी मदद प्राप्त लाइब्रेरियों में ऐसी किताबें, किसकी मारफत किन शर्तों पर खरीदी जाती हैं, उसकी चर्चा करके कीचड़ कुरेदना अनुचित है। हमें इतना ही समझ लेना चाहिए कि नव-निर्माण की प्रचार-प्रणाली के हमारे इन प्रयासों का निर्माण ही नहीं

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

विचार भी अपने ही हाथ में है । दूसरों से आशा की थी सो निष्फल हो गई समझिये ।

विचार-क्रान्ति के अस्त्र-शस्त्र अब हम अपने ही हाथों बनाने से लेकर बेचने तक और चलाने से लेकर बढ़ाने तक सारी प्रक्रियायें स्वयं ही कर रहे हैं । रात में लिखते हैं और दिन में फैलाते हैं । स्वल्प साधन पग-पग पर अड़चनें उत्पन्न करते हैं, पर हैं आखिर हम भी स्वाभिमानी । झोली ले दौड़ते तो दूसरों की तरह भीख भी बहुत माँग लेते, पर अड़े इसी शान पर हैं कि हमारे व्यक्तित्व, वर्चस्व और कर्तृत्व में यदि अपने छोटे परिवार के लोगों तक में चेतना भरने की क्षमता नहीं तो बाहर के लोगों से किस मुख से कुछ त्याग करने, सहायता देने की बात कहें। अपने परिवार में सब भूखे-नंगे ही हों सो बात नहीं। खाते-पीते होते हुए भी अपने लोग जब चतुरतापूर्ण कंजूसी बरतते रहते हैं तो मन यही कहता है कि, किससे सहायता माँगनी-अपनी स्वल्प साधनों से ही जितना जैसा बन पड़े करते रहना ठीक है । सो ही कर रहे हैं ।

विचार-क्रान्ति के सृजन का कार्य अपने हाथ का है, सो रात-रात भर जगकर उसे करते रहते हैं । इसे व्यापक बनाने का एक ही प्रयोग है-झोला पुस्तकालय । सो परिजनों के कन्धों पर सौंपा गया और आशा की गई कि वे दस पैसा रोज खर्च करके-एक घण्टा रोज समय देकर इस छोटी, किन्तु सर्वोपरि पुण्य-परमार्थ से भरी हुई लोकसेवा को बड़ी आसानी के साथ अपने दैनिक काम-काज करते हुए सम्पन्न करते रहेंगे । लोगों ने उसे किया भी है । यदि न करते तो युग-निर्माण का इतना क्षेत्र बढ़ कैसे जाता, पर हुआ ढिलमिल ही है । जोश तो बहुतों को आया पर वह ऐसे ही कुछ दिन गरम रहकर ठण्डा पड़ गया ।

इन दिनों हमारी उत्कट अभिलाषा यह है कि 'झोला पुस्तकालय' आन्दोलन एक बार पूरी तीव्रता से, पूरी गति से, पूरी भावना से और पूरी सक्रियता से अपनी प्रौढ़ता प्रदर्शित करे । जिन्होंने थोड़े बहुत ट्रैक्ट मँगाये थे वे अब तक की प्रकाशित सारी पुस्तिकायें मँगा लें और उन्हें सबसे पहले अपने घर-परिवार के लोगों को, इसके साथ ही बाहर के स्वजन-सम्बन्धी, मित्र और परिचित-अपरिचितों को पढ़ाना आरम्भ कर दें । हमारा पक्का विश्वास है कि जो एक बार इन्हें पढ़ लेगा अपने भीतर एक अभिनव हलचल और प्रेरणा अनुभव करेगा । इन पुस्तिकाओं को लिखा ऐसे ही मूड में गया है कि वे प्रभाव उत्पन्न किये बिना रह ही नहीं सकतीं । नव-निर्माण के लिए जिस प्रकार के तरंगित हृदयों की आवश्यकता पड़ेगी उनका सृजन यह सस्ता साहित्य बहुत हद तक कर सकता है ।

एक स्थान पर पुस्तकालय खोल देने और पुस्तकें मँगा कर रख देने से काम न चलेगा । आज की स्थिति में यह आशा करना व्यर्थ है कि ऐसा साहित्य पढ़ने के लिए लोग माँगने आयेंगे । आज सिनेमा के नट-नटिनी लोगों के सिरों में घुसे बैठे हैं, आज तो गन्दे, अश्लील, अपराधी प्रवृत्ति भड़काने वाले सस्ते उपन्यासों का युग है । आज तो इस तरह की चीजें पाकिट बुकों के रूप में एक-एक लाख छपती हैं और देखते-देखते प्रकाशकों और लेखकों की जेबें भरती हुई समाप्त हो जाती हैं । लोक-रुचि का स्तर यह है । ऐसा पुस्तकालय खूब चलेगा जिसमें ऐसे उपन्यास तथा मैगजीन मँगाये जाते हों । जीवन दर्शन और लोक निर्माण का रूखा विषय पढ़ने कोई आने वाला नहीं है । ऐसा पुस्तकालय चूहे और दीमकों का भोजन मात्र बन जायगा । ऐसा साहित्य यदि लोगों को पढ़ाना ही हो तो बीमार बैल के पैर बाँध कर गिराने और उसका जबड़ा खोलकर बाँस की नली से दवा उड़ेल देने की तरह की कुछ व्यवस्था बनानी पड़ेगी । बड़ी खुशामद, चापलूसी और इधर-उधर की बातें बनाकर जैसे बीमार बालक को कुनैन की गोली खाने को रजामन्द करते हैं, ऐसा ही रास्ता अपने को भी अपनाना पड़ेगा, तब कहीं यह आशा की जा सकती है कि कोई इस साहित्य को पढ़ने के लिए रजामन्द होगा । खरीदने की बात दूर, जो पढ़ने को भी तैयार हो जाय, लेकर वापस लौटा देने की भलमनसाहत बरते तो समझना चाहिए कि आज की दृष्टि से किन्हीं बहुत सज्जन से ही अपना सम्पर्क बन पाया ।

लोगों से सम्पर्क बनाना उन्हें युग-निर्माण साहित्य का महत्त्व बढ़ा-चढ़ाकर बताना, उत्सुकता पैदा करना, उनकी प्रवृत्ति के अनुरूप पुस्तिका पढ़ने देना, पढ़ने के लाभ बताते हुए अनुरोध करना, न पढ़ा हो तो टोकते रहना, पढ़ लेने पर वापस लेने जाना, उसकी सुरुचि के लिए उनकी प्रशंसा करना, इसी प्रकार दूसरी पुस्तक फिर चपेकना और फिर वापस लाना यह एक पूरी बाजीगरी है । जो इतनी चतुरता प्रदर्शित कर सकता हो, वह झोला पुस्तकालय चला सकता है । आवश्यकता इस बात की है कि परिजन ऐसी कुशलता का अभ्यास करें । प्रयत्न से लोग बड़े-बड़े कठिन काम सीख जाते हैं, यह तो उतना मुश्किल भी नहीं है । मुश्किल हो या सरल, विचार-क्रान्ति का यही मार्ग है। हमें द्वार-द्वार जन-जन के पास इस विचारणा का प्रकाश पहुँचाने के लिए जाना होगा ।

धर्ममंच और शिक्षण का समन्वय

प्रेस इस युग का एक प्रभावशाली माध्यम है । उसके द्वारा थोड़े समय में अधिक लोगों तक अधिक विचार पहुँचाने की सुविधायें होती हैं और वे विचार पीछे भी आवश्यकतानुसार स्मृति के लिए सुरक्षित रखे जा सकते हैं एवं सुविधानुसार दूसरों को भी दिये जा सकते हैं । लेखनी का महत्त्व सदा ही माना जाता है । अब प्रेस ने लेखनी की शक्ति को और भी अधिक बढ़ा दिया है, इसलिए प्रचार साधनों में उसकी समर्थता एवं क्षमता का हम समुचित उपयोग भी कर रहे हैं । ट्रैक्ट प्रकाशन एवं विज्ञप्ति वितरण की योजना इसी स्तर की है । पत्रिकायें यही काम तो कर रही हैं । अब अन्य भाषाओं में इस नव-निर्माण की विचारधारा को व्यापक बना कर हमारे प्रयास और भी

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

तीव्रता से गतिशील हो रहे हैं । विश्वभर के लोक-मानस तक अपनी विचारणा पहुँचा देने की बात प्रेस और लेखनी की शक्ति का सहारा लेकर ही कर रहे हैं ।

इसी तुलना की दूसरी शक्ति है वाणी । जनमान्यताओं के निर्माण, संशोधन एवं परिवर्तन में इसका भी कम महत्त्व नहीं है । धार्मिक क्षेत्र में इस प्रक्रिया को बहुत मान और महत्त्व दिया जाता रहा है । कथा, सत्संग, प्रवचनों को सुनना एवं उनका आयोजन करना अपने यहाँ पुण्य कार्य माना जाता है । ब्राह्मण और साधुओं का एक बड़ा वर्ग तो अपना धर्म-कर्त्तव्य एवं आजीविका का माध्यम ही उसे मानता था । ब्राह्मण भोजन, ब्राह्मण पूजन, ब्रह्म तुष्टि, ब्राह्मण दक्षिणा, साधु पूजा का महत्त्व केवल इसीलिये था कि वे चरित्रवान् व्यक्ति सद्विचार, सादगी को जन-मानस तक पहुँचाने में निरंतर संलग्न रहते थे । अध्यापन का दो तिहाई आधार मौखिक एवं एक-तिहाई पुस्तकों द्वारा सम्पन्न होता है । गोष्ठियों, सम्मेलनों, व्याख्यानों, प्रदर्शनों, अभिनयों द्वारा अगणित आन्दोलनों का सृजन और अभिवर्धन होता है । इसलिये इस शक्ति का भी विचार क्रान्ति के लिए हम यथासम्भव प्रयोग करते रहे हैं । आगे और अधिक तत्परता एवं क्रमबद्धता इस दिशा में बरतने जा रहे हैं ।

यों वाणी का यंत्रीकरण भी बहुत हद तक हो चला है । रेडियो, फिल्म और रिकार्ड यह तीनों ही माध्यम आज करोड़ों लोगों को प्रभावित करते हैं पर इनका नियंत्रण आदि सरकारी और सम्पन्न व्यक्तियों के हाथ में है । प्रेस की तरह यह तीनों ही सुलभ नहीं हैं । रेडियो पूर्णतया सरकारी व्यवसाय है, उससे क्या प्रचारित होता है यह हम रोज ही सुनते हैं, जैसी सरकार है वैसा ही उसका प्रसारण हो सकता है । भावनात्मक नव-निर्माण एवं विचार क्रान्ति की दिशा में भारत के वर्तमान रेडियो का कुछ उपयोग हो सकता है यह सोचना बेकार है । जिन लोगों के हाथ में शासन तंत्र है वे जब इस प्रकार सोचते ही नहीं तो अपने यंत्रों का उपयोग इसके लिए करेंगे ही क्यों ?

फिल्म उद्योग एवं रिकार्ड निर्माण गैर-सरकारी हाथों में ही है पर दुर्भाग्य से वह भी ऐसे लोगों के हाथ में है जो जनता की पशु प्रवृत्तियों को भड़काते, ओछे मनोरंजन की लोकरुचि का लाभ उठा कर अपनी जेबें भरने की बात सोचते हैं । अन्य देशों में जहाँ देश-भक्ति एवं लोक-मंगल की भावनायें जीवित हैं वहाँ के लोगों ने फिल्म एवं रिकार्ड द्वारा भावनाओं से अपने देश की मनोभूमि में क्रान्तिकारी सुधार उत्पन्न कर दिये । अपने देश का भगवान् ही मालिक है । यहाँ की आजादी हर क्षेत्र में दुष्टता की अभिवृद्धि की आजादी सिद्ध हो रही है । यहाँ अच्छे फिल्मों के व्यापक उत्पादन की आशा करने के दिन अभी बहुत दूर हैं । सिनेमा व्यवसाय की वर्तमान परिस्थितियों से क्षुब्ध भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने दिल्ली की 'सोशल एण्ड मोरल हाइजिन कान्फरेंस' का उद्घाटन करते हुए कहा था-"सिनेमा ने वासना को उत्तेजित करने वाली फिल्मों से नवयुवकों की नैतिकता को बड़ा धक्का पहुँचाया है । यदि मेरा बस चला तो मैं इन सब को नष्ट कर दूँ ।"

ग्रामोफोन पर बजने वाले रिकार्ड कुछ समय पहले तक तो कई प्रकार के बिकते थे पर अब तो बाजार में ९९ प्रतिशत फिल्मों के ही रिकार्ड दिखाई-सुनाई पड़ते हैं ।

वाणी का यंत्रीकरण साधन तो प्रेस से भी अधिक प्रभावशाली है, पर हम साधनहीनों के लिए तो वह लोमड़ी के खट्टे अंगूर ही हैं । योजना तो अपने दिमाग में अभी भी एक है कि दो डेढ़ घंटे में पूरी हो जाने वाली मूवी अथवा टाकी चित्र जानकार कलाकारों से सस्ते साधनों से बनवाये जाएँ बड़े शहरों में न सही देहातों, कस्बों में हजारों कैम्प सिनेमा खोले और चलाये जा सकते हैं । इससे प्रति-दिन करोड़ों लोगों का नियमित शिक्षण होता रह सकता है । जो क्षेत्र बड़ी फिल्म कम्पनियों और सिनेमाघरों के क्षेत्र से बाहर का है वह अभी इतना बड़ा है कि सस्ते साधनों से उस पर कब्जा किया जा सकता है, पर वह योजना भी लगभग एक करोड़ की है । छोटी वह भी नहीं । कोई व्यवसायी दिमाग इस दिशा में सोच भी सकता है। फिल्मों और रिकार्डों से वह देश के एक बड़े भाग को प्रभावित कर सकता है, पर न जाने कब कोई धनी और दूरदर्शी माई का लाल इस उनींदे भारत में ऐसा पैदा होगा जो हमारी ही तरह से सोचे और कुछ व्यवस्था बनावे । बात बड़ी है, अति महत्त्वपूर्ण भी है, पर अपने काबू से बाहर की है । कम से कम आज की स्थिति में तो कठिन ही दीखती है ।

आज तो हमें अपने स्वल्प साधनों पर ही अवलम्बित होना होगा और रेडियो, फिल्म, रिकार्ड आदि की बात किसी दूसरे व्यक्ति के लिए, किसी दूसरे समय के लिए छोड़ आज की अपनी परिस्थिति के अनुरूप कदम बढ़ाने होंगे । हमारे लिए यह शक्य और सम्भव है कि रामायण एवं गीता के माध्यम से भारतवर्ष की धर्म-प्रेमी जनता के सामने प्रगतिशील एवं नव-निर्माण की प्रेरणाओं से परिपूर्ण विचारों को अग्रगामी बनाने की तैयारी करें । छोटे बड़े रामायण सम्मेलन, गीता सम्मेलन हर जगह आसानी से हो सकते हैं । गायत्री यज्ञों का कार्यक्रम भी उन्हीं के साथ जुड़ा रह सकता है । ऐसे धर्ममंच धर्मप्रेमी भारतीय जनता को धर्म एवं अध्यात्म का सही स्वरूप समझा सकने और इस क्षेत्र में भरी पड़ी सडाँध को साफ करने में आशाजनक सफलता प्राप्त कर सकते हैं ।

पिछले दिनों प्रयत्नपूर्वक 'गीता कथा' तथा 'रामायण कथा' पुस्तकें इसी प्रयोजन के लिए छापी गई हैं जिनके माध्यम से ऐसे प्रवचनकर्त्ता, धर्म नेता सहज ही तैयार हो सकें जो लोकमानस में चिर प्राचीनता को आधुनिकता के रूप में परिवर्तित करने का चमत्कार दिखा सकें । ऐसे वक्ताओं का प्रशिक्षण युग-निर्माण योजना के अन्तर्गत अगले दिनों होने वाला है और ऐसे प्रचारक तैयार किये ही जाने वाले हैं जो देश के कोने-कोने से संसार भर में जन-जाग्रति की मशाल के जलाने और नव-निर्माण की प्रबल प्रेरणा भरने में समर्थ हो सकें ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

वाणी के प्रवचनात्मक स्थानीय कार्यक्रमों में कुछ ऐसे हैं जो बार-बार जल्दी-जल्दी अनायास ही होते रह सकते हैं। पर्व और संस्कारों की परम्परा भारतीय समाज में अति प्राचीन है । यह प्रथायें हर जगह प्रचलित हैं । यों तो छोटे-बड़े त्योहार सैकड़ों हैं पर १० ऐसे हैं जिन्हें राष्ट्रीय पर्वों की तरह सुव्यवस्थापूर्वक मनाया जा सकता है । इसी प्रकार संस्कार यों तो १६ हैं, पर उनमें से १० ऐसे हैं जिन्हें अनिवार्य पारिवारिक पर्वों की तरह पुनर्जीवित किया जा सकता है । पर्वों के सामूहिक आयोजन यदि ठीक तरह मनाये जाने लगें तो उनसे समाज की प्रत्येक समस्या का महत्त्वपूर्ण विश्लेषण और समाधान प्रस्तुत किया जा सकता है और उसके द्वारा भारतीय समाज को आदर्शपूर्ण आधार पर सुसंगठित एवं परिष्कृत बनाया जा सकता है ।

इस प्रकार के परिवार पर्वों में हर व्यक्ति के दस संस्कारों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। घर कुटुम्ब में कई व्यक्ति होते हैं । बच्चों से लेकर बूढ़ों तक के समय-समय पर कोई न कोई संस्कार करने का अवसर आता रहता है। उन अवसरों पर घर-पड़ोस के लोगों को इकट्ठा करके हर्षोल्लास एवं हवन आदि धार्मिक क्रिया कर्म करते हुए परिवार शिक्षण के महत्त्वपूर्ण प्रवचन हो सकते हैं और उसके आधार पर परिवार निर्माण की योजनाबद्ध ऐसी प्रक्रिया घर में प्रचलित की जा सकती है जो व्यक्तियों के चरित्र की महती आवश्यकता पूरी कर सके ।

पर्वों में दस प्रमुख हैं जिनका विवरण तथा उद्देश्य इस प्रकार है–

(१) **गुरु–पूर्णिमा,** उद्देश्य–अनुशासन, मर्यादाओं का पालन ।

(२) **श्रावणी,** उद्देश्य–आत्म निरीक्षण–भूलों का प्रायश्चित और सुधार । नैतिकता व्रत धारण ।

(३) **पितृअमावस्या,** उद्देश्य–बड़ों के प्रति श्रद्धा, सद्व्यवहार । कृतज्ञता । सत्पुरुषों और सत्परम्पराओं का अनुकरण।

(४) **विजयदशमी,** उद्देश्य–स्वास्थ्य रक्षा । संगठन, मनोबल, शक्ति संचय, अनीति के विरुद्ध संघर्ष ।

(५) **दीपावली,** उद्देश्य- ईमानदारी और परिश्रमपूर्वक उपार्जन, मितव्ययितापूर्वक सदुपयोग ।

(६) **गीता जयन्ती,** उद्देश्य–कर्मनिष्ठा, कर्त्तव्यपरायणता । मानसिक संतुलन, दूरदर्शिता ।

(७) **बसंत पंचमी,** उद्देश्य - शिक्षा, ज्ञान, संगीत, स्वच्छता, कला सुसज्जा ।

(८) **शिवरात्रि,** उद्देश्य–व्यापक सहयोग, समन्वय, शान्त मस्तिष्क, नशाबन्दी ।

(९) **होली,** उद्देश्य–देशभक्ति, यज्ञीय जीवन, स्वच्छता, समता, विस्तार।

(१०) **गायत्री जयन्ती** अथवा **गंगा दशहरा,** उद्देश्य–विवेकशीलता, सद्भावना, आस्तिकता एवं सत्प्रवृत्तियों का अभिवर्द्धन ।

संस्कारों में दस प्रमुख हैं –

(१) **पुंसवन**–गर्भवती स्त्री को उन दिनों की शारीरिक, मानसिक स्थिति ठीक रखने सम्बधी शिक्षा तथा घर वालों को तत्सम्बन्धी वातावरण उत्पन्न करने की प्रेरणा ।

(२) **नामकरण**–परिवार को बालक के सुसंस्कृत बनाने की विधि-व्यवस्था का शिक्षण ।

(३) **अन्नप्राशन**–बालक की आहार सम्बन्धी सतर्कताओं की जानकारी ।

(४) **मुण्डन**–बालक के बौद्धिक एवं भावनात्मक विकास की शिक्षा ।

(५) **विद्यारम्भ**–शिक्षा की उपयोगिता, दिशा प्रयोजन एवं उपलब्धि के आधार एवं सिद्धान्तों की विवेचना और बालक के लिए शिक्षा योजना बनाकर देना ।

(६) **यज्ञोपवीत**–मानवता के मूलभूत आदर्शों, कर्त्तव्यों एवं आधारों को समझना और पशुता की दुष्प्रवृत्तियों से बचने की शिक्षा ।

(७) **विवाह**–विवाह के उद्देश्य, कर्त्तव्य एवं सफलता के सिद्धान्तों से पति-पत्नी को परिचित कराना । गृहस्थ के दायित्वों को निबाहने की परिस्थितियाँ उत्पन्न करने की दोनों परिवारों को शिक्षा देना ।

(८) **वानप्रस्थ**–बच्चों के समर्थ होने पर ढलती आयु में लोकसेवा के लिए समर्पित करने की प्रतिज्ञा । उपार्जन का दायित्व घर के समर्थ नये सदस्यों पर छोड़कर स्वयं परमार्थ कार्यों में लगना ।

(९) **अन्त्येष्टि**–मृतक शरीर का यज्ञ संस्कार । मानव जीवन के महत्त्वपूर्ण अवसर के सदुपयोग की उपस्थित लोगों की शिक्षा ।

(१०) **मरणोत्तर संस्कार**– मृत्यु के तेरहवें दिन घर परिवार की यज्ञ आदि से शुद्धि, दिवंगत आत्मा के सद्गुणों की चर्चा । उसके छोड़े हुए उत्तरदायित्वों को पूरा करने की योजना तथा व्यवस्था ।

इन संस्कारों और पर्वों का यों विस्तृत कर्मकाण्ड और विधान हैं। पर यदि वे न बन पड़ें तो जन्मदिन मनाने की तरह इसका भी संक्षिप्त विधान बना लिया जा सकता है । मुख्य प्रयोजन कर्मकाण्ड नहीं लोकशिक्षण है । यह उद्देश्य ध्यान में रखा जाय तो परिस्थिति के अनुरूप विधि-व्यवस्था निर्धारित पद्धतियों से मिलती-जुलती बनाई जा सकती है और उपस्थित लोगों को उस उत्सव में सम्बन्धित समस्याओं के सम्बन्ध में प्रशिक्षित किया जा सकता है। धूप बत्तियाँ जलती रहें, घृत दीप प्रज्वलित रहें और मंत्रोच्चारण कर दिया जाय तो एक प्रकार से यह भी यज्ञ हवन की प्रतीक-पूजा ही है । काम इतने से भी चल सकता है ।

सारे मुहल्ले गाँव को इकट्ठा करके सामूहिक रूप से यदि पर्व मनाये जाने लगें और उसमें धर्म श्रद्धा के आधार पर लोग इकट्ठे होने लगें तो उस एकत्रीकरण में त्योहार के छिपे दिये हुए समाज निर्माण के रहस्यों को चतुर-वक्ता भली प्रकार समझा सकता है और सामाजिक

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

कुरीतियों एवं विकृतियों के उन्मूलन तथा स्वस्थ परम्पराओं की स्थापना के लिए महत्त्वपूर्ण पृष्ठभूमि बना सकता है ।

इसी प्रकार पारिवारिक धर्म गोष्ठियों का सिलसिला संस्कार मनाने की परम्परा पुनर्जीवित करके बड़ी आसानी से प्रचलित किया जा सकता है। घर-परिवार एवं पड़ोस के थोड़े लोग इकट्ठे हों तो भी उन्हें व्यक्ति निर्माण एवं परिवार निर्माण की रीति-नीति में परिणत किया जा सकता है, ऐसे अवसरों पर चतुर-वक्ता थोड़ा सा सहारा पाकर नवनिर्माण के तत्त्व उन परिवार गोष्ठियों में सहज ही भर सकते हैं । संस्कारों का आधार चाहे छोटे बालक अथवा मृतक ही क्यों न हों, पर उन्हें देखने-सुनने तो सभी आते हैं और सुनने वालों को निश्चित रूप से ऐसा प्रकाश संस्कारों के अवसर पर दिया जा सकता है जिसके आधार पर वे बहुत कुछ नये सिरे से सोचें और वह करने को तत्पर हों जो अब तक नहीं करते रहे हैं । नवनिर्माण की आधारशिला यही तो है कि अज्ञान की मूर्छना छोड़कर लोग स्वतंत्र चिन्तन, तर्क विवेक, तथ्य, आवश्यकता एवं उपयोगिता पर ध्यान केन्द्रित करने लगें । अनुचित को त्यागने और उचित को अपनाने का साहस यदि जगाया जा सके तो समझना चाहिए कि प्रगति का पथ खुल गया । ऐसा लोकशिक्षण पर्व और त्योहारों की प्रक्रिया अपनाकर हम जनसम्पर्क की-उन्हें स्वेच्छापूर्वक उत्साह और श्रद्धा के साथ बार-बार इकट्ठे होने की प्रक्रिया आरम्भ कर सकते हैं और उसका उपयोग जन जाग्रति के लिए कर सकते हैं । भारत जैसे अशिक्षित, गाँवों में बसे हुए और धर्म प्रकृति के लोगों के लिए यह प्रणाली कितनी अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकती है उसकी परीक्षा कोई भी प्रयत्नशील व्यक्ति कभी भी कर सकता है । सचमुच इस योजना में बहुत दम है और उसे सुव्यवस्थित एवं संगठित रीति से आरम्भ किया जाय और उसका उपयोग उपयुक्त रीति से प्रशिक्षित कर्मकाण्ड ज्ञाता एवं कुशल वक्ता पुरोहितों द्वारा किया जाय तो इसका आश्चर्यजनक परिणाम देखा जा सकता है ।

जन्म-दिवसोत्सव और विवाह-दिवसोत्सव दो प्रचलन ऐसे हैं जो अन्य कोई संस्कार न भी हो सकें तो भी हर घर में दो बार उत्सव मनाने का अवसर दे सकते हैं, जिससे अपना व्यक्तित्व जुड़ा हुआ हो, उस उत्सव में बड़ा उत्साह और उल्लास रहता है। इसलिए यह उत्सव किसी पर भार रूप न होकर संयोजक के लिए उल्टे अधिक उत्साहवर्द्धक होते हैं। जन्म दिवस के माध्यम से जीवन का स्वस्थ लक्ष्य, प्रयोजन एवं कर्त्तव्य को समझाने में बड़ी सहायता मिलती है और जिस तिथि को विवाह हुआ था, उस तिथि को मनाया गया उत्सव विवाह के आदर्शों उद्देश्यों एवं कर्त्तव्यों का स्मरण दिलाता है । इसी पर परिवार की सारी आधारशिला रखी हुई है। जन्म-दिवसोत्सव आत्मनिर्माण की, विवाह-दिवसोत्सव परिवार निर्माण की तथा अन्य संस्कार समाज-निर्माण की पृष्ठभूमि तैयार कर सकते हैं ।

इस संदर्भ में मार्ग-दर्शन, नेतृत्व, व्यवस्था, संगठन एवं प्रवचन कर सकने वाले कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता है, सो वे तैयार किये जा सकते हैं । विचार यह किया जा रहा है कि संस्कार, पर्व, संगठन, प्रवचन, कथा एवं सम्मेलनों के द्वारा देश को पुनः जाग्रत किया जाय और उस आन्दोलन के लिए चीन के ढंग की तरह नहीं, भारतीय ढंग की सांस्कृतिक क्रांति का सही ढंग से नेतृत्व कर सकने वाले कार्यकर्त्ता प्रशिक्षित किये जाएँ।

अगले दिनों इस संदर्भ में शिक्षण शिविरों का आयोजन बड़े पैमाने पर करने जा रहे हैं । कुछ केन्द्रीय शिविर आयोजित करेंगे और कुछ स्थान-स्थान पर समीपवर्ती शाखाओं को जोड़कर स्थानीय शिविर किया करेंगे जिनकी व्यवस्था करने और शिक्षा देने के लिए केन्द्र के प्रतिनिधि पहुँचा करेंगे ।

हमें विश्वास है यह प्रचलन नैतिक एवं सांस्कृतिक पुनरुत्थान एवं नव-निर्माण के उपयुक्त लोक-मानस तैयार करने में भारी सहायक सिद्ध होगा ।

चूँकि युग-निर्माण आन्दोलन सभी देश और धर्म को प्रभावित करने चला है, इसलिए भारतीय परम्पराओं के अनुरूप उपरोक्त पर्व, संस्कारों की प्रक्रिया हिन्दू समाज में प्रचलित कर रहे हैं । अन्य देशों में वहाँ की भाषा, संस्कृति एवं परम्परा को ध्यान में रखते हुए इसी स्तर के ऐसे कार्यक्रम बना रहे हैं, जो उद्देश्य तो नव-निर्माण का ही पूरा करें पर उन लोगों की प्रथा-प्रचलन के अनुरूप कर्मकाण्ड और उनकी व्याख्या के स्तर तदनुकूल गढ़ लिये जाएँ। इस प्रकार धर्म-मंच से जन-जाग्रति का यह आन्दोलन न केवल हिन्दू समाज को वरन् विश्व के सभी धर्म, सम्प्रदायों के अनुयायियों को अपनी लपेट में ले लेगा। लक्ष्य और दिशा एक रहने से भिन्नतायें मिटती और खाइयाँ पटती चली जावेंगी और लोग सच्चे अर्थों में धार्मिक बनते हुए अनेकता में एकता का आनन्द लेंगे और सुख-शांतिपूर्वक जीने तथा जीने देने का पथ-प्रशस्त करेंगे ।

युगसंधि के ऊषाकाल में शान्तिकुंज के चार संकल्प

इक्कीसवीं सदी के गंगावतरण की पूर्व तैयारी महाकाल ने समय रहते आरम्भ कर दी है । अरुणोदय से पूर्व उषाकाल अपनी अरुणिमा दिग्-दिगन्त में बिखेरने लगता है । युगसंधि के इन कुछ वर्षों में भी पूर्व सूचना देने वाले मुर्गे जोरों से बाँग लगाने लगे हैं । सोतों को करवट बदलते और करवट बदलने वालों को जम्हाई लेते हुए उठ खड़े होने का दृश्य सब ओर अनायास ही दीखने लगे हैं ।

मनुष्य की शक्ति असाधारण है। देवताओं की क्षमता पर संदेह व्यक्त किया जा सकता है, पर मनुष्य तो स्रष्टा की कलाकारिता का सर्वोत्तम प्रतीक जो ठहरा । वह बिगाड़

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

करने में भी पीछे नहीं रहा, पर अब जल्दी उसने प्रवाह बदला है तो सृजन की सम्भावनाएँ भी दीख पड़ने लगी हैं । जब भी मनुष्य अपनी कर्मठता को उजागर करने पर उतारू हुआ तभी उसने कमाल करके दिखा दिया है ।

मिस्र के पिरामिड साक्षी हैं कि सूडान में पत्थर का नामोनिशान न होने पर भी उसने सुदूर क्षेत्रों में बिखरे पत्थर, चूने, बजरी को समेट कर भव्य चट्टानें बना लीं और इस रेगिस्तानी इलाके में ऐसी अद्‌भुत पिरामिड शृंखला खड़ी कर दी कि अब तक के वैज्ञानिक इस रहस्य का पूरी तरह पता नहीं लगा सके हैं कि ऐसी विकट परिस्थितियों में यह सब किन लोगों द्वारा किन साधनों द्वारा सृजा गया होगा ।

चीन की योजनों लम्बी दीवार बना लेने की मनुष्य ने जब ठानी तो उस अजूबे को बनाकर खड़ा कर दिया । इतना ही नहीं, उत्तर से साइबेरिया की हवाएँ जब उस क्षेत्र को बुरी तरह गड़बड़ाये दे रही थीं तो वहाँ के निवासियों ने ऊँचे वृक्षों की हजारों मील लम्बी, ५ मील चौड़ी एक हरित दीवार और खड़ी करके प्रकृति की चुनौती का मुँह मोड़ दिया । हालैण्ड की घटना का जिन्हें स्मरण है, वे जानते हैं कि उफनते समुद्र को पीछे धकेल कर उसने सैकड़ों मील लम्बा तथा चौड़ा इलाका कैसे छीन लिया और उस भूमि पर कितने सुन्दर नगर और कारखाने सिर उठाये खड़े हैं ।

मध्यपूर्व की कम्बोडिया की सीमा से लगी हुई अंगकोरवाट शृंखला विश्वविख्यात है । इक्कीस-इक्कीस मंजिल ऊँचे ये देवालय आज भग्नावशेष स्थिति में हैं, पर मनुष्य की श्रमशीलता, बुद्धिमत्ता और संकल्प-शक्ति की साक्षी अभी भी दे रहे हैं और चिरकाल तक देते रहेंगे । स्वेज और पनामा की नहरें यही बताती हैं कि प्रकृति के अवरोध कितने ही बड़े क्यों न हों मनुष्य की प्रचण्ड संकल्प शक्ति उनका मुँह मोड़कर रख देने में समर्थ है ।

पिछली शताब्दियों से आरम्भ हुई और अब तक चली आ रही एक से एक बढ़कर अवांछनीयताओं की विजय दुंदुभी बजती रही है, पर जब सृजन के देवता ने उन खण्डहरों के स्थान पर नवसृजन के भव्य भवन खड़े करने का निश्चय कर लिया है तो उनकी पूर्ति के मार्ग में अड़ने वाली वे बाधाएँ भी हटकर रहेंगी, जो सुखद सम्भावनाओं को चरितार्थ करने में व्यवधान बनतीं ।

उदाहरणार्थ, इक्कीसवीं सदी के नारी शक्ति प्रधान होने की सम्भावना का शुभारम्भ देखने ही योग्य है। शासनतंत्र से कोसों दूर रखी गयी पिछड़ी समझी जाने वाली नारी अब तीस प्रतिशत जनता का कानूनी प्रतिनिधित्व प्राप्त करने जा रही है। यही बात यु- निर्माण योजना ने आज से पचास वर्ष पूर्व 'नर और नारी एक समान' तथा 'जाति वंश सब एक समान' नारे के रूप में कही थी । इसका संकेत था कि नारी हर क्षेत्र में अपने अधिकार और दायित्व नर के कंधे से कंधा मिलाकर काम करती हुई दिखाई देगी । इसी उदाहरण को जापान की राजनीति में नारी प्रगति तथा बर्मा में तानाशाही शासन के खिलाफ उभरने वाले नारी नेतृत्व ने प्रस्तुत करके दिखा दिया है ।

युग-परिवर्तन की महाक्रान्ति के असंख्यों विभाग-उपभाग हैं । उन सभी में नवजीवन का संचार होता हुआ देखा जा सकता है लगता है कोई महान जादूगर अपने चमत्कारों की पिटारी खोलकर सर्व-साधारण को यह अवगत कराने जा रहा है कि दैत्य की दानवीय दमनकारी शक्ति क्यों न हो विश्वकर्मा की सृजन सामर्थ्य उससे कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी है। परिस्थिति का कायाकल्प करने के लिए सामर्थ्य पुंजों, महामनीषियों और सृजन के कलाकारों ने अपने-अपने पुरुषार्थ तेज कर दिये हैं । लगता है कि समाज के कायाकल्प को कोई भी भवितव्यता टाल नहीं सकेगी ।

तथ्य की सम्भावना को साकार करने में लगे अनेक प्रयोगों में से एक छोटा उदाहरण अपने प्रयासों का भी है । उसे देखकर यह जाना जा सकता है कि हवा का रुख किधर है । पूर्व दिशा से उठने वाली एक छोटी बदली भी हर किसी को यह आश्वासन देती है कि घनघोर वर्षा होने की अब और प्रतीक्षा न करनी पड़ेगी ।

शांतिकुंज ने इन्हीं दिनों अपने चार कार्यक्रम विचार क्रान्ति के संदर्भ में घोषित किये हैं । एक यह कि अपने परिकर के प्राय: चौथाई करोड़ लोगों को व सृजन के लिए प्रशिक्षण प्राप्त करने का, बैटरी चार्ज करने स्तर का कार्यक्रम आरम्भ किया गया है। नौ दिन और एक माह के निरन्तर चलने वाले सत्रों में भावनाशील परिजनों को आमंत्रित किया गया है । इनकी ठहरने, भोजन, शिक्षण आदि की व्यवस्था में किसी को असमंजस हो तो सबको यह समझ लेना चाहिए कि जब जनमानस का परिष्कार सत्प्रवृत्ति-सम्वर्धन किसी को आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी प्रतीत होता है तो महाकाल इसे भी कहीं न कहीं से पूरी करता चलेगा । वह अपनी महान् परम्परा से मुँह मोड़ने वाला नहीं है ।

युगसंधि के दिनों में ही शांतिकुंज का दूसरा संकल्प है, एक लाख सृजन शिल्पी कार्य क्षेत्र में उतारना । इसे साधु-ब्राह्मण परम्परा का समय के अनुरूप पुनर्जीवन कह सकते हैं । सिखों, राजपूतों, ब्राह्मणों में यह परम्परा रही है कि वे परिवार का एक सदस्य उच्च उद्देश्यों की पूर्ति के लिए समर्पित किया करते थे । आज वह पुनर्जीवन कठिन इसलिए प्रतीत होता है कि हर व्यक्ति के पास पैसा और प्रजनन के अतिरिक्त और कोई उद्देश्य है ही नहीं । इस ऊसर भूमि जैसे बियावान में नन्दनवन जैसे उद्यानों को उगाना और परिपुष्ट कर सकना किस प्रकार सम्भव हो सकेगा? फिर जो युगप्रहरी निकल कर आगे आयेंगे उनके भोजन व्यय की व्यवस्था कैसे जुटेगी ? प्रश्न टेढ़ा है । इस समस्या का प्रत्यक्ष समाधान देने वाला अन्तराल के विश्वास कक्ष में बैठा हुआ कोई कहता है कि बलिदानियों को युद्ध क्षेत्र में तो मरना पड़ा है, पर भूखे रहने के कारण कभी भी प्राण त्याग नहीं करना पड़ा। यदि एक लाख युग-शिल्पी कार्य क्षेत्र में उतरने ही हैं तो फिर उनके साथ ही उनके निर्वाह की व्यवस्था भी जुड़ी होगी ।

तीसरा संकल्प युगसंधि की इस छोटी अवधि में नालन्दा, तक्षशिला, श्रावस्ती आदि के अनुकरण का है, जिसके अनुसार घर-घर अलाव जलाने वाले युगशिल्पी अभिनव प्रदर्शन का संदेश लेकर पहुँचाने के लिए जाने वाले हैं । नालन्दा विश्वविद्यालय से प्रशिक्षित श्रावक-

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

परिव्राजक मध्यपूर्व, इंडोचीन, श्रीलंका, चीन, कोरिया, कम्बोडिया आदि क्षेत्रों में बुद्ध के प्रवर्तन का आलोक वितरण करने के लिए गये थे और वे हजारों वर्ष तक जमे । तक्षशिला, विश्वविद्यालय ने भी यही कमाल कर दिखाया था । वे सभी यात्राएँ दलदलों, पर्वतों, हिम प्रदेशों, रेगिस्तानों में हुई थीं । फिर भी विश्व परिक्रमा रुकी नहीं । उसी हाथी का अनुकरण करने की मेढक ने ठानी है । एक लाख साइकिल सवारों की पद यात्राएँ निकालने की बात विनोबा की पदयात्रा की तरह सोची गयी है, यह अवश्य पूरी होगी ।

चौथा संकल्प नारी जागरण का है । घूँघट, पर्दे में कैद, अशिक्षित, रूढ़िग्रस्त नारी में उस चेतना का संचार कैसे किया जाय? यह कार्य कोई कम जोखिम भरा नहीं है, पर गुत्थियाँ अनसुलझी तो भी नहीं रहने दी जा सकतीं । आधी जनशक्ति अपंग तो नहीं छोड़ी जा सकती ।

क्या ये चार संकल्प पूरा होने से युग-परिवर्तन जैसा महान प्रयोजन पूरा हो जायगा । समझा जाना चाहिए कि संसार में प्रतिभाएँ एक से एक बढ़कर भरी पड़ी हैं । वे समय की पुकार सुने बिना रहेंगी नहीं । मंदिरों में बजने वाले घड़ियाल, मस्जिदों में गूँजने वाली नमाज जो न सुन सकें, उन्हें मुर्गे के झुण्ड भी कुहराम मचाकर नींद हराम करने से चूकने वाले नहीं हैं । मनस्वी, तेजस्वी, वर्चस्वी वर्ग भी अगले दिनों आगे आएगा और स्रष्टा द्वारा निर्धारित सम्भावना को पूरा करने में एक से एक बढ़कर कीर्तिमान स्थापित करेगा ।

जब स्वल्प साधनों वाले शांतिकुंज ने यह कमाल कर दिखाने का निश्चय किया है तो अगले दिनों अखाड़े में उतरने वाले महामल्लों का तो कहना ही क्या, जो अपनी उठा-पटक से दर्शकों तक को चकित करके रहेंगे ।

विश्व-निर्माण में भारतवर्ष की भूमिका

आज बुद्धिवाद का ही चारों ओर आधिपत्य नजर आता है । निरंकुश भौतिकवाद की बाढ़ अपनी चरम सीमा पर है । मनुष्य छोटा, बौना होता और सिकुड़ता चला जा रहा है । विलासिता के अतिरिक्त उसे कुछ सूझ ही नहीं पड़ता । दुष्प्रयोजनों से विरत हमारी बुद्धि, चेष्टा और सम्पदा संसार में नाटकीय वातावरण उत्पन्न करती चली जा रही है । इसका परिणाम किस दुखद दुर्भाग्य में होगा उसकी कल्पना मात्र से सिहरन उठती, रोमांच हो उठता है ।

जीवन और मृत्यु के निर्णायक चौराहे पर खड़ी मनुष्य जाति अपनी मनमर्जी करती रहे और हम मूक दर्शक बने देखते रहें, यह उचित नहीं लगता । इतिहास साक्षी है कि विश्व की सर्वांगीण प्रगति में भारत ने अपने विकास के आरम्भ से ही असाधारण योगदान दिया है । इस देश के देव-मानव सदा से स्वयं को विश्व नागरिक मानते रहे हैं और क्षेत्र विशेष की परिधि में अपने को सीमित न रखकर समस्त संसार की अवगति को प्रगति में बदलने के लिये भागीरथ प्रयत्न करते रहे हैं । इस देश में निर्वाह की समुचित सुविधायें रही हैं । रत्नगर्भा शस्य श्यामला भारत भूमि के वरद पुत्रों को कभी किसी प्रकार का अभाव दारिद्रय नहीं रहा । वे समस्त विश्व को अपना सेवा-क्षेत्र मानकर सुदूर भूखण्डों की अत्यन्त कठिन यात्राएँ करते रहे हैं । इसे उन्होंने सदैव साधना माना तथा अविकसित पड़े भूखण्डों के पिछड़ेपन को दूर करने के लिये अपने ज्ञान-विज्ञान का पूरा अनुदान प्रदान किया । वन्य जीवों जैसे जीवनयापन करने वाले मनुष्यों को उन्होंने कृषि, पशुपालन, शिल्प-व्यवसाय, परिवहन, शिक्षा, चिकित्सा, समाज संगठन, धर्म-संस्कृति आदि से परिचित कराया और उन प्रगति प्रयासों से उन्हें अभ्यस्त बनाकर सुविकसित स्तर तक पहुँचाया । ऐसे अनुदानों ने ही उसे संसार के कोने-कोने से जगद्गुरु का भाव भरा सम्मान दिलाया । भारतवर्ष का चक्रवर्ती सांस्कृतिक साम्राज्य विश्व वसुधा के कोने-कोने तक छाया था । यह सब इसलिए सम्भव हो सका कि यहाँ के निवासी सीमित क्षेत्र में अपने स्वार्थों को सीमित नहीं रखे रहे वरन् उन्होंने समस्त विश्व को अपना घर-परिवार और सार्वभौम सुख-शान्ति को अपनी निजी प्रगति माना ।

आज की स्थिति भूतकाल की अपेक्षा कहीं अधिक दुर्गतिग्रस्त है । संसार में कहीं चैन नहीं, शान्ति नहीं, सन्तोष नहीं । उद्वेग और संक्षोभ से आज मनुष्य जाति का प्रत्येक सदस्य बेतरह जल रहा है । यदि आज हमारा चिन्तन पूर्व की तरह परिष्कृत रहा होता तो निस्सन्देह इस धरती पर तथाकथित स्वर्ग से कहीं अधिक सम्पन्नता और प्रसन्नता बिखरी पड़ी होती । हुआ उलटा ही । समृद्धि बढ़ी ? पर सद्बुद्धि का लोप हो गया । विकास के स्थान पर विनाश का ही पथ-प्रशस्त हुआ ।

हमारी स्वयं की परिस्थिति विपन्न होते हुए भी अपनी सांस्कृतिक धरोहर इतनी सम्पन्न है कि आज की स्थिति में भी विश्व का दार्शनिक क्षेत्र में नेतृत्व करने में सक्षम है । भारत का अध्यात्म इतना उत्कृष्ट है कि उसे किसी देश, जाति और काल की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता, वरन् सार्वभौम, सर्वकालीन और सर्वजनीन ही कहा जा सकता है। भटकाव को सही राह पर लाने की उसमें पूरी क्षमता है। संसार के अन्य देशों ने पिछले दिनों हमें बहुत कुछ दिया है । हम और कुछ तो नहीं पर उत्कृष्ट स्तर का तत्त्व दर्शन दे सकते हैं, जिससे भटकी हुई मानव जाति अपनी स्थिति एवं दिशाधारा पर पुनर्विचार करने और दिशा प्रवाह बदलने हेतु तत्पर हो सके । दर्शन मनुष्य जाति का प्राण है, जीवन है, प्रकाश है, बल है । नास्तिकवादी भोग-परक दर्शन को उलट दिया जाय और जनमानस में आदर्शवादी उत्कृष्टता को प्रतिष्ठापित कर दिया जाय तो स्थिति का कायाकल्प हो सकता है । दुर्बुद्धि की आग में भुन रहे संसार को आज भी भारतीय तत्त्वदर्शन इतना कुछ दे सकने में सक्षम है कि मरण को जीवन में बदला जा सके । यह विश्वव्यापी नवनिर्माण की प्रक्रिया धर्मतन्त्र के माध्यम से ही सम्भव है ।

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

परमपूज्य गुरुदेव की अभिनव पाँच स्थापनाएँ

युगदृष्टा के स्तर की अवतारी सत्ता के रूप में परमपूज्य गुरुदेव ने अपने अस्सी वर्ष के जीवनकाल में जितना भी कुछ किया, उसकी मिसाल कहीं देखने को नहीं मिलती। करोड़ों व्यक्तियों के मनों का निर्माण, उनके सोचने के तरीके में बदलाव एवं युग निर्माण की पृष्ठभूमि बनाकर रख देने का कार्य इन्हीं के स्तर की सत्ता कर सकती थी, जो लाखों वर्षों में कभी-कभी धरती पर आती है। उनके द्वारा की गयी स्थापनाओं का जब प्रसंग आता है तब ईंट-गारे-चूने-सीमेंट से बने भवनों से पहले उनकी स्नेह-संवेदना से सिक्त हुए, ममत्व में स्नानकर उनके अपने हो गये लाखों व्यक्ति दिखाई पड़ते हैं, जिनने उनके एक इशारे पर अपना सब कुछ उनको अर्पित कर दिया। स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में कभी ऐसा ही वातावरण भारत के कोने-कोने में दिखाई देता था, जब हर घर से सत्याग्रही निकलकर आ रहे थे। भावनाओं का आवेग चिरस्थायी नहीं रहता। वे ही लोग जो कभी राष्ट्र निर्माण के लिए अपना सब कुछ छोड़, पढ़ना-लिखना छोड़ देश को आजाद बनाने के लिए कूद पड़े थे, कभी गड़बड़ाने न पाएँ, उसी के लिए बापू ने आजादी के बाद काँग्रेस भंग कर देने व सभी को एक आदर्श स्वयं-सेवक की तरह दरिद्र नारायण का उत्थान कर राष्ट्र निर्माण में लग जाने की सलाह दी थी।

सभी इस तथ्य को जानते हैं कि ऐसा नहीं हुआ, राष्ट्र का कीर्ति-स्तम्भ रूपी वह महापुरुष भी एक वर्ष के अंदर ही शहादत को प्राप्त हो चला गया। गिने-चुने उनके आदर्शों पर चलने वाले रह गये, अवसरवादियों को राजनेतृत्व भाने लगा एवं राष्ट्र आजाद होकर भी उनके हाथ में आ गया जो ब्रिटिश तो नहीं थे किन्तु, उसी रंग में रँगे सत्ता के उन्माद में काम करने वाले शासक थे- सृजेता नहीं। जिंदा रहा तो मात्र बापू का दर्शन बुनियादी आधार पर टिका- मानव को बनाने का तंत्र-आश्रम तंत्र जो सेवाग्राम-साबरमती आश्रम के रूप में कार्य करता रहा और वह भी शीर्ष-पुरुष के न रहने, बिनोवाजी के चले जाने के बाद अस्तित्व व महत्व की दृष्टि से गौण हो गया। परमपूज्य गुरुदेव ने अपनी दिव्य-दृष्टि से यह सब पूर्व में ही देख लिया था कि कोई भी भव्य निर्माण, आश्रम या तंत्र बनाने से पूर्व राष्ट्र को सांस्कृतिक, भौतिक, आध्यात्मिक आजादी दिलाने वाले अगणित व्यक्ति तैयार करने पड़ेंगे। १९११ में आज से ८४ वर्ष पूर्व वि.संवत् २०८६ में जन्मे, राष्ट्र की आजादी में उन्मत्त बने श्रीराममत्त कहलाने वाले, आचार्यश्री ने पहले स्वयं को तपाया, वैचारिक क्रान्ति के निर्माण का आधारभूत तंत्र स्वयं व परमवंदनीया माताजी के रूप में खड़ा किया, 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका अपनी लेखनी से लिखी, ममत्व भरी चिट्ठियों व छोटी-छोटी एक आने की किताबों से जन-जन के मन को छुआ, तब जाकर अपने एक लक्ष के २४ गायत्री महापुरश्चरणों की पूर्णाहुति पर उन्होंने गायत्री तपोभूमि, मथुरा की स्थापना की बात १९५२-५३ में सोची। सबसे पहली मंत्र दीक्षा वहीं पर १९५३ में दी व यह मानते हुए कि बिना आध्यात्मिक आधार बनाये, मनोभूमि में, भावनाओं के स्तर पर बदलाव लाये कोई क्रान्ति सफल नहीं हो सकती, धीमी खुराक देते हुए हर व्यक्ति को गायत्री व यज्ञ के तत्त्वदर्शन से जोड़ते हुए चले गये। गायत्री परिवार रूपी विराट वृक्ष का मूल आधार वह स्थापना है जो जन-जन के मनों में पहले हुई- उनकी भाव संवेदनाओं के उदात्तीकरण के रूप में सम्पन्न हुई व उनके अंदर अपनी गुरुसत्ता को त्याग करने की, यज्ञीय जीवन अपनाने की प्रेरणा बलवती होने लगी। उन्होंने सर्वमेध के रूप में अपना सर्वस्व बलिदान एवं नरमेध के रूप में अपने आप को समाज के हित न्यौछावर करने की भावना से दो यज्ञ किये। अपनी जमींदारी के बाण्ड बेचकर एवं परमवंदनीया माताजी के कीमती सोने के जेवर (ढाई सौ तोले) बेचकर जो स्वेच्छा से सम्पन्न हुआ, एक स्थापना भवन के रूप में जो हुई- वह थी **गायत्री तपोभूमि, मथुरा** जो वृन्दावन रोड पर ऋषि दुर्वासा की जन्मस्थली पर बनी आज से ४२ वर्ष पूर्व १९५३ में। प्रारंभिक स्थापना यों अखण्ड ज्योति संस्थान को माना जा सकता है जहाँ अखण्ड दीपक अपनी जन्मभूमि आँवलखेड़ा से जो वहाँ से मात्र ४० मील दूर थी, स्थापित किया गया था एवं प्रारंभिक तप-तितिक्षा वहीं पर १९४१ से, तपोभूमि की स्थापना से भी १२ वर्ष पूर्व आरम्भ हो गयी थी। इस प्रकार जन-जन के मनों का निर्माण उनके अंत:स्थल में प्रवेश कर उनके अंदर देवत्व के जागरण की ललक पैदा करने वाली पृष्ठभूमि पर स्थापनाओं का क्रम बना। किराये की ऐसी हवेली जिसे भुतहा हवेली कहा

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

जाता था, में अखण्ड दीपक की स्थापना, उसके समक्ष तप, **अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामण्डी, मथुरा** के रूप में विकसित हुआ एवं एक और दूसरा निर्माण मथुरा में ही गायत्री तपोभूमि के रूप में हुआ जो कि ३ मील दूर वृन्दावन रोड पर १९५३ में बनाई गई। १९५३ में क्रमशः सुसंगठित गायत्री परिवार के बनने की प्रक्रिया चल पड़ी।

इस प्रारंभिक भूमिका को समझने के बाद ही परमपूज्य गुरुदेव की पाँच मूल स्थापनाओं एवं बाद में देश के कोने-कोने में बनी भव्य इमारतों के रूप में शक्तिपीठों, प्रज्ञा संस्थानों, भारत व विश्वभर में घर-घर में स्थापित स्वाध्याय मण्डलों व गायत्री परिवार की शाखाओं, प्रज्ञापीठों, चरणपीठों का महत्त्व समझा जा सकता है। नहीं तो जैसे अन्यान्य आश्रम-संस्थान बनते हैं, ऐसे इनका भी वर्णन किया जा सकता था व यह कहा जा सकता था कि यह वैभवपूर्ण स्थापनाएँ पूज्यवर ने कीं। उनमें यदि प्राण फूँके गये हों, प्राणवान व्यक्ति वहाँ रहते हों व उस शक्ति के महा-अवसान के बाद भी वे सतत् उसी दिशा में चल रहे हों तो माना जाना चाहिए कि प्रारंभिक पुरुषार्थ जो किया गया, वह औचित्यपूर्ण था।

परमपूज्य गुरुदेव की महत्त्वपूर्ण पाँच स्थापनाएँ इस प्रकार हैं–

(१) युगतीर्थ आँवलखेड़ा (२) अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामण्डी, मथुरा (३) गायत्री तपोभूमि, मथुरा (४) शान्तिकुंज, गायत्री तीर्थ, सप्तसरोवर, हरिद्वार तथा (५) ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान, सप्तसरोवर, हरिद्वार ।

युगतीर्थ आँवलखेड़ा का नाम सबसे पहले इसलिए लिखा कि यहीं पर वह युगपुरुष संवत् १९६८ की आश्विन कृष्ण त्रयोदशी तिथि के दिन, ब्राह्ममुहूर्त में, जो अँग्रेजी तारीख से २० सितम्बर, १९११ के दिन आती थी, में जन्मा। एक श्रीमंत ब्राह्मण परिवार में, जहाँ धन की कोई कमी नहीं थी, पूरा परिवार संस्कारों से अनुप्राणित, पिता भागवत के प्रकाण्ड पंडित, बहुत बड़ी जागीर के मालिक। आज जहाँ पूज्यवर की स्मृति में एक विराट स्तंभ की, एक चबूतरे की तथा उनके कर्तृत्व रूपी शिलालेखों की स्थापना हुई है- वहीं पूज्यवर ने शरीर से जन्म लिया था। समीप बनी दो कोठरियाँ जो काल प्रवाह के क्रम में गिर सी गयी थीं, जीर्णोद्धार कर वैसी ही निर्मित कर दी गयी हैं- जैसी उनके समय में थीं। जन्मभूमि का कण-कण उस दैवीसत्ता की चेतना से अनुप्राणित है। उनके हाथ से खोदा कुँआ जिसे पूरे गाँव का एकमात्र मीठे जल वाला कुँआ माना गया- वह अभी भी है, उनके हाथ से रोपा नीम का पेड़ एवं वह बैठक जहाँ स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में सब बैठकर चर्चा करते थे, आज भी उन दिनों की याद दिलाते हैं। पास में ही दो कोठरियाँ हैं जिनमें से एक कक्ष में वह स्थान है जहाँ दीपक के प्रकाश में से सूक्ष्म शरीरधारी गुरुसत्ता प्रकट हुई थी तथा जिसने उनके जीवन की दिशाधारा का १९२६ के बाद के क्रम का निर्धारण कर दिया था। यह सब देखकर मस्तिष्क-पटल पर वह दृश्य उभर आता था, जिसे गुरुसत्ता ने कभी देखा था व जो गायत्री परिवार की स्थापना का मूल आधार बना। आँवलखेड़ा में ही उनकी माताजी की स्मृति में स्थापित माता दानकुँवरि इण्टर कालेज है जो उनके द्वारा दान दी गयी जमीन में प्रदत्त धनराशि द्वारा विनिर्मित है। १९६३ से चल रहे इस इंटर कालेज से कई मेधावी छात्र निकल कर आत्म-निर्भर बने हैं व उच्च पदों पर पहुँचे हैं।

१९७९-८० में गायत्री शक्तिपीठ एवं कन्या इंटर कॉलेज की स्थापना का ताना-बाना बुना जाने लगा जो एक विशाल शक्तिपीठ तथा आसपास के दो सौ ग्रामों की बालिकाओं के पठन-पाठन की व्यवस्था करने वाले, उन्हें सुशिक्षित, संस्कारवान, आत्मावलम्बी बनाने वाले कन्या महाविद्यालय का अब रूप ले चुका है। प्रथम पूर्णाहुति हेतु इसी भूमि को जो शक्तिपीठ-जन्मभूमि-ग्रामीण क्षेत्र के चारों ओर है, इसीलिए चुना गया कि यहाँ से उद्भूत प्राण ऊर्जा से यहाँ आने वाला हर संकल्पित साधक अनुप्राणित होकर जाए व राष्ट्र के नव-निर्माण की सांस्कृतिक व भावनात्मक क्रान्ति की पृष्ठभूमि रख सके। यहाँ पूज्यवर १९३६-३७ तक ही रहे, कुछ दिन आगरा रहकर १९४०-४१ में मथुरा चले गये, जहाँ दो-तीन मकान बदलने के बाद वर्तमान मकान किराये पर लिया जिसे आज अखण्ड-ज्योति संस्थान कहते हैं।

अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामण्डी, मथुरा में स्थित है। परमपूज्य गुरुदेव सीमित साधनों में अपने अखण्ड दीपक के साथ यहीं रहने लगे एवं यहीं से क्रमशः आत्मीयता विस्तार की जन-जन तक अपने क्रान्तिकारी चिंतन के विस्तार की प्रक्रिया 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका, जो आगरा से ही आरम्भ कर दी गयी थी, की 'गायत्री चर्चा' स्तम्भ व अन्यान्य लेखों की पंक्तियों के माध्यम से सम्पन्न होने लगी। व्यक्तिगत पत्रों द्वारा उनके अंतःस्थल को स्पर्श कर एक महान स्थापना का बीजारोपण होने लगा। यहीं पर अगणित दुःखी, तनावग्रसित

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org

व्यक्तियों ने आकर उनके स्पर्श से नये प्राण पाये तथा उनके व परमवंदनीया माताजी के हाथों से भोजन-प्रसाद पाकर उनके अपने होते चले गये। हाथ से बने कागज पर छोटी ट्रेडिल मशीनों द्वारा यहीं पर अखण्ड ज्योति पत्रिका छापी जाती थी व छोटी-छोटी किताबों द्वारा लागत मूल्य पर उसे निकालने योग्य खर्च निकलता था। बगल की एक छोटी-सी कोठरी में जहाँ अखण्ड दीपक जलता था, आज पूजाघर विनिर्मित है। पूरी बिल्डिंग को खरीद कर उनके सुपुत्र ने एक नया आकार व मजबूत आधार दे दिया है किन्तु यह कोठरी अंदर से वैसी ही रखी गयी है जैसी पूज्यवर के समय में १९४२-४३ में रही होगी। तब से लेकर आगामी ३० वर्ष का साधनाकाल-लेखनकाल पूज्यवर का इसी घीयामण्डी के भवन में छोटी-छोटी दो कोठरियों में गहन तपश्चर्या के साथ बीता। तपोभूमि निर्माण की पृष्ठभूमि यहीं बनी, १९५८ में सहस्र कुण्डी यज्ञ की आधारशिला यहीं रखी गयी, यहीं सारी योजना बनी एवं विधिवत-गायत्री परिवार बनता चला गया। रोज आने वाले पत्रों को स्वयं परमवंदनीया माताजी पढ़ती जातीं एवं पूज्यवर इतनी ही देर में जवाब लिखते जाते, यही सूत्र संबंधों के सुदृढ़ बनने का आधार बना। हर परिजन को तीन दिन में जवाब मिल जाता, शंका-समाधान होता चला जाता एवं देखते-देखते एक विराट गायत्री परिवार बनता चला गया। गायत्री महाविज्ञान के तीनों खण्ड, युग निर्माण परक साहित्य, आर्ष-ग्रन्थों के भाष्य को अंतिम आकार देने का कार्य यहीं सम्पन्न हुआ। जनसम्मेलनों, छोटे-बड़े यज्ञों एवं १००८ कुण्डी पाँच विराट् यज्ञों में पूज्यवर यहीं से गये एवं विदाई सम्मेलन की रूपरेखा बनाकर स्थायी रूप से इस घर से १९७१ की २० जून को विदा लेकर चले गये। इस संस्थान के कण-कण में जहाँ आज १० लाख से अधिक संख्या में हिन्दी सहित सभी भाषाओं में अखण्ड ज्योति पत्रिका के प्रकाशन, विस्तार, डिस्पैच आदि का एक विराट तंत्र स्थापित है, परमपूज्य गुरुदेव की चेतना संव्याप्त अनुभव की जा सकती है। भले ही बहिरंग का कलेवर बदल गया हो, अंदर प्रवेश करते ही परमपूज्य गुरुदेव व परमवंदनीया माताजी की सतत विद्यमान प्राणचेतना के स्पन्दन वहाँ विद्यमान हैं, यह प्रत्यक्षतः देखा जा सकता है।

गायत्री तपोभूमि, मथुरा को परमपूज्य गुरुदेव की चौबीस महापुरश्चरणों की पूर्णाहुति पर की गयी स्थापना माना जा सकता है, जिसे विनिर्मित ही गायत्री परिवार रूपी संगठन के विस्तार के लिए किया गया था। इसकी स्थापना से पूर्व चौबीस सौ तीर्थों के जल व रज को संग्रहीत करके यहाँ उनका पूजन किया गया, एक छोटी किन्तु भव्य यज्ञशाला में अखण्ड अग्नि स्थापित की गयी तथा एक गायत्री महाशक्ति का मन्दिर विनिर्मित किया गया। चौबीस सौ करोड़ गायत्री मंत्रों का लेखन जो श्रद्धापूर्वक नैष्ठिक साधकों द्वारा किया गया था, यहाँ पर संरक्षित कर रखा गया है। पू. गुरुदेव की साधनास्थली व प्रातःकाल की लेखनी की साधना की कोठरी यदि अखण्ड ज्योति संस्थान में थी तो उनकी जन-जन से मिलने, साधनाओं द्वारा मार्गदर्शन देने की कर्म-भूमि गायत्री तपोभूमि थी। यहीं पर १०८ कुण्डी गायत्री महायज्ञ में १९५३ में पहली बार पूज्यवर ने साधकों को मंत्र दीक्षा दी। यहीं पर १९५६ में नरमेध यज्ञ तथा १९५८ में विराट सहस्रकुण्डी यज्ञायोजन सम्पन्न हुए। श्रेष्ठ नररत्नों का चयन कर गायत्री परिवार को विनिर्मित करने का कार्य यहीं व्यक्तिगत मार्गदर्शन द्वारा सम्पन्न हुआ। हिमालय प्रवास से लौटकर पूज्य आचार्यश्री ने युग निर्माण योजना के शत-सूत्री कार्यक्रम एवं सत्संकल्प की तथा युग निर्माण विद्यालय के एक स्वावलम्बन प्रधान शिक्षा देने वाले तंत्र के आरम्भ होने की घोषणा की। यह विधिवत् १९६४ से आरम्भ किया गया एवं अभी भी सफलतापूर्वक चल रहा है। जिस कक्ष में परमपूज्य गुरुदेव सभी से मिला करते थे, अभी भी यहाँ देखा जा सकता है। भव्य निर्माण परमपूज्य गुरुदेव की १९७१ की विदाई के बाद यहाँ हो गया है किन्तु, कण-कण में उनकी प्राणचेतना का दर्शन किया जा सकता है। विराट प्रज्ञानगर, युग निर्माण विद्यालय, साहित्य की छपाई हेतु बड़ी-बड़ी ऑफसेट मशीनें तथा युग निर्माण साहित्य जो पूज्यवर ने जीवन भर लिखा, उसका वितरण-विस्तार तंत्र यहाँ पर देखा जा सकता है।

शान्तिकुंज, हरिद्वार ऋषि परम्परा के बीजारोपण केन्द्र के रूप में १९७१ में स्थापित किया गया था, जब परमपूज्य गुरुदेव मथुरा स्थायी रूप से छोड़कर परमवंदनीया माताजी को अखण्ड ज्योति दीपक की रखवाली हेतु यहाँ छोड़कर हिमालय में चले गये। गुरुसत्ता के निर्देश पर वे पुनः एक वर्ष बाद लौटे व तब शांतिकुंज को उनने एक बड़ा विराट रूप देने, सभी ऋषिगणों की मूलभूत स्थापनाओं को यहाँ साकार बनाने का निश्चय किया। इससे पूर्व परमवंदनीया माताजी ने २४ कुमारी कन्याओं के साथ अखण्ड दीपक के समक्ष २४० करोड़

गायत्री मंत्र का अखण्ड अनुष्ठान आरंभ कर दिया था। पूज्यवर ने प्राण प्रत्यावर्तन सत्र, जीवन साधना सत्र, वानप्रस्थ सत्र आदि के माध्यम से विभिन्न क्षेत्र में सक्रिय कार्य करने वाले कार्यकर्त्ता यहीं गढ़े। यह सत्र शृंखला कल्प साधना, संजीवनी साधना सत्रों के रूप में तब से ही ९ दिवसीय सत्रों व एक माह के युग शिल्पी प्रशिक्षण सत्रों के रूप में चल रही है, अभी भी अनवरत उसमें आने वालों का ताँता लगा रहता है। पहले से ही सब अपनी बुकिंग इसमें करा लेते हैं।

शांतिकुंज को गायत्री तीर्थ का रूप देकर सप्तऋषियों की मूर्तियों की स्थापना १९७८-७९ में की गयी, एक देवात्मा हिमालय विनिर्मित किया गया एवं यहाँ सभी संस्कारों को सम्पन्न करते रहने का क्रम बन गया जो सतत् चल रहा है। नित्य यहाँ दीक्षा, पुंसवन, नामकरण, विद्यारम्भ, यज्ञोपवीत, विवाह, श्राद्ध-तर्पण आदि संस्कार सम्पन्न होते हैं। इस बीच परमवंदनीया माताजी ने जागरण सत्र शृंखलाएँ सम्पन्न करना आरम्भ रखा। देव कन्याओं को प्रशिक्षित कर पूरे भारत में जीप टोलियों में भेजा गया। इनके माध्यम से तीन वर्ष तक भारत के कोने-कोने में तुमुलनाद होता रहा।

शांतिकुंज का गायत्री नगर जो आज एक विराट स्थापना के रूप में, एक एकेडमी के रूप में नजर आता है व जिसमें एक बार में एक साथ दस हजार व्यक्ति एक साथ ठहर सकते हैं, १९८१-८२ में बनना आरम्भ हुआ । विलक्षण, दुर्लभ जड़ी-बूटियों के पौधे यहाँ लगाये गये तथा प्रखर प्रज्ञा-सजल श्रद्धा रूपी तीर्थस्थली का पूज्यवर ने अपने सामने निर्माण कराया। यहीं उनके निर्देशानुसार उनके शरीर छोड़ने पर दोनों सत्ताओं को अग्नि समर्पित की जानी थी। स्वावलम्बन विद्यालय से लेकर एक विशाल चौके का निर्माण एवं गायत्री विद्यापीठ से लेकर भारत के सभी सरकारी विभागों के प्रशिक्षण के तंत्र की स्थापना यहाँ पर की गयी है एवं यह एक जीता-जागता तीर्थ अब बन गया है, जहाँ पर उज्ज्वल भविष्य की पूर्व झलक देखी जा सकती है। कम्प्यूटरों से सज्जित विशाल कार्यालय से लेकर पत्राचार विद्यालय जहाँ नित्य हजारों पत्रों के द्वारा पूरे तंत्र का मार्गदर्शन किया जाता है, यहाँ की विशेषता है।

ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान परमपूज्य गुरुदेव की अभिनव पाँचवीं स्थापना है, जहाँ पर विज्ञान और अध्यात्म के समन्वय का अभिनव शोध कार्य चल रहा है। इसे १९७१ की गायत्री जयंती पर आरम्भ किया गया था। वर्तमान शांतिकुंज- गायत्री तीर्थ से आधा किलोमीटर दूरी पर गंगातट पर स्थित यह संस्थान अपनी आकर्षक बनावट के कारण सहज ही सबके मनों को मोहकर आमंत्रित करता रहता है। इसमें तीन मंजिलों में प्रथम तल पर एक विज्ञान के उपकरणों से सुसज्जित यज्ञशाला विनिर्मित है तथा चौबीस कक्षों में गायत्री महाशक्ति की चौबीस मूर्तियाँ बीजमंत्रों व उनकी फलश्रुतियों सहित स्थापित हैं। द्वितीय तल पर एक वैज्ञानिक प्रयोगशाला है, जहाँ ऐसे उपकरण स्थापित हैं जो यह जाँच-पड़ताल करते हैं कि साधना से पूर्व व पश्चात्, यज्ञादि मंत्रोच्चारण के पूर्व व पश्चात् क्या-क्या परिवर्तन शरीर-मन की गतिविधियों व रक्त आदि संघटकों में देखने में आये। इनके आधार पर साधकों को साधना संबंधी परामर्श दिया जाता है। यहाँ पर वनौषधियों का विश्लेषण भी किया जाता है तथा यज्ञ ऊर्जा-मंत्र शक्ति का क्या प्रभाव साधक की मस्तिष्कीय तरंगों, जैव विद्युत आदि पर पड़ा, यह देखा जाता है। विभिन्न प्रकार के मनोवैज्ञानिक परीक्षण भी यहाँ किये जाते हैं। तृतीय तल पर एक विशाल ग्रंथागार स्थापित है, जहाँ विश्वभर के शोध प्रबंध वैज्ञानिक अध्यात्मवाद पर एकत्रित किये गये हैं। यहाँ प्राय: ४५००० से अधिक ग्रंथ हैं, जिनमें कई पुरातन पाण्डुलिपियाँ हैं। यह अपने आप में एक अनूठा संकलन है जो और कहीं एक साथ देखने में नहीं मिलता।

परमपूज्य गुरुदेव की उपरोक्त पाँच स्थापनाएँ किसी को भी यह परिचय दे सकती हैं कि किस विलक्षण दृष्टास्तर की वह महासत्ता थी जो हम सबके बीच अपना लीली संदोह रचकर चली गयी। प्रत्यक्ष तो यह केन्द्रीय पाँच स्थापनाएँ नजर आती हैं किन्तु ४८०० से अधिक अपने भवनों वाले प्रज्ञा संस्थान ४०००० से अधिक प्रज्ञामण्डल व स्वाध्याय मण्डल तथा अगणित गायत्री परिवार की शाखाएँ यदि इनमें मिलाई जाएँ तो इनका मूल्य राशि में आँका नहीं जा सकता। यही वह सब है जो उस महापुरुष को एक अवतारी स्तर की सत्ता के रूप में प्रतिष्ठापित करता है व जिसके कर्तृत्व पर श्रद्धावनत होने का मन करता है। ❑❑❑

www.awgp.org www.vicharkrantibooks.org

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य का जीवनदर्शन : समग्र वाङ्मय

परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य ने जीवन भर जो अपनी लेखनी से लिखा, औरों को प्रेरित कर उनसे सृजनात्मक लेखन करवाया, पुस्तकों-पत्रिकाओं में जो प्रकाशित हुआ, समय-समय पर उनने अमृतवाणी के माध्यम से जो विचारों की अभिव्यक्ति की, विचारसार व सूक्तियाँ जो वे लिख गये या अनायास कभी कह गये तथा पत्रों के माध्यम से जो अंतरंग स्पर्श जन-जन को दिया, वह समग्र इस वाङ्मय के खण्डों में है । जिनके नाम इस प्रकार हैं :-

१. युगद्रष्टा का जीवन-दर्शन
समग्र वाङ्मय का परिचय
२. जीवन देवता की साधना-आराधना
३. उपासना-समर्पण योग
४. साधना पद्धतियों का ज्ञान और विज्ञान
५. साधना से सिद्धि-१
६. साधना से सिद्धि-२
७. प्रसुप्ति से जाग्रति की ओर
८. ईश्वर कौन है, कहाँ है, कैसा है ?
९. गायत्री महाविद्या का तत्वदर्शन
१०. गायत्री साधना का गुह्य विवेचन
११. गायत्री साधना के प्रत्यक्ष चमत्कार
१२. गायत्री की दैनिक एवं विशिष्ट अनुष्ठान-परक साधनाएँ
१३. गायत्री की पंचकोशी साधना एवं उपलब्धियाँ
१४. गायत्री साधना की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि
१५. सावित्री, कुण्डलिनी एवं तंत्र
१६. मरणोत्तर जीवन : तथ्य एवं सत्य
१७. प्राणशक्ति : एक दिव्य विभूति
१८. चमत्कारी विशेषताओं से भरा मानवी मस्तिष्क
१९. शब्द ब्रह्म-नाद ब्रह्म
२०. व्यक्तित्व विकास हेतु उच्चस्तरीय साधनाएँ
२१. अपरिमित संभावनाओं का आगार मानवी व्यक्तित्व
२२. चेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन मन
२३. विज्ञान और अध्यात्म परस्पर पूरक
२४. भविष्य का धर्म : वैज्ञानिक धर्म
२५. यज्ञ का ज्ञान-विज्ञान
२६. यज्ञ : एक समग्र उपचार प्रक्रिया
२७. युग-परिवर्तन कैसे और कब ?
२८. सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण-१
२९. सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण-२
(सतयुग की वापसी)
३०. मर्यादा पुरुषोत्तम राम
३१. संस्कृति-संजीवनी श्रीमद्भागवत एवं गीता
३२. रामायण की प्रगतिशील प्रेरणाएँ
३३. षोडश संस्कार विवेचन
३४. भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्व
३५. समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान
३६. धर्मचक्र प्रवर्त्तन एवं लोकमानस का शिक्षण
३७. तीर्थ सेवन : क्यों और कैसे ?
३८. प्रज्ञोपनिषद्
३९. नीरोग जीवन के महत्त्वपूर्ण सूत्र
४०. चिकित्सा उपचार के विविध आयाम
४१. जीवेम शरदः शतम्
४२. चिरयौवन एवं शाश्वत सौन्दर्य
४३. हमारी संस्कृति : इतिहास के कीर्ति स्तम्भ
४४. मरकर भी अमर हो गये जो
४५. सांस्कृतिक चेतना के उन्नायक : सेवाधर्म के उपासक
४६. भव्य समाज का अभिनव निर्माण
४७. यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता
४८. समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र
४९. शिक्षा एवं विद्या
५०. महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-१
५१. महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२
५२. विश्व वसुधा जिनकी सदा ऋणी रहेगी
५३. धर्मतत्त्व का दर्शन व मर्म
५४. मनुष्य में देवत्व का उदय
५५. दृश्य जगत् की अदृश्य पहेलियाँ
५६.ईश्वर विश्वास और उसकी फलश्रुतियाँ
५७. मनस्विता प्रखरता और तेजस्विता
५८. आत्मोत्कर्ष का आधार- ज्ञान
५९. प्रतिगामिता का कुचक्र ऐसे टूटेगा
६०. विवाहोन्माद : समस्या और समाधान
६१. गृहस्थ : एक तपोवन
६२. इक्कीसवीं सदी : नारी सदी
६३. हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण
६४. राष्ट्र समर्थ और सशक्त कैसे बने ?
६५. सामाजिक, नैतिक एवं बौद्धिक क्रान्ति कैसे ?
६६. युग निर्माण योजना-दर्शन, स्वरूप व कार्यक्रम
६७. प्रेरणाप्रद दृष्टान्त
६८. पूज्यवर की अमृतवाणी (भाग एक)
६९. विचारसार एवं सूक्तियाँ (प्रथम खण्ड)
७०. विचारसार एवं सूक्तियाँ (द्वितीय खण्ड)

वाङ्मय के आगे प्रकाशित होने वाले ३८ खण्ड निम्न विषयों पर होंगे—

७१. मनोविकारों की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि
७२. तनाव के कारण एवं उनके निवारण के उपाय
७३. चिन्तन का विधेयात्मक-निषेधात्मक स्वरूप
७४. पुरुषार्थ और मानवी जिजीविषा
७५. संकल्प बल का अनूठा प्रभाव
७६. बाल-विकास के विविध सोपान
७७. बाल मनोविज्ञान का सही उपयोग
७८. पारिवारिकता में सुसंस्कारों का योगदान
७९. पारिवारिक पंचशील और परिवार-निर्माण
८०. व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया
८१. विचार-विज्ञान का महत्त्व
८२. सामाजिक समस्याएँ और उनका समाधान
८३. समाज-निर्माण के विभिन्न चरण
८४. सामाजिक जीवन में सद्गुणों की भूमिका
८५. नर-नारी की सामान्य समस्याएँ और उनका समाधान
८६. नारी जागृति की बाधाएँ एवं उनके निराकरण के उपाय
८७. पारिवारिक जीवनः एक तप-साधना
८८. दाम्पत्य जीवन के संयुक्त दायित्व
८९. नीति-विज्ञान और नैतिकता
९०. कृषि, व्यवसाय और उद्योग की उन्नति के आधार
९१. पूज्य गुरुदेव के स्फुट विचार
९२. पूज्यवर की अमृतवाणी-२
९३. पूज्य गुरुदेव की दिव्य अनुभूतियाँ
९४. पूज्य गुरुदेव के लिखे स्मरणीय पत्र
९५. तंत्र महाविज्ञान विवेचन
९६. मंत्र महाविज्ञान विवेचन
९७. महापुरुषों के प्रेरक जीवन-प्रसंग
९८. प्रेरणाप्रद कथा एवं गाथाएँ
९९. हृदयस्पर्शी विविध कथाएँ
१००. शान्तिकुंज का प्रज्ञा अभियान
१०१. युग निर्माण मिशन का क्रमिक इतिहास
१०२. वेद-सार-चिन्तन
१०३. पुराण-शोध-सार
१०४. उपनिषद् और आरण्यकों की दार्शनिक विषयवस्तु
१०५. काव्य-गीत-मंजूषा
१०६. मिशन के रचनात्मक कार्यक्रमों का क्रमिक इतिहास
१०७. मिशन की लोक-व्यवहार संहिता
१०८. गुरुदेव की अपने आत्मीय जनों से अपनी बातें

❑❑❑

Complete work of Yugrishi Pt. Sriram Sharma Acharya (Founder of All World Gayatri Pariwar, Shantikunj, Haridwar) www.awgp.org
Free Download Life Chaning 3000+ Books, Magazines, Articles, Stories, Great Personalities, Poems and Many More www.vicharkrantibooks.org